महाभारत

कृत
ल

संस्कृत
मूल

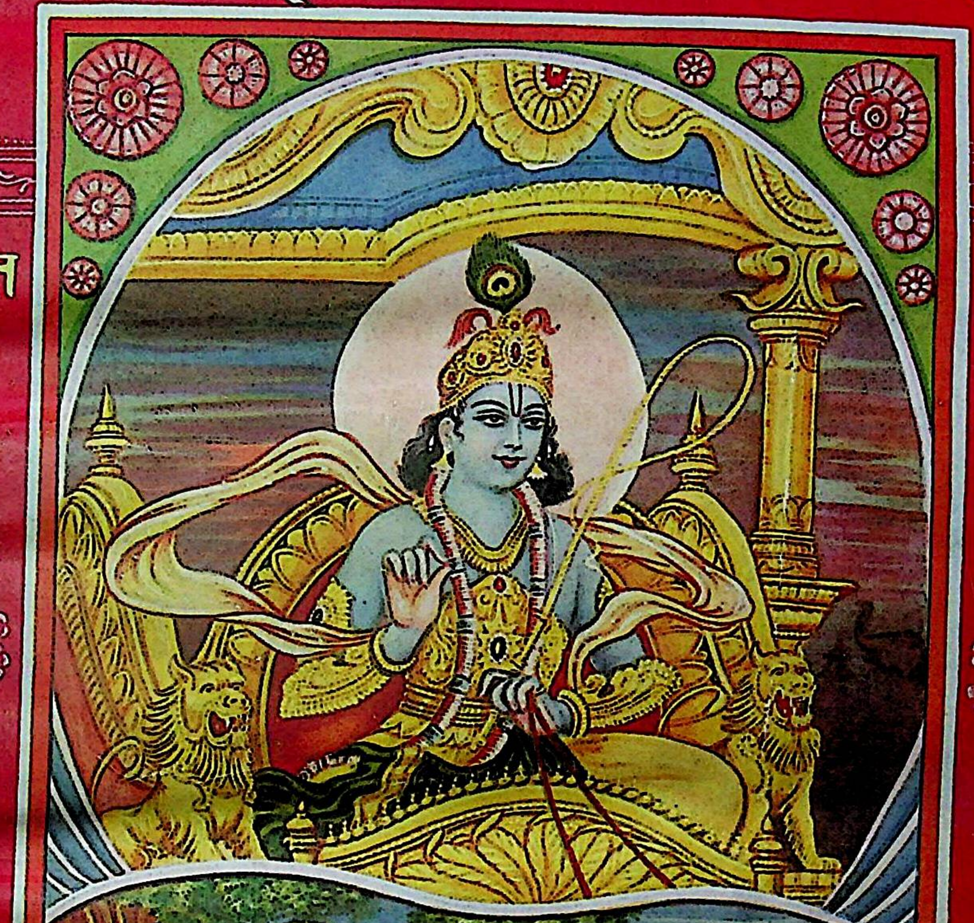

हिन्द
अनु

गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अध्याय

महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष २ } गोरखपुर, कार्तिक २०१३, नवम्बर १९५६ { संख्या १
पूर्ण संख्या १३

श्रीकृष्णकी शरण

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं
स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं
श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

जो सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंको हर लेनेवाले, एकमात्र सुखस्वरूप अपने आत्मामें रमण करनेवाले, शान्तिके अधिष्ठान, अपनी भक्ति देनेवाले, चिन्तन करनेसे ब्रह्मपद प्रदान करनेमें समर्थ, अपना रस प्रदान करनेवाले, प्रेमके अधिष्ठान, सनातन पुरुष, मेघके समान श्यामसुन्दर विग्रहवाले, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले, पीताम्बरधारी और सुन्दर हैं, उन श्रीकृष्णकी मैं सदा मन, वाणी और शरीरसे शरण लेता हूँ ।

क—

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

❁ श्रीहरिः ❁

विषय-सूची

अध्याय विषय पृष्ठ-संख्या

१३१–भगवान् श्रीकृष्णका विश्वरूप दर्शन कराकर कौरवसभासे प्रस्थान ··· ··· २३९३
१३२–श्रीकृष्णके पूछनेपर कुन्तीका उन्हें पाण्डवोंसे कहनेके लिये संदेश देना ··· २३९५
१३३–कुन्तीके द्वारा विदुलोपाख्यानका आरम्भ, विदुलाका रणभूमिसे भागकर आये हुए अपने पुत्रको कड़ी फटकार देकर पुनः युद्धके लिये उत्साहित करना ··· २३९८
१३४–विदुलाका अपने पुत्रको युद्धके लिये उत्साहित करना ··· ··· २४०१
१३५–विदुला और उसके पुत्रका संवाद—विदुलाके द्वारा कार्यमें सफलता प्राप्त करने तथा शत्रुवशीकरणके उपायोंका निर्देश ··· २४०४
१३६–विदुलाके उपदेशसे उसके पुत्रका युद्धके लिये उद्यत होना ··· ··· २४०७
१३७–कुन्तीका पाण्डवोंके लिये संदेश देना और श्रीकृष्णका उनसे विदा लेकर उपप्लव्य नगरमें जाना ··· ··· २४०९
१३८–भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको समझाना २४११
१३९–भीष्मसे वार्तालाप आरम्भ करके द्रोणाचार्यका दुर्योधनको पुनः संधिके लिये समझाना ··· २४१३
१४०–भगवान् श्रीकृष्णका कर्णको पाण्डवपक्षमें आ जानेके लिये समझाना ··· २४१५
१४१–कर्णका दुर्योधनके पक्षमें रहनेके निश्चित विचारका प्रतिपादन करते हुए समरयज्ञके रूपकका वर्णन करना ··· २४१६
१४२–भगवान् श्रीकृष्णका कर्णसे पाण्डवपक्षकी निश्चित विजयका प्रतिपादन ··· २४२०
१४३–कर्णके द्वारा पाण्डवोंकी विजय और कौरवोंकी पराजय सूचित करनेवाले लक्षणों एवं अपने स्वप्नका वर्णन ··· ··· २४२१
१४४–विदुरकी बात सुनकर युद्धके भावी दुष्परिणामसे व्यथित हुई कुन्तीका बहुत सोच-विचारके बाद कर्णके पास जाना ··· २४२५
१४५–कुन्तीका कर्णको अपना प्रथम पुत्र बताकर उससे पाण्डवपक्षमें मिल जानेका अनुरोध २४२७
१४६–कर्णका कुन्तीको उत्तर तथा अर्जुनको छोड़कर शेष चारों पाण्डवोंको न मारनेकी प्रतिज्ञा ··· २४२८
१४७–युधिष्ठिरके पूछनेपर श्रीकृष्णका कौरवसभामें व्यक्त किये हुए भीष्मजीके वचन सुनाना २४३०
१४८–द्रोणाचार्य, विदुर तथा गान्धारीके युक्तियुक्त एवं महत्त्वपूर्ण वचनोंका भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कथन ··· २४३३
१४९–दुर्योधनके प्रति धृतराष्ट्रके युक्तिसंगत वचन—पाण्डवोंको आधा राज्य देनेके लिये आदेश ··· २४३६
१५०–श्रीकृष्णका कौरवोंके प्रति साम, दान और भेदनीतिके प्रयोगकी असफलता बताकर दण्डके प्रयोगपर जोर देना ··· २४३८

(सैन्यनिर्याणपर्व)

१५१–पाण्डवपक्षके सेनापतिका चुनाव तथा पाण्डवसेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेश ··· २४३९
१५२–कुरुक्षेत्रमें पाण्डवसेनाका पड़ाव तथा शिविर-निर्माण ··· ··· २४४४
१५३–दुर्योधनका सेनाको सुसज्जित होने और शिविर निर्माण करनेके लिये आज्ञा देना तथा सैनिकोंकी रणयात्राके लिये तैयारी २४४५
१५४–युधिष्ठिरका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने समयोचित कर्तव्यके विषयमें पूछना, भगवान्‌का युद्धको ही कर्तव्य बताना तथा इस विषयमें युधिष्ठिरका संताप और अर्जुनद्वारा श्रीकृष्णके वचनोंका समर्थन ··· २४४७
१५५–दुर्योधनके द्वारा सेनाओंका विभाजन और पृथक्-पृथक् अक्षौहिणियोंके सेनापतियोंका अभिषेक ··· ··· २४४९
१५६–दुर्योधनके द्वारा भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर अभिषेक और कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर शिविर-निर्माण ··· ··· २४५१
१५७–युधिष्ठिरके द्वारा अपने सेनापतियोंका अभिषेक, यदुवंशियोंसहित बलरामजीका आगमन तथा पाण्डवोंसे विदा लेकर उनका तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान ··· २४५४
१५८–रुक्मीका सहायता देनेके लिये आना; परंतु पाण्डव और कौरव दोनों पक्षोंके द्वारा कोरा उत्तर पाकर लौट जाना ··· २४५६
१५९–धृतराष्ट्र और संजयका संवाद ··· २४५९

(उलूकदूतागमनपर्व)

१६०–दुर्योधनका उलूकको दूत बनाकर पाण्डवोंके पास भेजना और उनसे कहनेके लिये संदेश देना २४६०
१६१–पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचकर उलूकका भरी सभामें दुर्योधनका संदेश सुनाना ··· २४६८
१६२–पाण्डवपक्षकी ओरसे दुर्योधनको उसके संदेशका उत्तर ··· ··· २४७१
१६३–पाँचों पाण्डवों, विराट, द्रुपद, शिखण्डी और धृष्टद्युम्नका संदेश लेकर उलूकका लौटना और उलूककी बात सुनकर दुर्योधनका सेनाको युद्धके लिये तैयार होनेक [illegible] आदेश देना ··· ··
१६४–पाण्डवसेनाका युद्धके मैदानमें जाना [illegible] धृष्टद्युम्नके द्वारा योद्धाओंकी अपने [illegible] अब [illegible] विपक्षियोंके साथ युद्ध करने[illegible]

अध्याय विषय पृष्ठ-संख्या

(रथातिरथसंख्यानपर्व)

१६५–दुर्योधनके पूछनेपर भीष्मका कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका परिचय देना ··· २४७९
१६६–कौरवपक्षके रथियोंका परिचय ··· २४८१
१६७–कौरवपक्षके रथी, महारथी और अतिरथियोंका वर्णन ··· ··· २४८३
१६८–कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका वर्णन, कर्ण और भीष्मका रोषपूर्वक संवाद तथा दुर्योधनद्वारा उसका निवारण ··· २४८५
१६९–पाण्डवपक्षके रथी आदिका एवं उनकी महिमाका वर्णन ··· ··· २४८८
१७०–पाण्डवपक्षके रथियों और महारथियोंका वर्णन तथा विराट और द्रुपदकी प्रशंसा ··· २४८९
१७१–पाण्डवपक्षके रथी, महारथी एवं अतिरथी आदिका वर्णन ··· ··· २४९०
१७२–भीष्मका पाण्डवपक्षके अतिरथी वीरोंका वर्णन करते हुए शिखण्डी और पाण्डवोंका वध न करनेका कथन ··· ··· २४९२

(अम्बोपाख्यानपर्व)

१७३–अम्बोपाख्यानका आरम्भ—भीष्मजीके द्वारा काशिराजकी कन्याओंका अपहरण ··· २४९३
१७४–अम्बाका शाल्वराजके प्रति अनुराग प्रकट करके उनके पास जानेके लिये भीष्मसे आज्ञा माँगना ··· ··· २४९५
१७५–अम्बाका शाल्वके यहाँ जाना और उससे परित्यक्त होकर तापसोंके आश्रममें आना, वहाँ शैखावत्य और अम्बाका संवाद ··· २४९५
१७६–तापसोंके आश्रममें राजर्षि होत्रवाहन और अकृतव्रणका आगमन तथा उनसे अम्बाकी बातचीत ··· ··· २४९८
१७७–अकृतव्रण और परशुरामजीकी अम्बासे बातचीत ··· ··· २५०२
१७८–अम्बा और परशुरामजीका संवाद, अकृतव्रणकी सलाह, परशुराम और भीष्मकी रोषपूर्ण बातचीत तथा उन दोनोंका युद्धके लिये कुरुक्षेत्रमें उतरना ··· २५०४
१७९–संकल्पनिर्मित रथपर आरूढ़ परशुरामजीके साथ भीष्मका युद्ध प्रारम्भ करना ··· २५१०
१८०–भीष्म और परशुरामका घोर युद्ध ··· २५१२
१८१–भीष्म और परशुरामका युद्ध ··· २५१५
१८२–भीष्म और परशुरामका युद्ध ··· २५१६
१८३–भीष्मको अष्टवसुओंसे प्रस्वापनास्त्रकी प्राप्ति २५१८
१८४–भीष्म तथा परशुरामजीका एक दूसरेपर शक्ति और ब्रह्मास्त्रका प्रयोग ··· २५१९
१८५–देवताओंके मना करनेसे भीष्मका प्रस्वापनास्त्रको प्रयोगमें न लाना तथा पितर, देवता और गङ्गाके आग्रहसे भीष्म और परशुरामके युद्धकी समाप्ति ··· २५२०
१८६–अम्बाकी कठोर तपस्या ··· २५२३
१८७–अम्बाका द्वितीय जन्ममें पुनः तप करना और महादेवजीसे अभीष्ट वरकी प्राप्ति तथा उसका चिताकी आगमें प्रवेश ··· २५२५
१८८–अम्बाका राजा पदके यहाँ कन्याके रूपमें जन्म, राजा तथा रानीका उसे पुत्ररूपमें प्रसिद्ध करके उसका नाम शिखण्डी रखना ··· २५२६
१८९–शिखण्डीका विवाह तथा उसके स्त्री होनेका समाचार पाकर उसके श्वशुर दशार्णराजका महान् कोप ··· ··· २५२८
१९०–हिरण्यवर्मकि आक्रमणके भयसे घबराये हुए द्रुपदका अपनी महारानीसे संकटनिवारणका उपाय पूछना ··· ··· २५२९
१९१–द्रुपदपत्नीका उत्तर, द्रुपदके द्वारा नगररक्षाकी व्यवस्था और देवाराधन तथा शिखण्डिनीका वनमें जाकर स्थूणाकर्ण नामक यक्षसे अपने दुःखनिवारणके लिये प्रार्थना करना ··· २५३०
१९२–शिखण्डीको पुरुषत्वकी प्राप्ति, द्रुपद और हिरण्यवर्माकी प्रसन्नता, स्थूणाकर्णको कुबेरका शाप तथा भीष्मका शिखण्डीको न मारनेका निश्चय ··· ··· २५३२
१९३–दुर्योधनके पूछनेपर भीष्म आदिके द्वारा अपनी-अपनी शक्तिका वर्णन ··· २५३७
१९४–अर्जुनके द्वारा अपनी, अपने सहायकोंकी तथा युधिष्ठिरकी भी शक्तिका परिचय देना २५३८
१९५–कौरवसेनाका रणके लिये प्रस्थान ··· २५३९
१९६–पाण्डवसेनाका युद्धके लिये प्रस्थान ··· २५४१

* * *

चित्र-सूची

१–महाभारत-लेखन (तिरंगा) मुखपृष्ठ
२–कौरवसभामें विराट् रूप (,,) २३९३
३– वान् श्रीकृष्ण कर्णको समझा रहे हैं (एकरंगा) २४१५
वोंके डेरेमें बलरामजी (,,) २४५५
विशाल सेना (,,) २४७८
६–भीष्म-दुर्योधन-संवाद (एकरंगा) २४८०
७–पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न (,,) २४९०
८–भीष्म और परशुरामके युद्धमें नारदजी-द्वारा बीच-बचाव (,,) २५२१
९–(३ लाइनचित्र फरमोंमें)

❀ श्रीहरिः ❀

विषय-सूची

भीष्मपर्व

अध्याय विषय पृष्ठ-संख्या

(जम्बूखण्डविनिर्माणपर्व)

१–कुरुक्षेत्रमें उभय पक्षके सैनिकोंकी स्थिति तथा युद्धके नियमोंका निर्माण ··· २५४३
२–वेदव्यासजीके द्वारा संजयको दिव्य दृष्टिका दान तथा भयसूचक उत्पातोंका वर्णन ··· २५४५
३–व्यासजीके द्वारा अमङ्गलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णन ··· २५४७
४–धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजयके द्वारा भूमिके महत्त्वका वर्णन ··· ··· २५५३
५–पञ्चमहाभूतों तथा सुदर्शनद्वीपका संक्षिप्त वर्णन ··· ··· २५५५
६–सुदर्शनके वर्ष, पर्वत, मेरुगिरि, गङ्गानदी तथा शशाकृतिका वर्णन ··· २५५६
७–उत्तर कुरु, भद्राश्ववर्ष तथा माल्यवान्‌का वर्णन ··· ··· २५५९
८–रमणक, हिरण्यक, शृङ्गवान् पर्वत तथा ऐरावतवर्षका वर्णन ··· ··· २५६१
९–भारतवर्षकी नदियों, देशों तथा जनपदोंके नाम और भूमिका महत्त्व ··· २५६३
१०–भारतवर्षमें युगोंके अनुसार मनुष्योंकी आयु तथा गुणोंका निरूपण ··· २५६६

(भूमिपर्व)

११–शाकद्वीपका वर्णन ··· ··· २५६७
१२–कुश, क्रौञ्च और पुष्कर आदि द्वीपोंका तथा राहु, सूर्य एवं चन्द्रमाके प्रमाणका वर्णन २५७०

(श्रीमद्भगवद्गीतापर्व)

१३–संजयका युद्धभूमिसे लौटकर धृतराष्ट्रको भीष्मकी मृत्युका समाचार सुनाना ··· २५७३
१४–धृतराष्ट्रका विलाप करते हुए भीष्मजीके मारे जानेकी घटनाको विस्तारपूर्वक जाननेके लिये संजयसे प्रश्न करना ··· २५७४
१५–संजयका युद्धके वृत्तान्तका वर्णन आरम्भ करना—दुर्योधनका दुःशासनको भीष्मकी रक्षाके लिये समुचित व्यवस्था करनेका आदेश २५७९
१६–दुर्योधनकी सेनाका वर्णन ··· २५८०
१७–कौरवमहारथियोंका युद्धके लिये आगे बढ़ना तथा उनके व्यूह, वाहन और ध्वज आदिका वर्णन ··· ··· २५८२
१८–कौरवसेनाका कोलाहल तथा भीष्मके रक्षकोंका वर्णन ··· ··· २५८५
१९–व्यूहनिर्माणके विषयमें युधिष्ठिर और अर्जुनकी बातचीत, अर्जुनद्वारा वज्रव्यूहकी रचना, भीमसेनकी अध्यक्षतामें सेनाका आगे बढ़ना २५८६
२०–दोनों सेनाओंकी स्थिति तथा कौरवसेनाका अभियान ··· ··· २५८९
२१–कौरवसेनाको देखकर युधिष्ठिरका विषाद करना और 'श्रीकृष्णकी कृपासे ही विजय होती है' यह कहकर अर्जुनका उन्हें आश्वासन देना ··· ··· २५९१
२२–युधिष्ठिरकी रणयात्रा, अर्जुन और भीमसेनकी प्रशंसा तथा श्रीकृष्णका अर्जुनसे कौरवसेनाको मारनेके लिये कहना ··· ··· २५९२
२३–अर्जुनके द्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति, वरप्राप्ति और अर्जुनकृत दुर्गास्तवनके पाठकी महिमा २५९४
२४–सैनिकोंके हर्ष और उत्साहके विषयमें धृतराष्ट्र और संजयका संवाद ··· ··· २५९६

चित्र-सूची

१–संजयको दिव्य दृष्टि (तिरंगा) ··· ··· ··· २५४६
२–(१ लाइन चित्र फरमोंमें)

अव ३ र

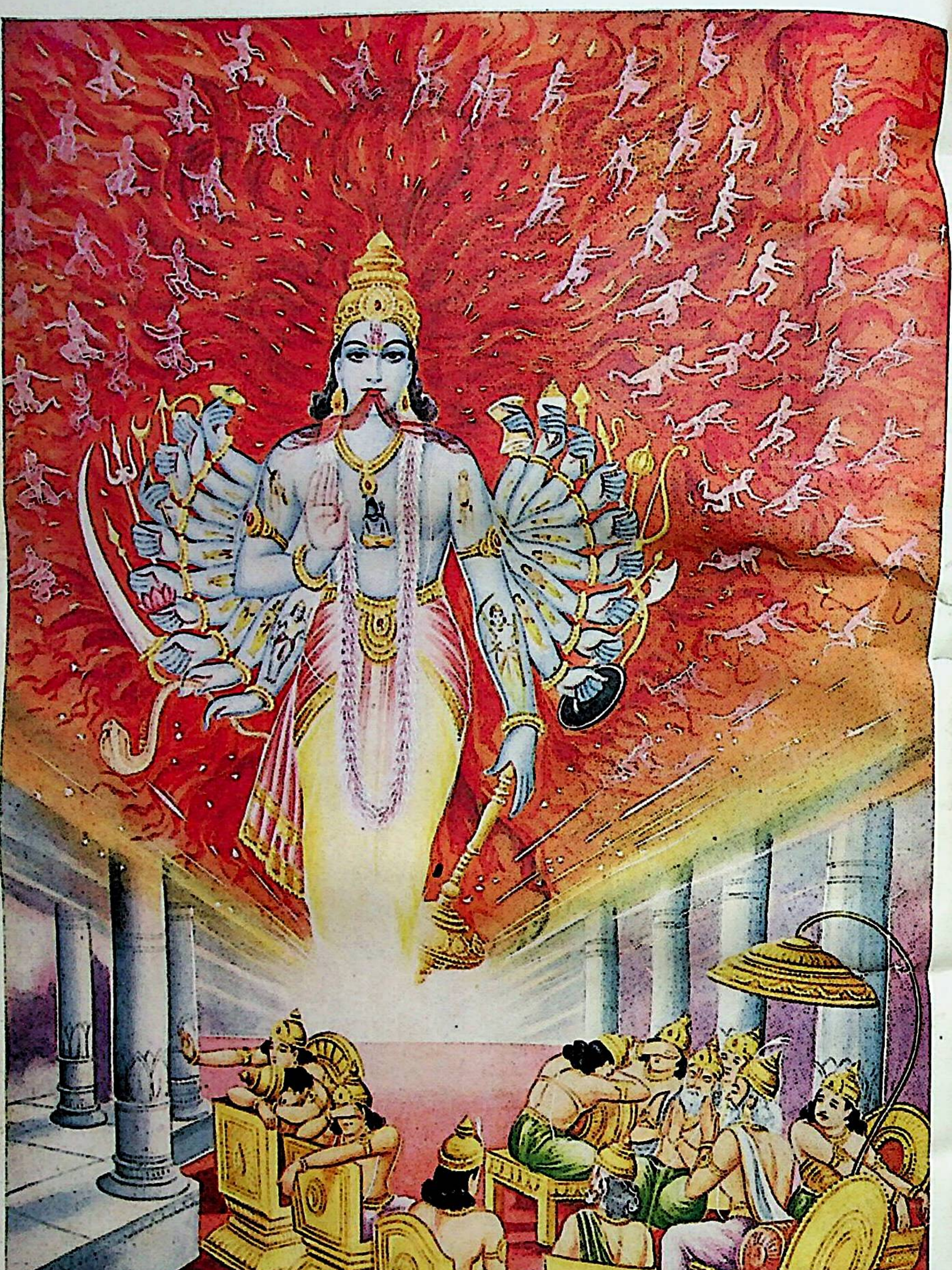

कौरव-सभामें विराट् रूप

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका विश्वरूप दर्शन कराकर कौरवसभासे प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

विदुरेणैवमुक्तस्तु केशवः शत्रुपूगहा ।
दुर्योधनं धार्तराष्ट्रमभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ १ ॥
एकोऽहमिति यन्मोहान्मन्यसे मां सुयोधन ।
परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुं मां चिकीर्षसि ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरजीके ऐसा कहनेपर शत्रुसमूहका संहार करनेवाले शक्तिशाली श्रीकृष्णने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—'दुर्बुद्धि दुर्योधन ! तू मोहवश जो मुझे अकेला मान रहा है और इसलिये मेरा तिरस्कार करके जो मुझे पकड़ना चाहता है, यह तेरा अज्ञान है ॥ १-२ ॥

इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धकवृष्णयः ।
इहादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च महर्षिभिः ॥ ३ ॥

'देख, सब पाण्डव यहीं हैं । अन्धक और वृष्णिवंशके वीर भी यहीं मौजूद हैं । आदित्यगण, रुद्रगण तथा महर्षियोंसहित वसुगण भी यहीं हैं' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा जहासोच्चैः केशवः परवीरहा ।
तस्य संस्मयतः शौरेर्विद्युद्रूपा महात्मनः ॥ ४ ॥
अङ्गुष्ठमात्रास्त्रिदशा मुमुचुः पावकार्चिषः ।
तस्य ब्रह्मा ललाटस्थो रुद्रो वक्षसि चाभवत्॥ ५ ॥

ऐसा कहकर विपक्षी वीरोंका विनाश करनेवाले भगवान् केशव उच्चस्वरसे अट्टहास करने लगे । हँसते समय उन महात्मा श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंमें स्थित विद्युत्के समान कान्तिवाले तथा अँगूठेके बराबर छोटे शरीरवाले देवता आगकी लपटें छोड़ने लगे । उनके ललाटमें ब्रह्मा और वक्षःस्थलमें रुद्रदेव विद्यमान थे ॥ ४-५ ॥

लोकपाला भुजेष्वासन्नग्निरास्यादजायत ।
आदित्याश्चैव साध्याश्च वसवोऽथाश्विनावपि ॥६॥
मरुतश्च सहेन्द्रेण विश्वेदेवास्तथैव च ।
बभूवुश्चैव यक्षाश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः ॥ ७ ॥

समस्त लोकपाल उनकी भुजाओंमें स्थित थे । मुखसे अग्निकी लपटें निकलने लगीं । आदित्य, साध्य, वसु, दोनों अश्विनीकुमार, इन्द्रसहित मरुद्गण, विश्वेदेव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस भी उनके विभिन्न अङ्गोंमें प्रकट हो गये ॥ ६-७ ॥

प्रादुरास्तां तथा दोर्भ्यां संकर्षणधनंजयौ ।
दक्षिणेऽथार्जुनो धन्वी हली रामश्च सव्यतः ॥ ८ ॥

उनकी दोनों भुजाओंसे बलराम और अर्जुनका प्रादुर्भाव हुआ । दाहिनी भुजामें धनुर्धर अर्जुन और बायींमें हलधर बलराम विद्यमान थे ॥ ८ ॥

भीमो युधिष्ठिरश्चैव माद्रीपुत्रौ च पृष्ठतः ।
अन्धका वृष्णयश्चैव प्रद्युम्नप्रमुखास्ततः ॥ ९ ॥
अग्रे बभूवुः कृष्णस्य समुद्यतमहायुधाः ।

भीमसेन, युधिष्ठिर तथा माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव भगवान्के पृष्ठभागमें स्थित थे । प्रद्युम्न आदि वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी योद्धा हाथोंमें विशाल आयुध धारण किये भगवान्के अग्रभागमें प्रकट हुए ॥ ९½ ॥

शङ्खचक्रगदाशक्तिशार्ङ्गलाङ्गलनन्दकाः ॥ १० ॥
अदृश्यन्तोद्यतान्येव सर्वप्रहरणानि च ।
नानाबाहुषु कृष्णस्य दीप्यमानानि सर्वशः ॥ ११ ॥

शंख, चक्र, गदा, शक्ति, शार्ङ्गधनुष, हल तथा नन्दक नामक खड्ग—ये ऊपर उठे हुए ही समस्त आयुध श्रीकृष्णकी अनेक भुजाओंमें देदीप्यमान दिखायी देते थे ॥ १०-११ ॥

नेत्राभ्यां नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्यां च समन्ततः ।
प्रादुरासन् महारौद्राः सधूमाः पावकार्चिषः ॥ १२ ॥

उनके नेत्रोंसे, नासिकाके छिद्रोंसे और दोनों कानोंसे सब ओर अत्यन्त भयंकर धूमयुक्त आगकी लपटें प्रकट हो रही थीं ॥ १२ ॥

रोमकूपेषु च तथा सूर्यस्येव मरीचयः ।
तं दृष्ट्वा घोरमात्मानं केशवस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
न्यमीलयन्त नेत्राणि राजानस्त्रस्तचेतसः ।
ऋते द्रोणं च भीष्मं च विदुरं च महामतिम्॥ १४ ॥
संजयं च महाभागमृषींश्चैव तपोधनान् ।
प्रादात् तेषां स भगवान् दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः ॥१५॥

समस्त रोमकूपोंसे सूर्यके समान दिव्य किरणें छिटक रही थीं । महात्मा श्रीकृष्णके उस भयंकर स्वरूपको देखकर समस्त राजाओंके मनमें भय समा गया और उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये । द्रोणाचार्य, भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर, महाभाग संजय तथा तपस्याके धनी महर्षियोंको छोड़कर अन्य सब लोगोंकी आँखें बंद हो गयी थीं । इन द्रोण आदिको भगवान् जनार्दनने स्वयं ही दिव्य दृष्टि प्रदान की थी (अतः वे आँख खोलकर उन्हें देखनेमें समर्थ हो सके) ॥ १३—१५ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं माधवस्य सभातले ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवर्षं पपात च ॥ १६ ॥

उस सभाभवनमें भगवान् श्रीकृष्णका वह परम आश्चर्यमय रूप देखकर देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १६ ॥

अब

धृतराष्ट्र उवाच

त्वमेव पुण्डरीकाक्ष सर्वस्य जगतो हितः ।
तस्मात् त्वं यादवश्रेष्ठ प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने कहा—कमलनयन ! यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण ! आप ही सम्पूर्ण जगत्के हितैषी हैं, अतः मुझपर भी कृपा कीजिये ॥ १७ ॥

भगवन् मम नेत्राणामन्तर्धानं वृणे पुनः ।
भवन्तं द्रष्टुमिच्छामि नान्यं द्रष्टुमिहोत्सहे ॥ १८ ॥

भगवन् ! मेरे नेत्रोंका तिरोधान हो चुका है; परंतु आज मैं आपसे पुनः दोनों नेत्र माँगता हूँ । केवल आपका दर्शन करना चाहता हूँ; आपके सिवा और किसीको मैं नहीं देखना चाहता ॥ १८ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः ।
अदृश्यमाने नेत्रे द्वे भवेतां कुरुनन्दन ॥ १९ ॥

तब महाबाहु जनार्दनने धृतराष्ट्रसे कहा—'कुरुनन्दन ! आपको दो अदृश्य नेत्र प्राप्त हो जायँ' ॥ १९ ॥

तत्राद्भुतं महाराज धृतराष्ट्रश्च चक्षुषी ।
लब्धवान् वासुदेवाच्च विश्वरूपदिदृक्षया ॥ २० ॥

महाराज जनमेजय ! वहाँ यह अद्भुत बात हुई कि धृतराष्ट्रने भी भगवान् श्रीकृष्णसे उनके विश्वरूपका दर्शन करनेकी इच्छासे दो नेत्र प्राप्त कर लिये ॥ २० ॥

लब्धचक्षुषमासीनं धृतराष्ट्रं नराधिपाः ।
विस्मिता ऋषिभिः सार्धं तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ २१ ॥

सिंहासनपर बैठे हुए धृतराष्ट्रको नेत्र प्राप्त हो गये, यह जानकर ऋषियोंसहित सब नरेश आश्चर्यचकित हो मधुसूदनकी स्तुति करने लगे ॥ २१ ॥

चचाल च मही कृत्स्ना सागरश्चापि चुक्षुभे ।
विस्मयं परमं जग्मुः पार्थिवा भरतर्षभ ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय सारी पृथ्वी डगमगाने लगी, समुद्रमें खलबली पड़ गयी और समस्त भूपाल अत्यन्त विस्मित हो गये ॥ २२ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः संजहार वपुः स्वकम् ।
तां दिव्यामद्भुतां चित्रामृद्धिमत्तामरिंदमः ॥ २३ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले पुरुषसिंह श्रीकृष्णने अपने इस स्वरूपको, उस दिव्य, अद्भुत एवं विचित्र ऐश्वर्यको समेट लिया ॥ २३ ॥

ततः सात्यकिमादाय पाणौ हार्दिक्यमेव च ।
ऋषिभिस्तैरनुज्ञातो निर्ययौ मधुसूदनः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वे मधुसूदन ऋषियोंसे आज्ञा ले सात्यकि और र्माका हाथ पकड़े सभाभवनसे चल दिये ॥ २४ ॥

ऋषयोऽन्तर्हिता जग्मुस्ततस्ते नारदादयः ।
तस्मिन् कोलाहले वृत्ते तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५

उनके जाते ही नारद आदि महर्षि भी अदृश्य हो गये वह सारा कोलाहल शान्त हो गया । यह सब एक अद्भु सी घटना हुई थी ॥ २५ ॥

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य कौरवाः सह राजभिः ।
अनुजग्मुर्नरव्याघ्रं देवा इव शतक्रतुम् ॥ २६

पुरुषसिंह श्रीकृष्णको जाते देख राजाओंसहित सम कौरव भी उनके पीछे-पीछे गये, मानो देवता देवराज इन का अनुसरण कर रहे हों ॥ २६ ॥

अचिन्तयन्नमेयात्मा सर्वं तद् राजमण्डलम् ।
निश्चक्राम ततः शौरिः सधूम इव पावकः ॥ २७

परंतु अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण उस समस्त नरे मण्डलकी कोई परवा न करके धूमयुक्त अग्निकी भाँ सभाभवनसे बाहर निकल आये ॥ २७ ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
हेमजालविचित्रेण लघुना मेघनादिना ॥ २८
सूपस्करेण शुभ्रेण वैयाघ्रेण वरूथिना ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन प्रत्यदृश्यत दारुकः ॥ २९

बाहर आते ही शैब्य और सुग्रीवनामक घोड़ोंसे जु हुए परम उज्ज्वल एवं विशाल रथके साथ सारथि दारुक दिखायी दिया । उस रथमें बहुत-सी क्षुद्रघंटिकाएँ शोभा पाती थीं । सोनेकी जालियोंसे उसकी विचित्र छटा दिखायी देती थी । वह शीघ्रगामी रथ चलते समय मेघके समान गम्भीर रव प्रकट करता था । उसके भीतर सब आवश्यक सामग्रियाँ सुन्दर ढंगसे सजाकर रक्खी गयी थीं । उसके ऊपर व्याघ्रचर्मका आवरण लगा हुआ था और रथकी रक्षाके अन्य आवश्यक प्रबन्ध भी किये गये थे ॥ २८-२९ ॥

तथैव रथमास्थाय कृतवर्मा महारथः ।
वृष्णीनां सम्मतो वीरो हार्दिक्यः समदृश्यत ॥ ३० ॥

इसी प्रकार वृष्णिवंशके सम्मानित वीर हृदिकपुत्र महारथी कृतवर्मा भी एक दूसरे रथपर बैठे दिखायी दिये ॥ ३० ॥

उपस्थितरथं शौरिं प्रयास्यन्तमरिंदमम् ।
धृतराष्ट्रो महाराजः पुनरेवाभ्यभाषत ॥ ३१ ॥

शत्रुदमन भगवान् श्रीकृष्णका रथ उपस्थित है और अब ये यहाँसे चले जायँगे; ऐसा जानकर महाराज धृतराष्ट्रने पुनः उनसे कहा—॥ ३१ ॥

यावद् बलं मे पुत्रेषु पश्यस्येतज्जनार्दन ।
प्रत्यक्षं ते न ते किंचित् परोक्षं शत्रुकर्शन ॥ ३२ ॥

'शत्रुसूदन जनार्दन ! पुत्रोंपर मेरा बल कितना काम

करता है, यह आप देख ही रहे हैं। सब कुछ आपकी आँखोंके सामने है; आपसे कुछ भी छिपा नहीं है ॥ ३२ ॥

कुरूणां शममिच्छन्तं यतमानं च केशव।
विदित्वैतामवस्थां मे नाभिशङ्कितुमर्हसि ॥ ३३ ॥

'केशव! मैं भी चाहता हूँ कि कौरव-पाण्डवोंमें संधि हो जाय और मैं इसके लिये प्रयत्न भी करता रहता हूँ; परंतु मेरी इस अवस्थाको समझकर आपको मेरे ऊपर संदेह नहीं करना चाहिये ॥ ३३ ॥

न मे पापोऽस्त्यभिप्रायः पाण्डवान् प्रति केशव।
ज्ञातमेव हितं वाक्यं यन्मयोक्तः सुयोधनः ॥ ३४ ॥

'केशव! पाण्डवोंके प्रति मेरा भाव पापपूर्ण नहीं है। मैंने दुर्योधनसे जो हितकी बात बतायी है, वह आपको ज्ञात ही है ॥ ३४ ॥

जानन्ति कुरवः सर्वे राजानश्चैव पार्थिवाः।
शमे प्रयतमानं मां सर्वयत्नेन माधव ॥ ३५ ॥

'माधव! मैं सब उपायोंसे शान्तिस्थापनके लिये प्रयत्नशील हूँ, इस बातको ये समस्त कौरव तथा बाहरसे आये हुए राजालोग भी जानते हैं' ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः।
द्रोणं पितामहं भीष्मं क्षत्तारं बाह्लिकं कृपम् ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, विदुर, बाह्लीक तथा कृपाचार्यसे कहा—॥ ३६ ॥

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वृत्तं कुरुसंसदि।
यथा चाशिष्टवन्मन्दो रोषादद्य समुत्थितः ॥ ३७ ॥

'कौरव-सभामें जो घटना घटित हुई है, उसे आप लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है। मूर्ख दुर्योधन किस प्रकार अशिष्टकी भाँति आज रोषपूर्वक सभासे उठ गया था ॥ ३७ ॥

वदत्यनीशमात्मानं धृतराष्ट्रो महीपतिः।
आपृच्छे भवतः सर्वान् गमिष्यामि युधिष्ठिरम् ॥ ३८ ॥

'महाराज धृतराष्ट्र भी अपने आपको असमर्थ बता रहे हैं। अतः अब मैं आप सब लोगोंसे आज्ञा चाहता हूँ। मैं युधिष्ठिरके पास जाऊँगा' ॥ ३८ ॥

आमन्त्र्य प्रस्थितं शौरिं रथस्थं पुरुषर्षभ।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः प्रवीरा भरतर्षभाः ॥ ३९ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय! तत्पश्चात् रथपर बैठकर प्रस्थानके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीकृष्णसे पूछकर भरतवंशके महाधनुर्धर उत्कृष्ट वीर उनके पीछे कुछ दूरतक गये ॥ ३९ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता धृतराष्ट्रोऽथ बाह्लिकः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च युयुत्सुश्च महारथः ॥ ४० ॥

उन वीरोंके नाम इस प्रकार हैं—भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, बाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण और महारथी युयुत्सु ॥ ४० ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना।
कुरूणां पश्यतां द्रष्टुं स्वसारं स पितुर्ययौ ॥ ४१ ॥

तदनन्तर किंकिणीविभूषित उस विशाल एवं उज्ज्वल रथके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण समस्त कौरवोंके देखते-देखते अपनी बुआ कुन्तीसे मिलनेके लिये गये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विश्वरूपदर्शने एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विश्वरूपदर्शनविषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

* * *

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके पूछनेपर कुन्तीका उन्हें पाण्डवोंसे कहनेके लिये संदेश देना

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्याथ गृहं तस्याश्चरणावभिवाद्य च।
आचख्यौ तत् समासेन यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीके घरमें जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्णने कौरव-सभामें जो कुछ हुआ था, वह सब समाचार उन्हें संक्षेपसे कह सुनाया ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं ग्रहणीयं सहेतुकम्।
ऋषिभिश्चैव च मया न चासौ तद् गृहीतवान् ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—बूआजी! मैंने तथा महर्षियोंने भी नाना प्रकारके युक्तियुक्त वचन, जो सर्वथा ग्रहण करनेयोग्य थे, सभामें कहे, परंतु दुर्योधनने उन्हें नहीं माना ॥ २ ॥

कालपक्वमिदं सर्वं सुयोधनवशानुगम्।
आपृच्छे भवतीं शीघ्रं प्रयास्ये पाण्डवान् प्रति ॥ ३ ॥

जान पड़ता है, दुर्योधनके वशमें होकर उसीके पीछे चलनेवाला यह सारा क्षत्रियसमुदाय कालसे परिपक्व [illegible] है। (अतः शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है।) अब [illegible]

आज्ञा चाहता हूँ, यहाँसे शीघ्र ही पाण्डवोंके पास जाऊँगा ॥ ३ ॥

किं वाच्याः पाण्डवेयास्ते भवत्या वचनान्मया ।
तद् ब्रूहि त्वं महाप्राज्ञे शुश्रूषे वचनं तव ॥ ४ ॥

महाप्राज्ञे ! मुझे पाण्डवोंसे तुम्हारा क्या संदेश कहना होगा, उसे बताओ । मैं तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

कुन्त्युवाच

ब्रूयाः केशव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥ ५ ॥

कुन्ती बोली—केशव ! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके पास जाकर इस प्रकार कहना—बेटा ! तुम्हारे प्रजापालनरूप धर्मकी बड़ी हानि हो रही है । तुम उस धर्मपालनके अवसरको व्यर्थ न खोओ ॥ ५ ॥

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्धर्ममेवैकमीक्षते ॥ ६ ॥

राजन् ! जैसे वेदके अर्थको न जाननेवाले अज्ञ वेदपाठीकी बुद्धि केवल वेदके मन्त्रोंकी आवृत्ति करनेमें ही नष्ट हो जाती है और केवल मन्त्रपाठमात्र धर्मपर ही दृष्टि रहती है, उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि भी केवल शान्तिधर्मको ही देखती है ॥ ६ ॥

अङ्गावेक्षस्व धर्मं त्वं यथा सृष्टः स्वयम्भुवा ।
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टा बाहुवीर्योपजीविनः ॥ ७ ॥

बेटा ! ब्रह्माजीने तुम्हारे लिये जैसे धर्मकी सृष्टि की है, उसीपर दृष्टिपात करो । उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे क्षत्रियोंको उत्पन्न किया है, अतः क्षत्रिय बाहुबलसे ही जीविका चलानेवाले होते हैं ॥ ७ ॥

क्रूराय कर्मणे नित्यं प्रजानां परिपालने ।
शृणु चात्रोपमामेकां या वृद्धेभ्यः श्रुता मया ॥ ८ ॥

वे युद्धरूपी कठोर कर्मके लिये रचे गये हैं तथा सदा प्रजापालनरूपी धर्ममें प्रवृत्त होते हैं । मैं इस विषयमें एक उदाहरण देती हूँ, जिसे मैंने बड़े-बूढ़ोंके मुँहसे सुन रक्खा है ॥ ८ ॥

मुचुकुन्दस्य राजर्षेरददात् पृथिवीमिमाम् ।
पुरा वैश्रवणः प्रीतो न चासौ तां गृहीतवान् ॥ ९ ॥

पूर्वकालकी बात है, धनाध्यक्ष कुबेर राजर्षि मुचुकुन्दपर प्रसन्न होकर उन्हें ये सारी पृथ्वी दे रहे थे; परंतु उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया ॥ ९ ॥

बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ।
वैश्रवणः प्रीतो विस्मितः समपद्यत ॥ १० ॥

बोले—'देव ! मेरी इच्छा है कि मैं अपने बाहुबलसे उपार्जित राज्यका उपभोग करूँ ।' इससे कुबेर बड़े प्र और विस्मित हुए ॥ १० ॥

मुचुकुन्दस्ततो राजा सोऽन्वशासद् वसुन्धराम् ।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक् क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ११ ॥

तदनन्तर क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राज मुचुकुन्दने अपने बाहुबलसे प्राप्त की हुई इस पृथ्वीका न्यायपूर्वक शासन किया ॥ ११ ॥

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा विन्देत भारत ॥ १२ ॥

भारत ! राजाके द्वारा सुरक्षित हुई प्रजा यहाँ जि धर्मका अनुष्ठान करती है, उसका चौथाई भाग उस राजाक मिल जाता है ॥ १२ ॥

राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥ १३ ॥

यदि राजा धर्मका पालन करता है तो उसे देवत्व प्राप्ति होती है और यदि वह अधर्म करता है तो नरकमें पड़ता है ॥ १३ ॥

दण्डनीतिः स्वधर्मेण चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यश्च यच्छति ॥ १४ ॥

राजाकी दण्डनीति यदि उसके द्वारा स्वधर्मके अनुसार प्रयुक्त हुई तो वह चारों वर्णोंको नियन्त्रणमें रखती और अधर्मसे निवृत्त करती है ॥ १४ ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते ॥ १५ ॥

यदि राजा दण्डनीतिके प्रयोगमें पूर्णतः न्यायसे काम लेता है तो जगत्में 'सत्ययुग' नामक उत्तम काल आ जाता है ॥ १५ ॥

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ १६ ॥

राजाका कारण काल है या कालका कारण राजा है, ऐसा संदेह तुम्हारे मनमें नहीं उठना चाहिये; क्योंकि राजा ही कालका कारण होता है ॥ १६ ॥

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥ १७ ॥

राजा ही सत्ययुग, त्रेता और द्वापरका स्रष्टा है । चौथे युग कलिके प्रकट होनेमें भी वही कारण है ॥ १७ ॥

कृतस्य करणाद् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद् राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते ॥ १८ ॥

अपने सत्कर्मोंद्वारा सत्ययुग उपस्थित करनेके कारण राजाको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है । त्रेताकी प्रवृत्ति

करनेसे भी उसे स्वर्गकी ही प्राप्ति होती है, किंतु वह अक्षय नहीं होता ॥ १८ ॥

प्रवर्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनाद् राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥ १९ ॥

द्वापर उपस्थित करनेसे उसे यथाभाग पुण्य और पापका फल प्राप्त होता है; परंतु कलियुगकी प्रवृत्ति करनेसे राजाको अत्यन्त पाप (कष्ट) भोगना पड़ता है ॥ १९ ॥

ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
राजदोषेण हि जगत् स्पृश्यते जगतः स च ॥ २० ॥

ऐसा करनेसे वह दुष्कर्मी राजा अनेक वर्षोंतक नरकमें ही निवास करता है । राजाका दोष जगत्को और जगत्का दोष राजाको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

राजधर्मानवेक्षस्व पितृपैतामहोचितान् ।
नैतद् राजर्षिवृत्तं हि यत्र त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २१ ॥

बेटा ! तुम्हारे पिता-पितामहोंने जिनका पालन किया है, उन राजधर्मोंकी ओर ही देखो । तुम जिसका आश्रय लेना चाहते हो, वह राजर्षियोंका आचार अथवा राज-धर्म नहीं है ॥ २१ ॥

न हि वैक्लव्यसंसृष्ट आनृशंस्ये व्यवस्थितः ।
प्रजापालनसम्भूतं फलं किंचन लब्धवान् ॥ २२ ॥

जो सदा दयाभावमें ही स्थित हो विह्वल बना रहता है, ऐसे किसी भी पुरुषने प्रजापालनजनित किसी पुण्यफलको कभी नहीं प्राप्त किया है ॥ २२ ॥

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न चाहं न पितामहः ।
प्रयुक्तवन्तः पूर्वं ते यया चरसि मेधया ॥ २३ ॥

तुम जिस बुद्धिके सहारे चलते हो, उसके लिये न तो तुम्हारे पिता पाण्डुने, न मैंने और न पितामहने ही पहले कभी आशीर्वाद दिया था (अर्थात् तुममें वैसी बुद्धि होनेकी कामना किसीने नहीं की थी) ॥ २३ ॥

यज्ञो दानं तपः शौर्यं प्रज्ञा संतानमेव च ।
माहात्म्यं बलमोजश्च नित्यमाशंसितं मया ॥ २४ ॥

मैं तो सदा यही मनाती रही हूँ कि तुम्हें यज्ञ, दान, तप, शौर्य, बुद्धि, संतान, महत्त्व, बल और ओजकी प्राप्ति हो ॥ २४ ॥

नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं दद्युर्मानुषदेवताः ।
दीर्घमायुर्धनं पुत्रान् सम्यगाराधिताः शुभाः ॥ २५ ॥

कल्याणकारी ब्राह्मणोंकी भलीभाँति आराधना करनेपर वे भी सदा देवयज्ञ, पितृयज्ञ, दीर्घायु, धन और पुत्रोंकी प्राप्तिके लिये ही आशीर्वाद देते थे ॥ २५ ॥

पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ।
दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम् ॥ २६ ॥

देवता और पितर अपने उपासकों तथा वंशजोंसे सदा दान, स्वाध्याय, यज्ञ तथा प्रजापालनकी ही आशा रखते हैं ॥ २६ ॥

एतद् धर्म्यमधर्म्यं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः ।
ते तु वैद्याः कुले जाता अवृत्त्या तात पीडिताः ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरा यह कथन धर्मसंगत है या अधर्मयुक्त, यह तुम स्वभावसे ही जानते हो । तात ! वे पाण्डव उत्तम कुलमें उत्पन्न और विद्वान् होकर भी इस समय जीविकाके अभावसे पीड़ित हैं ॥ २७ ॥

यत्र दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवीचराः ।
प्राप्य तुष्टाः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥ २८ ॥

भूतलपर विचरनेवाले भूखे मानव जहाँ दानपति, शूरवीर क्षत्रियके समीप पहुँचकर अन्न-पानसे पूर्णतः संतुष्ट हो अपने घरको जाते हैं, वहाँ उससे बढ़कर दूसरा धर्म क्या हो सकता है ? ॥ २८ ॥

दानेनान्यं बलेनान्यं तथा सूनृतया परम् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ २९ ॥

धर्मात्मा पुरुष यहाँ राज्य पाकर किसीको दानसे, किसीको बलसे और किसीको मधुर वाणीद्वारा संतुष्ट करे । इस प्रकार सब ओरसे आये हुए लोगोंको दान, मान आदिसे संतुष्ट करके अपना ले ॥ २९ ॥

ब्राह्मणः प्रचरेद् भैक्षं क्षत्रियः परिपालयेत् ।
वैश्यो धनार्जनं कुर्याच्छूद्रः परिचरेच्च तान् ॥ ३० ॥

ब्राह्मण भिक्षावृत्तिसे जीविका चलावे, क्षत्रिय प्रजाका पालन करे, वैश्य धनोपार्जन करे और शूद्र उन तीनों वर्णोंकी सेवा करे ॥ ३० ॥

भैक्षं विप्रतिषिद्धं ते कृषिर्नैवोपपद्यते ।
क्षत्रियोऽसि क्षतात् त्राता बाहुवीर्योपजीविता ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारे लिये भिक्षावृत्तिका तो सर्वथा निषेध है और खेती भी तुम्हारे योग्य नहीं है । तुम तो दूसरोंको क्षतिसे त्राण देनेवाले क्षत्रिय हो । तुम्हें तो बाहुबलसे ही जीविका चलानी चाहिये ॥ ३१ ॥

पित्र्यमंशं महाबाहो निमग्नं पुनरुद्धर ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनाथ नयेन वा ॥ ३२ ॥

महाबाहो ! तुम्हारा पैतृक राज्य-भाग शत्रुओंके हाथमें पड़कर लुप्त हो गया है । तुम साम, दान, भेद अथवा दण्ड-नीतिसे पुनः उसका उद्धार करो ॥ ३२ ॥

इतो दुःखतरं किं नु यदहं हीनबान्धवा ।
परपिण्डमुदीक्षे वै त्वां[1] सूत्वामित्रनन्दन ॥ ३३ ॥

शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाले पाण्डव ! इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है कि मैं तुम्हें जन्म देकर भी बन्धु-बान्धवोंसे हीन नारीकी भाँति जीविकाके लिये दूसरोंके दिये हुए अन्न-पिण्डकी आशा लगाये ऊपर देखती रहती हूँ ॥ ३३ ॥

युद्धयस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम् ॥ ३४

अतः तुम राजधर्मके अनुसार युद्ध करो । कायर अपने बाप-दादोंका नाम मत डुबाओ और भाइयों पुण्यसे वञ्चित होकर पापमयी गतिको न प्राप्त होओ ॥ ३

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्तीवाक्यविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीके द्वारा विदुलोपाख्यानका आरम्भ, विदुलाका रणभूमिसे भागकर आये हुए अपने पुत्रको कड़ी फटकार देकर पुनः युद्धके लिये उत्साहित करना

कुन्त्युवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विदुलायाश्च संवादं पुत्रस्य च परंतप ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्ण ! इस प्रसंगमें विद्वान् पुरुष विदुला और उसके पुत्रके संवादरूप इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

अत्र श्रेयश्च भूयश्च यथावद् वक्तुमर्हसि ।
यशस्विनी मन्युमती कुले जाता विभावरी ॥ २ ॥
क्षत्रधर्मरता दान्ता विदुला दीर्घदर्शिनी ।
विश्रुता राजसंसत्सु श्रुतवाक्या बहुश्रुता ॥ ३ ॥
विदुला नाम राजन्या जगर्हे पुत्रमौरसम् ।
निर्जितं सिन्धुराजेन शयानं दीनचेतसम् ॥ ४ ॥

इस इतिहासमें जो कल्याणकारी उपदेश हो, उसे तुम युधिष्ठिरके सामने यथावत् रूपसे फिर कहना । विदुला नामसे प्रसिद्ध एक क्षत्रिय महिला हो गयी हैं, जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, यशस्विनी, तेजस्विनी, मानिनी, जितेन्द्रिया,क्षत्रिय-धर्मपरायणा और दूरदर्शिनी थीं । राजाओंकी मण्डलीमें उनकी बड़ी ख्याति थी । वे अनेक शास्त्रोंको जाननेवाली और महापुरुषोंके उपदेश सुनकर उससे लाभ उठानेवाली थीं । एक समय उनका पुत्र सिन्धुराजसे पराजित हो अत्यन्त दीनभावसे घर आकर सो रहा था । राजरानी विदुलाने अपने उस औरस पुत्रको इस दशामें देखकर उसकी बड़ी निन्दा की ॥ २–४ ॥

विदुलोवाच

अनन्दन मया जात द्विषतां हर्षवर्धन ।
न मया त्वं न पित्रा च जातः क्वाभ्यागतो ह्यसि ॥ ५ ॥

विदुला बोली—अरे, तू मेरे गर्भसे उत्पन्न हुआ है तो भी मुझे आनन्दित करनेवाला नहीं है । तू तो शत्रुओंका ही हर्ष बढ़ानेवाला है, इसलिये अब मैं ऐसा समझने लगी हूँ कि तू मेरी कोखसे पैदा ही नहीं हुअ तेरे पिताने भी तुझे उत्पन्न नहीं किया; फिर तुझ: कायर कहाँसे आ गया ? ॥ ५ ॥

निर्मन्युश्चाप्यसंख्येयः पुरुषः क्लीबसाधनः ।
यावज्जीवं निराशोऽसि कल्याणाय धुरं वह ॥

तू सर्वथा क्रोधशून्य है, क्षत्रियोंमें गणना करने नहीं है । तू नाममात्रका पुरुष है । तेरे मन आदि सभी सा नपुंसकोंके समान हैं । क्या तू जीवनभरके लिये निराश हो गय अरे ! अब भी तो उठ और अपने कल्याणके लिये पु युद्धका भार वहन कर ॥ ६ ॥

माऽऽत्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः ।
मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर ॥ ७

अपनेको दुर्बल मानकर स्वयं ही अपनी अवहेलना कर, इस आत्माका थोड़े धनसे भरण-पोषण न कर, मनः परम कल्याणमय बनाकर—उसे शुभ संकल्पोंसे सम्पन्न क निडर हो जा, भयको सर्वथा त्याग दे ॥ ७ ॥

उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः ।
अमित्रान् नन्दयन् सर्वान् निर्मानो बन्धुशोकदः॥ ८

ओ कायर ! उठ, खड़ा हो, इस तरह शत्रुसे परा होकर घरमें शयन न कर (उद्योगशून्य न हो जा)। ऐसा कर तो तू सब शत्रुओंको ही आनन्द दे रहा है और मान-प्रतिष्ठ वञ्चित होकर बन्धु-बान्धवोंको शोकमें डाल रहा है ॥ ८ ॥

सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।
सुसंतोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ॥ ९

जैसे छोटी नदी थोड़े जलसे अनायास ही भर जाती और चूहेकी अञ्जलि थोड़े अन्नसे ही भर जाती है, उ प्रकार कायरको संतोष दिलाना बहुत सुगम है, वह थोड़े ही संतुष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

प्यहेरारुजन् दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज।
अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमेः ॥ १० ॥

तू शत्रुरूपी साँपके दाँत तोड़ता हुआ तत्काल मृत्युको प्राप्त हो जा। प्राण जानेका संदेह हो तो भी शत्रुके साथ युद्धमें पराक्रम ही प्रकट कर ॥ १० ॥

प्यरेः श्येनवच्छिद्रं पश्येस्त्वं विपरिक्रमन्।
विनदन् वाथवा तूष्णीं व्योम्नि वापरिशङ्कितः ॥ ११ ॥

आकाशमें निःशङ्क होकर उड़नेवाले बाज पक्षीकी भाँति रणभूमिमें निर्भय विचरता हुआ तू गर्जना करके अथवा चुप रहकर शत्रुके छिद्र देखता रह ॥ ११ ॥

त्वमेवं प्रेतवच्छेषे कस्माद् वज्रहतो यथा।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा स्वाप्सीः शत्रुनिर्जितः ॥ १२ ॥

कायर! तू इस प्रकार बिजलीके मारे हुए मुर्देकी भाँति यहाँ क्यों निश्चेष्ट होकर पड़ा है? बस, तू खड़ा हो जा, शत्रुओंसे पराजित होकर यहाँ पड़ा मत रह ॥ १२ ॥

मास्तं गमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा।
मा मध्ये मा जघन्ये त्वं माधो भूस्तिष्ठ गर्जितः ॥ १३ ॥

तू दीन होकर अस्त न हो जा। अपने शौर्यपूर्ण कर्मसे प्रसिद्धि प्राप्त कर। तू मध्यम, अधम अथवा निकृष्ट भावका आश्रय न ले, वरं युद्धभूमिमें सिंहनाद करके डट जा ॥ १३ ॥

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि विज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः ॥ १४ ॥

तू तिन्दुककी जलती हुई लकड़ीके समान दो घड़ीके लिये भी प्रज्वलित हो उठ (थोड़ी देरके ही लिये सही, शत्रुके सामने महान् पराक्रम प्रकट कर); परंतु जीनेकी इच्छासे भूसीकी ज्वालारहित आगके समान केवल धूआँ न कर (मन्द पराक्रमसे काम न ले) ॥ १४ ॥

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।
मा ह स्म कस्यचिद् गेहे जनि राज्ञः खरो मृदुः ॥ १५ ॥

दो घड़ी भी प्रज्वलित रहना अच्छा; परंतु दीर्घकालतक धूआँ छोड़ते हुए सुलगना अच्छा नहीं। किसी भी राजाके घरमें अत्यन्त कठोर अथवा अत्यन्त कोमल स्वभावके पुरुषका जन्म न हो ॥ १५ ॥

कृत्वा मानुष्यकं कर्म सृत्वाजिं यावदुत्तमम्।
धर्मस्यानृण्यमाप्नोति न चात्मानं विगर्हते ॥ १६ ॥

वीर पुरुष युद्धमें जाकर यथाशक्ति उत्तम पुरुषार्थ प्रकट करके धर्मके ऋणसे उऋण होता है और अपनी निन्दा नहीं कराता है ॥ १६ ॥

अलब्ध्वा यदि वा लब्ध्वा नानुशोचति पण्डितः।
आनन्तर्यं चारभते न प्राणानां धनायते ॥ १७ ॥

विद्वान् पुरुषको अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो या न हो, वह उसके लिये शोक नहीं करता। वह (अपनी पूरी शक्तिके अनुसार) प्राणपर्यन्त निरन्तर चेष्टा करता है और अपने लिये धनकी इच्छा नहीं करता ॥ १७ ॥

उद्भावयस्व वीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम्।
धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १८ ॥

बेटा! धर्मको आगे रखकर या तो पराक्रम प्रकट कर अथवा उस गतिको प्राप्त हो जा, जो समस्त प्राणियोंके लिये निश्चित है, अन्यथा किसलिये जी रहा है? ॥ १८ ॥

इष्टापूर्तं हि ते क्लीब कीर्तिश्च सकला हता।
विच्छिन्नं भोगमूलं ते किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १९ ॥

कायर! तेरे इष्ट और आपूर्त कर्म नष्ट हो गये, सारी कीर्ति धूलमें मिल गयी और भोगका मूल साधन राज्य भी छिन गया, अब तू किसलिये जी रहा है? ॥ १९ ॥

शत्रुर्निमज्जता ग्राह्यो जङ्घायां प्रपतिष्यता।
विपरिच्छिन्नमूलोऽपि न विषीदेत् कथंचन ॥ २० ॥
उद्यम्य धुरमुत्कर्षेदाजानेयकृतं स्मरन्।

मनुष्य डूबते समय अथवा ऊँचेसे नीचे गिरते समय भी शत्रुकी टाँग अवश्य पकड़े और ऐसा करते समय यदि अपना मूलोच्छेद हो जाय, तो भी किसी प्रकार विषाद न करे। अच्छी जातिके घोड़े न तो थकते हैं और न शिथिल ही होते हैं। उनके इस कार्यको स्मरण करके अपने ऊपर रक्खे हुए युद्ध आदिके भारको उद्योगपूर्वक वहन करे ॥ २०½ ॥

कुरु सत्त्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मनः ॥ २१ ॥
उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि।

बेटा! तू धैर्य और स्वाभिमानका अवलम्बन कर। अपने पुरुषार्थको जान और तेरे कारण डूबे हुए इस वंशका तू स्वयं ही उद्धार कर ॥ २१½ ॥

यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम् ॥ २२ ॥
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान्।

जिसके महान् और अद्भुत पुरुषार्थ एवं चरित्रकी सब लोग चर्चा नहीं करते हैं, वह मनुष्य अपने द्वारा जनसंख्याकी वृद्धिमात्र करनेवाला है। मेरी दृष्टिमें न तो वह स्त्री है और न पुरुष ही है ॥ २२½ ॥

दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः ॥ २३ ॥
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः।

दान, तपस्या, सत्यभाषण, विद्या तथा धनोपार्जनमें जिसके सुयशका सर्वत्र बखान नहीं होता है, वह मनुष्य अपनी माताका पुत्र नहीं, मलमूत्रमात्र ही है ॥ २३½ ॥

श्रुतेन तपसा वापि श्रिया वा विक्रमेण वा ॥ २४ ॥
जनान् योऽभिभवत्यन्यान् कर्मणा हि स वै पुमान्।

जो शास्त्रज्ञान, तपस्या, धन-सम्पत्ति अथवा पराक्रमके द्वारा दूसरे लोगोंको पराजित कर देता है, वह उसी श्रेष्ठ कर्मके द्वारा पुरुष कहलाता है ॥ २४½ ॥

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि ॥ २५ ॥
नृशंस्यामयशस्यां च दुःखां कापुरुषोचिताम् ।

तुझे हिजड़ों, कापालिकों, क्रूर मनुष्यों तथा कायरोंके लिये उचित भिक्षा आदि निन्दनीय वृत्तिका आश्रय कभी नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वह अपयश फैलानेवाली और दुःखदायिनी होती है ॥ २५½ ॥

यमेनमभिनन्देयुरमित्राः पुरुषं कृशम् ॥ २६ ॥
लोकस्य समवज्ञातं निहीनासनवाससम् ।
अहोलाभकरं हीनमल्पजीवनमल्पकम् ॥ २७ ॥
नेदृशं बन्धुमासाद्य बान्धवः सुखमेधते ।

जिस दुर्बल मनुष्यका शत्रुपक्षके लोग अभिनन्दन करते हों, जो सब लोगोंके द्वारा अपमानित होता हो, जिसके आसन और वस्त्र निकृष्ट श्रेणीके हों, जो थोड़े लाभसे ही संतुष्ट होकर विस्मय प्रकट करता हो, जो सब प्रकारसे हीन, क्षुद्र जीवन बितानेवाला और ओछे स्वभावका हो, ऐसे बन्धुको पाकर उसके भाई-बन्धु सुखी नहीं होते ॥ २६-२७½ ॥

अवृत्त्यैव विपत्स्यामो वयं राष्ट्रात् प्रवासिताः ॥ २८ ॥
सर्वकामरसैर्हीनाः स्थानभ्रष्टा अकिंचनाः ।

तेरी कायरताके कारण हमलोग इस राज्यसे निर्वासित होनेपर सम्पूर्ण मनोवाञ्छित सुखोंसे हीन, स्थानभ्रष्ट और अकिंचन हो जीविकाके अभावमें ही मर जायँगे ॥ २८½ ॥

अवल्गुकारिणं सत्सु कुलवंशस्य नाशनम् ॥ २९ ॥
कलिं पुत्रप्रवादेन संजय त्वामजीजनम् ।

संजय ! तू सत्पुरुषोंके बीचमें अशोभन कार्य करनेवाला है, कुल और वंशकी प्रतिष्ठाका नाश करनेवाला है। जान पड़ता है, तेरे रूपमें पुत्रके नामपर मैंने कलि-पुरुषको ही जन्म दिया है ॥ २९½ ॥

निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ॥ ३० ॥
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् ।

संसारकी कोई भी नारी ऐसे पुत्रको जन्म न दे, जो अमर्षशून्य, उत्साहहीन, बल और पराक्रमसे रहित तथा शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाला हो ॥ ३०½ ॥

मा धूमाय ज्वलात्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान् ॥ ३१ ॥
ज्वल मूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम् ।

अरे ! धूमकी तरह न उठ । जोर-जोरसे प्रज्वलित हो जा और वेगपूर्वक आक्रमण करके शत्रुसैनिकोंका संहार कर डाल । तू एक मुहूर्त या एक क्षणके लिये वैरियोंके मस्तकपर जलती हुई आग बनकर छा जा ॥ ३१½

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ॥ ३२
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।

जिस क्षत्रियके हृदयमें अमर्ष है और जो शत्रुओंके क्षमाभाव धारण नहीं करता, इतने ही गुणोंके कारण पुरुष कहलाता है । जो क्षमाशील और अमर्षशून्य है, वह क्ष न तो स्त्री है और न पुरुष ही कहलाने योग्य है ॥ ३२½

संतोषो वै श्रियं हन्ति तथानुक्रोश एव च ॥ ३
अनुत्थानभये चोभे निरीहो नाश्नुते महत् ।

संतोष, दया, उद्योगशून्यता और भय—ये सम्पत्ति नाश करनेवाले हैं । निश्चेष्ट मनुष्य कभी कोई महत्त्व पद नहीं पा सकता ॥ ३३½ ॥

एभ्यो निकृतिपापेभ्यः प्रमुञ्चात्मानमात्मना ॥ ३
आयसं हृदयं कृत्वा मृगयस्व पुनः स्वकम् ।

पराजयके कारण जो लोकमें तेरी निन्दा और तिर हो रहे हैं, इन सब दोषोंसे तू स्वयं ही अपने-आपको कर और अपने हृदयको लोहेके समान दृढ़ बनाकर अपने योग्य पद (राज्यवैभव) का अनुसंधान कर ॥ ३४

परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते ॥ ३५
तमाहुर्व्यर्थनामानं स्त्रीवद् य इह जीवति ।

जो पर अर्थात् शत्रुका सामना करके उसके वेगको लेता है, वही उस पुरुषार्थके कारण पुरुष कहलाता जो इस जगत्में स्त्रीकी भाँति भीरुतापूर्ण जीवन बिताता उसका 'पुरुष' नाम व्यर्थ कहा गया है ॥ ३५½ ॥

शूरस्योर्जितसत्त्वस्य सिंहविक्रान्तचारिणः ॥ ३६
दिष्टभावं गतस्यापि विषये मोदते प्रजा ।

यदि बढ़े हुए तेज और उत्साहवाला, शूरवीर एवं सिं के समान पराक्रमी राजा युद्धमें दैववश वीरगतिको प्राप्त जाय तो भी उसके राज्यमें प्रजा सुखी ही रहती है ॥ ३६½

य आत्मनः प्रियसुखे हित्वा मृगयते श्रियम् ॥ ३७
अमात्यानामथो हर्षमादधात्यचिरेण सः ॥ ३८

जो अपने प्रिय और सुखका परित्याग करके सम्पत्ति अन्वेषण करता है, वह शीघ्र ही अपने मन्त्रियोंका बढ़ाता है ॥ ३७—३८ ॥

पुत्र उवाच

किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया ।
किमाभरणकृत्यं ते किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३९

पुत्र बोला—माँ ! यदि तू मुझे न देखे तो यह सार पृथ्वी मिल जानेपर भी तुझे क्या सुख मिलेगा ? मेरे

रहनेपर तुझे आभूषणोंकी भी क्या आवश्यकता होगी? भाँति-भाँतिके भोगों और जीवनसे भी तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? ॥ ३९ ॥

मातोवाच

किमद्यकानां ये लोका द्विषन्तस्तानवाप्नुयुः।
ये त्वादृतात्मनां लोकाः सुहृदस्तान् व्रजन्तु नः ॥ ४० ॥

विदुला बोली—बेटा! आज क्या भोजन होगा? इस प्रकारकी चिन्तामें पड़े हुए दरिद्रोंके जो लोक हैं, वे हमारे शत्रुओंको प्राप्त हों और सर्वत्र सम्मानित होनेवाले पुण्यात्मा पुरुषोंके जो लोक हैं, उनमें हमारे हितैषी सुहृद् पधारें ॥

भृत्यैर्विहीयमानानां परपिण्डोपजीविनाम्।
कृपणानामसत्त्वानां मा वृत्तिमनुवर्तिथाः ॥ ४१ ॥

संजय! भृत्यहीन, दूसरोंके अन्नपर जीनेवाले, दीन-दुर्बल मनुष्योंकी वृत्तिका अनुसरण न कर ॥ ४१ ॥

अनु त्वां तात जीवन्तु ब्राह्मणाः सुहृदस्तथा।
पर्जन्यमिव भूतानि देवा इव शतक्रतुम् ॥ ४२ ॥

तात! जैसे सब प्राणियोंकी जीविका मेघके अधीन है तथा जैसे सब देवता इन्द्रके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण तथा हितैषी सुहृद् तेरे सहारे जीवन-निर्वाह करें ॥ ४२ ॥

यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि संजय।
पक्वं द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ॥ ४३ ॥

संजय! पके फलवाले वृक्षके समान जिस पुरुषका आश्रय लेकर सब प्राणी जीविका चलाते हैं, उसीका जीवन सार्थक है ॥ ४३ ॥

यस्य शूरस्य विक्रान्तैरेधन्ते बान्धवाः सुखम्।
त्रिदशा इव शक्रस्य साधु तस्येह जीवितम् ॥ ४४ ॥

जैसे इन्द्रके पराक्रमसे सब देवता सुखी रहते हैं, उसी प्रकार जिस शूरवीर पुरुषके बल और पुरुषार्थसे उसके भाई-बन्धु सुखपूर्वक उन्नति करते हैं, इस संसारमें उसीका जीवन श्रेष्ठ है ॥ ४४ ॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः।
स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य अपने बाहुबलका आश्रय लेकर उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करता है, वही इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें शुभ गति पाता है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाका अपने पुत्रको उपदेशविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ १३३

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुलाका अपने पुत्रको युद्धके लिये उत्साहित करना

विदुलोवाच

अथैतस्यामवस्थायां पौरुषं हातुमिच्छसि।
निहीनसेवितं मार्गं गमिष्यस्यचिरादिव ॥ १ ॥

विदुला बोली—संजय! यदि तू इस दशामें पौरुषको छोड़ देनेकी इच्छा करता है तो शीघ्र ही नीच पुरुषोंके मार्गपर जा पहुँचेगा ॥ १ ॥

यो हि तेजो यथाशक्ति न दर्शयति विक्रमात्।
क्षत्रियो जीविताकाङ्क्षी स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ २ ॥

जो क्षत्रिय अपने जीवनके लोभसे यथाशक्ति पराक्रम प्रकट करके अपने तेजका परिचय नहीं देता है, उसे सब लोग चोर मानते हैं ॥ २ ॥

अर्थवन्त्युपपन्नानि वाक्यानि गुणवन्ति च।
नैव सम्प्राप्नुवन्ति त्वां मुमूर्षुमिव भेषजम् ॥ ३ ॥

जैसे मरणासन्न पुरुषको कोई भी दवा लागू नहीं होती, उसी प्रकार ये युक्तियुक्त, गुणकारी और सार्थक वचन भी तेरे हृदयतक पहुँच नहीं पाते हैं (यह कितने दुःखकी बात है) ॥

सन्ति वै सिन्धुराजस्य संतुष्टा न तथा जनाः।
दौर्बल्यादासते मूढा व्यसनौघप्रतीक्षिणः ॥ ४ ॥

देख, सिन्धुराजकी प्रजा उससे संतुष्ट नहीं है, तथापि तेरी दुर्बलताके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो उदासीन बैठी हुई है और सिन्धुराजपर विपत्तियोंके आनेकी बाट जोह रही है ॥

सहायोपचितिं कृत्वा व्यवसाय्य ततस्ततः।
अनुदुष्येयुरपरे पश्यन्तस्तव पौरुषम् ॥ ५ ॥

दूसरे राजा भी तेरा पुरुषार्थ देखकर इधर-उधरसे विशेष चेष्टापूर्वक सहायक साधनोंकी वृद्धि करके सिन्धुराजके शत्रु हो सकते हैं ॥ ५ ॥

तैः कृत्वा सह संघातं गिरिदुर्गालयं चर।
काले व्यसनमाकाङ्क्षन् नैवायमजरामरः ॥ ६ ॥

तू उन सबके साथ मैत्री करके यथासमय अपने शत्रु सिन्धुराजपर विपत्ति आनेकी प्रतीक्षा करता हुआ पर्वतोंकी दुर्गम गुफामें विचरता रह; क्योंकि यह सिन्धुराज कोई अजर, अमर तो है नहीं ॥ ६ ॥

संजयो नामतश्च त्वं न च पश्यामि तत् त्वयि ।
अन्वर्थनामा भव मे पुत्र मा व्यर्थनामकः ॥ ७ ॥

तेरा नाम तो संजय है, परंतु तुझमें इस नामके अनुसार गुण मैं नहीं देख रही हूँ। बेटा ! युद्धमें विजय प्राप्त करके अपना नाम सार्थक कर, व्यर्थ संजय नाम न धारण कर ॥

सम्यग्दृष्टिर्महाप्राज्ञो बालं त्वां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
अयं प्राप्य महत् कृच्छ्रं पुनर्वृद्धिं गमिष्यति ॥ ८ ॥

जब तू बालक था, उस समय एक उत्तम दृष्टिवाले, परम बुद्धिमान् ब्राह्मणने तेरे विषयमें कहा था कि 'यह महान् संकटमें पड़कर भी पुनः वृद्धिको प्राप्त होगा' ॥ ८ ॥

तस्य स्मरन्ती वचनमाशंसे विजयं तव ।
तस्मात् तात ब्रवीमि त्वां वक्ष्यामि च पुनः पुनः ॥ ९ ॥

उस ब्राह्मणकी बातको याद करके मैं यह आशा करती हूँ कि तेरी विजय होगी । तात ! इसीलिये मैं बार-बार तुझसे कहती हूँ और कहती रहूँगी ॥ ९ ॥

यस्य ह्यर्थाभिनिर्वृत्तौ भवन्त्याप्यायिताः परे ।
तस्यार्थसिद्धिर्नियता नयेष्वर्थानुसारिणः ॥ १० ॥

जिसके प्रयोजनकी सिद्धि होनेपर उससे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे लोग भी संतुष्ट एवं उन्नतिको प्राप्त होते हैं, नीतिमार्गपर चलकर अर्थसिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवाले उस पुरुषको निश्चय ही अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है ॥ १० ॥

समृद्धिरसमृद्धिर्वा पूर्वेषां मम संजय ।
एवं विद्वान् युद्धमना भव मा प्रत्युपाहर ॥ ११ ॥

संजय ! युद्धसे हमारे पूर्वजोंका अथवा मेरा कोई लाभ हो या हानि, युद्ध करना क्षत्रियोंका धर्म है, ऐसा समझकर उसीमें मन लगा, युद्ध बंद न कर ॥ ११ ॥

नातः पापीयसीं कांचिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत् ।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ १२ ॥

जहाँ आजके लिये और कल सवेरेके लिये भी भोजन दिखायी नहीं देता, उससे बढ़कर महान् पापपूर्ण कोई दूसरी अवस्था नहीं है, ऐसा शम्बरासुरका कथन है ॥ १२ ॥

पतिपुत्रवधादेतत् परमं दुःखमब्रवीत् ।
दारिद्र्यमिति यत् प्रोक्तं पर्यायमरणं हि तत् ॥ १३ ॥

जिसका नाम दरिद्रता है, उसे पति और पुत्रके वधसे भी अधिक दुःखदायक बताया गया है । दरिद्रता मृत्युका समानार्थक शब्द है ॥ १३ ॥

अहं महाकुले जाता ह्रदाद्ध्रदमिवागता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ १४ ॥

मैं उच्चकुलमें उत्पन्न हो हंसीकी भाँति एक सरोवरसे रे सरोवरमें आयी और इस राज्यकी स्वामिनी, समस्त कल्याणमय साधनोंसे सम्पन्न तथा पतिदेवके परम आ की पात्र हुई ॥ १४ ॥

महार्हमाल्याभरणां सुमृष्टाम्बरवाससम् ।
पुरा हृष्टः सुहृद्वर्गो मामपश्यत् सुहृद्गताम् ॥ १५

पूर्वकालमें मेरे सुहृदोंने जब मुझे सगे-सम्बन्धियोंके बहुमूल्य हार एवं आभूषणोंसे विभूषित तथा परम सुन्दर स्व वस्त्रोंसे आच्छादित देखा, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥ १५

यदा मां चैव भार्यां च द्रष्टासि भृशदुर्बलाम् ।
न तदा जीवितेनार्थो भविता तव संजय ॥ १६

संजय ! अब जिस समय तू मुझे और अपनी पत्नी चिन्ताके कारण अत्यन्त दुर्बल देखेगा, उस समय जीवित रहनेकी इच्छा नहीं होगी ॥ १६ ॥

दासकर्मकरान् भृत्यानाचार्यर्त्विक्पुरोहितान् ।
अवृत्त्यास्मान् प्रजहतो दृष्ट्वा किं जीवितेन ते ॥ १७

जब सेवाका काम करनेवाले दास, भरण-पोषण पानेव कुटुम्बी, आचार्य, ऋत्विक् और पुरोहित जीविकाके अभा हमें छोड़कर जाने लगेंगे, उस समय उन्हें देखकर जीवन-धारणका कोई प्रयोजन नहीं दिखायी देगा ॥ १७

यदि कृत्यं न पश्यामि तवाद्याहं यथा पुरा ।
श्लाघनीयं यशस्यं च का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १८

यदि पहलेके समान आज भी मैं तेरे यशकी वृद्धि करने वाले प्रशंसनीय कर्मोंको नहीं देखूँगी तो मेरे हृदयको क शान्ति मिलेगी ? ॥ १८ ॥

नेति चेद् ब्राह्मणं ब्रूयां दीर्येत हृदयं मम ।
न ह्यहं न च मे भर्ता नेति ब्राह्मणमुक्तवान् ॥ १९ ॥

यदि किसी ब्राह्मणके माँगनेपर मैं उसकी अभीष्ट वस्तु लिये 'नाहीं' कह दूँगी तो उसी समय मेरा हृदय विदीर्ण हो जायगा । आजतक मैंने या मेरे पतिदेवने किसी ब्राह्मणके नाहीं नहीं की है ॥ १९ ॥

वयमाश्रयणीयाः स्म नाश्रितारः परस्य च ।
सान्यमासाद्य जीवन्ती परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ २० ॥

हम सदा लोगोंके आश्रयदाता रहे हैं, दूसरोंके आश्रित कभी नहीं रहे; परंतु अब यदि दूसरेका आश्रय लेकर जीवन धारण करना पड़े तो मैं ऐसे जीवनका परित्याग ही कर दूँगी।

अपारे भव नः पारमप्लवे भव नः प्लवः ।
कुरुष्व स्थानमस्थाने मृतान् संजीवयस्व नः ॥ २१ ॥

बेटा ! अपार समुद्रमें डूबते हुए हमलोगोंको तू पार लगानेवाला हो । नौकाविहीन अगाध जलराशि (महान् संकट) में तू हमारे लिये नौका हो जा । हमारे लिये कोई स्थान नहीं रह गया है, तू स्थान बन जा और हम मृतप्राय हो रहे हैं, तू हमें जीवन दान कर ॥ २१ ॥

सर्वे ते शत्रवः शक्या न चेज्जीवितुमिच्छसि ।
अथ चेदीदृशीं वृत्तिं क्लीबामभ्युपपद्यसे ॥ २२ ॥
निर्विण्णात्मा हतमना मुञ्चैतां पापजीविकाम् ।

यदि तुझे जीवनके प्रति अधिक आसक्ति न हो तो तू अपने सभी शत्रुओंको परास्त कर सकता है और यदि इस प्रकार विषादग्रस्त एवं हतोत्साह होकर ऐसी कायरोंकी-सी वृत्ति अपना रहा है तो तुझे इस पापपूर्ण जीविकाको त्याग देना चाहिये ॥ २२½ ॥

एकशत्रुवधेनैव शूरो गच्छति विश्रुतिम् ॥ २३ ॥
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ।
माहेन्द्रं च गृहं लेभे लोकानां चेश्वरोऽभवत् ॥ २४ ॥

एक शत्रुका वध करनेसे ही शूरवीर पुरुष सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात हो जाता है। देवराज इन्द्र केवल वृत्रासुरका वध करके ही ‘महेन्द्र’ नामसे प्रसिद्ध हो गये। उन्हें रहनेके लिये इन्द्रभवन प्राप्त हुआ और वे तीनों लोकोंके अधीश्वर हो गये॥

नाम विश्राव्य वै संख्ये शत्रूनाहूय दंशितान् ।
सेनाग्रं चापि विद्राव्य हत्वा वा पुरुषं वरम् ॥ २५ ॥
यदैव लभते वीरः सुयुद्धेन महद् यशः ।
तदैव प्रव्यथन्तेऽस्य शत्रवो विनमन्ति च ॥ २६ ॥

वीर पुरुष युद्धमें अपना नाम सुनाकर, कवचधारी शत्रुओंको ललकारकर, सेनाके अग्रभागको खदेड़कर अथवा शत्रुपक्षके किसी श्रेष्ठ पुरुषका वध करके जभी उत्तम युद्धके द्वारा महान् यश प्राप्त कर लेता है, तभी उसके शत्रु व्यथित होते और उसके सामने मस्तक झुकाते हैं ॥२५-२६॥

त्यक्त्वाऽऽत्मानं रणे दक्षं शूरं कापुरुषा जनाः।
अवशास्तर्पयन्ति स्म सर्वकामसमृद्धिभिः ॥ २७ ॥

कायर मनुष्य विवश हो युद्धमें अपने शरीरका त्याग करके युद्धकुशल शूरवीरको सम्पूर्ण मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाली अपनी समृद्धियोंके द्वारा तृप्त करते हैं ॥ २७ ॥

राज्यं चाप्युग्रविभ्रंशं संशयो जीवितस्य वा ।
न लब्धस्य हि शत्रोर्वै शेषं कुर्वन्ति साधवः ॥ २८ ॥

जिसका भयानक रूपसे पतन हुआ है, वह राज्य प्राप्त हो जाय या जीवन ही संकटमें पड़ जाय, किसी भी दशामें अपने हाथमें आये हुए शत्रुको श्रेष्ठ पुरुष शेष नहीं रहने देते हैं ॥

स्वर्गद्वारोपमं राज्यमथवाप्यमृतोपमम् ।
युद्धमेकायनं मत्वा पतोल्मुक इवारिषु ॥ २९ ॥

युद्धको स्वर्गद्वारके सदृश उत्तम गति अथवा अमृतके सदृश राज्यकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग मानकर तू जलते हुए काठकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़ ॥ २९ ॥

जहि शत्रून् रणे राजन् स्वधर्ममनुपालय ।
मा त्वा दृशं सुकृपणं शत्रूणां भयवर्धनम् ॥ ३० ॥

राजन्! तू युद्धमें शत्रुओंको मार और अपने धर्मका पालन कर। शत्रुओंका भय बढ़ानेवाले तुझ वीर पुत्रको मैं अत्यन्त दीन या कायरके रूपमें न देखूँ ॥ ३० ॥

अस्मदीयैश्च शोचद्भिर्नदद्भिश्च परैर्वृतम् ।
अपि त्वां नानुपश्येयं दीनाद् दीनमिव स्थितम् ॥ ३१ ॥

मैं तुझे दीनसे भी दीनके समान दयनीय अवस्थामें पड़ा हुआ तथा शोकमग्न हुए अपने पक्षके और गर्जन-तर्जन करते हुए शत्रुपक्षके लोगोंसे घिरा हुआ नहीं देखना चाहती ॥३१॥

हृष्य सौवीरकन्याभिः श्लाघस्वार्थैर्यथा पुरा ।
मा च सैन्धवकन्यानामवसन्नो वशं गमः ॥ ३२ ॥

तू सौवीर देशकी कन्याओं (अपनी पत्नियों) के साथ हर्षका अनुभव कर। पहलेकी भाँति अपने धनकी अधिकताके लिये गर्व कर। विपत्तिमें पड़कर सिन्धुदेशीय (शत्रुदेशकी) कन्याओंके वशमें न हो जा ॥ ३२ ॥

युवा रूपेण सम्पन्नो विद्ययाभिजनेन च ।
यत् त्वादृशो विकुर्वीत यशस्वी लोकविश्रुतः ॥ ३३ ॥
अधुर्यवच्च वोढव्ये मन्ये मरणमेव तत् ।

तू रूप, यौवन, विद्या और कुलीनतासे सम्पन्न है, यशस्वी तथा लोकमें विख्यात है। तुझ-जैसा वीर पुरुष यदि पराक्रमके अवसरपर डर जाय, भार ढोनेके समय बिना नथे हुए बैलके समान बैठ रहे या भाग जाय तो मैं इसे तेरा मरण ही समझती हूँ ॥३३½ ॥

यदि त्वामनुपश्यामि परस्य प्रियवादिनम् ॥ ३४ ॥
पृष्ठतोऽनुव्रजन्तं वा का शान्तिर्हृदयस्य मे ।

यदि मैं यह देखूँ कि तू शत्रुसे मीठी-मीठी बातें करता तथा उसके पीछे-पीछे जाता है तो मेरे हृदयमें क्या शान्ति मिलेगी ? ॥ ३४½ ॥

नास्मिन् जातु कुले जातो गच्छेद् योऽन्यस्य पृष्ठतः ।३५।
न त्वं परस्यानुचरस्तात जीवितुमर्हसि ।

इस कुलमें कभी कोई ऐसा पुरुष नहीं उत्पन्न हुआ, जो दूसरेके पीछे-पीछे चला हो। तात! तू दूसरेका सेवक होकर जीवित रहनेके योग्य नहीं है ॥ ३५½ ॥

अहं हि क्षत्रहृदयं वेद यत् परिशाश्वतम् ॥ ३६ ॥
पूर्वैः पूर्वतरैः प्रोक्तं परैः परतरैरपि ।
शाश्वतं चाव्ययं चैव प्रजापतिविनिर्मितम् ॥ ३७ ॥

स्वयं विधाताने जिसकी सृष्टि की है, प्राचीन और अत्यन्त प्राचीन पुरुषोंने जिसका वर्णन किया है, परवर्ती और अतिपरवर्ती सत्पुरुष जिसका वर्णन करेंगे तथा जो चिरन्तन एवं अविनाशी है, उस सनातन और उत्तम क्षत्रिय-हृदयको मैं जानती हूँ ॥ ३६-३७ ॥

यो वै कश्चिदिहाजातः क्षत्रियः क्षत्रकर्मवित्।
भयाद् वृत्तिसमीक्षो वा न नमेदिह कस्यचित्॥ ३८ ॥

इस जगत्में जो कोई भी क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है और क्षत्रियधर्मको जाननेवाला है, वह भयसे अथवा आजीविकाकी ओर दृष्टि रखकर भी किसीके सामने नतमस्तक नहीं हो सकता॥ ३८ ॥

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम्।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥ ३९ ॥

सदा उद्यम करे, किसीके आगे सिर न झुकावे। उद्यम ही पुरुषार्थ है। असमयमें नष्ट भले ही हो जाय, परंतु किसीके आगे नतमस्तक न हो ॥ ३९ ॥

मातङ्गो मत्त इव च परीयात् सुमहामनाः।
ब्राह्मणेभ्यो नमेन्नित्यं धर्मायैव च संजय ॥ ४०

संजय ! महामनस्वी क्षत्रिय मदमत्त हाथीके समान सर्वत्र निर्भय विचरण करे और सदा ब्राह्मणोंको तथा धर्मको ही नमस्कार करे॥ ४० ॥

नियच्छन्नितरान् वर्णान् विनिघ्नन् सर्वदुष्कृतः।
ससहायोऽसहायो वा यावज्जीवं तथा भवेत् ॥ ४१

क्षत्रिय ससहाय हो अथवा असहाय, वह अन्य व लोगोंको काबूमें रखता और समस्त पापियोंको दण्ड दे हुआ जीवनभर वैसा ही उद्यमशील बना रहे ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाका अपने पुत्रको उपदेशविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुला और उसके पुत्रका संवाद—विदुलाके द्वारा कार्यमें सफलता प्राप्त करने तथा शत्रुवशीकरणके उपायोंका निर्देश

पुत्र उवाच

कृष्णायसस्येव च ते संहत्य हृदयं कृतम्।
मम मातस्त्वकरुणे वीरप्रज्ञे ह्यमर्षणे ॥ १ ॥

पुत्र बोला—माँ ! तेरा हृदय तो ऐसा जान पड़ता है, मानो काले लोहपिण्डको ठोक-पीटकर बनाया गया हो। तू मेरी माता होकर भी इतनी निर्दय है। तेरी बुद्धि वीरोंके समान है और तू सदा अमर्षमें भरी रहती है ॥ १ ॥

अहो क्षत्रसमाचारो यत्र मामितरं यथा।
नियोजयसि युद्धाय परमातेव मां तथा ॥ २ ॥

अहो ! क्षत्रियोंका आचार-व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक है, जिसमें स्थित होकर तू मुझे इस प्रकार युद्धमें लगा रही है, मानो मैं दूसरेका बेटा होऊँ और तू दूसरेकी माँ हो ॥२॥

ईदृशं वचनं ब्रूयाद् भवती पुत्रमेकजम्।
किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया॥ ३ ॥

मुझ इकलौते पुत्रसे तू ऐसी निष्ठुर बात कहे, आश्चर्य है ! मुझे न देखनेपर यह सारी पृथ्वी भी तुझे मिल जाय तो इससे तुझे क्या सुख मिलेगा ? ॥ ३ ॥

किमाभरणकृत्येन किं भोगैर्जीवितेन वा।
मयि वा संगरहते प्रियपुत्रे विशेषतः ॥ ४ ॥

मैं विशेषतः तेरा प्रिय पुत्र यदि युद्धमें मारा जाऊँ तो तुझे आभूषणोंसे, भोग-सामग्रियोंसे तथा अपने जीवनसे भी या सुख प्राप्त होगा ? ॥ ४ ॥

मातोवाच

सर्वावस्था हि विदुषां तात धर्मार्थकारणात्।
तावेवाभिसमीक्ष्याहं संजय त्वामचूचुदम् ॥ ५ ॥

माता बोली—तात संजय ! विद्वानोंकी सारी अवस्था भी धर्म और अर्थके निमित्त ही होती है। उन्हीं दोनों ओर दृष्टि रखकर मैंने भी तुझे युद्धके लिये प्रेरित किया है।५।

स समीक्ष्यक्रमोपेतो मुख्यः कालोऽयमागतः।
अस्मिंश्चेदागते काले कार्यं न प्रतिपद्यसे ॥ ६ ॥
असम्भावितरूपस्त्वमानृशंस्यं करिष्यसि।
तं त्वामयशसा स्पृष्टं न ब्रूयां यदि संजय ॥ ७ ॥
खरीवात्सल्यमाहुस्तन्निःसामर्थ्यमहेतुकम्।
सद्भिर्विगर्हितं मार्गं त्यज मूर्खनिषेवितम् ॥ ८ ॥

यह तेरे लिये दर्शनीय पराक्रम करके दिखानेका मुख्य समय प्राप्त हुआ है। ऐसे समयमें भी यदि तू अपने कर्तव्यका पालन नहीं करेगा और तुझसे जैसी सम्भावना थी, उसके विपरीत स्वभावका परिचय देकर शत्रुओंके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव नहीं करेगा तो उस दशामें सब ओर तेरा अपयश फैल जायगा। संजय ! ऐसे अवसरपर भी यदि मैं तुझे कुछ न कहूँ तो मेरा वह वात्सल्य गदहीके स्नेहके समान शक्तिहीन तथा निरर्थक होगा। अतः वत्स ! साधु पुरुष जिसकी निन्दा करते हैं और मूर्ख मनुष्य ही जिसपर चलते हैं, उस मार्गको त्याग दे ॥ ६–८ ॥

अविद्या वै महत्यस्ति यामिमां संश्रिताः प्रजाः।
तव स्याद् यदि सद्वृत्तं तेन मे त्वं प्रियो भवेः ॥ ९ ॥

प्रजाने जिसका आश्रय ले रक्खा है, वह तो बड़ी भारी अविद्या ही है । तू तो मुझे तभी प्रिय हो सकता है, जब तेरा आचरण सत्पुरुषोंके योग्य हो जाय ॥ ९ ॥

धर्मार्थगुणयुक्तेन नेतरेण कथंचन ।
दैवमानुषयुक्तेन सद्भिराचरितेन च ॥ १० ॥

धर्म, अर्थ और गुणोंसे युक्त, देवलोक तथा मनुष्यलोकमें भी उपयोगी और सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्कर्मसे ही तू मेरा प्रिय हो सकता है, इसके विपरीत असत्कर्मसे किसी प्रकार भी तू मुझे प्रिय नहीं हो सकता ॥ १० ॥

यो ह्येवमविनीतेन रमते पुत्र नप्तृणा ।
अनुत्थानवता चापि दुर्विनीतेन दुर्धिया ॥ ११ ॥
रमते यस्तु पुत्रेण मोघं तस्य प्रजाफलम् ।
अकुर्वन्तो हि कर्माणि कुर्वन्तो निन्दितानि च ॥ १२ ॥
सुखं नैवेह नामुत्र लभन्ते पुरुषाधमाः ।

बेटा ! जो इस प्रकार विनयशून्य एवं अशिक्षित पौत्रसे हर्षको प्राप्त होता है तथा उद्योगरहित, दुर्विनीत एवं दुर्बुद्धि पुत्रसे सुख मानता है, उसका संतानोत्पादन व्यर्थ है; क्योंकि वे अयोग्य पुत्र-पौत्र पहले तो कर्म ही नहीं करते हैं और यदि करते हैं तो निन्दित कर्म ही करते हैं, इससे वे अधम मनुष्य न तो इस लोकमें सुख पाते हैं और न परलोकमें ही ॥ ११-१२½ ॥

युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः संजयेह जयाय च ॥ १३ ॥
जयन् वा वध्यमानो वा प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ।
न शक्रभवने पुण्ये दिवि तद् विद्यते सुखम् ।
यदमित्रान् वशे कृत्वा क्षत्रियः सुखमश्नुते ॥ १४ ॥

संजय ! इस लोकमें युद्ध एवं विजयके लिये ही विधाताने क्षत्रियकी सृष्टि की है । वह विजय प्राप्त करे या युद्धमें मारा जाय, सभी दशाओंमें उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है । पुण्यमय स्वर्गलोकके इन्द्रभवनमें भी वह सुख नहीं मिलता, जिसे क्षत्रिय वीर शत्रुओंको वशमें करके सानन्द अनुभव करता है ॥ १३-१४ ॥

मन्युना दह्यमानेन पुरुषेण मनस्विना ।
निकृतेनेह बहुशः शत्रून् प्रतिजिगीषया ॥ १५ ॥
आत्मानं वा परित्यज्य शत्रुं वा विनिपात्य च ।
अतोऽन्येन प्रकारेण शान्तिरस्य कुतो भवेत् ॥ १६ ॥

अतएव जो मनस्वी क्षत्रिय अनेक बार पराजित हो क्रोधसे दग्ध हो रहा हो, वह अवश्य ही विजयकी इच्छासे शत्रुओंपर आक्रमण करे । फिर तो वह अपने शरीरका परित्याग करके अथवा शत्रुको मार गिराकर ही शान्ति लाभ करता है । इसके सिवा दूसरे किसी प्रकारसे उसे कैसे शान्ति प्राप्त हो सकती है ? ॥ १५-१६ ॥

इह प्राज्ञो हि पुरुषः स्वल्पमप्रियमिच्छति ।
यस्य स्वल्पं प्रियं लोके ध्रुवं तस्याल्पमप्रियम् ॥ १७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष इस जगत्में अत्यन्त अल्पमात्रामें अप्रिय की इच्छा करता है । लोकमें जिसका प्रिय अल्प होता है, उसका अप्रिय भी निश्चय ही अल्प होगा ॥ १७ ॥

प्रियाभावाच्च पुरुषो नैव प्राप्नोति शोभनम् ।
ध्रुवं चाभावमभ्येति गत्वा गङ्गेव सागरम् ॥ १८ ॥

प्रियके अभावमें मनुष्यकी शोभा नहीं होती है । जैसे गङ्गा समुद्रमें जाकर विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार वह अभावग्रस्त पुरुष भी निश्चय ही लुप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

पुत्र उवाच

नेयं मतिस्त्वया वाच्या मातः पुत्रे विशेषतः ।
कारुण्यमेवात्र पश्य भूत्वेह जडमूकवत् ॥ १९ ॥

पुत्रने कहा—माँ ! तुझे अपने मुखसे ऐसा विचार नहीं व्यक्त करना चाहिये, अतः तू जड और मूककी भाँति होकर मुझ अपने पुत्रको विशेषरूपसे करुणापूर्ण दृष्टिसे ही देखो ॥

मातोवाच

अतो मे भूयसी नन्दिर्यदेवमनुपश्यसि ।
चोद्यं मां चोदयस्येतद् भृशं वै चोदयामि ते ॥ २० ॥

माता बोली—तेरे इस कथनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है । तू इस प्रकार विचार तो करता है । मुझे मेरे कर्तव्य (पुत्रपर दयादृष्टि करने) की प्रेरणा दे रहा है, इसीलिये मैं भी तुझे बार-बार तेरा कर्तव्य सुझा रही हूँ ॥ २० ॥

अथ त्वां पूजयिष्यामि हत्वा वै सर्वसैन्धवान् ।
अहं पश्यामि विजयं कृच्छ्रभावितमेव ते ॥ २१ ॥

जब तू सिन्धुदेशके समस्त योद्धाओंको मारकर आयेगा, उस समय मैं तेरा स्वागत करूँगी । मुझे विश्वास है कि बड़े कष्टसे प्राप्त होनेवाली तेरी विजय मैं अवश्य देखूँगी ॥ २१ ॥

पुत्र उवाच

अकोशस्यासहायस्य कुतः सिद्धिर्जयो मम ।
इत्यवस्थां विदित्वैतामात्मनाऽऽत्मनि दारुणाम् ॥ २२ ॥
राज्याद् भावो निवृत्तो मे त्रिदिवादिव दुष्कृतेः ।
ईदृशं भवती कंचिदुपायमनुपश्यति ॥ २३ ॥

पुत्र बोला—माँ ! मेरे पास न तो खजाना है और

सहायता करनेवाले सैनिक ही हैं, फिर मुझे विजयरूप अभीष्टकी सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ? अपनी इस दारुण अवस्थाके विषयमें स्वयं ही विचार करके मैंने राज्यकी ओरसे अपना अनुराग उसी प्रकार दूर हटा लिया है, जैसे स्वर्गकी ओरसे पापीका भाव हट जाता है। क्या तू ऐसा कोई उपाय देख रही है, जिससे मैं विजय पा सकूँ ॥ २२-२३ ॥

तन्मे परिणतप्रज्ञे सम्यक् प्रब्रूहि पृच्छते ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ २४ ॥

परिपक्व बुद्धिवाली माँ ! मेरे इस प्रश्नके अनुसार तू कोई उत्तम उपाय बता दे। मैं तेरे सम्पूर्ण आदेशोंका यथोचित्त रीतिसे पालन करूँगा ॥ २४ ॥

मातोवाच

पुत्र नात्मावमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चापरे ।
अमर्षेणैव चाप्यर्था नारब्धव्याः सुबालिशैः ॥ २५ ॥

माता बोली—बेटा ! पहलेकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी है—यह सोचकर तुझे अपनी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि धन-वैभव तो नष्ट होकर पुनः प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त होकर भी फिर नष्ट हो जाते हैं; अतः बुद्धिहीन पुरुषोंको ईर्ष्यावश ही धनकी प्राप्तिके लिये कर्मोंका आरम्भ नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

सर्वेषां कर्मणां तात फले नित्यमनित्यता ।
अनित्यमिति जानन्तो न भवन्ति भवन्ति च ॥ २६ ॥

तात ! सभी कर्मोंके फलमें सदा अनित्यता रहती है—कभी उनका फल मिलता है और कभी नहीं भी मिलता है। इस अनित्यताको जानते हुए भी बुद्धिमान् पुरुष कर्म करते हैं और वे कभी असफल होते हैं, तो कभी सफल भी हो जाते हैं ॥ २६ ॥

अथ ये नैव कुर्वन्ति नैव जातु भवन्ति ते ।
ऐकगुण्यमनीहायामभावः कर्मणां फलम् ॥ २७ ॥
अथ द्वैगुण्यमीहायां फलं भवति वा न वा ।

परंतु जो कर्मोंका आरम्भ ही नहीं करते, वे तो कभी अपने अभीष्टकी सिद्धिमें सफल नहीं होते, अतः कर्मोंको छोड़कर निश्चेष्ट बैठनेका यह एक ही परिणाम होता है कि मनुष्योंको कभी अभीष्ट मनोरथकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परंतु कर्मोंमें उत्साहपूर्वक लगे रहनेपर तो दोनों प्रकारके परिणामोंकी सम्भावना रहती है—कर्मोंका वाञ्छनीय फल प्राप्त भी हो सकता है और नहीं भी ॥ २७½ ॥

यस्य प्रागेव विदिता सर्वार्थानामनित्यता ॥ २८ ॥
नुदेद् वृद्ध्यसमृद्धी स प्रतिकूले नृपात्मज ।

राजकुमार ! जिसे पहलेसे ही सभी पदार्थोंकी अनित्य का ज्ञान होता है, वह ज्ञानी पुरुष अपने प्रतिकूल शत्रु उन्नति और अपनी अवनतिसे प्राप्त हुए दुःखका विचा द्वारा निवारण कर सकता है ॥ २८½ ॥

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ॥ २९
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ।

सफलता होगी ही, ऐसा मनमें दृढ़ विश्वास ले निरन्तर विषादरहित होकर तुझे उठना, सजग होना ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें लग जाना चाहिये ॥ २९

मङ्गलानि पुरस्कृत्य ब्राह्मणांश्चेश्वरैः सह ॥ ३०
प्राज्ञस्य नृपतेराशु वृद्धिर्भवति पुत्रक ।
अभिवर्तति लक्ष्मीस्तं प्राचीमिव दिवाकरः ॥ ३१

वत्स ! देवताओंसहित ब्राह्मणोंका पूजन तथा अन्य माङ्गलिक कार्य सम्पन्न करके प्रत्येक कार्यका आरम्भ कर वाले बुद्धिमान् राजाकी शीघ्र उन्नति होती है। जैसे अवश्य ही पूर्व दिशाका आश्रय ले उसे प्रकाशित करते उसी प्रकार राजलक्ष्मी पूर्वोक्त राजाको सब ओरसे प्र होकर उसे यश एवं तेजसे सम्पन्न कर देती है ॥ ३०-३१

निदर्शनान्युपायांश्च बहून्युद्धर्षणानि च ।
अनुदर्शितरूपोऽसि पश्यामि कुरु पौरुषम् ॥ ३२

बेटा ! मैंने तुझे अनेक प्रकारके दृष्टान्त, बहुतसे उपा और कितने ही उत्साहजनक वचन सुनाये हैं। लोक वृत्तान्तका भी बारंबार दिग्दर्शन कराया है। अब तू पुरुषा कर। मैं तेरा पराक्रम देखूँगी ॥ ३२ ॥

पुरुषार्थमभिप्रेतं समाहर्तुमिहार्हसि ।
क्रुद्धाँल्लुब्धान् परिक्षीणानवलिप्तान् विमानितान् ।३३
स्पर्धिनश्चैव ये केचित् तान् युक्त उपधारय ।
एतेन त्वं प्रकारेण महतो भेत्स्यसे गणान् ॥ ३४
महावेग इवोद्धूतो मातरिश्वा बलाहकान् ।

तुझे यहाँ अभीष्ट पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। जो लोग सिन्धुराजपर कुपित हों, जिनके मनमें धनका लोभ हो, जो सिन्धुनरेशके आक्रमणसे सर्वथा क्षीण हो गये हों, जिन्हें अपने बल और पौरुषपर गर्व हो तथा जो तेरे शत्रुओंद्वारा अपमानित हों उनसे बदला लेनेके लिये होड़ लगाये बैठे हों, उन सबको तू सावधान होकर दान-मानके द्वारा अपने पक्षमें कर ले। इस प्रकार तू बड़े-से-बड़े समुदायको फोड़ लेगा। ठीक उसी तरह, जैसे महान् वेगशाली वायु वेगपूर्वक उठकर बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ ३३-३४½ ॥

तेषामग्रप्रदायी स्याः कल्योत्थायी प्रियंवदः ॥ ३५ ॥
ते त्वां प्रियं करिष्यन्ति पुरो धास्यन्ति च ध्रुवम् ।

तू उन्हें अग्रिम वेतन दे दिया कर। प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठ जा और सबके साथ प्रिय वचन बोल। ऐसा करनेसे वे अवश्य तेरा प्रिय करेंगे और निश्चय ही तुझे अपना अगुआ बना लेंगे ॥ ३५½ ॥

यदैव शत्रुर्जानीयात् सपत्नं त्यक्तजीवितम्।
तदैवास्मादुद्विजते सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ ३६ ॥

शत्रुको ज्यों ही यह मालूम हो जाता है कि उसका विपक्षी प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करनेके लिये तैयार है, तभी घरमें रहनेवाले सर्पकी भाँति उसके भयसे वह उद्विग्न हो उठता है ॥ ३६ ॥

तं विदित्वा पराक्रान्तं वशे न कुरुते यदि।
निर्वादैर्निर्वदेदेनमन्ततस्तद् भविष्यति ॥ ३७ ॥

यदि शत्रुको पराक्रमसम्पन्न जानकर अपनी असमर्थताके कारण उसे वशमें न कर सके तो उसे विश्वसनीय दूतोंद्वारा साम एवं दान नीतिका प्रयोग करके अनुकूल बना ले (जिससे वह आक्रमण न करके शान्त बैठा रहे)। ऐसा करनेसे अन्ततोगत्वा उसका वशीकरण हो जायगा ॥ ३७॥

निर्वादादास्पदं लब्ध्वा धनवृद्धिर्भविष्यति।
धनवन्तं हि मित्राणि भजन्ते चाश्रयन्ति च ॥ ३८ ॥

इस प्रकार शत्रुको शान्त कर देनेसे निर्भय आश्रय प्राप्त होता है। उसे प्राप्त कर लेनेपर युद्ध आदिमें न फँसनेके कारण अपने धनकी वृद्धि होती है। फिर धनसम्पन्न राजाका बहुतसे मित्र आश्रय लेते और उसकी सेवा करते हैं ॥ ३८ ॥

स्खलितार्थं पुनस्तात संत्यजन्ति च बान्धवाः।
अप्यस्मिन् नाश्वसन्ते च जुगुप्सन्ते च तादृशम्॥ ३९ ॥

इसके विपरीत जिसका धन नष्ट हो गया है, उसके मित्र और भाई-बन्धु भी उसे त्याग देते हैं। उसपर विश्वास नहीं करते हैं तथा उसके-जैसे लोगोंकी निन्दा भी करते रहते हैं ॥

शत्रुं कृत्वा यः सहायं विश्वासमुपगच्छति।
स न सम्भाव्यमेवैतद् यद् राज्यं प्राप्नुयादिति ॥ ४० ॥

जो शत्रुको सहायक बनाकर उसका विश्वास करता है, वह राज्य प्राप्त कर लेगा, इसकी कभी सम्भावना ही नहीं करनी चाहिये ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाको पुत्रका उपदेशविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुलाके उपदेशसे उसके पुत्रका युद्धके लिये उद्यत होना

मातोवाच

नैव राज्ञा दरः कार्यो जातु कस्यांश्चिदापदि।
अथ चेदपि दीर्णः स्यान्नैव वर्तेत दीर्णवत् ॥ १ ॥

माता बोली—पुत्र! कैसी भी आपत्ति क्यों न आ जाय, राजाको कभी भयभीत होना या घबराना नहीं चाहिये। यदि वह डरा हुआ हो तो भी डरे हुएके समान कोई बर्ताव न करे ॥ १ ॥

दीर्णं हि दृष्ट्वा राजानं सर्वमेवानुदीर्यते।
राष्ट्रं बलममात्याश्च पृथक् कुर्वन्ति ते मतीः ॥ २ ॥

राजाको भयभीत देखकर उसके पक्षके सभी लोग भयभीत हो जाते हैं। राज्यकी प्रजा, सेना और मन्त्री भी उससे भिन्न विचार रखने लगते हैं ॥ २ ॥

शत्रूनेके प्रपद्यन्ते प्रजहत्यपरे पुनः।
अन्ये तु प्रजिहीर्षन्ति ये पुरस्ताद् विमानिताः ॥ ३ ॥

उनमेंसे कुछ लोग तो उस राजाके शत्रुओंकी शरणमें चले जाते हैं, दूसरे लोग उसका त्यागमात्र कर देते हैं और कुछ लोग जो पहले राजाद्वारा अपमानित हुए होते हैं, वे उस अवस्थामें उसके ऊपर प्रहार करनेकी भी इच्छा कर लेते हैं ॥ ३ ॥

य एवात्यन्तसुहृदस्त एनं पर्युपासते।
अशक्तयः स्वस्तिकामा बद्धवत्सा इडा इव ॥ ४ ॥

जो लोग अत्यन्त सुहृद् होते हैं, वे ही उस संकटके समय उस राजाके पास रह जाते हैं; परंतु वे भी असमर्थ होनेके कारण बँधे हुए बछड़ेवाली गायोंकी भाँति कुछ कर नहीं पाते, केवल मन-ही-मन उसकी मङ्गलकामना करते रहते हैं ॥ ४ ॥

शोचन्तमनुशोचन्ति पतितानिव बान्धवान्।
अपि ते पूजिताः पूर्वमपि ते सुहृदो मताः ॥ ५ ॥

जो विपत्तिकी अवस्थामें शोक करते हुए राजाके साथ-साथ स्वयं भी वैसे ही शोकमग्न हो जाते हैं, मानो उनके कोई सगे भाई-बन्धु विपन्न हो गये हों, क्या ऐसे ही लोगोंको तूने सुहृद् माना है? क्या तूने भी पहले ऐसे सुहृदोंका सम्मान किया है? ॥ ५ ॥

ये राष्ट्रमभिमन्यन्ते राज्ञो व्यसनमीयुषः ।
मा दीदरस्त्वं सुहृदो मा त्वां दीर्णं प्रहासिषुः ॥ ६ ॥

जो संकटमें पड़े हुए राजाके राज्यको अपना ही मानकर उसकी तथा राजाकी रक्षाके लिये कृतसंकल्प होते हैं, ऐसे सुहृदोंको तू कभी अपनेसे विलग न कर और वे भी भयभीत अवस्थामें तेरा परित्याग न करें ॥ ६ ॥

प्रभावं पौरुषं वुद्धिं जिज्ञासन्त्या मया तव ।
विदधत्या समाश्वासमुक्तं तेजोविवृद्धये ॥ ७ ॥

मैं तेरे प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धि-बलको जानना चाहती थी, अतः तुझे आश्वासन देते हुए तेरे तेज (उत्साह) की वृद्धिके लिये मैंने उपर्युक्त बातें कही हैं ॥ ७ ॥

यदेतत् संविजानासि यदि सम्यग् ब्रवीम्यहम् ।
कृत्वासौम्यमिवात्मानं जयायोत्तिष्ठ संजय ॥ ८ ॥

संजय ! यदि मैं यह सब ठीक कह रही हूँ और यदि तू भी मेरी इन बातोंको ठीक समझ रहा है तो अपने आपको उग्र-सा बनाकर विजयके लिये उठ खड़ा हो ॥ ८ ॥

अस्ति नः कोशनिचयो महान् ह्यविदितस्तव ।
तमहं वेद नान्यस्तमुपसम्पादयामि ते ॥ ९ ॥

अभी हमलोगोंके पास बड़ा भारी खजाना है जिसका तुझे पता नहीं है, उसे मैं ही जानती हूँ, दूसरा नहीं । वह खजाना मैं तुझे सौंपती हूँ ॥ ९ ॥

सन्ति नैकतमा भूयः सुहृदस्तव संजय ।
सुखदुःखसहा वीर संग्रामादनिवर्तिनः ॥ १० ॥

वीर संजय ! अभी तो तेरे सैकड़ों सुहृद् हैं । वे सभी सुख-दुःखको सहन करनेवाले तथा युद्धसे पीछे न हटनेवाले हैं ॥ १० ॥

तादृशा हि सहाया वै पुरुषस्य बुभूषतः ।
इष्टं जिहीर्षतः किंचित् सचिवाः शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥

शत्रुसूदन ! जो पुरुष अपनी उन्नति चाहता है और शत्रुके हाथसे अपनी अभीष्ट सम्पत्तिको हर लाना चाहता है उसके सहायक और मन्त्री पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त सुहृद् हुआ करते हैं ॥ ११ ॥

यस्यास्त्वीदृशकं वाक्यं श्रुत्वापि स्वल्पचेतसः ।
तमस्त्वपागमत् तस्य सुचित्रार्थपदाक्षरम् ॥ १२ ॥

(कुन्ती बोली—) श्रीकृष्ण ! संजयका हृदय यद्यपि बहुत दुर्बल था तो भी विदुलाका वह विचित्र अर्थ, पद और अक्षरोंसे युक्त वचन सुनकर उसका तमोगुणजनित भय और विषाद भाग गया ॥ १२ ॥

पुत्र उवाच

उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया ।
यस्य मे भवती नेत्री भविष्यद्भूतिदर्शिनी ॥ १३

पुत्र बोला—माँ ! मेरा यह राज्य शत्रुरूपी जलमें गया, है अब मुझे इसका उद्धार करना है, नहीं तो शु शत्रुओंका सामना करते हुए अपने प्राणोंका विसर्जन देना है; जब मुझे भावी वैभवका दर्शन करानेवाली जैसी संचालिका प्राप्त है, तब मुझमें ऐसा साहस होन चाहिये ॥ १३ ॥

अहं हि वचनं त्वत्तः शुश्रूषुरपरापरम् ।
किंचित् किंचित् प्रतिवदंस्तूष्णीमासं मुहुर्मुहुः॥ १

मैं बराबर तेरी नयी-नयी बातें सुनना चाहता इसीलिये बारंबार बीच-बीचमें कुछ-कुछ बोलकर फिर हो जाता था ॥ १४ ॥

अतृप्यन्नमृतस्येव कृच्छ्राल्लब्धस्य बान्धवात् ।
उद्यच्छाम्येष शत्रूणां नियमाय जयाय च ॥

तेरे ये अमृतके समान वचन बड़ी कठिनाईसे सुन मिले थे । उन्हें सुनकर मैं तृप्त नहीं होता था । यह दे अब मैं शत्रुओंका दमन और विजयकी प्राप्ति करनेके बन्धु-बान्धवोंके साथ उद्योग कर रहा हूँ ॥ १५ ॥

कुन्त्युवाच

सदश्व इव स क्षिप्तः प्रणुन्नो वाक्यसायकैः ।
तच्चकार तथा सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ १६

कुन्ती कहती है—श्रीकृष्ण ! माताके वाग्बाणोंसे बिंध और तिरस्कृत होकर चाबुककी मार खाये हुए अच्छे घों समान संजयने माताके उस समस्त उपदेशका यथावत् पालन किया ॥ १६ ॥

इदमुद्धर्षणं भीमं तेजोवर्धनमुत्तमम् ।
राजानं श्रावयेन्मन्त्री सीदन्तं शत्रुपीडितम् ॥ १७

यह उत्तम उपाख्यान वीरोंके लिये अत्यन्त उत्साहव और कायरोंके लिये भयंकर है । यदि कोई राजा श पीडित होकर दुखी एवं हताश हो रहा हो तो मन्त्रीको चाहि कि उसे यह प्रसंग सुनाये ॥ १७ ॥

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ।
महीं विजयते क्षिप्रं श्रुत्वा शत्रूंश्च मर्दति ॥ १८

यह जय नामक इतिहास है । विजयकी इच्छा रखनेवा पुरुषको इसका श्रवण करना चाहिये । इसे सुनकर युद्ध जानेवाला राजा शीघ्र ही पृथ्वीपर विजय पाता और शत्रुओं रौंद डालता है ॥ १८ ॥

इदं पुंसवनं चैव वीराजननमेव च ।
अभीक्ष्णं गर्भिणी श्रुत्वा ध्रुवं वीरं प्रजायते ॥ १९ ॥

यह आख्यान पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला है तथा साधारण पुरुषमें वीरभाव उत्पन्न करनेवाला है । यदि गर्भवती स्त्री इसे बारंबार सुने तो वह निश्चय ही वीर पुत्रको जन्म देती है ॥ १९ ॥

विद्याशूरं तपःशूरं दानशूरं तपस्विनम् ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानं साधुवादे च सम्मतम् ॥ २० ॥
अर्चिष्मन्तं बलोपेतं महाभागं महारथम् ।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ २१ ॥
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम् ।
ईदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपराक्रमम् ॥ २२ ॥

इसे सुनकर प्रत्येक क्षत्राणी विद्याशूर, तपःशूर, दानशूर, तपस्वी, ब्राह्मी शोभासे सम्पन्न, साधुवादके योग्य, तेजस्वी, बलवान्, परम सौभाग्यशाली, महारथी, धैर्यवान्, दुर्धर्ष विजयी, किसीसे भी पराजित न होनेवाले, दुष्टोंका दमन करनेवाले, धर्मात्माओंके रक्षक तथा सत्य-पराक्रमी वीर पुत्रको उत्पन्न करती है ॥ २०—२२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासनसमाप्तौ षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाके द्वारा पुत्रको दिये जानेवाले उपदेशकी समाप्तिविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डवोंके लिये संदेश देना और श्रीकृष्णका उनसे विदा लेकर उपप्लव्य नगरमें जाना

कुन्त्युवाच

अर्जुनं केशव ब्रूयास्त्वयि जाते स्म सूतके ।
उपोपविष्टा नारीभिराश्रमे परिवारिता ॥ १ ॥
अथान्तरिक्षे वागासीद् दिव्यरूपा मनोरमा ।
सहस्राक्षसमः कुन्ति भविष्यत्येष ते सुतः ॥ २ ॥

कुन्ती बोली—केशव ! तुम अर्जुनसे जाकर कहना, तुम्हारे जन्मके समय जब मैं नारियोंसे घिरी हुई आश्रमके सूतिकागारमें बैठी थी, उसी समय आकाशमें यह दिव्यरूपा मनोरम वाणी सुनायी दी—'कुन्ती ! तेरा यह पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी होगा ॥ १-२ ॥

एष जेष्यति संग्रामे कुरून् सर्वान् समागतान् ।
भीमसेनद्वितीयश्च लोकमुद्वर्तयिष्यति ॥ ३ ॥

'यह भीमसेनके साथ रहकर युद्धमें आये हुए समस्त कौरवोंको जीत लेगा और शत्रु-समुदायको व्याकुल कर देगा ॥ ३ ॥

पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत् ।
हत्वा कुरूंश्च संग्रामे वासुदेवसहायवान् ॥ ४ ॥
पित्र्यमंशं प्रणष्टं च पुनरप्युद्धरिष्यति ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमांस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति ॥ ५ ॥

'तेरा यह पुत्र भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर इस भूमण्डलको जीत लेगा, इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा और यह संग्राममें विपक्षी कौरवोंको मारकर अपने पैतृक राज्य-भागका पुनरुद्धार करेगा । यह शोभासम्पन्न बालक अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा' ॥ ४–५ ॥

स सत्यसंधो बीभत्सुः सव्यसाची यथाच्युत ।
तथा त्वमेव जानासि बलवन्तं दुरासदम् ॥ ६ ॥

अच्युत ! सव्यसाची अर्जुन जैसा सत्यप्रतिज्ञ है तथा उसमें जितना बल एवं दुर्जय शक्ति है, उसे तुम्हीं जानते हो ॥६॥

तथा तदस्तु दाशार्ह यथा वागभ्यभाषत ।
धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय तथा सत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥

दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्ण ! आकाशवाणीने जैसा कहा है, वैसा ही हो, यही मेरी भी इच्छा है । वृष्णिनन्दन ! यदि धर्मकी सत्ता है तो वह सब उसी रूपमें सत्य होगा ॥ ७ ॥

त्वं चापि तत् तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि ।
नाहं तदभ्यसूयामि यथा वागभ्यभाषत ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण ! तुम स्वयं भी वह सब कुछ उसी रूपमें पूर्ण करोगे । आकाशवाणीने जैसा कहा है, उसमें मैं किसी दोषकी उद्भावना नहीं करती हूँ ॥ ८ ॥

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः ।
एतद् धनंजयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ॥ ९ ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः ॥ १० ॥

मैं तो उस महान् धर्मको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि धर्म ही समस्त प्रजाको धारण करता है । तुम अर्जुनसे तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसेनसे भी जाकर कहना—'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्रको जन्म देती है, उसका यह उपयुक्त अवसर आ गया है । श्रेष्ठ मनुष्य किसीसे वैर ठन जानेपर उत्साहहीन नहीं होते' ॥ ९-१० ॥

विदिता ते सदा बुद्धिर्भीमस्य न स शाम्यति ।
यावदन्तं न कुरुते शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥

शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! तुम्हें भीमसेनका विचार तो सदासे ज्ञात ही है, वह जबतक शत्रुओंका अन्त नहीं कर लेगा, तबतक शान्त नहीं होगा ॥ ११ ॥

सर्वधर्मविशेषज्ञां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।
ब्रूया माधव कल्याणीं कृष्ण कृष्णां यशस्विनीम् ।१२।
युक्तमेतन्महाभागे कुले जाते यशस्विनि ।
यन्मे पुत्रेषु सर्वेषु यथावत् त्वमवर्तिथाः ॥ १३ ॥

माधव ! श्रीकृष्ण ! तुम सब धर्मोंको विशेषरूपसे जाननेवाली महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू कल्याणमयी, यशस्विनी द्रौपदीसे कहना—'बेटी ! तू परम सौभाग्यशाली यशस्वी कुलमें उत्पन्न हुई है । तूने मेरे सभी पुत्रोंके साथ जो धर्मानुसार यथोचित बर्ताव किया है, यह तेरे ही योग्य है' ॥ १२-१३ ॥

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतावुभौ ।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ॥ १४ ॥
विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः ।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ॥ १५ ॥

पुरुषोत्तम ! तदनन्तर क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले दोनों माद्रीकुमारोंसे भी मेरा यह संदेश कहना—'वीरो ! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी अपने पराक्रमसे प्राप्त हुए भोगोंका ही उपभोग करो । क्षत्रियधर्मसे निर्वाह करनेवाले मनुष्यके मनको पराक्रमद्वारा प्राप्त किये हुए पदार्थ ही सदा संतुष्ट रखते हैं ॥ १४-१५ ॥

यच्च वः प्रेक्षमाणानां सर्वधर्मोपचायिनाम् ।
पाञ्चाली परुषाण्युक्ता को नु तत् क्षन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

'पाण्डवो ! सब प्रकारसे धर्मकी वृद्धि करनेवाले तुम सब लोगोंके देखते-देखते पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको जो कटुवचन सुनाये गये हैं, उन्हें कौन वीर क्षमा कर सकता है ?' ॥ १६ ॥

न राज्यहरणं दुःखं द्यूते चापि पराजयः ।
प्रव्राजनं सुतानां वा न मे तद् दुःखकारणम् ॥ १७ ॥
यत्र सा बृहती श्यामा सभायां रुदती तदा ।
अश्रौषीत् परुषा वाचस्तन्मे दुःखतरं महत् ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण ! मुझे राज्यके छिन जानेका उतना दुःख नहीं है । जुएमें हारने और पुत्रोंके वनवास होनेका भी मेरे मनमें उतना महान् दुःख नहीं है, परंतु भरी सभामें मेरी सुन्दरी युवती पुत्रवधू द्रौपदीने रोते हुए जो दुर्योधनके कटुवचन सुने थे, वही मेरे लिये महान् दुःखका कारण बन गया है ॥ ॥ १७-१८ ॥

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा ।
नाध्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती ॥ १९

क्षत्रियधर्ममें सदा तत्पर रहनेवाली मेरी सर्वाङ्गसुन्दरी सती-साध्वी बहू कृष्णा उन दिनों रजस्वलावस्थामें थी, वह सब प्रकारसे सनाथ थी, तो भी उस दिन कौरवसभा उसे कोई रक्षक नहीं मिला (वह अनाथ-सी रोती हु अपमान सह रही थी) ॥ १९ ॥

तं वै ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं द्रौपद्याः पदवीं चर ॥ २०

महाबाहो ! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह अर्जुन कहना कि 'तुम द्रौपदीके इच्छित पथपर चलो' ॥ २० ॥

विदितं हि तवात्यन्तं क्रुद्धाविव यमान्तकौ ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ॥ २१

श्रीकृष्ण ! तुम तो अच्छी तरह जानते ही हो भीमसेन और अर्जुन कुपित हो जायँ तो वे यमराज त अन्तकके समान भयंकर हो जाते हैं और देवताओंको भ यमलोक पहुँचा सकते हैं ॥ २१ ॥

तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा सभागता ।
दुःशासनश्च यद् भीमं कटुकान्यभ्यभाषत ॥ २२
पश्यतां कुरुवीराणां तच्च संस्मारयेः पुनः ।

जुएके समय द्रौपदीको जो सभामें जाना पड़ा औ कौरव वीरोंके सामने ही दुर्योधन और दुःशासनने जो उ गालियाँ दीं, वह सब भीमसेन और अर्जुनका ही तिरस्क है । मैं पुनः उसकी याद दिला देती हूँ ॥ २२½ ॥

पाण्डवान् कुशलं पृच्छेः सपुत्रान् कृष्णया सह ।२
मां च कुशलिनीं ब्रूयास्तेषु भूयो जनार्दन ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानं पुत्रान् मे प्रतिपालय ॥ २४ ॥

जनार्दन ! तुम मेरी ओरसे द्रौपदी और पुत्रोंसहि पाण्डवोंसे कुशल पूछना और फिर मुझे भी सकुशल बताना जाओ, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो, मेरे पुत्रोंकी रक्ष करना ॥ २३-२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अभिवाद्याथ तां कृष्णः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
निश्चक्राम महाबाहुः सिंहखेलगतिस्ततः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने कुन्तीदेवीको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा भी की और फिर सिंहके समान मस्तानी चालसे वहाँसे निकल गये ॥ २५ ॥

ततो विसर्जयामास भीष्मादीन् कुरुपुङ्गवान् ।
आरोप्याथ रथे कर्णं प्रायात् सात्यकिना सह ॥ २६ ॥

फिर भीष्म आदि प्रधान कुरुवंशियोंको उन्होंने विदा कर दिया और कर्णको रथपर बिठाकर सात्यकिके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे कुरवः संगता मिथः ।
जजल्पुर्महदाश्चर्यं केशवे परमाद्भुतम् ॥ २७ ॥

दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णके चले जानेपर सब कौरव आपसमें मिले और उनके अत्यन्त अद्भुत एवं महान् आश्चर्यजनक बल-वैभवकी चर्चा करने लगे ॥ २७ ॥

प्रमूढा पृथिवी सर्वा मृत्युपाशवशीकृता ।
दुर्योधनस्य बालिश्यान्नैतदस्तीति चाब्रुवन् ॥ २८ ॥

वे बोले—'यह सारी पृथ्वी मृत्युपाशमें आबद्ध हो मोहाच्छन्न हो गयी है । जान पड़ता है, दुर्योधनकी मूर्खतासे इसका विनाश हो जायगा' ॥ २८ ॥

ततो निर्याय नगरात् प्रययौ पुरुषोत्तमः ।
मन्त्रयामास च तदा कर्णेन सुचिरं सह ॥ २९ ॥

उधर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जब नगरसे निकलकर उपप्लव्यकी ओर चले, तब उन्होंने दीर्घकालतक कर्णके साथ मन्त्रणा की ॥ २९ ॥

विसर्जयित्वा राधेयं सर्वयादवनन्दनः ।
ततो जवेन महता तूर्णमश्वानचोदयत् ॥ ३० ॥

फिर राधानन्दन कर्णको विदा करके सम्पूर्ण यदुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीकृष्णने तुरंत ही बड़े वेगसे अपने रथके घोड़े हँकवाये ॥ ३० ॥

ते पिबन्त इवाकाशं दारुकेण प्रचोदिताः ।
हया जग्मुर्महावेगा मनोमारुतरंहसः ॥ ३१ ॥

दारुकके हाँकनेपर वे महान् वेगशाली अश्व मन और वायुके समान तीव्र गतिसे आकाशको पीते हुए-से चले ॥ ३१ ॥

ते व्यतीत्य महाध्वानं क्षिप्रं श्येना इवाशुगाः ।
उच्चैर्जग्मुरुपप्लव्यं शार्ङ्गधन्वानमावहन् ॥ ३२ ॥

उन्होंने शीघ्रगामी बाज पक्षीकी भाँति उस विशाल पथको तुरंत ही तै कर लिया और शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको उपप्लव्य नगरमें पहुँचा दिया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्तीवाक्यविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३७॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीका कथन सुनकर महारथी भीष्म और द्रोणने अपनी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

श्रुतं ते पुरुषव्याघ्र कुन्त्याः कृष्णस्य संनिधौ ।
वाक्यमर्थवदत्युग्रमुक्तं धर्म्यमनुत्तमम् ॥ २ ॥

'पुरुषसिंह ! कुन्तीने श्रीकृष्णके समीप जो अर्थयुक्त, धर्मसंगत, परम उत्तम एवं अत्यन्त भयंकर बात कही है, उसे तुमने भी सुना ही होगा ॥ २ ॥

तत् करिष्यन्ति कौन्तेया वासुदेवस्य सम्मतम् ।
न हि ते जातु शाम्येरन्नृते राज्येन कौरव ॥ ३ ॥

'कुरुनन्दन ! कुन्तीके पुत्र श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार वह सब कार्य करेंगे । अब राज्य लिये बिना वे कदापि शान्त नहीं रह सकते ॥ ३ ॥

क्लेशिता हि त्वया पार्था धर्मपाशसितास्तदा ।
सभायां द्रौपदी चैव तैश्च तन्मर्षितं तव ॥ ४ ॥

'तुमने द्यूतक्रीडाके समय धर्मके बन्धनमें बँधे हुए पाण्डवोंको तथा कौरवसभामें द्रौपदीको भी भारी क्लेश पहुँचाया था; किंतु उन्होंने तुम्हारा वह सब अपराध चुपचाप सह लिया ॥ ४ ॥

कृतास्त्रं ह्यर्जुनं प्राप्य भीमं च कृतनिश्चयम् ।
गाण्डीवं चेषुधी चैव रथं च ध्वजमेव च ॥ ५ ॥
नकुलं सहदेवं च बलवीर्यसमन्वितौ ।
सहायं वासुदेवं च न क्षंस्यति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

'अब अस्त्रविद्यामें पारंगत अर्जुन और युद्धका दृढ़ निश्चय रखनेवाले भीमसेनको पाकर गाण्डीव धनुष, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस, दिव्य रथ और ध्वजको हस्तगत करके, बल और पराक्रमसे सम्पन्न नकुल और सहदेवको युद्धके लिये उद्यत देखकर तथा भगवान् श्रीकृष्णको भी अपनी सहायताके रूपमें पाकर युधिष्ठिर तुम्हारे पूर्व अपराधोंको क्षमा नहीं करेंगे ॥ ५-६ ॥

प्रत्यक्षं ते महाबाहो यथा पार्थेन धीमता ।
विराटनगरे पूर्वं सर्वे स्म युधि निर्जिताः ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! थोड़े ही दिनों पहलेकी बात है, परम बुद्धिमान् अर्जुनने विराटनगरके युद्धमें हम सब लोगोंको परास्त कर दिया था और वह सब घटना तुम्हारी आँखोंके सामने घटित हुई थी ॥ ७ ॥

दानवा घोरकर्माणो निवातकवचा युधि ।
रौद्रमस्त्रं समादाय दग्धा वानरकेतुना ॥ ८

'कपिध्वज अर्जुनने युद्धमें भयंकर कर्म करनेवाले निवात-कवच नामक दानवोंको रुद्रदेवतासम्बन्धी पाशुपत अस्त्र लेकर दग्ध कर डाला था ॥ ८ ॥

कर्णप्रभृतयश्चेमे त्वं चापि कवची रथी ।
मोक्षितो घोषयात्रायां पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ९ ॥
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।

'घोषयात्राके समय ये कर्ण आदि योद्धा तुम्हारे साथ थे। तुम स्वयं भी रथ और कवच आदिसे सम्पन्न थे, तथापि अर्जुनने ही तुम्हें गन्धर्वोंके हाथसे छुड़ाया था। उनकी शक्तिको समझनेके लिये यही उदाहरण पर्याप्त होगा। अतः भरतश्रेष्ठ ! तुम अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ ९½ ॥

रक्षेमां पृथिवीं सर्वां मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गताम् ॥ १० ॥
ज्येष्ठो भ्राता धर्मशीलो वत्सलः श्लक्ष्णवाक् कविः ।
तं गच्छ पुरुषव्याघ्रं व्यपनीयेह किल्बिषम् ॥ ११ ॥

'यह सारी पृथ्वी मौतकी दाढ़ोंके बीचमें जा पहुँची है। तुम संधिके द्वारा इसकी रक्षा करो। तुम्हारे बड़े भाई युधिष्ठिर धर्मात्मा, दयालु, मधुरभाषी और विद्वान् हैं। तुम अपने मनका सारा कलुष यहीं धो-बहाकर उन पुरुषसिंह युधिष्ठिरकी शरणमें जाओ ॥ १०-११ ॥

दृष्टश्च त्वं पाण्डवेन व्यपनीतशरासनः ।
प्रशान्तभ्रुकुटिः श्रीमान् कृता शान्तिः कुलस्य नः १२

'जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर यह देख लेंगे कि तुमने धनुष उतार दिया है और तुम्हारी टेढ़ी भौंहें शान्त एवं सीधी हो गयी हैं तथा तुम क्रोध त्यागकर अपनी सहज शोभासे सम्पन्न हो रहे हो, तब हमें विश्वास हो जायगा कि तुमने हमारे कुलमें शान्ति स्थापित कर दी ॥ १२ ॥

तमभ्येत्य सहामात्यः परिष्वज्य नृपात्मजम् ।
अभिवादय राजानं यथापूर्वमरिंदम ॥ १३ ॥

'शत्रुदमन ! तुम अपने मन्त्रियोंके साथ पाण्डुकुमार राजा युधिष्ठिरके पास जाओ और पहलेहीकी भाँति उनके हृदयसे लगकर उन्हें प्रणाम करो ॥ १३ ॥

अभिवादयमानं त्वां पाणिभ्यां भीमपूर्वजः ।
प्रतिगृह्णातु सौहार्दात् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

'भीमके बड़े भाई कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तुम्हें प्रणाम करते देख सौहार्दवश अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर हृदयसे लगा लें ॥

सिंहस्कन्धोरुबाहुस्त्वां वृत्तायतमहाभुजः ।
परिष्वजतु बाहुभ्यां भीमः प्रहरतां वरः ॥ १५ ॥

'जिनके कंधे सिंहके समान और भुजाएँ बड़ी, गोलाकार तथा अधिक मोटी हैं, वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेन भी तुम्हें अपनी दोनों भुजाओंमें भरकर छातीसे चिपका लें ॥ १५

कम्बुग्रीवो गुडाकेशस्ततस्त्वां पुष्करेक्षणः ।
अभिवादयतां पार्थः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १६

'शङ्खके समान ग्रीवा और कमलसदृश नेत्रोंवाले नि
विजयी कुन्तीपुत्र धनंजय तुम्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करें

आश्विनेयौ नरव्याघ्रौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तौ च त्वां गुरुवत् प्रेम्णा पूजया प्रत्युदीयताम् ॥१

'इस भूतलपर जिनके रूपकी कहीं तुलना नहीं है, अश्विनीकुमारोंके पुत्र नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव तुम्हारे प्र
गुरुजनोचित प्रेम और आदरका भाव लेकर तुम्हारी सेवा
उपस्थित हों ॥ १७ ॥

मुञ्चन्त्वानन्दजाश्रूणि दाशार्हप्रमुखा नृपाः ।
संगच्छ भ्रातृभिः सार्धं मानं संत्यज्य पार्थिव ॥१

'भूपाल ! तुम अभिमान छोड़कर अपने उन बिछुड़े हु
भाइयोंसे मिल जाओ और यह अपूर्व मिलन देखकर श्रीकृष्ण आदि सब नरेश अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहावें।

प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां ततस्त्वं भ्रातृभिः सह ।
समालिङ्ग्य च हर्षेण नृपा यान्तु परस्परम् ॥ १९ ॥

'तदनन्तर तुम अपने भाइयोंके साथ इस सारी पृथ्वी
शासन करो और ये राजा लोग एक दूसरेसे मिल-जुलकर हर्षपूर्वक यहाँसे पधारें ॥ १९ ॥

अलं युद्धेन राजेन्द्र सुहृदां शृणु वारणम् ।
ध्रुवं विनाशो युद्धे हि क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ॥ २० ॥

'राजेन्द्र ! इस युद्धसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा।
तुम्हारे हितैषी सुहृद् जो तुम्हें युद्धसे रोकते हैं, उनकी
बात सुनो और मानो; क्योंकि युद्ध छिड़ जानेपर क्षत्रियों
निश्चय ही विनाश दिखायी दे रहा है ॥ २० ॥

ज्योतींषि प्रतिकूलानि दारुणा मृगपक्षिणः ।
उत्पाता विविधा वीर दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ॥ २१ ॥

'वीर ! ग्रह और नक्षत्र प्रतिकूल हो रहे हैं। पशु औ
पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं तथा नाना प्रकारके ऐसे उत्पा
(अपशकुन) दिखायी देते हैं, जो क्षत्रियोंके विनाश
सूचना देते हैं ॥ २१ ॥

विशेषत इहास्माकं निमित्तानि निवेशने ।
उल्काभिर्हि प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ॥ २२ ॥

'विशेषतः यहाँ हमारे घरमें बुरे निमित्त दृष्टिगोचर हो
हैं। जलती हुई उल्काएँ गिरकर तुम्हारी सेनाको पीड़ि
कर रही हैं ॥ २२ ॥

वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ।
गृध्रास्ते पर्युपासन्ते सैन्यानि च समन्ततः ॥ २३

'प्रजानाथ ! हमारे सारे वाहन अप्रसन्न एवं रोते-

दिखायी देते हैं। गीध तुम्हारी सेनाओंको चारों ओरसे घेरकर बैठते हैं ॥ २३ ॥

नगरं न यथापूर्वं तथा राजनिवेशनम् ।
शिवाश्चाशिवनिर्घोषा दीप्तां सेवन्ति वै दिशम् ॥२४॥

'इस नगर तथा राजभवनकी शोभा अब पहले-जैसी नहीं रही। सारी दिशाएँ जलती-सी प्रतीत होती हैं और उनमें अमङ्गलसूचक शब्द करती हुई गीदड़ियाँ फिर रही हैं ॥२४॥

कुरु वाक्यं पितुर्मातुरस्माकं च हितैषिणाम् ।
त्वय्यायत्तो महाबाहो शमो व्यायाम एव च॥ २५ ॥

'महाबाहो! तुम पिता, माता तथा हम हितैषियोंका कहना मानो। अब शान्तिस्थापन और युद्ध दोनों तुम्हारे ही अधीन हैं ॥ २५ ॥

न चेत् करिष्यसि वचः सुहृदामरिकर्शन ।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ॥ २६ ॥

'शत्रुसूदन! यदि तुम सुहृदोंकी बातें नहीं मानोगे तो अपनी सेनाको अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होती देखकर पछताओगे ॥ २६ ॥

भीमस्य च महानादं नदतः शुष्मिणो रणे ।
श्रुत्वा स्मर्तासि मे वाक्यं गाण्डीवस्य च निःस्वनम् ।
यद्येतदपसव्यं ते वचो मम भविष्यति ॥ २७ ॥

'यदि हमारी ये बातें तुम्हें विपरीत जान पड़ती हैं तो जिस समय युद्धमें गर्जना करनेवाले महाबली भीमसेनका विकट सिंहनाद और अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनोगे, उस समय तुम्हें ये बातें याद आयेंगी' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म-द्रोण-वाक्यविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३८॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मसे वार्तालाप आरम्भ करके द्रोणाचार्यका दुर्योधनको पुनः संधिके लिये समझाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विमनास्तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः ।
संहत्य च भ्रुवोर्मध्यं न किंचिद् व्याजहार ह॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्म और द्रोणाचार्यके इस प्रकार कहनेपर दुर्योधनका मन उदास हो गया। उसने टेढ़ी आँखोंसे देखकर और भौंहोंको बीचसे सिकोड़कर मुँह नीचा कर लिया। वह उन दोनोंसे कुछ बोला नहीं ॥ १ ॥

तं वै विमनसं दृष्ट्वा सम्प्रेक्ष्यान्योन्यमन्तिकात् ।
पुनरेवोत्तरं वाक्यमुक्तवन्तौ नरर्षभौ ॥ २ ॥

उसे उदास देख नरश्रेष्ठ भीष्म और द्रोण एक दूसरेकी ओर देखते हुए उसके निकट ही पुनः इस प्रकार बात करने लगे ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शुश्रूषुमनसूयं च ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम् ।
प्रतियोत्स्यामहे पार्थमतो दुःखतरं नु किम् ॥ ३ ॥

भीष्म बोले—अहो! जो गुरुजनोंकी सेवाके लिये उत्सुक, किसीके भी दोष न देखनेवाले, ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी हैं, उन्हीं युधिष्ठिरसे हमें युद्ध करना पड़ेगा; इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी? ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच

अश्वत्थाम्नि यथा पुत्रे भूयो मम धनंजये ।
बहुमानः परो राजन् संनतिश्च कपिध्वजे ॥ ४ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजन्! मेरा अपने पुत्र अश्वत्थामाके प्रति जैसा आदर है, उससे भी अधिक अर्जुनके प्रति है। कपिध्वज अर्जुनमें मेरे प्रति बहुत विनयभाव है॥४॥

तं च पुत्रात् प्रियतमं प्रतियोत्स्ये धनंजयम् ।
क्षात्रं धर्ममनुष्ठाय धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ॥ ५ ॥

मेरे पुत्रसे भी बढ़कर प्रियतम उन्हीं अर्जुनसे मुझे क्षत्रियधर्मका आश्रय लेकर युद्ध करना पड़ेगा। क्षात्रवृत्तिको धिक्कार है! ॥ ५ ॥

यस्य लोके समो नास्ति कश्चिदन्यो धनुर्धरः ।
मत्प्रसादात् स बीभत्सुः श्रेयानन्यैर्धनुर्धरैः ॥ ६ ॥

मेरी ही कृपासे अर्जुन अन्य धनुर्धरोंसे श्रेष्ठ हो गये हैं। इस समय जगत्में उनके समान दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है ॥

मित्रध्रुग् दुष्टभावश्च नास्तिकोऽथानृजुः शठः ।
न सत्सु लभते पूजां यज्ञे मूर्ख इवागतः ॥ ७ ॥

जैसे यज्ञमें आया हुआ मूर्ख ब्राह्मण प्रतिष्ठा नहीं पाता, उसी प्रकार जो मित्रद्रोही, दुर्भावनायुक्त, नास्तिक, कुटिल और शठ है, वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता है॥७॥

वार्यमाणोऽपि पापेभ्यः पापात्मा पापमिच्छति ।
चोद्यमानोऽपि पापेन शुभात्मा शुभमिच्छति ॥ ८ ॥

पापात्मा मनुष्यको पापोंसे रोका जाय तो भी वह पाप ही करना चाहता है और जिसका हृदय शुभ संकल्पसे युक्त है, वह पुण्यात्मा पुरुष किसी पापीके द्वारा पापके लिये प्रेरित होनेपर भी शुभ कर्म करनेकी ही इच्छा रखता है॥८॥

मिथ्योपचरिता ह्येते वर्तमाना ह्यनु प्रिये ।
अहितत्वाय कल्पन्ते दोषा भरतसत्तम ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुमने पाण्डवोंके साथ सदा मिथ्या बर्ताव—छल-कपट ही किया है तो भी ये सदा तुम्हारा प्रिय करनेमें ही लगे रहे हैं । अतः तुम्हारे ये ईर्ष्या-द्वेष आदि दोष तुम्हारा ही अहित करनेवाले होंगे ॥ ९ ॥

त्वमुक्तः कुरुवृद्धेन मया च विदुरेण च ।
वासुदेवेन च तथा श्रेयो नैवाभिमन्यसे ॥ १० ॥

कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मजीने, मैंने, विदुरजीने तथा भगवान् श्रीकृष्णने भी तुमसे तुम्हारे कल्याणकी ही बात बतायी है; तथापि तुम उसे मान नहीं रहे हो ॥ १० ॥

अस्ति मे बलमित्येव सहसा त्वं तितीर्षसि ।
सग्राहनक्रमकरं गङ्गावेगमिवोष्णगे ॥ ११ ॥

जैसे कोई अविवेकी मनुष्य वर्षाकालमें बढ़े हुए ग्राह और मकर आदि जलजन्तुओंसे युक्त गङ्गाजीके वेगको दोनों बाहुओंसे तैरना चाहता हो, उसी प्रकार तुम मेरे पास बल है, ऐसा समझकर पाण्डव-सेनाको सहसा लाँघ जानेकी इच्छा रखते हो ॥ ११ ॥

वास एव यथा त्यक्तं प्रावृण्वानोऽभिमन्यसे ।
स्रजं त्यक्तामिव प्राप्य लोभाद् यौधिष्ठिरीं श्रियम्॥१२॥

जैसे कोई दूसरेका छोड़ा हुआ वस्त्र पहन ले और उसे अपना मानने लगे, उसी प्रकार तुम त्यागी हुई मालाकी भाँति युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीको पाकर अब उसे लोभवश अपनी समझते हो ॥ १२ ॥

द्रौपदीसहितं पार्थं सायुधैर्भ्रातृभिर्वृतम् ।
वनस्थमपि राज्यस्थः पाण्डवं को विजेष्यति ॥ १३ ॥

अपने अस्त्र-शस्त्रधारी भाइयोंसे घिरे हुए द्रौपदीसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर वनमें रहें तो भी उन्हें राज्यसिंहासनपर बैठा हुआ कौन नरेश युद्धमें जीत सकेगा ? ॥ १३ ॥

निदेशे यस्य राजानः सर्वे तिष्ठन्ति किङ्कराः ।
तमैलविलमासाद्य धर्मराजो व्यराजत ॥ १४ ॥

समस्त राजा जिनकी आज्ञामें किंकरकी भाँति खड़े रहते हैं, उन्हीं राजराज कुबेरसे मिलकर धर्मराज युधिष्ठिर उनके साथ विराजमान हुए थे ॥ १४ ॥

कुबेरसदनं प्राप्य ततो रत्नान्यवाप्य च ।
स्फीतमाक्रम्य ते राष्ट्रं राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः॥ १५ ॥

कुबेरके भवनमें जाकर उनसे भाँति-भाँतिके रत्न लेकर अब पाण्डव तुम्हारे समृद्धिशाली राष्ट्रपर आक्रमण क अपना राज्य वापस लेना चाहते हैं ॥ १५ ॥

दत्तं हुतमधीतं च ब्राह्मणास्तर्पिता धनैः ।
आवयोर्गतमायुश्च कृतकृत्यौ च विद्धि नौ ॥ १६

हम दोनोंने तो दान, यज्ञ और स्वाध्याय कर लि धनसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर लिया । अब हमारी आयु स हो चुकी है, अतः हमें तो तुम कृतकृत्य ही समझो ॥ १६

त्वं तु हित्वा सुखं राज्यं मित्राणि च धनानि च ।
विग्रहं पाण्डवैः कृत्वा महद् व्यसनमाप्स्यसि ॥ १७

परंतु तुम पाण्डवोंसे युद्ध ठानकर सुख, राज्य, मित्र धन सब कुछ खोकर बड़े भारी संकटमें पड़ जाओगे ॥१७

द्रौपदी यस्य चाशास्ते विजयं सत्यवादिनी ।
तपोघोरव्रता देवी कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ १८

तपस्या एवं घोर व्रतका पालन करनेवाली सत्यवादि देवी द्रौपदी जिनकी विजयकी कामना करती है, उन पा नन्दन युधिष्ठिरको तुम कैसे जीत सकोगे ? ॥ १८ ॥

मन्त्री जनार्दनो यस्य भ्राता यस्य धनंजयः ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठः कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ १९

भगवान् श्रीकृष्ण जिनके मन्त्री और समस्त शस्त्रधारि श्रेष्ठ अर्जुन जिनके भाई हैं, उन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको कैसे जीतोगे ? ॥ १९ ॥

सहाया ब्राह्मणा यस्य धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः ।
तमुग्रतपसं वीरं कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ २०

धैर्यवान् और जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिनके सहायक हैं, उग्र तपस्वी वीर पाण्डवको तुम कैसे जीत सकोगे ? ॥ २०

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि यत् कार्यं भूतिमिच्छता ।
सुहृदा मज्जमानेषु सुहृत्सु व्यसनार्णवे ॥ २१

जिस समय अपने बहुत-से सुहृद् संकटके समुद्रमें रहे हों, उस समय कल्याणकी इच्छा रखनेवाले एक सुहृ का जो कर्तव्य है—उस अवसरपर उसे जैसी बात कह चाहिये, वह यद्यपि पहले कही जा चुकी है, तथापि उसे दुबारा कहूँगा ॥ २१ ॥

अलं युद्धेन तैर्वीरैः शाम्य त्वं कुरुवृद्धये ।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २२

राजन् ! युद्धसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा । कुरुकुलकी वृद्धिके लिये उन वीर पाण्डवोंके साथ संधि लो । पुत्रों, मन्त्रियों तथा सेनाओंसहित यमलोकमें जाने तैयारी न करो ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म-द्रोणवाक्यविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३९॥

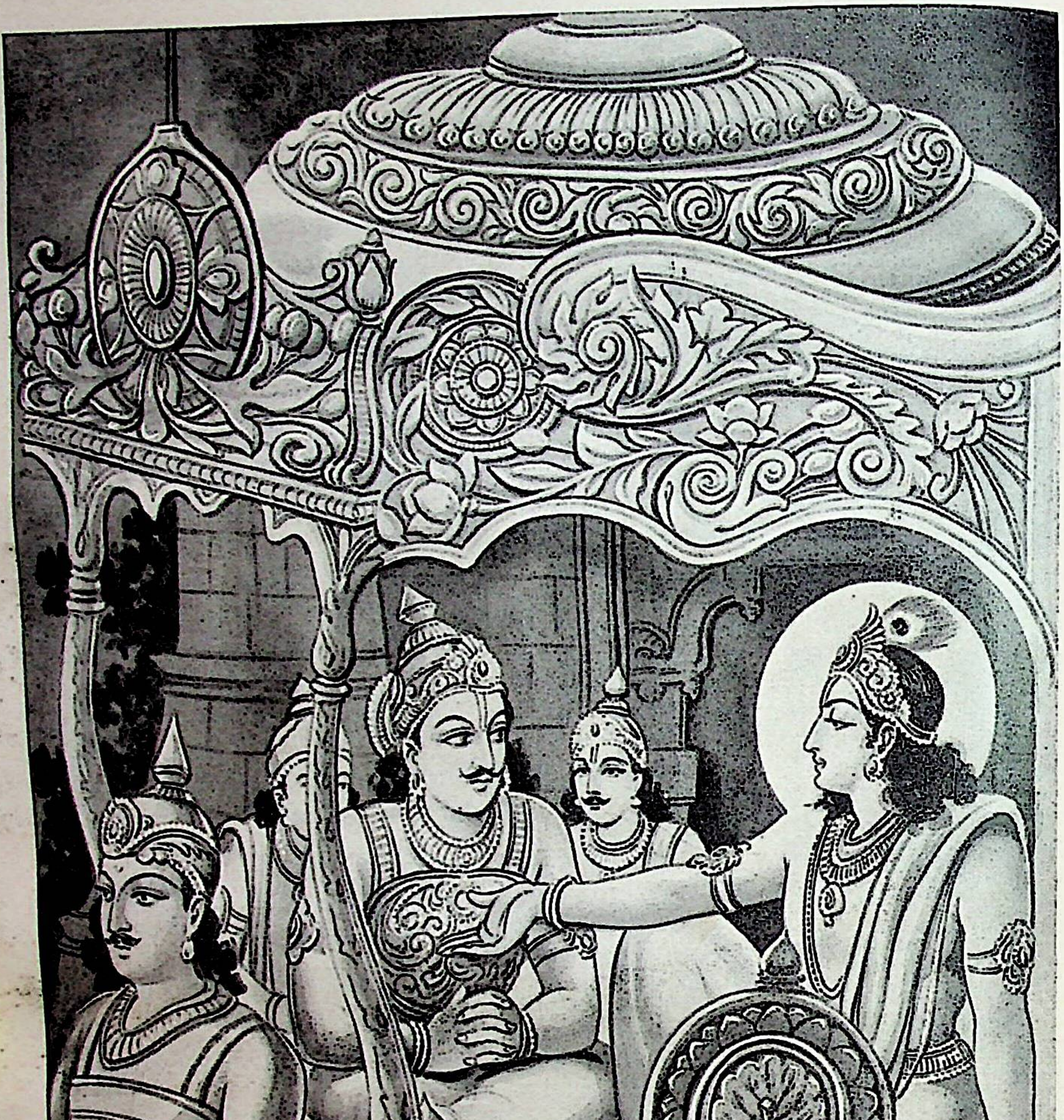

भगवान् श्रीकृष्ण कर्णको समझा रहे हैं

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णको पाण्डवपक्षमें आ जानेके लिये समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

राजपुत्रैः परिवृतस्तथा भृत्यैश्च संजय ।
उपारोप्य रथे कर्णं निर्यातो मधुसूदनः ॥ १ ॥
किमब्रवीदमेयात्मा राधेयं परवीरहा ।
कानि सान्त्वानि गोविन्दः सूतपुत्रे प्रयुक्तवान् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! राजपुत्रों तथा सेवकोंसे घिरे हुए, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले, अप्रमेयस्वरूप, भगवान् श्रीकृष्ण जब राधानन्दन कर्णको रथपर बिठाकर हस्तिनापुरसे बाहर निकल गये, तब उन्होंने उससे क्या कहा ? गोविन्दने सूतपुत्र कर्णको क्या सान्त्वनाएँ दीं ? ॥ १-२ ॥

उद्यन्मेघस्वनः काले कृष्णः कर्णमथाब्रवीत् ।
मृदु वा यदि वा तीक्ष्णं तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ३ ॥

संजय ! मेघके समान गम्भीर स्वरसे बोलनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने उस समय कर्णसे जो मधुर अथवा कठोर वचन कहा हो—वह सब मुझे बताओ ॥ ३ ॥

संजय उवाच

आनुपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृदूनि च ।
प्रियाणि धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च ॥ ४ ॥
हृदयग्रहणीयानि राधेयं मधुसूदनः ।
यान्यब्रवीदमेयात्मा तानि मे शृणु भारत ॥ ५ ॥

संजय बोले—भारत ! अप्रमेयस्वरूप मधुसूदन श्रीकृष्णने राधानन्दन कर्णसे जो तीक्ष्ण, मधुर, प्रिय, धर्मसम्मत, सत्य, हितकर एवं हृदयग्राह्य बातें क्रमशः कही थीं, उन सबको आप मुझसे सुनिये ॥ ४-५ ॥

वासुदेव उवाच

उपासितास्ते राधेय ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
तत्त्वार्थं परिपृष्टाश्च नियतेनानसूयया ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राधानन्दन ! तुमने वेदोंके पारंगत ब्राह्मणोंकी उपासना की है । तत्त्वज्ञानके लिये संयम-नियमसे रहकर दोष-दृष्टिका परित्याग करके उन ब्राह्मणोंसे अपनी शङ्काएँ पूछी हैं ॥ ६ ॥

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान् सनातनान् ।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः ॥ ७ ॥

कर्ण ! सनातन वैदिक सिद्धान्त क्या है ? इसे तुम अच्छी तरह जानते हो । धर्मशास्त्रोंके सूक्ष्म विषयोंके भी तुम परिनिष्ठित विद्वान् हो ॥ ७ ॥

कानीनश्च सहोढश्च कन्यायां यश्च जायते ।
वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः ॥ ८ ॥

कर्ण ! कन्याके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसके दो भेद बताये जाते हैं—कानीन और सहोढ । (जो विवाहसे पहले उत्पन्न होता है, वह कानीन है और जो विवाहके पहले गर्भमें आकर विवाहके बाद उत्पन्न होता है, वह सहोढ कहलाता है ।) वैसे पुत्रकी माताका जिसके साथ विवाह होता है, शास्त्रज्ञोंने उसीको उसका पिता बताया है ॥ ८ ॥

सोऽसि कर्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽसि धर्मतः ।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यसि ॥ ९ ॥

कर्ण ! तुम्हारा जन्म भी इसी प्रकार हुआ है; (तुम कुन्तीके ही कन्यावस्थामें उत्पन्न हुए पुत्र हो;) अतः तुम भी धर्मानुसार पाण्डुके ही पुत्र हो । इसलिये आओ, धर्मशास्त्रोंके निश्चयके अनुसार तुम्हीं राजा होओगे ॥ ९ ॥

पितृपक्षे च ते पार्था मातृपक्षे च वृष्णयः ।
द्वौ पक्षावभिजानीहि त्वमेतौ पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

पिताके पक्षमें कुन्तीके सभी पुत्र तुम्हारे सहायक हैं और मातृपक्षमें समस्त वृष्णिवंशी तुम्हारे साथ हैं । पुरुषश्रेष्ठ ! तुम अपने इन दोनों पक्षोंको जान लो ॥ १० ॥

मया सार्धमितो यातमद्य त्वां तात पाण्डवाः ।
अभिजानन्तु कौन्तेयं पूर्वजातं युधिष्ठिरात् ॥ ११ ॥

तात ! मेरे साथ यहाँसे चलनेपर आज पाण्डवोंको तुम्हारे विषयमें यह पता चल जाय कि तुम कुन्तीके ही पुत्र हो और युधिष्ठिरसे भी पहले तुम्हारा जन्म हुआ है ॥ ११ ॥

पादौ तव ग्रहीष्यन्ति भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
द्रौपदेयास्तथा पञ्च सौभद्रश्चापराजितः ॥ १२ ॥

पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा किसीसे परास्त न होनेवाला सुभद्राकुमार वीर अभिमन्यु—ये सभी तुम्हारे चरणोंका स्पर्श करेंगे ॥ १२ ॥

राजानो राजपुत्राश्च पाण्डवार्थे समागताः ।
पादौ तव ग्रहीष्यन्ति सर्वे चान्धकवृष्णयः ॥ १३ ॥

इसके सिवा, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हुए समस्त राजा, राजकुमार तथा अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धा भी तुम्हारे चरणोंमें नतमस्तक होंगे ॥ १३ ॥

हिरण्मयांश्च ते कुम्भान् राजतान् पार्थिवांस्तथा ।
ओषध्यः सर्वबीजानि सर्वरत्नानि वीरुधः ॥ १४ ॥
राजन्या राजकन्याश्चाप्यानयन्त्वभिषेचनम् ॥ १५ ॥

बहुत-से राजपुत्र और राजकन्याएँ तुम्हारे लिये सोने, चाँदी तथा मिट्टीके बने हुए कलश, ओषधसमूह, सब प्रकारके बीज, सम्पूर्ण रत्न और लता आदि अभिषेक-सामग्री लेकर आयेंगी ॥ १४-१५ ॥

अग्निं जुहोतु वै धौम्यः संशितात्मा द्विजोत्तमः ।
अद्य त्वामभिषिञ्चन्तु चातुर्वैद्या द्विजातयः ॥ १६ ॥
पुरोहितः पाण्डवानां ब्रह्मकर्मण्यवस्थितः ।

विशुद्ध हृदयवाले द्विजश्रेष्ठ धौम्य आज तुम्हारे लिये होम करें और चारों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण तथा सदा ब्राह्मणोचित धर्मके पालनमें स्थित रहनेवाले पाण्डवोंके पुरोहित धौम्यजी भी तुम्हारा राज्याभिषेक करें ॥ १६½ ॥

तथैव भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ १७ ॥
द्रौपदेयास्तथा पञ्च पञ्चालाश्चेदयस्तथा ।
अहं च त्वाभिषेक्ष्यामि राजानं पृथिवीपतिम् ॥ १८ ॥
युवराजोऽस्तु ते राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गृहीत्वा व्यजनं श्वेतं धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ १९ ॥
उपान्वारोहतु रथं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
छत्रं च ते महाश्वेतं भीमसेनो महाबलः ॥ २० ॥
अभिषिक्तस्य कौन्तेयो धारयिष्यति मूर्धनि ।

इसी प्रकार पाँचों भाई पुरुषसिंह पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाञ्चाल और चेदिदेशके नरेश तथा मैं—ये सब लोग तुम्हें पृथ्वीपालक सम्राट्के पदपर अभिषिक्त करेंगे। कठोर व्रतका पालन करनेवाले धर्मपुत्र धर्मात्मा कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज होंगे, जो हाथमें श्वेत चँवर लेकर तुम्हारे पीछे रथपर बैठेंगे और महाबली कुन्तीकुमार भीमसेन राज्याभिषेक होनेके पश्चात् तुम्हारे मस्तकपर महान् श्वेत छत्र धारण करेंगे ॥ १७—२०½ ॥

किङ्किणीशतनिर्घोषं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥ २१ ॥
रथं श्वेतहयैर्युक्तमर्जुनो वाहयिष्यति ।
अभिमन्युश्च ते नित्यं प्रत्यासन्नो भविष्यति ॥ २२ ॥

सैकड़ों क्षुद्र घण्टिकाओंकी सुमधुर ध्वनिसे युक्त, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित तथा श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए तुम्हारे रथको अर्जुन सारथि बनकर हाँकेंगे और अभिमन्यु सदा तुम्हारी सेवाके लिये निकट खड़ा रहेगा ॥ २१-२२ ॥

नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च पञ्च ये ।
पञ्चालाश्चानुयास्यन्ति शिखण्डी च महारथः ॥ २३ ॥

नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँच पुत्र, पञ्चालदेशीय क्ष तथा महारथी शिखण्डी—ये सब तुम्हारे पीछे-पीछे चले

अहं च त्वानुयास्यामि सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
दाशार्हाः परिवारास्ते दाशार्णाश्च विशाम्पते ॥ २४

मैं तथा समस्त अन्धक और वृष्णिवंशके लोग तुम्हारा अनुसरण करेंगे। प्रजानाथ ! दशार्ह तथा दश कुलके समस्त क्षत्रिय तुम्हारे परिवार हो जायँगे ॥ २४ ॥

भुङ्क्ष्व राज्यं महाबाहो भ्रातृभिः सह पाण्डवैः।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो मङ्गलैश्च पृथग्विधैः ॥ २५

महाबाहो ! तुम अपने भाई पाण्डवोंके साथ रा भोगो। जप, होम तथा नाना प्रकारके माङ्गलिक क संलग्न रहो ॥ २५ ॥

पुरोगमाश्च ते सन्तु द्रविडाः सह कुन्तलैः ।
आन्ध्रास्तालचराश्चैव चूचुपा वेणुपास्तथा ॥ २६

द्रविड़, कुन्तल, आन्ध्र, तालचर, चूचुप तथा वे देशके लोग तुम्हारे अग्रगामी सेवक हों ॥ २६ ॥

स्तुवन्तु त्वां च बहुभिः स्तुतिभिः सूतमागधाः।
विजयं वसुषेणस्य घोषयन्तु च पाण्डवाः ॥ २७

सूत, मागध और वन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वा तुम्हारा यशोगान करें और पाण्डवलोग महाराज वसुषे कर्णकी विजय घोषित कर दें ॥ २७ ॥

स त्वं परिवृतः पार्थैर्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
प्रशाधि राज्यं कौन्तेय कुन्तीं च प्रतिनन्दय ॥ २८

कुन्तीकुमार ! नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति तु अपने अन्य भाइयोंसे घिरे रहकर राज्यका पालन औ कुन्तीको आनन्दित करो ॥ २८ ॥

मित्राणि ते प्रहृष्यन्तु व्यथन्तु रिपवस्तथा ।
सौभ्रात्रं चैव तेऽद्यास्तु भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ॥ २९

तुम्हारे मित्र प्रसन्न हों और शत्रुओंके मनमें व्यथा हो कर्ण ! आजसे अपने भाई पाण्डवोंके साथ तुम्हारा एक अ बन्धुकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव हो ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका दुर्योधनके पक्षमें रहनेके निश्चित विचारका प्रतिपादन करते हुए समरयज्ञके रूपकका वर्णन करना

कर्ण उवाच

असंशयं सौहृदान्मे प्रणयाच्चात्थ केशव ।
सख्येन चैव वार्ष्णेय श्रेयस्कामतयैव च ॥ १ ॥

कर्णने कहा—केशव ! आपने सौहार्द, प्रेम, मैत्री औ मेरे हितकी इच्छासे जो कुछ कहा है, वह निःसंदे ठीक है ॥ १ ॥

सर्वं चैवाभिजानामि पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः।
निश्चयाद् धर्मशास्त्राणां यथा त्वं कृष्ण मन्यसे ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण ! जैसा कि आप मानते हैं, धर्मशास्त्रोंके निर्णयके अनुसार मैं धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ । इन सब बातोंको मैं अच्छी तरह जानता और समझता हूँ ॥ २ ॥

कन्या गर्भं समाधत्त भास्करान्मां जनार्दन ।
आदित्यवचनाच्चैव जातं मां सा व्यसर्जयत् ॥ ३ ॥

जनार्दन ! कुन्तीने कन्यावस्थामें भगवान् सूर्यके संयोगसे मुझे गर्भमें धारण किया था और मेरा जन्म हो जानेपर उन सूर्यदेवकी आज्ञासे ही मुझे जलमें विसर्जित कर दिया था ॥ ३ ॥

सोऽस्मि कृष्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः।
कुन्त्या त्वहमपाकीर्णो यथा न कुशलं तथा ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मेरा जन्म हुआ है । अतः मैं धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ; परंतु कुन्तीदेवीने मुझे इस तरह त्याग दिया, जिससे मैं सकुशल नहीं रह सकता था ॥

सूतो हि मामधिरथो दृष्ट्वैवाभ्यानयद् गृहान् ।
राधायाश्चैव मां प्रादात् सौहार्दान्मधुसूदन ॥ ५ ॥

मधुसूदन ! उसके बाद अधिरथ नामक सूत मुझे जलमें देखते ही निकालकर अपने घर ले आये और बड़े स्नेहसे मुझे अपनी पत्नी राधाकी गोदमें दे दिया ॥ ५ ॥

मत्स्नेहाच्चैव राधायां सद्यः क्षीरमवातरत् ।
सा मे मूत्रं पुरीषं च प्रतिजग्राह माधव ॥ ६ ॥

उस समय मेरे प्रति अधिक स्नेहके कारण राधाके स्तनोंमें तत्काल दूध उतर आया । माधव ! उस अवस्थामें उसीने मेरा मल-मूत्र उठाना स्वीकार किया ॥ ६ ॥

तस्याः पिण्डव्यपनयं कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
धर्मविद् धर्मशास्त्राणां श्रवणे सततं रतः ॥ ७ ॥

अतः सदा धर्मशास्त्रोंके श्रवणमें तत्पर रहनेवाला मुझ जैसा धर्मज्ञ पुरुष राधाके मुखका ग्रास कैसे छीन सकता है ? (उसका पालन-पोषण न करके उसे त्याग देनेकी क्रूरता कैसे कर सकता है ?) ॥ ७ ॥

तथा मामभिजानाति सूतश्चाधिरथः सुतम् ।
पितरं चाभिजानामि तमहं सौहृदात् सदा ॥ ८ ॥

अधिरथ सूत भी मुझे अपना पुत्र ही समझते हैं और मैं भी सौहार्दवश उन्हें सदासे अपना पिता ही मानता आया हूँ ॥ ८ ॥

स हि मे जातकर्मादि कारयामास माधव ।
शास्त्रदृष्टेन विधिना पुत्रप्रीत्या जनार्दन ॥ ९ ॥
नाम वै वसुषेणेति कारयामास वै द्विजैः ।

माधव ! उन्होंने मेरे जातकर्म आदि संस्कार करवाये तथा जनार्दन ! उन्होंने ही पुत्रप्रेमवश शास्त्रीय विधिसे ब्राह्मणोंद्वारा मेरा 'वसुषेण' नाम रखवाया ॥ ९½ ॥

भार्याश्चोढा मम प्राप्ते यौवने तत्परिग्रहात् ॥ १० ॥
तासु पुत्राश्च पौत्राश्च मम जाता जनार्दन ।
तासु मे हृदयं कृष्ण संजातं कामबन्धनम् ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरी युवावस्था होनेपर अधिरथने सूतजातिकी कई कन्याओंके साथ मेरा विवाह करवाया । अब उनसे मेरे पुत्र और पौत्र भी पैदा हो चुके हैं । जनार्दन ! उन स्त्रियोंमें मेरा हृदय कामभावसे आसक्त रहा है ॥ १०-११ ॥

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
हर्षाद् भयाद् वा गोविन्द मिथ्या कर्तुं तदुत्सहे ॥ १२ ॥

गोविन्द ! अब मैं सम्पूर्ण पृथिवीका राज्य पाकर, सुवर्णकी राशियाँ लेकर अथवा हर्ष या भयके कारण भी वह सब सम्बन्ध मिथ्या नहीं करना चाहता ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्रकुले कृष्ण दुर्योधनसमाश्रयात् ।
मया त्रयोदश समा भुक्तं राज्यमकण्टकम् ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ! मैंने दुर्योधनका सहारा पाकर धृतराष्ट्रके कुलमें रहते हुए तेरह वर्षोंतक अकण्टक राज्यका उपभोग किया है ॥ १३ ॥

इष्टं च बहुभिर्यज्ञैः सह सूतैर्मयासकृत् ।
आवाहाश्च विवाहाश्च सह सूतैर्मया कृताः ॥ १४ ॥

वहाँ मैंने सूतोंके साथ मिलकर बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया है तथा उन्हींके साथ रहकर अनेकानेक कुलधर्म एवं वैवाहिक कार्य सम्पन्न किये हैं ॥ १४ ॥

मां च कृष्ण समासाद्य कृतः शस्त्रसमुद्यमः ।
दुर्योधनेन वार्ष्णेय विग्रहश्चापि पाण्डवैः ॥ १५ ॥

वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! दुर्योधनने मेरे ही भरोसे हथियार उठाने तथा पाण्डवोंके साथ विग्रह करनेका साहस किया है॥१५॥

तस्माद् रणे द्वैरथे मां प्रत्युद्यातारमच्युत ।
वृतवान् परमं कृष्ण प्रतीपं सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥

अतः अच्युत ! मुझे द्वैरथ युद्धमें सव्यसाची अर्जुनके विरुद्ध लोहा लेने तथा उनका सामना करनेके लिये उसने चुन लिया है ॥ १६ ॥

वधाद् बन्धाद् भयाद् वापि लोभाद् वापि जनार्दन।
अनृतं नोत्सहे कर्तुं धार्तराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १७ ॥

जनार्दन ! इस समय मैं वध, बन्धन, भय अथवा लोभसे भी बुद्धिमान् धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके साथ मिथ्या व्यवहार नहीं करना चाहता ॥ १७ ॥

यदि ह्यद्य न गच्छेयं द्वैरथं सव्यसाचिना ।
अकीर्तिः स्याद्धृषीकेश मम पार्थस्य चोभयोः ॥ १८ ॥

हृषीकेश ! अब यदि मैं अर्जुनके साथ द्वैरथ युद्ध न

करूँ तो यह मेरे और अर्जुन दोनोंके लिये अपयशकी बात होगी ॥ १८ ॥

असंशयं हितार्थाय ब्रूयास्त्वं मधुसूदन ।
सर्वे च पाण्डवाः कुर्युस्त्वद्वशित्वान्न संशयः ॥१९॥

मधुसूदन ! इसमें संदेह नहीं कि आप मेरे हितके लिये ही ये सब बातें कहते हैं । पाण्डव आपके अधीन हैं; इसलिये आप उनसे जो कुछ भी कहेंगे, वह सब वे अवश्य ही कर सकते हैं ॥ १९ ॥

मन्त्रस्य नियमं कुर्यास्त्वमत्र मधुसूदन ।
एतदत्र हितं मन्ये सर्वं यादवनन्दन ॥ २० ॥

परंतु मधुसूदन ! मेरे और आपके बीचमें जो यह गुप्त परामर्श हुआ है, उसे आप यहीं तक सीमित रक्खें । यादवनन्दन ! ऐसा करनेमें ही मैं यहाँ सब प्रकारसे हित समझता हूँ ॥ २० ॥

यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति ॥ २१ ॥

अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर यदि यह जान लेंगे कि मैं (कर्ण) कुन्तीका प्रथम पुत्र हूँ, तब वे राज्य ग्रहण नहीं करेंगे ॥ २१ ॥

प्राप्य चापि महद् राज्यं तदहं मधुसूदन ।
स्फीतं दुर्योधनायैव सम्प्रदद्यामरिंदम ॥ २२ ॥

शत्रुदमन मधुसूदन ! उस दशामें मैं उस समृद्धिशाली विशाल राज्यको पाकर भी दुर्योधनको ही सौंप दूँगा ॥२२॥

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिरः।
नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः ॥ २३ ॥

मैं भी यही चाहता हूँ कि जिनके नेता हृषीकेश और योद्धा अर्जुन हैं, वे धर्मात्मा युधिष्ठिर ही सर्वदा राजा बने रहें ।२३।

पृथिवी तस्य राष्ट्रं च यस्य भीमो महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च माधव ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः ।
उत्तमौजा युधामन्युः सत्यधर्मा च सौमकिः ॥ २५ ॥
चैद्यश्च चेकितानश्च शिखण्डी चापराजितः ।
इन्द्रगोपकवर्णाश्च केकया भ्रातरस्तथा ।
इन्द्रायुधसवर्णश्च कुन्तिभोजो महामनाः ॥ २६ ॥
मातुलो भीमसेनस्य श्येनजिच्च महारथः ।
शङ्खः पुत्रो विराटस्य निधिस्त्वं च जनार्दन ॥ २७ ॥

माधव ! जनार्दन ! जिनके सहायक महारथी भीम, नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, महारथी सात्यकि, उत्तमौजा, युधामन्यु, सोमकवंशी सत्यधर्मा, चेदिराज धृष्टकेतु, चेकितान, अपराजित वीर शिखण्डी, इन्द्रगोपके समान वर्णवाले पाँचों भाई केकय-राजकुमार, इन्द्रधनुषके समान रंगवाले महामना कुन्तिभोज, भीमसेन मामा महारथी श्येनजित्, विराटपुत्र शंख तथा अक्षयनिधि समान आप हैं, उन्हीं युधिष्ठिरके अधिकारमें यह सा भूमण्डल तथा कौरव-राज्य रहेगा ॥ २४—२७ ॥

महानयं कृष्ण कृतः क्षत्रस्य समुदानयः ।
राज्यं प्राप्तमिदं दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ॥ २८

श्रीकृष्ण ! दुर्योधनने यह क्षत्रियोंका बहुत बड़ा समुदा एकत्र कर लिया है तथा समस्त राजाओंमें विख्यात ए उज्ज्वल यह कुरुदेशका राज्य भी उसे प्राप्त हो गया है।२८

धार्तराष्ट्रस्य वार्ष्णेय शस्त्रयज्ञो भविष्यति ।
अस्य यज्ञस्य वेत्ता त्वं भविष्यसि जनार्दन ॥ २९

जनार्दन ! वृष्णिनन्दन ! अब दुर्योधनके यहाँ ए शस्त्र-यज्ञ होगा, जिसके साक्षी आप होंगे ॥ २९ ॥

आध्वर्यवं च ते कृष्ण क्रतावस्मिन् भविष्यति।
होता चैवात्र बीभत्सुः संनद्धः स कपिध्वजः ॥ ३०

श्रीकृष्ण ! इस यज्ञमें अध्वर्युका काम भी आपको ह करना होगा । कवच आदिसे सुसज्जित कपिध्वज अर्जु इसमें होता बनेंगे ॥ ३० ॥

गाण्डीवं स्रुक् तथा चाज्यं वीर्यं पुंसां भविष्यति।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं स्थूणाकर्णं च माधव ।
मन्त्रास्तत्र भविष्यन्ति प्रयुक्ताः सव्यसाचिना ॥ ३१ ॥

गाण्डीव धनुष स्रुवाका काम करेगा और विपक्षी वीरोंका पराक्रम ही हवनीय घृत होगा । माधव ! सव्यसाची अर्जुन द्वारा प्रयुक्त होनेवाले ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म और स्थूणाकर्ण आदि अस्त्र ही वेद-मन्त्र होंगे ॥ ३१ ॥

अनुयातश्च पितरमधिको वा पराक्रमे ।
गीतं स्तोत्रं स सौभद्रः सम्यक् तत्र भविष्यति ॥ ३२ ॥

सुभद्राकुमार अभिमन्यु भी अस्त्रविद्यामें अपने पिताका ही अनुसरण करनेवाला अथवा पराक्रममें उनसे भी बढ़कर है। वह इस शस्त्रयज्ञमें उत्तम स्तोत्रगान (उद्गातृकर्म) की पूर्ति करेगा ॥ ३२ ॥

उद्गातात्र पुनर्भीमः प्रस्तोता सुमहाबलः ।
विनदन् स नरव्याघ्रो नागानीकान्तकृद् रणे ॥ ३३ ॥

अभिमन्यु ही उद्गाता और महाबली नरश्रेष्ठ भीमसेन ही प्रस्तोता होंगे, जो रणभूमिमें गर्जना करते हुए शत्रुपक्षके हाथियोंकी सेनाका विनाश कर डालेंगे ॥ ३३ ॥

स चैव तत्र धर्मात्मा शश्वद् राजा युधिष्ठिरः।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो ब्रह्मत्वं कारयिष्यति ॥ ३४ ॥

वे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ही सदा जप और होममें संलग्न रहकर, उस यज्ञमें ब्रह्माका कार्य सम्पन्न करेंगे ॥ ३४ ॥

शङ्खशब्दाः समुरजा भेर्यश्च मधुसूदन ।
उत्कृष्टसिंहनादश्च सुब्रह्मण्यो भविष्यति ॥ ३५ ॥

मधुसूदन ! शङ्ख, मुरज तथा भेरियोंके शब्द और उच्च स्वरसे किये हुए सिंहनाद ही सुब्रह्मण्यनाद होंगे ॥३५॥

नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ यशस्विनौ ।
शामित्रं तौ महावीर्यौ सम्यक् तत्र भविष्यतः ॥ ३६ ॥

माद्रीके यशस्वी पुत्र महापराक्रमी नकुल-सहदेव उसमें भलीभाँति शामित्रकर्मका सम्पादन करेंगे ॥ ३६ ॥

कल्माषदण्डा गोविन्द विमला रथपङ्क्तयः ।
यूपाः समुपकल्पन्तामस्मिन् यज्ञे जनार्दन ॥ ३७ ॥

गोविन्द ! जनार्दन ! विचित्र ध्वजदण्डोंसे सुशोभित निर्मल रथ-पंक्तियाँ ही इस रणयज्ञमें यूपोंका काम करेंगी ।३७।

कर्णिनालीकनाराचा वत्सदन्तोपबृंहणाः ।
तोमराः सोमकलशाः पवित्राणि धनूंषि च ॥ ३८ ॥

कर्णि, नालीक, नाराच और वत्सदन्त आदि बाण उपबृंहण (सोमाहुतिके साधनभूत चमस आदि पात्र) होंगे । तोमर सोमकलशका और धनुष पवित्रीका काम करेंगे। ३८।

असयोऽत्र कपालानि पुरोडाशाः शिरांसि च ।
हविस्तु रुधिरं कृष्ण तस्मिन् यज्ञे भविष्यति ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्ण ! उस यज्ञमें खड्ग ही कपाल, शत्रुओंके मस्तक ही पुरोडाश तथा रुधिर ही हविष्य होंगे ॥ ३९ ॥

इध्माः परिधयश्चैव शक्तयो विमला गदाः ।
सदस्या द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ ४० ॥

निर्मल शक्तियाँ और गदाएँ सब ओर बिखरी हुई समिधाएँ होंगी । द्रोण और कृपाचार्यके शिष्य ही सदस्यका कार्य करेंगे ॥ ४० ॥

इषवोऽत्र परिस्तोमा मुक्ता गाण्डीवधन्वना ।
महारथप्रयुक्ताश्च द्रोणद्रौणिप्रचोदिताः ॥ ४१ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके छोड़े हुए तथा द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा एवं अन्य महारथियोंके चलाये हुए बाण यज्ञ-कुण्डके सब ओर बिछाये जानेवाले कुशोंका काम देंगे ॥४१॥

प्रतिप्रास्थानिकं कर्म सात्यकिस्तु करिष्यति ।
दीक्षितो धार्तराष्ट्रोऽत्र पत्नी चास्य महाचमूः ॥ ४२ ॥

सात्यकि प्रतिस्थाता (अध्वर्युके दूसरे सहयोगी) का कार्य करेंगे । धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन इस रणयज्ञकी दीक्षा लेगा और उसकी विशाल सेना ही यजमानपत्नीका काम करेगी ॥

घटोत्कचोऽत्र शामित्रं करिष्यति महाबलः ।
अतिरात्रे महाबाहो वितते यज्ञकर्मणि ॥ ४३ ॥

महाबाहो ! इस महायज्ञका अनुष्ठान आरम्भ हो जानेपर उसके अतिरात्रयागमें (अथवा आधी रातके समय) महाबली घटोत्कच शामित्रकर्म करेगा ॥ ४३ ॥

दक्षिणा त्वस्य यज्ञस्य धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
वैतानिके कर्ममुखे जातो यः कृष्ण पावकात् ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण ! जो श्रौत यज्ञके आरम्भमें ही साक्षात् अग्नि-कुण्डसे प्रकट हुआ था, वह प्रतापी वीर धृष्टद्युम्न इस यज्ञकी दक्षिणाका कार्य सम्पादन करेगा ॥ ४४ ॥

यदब्रुवमहं कृष्ण कटुकानि स्म पाण्डवान् ।
प्रियार्थं धार्तराष्ट्रस्य तेन तप्ये ह्यकर्मणा ॥ ४५ ॥

श्रीकृष्ण ! मैंने जो धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका प्रिय करनेके लिये पाण्डवोंको बहुतसे कटुवचन सुनाये हैं, उस अयोग्य कर्मके कारण आज मुझे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है ॥ ४५ ॥

यदा द्रक्ष्यसि मां कृष्ण निहतं सव्यसाचिना ।
पुनश्चितिस्तदा चास्य यज्ञस्याथ भविष्यति ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण ! जब आप सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मुझे मारा गया देखेंगे, उस समय इस यज्ञका पुनश्चिति-कर्म (यज्ञके अनन्तर किया जानेवाला चयनारम्भ) सम्पन्न होगा ४६

दुःशासनस्य रुधिरं यदा पास्यति पाण्डवः ।
आनर्दं नर्दतः सम्यक् तदा सुत्यं भविष्यति ॥ ४७ ॥

जब पाण्डुनन्दन भीमसेन सिंहनाद करते हुए दुःशासनका रक्त पान करेंगे, उस समय इस यज्ञका सुत्य (सोमाभिषव) कर्म पूरा होगा ॥ ४७ ॥

यदा द्रोणं च भीष्मं च पाञ्चाल्यौ पातयिष्यतः ।
तदा यज्ञावसानं तद् भविष्यति जनार्दन ॥ ४८ ॥

जनार्दन ! जब दोनों पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न और शिखण्डी द्रोणाचार्य और भीष्मको मार गिरायेंगे, उस समय इस रणयज्ञका अवसान (बीच-बीचमें होनेवाला विराम) कार्य सम्पन्न होगा ॥ ४८ ॥

दुर्योधनं यदा हन्ता भीमसेनो महाबलः ।
तदा समाप्स्यते यज्ञो धार्तराष्ट्रस्य माधव ॥ ४९ ॥

माधव ! जब महाबली भीमसेन दुर्योधनका वध करेंगे उस समय धृतराष्ट्रपुत्रका प्रारम्भ किया हुआ यह यज्ञ समाप्त हो जायगा ॥ ४९ ॥

स्नुषाश्च प्रस्नुषाश्चैव धृतराष्ट्रस्य सङ्गताः ।
हतेश्वरा नष्टपुत्रा हतनाथाश्च केशव ॥ ५० ॥
रुदत्यः सह गान्धार्या श्वगृध्रकुरराकुले ।
स यज्ञेऽस्मिन्नवभृथो भविष्यति जनार्दन ॥ ५१ ॥

केशव ! जिनके पति, पुत्र और संरक्षक मार दिये गये होंगे, वे धृतराष्ट्रके पुत्रों और पौत्रोंकी बहुएँ जब गान्धारीके साथ एकत्र होकर कुत्तों, गीधों और कुरर पक्षियोंसे भरे हुए समराङ्गणमें रोती हुई विचरेंगी, जनार्दन ! वही उस यज्ञका अवभृथस्नान होगा ॥ ५०-५१ ॥

विद्यावृद्धा वयोवृद्धाः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
वृथा मृत्युं न कुर्वीरंस्त्वत्कृते मधुसूदन ॥ ५२ ॥

क्षत्रियशिरोमणि मधुसूदन ! तुम्हारे इस शान्तिस्थापनके प्रयत्नसे कहीं ऐसा न हो कि विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध क्षत्रियगण व्यर्थ मृत्युको प्राप्त हों (युद्धमें शस्त्रोंसे होनेवाली मृत्युसे वञ्चित रह जायँ) ॥ ५२ ॥

शस्त्रेण निधनं गच्छेत् समृद्धं क्षत्रमण्डलम् ।
कुरुक्षेत्रे पुण्यतमे त्रैलोक्यस्यापि केशव ॥ ५३ ॥

केशव ! कुरुक्षेत्र तीनों लोकोंके लिये परम पुण्यतम तीर्थ है । यह समृद्धिशाली क्षत्रियसमुदाय वहीं जाकर शस्त्रोंके आघातसे मृत्युको प्राप्त हो ॥ ५३ ॥

तदत्र पुण्डरीकाक्ष निधत्स्व यदभीप्सितम् ।
यथा कार्त्स्न्येन वार्ष्णेय क्षत्रं स्वर्गमवाप्नुयात् ॥ ५४ ॥

कमलनयन वृष्णिनन्दन ! आप भी इसकी सिद्धिके लिये ही ऐसा मनोवाञ्छित प्रयत्न करें, जिससे यह सारा-का-सारा क्षत्रियसमूह स्वर्गलोकमें पहुँच जाय ॥ ५४ ॥

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च जनार्दन ।
तावत् कीर्तिभवः शब्दः शाश्वतोऽयं भविष्यति ॥ ५५

जनार्दन ! जबतक ये पर्वत और सरिताएँ रहेंगी, त तक इस युद्धकी कीर्ति-कथा अक्षय बनी रहेगी ॥ ५५

ब्राह्मणाः कथयिष्यन्ति महाभारतमाहवम् ।
समागमेषु वार्ष्णेय क्षत्रियाणां यशोधनम् ॥ ५६

वार्ष्णेय ! ब्राह्मणलोग क्षत्रियोंके समाजमें इ महाभारतयुद्धका, जिसमें राजाओंके सुयशरूपी धनक संग्रह होनेवाला है, वर्णन करेंगे ॥ ५६ ॥

समुपानय कौन्तेयं युद्धाय मम केशव ।
मन्त्रसंवरणं कुर्वन् नित्यमेव परंतप ॥ ५७ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले केशव ! आप इस मन्त्रणाको सदा गुप्त रखते हुए ही कुन्तीकुमार अर्जुनको मेरे साथ युद्ध करनेके लिये ले आवें ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने निश्चित विचारका प्रतिपादनविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णसे पाण्डवपक्षकी निश्चित विजयका प्रतिपादन

संजय उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा केशवः परवीरहा ।
उवाच प्रहसन् वाक्यं स्मितपूर्वमिदं यथा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! विपक्षी वीरोंका वध करनेवाले भगवान् केशव कर्णकी उपर्युक्त बात सुनकर ठठाकर हँस पड़े और मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

अपि त्वां न लभेत् कर्ण राज्यलम्भोपपादनम् ।
मया दत्तां हि पृथिवीं न प्रशासितुमिच्छसि ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्ण ! मैं जो राज्यकी प्राप्तिका उपाय बता रहा हूँ, जान पड़ता है वह तुम्हें ग्राह्य नहीं प्रतीत होता है । तुम मेरी दी हुई पृथ्वीका शासन नहीं करना चाहते हो ॥२॥

ध्रुवो जयः पाण्डवानामितीदं
न संशयः कश्चन विद्यतेऽत्र ।
जयध्वजो दृश्यते पाण्डवस्य
समुच्छ्रितो वानरराज उग्रः ॥ ३ ॥

पाण्डवोंकी विजय अवश्यम्भावी है । इस विषयमें कोई भी संशय नहीं है । पाण्डुनन्दन अर्जुनका वानरराज हनुमान्से उपलक्षित वह भयंकर विजयध्वज बहुत ऊँचा दिखायी देता है॥

दिव्या माया विहिता भौमनेन
समुच्छ्रिता इन्द्रकेतुप्रकाशा ।
दिव्यानि भूतानि जयावहानि
दृश्यन्ति चैवात्र भयानकानि ॥ ४ ॥

विश्वकर्माने उस ध्वजमें दिव्य मायाकी रचना की है। वह ऊँची ध्वजा इन्द्रध्वजके समान प्रकाशित होती है । उसके ऊपर विजयकी प्राप्ति करानेवाले दिव्य एवं भयंकर प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ४ ॥

न सज्जते शैलवनस्पतिभ्य
ऊर्ध्वं तिर्यग्योजनमात्ररूपः ।
श्रीमान् ध्वजः कर्ण धनंजयस्य
समुच्छ्रितः पावकतुल्यरूपः ॥ ५ ॥

कर्ण ! धनंजयका वह अग्निके समान तेजस्वी तथा कान्तिमान् ऊँचा ध्वज एक योजन लम्बा है । वह ऊपर अथवा अगल-बगलमें पर्वतों तथा वृक्षोंसे कहीं अटकता नहीं है ५

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे श्वेताश्वं कृष्णसारथिम् ।
ऐन्द्रमस्त्रं विकुर्वाणमुभे चाप्यग्निमारुते ॥ ६ ॥
गाण्डीवस्य च निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ७ ॥

कर्ण ! जब युद्धमें मुझ श्रीकृष्णको सारथि बनाकर आते हुए श्वेतवाहन अर्जुनको तुम ऐन्द्र, आग्नेय तथा वायव्य अस्त्र प्रकट करते देखोगे और जब गाण्डीवकी वज्र-गर्जनाके समान भयंकर टंकार तुम्हारे कानोंमें पड़ेगी, उस समय

तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी (केवल कलहस्वरूप भयंकर कलि ही दृष्टिगोचर होगा) ॥६-७॥

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
जपहोमसमायुक्तं स्वां रक्षन्तं महाचमूम् ॥ ८ ॥
आदित्यमिव दुर्धर्षं तपन्तं शत्रुवाहिनीम् ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ९ ॥

जब जप और होममें लगे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको संग्राममें अपनी विशाल सेनाकी रक्षा करते तथा सूर्यके समान दुर्धर्ष होकर शत्रुसेनाको संतप्त करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी ८-९

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे भीमसेनं महाबलम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीत्वा नृत्यन्तमाहवे ॥ १० ॥
प्रभिन्नमिव मातङ्गं प्रतिद्विरदघातिनम् ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ११ ॥

जब तुम युद्धमें महाबली भीमसेनको दुःशासनका रक्त पीकर नाचते तथा मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान उन्हें शत्रुपक्षकी गजसेनाका संहार करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी।१०-११।

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे द्रोणं शान्तनवं कृपम् ।
सुयोधनं च राजानं सैन्धवं च जयद्रथम् ॥ १२ ॥
युद्धायापततस्तूर्णं वारितान् सव्यसाचिना ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ १३ ॥

जब तुम देखोगे कि युद्धमें आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ ज्यों ही युद्धके लिये आगे बढ़े हैं त्यों ही सव्यसाची अर्जुनने तुरंत उन सबकी गति रोक दी है, तब तुम हक्के-बक्के-से रह जाओगे और उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापर कुछ भी सूझ नहीं पड़ेगा ॥ १२-१३ ॥

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे माद्रीपुत्रौ महाबलौ ।
वाहिनीं धार्तराष्ट्राणां क्षोभयन्तौ गजाविव ॥ १४ ॥
विगाढे शस्त्रसम्पाते परवीररथारुजौ ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ १५ ॥

जब युद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार प्रगाढ़ अवस्थाको पहुँच जायगा (जोर-जोरसे होने लगेगा) और शत्रुवीरोंके रथको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले महाबली माद्रीकुमार नकुल-सहदेव दो गजराजोंकी भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाको क्षुब्ध करने लगेंगे तथा जब तुम अपनी आँखोंसे यह अवस्था देखोगे, उस समय तुम्हारे सामने न सत्ययुग होगा, न त्रेता और न द्वापर ही रह जायगा ॥ १४-१५ ॥

ब्रूयाः कर्ण इतो गत्वा द्रोणं शान्तनवं कृपम् ।
सौम्योऽयं वर्तते मासः सुप्रापयवसेन्धनः ॥ १६ ॥

कर्ण ! तुम यहाँसे जाकर आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म और कृपाचार्यसे कहना कि 'यह सौम्य (सुखद) मास चल रहा है। इसमें पशुओंके लिये घास और जलानेके लिये लकड़ी आदि वस्तुएँ सुगमतासे मिल सकती हैं ॥ १६ ॥

सर्वौषधिवनस्फीतः फलवानल्पमक्षिकः ।
निष्पङ्को रसवत्तोयो नात्युष्णशिशिरः सुखः ॥ १७ ॥

'सब प्रकारकी ओषधियों तथा फल-फूलोंसे वनकी समृद्धि बढ़ी हुई है, धानके खेतोंमें खूब फल लगे हुए हैं, मक्खियाँ बहुत कम हो गयी हैं, धरतीपर कीचड़का नाम नहीं है। जल स्वच्छ एवं सुस्वादु प्रतीत होता है, इस सुखद समयमें न तो अधिक गर्मी है और न अधिक सर्दी ही (यह मार्गशीर्ष मास चल रहा है)

सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति ।
संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवताम् ॥ १८ ॥

'आजसे सातवें दिनके बाद अमावास्या होगी। उसके देवता इन्द्र कहे गये हैं। उसीमें युद्ध आरम्भ किया जाय' ॥

तथा राज्ञो वदेः सर्वान् ये युद्धायाभ्युपागताः ।
यद् वो मनीषितं तद् वै सर्वं सम्पादयाम्यहम् ॥ १९ ॥

इसी प्रकार जो युद्धके लिये यहाँ पधारे हैं, उन समस्त राजाओंसे भी कह देना 'आपलोगोंके मनमें जो अभिलाषा है, वह सब मैं अवश्य पूर्ण करूँगा' ॥ १९ ॥

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
प्राप्य शस्त्रेण निधनं प्राप्स्यन्ति गतिमुत्तमाम् ॥ २० ॥

दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जितने राजा और राजकुमार हैं,वे शस्त्रोंद्वारा मृत्युको प्राप्त होकर उत्तम गति लाभ करेंगे।२०।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे भगवद्वाक्ये द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने अभिप्रायनिवेदनके प्रसङ्गमें भगवद्वाक्यविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४२ ॥

* * *

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा पाण्डवोंकी विजय और कौरवोंकी पराजय सूचित करनेवाले लक्षणों एवं अपने स्वप्नका वर्णन

संजय उवाच

केशवस्य तु तद् वाक्यं कर्णः श्रुत्वा हितं शुभम् ।
अब्रवीदभिसम्पूज्य कृष्णं तं मधुसूदनम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! भगवान् केशवका वह

हितकर एवं कल्याणकारी वचन सुनकर कर्ण मधुसूदन श्रीकृष्णके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित करते हुए इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

जानन् मां किं महाबाहो सम्मोहयितुमिच्छसि ।
योऽयं पृथिव्याः कार्त्स्न्येन विनाशः समुपस्थितः ॥ २ ॥
निमित्तं तत्र शकुनिरहं दुःशासनस्तथा ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ ३ ॥

'महाबाहो ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझे मोहमें क्यों डालना चाहते हैं ? यह जो इस भूतलका पूर्णरूपसे विनाश उपस्थित हुआ है, उसमें मैं, शकुनि, दुःशासन तथा धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन निमित्तमात्र हुए हैं ॥ २-३ ॥

असंशयमिदं कृष्ण महद् युद्धमुपस्थितम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च घोरं रुधिरकर्दमम् ॥ ४ ॥

'श्रीकृष्ण ! इसमें संदेह नहीं कि कौरवों और पाण्डवोंका यह बड़ा भयंकर युद्ध उपस्थित हुआ है, जो रक्तकी कीच मचा देनेवाला है ॥ ४ ॥

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
रणे शस्त्राग्निना दग्धाः प्राप्स्यन्ति यमसादनम् ॥ ५ ॥

'दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जो राजा और राजकुमार हैं, वे रणभूमिमें अस्त्र-शस्त्रोंकी आगसे जलकर निश्चय ही यमलोकमें जा पहुँचेंगे ॥ ५ ॥

स्वप्ना हि बहवो घोरा दृश्यन्ते मधुसूदन ।
निमित्तानि च घोराणि तथोत्पाताः सुदारुणाः ॥ ६ ॥

'मधुसूदन ! मुझे बहुतसे भयंकर स्वप्न दिखायी देते हैं । घोर अपशकुन तथा अत्यन्त दारुण उत्पात दृष्टिगोचर होते हैं ॥

पराजयं धार्तराष्ट्रे विजयं च युधिष्ठिरे ।
शंसन्त इव वार्ष्णेय विविधा रोमहर्षणाः ॥ ७ ॥

'वृष्णिनन्दन ! वे रोंगटे खड़े कर देनेवाले विविध उत्पात मानो दुर्योधनकी पराजय और युधिष्ठिरकी विजय घोषित करते हैं ॥ ७ ॥

प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः ।
शनैश्चरः पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम् ॥ ८ ॥

'महातेजस्वी एवं तीक्ष्ण ग्रह शनैश्चर प्रजापतिसम्बन्धी रोहिणीनक्षत्रको पीड़ित करते हुए जगत्के प्राणियोंको अधिक-से-अधिक पीड़ा दे रहे हैं ॥ ८ ॥

कृत्वा चाङ्गारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन ।
अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं संगमयन्निव ॥ ९ ॥

'मधुसूदन ! मंगल ग्रह ज्येष्ठाके निकटसे वक्रगतिका आश्रय ले अनुराधा नक्षत्रपर आना चाहते हैं । जो राज्यस्थ राजाके मित्रमण्डलका विनाश-सा सूचित कर रहे हैं ॥ ९ ॥

नूनं महद्भयं कृष्ण कुरूणां समुपस्थितम् ।
विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रां पीडयते ग्रहः ॥ १० ॥

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! निश्चय ही कौरवोंपर म भय उपस्थित हुआ है । विशेषतः 'महापात' नामक चित्राको पीड़ा दे रहा है (जो राजाओंके विना सूचक है) ॥ १० ॥

सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्तं राहुरर्कमुपैति च ।
दिवश्चोल्काः पतन्त्येताः सनिर्घाताः सकम्पनाः ॥ ११

'चन्द्रमाका कलंक (काला चिह्न) मिट-सा गया राहु सूर्यके समीप जा रहा है । आकाशसे ये उल्काएँ रही हैं, वज्रपातके-से शब्द हो रहे हैं और धरती डोलती- जान पड़ती है ॥ ११ ॥

निघ्नन्ति च मातङ्गा मुञ्चन्त्यश्रूणि वाजिनः ।
पानीयं यवसं चापि नाभिनन्दन्ति माधव ॥ १२

'माधव ! गजराज परस्पर टकराते और विकृत श करते हैं । घोड़े नेत्रोंसे आँसू बहा रहे हैं । वे घास और पा भी प्रसन्नतापूर्वक नहीं ग्रहण करते हैं ॥ १२ ॥

प्रादुर्भूतेषु चैतेषु भयमाहुरुपस्थितम् ।
निमित्तेषु महाबाहो दारुणं प्राणिनाशनम् ॥ १३ ।

'महाबाहो ! कहते हैं, इन निमित्तों (उत्पातसू लक्षणों) के प्रकट होनेपर प्राणियोंके विनाश करनेवा दारुण भयकी उपस्थिति होती है ॥ १३ ॥

अल्पे भुक्ते पुरीषं च प्रभूतमिह दृश्यते ।
वाजिनां वारणानां च मनुष्याणां च केशव ॥ १४ ।

'केशव ! हाथी, घोड़े तथा मनुष्य भोजन तो थोड़ा ह करते हैं; परंतु उनके पेटसे मल अधिक निकलता देख जाता है ॥ १४ ॥

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु सर्वेषु मधुसूदन ।
पराभवस्य तल्लिङ्गमिति प्राहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

'मधुसूदन ! दुर्योधनकी समस्त सेनाओंमें ये बातें पायी जाती हैं । मनीषी पुरुष इन्हें पराजयका लक्षण कहते हैं ॥

प्रहृष्टं वाहनं कृष्ण पाण्डवानां प्रचक्षते ।
प्रदक्षिणा मृगाश्चैव तत् तेषां जयलक्षणम् ॥ १६ ॥

'श्रीकृष्ण ! पाण्डवोंके वाहन प्रसन्न बताये जाते हैं और मृग उनके दाहिनेसे जाते देखे जाते हैं; यह लक्षण उनकी विजयका सूचक है ॥ १६ ॥

अपसव्या मृगाः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
वाचश्चाप्यशरीरिण्यस्तत् पराभवलक्षणम् ॥ १७ ॥

'केशव ! सभी मृग दुर्योधनके बाँयेंसे निकलते हैं और उसे प्रायः ऐसी वाणी सुनायी देती है, जिसके बोलनेवालेका शरीर नहीं दिखायी देता । यह उसकी पराजयका चिह्न है १७

मयूराः पुण्यशकुना हंससारसचातकाः ।
जीवंजीवकसङ्घाश्चाप्यनुगच्छन्ति पाण्डवान् ॥ १८ ॥

'मोर, शुभ शकुन सूचित करनेवाले मुर्गे, हंस, सारस, ातक तथा चकोरोंके समुदाय पाण्डवोंका अनुसरण करते हैं॥

ृध्राः कङ्का बकाः श्येना यातुधानास्तथा वृकाः।
क्षिकाणां च सङ्घाता अनुधावन्ति कौरवान्॥ १९ ॥

'इसी प्रकार गीध, कङ्क, बक, श्येन (बाज), राक्षस, ड़िये तथा मक्खियोंके समूह कौरवोंके पीछे दौड़ते हैं ॥१९॥

ार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु भेरीणां नास्ति निःस्वनः।
नाहताः पाण्डवानां नदन्ति पटहाः किल ॥ २० ॥

'दुर्योधनकी सेनाओंमें बजानेपर भी भेरियोंके शब्द प्रकट हीं होते हैं और पाण्डवोंके डंके बिना बजाये ही बज उठते हैं ॥ २० ॥

उदपानाश्च नर्दन्ति यथा गोवृषभास्तथा।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु तत् पराभवलक्षणम् ॥ २१ ॥

'दुर्योधनकी सेनाओंमें कुएँ आदि जलाशय गाय-बैलोंके समान शब्द करते हैं। यह उसकी पराजयका लक्षण है॥२१॥

मांसशोणितवर्षं च वृष्टं देवेन माधव।
तथा गन्धर्वनगरं भानुमत् समुपस्थितम् ॥ २२ ॥
सप्राकारं सपरिखं सवप्रं चारुतोरणम्।
कृष्णश्च परिघस्तत्र भानुमावृत्य तिष्ठति ॥ २३ ॥

'माधव ! बादल आकाशसे मांस और रक्तकी वर्षा करते हैं। अन्तरिक्षमें चहारदिवारी, खाईं, वप्र और सुन्दर फाटकोंसहित सूर्ययुक्त गन्धर्वनगर प्रकट दिखायी देता है। वहाँ सूर्यको चारों ओरसे घेरकर एक काला परिघ प्रकट होता है ॥ २२-२३ ॥

उदयास्तमने संध्ये वेदयन्ती महद्भयम्।
शिवा च वाशते घोरं तत् पराभवलक्षणम् ॥ २४ ॥

'सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों संध्याओंके समय एक गीदड़ी महान् भयकी सूचना देती हुई भयंकर आवाजमें रोती है। यह भी कौरवोंकी पराजयका लक्षण है ॥ २४ ॥

एकपक्षाक्षिचरणाः पक्षिणो मधुसूदन।
उत्सृजन्ति महद् घोरं तत् पराभवलक्षणम् ॥ २५ ॥

'मधुसूदन ! एक पाँख, एक आँख और एक पैरवाले पक्षी अत्यन्त भयंकर शब्द करते हैं। यह भी कौरवपक्षकी पराजयका ही लक्षण है ॥ २५ ॥

कृष्णग्रीवाश्च शकुना रक्तपादा भयानकाः।
संध्यामभिमुखा यान्ति तत् पराभवलक्षणम् ॥ २६ ॥

'संध्याकालमें काली ग्रीवा और लाल पैरवाले भयानक पक्षी सामने आ जाते हैं, वह भी पराजयका ही चिह्न है ॥२६॥

ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि गुरूंश्च मधुसूदन।
भृत्यान् भक्तिमतश्चापि तत् पराभवलक्षणम् ॥ २७ ॥

'मधुसूदन ! दुर्योधन पहले ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है; फिर गुरुजनोंसे तथा अपने प्रति भक्ति रखनेवाले भृत्योंसे भी द्रोह करने लगता है, यह उसकी पराजयका ही लक्षण है २७

पूर्वा दिग् लोहिताकारा शस्त्रवर्णा च दक्षिणा।
आमपात्रप्रतीकाशा पश्चिमा मधुसूदन।
उत्तरा शङ्खवर्णाभा दिशां वर्णा उदाहृताः ॥ २८ ॥

'श्रीकृष्ण ! पूर्व दिशा लाल, दक्षिण दिशा शस्त्रोंके समान रंगवाली (काली), पश्चिम दिशा मिट्टीके कच्चे बर्तनोंकी भाँति मटमैली तथा उत्तर दिशा शङ्खके समान श्वेत दिखायी देती है। इस प्रकार ये दिशाओंके पृथक्-पृथक् वर्ण बताये गये हैं ॥ २८ ॥

प्रदीप्ताश्च दिशः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य माधव।
महद् भयं वेदयन्ति तस्मिन्नुत्पातदर्शने ॥ २९ ॥

'माधव ! दुर्योधनको इन उत्पातोंका दर्शन तो होता ही है। उसके लिये सारी दिशाएँ भी प्रज्वलित-सी होकर महान् भयकी सूचना दे रही हैं ॥ २९ ॥

सहस्रपादं प्रासादं स्वप्नान्ते स्म युधिष्ठिरः।
अधिरोहन् मया दृष्टः सह भ्रातृभिरच्युत ॥ ३० ॥

'अच्युत ! मैंने स्वप्नके अन्तिम भागमें युधिष्ठिरको एक हजार खंभोंवाले महलपर भाइयोंसहित चढ़ते देखा है॥३०॥

श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे वै शुक्लवाससः।
आसनानि च शुभ्राणि सर्वेषामुपलक्षये ॥ ३१ ॥

'उन सबके सिरपर सफेद पगड़ी और अङ्गोंमें श्वेत वस्त्र शोभित दिखायी दिये हैं। मैंने उन सबके आसनोंको भी श्वेत वर्णका ही देखा है ॥ ३१ ॥

तव चापि मया कृष्ण स्वप्नान्ते रुधिराविला।
अन्त्रेण पृथिवी दृष्टा परिक्षिप्ता जनार्दन ॥ ३२ ॥

'जनार्दन ! श्रीकृष्ण ! मैंने स्वप्नके अन्तमें आपकी इस पृथ्वीको भी रक्तसे मलिन और आँतसे लिपटी हुई देखा है ३२

अस्थिसंचयमारूढश्चामितौजा युधिष्ठिरः।
सुवर्णपात्र्यां संहृष्टो भुक्तवान् घृतपायसम् ॥ ३३ ॥

'मैंने स्वप्नमें देखा, अमिततेजस्वी युधिष्ठिर सफेद हड्डियोंके ढेरपर बैठे हुए हैं और सोनेके पात्रमें रक्खी हुई घृतमिश्रित खीरको बड़ी प्रसन्नताके साथ खा रहे हैं ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरो मया दृष्टो ग्रसमानो वसुन्धराम्।
त्वया दत्तामिमां व्यक्तं भोक्ष्यते स वसुन्धराम् ।३४।

'मैंने यह भी देखा कि युधिष्ठिर इस पृथ्वीको अपना ग्रास बनाये जा रहे हैं; अतः यह निश्चित है कि आपकी दी हुई वसुन्धराका वे ही उपभोग करेंगे ॥ ३४ ॥

उच्चं पर्वतमारूढो भीमकर्मा वृकोदरः।
गदापाणिर्नरव्याघ्रो ग्रसन्निव महीमिमाम् ॥ ३५ ॥

'भयंकर कर्म करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेन भी हाथमें गदा

लिये ऊँचे पर्वतपर आरूढ़ हो इस पृथ्वीको ग्रसते हुए-से स्वप्नमें दिखायी दिये हैं ॥ ३५ ॥

क्षपयिष्यति नः सर्वान् स सुव्यक्तं महारणे ।
विदितं मे हृषीकेश यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३६ ॥

अतः यह स्पष्टरूपसे जान पड़ता है कि वे इस महायुद्धमें हम सब लोगोंका संहार कर डालेंगे । हृषीकेश ! मुझे यह भी विदित है कि जहाँ धर्म है उसी पक्षकी विजय होती है ॥

पाण्डुरं गजमारूढो गाण्डीवी स धनंजयः ।
त्वया सार्धं हृषीकेश श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ३७ ॥

'श्रीकृष्ण ! इसी प्रकार गाण्डीवधारी धनंजय भी आपके साथ श्वेत गजराजपर आरूढ़ हो अपनी परम कान्तिसे प्रकाशित होते हुए मुझे स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुए हैं ॥ ३७ ॥

यूयं सर्वे वधिष्यध्वं तत्र मे नास्ति संशयः ।
पार्थिवान् समरे कृष्ण दुर्योधनपुरोगमान् ॥ ३८ ॥

'अतः श्रीकृष्ण ! आप सब लोग इस युद्धमें दुर्योधन आदि समस्त राजाओंका वध कर डालेंगे, इसमें मुझे संशय नहीं है ॥

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
शुक्लकेयूरकण्ठत्राः शुक्लमाल्याम्बरावृताः ॥ ३९ ॥
अधिरूढा नरव्याघ्रा नरवाहनमुत्तमम् ।
त्रय एते मया दृष्टाः पाण्डुरच्छत्रवाससः ॥ ४० ॥

'नकुल, सहदेव तथा महारथी सात्यकि—ये तीन नरश्रेष्ठ मुझे स्वप्नमें श्वेत भुजवन्द, श्वेत कण्ठहार, श्वेत वस्त्र और श्वेत मालाओंसे विभूषित हो उत्तम नरयान (पालकी) पर चढ़े दिखायी दिये हैं । ये तीनों ही श्वेत छत्र और श्वेत वस्त्रोंसे सुशोभित थे ॥ ३९-४० ॥

श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते त्रय एते जनार्दन ।
धार्तराष्ट्रेषु सैन्येषु तान् विजानीहि केशव ॥ ४१ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
रक्तोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे माधव पार्थिवाः ॥ ४२ ॥

'जनार्दन ! दुर्योधनकी सेनाओंमेंसे मुझे तीन ही व्यक्ति स्वप्नमें श्वेत पगड़ीसे सुशोभित दिखायी दिये हैं । केशव ! आप उनके नाम मुझसे जान लें । वे हैं—अश्वत्थामा, कृपाचार्य और यादव कृतवर्मा । माधव ! अन्य सब नरेश मुझे लाल पगड़ी धारण किये दिखायी दिये हैं ॥ ४१-४२ ॥

उष्ट्रप्रयुक्तमारूढौ भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
मया सार्धं महाबाहो धार्तराष्ट्रेण वा विभो ॥ ४३ ॥
अगस्त्यशास्तां च दिशं प्रयाताः स्म जनार्दन ।
अचिरेणैव कालेन प्राप्स्यामो यमसादनम् ॥ ४४ ॥

'महाबाहु जनार्दन ! मैंने स्वप्नमें देखा, भीष्म और द्रोणाचार्य दोनों महारथी मेरे तथा दुर्योधनके साथ ऊँट जुते हुए रथपर आरूढ़ हो दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे विभो ! इसका फल यह होगा कि हमलोग थोड़े ही दि यमलोक पहुँच जायँगे ॥ ४३-४४ ॥

अहं चान्ये च राजानो यच्च तत् क्षत्रमण्डलम् ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्याम इति मे नास्ति संशयः॥ ४

'मैं' अन्यान्य नरेश तथा वह सारा क्षत्रियसमाज के-सब गाण्डीवकी अग्निमें प्रवेश कर जायँगे, इसमें संशय नहीं

श्रीकृष्ण उवाच

उपस्थितविनाशेयं नूनमद्य वसुन्धरा ।
यथा हि मे वचः कर्ण नोपैति हृदयं तव ॥ ४

श्रीकृष्ण बोले—कर्ण ! निश्चय ही अब इस पृ विनाशकाल उपस्थित हो गया है ; इसीलिये मेरी बात तु हृदयतक नहीं पहुँचती है ॥ ४६ ॥

सर्वेषां तात भूतानां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ४

तात ! जब समस्त प्राणियोंका विनाश निकट आ है, तब अन्याय भी न्यायके समान प्रतीत होकर हृ निकल नहीं पाता है ॥ ४७ ॥

कर्ण उवाच

अपि त्वां कृष्ण पश्याम जीवन्तोऽस्मान्महारणात् ।
समुत्तीर्णा महाबाहो वीरक्षत्रविनाशनात् ॥ ४

कर्ण बोला—महाबाहु श्रीकृष्ण ! वीर क्षत्रि विनाश करनेवाले इस महायुद्धसे पार होकर यदि हम जी बच गये तो पुनः आपका दर्शन करेंगे ॥ ४८ ॥

अथवा सङ्गमः कृष्ण स्वर्गे नो भविता ध्रुवम् ।
तत्रेदानीं समेष्यामः पुनः सार्धं त्वयानघ ॥ ४

अथवा श्रीकृष्ण ! अब हमलोग स्वर्गमें ही मि यह निश्चित है । अनघ ! वहाँ आजकी ही भाँति पुनः आ हमारी भेंट होगी ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्युक्त्वा माधवं कर्णः परिष्वज्य च पीडितम् ।
विसर्जितः केशवेन रथोपस्थादवातरत् ॥ ५

संजय कहते हैं—ऐसा कहकर कर्ण भगवान् श्रीकृ का प्रगाढ़ आलिङ्गन करके उनसे विदा ले रथके पि भागसे उतर गया ॥ ५० ॥

ततः स्वरथमास्थाय जाम्बूनदविभूषितम् ।
सहास्माभिर्निववृते राधेयो दीनमानसः ॥ ५

तदनन्तर अपने सुवर्णभूषित रथपर आरूढ़ हो रा नन्दन कर्ण दीनचित्त होकर हमलोगोंके साथ लौट आ

ततः शीघ्रतरं प्रायात् केशवः सहसात्यकिः ।

पुनरुच्चारयन् वार्ष्णो याहि याहीति सारथिम् ॥५२॥

तदनन्तर सात्यकिसहित श्रीकृष्ण सारथिसे बार-बार 'चलो-चलो' ऐसा कहते हुए अत्यन्त तीव्र गतिसे उपप्लव्य नगरकी ओर चल दिये ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे कृष्णकर्णसंवादे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने अभिप्राय निवेदनके प्रसङ्गमें
भगवद्वाक्यविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरकी बात सुनकर युद्धके भावी दुष्परिणामसे व्यथित हुई कुन्तीका बहुत सोच-विचारके बाद कर्णके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

असिद्धानुनये कृष्णे कुरुभ्यः पाण्डवान् गते ।
अभिगम्य पृथां क्षत्ता शनैः शोचन्निवाब्रवीत्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब श्रीकृष्ण-का अनुनय असफल हो गया और वे कौरवोंके यहाँसे पाण्डवोंके पास चले गये, तब विदुरजी कुन्तीके पास जाकर शोकमग्न-से हो धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

जानासि मे जीवपुत्रि भावं नित्यमविग्रहे ।
क्रोशतो न च गृह्णीते वचनं मे सुयोधनः ॥ २ ॥

'चिरंजीवी पुत्रोंको जन्म देनेवाली देवि ! तुम तो जानती ही हो कि मेरी इच्छा सदासे यही रही है कि कौरवों और पाण्डवोंमें युद्ध न हो । इसके लिये मैं पुकार-पुकारकर कहता रह गया; परंतु दुर्योधन मेरी बात मानता ही नहीं है ॥

उपपन्नो ह्यसौ राजा चेदिपाञ्चालकेकयैः ।
भीमार्जुनाभ्यां कृष्णेन युयुधानयमैरपि ॥ ३ ॥

'राजा युधिष्ठिर चेदि, पाञ्चाल तथा केकयदेशके वीर सैनिकगण, भीमसेन, अर्जुन, श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा नकुल-सहदेव आदि श्रेष्ठ सहायकोंसे सम्पन्न हैं ॥ ३ ॥

उपप्लव्ये निविष्टोऽपि धर्ममेव युधिष्ठिरः ।
काङ्क्षते ज्ञातिसौहार्दाद् बलवान् दुर्बलो यथा ॥ ४ ॥

'वे युद्धके लिये उद्यत हो उपप्लव्य नगरमें छावनी डालकर बैठे हुए हैं, तथापि भाई-बन्धुओंके सौहार्दवश धर्मकी ही आकाङ्क्षा रखते हैं । बलवान् होकर भी दुर्बलकी भाँति संधि करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

राजा तु धृतराष्ट्रोऽयं वयोवृद्धो न शाम्यति ।
मत्तः पुत्रमदेनैव विधर्मे पथि वर्तते ॥ ५ ॥

'यह राजा धृतराष्ट्र बूढ़े हो जानेपर भी शान्त नहीं हो रहे हैं । पुत्रोंके मदसे उन्मत्त हो अधर्मके मार्गपर ही चलते हैं ॥

जयद्रथस्य कर्णस्य तथा दुःशासनस्य च ।
सौबलस्य च दुर्बुद्ध्या मिथो भेदः प्रपत्स्यते॥ ६ ॥

'जयद्रथ, कर्ण, दुःशासन तथा शकुनिकी खोटी बुद्धिसे कौरव-पाण्डवोंमें परस्पर फूट होकर ही रहेगी ॥ ६ ॥

अधर्मेण हि धर्मिष्ठं कृतं वैकार्यमीदृशम् ।
येषां तेषामयं धर्मः सानुबन्धो भविष्यति ॥ ७ ॥

'(कौरवोंने चौदहवें वर्षमें पाण्डवोंको राज्य लौटा देनेकी प्रतिज्ञा करके भी उसका पालन नहीं किया ।) जिन्हें ऐसा अधर्मजनित कार्य भी, जो परस्पर बिगाड़ करनेवाला है, धर्मसंगत प्रतीत होता है, उनका यह विकृत धर्म सफल होकर ही रहेगा (अधर्मका फल है दुःख और विनाश । वह उन्हें प्राप्त होगा ही) ॥ ७ ॥

क्रियमाणे बलाद् धर्मे कुरुभिः को न संज्वरेत् ।
असाम्ना केशवे याते समुद्योक्ष्यन्ति पाण्डवाः ॥ ८ ॥

'कौरवोंके द्वारा धर्म मानकर किये जानेवाले इस बलात्कारसे किसको चिन्ता नहीं होगी । भगवान् श्रीकृष्ण संधिके प्रयत्नमें असफल होकर गये हैं; अतः पाण्डव भी अब युद्धके लिये महान् उद्योग करेंगे ॥ ८ ॥

ततः कुरूणामनयो भविता वीरनाशनः ।
चिन्तयन् न लभे निद्रामहःसु च निशासु च॥ ९ ॥

'इस प्रकार यह कौरवोंका अन्याय समस्त वीरोंका विनाश करनेवाला होगा । इन सब बातोंको सोचते हुए मुझे न तो दिनमें नींद आती है और न रातमें ही' ॥ ९ ॥

श्रुत्वा तु कुन्ती तद्वाक्यमर्थकामेन भाषितम् ।
सा निःश्वसन्ती दुःखार्ता मनसा विममर्श ह ॥ १० ॥

विदुरजीने उभय पक्षके हितकी इच्छासे ही यह बात कही थी । इसे सुनकर कुन्ती दुःखसे आतुर हो उठी और लम्बी साँस खींचती हुई मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी—॥ १० ॥

धिगस्त्वर्थं यत्कृतेऽयं महान् ज्ञातिवधः कृतः ।
वर्त्स्यते सुहृदां चैव युद्धेऽस्मिन् वै पराभवः ॥११॥

'अहो ! इस धनको धिक्कार है, जिसके लिये परस्पर बन्धु-बान्धवोंका यह महान् संहार किया जानेवाला है । इस युद्धमें अपने सगे-सम्बन्धियोंका भी पराभव होगा ही ॥ ११ ॥

पाण्डवाश्चेदिपञ्चाला यादवाश्च समागताः ।
भारतैः सह योत्स्यन्ति किं नु दुःखमतः परम्॥ १२ ॥

'पाण्डव, चेदि, पाञ्चाल और यादव एकत्र होकर भरतवंशियोंके साथ युद्ध करेंगे, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ १२ ॥

पश्ये दोषं ध्रुवं युद्धे तथायुद्धे पराभवम् ।
अधनस्य मृतं श्रेयो न हि ज्ञातिक्षयो जयः ॥ १३ ॥

'युद्धमें निश्चय ही मुझे बड़ा भारी दोष दिखायी देता है; परंतु युद्ध न होनेपर भी पाण्डवोंका पराभव स्पष्ट है। निर्धन होकर मृत्युको वरण कर लेना अच्छा है; परंतु बन्धु-बान्धवोंका विनाश करके विजय पाना कदापि अच्छा नहीं है ॥ १३॥

इति मे चिन्तयन्त्या वै हृदि दुःखं प्रवर्तते ।
पितामहः शान्तनव आचार्यश्च युधां पतिः ॥ १४ ॥
कर्णश्च धार्तराष्ट्रार्थं वर्धयन्ति भयं मम ।

'यह सब सोचकर मेरे हृदयमें बड़ा दुःख हो रहा है। शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, योद्धाओंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण तथा कर्ण भी दुर्योधनके लिये ही युद्ध-भूमिमें उतरेंगे; अतः ये मेरे भयकी ही वृद्धि कर रहे हैं ॥ १४½ ॥

नाचार्यः कामवान् शिष्यैर्द्रोणो युद्ध्येत जातुचित्१५
पाण्डवेषु कथं हार्दं कुर्यान्न च पितामहः ।

'आचार्य द्रोण तो सदा हमारे हितकी इच्छा रखनेवाले हैं। वे अपने शिष्योंके साथ कभी युद्ध नहीं कर सकते । इसी प्रकार पितामह भीष्म भी पाण्डवोंके प्रति हार्दिक स्नेह कैसे नहीं रक्खेंगे ? ॥ १५½ ॥

अयं त्वेको वृथादृष्टिर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ १६ ॥
मोहानुवर्ती सततं पापो द्वेष्टि च पाण्डवान् ।

'परंतु यह एक मात्र मिथ्यादर्शी कर्ण मोहवश सदा दुर्बुद्धि दुर्योधनका ही अनुसरण करनेवाला है । इसीलिये यह पापात्मा सर्वदा पाण्डवोंसे द्वेष ही रखता है ॥ १६½ ॥

महत्यनर्थे निर्बन्धी बलवांश्च विशेषतः ॥ १७ ॥
कर्णः सदा पाण्डवानां तन्मे दहति सम्प्रति ।
आशंसे त्वद्य कर्णस्य मनोऽहं पाण्डवान् प्रति ॥१८॥
प्रसादयितुमासाद्य दर्शयन्ती यथातथम् ।

'इसने सदा पाण्डवोंका बड़ा भारी अनर्थ करनेके लिये हठ ठान लिया है । साथ ही कर्ण अत्यन्त बलवान् भी है। यह बात इस समय मेरे हृदयको दग्ध किये देती है । अच्छा, आज मैं कर्णके मनको पाण्डवोंके प्रति प्रसन्न करनेके लिये उसके पास जाऊँगी और यथार्थ सम्बन्धका परिचय देती हुई उससे बातचीत करूँगी ॥ १७-१८½ ॥

तोषितो भगवान् यत्र दुर्वासा मे वरं ददौ ॥ १९ ॥
आह्वानं मन्त्रसंयुक्तं वसन्त्याः पितृवेश्मनि ।
साहमन्तःपुरे राज्ञः कुन्तिभोजपुरस्कृता ॥ २० ॥
चिन्तयन्ती बहुविधं हृदयेन विदूयता ।
बलाबलं च मन्त्राणां ब्राह्मणस्य च वाग्बलम्॥ २१ ॥

'जब मैं पिताके घर रहती थी, उन्हीं दिनों सेवाओंद्वारा मैंने भगवान् दुर्वासाको संतुष्ट किया और मुझे यह वर दिया कि मन्त्रोच्चारणपूर्वक आवाहन मैं किसी भी देवताको अपने पास बुला सकती हूँ। पिता कुन्तिभोज मेरा बड़ा आदर करते थे । मैं अन्तःपुरमें रहकर व्यथित हृदयसे मन्त्रोंके बलाबल ब्राह्मणकी वाक्शक्तिके विषयमें अनेक प्रकारका करने लगी ॥ १९–२१ ॥

स्त्रीभावाद् बालभावाच्च चिन्तयन्ती पुनः पुनः।
धात्र्या विस्रब्धया गुप्ता सखीजनवृता तदा ॥

'स्त्री-स्वभाव और बाल्यावस्थाके कारण मैं बार-बार प्रश्नको लेकर चिन्तामग्न रहने लगी । उन दिनों विश्वस्त धाय मेरी रक्षा करती थी और सखियाँ मुझे सदा रहती थीं ॥ २२ ॥

दोषं परिहरन्ती च पितुश्चारित्र्यरक्षिणी ।
कथं नु सुकृतं मे स्यान्नापराधवती कथम् ॥
भवेयमिति संचिन्त्य ब्राह्मणं तं नमस्य च ।
कौतूहलात् तु तं लब्ध्वा बालिश्यादाचरं तदा ।
कन्या सती देवमर्कमासादयमहं ततः ॥

'मैं अपने ऊपर आनेवाले सब प्रकारके दोषोंका करती हुई पिताकी दृष्टिमें अपने सदाचारकी रक्षा रहती थी। मैंने सोचा, क्या करूँ, जिससे मुझे पुण्य हो और अपराधिनी न होऊँ। यह सोचकर मैंने मन-ही-मन उन देवताको नमस्कार किया और उस मन्त्रको पाकर कौतूहल अविवेकके कारण मैंने उसका प्रयोग आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि कन्यावस्थामें ही मुझे भगवान् का संयोग प्राप्त हुआ ॥ २३-२४ ॥

योऽसौ कानीनगर्भो मे पुत्रवत् परिरक्षितः ।
कस्मान्न कुर्याद् वचनं पथ्यं भ्रातृहितं तथा ॥ २५

'जो मेरा कानीन गर्भ है, इसे मैंने पुत्रकी भाँति उदरमें पाला है । वह कर्ण अपने भाइयोंके हितके लिये हुई मेरी लाभदायक बात क्यों नहीं मानेगा ?' ॥ २५ ॥

इति कुन्ती विनिश्चित्य कार्यनिश्चयमुत्तमम् ।
कार्यार्थमभिनिश्चित्य ययौ भागीरथीं प्रति ॥ २६

इस प्रकार उत्तम कर्तव्यका निश्चय करके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये एक निर्णयपर पहुँचकर भागीरथी गङ्गाके तटपर गयी ॥ २६ ॥

आत्मजस्य ततस्तस्य घृणिनः सत्यसङ्गिनः ।
गङ्गातीरे पृथाश्रौषीद् वेदाध्ययननिःस्वनम् ॥ २७

वहाँ गङ्गाके किनारे पहुँचकर कुन्तीने अपने दयालु सत्यपरायण पुत्र कर्णके मुखसे वेदपाठकी गम्भीर ध्वनि सुनी

प्राङ्मुखस्योर्ध्वबाहोः सा पर्यतिष्ठत पृष्ठतः ।
जप्यावसानं कार्यार्थं प्रतीक्षन्ती तपस्विनी ॥ २८ ॥

वह अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर पूर्वाभिमुख हो जप कर रहा था और तपस्विनी कुन्ती उसके जपकी समाप्तिकी प्रतीक्षा करती हुई कार्यवश उसके पीछेकी ओर खड़ी रही ॥ २८ ॥

अतिष्ठत् सूर्यतापार्ता कर्णस्योत्तरवाससि ।
कौरव्यपत्नी वार्ष्णेयी पद्ममालेव शुष्यती ॥ २९ ॥

वृष्णिकुलनन्दिनी पाण्डुपत्नी कुन्ती वहाँ सूर्यदेवके तापसे पीड़ित हो कुम्हलाती हुई कमलमालाके समान कर्णके उत्तरीय वस्त्रकी छायामें खड़ी हो गयी ॥ २९ ॥

आपृष्ठतापाज्जप्त्वा स परिवृत्य यतव्रतः ।
दृष्ट्वा कुन्तीमुपातिष्ठदभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥

जबतक सूर्यदेव पीठकी ओर ताप न देने लगे (जबतक वे पूर्वसे पश्चिमकी ओर चले नहीं गये); तबतक जप करके नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाला कर्ण जब पीछेकी ओर घूमा, तब कुन्तीको सामने पाकर उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनके पास खड़ा हो गया ॥ ३० ॥

यथान्यायं महातेजा मानी धर्मभृतां वरः ।
उत्स्मयन् प्रणतः प्राह कुन्तीं वैकर्तनो वृषः ॥ ३१ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ, अभिमानी और महातेजस्वी सूर्यपुत्र कर्ण जिसका दूसरा नाम वृष भी था, कुन्तीको यथोचित रीतिसे प्रणाम करके मुसकराता हुआ बोला ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका कर्णको अपना प्रथम पुत्र बताकर उससे पाण्डवपक्षमें मिल जानेका अनुरोध

कर्ण उवाच

राधेयोऽहमाधिरथिः कर्णस्त्वामभिवादये ।
प्राप्ता किमर्थं भवती ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥

कर्ण बोला—देवि ! मैं राधा तथा अधिरथका पुत्र कर्ण हूँ और आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ । आपने किस लिये यहाँतक आनेका कष्ट किया है ? बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १ ॥

कुन्त्युवाच

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता ।
नासि सूतकुले जातः कर्ण तद् विद्धि मे वचः ॥ २ ॥

कुन्तीने कहा—कर्ण ! तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो । तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं और तुम सूतकुलमें नहीं उत्पन्न हुए हो । मेरी इस बातको ठीक मानो ॥ २ ॥

कानीनस्त्वं मया जातः पूर्वजः कुक्षिणा धृतः ।
कुन्तिराजस्य भवने पार्थस्त्वमसि पुत्रक ॥ ३ ॥

तुम कन्यावस्थामें मेरे गर्भसे उत्पन्न हुए प्रथम पुत्र हो । महाराज कुन्तिभोजके घरमें रहते समय मैंने तुम्हें गर्भमें धारण किया था; अतः बेटा ! तुम पार्थ हो ॥ ३ ॥

प्रकाशकर्मा तपनो योऽयं देवो विरोचनः ।
अजीजनत् त्वां मय्येष कर्ण शस्त्रभृतां वरम् ॥ ४ ॥

कर्ण ! ये जो जगत्में प्रकाश और उष्णता प्रदान करनेवाले भगवान् सूर्यदेव हैं, इन्होंने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तुम-जैसे वीर पुत्रको मेरे गर्भसे उत्पन्न किया है ॥ ४ ॥

कुण्डली बद्धकवचो देवगर्भः श्रिया वृतः ।
जातस्त्वमसि दुर्धर्ष मया पुत्र पितुर्गृहे ॥ ५ ॥

दुर्धर्ष पुत्र ! मैंने पिताके घरमें तुम्हें जन्म दिया था । तुम जन्मकालसे ही कुण्डल और कवच धारण किये देवबालकके समान शोभासम्पन्न रहे हो ॥ ५ ॥

स त्वं भ्रातॄनसम्बुद्ध्य मोहाद् यदुपसेवसे ।
धार्तराष्ट्रान् न तद् युक्तं त्वयि पुत्र विशेषतः ॥ ६ ॥

बेटा ! तुम जो अपने भाइयोंसे अपरिचित रहकर मोहवश धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी सेवा कर रहे हो, वह तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

एतद् धर्मफलं पुत्र नराणां धर्मनिश्चये ।
यत् तुष्यन्त्यस्य पितरो माता चाप्येकदर्शिनी ॥ ७ ॥

बेटा ! धर्मशास्त्रमें मनुष्योंके लिये यही धर्मका उत्तम फल बताया गया है कि उनके पिता आदि गुरुजन तथा एक मात्र पुत्रपर ही दृष्टि रखनेवाली माता उनसे संतुष्ट रहें ॥ ७ ॥

अर्जुनेनार्जितां पूर्वं हृतां लोभादसाधुभिः ।
आच्छिद्य धार्तराष्ट्रेभ्यो भुङ्क्ष्व यौधिष्ठिरीं श्रियम् ॥ ८ ॥

अर्जुनने पूर्वकालमें जिसका उपार्जन किया था और दुष्टोंने लोभवश जिसे हर लिया है, युधिष्ठिरकी उस राज्यलक्ष्मीको तुम धृतराष्ट्रपुत्रोंसे छीनकर भाइयोंसहित उसका उपभोग करो ॥ ८ ॥

अद्य पश्यन्ति कुरवः कर्णार्जुनसमागमम् ।
सौभ्रात्रेण समालक्ष्य संनमन्तामसाधवः ॥ ९ ॥

आज उत्तम बन्धुजनोचित स्नेहके साथ कर्ण और अर्जुनका मिलन कौरवलोग देखें और इसे देखकर दुष्टलोग नतमस्तक हों ॥ ९ ॥

कर्णार्जुनौ वै भवेतां यथा रामजनार्दनौ ।
असाध्यं किं तु लोके स्याद् युवयोःसंहितात्मनोः॥ १० ॥

कर्ण और अर्जुन दोनों मिलकर वैसे ही बलशाली हैं जैसे बलराम और श्रीकृष्ण । बेटा ! तुम दोनों हृदयसे संगठित हो जाओ तो इस जगत्में तुम्हारे लिये कौन-सा कार्य असाध्य होगा ? ॥ १० ॥

कर्ण शोभिष्यसे नूनं पञ्चभिर्भ्रातृभिर्वृतः ।
देवैः परिवृतो ब्रह्मा वेद्यामिव महाध्वरे ॥ ११ ॥

कर्ण ! जिस प्रकार महान् यज्ञकी वेदीपर देवग घिरे हुए ब्रह्माजी सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अपने पाँ भाइयोंसे घिरे हुए तुम भी शोभा पाओगे ॥ ११ ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैर्ज्येष्ठः श्रेष्ठेषु बन्धुषु ।
सूतपुत्रेति मा शब्दः पार्थस्त्वमसि वीर्यवान् ॥ १२

अपने श्रेष्ठ स्वभाववाले बन्धुओंके बीचमें तुम सर्वगु सम्पन्न ज्येष्ठ भ्राता परम पराक्रमी कुन्तीपुत्र कर्ण हो तुम्हारे लिये सूतपुत्र शब्दका प्रयोग नहीं होना चाहिये॥१२

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटके प्रसङ्गमें एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४५

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका कुन्तीको उत्तर तथा अर्जुनको छोड़कर शेष चारों पाण्डवोंको न मारनेकी प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

ततः सूर्यान्निश्चरितां कर्णः शुश्राव भारतीम् ।
दुरत्ययां प्रणयिनीं पितृवद् भास्करेरिताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सूर्यमण्डलसे एक वाणी प्रकट हुई, जो सूर्यदेवकी ही कही हुई थी । उसमें पिताके समान स्नेह भरा हुआ था और वह दुर्लङ्घ्य प्रतीत होती थी । कर्णने उसे सुना ॥ १ ॥

सत्यमाह पृथा वाक्यं कर्ण मातृवचः कुरु ।
श्रेयस्ते स्यान्नरव्याघ्र सर्वमाचरतस्तथा ॥ २ ॥

(वह वाणी इस प्रकार थी–) 'नरश्रेष्ठ कर्ण ! कुन्ती सत्य कहती है । तुम माताकी आज्ञाका पालन करो । उसका पूर्णरूपसे पालन करनेपर तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य मात्रा च स्वयं पित्रा च भानुना ।
चचाल नैव कर्णस्य मतिः सत्यधृतेस्तदा ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माता कुन्ती और पिता साक्षात् सूर्यदेवके ऐसा कहनेपर भी उस समय सच्चे धैर्यवाले कर्णकी बुद्धि विचलित नहीं हुई ॥ ३ ॥

कर्ण उवाच

न चैतच्छ्रद्दधे वाक्यं क्षत्रिये भाषितं त्वया ।
धर्मद्वारं ममैतत् स्यान्नियोगकरणं तव ॥ ४ ॥

कर्ण बोला—राजपुत्रि ! तुमने जो कुछ कहा है, उसपर मेरी श्रद्धा नहीं होती । तुम्हारी इस आज्ञाका पालन करना मेरे लिये धर्मका द्वार है, इसपर भी मैं विश्वास नहीं करता ॥ ४ ॥

अकरोन्मयि यत् पापं भवती सुमहात्ययम् ।
अपाकीर्णोऽस्मि यन्मातस्तद् यशःकीर्तिनाशनम् ॥५॥

तुमने मेरे प्रति जो अत्याचार किया है, वह महान् कष्टदायक है । माता ! तुमने जो मुझे पानीमें फेंक दिय वह मेरे लिये यश और कीर्तिका नाशक बन गया ॥ ५ ॥

अहं चेत् क्षत्रियो जातो न प्राप्तः क्षत्रसत्क्रियाम् ।
त्वत्कृते किं नु पापीयः शत्रुः कुर्यान्ममाहितम् ॥ ६ ।

यद्यपि मैं क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ था तो भी तुम्हा कारण क्षत्रियोचित संस्कारसे वञ्चित रह गया । कोई शत्रु भी मेरा इससे बढ़कर कष्टदायक एवं अहितकारक कार्य औ क्या कर सकता है ? ॥ ६ ॥

क्रियाकाले त्वनुक्रोशमकृत्वा त्वमिमं मम ।
हीनसंस्कारसमयमद्य मां समचूचुदः ॥ ७ ॥

जब मेरे लिये कुछ करनेका अवसर था, उस समय तो तुमने यह दया नहीं दिखायी और आज जब मेरे संस्कारका समय बीत गया है, ऐसे समयमें तुम मुझे क्षात्रधर्मकी ओर प्रेरित करने चली हो ॥ ७ ॥

न वै मम हितं पूर्वं मातृवच्चेष्टितं त्वया ।
सा मां सम्बोधयस्यद्य केवलात्महितैषिणी ॥ ८ ॥

पूर्वकालमें तुमने माताके समान मेरे हितकी चेष्टा कभी नहीं की और आज केवल अपने हितकी कामना रखकर मुझे मेरे कर्तव्यका उपदेश दे रही हो ॥ ८ ॥

कृष्णेन सहितात् को वै न व्यथेत धनंजयात् ।
कोऽद्य भीतं न मां विद्यात् पार्थानां समितिं गतम् ॥

श्रीकृष्णके साथ मिले हुए अर्जुनसे आज कौन वीर भय मानकर पीड़ित नहीं होता ? यदि इस समय मैं पाण्डवोंकी सभामें सम्मिलित हो जाऊँ तो मुझे कौन भयभीत नहीं समझेगा ? ॥ ९ ॥

अभ्राता विदितः पूर्वं युद्धकाले प्रकाशितः ।
पाण्डवान् यदि गच्छामि किं मां क्षत्रं वदिष्यति ॥

आजसे पहले मुझे कोई नहीं जानता था कि मैं पाण्डवों-

का भाई हूँ। युद्धके समय मेरा यह सम्बन्ध प्रकाशमें आया है। इस समय यदि पाण्डवोंसे मिल जाऊँ तो क्षत्रियसमाज मुझे क्या कहेगा ? ॥ १० ॥

सर्वकामैः संविभक्तः पूजितश्च यथासुखम् ।
अहं वै धार्तराष्ट्राणां कुर्यां तदफलं कथम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने मुझे सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ दी हैं और मुझे सुखपूर्वक रखते हुए सदा मेरा सम्मान किया है। उनके उस उपकारको मैं निष्फल कैसे कर सकता हूँ ? ॥ ११ ॥

उपनह्य परैर्वैरं ये मां नित्यमुपासते ।
नमस्कुर्वन्ति च सदा वसवो वासवं यथा ॥ १२ ॥
मम प्राणेन ये शत्रूञ्शक्ताः प्रतिसमासितुम् ।
मन्यन्ते ते कथं तेषामहं छिन्द्यां मनोरथम् ॥ १३ ॥

शत्रुओंसे वैर बाँधकर जो नित्य मेरी उपासना करते हैं तथा जैसे वसुगण इन्द्रको प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार जो सदा मुझे मस्तक झुकाते हैं, मेरी ही प्राणशक्तिके भरोसे जो शत्रुओंके सामने डटकर खड़े होनेका साहस करते हैं और इसी आशासे जो मेरा आदर करते हैं, उनके मनोरथको मैं छिन्न-भिन्न कैसे करूँ ? ॥ १२-१३ ॥

मया प्लवेन संग्रामं तितीर्षन्ति दुरत्ययम् ।
अपारे पारकामा ये त्यजेयं तानहं कथम् ॥ १४ ॥

जो मुझको ही नौका बनाकर उसके सहारे दुर्लङ्घ्य समरसागरको पार करना चाहते हैं और मेरे ही भरोसे अपार संकटसे पार होनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें इस संकटके समयमें कैसे त्याग दूँ ? ॥ १४ ॥

अयं हि कालः सम्प्राप्तो धार्तराष्ट्रोपजीविनाम् ।
निर्वेष्टव्यं मया तत्र प्राणानपरिरक्षता ॥ १५ ॥

दुर्योधनके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करनेवालोंके लिये यही उपकारका बदला चुकानेके योग्य अवसर आया है। इस समय मुझे अपने प्राणोंकी रक्षा न करते हुए उनके ऋणसे उऋण होना है ॥ १५ ॥

कृतार्थाः सुभृता ये हि कृत्यकाले ह्युपस्थिते ।
अनवेक्ष्य कृतं पापा विकुर्वन्त्यनवस्थिताः ॥ १६ ॥
राजकिल्बिषिणां तेषां भर्तृपिण्डापहारिणाम् ।
नैवायं न परो लोको विद्यते पापकर्मणाम् ॥ १७ ॥

जो किसीके द्वारा अच्छी तरह पालित-पोषित होकर कृतार्थ होते हैं; परंतु उस उपकारका बदला चुकाने योग्य समय आनेपर जो अस्थिरचित्त पापात्मा पुरुष पूर्वकृत उपकारोंको न देखकर बदल जाते हैं, वे स्वामीके अन्नका अपहरण करनेवाले तथा उपकारी राजाके प्रति अपराधी हैं। उन पापाचारी कृतघ्नोंके लिये न तो यह लोक सुखद होता है न परलोक ही ॥ १६-१७ ॥

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामर्थे योत्स्यामि ते सुतैः ।
बलं च शक्तिं चास्थाय न वै त्वय्यनृतं वदे ॥ १८ ॥

मैं तुमसे झूठ नहीं बोलता। धृतराष्ट्रके पुत्रोंके लिये मैं अपनी शक्ति और बलके अनुसार तुम्हारे पुत्रोंके साथ युद्ध अवश्य करूँगा ॥ १८ ॥

आनृशंस्यमथो वृत्तं रक्षन् सत्पुरुषोचितम् ।
अतोऽर्थकरमप्येतन्न करोम्यद्य ते वचः ॥ १९ ॥

परंतु उस दशामें भी दयालुता तथा सज्जनोचित सदाचारकी रक्षा करता रहूँगा। इसीलिये लाभदायक होते हुए भी तुम्हारे इस आदेशको आज मैं नहीं मानूँगा ॥ १९ ॥

न च तेऽयं समारम्भो मयि मोघो भविष्यति ।
वध्यान् विषह्यान् संग्रामे न हनिष्यामि ते सुतान् ॥
युधिष्ठिरं च भीमं च यमौ चैवार्जुनादृते ।
अर्जुनेन समं युद्धमपि यौधिष्ठिरे बले ॥ २१ ॥

परंतु मेरे पास आनेका जो कष्ट तुमने उठाया है, वह भी व्यर्थ नहीं होगा। संग्राममें तुम्हारे चार पुत्रोंको काबूके अंदर तथा वधके योग्य अवस्थामें पाकर भी मैं नहीं मारूँगा। वे चार हैं, अर्जुनको छोड़कर युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव। युधिष्ठिरकी सेनामें अर्जुनके साथ ही मेरा युद्ध होगा ॥ २०-२१ ॥

अर्जुनं हि निहत्याजौ सम्प्राप्तं स्यात् फलं मया ।
यशसा चापि युज्येयं निहतः सव्यसाचिना ॥ २२ ॥

अर्जुनको युद्धमें मार देनेपर मुझे संग्रामका फल प्राप्त हो जायगा अथवा स्वयं ही सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मारा जाकर मैं यशका भागी बनूँगा ॥ २२ ॥

न ते जातु न शिष्यन्ति पुत्राः पञ्च यशस्विनि ।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि ॥ २३ ॥

यशस्विनि ! किसी भी दशामें तुम्हारे पाँच पुत्र अवश्य शेष रहेंगे। यदि अर्जुन मारे गये तो कर्णसहित और यदि मैं मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पाँच पुत्र रहेंगे ॥ २३ ॥

इति कर्णवचः श्रुत्वा कुन्ती दुःखात् प्रवेपती ।
उवाच पुत्रमाश्लिष्य कर्णं धैर्यादकम्पनम् ॥ २४ ॥

कर्णकी यह बात सुनकर कुन्ती धैर्यसे विचलित न होनेवाले अपने पुत्र कर्णको हृदयसे लगाकर दुःखसे काँपती हुई बोली— ॥ २४ ॥

एवं वै भाव्यमेतेन क्षयं यास्यन्ति कौरवाः ।
यथा त्वं भाषसे कर्ण दैवं तु बलवत्तरम् ॥ २५ ॥

'कर्ण ! दैव बड़ा बलवान् है। तुम जैसा कहते हो वैसा ही हो। इस युद्धके द्वारा कौरवोंका संहार होगा ॥ २५ ॥

त्वया चतुर्णां भ्रातॄणामभयं शत्रुकर्शन ।
दत्तं तत् प्रतिजानीहि संगरप्रतिमोचनम् ॥ २६ ॥

'शत्रुसूदन ! तुमने अपने चार भाइयोंको अभयदान दिया है । युद्धमें उन्हें छोड़ देनेकी प्रतिज्ञापर दृढ़ रहना ॥

अनामयं स्वस्ति चेति पृथाथो कर्णमब्रवीत् ।
तां कर्णोऽथ तथेत्युक्त्वा ततस्तौ जग्मतुः पृथक् ॥

'तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हें किसी प्रकारका कष्ट न हो' इस प्रकार जब कुन्तीने कर्णसे कहा, तब कर्णने भी 'तथास् कहकर उसकी बात मान ली । फिर वे दोनों पृथक्-पृ अपने स्थानको चले गये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटविषयक
एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पूछनेपर श्रीकृष्णका कौरवसभामें व्यक्त किये हुए भीष्मजीके वचन सुनाना

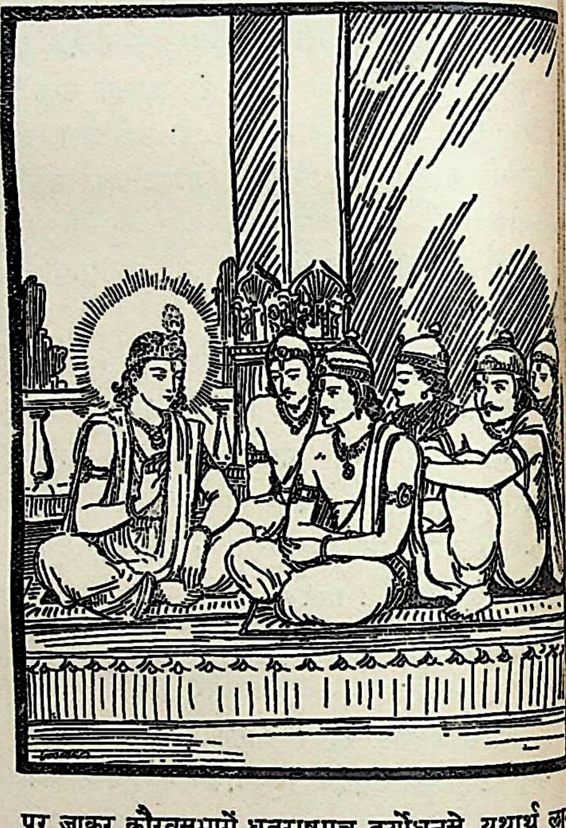

वैशम्पायन उवाच

आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिंदमः ।
पाण्डवानां यथावृत्तं केशवः सर्वमुक्तवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने हस्तिनापुरसे उपप्लव्यमें आकर पाण्डवोंसे वहाँका सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया ॥

सम्भाष्य सुचिरं कालं मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
स्वमेव भवनं शौरिर्विश्रामार्थं जगाम ह ॥ २ ॥

दीर्घकालतक बातचीत करके बारंबार गुप्त मन्त्रणा करनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण विश्रामके लिये अपने वासस्थानको गये ॥ २ ॥

विसृज्य सर्वान् नृपतीन् विराटप्रमुखांस्तदा ।
पाण्डवा भ्रातरः पञ्च भानावस्तं गते सति ॥ ३ ॥
संध्यामुपास्य ध्यायन्तस्तमेव गतमानसाः ।
आनाय्य कृष्णं दाशार्हं पुनर्मन्त्रममन्त्रयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सूर्यास्त होनेपर पाँचों भाई पाण्डव विराट आदि सब राजाओंको विदा करके संध्योपासना करनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णमें ही मन लगाकर कुछ कालतक उन्हींका ध्यान करते रहे । फिर दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णको बुलाकर वे उनके साथ गुप्त मन्त्रणा करने लगे ॥ ३-४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
किमुक्तः पुण्डरीकाक्ष तन्नः शंसितुमर्हसि ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—कमलनयन ! आपने हस्तिनापुर जाकर कौरवसभामें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे क्या कहा, यह हमें बतानेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

वासुदेव उवाच

मया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
तथ्यं पथ्यं हितं चोक्तो न च गृह्णाति दुर्मतिः ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! मैंने हस्तिनापुर जाकर कौरवसभामें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे यथार्थ ला दायक और हितकर बात कही थी; परंतु वह दुर्बुद्धि उ स्वीकार ही नहीं करता था ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तस्मिन्नुत्पथमापन्ने कुरुवृद्धः पितामहः ।
किमुक्तवान् हृषीकेश दुर्योधनममर्षणम् ॥ ७

युधिष्ठिरने पूछा—हृषीकेश ! दुर्योधनके कुमार्ग आश्रय लेनेपर कुरुकुलके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मने ई और अमर्षमें भरे हुए दुर्योधनसे क्या कहा ? ॥ ७ ॥

आचार्यो वा महाभाग भारद्वाजः किमब्रवीत् ।
पिता वा धृतराष्ट्रस्तं गान्धारी वा किमब्रवीत् ॥ ८

महाभाग ! भरद्वाजनन्दन आचार्य द्रोणने उस स

क्या कहा ? पिता धृतराष्ट्र और माता गान्धारीने भी दुर्योधनसे उस समय क्या बात कही ? ॥ ८ ॥

पिता यवीयानस्माकं क्षत्ता धर्मविदां वरः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः किमाह धृतराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥

हमारे छोटे चाचा धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विदुरने भी, जो हम पुत्रोंके शोकसे सदा संतप्त रहते हैं, दुर्योधनसे क्या कहा ? ९

किं च सर्वे नृपतयः सभायां ये समासते ।
उक्तवन्तो यथातत्त्वं तद् ब्रूहि त्वं जनार्दन ॥ १० ॥

जनार्दन ! इसके सिवा जो समस्त राजालोग सभामें बैठे थे, उन्होंने अपना विचार किस रूपमें प्रकट किया ? आप इन सब बातोंको ठीक-ठीक बताइये ॥ १० ॥

उक्तवान् हि भवान् सर्वं वचनं कुरुमुख्ययोः ।
धार्तराष्ट्रस्य तेषां हि वचनं कुरुसंसदि ॥ ११ ॥
कामलोभाभिभूतस्य मन्दस्य प्राज्ञमानिनः ।
अप्रियं हृदये मह्यं तन्न तिष्ठति केशव ॥ १२ ॥

कृष्ण ! आपने कौरवसभामें निश्चय ही कुरुश्रेष्ठ भीष्म और धृतराष्ट्रके समीप सब बातें कह दी थीं । परंतु आपकी और उनकी उन सब बातोंको मेरे लिये हितकर होनेके कारण अपने लिये अप्रिय मानकर सम्भवतः काम और लोभसे अभिभूत मूर्ख एवं पण्डितमानी दुर्योधन अपने हृदयमें स्थान नहीं देता ॥ ११-१२ ॥

तेषां वाक्यानि गोविन्द श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ।
यथा च नाभिपद्येत कालस्तात तथा कुरु ।
भवान् हि नो गतिः कृष्ण भवान् नाथो भवान् गुरुः ॥

गोविन्द ! मैं उन सबकी कही हुई बातोंको सुनना चाहता हूँ । तात ! ऐसा कीजिये, जिससे हमलोगोंका समय व्यर्थ न बीते । श्रीकृष्ण ! आप ही हमलोगोंके आश्रय, आप ही रक्षक तथा आप ही गुरु हैं ॥ १३ ॥

वासुदेव उवाच

शृणु राजन् यथा वाक्यमुक्तो राजा सुयोधनः ।
मध्ये कुरूणां राजेन्द्र सभायां तन्निबोध मे ॥ १४ ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजेन्द्र ! मैंने कौरवसभामें राजा दुर्योधनसे जिस प्रकार बातें की हैं, वह बताता हूँ; सुनिये १४

मया विश्राविते वाक्ये जहास धृतराष्ट्रजः ।
अथ भीष्मः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

मैंने जब अपनी बात दुर्योधनसे सुनायी, तब वह हँसने लगा । यह देख भीष्मजी अत्यन्त कुपित हो उससे इस प्रकार बोले—॥ १५ ॥

दुर्योधन निबोधेदं कुलार्थे यद् ब्रवीमि ते ।
तच्छ्रुत्वा राजशार्दूल स्वकुलस्य हितं कुरु ॥ १६ ॥

'दुर्योधन ! मैं अपने कुलके हितके लिये तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो । नृपश्रेष्ठ ! उसे सुनकर अपने कुलका हितसाधन करो ॥ १६ ॥

मम तात पिता राजन् शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
तस्याहमेक एवासं पुत्रः पुत्रवतां वरः ॥ १७ ॥

'तात ! मेरे पिता शान्तनु विश्वविख्यात नरेश थे, जो पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे । राजन् ! मैं उनका इकलौता पुत्र था ॥ १७ ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना द्वितीयः स्यात् कथं सुतः ।
एकपुत्रमपुत्रं वै प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १८ ॥

'अतः उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'मेरे दूसरा पुत्र कैसे हो ? क्योंकि मनीषी पुरुष एक पुत्रवालेको पुत्रहीन ही बताते हैं ॥ १८ ॥

न चोच्छेदं कुलं यायाद् विस्तीर्येच्च कथं यशः ।
तस्याहमीप्सितं बुद्ध्वा कालीं मातरमावहम् ॥ १९ ॥
प्रतिज्ञां दुष्करां कृत्वा पितुरर्थे कुलस्य च ।
अराजा चोर्ध्वरेताश्च यथा सुविदितं तव ।
प्रतीतो निवसाम्येष प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २० ॥

'किस प्रकार इस कुलका उच्छेद न हो और इसके यशका सदा विस्तार होता रहे'—उनकी आन्तरिक इच्छा जानकर मैं कुलकी भलाई और पिताकी प्रसन्नताके लिये राजा न होने और जीवनभर ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) रहनेकी दुष्कर प्रतिज्ञा करके माता काली (सत्यवती) को ले आया । ये सारी बातें तुमको अच्छी तरह ज्ञात हैं । मैं उसी प्रतिज्ञाका पालन करता हुआ सदा प्रसन्नतापूर्वक यहाँ निवास करता हूँ ॥ १९-२० ॥

तस्यां जज्ञे महाबाहुः श्रीमान् कुरुकुलोद्वहः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कनीयान् मम पार्थिव ॥ २१ ॥

'राजन् ! सत्यवतीके गर्भसे कुरुकुलका भार वहन करनेवाले धर्मात्मा महाबाहु श्रीमान् विचित्रवीर्य उत्पन्न हुए, जो मेरे छोटे भाई थे ॥ २१ ॥

स्वर्याते ऽहं पितरि तं स्वराज्ये संन्यवेशयम् ।
विचित्रवीर्यं राजानं भृत्यो भूत्वा ह्यधश्चरः ॥ २२ ॥

'पिताके स्वर्गवासी हो जानेपर मैंने अपने राज्यपर राजा विचित्रवीर्यको ही बिठाया और स्वयं उनका सेवक होकर राज्यसिंहासनसे नीचे खड़ा रहा ॥ २२ ॥

तस्याहं सदृशान् दारान् राजेन्द्र समुपाहरम् ।
जित्वा पार्थिवसङ्घातमपि ते बहुशः श्रुतम् ॥ २३ ॥

'राजेन्द्र ! उनके लिये राजाओंके समूहको जीतकर मैंने योग्य पत्नियाँ ला दीं । यह वृत्तान्त भी तुमने बहुत बार सुना होगा ॥ २३ ॥

ततो रामेण समरे द्वन्द्वयुद्धमुपागमम् ।
स हि रामभयादेभिर्नागरैर्विप्रवासितः ॥ २४ ॥

'तदनन्तर एक समय मैं परशुरामजीके साथ द्वन्द्वयुद्धके लिये समरभूमिमें उतरा । उन दिनों परशुरामजीके भयसे यहाँके नागरिकोंने राजा विचित्रवीर्यको इस नगरसे दूर हटा दिया था ॥ २४ ॥

दारेष्वप्यतिसक्तश्च यक्ष्माणं समपद्यत ।
यदा त्वराजके राष्ट्रे न ववर्ष सुरेश्वरः ।
तदाभ्यधावन् मामेव प्रजाः क्षुद्भयपीडिताः ॥ २५ ॥

'वे अपनी पत्नियोंमें अधिक आसक्त होनेके कारण राजयक्ष्माके रोगसे पीड़ित हो मृत्युको प्राप्त हो गये । तब बिना राजाके राज्यमें देवराज इन्द्रने वर्षा बंद कर दी, उस दशामें सारी प्रजा क्षुधाके भयसे पीड़ित हो मेरे ही पास दौड़ी आयी ॥'

प्रजा ऊचुः

उपक्षीणाः प्रजाः सर्वा राजा भव भवाय नः ।
ईतीः प्रणुद भद्रं ते शान्तनोः कुलवर्धन ॥ २६ ॥

प्रजा बोली—शान्तनुके कुलकी वृद्धि करनेवाले महाराज ! आपका कल्याण हो । राज्यकी सारी प्रजा क्षीण होती चली जा रही है । आप हमारे अभ्युदयके लिये राजा होना स्वीकार करें और अनावृष्टि आदि ईतियोंका भय दूर कर दें ॥ २६ ॥

पीड्यन्ते ते प्रजाः सर्वा व्याधिभिर्भृशदारुणैः ।
अल्पावशिष्टा गाङ्गेय ताः परित्रातुमर्हसि ॥ २७ ॥

गङ्गानन्दन ! आपकी सारी प्रजा अत्यन्त भयंकर रोगोंसे पीडित है । प्रजाओंमेंसे बहुत थोड़े लोग जीवित बचे हैं । अतः आप उन सबकी रक्षा करें ॥ २७ ॥

व्याधीन् प्रणुद वीर त्वं प्रजा धर्मेण पालय ।
त्वयि जीवति मा राष्ट्रं विनाशमुपगच्छतु ॥ २८ ॥

वीर ! आप रोगोंको हटावें और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करें । आपके जीते-जी इस राज्यका विनाश न हो जाय ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

प्रजानां क्रोशतीनां वै नैवाक्षुभ्यत मे मनः ।
प्रतिज्ञां रक्षमाणस्य सद् वृत्तं स्मरतस्तथा ॥ २९ ॥

भीष्म कहते हैं—प्रजाओंकी यह करुण पुकार सुनकर भी प्रतिज्ञाकी रक्षा और सदाचारका स्मरण करके मेरा मन क्षुब्ध नहीं हुआ ॥ २९ ॥

ततः पौरा महाराज माता काली च मे शुभा ।
भृत्याः पुरोहिताचार्या ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
मामूचुर्भृशसंतप्ता भव राजेति संततम् ॥ ३० ॥
प्रतीपरक्षितं राष्ट्रं त्वां प्राप्य विनशिष्यति ।
स त्वमस्मद्धितार्थं वै राजा भव महामते ॥ ३१ ॥

महाराज ! तदनन्तर मेरी कल्याणमयी माता सत्यव पुरवासी, सेवक, पुरोहित, आचार्य और बहुश्रुत ब्राह अत्यन्त संतप्त हो मुझसे बार-बार कहने लगे—'तुम्हीं रा होओ, नहीं तो महाराज प्रतीपके द्वारा सुरक्षित राष्ट्र तुम् निकट पहुँचकर नष्ट हो जायगा । अतः महामते ! तुम ह हितके लिये राजा हो जाओ' ॥ ३०-३१ ॥

इत्युक्तः प्राञ्जलिर्भूत्वा दुःखितो भृशमातुरः ।
तेभ्यो न्यवेदयं तत्र प्रतिज्ञां पितृगौरवात् ॥ ३२

उनके ऐसा कहनेपर मैं अत्यन्त आतुर और दुखी गया और मैंने हाथ जोड़कर उन सबसे पिताके महत्त्व ओर दृष्टि रखकर की हुई प्रतिज्ञाके विषयमें निवेदन किया

ऊर्ध्वरेता ह्यराजा च कुलस्यार्थे पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थे च धुरि मा मां नियोजय ॥ ३३

फिर माता सत्यवतीसे कहा—'माँ ! मैंने इस कुल वृद्धिके लिये और विशेषतः तुम्हें ही यहाँ ले आनेके लि राजा न होने और नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहनेकी बारंबार प्रति की है । अतः तुम इस राज्यका बोझ सँभालनेके लिये मु नियुक्त न करो' ॥ ३३ ॥

ततोऽहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मातरं सम्प्रसादयम् ।
नाम्ब शान्तनुना जातः कौरवं वंशमुद्वहन् ॥ ३४ ।
प्रतिज्ञां वितथां कुर्यामिति राजन् पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थं च प्रतिज्ञां कृतवानहम् ॥ ३५ ।
अहं प्रेष्यश्च दासश्च तवाद्य सुतवत्सले ।

राजन् ! तत्पश्चात् पुनः हाथ जोड़कर माताको प्रस करनेके लिये मैंने विनयपूर्वक कहा—'अम्ब ! मैं राज शान्तनुसे उत्पन्न होकर कौरववंशकी मर्यादाका वहन करत हूँ । अतः अपनी की हुई प्रतिज्ञाको झूठी नहीं कर सकता । यह बात मैंने बार-बार दुहरायी । इसके बाद फिर कहा—'पुत्रवत्सले ! विशेषतः तुम्हारे ही लिये मैंने यह प्रतिज्ञा क थी । मैं तुम्हारा सेवक और दास हूँ (मुझसे वह प्रतिज्ञ तोड़नेके लिये न कहो)' ॥ ३४-३५$\frac{1}{2}$ ॥

एवं तामनुनीयाहं मातरं जनमेव च ॥ ३६ ॥
अयाचं भ्रातृदारेषु तदा व्यासं महामुनिम् ।
सह मात्रा महाराज प्रसाद्य तमृषिं तदा ॥ ३७ ॥
अपत्यार्थं महाराज प्रसादं कृतवांश्च सः ।
त्रीन् स पुत्रानजनयत् तदा भरतसत्तम ॥ ३८ ॥

महाराज ! इस प्रकार माता तथा अन्य लोगोंको अनुनय विनयके द्वारा अनुकूल करके माताके सहित मैंने महामुनि व्यासको प्रसन्न करके भाईकी स्त्रियोंसे पुत्र उत्पन्न करनेके लिये उनसे प्रार्थना की । भरतकुलभूषण ! महर्षिने कृपा की और उन स्त्रियोंसे तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ३६—३८ ॥

अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव ।
राजा तु पाण्डुरभवन्महात्मा लोकविश्रुतः ॥ ३९ ॥

तुम्हारे पिता अंधे थे, अतः नेत्रेन्द्रियसे हीन होनेके कारण राजा न हो सके, तब लोकविख्यात महामना पाण्डु इस देशके राजा हुए ॥ ३९ ॥

स राजा तस्य ते पुत्राः पितुर्दायाद्यहारिणः ।
मा तात कलहं कार्षी राज्यस्यार्धं प्रदीयताम् ॥ ४० ॥

पाण्डु राजा थे और उनके पुत्र पाण्डव पिताकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हैं । अतः वत्स दुर्योधन ! तुम कलह न करो । आधा राज्य पाण्डवोंको दे दो ॥ ४० ॥

मयि जीवति राज्यं कः सम्प्रशासेत् पुमानिह ।
मावमंस्था वचो मह्यं शममिच्छामि वः सदा ॥ ४१ ॥

मेरे जीते-जी मेरी इच्छाके विरुद्ध दूसरा कौन पुरुष यहाँ राज्य-शासन कर सकता है ? ऐसा समझकर मेरे कथनकी अवहेलना न करो । मैं सदा तुमलोगोंमें शान्ति बनी रहनेकी शुभ कामना करता हूँ ॥ ४१ ॥

न विशेषोऽस्ति मे पुत्र त्वयि तेषु च पार्थिव ।
मतमेतत् पितुस्तुभ्यं गान्धार्या विदुरस्य च ॥ ४२ ॥

राजन् ! मेरे लिये तुममें और पाण्डवोंमें कोई अन्तर नहीं है । तुम्हारे पिताका, गान्धारीका और विदुरका भी यही मत है ॥ ४२ ॥

श्रोतव्यं खलु वृद्धानां नाभिशङ्कीर्वचो मम ।
नाशयिष्यसि मा सर्वमात्मानं पृथिवीं तथा ॥ ४३ ॥

तुम्हें बड़े-बूढ़ोंकी बातें सुननी चाहिये । मेरी बातपर शङ्का न करो, नहीं तो तुम सबको, अपनेको और इस भूतलको भी नष्ट कर दोगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भगवद्वाक्यसम्बन्धी एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४७॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य, विदुर तथा गान्धारीके युक्तियुक्त एवं महत्त्वपूर्ण वचनोंका भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कथन

वासुदेव उवाच

भीष्मेणोक्ते ततो द्रोणो दुर्योधनमभाषत ।
मध्ये नृपाणां भद्रं ते वचनं वचनक्षमः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो । भीष्मजीकी बात समाप्त होनेपर प्रवचन करनेमें समर्थ द्रोणाचार्यने राजाओंके बीचमें दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥

प्रातीपः शान्तनुस्तात कुलस्यार्थे यथा स्थितः ।
यथा देवव्रतो भीष्मः कुलस्यार्थे स्थितोऽभवत् ॥ २ ॥
तथा पाण्डुर्नरपतिः सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
राजा कुरूणां धर्मात्मा सुव्रतः सुसमाहितः ॥ ३ ॥

'तात ! जैसे प्रतीपपुत्र शान्तनु इस कुलकी भलाईमें ही लगे रहे, जैसे देवव्रत भीष्म इस कुलकी वृद्धिके लिये ही यहाँ स्थित हैं, उसी प्रकार सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय राजा पाण्डु भी रहे हैं । वे कुरुकुलके राजा होते हुए भी सदा धर्ममें ही मन लगाये रहते थे । वे उत्तम व्रतके पालक तथा चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे ॥ २-३ ॥

ज्येष्ठाय राज्यमददाद् धृतराष्ट्राय धीमते ।
यवीयसे तथा क्षत्त्रे कुरूणां वंशवर्धनः ॥ ४ ॥

'कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले पाण्डुने अपने बड़े भाई बुद्धिमान् धृतराष्ट्रको तथा छोटे भाई विदुरको अपना राज्य धरोहररूपसे दिया ॥ ४ ॥

ततः सिंहासने राजन् स्थापयित्वैनमच्युतम् ।
वनं जगाम कौरव्यो भार्याभ्यां सहितो नृपः ॥ ५ ॥

'राजन् ! कुरुकुलरत्न पाण्डुने अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले धृतराष्ट्रको सिंहासनपर बिठाकर स्वयं अपनी दोनों स्त्रियोंके साथ वनको प्रस्थान किया था ॥ ५ ॥

नीचैः स्थित्वा तु विदुर उपास्ते स्म विनीतवत् ।
प्रेष्यवत् पुरुषव्याघ्रो वालव्यजनमुत्क्षिपन् ॥ ६ ॥

'तदनन्तर पुरुषसिंह विदुर सेवककी भाँति नीचे खड़े होकर चँवर डुलाते हुए विनीतभावसे धृतराष्ट्रकी सेवामें रहने लगे ॥ ६ ॥

ततः सर्वाः प्रजास्तात धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
अन्वपद्यन्त विधिवद् यथा पाण्डुं जनाधिपम् ॥ ७ ॥

'तात ! तदनन्तर सारी प्रजा जैसे राजा पाण्डुके अनुगत रहती थी, उसी प्रकार विधिपूर्वक राजा धृतराष्ट्रके अधीन रहने लगी ॥ ७ ॥

विसृज्य धृतराष्ट्राय राज्यं सविदुराय च ।
चचार पृथिवीं पाण्डुः सर्वां परपुरञ्जयः ॥ ८ ॥

'इस प्रकार शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले पाण्डु विदुरसहित धृतराष्ट्रको अपना राज्य सौंपकर सारी पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ ८ ॥

कोशसंवनने दाने भृत्यानां चान्ववेक्षणे ।
भरणे चैव सर्वस्य विदुरः सत्यसङ्गरः ॥ ९ ॥

'सत्यप्रतिज्ञ विदुर कोषको सँभालने, दान देने, भृत्यवर्गकी देख-भाल करने तथा सबके भरण-पोषणके कार्यमें संलग्न रहते थे ॥ ९ ॥

संधिविग्रहसंयुक्तो राज्ञां संवाहनक्रियाः ।
अवैक्षत महातेजा भीष्मः परपुरञ्जयः ॥ १० ॥

'शत्रु-नगरीको जीतनेवाले महातेजस्वी भीष्म संधि-विग्रहके कार्यमें संयुक्त हो राजाओंसे सेवा और कर आदि लेनेका काम सँभालते थे ॥ १० ॥

सिंहासनस्थो नृपतिर्धृतराष्ट्रो महाबलः ।
अन्वास्यमानः सततं विदुरेण महात्मना ॥ ११ ॥

'महाबली राजा धृतराष्ट्र केवल सिंहासनपर बैठे रहते और महात्मा विदुर सदा उनकी सेवामें उपस्थित रहते थे ॥ ११ ॥

कथं तस्य कुले जातः कुलभेदं व्यवस्यसि ।
सम्भूय भ्रातृभिः सार्धं भुङ्क्ष्व भोगान् जनाधिप ॥ १२ ॥

'उन्हींके वंशमें उत्पन्न होकर तुम इस कुलमें फूट क्यों डालते हो ? राजन् ! भाइयोंके साथ मिलकर मनोवाञ्छित भोगोंका उपभोग करो ॥ १२ ॥

ब्रवीम्यहं न कार्पण्यान्नार्थहेतोः कथंचन ।
भीष्मेण दत्तमिच्छामि न त्वया राजसत्तम ॥ १३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! मैं दीनतासे या धन पानेके लिये किसी प्रकार कोई बात नहीं कहता हूँ । मैं भीष्मका दिया हुआ पाना चाहता हूँ, तुम्हारा दिया नहीं ॥ १३ ॥

नाहं त्वत्तोऽभिकाङ्क्षिष्ये वृत्त्युपायं जनाधिप ।
यतो भीष्मस्ततो द्रोणो यद् भीष्मस्त्वाह तत् कुरु ॥ १४ ॥

'जनेश्वर ! मैं तुमसे कोई जीविकाका साधन प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करूँगा । जहाँ भीष्म हैं, वहीं द्रोण हैं । जो भीष्म कहते हैं, उसका पालन करो ॥ १४ ॥

दीयतां पाण्डुपुत्रेभ्यो राज्यार्धमरिकर्शन ।
सममाचार्यकं तात तव तेषां च मे सदा ॥ १५ ॥

'शत्रुसूदन ! तुम पाण्डवोंका आधा राज्य दे दो । तात ! मेरा यह आचार्यत्व तुम्हारे और पाण्डवोंके लिये सदा समान है ॥

अश्वत्थामा यथा मह्यं तथा श्वेतहयो मम ।
बहुना किं प्रलापेन यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १६ ॥

'मेरे लिये जैसा अश्वत्थामा है वैसा ही श्वेत घोड़ोंवाला अर्जुन भी है । अधिक बकवाद करनेसे क्या लाभ ? जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय निश्चित है' ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते महाराज द्रोणेनामिततेजसा ।
व्याजहार ततो वाक्यं विदुरः सत्यसङ्गरः ।
पितुर्वदनमन्वीक्ष्य परिवृत्य च धर्मवित् ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—महाराज ! अमिततेजस्वी द्रोणाचार्यके इस प्रकार कहनेपर सत्यप्रतिज्ञ धर्मज्ञ विदुरने ज्येष्ठ पिता भीष्मकी ओर घूमकर उनके मुँहकी ओर देखते हुए इस प्रकार कहा ॥ १७ ॥

विदुर उवाच

देवव्रत निबोधेदं वचनं मम भाषतः ।
प्रणष्टः कौरवो वंशस्त्वयायं पुनरुद्धृतः ॥ १८

विदुर बोले—देवव्रतजी ! मेरी यह बात सुनि यह कौरववंश नष्ट हो चला था, जिसका आपने पु उद्धार किया था ॥ १८ ॥

तन्मे विलपमानस्य वचनं समुपेक्षसे ।
कोऽयं दुर्योधनो नाम कुलेऽस्मिन् कुलपांसनः ॥ १९
यस्य लोभाभिभूतस्य मतिं समनुवर्तसे ।
अनार्यस्याकृतज्ञस्य लोभेन हृतचेतसः ॥ २०

मैं भी उसी वंशकी रक्षाके लिये विलाप कर रहा परंतु न जाने क्यों आप मेरे कथनकी उपेक्षा कर रहे हैं मैं पूछता हूँ, यह कुलाङ्गार दुर्योधन इस कुलका कौन है जिसके लोभके वशीभूत होनेपर भी आप उसकी बुद्धि अनुसरण कर रहे हैं । लोभने इसकी विवेकशक्ति हर ली है इसकी बुद्धि दूषित हो गयी है तथा यह पूरा अनार्य गया है ॥ १९ २० ॥

अतिक्रामति यः शास्त्रं पितुर्धर्मार्थदर्शिनः ।
एते नश्यन्ति कुरवो दुर्योधनकृतेन वै ॥ २१ ॥

यह शास्त्रकी आज्ञाका तो उल्लङ्घन करता ही है । धर्म औ अर्थपर दृष्टि रखनेवाले अपने पिताकी भी बात नहीं मान है । निश्चय ही एकमात्र दुर्योधनके कारण ये समस्त कौ नष्ट हो रहे हैं ॥ २१ ॥

यथा ते न प्रणश्येयुर्महाराज तथा कुरु ।
मां चैव धृतराष्ट्रं च पूर्वमेव महामते ॥ २२ ॥
चित्रकार इवालेख्यं कृत्वा स्थापितवानसि ।

महाराज ! ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे इनक नाश न हो । महामते ! जैसे चित्रकार किसी चित्र बनाकर एक जगह रख देता है, उसी प्रकार आपने मुझ को और धृतराष्ट्रको पहलेसे ही निकम्मा बनाकर रख दिया है ।

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा यथा संहरते तथा ॥ २३ ॥
नोपेक्षस्व महाबाहो पश्यमानः कुलक्षयम् ।

महाबाहो ! जैसे प्रजापति प्रजाकी सृष्टि करके पुन उसका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप भी अपने कुल विनाश देखकर उसकी उपेक्षा न कीजिये ॥ २३½ ॥

अथ तेऽद्य मतिर्नष्टा विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥ २४ ॥
वनं गच्छ मया सार्धं धृतराष्ट्रेण चैव ह ।

यदि इन दिनों विनाशकाल उपस्थित होनेके कार आपकी बुद्धि नष्ट हो गयी हो तो मेरे और धृतराष्ट्रके सा वनमें पधारिये ॥ २४½ ॥

बद्ध्वा वा निकृतिप्रज्ञं धार्तराष्ट्रं सुदुर्मतिम् ॥ २५

शाधीदं राज्यमद्याशु पाण्डवैरभिरक्षितम् ।

अथवा जिसकी बुद्धि सदा छल-कपटमें ही लगी रहती है उस परम दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको शीघ्र ही बाँधकर पाण्डवोंद्वारा सुरक्षित इस राज्यका शासन कीजिये ॥२५½॥

प्रसीद राजशार्दूल विनाशो दृश्यते महान् ॥ २६ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च राज्ञाममिततेजसाम् ।
विररामैवमुक्त्वा तु विदुरो दीनमानसः ।
प्रध्यायमानः स तदा निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥ २७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रसन्न होइये । पाण्डवों, कौरवों तथा अमित-तेजस्वी राजाओंका महान् विनाश दृष्टिगोचर हो रहा है । ऐसा कहकर दीनचित्त विदुरजी चुप हो गये और विशेष चिन्तामें मग्न होकर उस समय बार-बार लंबी साँसें खींचने लगे ॥ २६-२७ ॥

ततोऽथ राज्ञः सुबलस्य पुत्री
धर्मार्थयुक्तं कुलनाशभीता ।
दुर्योधनं पापमतिं नृशंसं
राज्ञां समक्षं सुतमाह कोपात् ॥ २८ ॥

तदनन्तर राजा सुबलकी पुत्री गान्धारी अपने कुलके विनाशसे भयभीत हो क्रूर स्वभाववाले पापबुद्धि पुत्र दुर्योधनसे समस्त राजाओंके समक्ष क्रोधपूर्वक यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन बोली—॥ २८ ॥

ये पार्थिवा राजसभां प्रविष्टा
ब्रह्मर्षयो ये च सभासदोऽन्ये ।
शृण्वन्तु वक्ष्यामि तवापराधं
पापस्य सामात्यपरिच्छदस्य ॥ २९ ॥

'जो-जो राजा, ब्रह्मर्षि तथा अन्य सभासद् इस राजसभाके भीतर आये हैं, वे सब लोग मन्त्री और सेवकोंसहित तुझ पापी दुर्योधनके अपराधोंको सुनें । मैं वर्णन करती हूँ ॥

राज्यं कुरूणामनुपूर्वभोज्यं
क्रमागतो नः कुलधर्म एषः ।
त्वं पापबुद्धेऽतिनृशंसकर्मन्
राज्यं कुरूणामनयाद् विहंसि ॥ ३० ॥

'हमारे यहाँ परम्परासे चला आनेवाला कुलधर्म यही है कि यह कुरुराज्य पूर्व-पूर्व अधिकारीके क्रमसे उपभोगमें आवे (अर्थात् पहले पिताके अधिकारमें रहे, फिर पुत्रके, पिताके जीते-जी पुत्र राज्यका अधिकारी नहीं हो सकता); परंतु अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाले पापबुद्धि दुर्योधन ! तू अपने अन्यायसे इस कौरवराज्यका विनाश कर रहा है ॥ ३० ॥

राज्ये स्थितो धृतराष्ट्रो मनीषी
तस्यानुजो विदुरो दीर्घदर्शी ।
एतावतिक्रम्य कथं नृपत्वं
दुर्योधन प्रार्थयसेऽद्य मोहात् ॥ ३१ ॥

'इस राज्यपर अधिकारीके रूपमें परम बुद्धिमान् धृतराष्ट्र और उनके छोटे भाई दूरदर्शी विदुर स्थापित किये गये थे । दुर्योधन ! इन दोनोंका उल्लङ्घन करके तू आज मोहवश अपना प्रभुत्व कैसे जमाना चाहता है ॥ ३१ ॥

राजा च क्षत्ता च महानुभावौ
भीष्मे स्थिते परवन्तौ भवेताम् ।
अयं तु धर्मज्ञतया महात्मा
न कामयेद् यो नृवरो नदीजः ॥ ३२ ॥

'राजा धृतराष्ट्र और विदुर—ये दोनों महानुभाव भी भीष्मके जीते-जी पराधीन ही रहेंगे (भीष्मके रहते इन्हें राज्य लेनेका कोई अधिकार नहीं है); परंतु धर्मज्ञ होनेके कारण ये नरश्रेष्ठ महात्मा गङ्गानन्दन राज्य लेनेकी इच्छा ही नहीं रखते हैं ॥ ३२ ॥

राज्यं तु पाण्डोरिदमप्रधृष्यं
तस्याद्य पुत्राः प्रभवन्ति नान्ये ।
राज्यं तदेतन्निखिलं पाण्डवानां
पैतामहं पुत्रपौत्रानुगामि ॥ ३३ ॥

'वास्तवमें यह दुर्धर्ष राज्य महाराज पाण्डुका है । उन्हींके पुत्र इसके अधिकारी हो सकते हैं, दूसरे नहीं । अतः यह सारा राज्य पाण्डवोंका है; क्योंकि बाप-दादोंका राज्य पुत्र-पौत्रोंके पास ही जाता है ॥ ३३ ॥

यद् वै ब्रूते कुरुमुख्यो महात्मा
देवव्रतः सत्यसंधो मनीषी ।
सर्वं तदस्माभिरहत्य कार्यं
राज्यं स्वधर्मान् परिपालयद्भिः ॥ ३४ ॥

'कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष सत्यप्रतिज्ञ एवं बुद्धिमान् महात्मा देवव्रत जो कुछ कहते हैं, उसे राज्य और स्वधर्मका पालन करनेवाले हम सब लोगोंको बिना काट-छाँट किये पूर्णरूपसे मान लेना चाहिये ॥ ३४ ॥

अनुज्ञया चाथ महाव्रतस्य
ब्रूयान्नृपोऽयं विदुरस्तथैव ।
कार्यं भवेत् तत् सुहृद्भिर्नियोज्यं
धर्मं पुरस्कृत्य सुदीर्घकालम् ॥ ३५ ॥

'अथवा इन महान् व्रतधारी भीष्मजीकी आज्ञासे यह राजा धृतराष्ट्र तथा विदुर भी इस विषयमें कुछ कह सकते हैं और अन्य सुहृदोंको भी धर्मको सामने रखते हुए उसीका सुदीर्घ कालतक पालन करना चाहिये ॥ ३५ ॥

न्यायागतं राज्यमिदं कुरूणां
युधिष्ठिरः शास्तु वै धर्मपुत्रः ।
प्रचोदितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
पुरस्कृतः शान्तनवेन चैव ॥ ३६ ॥

'कौरवोंके इस न्यायतः प्राप्त राज्यका धर्मपुत्र युधिष्ठिर ही शासन करें और वे राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मसे कर्तव्यकी शिक्षा रहें, ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके प्रति धृतराष्ट्रके युक्तिसंगत वचन—पाण्डवोंको आधा राज्य देनेके लिये आदेश

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु गान्धार्यां धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
दुर्योधनमुवाचेदं राजमध्ये जनाधिप ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! गान्धारीके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्रने समस्त राजाओंके बीच दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक ।
तथा तत् कुरु भद्रं ते यद्यस्ति पितृगौरवम् ॥ २ ॥

'बेटा दुर्योधन ! मेरी यह बात सुन । तेरा कल्याण हो । यदि तेरे मनमें पिताके लिये कुछ भी गौरव है तो तुझसे जो कुछ कहूँ, उसका पालन कर ॥ २ ॥

सोमः प्रजापतिः पूर्वं कुरूणां वंशवर्धनः ।
सोमाद् बभूव षष्ठोऽयं ययातिर्नहुषात्मजः ॥ ३ ॥

'सबसे पहले प्रजापति सोम हुए, जो कौरववंशकी वृद्धिके आदि कारण हैं । सोमसे छठी पीढ़ीमें नहुषपुत्र ययातिका जन्म हुआ ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रा बभूवुर्हि पञ्च राजर्षिसत्तमाः ।
तेषां यदुर्महातेजा ज्येष्ठः समभवत् प्रभुः ॥ ४ ॥
पूरुर्यवीयांश्च ततो योऽस्माकं वंशवर्धनः ।
शर्मिष्ठया सम्प्रसूतो दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ ५ ॥

'ययातिके पाँच पुत्र हुए, जो सब-के-सब श्रेष्ठ राजर्षि थे । उनमें महातेजस्वी एवं शक्तिशाली ज्येष्ठ पुत्र यदु थे और सबसे छोटे पुत्रका नाम पूरु हुआ, जिन्होंने हमारे इस वंशकी वृद्धि की है । वे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे ॥ ४-५ ॥

यदुश्च भरतश्रेष्ठ देवयान्याः सुतोऽभवत् ।
दौहित्रस्तात शुक्रस्य काव्यस्यामिततेजसः ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! यदु देवयानीके पुत्र थे । तात ! वे अमित तेजस्वी शुक्राचार्यके दौहित्र लगते थे ॥ ६ ॥

यादवानां कुलकरो बलवान् वीर्यसम्मतः ।
अवमेने स तु क्षत्रं दर्पपूर्णः सुमन्दधीः ॥ ७ ॥

'वे बलवान्, उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न एवं यादवोंके वंश-प्रवर्तक हुए थे । उनकी बुद्धि बड़ी मन्द थी और उन्होंने घमंडमें आकर समस्त क्षत्रियोंका अपमान किया था ॥ ७ ॥

न चातिष्ठत् पितुः शास्त्रे बलदर्पविमोहितः ।
अवमेने च पितरं भ्रातृंश्चाप्यपराजितः ॥ ८

'बलके घमंडसे वे इतने मोहित हो रहे थे कि पिता आदेशपर चलते ही नहीं थे । किसीसे पराजित न होने यदु अपने भाइयों और पिताका भी अपमान करते थे ॥

पृथिव्यां चतुरन्तायां यदुरेवाभवद् बली ।
वशे कृत्वा स नृपतीन् न्यवसन्नागसाह्वये ॥ ९ ।

'चारों समुद्र जिसके अन्तमें हैं, उस भूमण्डलमें यदु सबसे अधिक बलवान् थे । वे समस्त राजाओंको वशमें क हस्तिनापुरमें निवास करते थे ॥ ९ ॥

तं पिता परमक्रुद्धो ययातिर्नहुषात्मजः ।
शशाप पुत्रं गान्धारे राज्याच्चापि व्यरोपयत् ॥ १० ।

'गान्धारीपुत्र ! यदुके पिता नहुषनन्दन ययातिने अत्यन कुपित होकर यदुको शाप दे दिया और उन्हें राज्यसे उतार दिया ॥ १० ॥

ये चैनमन्ववर्तन्त भ्रातरो बलदर्पिताः ।
शशाप तानभिक्रुद्धो ययातिस्तनयानथ ॥ ११ ॥

'अपने बलका घमंड रखनेवाले जिन-जिन भाइयोंने यदुका अनुसरण किया, ययातिने कुपित होकर अपने उन पुत्रोंको भी शाप दे दिया ॥ ११ ॥

यवीयांसं ततः पूरुं पुत्रं स्ववशवर्तिनम् ।
राज्ये निवेशयामास विधेयं नृपसत्तमः ॥ १२ ॥

'तदनन्तर अपने अधीन रहनेवाले आज्ञापालक छोटे पुत्र पूरुको नृपश्रेष्ठ ययातिने राज्यपर बिठाया ॥ १२ ॥

एवं ज्येष्ठोऽप्यथोत्सिक्तो न राज्यमभिजायते ।
यवीयांसोऽपि जायन्ते राज्यं वृद्धोपसेवया ॥ १३ ॥

'इस प्रकार यह सिद्ध है कि ज्येष्ठ पुत्र भी यदि अहंकारी हो तो उसे राज्यकी प्राप्ति नहीं होती और छोटे पुत्र भी वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेसे राज्य पानेके अधिकारी हो जाते हैं ॥

तथैव सर्वधर्मज्ञः पितुर्मम पितामहः ।
प्रतीपः पृथिवीपालस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार मेरे पिताके पितामह राजा प्रतीप सब धर्मोंके ज्ञाता एवं तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ १४ ॥

तस्य पार्थिवसिंहस्य राज्यं धर्मेण शासतः ।
त्रयः प्रजज्ञिरे पुत्रा देवकल्पा यशस्विनः ॥ १५ ॥

'धर्मपूर्वक राज्यका शासन करते हुए नृपप्रवर प्रतीपके तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवताओंके समान तेजस्वी और यशस्वी थे ॥ १५ ॥

देवापिरभवच्छ्रेष्ठो बाह्लीकस्तदनन्तरम् ।
तृतीयः शान्तनुस्तात धृतिमान् मे पितामहः ॥ १६ ॥

'तात ! उन तीनोंमें सबसे श्रेष्ठ थे देवापि । उनके बादवाले राजकुमारका नाम बाह्लीक था तथा प्रतीपके तीसरे पुत्र मेरे धैर्यवान् पितामह शान्तनु थे ॥ १६ ॥

देवापिस्तु महातेजास्त्वग्दोषी राजसत्तमः ।
धार्मिकः सत्यवादी च पितुः शुश्रूषणे रतः ॥ १७ ॥
पौरजानपदानां च सम्मतः साधुसत्कृतः ।
सर्वेषां बालवृद्धानां देवापिर्हृदयंगमः ॥ १८ ॥

'नृपश्रेष्ठ देवापि महान् तेजस्वी होते हुए भी चर्मरोगसे पीड़ित थे । वे धार्मिक, सत्यवादी, पिताकी सेवामें तत्पर, साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तथा नगर एवं जनपद-निवासियोंके लिये आदरणीय थे । देवापिने बालकोंसे लेकर वृद्धोंतक सभीके हृदयमें अपना स्थान बना लिया था ॥ १७-१८ ॥

वदान्यः सत्यसंधश्च सर्वभूतहिते रतः ।
वर्तमानः पितुः शास्त्रे ब्राह्मणानां तथैव च ॥ १९ ॥

'वे उदार, सत्यप्रतिज्ञ और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे । पिता तथा ब्राह्मणोंके आदेशके अनुसार चलते थे ॥ १९ ॥

बाह्लीकस्य प्रियो भ्राता शान्तनोश्च महात्मनः ।
सौभ्रात्रं च परं तेषां सहितानां महात्मनाम् ॥ २० ॥

'वे बाह्लीक तथा महात्मा शान्तनुके प्रिय बन्धु थे । परस्पर संगठित रहनेवाले उन तीनों महामना बन्धुओंका परस्पर अच्छे भाईका-सा स्नेहपूर्ण बर्ताव था ॥ २० ॥

अथ कालस्य पर्याये वृद्धो नृपतिसत्तमः ।
सम्भारानभिषेकार्थं कारयामास शास्त्रतः ॥ २१ ॥

'तदनन्तर कुछ काल बीतनेपर बूढ़े नृपश्रेष्ठ प्रतीपने शास्त्रीय विधिके अनुसार राज्याभिषेकके लिये सामग्रियोंका संग्रह कराया ॥

कारयामास सर्वाणि मङ्गलार्थानि वै विभुः ।
तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजानपदैः सह ॥ २२ ॥
सर्वे निवारयामासुर्देवापेरभिषेचनम् ।

'उन्होंने देवापिके मङ्गलके लिये सभी आवश्यक कृत्य सम्पन्न कराये; परंतु उस समय सब ब्राह्मणों तथा वृद्ध पुरुषोंने नगर और जनपदके लोगोंके साथ आकर देवापिका राज्याभिषेक रोक दिया ॥ २२½ ॥

स तच्छ्रुत्वा तु नृपतिरभिषेकनिवारणम् ।
अश्रुकण्ठोऽभवद् राजा पर्यशोचत चात्मजम् ॥ २३ ॥

'किंतु राज्याभिषेक रोकनेकी बात सुनकर राजा प्रतीपका गला भर आया और वे अपने पुत्रके लिये शोक करने लगे ॥

एवं वदान्यो धर्मज्ञः सत्यसंधश्च सोऽभवत् ।
प्रियः प्रजानामपि संस्त्वग्दोषेण प्रदूषितः ॥ २४ ॥

'इस प्रकार यद्यपि देवापि उदार, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाओंके प्रिय थे, तथापि पूर्वोक्त चर्मरोगके कारण दूषित मान लिये गये ॥ २४ ॥

हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः ।
इति कृत्वा नृपश्रेष्ठं प्रत्यषेधन् द्विजर्षभाः ॥ २५ ॥

'जो किसी अङ्गसे हीन हो उस राजाका देवतालोग अभिनन्दन नहीं करते हैं; इसीलिये उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने नृपप्रवर प्रतीपको देवापिका अभिषेक करनेसे मना कर दिया था ॥

ततः प्रव्यथिताङ्गोऽसौ पुत्रशोकसमन्वितः ।
निवारितं नृपं दृष्ट्वा देवापिः संश्रितो वनम् ॥ २६ ॥

'इससे राजाको बड़ा कष्ट हुआ । वे पुत्रके लिये शोकमग्न हो गये । राजाको रोका गया देखकर देवापि वनमें चले गये ॥ २६ ॥

बाह्लीको मातुलकुलं त्यक्त्वा राज्यं समाश्रितः ।
पितृभ्रातॄन् परित्यज्य प्राप्तवान् परमर्द्धिमत् ॥ २७ ॥

'बाह्लीक परम समृद्धिशाली राज्य तथा पिता और भाइयोंको छोड़कर मामाके घर चले गये ॥ २७ ॥

बाह्लीकेन त्वनुज्ञातः शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
पितर्युपरते राजन् राजा राज्यमकारयत् ॥ २८ ॥

'राजन् ! तदनन्तर पिताकी मृत्यु होनेके पश्चात् बाह्लीककी आज्ञा लेकर लोकविख्यात राजा शान्तनुने राज्यका शासन किया ॥ २८ ॥

तथैवाहं मतिमता परिचिन्त्येह पाण्डुना ।
ज्येष्ठः प्रभ्रंशितो राज्याद्धीनाङ्ग इति भारत ॥ २९ ॥

'भारत ! इसी प्रकार मैं भी अङ्गहीन था; इसलिये ज्येष्ठ होनेपर भी बुद्धिमान् पाण्डु एवं प्रजाजनोंके द्वारा खूब सोच-विचारकर राज्यसे वञ्चित कर दिया गया ॥ २९ ॥

पाण्डुस्तु राज्यं सम्प्राप्तः कनीयानपि सन् नृपः ।
विनाशे तस्य पुत्राणामिदं राज्यमरिंदम ॥ ३० ॥

'पाण्डुने अवस्थामें छोटे होनेपर भी राज्य प्राप्त किया और वे एक अच्छे राजा बनकर रहे हैं । शत्रुदमन दुर्योधन! पाण्डुकी मृत्युके पश्चात् उनके पुत्रोंका ही यह राज्य है ॥

मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि ।
अराजपुत्रो ह्यस्वामी परस्वं हर्तुमिच्छसि ॥ ३१ ॥

'मैं तो राज्यका अधिकारी था ही नहीं, फिर तू कैसे राज्य लेना चाहता है ? जो राजाका पुत्र नहीं है, वह उसके राज्यका स्वामी नहीं हो सकता । तू पराये धनका अपहरण करना चाहता है ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरो राजपुत्रो महात्मा
न्यायागतं राज्यमिदं च तस्य।
स कौरवस्यास्य कुलस्य भर्ता
प्रशासिता चैव महानुभावः॥ ३२॥

'महात्मा युधिष्ठिर राजाके पुत्र हैं, अतः न्यायतः प्राप्त हुए इस राज्यपर उन्हींका अधिकार है। वे ही इस कौरव-कुलका भरण-पोषण करनेवाले, स्वामी तथा इस राज्यके शासक हैं। उनका प्रभाव महान् है ॥ ३२ ॥

स सत्यसंधः स तथाप्रमत्तः
शास्त्रे स्थितो बन्धुजनस्य साधुः।
प्रियः प्रजानां सुहृदानुकम्पी
जितेन्द्रियः साधुजनस्य भर्ता॥ ३३॥

'वे सत्यप्रतिज्ञ और प्रमादरहित हैं। शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलते और भाई-बन्धुओंपर सद्भाव रखते हैं। युधिष्ठिरपर प्रजावर्गका विशेष प्रेम है। वे अपने सुहृदोंपर कृपा करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा सज्जनोंका पालन-पोषण करनेवाले हैं॥

क्षमा तितिक्षा दम आर्जवं च
सत्यव्रतत्वं श्रुतमप्रमादः।
भूतानुकम्पा ह्यनुशासनं च
युधिष्ठिरे राजगुणाः समस्ताः॥ ३४॥

'क्षमा, सहनशीलता, इन्द्रियसंयम, सरलता, परायणता, शास्त्रज्ञान, प्रमादशून्यता, समस्त प्राणि दयाभाव तथा गुरुजनोंके अनुशासनमें रहना आदि राजोचित गुण युधिष्ठिरमें विद्यमान हैं ॥ ३४ ॥

अराजपुत्रस्त्वमनार्यवृत्तो
लुब्धः सदा बन्धुषु पापबुद्धिः।
क्रमागतं राज्यमिदं परेषां
हर्तुं कथं शक्ष्यसि दुर्विनीत ॥

'तू राजाका पुत्र नहीं है। तेरा बर्ताव भी दुष्टोंके है। तू लोभी तो है ही, बन्धु-बान्धवोंके प्रति सदा पा विचार रखता है। दुर्विनीत! यह परम्परागत राज्य दू है। तू कैसे इसका अपहरण कर सकेगा? ॥ ३५ ॥

प्रयच्छ राज्यार्धमपेतमोहः
सवाहनं त्वं सपरिच्छदं च।
ततोऽवशेषं तव जीवितस्य
सहानुजस्यैव भवेन्नरेन्द्र ॥

नरेन्द्र! तू मोह छोड़कर वाहनों और अन्यान्य साम सहित (कम-से-कम) आधा राज्य पाण्डवोंको दे दे। अपने छोटे भाइयोंके साथ तेरा जीवन बचा रह सकता

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्यकथने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यकथनविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४९

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कौरवोंके प्रति साम, दान और भेदनीतिके प्रयोगकी असफलता बताकर दण्डके प्रयोगपर जोर देना

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च।
गान्धार्या धृतराष्ट्रेण न वै मन्दोऽन्वबुद्ध्यत ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर भी मन्दबुद्धि दुर्योधनको तनिक भी चेत नहीं हुआ ॥ १ ॥

अवधूयोत्थितो मन्दः क्रोधसंरक्तलोचनः।
अन्वद्रवन्त तं पश्चाद् राजानस्त्यक्तजीविताः॥ २ ॥

वह मूर्ख क्रोधसे लाल आँखें किये उन सबकी अवहेलना करके सभासे उठकर चला गया। उसीके पीछे अन्य राजा भी अपने जीवनका मोह छोड़कर सभासे उठकर चल दिये॥

आज्ञापयच्च राज्ञस्तान् पार्थिवान् नष्टचेतसः।
प्रयाध्वं वै कुरुक्षेत्रं पुष्योऽद्येति पुनः पुनः॥ ३ ॥

ज्ञात हुआ है, दुर्योधनने उन विवेकशून्य राजाओंको यह बार-बार आज्ञा दे दी कि तुम सब लोग कुरुक्षे चलो। आज पुष्य नक्षत्र है ॥ ३ ॥

ततस्ते पृथिवीपालाः प्रययुः सहसैनिकाः।
भीष्मं सेनापतिं कृत्वा संहृष्टाः कालचोदिताः॥ ४

तदनन्तर वे सभी भूपाल कालसे प्रेरित हो भीष्म सेनापति बनाकर बड़े हर्षके साथ सैनिकोंसहित चल दिये हैं ॥ ४ ॥

अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणां समागताः।
तासां प्रमुखतो भीष्मस्तालकेतुर्व्यरोचत ॥ ५

कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आ गयी हैं। सबमें प्रधान हैं भीष्मजी, जो अपने तालध्वजके सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५ ॥

यदत्र युक्तं प्राप्तं च तद् विधत्स्व विशाम्पते।
उक्तं भीष्मेण यद् वाक्यं द्रोणेन विदुरेण च ॥ ६

गान्धार्यां धृतराष्ट्रेण समक्षं मम भारत ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ ७ ॥

प्रजानाथ ! अब तुम्हें भी जो उचित जान पड़े, वह करो । भारत ! कौरवसभामें भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रने मेरे सामने जो बातें कही थीं, वे सब आपको सुना दीं । राजन् ! यही वहाँका वृत्तान्त है ॥ ६-७ ॥

साम्यमादौ प्रयुक्तं मे राजन् सौभ्रात्रमिच्छता ।
अभेदायास्य वंशस्य प्रजानां च विवृद्धये ॥ ८ ॥

राजन् ! मैंने सब भाइयोंमें उत्तम बन्धुजनोचित प्रेम बने रहनेकी इच्छासे पहले सामनीतिका प्रयोग किया था, जिससे इस वंशमें फूट न हो और प्रजाजनोंकी निरन्तर उन्नति होती रहे ॥ ८ ॥

पुनर्भेदश्च मे युक्तो यदा साम न गृह्यते ।
कर्मानुकीर्तनं चैव देवमानुषसंहितम् ॥ ९ ॥

जब वे सामनीति न ग्रहण कर सके, तब मैंने भेदनीतिका प्रयोग किया (उनमें फूट डालनेकी चेष्टा की) । पाण्डवोंके देव-मनुष्योचित कर्मोंका बारंबार वर्णन किया ॥ ९ ॥

यदा नाद्रियते वाक्यं सामपूर्वं सुयोधनः ।
तदा मया समानीय भेदिताः सर्वपार्थिवाः ॥ १० ॥

जब मैंने देखा दुर्योधन मेरे सान्त्वनापूर्ण वचनोंका पालन नहीं कर रहा है, तब मैंने सब राजाओंको बुलाकर उनमें फूट डालनेका प्रयत्न किया ॥ १० ॥

अद्भुतानि च घोराणि दारुणानि च भारत ।
अमानुषाणि कर्माणि दर्शितानि मया विभो ॥ ११ ॥

भारत ! वहाँ मैंने बहुत-से अद्भुत, भयंकर, निष्ठुर एवं अमानुषिक कर्मोंका प्रदर्शन किया ॥ ११ ॥

निर्भर्त्सयित्वा राज्ञस्तांस्तृणीकृत्य सुयोधनम् ।
राधेयं भीषयित्वा च सौबलं च पुनः पुनः ॥ १२ ॥
द्यूततो धार्तराष्ट्राणां निन्दां कृत्वा तथा पुनः ।
भेदयित्वा नृपान् सर्वान् वाग्भिर्मन्त्रेण चासकृत् ॥ १३ ॥
पुनः सामाभिसंयुक्तं सम्प्रदानमथाब्रुवम् ।
अभेदात् कुरुवंशस्य कार्ययोगात् तथैव च ॥ १४ ॥

समस्त राजाओंको डाँट बताकर दुर्योधनको तिनकेके समान समझकर तथा राधानन्दन कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिको बार-बार डराकर जूएसे धृतराष्ट्रपुत्रोंकी निन्दा करके वाणी तथा गुप्त मन्त्रणाद्वारा सब राजाओंके मनमें अनेक बार भेद उत्पन्न करनेके पश्चात् फिर सामसहित दानकी बात उठायी, जिससे कुरुवंशकी एकता बनी रहे और अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाय ॥ १२–१४ ॥

ते शूरा धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य विदुरस्य च ।
तिष्ठेयुः पाण्डवाः सर्वे हित्वा मानमधश्चराः ॥ १५ ॥
प्रयच्छन्तु च ते राज्यमनीशास्ते भवन्तु च ।
यथाऽऽह राजा गाङ्गेयो विदुरश्च हितं तव ॥ १६ ॥
सर्वं भवतु ते राज्यं पञ्च ग्रामान् विसर्जय ।
अवश्यं भरणीया हि पितुस्ते राजसत्तम ॥ १७ ॥

मैंने कहा—नृपश्रेष्ठ ! यद्यपि पाण्डव शौर्यसे सम्पन्न हैं, तथापि वे सब-के-सब अभिमान छोड़कर भीष्म, धृतराष्ट्र और विदुरके नीचे रह सकते हैं । वे अपना राज्य भी तुम्हींको दे दें और सदा तुम्हारे अधीन होकर रहें । राजा धृतराष्ट्र, भीष्म और विदुरजीने तुम्हारे हितके लिये जैसी बात कही है, वैसा ही करो । सारा राज्य तुम्हारे ही पास रहे । तुम पाण्डवोंको पाँच ही गाँव दे दो; क्योंकि तुम्हारे पिताके लिये पाण्डवोंका भरण-पोषण करना भी परम आवश्यक है ॥ १५–१७ ॥

एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा नैव भागं व्यमुञ्चत ।
दण्डं चतुर्थं पश्यामि तेषु पापेषु नान्यथा ॥ १८ ॥

मेरे इस प्रकार कहनेपर भी उस दुष्टात्माने राज्यका कोई भाग तुम्हारे लिये नहीं छोड़ा अर्थात् देना नहीं स्वीकार किया । अब तो मैं उन पापियोंपर चौथे उपाय दण्डके प्रयोगकी ही आवश्यकता देखता हूँ, अन्यथा उन्हें मार्गपर लाना असम्भव है ॥ १८ ॥

निर्याताश्च विनाशाय कुरुक्षेत्रं नराधिपाः ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १९ ॥

सब राजा अपने विनाशके लिये कुरुक्षेत्रको प्रस्थान कर चुके हैं । राजन् ! कौरव-सभामें जो कुछ हुआ था, वह सारा वृत्तान्त मैंने तुमसे कह सुनाया ॥ १९ ॥

न ते राज्यं प्रयच्छन्ति विना युद्धेन पाण्डव ।
विनाशहेतवः सर्वे प्रत्युपस्थितमृत्यवः ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! वे कौरव बिना युद्ध किये तुम्हें राज्य नहीं देंगे । उन सबके विनाशका कारण जुट गया है और उनका मृत्युकाल भी आ पहुँचा है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५० ॥

(सैन्यनिर्याणपर्व)

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके सेनापतिका चुनाव तथा पाण्डव-सेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

जनार्दनवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄनुवाच धर्मात्मा समक्षं केशवस्य ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान्

श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर धर्ममें ही मन लगाये रखनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान्‌के सामने ही अपने भाइयोंसे कहा—॥ १ ॥

श्रुतं भवद्भिर्यद् वृत्तं सभायां कुरुसंसदि ।
केशवस्यापि यद् वाक्यं तत् सर्वमवधारितम् ॥ २ ॥

'कौरवसभामें जो कुछ हुआ है वह सब वृत्तान्त तुमलोगोंने सुन लिया। फिर भगवान् श्रीकृष्णने भी जो बात कही है, उसे भी अच्छी तरह समझ लिया होगा ॥ २ ॥

तस्मात् सेनाविभागं मे कुरुध्वं नरसत्तमाः ।
अक्षौहिण्यश्च सप्तैताः समेता विजयाय वै ॥ ३ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ वीरो ! अब तुमलोग भी अपनी सेनाका विभाग करो। ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयी हैं, जो अवश्य ही हमारी विजय करानेवाली होंगी ॥ ३ ॥

तासां ये पतयः सप्त विख्यातास्तान् निबोधत ।
द्रुपदश्च विराटश्च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥ ४ ॥
सात्यकिश्चेकितानश्च भीमसेनश्च वीर्यवान् ।
एते सेनाप्रणेतारो वीराः सर्वे तनुत्यजः ॥ ५ ॥

'इन सातों अक्षौहिणियोंके जो सात विख्यात सेनापति हैं, उनके नाम बताता हूँ, सुनो। द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और पराक्रमी भीमसेन। ये सभी वीर हमारे लिये अपने शरीरका भी त्याग कर देनेको उद्यत हैं; अतः ये ही पाण्डवसेनाके संचालक होने योग्य हैं ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ह्रीमन्तो नीतिमन्तश्च सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ६ ॥

'ये सब-के-सब वेदवेत्ता, शूरवीर, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, लज्जाशील, नीतिज्ञ और युद्धकुशल हैं ॥ ६ ॥

इष्वस्त्रकुशलाः सर्वे तथा सर्वास्त्रयोधिनः ।
सप्तानामपि यो नेता सेनानां प्रविभागवित् ॥ ७ ॥
यः सहेत रणे भीष्मं शरार्चिः पावकोपमम् ।
तं तावत् सहदेवात्र प्रब्रूहि कुरुनन्दन ।
स्वमतं पुरुषव्याघ्र को नः सेनापतिः क्षमः ॥ ८ ॥

'इन सबने धनुर्वेदमें निपुणता प्राप्त की है तथा ये सब प्रकारके अस्त्रोंद्वारा युद्ध करनेमें समर्थ हैं। अब यह विचार करना चाहिये कि इन सातोंका भी नेता कौन हो ? जो सभी सेना-विभागोंको अच्छी तरह जानता हो तथा युद्धमें बाणरूपी ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी भीष्मका आक्रमण सह सकता हो। पुरुषसिंह कुरुनन्दन सहदेव ! पहले तुम अपना विचार प्रकट करो। हमारा प्रधान सेनापति होने योग्य कौन है ?' ॥ ७-८ ॥

सहदेव उवाच

संयुक्त एकदुःखश्च वीर्यवांश्च महीपतिः ।
यं समाश्रित्य धर्मज्ञं स्वमंशमनुयुञ्ज्महे ॥ ९ ॥
मत्स्यो विराटो बलवान् कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।
प्रसहिष्यति संग्रामे भीष्मं तांश्च महारथान् ॥ १

सहदेव बोले—जो हमारे सम्बन्धी हैं, दुःखमें साथ एक होकर रहनेवाले और पराक्रमी भूपाल हैं, धर्मज्ञ वीरका आश्रय लेकर हम अपना राज्यभाग प्राप्त सकते हैं तथा जो बलवान्, अस्त्रविद्यामें निपुण और उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, वे मत्स्यनरेश विराट संग्राममें भीष्म तथा अन्य महारथियोंका सामना अच्छी सहन कर सकेंगे ॥ ९-१० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथोक्ते सहदेवेन वाक्ये वाक्यविशारदः ।
नकुलोऽनन्तरं तस्मादिदं वचनमाददे ॥ १

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सहदेवके इस प्र कहनेपर प्रवचनकुशल नकुलने उनके बाद यह बात कही—

वयसा शास्त्रतो धैर्यात् कुलेनाभिजनेन च ।
ह्रीमान् बलान्वितः श्रीमान् सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १
वेद चास्त्रं भरद्वाजाद् दुर्धर्षः सत्यसङ्गरः ।
यो नित्यं स्पर्धते द्रोणं भीष्मं चैव महाबलम् ॥ १३
श्लाघ्यः पार्थिववंशस्य प्रमुखे वाहिनीपतिः ।
पुत्रपौत्रैः परिवृतः शतशाख इव द्रुमः ॥ १४
यस्तताप तपो घोरं सदारः पृथिवीपतिः ।
रोषाद् द्रोणविनाशाय वीरः समितिशोभनः ॥ १५
पितेवास्मान् समाधत्ते यः सदा पार्थिवर्षभः ।
श्वशुरो द्रुपदोऽस्माकं सेनाग्रं स प्रकर्षतु ॥ १६
स द्रोणभीष्मावायातौ सहेदिति मतिर्मम ।
स हि दिव्यास्त्रविद् राजा सखा चाङ्गिरसो नृपः ॥ १७

'जो अवस्था, शास्त्रज्ञान, धैर्य, कुल और स्वजनसम् सभी दृष्टियोंसे बड़े हैं, जिनमें लज्जा, बल और श्री ती विद्यमान हैं, जो समस्त शास्त्रोंके ज्ञानमें प्रवीण हैं, जिन महर्षि भरद्वाजसे अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त हुई है, जो सत्यप्रति एवं दुर्धर्ष योद्धा हैं, महाबली भीष्म और द्रोणाचार्यसे स स्पर्धा रखते हैं, जो समस्त राजाओंके समूहकी प्रशंसाके पा हैं और युद्धके मुहानेपर खड़े हो समस्त सेनाओंकी र करनेमें समर्थ हैं, बहुत-से पुत्र-पौत्रोंद्वारा घिरे रहनेके कार जिनकी सैकड़ों शाखाओंसे सम्पन्न वृक्षकी भाँति शोभा होत है, जिन महाराजने रोषपूर्वक द्रोणाचार्यके विनाशके लि पत्नीसहित घोर तपस्या की है, जो संग्रामभूमिमें सुशोभि होनेवाले शूरवीर हैं और हमलोगोंपर सदा ही पिताके समा स्नेह रखते हैं, वे हमारे श्वशुर भूपालशिरोमणि द्रुपद हमा सेनाके प्रमुख भागका संचालन करें। मेरे विचारसे राजा द्रुप ही युद्धके लिये सम्मुख आये हुए द्रोणाचार्य और भीष्म पितामहका सामना कर सकते हैं; क्योंकि वे दिव्यास्त्रोंके ज्ञात और द्रोणाचार्यके सखा हैं' ॥ १२–१७ ॥

द्रीसुताभ्यामुक्ते तु खमते कुरुनन्दनः ।
ासविर्वासवसमः सव्यसाच्यब्रवीद् वचः ॥ १८ ॥

माद्रीकुमारोंके इस प्रकार अपना विचार प्रकट करनेपर रुकुलको आनन्दित करनेवाले इन्द्रके समान पराक्रमी, न्द्रपुत्र सव्यसाची अर्जुनने इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

ोऽयं तपःप्रभावेण ऋषिसंतोषणेन च ।
देव्यः पुरुष उत्पन्नो ज्वालावर्णो महाभुजः ॥ १९ ॥
नुष्मान् कवची खड्गी रथमारुह्य दंशितः ।
ेवैर्हयवरैर्युक्तमग्निकुण्डात् समुत्थितः ॥ २० ॥
र्जन्निव महामेघो रथघोषेण वीर्यवान् ।
संहसंहननो वीरः सिंहतुल्यपराक्रमः ॥ २१ ॥
संहोरस्कः सिंहभुजः सिंहवक्षा महाबलः ।
संहप्रगर्जनो वीरः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ॥ २२ ॥
सुभ्रूः सुदंष्ट्रः सुहनुः सुबाहुः सुमुखोऽकृशः ।
सुजत्रुः सुविशालाक्षः सुपादः सुप्रतिष्ठितः ॥ २३ ॥
अभेद्यः सर्वशस्त्राणां प्रभिन्न इव वारणः ।
जज्ञे द्रोणविनाशाय सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सहेद् भीष्मस्य सायकान् ।
वज्राशनिसमस्पर्शान् दीप्तास्यानुरगानिव ॥ २५ ॥

'जो अग्निकी ज्वालाके समान कान्तिमान् महाबाहु वीर अपने पिताकी तपस्याके प्रभावसे तथा महर्षियोंके कृपा-प्रसादसे उत्पन्न हुआ दिव्य पुरुष है, जो अग्निकुण्डसे कवच, धनुष और खड्ग धारण किये प्रकट हुआ और तत्काल ही दिव्य एवं उत्तम अश्वोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ हो युद्धके लिये सुसज्जित देखा गया था, जो पराक्रमी वीर अपने रथकी घरघराहटसे गर्जते हुए महामेघके समान जान पड़ता है, जिसके शरीरकी गठन, पराक्रम, हृदय, वक्षःस्थल, बाहु, कंधे और गर्जना–ये सभी सिंहके समान हैं, जो महाबली, महातेजस्वी और महान् वीर है, जिसकी भौंहें, दन्तपंक्ति, ठोड़ी, भुजाएँ और मुख बहुत सुन्दर हैं, जो सर्वथा हृष्ट-पुष्ट है, जिसके गलेकी हँसुली सुन्दर दिखायी देती है, जिसके बड़े-बड़े नेत्र और चरण परम सुन्दर हैं, जिसका किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे भेद नहीं हो सकता, जो मदकी धारा बहानेवाले गजराजके सदृश पराक्रमी वीर द्रोणाचार्यका विनाश करनेके लिये उत्पन्न हुआ है तथा जो सत्यवादी एवं जितेन्द्रिय है, उस धृष्टद्युम्नको ही मैं प्रधान सेनापति बनानेके योग्य मानता हूँ। पितामह भीष्मके बाण प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान भयंकर हैं, उनका स्पर्श वज्र और अशनिके समान दुःसह है, वीर धृष्टद्युम्न ही उन बाणोंका आघात सह सकता है ॥ १९—२५ ॥

यमदूतसमान् वेगे निपाते पावकोपमान् ।
रामेणाजौ विषहितान् वज्रनिष्पेषदारुणान् ॥ २६ ॥
पुरुषं तं न पश्यामि यः सहेत महाव्रतम् ।
धृष्टद्युम्नमृते राजन्निति मे धीयते मतिः ॥ २७ ॥

'पितामह भीष्मके बाण आघात करनेमें अग्निके समान तेजस्वी एवं यमदूतोंके समान प्राणोंका हरण करनेवाले हैं। वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उन बाणोंको पहले युद्धमें परशुरामजीने ही सहा था। राजन्! मैं धृष्टद्युम्नके सिवा ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता, जो महान् व्रतधारी भीष्मका वेग सह सके। मेरा तो यही निश्चय है॥२६-२७॥

क्षिप्रहस्तश्चित्रयोधी मतः सेनापतिर्मम ।
अभेद्यकवचः श्रीमान् मातङ्ग इव यूथपः ॥ २८ ॥

'जो शीघ्रतापूर्वक हस्तसंचालन करनेवाला, विचित्र पद्धतिसे युद्ध करनेमें कुशल, अभेद्य कवचसे सम्पन्न एवं यूथपति गजराजकी भाँति सुशोभित होनेवाला है, मेरी सम्मतिमें वह श्रीमान् धृष्टद्युम्न ही सेनापति होनेके योग्य है ॥'

(*वैशम्पायन उवाच*

अर्जुनेनैवमुक्ते तु भीमो वाक्यं समाददे ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर भीमसेनने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया ॥

भीमसेन उवाच

वधार्थं यः समुत्पन्नः शिखण्डी द्रुपदात्मजः ।
वदन्ति सिद्धा राजेन्द्र ऋषयश्च समागताः ॥ २९ ॥
यस्य संग्राममध्ये तु दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वतः ।
रूपं द्रक्ष्यन्ति पुरुषा रामस्येव महात्मनः ॥ ३० ॥
न तं युद्धे प्रपश्यामि यो भिन्द्यात् तु शिखण्डिनम् ।
शस्त्रेण समरे राजन् संनद्धं स्यन्दने स्थितम् ॥ ३१ ॥
द्वैरथे समरे नान्यो भीष्मं हन्यान्महाव्रतम् ।
शिखण्डिनमृते वीरं स मे सेनापतिर्मतः ॥ ३२ ॥

भीमसेनने कहा—राजेन्द्र! द्रुपदकुमार शिखण्डी पितामह भीष्मका वध करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। यह बात यहाँ पधारे हुए सिद्धों एवं महर्षियोंने बतायी है! संग्रामभूमिमें जब वह अपना दिव्यास्त्र प्रकट करता है, उस समय लोगोंको उसका स्वरूप महात्मा परशुरामके समान दिखायी देता है। मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें शिखण्डीको मार सके। राजन्! जब महाव्रती भीष्म रथपर बैठकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो सामने आयेंगे, उस समय द्वैरथ युद्धमें शूरवीर शिखण्डीके सिवा दूसरा कोई योद्धा उन्हें नहीं मार सकता। अतः मेरे मतमें वही प्रधान सेनापति होनेके योग्य है ॥ २९—३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वस्य जगतस्तात सारासारं बलाबलम् ।
सर्वं जानाति धर्मात्मा मतमेषां च केशवः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर बोले—तात ! धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्‌के समस्त सारासार और बलाबलको जानते हैं तथा इस विषयमें इन सब राजाओंका क्या मत है—इससे भी ये पूर्ण परिचित हैं ॥ ३३ ॥

यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु सेनापतिर्मम ।
कृतास्त्रोऽप्यकृतास्त्रो वा वृद्धो वा यदि वा युवा ॥३४॥

अतः दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण जिसका नाम बतावें, वही हमारी सेनाका प्रधान सेनापति हो । फिर वह अस्त्र-विद्यामें निपुण हो या न हो, वृद्ध हो या युवा हो (इसकी चिन्ता अपने लोगोंको नहीं करनी चाहिये) ॥ ३४ ॥

एष नो विजये मूलमेष तात विपर्यये ।
अत्र प्राणाश्च राज्यं च भावाभावौ सुखासुखे॥ ३५ ॥

तात ! ये भगवान् ही हमारी विजय अथवा पराजयके मूल कारण हैं । हमारे प्राण, राज्य, भाव, अभाव तथा सुख और दुःख इन्हींपर अवलम्बित हैं ॥ ३५ ॥

एष धाता विधाता च सिद्धिरत्र प्रतिष्ठिता ।
यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु नो वाहिनीपतिः ॥ ३६ ॥

यही सबके कर्ता-धर्ता हैं । हमारे समस्त कार्योंकी सिद्धि इन्हींपर निर्भर करती है । अतः भगवान् श्रीकृष्ण जिसके लिये प्रस्ताव करें, वही हमारी विशाल वाहिनीका प्रधान अधिनायक हो ॥ ३६ ॥

ब्रवीतु वदतां श्रेष्ठो निशा समभिवर्तते ।
ततः सेनापतिं कृत्वा कृष्णस्य वशवर्तिनः ॥ ३७ ॥
रात्रेः शेषे व्यतिक्रान्ते प्रयास्यामो रणाजिरम् ।
अधिवासितशस्त्राश्च कृतकौतुकमङ्गलाः ॥ ३८ ॥

अतः वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण अपना विचार प्रकट करें। इस समय रात्रि है । हम अभी सेनापतिका निर्वाचन करके रात बीतनेपर अस्त्र-शस्त्रोंका अधिवासन (गन्ध आदि उपचारोंद्वारा पूजन), कौतुक (रक्षाबन्धन आदि) तथा मङ्गलकृत्य (स्वस्तिवाचन आदि) करनेके अनन्तर श्रीकृष्ण-के अधीन हो समराङ्गणकी यात्रा करेंगे ॥ ३७-३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षो धनंजयमवेक्ष्य ह ॥ ३९ ॥
ममाप्येते महाराज भवद्भिर्ये उदाहृताः ।
नेतारस्तव सेनाया मता विक्रान्तयोधिनः ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी ओर देखते हुए कहा—'महाराज ! आपलोगोंने जिन-जिन वीरोंके नाम लिये हैं, ये सभी मेरी रायमें भी सेनापति होनेके योग्य हैं; क्योंकि ये सभी बड़े पराक्रमी योद्धा हैं ॥ ३९-४० ॥

सर्व एव समर्था हि तव शत्रुं प्रबाधितुम् ।
इन्द्रस्यापि भयं ह्येते जनयेयुर्महाहवे ॥
किं पुनर्धार्तराष्ट्राणां लुब्धानां पापचेतसाम् ।

'आपके शत्रुओंको परास्त करनेकी शक्ति इन विद्यमान है । ये महान् संग्राममें इन्द्रके मनमें भी उत्पन्न कर सकते हैं; फिर पापात्मा और लोभी पुत्रोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४१½ ॥

मयापि हि महाबाहो त्वत्प्रियार्थं महाहवे ॥
कृतो यत्नो महांस्तत्र शमः स्यादिति भारत ।
धर्मस्य गतमानृण्यं न स्म वाच्या विवक्षताम् ॥

'महाबाहु भरतनन्दन ! मैंने भी महान् युद्धकी सा देखकर तुम्हारा प्रिय करनेके लिये शान्ति-स्थापनके महान् प्रयत्न किया था । इससे हमलोग धर्मके ऋण उऋण हो गये हैं । दूसरोंके दोष बतानेवाले लोग भी हमारे ऊपर दोषारोपण नहीं कर सकते ॥ ४२-४३ ॥

कृतास्त्रं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ।
धार्तराष्ट्रो बलस्थं च पश्यत्यात्मानमातुरः ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धके लिये आतुर हो वह मूर्ख और अयोग्य होकर भी अपनेको अस्त्र पारङ्गत मानता है और दुर्बल होकर भी अपनेको समझता है ॥ ४४ ॥

युज्यतां वाहिनी साधु वधसाध्या हि मे मताः ।
न धार्तराष्ट्राः शक्ष्यन्ति स्थातुं दृष्ट्वा धनंजयम् ॥४
भीमसेनं च संक्रुद्धं यमौ चापि यमोपमौ ।
युयुधानद्वितीयं च धृष्टद्युम्नममर्षणम् ॥४
अभिमन्युं द्रौपदेयान् विराटद्रुपदावपि ।
अक्षौहिणीपतींश्चान्यान् नरेन्द्रान् भीमविक्रमान् ॥

'अतः आप अपनी सेनाको युद्धके लिये अच्छी सुसज्जित कीजिये; क्योंकि मेरे मतमें वे शत्रुवधसे ही वश हो सकते हैं । वीर अर्जुन, क्रोधमें भरे हुए भीमसेन, राजके समान नकुल-सहदेव, सात्यकिसहित अमर्ष धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, विराट, तथा अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति अन्यान्य भयंकर पराक्रमी नरेशोंको युद्धके लिये उद्यत देखकर धृतराष्ट्रके पुत्र रण में टिक नहीं सकेंगे ॥ ४५–४७ ॥

सारवद् बलमस्माकं दुष्प्रधर्षं दुरासदम् ।
धार्तराष्ट्रबलं संख्ये हनिष्यति न संशयः ॥४
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सेनापतिमरिंदम ।

'हमारी सेना अत्यन्त शक्तिशाली, दुर्धर्ष और दुर्गम वह युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालेगी, संशय नहीं है । शत्रुदमन ! मैं धृष्टद्युम्नको ही प्रधान सेना होने योग्य मानता हूँ' ॥ ४८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

मुक्ते तु कृष्णेन सम्प्राहृष्यन्नरोत्तमाः ॥ ४९ ॥
षां प्रहृष्टमनसां नादः समभवन्महान् ।
ग इत्यथ सैन्यानां त्वरतां सम्प्रधावताम् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके ा कहनेपर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए । फिर युद्धके लिये 'सुसज्जित हो जाओ, सुसज्जित हो जाओ' ऐसा ते हुए समस्त सैनिक बड़ी उतावलीके साथ दौड़-धूप ने लगे । उस समय प्रसन्न चित्तवाले उन वीरोंका हान् हर्षनाद सब ओर गूँज उठा ॥ ४९-५० ॥

वारणशब्दाश्च नेमिघोषाश्च सर्वतः ।
दुन्दुभिघोषाश्च तुमुलाः सर्वतोऽभवन् ॥ ५१ ॥

सब ओर घोड़े, हाथी और रथोंका घोष होने लगा । मी ओर शंख और दुन्दुभियोंकी भयानक ध्वनि गूँजने लगी॥

दुग्रं सागरनिभं क्षुब्धं बलसमागमम् ।
थपत्तिगजोदग्रं महोर्मिभिरिवाकुलम् ॥ ५२ ॥

रथ, पैदल और हाथियोंसे भरी हुई वह भयंकर सेना त्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त महासागरके समान क्षुब्ध हो उठी ॥

ावतामाह्वयानानां तनुत्राणि च बध्नताम् ।
यास्यतां पाण्डवानां ससैन्यानां समन्ततः ॥ ५३ ॥
ङ्गेव पूर्णा दुर्धर्षा समदृश्यत वाहिनी ।

रणयात्राके लिये उद्यत हुए पाण्डव और उनके सैनिक ब ओर दौड़ते, पुकारते और कवच बाँधते दिखायी दिये । नकी वह विशाल वाहिनी जलसे परिपूर्ण गङ्गाके समान र्गम दिखायी देती थी ॥ ५३½ ॥

ग्रानीके भीमसेनो माद्रीपुत्रौ च दंशितौ ॥ ५४ ॥
ौभद्रो द्रौपदेयाश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
भद्रकाश्च पञ्चाला भीमसेनमुखा ययुः ॥ ५५ ॥

सेनाके आगे-आगे भीमसेन, कवचधारी माद्रीकुमार कुल-सहदेव, सुभद्राकुमार अभिमन्यु, द्रौपदीके सभी पुत्र, ुपद-कुमार धृष्टद्युम्न, प्रभद्रकगण और पाञ्चालदेशीय क्षत्रिय ीर चले । इन सबने भीमसेनको अपने आगे कर लिया था ॥

तः शब्दः समभवत् समुद्रस्येव पर्वणि ।
ष्टानां सम्प्रयातानां घोषो दिवमिवास्पृशत् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर जैसे पूर्णिमाके दिन बढ़ते हुए समुद्रका कोलाहल ुनायी देता है, उसी प्रकार हर्ष और उत्साहमें भरकर युद्धके लिये यात्रा करनेवाले उन सैनिकोंका महान् घोष सब ओर फैलकर मानो स्वर्गलोकतक जा पहुँचा ॥ ५६ ॥

प्रहृष्टा दंशिता योधाः परानीकविदारणाः ।
तेषां मध्ये ययौ राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ५७ ॥

हर्षमें भरे हुए और कवच आदिसे सुसज्जित वे समस्त सैनिक शत्रु-सेनाको विदीर्ण करनेका उत्साह रखते थे । कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर समस्त सैनिकोंके बीचमें होकर चले ॥

शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
कोशं यन्त्रायुधं चैव ये च वैद्याश्चिकित्सकाः ॥ ५८ ॥

सामान ढोनेवाली गाड़ी, बाजार, डेरे-तम्बू, रथ आदि सवारी, खजाना, यन्त्रचालित अस्त्र और चिकित्साकुशल वैद्य भी उनके साथ-साथ चले ॥ ५८ ॥

फल्गु यच्च बलं किंचिद् यच्चापि कृशदुर्बलम् ।
तत् संगृह्य ययौ राजा ये चापि परिचारकाः ॥ ५९ ॥

राजा युधिष्ठिरने जो कोई भी सेना सारहीन, कृशकाय अथवा दुर्बल थी, सबकों एवं अन्य परिचारकोंको उपप्लव्यमें एकत्र करके वहाँसे प्रस्थान कर दिया ॥ ५९ ॥

उपप्लव्ये तु पाञ्चाली द्रौपदी सत्यवादिनी ।
सह स्त्रीभिर्निववृते दासीदाससमावृता ॥ ६० ॥

पाञ्चालराजकुमारी सत्यवादिनी द्रौपदी दास-दासियोंसे घिरी हुई कुछ दूरतक महाराजके साथ गयी । फिर सभी स्त्रियोंके साथ उपप्लव्य नगरमें लौट आयी ॥ ६० ॥

कृत्वा मूलप्रतीकारं गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
स्कन्धावारेण महता प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥ ६१ ॥

पाण्डवलोग दुर्गकी रक्षाके लिये आवश्यक स्थावर (परकोटे और खाईं आदि) तथा जङ्गम (पहरेदार सैनिकोंकी नियुक्ति आदि) उपायोंद्वारा स्त्रियों और धन आदिकी सुरक्षाकी समुचित व्यवस्था करके बहुत-से खेमे और तम्बू आदि साथ लेकर प्रस्थित हुए ॥ ६१ ॥

ददतो गां हिरण्यं च ब्राह्मणैरभिसंवृताः ।
स्तूयमाना ययू राजन् रथैर्मणिविभूषितैः ॥ ६२ ॥

राजन्! ब्राह्मणलोग चारों ओरसे घेरकर पाण्डवोंके गुण गाते और पाण्डवलोग उन्हें गौओं तथा सुवर्ण आदिका दान देते थे । इस प्रकार वे मणिभूषित रथोंपर बैठकर यात्रा कर रहे थे ॥ ६२ ॥

केकया धृष्टकेतुश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च शिखण्डी चापराजितः ॥ ६३ ॥
हृष्टास्तुष्टाः कवचिनः सशस्त्राः समलंकृताः ।
राजानमन्वयुः सर्वे परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥

(पाँचों भाई) केकयराजकुमार, धृष्टकेतु, काशिराजके पुत्र अभिभू, श्रेणिमान्, वसुदान और अपराजित वीर शिखण्डी—ये सब लोग आभूषण और कवच धारण करके हाथोंमें शस्त्र लिये हर्ष और उल्लासमें भरकर राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर उनके साथ-साथ जा रहे थे ॥ ६३-६४ ॥

जघनार्धे विराटश्च याज्ञसेनिश्च सौमकिः ।
सुधर्मा कुन्तिभोजश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ॥ ६५ ॥
रथायुतानि चत्वारि हयाः पञ्चगुणास्तथा ।
पत्तिसैन्यं दशगुणं गजानामयुतानि षट् ॥ ६६ ॥

सेनाके पिछले आधे भागमें राजा विराट, सोमकवंशी द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, सुधर्मा, कुन्तिभोज और धृष्टद्युम्नके पुत्र जा रहे थे। इनके साथ चालीस हजार रथ, दो लाख घोड़े, चार लाख पैदल और साठ हजार हाथी थे।६५-६६।

अनाधृष्टिश्चेकितानो धृष्टकेतुश्च सात्यकिः।
परिवार्य ययुः सर्वे वासुदेवधनंजयौ ॥ ६७ ॥

अनाधृष्टि, चेकितान, धृष्टकेतु तथा सात्यकि—ये सब लोग भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको घेरकर चल रहे थे ॥ ६७॥

आसाद्य तु कुरुक्षेत्रं व्यूढानीकाः प्रहारिणः।
पाण्डवाः समदृश्यन्त नर्दन्तो वृषभा इव ॥ ६८ ॥

इस प्रकार सेनाकी व्यूहरचना करके प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए पाण्डवसैनिक कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर साँड़ोंके समान गर्जन करते हुए दिखायी देने लगे ॥ ६८ ॥

तेऽवगाह्य कुरुक्षेत्रं शङ्खान् दध्मुररिंदमाः।
तथैव दध्मतुः शङ्खं वासुदेवधनंजयौ ॥

उन शत्रुदमन वीरोंने कुरुक्षेत्रकी सीमामें पहुँचकर अपने शङ्ख बजाये। इसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जु शङ्खध्वनि की ॥ ६९ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
निशम्य सर्वसैन्यानि समहृष्यन्त सर्वशः ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान पाञ्चजन्यका घोष सुनकर सब ओर फैले हुए समस्त पाण्डव-सैनिक उल्लसित एवं रोमाञ्चित हो उठे ॥ ७० ॥

शङ्खदुन्दुभिसंसृष्टः सिंहनादस्तरस्विनाम्।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च सागरांश्चान्वनादयत् ॥

शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे मिला हुआ वे वीरोंका सिंहनाद पृथ्वी, आकाश तथा समुद्रोंतक फैल सबको प्रतिध्वनित करने लगा ॥७१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि कुरुक्षेत्रप्रवेशे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें पाण्डवसेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेशविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७१½ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रमें पाण्डवसेनाका पड़ाव तथा शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततो देशे समे स्निग्धे प्रभूतयवसेन्धने।
निवेशयामास तदा सेनां राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने एक चिकने और समतल प्रदेशमें जहाँ घास और ईंधनकी अधिकता थी, अपनी सेनाका पड़ाव डाला ॥ १ ॥

परिहृत्य श्मशानानि देवतायतनानि च।
आश्रमांश्च महर्षीणां तीर्थान्यायतनानि च ॥ २ ॥
मधुरानूषरे देशे शुचौ पुण्ये महामतिः।
निवेशं कारयामास कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

श्मशान, देवमन्दिर, महर्षियोंके आश्रम, तीर्थ और सिद्धक्षेत्र—इन सबका परित्याग करके उन स्थानोंसे बहुत दूर ऊसररहित मनोहर शुद्ध एवं पवित्र स्थानमें जाकर कुन्तीपुत्र महामति युधिष्ठिरने अपनी सेनाको ठहराया ॥ २-३ ॥

ततश्च पुनरुत्थाय सुखी विश्रान्तवाहनः।
प्रययौ पृथिवीपालैर्वृतः शतसहस्रशः ॥ ४ ॥
विद्राव्य शतशो गुल्मान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान्।
पर्यक्रामत् समन्ताच्च पार्थेन सह केशवः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् समस्त वाहनोंके विश्राम कर लेनेपर स्वयं भी विश्राम-सुखका अनुभव करके भगवान् श्रीकृष्ण उठे और सैकड़ों-हजारों भूमिपालोंसे घिरकर कुन्तीपुत्र अर्जुनके साथ आगे बढ़े। उन्होंने दुर्योधनके सैकड़ों सैनिक दलोंको भगाकर वहाँ सब ओर विचरण करना प्रारम्भ किया।४

शिविरं मापयामास धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
सात्यकिश्च रथोदारो युयुधानः प्रतापवान् ॥

द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा प्रतापशाली एवं उदा सत्यकपुत्र युयुधानने शिविर बनाने योग्य भूमि नापी ॥

आसाद्य सरितं पुण्यां कुरुक्षेत्रे हिरण्वतीम्।
सूपतीर्थां शुचिजलां शर्करापङ्कवर्जिताम् ॥
खानयामास परिखां केशवस्तत्र भारत।
गुप्त्यर्थमपि चादिश्य बलं तत्र न्यवेशयत् ॥
विधिर्यः शिविरस्यासीत् पाण्डवानां महात्मनाम्।
तद्विधानि नरेन्द्राणां कारयामास केशवः ॥

भरतनन्दन जनमेजय! कुरुक्षेत्रमें हिरण्वती न एक पवित्र नदी है, जो स्वच्छ एवं विशुद्ध जलसे भरी उसके तटपर अनेक सुन्दर घाट हैं। उस नदीमें कं पत्थर और कीचड़का नाम नहीं है। उसके समीप पहुँ भगवान् श्रीकृष्णने खाई खुदवायी और उसकी रक्षाके पहरेदारोंको नियुक्त करके वहीं सेनाको ठहराया। म पाण्डवोंके लिये शिविरका निर्माण जिस विधिसे किया था, उसी प्रकारके भगवान् केशवने अन्य राजाओंके शिविर बनवाये ॥ ७-९ ॥

प्रभूततरकाष्ठानि दुराधर्षतराणि च ।
भक्ष्यभोज्यान्नपानानि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥
शिबिराणि महार्हाणि राज्ञां तत्र पृथक् पृथक् ।
विमानानीव राजेन्द्र निविष्टानि महीतले ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! उस समय राजाओंके लिये सैकड़ों और हजारों-की संख्यामें दुर्धर्ष एवं बहुमूल्य शिविर पृथक्-पृथक् बनवाये गये थे । उनके भीतर बहुत-से काष्ठों तथा प्रचुर मात्रामें भक्ष्य-भोज्य अन्न एवं पान-सामग्रीका संग्रह किया गया था । वे समस्त शिविर भूतलपर रहते हुए विमानोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १०-११ ॥

तत्रासञ्शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः ।
सर्वोपकरणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः ॥ १२ ॥

वहाँ सैकड़ों विद्वान् शिल्पी और शास्त्रविशारद वैद्य वेतन देकर रक्खे गये थे, जो समस्त आवश्यक उपकरणोंके साथ वहाँ रहते थे ॥ १२ ॥

ज्याधनुर्वर्मशस्त्राणां तथैव मधुसर्पिषोः ।
ससर्जरसपांसूनां राशयः पर्वतोपमाः ॥ १३ ॥

प्रत्येक शिविरमें प्रत्यञ्चा, धनुष, कवच, अस्त्र-शस्त्र, मधु, घी तथा रालका चूरा—इन सबके पहाड़ों-जैसे ढेर लगे हुए थे ॥

बहूदकं सुयवसं तुषाङ्गारसमन्वितम् ।
शिबिरे शिबिरे राजा संचकार युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

राजा युधिष्ठिरने प्रत्येक शिविरमें प्रचुर जल, सुन्दर घास, भूसी और अग्निका संग्रह करा रक्खा था ॥ १४ ॥

महायन्त्राणि नाराचास्तोमराणि परश्वधाः ।
धनूंषि कवचादीनि ऋष्टयस्तूणसंयुताः ॥ १५ ॥

बड़े-बड़े यन्त्र, नाराच, तोमर, फरसे, धनुष, कवच, ऋष्टि और तरकस—ये सब वस्तुएँ भी उन सभी शिविरोंमें संगृहीत थीं ॥ १५ ॥

गजाः कण्टकसंनाहा लोहवर्मोत्तरच्छदाः ।
दृश्यन्ते तत्र गिर्याभाः सहस्रशतयोधिनः ॥ १६ ॥

वहाँ लाखों योद्धाओंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ पर्वतोंके समान विशालकाय बहुत-से हाथी दिखायी देते थे, जो काँटेदार साज-सामान, लोहेके कवच तथा लोहेकी ही झूल धारण किये हुए थे ॥ १६ ॥

निविष्टान् पाण्डवांस्तत्र ज्ञात्वा मित्राणि भारत ।
अभिसस्रुर्यथादेशं सबलाः सहवाहनाः ॥ १७ ॥

भारत ! पाण्डवोंने कुरुक्षेत्रमें जाकर अपनी सेनाका पड़ाव डाल दिया है, यह जानकर उनसे मित्रता रखनेवाले बहुत-से राजा अपनी सेना और सवारियोंके साथ उनके पास, जहाँ वे ठहरे थे, आये ॥ १७ ॥

चरितब्रह्मचर्यास्ते सोमपा भूरिदक्षिणाः ।
जयाय पाण्डुपुत्राणां समाजग्मुर्महीक्षितः ॥ १८ ॥

जिन्होंने यथासमय ब्रह्मचर्यव्रतका पालन, यज्ञोंमें सोमरस-का पान तथा प्रचुर दक्षिणाओंका दान किया था, ऐसे भूपालगण पाण्डवोंकी विजयके लिये कुरुक्षेत्रमें पधारे ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि शिबिरादिनिर्माणे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें शिविर आदिका निर्माणविषयक
एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका सेनाको सुसज्जित होने और शिविर निर्माण करनेके लिये आज्ञा देना तथा सैनिकोंकी रणयात्राके लिये तैयारी

जनमेजय उवाच

युधिष्ठिरं सहानीकमुपायान्तं युयुत्सया ।
संनिविष्टं कुरुक्षेत्रे वासुदेवेन पालितम् ॥ १ ॥
विराटद्रुपदाभ्यां च सपुत्राभ्यां समन्वितम् ।
केकयैर्वृष्णिभिश्चैव पार्थिवैः शतशो वृतम् ॥ २ ॥
महेन्द्रमिव चादित्यैरभिगुप्तं महारथैः ।
श्रुत्वा दुर्योधनो राजा किं कार्यं प्रत्यपद्यत ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! दुर्योधनने जब यह सुना कि राजा युधिष्ठिर युद्धकी इच्छासे सेनाओंके साथ यात्रा करके भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हो कुरुक्षेत्रमें पहुँच गये और वहाँ सेनाका पड़ाव डाले बैठे हैं, पुत्रोंसहित राजा विराट और द्रुपद भी उनके साथ हैं, केकयराजकुमार, वृष्णिवंशी योद्धा तथा सैकड़ों भूपाल उन्हें घेरे रहते हैं तथा वे आदित्योंसहित घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति अनेक महारथी योद्धाओंद्वारा सुरक्षित हैं, तब उसने क्या किया? १–३

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते ।
सम्भ्रमे तुमुले तस्मिन् यदासीत् कुरुजाङ्गले ॥ ४ ॥

महामते ! कुरुक्षेत्रके उस भयंकर समारोहमें जो कुछ हुआ हो वह सब मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

व्यथयेयुरिमे देवान् सेन्द्रानपि समागमे ।
पाण्डवा वासुदेवश्च विराटद्रुपदौ तथा ॥ ५ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः शिखण्डी च महारथः ।

युधामन्युश्च विक्रान्तो देवैरपि दुरासदः ॥ ६॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कुरूणां पाण्डवानां च यद् यदासीद् विचेष्टितम् ॥७॥

तपोधन! पाण्डव, भगवान् श्रीकृष्ण, विराट, द्रुपद, पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्न, महारथी शिखण्डी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय महापराक्रमी युधामन्यु—ये सब तो संग्राममें एकत्र होनेपर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी पीड़ित कर सकते हैं; अतः वहाँ कौरवों तथा पाण्डवोंने जो-जो कर्म किया था वह सब विस्तारपूर्वक सुननेकी मेरी इच्छा है ॥ ५—७ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतियाते तु दाशार्हे राजा दुर्योधनस्तदा ।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चाब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर उस समय राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन और शकुनिसे इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

अकृतेनैव कार्येण गतः पार्थानधोक्षजः ।
स एनान्मन्युनाऽऽविष्टो ध्रुवं धक्ष्यत्यसंशयम् ॥ ९ ॥

'श्रीकृष्ण यहाँसे कृतकार्य होकर नहीं गये हैं। इसके लिये वे क्रोधमें भरकर पाण्डवोंको निश्चय ही युद्धके लिये उत्तेजित करेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ९ ॥

इष्टो हि वासुदेवस्य पाण्डवैर्मम विग्रहः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव दाशार्हस्य मते स्थितौ ॥ १० ॥

'वास्तवमें श्रीकृष्ण यही चाहते हैं कि पाण्डवोंके साथ मेरा युद्ध हो। भीमसेन और अर्जुन—ये दोनों भाई तो श्रीकृष्णके ही मतमें रहनेवाले हैं ॥ १० ॥

अजातशत्रुरत्यर्थं भीमसेनवशानुगः ।
निकृतश्च मया पूर्वं सह सर्वैः सहोदरैः ॥ ११ ॥

'अजातशत्रु युधिष्ठिर भी अधिकतर भीमसेनके वशमें रहा करते हैं। इसके सिवा मैंने पहले सब भाइयोंसहित उनका तिरस्कार भी किया है ॥ ११ ॥

विराटद्रुपदौ चैव कृतवैरौ मया सह ।
तौ च सेनाप्रणेतारौ वासुदेववशानुगौ ॥ १२ ॥

'विराट और द्रुपद तो मेरे साथ पहलेसे ही वैर रखते हैं। वे दोनों पाण्डव-सेनाके संचालक तथा श्रीकृष्णकी आज्ञाके अधीन रहनेवाले हैं ॥ १२ ॥

भविता विग्रहः सोऽयं तुमुलो लोमहर्षणः ।
तस्मात् सांग्रामिकं सर्वं कारयध्वमतन्द्रिताः ॥ १३ ॥

'अतः अब हमलोगोंका पाण्डवोंके साथ होनेवाला यह युद्ध बड़ा ही भयंकर और रोमाञ्चकारी होगा। इसलिये राजाओ! आप सब लोग आलस्य छोड़कर युद्धकी सारी तैयारी करें ॥

शिबिराणि कुरुक्षेत्रे क्रियन्तां वसुधाधिपाः ।
सुपर्याप्तावकाशानि दुरादेयानि शत्रुभिः ॥ १४ ॥
आसन्नजलकाष्ठानि शतशोऽथ सहस्रशः ।
अच्छेद्याहारमार्गाणि वन्धोच्छ्रयचितानि च ॥ १५ ॥

'भूमिपालो! आप कुरुक्षेत्रमें सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें ऐसे शिविर तैयार करावें, जिनमें अपनी आवश्यकताके अनुसार पर्याप्त अवकाश हो तथा शत्रुलोग जिनपर अधिकार न कर सकें। उनमें पास ही जल और काष्ठ आदि मिलनेकी सुविधाएँ हों। उनमें ऐसे मार्ग होने चाहिये जिनके द्वारा खाद्यसामग्री सुविधासे लायी जा सके और शत्रुलोग उसे नष्ट न कर सकें तथा उनके चारों तरफ किलेबन्दी कर देनी चाहिये ॥ १४-१५ ॥

विविधायुधपूर्णानि पताकाध्वजवन्ति च ।
समाश्च तेषां पन्थानः क्रियन्तां नगराद् बहिः ॥ १६ ॥

'उन शिविरोंको नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे भरपूर तथा ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित रखना चाहिये। शिविरोंका जो नगर बसाया जाय, उससे बाहर अनेक सीधे तथा समतल मार्ग उन शिविरोंमें जानेके लिये बनाये जायँ ॥१६॥

प्रयाणं घुष्यतामद्य श्वोभूत इति मा चिरम् ।
ते तथेति प्रतिज्ञाय श्वोभूते चक्रिरे तथा ॥ १७ ॥
हृष्टरूपा महात्मानो निवासाय महीक्षिताम् ।

'आज ही यह घोषणा करा दी जाय कि कल सवेरे ही युद्धके लिये प्रस्थान करना है। इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये। 'दुर्योधनका यह आदेश सुनकर 'बहुत अच्छा—ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके महामना कर्ण आदिने अत्यन्त प्रसन्न होकर सवेरा होते ही राजाओंके निवासके लिये शिविर बनवाने आरम्भ कर दिये ॥ १७½ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे तच्छ्रुत्वा राजशासनम् ॥ १८ ॥
आसनेभ्यो महार्हेभ्य उदतिष्ठन्नमर्षिताः ।
बाहून् परिघसंकाशान् संस्पृशन्तः शनैः शनैः ॥ १९ ॥
काञ्चनाङ्गददीप्तांश्च चन्दनागुरुभूषितान् ।

तदनन्तर वहाँ आये हुए सब नरेश राजा दुर्योधनकी यह आज्ञा सुनकर रोषावेशसे परिपूर्ण हो चन्दन और अगुरुसे चर्चित तथा सोनेके भुजबंदोंसे प्रकाशित अपनी परिघके समान मोटी भुजाओंका धीरे-धीरे स्पर्श करते हुए बहुमूल्य आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ १८-१९½ ॥

उष्णीषाणि नियच्छन्तः पुण्डरीकनिभैः करैः ।
अन्तरीयोत्तरीयाणि भूषणानि च सर्वशः ॥ २० ॥

उन्होंने अपने कमलसदृश करोंसे मस्तकपर पगड़ी बाँध ली; फिर धोती, चादर और सब प्रकारके आभूषण धारण कर लिये ॥ २० ॥

ते रथान् रथिनः श्रेष्ठा हयांश्च हयकोविदाः ।
सज्जयन्ति स्म नागांश्च नागशिक्षास्वनुष्ठिताः ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ रथी अपने रथोंको, अश्वसंचालनकी कलामें कुशल योद्धा घोड़ोंको और हस्तिशिक्षामें निपुण सैनिक हाथियोंको सुसज्जित करने लगे ॥ २१ ॥

अथ वर्माणि चित्राणि काञ्चनानि बहूनि च ।
विविधानि च शस्त्राणि चक्रुः सर्वाणि सर्वशः ॥ २२ ॥

उन्होंने सोनेके बने हुए बहुत-से विचित्र कवच तथा सब प्रकारके विभिन्न अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये ।२२।

पदातयश्च पुरुषाः शस्त्राणि विविधानि च ।
उपाजह्रुः शरीरेषु हेमचित्राण्यनेकशः ॥ २३ ॥

पैदल योद्धाओंने भी अपने अङ्गोंमें सुवर्णजटित कवच तथा भाँति-भाँतिके अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये ॥२३॥

तदुत्सव इवोदग्रं सम्प्रहृष्टनरावृतम् ।
नगरं धार्तराष्ट्रस्य भारतासीत् समाकुलम् ॥ २४ ॥

जनमेजय ! दुर्योधनका वह हस्तिनापुर नगर मानो वहाँ कोई उत्सव हो रहा हो, इस प्रकार समृद्ध और हर्षोत्फुल्ल मनुष्योंसे भर गया था, इससे वहाँ बड़ी हलचल मच गयी थी ॥ २४ ॥

जनौघसलिलावर्तो रथनागाश्वमीनवान् ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः कोशसंचयरत्नवान् ॥ २५ ॥
चित्राभरणवर्मोर्मिः शस्त्रनिर्मलफेनवान् ।
प्रासादमालाद्रिवृतो रथ्यापणमहाह्रदः ॥ २६ ॥
योधचन्द्रोदयोद्भूतः कुरुराजमहार्णवः ।
व्यदृश्यत तदा राजंश्चन्द्रोदय इवोदधिः ॥ २७ ॥

राजन् ! जैसे चन्द्रोदयकालमें समुद्र उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार कुरुराज दुर्योधनरूपी महासागर सैनिक-समुदायरूपी चन्द्रमाके उदयसे अत्यन्त उल्लसित दिखायी देने लगा । सब ओर घूमता हुआ जनसमुदाय ही वहाँ जलमें उठनेवाली भँवरोंके समान जान पड़ता था । रथ, हाथी और घोड़े उसमें मछलीके समान प्रतीत होते थे । शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस कुरुराजरूपी समुद्रकी गर्जना थी । खजानोंका संग्रह ही रत्नराशिका प्रतिनिधित्व कर रहा था । योद्धाओंके विचित्र आभूषण और कवच ही उस समुद्रकी उठती हुई तरङ्गोंके समान जान पड़ते थे । चमकीले शस्त्र ही निर्मल फेन-से प्रतीत होते थे । महलोंकी पंक्तियाँ ही तटवर्ती पर्वत-सी जान पड़ती थीं । सड़कोंपर स्थित दूकानें ही मानो गुफाएँ थीं ॥ २५–२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यसज्जकरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें 'दुर्योधनका अपनी सेनाको सुसज्जित करना'
इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५३॥

* * *

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने समयोचित कर्तव्यके विषयमें पूछना, भगवान्‌का युद्धको ही कर्तव्य बताना तथा इस विषयमें युधिष्ठिरका संताप और अर्जुनद्वारा श्रीकृष्णके वचनोंका समर्थन

वैशम्पायन उवाच

वासुदेवस्य तद् वाक्यमनुस्मृत्य युधिष्ठिरः ।
पुनः पप्रच्छ वार्ष्णेयं कथं मन्दोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके पूर्वोक्त कथनका स्मरण करके युधिष्ठिरने पुनः उनसे पूछा—'भगवन् ! मन्दबुद्धि दुर्योधनने क्यों ऐसी बात कही ? ॥ १ ॥

अस्मिन्नभ्यागते काले किं च नः क्षममच्युत ।
कथं च वर्तमाना वै स्वधर्मान्न च्यवेमहि ॥ २ ॥

'अच्युत ! इस वर्तमान समयमें हमारे लिये क्या करना उचित है ? हम कैसा बर्ताव करें ? जिससे अपने धर्मसे नीचे न गिरें ॥ २ ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
वासुदेव मतज्ञोऽसि मम सभ्रातृकस्य च ॥ ३ ॥

'वासुदेव ! दुर्योधन, कर्ण और शकुनिके तथा भाइयों-सहित मेरे विचारोंको भी आप जानते हैं ॥ ३ ॥

विदुरस्यापि तद् वाक्यं श्रुतं भीष्मस्य चोभयोः ।
कुन्त्याश्च विपुलप्रज्ञ प्रज्ञा कार्त्स्न्येन ते श्रुता ॥ ४ ॥

'विदुरने और भीष्मजीने भी जो बातें कही हैं, उन्हें भी आपने सुना है । विशालबुद्धे ! माता कुन्तीका विचार भी आपने पूर्णरूपसे सुन लिया है ॥ ४ ॥

सर्वमेतदतिक्रम्य विचार्य च पुनः पुनः ।
क्षमं यन्नो महाबाहो तद् ब्रवीह्यविचारयन् ॥ ५ ॥

'महाबाहो ! इन सब विचारोंको लाँघकर स्वयं ही इस विषयपर बारंबार विचार करके हमारे लिये जो उचित हो, उसे निःसंकोच कहिये' ॥ ५ ॥

श्रुत्वैतद् धर्मराजस्य धर्मार्थसहितं वचः ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषः कृष्णो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

धर्मराजका यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरमें यह बात कही ॥ ६ ॥

कृष्ण उवाच

उक्तवानसि यद् वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
न तु तन्निकृतिप्रज्ञे कौरव्ये प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—मैंने जो धर्म और अर्थसे युक्त हितकर बात कही है, वह छल-कपट करनेमें ही कुशल कुरुवंशी दुर्योधनके मनमें नहीं बैठती है ॥ ७ ॥

न च भीष्मस्य दुर्मेधाः शृणोति विदुरस्य वा ।
मम वा भाषितं किंचित् सर्वमेवातिवर्तते ॥ ८ ॥

खोटी बुद्धिवाला वह दुष्ट न भीष्मकी, न विदुरकी और न मेरी ही कोई बात सुनता है । वह सबकी सभी बातोंको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

नैष कामयते धर्मं नैष कामयते यशः ।
जितं स मन्यते सर्वं दुरात्मा कर्णमाश्रितः ॥ ९ ॥

दुरात्मा दुर्योधन कर्णका आश्रय लेकर सभी वस्तुओंको जीती हुई ही समझता है । इसीलिये न यह धर्मकी इच्छा रखता है और न यशकी ही कामना करता है ॥ ९ ॥

बन्धमाज्ञापयामास मम चापि सुयोधनः ।
न च तं लब्धवान् कामं दुरात्मा पापनिश्चयः ॥ १० ॥

पापपूर्ण निश्चयवाले उस दुरात्मा दुर्योधनने तो मुझे भी कैद कर लेनेकी आज्ञा दे दी थी; परंतु वह उस मनोरथको पूर्ण न कर सका ॥ १० ॥

न च भीष्मो न च द्रोणो युक्तं तत्राहतुर्वचः ।
सर्वे तमनुवर्तन्ते ऋते विदुरमच्युत ॥ ११ ॥

अच्युत ! वहाँ भीष्म तथा द्रोणाचार्य भी सदा उचित बात नहीं कहते हैं । विदुरको छोड़कर अन्य सब लोग दुर्योधनका ही अनुसरण कर लेते हैं ॥ ११ ॥

शकुनिः सौबलश्चैव कर्णदुःशासनावपि ।
त्वय्ययुक्तान्यभाषन्त मूढा मूढममर्षणम् ॥ १२ ॥

सुबलपुत्र शकुनि, कर्ण और दुःशासन—इन तीनों मूर्खोंने मूढ़ और असहिष्णु दुर्योधनके समीप आपके विषयमें अनेक अनुचित बातें कही थीं ॥ १२ ॥

किं च तेन मयोक्तेन यान्यभाषत कौरवः ।
संक्षेपेण दुरात्मासौ न युक्तं त्वयि वर्तते ॥ १३ ॥

उन लोगोंने जो-जो बातें कहीं, उन्हें यदि मैं पुनः यहाँ दोहराऊँ तो इससे क्या लाभ है ? थोड़ेमें इतना ही समझ लीजिये कि वह दुरात्मा कौरव आपके प्रति न्याययुक्त बर्ताव नहीं कर रहा है ॥ १३ ॥

पार्थिवेषु न सर्वेषु य इमे तव सैनिकाः ।
यत् पापं यन्नकल्याणं सर्वं तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ १४ ॥

इन सब राजाओंमें, जो आपकी सेनामें स्थित हैं, पाप और अमङ्गलकारक भाव नहीं है, वह सब अ दुर्योधनमें विद्यमान है ॥ १४ ॥

न चापि वयमत्यर्थं परित्यागेन कर्हिचित् ।
कौरवैः शममिच्छामस्तत्र युद्धमनन्तरम् ॥ १५ ॥

हमलोग भी बहुत अधिक त्याग करके (सर्वस्व खोक कभी किसी भी दशामें कौरवोंके साथ संधिकी इच्छा रखते हैं । अतः इसके बाद हमारे लिये युद्ध ही क उचित है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे वासुदेवस्य भाषितम् ।
अब्रुवन्तो मुखं राज्ञः समुदैक्षन्त भारत ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! भगवा श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर सब राजा कुछ न बोलते हु केवल महाराज युधिष्ठिरके मुँहकी ओर देखने लगे ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरस्त्वभिप्रायमभिलक्ष्य महीक्षिताम् ।
योगमाज्ञापयामास भीमार्जुनयमैः सह ॥ १७ ॥

युधिष्ठिरने राजाओंका अभिप्राय समझकर भीम, अ तथा नकुल-सहदेवके साथ उन्हें युद्धके लिये तैयार जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १७ ॥

ततः किलकिलाभूतमनीकं पाण्डवस्य ह ।
आज्ञापिते तदा योगे समहृष्यन्त सैनिकाः ॥ १८ ॥

उस समय युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा मिलते ह समस्त योद्धा हर्षसे खिल उठे, फिर तो पाण्डवोंके सैनि किलकारियाँ करने लगे ॥ १८ ॥

अवध्यानां वधं पश्यन् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
निःश्वसन् भीमसेनं च विजयं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर यह देखकर कि युद्ध छिड़नेप अवध्य पुरुषोंका भी वध करना पड़ेगा, खेदसे लम्बी साँ खींचते हुए भीमसेन और अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

यदर्थं वनवासश्च प्राप्तं दुःखं च यन्मया ।
सोऽयमस्मानुपैत्येव परोऽनर्थः प्रयत्नतः ॥ २० ॥

'जिससे बचनेके लिये मैंने वनवासका कष्ट स्वीकार किया और नाना प्रकारके दुःख सहन किये, वही महान् अनर्थ मेरे प्रयत्नसे भी टल न सका । वह हमलोगोंपर आना ही चाहता है ॥ २० ॥

तस्मिन् यत्नः कृतोऽस्माभिः स नो हीनः प्रयत्नतः ।
अकृते तु प्रयत्नेऽस्मानुपावृत्तः कलिर्महान् ॥ २१ ॥

'यद्यपि उसे टालनेके लिये हमारी ओरसे पूरा प्रयत्न किया गया, किंतु हमारे प्रयाससे उसका निवारण नहीं हो सका और जिसके लिये कोई प्रयत्न नहीं किया गया था, वह महान् कलह स्वतः हमारे ऊपर आ गया ॥ २१ ॥

कथं ह्यवध्यैः संग्रामः कार्यः सह भविष्यति ।
कथं हत्वा गुरून् वृद्धान् विजयो नो भविष्यति ॥ २२ ॥

'जो लोग मारने योग्य नहीं हैं, उनके साथ युद्ध करना कैसे उचित होगा ? वृद्ध गुरुजनोंका वध करके हमें विजय किस प्रकार प्राप्त होगी ?' ॥ २२ ॥

तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्य सव्यसाची परंतपः ।
यदुक्तं वासुदेवेन श्रावयामास तद् वचः ॥ २३ ॥

धर्मराजकी यह बात सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी कही हुई बातोंको उनसे कह सुनाया ॥ २३ ॥

उक्तवान् देवकीपुत्रः कुन्त्याश्च विदुरस्य च ।
वचनं तत् त्वया राजन् निखिलेनावधारितम् ॥ २४ ॥

वे कहने लगे—'राजन् ! देवकीनन्दन श्रीकृष्णने माता कुन्ती तथा विदुरजीके कहे हुए जो वचन आपको सुनाये थे, उनपर आपने पूर्णरूपसे विचार किया होगा ॥ २४ ॥

न च तौ वक्ष्यतोऽधर्ममिति मे नैष्ठिकी मतिः ।
नापि युक्तं च कौन्तेय निवर्तितुमयुध्यतः ॥ २५ ॥

'मेरा तो यह निश्चित मत है कि वे दोनों अधर्मकी बात नहीं कहेंगे । कुन्तीनन्दन ! अब हमारे लिये युद्धसे निवृत्त हो जाना भी उचित नहीं है' ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवोऽपि सव्यसाचिवचस्तदा ।
स्मयमानोऽब्रवीद् वाक्यं पार्थमेवमिति ब्रुवन् ॥ २६ ॥

अर्जुनका यह वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण भी युधिष्ठिरसे मुसकराते हुए बोले—'हाँ, अर्जुन ठीक कहते हैं' ॥

ततस्ते धृतसंकल्पा युद्धाय सहसैनिकाः ।
पाण्डवेया महाराज तां रात्रिं सुखमावसन् ॥ २७ ॥

महाराज जनमेजय ! तदनन्तर योद्धाओंसहित पाण्डव युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके उस रातमें वहाँ सुखपूर्वक रहे ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें युधिष्ठिर-अर्जुन-संवादविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा सेनाओंका विभाजन और पृथक्-पृथक् अक्षौहिणियोंके सेनापतियोंका अभिषेक

वैशम्पायन उवाच

व्युष्टायां वै रजन्यां हि राजा दुर्योधनस्ततः ।
व्यभजत् तान्यनीकानि दश चैकं च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रात बीतनेपर जब सवेरा हुआ, तब राजा दुर्योधनने अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका विभाग किया ॥ १ ॥

नरहस्तिरथाश्वानां सारं मध्यं च फल्गु च ।
सर्वेष्वेतेष्वनीकेषु संदिदेश नराधिपः ॥ २ ॥

राजा दुर्योधनने पैदल, हाथी, रथ और घुड़सवार—इन सभी सेनाओंमेंसे उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियोंको पृथक्-पृथक् करके उन्हें यथास्थान नियुक्त कर दिया ॥ २ ॥

सानुकर्षाः सतूणीराः सवरूथाः सतोमराः ।
सोपासङ्गाः सशक्तीकाः सनिषङ्गाः सहर्ष्टयः ॥ ३ ॥
सध्वजाः सपताकाश्च सशरासनतोमराः ।
रज्जुभिश्च विचित्राभिः सपाशाः सपरिच्छदाः ॥ ४ ॥
सकचग्रहविक्षेपाः सतैलगुडवालुकाः ।
साशीविषघटाः सर्वे ससर्जरसपांसवः ॥ ५ ॥
सघण्टफलकाः सर्वे सायोगुडजलोपलाः ।
सशालभिन्दिपालाश्च समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ६ ॥
सकाण्डदण्डकाः सर्वे ससीरविषतोमराः ।
सशूर्पपिटकाः सर्वे सदात्राङ्कुशतोमराः ॥ ७ ॥
सकीलकवचाः सर्वे वासीवृक्षादनान्विताः ।
व्याघ्रचर्मपरीवारा द्वीपिचर्मावृताश्च ते ॥ ८ ॥
सहर्ष्टयः सशृङ्गाश्च सप्रासविविधायुधाः ।
सकुठाराः सकुद्दालाः सतैलक्षौमसर्पिषः ॥ ९ ॥

वे सब वीर अनुकर्ष (रथकी मरम्मतके लिये उसके नीचे बँधा हुआ काष्ठ), तरकस, वरूथ (रथको ढकनेका बाघ आदिका चमड़ा), उपासङ्ग (जिन्हें हाथी या घोड़े उठा सकें, ऐसे तरकस), तोमर, शक्ति, निषङ्ग (पैदलोंद्वारा ले जाये जानेवाले तरकस), ऋष्टि (एक प्रकारकी लोहेकी लाठी), ध्वजा, पताका, धनुष-बाण, तरह-तरहकी रस्सियाँ, पाश, बिस्तर, कचग्रह-विक्षेप (बाल पकड़कर गिरानेका यन्त्र), तेल, गुड़, बालू, विषधर सर्पोंके घड़े, रालका चूरा, घण्टफलक (घुँघुरुओंवाली ढाल), खड्गादि लोहेके शस्त्र, औंटा हुआ गुड़का पानी, ढेले, साल, भिन्दिपाल (गोफियाँ), मोम चुपड़े हुए मुद्गर, काँटीदार लाठियाँ, हल, विष लगे हुए बाण, सूप तथा टोकरियाँ, दरात, अङ्कुश, तोमर, काँटेदार कवच, बसूले, आरे आदि, बाघ और गैंड़ेके चमड़ेसे मढ़े हुए रथ, ऋष्टि, सींग, प्रास, भाँति-भाँतिके आयुध, कुठार, कुदाल, तेलमें भींगे हुए रेशमी वस्त्र तथा घी लिये हुए थे ॥ ३—९ ॥

रुक्मजालप्रतिच्छन्ना नानामणिविभूषिताः ।
चित्रानीकाः सुवपुषो ज्वलिता इव पावकाः ॥ १० ॥

वे सभी सैनिक सोनेके जालीदार कवच धारण किये नाना प्रकारके मणिमय आभूषणोंसे विभूषित हो समस्त सेनाको ही विचित्र शोभासे सम्पन्न करते हुए अपने सुन्दर शरीरसे प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १० ॥

तथा कवचिनः शूराः शस्त्रेषु कृतनिश्चयाः ।
कुलीना हययोनिज्ञाः सारथ्ये विनिवेशिताः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार जो शस्त्र-विद्याका निश्चित ज्ञान रखनेवाले, कुलीन तथा घोड़ोंकी नस्लको पहचाननेवाले थे, वे कवचधारी शूरवीर ही सारथिके कामपर नियुक्त किये गये थे ॥ ११ ॥

बद्धारिष्टा बद्धकक्षा बद्धध्वजपताकिनः ।
बद्धाभरणनिर्यूहा बद्धचर्मासिपट्टिशाः ॥ १२ ॥

उस सेनाके रथोंमें अमङ्गल-निवारणके लिये यन्त्र और ओषधियाँ बाँधी गयी थीं । वे रस्सियोंसे खूब कसे गये थे । उन रथोंपर बँधी हुई ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं । उनके ऊपर छोटी-छोटी घंटियाँ बँधी थीं और कँगूरे जोड़े गये थे । उन सबमें ढाल-तलवार और पट्टिश आबद्ध थे ॥ १२॥

चतुर्युजो रथाः सर्वे सर्वे चोत्तमवाजिनः ।
सप्रासऋष्टिकाः सर्वे सर्वे शतशरासनाः ॥ १३ ॥

उन सभी रथोंमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे, वे सभी घोड़े अच्छी जातिके थे और सम्पूर्ण रथोंमें प्रास, ऋष्टि एवं सौ-सौ धनुष रक्खे गये थे ॥ १३ ॥

धुर्ययोर्हययोरेकस्तथान्यौ पार्ष्णिसारथी ।
तौ चापि रथिनां श्रेष्ठौ रथी च हयवित् तथा ॥ १४ ॥
नगराणीव गुप्तानि दुराधर्षाणि शत्रुभिः ।
आसन् रथसहस्राणि हेममालीनि सर्वशः ॥ १५ ॥

प्रत्येक रथके दो-दो घोड़ोंपर एक-एक रक्षक नियुक्त था, एक-एक रथके लिये दो चक्ररक्षक नियत किये गये थे। वे दोनों ही रथियोंमें श्रेष्ठ थे तथा रथी भी अश्वसंचालनकी कलामें निपुण थे । सब ओर सुवर्णमालाओंसे अलंकृत हजारों रथ शोभा पाते थे । शत्रुओंके लिये उनका भेदन करना अत्यन्त कठिन था । वे सब-के-सब नगरोंकी भाँति सुरक्षित थे ॥ १४-१५ ॥

यथा रथास्तथा नागा बद्धकक्षाः स्वलंकृताः।
बभूवुः सप्तपुरुषा रत्नवन्त इवाद्रयः ॥ १६ ॥

जिस प्रकार रथ सजाये गये थे, उसी प्रकार हाथियोंको भी स्वर्णमालाओंसे सुसज्जित किया गया था । उन सबको रस्सोंसे कसा गया था । उनपर सात-सात पुरुष बैठे हुए थे, जिससे वे हाथी रत्नयुक्त पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥१६॥

द्वावङ्कुशधरौ तत्र द्वावुत्तमधनुर्धरौ ।
द्वौ वरासिधरौ राजन्नेकः शक्तिपिनाकधृक् ॥ १७ ॥

राजन्! उनमेंसे दो पुरुष अङ्कुश लेकर महावतका काम करते थे, दो उत्तम धनुर्धर योद्धा थे, दो पुरुष अच्छी तलवारें लि रहते थे और एक पुरुष शक्ति तथा त्रिशूल धारण करता था।

गजैर्मत्तैः समाकीर्णं सर्वमायुधकोशकैः ।
तद् बभूव बलं राजन् कौरव्यस्य महात्मनः ॥ १८॥

राजन्! महामना दुर्योधनकी वह सारी सेना ही अस्त्र-शस्त्रोंके भण्डारसे युक्त मदमत्त गजराजोंसे व्याप्त हो रही थी।

आमुक्तकवचैर्युक्तैः सपताकैः स्वलङ्कृतैः ।
सादिभिश्चोपपन्नास्तु तथा चायुतशो हयाः ॥ १९॥

इसी प्रकार कवचधारी, युद्धके लिये उद्यत, आभूषणोंसे विभूषित तथा पताकाधारी सवारोंसे युक्त हजारों-लाखों घोड़े उस सेनामें मौजूद थे ॥ १९ ॥

असंग्राहाः सुसम्पन्ना हेमभाण्डपरिच्छदाः ।
अनेकशतसाहस्राः सर्वे सादिवशे स्थिताः ॥ २०॥

वे घोड़े उछल-कूद मचाने आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण सदा अपने सवारोंके वशमें रहते थे । उन्हें अच्छी शिक्षा मिली थी । वे सुनहरे साजोंसे सुसज्जित थे । उनकी संख्या कई लाख थी ॥ २० ॥

नानारूपविकाराश्च नानाकवचशस्त्रिणः ।
पदातिनो नरास्तत्र बभूवुर्हेममालिनः ॥ २१॥

उस सेनामें जो पैदल मनुष्य थे, वे भी सोनेके हारोंसे अलंकृत थे । उनके रूप-रंग, कवच और अस्त्र-शस्त्र नाना प्रकारके दिखायी देते थे ॥ २१ ॥

रथस्यासन् दश गजा गजस्य दश वाजिनः ।
नरा दश हयस्यासन् पादरक्षाः समन्ततः ॥ २२॥

एक-एक रथके पीछे दस-दस हाथी, एक-एक हाथीके पीछे दस-दस घोड़े और एक-एक घोड़ेके पीछे दस-दस पैदल सैनिक सब ओर पादरक्षक नियुक्त किये गये थे ॥

रथस्य नागाः पञ्चाशन्नागस्यासन् शतं हयाः ।
हयस्य पुरुषाः सप्त भिन्नसंधानकारिणः ॥ २३॥

एक-एक रथके पीछे पचास-पचास हाथी, एक-एक हाथीके पीछे सौ-सौ घोड़े और एक-एक घोड़ेके साथ सात-सात पैदल सैनिक इस उद्देश्यसे संगठित किये गये थे कि वे समूहसे बिछुड़ी हुई दो सैनिक टुकड़ियोंको परस्पर मिला दें ॥

सेना पञ्चशतं नागा रथास्तावन्त एव च ।
दश सेना च पृतना पृतना दशवाहिनी ॥ २४॥

पाँच सौ हाथियों और पाँच सौ रथोंकी एक सेना होती है । दस सेनाओंकी एक पृतना और दस पृतनाओंकी एक वाहिनी होती है ॥ २४ ॥

सेना च वाहिनी चैव पृतना ध्वजिनी चमूः ।
अक्षौहिणीति पर्यायैर्निरुक्ता च वरूथिनी ॥ २५॥

इसके सिवा सेना, वाहिनी, पृतना, ध्वजिनी, चमू, वरूथिनी और अक्षौहिणी—इन पर्यायवाची (समानार्थक) नामोंद्वारा भी सेनाका वर्णन किया गया है ॥ २५ ॥

एवं व्यूढान्यनीकानि कौरवेयेण धीमता ।
अक्षौहिण्यो दशैका च संख्याताः सप्त चैव ह ॥२६॥

इस प्रकार बुद्धिमान् दुर्योधनने अपनी सेनाओंको व्यूहरचनापूर्वक संगठित किया था । कुरुक्षेत्रमें ग्यारह और सात मिलकर अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं ॥

अक्षौहिण्यस्तु सप्तैव पाण्डवानामभूद् बलम् ।
अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणामभूद् बलम् ॥ २७॥

पाण्डवोंकी सेना केवल सात अक्षौहिणी थी और कौरवोंके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयी थीं ॥

नराणां पञ्चपञ्चाशदेषा पत्तिर्विधीयते ।
सेनामुखं च तिस्रस्ता गुल्म इत्यभिशब्दितम् ॥ २८ ॥

पचपन पैदलोंकी एक टुकड़ीको पत्ति कहते हैं । तीन पत्तियाँ मिलकर एक सेनामुख कहलाती हैं । सेनामुखका ही दूसरा नाम गुल्म है ॥ २८ ॥

त्रयो गुल्मा गणस्त्वासीद् गणास्त्वयुतशोऽभवन् ।
दुर्योधनस्य सेनासु योत्स्यमानाः प्रहारिणः ॥ २९ ॥

तीन गुल्मोंका एक गण होता है । दुर्योधनकी सेनाओंमें युद्ध करनेवाले पैदल योद्धाओंके ऐसे-ऐसे गण दस हजारसे भी अधिक थे ॥ २९ ॥

तत्र दुर्योधनो राजा शूरान् बुद्धिमतो नरान् ।
प्रसमीक्ष्य महाबाहुश्चक्रे सेनापतींस्तदा ॥ ३० ॥

उस समय वहाँ महाबाहु राजा दुर्योधनने अच्छी तरह सोच-विचारकर बुद्धिमान् एवं शूरवीर पुरुषोंको सेनापति बनाया ॥

पृथगक्षौहिणीनां च प्रणेतॄन् नरसत्तमान् ।
विधिवत् पूर्वमानीय पार्थिवानभ्यषेचयत् ॥ ३१ ॥
कृपं द्रोणं च शल्यं च सैन्धवं च जयद्रथम् ।
सुदक्षिणं च काम्बोजं कृतवर्माणमेव च ॥ ३२ ॥
द्रोणपुत्रं च कर्णं च भूरिश्रवसमेव च ।
शकुनिं सौबलं चैव बाह्लीकं च महाबलम् ॥ ३३ ॥

कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा—इन श्रेष्ठ पुरुषोंको एवं मद्रराज शल्य, सिंधुराज जयद्रथ, कम्बोजराज सुदक्षिण, कृतवर्मा, कर्ण, भूरिश्रवा, सुबलपुत्र शकुनि तथा महाबली बाह्लीक—इन राजाओंको पहले अपने सामने बुलाकर उन सबको पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेनाका नायक निश्चित करके विधिपूर्वक उनका अभिषेक किया ॥३१—३३॥

दिवसे दिवसे तेषां प्रतिवेलं च भारत ।
चक्रे स विविधाः पूजाः प्रत्यक्षं च पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

भारत ! दुर्योधन प्रतिदिन और प्रत्येक वेलामें उन सेनापतियोंका बारंबार विविध प्रकारसे प्रत्यक्ष पूजन करता था ॥

तथा विनियताः सर्वे ये च तेषां पदानुगाः ।
बभूवुः सैनिका राज्ञां प्रियं राज्ञश्चिकीर्षवः ॥ ३५ ॥

उनके जो अनुयायी थे, उनको भी उसी प्रकार यथायोग्य स्थानोंपर नियुक्त कर दिया गया । वे राजाओंके सैनिक राजा दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर अपने-अपने कार्यमें तत्पर हो गये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यविभागे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें दुर्योधनकी सेनाका विभागविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ१५५

* * *

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर अभिषेक और कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवं भीष्मं प्राञ्जलिर्धृतराष्ट्रजः ।
सह सर्वैर्महीपालैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन समस्त राजाओंके साथ शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जा हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

ऋते सेनाप्रणेतारं पृतना सुमहत्यपि ।
दीर्यते युद्धमासाद्य पिपीलिकपुटं यथा ॥ २ ॥

'पितामह ! कितनी ही बड़ी सेना क्यों न हो ? किसी योग्य सेनापतिके बिना युद्धमें जाकर चींटियोंकी पंक्तिके समान छिन्न-भिन्न हो जाती है ॥ २ ॥

न हि जातु द्वयोर्बुद्धिः समा भवति कर्हिचित् ।
शौर्यं च बलनेतॄणां स्पर्धते च परस्परम् ॥ ३ ॥

'दो पुरुषोंकी बुद्धि कभी समान नहीं होती । यदि दोनों ओर योग्य सेनापति हों तो उनका शौर्य एक-दूसरेकी होड़में बढ़ता है ॥ ३ ॥

श्रूयते च महाप्राज्ञ हैहयानमितौजसः ।
अभ्ययुर्ब्राह्मणाः सर्वे समुच्छ्रितकुशध्वजाः ॥ ४ ॥

'महामते ! सुना जाता है कि समस्त ब्राह्मणोंने अपनी कुशमयी ध्वजा फहराते हुए पहले कभी अमिततेजस्वी हैहयवंशके क्षत्रियोंपर आक्रमण किया था ॥ ४ ॥

तानभ्ययुस्तदा वैश्याः शूद्राश्चैव पितामह ।
एकतस्तु त्रयो वर्णा एकतः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥

'पितामह ! उस समय ब्राह्मणोंके साथ वैश्यों और शूद्रोंने भी उनपर धावा किया था । एक ओर तीनों वर्गके लोग थे और दूसरी ओर चुने हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय ॥ ५ ॥

ततो युद्धेष्वभज्यन्त त्रयो वर्णाः पुनः पुनः ।
क्षत्रियाश्च जयन्त्येव बहुलं चैकतो बलम् ॥ ६ ॥

'तदनन्तर जब युद्ध आरम्भ हुआ, तब तीनों वर्णोंके लोग बारंबार पीठ दिखाकर भागने लगे । यद्यपि इनकी सेना अधिक थी तो भी क्षत्रियोंने एकमत होकर उनपर विजय पायी ॥ ६ ॥

ततस्ते क्षत्रियानेव पप्रच्छुर्द्विजसत्तमाः ।
तेभ्यः शशंसुर्धर्मज्ञा याथातथ्यं पितामह ॥ ७ ॥

'पितामह ! तब उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंसे ही पूछा—हमारी पराजयका क्या कारण है ? उस समय धर्मज्ञ क्षत्रियोंने उनसे यथार्थ कारण बता दिया ॥ ७ ॥

वयमेकस्य शृण्वाना महाबुद्धिमतो रणे ।
भवन्तस्तु पृथक् सर्वे स्वबुद्धिवशवर्तिनः ॥ ८ ॥

'वे बोले—हमलोग एक परम बुद्धिमान् पुरुषको सेनापति बनाकर युद्धमें उसीका आदेश सुनते और मानते हैं । परंतु आप सब लोग पृथक्-पृथक् अपनी ही बुद्धिके अधीन हो मनमाना बर्ताव करते हैं ॥ ८ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाश्चक्रुरेकं सेनापतिं द्विजम् ।
नये सुकुशलं शूरमजयन् क्षत्रियांस्ततः ॥ ९ ॥

'यह सुनकर उन ब्राह्मणोंने एक शूरवीर एवं नीतिनिपुण ब्राह्मणको सेनापति बनाया और क्षत्रियोंपर विजय प्राप्त की॥

एवं ये कुशलं शूरं हितेप्सितमकल्मषम् ।
सेनापतिं प्रकुर्वन्ति ते जयन्ति रणे रिपून् ॥ १० ॥

'इस प्रकार जो लोग किसी हितैषी, पापरहित तथा युद्धकुशल शूरवीरको सेनापति बना लेते हैं, वे संग्राममें शत्रुओंपर अवश्य विजय पाते हैं ॥ १० ॥

भवानुशनसा तुल्यो हितैषी च सदा मम ।
असंहार्यः स्थितो धर्मे स नः सेनापतिर्भव ॥ ११ ॥

'आप सदा मेरा हित चाहनेवाले तथा नीतिमें शुक्राचार्यके समान हैं । आपको आपकी इच्छाके विना कोई मार नहीं सकता । आप सदा धर्ममें ही स्थित रहते हैं, अतः हमारे प्रधान सेनापति हो जाइये ॥ ११ ॥

रश्मिवतामिवादित्यो वीरुधामिव चन्द्रमाः ।
कुबेर इव यक्षाणां देवानामिव वासवः ॥ १२ ॥
पर्वतानां यथा मेरुः सुपर्णः पक्षिणां यथा ।
कुमार इव देवानां वसूनामिव हव्यवाट् ॥ १३ ॥

'जैसे किरणोंवाले तेजस्वी पदार्थोंके सूर्य, वृक्ष और ओषधियोंके चन्द्रमा, यक्षोंके कुबेर, देवताओंके इन्द्र, पर्वतोंके मेरु, पक्षियोंके गरुड़, समस्त देवयोनियोंके कार्तिके और वसुओंके अग्निदेव अधिपति एवं संरक्षक हैं (प्रकार आप हमारी समस्त सेनाओंके अधिनायक औ संरक्षक हों) ॥ १२-१३ ॥

भवता हि वयं गुप्ताः शक्रेणेव दिवौकसः ।
अनाधृष्या भविष्यामस्त्रिदशानामपि ध्रुवम् ॥ १४

'इन्द्रके द्वारा सुरक्षित देवताओंकी भाँति आपके संरक्षण रहकर हमलोग निश्चय ही देवगणोंके लिये भी अजेय हो जायँगे

प्रयातु नो भवानग्रे देवानामिव पावकिः ।
वयं त्वामनुयास्यामः सौरभेया इवर्षभम् ॥ १५

'जैसे कार्तिकेय देवताओंके आगे-आगे चलते हैं, ही आप हमारे अगुआ हों । जैसे बछड़े साँड़के पीछे चल हैं, उसी प्रकार हम आपका अनुसरण करेंगे' ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
यथैव हि भवन्तो मे तथैव मम पाण्डवाः ॥ १६

भीष्मने कहा—भारत ! तुम जैसा कहते हो वह ठी है, पर मेरे लिये जैसे तुम हो, वैसे ही पाण्डव हैं ॥ १६ ॥

अपि चैव मया श्रेयो वाच्यं तेषां नराधिप ।
संयोद्धव्यं तवार्थाय यथा मे समयः कृतः ॥ १७

नरेश्वर ! मैं पाण्डवोंको उनके पूछनेपर अवश्य हितकी बात बताऊँगा और तुम्हारे लिये युद्ध करूँगा । ऐ ही मैंने प्रतिज्ञा की है ॥ १७ ॥

न तु पश्यामि योद्धारमात्मनः सदृशं भुवि ।
ऋते तस्मान्नरव्याघ्रात् कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ॥ १८

मैं इस भूतलपर नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा दूसरे किसी योद्धाको अपने समान नहीं देखता हूँ ॥ १८ ॥

स हि वेद महाबुद्धिर्दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
न तु मां विवृतो युद्धे जातु युध्येत पाण्डवः ॥ १९ ॥

महाबुद्धिमान् पाण्डुकुमार अर्जुन अनेक दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखते हैं; परंतु वे मेरे सामने आकर प्रकट रूपमें कभी युद्ध नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

अहं चैव क्षणेनैव निर्मनुष्यमिदं जगत् ।
कुर्यां शस्त्रबलेनैव ससुरासुरराक्षसम् ॥ २० ॥

अर्जुनकी ही भाँति मैं भी यदि चाहूँ तो अपने शस्त्रोंके बलसे देवता, मनुष्य, असुर तथा राक्षसोंसहित इस सम्पूर्ण जगत्को क्षणभरमें निर्जीव बना दूँ ॥ २० ॥

न त्वेवोत्सादनीया मे पाण्डोः पुत्रा जनाधिप ।
तस्माद् योधान् हनिष्यामि प्रयोगेणायुतं सदा ॥ २१ ॥
एवमेषां करिष्यामि निधनं कुरुनन्दन ।
न चेत् ते मां हनिष्यन्ति पूर्वमेव समागमे ॥ २२ ॥

परंतु जनेश्वर ! मैं पाण्डुके पुत्रोंकी किसी तरह हत्या

हीं करूँगा । कुरुनन्दन ! यदि पाण्डव इस युद्धमें मुझे हले ही नहीं मार डालेंगे तो मैं अपने अस्त्रोंके प्रयोगद्वारा तिदिन उनके पक्षके दस हजार योद्धाओंका वध करता हूँगा, मैं इस प्रकार इनकी सेनाका संहार करूँगा ॥ २१-२२ ॥

नापतिस्त्वहं राजन् समये नापरेण ते ।
विष्यामि यथाकामं तन्मे श्रोतुमिहार्हसि ॥ २३ ॥

राजन् ! मैं अपनी इच्छाके अनुसार एक शर्तपर तुम्हारा नापति होऊँगा । उसके बदले दूसरी शर्त नहीं मानूँगा । उस शर्तको तुम मुझसे यहाँ सुन लो ॥ २३ ॥

कर्णो वा युध्यतां पूर्वमहं वा पृथिवीपते ।
स्पर्धते हि सदात्यर्थं सूतपुत्रो मया रणे ॥ २४ ॥

पृथ्वीपते ! या तो पहले कर्ण ही युद्ध कर ले या मैं ही युद्ध करूँ; क्योंकि यह सूतपुत्र सदा युद्धमें मुझसे अत्यन्त स्पर्धा रखता है ॥ २४ ॥

कर्ण उवाच

नाहं जीवति गाङ्गेये राजन् योत्स्ये कथंचन ।
हते भीष्मे तु योत्स्यामि सह गाण्डीवधन्वना ॥ २५ ॥

कर्ण बोला—राजन् ! मैं गङ्गानन्दन भीष्मके जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा । इनके मारे जानेपर ही गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ लड़ूँगा ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सेनापतिं चक्रे विधिवद् भूरिदक्षिणम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो भीष्मं सोऽभिषिक्तो व्यरोचत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर विधिपूर्वक अभिषेक किया । अभिषेक हो जानेपर उनकी बड़ी शोभा हुई ॥ २६ ॥

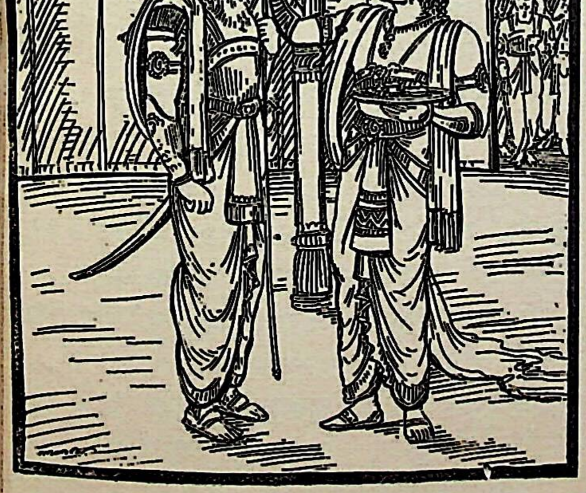

ततो भेरीश्च शङ्खांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
वादयामासुरव्यग्रा वादका राजशासनात् ॥ २७ ॥

तदनन्तर बाजा बजानेवालोंने राजाकी आज्ञासे निर्भय होकर सैकड़ों और हजारों भेरियों तथा शंखोंको बजाया ॥

सिंहनादाश्च विविधा वाहनानां च निःस्वनाः ।
प्रादुरासन्ननभ्रे च वर्षं रुधिरकर्दमम् ॥ २८ ॥

उस समय वीरोंके सिंहनाद तथा वाहनोंके नाना प्रकारके शब्द सब ओर गूँज उठे । बिना बादलके ही आकाशसे रक्तकी वर्षा होने लगी, जिसकी कीच जम गयी ॥ २८ ॥

निर्घाताः पृथिवीकम्पा गजबृंहितनिःस्वनाः ।
आसंश्च सर्वयोधानां पातयन्तो मनांस्युत ॥ २९ ॥

हाथियोंके चिग्घाड़नेके साथ ही बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान भयंकर शब्द होने लगे । धरती डोलने लगी । इन सब उत्पातोंने प्रकट होकर समस्त योद्धाओंके मानसिक उत्साहको दबा दिया ॥ २९ ॥

वाचश्चाप्यशरीरिण्यो दिवश्चोल्काः प्रपेदिरे ।
शिवाश्च भयवेदिन्यो नेदुर्दीप्ततरा भृशम् ॥ ३० ॥

अशुभ आकाशवाणी सुनायी देने लगी, आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं, भयकी सूचना देनेवाली सियारिनियाँ जोर-जोरसे अमङ्गलजनक शब्द करने लगीं ॥ ३० ॥

सैनापत्ये यदा राजा गाङ्गेयमभिषिक्तवान् ।
तदैतान्युग्ररूपाणि बभूवुः शतशो नृप ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! राजा दुर्योधनने जब गङ्गानन्दन भीष्मको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया, उसी समय ये सैकड़ों भयानक उत्पात प्रकट हुए ॥ ३१ ॥

ततः सेनापतिं कृत्वा भीष्मं परबलार्दनम् ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् गोभिर्निष्कैश्च भूरिशः ॥ ३२ ॥
वर्धमानो जयाशीर्भिर्निर्ययौ सैनिकैर्वृतः ।
आपगेयं पुरस्कृत्य भ्रातृभिः सहितस्तदा ॥ ३३ ॥
स्कन्धावारेण महता कुरुक्षेत्रं जगाम ह ॥ ३४ ॥

इस प्रकार शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले भीष्मको सेनापति बनाकर दुर्योधनने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और उन्हें गौओं तथा सुवर्णमुद्राओंकी भूरि-भूरि दक्षिणाएँ दीं । उस समय ब्राह्मणोंने विजयसूचक आशीर्वादोंद्वारा राजाका अभ्युदय मनाया और वह सैनिकोंसे घिरकर भीष्मजीको आगे करके भाइयोंके साथ हस्तिनापुरसे बाहर निकला तथा विशाल तम्बू-शामियानोंके साथ कुरुक्षेत्रको गया ३२—३४

परिक्रम्य कुरुक्षेत्रं कर्णेन सह कौरवः ।
शिबिरं मापयामास समे देशे जनाधिप ॥ ३५ ॥

जनमेजय ! कर्णके साथ कुरुक्षेत्रमें जाकर दुर्योधनने

एक समतल प्रदेशमें शिविरके लिये भूमिको नपवाया ॥३५॥

मधुरानूषरे देशे प्रभूतयवसेन्धने ।
यथैव हास्तिनपुरं तद्वच्छिबिरमाबभौ ॥ ३६ ॥

ऊसररहित मनोहर प्रदेशमें जहाँ घास और
बहुतायत थी, दुर्योधनकी सेनाका शिविर हस्तिनापुर
सुशोभित होने लगा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि भीष्मसैनापत्ये षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें भीष्मका सेनापतित्वविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा अपने सेनापतियोंका अभिषेक, यदुवंशियोंसहित बलरामजीका आगमन तथा पाण्डवोंसे विदा लेकर उनका तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान

जनमेजय उवाच

आपगेयं महात्मानं भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
पितामहं भारतानां ध्वजं सर्वमहीक्षिताम् ॥ १ ॥
बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया पृथिवीसमम् ।
समुद्रमिव गाम्भीर्ये हिमवन्तमिव स्थिरम् ॥ २ ॥
प्रजापतिमिवौदार्ये तेजसा भास्करोपमम् ।
महेन्द्रमिव शत्रूणां ध्वंसनं शरवृष्टिभिः ॥ ३ ॥
रणयज्ञे प्रवितते सुभीमे लोमहर्षणे ।
दीक्षितं चिररात्राय श्रुत्वा तत्र युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥
किमब्रवीन्महाबाहुः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
भीमसेनार्जुनौ वापि कृष्णो वा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन्! भरतवंशियोंके पितामह गङ्गानन्दन महात्मा भीष्म सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ थे। समस्त राजाओंमें ध्वजके समान उनका बहुत ऊँचा स्थान था। वे बुद्धिमें बृहस्पति, क्षमामें पृथ्वी, गम्भीरतामें समुद्र, स्थिरतामें हिमवान्, उदारतामें प्रजापति और तेजमें भगवान् सूर्यके समान थे। वे अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा देवराज इन्द्रके समान शत्रुओंका विध्वंस करनेवाले थे। उस समय जो अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी रणयज्ञ आरम्भ हुआ था, उसमें उन्होंने जब दीर्घकालके लिये दीक्षा ले ली, तब इस समाचारको सुननेके पश्चात् सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिरने क्या कहा? भीमसेन तथा अर्जुनने भी उसके बारेमें क्या कहा? अथवा भगवान् श्रीकृष्णने अपना मत किस प्रकार व्यक्त किया? ॥ १—५ ॥

वैशम्पायन उवाच

आपद्धर्मार्थकुशलो महाबुद्धिर्युधिष्ठिरः ।
सर्वान् भ्रातॄन् समानीय वासुदेवं च शाश्वतम् ॥ ६ ॥
उवाच वदतां श्रेष्ठः सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! आपद्धर्मके विषयमें कुशल, वक्ताओंमें श्रेष्ठ, परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उस समय सम्पूर्ण भाइयों तथा सनातन भगवान् वासुदेव
कर सान्त्वनापूर्वक इस प्रकार कहा—॥ ६½ ॥

पर्याक्रामत सैन्यानि यत्तास्तिष्ठत दंशिताः ॥
पितामहेन वो युद्धं पूर्वमेव भविष्यति ।
तस्मात् सप्तसु सेनासु प्रणेतॄन् मम पश्यत ॥

'तुम सब लोग सब ओर घूम-फिरकर अपनी से
निरीक्षण करो और कवच आदिसे सुसज्जित होकर
जाओ। सबसे पहले पितामह भीष्मसे तुम्हारा युद्ध
इसलिये अपनी सात अक्षौहिणी सेनाओंके सेनाप
देखभाल कर लो' ॥ ७-८ ॥

कृष्ण उवाच

यथार्हति भवान् वक्तुमस्मिन् काले ह्युपस्थिते ।
तथेदमर्थवद् वाक्यमुक्तं ते भरतर्षभ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—भरतकुलभूषण!
अवसर उपस्थित होनेपर आपको जैसी बात कहनी
वैसी ही यह अर्थयुक्त बात आपने कही है ॥ ९ ॥

रोचते मे महाबाहो क्रियतां यदनन्तरम् ।
नायकास्तव सेनायां क्रियन्तामिह सप्त वै ॥

महाबाहो! मुझे आपकी बात ठीक लगती है
इस समय जो आवश्यक कर्तव्य है, उसका पालन की
अपनी सेनाके सात सेनापतियोंको यहाँ निश्चित कर ली

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रुपदमानाय्य विराटं शिनिपुङ्गवम् ।
धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं धृष्टकेतुं च पार्थिव ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं सहदेवं च मागधम् ।
एतान् सप्त महाभागान् वीरान् युद्धाभिकांक्षिणः ॥
सेनाप्रणेतॄन् विधिवदभ्यषिञ्चद् युधिष्ठिरः ।
सर्वसेनापतिं चात्र धृष्टद्युम्नं चकार ह ॥
द्रोणान्तहेतोरुत्पन्नो य इद्धाज्जातवेदसः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तद

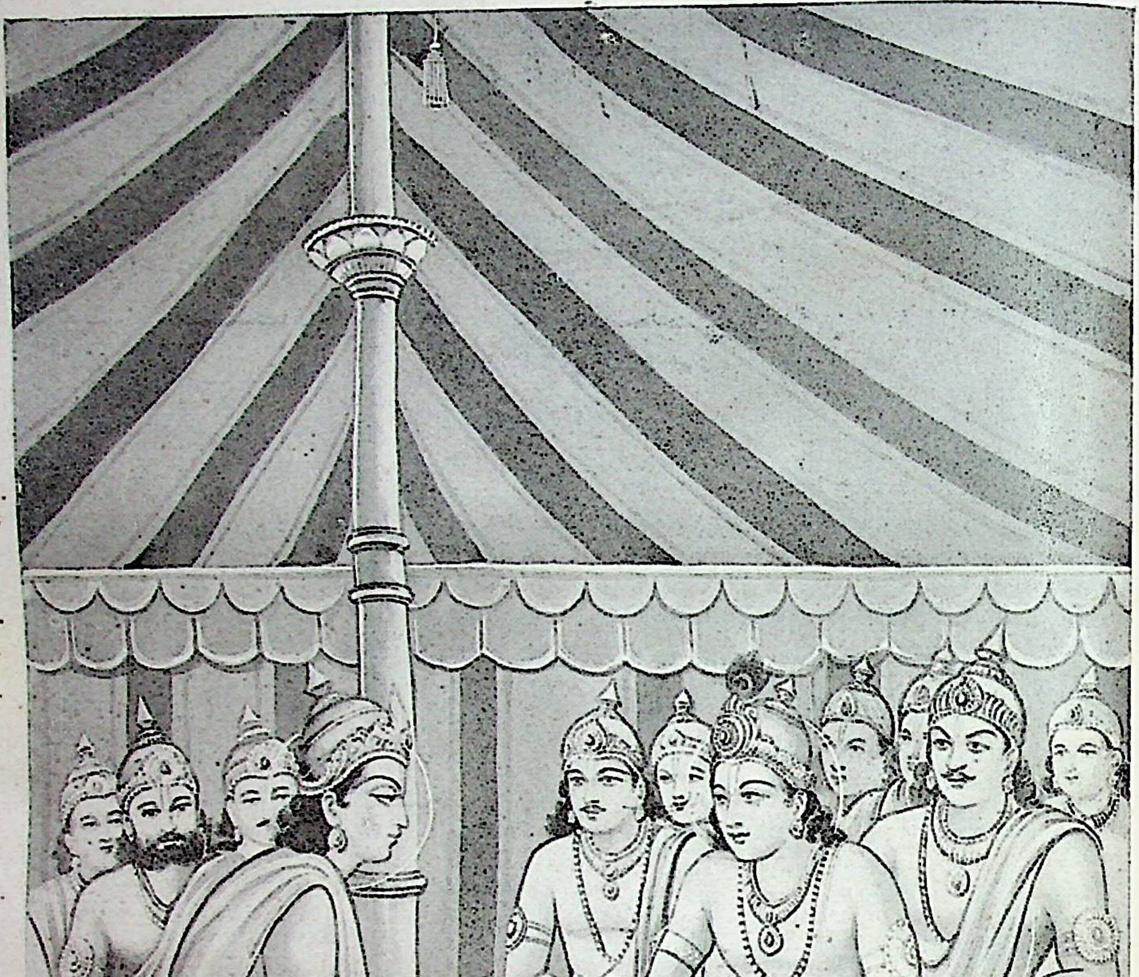

पाण्डवोंके डेरेमें बलरामजी

राजा द्रुपद, विराट, सात्यकि, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, पाञ्चालवीर शिखण्डी और मगधराज सहदेव—इन सात युद्धाभिलाषी महाभाग वीरोंको युधिष्ठिरने विधिपूर्वक सेनापतिके पदपर अभिषिक्त कर दिया और धृष्टद्युम्नको सम्पूर्ण सेनाओंका प्रधान सेनापति बना दिया, जो द्रोणाचार्यका अन्त करनेके लिये प्रज्वलित अग्निसे उत्पन्न हुए थे ॥ ११—१३½॥

सर्वेषामेव तेषां तु समस्तानां महात्मनाम् ॥ १४ ॥
सेनापतिपतिं चक्रे गुडाकेशं धनंजयम् ।

तदनन्तर उन्होंने निद्राविजयी वीर धनंजयको उन समस्त महामना वीर सेनापतियोंका भी अधिपति बना दिया ॥ १४½ ॥

अर्जुनस्यापि नेता च संयन्ता चैव वाजिनाम् ॥ १५ ॥
संकर्षणानुजः श्रीमान् महाबुद्धिर्जनार्दनः ।

अर्जुनके भी नेता और उनके घोड़ोंके भी नियन्ता हुए बलरामजीके छोटे भाई परम बुद्धिमान् श्रीमान् भगवान् श्रीकृष्ण ॥ १५½ ॥

तद् दृष्ट्वोपस्थितं युद्धं समासन्नं महात्ययम् ॥ १६ ॥
प्राविशद् भवनं राजन् पाण्डवानां हलायुधः ।
सहाक्रूरप्रभृतिभिर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ १७ ॥
रौक्मिणेयाहुकसुतैश्चारुदेष्णपुरोगमैः ।
वृष्णिमुख्यैरधिगतैर्व्याघ्रैरिव बलोत्कटैः ॥ १८ ॥
अभिगुप्तो महाबाहुर्मरुद्भिरिव वासवः ।
नीलकौशेयवसनः कैलासशिखरोपमः ॥ १९ ॥
सिंहखेलगतिः श्रीमान् मदरक्तान्तलोचनः ।

राजन् ! तदनन्तर उस महान् संहारकारी युद्धको अत्यन्त संनिकट और प्रायः उपस्थित हुआ देख नीले रंगका रेशमी वस्त्र पहने कैलासशिखरके समान गौरवर्णवाले हलधारी महाबाहु श्रीमान् बलरामजीने पाण्डवोंके शिविरमें सिंहके समान लीलापूर्वक गतिसे प्रवेश किया । उनके नेत्रोंके कोने मदसे अरुण हो रहे थे। उनके साथ अक्रूर आदि यदुवंशी तथा गद, साम्ब, उद्धव, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण तथा आहुकपुत्र आदि प्रमुख वृष्णिवंशी भी जो सिंह और व्याघ्रोंके समान अत्यन्त उत्कट बलशाली थे, उन सबसे सुरक्षित बलरामजी वैसे ही सुशोभित हुए, मानो मरुद्गणोंके साथ महेन्द्र शोभा पा रहे हों । १६—१९½।

तं दृष्ट्वा धर्मराजश्च केशवश्च महाद्युतिः ॥ २० ॥
उदतिष्ठत् ततः पार्थो भीमकर्मा वृकोदरः ।
गाण्डीवधन्वा ये चान्ये राजानस्तत्र केचन ॥ २१ ॥

उन्हें देखते ही धर्मराज युधिष्ठिर, महातेजस्वी श्रीकृष्ण, भयंकर कर्म करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमसेन तथा अन्य जो कोई भी राजा वहाँ विद्यमान थे, वे सब-के-सब उठकर खड़े हो गये ॥ २०-२१ ॥

पूजयांचक्रिरे ते वै समायान्तं हलायुधम् ।
ततस्तं पाण्डवो राजा करे पस्पर्श पाणिना ॥ २२ ॥

हलायुध बलरामजीको आया देख सबने उनका समादर किया । तदनन्तर पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने हाथसे उनके हाथका स्पर्श किया ॥ २२ ॥

वासुदेवपुरोगास्तं सर्वे एवाभ्यवादयन् ।
विराटद्रुपदौ वृद्धावभिवाद्य हलायुधः ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरेण सहित उपाविशदरिंदमः ।

श्रीकृष्ण आदि सब लोगोंने उन्हें प्रणाम किया । तत्पश्चात् बूढ़े राजा विराट और द्रुपदको प्रणाम करके शत्रुदमन बलराम युधिष्ठिरके साथ बैठे ॥ २३½ ॥

ततस्तेषूपविष्टेषु पार्थिवेषु समन्ततः ।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य रौहिणेयोऽभ्यभाषत ॥ २४ ॥

फिर उन सब राजाओंके चारों ओर बैठ जानेपर रोहिणीनन्दन बलरामने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए कहा—॥

भवितायं महारौद्रो दारुणः पुरुषक्षयः ।
दिष्टमेतद् ध्रुवं मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २५ ॥

'जान पड़ता है यह महाभयंकर और दारुण नरसंहार होगा ही । प्रारब्धके इस विधानको मैं अटल मानता हूँ । अब इसे हटाया नहीं जा सकता ॥ २५ ॥

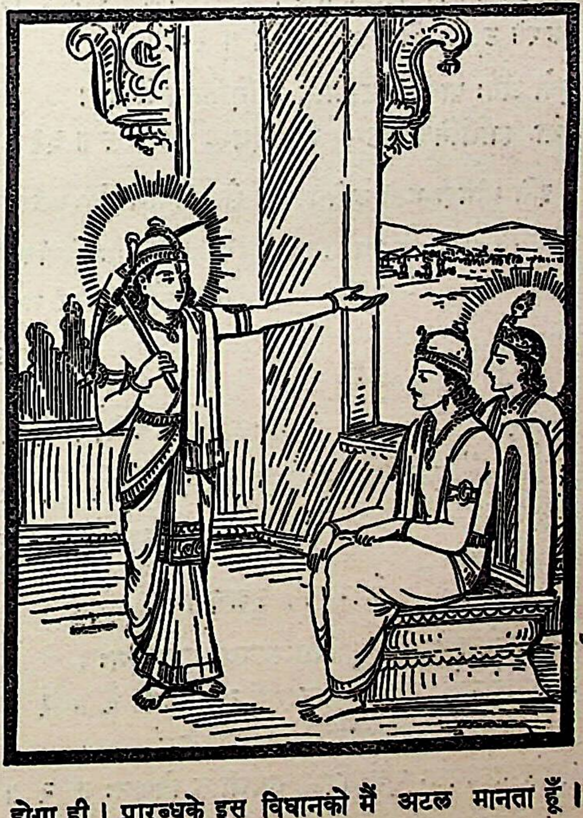

तस्माद् युद्धात् समुत्तीर्णानपि वः ससुहृज्जनान् ।
अरोगानक्षतैर्देहैर्द्रष्टास्मीति मतिर्मम ॥ २६ ॥

'इस युद्धसे पार हुए आप सब सुहृदोंको मैं अक्षत शरीरसे युक्त और नीरोग देखूँगा । ऐसा मेरा विश्वास है ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं कालपक्वमसंशयम् ।
विमर्दश्च महान् भावी मांसशोणितकर्दमः ॥ २७ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि यहाँ जो-जो क्षत्रिय नरेश एकत्र हुए हैं, उन सबको कालने अपना ग्रास बनानेके लिये पका दिया है। महान् जनसंहार होनेवाला है। इसमें रक्त और मांसकी कीच जम जायगी ॥ २७ ॥

उक्तो मया वासुदेवः पुनः पुनरुपह्वरे ।
सम्बन्धिषु समां वृत्तिं वर्तस्व मधुसूदन ॥ २८ ॥
पाण्डवा हि यथास्माकं तथा दुर्योधनो नृपः ।
तस्यापि क्रियतां साह्यं स पर्येति पुनःपुनः ॥ २९ ॥

'मैंने एकान्तमें श्रीकृष्णसे बार-बार कहा था कि मधुसूदन ! अपने सभी सम्बन्धियोंके प्रति एक-सा बर्ताव करो; क्योंकि हमारे लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही राजा दुर्योधन है। उसकी भी सहायता करो। वह बार-बार अपने यहाँ चक्कर लगाता है ॥ २८-२९ ॥

तच्च मे नाकरोद् वाक्यं त्वदर्थे मधुसूदनः ।
निर्विष्टः सर्वभावेन धनंजयमवेक्ष्य ह ॥ ३० ॥

'परंतु युधिष्ठिर ! तुम्हारे लिये ही मधुसूदन श्रीकृष्णने मेरी उस बातको नहीं माना है। ये अर्जुनको देखकर सब प्रकारसे उसीपर निछावर हो रहे हैं ॥ ३० ॥

ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति मे निश्चिता मतिः ।
तथा ह्यभिनिवेशोऽयं वासुदेवस्य भारत ॥ ३१ ॥

'मेरा निश्चित विश्वास है कि इस युद्धमें पाण्ड अवश्य विजय होगी। भारत ! श्रीकृष्णका भी ऐसा संकल्प है ॥ ३१ ॥

न चाहमुत्सहे कृष्णमृते लोकमुदीक्षितुम् ।
ततोऽहमनुवर्तामि केशवस्य चिकीर्षितम् ॥

'मैं तो श्रीकृष्णके बिना इस सम्पूर्ण जगत्की ओर उठाकर देख भी नहीं सकता; अतः ये केशव जो कुछ चाहते हैं, मैं उसीका अनुसरण करता हूँ ॥ ३२ ॥

उभौ शिष्यौ हि मे वीरौ गदायुद्धविशारदौ ।
तुल्यस्नेहोऽस्म्यतो भीमे तथा दुर्योधने नृपे ॥

'भीमसेन और दुर्योधन ये दोनों ही वीर मेरे एवं गदायुद्धमें कुशल हैं; अतः मैं इन दोनोंपर ए स्नेह रखता हूँ ॥ ३३ ॥

तस्माद् यास्यामि तीर्थानि सरस्वत्या निषेवितुम् ।
न हि शक्ष्यामि कौरव्यान् नश्यमानानुपेक्षितुम् ॥

'इसलिये मैं सरस्वती नदीके तटवर्ती तीर्थोंका करनेके लिये जाऊँगा; क्योंकि मैं नष्ट होते हुए कुरुवं को उस अवस्थामें देखकर उनकी उपेक्षा नहीं कर सकूँ

एवमुक्त्वा महाबाहुरनुज्ञातश्च पाण्डवैः ।
तीर्थयात्रां ययौ रामो निवर्त्य मधुसूदनम् ॥

ऐसा कहकर महाबाहु बलरामजी पाण्डवोंसे विदा मधुसूदन श्रीकृष्णको संतुष्ट करके तीर्थयात्राके लिये चले

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि बलरामतीर्थयात्रागमने सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें बलरामजीके तीर्थयात्राके लिये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

* * *

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

रुक्मीका सहायता देनेके लिये आना; परंतु पाण्डव और कौरव दोनों पक्षोंके द्वारा कोरा उत्तर पाकर लौट जाना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मकस्य महात्मनः ।
हिरण्यरोम्णो नृपतेः साक्षादिन्द्रसखस्य वै ॥ १ ॥
आकृतीनामधिपतिर्भोजस्यातियशस्विनः ।
दाक्षिणात्यपतेः पुत्रो दिक्षु रुक्मीति विश्रुतः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय अति यशस्वी दाक्षिणात्य देशके अधिपति भोजवंशी तथा इन्द्रके सखा हिरण्यरोमा नामवाले संकल्पोंके स्वामी महामना भीष्मकका सगा पुत्र, सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात रुक्मी, पाण्डवोंके पास आया ॥ १-२ ॥

यः किंपुरुषसिंहस्य गन्धमादनवासिनः ।
कृत्स्नं शिष्यो धनुर्वेदं चतुष्पादमवाप्तवान् ॥ ३

जिसने गन्धमादननिवासी किंपुरुषप्रवर द्रुमका शिष्य हो चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी

यो माहेन्द्रं धनुर्लेभे तुल्यं गाण्डीवतेजसा ।
शार्ङ्गेण च महाबाहुः सम्मितं दिव्यलक्षणम् ॥ ४

जिस महाबाहुने गाण्डीवधनुषके तेजके समान तेजस्वी विजय नामक धनुष इन्द्रदेवतासे प्राप्त किया था वह दिव्य लक्षणोंसे सम्पन्न धनुष शार्ङ्गधनुषकी समान करता था ॥ ४ ॥

त्रीण्येवैतानि दिव्यानि धनूंषि दिवि चारिणाम् ।
वारुणं गाण्डिवं तत्र माहेन्द्रं विजयं धनुः ।
शार्ङ्गं तु वैष्णवं प्राहुर्दिव्यं तेजोमयं धनुः ॥ ५ ॥

द्युलोकमें विचरनेवाले देवताओंके ये तीन ही धनुष दिव्य माने गये हैं। उनमेंसे गाण्डीव धनुष वरुणका, विजय देवराज इन्द्रका तथा शार्ङ्ग नामक दिव्य तेजस्वी धनुष भगवान् विष्णुका बताया गया है ॥ ५ ॥

धारयामास तत् कृष्णः परसेनाभयावहम् ।
गाण्डीवं पावकाल्लेभे खाण्डवे पाकशासनिः ॥ ६ ॥

शत्रुसेनाको भयभीत करनेवाले उस शार्ङ्ग धनुषको भगवान् श्रीकृष्णने धारण किया और खाण्डवदाहके समय इन्द्रकुमार अर्जुनने साक्षात् अग्निदेवसे गाण्डीवधनुष प्राप्त किया था ॥ ६ ॥

द्रुमाद् रुक्मी महातेजा विजयं प्रत्यपद्यत ।
संछिद्य मौरवान् पाशान् निहत्य मुरमोजसा ॥ ७ ॥
निर्जित्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले ।
षोडश स्त्रीसहस्राणि रत्नानि विविधानि च ॥ ८ ॥
प्रतिपेदे हृषीकेशः शार्ङ्गं च धनुरुत्तमम् ।

महातेजस्वी रुक्मीने द्रुमसे विजय नामक धनुष पाया था। भगवान् श्रीकृष्णने अपने तेज और बलसे मुर दैत्यके पाशोंका उच्छेद करके भूमिपुत्र नरकासुरको जीतकर जब उसके यहाँसे अदितिके मणिमय कुण्डल वापस ले लिये और सोलह हजार स्त्रियों तथा नाना प्रकारके रत्नोंको अपने अधिकारमें कर लिया, उसी समय उन्हें शार्ङ्ग नामक उत्तम धनुष भी प्राप्त हुआ था ॥ ७-८½ ॥

रुक्मी तु विजयं लब्ध्वा धनुर्मेघनिभस्वनम् ॥ ९ ॥
विभीषयन्निव जगत् पाण्डवानभ्यवर्तत ।

रुक्मी मेघकी गर्जनाके समान भयानक टंकार करनेवाले विजय नामक धनुषको पाकर सम्पूर्ण जगत्को भयभीत-सा करता हुआ पाण्डवोंके यहाँ आया ॥ ९½ ॥

नामृष्यत पुरा योऽसौ स्वबाहुबलगर्वितः ॥ १० ॥
रुक्मिण्या हरणं वीरो वासुदेवेन धीमता ।

यह वही वीर रुक्मी था, जो अपने बाहुबलके घमंडमें आकर पहले परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा किये गये रुक्मिणीके अपहरणको नहीं सह सका था ॥ १०½ ॥

कृत्वा प्रतिज्ञां नाहत्वा निवर्तिष्ये जनार्दनम् ॥ ११ ॥
ततोऽन्वधावद् वार्ष्णेयं सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

वह सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था। उसने यह प्रतिज्ञा करके कि मैं वृष्णिवंशी श्रीकृष्णको मारे बिना अपने नगरको नहीं लौटूँगा, उनका पीछा किया था ॥ ११½ ॥

सेनया चतुरङ्गिण्या महत्या दूरपातया ॥ १२ ॥
विचित्रायुधवर्मिण्या गङ्गयेव प्रवृद्धया ।

उस समय उसके साथ विचित्र आयुधों और कवचोंसे सुशोभित, दूरतकके लक्ष्यको मार गिरानेमें समर्थ तथा बढ़ी हुई गङ्गाके समान विशाल चतुरंगिणी सेना थी ॥ १२½ ॥

स समासाद्य वार्ष्णेयं योगानामीश्वरं प्रभुम् ॥ १३ ॥
व्यंसितो व्रीडितो राजन् नाजगाम स कुण्डिनम् ।

राजन्! योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचकर उनसे पराजित होनेके कारण लज्जित हो वह पुनः कुण्डिनपुरको नहीं लौटा ॥ १३½ ॥

यत्रैव कृष्णेन रणे निर्जितः परवीरहा ॥ १४ ॥
तत्र भोजकटं नाम कृतं नगरमुत्तमम् ।

भगवान् श्रीकृष्णने जहाँ युद्धमें शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले रुक्मीको हराया था, वहीं रुक्मीने भोजकट नामक उत्तम नगर बसाया ॥ १४½ ॥

सैन्येन महता तेन प्रभूतगजवाजिना ॥ १५ ॥
पुरं तद् भुवि विख्यातं नाम्ना भोजकटं नृप ।

राजन्! प्रचुर हाथी-घोड़ोंवाली विशाल सेनासे सम्पन्न वह भोजकट नामक नगर सम्पूर्ण भूमण्डलमें विख्यात है १५½

स भोजराजः सैन्येन महता परिवारितः ॥ १६ ॥
अक्षौहिण्या महावीर्यः पाण्डवान् क्षिप्रमागमत् ।

महापराक्रमी भोजराज रुक्मी एक अक्षौहिणी विशाल सेनासे घिरा हुआ शीघ्रतापूर्वक पाण्डवोंके पास आया ।१६½।

ततः स कवची धन्वी तली खड्गी शरासनी ॥ १७ ॥
ध्वजेनादित्यवर्णेन प्रविवेश महाचमूम् ।

उसने कवच, धनुष, दस्ताने, खड्ग और तरकस धारण किये सूर्यके समान तेजस्वी ध्वजके साथ पाण्डवोंकी विशाल सेनामें प्रवेश किया ॥ १७½ ॥

विदितः पाण्डवेयानां वासुदेवप्रियेप्सया ॥ १८ ॥
युधिष्ठिरस्तु तं राजा प्रत्युद्गम्याभ्यपूजयत् ।

वह वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय करनेकी इच्छासे आया था। पाण्डवोंको उसके आगमनकी सूचना दी गयी, तब राजा युधिष्ठिरने आगे बढ़कर उसकी अगवानी की और उसका यथायोग्य आदर-सत्कार किया ॥ १८½ ॥

स पूजितः पाण्डुपुत्रैर्यथान्यायं सुसंस्तुतः ॥ १९ ॥
प्रतिगृह्य तु तान् सर्वान् विश्रान्तः सहसैनिकः ।

पाण्डवोंने रुक्मीका विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। रुक्मीने भी उन सबको प्रेमपूर्वक अपनाकर सैनिकोंसहित विश्राम किया ॥ १९½ ॥

उवाच मध्ये वीराणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ २० ॥
सहायोऽस्मि स्थितो युद्धे यदि भीतोऽसि पाण्डव ।
करिष्यामि रणे साह्यमसह्यं तव शत्रुभिः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वीरोंके बीचमें बैठकर उसने कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा—'पाण्डुनन्दन! यदि तुम डरे हुए हो तो मैं

युद्धमें तुम्हारी सहायताके लिये आ पहुँचा हूँ । मैं इस महायुद्धमें तुम्हारी वह सहायता करूँगा, जो तुम्हारे शत्रुओंके लिये असह्य हो उठेगी ॥ २०-२१ ॥

न हि मे विक्रमे तुल्यः पुमानस्तीह कश्चन ।
हनिष्यामि रणे भागं यन्मे दास्यसि पाण्डव ॥ २२ ॥

'इस जगत्‌में मेरे समान पराक्रमी दूसरा कोई पुरुष नहीं है । पाण्डुकुमार ! तुम शत्रुओंका जो भाग मुझे सौंप दोगे, मैं समरभूमिमें उसका संहार कर डालूँगा ॥ २२ ॥

अपि द्रोणकृपौ वीरौ भीष्मकर्णावथो पुनः ।
अथवा सर्व एवैते तिष्ठन्तु वसुधाधिपाः ॥ २३ ॥
निहत्य समरे शत्रूंस्तव दास्यामि मेदिनीम् ।

'मेरे हिस्सेमें द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा वीरवर भीष्म एवं कर्ण ही क्यों न हों, किसीको जीवित नहीं छोड़ूँगा । अथवा यहाँ पधारे हुए ये सब राजा चुपचाप खड़े रहें । मैं अकेला ही समरभूमिमें तुम्हारे सारे शत्रुओंका वध करके तुम्हें पृथ्वीका राज्य अर्पित कर दूँगा' ॥ २३½ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्य केशवस्य च संनिधौ ॥ २४ ॥
शृण्वतां पार्थिवेन्द्राणामन्येषां चैव सर्वशः ।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य धर्मराजं च पाण्डवम् ॥ २५ ॥
उवाच धीमान् कौन्तेयः प्रहस्य सखिपूर्वकम् ।

धर्मराज युधिष्ठिर तथा भगवान् श्रीकृष्णके समीप अन्य सब राजाओंके सुनते हुए रुक्मीके ऐसा कहनेपर परमबुद्धिमान् कुन्तीपुत्र अर्जुनने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिरकी ओर देखते हुए मित्रभावसे हँसकर कहा—॥ २४-२५½ ॥

कौरवाणां कुले जातः पाण्डोः पुत्रो विशेषतः ॥ २६ ॥
द्रोणं व्यपदिशञ्शिष्यो वासुदेवसहायवान् ।
भीतोऽस्मीति कथं ब्रूयां दधानो गाण्डिवं धनुः ॥ २७ ॥

'वीर ! मैं कौरवोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ । विशेषतः महाराज पाण्डुका पुत्र हूँ । आचार्य द्रोणको अपना गुरु कहता हूँ और स्वयं उनका शिष्य कहलाता हूँ । इसके सिवा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हमारे सहायक हैं और मैं अपने हाथमें गाण्डीव धनुष धारण करता हूँ । ऐसी स्थितिमें मैं अपने-आपको डरा हुआ कैसे कह सकता हूँ ? ॥ २६-२७ ॥

युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः ।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम ॥ २८ ॥

'वीरवर ! कौरवोंकी घोषयात्राके समय जब मैंने महाबली गन्धर्वोंके साथ युद्ध किया था, उस समय कौन-सा मित्र मेरी सहायताके लिये आया था ? ॥ २८ ॥

तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले ।
खाण्डवे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत् ॥ २९ ॥

'खाण्डववनमें देवताओं और दानवोंसे परिपूर्ण भयंकर युद्धमें जब मैं अपने प्रतिपक्षियोंके साथ युद्ध कर रहा उस समय मेरा कौन सहायक था ? ॥ २९ ॥

निवातकवचैर्युद्धे कालकेयैश्च दानवैः ।
तत्र मे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत् ॥ ३०॥

'जब निवातकवच तथा कालकेय नामक दानवोंके छिड़े हुए युद्धमें मैं अकेला ही लड़ रहा था, उस मेरी सहायताके लिये कौन आया था ? ॥ ३० ॥

तथा विराटनगरे कुरुभिः सह संगरे ।
युध्यतो बहुभिस्तत्र कः सहायोऽभवन्मम ॥ ३१॥

'इसी प्रकार विराटनगरमें जब कौरवोंके साथ होनेवा संग्राममें मैं अकेला ही बहुत-से वीरोंके साथ युद्ध कर था, उस समय मेरा सहायक कौन था ? ॥ ३१ ॥

उपजीव्य रणे रुद्रं शक्रं वैश्रवणं यमम् ।
वरुणं पावकं चैव कृपं द्रोणं च माधवम् ॥ ३२॥
धारयन् गाण्डिवं दिव्यं धनुस्तेजोमयं दृढम् ।
अक्षय्यशरसंयुक्तो दिव्यास्त्रपरिबृंहितः ॥ ३३॥
कथमस्मद्विधो ब्रूयाद् भीतोऽस्मीति यशोहरम् ।
वचनं नरशार्दूल वज्रायुधमपि स्वयम् ॥ ३४॥

'मैंने युद्धमें सफलताके लिये रुद्र, इन्द्र, यम, कुबेर वरुण, अग्नि, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य तथा भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना की है । मैं तेजस्वी, दृढ़ एवं दिव्य गाण्डीव धनुष धारण करता हूँ । मेरे पास अक्षय बाणोंसे भरे हुए तरकस मौजूद हैं और दिव्यास्त्रोंके ज्ञानसे मेरी शक्ति बढ़ी हुई है । नरश्रेष्ठ ! फिर मेरे-जैसा पुरुष साक्षात् वज्रधारी इन्द्रके सामने भी 'मैं डरा हुआ हूँ' यह सुयशका नाश करनेवाला वचन कैसे कह सकता है ? ॥ ३२–३४ ॥

नास्मि भीतो महाबाहो सहायार्थश्च नास्ति मे ।
यथाकामं यथायोगं गच्छ वान्यत्र तिष्ठ वा ॥ ३५॥

'महाबाहो ! मैं डरा हुआ नहीं हूँ तथा मुझे सहायककी भी आवश्यकता नहीं है । आप अपनी इच्छाके अनुसार जैसा उचित समझें अन्यत्र चले जाइये या यहीं रहिये' ॥ ३५॥

वैशम्पायन उवाच

(तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विजयस्य हि धीमतः ।)
विनिवर्त्य ततो रुक्मी सेनां सागरसंनिभाम् ।
दुर्योधनमुपागच्छत् तथैव भरतर्षभ ॥ ३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! उन परम बुद्धिमान् अर्जुनका यह वचन सुनकर रुक्मी अपनी समुद्र-सदृश विशाल सेनाको लौटाकर उसी प्रकार दुर्योधनके पास गया ॥ ३६॥

तथैव चाभिगम्यैनमुवाच वसुधाधिपः ।
प्रत्याख्यातश्च तेनापि स तदा शूरमानिना ॥ ३७॥

दुर्योधनसे मिलकर राजा रुक्मीने उससे भी वैसी ही

बातें कहीं। तब अपनेको शूरवीर माननेवाले दुर्योधनने भी उसकी सहायता लेनेसे इन्कार कर दिया ॥ ३७ ॥

द्वावेव तु महाराज तस्माद् युद्धादपेयतुः।
रौहिणेयश्च वार्ष्णेयो रुक्मी च वसुधाधिपः ॥ ३८ ॥

महाराज ! उस युद्धसे दो ही वीर अलग हो गये थे—एक तो वृष्णिवंशी रोहिणीनन्दन बलराम और दूसरा राजा रुक्मी ॥ ३८ ॥

गते रामे तीर्थयात्रां भीष्मकस्य सुते तथा।
उपाविशन् पाण्डवेया मन्त्राय पुनरेव च ॥ ३९ ॥

बलरामजीके तीर्थयात्रामें और भीष्मकपुत्र रुक्मीके अपने नगरको चले जानेपर पाण्डवोंने पुनः गुप्त मन्त्रणाके लिये बैठक की ॥ ३९ ॥

समितिर्धर्मराजस्य सा पार्थिवसमाकुला।
शुशुभे तारकैश्चित्रा द्यौश्चन्द्रेणेव भारत ॥ ४० ॥

भारत ! राजाओंसे भरी हुई धर्मराजकी वह सभा तारों और चन्द्रमासे विचित्र शोभा धारण करनेवाले आकाशकी भाँति सुशोभित हुई ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि रुक्मिप्रत्याख्याने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें रुक्मीप्रत्याख्यानविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ४०$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

जनमेजय उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कुरुक्षेत्रे द्विजर्षभ।
किमकुर्वंश्च कुरवः कालेनाभिप्रचोदिताः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! जब इस प्रकार कुरुक्षेत्रमें सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हो गयीं, तब कालप्रेरित कौरवोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु यत्तेषु भरतर्षभ।
धृतराष्ट्रो महाराज संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण महाराज ! जब वे सभी सेनाएँ कुरुक्षेत्रमें व्यूहरचनापूर्वक डट गयीं, तब धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—॥ २ ॥

एहि संजय सर्वं मे आचक्ष्वानवशेषतः।
सेनानिवेशे यद् वृत्तं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ३ ॥

'संजय ! यहाँ आओ और कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेनाके पड़ाव पड़ जानेपर वहाँ जो कुछ हुआ हो, वह सब मुझे पूर्णरूपसे बताओ ॥ ३ ॥

दिष्टमेव परं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम्।
यदहं बुद्ध्यमानोऽपि युद्धदोषान् क्षयोदयान् ॥ ४ ॥
तथापि निकृतिप्रज्ञं पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम्।
न शक्नोमि नियन्तुं वा कर्तुं वा हितमात्मनः ॥ ५ ॥

'मैं तो समझता हूँ' दैव ही प्रबल है। उसके सामने पुरुषार्थ व्यर्थ है; क्योंकि मैं युद्धके दोषोंको अच्छी तरह जानता हूँ। वे दोष भयंकर संहार उपस्थित करनेवाले हैं, इस बातको भी समझता हूँ, तथापि ठगविद्याके पण्डित तथा कपटद्यूत करनेवाले अपने पुत्रको न तो रोक सकता हूँ और न अपना हित-साधन ही कर सकता हूँ ॥ ४-५ ॥

भवत्येव हि मे सूत बुद्धिर्दोषानुदर्शिनी।
दुर्योधनं समासाद्य पुनः सा परिवर्तते ॥ ६ ॥

'सूत ! मेरी बुद्धि उपर्युक्त दोषोंको बारंबार देखती और समझती है तो भी दुर्योधनसे मिलनेपर पुनः बदल जाती है ॥ ६ ॥

एवं गते वै यद् भावि तद् भविष्यति संजय।
क्षत्रधर्मः किल रणे तनुत्यागो हि पूजितः ॥ ७ ॥

'संजय ! ऐसी दशामें अब जो कुछ होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। कहते हैं, युद्धमें शरीरका त्याग करना निश्चय ही सबके द्वारा सम्मानित क्षत्रियधर्म है' ॥ ७ ॥

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथेच्छसि।
न तु दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ॥ ८ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपने जो कुछ पूछा है और आप जैसा चाहते हैं, वह सब आपके योग्य है; परंतु आपको युद्धका दोष दुर्योधनके माथेपर नहीं मढ़ना चाहिये ॥

शृणुष्वानवशेषेण वदतो मम पार्थिव।
य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः।
न स कालं न वा देवानेनसा गन्तुमर्हति ॥ ९ ॥

भूपाल ! मैं सारी बातें बता रहा हूँ, आप सुनिये। जो मनुष्य अपने बुरे आचरणसे अशुभ फल पाता है, वह काल अथवा देवताओंपर दोषारोपण करनेका अधिकारी नहीं है ॥

महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत्।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ॥ १० ॥

महाराज ! जो पुरुष दूसरे मनुष्योंके साथ सर्वथा निन्दनीय व्यवहार करता है, वह निन्दित आचरण करनेवाला पापात्मा सब लोगोंके लिये वध्य है ॥ १० ॥

निकारा मनुजश्रेष्ठ पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया।
अनुभूताः सहामात्यैर्निकृतैरधिदेवने ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ ! जूएके समय जो बारंबार छल-कपट और अपमानके शिकार हुए थे, अपने मन्त्रियोंसहित उन पाण्डवोंने केवल आपका ही मुँह देखकर सब तरहके तिरस्कार सहन किये हैं ॥ ११ ॥

हयानां च गजानां च राज्ञां चामिततेजसाम्।
वैशसं समरे वृत्तं यत् तन्मे शृणु सर्वशः ॥ १२ ॥

इस समय युद्धके कारण घोड़ों, हाथियों तथा अमिततेजस्वी राजाओंका जो विनाश प्राप्त हुआ है, उनका सम्पूर्ण वृत्तान्त आप मुझसे सुनिये ॥ १२ ॥

स्थिरो भूत्वा महाप्राज्ञ सर्वलोकक्षयोदयम्।
यथाभूतं महायुद्धे श्रुत्वा चैकमना भव ॥ १३ ॥

महामते ! इस महायुद्धमें सम्पूर्ण लोकोंके विनाशको सूचित करनेवाला जो-जो वृत्तान्त जैसे-जैसे घटित हुआ वह सब स्थिर होकर सुनिये और सुनकर एकचित्त बने र (व्याकुल न होइये) ॥ १३ ॥

न ह्येव कर्ता पुरुषः कर्मणोः शुभपापयोः।
अस्वतन्त्रो हि पुरुषः कार्यते दारुयन्त्रवत् ॥ १४

क्योंकि मनुष्य पुण्य और पापके फलभोगकी प्रक्रि में स्वतन्त्र कर्ता नहीं है; क्योंकि मनुष्य प्रारब्धके अधीन उसे तो कठपुतलीकी भाँति उस कार्यमें प्रवृत्त होना पड़ता है

केचिदीश्वरनिर्दिष्टाः केचिदेव यदृच्छया।
पूर्वकर्मभिरप्यन्ये त्रैधमेतत् प्रदृश्यते।
तस्मादनर्थमापन्नः स्थिरो भूत्वा निशामय ॥ १५

कोई ईश्वरकी प्रेरणासे कार्य करते हैं, कुछ लो आकस्मिक संयोगवश कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तथा दू बहुत-से लोग अपने पूर्वकर्मोंकी प्रेरणासे कार्य करते हैं इस प्रकार ये कार्यकी त्रिविध अवस्थाएँ देखी जाती हैं, इसलि इस महान् संकटमें पड़कर आप स्थिरभावसे (स्वस्थ चि होकर) सारा वृत्तान्त सुनिये ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि संजयवाक्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें संजयवाक्यविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

(उलूकदूतागमनपर्व)

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका उलूकको दूत बनाकर पाण्डवोंके पास भेजना और उनसे कहनेके लिये संदेश देना

संजय उवाच

हिरण्वत्यां निविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
न्यविशन्त महाराज कौरवेया यथाविधि ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! महात्मा पाण्डवोंने जब हिरण्वती नदीके तटपर अपना पड़ाव डाल दिया, तब कौरवोंने भी विधिपूर्वक दूसरे स्थानपर अपनी छावनी डाली ॥

तत्र दुर्योधनो राजा निवेश्य बलमोजसा।
सम्मानयित्वा नृपतीन् न्यस्य गुल्मांस्तथैव च ॥ २ ॥

राजा दुर्योधनने वहाँ अपनी शक्तिशालिनी सेना ठहराकर समस्त राजाओंका समादर करके उन सबकी रक्षाके लिये कई गुल्म सैनिकोंकी टुकड़ियोंको तैनात कर दिया ॥ २ ॥

आरक्षस्य विधिं कृत्वा योधानां तत्र भारत।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चापि सौबलम् ॥ ३ ॥
आनाय्य नृपतिस्तत्र मन्त्रयामास भारत।

भारत ! इस प्रकार योद्धाओंके संरक्षणकी व्यवस्था करके राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिको बुलाकर गुप्तरूपसे मन्त्रणा की ॥ ३½ ॥

तत्र दुर्योधनो राजा कर्णेन सह भारत ॥ ४ ॥
सम्भाषित्वा च कर्णेन भ्रात्रा दुःशासनेन च।
सौबलेन च राजेन्द्र मन्त्रयित्वा नरर्षभ ॥ ५ ॥
आहूयोपह्वरे राजन्नुलूकमिदमब्रवीत्।

राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! नरश्रेष्ठ ! दुर्योधनने कर्ण, भा दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिसे सम्भाषण एवं सला करके उलूकको एकान्तमें बुलाकर उसे इस प्रकार कहा—

उलूक गच्छ कैतव्य पाण्डवान् सहसोमकान् ॥ ६ ॥
गत्वा मम वचो ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः।
इदं तत् समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ॥ ७ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च युद्धं लोकभयंकरम्।

द्यूतकुशल शकुनिके पुत्र उलूक ! तुम सोमकों और पाण्डवोंके पास जाओ तथा वहाँ पहुँचकर वासुदेव श्रीकृष्णके सामने ही उनसे मेरा यह संदेश कहो—'कितने ही वर्षों जिसका विचार चल रहा था, वह सम्पूर्ण जगत्के लिये

अत्यन्त भयंकर कौरव-पाण्डवोंका युद्ध अब सिरपर आ पहुँचा है ॥ ६-७½ ॥

यदेतत् कत्थनावाक्यं संजयो महदब्रवीत् ॥ ८ ॥
वासुदेवसहायस्य गर्जतः सानुजस्य ते ।
मध्ये कुरूणां कौन्तेय तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥
यथा वः सम्प्रतिज्ञातं तत् सर्वं क्रियतामिति ।

'कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! श्रीकृष्णकी सहायता पाकर भाइयोंसहित गर्जना करते हुए तुमने संजयसे जो आत्मश्लाघापूर्ण बातें कही थीं और जिन्हें संजयने कौरवोंकी सभामें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया था, उन सबको सत्य करके दिखानेका यह अवसर आ गया है । तुमलोगोंने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की हैं, उन सबको पूर्ण करो' ॥ ८-९½ ॥

ज्येष्ठं तथैव कौन्तेयं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ॥ १० ॥

उलूक ! तुम मेरे कहनेसे कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरके सामने जाकर इस प्रकार कहना—॥ १० ॥

भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सोमकैश्च सकेकयैः ।
कथं वा धार्मिको भूत्वा त्वमधर्मे मनः कृथाः ॥ ११ ॥

'राजन् ! तुम तो अपने सभी भाइयों, सोमकों और केकयोंसहित बड़े धर्मात्मा बनते हो । धर्मात्मा होकर अधर्ममें कैसे मन लगा रहे हो ? ॥ ११ ॥

य इच्छसि जगत् सर्वं नश्यमानं नृशंसवत् ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दाता त्वमिति मे मतिः ॥ १२ ॥

'मेरा तो ऐसा विश्वास था कि तुमने समस्त प्राणियोंको अभयदान दे दिया है; परंतु इस समय तुम एक निर्दय मनुष्यकी भाँति सम्पूर्ण जगत्का विनाश देखना चाहते हो॥

श्रूयते हि पुरा गीतः श्लोकोऽयं भरतर्षभ ।
प्रह्लादेनाथ भद्रं ते हृते राज्ये तु दैवतैः ॥ १३ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारा कल्याण हो । सुना जाता है कि पूर्वकालमें जब देवताओंने प्रह्लादका राज्य छीन लिया था, तब उन्होंने इस श्लोकका गान किया था ॥ १३ ॥

यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरा ध्वज इवोच्छ्रितः ।
प्रच्छन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद् व्रतम् ॥ १४ ॥

'देवताओ ! साधारण ध्वजकी भाँति जिसकी धर्ममयी ध्वजा सदा ऊँचेतक फहराती रहती है; परंतु जिसके द्वारा गुप्तरूपसे पाप भी होते रहते हैं, उसके उस व्रतको बिडालव्रत कहते हैं ॥ १४ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि आख्यानमिदमुत्तमम् ।
कथितं नारदेनेह पितुर्मम नराधिप ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! इस विषयमें तुम्हें यह उत्तम आख्यान सुना रहा हूँ, जिसे नारदजीने मेरे पिताजीसे कहा था ॥ १५ ॥

मार्जारः किल दुष्टात्मा निश्चेष्टः सर्वकर्मसु ।
ऊर्ध्वबाहुः स्थितो राजन् गङ्गातीरे कदाचन ॥ १६ ॥

'राजन् ! यह प्रसिद्ध है कि किसी समय एक दुष्ट बिलाव दोनों भुजाएँ ऊपर किये गङ्गाजीके तटपर खड़ा रहा । वह किसी भी कार्यके लिये तनिक भी चेष्टा नहीं करता था ॥ १६ ॥

स वै कृत्वा मनःशुद्धिं प्रत्ययार्थं शरीरिणाम् ।
करोमि धर्ममित्याह सर्वानेव शरीरिणः ॥ १७ ॥

'इस प्रकार समस्त देहधारियोंपर विश्वास जमानेके लिये वह सभी प्राणियोंसे यही कहा करता था कि अब मैं मानसिक शुद्धि करके—हिंसा छोड़कर धर्माचरण कर रहा हूँ ॥ १७ ॥

तस्य कालेन महता विश्रम्भं जग्मुरण्डजाः ।
समेत्य च प्रशंसन्ति मार्जारं तं विशाम्पते ॥ १८ ॥

'राजन् ! दीर्घकालके पश्चात् धीरे-धीरे पक्षियोंने उसपर विश्वास कर लिया । अब वे उस बिलावके पास आकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ १८ ॥

पूज्यमानस्तु तैः सर्वैः पक्षिभिः पक्षिभोजनः ।
आत्मकार्यं कृतं मेने चर्यायाश्च कृतं फलम् ॥ १९ ॥

'पक्षियोंको अपना आहार बनानेवाला वह बिलाव जब उन समस्त पक्षियोंद्वारा अधिक आदर-सत्कार पाने लगा, तब उसने यह समझ लिया कि मेरा काम बन गया और मुझे धर्मानुष्ठानका भी अभीष्ट फल प्राप्त हो गया ॥ १९ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य तं देशं मूषिका ययुः ।
ददृशुस्तं च ते तत्र धार्मिकं व्रतचारिणम् ॥ २० ॥

'तदनन्तर बहुत समयके पश्चात् उस स्थानमें चूहे भी गये । वहाँ जाकर उन्होंने कठोर व्रतका पालन करनेवाले उस धर्मात्मा बिलावको देखा ॥ २० ॥

कार्येण महता युक्तं दम्भयुक्तेन भारत ।
तेषां मतिरियं राजन्नासीत् तत्र विनिश्चये ॥ २१ ॥

'भारत ! दम्भयुक्त महान् कर्मोंके अनुष्ठानमें लगे हुए उस बिलावको देखकर उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ ॥

बहुमित्रा वयं सर्वे तेषां नो मातुलो ह्ययम् ।
रक्षां करोतु सततं वृद्धबालस्य सर्वशः ॥ २२ ॥

'हम सब लोगोंके बहुत-से मित्र हैं, अतः अब यह बिलाव भी हमारा मामा होकर रहे और हमारे यहाँ जो वृद्ध तथा बालक हैं, उन सबकी सदा रक्षा करता रहे ॥ २२ ॥

उपगम्य तु ते सर्वे बिडालमिदमब्रुवन् ।
भवत्प्रसादादिच्छामश्चर्तुं चैव यथासुखम् ॥ २३ ॥
भवान् नो गतिरव्यग्रा भवान् नः परमः सुहृत् ।
ते वयं सहिताः सर्वे भवन्तं शरणं गताः ॥ २४ ॥

'यह सोचकर वे सभी उस बिलावके पास गये और इस प्रकार बोले—'मामाजी ! हम सब लोग आपकी कृपासे सुख-

पूर्वक विचरना चाहते हैं । आप ही हमारे निर्भय आश्रय हैं और आप ही हमारे परम सुहृद् हैं । हम सब लोग एक साथ संगठित होकर आपकी शरणमें आये हैं ॥ २३-२४ ॥

भवान् धर्मपरो नित्यं भवान् धर्मे व्यवस्थितः ।
स नो रक्ष महाप्राज्ञ त्रिदशानिव वज्रभृत् ॥ २५ ॥

'आप सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं और धर्ममें ही आपकी निष्ठा है । महामते ! जैसे वज्रधारी इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप हमारा संरक्षण करें' ॥२५॥

एवमुक्तस्तु तैः सर्वैर्मूषिकैः स विशाम्पते ।
प्रत्युवाच ततः सर्वान् मूषिकान् मूषिकान्तकृत् ॥२६॥
द्वयोर्योगं न पश्यामि तपसो रक्षणस्य च ।
अवश्यं तु मया कार्यं वचनं भवतां हितम् ॥ २७ ॥

'प्रजानाथ ! उन सम्पूर्ण चूहोंके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर मूषकोंके लिये यमराजस्वरूप उस बिलावने उन सबको इस प्रकार उत्तर दिया—'मैं तपस्या भी करूँ और तुम्हारी रक्षा भी—इन दोनों कार्योंका परस्पर सम्बन्ध मुझे दिखायी नहीं देता है—ये दोनों काम एक साथ नहीं चल सकते हैं । तथापि मुझे तुमलोगोंके हितकी बात भी अवश्य करनी चाहिये ॥ २६-२७ ॥

युष्माभिरपि कर्तव्यं वचनं मम नित्यशः ।
तपसास्मि परिश्रान्तो दृढं नियममास्थितः ॥ २८ ॥
न चापि गमने शक्तिं काञ्चित् पश्यामि चिन्तयन् ।
सोऽस्मि नेयः सदा ताता नदीकूलमितः परम् ॥ २९ ॥

'तुम्हें भी प्रतिदिन मेरी एक आज्ञाका पालन करना होगा । मैं तपस्या करते-करते बहुत थक गया हूँ और दृढ़तापूर्वक संयम-नियमके पालनमें लगा रहता हूँ । बहुत सोचनेपर भी मुझे अपने भीतर चलने-फिरनेकी कोई शक्ति नहीं दिखायी देती; अतः तात ! तुम्हें सदा मुझे यहाँसे नदीके तटतक पहुँचाना पड़ेगा' ॥ २८-२९ ॥

तथेति तं प्रतिज्ञाय मूषिका भरतर्षभ ।
वृद्धबालमथो सर्वं मार्जाराय न्यवेदयन् ॥ ३० ॥

'भरतश्रेष्ठ ! 'बहुत अच्छा' कहकर चूहोंने बिलावकी आज्ञाका पालन करनेके लिये हामी भर ली और वृद्ध तथा बालकोंसहित अपना सारा परिवार उस बिलावको सौंप दिया ॥

ततः स पापो दुष्टात्मा मूषिकानथ भक्षयन् ।
पीवरश्च सुवर्णश्च दृढबन्धश्च जायते ॥ ३१ ॥

'फिर तो वह पापी एवं दुष्टात्मा बिलाव प्रतिदिन चूहोंको खा-खाकर मोटा और सुन्दर होने लगा । उसके अङ्गोंकी एक-एक जोड़ मजबूत हो गयी ॥ ३१ ॥

मूषिकाणां गणश्चात्र भृशं संक्षीयतेऽथ सः ।
मार्जारो वर्धते चापि तेजोबलसमन्वितः ॥ ३२ ॥

'इधर चूहोंकी संख्या बड़े वेगसे घटने लगी और बिलाव तेज और बलसे सम्पन्न हो प्रतिदिन बढ़ने ल

ततस्ते मूषिकाः सर्वे समेत्यान्योऽन्यमब्रुवन् ।
मातुलो वर्धते नित्यं वयं क्षीयामहे भृशम् ॥

'तब वे चूहे परस्पर मिलकर एक-दूसरेसे कहने 'क्यों जी ! क्या कारण है कि मामा तो नित्य मोटा होता जा रहा है और हमारी संख्या बड़े वेगसे घटती जा रही है' ॥ ३३ ॥

ततः प्राज्ञतमः कश्चिड्डिण्डिको नाम मूषिकः ।
अब्रवीद् वचनं राजन् मूषिकाणां महागणम् ॥
गच्छतां वो नदीतीरं सहितानां विशेषतः ।
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सहैव मातुलेन तु ॥

'राजन् ! उन चूहोंमें कोई डिंडिक नामवाला चूहा से अधिक समझदार था । उसने मूषकोंके उस समुदायसे इस प्रकार कहा—'तुम सब लोग विशेषतः एक नदीके तटपर जाओ । पीछेसे मैं भी मामाके साथ वहाँ जाऊँगा' ॥ ३४-३५ ॥

साधु साध्विति ते सर्वे पूजयांचक्रिरे तदा ।
चक्रुश्चैव यथान्यायं डिण्डिकस्य वचोऽर्थवत् ॥

'तब बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उन डिंडिककी बड़ी प्रशंसा की और यथोचितरूपसे उसके वचनोंका पालन किया ॥ ३६ ॥

अविज्ञानात् ततः सोऽथ डिण्डिकं ह्युपभुक्तवान् ।
ततस्ते सहिताः सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ॥ ३७

'बिलावको चूहोंकी जागरूकताका कुछ पता नहीं था अतः वह डिंडिकको भी खा गया । तदनन्तर एक दिन चूहे एक साथ मिलकर आपसमें सलाह करने लगे ॥ ३७

तत्र वृद्धतमः कश्चित् कोलिको नाम मूषिकः ।
अब्रवीद् वचनं राजन् ज्ञातिमध्ये यथातथम् ॥ ३८

'उनमें कोलिक नामसे प्रसिद्ध कोई चूहा था, जो भाई-बन्धुओंमें सबसे बूढ़ा था । उसने सब लोगोंको बात बतायी—॥ ३८ ॥

न मातुलो धर्मकामश्छद्ममात्रं कृता शिखा ।
न मूलफलभक्षस्य विष्ठा भवति लोमशा ॥ ३९

'भाइयो ! मामाको धर्माचरणकी रत्तीभर भी कामना है । उसने हम-जैसे लोगोंको धोखा देनेके लिये ही जटा रक्खी है । जो फल—मूल खानेवाला है, उसकी विष्ठामें नहीं होते ॥ ३९ ॥

अस्य गात्राणि वर्धन्ते गणश्च परिहीयते ।
अद्य सप्ताष्टदिवसान् डिण्डिकोऽपि न दृश्यते ॥ ४०

'उसके अङ्ग दिनों-दिन हृष्ट-पुष्ट होते जाते हैं और हमारा यह दल रोज-रोज घटता जा रहा है । आज सात

आठ दिनोंसे डिंडिकका भी दर्शन नहीं हो रहा है' ॥ ४० ॥

एतच्छ्रुत्वा वचः सर्वे मूषिका विप्रदुद्रुवुः ।
बिडालोऽपि स दुष्टात्मा जगामैव यथागतम् ॥ ४१ ॥

'कोलिककी यह बात सुनकर सब चूहे भाग गये और वह दुष्टात्मा बिलाव भी अपना-सा मुँह लेकर जैसे आया था, वैसे चला गया ॥ ४१ ॥

तथा त्वमपि दुष्टात्मन् बैडालं व्रतमास्थितः ।
चरसि ज्ञातिषु सदा बिडालो मूषिकेष्विव ॥ ४२ ॥

'दुष्टात्मन् ! तुमने भी इसी प्रकार बिडालव्रत धारण कर रक्खा है । जैसे चूहोंमें बिडालने धर्माचरणका ढोंग रच रक्खा था, उसी प्रकार तुम भी जाति-भाइयोंमें धर्माचारी बने फिरते हो ॥ ४२ ॥

अन्यथा किल ते वाक्यमन्यथा कर्म दृश्यते ।
दम्भनार्थाय लोकस्य वेदाश्चोपशमश्च ते ॥ ४३ ॥

'तुम्हारी बातें तो कुछ और हैं; परंतु कर्म कुछ और ही ढंगका दिखायी देता है । तुम्हारा वेदाध्ययन और शान्त स्वभाव लोगोंको दिखानेके लिये पाखण्डमात्र है ॥४३॥

त्यक्त्वा छद्म त्विदं राजन् क्षत्रधर्मं समाश्रितः ।
कुरु कार्याणि सर्वाणि धर्मिष्ठोऽसि नरर्षभ ॥ ४४ ॥

'राजन् ! नरश्रेष्ठ ! यदि तुम धर्मनिष्ठ हो तो यह छल-छद्म छोड़कर क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले उसीके अनुसार सब कार्य करो ॥ ४४ ॥

बाहुवीर्येण पृथिवीं लब्ध्वा भरतसत्तम ।
देहि दानं द्विजातिभ्यः पितृभ्यश्च यथोचितम् ॥ ४५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! अपने बाहुबलसे इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त करके तुम ब्राह्मणोंको दान दो और पितरोंको उनका यथोचित भाग अर्पण करो ॥ ४५ ॥

क्लिष्टाया वर्षपूगांश्च मातुर्मातृहिते स्थितः ।
प्रमार्जाश्रु रणे जित्वा सम्मानं परमावह ॥ ४६ ॥

'तुम्हारी माता वर्षोंसे कष्ट भोग रही है; अतः माताके हितमें तत्पर हो उसके आँसू पोंछो और युद्धमें विजय प्राप्त करके परम सम्मानके भागी बनो ॥ ४६ ॥

पञ्च ग्रामा वृता यत्नान्नास्माभिरपवर्जिताः ।
युध्यामहे कथं संख्ये कोपयेम च पाण्डवान् ॥ ४७ ॥

'तुमने केवल पाँच गाँव माँगे थे, परंतु हमने प्रयत्नपूर्वक तुम्हारी वह माँग इसलिये ठुकरा दी है कि पाण्डवोंको किसी प्रकार कुपित करें, जिससे संग्राम-भूमिमें उनके साथ युद्ध करनेका अवसर प्राप्त हो ॥ ४७ ॥

त्वत्कृते दुष्टभावस्य संत्यागो विदुरस्य च ।
जातुषे च गृहे दाहं स्मर तं पुरुषो भव ॥ ४८ ॥

'तुम्हारे लिये ही मैंने दुष्टात्मा विदुरका परित्याग कर दिया है । लाक्षागृहमें अपने जलाये जानेकी घटनाका स्मरण करो और अबसे भी मर्द बन जाओ ॥ ४८ ॥

यच्च कृष्णमवोचस्त्वमायान्तं कुरुसंसदि ।
अयमस्मि स्थितो राजन् शमाय समराय च ॥ ४९ ॥
तस्यायमागतः कालः समरस्य नराधिप ।
एतदर्थं मया सर्वं कृतमेतद् युधिष्ठिर ॥ ५० ॥

'तुमने कौरव-सभामें आये हुए श्रीकृष्णसे जो यह संदेश दिलाया था कि 'राजन् ! मैं शान्ति और युद्ध दोनोंके लिये तैयार हूँ ।' नरेश्वर ! उस समरका यह उपयुक्त अवसर आ गया है । युधिष्ठिर ! इसीके लिये मैंने यह सब कुछ किया है ॥ ४९-५० ॥

किं नु युद्धात् परं लाभं क्षत्रियो बहु मन्यते ।
किं च त्वं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथितो भुवि ॥ ५१ ॥

'भला, क्षत्रिय युद्धसे बढ़कर दूसरे किस लाभको महत्त्व देता है ? इसके सिवा, तुमने भी तो क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर इस पृथ्वीपर बड़ी ख्याति प्राप्त की है ॥ ५१ ॥

द्रोणादस्त्राणि संप्राप्य कृपाच्च भरतर्षभ ।
तुल्ययोनौ समबले वासुदेवं समाश्रितः ॥ ५२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! द्रोणाचार्य और कृपाचार्यसे अस्त्र-विद्या प्राप्त करके जाति और बलमें हमारे समान होते हुए भी तुमने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका आश्रय ले रक्खा है (फिर तुम्हें युद्धसे क्यों डरना या पीछे हटना चाहिये ?)' ॥५२॥

ब्रूयास्त्वं वासुदेवं च पाण्डवानां समीपतः ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च यत्तो मां प्रति योधय ॥ ५३ ॥

उलूक ! तुम पाण्डवोंके समीप वासुदेव श्रीकृष्णसे भी कहना—'जनार्दन ! अब तुम पूरी तैयारी और तत्परताके साथ अपनी और पाण्डवोंकी भलाईके लिये मेरे साथ युद्ध करो ॥

सभामध्ये च यद् रूपं मायया कृतवानसि ।
तत् तथैव पुनः कृत्वा सार्जुनो मामभिद्रव ॥ ५४ ॥

'तुमने सभामें मायाद्वारा जो विकट रूप बना लिया था; उसे पुनः उसी रूपमें प्रकट करके अर्जुनके साथ मुझपर धावा बोल दो ॥ ५४ ॥

इन्द्रजालं च माया वै कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ५५ ॥

'इन्द्रजाल, माया अथवा भयानक कृत्या—ये युद्धमें हथियार उठाये हुए शूरवीरके क्रोध एवं सिंहनादको और भी बढ़ा देती हैं (उसे डरा नहीं सकतीं) ॥ ५५ ॥

वयमप्युत्सहेम द्यां खं च गच्छेम मायया ।
रसातलं विशामोऽपि ऐन्द्रं वा पुरमेव तु ॥ ५६ ॥

'हम भी मायासे आकाशमें उड़ सकते हैं, अन्तरिक्षमें जा सकते हैं तथा रसातल या इन्द्रपुरीमें भी प्रवेश कर सकते हैं ॥ ५६ ॥

दर्शयेम च रूपाणि स्वशरीरे बहून्यपि।
न तु पर्यायतः सिद्धिर्बुद्धिमाप्नोति मानुषीम् ॥ ५७ ॥

'इतना ही नहीं, हम अपने शरीरमें बहुत-से रूप भी प्रकट करके दिखा सकते हैं; परंतु इन सब प्रदर्शनोंसे न तो अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है और न अपना शत्रु ही मानवीय बुद्धि अर्थात् भयको प्राप्त हो सकता है ॥ ५७ ॥

मनसैव हि भूतानि धातैव कुरुते वशे।
यद् ब्रवीषि च वार्ष्णेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ५८ ॥
घातयित्वा प्रदास्यामि पार्थेभ्यो राज्यमुत्तमम्।
आचचक्षे च मे सर्वं संजयस्तव भाषितम् ॥ ५९ ॥

'एकमात्र विधाता ही अपने मानसिक संकल्पमात्रसे समस्त प्राणियोंको वशमें कर लेता है। वार्ष्णेय! तुम जो यह कहा करते थे कि मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको मरवाकर उनका सारा उत्तम राज्य कुन्तीके पुत्रोंको दे दूँगा। तुम्हारा वह सारा भाषण संजयने मुझे सुना दिया था ॥

मद्द्वितीयेन पार्थेन वैरं वः सव्यसाचिना।
स सत्यसंगरो भूत्वा पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ ६० ॥

'तुमने यह भी कहा था कि 'कौरवो! मैं जिनका सहायक हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ तुम्हारा वैर बढ़ रहा है,' इत्यादि। अतः अब सत्यप्रतिज्ञ होकर पाण्डवोंके लिये पराक्रमी बनो ॥ ६० ॥

युध्यस्वाद्य रणे यत्तः पश्यामः पुरुषो भव।
यस्तु शत्रुमभिज्ञाय शुद्धं पौरुषमास्थितः ॥ ६१ ॥
करोति द्विषतां शोकं स जीवति सुजीवितम्।

'युद्धमें अब प्रयत्नपूर्वक डट जाओ। हम तुम्हारी राह देखते हैं। अपने पुरुषत्वका परिचय दो। जो पुरुष शत्रुको अच्छी तरह समझ-बूझकर विशुद्ध पुरुषार्थका आश्रय ले शत्रुओंको शोकमग्न कर देता है, वही श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करता है ॥ ६१½ ॥

अकस्माच्चैव ते कृष्ण ख्यातं लोके महद् यशः ॥ ६२ ॥
अद्येदानीं विजानीमः सन्ति षण्ढाः सशृङ्गकाः।

'श्रीकृष्ण! मैं देखता हूँ संसारमें अकस्मात् ही तुम्हारा महान् यश फैल गया है; परंतु अब इस समय हमें मालूम हुआ है कि जो लोग तुम्हारे पूजक हैं, वे वास्तवमें पुरुषत्वका चिह्न धारण करनेवाले हिजड़े ही हैं ॥ ६२½ ॥

मद्विधो नापि नृपतिस्त्वयि युक्तः कथञ्चन ॥ ६३ ॥
संनाहं संयुगे कर्तुं कंसभृत्ये विशेषतः।

'मेरे-जैसे राजाको तुम्हारे साथ, विशेषतः कंसके एक सेवकके साथ लड़नेके लिये कवच धारण करके युद्धभूमिमें उतरना किसी तरह उचित नहीं है, ॥ ६३½ ॥

तं च तूवरकं बालं बह्वाशिनमविद्यकम् ॥ ६४ ॥
उलूक मद्वचो ब्रूहि असकृद्भीमसेनकम्।
विराटनगरे पार्थ यस्त्वं सूदो ह्यभूः पुरा ॥ ६
बल्लवो नाम विख्यातस्तन्ममैव हि पौरुषम्।

'उलूक! उस बिना मूँछोंके मर्द (अथवा बोझ वाले बैल), अधिक खानेवाले, अज्ञानी और मूर्ख भीम भी बारंबार मेरा यह संदेश कहना 'कुन्तीकुमार ! विराटनगरमें जो तू रसोइया बनकर रहा और बल्ल नामसे विख्यात हुआ, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ था ६४-६

प्रतिज्ञातं सभामध्ये न तन्मिथ्या त्वया पुरा ॥ ६
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते।

'पहले कौरवसभामें तूने जो प्रतिज्ञा की थी, मिथ्या नहीं होनी चाहिये। यदि तुझमें शक्ति हो तो आ दुःशासनका रक्त पी लेना ॥ ६६½ ॥

यद् ब्रवीषि च कौन्तेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ६७
निहनिष्यामि तरसा तस्य कालोऽयमागतः।

'कुन्तीकुमार ! तुम जो कहा करते हो कि मैं यु धृतराष्ट्रके पुत्रोंको वेगपूर्वक मार डालूँगा, उसका यह स आ गया है ॥ ६७½ ॥

त्वं हि भोज्ये पुरस्कार्यो भक्ष्ये पेये च भारत ॥ ६८
क्व युद्धं क्व च भोक्तव्यं युध्यस्व पुरुषो भव।

'भारत ! तुम निरे भोजनभट्ट हो। अतः अधिक खा पीनेमें पुरस्कार पानेके योग्य हो। किंतु कहाँ युद्ध औ कहाँ भोजन ? शक्ति हो तो युद्ध करो और मर्द बनो ॥६८

शयिष्यसे हतो भूमौ गदामालिङ्ग्य भारत ॥ ६९
तद् वृथा च सभामध्ये वल्गितं ते वृकोदर।

'भारत ! युद्धभूमिमें मेरे हाथसे मारे जाकर तुम गद को छातीसे लगाये सदाके लिये सो जाओगे। वृकोदर तुमने सभामें जाकर जो उछल-कूद मचायी थी, व व्यर्थ ही है' ॥ ६९½ ॥

उलूक नकुलं ब्रूहि वचनान्मम भारत ॥ ७०
युध्यस्वाद्य स्थिरो भूत्वा पश्यामस्तव पौरुषम्।
युधिष्ठिरानुरागं च द्वेषं च मयि भारत।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं स्मरेदानीं यथातथम् ॥ ७१

उलूक ! नकुलसे भी कहना—'भारत ! तुम मेरे कहनेसे अब स्थिरतापूर्वक युद्ध करो। हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे। तुम युधिष्ठिरके प्रति अपने अनुरागको, मेरे प्रति बढ़े हुए द्वेषको तथा द्रौपदीके क्लेशको भी इन दिनों अच्छी तरह याद कर लो' ॥ ७०-७१ ॥

ब्रूयास्त्वं सहदेवं च राजमध्ये वचो मम।
युद्ध्येदानीं रणे यत्तः क्लेशान् स्मर च पाण्डव ॥ ७२

उलूक ! तुम राजाओंके बीच सहदेवसे भी मेरी यह बात कहना—'पाण्डुनन्दन ! पहलेके दिये हुए क्लेशोंको याद कर लो और अब तत्पर होकर समरभूमिमें युद्ध करो' ॥

विराटद्रुपदौ चोभौ ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।
न दृष्टपूर्वा भर्तारो भृत्यैरपि महागुणैः ॥ ७३ ॥
तथार्थपतिभिर्भृत्या यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ।
अश्लाघ्योऽयं नरपतिर्युवयोरिति चागतम् ॥ ७४ ॥

'तदनन्तर विराट और द्रुपदसे भी मेरी ओरसे कहना—'विधाताने जबसे प्रजाकी सृष्टि की है, तभीसे परम गुणवान् सेवकोंने भी अपने स्वामियोंकी अच्छी तरह परख नहीं की; उनके गुण-अवगुणको भलीभाँति नहीं पहिचाना । इसी प्रकार स्वामियोंने भी सेवकोंको ठीक-ठीक नहीं समझा । इसीलिये युधिष्ठिर श्रद्धाके योग्य नहीं हैं, तो भी तुम दोनों उन्हें अपना राजा मानकर उनकी ओरसे युद्धके लिये यहाँ आये हो ॥७३-७४॥

ते यूयं संहता भूत्वा तद्वधार्थं ममापि च ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च प्रयुद्ध्यध्वं मया सह ॥ ७५ ॥

'इसलिये तुम सब लोग संगठित होकर मेरे वधके लिये प्रयत्न करो । अपनी और पाण्डवोंकी भलाईके लिये मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ७५ ॥

धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।
एष ते समयः प्राप्तो लब्धव्यश्च त्वयापि सः ॥ ७६ ॥

'फिर पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नको भी मेरा यह संदेश सुना देना—'राजकुमार ! यह तुम्हारे योग्य समय प्राप्त हुआ है । तुम्हें आचार्य द्रोण अपने सामने ही मिल जायँगे ॥७६॥

द्रोणमासाद्य समरे ज्ञास्यसे हितमुत्तमम् ।
युध्यस्व ससुहृत् पापं कुरु कर्म सुदुष्करम् ॥ ७७ ॥

'समरभूमिमें द्रोणाचार्यके सामने जाकर ही तुम यह जान सकोगे कि तुम्हारा उत्तम हित किस बातमें है । आओ, अपने सुहृदोंके साथ रहकर युद्ध करो और गुरुके वधका अत्यन्त दुष्कर पाप कर डालो' ॥ ७७ ॥

शिखण्डिनमथो ब्रूहि उलूक वचनान्मम ।
स्त्रीति मत्वा महाबाहुर्न हनिष्यति कौरवः ॥ ७८ ॥
गाङ्गेयो धन्विनां श्रेष्ठो युद्ध्येदानीं सुनिर्भयः ।
कुरु कर्म रणे यत्तः पश्यामः पौरुषं तव ॥ ७९ ॥

'उलूक ! इसके बाद तुम शिखण्डीसे भी मेरी यह बात कहना—'धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ गङ्गापुत्र कुरुवंशी महाबाहु भीष्म तुम्हें स्त्री समझकर नहीं मारेंगे; इसलिये तुम अब निर्भय होकर युद्ध करना और समरभूमिमें यत्नपूर्वक पराक्रम प्रकट करना । हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे' ॥ ७८-७९ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजा प्रहस्योलूकमब्रवीत् ।
धनंजयं पुनर्ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ८० ॥

ऐसा कहते-कहते राजा दुर्योधन खिलखिलाकर हँस पड़ा । तत्पश्चात् उलूकसे पुनः इस प्रकार बोला—'उलूक ! तुम वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके सामने ही अर्जुनसे पुनः इस प्रकार कहना—॥ ८० ॥

अस्मान् वा त्वं पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।
अथवा निर्जितोऽस्माभी रणे वीर शयिष्यसि ॥ ८१ ॥

'वीर धनंजय ! या तो तुम्हीं हमलोगोंको परास्त करके इस पृथ्वीका शासन करो या हमारे ही हाथोंसे मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जाओ ॥ ८१ ॥

राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ८२ ॥

'पाण्डुनन्दन ! राज्यसे निर्वासित होने, वनमें निवास करने तथा द्रौपदीके अपमानित होनेके क्लेशोंको याद करके अब भी तो मर्द बनो ॥ ८२ ॥

यदर्थं क्षत्रिया सूते सर्वं तदिदमागतम् ।
बलं वीर्यं च शौर्यं च परं चाप्यस्त्रलाघवम् ॥ ८३ ॥
पौरुषं दर्शयन् युद्धे कोपस्य कुरु निष्कृतिम् ।

'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्र पैदा करती है, वह सब प्रयोजन सिद्ध करनेका यह समय आ गया है । तुम युद्धमें बल, पराक्रम, उत्तम शौर्य, अस्त्र-संचालनकी फुर्ती और पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बढ़े हुए क्रोधको (हमारे ऊपर प्रयोग करके) शान्त कर लो ॥ ८३½ ॥

परिक्लिष्टस्य दीनस्य दीर्घकालोषितस्य च ।
हृदयं कस्य न स्फोटेदैश्वर्याद् भ्रंशितस्य च ॥ ८४ ॥

'जिसे नाना प्रकारका क्लेश दिया गया हो, दीर्घकालके लिये राज्यसे निर्वासित किया गया हो तथा जिसे राज्यसे वञ्चित होकर दीनभावसे जीवन बिताना पड़ा हो, ऐसे किस स्वाभिमानी पुरुषका हृदय विदीर्ण न हो जायगा ? ॥

कुले जातस्य शूरस्य परवित्तेष्वगृध्यतः ।
आस्थितं राज्यमाक्रम्य कोपं कस्य न दीपयेत् ॥ ८५ ॥

'जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, शूरवीर तथा पराये धनके प्रति लोभ न रखनेवाला हो, उसके राज्यको यदि कोई दबा बैठा हो तो वह किस वीरके क्रोधको उद्दीप्त न कर देगा ? ॥ ८५ ॥

यत् तदुक्तं महद् वाक्यं कर्मणा तद् विभाव्यताम् ।
अकर्मणा कत्थितेन सन्तः कुपुरुषं विदुः ॥ ८६ ॥

'तुमने जो बड़ी-बड़ी बातें कही हैं, उन्हें कार्यरूपमें परिणत करके दिखाओ । जो क्रियाद्वारा कुछ न करके केवल मुँहसे बातें बनाता है, उसे सज्जन पुरुष कायर मानते हैं ॥

अमित्राणां वशे स्थानं राज्यं च पुनरुद्धर ।
द्वावर्थौ युद्धकामस्य तस्मात् तत् कुरु पौरुषम् ॥ ८७ ॥

'तुम्हारा स्थान और राज्य शत्रुओंके हाथमें पड़ा है, उसका पुनरुद्धार करो । युद्धकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके ये दो ही प्रयोजन होते हैं; अतः उनकी सिद्धिके लिये पुरुषार्थ करो ॥

पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चानायिता सभाम् ।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ॥ ८८ ॥

'तुम जूएमें पराजित हुए और तुम्हारी स्त्री द्रौपदीको सभामें लाया गया । अपनेको पुरुष माननेवाले किसी भी मनुष्यको इन बातोंके लिये भारी अमर्ष हो सकता है ॥८८॥

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद् विवासितः ।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ॥ ८९ ॥

‘तुम बारह वर्षोंतक राज्यसे निर्वासित होकर वनमें रहे हो और एक वर्षतक तुम्हें विराटका दास होकर रहना पड़ा है ॥

राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ९० ॥

‘पाण्डुनन्दन ! राज्यसे निर्वासनका, वनवासका और द्रौपदीके अपमानका क्लेश याद करके तो मर्द बनो ॥ ९० ॥

अप्रियाणां च वचनं प्रब्रुवत्सु पुनः पुनः ।
अमर्षं दर्शयस्व त्वममर्षो ह्येव पौरुषम् ॥ ९१ ॥

‘हमलोग बार-बार तुमलोगोंके प्रति अप्रिय वचन कहते हैं। तुम हमारे ऊपर अपना अमर्ष तो दिखाओ; क्योंकि अमर्ष ही पौरुष है ॥ ९१ ॥

क्रोधो बलं तथा वीर्यं ज्ञानयोगोऽस्त्रलाघवम् ।
इह ते दृश्यतां पार्थ युद्ध्यस्व पुरुषो भव ॥ ९२ ॥

‘पार्थ ! यहाँ लोग तुम्हारे क्रोध, बल, वीर्य, ज्ञानयोग और अस्त्र चलानेकी फुर्ती आदि गुणोंको देखें। युद्ध करो और अपने पुरुषत्वका परिचय दो ॥ ९२ ॥

लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम् ।
पुष्टास्तेऽश्वा भृता योधाः श्वो युद्ध्यस्व सकेशवः॥९३॥

‘अब लोहमय अस्त्र-शस्त्रोंको बाहर निकालकर तैयार करनेका कार्य पूरा हो चुका है। कुरुक्षेत्रकी कीच भी सूख गयी है। तुम्हारे घोड़े खूब हृष्ट-पुष्ट हैं और सैनिकोंका भी तुमने अच्छी तरह भरण-पोषण किया है; अतः कल सबेरेसे ही श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥ ९३ ॥

असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे ।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ९४ ॥
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन् पुरुषो भव ।

‘अभी युद्धमें भीष्मजीके साथ मुठभेड़ किये बिना तुम क्यों अपनी झूठी प्रशंसा करते हो ? कुन्तीनन्दन ! जैसे कोई शक्तिहीन एवं मन्दबुद्धि पुरुष गन्धमादन पर्वतपर चढ़ना चाहता हो, उसी प्रकार तुम भी अपनी झूठी बड़ाई करते हो। मिथ्या आत्मप्रशंसा न करके पुरुष बनो ॥ ९४½ ॥

सूतपुत्रं सुदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ॥ ९५ ॥
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि ।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ॥ ९६ ॥

‘पार्थ ! अत्यन्त दुर्जय वीर सूतपुत्र कर्ण, बलवानोंमें श्रेष्ठ शल्य तथा युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी एवं बलवानोंमें अग्रगण्य द्रोणाचार्यको युद्धमें परास्त किये बिना तुम यहाँ राज्य कैसे लेना चाहते हो ? ॥ ९५-९६ ॥

ब्राह्मे धनुषि चाचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः ।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ॥ ९७ ॥
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा ।
न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ॥ ९८ ॥

‘कुन्तीपुत्र ! आचार्य द्रोण ब्राह्मवेद और धनुर्वेद इन दोनोंके पारङ्गत पण्डित हैं। ये युद्धका भार वहन करनेमें समर्थ, अक्षोभ्य, सेनाके मध्यभागमें विचरनेवाले तथा के मैदानसे पीछे न हटनेवाले हैं। इन महातेजस्वी द्रो जो तुम जीतनेकी इच्छा रखते हो, वह मिथ्या साहस है। वायुने सुमेरु पर्वतको उखाड़ फेंका हो, यह कभी सुननेमें नहीं आया है (इसी प्रकार तुम्हारे लिये भी आ को जीतना असम्भव है) ॥ ९७-९८ ॥

अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम् ।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद् यथाऽऽत्थ माम्॥९

‘तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, वह यदि सत्य हो तब तो हवा मेरुको उठा ले, स्वर्गलोक इस पृथ्वीपर पड़े अथवा युग ही बदल जाय ॥ ९९ ॥

को ह्यस्ति जीविताकाङ्क्षी प्राप्येममरिमर्दनम् ।
पार्थो वा इतरो वापि कोऽन्यः स्वस्ति गृहान् व्रजेत्।।१

‘अर्जुन हो या दूसरा कोई, जीवनकी इच्छा रखनेवा कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें इन शत्रुदमन आचार्यके पहुँचकर कुशलपूर्वक घरको लौट सके ? ॥ १०० ॥

कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा ।
रणे जीवन् प्रमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ॥१०

‘ये दोनों द्रोण और भीष्म जिसे मारनेका निश्चय लें अथवा उनके भयानक अस्त्र आदिसे जिसके शरीरका हो जाय, ऐसा कोई भी भूतलनिवासी मरणधर्मा मनुष्य यु जीवित कैसे बच सकता है ? ॥ १०१ ॥

किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां
न बुध्यसे राजचमूं समेताम् ।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां
गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ॥१०२
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यै-
रुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च ।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमध्यदेश्यै-
र्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः॥१०३

‘जैसे देवता स्वर्गकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पूर्व, पश्चि दक्षिण और उत्तर दिशाओंके नरेश तथा काम्बोज, शक खश, शाल्व, मत्स्य, कुरु और मध्यप्रदेशके सैनिक ए म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और काञ्चीदेशीय योद्धा जि सेनाकी रक्षा करते हैं, जो देवताओंकी सेनाके समान दुर्ध एवं संगठित है, कौरवराजकी (समुद्रतुल्य) उस सेनाको क्या तुम कूपमण्डूककी भाँति अच्छी तरह समझ नहीं पाते ? ॥ १०२-१०३ ॥

नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं
गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम् ।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये
युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ॥१०४

‘ओ अल्पबुद्धि मूढ़ अर्जुन ! जिसका वेग युद्धकालमें गङ्गाके वेगके समान बढ़ जाता है और जिसे पार करना

असम्भव है, नाना प्रकारके जनसमुदायसे भरी हुई मेरी उस विशाल वाहिनीके साथ तथा गजसेनाके बीचमें खड़े हुए मुझ दुर्योधनके साथ भी तुम युद्धकी इच्छा कैसे रखते हो ? ॥

अक्षय्याविषुधी चैव अग्निदत्तं च ते रथम् ।
जानीमो हि रणे पार्थ केतुं दिव्यं च भारत ॥१०५॥

'भारत ! हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारे पास अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस हैं, अग्निदेवका दिया हुआ दिव्य रथ है और युद्धकालमें उसपर दिव्य ध्वजा फहराने लगती है ॥ १०५ ॥

अकत्थमानो युद्ध्यस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु ।
पर्यायात् सिद्धिरेतस्य नैतत् सिध्यति कत्थनात् ॥१०६॥

'अर्जुन ! बातें न बनाकर युद्ध करो । बहुत शेखी क्यों बघारते हो ? विभिन्न प्रकारोंसे युद्ध करनेपर ही राज्यकी सिद्धि हो सकती है । झूठी आत्मप्रशंसा करनेसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकती ॥ १०६ ॥

यदीदं कत्थनाल्लोके सिध्येत् कर्म धनंजय ।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ॥१०७॥

'धनंजय ! यदि जगत्में अपनी झूठी प्रशंसा करनेसे ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती, तब तो सब लोग सिद्धकाम हो जाते; क्योंकि बातें बनानेमें कौन दरिद्र और दुर्बल होगा ?

जानामि ते वासुदेवं सहायं
जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्यहं त्वादृशो नास्ति योद्धा
जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ॥१०८॥

'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सहायक वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे पास चार हाथ लंबा गाण्डीव धनुष है तथा मुझे यह भी मालूम है कि तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई योद्धा नहीं है; यह सब जानकर भी मैं तुम्हारे इस राज्यका अपहरण करता हूँ ॥ १०८ ॥

न तु पर्यायधर्मेण सिद्धिं प्राप्नोति मानवः ।
मनसैवानुकूलानि धातैव कुरुते वशे ॥१०९॥

'कोई भी मनुष्य नाममात्रके धर्मद्वारा सिद्धि नहीं पाता, केवल विधाता ही मानसिक संकल्पमात्रसे सबको अपने अनुकूल और अधीन कर लेता है ॥ १०९ ॥

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव ।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये त्वां निहत्य सबान्धवम् ॥११०॥

'तुम रोते-बिलखते रह गये और मैंने तेरह वर्षोंतक तुम्हारा राज्य भोगा । अब भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके आगे भी मैं ही इस राज्यका शासन करूँगा ॥११०॥

क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूद् यत् त्वं दासपणैर्जितः ।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥१११॥

'दास अर्जुन ! जब तुम जूएके दाँवपर जीत लिये गये, उस समय तुम्हारा गाण्डीव धनुष कहाँ था ? भीमसेनका बल भी उस समय कहाँ चला गया था ? ॥ १११ ॥

सगदाद् भीमसेनाद् वा फाल्गुनाद् वा सगाण्डिवात् ।
न वै मोक्षस्तदाभूद् वो विना कृष्णामनिन्दिताम् ॥११२॥

'गदाधारी भीमसेन अथवा गाण्डीवधारी अर्जुनसे भी उस समय सती साध्वी द्रौपदीका सहारा लिये बिना तुमलोगोंका दासभावसे उद्धार न हो सका ॥ ११२ ॥

सा वो दास्ये समापन्नान् मोचयामास पार्षती ।
अमानुष्यं समापन्नान् दासकर्मण्यवस्थितान् ॥११३॥

'तुम सब लोग अमनुष्योचित दीन दशाको प्राप्त हो दासभावमें स्थित थे । उस समय द्रुपदकुमारी कृष्णाने ही दासताके संकटमें पड़े हुए तुम सब लोगोंको छुड़ाया था ॥ ११३ ॥

अवोचं यत् षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत् ।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ॥११४॥

'मैंने जो उन दिनों तुमलोगोंको हिजड़ा या नपुंसक कहा था, वह ठीक ही निकला; क्योंकि अज्ञातवासके समय विराटनगरमें अर्जुनको अपने सिरपर स्त्रियोंकी भाँति वेणी धारण करनी पड़ी ॥ ११४ ॥

सूदकर्मणि विश्रान्तं विराटस्य महानसे ।
भीमसेनेन कौन्तेय यत् तु तन्मम पौरुषम् ॥११५॥

'कुन्तीकुमार ! तुम्हारे भाई भीमसेनको राजा विराटके रसोईघरमें रसोइयेके काममें ही संलग्न रहकर जो भारी श्रम उठाना पड़ा, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ है ॥ ११५ ॥

एवमेव सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः ।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ॥११६॥

'इसी प्रकार सदासे ही क्षत्रियोंने अपने विरोधी क्षत्रियको दण्ड दिया है । इसीलिये तुम्हें भी सिरपर वेणी रखाकर और हिजड़ोंका वेष बनाकर राजाके अन्तःपुरमें लड़कियोंको नचानेका काम करना पड़ा ॥ ११६ ॥

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन ।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्ध्यस्व सहकेशवः ॥११७॥

'फाल्गुन ! श्रीकृष्णके या तुम्हारे भयसे मैं राज्य नहीं लौटाऊँगा । तुम श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥११७॥

न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥११८॥

'माया, इन्द्रजाल अथवा भयानक छलना संग्रामभूमिमें हथियार उठाये हुए वीरके क्रोध और सिंहनादको ही बढ़ाती हैं (उसे भयभीत नहीं कर सकती हैं) ॥ ११८ ॥

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ॥११९॥

'हजारों श्रीकृष्ण और सैकड़ों अर्जुन भी अमोघ बाणोंवाले मुझ वीरके पास आकर दसों दिशाओंमें भाग जायँगे ॥

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम् ।
तरस्व वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ॥१२०॥

'तुम भीष्मके साथ युद्ध करो या सिरसे पहाड़ फोड़ो

या सैनिकोंके अत्यन्त गहरे महासागरको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करो ॥ १२० ॥

शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ॥१२१॥

'हमारे सैन्यरूपी महासमुद्रमें कृपाचार्य महामत्स्यके समान हैं, विविंशति उसके भीतर रहनेवाला महान् सर्प है, बृहद्बल उसके भीतर उठनेवाले विशाल ज्वारके समान है, भूरिश्रवा तिमिंगिल नामक मत्स्यके स्थानमें है ॥ १२१ ॥

भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ॥१२२॥

'भीष्म उसके असीम वेग हैं, द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके होनेसे इस सैन्यसागरमें प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है, कर्ण और शल्य क्रमशः मत्स्य तथा आवर्त (भँवर) का काम करते हैं और काम्बोजराज सुदक्षिण इसमें बड़वानल हैं ॥

दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं
सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं
दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ॥१२३॥

'दुःशासन उसके तीव्र प्रवाहके समान है, शल और शल्य मत्स्य हैं, सुषेण और चित्रायुध नाग और मकरके समान हैं, जयद्रथ पर्वत है, पुरुमित्र उसकी गम्भीरता है, दुर्मर्षण जल है और शकुनि प्रपात (झरने) का काम देता है ॥ १२३

शस्त्रौघमक्षय्यमभिप्रवृद्धं
यदावगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धव-
स्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ॥१२४

'भाँति-भाँतिके शस्त्र इस सैन्यसागरके जलप्रवाह हैं। अक्षय होनेके साथ ही खूब बढ़ा हुआ है। इसमें प्रवे करनेपर अधिक श्रमके कारण जब तुम्हारी चेतना नष्ट जायगी, तुम्हारे समस्त बन्धु मार दिये जायँगे, उस सम तुम्हारे मनको बड़ा संताप होगा ॥ १२४ ॥

तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाशुचे-
र्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया
बुभूषितः स्वर्ग इवातपस्विना ॥१२५

'पार्थ ! जैसे अपवित्र मनुष्यका मन स्वर्गकी ओर निवृत्त हो जाता है (क्योंकि उसके लिये स्वर्गकी प्राप्ति असम्भव है), उसी प्रकार तुम्हारा मन भी उस समय इस पृथ्वीपर राज्यशासन करनेसे निराश होकर निवृत्त हो जायगा। अर्जुन ! शान्त होकर बैठ जाओ। राज्य तुम्हारे लिये अत्यन्त दुर्लभ है। जिसने तपस्या नहीं की है, वह जैसे स्वर्ग पाना चाहे, उसी प्रकार तुमने भी राज्यकी अभिलाषा की है।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि दुर्योधनवाक्ये षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।१६०।

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचकर उलूकका भरी सभामें दुर्योधनका संदेश सुनाना

संजय उवाच

सेनानिवेशं सम्प्राप्तः कैतव्यः पाण्डवस्य ह ।
समागतः पाण्डवेयैर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर जुआरी शकुनिका पुत्र उलूक पाण्डवोंकी छावनीमें जाकर उनसे मिला और युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोला—॥१॥

अभिज्ञो दूतवाक्यानां यथोक्तं ब्रुवतो मम ।
दुर्योधनसमादेशं श्रुत्वा न क्रोद्धुमर्हसि ॥ २ ॥

'राजन् ! आप दूतके वचनोंका मर्म जाननेवाले हैं। दुर्योधनने जो संदेश दिया है, उसे मैं ज्यों-का-त्यों दोहरा दूँगा। उसे सुनकर आपको मुझपर क्रोध नहीं करना चाहिये'।२।

युधिष्ठिर उवाच

उलूक न भयं तेऽस्ति ब्रूहि त्वं विगतज्वरः ।
यन्मतं धार्तराष्ट्रस्य लुब्धस्यादीर्घदर्शिनः ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—उलूक! तुम्हें (तनिक भी) भय नहीं है। तुम निश्चिन्त होकर लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधनका अभिप्राय सुनाओ ॥ ३ ॥

ततो द्युतिमतां मध्ये पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सृञ्जयानां च मत्स्यानां कृष्णस्य च यशस्विनः ॥ ४ ॥
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च संनिधौ ।
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ॥ ५ ॥

(संजय कहते हैं—) तब वहाँ बैठे हुए तेजस्वी महात्मा पाण्डवों, सृञ्जयों, मत्स्यों, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रों सहित द्रुपद और विराटके समीप समस्त राजाओंके बीचमें उलूकने यह बात कही ॥ ४-५ ॥

उलूक उवाच

इदं त्वामब्रवीद् राजा धार्तराष्ट्रो महामनाः ।
शृण्वतां कुरुवीराणां तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

उलूक बोला—महाराज युधिष्ठिर! महामना धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने कौरववीरोंके समक्ष आपको यह संदेश कहलाया है इसे सुनिये ॥ ६ ॥

पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चानायिता सभाम् ।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ॥ ७ ॥

'तुम जूएमें हारे और तुम्हारी पत्नी द्रौपदीको सभामें

लाया गया । इस दशामें अपनेको पुरुष माननेवाला प्रत्येक मनुष्य क्रोध कर सकता है ॥ ७ ॥

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद् विवासितः ।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ॥ ८ ॥

'बारह वर्षोंतक तुम राज्यसे निर्वासित होकर वनमें रहे और एक वर्षतक तुम्हें राजा विराटका दास बनकर रहना पड़ा ॥

अमर्षं राज्यहरणं वनवासं च पाण्डव ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ९ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुम अपने अमर्षको, राज्यके अपहरणको, वनवासको और द्रौपदीको दिये गये क्लेशको भी याद करके मर्द बनो ॥ ९ ॥

अशक्तेन च यच्छप्तं भीमसेनेन पाण्डव ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ॥ १० ॥

'पाण्डुपुत्र ! तुम्हारे भाई भीमसेनने उस समय कुछ करनेमें असमर्थ होनेके कारण जो दुर्वचन कहा था, उसे याद करके वे आवें और यदि शक्ति हो, तो दुःशासनका रक्त पीयें ॥

लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम् ।
समः पन्था भृतास्तेऽश्वाः श्वो युध्यस्व सकेशवः ॥ ११ ॥

'लोहेके अस्त्र-शस्त्रोंको बाहर निकालकर उन्हें तैयार करने आदिका कार्य पूरा हो गया है, कुरुक्षेत्रकी कीचड़ सूख गयी है, मार्ग बराबर हो गया है और तुम्हारे अश्व भी खूब पले हुए हैं; अतः कल सबेरेसे ही श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो । ११ ।

असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे ।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ १२ ॥
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन् पुरुषो भव ।

'युद्धक्षेत्रमें भीष्मका सामना किये बिना ही तुम क्यों अपनी झूठी प्रशंसा करते हो ? कुन्तीनन्दन ! जैसे कोई अशक्त एवं मन्दबुद्धि पुरुष गन्धमादन पर्वतपर चढ़नेकी इच्छा करे, उसी प्रकार तुम भी अपने बारेमें बड़ी-बड़ी बातें किया करते हो । बातें न बनाओ; पुरुष बनो (पुरुषत्वका परिचय दो) ॥ १२½ ॥

सूतपुत्रं सुदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ॥ १३ ॥
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि ।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ॥ १४ ॥

'पार्थ ! अत्यन्त दुर्जय वीर सूतपुत्र कर्ण, बलवानोंमें श्रेष्ठ शल्य तथा युद्धमें शचीपति इन्द्रके समान पराक्रमी महाबली द्रोणको युद्धमें जीते बिना तुम यहाँ राज्य कैसे लेना चाहते हो ? ॥ १३-१४ ॥

ब्राह्मे धनुषि चाचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः ।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ॥ १५ ॥
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा ।
न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ॥ १६ ॥

'आचार्य द्रोण ब्राह्मवेद और धनुर्वेद दोनोंके पारङ्गत पण्डित हैं । वे युद्धका भार वहन करनेमें समर्थ, अक्षोभ्य, सेनाके मध्यमें विचरनेवाले तथा संग्रामभूमिसे कभी पीछे न हटनेवाले हैं । पार्थ ! तुम उन्हीं महातेजस्वी द्रोणको जो जीतनेकी इच्छा करते हो, वह व्यर्थ दुःसाहसमात्र है । वायुने कभी सुमेरु पर्वतको उखाड़ फेंका हो, यह कभी हमारे सुननेमें नहीं आया ॥ १५-१६ ॥

अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम् ।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद् यथाऽऽत्थ माम् ॥ १७ ॥

'तुम जैसा मुझसे कहते हो, वैसा ही यदि सम्भव हो जाय, तब तो वायु भी सुमेरु पर्वतको उठा ले, स्वर्गलोक पृथ्वीपर गिर पड़े अथवा युग ही बदल जाय ॥ १७ ॥

को ह्यस्ति जीविताकाङ्क्षी प्राप्येममरिमर्दनम् ।
गजो वाजी रथो वापि पुनः स्वस्ति गृहान् व्रजेत् ॥ १८ ॥

'जीवित रहनेकी इच्छावाला कौन ऐसा हाथीसवार, घुड़सवार अथवा रथी है, जो इन शत्रुमर्दन द्रोणसे भिड़कर कुशलपूर्वक अपने घरको लौट सके ? ॥ १८ ॥

कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा ।
रणे जीवन् विमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ॥ १९ ॥

'भीष्म और द्रोणने जिसे मारनेका निश्चय कर लिया हो अथवा जो युद्धमें इनके भयंकर अस्त्रोंसे छू गया हो, ऐसा कौन भूतलनिवासी जीवित बच सकता है ? ॥ १९ ॥

किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां
न बुध्यसे राजचमूं समेताम् ।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां
गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ॥ २० ॥
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यै-
रुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च ।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमुख्यदेश्यै-
म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः ॥ २१ ॥

'जैसे देवता स्वर्गकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके नरेश तथा काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, कुरु और मध्यप्रदेशके सैनिक एवं म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और काञ्चीदेशीय योद्धा जिस सेनाकी रक्षा करते हैं, जो देवताओंकी सेनाके समान दुर्धर्ष एवं संगठित है, कौरवराजकी उस (समुद्रतुल्य) सेनाको क्या तुम कूपमण्डूककी भाँति अच्छी तरह समझ नहीं पाते ? ॥ २०-२१ ॥

नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं
गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम् ।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये
युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ॥ २२ ॥

'अल्पबुद्धि मूढ़ युधिष्ठिर ! जिसका वेग युद्धकालमें गङ्गाके वेगके समान बढ़ जाता है और जिसे पार करना असम्भव है, नाना प्रकारके जनसमुदायसे भरी हुई मेरी उस विशाल वाहिनीके साथ तथा गजसेनाके बीचमें खड़े हुए मुझ

दुर्योधनके साथ भी तुम युद्धकी इच्छा कैसे रखते हो ?' । २२ ।

इत्येवमुक्त्वा राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभ्यावृत्य पुनर्जिष्णुमुलूकः प्रत्यभाषत ॥ २३ ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर उलूक अर्जुनकी ओर मुड़ा और तत्पश्चात् उनसे भी इस प्रकार कहने लगा—॥२३॥

अकत्थमानो युध्यस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु ।
पर्यायात् सिद्धिरेतस्य नैतत् सिध्यति कत्थनात् ॥२४॥

'अर्जुन ! बातें न बनाकर युद्ध करो । बहुत आत्मप्रशंसा क्यों करते हो ? विभिन्न प्रकारोंसे युद्ध करनेपर ही राज्यकी सिद्धि हो सकती है । झूठी आत्मप्रशंसा करनेसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकती ॥ २४ ॥

यदीदं कत्थनाल्लोके सिध्येत् कर्म धनंजय ।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ॥ २५ ॥

'धनंजय ! यदि जगत्में अपनी झूठी प्रशंसा करनेसे ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती, तब तो सब लोग सिद्धकाम हो जाते; क्योंकि बातें बनानेमें कौन दरिद्र और दुर्बल होगा ? ।२५।

जानामि ते वासुदेवं सहायं
जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्येतत् त्वादृशो नास्ति योद्धा
जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ॥ २६ ॥

'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सहायक वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे पास चार हाथ लम्बा गाण्डीव धनुष है तथा मुझे यह भी मालूम है कि तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई योद्धा नहीं है; यह सब जानकर भी मैं तुम्हारे इस राज्यका अपहरण करता हूँ ॥ २६ ॥

न तु पर्यायधर्मेण राज्यं प्राप्नोति मानुषः ।
मनसैवानुकूलानि विधाता कुरुते वशे ॥ २७ ॥

'कोई भी मनुष्य नाममात्रके धर्मद्वारा राज्य नहीं पाता; केवल विधाता ही मानसिक संकल्पमात्रसे सबको अपने अनुकूल और अधीन कर लेता है ॥ २७ ॥

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव ।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये निहत्य त्वां सबान्धवम् ॥ २८ ॥

'तुम रोते-विलखते रह गये और मैंने तेरह वर्षोंतक तुम्हारा राज्य भोगा । अब भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके आगे भी मैं ही इस राज्यका शासन करूँगा ॥ २८ ॥

क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूद् यत् त्वं दासपणैर्जितः ।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥ २९ ॥

'दास अर्जुन ! जब तुमलोग जूएके दाँवपर जीत लिये गये, उस समय तुम्हारा गाण्डीव धनुष कहाँ था ? भीमसेनका बल भी उस समय कहाँ चला गया था ? ॥ २९ ॥

सगदाद् भीमसेनाद् वा पार्थाद् वापि सगाण्डिवात् ।
न वै मोक्षस्तदा वोऽभूद् विना कृष्णामनिन्दिताम् ॥३०॥

'गदाधारी भीमसेन अथवा गाण्डीवधारी अर्जुनसे भी उस समय सती साध्वी द्रौपदीका सहारा लिये बिना तुमलोगोंका दासभावसे उद्धार न हो सका ॥ ३० ॥

सा वो दास्ये समापन्नान् मोक्षयामास पार्षती ।
अमानुष्यं समापन्नान् दासकर्मण्यवस्थितान् ॥ ३

'तुम सब लोग अमनुष्योचित दीन दशाको प्राप दासभावमें स्थित थे । उस समय उस द्रुपदकुमारी कृ ही दासताके संकटमें पड़े हुए तुम सब लोगोंको छुड़ाया थ

अवोचं यत् षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत् ।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ॥ ३

'मैंने जो उन दिनों तुमलोगोंको हिजड़ा या नपुं कहा था, वह ठीक ही निकला; क्योंकि अज्ञातवासके स विराटनगरमें अर्जुनको अपने सिरपर स्त्रियोंकी भाँति वे धारण करनी पड़ी ॥ ३२ ॥

सूदकर्मणि च श्रान्तं विराटस्य महानसे ।
भीमसेनेन कौन्तेय यच्च तन्मम पौरुषम् ॥ ३३

'कुन्तीकुमार ! तुम्हारे भाई भीमसेनको राजा विरा रसोईघरमें रसोइयेके काममें ही संलग्न रहकर जो भारी श्र उठाना पड़ा, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ है ॥ ३३ ॥

एवमेतत् सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः ।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ॥ ३४

'इसी प्रकार सदासे ही क्षत्रियोंने अपने विरोधी क्षत्रिय दण्ड दिया है । इसीलिये तुम्हें भी सिरपर वेणी रखा और हिजड़ोंका वेष बनाकर राजा विराटकी कन्या नचानेका काम करना पड़ा ॥ ३४ ॥

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन ।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्ध्यस्व सहकेशवः ॥ ३५ ॥

'फाल्गुन ! श्रीकृष्णके या तुम्हारे भयसे मैं राज्य नहीं लौटाऊँगा । तुम श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥ ३५ ॥

न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य मे युद्धे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ३६ ॥

'माया, इन्द्रजाल अथवा भयानक छलना संग्रामभूमिमें हथियार उठाये हुए मुझ दुर्योधनके क्रोध और सिंहनादको ही बढ़ाती हैं (मुझे भयभीत नहीं कर सकती हैं) ॥ ३६ ॥

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ॥ ३७ ॥

'हजारों श्रीकृष्ण और सैकड़ों अर्जुन भी अमोघ बाणों वाले मुझ वीरके पास आकर दसों दिशाओंमें भाग जायँगे। ३७

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम् ।
तरेमं वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ॥ ३८ ॥

'तुम भीष्मके साथ युद्ध करो या सिरसे पहाड़ फोड़ो या सैनिकों के अत्यन्त गहरे महासागरको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करो ॥

शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ॥ ३९ ॥

'हमारे सैन्यरूपी महासमुद्रमें कृपाचार्य महामत्स्यके समान हैं, विविंशति उसके भीतर रहनेवाला महासर्प है,

बृहद्बल उसके भीतर उठनेवाले महान् ज्वारके समान हैं, भूरिश्रवा तिमिंगिल नामक मत्स्यके स्थानमें हैं ॥ ३९ ॥

भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ॥ ४० ॥

‘भीष्म उसके असीम वेग हैं, द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके होनेसे इस सैन्यसागरमें प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है, कर्ण और शल्य मत्स्य तथा आवर्त (भँवर) का काम करते हैं और काम्बोजराज सुदक्षिण इसमें बड़वानल हैं ॥ ४० ॥

दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं
सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं
दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ॥ ४१ ॥

‘दुःशासन इसके तीव्र प्रवाहके समान है, शल और शल्य मत्स्य हैं, सुषेण और चित्रायुध नाग और मकरके समान हैं, जयद्रथ पर्वत है, पुरुमित्र उसकी गम्भीरता है, दुर्मर्षण जल है और शकुनि प्रपात (झरने) का काम देता है ।४१।

शस्त्रौघमक्षय्यमतिप्रवृद्धं
यदावगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धव-
स्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ॥ ४२ ॥

‘भाँति-भाँतिके शस्त्र इस सैन्यसागरके जलप्रवाह हैं। यह अक्षय होनेके साथ ही खूब बढ़ा हुआ है । इसमें प्रवेश करनेपर अधिक श्रमके कारण जब तुम्हारी चेतना नष्ट हो जायगी, तुम्हारे समस्त बन्धु मार दिये जायँगे, उस समय तुम्हारे मनको बड़ा संताप होगा ॥ ४२ ॥

तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाशुचे-
र्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया
बुभूषितः स्वर्ग इवातपस्विना ॥ ४३ ॥

‘पार्थ ! जैसे अपवित्र मनुष्यका मन स्वर्गकी ओरसे निवृत्त हो जाता है, क्योंकि उसके लिये स्वर्गकी प्राप्ति असम्भव है, उसी प्रकार तुम्हारा मन भी उस समय इस पृथ्वीके राज्य-शासनसे निराश होकर निवृत्त हो जायगा । अर्जुन ! शान्त होकर बैठ जाओ। राज्य तुम्हारे लिये अत्यन्त दुर्लभ है । जिसने तपस्या नहीं की है, वह जैसे स्वर्ग पाना चाहे, उसी प्रकार तुमने भी राज्यकी अभिलाषा की है’ ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकवाक्ये एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें उलूकवाक्यविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६१ ॥

* * *

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षकी ओरसे दुर्योधनको उसके संदेशका उत्तर

संजय उवाच

उलूकस्त्वर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ।
आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन् वाक्यशलाकया ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उलूकने विषधर सर्पके समान क्रोधमें भरे हुए अर्जुनको अपने वाग्बाणोंसे और भी पीड़ा देते हुए दुर्योधनकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ॥ १ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रुषिताः पाण्डवा भृशम् ।
प्रागेव भृशसंक्रुद्धाः कैतव्येनापि धर्षिताः ॥ २ ॥

उसकी बात सुनकर पाण्डवोंको बड़ा रोष हुआ । एक तो वे पहलेसे ही अधिक क्रुद्ध थे, दूसरे जुआरी शकुनिके बेटेने भी उनका बड़ा तिरस्कार किया ॥ २ ॥

आसनेषूदतिष्ठन्त बाहूंश्चैव प्रचिक्षिपुः ।
आशीविषा इव क्रुद्धा वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ ३ ॥

वे आसनोंसे उठकर खड़े हो गये और अपनी भुजाओंको इस प्रकार हिलाने लगे, मानो प्रहार करनेके लिये उद्यत हों। वे विषैले सर्पोंके समान अत्यन्त कुपित हो एक-दूसरेकी ओर देखने लगे ॥ ३ ॥

अवाक्शिरा भीमसेनः समुदैक्षत केशवम् ।
नेत्राभ्यां लोहितान्ताभ्यामाशीविष इव श्वसन् ॥ ४ ॥

भीमसेनने फुफकारते हुए विषधर नागकी भाँति लम्बी साँसें खींचते हुए सिर नीचे किये लाल नेत्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखा ॥ ४ ॥

आर्तं वातात्मजं दृष्ट्वा क्रोधेनाभिहतं भृशम् ।
उत्स्मयन्निव दाशार्हः कैतव्यं प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

वायुपुत्र भीमको क्रोधसे अत्यन्त पीड़ित और आहत देख दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णने उलूकसे मुसकराते हुए-से कहा—।

प्रयाहि शीघ्रं कैतव्य ब्रूयाश्चैव सुयोधनम् ।
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत् ॥ ६ ॥

‘जुआरी शकुनिके पुत्र उलूक ! तू शीघ्र लौट जा और दुर्योधनसे कह दे—‘पाण्डवोंने तुम्हारा संदेश सुना और उसके अर्थको समझकर स्वीकार किया। युद्धके विषयमें जैसा तुम्हारा मत है, वैसा ही हो’ ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः केशवो राजसत्तम ।
पुनरेव महाप्राज्ञं युधिष्ठिरमुदैक्षत ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर महाबाहु केशवने पुनः परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी ओर देखा ॥ ७ ॥

सृञ्जयानां च सर्वेषां कृष्णस्य च यशस्विनः ।
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च संनिधौ ॥ ८ ॥
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ।
उलूकोऽप्यर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन् वाक्यशलाकया ।
कृष्णादींश्चैव तान् सर्वान् यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ १० ॥

फिर उलूकने भी समस्त सृंजयवंशी क्षत्रियसमुदाय, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रोंसहित द्रुपद और विराटके समीप सम्पूर्ण राजाओंकी मण्डलीमें शेष बातें कहीं । उसने विषधर सर्पके सदृश कुपित हुए अर्जुनको पुनः अपने वाग्बाणोंसे पीड़ा देते हुए दुर्योधनकी कही हुई सब बातें कह सुनायीं । साथ ही श्रीकृष्ण आदि अन्य सब लोगोंसे कहनेके लिये भी उसने जो-जो संदेश दिये थे, उन्हें भी उन सबको यथावत्‌रूपसे सुना दिया ॥ ८–१० ॥

उलूकस्य तु तद् वाक्यं पापं दारुणमीरितम् ।
श्रुत्वा विचुक्षुभे पार्थो ललाटं चाप्यमार्जयत् ॥ ११ ॥

उलूकके कहे हुए उस पापपूर्ण दारुण वचनको सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनको बड़ा क्षोभ हुआ । उन्होंने हाथसे ललाटका पसीना पोंछा ॥ ११ ॥

तदवस्थं तदा दृष्ट्वा पार्थं सा समितिर्नृप ।
नामृष्यन्त महाराज पाण्डवानां महारथाः ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! अर्जुनको उस अवस्थामें देखकर राजाओंकी वह समिति तथा पाण्डव महारथी सहन न कर सके ॥ १२ ॥

अधिक्षेपेण कृष्णस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
श्रुत्वा ते पुरुषव्याघ्राः क्रोधाज्जज्वलुरच्युताः ॥ १३ ॥

राजन् ! महात्मा अर्जुन तथा श्रीकृष्णके प्रति आक्षेपपूर्ण वचन सुनकर वे पुरुषसिंह शूरवीर क्रोधसे जल उठे ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
केकया भ्रातरः पञ्च राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ १४ ॥
द्रौपदेयाभिमन्युश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ।
भीमसेनश्च विक्रान्तो यमजौ च महारथौ ॥ १५ ॥
उत्पेतुरासनात् सर्वे क्रोधसंरक्तलोचनाः ।
बाहून् प्रगृह्य रुचिरान् रक्तचन्दनरूषितान् ।
अङ्गदैः पारिहार्यैश्च केयूरैश्च विभूषितान् ॥ १६ ॥
दन्तान् दन्तेषु निष्पिष्य सृक्किणी परिलेलिहन् ।

धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, महारथी सात्यकि, पाँच भाई केकयराजकुमार, राक्षस घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु, राजा धृष्टकेतु, पराक्रमी भीमसेन तथा महारथी नकुल-सहदेव—ये सबके सब क्रोधसे लाल आँखें किये अपने आसनोंसे उछलकर खड़े हो गये और अङ्गद, पारिहार्य (मोतियोंके गुच्छों) तथा केयूरोंसे विभूषित एवं लाल चन्दनसे चर्चित अपनी सुन्दर भुजाओंको थामकर दाँतोंपर दाँत रगड़ते हुए ओठोंके दोनों कोने चाटने लगे ॥

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ १७ ॥
उदतिष्ठत् स वेगेन क्रोधेन प्रज्वलन्निव ।
उद्वृत्य सहसा नेत्रे दन्तान् कटकटाय्य च ॥ १८ ॥
हस्तं हस्तेन निष्पिष्य उलूकं वाक्यमब्रवीत् ।

उनकी आकृति और भावको जानकर कुन्तीपुत्र वृकोदर बड़े वेगसे उठे और क्रोधसे जलते हुएके सहसा आँखें फाड़-फाड़कर देखते, दाँत कटकटाते हाथसे हाथ रगड़ते हुए उलूकसे इस प्रकार बोले—॥ १७-१

अशक्तानामिवास्माकं प्रोत्साहननिमित्तकम् ॥ १
श्रुतं ते वचनं मूर्ख यत् त्वां दुर्योधनोऽब्रवीत् ।

'ओ मूर्ख ! दुर्योधनने तुझसे जो कुछ कहा है, व वचन हमने सुन लिया । मानो हम असमर्थ हों और प्रोत्साहन देनेके निमित्त यह सब कुछ कह रहा हो ॥ १

तन्मे कथयतो मन्द शृणु वाक्यं दुरासदम् ॥ २
सर्वक्षत्रस्य मध्ये तं यद् वक्ष्यसि सुयोधनम् ।
शृण्वतः सूतपुत्रस्य पितुश्च त्वं दुरात्मनः ॥ २

'मूर्ख उलूक ! अब तू मेरी कही हुई दुःसह बातें सुन समस्त राजाओंकी मण्डलीमें सूतपुत्र कर्ण और अपने दु पिता शकुनिके सामने दुर्योधनको सुना देना—॥ २०-२१

अस्माभिः प्रीतिकामैस्तु भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः ।
मर्षितं ते दुराचार तत् त्वं न बहु मन्यसे ॥ २

'दुराचारी दुर्योधन ! हमलोगोंने सदा अपने बड़े को प्रसन्न रखनेकी इच्छासे तेरे बहुत-से अत्याचा चुपचाप सह लिया है; परंतु तू इन बातोंको अधिक नहीं दे रहा है ॥ २२ ॥

प्रेषितश्च हृषीकेशः शमाकाङ्क्षी कुरून् प्रति ।
कुलस्य हितकामेन धर्मराजेन धीमता ॥ २

'बुद्धिमान् धर्मराजने कौरवकुलके हितकी इ शान्ति चाहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको कौरवोंके पास भेजा

त्वं कालचोदितो नूनं गन्तुकामो यमक्षयम् ।
गच्छस्वाहवमस्माभिस्तच्च श्वो भविता ध्रुवम् ॥ २४

'परंतु तू निश्चय ही कालसे प्रेरित हो यमलोकमें ज चाहता है (इसीलिये संधिकी बात नहीं मान सका) । अ हमारे साथ युद्धमें चल । कल निश्चय ही युद्ध होगा ॥ २

मयापि च प्रतिज्ञातो वधः सभ्रातृकस्य ते ।
स तथा भविता पाप नात्र कार्या विचारणा ॥ २५

'पापात्मन् ! मैंने भी जो तेरे और तेरे भाइयोंके वधकी प्रति की है, वह उसी रूपमें पूर्ण होगी । इस विषयमें तुझे अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

वेलामतिक्रमेत् सद्यः सागरो वरुणालयः ।
पर्वताश्च विशीर्येयुर्मयोक्तं न मृषा भवेत् ॥ २६

'वरुणालय समुद्र शीघ्र ही अपनी सीमाका उल्लङ्घन जाय और पर्वत जीर्ण-शीर्ण होकर बिखर जायँ, परंतु कही हुई बात झूठी नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

सहायस्ते यदि यमः कुबेरो रुद्र एव वा ।
यथाप्रतिज्ञं दुर्बुद्धे प्रकरिष्यन्ति पाण्डवाः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पाता चास्मि यथेप्सितम् ॥ २७

'दुर्बुद्धे ! तेरी सहायताके लिये यमराज, कुबेर अथ

भगवान् रुद्र ही क्यों न आ जायँ, पाण्डव अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सब कार्य अवश्य करेंगे। मैं अपनी इच्छाके अनुसार दुःशासनका रक्त अवश्य पीऊँगा ॥ २७ ॥

यश्चेह प्रतिसंरब्धः क्षत्रियो माभियास्यति।
अपि भीष्मं पुरस्कृत्य तं नेष्यामि यमक्षयम् ॥ २८ ॥

'उस समय साक्षात् भीष्मको भी आगे करके जो कोई भी क्षत्रिय क्रोधपूर्वक मेरे ऊपर धावा करेगा, उसे उसी क्षण यमलोक पहुँचा दूँगा ॥२८॥

यच्चैतदुक्तं वचनं मया क्षत्रस्य संसदि।
यथैतद् भविता सत्यं तथैवात्मानमालभे ॥ २९ ॥

'मैंने क्षत्रियोंकी सभामें यह बात कही है, जो अवश्य सत्य होगी। यह मैं अपनी सौगन्ध खाकर कहता हूँ' ॥२९॥

भीमसेनवचः श्रुत्वा सहदेवोऽप्यमर्षणः।
क्रोधसंरक्तनयनस्ततो वाक्यमुवाच ह ॥ ३० ॥

भीमसेनका वचन सुनकर सहदेवका भी अमर्ष जाग उठा। तब उन्होंने भी क्रोधसे आँखें लाल करके यह बात कही—॥

शौटीरशूरसदृशमनीकजनसंसदि।
शृणु पाप वचो मह्यं यद्वाच्यो हि पिता त्वया ॥ ३१ ॥

'ओ पापी ! मैं इन वीर सैनिकोंकी सभामें गर्वीले शूरवीरके योग्य वचन बोल रहा हूँ। तू इसे सुन ले और अपने पिताके पास जाकर सुना दे ॥ ३१ ॥

नास्माकं भविता भेदः कदाचित् कुरुभिः सह।
धृतराष्ट्रस्य सम्बन्धो यदि न स्यात् त्वया सह ॥ ३२ ॥

'यदि धृतराष्ट्रका तेरे साथ सम्बन्ध न होता, तो कभी कौरवोंके साथ हमलोगोंकी फूट नहीं होती ॥३२॥

त्वं तु लोकविनाशाय धृतराष्ट्रकुलस्य च।
उत्पन्नो वैरपुरुषः स्वकुलघ्नश्च पापकृत् ॥ ३३ ॥

'तू सम्पूर्ण जगत् तथा धृतराष्ट्रकुलके विनाशके लिये पापाचारी मूर्तिमान् वैरपुरुष होकर उत्पन्न हुआ है। तू अपने कुलका भी नाश करनेवाला है ॥३३॥

जन्मप्रभृति चास्माकं पिता ते पापपूरुषः।
अहितानि नृशंसानि नित्यशः कर्तुमिच्छति ॥ ३४ ॥

'उलूक ! तेरा पापात्मा पिता जन्मसे ही हमलोगोंके प्रति प्रतिदिन क्रूरतापूर्ण अहितकर बर्ताव करना चाहता है ॥

तस्य वैरानुषङ्गस्य गन्तास्म्यन्तं सुदुर्गमम्।
अहमादौ निहत्य त्वां शकुनेः सम्प्रपश्यतः ॥ ३५ ॥
ततोऽस्मि शकुनिं हन्ता मिषतां सर्वधन्विनाम्।

'इसलिये मैं शकुनिके देखते-देखते सबसे पहले तेरा वध करके सम्पूर्ण धनुर्धरोंके सामने शकुनिको भी मार डालूँगा और इस प्रकार अत्यन्त दुर्गम शत्रुतासे पार हो जाऊँगा' ॥ ३५½ ॥

भीमस्य वचनं श्रुत्वा सहदेवस्य चोभयोः ॥ ३६ ॥
उवाच फाल्गुनो वाक्यं भीमसेनं स्मयन्निव।
भीमसेन न ते सन्ति येषां वैरं त्वया सह ॥ ३७ ॥
मन्दा गृहेषु सुखिनो मृत्युपाशवशं गताः।

भीमसेन और सहदेव दोनोंके वचन सुनकर अर्जुनने भीमसेनसे मुसकराते हुए कहा—'आर्य भीम ! जिनका आपके साथ वैर ठन गया है, वे घरमें बैठकर सुखका अनुभव करनेवाले मूर्ख कौरव कालके पाशमें बँध गये हैं (अर्थात् उनका जीवन नहींके बराबर है) ॥३६-३७½॥

उलूकश्च न ते वाच्यः परुषं पुरुषोत्तम ॥ ३८ ॥
दूताः किमपराध्यन्ते यथोक्तस्यानुभाषिणः।

'पुरुषोत्तम ! आपको इस उलूकसे कोई कठोर बात नहीं कहनी चाहिये। बेचारे दूतोंका क्या अपराध है ? वे तो कही हुई बातका अनुवादमात्र करनेवाले हैं' ॥३८½॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्भीमं भीमपराक्रमम् ॥ ३९ ॥
धृष्टद्युम्नमुखान् वीरान् सुहृदः समभाषत।

भयंकर पराक्रमी भीमसेनसे ऐसा कहकर महाबाहु अर्जुनने धृष्टद्युम्न आदि वीर सुहृदोंसे कहा—॥३९½॥

श्रुतं वस्तस्य पापस्य धार्तराष्ट्रस्य भाषितम् ॥ ४० ॥
कुत्सनं वासुदेवस्य मम चैव विशेषतः।
श्रुत्वा भवन्तः संरब्धा अस्माकं हितकाम्यया ॥ ४१ ॥

'बन्धुओ ! आपलोगोंने उस पापी दुर्योधनकी बात सुनी है न ? इसमें उसके द्वारा विशेषतः मेरी और भगवान् श्रीकृष्णकी निन्दा की गयी है। आपलोग हमारे हितकी कामना रखते हैं, इसलिये इस निन्दाको सुनकर कुपित हो उठे हैं ॥४०—४१॥

प्रभावाद् वासुदेवस्य भवतां च प्रयत्नतः।
समग्रं पार्थिवं क्षत्रं सर्वं न गणयाम्यहम् ॥ ४२ ॥

'परंतु भगवान् वासुदेवके प्रभाव और आपलोगोंके प्रयत्नसे मैं इस समस्त भूमण्डलके सम्पूर्ण क्षत्रियोंको भी कुछ नहीं गिनता हूँ ॥ ४२ ॥

भवद्भिः समनुज्ञातो वाक्यमस्य यदुत्तरम्।
उलूके प्रापयिष्यामि यद् वक्ष्यति सुयोधनम् ॥ ४३ ॥

'यदि आपलोगोंकी आज्ञा हो तो मैं इस बातका उत्तर उलूकको दे दूँ, जिसे यह दुर्योधनको सुना देगा ॥४३॥

श्वोभूते कत्थितस्यास्य प्रतिवाक्यं चमूमुखे।
गाण्डीवेनाभिधास्यामि क्लीबा हि वचनोत्तराः ॥ ४४ ॥

'अथवा आपकी सम्मति हो, तो कल सबेरे सेनाके मुहानेपर उसकी इन शेखीभरी बातोंका ठीक-ठीक उत्तर गाण्डीव धनुषद्वारा दे दूँगा; क्योंकि केवल बातोंमें उत्तर देनेवाले तो नपुंसक होते हैं' ॥ ४४ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रशशंसुर्धनंजयम्।
तेन वाक्योपचारेण विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ४५ ॥

अर्जुनकी इस प्रवचन-शैलीसे सभी श्रेष्ठ भूपाल आश्चर्यचकित हो उठे और वे सबके सब उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ४५ ॥

अनुनीय च तान् सर्वान् यथामान्यं यथावयः।

धर्मराजस्तदा वाक्यं तत्प्राप्यं प्रत्यभाषत ॥ ४६ ॥

तदनन्तर धर्मराजने उन समस्त राजाओंको उनकी अवस्था और प्रतिष्ठाके अनुसार अनुनय-विनय करके शान्त किया और दुर्योधनको देने योग्य जो संदेश था, उसे इस प्रकार कहा—॥ ४६ ॥

आत्मानमवमन्वानो न हि स्यात् पार्थिवोत्तमः ।
तत्रोत्तरं प्रवक्ष्यामि तव शुश्रूषणे रतः ॥ ४७ ॥

'उलूक ! कोई भी श्रेष्ठ राजा शान्त रहकर अपनी अवज्ञा सहन नहीं कर सकता। मैंने तुम्हारी बात ध्यान देकर सुनी है। अब मैं तुम्हें उत्तर देता हूँ, उसे सुनो' ॥ ४७ ॥

उलूकं भरतश्रेष्ठ सामपूर्वमथोर्जितम् ।
दुर्योधनस्य तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभः ॥ ४८ ॥
अतिलोहितनेत्राभ्यामाशीविष इव श्वसन् ।
स्मयमान इव क्रोधात् सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ४९ ॥
जनार्दनमभिप्रेक्ष्य भ्रातृंश्चैवेदमब्रवीत् ।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार युधिष्ठिरने उलूकसे पहले मधुर वचन बोलकर फिर ओजस्वी शब्दोंमें उत्तर दिया। (उलूकके मुखसे) पहले दुर्योधनके पूर्वोक्त संदेशको सुनकर भरतकुलभूषण युधिष्ठिर रोषसे अत्यन्त लाल हुए नेत्रोंद्वारा देखते हुए विषधर सर्पके समान उच्छ्वास लेने लगे। फिर ओठोंके दोनों कोनोंको चाटते हुए वे श्रीकृष्ण तथा भाइयोंकी ओर देखकर बोलनेको प्रस्तुत हुए। वे अपनी विशाल भुजा ऊपर उठा धूर्त जुआरी शकुनिके पुत्र उलूकसे मुसकराते हुए-से बोले—॥ ४८–५० ॥

उलूक गच्छ कैतव्य ब्रूहि तात सुयोधनम् ।
कृतघ्नं वैरपुरुषं दुर्मतिं कुलपांसनम् ॥ ५१ ॥

'जुआरी शकुनिके पुत्र तात उलूक ! तुम जाओ और वैरके मूर्तिमान् स्वरूप उस कृतघ्न, दुर्बुद्धि एवं कुलाङ्गार दुर्योधनसे इस प्रकार कह दो—॥५१॥

पाण्डवेषु सदा पाप नित्यं जिह्मं प्रवर्तसे ।
स्ववीर्याद् यः पराक्रम्य पाप आह्वयते परान् ।
अभीतः पूरयन् वाक्यमेष वै क्षत्रियः पुमान् ॥ ५२ ॥

'पापी दुर्योधन ! तू पाण्डवोंके साथ सदा कुटिल बर्ताव करता आ रहा है। पापात्मन् ! जो किसीसे भयभीत न होकर अपने वचनोंका पालन करता है और अपने ही बाहुबलसे पराक्रम प्रकट करके शत्रुओंको युद्धके लिये बुलाता है, वही पुरुष क्षत्रिय है ॥ ५२ ॥

स पापः क्षत्रियो भूत्वा अस्मानाहूय संयुगे ।
मान्यामान्यान् पुरस्कृत्य युद्धं मा गाः कुलाधम ॥ ५३ ॥

'कुलाधम ! तू पापी है ! देख, क्षत्रिय होकर और हमलोगोंको युद्धके लिये बुलाकर ऐसे लोगोंको आगे करके रणभूमिमें न आना, जो हमारे माननीय वृद्ध गुरुजन और स्नेहास्पद बालक हों ॥५३॥

आत्मवीर्यं समाश्रित्य भृत्यवीर्यं च कौरव ।
आह्वयस्व रणे पार्थान् सर्वथा क्षत्रियो भव ॥ ५४ ॥

'कुरुनन्दन ! तू अपने तथा भरणीय सेवकवर्गके और पराक्रमका आश्रय लेकर ही कुन्तीके पुत्रोंका यु लिये आह्वान कर । सब प्रकारसे क्षत्रियत्वका परिचय

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान् ।
अशक्तः स्वयमादातुमेतदेव नपुंसकम् ॥ ५५

'जो स्वयं सामना करनेमें असमर्थ होनेके क दूसरोंके पराक्रमका भरोसा करके शत्रुओंको युद्धके लिये ल कारता है, उसका यह कार्य उसकी नपुंसकताका ही सूचक

स त्वं परेषां वीर्येण आत्मानं बहु मन्यसे ।
कथमेवमशक्तस्त्वमस्मान् समभिगर्जसि ॥ ५६

'तू तो दूसरोंके ही बलसे अपने आपको बहुत अ शक्तिशाली मानता है; परंतु ऐसा असमर्थ होकर तू ह सामने गर्जना कैसे कर रहा है ?' ॥५६॥

श्रीकृष्ण उवाच

मद्वचश्चापि भूयस्ते वक्तव्यः स सुयोधनः ।
श्व इदानीं प्रपद्येथाः पुरुषो भव दुर्मते ॥ ५७

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उलूक! इ बाद तू दुर्योधनसे मेरी यह बात भी कह देना—'दुर्मते! अब ही तू रणभूमिमें आ जा और अपने पुरुषत्वका परिचय दे

मन्यसे यच्च मूढ त्वं न योत्स्यति जनार्दनः ।
सारथ्येन वृतः पार्थैरिति त्वं न बिभेषि च ॥ ५८

'मूढ़ ! तू जो यह समझता है कि कुन्तीके पु श्रीकृष्णसे सारथि बननेका अनुरोध किया है, अतः वे यु नहीं करेंगे। सम्भवतः इसीलिये तू मुझसे डर नहीं रहा है।५

जघन्यकालमप्येतन्न भवेत् सर्वपार्थिवान् ।
निर्दहेयमहं क्रोधात् तृणानीव हुताशनः ॥ ५९

'परंतु याद रख, मैं चाहूँ, तो इन सम्पूर्ण नरेशों अपनी क्रोधाग्निसे उसी प्रकार भस्म कर सकता हूँ, जै आग घास-फूसको जला डालती है। किंतु युद्धके अन्त तक मुझे ऐसा करनेका अवसर न मिले; यही मेरी इच्छा है

युधिष्ठिरनियोगात् तु फाल्गुनस्य महात्मनः ।
करिष्ये युध्यमानस्य सारथ्यं विजितात्मनः ॥ ६०

'राजा युधिष्ठिरके अनुरोधसे मैं जितेन्द्रिय महात्मा अर्जुन के युद्ध करते समय उनके सारथिका काम अवश्य करूँगा

यद्युत्पतसि लोकांस्त्रीन् यद्याविशसि भूतलम् ।
तत्र तत्रार्जुनरथं प्रभाते द्रक्ष्यसे पुनः ॥ ६१

'अब तू यदि तीनों लोकोंसे ऊपर उड़ जाय अथवा धरती में समा जाय, तो भी (तू जहाँ-जहाँ जायगा), वहाँ-वहाँ कल प्रातःकाल अर्जुनका रथ पहुँचा हुआ देखेगा ॥६१

यच्चापि भीमसेनस्य मन्यसे मोघभाषितम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीतमद्यावधारय ॥ ६२

'इसके सिवा, तू जो भीमसेनकी कही हुई बातोंको व्यर्थ मानने लगा है, यह ठीक नहीं है। तू आज ही निश्चितरूपसे समझ ले कि भीमसेनने दुःशासनका रक्त पी लिया ॥ ६२ ॥

न त्वां समीक्षते पार्थो नापि राजा युधिष्ठिरः।
न भीमसेनो न यमौ प्रतिकूलप्रभाषिणम् ॥ ६३ ॥

‘तू पाण्डवोंके विपरीत कटुभाषण करता जा रहा है, परंतु अर्जुन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेव तुझे कुछ भी नहीं समझते हैं’ ॥६३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूताभिगमनपर्वणि कृष्णादिवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूताभिगमनपर्वमें श्रीकृष्ण आदिके वचनविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१६२॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाँचों पाण्डवों, विराट, द्रुपद, शिखण्डी और धृष्टद्युम्नका संदेश लेकर उलूकका लौटना और उलूककी बात सुनकर दुर्योधनका सेनाको युद्धके लिये तैयार होनेका आदेश देना

संजय उवाच

दुर्योधनस्य तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभ।
नेत्राभ्यामतिताम्राभ्यां कैतव्यं समुदैक्षत ॥ १ ॥
स केशवमभिप्रेक्ष्य गुडाकेशो महायशाः।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! दुर्योधनके पूर्वोक्त वचनको सुनकर महायशस्वी अर्जुनने क्रोधसे लाल आँखें करके शकुनिकुमार उलूककी ओर देखा। तत्पश्चात् अपनी विशाल भुजाको ऊपर उठाकर श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए उन्होंने कहा—॥ १-२ ॥

स्ववीर्यं यः समाश्रित्य समाह्वयति वै परान्।
अभीतो युध्यते शत्रून् स वै पुरुष उच्यते ॥ ३ ॥

‘जो अपने ही बल-पराक्रमका भरोसा करके शत्रुओंको ललकारता है और उनके साथ निर्भय होकर युद्ध करता है, वही पुरुष कहलाता है ॥ ३ ॥

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान्।
क्षत्रबन्धुरशक्तत्वाल्लोके स पुरुषाधमः ॥ ४ ॥

‘जो दूसरेके बल-पराक्रमका आश्रय ले शत्रुओंको युद्धके लिये बुलाता है, वह क्षत्रबन्धु असमर्थ होनेके कारण लोकमें पुरुषाधम कहा गया है ॥ ४ ॥

स त्वं परेषां वीर्येण मन्यसे वीर्यमात्मनः।
स्वयं कापुरुषो मूढ परांश्च क्षेप्तुमिच्छसि ॥ ५ ॥

‘मूढ़ ! तू दूसरोंके पराक्रमसे ही अपनेको बल-पराक्रमसे सम्पन्न मानता है और स्वयं कायर होकर दूसरोंपर आक्षेप करना चाहता है ॥ ५ ॥

यस्त्वं वृद्धं सर्वराज्ञां हितबुद्धिं जितेन्द्रियम्।
मरणाय महाप्रज्ञं दीक्षयित्वा विकत्थसे ॥ ६ ॥

‘जो समस्त राजाओंमें वृद्ध, सबके प्रति हितबुद्धि रखनेवाले, जितेन्द्रिय तथा महाज्ञानी हैं, उन्हीं पितामहको तू मरणके लिये रणकी दीक्षा दिलाकर अपनी बहादुरीकी बातें करता है ॥ ६ ॥

भावस्ते विदितोऽस्माभिर्दुर्बुद्धे कुलपांसन।
न हनिष्यन्ति गाङ्गेयं पाण्डवा घृणयेति हि ॥ ७ ॥

‘खोटी बुद्धिवाले कुलाङ्गार ! तेरा मनोभाव हमने समझ लिया है। तू जानता है कि पाण्डवलोग दयावश गङ्गानन्दन भीष्मका वध नहीं करेंगे ॥ ७ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य धार्तराष्ट्र विकत्थसे।
हन्तास्मि प्रथमं भीष्मं मिषतां सर्वधन्विनाम्॥ ८ ॥

‘धृतराष्ट्रपुत्र ! तू जिनके पराक्रमका आश्रय लेकर बड़ी-बड़ी बातें बनाता है, उन पितामह भीष्मको ही मैं सबसे पहले तेरे समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मार डालूँगा ॥ ८ ॥

कैतव्य गत्वा भरतान् समेत्य
सुयोधनं धार्तराष्ट्रं वदस्व।
तथेत्युवाचार्जुनः सव्यसाची
निशाव्यपाये भविता विमर्दः ॥ ९ ॥

‘उलूक ! तू भरतवंशियोंके यहाँ जाकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे कह दे कि सव्यसाची अर्जुनने ‘बहुत अच्छा’ कहकर तेरी चुनौती स्वीकार कर ली है। आजकी रात बीतते ही युद्ध आरम्भ हो जायगा ॥ ९ ॥

यद् वाब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वो
मध्ये कुरूनु हर्षयन् सत्यसंधः।
अहं हन्ता सृञ्जयानामनीकं
शाल्वेयकांश्चेति ममैष भारः ॥ १० ॥
हन्यामहं द्रोणमृतेऽपि लोकं
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः।
ततो हि ते लब्धतमं च राज्य-
मापद्गताः पाण्डवाश्चेति भावः ॥ ११ ॥

‘सत्यप्रतिज्ञ और महान् शक्तिशाली भीष्मजीने कौरव-सैनिकोंके बीचमें उनका हर्ष बढ़ाते हुए जो यह कहा था कि मैं सृंजय वीरोंकी सेनाका तथा शाल्वदेशके सैनिकोंका भी संहार कर डालूँगा। इन सबके मारनेका भार मेरे ही ऊपर है। दुर्योधन ! मैं द्रोणाचार्यके बिना भी सम्पूर्ण जगत्का संहार कर सकता हूँ; अतः तुम्हें पाण्डवोंसे कोई भय नहीं है। भीष्मके इस वचनसे ही तूने अपने मनमें यह धारणा बना ली है कि राज्य मुझे ही प्राप्त होगा और पाण्डव भारी विपत्तिमें पड़ जायँगे ॥ १०-११ ॥

स दर्पपूर्णो न समीक्षसे त्व-
मनर्थमात्मन्यपि वर्तमानम्।
तस्मादहं ते प्रथमं समूहे
हन्ता समक्षं कुरुवृद्धमेव ॥ १२ ॥

‘इसीलिये तू घमंडमें भरकर अपने ऊपर आये हुए

वर्तमान संकटको नहीं देख पाता है, अतः मैं सबसे पहले तेरे सेनासमूहमें प्रवेश करके कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मका ही तेरी आँखोंके सामने वध करूँगा ॥ १२ ॥

सूर्योदये युक्तसेनः प्रतीक्ष्य
ध्वजी रथी रक्ष तं सत्यसंधम् ।
अहं हि वः पश्यतां द्वीपमेनं
भीष्मं रथात् पातयिष्यामि बाणैः॥१३॥

'तू सूर्योदयके समय सेनाको सुसज्जित करके ध्वज और रथसे सम्पन्न हो सब ओर दृष्टि रखते हुए सत्यप्रतिज्ञ भीष्मकी रक्षा कर । मैं तेरे सैनिकोंके देखते-देखते तेरे लिये आश्रय बने हुए इन भीष्मजीको बाणोंद्वारा मारकर रथसे नीचे गिरा दूँगा ॥ १३ ॥

श्वोभूते कत्थनावाक्यं विज्ञास्यति सुयोधनः ।
आचितं शरजालेन मया दृष्ट्वा पितामहम् ॥ १४ ॥

'कल सबेरे पितामहको मेरे द्वारा चलाये हुए बाणोंके समूहसे व्याप्त देखकर दुर्योधनको अपनी बढ़-बढ़कर कही हुई बातोंका परिणाम ज्ञात होगा ॥ १४ ॥

यदुक्तश्च सभामध्ये पुरुषो ह्रस्वदर्शनः ।
क्रुद्धेन भीमसेनेन भ्राता दुःशासनस्तव ॥ १५ ॥
अधर्मज्ञो नित्यवैरी पापबुद्धिर्नृशंसकृत् ।
सत्यां प्रतिज्ञामचिराद् द्रक्ष्यसे तां सुयोधन ॥ १६ ॥

'सुयोधन ! क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने उस क्षुद्र विचारवाले, अधर्मज्ञ, नित्य वैरी, पापबुद्धि और क्रूरकर्मा तेरे भाई दुःशासनके प्रति जो बात कही है, उस प्रतिज्ञाको तू शीघ्र ही सत्य हुई देखेगा ॥ १५-१६॥

अभिमानस्य दर्पस्य क्रोधपारुष्ययोस्तथा ।
नैष्ठुर्यस्यावलेपस्य आत्मसम्भावनस्य च ॥ १७ ॥
नृशंसतायास्तैक्ष्ण्यस्य धर्मविद्वेषणस्य च ।
अधर्मस्यातिवादस्य वृद्धातिक्रमणस्य च ॥ १८ ॥
दर्शनस्य च वक्रस्य कृत्स्नस्यापनयस्य च ।
द्रक्ष्यसिं त्वं फलं तीव्रमचिरेण सुयोधन ॥ १९ ॥

'दुर्योधन ! तू अभिमान, दर्प, क्रोध, कटुभाषण, निष्ठुरता, अहंकार, आत्मप्रशंसा, क्रूरता, तीक्ष्णता, धर्मविद्वेष, अधर्म, अतिवाद, वृद्ध पुरुषोंके अपमान तथा टेढ़ी आँखोंसे देखनेका और अपने समस्त अन्याय एवं अत्याचारोंका घोर फल शीघ्र ही देखेगा ॥ १७–१९ ॥

वासुदेवद्वितीये हि मयि क्रुद्धे नराधम ।
आशा ते जीविते मूढ राज्ये वा केन हेतुना ॥ २० ॥

'मूढ़ नराधम ! भगवान् श्रीकृष्णके साथ मेरे कुपित होनेपर तू किस कारणसे जीवन तथा राज्यकी आशा करता है ? ॥

शान्ते भीष्मे तथा द्रोणे सूतपुत्रे च पातिते ।
निराशो जीविते राज्ये पुत्रेषु च भविष्यसि ॥ २१ ॥

'भीष्म, द्रोणाचार्य तथा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर तू अपने जीवन, राज्य तथा पुत्रोंकी रक्षाकी ओरसे निराश हो जायगा ॥ २१ ॥

भ्रातॄणां निधनं श्रुत्वा पुत्राणां च सुयोधन ।
भीमसेनेन निहतो दुष्कृतानि स्मरिष्यसि ॥ २

'सुयोधन ! तू अपने भाइयों और पुत्रोंका मरण कर और भीमसेनके हाथसे स्वयं भी मारा जाकर अपने को याद करेगा ॥ २२ ॥

न द्वितीयां प्रतिज्ञां हि प्रतिजानामि कैतव ।
सत्यं ब्रवीम्यहं ह्येतत् सर्वं सत्यं भविष्यति ॥ २
युधिष्ठिरोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ।
उलूक मद्वचो ब्रूहि गत्वा तात सुयोधनम् ॥ २

'शकुनिपुत्र ! मैं दूसरी बार प्रतिज्ञा करना नहीं जान तुझसे सच्ची बात कहता हूँ । यह सब कुछ सत्य होकर दे तत्पश्चात् युधिष्ठिरने भी धूर्त जुआरीके पुत्र उलूकसे प्रकार कहा—'वत्स उलूक ! तू दुर्योधनके पास जाकर यह बात कहना—॥ २३-२४ ॥

स्वेन वृत्तेन मे वृत्तं नाधिगन्तुं त्वमर्हसि ।
उभयोरन्तरं वेद सूनृतानृतयोरपि ॥ २

'सुयोधन ! तुझे अपने आचरणके अनुसार ही आचरणको नहीं समझना चाहिये । मैं दोनोंके वर्ता तथा सत्य और झूठका भी अन्तर समझता हूँ ॥ २५ ॥

न चाहं कामये पापमपि कीटपिपीलयोः ।
किं पुनर्ज्ञातिषु वधं कामयेयं कथंचन ॥ २

'मैं तो कीड़ों और चींटियोंको भी कष्ट पहुँचाना चाहता; फिर अपने भाई-बन्धुओं अथवा कुटुम्बीजनोंके व कामना किसी प्रकार भी कैसे कर सकता हूँ ? ॥ २६ ॥

एतदर्थं मया तात पञ्च ग्रामा वृताः पुरा ।
कथं तव सुदुर्बुद्धे न प्रेक्षे व्यसनं महत् ॥ २

'तात ! इसीलिये पहले मैंने केवल पाँच ही गाँव थे । दुर्बुद्धे ! मेरे ऐसा करनेका यही उद्देश्य था कि कि तरह तेरे ऊपर महान् संकट आया हुआ न देखूँ ॥ २

स त्वं कामपरीतात्मा मूढभावाच्च कत्थसे ।
तथैव वासुदेवस्य न गृह्णासि हितं वचः ॥ २

'परंतु तेरा मन लोभ और तृष्णामें डूबा हुआ है । मूर्खताके कारण अपनी झूठी प्रशंसा करता है और भगव श्रीकृष्णके हितकारक वचनको भी नहीं मान रहा है ॥ २

किं चेदानीं बहूक्तेन युध्यस्व सह बान्धवैः ।

'अब इस समय अधिक कहनेसे क्या लाभ ? तू अ भाई-बन्धुओंके साथ आकर युद्ध कर' ॥ २८½ ॥

मम विप्रियकर्तारं कैतव्य ब्रूहि कौरवम् ॥ २
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत् ।

'उलूक ! तू मेरा अप्रिय करनेवाले दुर्योधनसे कहना 'तेरा संदेश सुना और उसका अभिप्राय समझ लिया । जैसी इच्छा है, वैसा ही हो' ॥ २९½ ॥

भीमसेनस्ततो वाक्यं भूय आह नृपात्मजम् ॥ ३
उलूक मद्वचो ब्रूहि दुर्मतिं पापपूरुषम् ।

शठं नैकृतिकं पापं दुराचारं सुयोधनम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर भीमसेनने पुनः राजकुमार उलूकसे यह बात कही—'उलूक ! तू दुर्बुद्धि, पापात्मा, शठ, कपटी, पापी तथा दुराचारी दुर्योधनसे मेरी यह बात भी कह देना—॥

गृध्रोदरे वा वस्तव्यं पुरे वा नागसाह्वये ।
प्रतिज्ञातं मया तच्च सभामध्ये नराधम ॥ ३२ ॥
कर्ताहं तद् वचः सत्यं सत्येनैव शपामि ते ।

'नराधम ! तुझे या तो मरकर गीधके पेटमें निवास करना चाहिये या हस्तिनापुरमें जाकर छिप जाना चाहिये। मैंने सभामें जो प्रतिज्ञा की है, उसे अवश्य सत्य कर दिखाऊँगा । यह बात मैं सत्यकी ही शपथ खाकर तुझसे कहता हूँ ॥ ३२½ ॥

दुःशासनस्य रुधिरं हत्वा पास्याम्यहं मृधे ॥ ३३ ॥
सक्थिनी तव भङ्क्त्वैव हत्वा हि तव सोदरान् ।
सर्वेषां धार्तराष्ट्राणामहं मृत्युः सुयोधन ॥ ३४ ॥

'मैं युद्धमें दुःशासनको मारकर उसका रक्त पीऊँगा और तेरे सारे भाइयोंको मारकर तेरी जाँघें भी तोड़कर ही रहूँगा । सुयोधन ! मैं धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंकी मृत्यु हूँ ॥

सर्वेषां राजपुत्राणामभिमन्युरसंशयम् ।
कर्मणा तोषयिष्यामि भूयश्चैव वचः शृणु ॥ ३५ ॥

'इसी प्रकार सारे राजकुमारोंकी मृत्युका कारण अभिमन्यु होगा, इसमें संशय नहीं है। मैं अपने पराक्रमद्वारा तुझे अवश्य संतुष्ट करूँगा । तू मेरी एक बात और सुन ले ॥

हत्वा सुयोधन त्वां वै सहितं सर्वसोदरैः ।
आक्रमिष्ये पदा मूर्ध्नि धर्मराजस्य पश्यतः ॥ ३६ ॥

'सुयोधन ! तुझें समस्त भाइयोंसहित मारकर धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते तेरे मस्तकको पैरसे कुचल दूँगा' ॥

नकुलस्तु ततो वाक्यमिदमाह महीपते ।
उलूक ब्रूहि कौरव्यं धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ॥ ३७ ॥
श्रुतं ते गदतो वाक्यं सर्वमेव यथातथम् ।
तथा कर्तास्मि कौरव्य यथा त्वमनुशास्सि माम् ॥ ३८ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् नकुलने भी इस प्रकार कहा—'उलूक ! तू कुरुकुलकलंक धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे कहना, तेरी कही हुई सारी बातें मैंने यथार्थरूपसे सुन लीं । कौरव ! तू मुझे जैसा उपदेश दे रहा है, उसके अनुसार ही मैं सब कुछ करूँगा' ॥ ३७-३८ ॥

सहदेवोऽपि नृपते इदमाह वचोऽर्थवत् ।
सुयोधन मतिर्या ते वृथैषा ते भविष्यति ॥ ३९ ॥
शोचिष्यसे महाराज सपुत्रज्ञातिबान्धवः ।
इमं च क्लेशमस्माकं हृष्टो यत् त्वं विकत्थसे ॥ ४० ॥

राजन् ! तदनन्तर सहदेवने भी यह सार्थक वचन कहा—'महाराज दुर्योधन ! आज जो तेरी बुद्धि है, वह व्यर्थ हो जायगी। इस समय हमारे इस महान् क्लेशका जो तू हर्षोत्फुल्ल होकर वर्णन कर रहा है, इसका फल यह होगा कि तू अपने पुत्र, कुटुम्बी तथा बन्धुजनोंसहित शोकमें डूब जायगा' ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धावुलूकमिदमूचतुः ।
दासभावं नियच्छेव साधोरिति मतिः सदा ।
तौ च दासावदासौ वा पौरुषं यस्य यादृशम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर बूढ़े राजा विराट और द्रुपदने उलूकसे इस प्रकार कहा—'उलूक ! तू दुर्योधनसे कहना, राजन् ! हम दोनोंका विचार सदा यही रहता है कि हम साधु पुरुषोंके दास हो जायँ । वे दोनों हम विराट और द्रुपद दास हैं या अदास; इसका निर्णय युद्धमें जिसका जैसा पुरुषार्थ होगा, उसे देखकर किया जायगा' ॥ ४१ ॥

शिखण्डी तु ततो वाक्यमुलूकमिदमब्रवीत् ।
वक्तव्यो भवता राजा पापेष्वभिरतः सदा ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् शिखण्डीने उलूकसे इस प्रकार कहा—'उलूक ! सदा पापमें ही तत्पर रहनेवाले अपने राजाके पास जाकर तू इस प्रकार कहना—॥ ४२ ॥

पश्य त्वं मां रणे राजन् कुर्वाणं कर्म दारुणम् ।
यस्य वीर्यं समासाद्य मन्यसे विजयं युधि ॥ ४३ ॥
तमहं पातयिष्यामि रथात् तव पितामहम् ।

'राजन् ! तुम संग्राममें मुझे भयानक कर्म करते हुए देखना । जिसके पराक्रमका भरोसा करके तुम युद्धमें अपनी विजय हुई मानते हो, तुम्हारे उस पितामहको मैं रथसे मार गिराऊँगा ॥ ४३½ ॥

अहं भीष्मवधात् सृष्टो नूनं धात्रा महात्मना ॥ ४४ ॥
सोऽहं भीष्मं हनिष्यामि मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

'निश्चय ही महामना विधाताने भीष्मके वधके लिये ही मेरी सृष्टि की है। अतः मैं समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते भीष्मको मार डालूँगा' ॥ ४४½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ॥ ४५ ॥
सुयोधनो मम वचो वक्तव्यो नृपतेः सुतः ।
अहं द्रोणं हनिष्यामि सगणं सहबान्धवम् ॥ ४६ ॥

इसके बाद धृष्टद्युम्नने भी कितवकुमार उलूकसे यह बात कही—'उलूक ! तू राजपुत्र दुर्योधनसे मेरी यह बात कह देना, मैं द्रोणाचार्यको उनके गणों और बन्धु-बान्धवोंसहित मार डालूँगा ॥ ४५-४६ ॥

अवश्यं च मया कार्यं पूर्वेषां चरितं महत् ।
कर्ता चाहं तथा कर्म यथा नान्यः करिष्यति ॥ ४७ ॥

'मुझे अपने पूर्वजोंके महान् चरित्रका अनुकरण अवश्य करना चाहिये । अतः मैं युद्धमें वह पराक्रम कर दिखाऊँगा, जैसा दूसरा कोई नहीं करेगा' ॥ ४७ ॥

तमब्रवीद् धर्मराजः कारुण्यार्थं वचो महत् ।
नाहं ज्ञातिवधं राजन् कामयेयं कथंचन ॥ ४८ ॥

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने करुणावश फिर यह महत्त्वपूर्ण बात कही—'राजन् ! मैं किसी प्रकार भी अपने कुटुम्बियोंका वध नहीं कराना चाहता ॥ ४८ ॥

तवैव दोषाद् दुर्बुद्धे सर्वमेतत् त्वनावृतम् ।
स गच्छ मा चिरं तात उलूक यदि मन्यसे ॥ ४९ ॥
इह वा तिष्ठ भद्रं ते वयं हि तव बान्धवाः ।

'किंतु दुर्बुद्धे ! यह सब कुछ तेरे ही दोषसे प्राप्त हुआ है । तात उलूक ! तेरी इच्छा हो, तो शीघ्र चला जा । अथवा तेरा कल्याण हो; तू यहीं रह; क्योंकि हम भी तेरे भाई-बन्धु ही हैं' ॥ ४९½ ॥

उलूकस्तु ततो राजन् धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५० ॥
आमन्त्र्य प्रययौ तत्र यत्र राजा सुयोधनः ।

जनमेजय ! तदनन्तर उलूक धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे विदा ले जहाँ राजा दुर्योधन था, वहीं चला गया ॥ ५०½ ॥

उलूकस्तत आगम्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ ५१ ॥
अर्जुनस्य समादेशं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ।
वासुदेवस्य भीमस्य धर्मराजस्य पौरुषम् ॥ ५२ ॥

वहाँ आकर उलूकने अमर्षशील दुर्योधनको अर्जुनका सारा संदेश ज्यों-का-त्यों सुना दिया । इसी प्रकार उसने भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन और धर्मराज युधिष्ठिरकी पुरुषार्थ-भरी बातोंका भी वर्णन किया ॥ ५१-५२ ॥

नकुलस्य विराटस्य द्रुपदस्य च भारत ।
सहदेवस्य च वचो धृष्टद्युम्नशिखण्डिनोः ।
केशवार्जुनयोर्वाक्यं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

भारत ! फिर उसने नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद, धृष्ट शिखण्डी, भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके भी सारे क को ज्यों-का-त्यों कह दिया ॥ ५३ ॥

कैतव्यस्य तु तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभः ।
दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि भारत ॥ ५

भारत ! उलूकका वह कथन सुनकर भरतश्रेष्ठ दुर्यो ने दुःशासन, कर्ण तथा शकुनिसे कहा— ॥ ५४ ॥

आज्ञापयत राज्ञश्च बलं मित्रबलं तथा ।
यथा प्रागुदयात् सर्वे युक्तास्तिष्ठन्त्वनीकिनः ॥ ५५

'बन्धुओ ! राजाओं तथा मित्रोंकी सेनाओंको दे दो, जिससे समस्त सैनिक कल सूर्योदयसे पूर्व ही तैयार कर युद्धके मैदानमें डट जायँ' ॥ ५५ ॥

ततः कर्णसमादिष्टा दूताः संत्वरिता रथैः ।
उष्ट्रवामीभिरप्यन्ये सदश्वैश्च महाजवैः ॥ ५६
तूर्णं परिययुः सेनां कृत्स्नां कर्णस्य शासनात् ।
आज्ञापयन्तो राज्ञश्च योगः प्रागुदयादिति ॥ ५७

तत्पश्चात् कर्णके भेजे हुए दूत बड़ी उतावलीके रथों, ऊँट-ऊँटनियों तथा अत्यन्त वेगशाली अच्छे-अच्छे घो पर सवार हो तीव्र गतिसे सम्पूर्ण सेनाओंमें गये कर्णके आदेशके अनुसार सबको राजाकी यह आज्ञा सुन लगे कि कल सूर्योदयसे पहले ही युद्धके लिये तैयार जाना चाहिये ॥ ५६-५७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकापयाने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें उलूकके लौट जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवसेनाका युद्धके मैदानमें जाना और धृष्टद्युम्नके द्वारा योद्धाओंकी अपने-अपने योग्य विपक्षियोंके साथ युद्ध करनेके लिये नियुक्ति

संजय उवाच

उलूकस्य वचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
सेनां निर्यापयामास धृष्टद्युम्नपुरोगमाम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इधर उलूककी बातें सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भी धृष्टद्युम्नके नेतृत्वमें अपनी सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान कराया ॥ १ ॥

पदातिनीं नागवतीं रथिनीमश्ववृन्दिनीम् ।
चतुर्विधबलां भीमामकम्पां पृथिवीमिव ॥ २ ॥

उसमें पैदल, हाथी, रथ और अश्वसमूह भी थे । इस प्रकार वह चतुरंगिणी सेना बड़ी भयंकर और पृथ्वीके समान अविचल थी ॥ २ ॥

भीमसेनादिभिर्गुप्तां सार्जुनैश्च महारथैः ।
धृष्टद्युम्नवशां दुर्गां सागरस्तिमितोपमाम् ॥ ३ ॥

अर्जुन और भीमसेन आदि महारथी उसकी रक्षा कर थे । वह दुर्गम सेना धृष्टद्युम्नके अधीन थी और प्रशान्त ए स्थिर समुद्रके समान जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

तस्यास्त्वग्रे महेष्वासः पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः ।
द्रोणप्रेप्सुरनीकानि धृष्टद्युम्नो व्यकर्षत ॥ ४ ॥

उसके आगे-आगे रणदुर्मद पाञ्चालराजकुमार महाधनु धंर धृष्टद्युम्न चल रहे थे, जो सदा आचार्य द्रोणसे युद्ध करने की इच्छा रखते थे । वे सारी सेनाको अपने पीछे खीं लिये जाते थे ॥ ४ ॥

यथाबलं यथोत्साहं रथिनः समुपादिशत् ।
अर्जुनं सूतपुत्राय भीमं दुर्योधनाय च ॥ ५ ॥

उन्होंने जिस वीरका जैसा बल और उत्साह था, उसका विचार करते हुए अपने रथियोंको योग्य प्रतिपक्षीके साथ यु करनेका आदेश दिया । अर्जुनको सूतपुत्र कर्णका और भीम

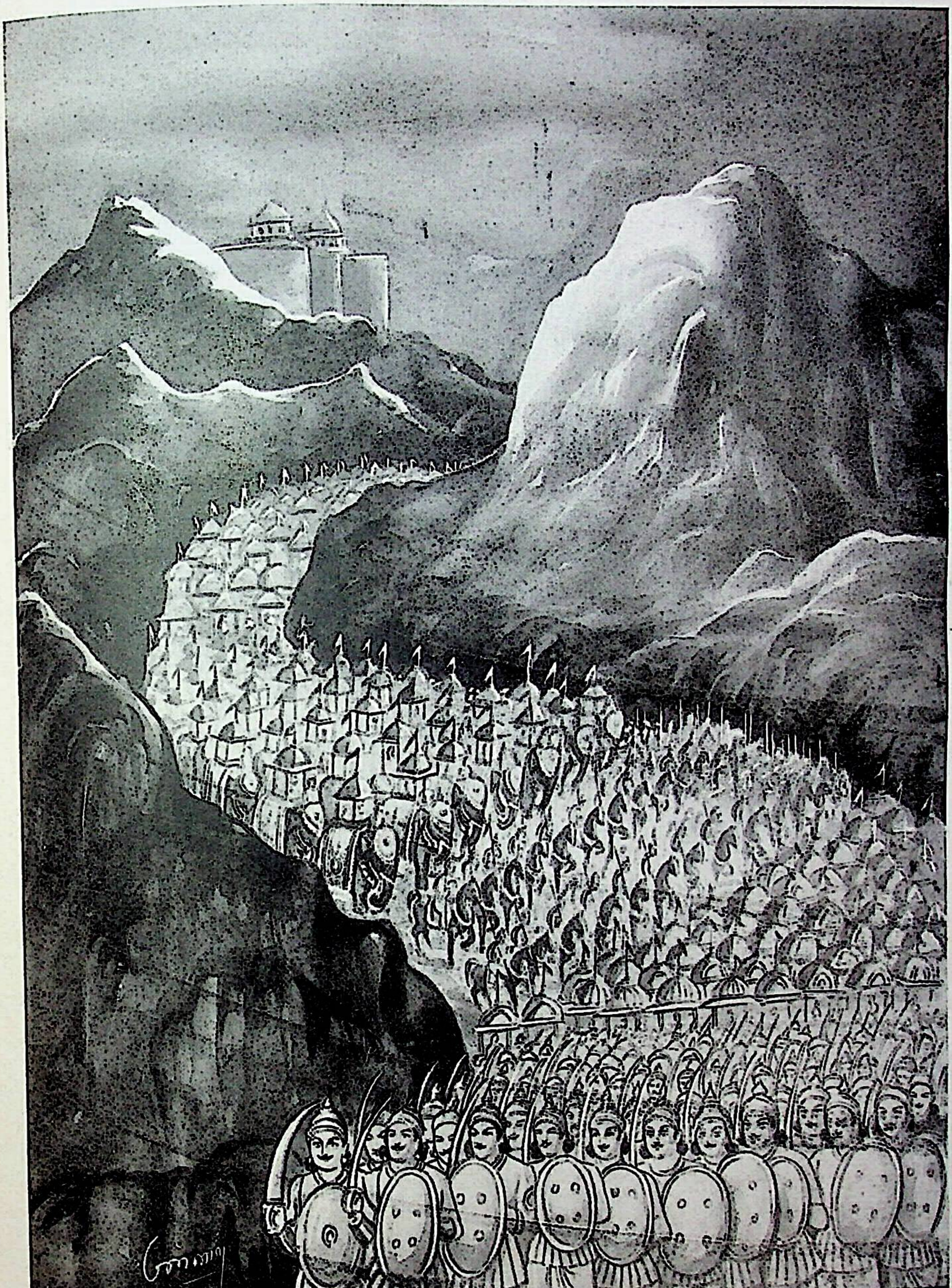

पाण्डवोंकी विशाल सेना

सेनको दुर्योधनका सामना करनेके लिये नियुक्त किया ॥५॥

धृष्टकेतुं च शल्याय गौतमायोत्तमौजसम् ।
अश्वत्थाम्ने च नकुलं शैब्यं च कृतवर्मणे ॥ ६ ॥
सैन्धवाय च वार्ष्णेयं युयुधानं समादिशत् ।
शिखण्डिनं च भीष्माय प्रमुखे समकल्पयत् ॥ ७ ॥

धृष्टकेतुको शल्यसे, उत्तमौजाको कृपाचार्यसे, नकुलको अश्वत्थामासे, शैब्यको कृतवर्मासे, वृष्णिवंशी सात्यकिको सिन्धुराज जयद्रथसे और शिखण्डीको भीष्मसे मुख्यतः युद्ध करनेका आदेश दिया ॥ ६-७ ॥

सहदेवं शकुनये चेकितानं शलाय वै ।
द्रौपदेयांस्तथा पञ्च त्रिगर्तेभ्यः समादिशत् ॥ ८ ॥

सहदेवको शकुनिका, चेकितानको शलका और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको त्रिगर्तोंका सामना करनेके लिये नियत कर दिया ॥ ८ ॥

वृषसेनाय सौभद्रं शेषाणां च महीक्षिताम् ।
स समर्थं हि तं मेने पार्थादभ्यधिकं रणे ॥ ९ ॥

कर्णपुत्र वृषसेन तथा शेष राजाओंके साथ युद्ध करनेका काम सुभद्राकुमार अभिमन्युको सौंपा, क्योंकि वे उसे युद्धमें अर्जुनसे भी अधिक शक्तिशाली समझते थे ॥ ९ ॥

एवं विभज्य योधांस्तान् पृथक् च सह चैव ह ।
ज्वालावर्णो महेष्वासो द्रोणमंशमकल्पयत् ॥ १० ॥
धृष्टद्युम्नो महेष्वासः सेनापतिपतिस्ततः ।

इस प्रकार समस्त योद्धाओंका पृथक्-पृथक् और एक साथ विभाजन करके सेनापतियोंके पति प्रज्वलित अग्निके समान कान्तिमान् महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यको अपने हिस्सेमें रक्खा ॥ १०½ ॥

विधिवद् व्यूह्य मेधावी युद्धाय धृतमानसः ॥ ११ ॥
यथोद्दिष्टानि सैन्यानि पाण्डवानामयोजयत् ।
जयाय पाण्डुपुत्राणां यत्तस्तस्थौ रणाजिरे ॥ १२ ॥

उनके मनमें युद्धके लिये दृढ निश्चय था। मेधावी धृष्टद्युम्नने पाण्डवोंकी पूर्वोक्त सेनाओंकी विधिपूर्वक व्यूह-रचना करके उन सबको युद्धके लिये नियुक्त किया। तत्पश्चात् वे पाण्डवोंकी विजयके लिये संनद्ध होकर समराङ्गणमें खड़े हुए ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि सेनापतिनियोगे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें सेनापतिके द्वारा सैनिकोंकी युद्धमें नियुक्तिविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

* * *

(रथातिरथसंख्यानपर्व)

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर भीष्मका कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका परिचय देना

धृतराष्ट्र उवाच

प्रतिज्ञाते फाल्गुनेन वधे भीष्मस्य संयुगे ।
किमकुर्वत मे मन्दाः पुत्रा दुर्योधनादयः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब अर्जुनने युद्धभूमिमें भीष्मका वध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब दुर्योधन आदि मेरे मूर्ख पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

हतमेव हि पश्यामि गाङ्गेयं पितरं रणे ।
वासुदेवसहायेन पार्थेन दृढधन्वना ॥ २ ॥

अर्जुन सुदृढ़ धनुष धारण करते हैं। इसके सिवा भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं; अतः मैं रणभूमिमें अपने पिता गङ्गानन्दन भीष्मको उनके द्वारा मारा गया ही मानता हूँ ॥ २ ॥

स चापरिमितप्रज्ञस्तच्छ्रुत्वा पार्थभाषितम् ।
किमुक्तवान् महेष्वासो भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ३ ॥

अर्जुनकी उस प्रतिज्ञाको सुनकर अमित बुद्धिमान् योद्धाओंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीष्मने क्या कहा ? ॥ ३ ॥

सैनापत्यं च सम्प्राप्य कौरवाणां धुरन्धरः ।
किमचेष्टत गाङ्गेयो महाबुद्धिपराक्रमः ॥ ४ ॥

कौरवकुलका भार वहन करनेवाले परम बुद्धिमान् और पराक्रमी गङ्गापुत्र भीष्मने सेनापतिका पद प्राप्त करनेके पश्चात् युद्धके लिये कौन-सी चेष्टा की ? ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत् संजयस्तस्मै सर्वमेव न्यवेदयत् ।
यथोक्तं कुरुवृद्धेन भीष्मेणामिततेजसा ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर संजयने अमिततेजस्वी कुरुवृद्ध भीष्मने जैसा कहा था, वह सब कुछ राजा धृतराष्ट्रको बताया ॥ ५ ॥

संजय उवाच

सैनापत्यमनुप्राप्य भीष्मः शान्तनवो नृप ।
दुर्योधनमुवाचेदं वचनं हर्षयन्निव ॥ ६ ॥

संजय बोले—नरेश्वर ! सेनापतिका पद प्राप्त करके शान्तनुनन्दन भीष्मने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए-से उससे यह बात कही— ॥ ६ ॥

नमस्कृत्य कुमाराय सेनान्ये शक्तिपाणये ।
अहं सेनापतिस्तेऽद्य भविष्यामि न संशयः ॥ ७ ॥

'राजन् ! मैं हाथमें शक्ति धारण करनेवाले देवसेनापति कुमार कार्तिकेयको नमस्कार करके अब तुम्हारी सेनाका अधिपति होऊँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

सेनाकर्मण्यभिज्ञोऽस्मि व्यूहेषु विविधेषु च ।
कर्म कारयितुं चैव भृतानप्यभृतांस्तथा ॥ ८ ॥

'मुझे सेनासम्बन्धी प्रत्येक कर्मका ज्ञान है । मैं नाना प्रकारके व्यूहोंके निर्माणमें भी कुशल हूँ । तुम्हारी सेनामें जो वेतनभोगी अथवा वेतन न लेनेवाले मित्रसेनाके सैनिक हैं, उन सबसे यथायोग्य काम करा लेनेकी भी कला मुझे ज्ञात है ॥ ८ ॥

यात्रायाने च युद्धे च तथा प्रशमनेषु च ।
भृशं वेद महाराज यथा वेद बृहस्पतिः ॥ ९ ॥

'महाराज ! मैं युद्धके लिये यात्रा करने युद्ध करने, तथा विपक्षीके चलाये हुए अस्त्रोंका प्रतीकार करनेके विषयमें जैसा बृहस्पति जानते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण आवश्यक बातोंकी विशेष जानकारी रखता हूँ ॥ ९ ॥

व्यूहानां च समारम्भान् दैवगान्धर्वमानुषान् ।
तैरहं मोहयिष्यामि पाण्डवान् व्येतु ते ज्वरः ॥ १० ॥

'मुझे देवता, गन्धर्व और मनुष्य—तीनोंकी ही व्यूहरचनाका ज्ञान है । उनके द्वारा मैं पाण्डवोंको मोहित कर दूँगा । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ १० ॥

सोऽहं योत्स्यामि तत्त्वेन पालयंस्तव वाहिनीम् ।
यथावच्छास्त्रतो राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ११ ॥

'राजन् ! मैं तुम्हारी सेनाकी रक्षा करता हुआ शास्त्रीय विधानके अनुसार यथार्थरूपसे पाण्डवोंके साथ युद्ध करूँगा । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जाय' ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

विद्यते मे न गाङ्गेय भयं देवासुरेष्वपि ।
समस्तेषु महाबाहो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—महाबाहु गङ्गानन्दन ! मैं आपसे सत्य कहता हूँ; मुझे सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंसे भी कभी भय नहीं होता है ॥ १२ ॥

किं पुनस्त्वयि दुर्धर्षे सैनापत्ये व्यवस्थिते ।
द्रोणे च पुरुषव्याघ्रे स्थिते युद्धाभिनन्दिनि ॥ १३ ॥

फिर जब आप-जैसे दुर्धर्ष वीर हमारे सेनापतिके पदपर स्थित हैं तथा युद्धका अभिनन्दन करनेवाले पुरुषसिंह द्रोणाचार्य-जैसे योद्धा मेरे लिये युद्धभूमिमें उपस्थित हैं, तब तो मुझे भय हो ही कैसे सकता है ? ॥ १३ ॥

भवद्भ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां स्थिताभ्यां विजये मम ।
न दुर्लभं कुरुश्रेष्ठ देवराज्यमपि ध्रुवम् ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब आप दोनों पुरुषप्रवर वीर मेरी विजयके लिये यहाँ खड़े हैं, तब तो अवश्य ही मेरे लिये देवताओंका राज्य भी दुर्लभ नहीं है ॥ १४ ॥

रथसंख्यां तु कार्त्स्न्येन परेषामात्मनस्तथा ।
तथैवातिरथानां च वेत्तुमिच्छामि कौरव ॥ १५ ॥
पितामहो हि कुशलः परेषामात्मनस्तथा ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वैः सहैभिर्वसुधाधिपैः ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन ! आप शत्रुओंके तथा अपने पक्षके
और अतिरथियोंकी संख्याको पूर्णरूपसे जानते हैं, अतः
आपसे इस विषयकी जानकारी प्राप्त करना चाहत
क्योंकि पितामह शत्रुपक्ष तथा अपने पक्षकी सभी बातोंके
में निपुण हैं, अतः मैं इन सब राजाओंके साथ आपके
इस विषयको सुनना चाहता हूँ ॥ १५-१६ ॥

भीष्म उवाच

गान्धारे शृणु राजेन्द्र रथसंख्यां स्वके बले ।
ये रथाः पृथिवीपाल तथैवातिरथाश्च ये ॥ १

भीष्म बोले—राजेन्द्र गान्धारीनन्दन ! तुम
सेनाके रथियोंकी संख्या श्रवण करो । भूपाल ! तुम्हारी
जो रथी और अतिरथी हैं, उन सबका वर्णन करता हूँ ॥

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
रथानां तव सेनायां यथामुख्यं तु मे शृणु ॥ १

तुम्हारी सेनामें रथियोंकी संख्या अनेक सहस्र,
अर्बुदों (करोड़ों) तक पहुँच जाती है; तथापि
प्रधान-प्रधान हैं, उनके नाम मुझसे सुनो ॥ १८ ॥

भवानग्रे रथोदारः सह सर्वैः सहोदरैः ।
दुःशासनप्रभृतिभिर्भ्रातृभिः शतसम्मितैः ॥ १

सबसे पहले अपने दुःशासन आदि सौ सहोदर
साथ तुम्हीं बहुत बड़े उदार रथी हो ॥ १९ ॥

सर्वे कृतप्रहरणाश्छेदभेदविशारदाः ।
रथोपस्थे गजस्कन्धे गदाप्रासासिचर्मणि ॥ २

तुम सब लोग अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा छेदन-भेदनमें
हो । रथपर और हाथीकी पीठपर बैठकर भी युद्ध कर
हो । गदा, प्रास तथा ढाल-तलवारके प्रयोगमें भी

संयन्तारः प्रहर्तारः कृतास्त्रा भारसाधनाः ।
इष्वस्त्रे द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ २१

तुमलोग रथके संचालन और अस्त्रोंके प्रहारमें
निपुण हो । अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा भार उठानेमें भी
हो । धनुष-बाणकी विद्यामें तो तुमलोग द्रोणाचार्य और
चार्यके सुयोग्य शिष्य हो ॥ २१ ॥

एते हनिष्यन्ति रणे पञ्चालान् युद्धदुर्मदान् ।
कृतकिल्बिषाः पाण्डवेयैर्धार्तराष्ट्रा मनस्विनः ॥ २

धृतराष्ट्रके ये सभी मनस्वी पुत्र पाण्डवोंके साथ वैर
हुए हैं; अतः युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले पाञ्चाल
को ये समरभूमिमें मार डालेंगे ॥ २२ ॥

तथाहं भरतश्रेष्ठ सर्वसेनापतिस्तव ।
शत्रून् विध्वंसयिष्यामि कदर्थीकृत्य पाण्डवान् ॥ २

भरतश्रेष्ठ ! मैं तो तुम्हारी सम्पूर्ण सेनाका प्रधान
ही हूँ; अतः पाण्डवोंको कष्ट देकर शत्रुसेनाके सैनिकोंका
करूँगा ॥ २३ ॥

न त्वात्मनो गुणान् वक्तुमर्हामि विदितोऽस्मि ते ।
कृतवर्मा त्वतिरथो भोजः शस्त्रभृतां वरः ॥ २४

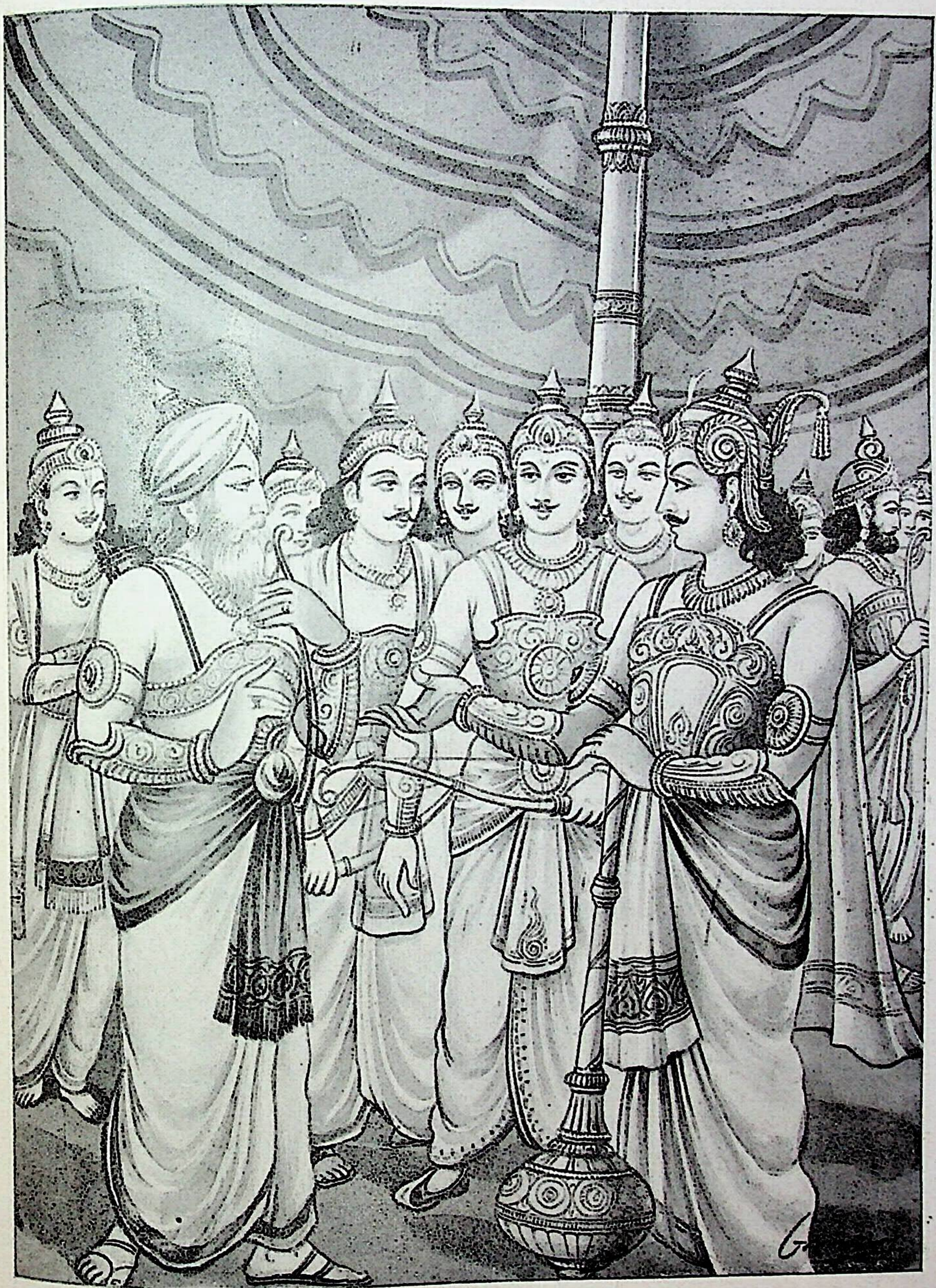

भीष्म-दुर्योधन-संवाद

मैं अपने मुँहसे अपने ही गुणोंका बखान करना उचित नहीं समझता । तुम तो मुझे जानते ही हो । शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भोजवंशी कृतवर्मा तुम्हारे दलमें अतिरथी वीर हैं ।२४।

अर्थसिद्धिं तव रणे करिष्यति न संशयः ।
शस्त्रविद्भिरनाधृष्यो दूरपाती दृढायुधः ॥ २५ ॥
हनिष्यति चमूं तेषां महेन्द्रो दानवानिव ।

ये युद्धमें तुम्हारे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि करेंगे । इसमें संशय नहीं है । बड़े-बड़े शस्त्रवेत्ता भी इन्हें परास्त नहीं कर सकते । इनके आयुध अत्यन्त दृढ़ हैं और ये दूरके लक्ष्यको भी मार गिरानेमें समर्थ हैं । जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार ये भी पाण्डवोंकी सेनाका विनाश करेंगे ॥ २५½ ॥

मद्रराजो महेष्वासः शल्यो मेऽतिरथो मतः ॥ २६ ॥
स्पर्धते वासुदेवेन नित्यं यो वै रणे रणे ।

महाधनुर्धर मद्रराज शल्यको भी मैं अतिरथी मानता हूँ, जो प्रत्येक युद्धमें सदा भगवान् श्रीकृष्णके साथ स्पर्धा रखते हैं ॥ २६½ ॥

भागिनेयान् निजांस्त्यक्त्वा शल्यस्तेऽतिरथो मतः ।
एष योत्स्यति संग्रामे पाण्डवांश्च महारथान् ॥ २७ ॥
सागरोर्मिसमैर्बाणैः प्लावयन्निव शात्रवान् ।

ये अपने सगे भानजों नकुल-सहदेवको छोड़कर अन्य सभी पाण्डव महारथियोंसे समरभूमिमें युद्ध करेंगे । तुम्हारी सेनाके इन वीरशिरोमणि शल्यको मैं अतिरथी ही समझता हूँ । ये समुद्रकी लहरोंके समान अपने बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके सैनिकोंको डुबाते हुए-से युद्ध करेंगे ॥ २७½ ॥

भूरिश्रवाः कृतास्त्रश्च तव चापि हितः सुहृत् ॥ २८ ॥
सौमदत्तिर्महेष्वासो रथयूथपयूथपः ।
बलक्षयममित्राणां सुमहान्तं करिष्यति ॥ २९ ॥

सोमदत्तके पुत्र महाधनुर्धर भूरिश्रवा भी अस्त्रविद्याके पण्डित और तुम्हारे हितैषी सुहृद् हैं । ये रथियोंके यूथपतियोंके भी यूथपति हैं, अतः तुम्हारे शत्रुओंकी सेनाका महान् संहार करेंगे ॥ २८-२९ ॥

सिन्धुराजो महाराज मतो मे द्विगुणो रथः ।
योत्स्यते समरे राजन् विक्रान्तो रथसत्तमः ॥ ३० ॥

महाराज ! सिन्धुराज जयद्रथको मैं दो रथियोंके बराबर समझता हूँ । ये बड़े पराक्रमी तथा रथी योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं । राजन् ! ये भी समराङ्गणमें पाण्डवोंके साथ युद्ध करेंगे ॥३०॥

द्रौपदीहरणे राजन् परिक्लिष्टश्च पाण्डवैः ।
संस्मरंस्तं परिक्लेशं योत्स्यते परवीरहा ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! द्रौपदीहरणके समय पाण्डवोंने इन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया था । उस महान् क्लेशको याद करके शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले जयद्रथ अवश्य युद्ध करेंगे ॥ ३१ ॥

एतेन हि तदा राजंस्तप आस्थाय दारुणम् ।
सुदुर्लभो वरो लब्धः पाण्डवान् योद्धुमाहवे ॥ ३२ ॥

राजन् ! उस समय इन्होंने कठोर तपस्या करके युद्धमें पाण्डवोंसे मुठभेड़ कर सकनेका अत्यन्त दुर्लभ वर प्राप्त किया था ॥ ३२ ॥

स एष रथशार्दूलस्तद् वैरं संस्मरन् रणे ।
योत्स्यते पाण्डवैस्तात प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ३३

तात ! ये रथियोंमें श्रेष्ठ जयद्रथ युद्धमें उस पुराने वैरको याद करके अपने दुस्त्यज प्राणोंकी भी बाजी लगाकर पाण्डवोंके साथ संग्राम करेंगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथियोंका परिचय

भीष्म उवाच

सुदक्षिणस्तु काम्बोजो रथ एकगुणो मतः ।
तवार्थसिद्धिमाकाङ्क्षन् योत्स्यते समरे परैः ॥ १ ॥

भीष्मने कहा—राजन् ! काम्बोजदेशके राजा सुदक्षिण एक रथी माने गये हैं । ये तुम्हारे कार्यकी सिद्धि चाहते हुए समराङ्गणमें शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ १ ॥

एतस्य रथसिंहस्य तवार्थे राजसत्तम ।
पराक्रमं यथेन्द्रस्य द्रक्ष्यन्ति कुरवो युधि ॥ २ ॥

नृपश्रेष्ठ ! रथियोंमें सिंहके समान पराक्रमी ये काम्बोजराज तुम्हारे लिये युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रम प्रकट करेंगे और समस्त कौरव इनके पराक्रमको देखेंगे ॥ २ ॥

एतस्य रथवंशे हि तिग्मवेगप्रहारिणः ।
काम्बोजानां महाराज शलभानामिवायतिः ॥ ३ ॥

महाराज ! प्रचण्ड वेगसे प्रहार करनेवाले इन काम्बोजनरेशके रथियोंके समुदायमें काम्बोजदेशीय सैनिकोंकी श्रेणी टिड्डियोंके दल-सी दृष्टिगोचर होती है ॥ ३ ॥

नीलो माहिष्मतीवासी नीलवर्मा रथस्तव ।
रथवंशेन कदनं शत्रूणां वै करिष्यति ॥ ४ ॥

माहिष्मतीपुरीके निवासी राजा नील भी तुम्हारे दलके एक रथी हैं । इन्होंने नीले रंगका कवच पहन रक्खा है । ये अपने रथसमूहद्वारा शत्रुओंका संहार कर डालेंगे ॥ ४ ॥

कृतवैरः पुरा चैव सहदेवेन मारिष ।
योत्स्यते सततं राजंस्तवार्थे कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! पूर्वकालमें सहदेवके साथ इनकी शत्रुता हो गयी थी । राजन् ! ये सदा तुम्हारे शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ संमतौ रथसत्तमौ।
कृतिनौ समरे तात दृढवीर्यपराक्रमौ ॥ ६ ॥

अवन्तीदेशके दोनों वीर राजकुमार विन्द और अनुविन्द श्रेष्ठ रथी माने गये हैं। तात ! वे युद्धकलाके पण्डित तथा सुदृढ़ बल एवं पराक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ ६ ॥

एतौ तौ पुरुषव्याघ्रौ रिपुसैन्यं प्रधक्ष्यतः।
गदाप्रासासिनाराचैस्तोमरैश्च करच्युतैः ॥ ७ ॥

ये दोनों पुरुषसिंह अपने हाथसे छूटे हुए गदा, प्रास, खड्ग, नाराच तथा तोमरोंद्वारा शत्रुसेनाको दग्ध कर डालेंगे ॥

युद्धाभिकामौ समरे क्रीडन्ताविव यूथपौ।
यूथमध्ये महाराज विचरन्तौ कृतान्तवत् ॥ ८ ॥

महाराज ! जैसे दो यूथपति गजराज हाथियोंके झुंडमें खेल-सा करते हुए विचरते हैं, उसी प्रकार युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले विन्द और अनुविन्द समराङ्गणमें यमराजके समान विचरण करते हैं ॥ ८ ॥

त्रिगर्ता भ्रातरः पञ्च रथोदारा मता मम।
कृतवैराश्च पार्थैस्ते विराटनगरे तदा ॥ ९ ॥

त्रिगर्तदेशीय पाँचों भ्राताओंको मैं उदार रथी मानता हूँ। विराटनगरमें दक्षिणगोग्रहके युद्धके समय चार पाण्डवोंके साथ इनका वैर बढ़ गया था ॥ ९ ॥

मकरा इव राजेन्द्र समुद्धततरङ्गिणीम्।
गङ्गां विक्षोभयिष्यन्ति पार्थानां युधि वाहिनीम् ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! जैसे ग्राहगण उत्ताल तरङ्गोंवाली गङ्गाको मथ डालते हैं, उसी प्रकार ये त्रिगर्तदेशीय पाँचों क्षत्रिय वीर पाण्डवोंकी सेनामें हलचल मचा देंगे ॥ १० ॥

ते रथाः पञ्च राजेन्द्र येषां सत्यरथो मुखम्।
एते योत्स्यन्ति संग्रामे संस्मरन्तः पुराकृतम् ॥ ११ ॥
व्यलीकं पाण्डवेयेन भीमसेनानुजेन ह।
दिशो विजयता राजन् श्वेतवाहेन भारत ॥ १२ ॥

महाराज ! ये पाँचों भाई रथी हैं और सत्यरथ उनमें प्रधान है। भारत ! भीमसेनके छोटे भाई श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने दिग्विजयके समय जो त्रिगर्तोंका अप्रिय किया था, उस पहलेके वैरको याद रखते हुए ये पाँचों वीर संग्राममूमिमें मन लगाकर युद्ध करेंगे ॥ ११-१२ ॥

ते हनिष्यन्ति पार्थानां तानासाद्य महारथान्।
वरान् वरान् महेष्वासान् क्षत्रियाणां धुरन्धरान् ॥ १३ ॥

ये पाण्डवोंके बड़े-बड़े महारथियोंके पास जा उन महाधनुर्धर क्षत्रियशिरोमणि वीरोंका संहार कर डालेंगे ॥ १३ ॥

लक्ष्मणस्तव पुत्रश्च तथा दुःशासनस्य च।
उभौ तौ पुरुषव्याघ्रौ संग्रामेष्वपलायिनौ ॥ १४ ॥

तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण और दुःशासनका पुत्र—ये पुरुषसिंह युद्धसे पलायन करनेवाले नहीं हैं ॥ १४ ॥

तरुणौ सुकुमारौ च राजपुत्रौ तरस्विनौ।
युद्धानां च विशेषज्ञौ प्रणेतारौ च सर्वशः ॥ १

ये दोनों तरुण और सुकुमार राजपुत्र बड़े वेग हैं, अनेक युद्धोंके विशेषज्ञ हैं और सब प्रकारसे सेना होने योग्य हैं ॥ १५ ॥

रथौ तौ कुरुशार्दूल मतौ मे रथसत्तमौ।
क्षत्रधर्मरतौ वीरौ महत् कर्म करिष्यतः ॥ १

कुरुश्रेष्ठ ! ये दोनों वीर रथी तो हैं ही, रथियोंमें श्रेष्ठ भी ये क्षत्रियधर्ममें तत्पर होकर युद्धमें महान् पराक्रम करेंगे।

दण्डधारो महाराज रथ एको नरर्षभ।
योत्स्यते तव संग्रामे स्वेन सैन्येन पालितः ॥ १७

महाराज ! नरश्रेष्ठ ! अपनी सेनामें दण्डधार भी एक हैं, जो तुम्हारे लिये संग्राममें अपनी सेनासे सुरक्षित होकर लड़ें

बृहद्बलस्तथा राजा कौसल्यो रथसत्तमः।
रथो मम मतस्तात महावेगपराक्रमः ॥ १८

तात ! महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न कोसलदे राजा बृहद्बल भी मेरी दृष्टिमें एक रथी हैं और रथि इनका स्थान बहुत ऊँचा है ॥ १८ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे स्वान् बन्धून् सम्प्रहर्षयन्।
उग्रायुधो महेष्वासो धार्तराष्ट्रहिते रतः ॥ १९

ये धृतराष्ट्रपुत्रोंके हितमें तत्पर हो भयंकर अस्त्र-श तथा महान् धनुष धारण किये अपने बन्धुओंका हर्ष बढ़ हुए समराङ्गणमें बड़े उत्साहसे युद्ध करेंगे ॥ १९ ॥

कृपः शारद्वतो राजन् रथयूथपयूथपः।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य प्रधक्ष्यति रिपूंस्तव ॥ २०

राजन् ! शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य तो रथयूथपतियों भी यूथपति हैं। ये अपने प्यारे प्राणोंकी परवा न कर तुम्हारे शत्रुओंको जला डालेंगे ॥ २० ॥

गौतमस्य महर्षेर्य आचार्यस्य शरद्वतः।
कार्तिकेय इवाजेयः शरस्तम्बात् सुतोऽभवत् ॥ २१

गौतमवंशी महर्षि आचार्य शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचा कार्तिकेयकी भाँति सरकण्डोंसे उत्पन्न हुए हैं और उन्हीं भाँति अजेय भी हैं ॥ २१ ॥

एष सेनाः सुबहुला विविधायुधकार्मुकाः।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति विनिर्दहन् ॥ २२

तात ! ये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं धनुष धार करनेवाली बहुत-सी सेनाओंको अग्निके समान दग्ध कर हुए समरभूमिमें विचरण करेंगे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथी, महारथी और अतिरथियोंका वर्णन

भीष्म उवाच

शकुनिर्मातुलस्तेऽसौ रथ एको नराधिप।
प्रयुज्य पाण्डवैर्वैरं योत्स्यते नात्र संशयः॥ १॥

भीष्मने कहा—नरेश्वर! यह तुम्हारा मामा शकुनि भी एक रथी है। यह पाण्डवोंसे वैर बाँधकर युद्ध करेगा, इसमें संशय नहीं है॥ १॥

एतस्य सेना दुर्धर्षा समरे प्रतियायिनः।
विकृतायुधभूयिष्ठा वायुवेगसमा जवे॥ २॥

युद्धमें डटकर शत्रुओंका सामना करनेवाले इस शकुनिकी सेना दुर्धर्ष है। इसका वेग वायुके समान है तथा यह विविध आकारवाले अनेक आयुधोंसे विभूषित है॥ २॥

द्रोणपुत्रो महेष्वासः सर्वानेवाति धन्विनः।
समरे चित्रयोधी च दृढास्त्रश्च महारथः॥ ३॥

महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तो सभी धनुर्धरोंसे बढ़कर है। वह युद्धमें विचित्र ढंगसे शत्रुओंका सामना करनेवाला, सुदृढ़ अस्त्रोंसे सम्पन्न तथा महारथी है॥ ३॥

एतस्य हि महाराज यथा गाण्डीवधन्वनः।
शरासनविनिर्मुक्ताः संसक्ता यान्ति सायकाः॥ ४॥

महाराज! गाण्डीवधारी अर्जुनकी भाँति इसके धनुषसे एक साथ छूटे हुए बहुत-से बाण भी परस्पर सटे हुए ही लक्ष्यतक पहुँचते हैं॥ ४॥

नैष शक्यो मया वीरः संख्यातुं रथसत्तमः।
निर्दहेदपि लोकांस्त्रीनिच्छन्नेष महारथः॥ ५॥

रथियोंमें श्रेष्ठ इस वीर पुरुषके महत्त्वकी गणना नहीं की जा सकती। यह महारथी चाहे, तो तीनों लोकोंको दग्ध कर सकता है॥ ५॥

क्रोधस्तेजश्च तपसा सम्भृतोऽऽश्रमवासिनाम्।
द्रोणेनानुगृहीतश्च दिव्यैरस्त्रैरुदारधीः॥ ६॥

इसमें क्रोध है, तेज है और आश्रमवासी महर्षियोंके योग्य तपस्या भी संचित है। इसकी बुद्धि उदार है। द्रोणाचार्यने सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंका ज्ञान देकर इसपर महान् अनुग्रह किया है॥ ६॥

दोषस्त्वस्य महानेको येनैव भरतर्षभ।
न मे रथो नातिरथो मतः पार्थिवसत्तम॥ ७॥

किंतु भरतश्रेष्ठ! नृपशिरोमणे! इसमें एक ही बहुत बड़ा दोष है, जिससे मैं इसे न तो अतिरथी मानता हूँ और न रथी ही॥ ७॥

जीवितं प्रियमत्यर्थमायुष्कामः सदा द्विजः।
न ह्यस्य सदृशः कश्चिदुभयोः सेनयोरपि॥ ८॥

इस ब्राह्मणको अपना जीवन बहुत प्रिय है; अतः यह सदा दीर्घायु बना रहना चाहता है (यही इसका दोष है)। अन्यथा दोनों सेनाओंमें इसके समान शक्तिशाली कोई नहीं है॥ ८॥

हन्यादेकरथेनैव देवानामपि वाहिनीम्।
वपुष्मांस्तलघोषेण स्फोटयेदपि पर्वतान्॥ ९॥

यह एकमात्र रथका सहारा लेकर देवताओंकी सेनाका भी संहार कर सकता है। इसका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं विशाल है। यह अपनी तालीकी आवाजसे पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकता है॥ ९॥

असंख्येयगुणो वीरः प्रहर्ता दारुणद्युतिः।
दण्डपाणिरिवासह्यः कालवत् प्रचरिष्यति॥ १०॥

इस वीरमें असंख्य गुण हैं। यह प्रहार करनेमें कुशल और भयंकर तेजसे सम्पन्न है; अतः दण्डधारी कालके समान असह्य होकर युद्धभूमिमें विचरण करेगा॥ १०॥

युगान्ताग्निसमः क्रोधात् सिंहग्रीवो महाद्युतिः।
एष भारतयुद्धस्य पृष्ठं संशमयिष्यति॥ ११॥

क्रोधमें यह प्रलयकालकी अग्निके समान जान पड़ता है। इसकी ग्रीवा सिंहके समान है। यह महातेजस्वी अश्वत्थामा महाभारत-युद्धके शेषभागका शमन करेगा॥ ११॥

पिता त्वस्य महातेजा वृद्धोऽपि युवभिर्वरः।
रणे कर्म महत् कर्ता अत्र मे नास्ति संशयः॥ १२॥

अश्वत्थामाके पिता द्रोणाचार्य महान् तेजस्वी हैं। ये बूढ़े होनेपर भी नवयुवकोंसे अच्छे हैं। इस युद्धमें ये अपना महान् पराक्रम प्रकट करेंगे, इसमें मुझे संशय नहीं है॥ १२॥

अस्त्रवेगानिलोद्धूतः सेनाकक्षेन्धनोत्थितः।
पाण्डुपुत्रस्य सैन्यानि प्रधक्ष्यति रणे धृतः॥ १३॥

समरभूमिमें डटे हुए द्रोणाचार्य अग्निके समान हैं। अस्त्रवेगरूपी वायुका सहारा पाकर ये उद्दीप्त होंगे और सेनारूपी घास-फूस तथा ईंधनोंको पाकर प्रज्वलित हो उठेंगे। इस प्रकार ये प्रज्वलित होकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी सेनाओंको जलाकर भस्म कर डालेंगे॥ १३॥

रथयूथपयूथानां यूथपोऽयं नरर्षभः।
भारद्वाजात्मजः कर्ता कर्म तीव्रं हितं तव॥ १४॥

ये नरश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन रथयूथपतियोंके समुदायके भी यूथपति हैं। ये तुम्हारे हितके लिये तीव्र पराक्रम प्रकट करेंगे॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामाचार्यः स्थविरो गुरुः।
गच्छेदन्तं सृंजयानां प्रियस्त्वस्य धनंजयः॥ १५॥

सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त राजाओंके ये आचार्य एवं वृद्ध गुरु हैं। ये सृंजयवंशी क्षत्रियोंका विनाश कर डालेंगे; परंतु अर्जुन इन्हें बहुत प्रिय हैं॥ १५॥

नैष जातु महेष्वासः पार्थमक्लिष्टकारिणम्।
हन्यादाचार्यकं दीप्तं संस्मृत्य गुणनिर्जितम्॥ १६॥

महाधनुर्धर द्रोणाचार्यका समुज्ज्वल आचार्यभाव अर्जुनके गुणोंद्वारा जीत लिया गया है। उसका स्मरण करके ये अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनको कदापि नहीं मारेंगे ॥ १६ ॥

श्लाघतेऽयं सदा वीर पार्थस्य गुणविस्तरैः।
पुत्रादभ्यधिकं चैनं भारद्वाजोऽनुपश्यति ॥ १७ ॥

वीर ! ये आचार्य द्रोण अर्जुनके गुणोंका विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए सदा उनकी प्रशंसा करते हैं और उन्हें पुत्रसे भी अधिक प्रिय मानते हैं ॥ १७ ॥

हन्यादेकरथेनैव देवगन्धर्वमानुषान्।
एकीभूतानपि रणे दिव्यैरस्त्रैः प्रतापवान् ॥ १८ ॥

प्रतापी द्रोणाचार्य एकमात्र रथका ही आश्रय ले रणभूमिमें एकत्र एवं एकीभूत हुए सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंको अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा नष्ट कर सकते हैं॥१८॥

पौरवो राजशार्दूलस्तव राजन् महारथः।
मतो मम रथोदारः परवीररथारुजः ॥ १९ ॥

राजन् ! तुम्हारी सेनामें जो नृपश्रेष्ठ पौरव हैं, वे मेरे मतमें रथियोंमें उदार महारथी हैं। वे विपक्षके वीर रथियोंको पीड़ा देनेमें समर्थ हैं ॥ १९ ॥

स्वेन सैन्येन महता प्रतपन् शत्रुवाहिनीम्।
प्रधक्ष्यति स पञ्चालान् कक्षमग्निगतिर्यथा ॥ २० ॥

राजा पौरव अपनी विशाल सेनाके द्वारा शत्रुवाहिनीको संतप्त करते हुए पाञ्चालोंको उसी प्रकार भस्म कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसको ॥ २० ॥

सत्यश्रवा रथस्त्वेको राजपुत्रो बृहद्बलः।
तव राजन् रिपुबले कालवत् प्रचरिष्यति ॥ २१ ॥

राजन् ! राजकुमार बृहद्बल भी एक रथी हैं। संसारमें उनकी सच्ची कीर्तिका विस्तार हुआ है। वे तुम्हारे शत्रुओंकी सेनामें कालके समान विचरेंगे ॥ २१ ॥

एतस्य योधा राजेन्द्र विचित्रकवचायुधाः।
विचरिष्यन्ति संग्रामे निघ्नन्तः शात्रवांस्तव ॥ २२ ॥

राजेन्द्र ! उनके सैनिक विचित्र कवच और अस्त्र-शस्त्र धारण करके तुम्हारे शत्रुओंका संहार करते हुए संग्रामभूमिमें विचरण करेंगे ॥ २२ ॥

वृषसेनो रथस्तेऽग्र्यः कर्णपुत्रो महारथः।
प्रधक्ष्यति रिपूणां ते वलं तु बलिनां वरः ॥ २३ ॥

कर्णका पुत्र वृषसेन भी तुम्हारी सेनाका एक श्रेष्ठ रथी है। इसे महारथी भी कह सकते हैं। बलवानोंमें श्रेष्ठ वृषसेन तुम्हारे वैरियोंकी विशाल वाहिनीको भस्म कर डालेगा ॥२३॥

जलसंधो महातेजा राजन् रथवरस्तव।
त्यक्ष्यते समरे प्राणान् माधवः परवीरहा ॥ २४ ॥

राजन् ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी महातेजस्वी जलसंध तुम्हारी सेनामें श्रेष्ठ रथी हैं। ये तुम्हारे लिये युद्धमें अपने प्राणतक दे डालेंगे ॥ २४ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः।
रथेन वा महाबाहुः क्षपयन् शत्रुवाहिनीम् ॥

महाबाहु जलसंध रथ अथवा हाथीकी पीठपर युद्ध करनेमें कुशल हैं। ये संग्राममें शत्रुसेनाक्ष करते हुए लड़ेंगे ॥ २५ ॥

रथ एष महाराज मतो मे राजसत्तम।
त्वदर्थे त्यक्ष्यते प्राणान् सहसैन्यो महारणे ॥

महाराज ! नृपश्रेष्ठ ! ये मेरे मतमें रथी ही हैं औ महायुद्धमें तुम्हारे लिये अपनी सेनासहित प्राणत्याग क

एष विक्रान्तयोधी च चित्रयोधी च सङ्गरे।
वीतभीश्चापि ते राजन् शत्रुभिः सह योत्स्यते ॥

राजन् ! ये समराङ्गणमें महान् पराक्रम प्रकट हुए विचित्र ढंगसे युद्ध करनेवाले हैं। ये तुम्हारे श साथ निर्भय होकर युद्ध करेंगे ॥ २७ ॥

बाह्लीकोऽतिरथश्चैव समरे चानिवर्तनः।
मम राजन् मतो युद्धे शूरो वैवस्वतोपमः ॥

बाह्लीक अतिरथी वीर हैं। ये युद्धसे कभी पीछे हटते हैं। राजन् ! मैं समरभूमिमें इन्हें यमराजके शूरवीर मानता हूँ ॥ २८ ॥

न ह्येष समरं प्राप्य निवर्तेत कथञ्चन।
यथा सततगो राजन् स हि हन्यात् परान् रणे॥

ये रणक्षेत्रमें पहुँचकर किसी तरह पीछे पैर नहीं सकते। राजन् ! ये वायुके समान वेगसे रणभूमिमें शत्रु मारेंगे ॥ २९ ॥

सेनापतिर्महाराज सत्यवांस्ते महारथः।
रणेष्वद्भुतकर्मा च रथी पररथारुजः ॥

महाराज ! रथारूढ हो युद्धमें अद्भुत पराक्रम दि और शत्रुपक्षके रथियोंको मार भगानेवाले तुम्हारे सेन सत्यवान् भी महारथी हैं ॥ ३० ॥

एतस्य समरं दृष्ट्वा न व्यथास्ति कथञ्चन।
उत्स्मयन्नुत्पतत्येष परान् रथपथे स्थितान् ॥

युद्ध देखकर इनके मनमें किसी प्रकार भी भय दुःख नहीं होता। ये रथके मार्गमें खड़े हुए शत्रु हँसते-हँसते कूद पड़ते हैं ॥ ३१ ॥

एष चारिषु विक्रान्तः कर्म सत्पुरुषोचितम्।
कर्ता विमर्दे सुमहत् त्वदर्थे पुरुषोत्तमः ॥

पुरुषश्रेष्ठ सत्यवान् शत्रुओंपर महान् पराक्रम दि हैं। ये युद्धमें तुम्हारे लिये श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य कर्म करेंगे ॥ ३२ ॥

अलम्बुषो राक्षसेन्द्रः क्रूरकर्मा महारथः।
हनिष्यति परान् राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥

क्रूरकर्मा राक्षसराज अलम्बुष भी महारथी है। रा यह पहलेके वैरको याद करके शत्रुओंका संहार करेगा ॥

एष राक्षससैन्यानां सर्वेषां रथसत्तमः।
मायावी दृढवैरश्च समरे विचरिष्यति ॥

मायावी, वैरभावको दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रखनेवाला तथा समस्त राक्षस सैनिकोंमें श्रेष्ठ रथी यह अलम्बुष संग्राम-भूमिमें (निर्भय होकर) विचरेगा ॥ ३४ ॥

प्राग्ज्योतिषाधिपो वीरो भगदत्तः प्रतापवान् ।
गजाङ्कुशधरश्रेष्ठो रथे चैव विशारदः ॥ ३५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त बड़े वीर और प्रतापी हैं। हाथमें अङ्कुश लेकर हाथियोंको काबूमें रखनेवाले वीरोंमें इनका सबसे ऊँचा स्थान है। ये रथयुद्धमें भी कुशल हैं॥३५॥

एतेन युद्धमभवत् पुरा गाण्डीवधन्वनः ।
दिवसान् सुबहून् राजन्नुभयोर्जयगृद्धिनोः ॥ ३६ ॥

राजन् ! पहले इनके साथ गाण्डीवधारी अर्जुनका युद्ध हुआ था। उस संग्राममें दोनों अपनी-अपनी विजय चाहते हुए बहुत दिनोंतक लड़ते रहे ॥ ३६ ॥

ततः सखायं गान्धारे मानयन् पाकशासनम् ।
अकरोत् संविदं तेन पाण्डवेन महात्मना ॥ ३७ ॥

गान्धारीकुमार ! कुछ दिनों बाद भगदत्तने अपने सखा इन्द्रका सम्मान करते हुए महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ संधि कर ली थी ॥ ३७ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः ।
ऐरावतगतो राजा देवानामिव वासवः ॥ ३८ ॥

राजा भगदत्त हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें अत्यन्त कुशल हैं। ये ऐरावतपर बैठे हुए देवराज इन्द्रके समान संग्राममें तुम्हारे शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका वर्णन, कर्ण और भीष्मका रोषपूर्वक संवाद तथा दुर्योधनद्वारा उसका निवारण

भीष्म उवाच

अचलो वृषकश्चैव सहितौ भ्रातरावुभौ ।
रथौ तव दुराधर्षौ शत्रून् विध्वंसयिष्यतः ॥ १ ॥

भीष्म कहते हैं—अचल और वृषक—ये साथ रहनेवाले दोनों भाई दुर्धर्ष रथी हैं, जो तुम्हारे शत्रुओंका विध्वंस कर डालेंगे ॥ १ ॥

बलवन्तौ नरव्याघ्रौ दृढक्रोधौ प्रहारिणौ ।
गान्धारमुख्यौ तरुणौ दर्शनीयौ महाबलौ ॥ २ ॥

गान्धारदेशके ये प्रधान वीर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी, बलवान्, अत्यन्त क्रोधी, प्रहार करनेमें कुशल, तरुण, दर्शनीय एवं महाबली हैं ॥ २ ॥

सखा ते दयितो नित्यं य एष रणकर्कशः ।
उत्साहयति राजंस्त्वां विग्रहे पाण्डवैः सह ॥ ३ ॥
परुषः कत्थनो नीचः कर्णो वैकर्तनस्तव ।
मन्त्री नेता च बन्धुश्च मानी चात्यन्तमुच्छ्रितः ॥ ४ ॥

राजन् ! यह जो तुम्हारा प्रिय सखा कर्ण है, जो तुम्हें पाण्डवोंके साथ युद्धके लिये सदा उत्साहित करता रहता है और रणक्षेत्रमें सदा अपनी क्रूरताका परिचय देता है, बड़ा ही कटुभाषी, आत्मप्रशंसी और नीच है। यह कर्ण तुम्हारा मन्त्री, नेता और बन्धु बना हुआ है। यह अभिमानी तो है ही, तुम्हारा आश्रय पाकर बहुत ऊँचे चढ़ गया है ॥३-४॥

एष नैव रथः कर्णो न चाप्यतिरथो रणे ।
वियुक्तः कवचेनैष सहजेन विचेतनः ॥ ५ ॥
कुण्डलाभ्यां च दिव्याभ्यां वियुक्तः सततं घृणी ।
अभिशापाच्च रामस्य ब्राह्मणस्य च भाषणात् ॥ ६ ॥
करणानां वियोगाच्च तेन मेऽर्धरथो मतः ।
नैष फाल्गुनमासाद्य पुनर्जीवन् विमोक्ष्यते ॥ ७ ॥

यह कर्ण युद्धभूमिमें न तो अतिरथी है और न रथी ही कहलाने योग्य है, क्योंकि यह मूर्ख अपने सहज कवच तथा दिव्य कुण्डलोंसे हीन हो चुका है। यह दूसरोंके प्रति सदा घृणाका भाव रखता है। परशुरामजीके अभिशापसे, ब्राह्मणकी शापोक्तिसे तथा विजयसाधक उपर्युक्त उपकरणोंको खो देनेसे मेरी दृष्टिमें यह कर्ण अर्धरथी है। अर्जुनसे भिड़नेपर यह कदापि जीवित नहीं बच सकता ॥ ५—७ ॥

ततोऽब्रवीत् पुनर्द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं न मिथ्यास्ति कदाचन ॥ ८ ॥

यह सुनकर समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी बोल उठे—'आप जैसा कहते हैं, बिल्कुल ठीक है। आपका यह मत कदापि मिथ्या नहीं है ॥ ८ ॥

रणे रणेऽभिमानी च विमुखश्चापि दृश्यते ।
घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथो मतः ॥ ९ ॥

'यह प्रत्येक युद्धमें घमंड तो बहुत दिखाता है; परंतु वहाँसे भागता ही देखा जाता है। कर्ण दयालु और प्रमादी है। इसलिये मेरी रायमें भी यह अर्धरथी ही है' ॥ ९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु राधेयः क्रोधादुत्फाल्य लोचने ।
उवाच भीष्मं राधेयस्तुदन् वाग्भिः प्रतोदवत् ॥ १० ॥

यह सुनकर राधानन्दन कर्ण क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा और अपने वचनरूपी चाबुकसे पीड़ा देता हुआ भीष्मसे बोला—॥ १० ॥

पितामह यथेष्टं मां वाक्शरैरुपकृन्तसि ।
अनागसं सदा द्वेषादेवमेव पदे पदे ॥ ११ ॥

'पितामह ! यद्यपि मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है, तो भी सदा मुझसे द्वेष रखनेके कारण तुम इसी प्रकार पग-पगपर मुझे अपने वाग्बाणोंद्वारा इच्छानुसार चोट पहुँचाते रहते हो ॥ ११ ॥

मर्षयामि च तत् सर्वं दुर्योधनकृतेन वै।
त्वं तु मां मन्यसे मन्दं यथा कापुरुषं तथा ॥१२॥

'मैं दुर्योधनके कारण यह सब कुछ चुपचाप सह लेता हूँ, परंतु तुम मुझे मूर्ख और कायरके समान समझते हो।१२।

भवानर्धरथो मह्यं मतो वै नात्र संशयः।
सर्वस्य जगतश्चैव गाङ्गेयो न मृषा वदेत् ॥ १३ ॥

'तुम मेरे विषयमें जो अर्धरथी होनेका मत प्रकट कर रहे हो, इससे सम्पूर्ण जगत्को निःसंदेह ऐसा ही प्रतीत होने लगेगा; क्योंकि सब यही जानते हैं कि गङ्गानन्दन भीष्म झूठ नहीं बोलते ॥ १३ ॥

कुरूणामहितो नित्यं न च राजावबुध्यते।
को हि नाम समानेषु राजसूदारकर्मसु ॥ १४ ॥
तेजोवधमिमं कुर्याद् विभेदयिषुराहवे।
यथा त्वं गुणविद्वेषादपरागं चिकीर्षसि ॥ १५ ॥

'तुम कौरवोंका सदा अहित करते हो; परंतु राजा दुर्योधन इस बातको नहीं समझते हैं। तुम मेरे गुणोंके प्रति द्वेष रखनेके कारण जिस प्रकार राजाओंकी मुझपर विरक्ति कराना चाहते हो, वैसा प्रयत्न तुम्हारे सिवा दूसरा कौन कर सकता है ? इस समय युद्धका अवसर उपस्थित है और समान श्रेणीके उदारचरित राजा एकत्र हुए हैं; ऐसे अवसरपर आपसमें भेद (फूट) उत्पन्न करनेकी इच्छा रखकर कौन पुरुष अपने ही पक्षके योद्धाका इस प्रकार तेज और उत्साह नष्ट करेगा ? ॥१४-१५॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।
महारथत्वं संख्यातुं शक्यं क्षत्रस्य कौरव ॥ १६ ॥

'कौरव ! केवल बड़ी अवस्था हो जाने, बाल पक जाने, अधिक धनका संग्रह कर लेने तथा बहुसंख्यक भाई-बन्धुओंके होनेसे ही किसी क्षत्रियको महारथी नहीं गिना जा सकता ॥ १६ ॥

बलज्येष्ठं स्मृतं क्षत्रं मन्त्रज्येष्ठा द्विजातयः।
धनज्येष्ठाः स्मृता वैश्याः शूद्रास्तु वयसाधिकाः॥१७॥

'क्षत्रियजातिमें जो बलमें अधिक हो, वही श्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्मण वेदमन्त्रोंके ज्ञानसे, वैश्य अधिक धनसे और शूद्र अधिक आयु होनेसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं ॥ १७ ॥

यथेच्छकं स्वयं ब्रूया रथानतिरथांस्तथा।
कामद्वेषसमायुक्तो मोहात् प्रकुरुते भवान् ॥ १८ ॥

'तुम राग-द्वेषसे भरे हुए हो; अतः मोहवश मनमाने ढंगसे रथी-अतिरथियोंका विभाग कर रहे हो ॥ १८ ॥

दुर्योधन महाबाहो साधु सम्यगवेक्ष्यताम्।
त्यज्यतां दुष्टभावोऽयं भीष्मः किल्बिषकृत्तव ॥१९॥

'महाबाहु दुर्योधन ! तुम अच्छी तरह विचार करते लो। ये भीष्म दुर्भावसे दूषित होकर तुम्हारी बुराई क हैं। तुम इन्हें अभी त्याग दो ॥१९॥

भिन्ना हि सेना नृपते दुःसंधेया भवत्युत।
मौला हि पुरुषव्याघ्र किमु नानासमुत्थिताः ॥ २०

'नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! एक बार सेनामें फूट जानेपर उसमें पुनः मेल कराना कठिन हो जाता उस दशामें मौलिक (पीढ़ियोंसे चले आनेवाले) सेवक हाथसे निकल जाते हैं। फिर जो भिन्न-भिन्न स्थानोंके किसी एक कार्यके लिये उद्यत होकर एकत्र हुए हों, उन तो बात ही क्या है ? ॥ २० ॥

एषां द्वैधं समुत्पन्नं योधानां युधि भारत।
तेजोवधो नः क्रियते प्रत्यक्षेण विशेषतः ॥ २१

'भारत ! इन योद्धाओंमें युद्धके अवसरपर दुविधा उत्प हो गयी है। तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो, हमारे तेज औ उत्साहकी विशेषरूपसे हत्या की जा रही है ॥ २१ ॥

रथानां क्व च विज्ञानं क्व च भीष्मोऽल्पचेतनः।
अहमावारयिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ २२

'कहाँ रथियोंको समझना और कहाँ अल्पबुद्धि भीष्म मैं अकेला ही पाण्डवोंकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा

आसाद्य माममोघेषुं गमिष्यन्ति दिशो दश।
पाण्डवाः सहपञ्चालाः शार्दूलं वृषभा इव ॥ २३

'मेरे बाण अमोघ हैं। मेरे सामने आकर पाण्डव औ पाञ्चाल उसी प्रकार दसों दिशाओंमें भाग जायँगे, जै सिंहको देखकर बैल भागते हैं ॥ २३ ॥

क्व च युद्धं विमर्दो वा मन्त्रे सुव्याहृतानि च।
क्व च भीष्मो गतवया मन्दात्मा कालचोदितः ॥ २४॥

'कहाँ युद्ध, मारकाट और गुप्त मन्त्रणामें अच्छी बातें बतानेका कार्य और कहाँ कालप्रेरित मन्दबुद्धि भीष्म जिनकी आयु समाप्त हो चुकी है ॥ २४ ॥

एकाकी स्पर्धते नित्यं सर्वेण जगता सह।
न चान्यं पुरुषं कंचिन्मन्यते मोघदर्शनः ॥ २५॥

'ये अकेले ही सदा सम्पूर्ण जगत्के साथ स्पर्धा रखते हैं और अपनी व्यर्थ दृष्टिके कारण दूसरे किसीको पुरुष ही नहीं समझते हैं ॥ २५ ॥

श्रोतव्यं खलु वृद्धानामिति शास्त्रनिदर्शनम्।
न त्वेव ह्यतिवृद्धानां पुनर्बाला हि ते मताः ॥ २६॥

'वृद्धोंकी बातें सुननी चाहिये; यह शास्त्रका आदेश है। परंतु जो अत्यन्त बूढ़े हो गये हैं, उनकी बातें श्रवण करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि वे तो फिर बालकोंके ही समान माने गये हैं ॥ २६ ॥

अहमेको हनिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम्।
सुयुद्धे राजशार्दूल यशो भीष्मं गमिष्यति ॥ २७॥

'नृपश्रेष्ठ ! मैं इस युद्धमें अकेला ही पाण्डवोंकी सेनाका

विनाश करूँगा; परंतु सारा यश भीष्मको मिल जायगा ॥

कृतः सेनापतिस्त्वेष त्वया भीष्मो नराधिप ।
सेनापतौ यशो गन्ता न तु योधान् कथंचन ॥ २८ ॥

‘नरेश्वर ! तुमने इन भीष्मको ही सेनापति बनाया है। विजयका यश सेनापतिको ही प्राप्त होता है; योद्धाओंको किसी प्रकार नहीं मिलता ॥ २८ ॥

नाहं जीवति गाङ्गेये योत्स्ये राजन् कथंचन ।
हते भीष्मे तु योद्धास्मि सर्वैरेव महारथैः ॥ २९ ॥

‘अतः राजन् ! मैं भीष्मके जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा; परंतु भीष्मके मारे जानेपर सम्पूर्ण महारथियोंके साथ टक्कर लूँगा’ ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच

समुद्यतोऽयं भारो मे सुमहान् सागरोपमः ।
धार्तराष्ट्रस्य संग्रामे वर्षपूगाभिचिन्तितः ॥ ३० ॥
तस्मिन्नभ्यागते काले प्रतप्ते लोमहर्षणे ।
मिथो भेदो न मे कार्यस्तेन जीवसि सूतज ॥ ३१ ॥

भीष्मने कहा—सूतपुत्र ! इस युद्धमें दुर्योधनका यह समुद्रके समान अत्यन्त गुरुतर भार मैंने अपने कंधोंपर उठाया है। जिसके लिये मैं बहुत वर्षोंसे चिन्तित हो रहा था, वह संतापदायक रोमाञ्चकारी समय अब आकर उपस्थित हो ही गया, ऐसे अवसरमें मुझे यह पारस्परिक भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये, इसीलिये तू अभीतक जी रहा है ॥ ३०-३१ ॥

न ह्यहं त्वद्य विक्रम्य स्थविरोऽपि शिशोस्तव ।
युद्धश्रद्धामहं छिन्द्यां जीवितस्य च सूतज ॥ ३२ ॥

सूतकुमार ! यदि ऐसी बात न होती तो मैं वृद्ध होनेपर भी पराक्रम करके आज तुझ बालककी युद्धविषयक श्रद्धा और जीवनकी आशाका एक ही साथ उच्छेद कर डालता ॥

जामदग्न्येन रामेण महास्त्राणि विमुञ्चता ।
न मे व्यथा कृता काचित् त्वं तु मे किं करिष्यसि ॥ ३३ ॥

जमदग्निनन्दन परशुरामने मेरे ऊपर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रयोग किया था; परंतु वे भी मुझे कोई पीड़ा न दे सके। फिर तू तो मेरा कर ही क्या लेगा ? ॥ ३३ ॥

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
वक्ष्यामि तु त्वां संतप्तो निहीनकुलपांसन ॥ ३४ ॥

नीचकुलाङ्गार ! साधु पुरुष अपने बलकी प्रशंसा करना कदापि अच्छा नहीं मानते हैं, तथापि तेरे व्यवहारसे संतप्त होकर मैं अपनी प्रशंसाकी बात भी कह रहा हूँ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिराजस्वयंवरे ।
निर्जित्यैकरथेनैव याः कन्यास्तरसा हृताः ॥ ३५ ॥

काशिराजके यहाँ स्वयंवरमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय-नरेश एकत्र हुए थे, परंतु मैंने केवल एक रथपर ही आरूढ़ होकर उन सबको जीतकर बलपूर्वक काशिराजकी कन्याओंका अपहरण किया था ॥ ३५ ॥

ईदृशानां सहस्राणि विशिष्टानामथो पुनः ।
मयैकेन निरस्तानि ससैन्यानि रणाजिरे ॥ ३६ ॥

यहाँ जो लोग एकत्र हुए हैं, ऐसे तथा इनसे भी बढ़-चढ़कर पराक्रमी हजारों नरेश वहाँ एकत्र थे; परंतु मैंने समराङ्गणमें अकेले ही उन सबको सेनाओंसहित परास्त कर दिया था ॥ ३६ ॥

त्वां प्राप्य वैरपुरुषं कुरूणामनयो महान् ।
उपस्थितो विनाशाय यतस्व पुरुषो भव ॥ ३७ ॥

तू वैरका मूर्तिमान् स्वरूप है । तेरा सहारा पाकर कुरुकुलके विनाशके लिये बहुत बड़ा अन्याय उपस्थित हो गया है। अब तू रक्षाका प्रबन्ध कर और पुरुषत्वका परिचय दे ॥

युद्ध्यस्व समरे पार्थं येन विस्पर्धसे सह ।
द्रक्ष्यामि त्वां विनिर्मुक्तमस्माद् युद्धात् सुदुर्मते ॥ ३८ ॥

दुर्मते ! तू जिसके साथ सदा स्पर्धा रखता है, उस अर्जुनके साथ समरभूमिमें युद्ध कर। मैं देखूँगा कि तू इस संग्रामसे किस प्रकार बच पाता है ? ॥ ३८ ॥

तमुवाच ततो राजा धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
मां समीक्षस्व गाङ्गेय कार्यं हि महदुद्यतम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर प्रतापी राजा दुर्योधनने भीष्मजीसे कहा—‘गङ्गानन्दन ! आप मेरी ओर देखिये; क्योंकि इस समय महान् कार्य उपस्थित है ॥ ३९ ॥

चिन्त्यतामिदमेकाग्रं मम निःश्रेयसं परम् ।
उभावपि भवन्तौ मे महत् कर्म करिष्यतः ॥ ४० ॥

‘आप एकाग्रचित्त होकर मेरे परम कल्याणकी बात सोचिये। आप और कर्ण दोनों ही मेरा महान् कार्य सिद्ध करेंगे ॥

भूयश्च श्रोतुमिच्छामि परेषां रथसत्तमान् ।
ये चैवातिरथास्तत्र ये चैव रथयूथपाः ॥ ४१ ॥

‘अब मैं पुनः शत्रुपक्षके श्रेष्ठ रथियों, अतिरथियों तथा रथयूथपतियोंका परिचय सुनना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

बलाबलममित्राणां श्रोतुमिच्छामि कौरव ।
प्रभातायां रजन्यां वै इदं युद्धं भविष्यति ॥ ४२ ॥

‘कुरुनन्दन ! शत्रुओंके बलाबलको सुननेकी मेरी इच्छा है। आजकी रात बीतते ही कल प्रातःकाल यह युद्ध प्रारम्भ हो जायगा’ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि भीष्मकर्णसंवादे अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें भीष्मकर्णसंवादविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथी आदिका एवं उनकी महिमाका वर्णन

भीष्म उवाच

एते रथास्तवाख्यातास्तथैवातिरथा नृप ।
ये चाप्यर्धरथा राजन् पाण्डवानामतः शृणु ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! ये तुम्हारे पक्षके रथी, अतिरथी और अर्धरथी बताये गये हैं । राजन् ! अब तुम पाण्डवपक्षके रथी आदिका वर्णन सुनो ॥ १ ॥

यदि कौतूहलं तेऽद्य पाण्डवानां बले नृप ।
रथसंख्यां शृणुष्व त्वं सहैभिर्वसुधाधिपैः ॥ २ ॥

नरेश ! अब यदि पाण्डवोंकी सेनाके विषयमें भी जानकारी करनेके लिये तुम्हारे मनमें कौतूहल हो तो इन भूमिपालोंके साथ तुम उनके रथियोंकी गणना सुनो ॥

स्वयं राजा रथोदारः पाण्डवः कुन्तिनन्दनः ।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥

तात ! कुन्तीका आनन्द बढ़ानेवाले स्वयं पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर एक श्रेष्ठ रथी (महारथी) हैं । वे समरभूमिमें अग्निके समान सब ओर विचरेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

भीमसेनस्तु राजेन्द्र रथोऽष्टगुणसम्मितः ।
न तस्यास्ति समो युद्धे गदया सायकैरपि ॥ ४ ॥
नागायुतबलो मानी तेजसा न स मानुषः ।

राजेन्द्र ! भीमसेन तो अकेले आठ रथियोंके बराबर हैं । गदा और बाणोंद्वारा किये जानेवाले युद्धमें उनके समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है । उनमें दस हजार हाथियोंका बल है । वे बड़े ही मानी तथा अलौकिक तेजसे सम्पन्न हैं ॥ ४½ ॥

माद्रीपुत्रौ च रथिनौ द्वावेव पुरुषर्षभौ ॥ ५ ॥
अश्विनाविव रूपेण तेजसा च समन्वितौ ।

माद्रीके दोनों पुत्र अश्विनीकुमारोंके समान रूपवान् और तेजस्वी हैं । वे दोनों ही पुरुषरत्न रथी हैं ॥ ५½ ॥

एते चमूमुपगताः स्मरन्तः क्लेशमुत्तमम् ॥ ६ ॥
रुद्रवत् प्रचरिष्यन्ति तत्र मे नास्ति संशयः ।

ये चारों भाई महान् क्लेशोंका स्मरण करके तुम्हारी सेनामें घुसकर रुद्रदेवके समान संहार करते हुए विचरेंगे; इस विषयमें मुझे संशय नहीं है ॥ ६½ ॥

सर्व एव महात्मानः शालस्तम्भा इवोद्गताः ॥ ७ ॥
प्रादेशेनाधिकाः पुम्भिरन्यैस्ते च प्रमाणतः ।

ये सभी महामना पाण्डव शालवृक्षके स्तम्भोंके समान ऊँचे हैं । उनकी ऊँचाईका मान अन्य पुरुषोंसे एक बित्ता अधिक है ॥ ७½ ॥

सिंहसंहननाः सर्वे पाण्डुपुत्रा महाबलाः ॥ ८ ॥
चरितब्रह्मचर्याश्च सर्वे तात तपस्विनः ।
ह्रीमन्तः पुरुषव्याघ्रा व्याघ्रा इव बलोत्कटाः ॥ ९ ॥

सभी पाण्डव सिंहके समान सुगठित शरीरवाले महान् बलवान् हैं । तात ! उन सबने ब्रह्मचर्यव्रतका किया है, पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी पाण्डव लज्जाशील और व्याघ्रके समान उत्कट बलशाली हैं ॥

जवे प्रहारे सम्मर्दे सर्व एवातिमानुषाः ।
सर्वैर्जिता महीपाला दिग्जये भरतर्षभ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे वेग, प्रहार और संघर्षमें अमानु शक्तिसे सम्पन्न हैं । उन सबने दिग्विजयके समय राजाओंपर विजय पायी है ॥ १० ॥

न चैषां पुरुषाः केचिदायुधानि गदाः शरान् ।
विषहन्ति सदा कर्तुमधिज्यान्यपि कौरव ॥
उद्यन्तुं वा गदा गुर्वीः शरान् वा क्षेप्तुमाहवे ।
जवे लक्ष्यस्य हरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे ॥
बालैरपि भवन्तस्तैः सर्व एव विशेषिताः ।

कुरुनन्दन ! इनके आयुधों, गदाओं और आघात कोई भी नहीं सह सकते हैं । इसके सिवा न तो इनके धनुषपर प्रत्यञ्चा ही चढ़ा पाते हैं, न युद्धमें भारी गदाको ही उठा सकते हैं और न इनके बाणोंका प्रयोग कर सकते हैं । वेगसे चलने, लक्ष्य-भेद करने, पीने तथा धूलि-क्रीड़ा करने आदिमें उन सबने बाल्याव भी तुम्हें पराजित कर दिया था ॥ ११-१२½ ॥

एतत् सैन्यं समासाद्य सर्व एव बलोत्कटाः ॥
विध्वंसयिष्यन्ति रणे मा स्म तैः सह सङ्गमः ।

इस सेनामें आकर वे सभी उत्कट बलशाली हो गये युद्धमें आनेपर वे तुम्हारी सेनाका विध्वंस कर डालेंगे चाहता हूँ उनसे कहीं भी तुम्हारी मुठभेड़ न हो ॥

एकैकशस्ते सम्मर्दे हन्युः सर्वान् महीक्षितः ॥
प्रत्यक्षं तव राजेन्द्र राजसूये यथाभवत् ।

उनमेंसे एक-एकमें इतनी शक्ति है कि वे समस्त राजा का युद्धमें संहार कर सकते हैं । राजेन्द्र ! राजसूय-य जैसा जो कुछ हुआ था, वह सब तुमने अपनी आँखों देखा

द्रौपद्याश्च परिक्लेशं द्यूते च परुषा गिरः ॥
ते स्मरन्तश्च संग्रामे चरिष्यन्ति च रुद्रवत् ।

द्यूतक्रीड़ाके समय द्रौपदीको जो महान् क्लेश गया और पाण्डवोंके प्रति कठोर बातें सुनायी गयीं, सबको याद करके वे संग्रामभूमिमें रुद्रके समान विचरें

लोहिताक्षो गुडाकेशो नारायणसहायवान् ॥
उभयोः सेनयोर्वीरो रथो नास्तीति तादृशः ।

लाल नेत्रोंवाले निद्राविजयी अर्जुनके सखा और सहा नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं । कौरव-पाण्डव सेनाओंमें अर्जुनके समान वीर रथी दूसरा कोई नहीं है

न हि देवेषु सर्वेषु नासुरेषूरगेषु च ॥

राक्षसेष्वथ यक्षेषु नरेषु कुत एव तु।
भूतोऽथवा भविष्यो वा रथः कश्चिन्मया श्रुतः ॥ १८ ॥

समस्त देवताओं, असुरों, नागों, राक्षसों तथा यक्षोंमें भी अर्जुनके समान कोई नहीं है; फिर मनुष्योंमें तो हो ही कैसे सकता है ? भूत या भविष्यमें भी कोई ऐसा रथी मेरे सुननेमें नहीं आया है ॥ १७-१८ ॥

समायुक्तो महाराज रथः पार्थस्य धीमतः।
वासुदेवश्च संयन्ता योद्धा चैव धनंजयः ॥ १९ ॥

महाराज ! बुद्धिमान् अर्जुनका रथ जुता हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि और युद्धकुशल धनंजय रथी हैं॥

गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं ते चाश्वा वातरंहसः।
अभेद्यं कवचं दिव्यमक्षय्यौ च महेषुधी ॥ २० ॥

दिव्य गाण्डीव धनुष है, वायुके समान वेगशाली अश्व हैं, अभेद्य दिव्य कवच है तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो महान् तरकस हैं ॥ २० ॥

अस्त्रग्रामश्च माहेन्द्रो रौद्रः कौबेर एव च।
याम्यश्च वारुणश्चैव गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ॥ २१ ॥

उस रथमें अस्त्रोंके समुदाय—महेन्द्र, रुद्र, कुबेर, यम एवं वरुणसम्बन्धी अस्त्र हैं, भयंकर दिखायी देनेवाली गदाएँ हैं॥

वज्रादीनि च मुख्यानि नानाप्रहरणानि च।
दानवानां सहस्राणि हिरण्यपुरवासिनाम् ॥ २२ ॥
हतान्येकरथेनाजौ कस्तस्य सदृशो रथः।

वज्र आदि भाँति-भाँतिके श्रेष्ठ आयुध भी उस रथमें विद्यमान हैं। अर्जुनने युद्धमें एकमात्र उस रथकी सहायतासे हिरण्यपुरमें निवास करनेवाले सहस्रों दानवोंका संहार किया है। उसके समान दूसरा कौन रथ हो सकता है ? ॥ २२½ ॥

एष हन्याद्धि संरम्भी बलवान् सत्यविक्रमः ॥ २३ ॥
तव सेनां महाबाहुः स्वां चैव परिपालयन्।

वह बलवान्, सत्यपराक्रमी, महाबाहु अर्जुन क्रोधमें आकर तुम्हारी सेनाका संहार करेंगे और अपनी सेनाकी रक्षामें संलग्न रहेंगे ॥ २३½ ॥

अहं चैनं प्रत्युदियामाचार्यो वा धनंजयम् ॥ २४ ॥
न तृतीयोऽस्ति राजेन्द्र सेनयोरुभयोरपि।
य एनं शरवर्षाणि वर्षन्तमुदियाद् रथी ॥ २५ ॥

मैं अथवा द्रोणाचार्य ही धनंजयका सामना कर सकते हैं। राजेन्द्र ! दोनों सेनाओंमें तीसरा कोई ऐसा रथी नहीं है, जो बाणोंकी वर्षा करते हुए अर्जुनके सामने जा सके ॥

जीमूत इव घर्मान्ते महावातसमीरितः।
समायुक्तस्तु कौन्तेयो वासुदेवसहायवान्।
तरुणश्च कृती चैव जीर्णावावामुभावपि ॥ २६ ॥

ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें प्रचण्ड वायुसे प्रेरित महामेघकी भाँति श्रीकृष्णसहित अर्जुन युद्धके लिये तैयार है। वह अस्त्रोंका विद्वान् और तरुण भी है। इधर हम दोनों वृद्ध हो चले हैं॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु भीष्मस्य राज्ञां दध्वंसिरे तदा।
काञ्चनाङ्गदिनः पीना भुजाश्चन्दनरूषिताः ॥ २७ ॥
मनोभिः सह संवेगैः संस्मृत्य च पुरातनम्।
सामर्थ्यं पाण्डवेयानां यथा प्रत्यक्षदर्शनात् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मकी यह बात सुनकर पाण्डवोंके पुरातन बल-पराक्रमको प्रत्यक्ष देखनेकी भाँति स्मरण करके राजाओंकी सुवर्णमय भुजबंदोंसे विभूषित चन्दनचर्चित स्थूल भुजाएँ एवं मन भी आवेगयुक्त होकर शिथिल हो गये ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पाण्डवरथातिरथसंख्यायां एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें पाण्डवपक्षके रथियों और अतिरथियोंकी संख्याविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथियों और महारथियोंका वर्णन तथा विराट और द्रुपदकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

द्रौपदेया महाराज सर्वे पञ्च महारथाः।
वैराटिरुत्तरश्चैव रथोदारो मतो मम ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज ! द्रौपदीके जो पाँच पुत्र हैं, वे सबके सब महारथी हैं। विराटपुत्र उत्तरको मैं उदार रथी मानता हूँ ॥ १ ॥

अभिमन्युर्महाबाहू रथयूथपयूथपः।
समः पार्थेन समरे वासुदेवेन चारिहा ॥ २ ॥
लब्धास्त्रश्चित्रयोधी च मनस्वी च दृढव्रतः।
संस्मरन् वै परिक्लेशं स्वपितुर्विक्रमिष्यति ॥ ३ ॥

महाबाहु अभिमन्यु रथ-यूथपतियोंका भी यूथपति है। वह शत्रुनाशक वीर समरभूमिमें अर्जुन और श्रीकृष्णके समान पराक्रमी है। उसने अस्त्रविद्याकी विधिवत् शिक्षा प्राप्त की है। वह युद्धकी विचित्र कलाएँ जानता है तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला और मनस्वी है। वह अपने पिताके क्लेशको याद करके अवश्य पराक्रम दिखायेगा ॥ २-३ ॥

सात्यकिर्माधवः शूरो रथयूथपयूथपः।
एष वृष्णिप्रवीराणाममर्षी जितसाध्वसः ॥ ४ ॥

मधुवंशी शूरवीर सात्यकि भी रथ-यूथपतियोंके भी यूथपति हैं। वृष्णिवंशके प्रमुख वीरोंमें ये सात्यकि बड़े ही अमर्षशील हैं। इन्होंने भयको जीत लिया है ॥ ४ ॥

उत्तमौजास्तथा राजन् रथोदारो मतो मम।

युधामन्युश्च विक्रान्तो रथोदारो मतो मम ॥ ५ ॥

राजन् ! उत्तमौजाको भी मैं उदार रथी मानता हूँ। पराक्रमी युधामन्यु भी मेरे मतमें एक श्रेष्ठ रथी हैं ॥ ५ ॥

एतेषां बहुसाहस्रा रथा नागा हयास्तथा।
योत्स्यन्ते ते तनूंस्त्यक्त्वा कुन्तीपुत्रप्रियेप्सया॥ ६ ॥

इनके कई हजार रथ, हाथी और घोड़े हैं, जो कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने शरीरको निछावर करके युद्ध करेंगे ॥ ६ ॥

पाण्डवैः सह राजेन्द्र तव सेनासु भारत।
अग्निमारुतवद् राजन्नाह्वयन्तः परस्परम् ॥ ७ ॥

भारत ! राजेन्द्र ! वे पाण्डवोंके साथ तुम्हारी सेनामें प्रवेश करके एक-दूसरेका आह्वान करते हुए अग्नि और वायुकी भाँति विचरेंगे ॥ ७ ॥

अजेयौ समरे वृद्धौ विराटद्रुपदौ तथा।
महारथौ महावीर्यौ मतौ मे पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥

वृद्ध राजा विराट और द्रुपद भी युद्धमें अजेय हैं। इन दोनों महापराक्रमी नरश्रेष्ठ वीरोंको मैं महारथी मानता हूँ ॥

वयोवृद्धावपि हि तौ क्षत्रधर्मपरायणौ।
यतिष्येते परं शक्त्या स्थितौ वीरगते पथि ॥ ९ ॥

यद्यपि वे दोनों अवस्थाकी दृष्टिसे बहुत बूढ़े हैं, तथापि क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले वीरोंके मार्गमें स्थित हो अपनी शक्तिभर युद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे ॥ ९ ॥

सम्बन्धकेन राजेन्द्र तौ तु वीर्यबलान्वयात्।
आर्यवृत्तौ महेष्वासौ स्नेहपाशसितावुभौ ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! वे दोनों नरेश वीर्य और बलसे संयु पुरुषोंके समान सदाचारी और महान् धनुर्धर हैं। पा साथ सम्बन्ध होनेके कारण वे दोनों उनके स्नेह बँधे हुए हैं ॥ १० ॥

कारणं प्राप्य तु नराः सर्व एव महाभुजाः।
शूरा वा कातरा वापि भवन्ति कुरुपुङ्गव ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कोई कारण पाकर प्रायः सभी मानव शूर अथवा कायर हो जाते हैं ॥ ११ ॥

एकायनगतावेतौ पार्थिवौ दृढधन्विनौ।
प्राणांस्त्यक्त्वा परं शक्त्या घट्टितारौ परंतप ॥

परंतप ! दृढ़तापूर्वक धनुष धारण करनेवाले विराट और द्रुपद एकमात्र वीरपथका आश्रय ले चुके वे अपने प्राणोंका त्याग करके भी पूरी शक्तिसे सेनाके साथ टक्कर लेंगे ॥ १२ ॥

पृथगक्षौहिणीभ्यां तावुभौ संयति दारुणौ।
सम्बन्धिभावं रक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ॥

वे दोनों युद्धमें बड़े भयंकर हैं, अतः अपने सम्ब रक्षा करते हुए पृथक्-पृथक् अक्षौहिणी सेना साथ लिये पराक्रम करेंगे ॥ १३ ॥

लोकवीरौ महेष्वासौ त्यक्तात्मानौ च भारत।
प्रत्ययं परिरक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ॥

भारत ! महान् धनुर्धर तथा जगत्के सुप्रसिद्ध वे दोनों नरेश अपने विश्वास और सम्मानकी रक्षा करते शरीरकी परवा न करके युद्धभूमिमें महान् पुरुषार्थ प्रकट करें

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथी, महारथी एवं अतिरथी आदिका वर्णन

भीष्म उवाच

पञ्चालराजस्य सुतो राजन् परपुरंजयः।
शिखण्डी रथमुख्यो मे मतः पार्थस्य भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भरतनन्दन ! पाञ्चालराज द्रुपदका पुत्र शिखण्डी शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला है, मैं उसे युधिष्ठिरकी सेनाका एक प्रमुख रथी मानता हूँ॥

एष योत्स्यति संग्रामे नाशयन् पूर्वसंस्थितम्।
परं यशो विप्रथयंस्तव सेनासु भारत ॥ २ ॥

भारत ! वह तुम्हारी सेनामें प्रवेश करके अपने पूर्व अपयशका नाश तथा उत्तम सुयशका विस्तार करता हुआ बड़े उत्साहसे युद्ध करेगा ॥ २ ॥

एतस्य बहुलाः सेनाः पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः।
तेनासौ रथवंशेन महत् कर्म करिष्यति ॥ ३ ॥

उसके साथ पाञ्चालों और प्रभद्रकोंकी बहुत बड़ी सेना है। वह उन रथियोंके समूहद्वारा युद्धमें महान् कर्म कर दिखा

धृष्टद्युम्नश्च सेनानीः सर्वसेनासु भारत।
मतो मेऽतिरथो राजन् द्रोणशिष्यो महारथः ॥ ४

भारत ! जो पाण्डवोंकी सम्पूर्ण सेनाका सेनापति वह द्रोणाचार्यका महारथी शिष्य धृष्टद्युम्न मेरे वि अतिरथी है ॥ ४ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे सूदयन् वै परान् रणे।
भगवानिव संक्रुद्धः पिनाकी युगसंक्षये ॥ ५

जैसे प्रलयकालमें पिनाकधारी भगवान् रुद्र कुपित हो प्रजाका संहार करते हैं, उसी प्रकार यह संग्राममें शत्रु संहार करता हुआ युद्ध करेगा ॥ ५ ॥

एतस्य तद् रथानीकं कथयन्ति रणप्रियाः।
बहुत्वात् सागरप्रख्यं देवानामिव संयुगे ॥ ६

इसके पास रथियोंकी जो देवसेनाके समान विशाल

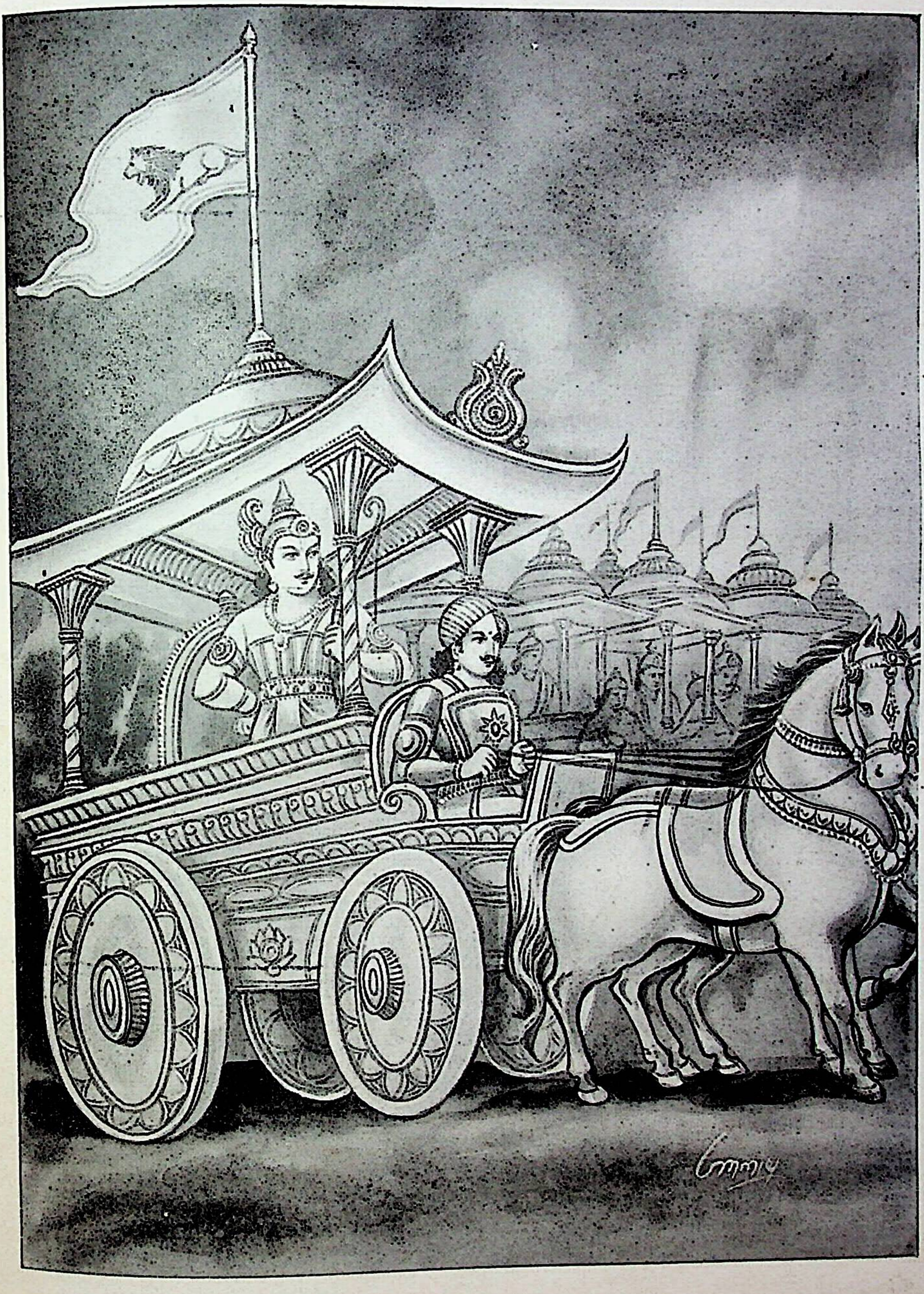

पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न

है, उसकी संख्या बहुत होनेके कारण युद्धप्रेमी सैनिक रणक्षेत्रमें उसे समुद्रके समान बताते हैं ॥ ६ ॥

क्षत्रधर्मा तु राजेन्द्र मतो मेऽर्धरथो नृप ।
धृष्टद्युम्नस्य तनयो बाल्यान्नातिकृतश्रमः ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! धृष्टद्युम्नका पुत्र क्षत्रधर्मा मेरी समझमें अभी अर्धरथी है। बाल्यावस्था होनेके कारण उसने अस्त्र-विद्यामें अधिक परिश्रम नहीं किया है ॥ ७ ॥

शिशुपालसुतो वीरश्चेदिराजो महारथः ।
धृष्टकेतुर्महेष्वासः सम्बन्धी पाण्डवस्य ह ॥ ८ ॥

शिशुपालका वीर पुत्र महाधनुर्धर चेदिराज धृष्टकेतु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका सम्बन्धी एवं महारथी है ॥ ८ ॥

एष चेदिपतिः शूरः सह पुत्रेण भारत ।
महारथानां सुकरं महत् कर्म करिष्यति ॥ ९ ॥

भारत ! यह शौर्यसम्पन्न चेदिराज अपने पुत्रके साथ आकर महारथियोंके लिये सहजसाध्य महान् पराक्रम कर दिखायेगा ॥

क्षत्रधर्मरतो मह्यं मतः परपुरंजयः ।
क्षत्रदेवस्तु राजेन्द्र पाण्डवेषु रथोत्तमः ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला क्षत्रियधर्मपरायण क्षत्रदेव मेरे मतमें पाण्डव-सेनाका एक श्रेष्ठ रथी है ॥

जयन्तश्चामितौजाश्च सत्यजिच्च महारथः ।
महारथा महात्मानः सर्वे पाञ्चालसत्तमाः ॥ ११ ॥
योत्स्यन्ते समरे तात संरब्धा इव कुञ्जराः ।

जयन्त, अमितौजा और महारथी सत्यजित्—ये सभी पाञ्चालशिरोमणि महामनस्वी वीर महारथी ही हैं। तात ! ये सबके सब क्रोधमें भरे हुए गजराजोंकी भाँति समरभूमिमें युद्ध करेंगे ॥ ११½ ॥

अजो भोजश्च विक्रान्तौ पाण्डवार्थे महारथौ ॥ १२ ॥
योत्स्येते बलिनौ शूरौ परं शक्त्या क्षयिष्यतः ।

पाण्डवोंके लिये महान् पराक्रम करनेवाले बलवान् शूरवीर अज और भोज दोनों महारथी हैं। वे सम्पूर्ण शक्ति लगाकर युद्ध करेंगे और अपने पुरुषार्थका परिचय देंगे ॥

शीघ्रास्त्राश्चित्रयोद्धारः कृतिनो दृढविक्रमाः ॥ १३ ॥
केकयाः पञ्च राजेन्द्र भ्रातरो दृढविक्रमाः ।
सर्वे चैव रथोदाराः सर्वे लोहितकध्वजाः ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले, विचित्र योद्धा, युद्धकलामें निपुण और दृढ़ पराक्रमी जो पाँच भाई केकयराजकुमार हैं, वे सभी उदार रथी माने गये हैं। उन सबकी ध्वजा लाल रंगकी है ॥ १३-१४ ॥

काशिकः सुकुमारश्च नीलो यश्चापरो नृप ।
सूर्यदत्तश्च शङ्खश्च मदिराश्वश्च नामतः ॥ १५ ॥
सर्व एव रथोदाराः सर्वे चाहवलक्षणाः ।
सर्वास्त्रविदुषः सर्वे महात्मानो मता मम ॥ १६ ॥

सुकुमार, काशिक, नील, सूर्यदत्त, शङ्ख और मदिराश्व नामक ये सभी योद्धा उदार रथी हैं। युद्ध ही इन सबका शौर्यसूचक चिह्न है। मैं इन सभीको सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता और महामनस्वी मानता हूँ ॥ १५-१६ ॥

वार्धक्षेमिर्महाराज मतो मम महारथः ।
चित्रायुधश्च नृपतिर्मतो मे रथसत्तमः ॥ १७ ॥

महाराज ! वार्धक्षेमिको मैं महारथी मानता हूँ तथा राजा चित्रायुध मेरे विचारसे श्रेष्ठ रथी हैं ॥ १७ ॥

स हि संग्रामशोभी च भक्तश्चापि किरीटिनः ।
चेकितानः सत्यधृतिः पाण्डवानां महारथौ ।
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रौ रथोदारौ मतौ मम ॥ १८ ॥

चित्रायुध संग्राममें शोभा पानेवाले तथा अर्जुनके भक्त हैं। चेकितान और सत्यधृति—ये दो पुरुषसिंह पाण्डव-सेनाके महारथी हैं। मैं इन्हें रथियोंमें श्रेष्ठ मानता हूँ ॥ १८ ॥

व्याघ्रदत्तश्च राजेन्द्र चन्द्रसेनश्च भारत ।
मतौ मम रथोदारौ पाण्डवानां न संशयः ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! व्याघ्रदत्त और चन्द्रसेन—ये दो नरेश भी मेरे मतमें पाण्डवसेनाके श्रेष्ठ रथी हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

सेनाबिन्दुश्च राजेन्द्र क्रोधहन्ता च नामतः ।
यः समो वासुदेवेन भीमसेनेन वा विभो ॥ २० ॥
स योत्स्यति हि विक्रम्य समरे तव सैनिकैः ।

राजेन्द्र ! राजा सेनाबिन्दुका दूसरा नाम क्रोधहन्ता भी है। प्रभो ! वे भगवान् कृष्ण तथा भीमसेनके समान पराक्रमी माने जाते हैं। वे समराङ्गणमें तुम्हारे सैनिकोंके साथ पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध करेंगे ॥ २०½ ॥

मां च द्रोणं कृपं चैव यथा सम्मन्यते भवान् ॥ २१ ॥
तथा स समरश्लाघी मन्तव्यो रथसत्तमः ।
काश्यः परमशीघ्रास्त्रः श्लाघनीयो नरोत्तमः ॥ २२ ॥

तुम मुझको, आचार्य द्रोणको तथा कृपाचार्यको जैसा समझते हो, युद्धमें दूसरे वीरोंसे स्पर्धा रखनेवाले तथा बहुत ही फुर्तीके साथ अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करनेवाले प्रशंसनीय एवं उत्तम रथी नरश्रेष्ठ काशिराजको भी तुम्हें वैसा ही मानना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

रथ एकगुणो मह्यं ज्ञेयः परपुरंजयः ।
अयं च युधि विक्रान्तो मन्तव्योऽष्टगुणो रथः ॥ २३ ॥

मेरी दृष्टिमें शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले काशिराजको साधारण अवस्थामें एक रथी समझना चाहिये; परंतु जिस समय ये युद्धमें पराक्रम प्रकट करने लगते हैं उस समय इन्हें आठ रथियोंके बराबर मानना चाहिये ॥ २३ ॥

सत्यजित् समरश्लाघी द्रुपदस्यात्मजो युवा ।
गतः सोऽतिरथत्वं हि धृष्टद्युम्नेन सम्मितः ॥ २४ ॥
पाण्डवानां यशस्कामः परं कर्म करिष्यति ।

द्रुपदका तरुण पुत्र सत्यजित् सदा युद्धकी स्पृहा रखनेवाला है। वह धृष्टद्युम्नके समान ही अतिरथीका पद प्राप्त

कर चुका है। वह पाण्डवोंके यशोविस्तारकी इच्छा रखकर युद्धमें महान् कर्म करेगा ॥ २४½ ॥

अनुरक्तश्च शूरश्च रथोऽयमपरो महान् ॥ २५ ॥
पाण्ड्यराजो महावीर्यः पाण्डवानां धुरंधरः।
दृढधन्वा महेष्वासः पाण्डवानां महारथः ॥ २६ ॥

पाण्डवपक्षके धुरंधर वीर महापराक्रमी पाण्ड्यराज भी एक अन्य महारथी हैं। ये पाण्डवोंके प्रति अनुराग रखनेवाले और शूरवीर हैं। इनका धनुष महान् और सु ये पाण्डवसेनाके सम्माननीय महारथी हैं ॥ २५-२६ ॥

श्रेणिमान् कौरवश्रेष्ठ वसुदानश्च पार्थिवः।
उभावेतावतिरथौ मतौ परपुरंजयौ ॥

कौरवश्रेष्ठ! राजा श्रेणिमान् और वसुदान—ये अतिरथी माने गये हैं। ये शत्रुओंकी नगरीपर विजय समर्थ हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका पाण्डवपक्षके अतिरथी वीरोंका वर्णन करते हुए शिखण्डी और पाण्डवोंका वध न करनेका

भीष्म उवाच

रोचमानो महाराज पाण्डवानां महारथः।
योत्स्यतेऽमरवत् संख्ये परसैन्येषु भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज! भारत! पाण्डवपक्षमें राजा रोचमान महारथी हैं। वे युद्धमें शत्रुसेनाके साथ देवताओंके समान पराक्रम दिखाते हुए युद्ध करेंगे ॥ १ ॥

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च महेष्वासो महाबलः।
मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽतिरथो मतः ॥ २ ॥

कुन्तिभोजकुमार राजा पुरुजित् जो भीमसेनके मामा हैं, वे भी महाधनुर्धर और अत्यन्त बलवान् हैं। मैं इन्हें भी अतिरथी मानता हूँ ॥ २ ॥

एष वीरो महेष्वासः कृती च निपुणश्च ह।
चित्रयोधी च शक्तश्च मतो मे रथपुङ्गवः ॥ ३ ॥

इनका धनुष महान् है। ये अस्त्रविद्याके विद्वान् और युद्धकुशल हैं। रथियोंमें श्रेष्ठ वीर पुरुजित् विचित्र युद्ध करनेवाले और शक्तिशाली हैं ॥ ३ ॥

स योत्स्यति हि विक्रम्य मघवानिव दानवैः।
योधा ये चास्य विख्याताः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४ ॥

जैसे इन्द्र दानवोंके साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध करते हैं, उसी प्रकार ये भी शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे। उनके साथ जो सैनिक आये हैं, वे सभी युद्धकी कलामें निपुण और विख्यात वीर हैं ॥ ४ ॥

भागिनेयकृते वीरः स करिष्यति संगरे।
सुमहत् कर्म पाण्डूनां स्थितः प्रियहिते रतः ॥ ५ ॥

वीर पुरुजित् पाण्डवोंके प्रिय एवं हितमें तत्पर हो अपने भानजोंके लिये युद्धमें महान् कर्म करेंगे ॥ ५ ॥

भैमसेनिर्महाराज हैडिम्बो राक्षसेश्वरः।
मतो मे बहुमायावी रथयूथपयूथपः ॥ ६ ॥

महाराज! भीमसेन और हिडिम्बाका पुत्र राक्षसराज घटोत्कच बड़ा मायावी है। वह मेरे मतमें रथयूथपतियोंका भी यूथपति है ॥ ६ ॥

योत्स्यते समरे तात मायावी समरप्रियः।
ये चास्य राक्षसा वीराः सचिवा वशवर्तिनः ॥

उसको युद्ध करना बहुत प्रिय है। तात! वह राक्षस समरभूमिमें उत्साहपूर्वक युद्ध करेगा। उसके जो वीर राक्षस एवं सचिव हैं, वे सब उसीके वशमें रहनेवा

एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः।
समेताः पाण्डवस्यार्थे वासुदेवपुरोगमाः ॥

ये तथा और भी बहुत-से वीर क्षत्रिय जो विभिन्न पदोंके स्वामी हैं और जिनमें श्रीकृष्णका सबसे प्रधान है, पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके लिये यहाँ एकत्र हुए हैं ॥

एते प्राधान्यतो राजन् पाण्डवस्य महात्मनः।
रथाश्चातिरथाश्चैव ये चान्येऽर्धरथा नृप ॥

राजन्! ये महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके मुख्य रथी, अतिरथी और अर्धरथी यहाँ बताये गये हैं ॥ ९ ॥

नेष्यन्ति समरे सेनां भीमां यौधिष्ठिरीं नृप।
महेन्द्रेणेव वीरेण पाल्यमानां किरीटिना ॥

नरेश्वर! देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी किरीटधा वर अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हुई युधिष्ठिरकी भयंकर ये उपर्युक्त वीर समराङ्गणमें संचालन करेंगे ॥ १० ॥

तैरहं समरे वीर मायाविद्भिर्जयैषिभिः।
योत्स्यामि जयमाकाङ्क्षन्नथवा निधनं रणे ॥

वीर! मैं तुम्हारी ओरसे रणभूमिमें उन मायावे विजयाभिलाषी पाण्डव-वीरोंके साथ अपनी विजय मृत्युकी आकाङ्क्षा लेकर युद्ध करूँगा ॥ ११ ॥

वासुदेवं च पार्थं च चक्रगाण्डीवधारिणौ।
संध्यागताविवार्केन्दू समेष्येते रथोत्तमौ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और अर्जुन रथियोंमें वे क्रमशः सुदर्शन चक्र और गाण्डीव धनुष धारण करते वे संध्याकालीन सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति परस्पर जब युद्धमें पधारेंगे, उस समय मैं उनका सामना करूँगा

ये चैव ते रथोदाराः पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः।
सहसैन्यानहं तांश्च प्रतीयां रणमूर्धनि ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके और भी जो-जो श्रेष्ठ रथी उनका और उनकी सेनाओंका मैं युद्धके मुहानेपर सामना

एते रथाश्चातिरथाश्च तुभ्यं
यथाप्रधानं नृप कीर्तिता मया।
तथापरे येऽर्धरथाश्च केचित्
तथैव तेषामपि कौरवेन्द्र ॥ १४ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हारे इन मुख्य-मुख्य रथियों और अतिरथियोंका वर्णन किया है। इनके सिवा, जो कोई अर्धरथी हैं, उनका भी परिचय दिया है। कौरवेन्द्र! इसी प्रकार पाण्डवपक्षके भी रथी आदिका दिग्दर्शन कराया गया है॥

अर्जुनं वासुदेवं च ये चान्ये तत्र पार्थिवाः।
सर्वांस्तान् वारयिष्यामि यावद् द्रक्ष्यामि भारत ॥१५॥

भारत! अर्जुन, श्रीकृष्ण तथा अन्य जो-जो भूपाल हैं, मैं उनमेंसे जितनोंको देखूँगा, उन सबको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा॥

पाञ्चाल्यं तु महाबाहो नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा प्रतियुध्यन्तमाहवे ॥ १६ ॥

परंतु महाबाहो! पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीको धनुषपर बाण चढ़ाये युद्धमें अपना सामना करते देखकर भी मैं नहीं मारूँगा॥ १६ ॥

लोकस्तं वेद यदहं पितुः प्रियचिकीर्षया।
प्राप्तं राज्यं परित्यज्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ॥ १७ ॥

सारा जगत् यह जानता है कि मैं मिले हुए राज्यको पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे ठुकराकर ब्रह्मचर्यके पालनमें दृढ़तापूर्वक लग गया॥ १७ ॥

चित्राङ्गदं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम्।
विचित्रवीर्यं च शिशुं यौवराज्येऽभ्यषेचयम् ॥ १८ ॥

माता सत्यवतीके ज्येष्ठ पुत्र चित्राङ्गदको कौरवोंके राज्यपर और बालक विचित्रवीर्यको युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया था॥ १८ ॥

देवव्रतत्वं विज्ञाप्य पृथिवीं सर्वराजसु।
नैव हन्यां स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कदाचन ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण भूमण्डलमें समस्त राजाओंके यहाँ अपने देवव्रतस्वरूपकी ख्याति कराकर मैं कभी भी किसी स्त्रीको अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुषको भी नहीं मार सकता॥१९॥

स हि स्त्रीपूर्वको राजन् शिखण्डी यदि ते श्रुतः।
कन्या भूत्वा पुमान् जातो न योत्स्ये तेन भारत ॥ २० ॥

राजन्! शायद तुम्हारे सुननेमें आया होगा, शिखण्डी पहले 'स्त्रीरूप' में ही उत्पन्न हुआ था; भारत! पहले कन्या होकर वह फिर पुरुष हो गया था; इसीलिये मैं उससे युद्ध नहीं करूँगा॥ २० ॥

सर्वांस्त्वन्यान् हनिष्यामि पार्थिवान् भरतर्षभ।
यान् समेष्यामि समरे न तु कुन्तीसुतान् नृप ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ! मैं अन्य सब राजाओंको, जिन्हें युद्धमें पाऊँगा, मारूँगा; परंतु कुन्तीके पुत्रोंका वध कदापि नहीं करूँगा॥२१॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७२ ॥

(अम्बोपाख्यानपर्व)

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बोपाख्यानका आरम्भ—भीष्मजीके द्वारा काशिराजकी कन्याओंका अपहरण

दुर्योधन उवाच

किमर्थं भरतश्रेष्ठ नैव हन्याः शिखण्डिनम्।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा समरेष्वाततायिनम् ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जब शिखण्डी धनुषबाण उठाये समरमें आततायीकी भाँति आपको मारने आयेगा, उस समय उसे इस रूपमें देखकर भी आप क्यों नहीं मारेंगे?

पूर्वमुक्त्वा महाबाहो पञ्चालान् सह सोमकैः।
हनिष्यामीति गाङ्गेय तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

महाबाहु गङ्गानन्दन! पितामह! आप पहले तो यह कह चुके हैं कि 'मैं सोमकोंसहित पञ्चालोंका वध करूँगा' (फिर आप शिखण्डीको छोड़ क्यों रहे हैं?) यह मुझे बताइये॥

भीष्म उवाच

शृणु दुर्योधन कथां सहैभिर्वसुधाधिपैः।
यदर्थं युधि सम्प्रेक्ष्य नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—दुर्योधन! मैं जिस कारणसे समराङ्गणमें प्रहार करते देखकर भी शिखण्डीको नहीं मारूँगा, उसकी कथा कहता हूँ, इन भूमिपालोंके साथ सुनो॥ ३ ॥

महाराजो मम पिता शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
दिष्टान्तमाप धर्मात्मा समये भरतर्षभ ॥ ४ ॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रतिज्ञां परिपालयन्।
चित्राङ्गदं भ्रातरं वै महाराज्येऽभ्यषेचयम् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! मेरे धर्मात्मा पिता लोकविख्यात महाराज शान्तनुका जब निधन हो गया, उस समय अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए मैंने भाई चित्राङ्गदको इस महान् राज्यपर अभिषिक्त कर दिया॥ ४-५ ॥

तस्मिंश्च निधनं प्राप्ते सत्यवत्या मते स्थितः।
विचित्रवीर्यं राजानमभ्यषिञ्चं यथाविधि ॥ ६ ॥

तदनन्तर जब चित्राङ्गदकी भी मृत्यु हो गयी, तब माता सत्यवतीकी सम्मतिसे मैंने विधिपूर्वक विचित्रवीर्यका राजाके पदपर अभिषेक किया॥ ६ ॥

मयाभिषिक्तो राजेन्द्र यवीयानपि धर्मतः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा मामेव समुदैक्षत ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! छोटे होनेपर भी मेरे द्वारा अभिषिक्त होकर धर्मात्मा विचित्रवीर्य धर्मतः मेरी ही ओर देखा करते थे अर्थात् मेरी सम्मतिसे ही सारा राजकार्य करते थे ॥ ७ ॥

तस्य दारक्रियां तात चिकीर्षुरहमप्युत ।
अनुरूपादिव कुलादित्येव च मनो दधे ॥ ८ ॥

तात ! तब मैंने अपने योग्य कुलसे कन्या लाकर उनका विवाह करनेका निश्चय किया ॥ ८ ॥

तथाश्रौषं महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वयंवराः ।
रूपेणाप्रतिमाः सर्वाः काशिराजसुतास्तदा ।
अम्बां चैवाम्बिकां चैव तथैवाम्बालिकामपि ॥ ९ ॥

महाबाहो ! उन्हीं दिनों मैंने सुना कि काशिराजकी तीन कन्याएँ हैं, जो सब-की-सब अप्रतिम रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित हैं और वे स्वयंवर-सभामें स्वयं ही पतिका चुनाव करनेवाली हैं । उनके नाम हैं अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका ॥९॥

राजानश्च समाहूताः पृथिव्यां भरतर्षभ ।
अम्बा ज्येष्ठाभवत् तासामम्बिका त्वथ मध्यमा ॥ १० ॥
अम्बालिका च राजेन्द्र राजकन्या यवीयसी ।
सोऽहमेकरथेनैव गतः काशिपतेः पुरीम् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजेन्द्र ! उन तीनोंके स्वयंवरके लिये भूमण्डलके सम्पूर्ण नरेश आमन्त्रित किये गये थे । उनमें अम्बा सबसे बड़ी थी, अम्बिका मझली थी और राजकन्या अम्बालिका सबसे छोटी थी । स्वयंवरका समाचार पाकर मैं एक ही रथके द्वारा काशिराजके नगरमें गया ॥ १०-११ ॥

अपश्यं ता महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वलंकृताः ।
राज्ञश्चैव समाहूतान् पार्थिवान् पृथिवीपते ॥ १२ ॥

महाबाहो ! वहाँ पहुँचकर मैंने वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हुई उन तीनों कन्याओंको देखा । पृथ्वीपते ! वहाँ उसी समय आमन्त्रित होकर आये हुए सम्पूर्ण राजाओंपर भी मेरी दृष्टि पड़ी ॥

ततोऽहं तान् नृपान् सर्वानाहूय समरे स्थितान् ।
रथमारोपयांचक्रे कन्यास्ता भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मैंने युद्धके लिये खड़े हुए उन समस्त राजाओंको ललकारकर उन तीनों कन्याओंको अपने रथपर बैठा लिया ॥ १३ ॥

वीर्यशुल्काश्च ता ज्ञात्वा समारोप्य रथं तदा ।
अवोचं पार्थिवान् सर्वानहं तत्र समागतान् ।
भीष्मः शान्तनवः कन्या हरतीति पुनः पुनः ॥ १४ ॥
ते यतध्वं परं शक्त्या सर्वे मोक्षाय पार्थिवाः ।
प्रसह्य हि हराम्येष मिषतां वो नरर्षभाः ॥ १५ ॥

पराक्रम ही इन कन्याओंका शुल्क है, यह जानकर उन्हें रथपर चढ़ा लेनेके पश्चात् मैंने वहाँ आये हुए समस्त भूपालोंसे कहा—'नरश्रेष्ठ राजाओ ! शान्तनुपुत्र भीष्म इन राजकन्याओंका अपहरण कर रहा है, तुम सब लोग पूरी श लगाकर इन्हें छुड़ानेका प्रयत्न करो; क्योंकि मैं तुम्हारे दे देखते बलपूर्वक इन्हें लिये जाता हूँ'; इस बातको बारंबार दुहराया ॥ १४-१५ ॥

ततस्ते पृथिवीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः ।
योगो योग इति क्रुद्धाः सारथीनभ्यचोदयन् ॥ १

फिर तो वे महीपाल कुपित हो हाथमें हथियार लिये पड़े और अपने सारथियोंको 'रथ तैयार करो, रथ तै करो' इस प्रकार आदेश देने लगे ॥ १६ ॥

ते रथैर्गजसंकाशैर्गजैश्च गजयोधिनः ।
पुष्टैश्चाश्वैर्महीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः ॥ १७

वे राजा हाथियोंके समान विशाल रथों, हाथियों औ हृष्ट-पुष्ट अश्वोंपर सवार हो अस्त्र-शस्त्र लिये मुझपर आक्र करने लगे । उनमेंसे कितने ही हाथियोंपर सवार होकर यु करनेवाले थे ॥ १७ ॥

ततस्ते मां महीपालाः सर्व एव विशाम्पते ।
रथव्रातेन महता सर्वतः पर्यवारयन् ॥ १८

प्रजानाथ ! तदनन्तर उन सब नरेशोंने विशाल र समूहद्वारा मुझे सब ओरसे घेर लिया ॥ १८ ॥

तानहं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयम् ।
सर्वान् नृपांश्चाप्यजयं देवराडिव दानवान् ॥ १९

तब मैंने भी बाणोंकी वर्षा करके चारों ओरसे उनक प्रगति रोक दी और जैसे देवराज इन्द्र दानवोंपर विजय पा हैं, उसी प्रकार मैंने भी उन सब नरेशोंको जीत लिया ॥१९

अपातयं शरैर्दीप्तैः प्रहसन् भरतर्षभ ।
तेषामापततां चित्रान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् ॥ २०

भरतश्रेष्ठ ! जिस समय उन्होंने आक्रमण किया उस समय मैंने प्रज्वलित बाणोंद्वारा हँसते-हँसते उनके स्व भूषित विचित्र ध्वजोंको काट गिराया ॥ २० ॥

एकैकेन हि बाणेन भूमौ पातितवानहम् ।
हयांस्तेषां गजांश्चैव सारथींश्चाप्यहं रणे ॥ २१

फिर एक-एक बाण मारकर मैंने समरभूमिमें उनके घोड़ों, हाथियों और सारथियोंको भी धराशायी कर दिया ॥ २१

ते निवृत्ताश्च भग्नाश्च दृष्ट्वा तल्लाघवं मम ।
(प्रणिपेतुश्च सर्वे वै प्रशशंसुश्च पार्थिवाः ।
तत आदाय ताः कन्या नृपतींश्च विसृज्य तान् ॥)
अथाहं हास्तिनपुरमायां जित्वा महीक्षितः ॥ २२

मेरे हाथोंकी वह फुर्ती देखकर वे पीछे हटने और भागने लगे । वे सब भूपाल नतमस्तक हो गये और मेरी प्रशंसा करने लगे । तत्पश्चात् मैं राजाओंको परास्त करके उन सबको वहीं छोड़ तीनों कन्याओंको साथ ले हस्तिनापुरमें आया ॥ २२

ततोऽहं ताश्च कन्या वै भ्रातुरर्थाय भारत ।

तच्च कर्म महाबाहो सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ २३ ॥

महाबाहु भरतनन्दन ! फिर मैंने उन कन्याओंको अपने भाईसे ब्याहनेके लिये माता सत्यवतीको सौंप दिया और अपना वह पराक्रम भी उन्हें बताया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कन्याहरणे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें कन्याहरणविषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका शाल्वराजके प्रति अपना अनुराग प्रकट करके उनके पास जानेके लिये भीष्मसे आज्ञा माँगना

भीष्म उवाच

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ मातरं वीरमातरम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य दाशेयीमिदमब्रुवम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मैंने वीरजननी दाशराजकी कन्या माता सत्यवतीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

इमाः काशिपतेः कन्या मया निर्जित्य पार्थिवान् ।
विचित्रवीर्यस्य कृते वीर्यशुल्का हृता इति ॥ २ ॥

'माँ ! ये काशिराजकी कन्याएँ हैं । पराक्रम ही इनका शुल्क था । इसलिये मैं समस्त राजाओंको जीतकर भाई विचित्रवीर्यके लिये इन्हें हर लाया हूँ' ॥ २ ॥

ततो मूर्धन्युपाघ्राय पर्यश्रुनयना नृप ।
आह सत्यवती हृष्टा दिष्ट्या पुत्र जितं त्वया ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! यह सुनकर माता सत्यवतीके नेत्रोंमें हर्षके आँसू छलक आये । उन्होंने मेरा मस्तक सूँघकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—'बेटा ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम विजयी हुए' ॥

सत्यवत्यास्त्वनुमते विवाहे समुपस्थिते ।
उवाच वाक्यं सव्रीडा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ॥ ४ ॥

सत्यवतीकी अनुमतिसे जब विवाहका कार्य उपस्थित हुआ, तब काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बाने कुछ लज्जित होकर मुझसे कहा—॥ ४ ॥

भीष्म त्वमसि धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
श्रुत्वा च वचनं धर्म्यं मह्यं कर्तुमिहार्हसि ॥ ५ ॥

'भीष्म ! तुम धर्मके ज्ञाता और सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हो । मेरी बात सुनकर मेरे साथ धर्मपूर्ण बर्ताव करना चाहिये ॥ ५ ॥

मया शाल्वपतिः पूर्वं मनसाभिवृतो वरः ।
तेन चास्मि वृता पूर्वं रहस्यविदिते पितुः ॥ ६ ॥

'मैंने अपने मनसे पहले शाल्वराजको अपना पति चुन लिया है और उन्होंने भी एकान्तमें मेरा वरण कर लिया है । यह पहलेकी बात है, जो मेरे पिताको भी ज्ञात नहीं है ॥ ६ ॥

कथं मामन्यकामां त्वं राजधर्ममतीत्य वै ।
वासयेथा गृहे भीष्म कौरवः सन् विशेषतः ॥ ७ ॥

'भीष्म ! मैं दूसरेकी कामना करनेवाली राजकन्या हूँ । तुम विशेषतः कुरुवंशी होकर राजधर्मका उल्लङ्घन करके मुझे अपने घरमें कैसे रक्खोगे ? ॥ ७ ॥

एतद् बुद्ध्या विनिश्चित्य मनसा भरतर्षभ ।
यत् क्षमं ते महाबाहो तदिहारब्धुमर्हसि ॥ ८ ॥

'महाबाहु भरतश्रेष्ठ ! अपनी बुद्धि और मनसे इस विषयमें निश्चित विचार करके तुम्हें जो उचित प्रतीत हो, वही करना चाहिये ॥ ८ ॥

स मां प्रतीक्षते व्यक्तं शाल्वराजो विशाम्पते ।
तस्मान्मां त्वं कुरुश्रेष्ठ समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

'प्रजानाथ ! शाल्वराज निश्चय ही मेरी प्रतीक्षा करते होंगे; अतः कुरुश्रेष्ठ ! तुम्हें मुझे उनकी सेवामें जानेकी आज्ञा देनी चाहिये ॥ ९ ॥

कृपां कुरु महाबाहो मयि धर्मभृतां वर ।
त्वं हि सत्यव्रतो वीर पृथिव्यामिति नः श्रुतम् ॥ १० ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! महाबाहु वीर ! मुझपर कृपा करो । मैंने सुना है कि इस पृथ्वीपर तुम सत्यव्रती महात्मा हो' ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बावाक्ये चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बावाक्यविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका शाल्वके यहाँ जाना और उससे परित्यक्त होकर तापसोंके आश्रममें आना, वहाँ शैखावत्य और अम्बाका संवाद

भीष्म उवाच

ततोऽहं समनुज्ञाप्य कालीं गन्धवतीं तदा ।
मन्त्रिणश्चर्त्विजश्चैव तथैव च पुरोहितान् ॥ १ ॥
समनुज्ञासिषं कन्यामम्बां ज्येष्ठां नराधिप ।

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! तब मैंने माता गन्धवती कालीसे आज्ञा ले मन्त्रियों, ऋत्विजों तथा पुरोहितोंसे पूछकर बड़ी राजकुमारी अम्बाको जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १½ ॥

अनुज्ञाता ययौ सा तु कन्या शाल्वपतेः पुरम् ॥ २ ॥

वृद्धैर्द्विजातिभिर्गुप्ता धात्र्या चानुगता तदा।
अतीत्य च तमध्वानमासाद्य नृपतिं तथा ॥ ३ ॥
सा तमासाद्य राजानं शाल्वं वचनमब्रवीत्।
आगताहं महाबाहो त्वामुद्दिश्य महामते ॥ ४ ॥

आज्ञा पाकर राजकन्या अम्बा वृद्ध ब्राह्मणोंके संरक्षणमें रहकर शाल्वराजके नगरकी ओर गयी। उसके साथ उसकी धाय भी थी। उस मार्गको लाँघकर वह राजाके यहाँ पहुँच गयी और शाल्वराजसे मिलकर इस प्रकार बोली—'महाबाहो! महामते! मैं तुम्हारे पास ही आयी हूँ ॥ २-४ ॥

(अभिनन्दस्व मां राजन् सदा प्रियहिते रताम्।
प्रतिपादय मां राजन् धर्मार्थं चैव धर्मतः ॥
त्वं हि मनसा ध्यातस्त्वया चाप्युपमन्त्रिता ॥)

'राजन्! मैं सदा तुम्हारे प्रिय और हितमें तत्पर रहनेवाली हूँ। मुझे अपनाकर आनन्दित करो। नरेश्वर! मुझे धर्मानुसार ग्रहण करके धर्मके लिये ही अपने चरणोंमें स्थान दो। मैंने मन-ही-मन सदा तुम्हारा ही चिन्तन किया है और तुमने भी एकान्तमें मेरे साथ विवाहका प्रस्ताव किया था' ॥

तामब्रवीच्छाल्वपतिः स्मयन्निव विशाम्पते।
त्वयान्यपूर्वया नाहं भार्यार्थी वरवर्णिनि ॥ ५ ॥

प्रजानाथ! अम्बाकी बात सुनकर शाल्वराजने मुसकराते हुए-से कहा—'सुन्दरी! तुम पहले दूसरेकी हो चुकी हो; अतः तुम्हारी-जैसी स्त्रीके साथ विवाह करनेकी मेरी इच्छा नहीं है।५।

गच्छ भद्रे पुनस्तत्र सकाशं भीष्मकस्य वै।
नाहमिच्छामि भीष्मेण गृहीतां त्वां प्रसह्य वै ॥ ६ ॥

'भद्रे! तुम पुनः वहाँ भीष्मके ही पास जाओ। भीष्मने तुम्हें बलपूर्वक पकड़ लिया था, अतः अब तुम्हें मैं अपनी पत्नी बनाना नहीं चाहता ॥ ६ ॥

त्वं हि भीष्मेण निर्जित्य नीता प्रीतिमती तदा।
परामृश्य महायुद्धे निर्जित्य पृथिवीपतीन् ॥ ७ ॥

'भीष्मने उस महायुद्धमें समस्त भूपालोंको हराकर तुम्हें जीता और तुम्हें उठाकर वे अपने साथ ले गये। तुम उस समय उनके साथ प्रसन्न थीं ॥ ७ ॥

नाहं त्वय्यन्यपूर्वायां भार्यार्थी वरवर्णिनि।
कथमस्मद्विधो राजा परपूर्वां प्रवेशयेत् ॥ ८ ॥
नारीं विदितविज्ञानः परेषां धर्ममादिशन्।
यथेष्टं गम्यतां भद्रे मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ॥९॥

'वरवर्णिनि! जो पहले औरकी हो चुकी हो, ऐसी स्त्रीको मैं अपनी पत्नी बनाऊँ, यह मेरी इच्छा नहीं है। जिस नारीपर पहले किसी दूसरे पुरुषका अधिकार हो गया हो, उसे सारी बातोंको ठीक-ठीक जाननेवाला मेरे-जैसा राजा जो दूसरोंको धर्मका उपदेश करता है, कैसे अपने घरमें प्रविष्ट करायेगा। भद्रे! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ। तुम्हारा यह समय यहाँ व्यर्थ न बीते' ॥ ८-९ ॥

अम्बा तमब्रवीद् राजन्ननङ्गशरपीडिता।
नैवं वद महीपाल नैतदेवं कथंचन ॥ १० ॥
नास्मि प्रीतिमती नीता भीष्मेणामित्रकर्शन।
बलान्नीतास्मि रुदती विद्राव्य पृथिवीपतीन् ॥

राजन्! यह सुनकर कामदेवके बाणोंसे पीड़ि अम्बा शाल्वराजसे बोली—'भूपाल! तुम किसी तरह भी बात मुँहसे न निकालो। शत्रुसूदन! मैं भीष्मके साथ प्र पूर्वक नहीं गयी थी। उन्होंने समस्त राजाओंको ख बलपूर्वक मेरा अपहरण किया था और मैं रोती उनके साथ गयी थी ॥ १०-११ ॥

भजस्व मां शाल्वपते भक्तां बालामनागसम्।
भक्तानां हि परित्यागो न धर्मेषु प्रशस्यते ॥

'शाल्वराज! मैं निरपराध अबला हूँ। तुम्हारे प्रति अ हूँ। मुझे स्वीकार करो; क्योंकि भक्तोंका परित्याग भी धर्ममें अच्छा नहीं बताया गया है ॥ १२ ॥

साहमामन्त्र्य गाङ्गेयं समरेष्वनिवर्तिनम्।
अनुज्ञाता च तेनैव ततोऽहं भृशमागता ॥

'युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले गङ्गानन्दन भी पूछकर, उनकी आज्ञा लेकर अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ मैं आयी हूँ ॥ १३ ॥

न स भीष्मो महाबाहुर्मामिच्छति विशाम्पते।
भ्रातृहेतोः समारम्भो भीष्मस्येति श्रुतं मया ॥

'राजन्! महाबाहु भीष्म मुझे नहीं चाहते। उनका आयोजन अपने भाईके विवाहके लिये था, ऐसा मैंने सुना है

भगिन्यौ मम ये नीते अम्बिकाम्बालिके नृप।
प्रादाद् विचित्रवीर्याय गाङ्गेयो हि यवीयसे ॥

'नरेश्वर! भीष्म जिन मेरी दो बहिनों—अम्बिका अम्बालिकाको हरकर ले गये थे, उन्हें उन्होंने अपने भाई विचित्रवीर्यको ब्याह दिया है ॥ १५ ॥

यथा शाल्वपते नान्यं वरं ध्यामि कथंचन।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र तथा मूर्धानमालभे ॥

'पुरुषसिंह शाल्वराज! मैं अपना मस्तक छूकर क हूँ; तुम्हारे सिवा दूसरे किसी वरका मैं किसी प्रकार भी चि नहीं करती हूँ ॥ १६ ॥

न चान्यपूर्वा राजेन्द्र त्वामहं समुपस्थिता।
सत्यं ब्रवीमि शाल्वैतत् सत्येनात्मानमालभे ॥

'राजेन्द्र शाल्व! मुझपर किसी भी दूसरे पुरुषका प कभी अधिकार नहीं रहा है। मैं स्वेच्छापूर्वक पहले तुम्हारी ही सेवामें उपस्थित हुई हूँ। यह मैं सत्य कहती और इस सत्यके द्वारा ही इस शरीरकी शपथ खाती हूँ ॥

भजस्व मां विशालाक्ष स्वयं कन्यामुपस्थिताम्।
अनन्यपूर्वां राजेन्द्र त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणीम् ॥

'विशाल नेत्रोंवाले महाराज! मैंने आजसे पहले कि दूसरे पुरुषको अपना पति नहीं समझा है। मैं तुम्हारी कृपा अभिलाषा रखती हूँ। स्वयं ही अपनी सेवामें उपस्थि हुई मुझ कुमारी कन्याको धर्मपत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये'

तामेवं भाषमाणां तु शाल्वः काशिपतेः सुताम् ।
अत्यजद् भरतश्रेष्ठ जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार अनुनय-विनय करती हुई काशिराजकी उस कन्याको शाल्वने उसी प्रकार त्याग दिया, जैसे सर्प पुरानी केंचुलको छोड़ देता है ॥ १९ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानस्तया नृपः ।
नाश्रद्दधच्छाल्वपतिः कन्यायां भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतभूषण ! इस तरह नाना प्रकारके वचनोंद्वारा बार-बार याचना करनेपर भी शाल्वराजने उस कन्याकी बातोंपर विश्वास नहीं किया ॥ २० ॥

ततः सा मन्युनाऽऽविष्टा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ।
अब्रवीत् साश्रुनयना बाष्पविप्लुतया गिरा ॥ २१ ॥

तब काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बा क्रोध एवं दुःखसे व्याप्त हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई अश्रुगद्गद वाणीमें बोली—॥

त्वया त्यक्ता गमिष्यामि यत्र तत्र विशाम्पते ।
तत्र मे गतयः सन्तु सन्तः सत्यं यथा ध्रुवम् ॥ २२ ॥

‘राजन् ! यदि मेरी कही बात निश्चितरूपसे सत्य हो तो तुमसे परित्यक्त होनेपर मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, वहाँ-वहाँ साधु पुरुष मुझे सहारा देनेवाले हों’ ॥ २२ ॥

एवं तां भाषमाणां तु कन्यां शाल्वपतिस्तदा ।
परितत्याज कौरव्य करुणं परिदेवतीम् ॥ २३ ॥

कुरुनन्दन ! राजकन्या अम्बा करुणस्वरसे विलाप करती हुई इसी प्रकार कितनी ही बातें कहती रही; परंतु शाल्वराजने उसे सर्वथा त्याग दिया ॥ २३ ॥

गच्छ गच्छेति तां शाल्वः पुनः पुनरभाषत ।
बिभेमि भीष्मात् सुश्रोणि त्वं च भीष्मपरिग्रहः ॥ २४ ॥

शाल्वने बारंबार उससे कहा—‘सुश्रोणि ! तुम जाओ, चली जाओ, मैं भीष्मसे डरता हूँ । तुम भीष्मके द्वारा ग्रहण की हुई हो’ ॥ २४ ॥

एवमुक्ता तु सा तेन शाल्वेनादीर्घदर्शिना ।
निश्चक्राम पुराद् दीना रुदती कुररी यथा ॥ २५ ॥

अदूरदर्शी शाल्वके ऐसा कहनेपर अम्बा कुररीकी भाँति दीनभावसे रुदन करती हुई उस नगरसे निकल गयी ॥ २५ ॥

भीष्म उवाच

निष्क्रामन्ती तु नगराच्चिन्तयामास दुःखिता ।
पृथिव्यां नास्ति युवतिर्विषमस्थतरा मया ॥ २६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नगरसे निकलते समय वह दुःखिनी नारी इस प्रकार चिन्ता करने लगी—‘इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसी युवती नहीं होगी, जो मेरे समान भारी संकटमें पड़ गयी हो ॥ २६ ॥

बन्धुभिर्विप्रहीणास्मि शाल्वेन च निराकृता ।
न च शक्यं पुनर्गन्तुं मया वारणसाह्वयम् ॥ २७ ॥

‘भाई-बन्धुओंसे तो दूर हो ही गयी हूँ । राजा शाल्वने भी मुझे त्याग दिया है । अब मैं हस्तिनापुरमें भी नहीं जा सकती ॥ २७ ॥

अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वमुद्दिश्य कारणम् ।
किं नु गर्हाम्यथात्मानमथ भीष्मं दुरासदम् ॥ २८ ॥

‘क्योंकि शाल्वके अनुरागको कारण बताकर मैंने भीष्मसे यहाँ आनेकी आज्ञा ली थी । अब मैं अपनी ही निन्दा करूँ या उस दुर्जय वीर भीष्मको कोसूँ ? ॥ २८ ॥

अथवा पितरं मूढं यो मेऽकार्षीत् स्वयंवरम् ।
मयायं स्वकृतो दोषो याहं भीष्मरथात् तदा ॥ २९ ॥
प्रवृत्ते दारुणे युद्धे शाल्वार्थं नापतं पुरा ।

‘अथवा अपने मूढ़ पिताको दोष दूँ, जिन्होंने मेरा स्वयंवर किया । मेरे द्वारा सबसे बड़ा दोष यह हुआ है कि पूर्वकालमें जिस समय वह भयंकर युद्ध चल रहा था, उसी समय मैं शाल्वके लिये भीष्मके रथसे कूद नहीं पड़ी ॥ २९½ ॥

तस्येयं फलनिर्वृत्तिर्यदापन्नास्मि मूढवत् ॥ ३० ॥
धिग् भीष्मं धिक् च मे मन्दं पितरं मूढचेतसम् ।
येनाहं वीर्यशुल्केन पण्यस्त्रीव प्रचोदिता ॥ ३१ ॥

‘उसीका यह फल प्राप्त हुआ है कि मैं एक मूर्ख स्त्रीकी भाँति भारी आपत्तिमें पड़ गयी हूँ । भीष्मको धिक्कार है, विवेकशून्य हृदयवाले मेरे मन्दबुद्धि पिताको भी धिक्कार है, जिन्होंने पराक्रमका शुल्क नियत करके मुझे बाजारू स्त्रीकी भाँति जनसमूहमें निकलनेकी आज्ञा दी ॥ ३०-३१ ॥

धिङ्मां धिक् शाल्वराजानं धिग् धातारमथापि वा ।
येषां दुर्नीतभावेन प्राप्तास्म्यापदमुत्तमाम् ॥ ३२ ॥

‘मुझे धिक्कार है, शाल्वराजको धिक्कार है और विधाताको भी धिक्कार है, जिनकी दुर्नीतियोंसे मैं इस भारी विपत्तिमें फँस गयी हूँ ॥ ३२ ॥

सर्वथा भागधेयानि स्वानि प्राप्नोति मानवः ।
अनयस्यास्य तु मुखं भीष्मः शान्तनवो मम ॥ ३३ ॥

‘मनुष्य सर्वथा वही पाता है जो उसके भाग्यमें होता है । मुझपर जो यह अन्याय हुआ है, उसका मुख्य कारण शान्तनुनन्दन भीष्म हैं ॥ ३३ ॥

सा भीष्मे प्रतिकर्तव्यमहं पश्यामि साम्प्रतम् ।
तपसा वा युधा वापि दुःखहेतुः स मे मतः ॥ ३४ ॥

‘अतः इस समय तपस्या अथवा युद्धके द्वारा भीष्मसे ही बदला लेना मुझे उचित दिखायी देता है; क्योंकि मेरे दुःखके प्रधान कारण वे ही हैं ॥ ३४ ॥

को नु भीष्मं युधा जेतुमुत्सहेत महीपतिः ।
एवं सा परिनिश्चित्य जगाम नगराद् बहिः ॥ ३५ ॥

‘परंतु कौन ऐसा राजा है जो युद्धके द्वारा भीष्मको परास्त कर सके ।’ ऐसा निश्चय करके वह नगरसे बाहर चली गयी ॥

आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्मनाम् ।
ततस्तामवसद् रात्रिं तापसैः परिवारिता ॥ ३६ ॥

उसने पुण्यशील तपस्वी महात्माओंके आश्रमपर जाकर वहीं वह रात बितायी । उस आश्रममें तपस्वीलोगोंने सब

ओरसे घेरकर उसकी रक्षा की थी ॥ ३६ ॥

आचख्यौ च यथावृत्तं सर्वमात्मनि भारत ।
विस्तरेण महाबाहो निखिलेन शुचिस्मिता ।
हरणं च विसर्गं च शाल्वेन च विसर्जनम् ॥ ३७ ॥

महाबाहु भरतनन्दन ! पवित्र मुसकानवाली अम्बाने अपने ऊपर बीता हुआ सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक उन महात्माओंसे बताया । किस प्रकार उसका अपहरण हुआ ? कैसे भीष्मसे छुटकारा मिला ? और फिर किस प्रकार शाल्वने उसे त्याग दिया, ये सारी बातें उसने कह सुनायीं ॥ ३७ ॥

ततस्तत्र महानासीद् ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
शैखावत्यस्तपोवृद्धः शास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ३८ ॥

उस आश्रममें कठोर व्रतका पालन करनेवाले शैखावत्य नामसे प्रसिद्ध एक तपोवृद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते थे, जो शास्त्र और आरण्यक आदिकी शिक्षा देनेवाले सद्गुरु थे ॥ ३८ ॥

आर्तां तामाह स मुनिः शैखावत्यो महातपाः ।
निःश्वसन्तीं सतीं बालां दुःखशोकपरायणाम् ॥ ३९ ॥

महातपस्वी शैखावत्य मुनिने वहाँ सिसकती हुई उस दुःखशोकपरायणा सती साध्वी आर्त अबलासे कहा—॥ ३९ ॥

एवं गते तु किं भद्रे शक्यं कर्तुं तपस्विभिः ।
आश्रमस्थैर्महाभागे तपोयुक्तैर्महात्मभिः ॥ ४० ॥

'भद्रे ! महाभागे ! ऐसी दशामें इस आश्रममें निवास करनेवाले तपःपरायण तपोधन महात्मा तुम्हारा क्या सहयोग कर सकते हैं ?' ॥ ४० ॥

सा त्वेनमब्रवीद् राजन् क्रियतां मदनुग्रहः ।
प्राव्राज्यमहमिच्छामि तपस्तप्स्यामि दुश्चरम् ॥

राजन् ! तब अम्बाने उनसे कहा—'भगवन् ! अनुग्रह कीजिये । मैं संन्यासियोंका-सा धर्म पालन करना हूँ । यहाँ रहकर दुष्कर तपस्या करूँगी ॥ ४१ ॥

मयैव यानि कर्माणि पूर्वदेहे तु मूढया ।
कृतानि नूनं पापानि तेषामेतत् फलं ध्रुवम् ॥

'मुझ मूढ़ नारीने अपने पूर्वजन्मके शरीरसे जो किये थे, अवश्य ही उन्हींका यह दुःखदायक फल प्राप्त

नोत्सहे तु पुनर्गन्तुं स्वजनं प्रति तापसाः ।
प्रत्याख्याता निरानन्दा शाल्वेन च निराकृता ॥

'तपस्वी महात्माओ ! अब मैं अपने स्वजनोंके यहाँ नहीं लौट सकती; क्योंकि राजा शाल्वने मुझे कोरा देकर त्याग दिया है, उससे मेरा सारा जीवन आनन्द (दुःखमय) हो गया है ॥ ४३ ॥

उपदिष्टमिहेच्छामि तापस्यं वीतकल्मषाः ।
युष्माभिर्देवसंकाशैः कृपा भवतु वो मयि ॥

'निष्पाप तापसगण ! मैं चाहती हूँ कि आप देवोपम पुरुष मुझे तपस्याका उपदेश दें, मुझपर आपलोगोंकी कृपा

स तामाश्वासयत् कन्यां दृष्टान्तागमहेतुभिः ।
सान्त्वयामास कार्यं च प्रतिजज्ञे द्विजैः सह ॥

तब शैखावत्य मुनिने लौकिक दृष्टान्तों, शास्त्रीय तथा युक्तियोंद्वारा उस कन्याको आश्वासन देकर धैर्य बँ और ब्राह्मणोंके साथ मिलकर उसके कार्य-साधनके प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा की ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शैखावत्याम्बासंवादे पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शैखावत्य तथा अम्बाका संवादविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तापसोंके आश्रममें राजर्षि होत्रवाहन और अकृतव्रणका आगमन तथा उनसे अम्बाकी बातचीत

भीष्म उवाच

ततस्ते तापसाः सर्वे कार्यवन्तोऽभवंस्तदा ।
तां कन्यां चिन्तयन्तस्ते किं कार्यमिति धर्मिणः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे सब धर्मात्मा तपस्वी उस कन्याके विषयमें चिन्ता करते हुए यह सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिये ? उस समय वे उसके लिये कुछ करनेको उद्यत थे ॥ १ ॥

केचिदाहुः पितुर्वेश्म नीयतामिति तापसाः ।
केचिदस्मदुपालम्भे मतिं चक्रुर्हि तापसाः ॥ २ ॥

कुछ तपस्वी यह कहने लगे कि इस राजकन्याको इसके पिताके घर पहुँचा दिया जाय । कुछ तापसोंने मुझे उलाहना देनेका निश्चय किया ॥ २ ॥

केचिच्छाल्वपतिं गत्वा नियोज्यमिति मेनिरे ।
नेति केचिद् व्यवस्यन्ति प्रत्याख्याता हि तेन सा ॥

कुछ लोग यह सम्मति प्रकट करने लगे कि शाल्वराजको बाध्य करना चाहिये कि वह इसे स्वीकार और कुछ लोगोंने यह निश्चय प्रकट किया था कि ऐसा सम्भव नहीं है; क्योंकि उसने इस कन्याको कोरा देकर ग्रहण करनेसे इन्कार कर दिया है ॥ ३ ॥

एवं गते तु किं शक्यं भद्रे कर्तुं मनीषिभिः ।
पुनरूचुश्च तां सर्वे तापसाः संशितव्रताः ॥

'भद्रे ! ऐसी स्थितिमें मनीषी तापस क्या कर सकते ऐसा कहकर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले सभी उस राजकन्यासे फिर बोले—॥ ४ ॥

अलं प्रव्रजितेनेह भद्रे शृणु हितं वचः ।
इतो गच्छस्व भद्रं ते पितुरेव निवेशनम् ॥

प्रतिपत्स्यति राजा स पिता ते यदनन्तरम् ।
तत्र वत्स्यसि कल्याणि सुखं सर्वगुणान्विता ॥ ६ ॥

'भद्रे ! घर त्यागकर संन्यासियोंके-से धर्माचरणमें संलग्न होनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम हमारा हितकर वचन सुनो, तुम्हारा कल्याण हो। यहाँसे पिताके घरको ही चली जाओ। इसके बाद जो आवश्यक कार्य होगा, उसे तुम्हारे पिता काशिराज सोचे-समझेंगे । कल्याणि ! तुम वहाँ सर्वगुणसम्पन्न होकर सुखसे रह सकोगी ॥५-६॥

न च तेऽन्या गतिर्न्याय्या भवेद् भद्रे यथा पिता ।
पतिर्वापि गतिर्नार्याः पिता वा वरवर्णिनि ॥ ७ ॥

'भद्रे ! तुम्हारे लिये पिताका आश्रय लेना जैसा न्यायसंगत है, वैसा दूसरा कोई सहारा नहीं है। वरवर्णिनि ! नारीके लिये पति अथवा पिता ही गति (आश्रय) है ॥७॥

गतिः पतिः समस्थाया विषमे च पिता गतिः ।
प्रव्रज्या हि सुदुःखेयं सुकुमार्या विशेषतः ॥ ८ ॥

'सुखकी परिस्थितिमें नारीके लिये पति आश्रय होता है और संकटकालमें उसके लिये पिताका आश्रय लेना उत्तम है। विशेषतः तुम सुकुमारी हो, अतः तुम्हारे लिये यह प्रव्रज्या (गृहत्याग) अत्यन्त दुःखसाध्य है ॥ ८ ॥

राजपुत्र्याः प्रकृत्या च कुमार्यास्तव भामिनि ।
भद्रे दोषा हि विद्यन्ते बहवो वरवर्णिनि ॥ ९ ॥
आश्रमे वै वसन्त्यास्ते न भवेयुः पितुर्गृहे ।

'भामिनि ! एक तो तुम राजकुमारी और दूसरे स्वभावतः सुकुमारी हो, अतः सुन्दरी ! यहाँ आश्रममें तुम्हारे रहनेसे अनेक दोष प्रकट हो सकते हैं। पिताके घरमें वे दोष नहीं प्राप्त होंगे' ॥९½॥

ततस्त्वन्येऽब्रुवन् वाक्यं तापसास्तां तपस्विनीम् ॥१०॥
त्वामिहैकाकिनीं दृष्ट्वा निर्जने गहने वने ।
प्रार्थयिष्यन्ति राजानस्तस्मान्मैवं मनः कृथाः ॥ ११ ॥

तदनन्तर दूसरे तापसोंने उस तपस्विनीसे कहा—'इस निर्जन गहन वनमें तुम्हें अकेली देख कितने ही राजा तुमसे प्रणय-प्रार्थना करेंगे, अतः तुम इस प्रकार तपस्या करनेका विचार न करो' ॥ १०–११ ॥

अम्बोवाच

न शक्यं काशिनगरं पुनर्गन्तुं पितुर्गृहान् ।
अवज्ञाता भविष्यामि बान्धवानां न संशयः ॥ १२ ॥

अम्बा बोली—तापसो ! अब मेरे लिये पुनः काशिनगरमें पिताके घर लौट जाना असम्भव है; क्योंकि वहाँ मुझे बन्धु-बान्धवोंमें अपमानित होकर रहना पड़ेगा ॥१२॥

उषितास्मि तथा बाल्ये पितुर्वेश्मनि तापसाः ।
नाहं गमिष्ये भद्रं वस्तत्र यत्र पिता मम ।
तपस्तप्तुमभीप्सामि तापसैः परिरक्षिता ॥ १३ ॥

तापसो ! मैं बाल्यावस्थामें पिताके घर रह चुकी हूँ। आपका कल्याण हो। अब मैं वहाँ नहीं जाऊँगी, जहाँ मेरे पिता होंगे। मैं आप तपस्वी जनोंद्वारा सुरक्षित होकर यहाँ तपस्या करनेकी ही इच्छा रखती हूँ ॥ १३ ॥

यथा परेऽपि मे लोके न स्यादेवं महात्ययः ।
दौर्भाग्यं तापसश्रेष्ठास्तस्मात् तप्स्याम्यहं तपः ॥ १४ ॥

तापसश्रेष्ठ महर्षियो ! मैं तपस्या इसलिये करना चाहती हूँ, जिससे परलोकमें भी मुझे इस प्रकार महान् संकट एवं दुर्भाग्यका सामना न करना पड़े । अतः मैं तपस्या ही करूँगी ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

इत्येवं तेषु विप्रेषु चिन्तयत्सु यथातथम् ।
राजर्षिस्तद् वनं प्राप्तस्तपस्वी होत्रवाहनः ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—इस प्रकार वे ब्राह्मण जब यथावत् चिन्तामें मग्न हो रहे थे, उसी समय तपस्वी राजर्षि होत्रवाहन उस वनमें आ पहुँचे ॥ १५ ॥

ततस्ते तापसाः सर्वे पूजयन्ति स्म तं नृपम् ।
पूजाभिः स्वागताद्याभिरासनेनोदकेन च ॥ १६ ॥

तब उन सब तापसोंने स्वागत, कुशल-प्रश्न, आसन-समर्पण और जल-दान आदि अतिथि-सत्कारके उपचारोंद्वारा राजा होत्रवाहनका समादर किया ॥ १६ ॥

तस्योपविष्टस्य सतो विश्रान्तस्योपशृण्वतः ।
पुनरेव कथां चक्रुः कन्यां प्रति वनौकसः ॥ १७ ॥

जब वे आसनपर बैठकर विश्राम कर चुके, उस समय उनके सुनते हुए ही वे वनवासी तपस्वी पुनः उस कन्याके विषयमें बातचीत करने लगे ॥ १७ ॥

अम्बायास्तां कथां श्रुत्वा काशिराज्ञश्च भारत ।
राजर्षिः स महातेजा बभूवोद्विग्नमानसः ॥ १८ ॥

भारत ! अम्बा और काशिराजकी वह चर्चा सुनकर महातेजस्वी राजर्षि होत्रवाहनका चित्त उद्विग्न हो उठा ।१८।

तां तथावादिनीं श्रुत्वा दृष्ट्वा च स महातपाः ।
राजर्षिः कृपयाऽऽविष्टो महात्मा होत्रवाहनः ॥ १९ ॥

पूर्वोक्त रूपसे दीनतापूर्वक अपना दुःख निवेदन करनेवाली राजकन्या अम्बाकी बातें सुनकर महातपस्वी, महात्मा राजर्षि होत्रवाहन दयासे द्रवित हो गये ॥ १९ ॥

स वेपमान उत्थाय मातुस्तस्याः पिता तदा ।
तां कन्यामङ्कमारोप्य पर्यश्वासयत प्रभो ॥ २० ॥

वे अम्बाके नाना थे। राजन् ! वे काँपते हुए उठे और उस राजकन्याको गोदमें बिठाकर उसे सान्त्वना देने लगे ॥

स तामपृच्छत् कार्त्स्न्येन व्यसनोत्पत्तिमादितः।
सा च तस्मै यथावृत्तं विस्तरेण न्यवेदयत् ॥ २१ ॥

उन्होंने उसपर संकट आनेकी सारी बातें आरम्भसे ही पूछी और अम्बाने भी जो कुछ जैसे-जैसे हुआ था, वह सारा वृत्तान्त उनसे विस्तारपूर्वक बताया ॥ २१ ॥

ततः स राजर्षिरभूद् दुःखशोकसमन्वितः ।
कार्यं च प्रतिपेदे तन्मनसा सुमहातपाः ॥ २२॥

तब उन महातपस्वी राजर्षिने दुःख और शोकसे संतप्त हो मन-ही-मन आवश्यक कर्तव्यका निश्चय किया ॥

अब्रवीद् वेपमानश्च कन्यामार्तां सुदुःखितः ।
मा गाः पितुर्गृहं भद्रे मातुस्ते जनको ह्यहम् ॥ २३ ॥

और अत्यन्त दुखी हो काँपते हुए ही उन्होंने उस दुःखिनी कन्यासे इस प्रकार कहा—'भद्रे ! (यदि) तू पिताके घर (नहीं जाना चाहती हो तो) न जा । मैं तेरी माँका पिता हूँ ॥ २३ ॥

दुःखं छिन्द्यामहं ते वै मयि वर्तस्व पुत्रिके ।
पर्याप्तं ते मनो वत्से यदेवं परिशुष्यसि ॥ २४ ॥

'बेटी ! मैं तेरा दुःख दूर करूँगा, तू मेरे पास रह । वत्से ! तेरे मनमें बड़ा संताप है, तभी तो इस प्रकार सूखी जा रही है ॥ २४ ॥

गच्छ मद्वचनाद् रामं जामदग्न्यं तपस्विनम् ।
रामस्ते सुमहद् दुःखं शोकं चैवापनेष्यति ॥ २५ ॥

'तू मेरे कहनेसे तपस्यापरायण जमदग्निनन्दन परशुरामजीके पास जा । वे तेरे महान् दुःख और शोकको अवश्य दूर करेंगे ॥ २५ ॥

हनिष्यति रणे भीष्मं न करिष्यति चेद् वचः ।
तं गच्छ भार्गवश्रेष्ठं कालाग्निसमतेजसम् ॥ २६ ॥

'यदि भीष्म उनकी बात नहीं मानेंगे तो वे युद्धमें उन्हें मार डालेंगे । भार्गवश्रेष्ठ परशुराम प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी हैं । तू उन्हींकी शरणमें जा ॥ २६ ॥

प्रतिष्ठापयिता स त्वां समे पथि महातपाः ।
ततस्तु सुस्वरं बाष्पमुत्सृजन्ती पुनः पुनः ॥ २७ ॥
अब्रवीत् पितरं मातुः सा तदा होत्रवाहनम् ।
अभिवादयित्वा शिरसा गमिष्ये तव शासनात् ॥ २८ ॥

'वे महातपस्वी राम तुझे न्यायोचित मार्गपर प्रतिष्ठित करेंगे ।' यह सुनकर अम्बा बारंबार आँसू बहाती हुई अपने नाना होत्रवाहनको मस्तक नवाकर प्रणाम करके मधुर स्वरमें इस प्रकार बोली—'नानाजी ! मैं आपकी आज्ञासे वहाँ अवश्य जाऊँगी ॥ २७-२८ ॥

अपि नामाद्य पश्येयमार्यं तं लोकविश्रुतम् ।
कथं च तीव्रं दुःखं मे नाशयिष्यति भार्गवः ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं यथा यास्यामि तत्र वै ॥ २९ ॥

'परंतु मैं आज उन विश्वविख्यात श्रेष्ठ महात्माका दर्शन कैसे कर सकूँगी और वे भृगुनन्दन परशुरामजी मेरे इस दुःसह दुःखका नाश किस प्रकार करेंगे ? मैं यह सब जानना चाहती हूँ, जिससे वहाँ जा सकूँ' ॥ २९ ॥

होत्रवाहन उवाच

रामं द्रक्ष्यसि भद्रे त्वं जामदग्न्यं महावने ।
उग्रे तपसि वर्तन्तं सत्यसंधं महाबलम् ॥ ३० ॥

होत्रवाहन बोले—भद्रे ! जमदग्निनन्दन परशुराम एक महान् वनमें उग्र तपस्या कर रहे हैं । वे महान् शक्तिशाली और सत्यप्रतिज्ञ हैं । तुझे अवश्य ही दर्शन प्राप्त होगा ॥ ३० ॥

महेन्द्रं वै गिरिश्रेष्ठं रामो नित्यमुपास्ति ह ।
ऋषयो वेदविद्वांसो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ३

परशुरामजी सदा पर्वतश्रेष्ठ महेन्द्रपर रहा करते हैं । वेदवेत्ता महर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराओंका भी निवास है

तत्र गच्छस्व भद्रं ते ब्रूयाश्चैनं वचो मम ।
अभिवाद्य च तं मूर्ध्ना तपोवृद्धं दृढव्रतम् ॥ ३

बेटी ! तेरा कल्याण हो । तू वहीं जा और दृढ़व्रती तपोवृद्ध महात्माको अभिवादन करके पहले मेरी बात कहना ॥ ३२ ॥

ब्रूयाश्चैनं पुनर्भद्रे यत् ते कार्यं मनीषितम् ।
मयि संकीर्तिते रामः सर्वं तत् ते करिष्यति ॥ ३

भद्रे ! तत्पश्चात् तेरे मनमें जो अभीष्ट कार्य है वह उनसे निवेदन करना । मेरा नाम लेनेपर परशुरामजी सब कार्य करेंगे ॥ ३३ ॥

मम रामः सखा वत्से प्रीतियुक्तः सुहृच्च मे ।
जमदग्निसुतो वीरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३४

वत्से ! सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ जमदग्निन वीरवर परशुराम मेरे सखा और प्रेमी सुहृद् हैं ॥ ३४

एवं ब्रुवति कन्यां तु पार्थिवे होत्रवाहने ।
अकृतव्रणः प्रादुरासीद् रामस्यानुचरः प्रियः ॥ ३५ ॥

राजा होत्रवाहन जब राजकन्या अम्बासे इस प्रकार रहे थे, उसी समय परशुरामजीके प्रिय सेवक अकृतव वहाँ प्रकट हुए ॥ ३५ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे समुत्तस्थुः सहस्रशः ।
स च राजा वयोवृद्धः सृञ्जयो होत्रवाहनः ॥ ३६ ॥

उन्हें देखते ही वे सहस्रों मुनि तथा सृंजयवंशी वृद्ध राजा होत्रवाहन सभी उठकर खड़े हो गये ॥ ३६ ॥

ततो दृष्ट्वा कृतातिथ्यमन्योन्यं ते वनौकसः ।
सहिता भरतश्रेष्ठ निषेदुः परिवार्य तम् ॥ ३७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर उनका आदर-सत्कार किया गया फिर वे वनवासी महर्षि एक दूसरेकी ओर देखते हुए एक साथ उन्हें घेरकर बैठे ॥ ३७ ॥

ततस्ते कथयामासुः कथास्तास्ता मनोरमाः ।
धन्या दिव्याश्च राजेन्द्र प्रीतिहर्षमुदा युताः ॥ ३८ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् वे सब लोग प्रेम और हर्षके दिव्य, धन्य एवं मनोरम वार्तालाप करने लगे ॥ ३८ ॥

ततः कथान्ते राजर्षिर्महात्मा होत्रवाहनः ।
रामं श्रेष्ठं महर्षीणामपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३९ ॥

बातचीत समाप्त होनेपर राजर्षि महात्मा होत्रवाहनने महर्षियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीके विषयमें अकृतव्रणसे पूछा—

क्व सम्प्रति महाबाहो जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अकृतव्रण शक्यो वै द्रष्टुं वेदविदां वरः ॥ ४० ॥

'महाबाहु अकृतव्रण ! इस समय वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और प्रतापी जमदग्निनन्दन परशुरामजीका दर्शन कहाँ हो सकता है ?' ॥

अकृतव्रण उवाच

भवन्तमेव सततं रामः कीर्तयति प्रभो ।
सृञ्जयो मे प्रियसखो राजर्षिरिति पार्थिव ॥ ४१ ॥

अकृतव्रणने कहा—राजन् ! परशुरामजी तो सदा आपकी ही चर्चा किया करते हैं । उनका कहना है कि सृंजयवंशी राजर्षि होत्रवाहन मेरे प्रिय सखा हैं ॥ ४१ ॥

इह रामः प्रभाते श्वो भवितेति मतिर्मम ।
द्रष्टास्येनमिहायान्तं तव दर्शनकाङ्क्षया ॥ ४२ ॥

मेरा विश्वास है कि कल सबेरेतक परशुरामजी यहाँ उपस्थित हो जायँगे । वे आपसे ही मिलनेके लिये आ रहे हैं । अतः आप यहीं उनका दर्शन कीजियेगा ॥ ४२ ॥

इयं च कन्या राजर्षे किमर्थं वनमागता ।
कस्य चेयं तव च का भवतीच्छामि वेदितुम् ॥ ४३ ॥

राजर्षे ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह कन्या किस लिये वनमें आयी है ? यह किसकी पुत्री है और आपकी क्या लगती है ? ॥ ४३ ॥

होत्रवाहन उवाच

दौहित्रीयं मम विभो काशिराजसुता प्रिया ।
ज्येष्ठा स्वयंवरे तस्थौ भगिनीभ्यां सहानघ ॥ ४४ ॥
इयमम्बेति विख्याता ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ।
अम्बिकाम्बालिके कन्ये कनीयस्यौ तपोधन ॥ ४५ ॥

होत्रवाहन बोले—प्रभो ! यह मेरी दौहित्री (पुत्रीकी पुत्री) है । अनघ ! काशिराजकी परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्री अपनी दो छोटी बहिनोंके साथ स्वयंवरमें उपस्थित हुई थी । उनमेंसे यही अम्बा नामसे विख्यात काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री है । तपोधन ! इसकी दोनों छोटी बहिनें अम्बिका और अम्बालिका कहलाती हैं ॥ ४४-४५ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिपुर्यां ततोऽभवत् ।
कन्यानिमित्तं विप्रर्षे तत्रासीदुत्सवो महान् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मर्षे ! काशीपुरीमें इन्हीं कन्याओंके लिये भूमण्डलका समस्त क्षत्रियसमुदाय एकत्र हुआ था । उस अवसरपर वहाँ महान् स्वयंवरोत्सवका आयोजन किया गया था ॥ ४६ ॥

ततः किल महावीर्यो भीष्मः शान्तनवो नृपान् ।
अधिक्षिप्य महातेजास्तिस्रः कन्या जहार ताः ॥ ४७ ॥

कहते हैं उस अवसरपर महातेजस्वी और महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म सब राजाओंको जीतकर इन तीनों कन्याओंको हर लाये ॥ ४७ ॥

निर्जित्य पृथिवीपालानथ भीष्मो गजाह्वयम् ।
आजगाम विशुद्धात्मा कन्याभिः सह भारतः ॥ ४८ ॥

भरतनन्दन भीष्मका हृदय इन कन्याओंके प्रति सर्वथा शुद्ध था । वे समस्त भूपालोंको परास्त करके कन्याओंको साथ लिये हस्तिनापुरमें आये ॥ ४८ ॥

सत्यवत्यै निवेद्याथ विवाहं समनन्तरम् ।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य समाज्ञापयत प्रभुः ॥ ४९ ॥

वहाँ आकर शक्तिशाली भीष्मने सत्यवतीको ये कन्याएँ सौंप दीं और इनके साथ अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यका विवाह करनेकी आज्ञा दे दी ॥ ४९ ॥

तं तु वैवाहिकं दृष्ट्वा कन्येयं समुपार्जितम् ।
अब्रवीत् तत्र गाङ्गेयं मन्त्रिमध्ये द्विजर्षभ ॥ ५० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! वहाँ वैवाहिक आयोजन आरम्भ हुआ देख यह कन्या मन्त्रियोंके बीचमें गङ्गानन्दन भीष्मसे बोली—॥

मया शाल्वपतिर्वीरो मनसाभिवृतः पतिः ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ दातुं भ्रात्रेऽन्यमानसाम् ॥ ५१ ॥

'धर्मज्ञ ! मैंने मन-ही मन वीरवर शाल्वराजको अपना पति चुन लिया है; अतः मेरा मन अन्यत्र अनुरक्त होनेके कारण आपको अपने भाईके साथ मेरा विवाह नहीं करना चाहिये' ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं भीष्मः सम्मन्त्र्य सह मन्त्रिभिः ।
निश्चित्य विससर्जेमां सत्यवत्या मते स्थितः ॥ ५२ ॥

अम्बाका यह वचन सुनकर भीष्मने मन्त्रियोंके साथ सलाह करके माता सत्यवतीकी सम्मति प्राप्त करके एक निश्चयपर पहुँचकर इस कन्याको छोड़ दिया ॥ ५२ ॥

अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वं सौभपतिं ततः ।
कन्येयं मुदिता तत्र काले वचनमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

भीष्मकी आज्ञा पाकर यह कन्या मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो सौभ विमानके स्वामी शाल्वके यहाँ गयी और वहाँ उस समय इस प्रकार बोली—॥ ५३ ॥

विसर्जितास्मि भीष्मेण धर्मं मां प्रतिपादय ।
मनसाभिवृतः पूर्वं मया त्वं पार्थिवर्षभ ॥ ५४ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! भीष्मने मुझे छोड़ दिया है; क्योंकि पूर्वकालमें मैंने अपने मनसे आपको ही पति चुन लिया था, अतः आप मुझे धर्मपालनका अवसर दें' ॥ ५४ ॥

प्रत्याचख्यौ च शाल्वोऽस्याश्चारित्रस्याभिशङ्कितः ।
सेयं तपोवनं प्राप्ता तापस्येऽभिरता भृशम् ॥ ५५ ॥

शाल्वराजको इसके चरित्रपर संदेह हुआ; अतः उसने इसके प्रस्तावको ठुकरा दिया है । इस कारण तपस्यामें अत्यन्त अनुरक्त होकर यह इस तपोवनमें आयी है ॥ ५५ ॥

मया च प्रत्यभिज्ञाता वंशस्य परिकीर्तनात् ।
अस्य दुःखस्य चोत्पत्तिं भीष्ममेवेह मन्यते ॥ ५६ ॥

इसके कुलका परिचय प्राप्त होनेसे मैंने इसे पहचाना है । यह अपने इस दुःखकी प्राप्तिमें भीष्मको ही कारण मानती है ॥

अम्बोवाच

भगवन्नेवमेवेह यथाऽऽह पृथिवीपतिः ।
शरीरकर्ता मातुर्मे सृञ्जयो होत्रवाहनः ॥ ५७ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! जैसा कि मेरी माताके पिता सृंजयवंशी महाराज होत्रवाहनने कहा है, ठीक ऐसी

ही मेरी परिस्थिति है ॥ ५७ ॥

न ह्युत्सहे स्वनगरं प्रतियातुं तपोधन।
अपमानभयाच्चैव व्रीडया च महामुने ॥ ५८ ॥

तपोधन ! महामुने ! लज्जा और अपमानके भयसे अपने नगरको जानेके लिये मेरे मनमें उत्साह नहीं है ॥५८॥

यत् तु मां भगवान् रामो वक्ष्यति द्विजसत्तम।
तन्मे कार्यतमं कार्यमिति मे भगवन् मतिः ॥ ५

भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! अब भगवान् परशुराम मुझ कुछ कहेंगे, वही मेरे लिये सर्वोत्तम कर्तव्य होगा; यही निश्चय किया है ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि होत्रवाहनाम्बासंवादे षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाहोत्रवाहनसंवादविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अकृतव्रण और परशुरामजीकी अम्बासे बातचीत

अकृतव्रण उवाच

दुःखद्वयमिदं भद्रे कतरस्य चिकीर्षसि।
प्रतिकर्तव्यमबले तत् त्वं वत्से वदस्व मे ॥ १ ॥

अकृतव्रणने कहा—भद्रे ! तुम्हें दुःख देनेवाले दो कारण (भीष्म और शाल्व) उपस्थित हैं । वत्से ! तुम इन दोनोंमेंसे किससे बदला लेनेकी इच्छा रखती हो ? यह मुझे बताओ ॥ १ ॥

यदि सौभपतिर्भद्रे नियोक्तव्यो मतस्तव।
नियोक्ष्यति महात्मा स रामस्त्वद्धितकाम्यया ॥ २ ॥

भद्रे ! यदि तुम्हारा यह विचार हो कि सौभपति शाल्वराजको ही विवाहके लिये विवश करना चाहिये तो महात्मा परशुराम तुम्हारे हितकी इच्छासे शाल्वराजको अवश्य इस कार्यमें नियुक्त करेंगे ॥ २ ॥

अथापगेयं भीष्मं त्वं रामेणेच्छसि धीमता।
रणे विनिर्जितं द्रष्टुं कुर्यात् तदपि भार्गवः ॥ ३ ॥

अथवा यदि तुम गङ्गानन्दन भीष्मको बुद्धिमान् परशुरामजीके द्वारा युद्धमें पराजित देखना चाहती हो तो वे महात्मा भार्गव यह भी कर सकते हैं ॥ ३ ॥

सृञ्जयस्य वचः श्रुत्वा तव चैव शुचिस्मिते।
यदत्र ते भृशं कार्यं तदद्यैव विचिन्त्यताम् ॥ ४ ॥

शुचिस्मिते ! सृंजयवंशी राजा होत्रवाहनकी बात सुनकर और अपना विचार प्रकट करके जो कार्य तुम्हें अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हो उसका आज ही विचार कर लो ॥ ४ ॥

अम्बोवाच

अपनीतास्मि भीष्मेण भगवन्नविजानता।
नाभिजानाति मे भीष्मो ब्रह्मन् शाल्वगतं मनः ॥ ५ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! भीष्म बिना जाने-बूझे मुझे हर लाये थे । ब्रह्मन् ! उन्हें इस बातका पता नहीं था कि मेरा मन शाल्वमें अनुरक्त है ॥ ५ ॥

एतद् विचार्य मनसा भवानेतद् विनिश्चयम्।
विचिनोतु यथान्यायं विधानं क्रियतां तथा ॥ ६ ॥

इस बातपर मन-ही-मन विचार करके आप ही कुछ निश्चय करें और जो न्यायसंगत प्रतीत हो, वही कार्य करें ॥ ६ ॥

भीष्मे वा कुरुशार्दूले शाल्वराजेऽथवा पुनः।
उभयोरेव वा ब्रह्मन् युक्तं यत् तत् समाचर ॥

ब्रह्मन् ! कुरुश्रेष्ठ भीष्मके साथ अथवा शाल्वराजके अथवा दोनोंके ही साथ जो उचित बर्ताव हो, वह करें।

निवेदितं मया ह्येतद् दुःखमूलं यथातथम्।
विधानं तत्र भगवन् कर्तुमर्हसि युक्तितः ॥

मैंने अपने दुःखके इस मूल कारणको यथार्थ निवेदन कर दिया । भगवन् ! अब आप अपनी युक्ति इस विषयमें न्यायोचित कार्य करें ॥ ८ ॥

अकृतव्रण उवाच

उपपन्नमिदं भद्रे यदेवं वरवर्णिनि।
धर्मं प्रति वचो ब्रूयाः शृणु चेदं वचो मम ॥ ९

अकृतव्रण बोले—भद्रे ! तुम जो इस प्रकार धर्मानु बात कहती हो, यही तुम्हारे लिये उचित है । वरवर्णि अब मेरी यह बात सुनो ॥ ९ ॥

यदि त्वामापगेयो वै न नयेद् गजसाह्वयम्।
शाल्वस्त्वां शिरसा भीरु गृह्णीयाद् रामचोदितः ॥

भीरु ! यदि गङ्गानन्दन भीष्म तुम्हें हस्तिनापुर न जाते तो राजा शाल्व परशुरामजीके कहनेपर आदरपूर्वक स्वीकार कर लेता ॥ १० ॥

तेन त्वं निर्जिता भद्रे यस्मान्नीतासि भाविनि।
संशयः शाल्वराजस्य तेन त्वयि सुमध्यमे ॥ ११

परंतु भद्रे ! भीष्म तुम्हें जीतकर अपने साथ ले भाविनि ! सुमध्यमे ! यही कारण है कि शाल्वराजके तुम्हारे प्रति संशय उत्पन्न हो गया है ॥ ११ ॥

भीष्मः पुरुषमानी च जितकाशी तथैव च।
तस्मात् प्रतिक्रिया युक्ता भीष्मे कारयितुं तव ॥ १

भीष्मको अपने पुरुषार्थका अभिमान है और वे समय अपनी विजयसे उल्लसित हो रहे हैं । अतः भीष्मसे बदला लेना तुम्हारे लिये उचित होगा ॥ १२ ॥

अम्बोवाच

ममाप्येष सदा ब्रह्मन् हृदि कामोऽभिवर्तते।
घातयेयं यदि रणे भीष्ममित्येव नित्यदा ॥ १

भीष्मं वा शाल्वराजं वा यं वा दोषेण गच्छसि ।
प्रशाधि तं महाबाहो यत्कृतेऽहं सुदुःखिता ॥ १४ ॥

अम्बा बोली—ब्रह्मन् ! मेरे मनमें भी सदा यह इच्छा बनी रहती है कि मैं युद्धमें भीष्मका वध करा दूँ । महाबाहो ! आप भीष्मको या शाल्वराजको जिसे भी दोषी समझते हों, उसीको दण्ड दीजिये, जिसके कारण मैं अत्यन्त दुःखमें पड़ गयी हूँ ॥ १३-१४ ॥

भीष्म उवाच

एवं कथयतामेव तेषां स दिवसो गतः ।
रात्रिश्च भरतश्रेष्ठ सुखशीतोष्णमारुता ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार बातचीत करते हुए उन सब लोगोंका वह दिन बीत गया । सुखदायिनी सरदी, गर्मी और हवासे युक्त रात भी समाप्त हो गयी ॥१५॥

ततो रामः प्रादुरासीत् प्रज्वलन्निव तेजसा ।
शिष्यैः परिवृतो राजन् जटाचीरधरो मुनिः ॥ १६ ॥

राजन् ! तदनन्तर अपने शिष्योंसे घिरे हुए जटावल्कलधारी मुनिवर परशुरामजी वहाँ प्रकट हुए । वे अपने तेजके कारण प्रज्वलित-से हो रहे थे ॥ १६ ॥

धनुष्पाणिरदीनात्मा खड्गं बिभ्रत् परश्वधी ।
विरजा राजशार्दूल सृञ्जयं सोऽभ्ययान्नृपम् ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उनके हृदयमें दीनताका नाम नहीं था । उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष, खड्ग और फरसा ले रक्खे थे । उनके हृदयसे रजोगुण दूर हो गया था, वे राजा सृंजयके निकट आये ॥ १७ ॥

ततस्तं तापसा दृष्ट्वा स च राजा महातपाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयो राजन् सा च कन्या तपस्विनी ॥१८॥

राजन् ! उन्हें देखकर वे तपस्वी मुनि, महातपस्वी नरेश तथा वह तपस्विनी राजकन्या—ये सब-के-सब हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ १८ ॥

पूजयामासुरव्यग्रा मधुपर्केण भार्गवम् ।
अर्चितश्च यथान्यायं निषसाद सहैव तैः ॥ १९ ॥

फिर उन्होंने स्वस्थचित्त होकर मधुपर्कद्वारा भार्गव परशुरामजीका पूजन किया । विधिपूर्वक पूजित होनेपर वे उन्हींके साथ वहाँ बैठे ॥ १९ ॥

ततः पूर्वव्यतीतानि कथयन्तौ स तावुभौ ।
आसातां जामदग्न्यश्च सृञ्जयश्चैव भारत ॥ २० ॥

भारत ! तत्पश्चात् परशुरामजी और सृंजय (होत्रवाहन) दोनों मित्र पहलेकी बीती बातें कहते हुए एक जगह बैठ गये ॥

तथा कथान्ते राजर्षिर्भृगुश्रेष्ठं महाबलम् ।
उवाच मधुरं काले रामं वचनमर्थवत् ॥ २१ ॥

बातचीतके अन्तमें राजर्षि होत्रवाहनने महाबली भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीसे मधुर वाणीमें उस समय यह अर्थयुक्त वचन कहा—॥ २१ ॥

रामेयं मम दौहित्री काशिराजसुता प्रभो ।
अस्याः शृणु यथातत्त्वं कार्यं कार्यविशारद ॥ २२ ॥

'कार्यसाधनकुशल प्रभो ! परशुराम ! यह मेरी पुत्रीकी पुत्री काशिराजकी कन्या है । इसका कुछ कार्य है, उसे आप इसीके मुँहसे ठीक-ठीक सुन लें' ॥ २२ ॥

परमं कथ्यतां चेति तां रामः प्रत्यभाषत ।
ततः साभ्यगमद् रामं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २३ ॥
ततोऽभिवाद्य चरणौ रामस्य शिरसा शुभौ ।
स्पृष्ट्वा पद्मदलाभाभ्यां पाणिभ्यामग्रतः स्थिता ॥ २४ ॥

'बहुत अच्छा, कहो बेटी' इस प्रकार उस कन्याको जब परशुरामजीने प्रेरित किया; तब वह प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी परशुरामजीके पास आयी और उनके कल्याणकारी चरणोंको सिरसे प्रणाम करके कमलदलके समान सुशोभित होनेवाले दोनों हाथोंसे उनका स्पर्श करती हुई सामने खड़ी हो गयी ॥ २३-२४ ॥

रुरोद सा शोकवती बाष्पव्याकुललोचना ।
प्रपेदे शरणं चैव शरण्यं भृगुनन्दनम् ॥ २५ ॥

उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये । वह शोकसे आतुर होकर रोने लगी और सबको शरण देनेवाले भृगुनन्दन परशुरामजीकी शरणमें गयी ॥ २५ ॥

राम उवाच

यथा त्वं सृञ्जयस्यास्य तथा मे त्वं नृपात्मजे ।
ब्रूहि यत् ते मनोदुःखं करिष्ये वचनं तव ॥ २६ ॥

परशुरामजी बोले—राजकुमारी ! जैसे तू इन सृंजयकी दौहित्री है, उसी प्रकार मेरी भी है । तेरे मनमें जो दुःख है, उसे बता । मैं तेरे कथनानुसार सब कार्य करूँगा ॥ २६ ॥

अम्बोवाच

भगवञ्शरणं त्वाद्य प्रपन्नास्मि महाव्रतम् ।
शोकपङ्कार्णवान्मग्नां घोरादुद्धर मां विभो ॥ २७ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! आप महान् व्रतधारी हैं । आज मैं आपकी शरणमें आयी हूँ । प्रभो ! इस भयंकर शोकसागरमें डूबनेसे मुझे बचाइये ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

तस्याश्च दृष्ट्वा रूपं च वपुश्चाभिनवं पुनः ।
सौकुमार्यं परं चैव रामश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ २८ ॥
किमियं वक्ष्यतीत्येवं विममर्श भृगूद्वहः ।
इति दध्यौ चिरं रामः कृपयाभिपरिप्लुतः ॥ २९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उसके सुन्दर रूप, नूतन (तरुण) शरीर तथा अत्यन्त सुकुमारताको देखकर परशुरामजी चिन्तामें पड़ गये कि न जाने यह क्या कहेगी ? उसके प्रति दयाभावसे परिपूर्ण हो भृगुकुलभूषण परशुराम बहुत देरतक उसीके विषयमें चिन्ता करते रहे ॥ २८-२९ ॥

कथ्यतामिति सा भूयो रामेणोक्ता शुचिस्मिता ।
सर्वमेव यथातत्त्वं कथयामास भार्गवे ॥ ३० ॥

तदनन्तर परशुरामजीके पुनः यह कहनेपर कि तुम अपनी

बात कहो, पवित्र मुसकानवाली अम्बाने उनसे अपना सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा जामदग्न्यस्तु राजपुत्र्या वचस्तदा।
उवाच तां वरारोहां निश्चित्यार्थविनिश्चयम् ॥ ३१ ॥

राजकुमारी अम्बाका यह कथन सुनकर जमदग्निनन्दन परशुरामने क्या करना है, इसका निश्चय करके उस सुन्दर अङ्गोंवाली राजकुमारीसे कहा ॥ ३१ ॥

राम उवाच

प्रेषयिष्यामि भीष्माय कुरुश्रेष्ठाय भाविनि।
करिष्यति वचो मह्यं श्रुत्वा च स नराधिपः ॥ ३२ ॥

परशुरामजी बोले—भाविनि ! मैं तुझे कुरुश्रेष्ठ भीष्मके पास भेजूँगा । नरपति भीष्म सुनते ही मेरी आज्ञाका पालन करेगा ॥ ३२ ॥

न चेत् करिष्यति वचो मयोक्तं जाह्नवीसुतः।
धक्ष्याम्यहं रणे भद्रे सामात्यं शस्त्रतेजसा ॥ ३३ ॥

भद्रे ! यदि गङ्गानन्दन भीष्म मेरी बात नहीं मानेगा तो मैं युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे मन्त्रियोंसहित उसे भस्म कर डालूँगा ॥ ३३ ॥

अथवा ते मतिस्तत्र राजपुत्रि न वर्तते।
यावच्छाल्वपतिं वीरं योजयाम्यत्र कर्मणि ॥ ३४ ॥

अथवा राजकुमारी ! यदि वहाँ जानेका तेरा विचार न हो तो मैं वीर शाल्वराजको ही पहले इस कार्यमें नियुक्त करूँ (उसके साथ तेरा ब्याह करा दूँ) ॥ ३४ ॥

अम्बोवाच

विसर्जिताहं भीष्मेण श्रुत्वैव भृगुनन्दन।
शाल्वराजगतं भावं मम पूर्वं मनीषितम् ॥ ३५ ॥

अम्बा बोली—भृगुनन्दन ! शाल्वराजमें मेरा अनुराग है और मैं पहलेसे ही उन्हें पाना चाहती हूँ । यह सुनते ही भीष्मने मुझे विदा कर दिया था ॥ ३५ ॥

सौभराजमुपेत्याहमवोचं दुर्वचं वचः।
न च मां प्रत्यगृह्णात् स चारित्र्यपरिशङ्कितः ॥ ३६ ॥

तब सौभराजके पास जाकर मैंने उनसे ऐसी बातें कहीं जिन्हें अपने मुँहसे कहना स्त्रीजातिके लिये अत्यन् होता है; परंतु मेरे चरित्रपर संदेह हो जानेके कार मुझे स्वीकार नहीं किया ॥ ३६ ॥

एतत् सर्वं विनिश्चित्य स्वबुद्ध्या भृगुनन्दन।
यदत्रौपयिकं कार्यं तच्चिन्तयितुमर्हसि ॥ ३

भृगुनन्दन ! इन सब बातोंपर बुद्धिपूर्वक विचा जो उचित प्रतीत हो, उसी कार्यकी ओर आप ध्यान

मम तु व्यसनस्यास्य भीष्मो मूलं महाव्रतः।
येनाहं वशमानीता समुत्क्षिप्य बलात् तदा ॥ ३

मेरी इस विपत्तिका मूल कारण महान् व्रतधारी भ जिसने उस समय बलपूर्वक मुझे उठाकर रथपर र और इस प्रकार मुझे वशमें करके वह हस्तिनापुर ले

भीष्मं जहि महाबाहो यत्कृते दुःखमीदृशम्।
प्राप्ताहं भृगुशार्दूल चराम्यप्रियमुत्तमम् ॥ ३

महाबाहु भृगुसिंह ! आप भीष्मको ही मार ड जिसके कारण मुझे ऐसा दुःख प्राप्त हुआ है और प्रकार विवश होकर अत्यन्त अप्रिय आचरणमें प्रवृत्त हु

स हि लुब्धश्च नीचश्च जितकाशी च भार्गव।
तस्मात् प्रतिक्रिया कर्तुं युक्ता तस्मै त्वयानघ ॥ ४

निष्पाप भार्गव ! भीष्म लोभी, नीच और विजय से परिपूर्ण है; अतः आपको उसीसे बदला लेना उचि

एष मे क्रियमाणाया भारतेन तदा विभो।
अभवद्धृदि संकल्पो घातयेयं महाव्रतम् ॥ ४

प्रभो ! भरतवंशी भीष्मने जबसे मुझे इस दशामें दिया है, तबसे मेरे हृदयमें यही संकल्प उठता है कि मैं महान् व्रतधारीका वध करा दूँ ॥ ४१ ॥

तस्मात् कामं ममाद्येमं राम सम्पादयानघ।
जहि भीष्मं महाबाहो यथा वृत्रं पुरंदरः ॥ ४

निष्पाप महाबाहु राम ! आज आप मेरी इसी काम पूर्ण कीजिये । जैसे इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, उसी आप भी भीष्मको मार डालिये ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामाम्बासंवादे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बा-परशुराम-संवादविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बा और परशुरामजीका संवाद, अकृतव्रणकी सलाह, परशुराम और भीष्मकी रोषपूर्ण बातचीत तथा उन दोनोंका युद्धके लिये कुरुक्षेत्रमें उतरना

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तदा रामो जहि भीष्ममिति प्रभो।
उवाच रुदतीं कन्यां चोदयन्तीं पुनः पुनः ॥ १ ॥
काश्ये न कामं गृह्णामि शस्त्रं वै वरवर्णिनि।
ऋते ब्रह्मविदां हेतोः किमन्यत् करवाणि ते ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अम्बाके ऐसा कहनेपर कि प्रभो ! भीष्मको मार डालिये । परशुरामजीने रो-रोकर बा प्रेरणा देनेवाली उस कन्यासे इस प्रकार कहा—'सुन् काशिराजकुमारी ! मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार किसी वेद ब्राह्मणको आवश्यकता हो तो उसीके लिये शस्त्र उठाता हूँ। कारण हुए बिना इच्छानुसार हथियार नहीं उठाता । अ प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए मैं तेरा दूसरा कौन-सा कार्य करूँ ॥

वाचा भीष्मश्च शाल्वश्च मम राज्ञि वशानुगौ।
भविष्यतोऽनवद्याङ्गि तत् करिष्यामि मा शुचः ॥ ३ ॥

'राजकन्ये ! भीष्म और शाल्व दोनों मेरी आज्ञाके अधीन होंगे। अतः निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी ! मैं तेरा कार्य करूँगा। तू शोक न कर ॥ ३ ॥

न तु शस्त्रं ग्रहीष्यामि कथंचिदपि भाविनि।
ऋते नियोगाद् विप्राणामेष मे समयः कृतः ॥ ४ ॥

'भाविनि ! मैं किसी तरह ब्राह्मणोंकी आज्ञाके बिना हथियार नहीं उठाऊँगा, ऐसी मैंने प्रतिज्ञा कर रक्खी है' ॥

अम्बोवाच

मम दुःखं भगवता व्यपनेयं यतस्ततः।
तच्च भीष्मप्रसूतं मे तं जहीश्वर मा चिरम् ॥ ५ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! आप जैसे हो सके वैसे ही मेरा दुःख दूर करें। वह दुःख भीष्मने पैदा किया है; अतः प्रभो ! उसीका शीघ्र वध कीजिये ॥ ५ ॥

राम उवाच

काशिकन्ये पुनर्ब्रूहि भीष्मस्ते चरणावुभौ।
शिरसा वन्दनार्होऽपि ग्रहीष्यति गिरा मम ॥ ६ ॥

परशुरामजी बोले—काशिराजकी पुत्री ! तू पुनः सोचकर बता। यद्यपि भीष्म तेरे लिये वन्दनीय है, तथापि मेरे कहनेसे वह तेरे चरणोंको अपने सिरपर उठा लेगा ॥ ६ ॥

अम्बोवाच

जहि भीष्मं रणे राम गर्जन्तमसुरं यथा।
समाहूतो रणे राम मम चेदिच्छसि प्रियम्।
प्रतिश्रुतं च यदपि तत् सत्यं कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

अम्बा बोली—राम ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो युद्धमें आमन्त्रित हो, असुरके समान गर्जना करनेवाले भीष्मको मार डालिये और आपने जो प्रतिज्ञा कर रक्खी है, उसे भी सत्य कीजिये ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

तयोः संवदतोरेवं राजन् रामाम्बयोस्तदा।
ऋषिः परमधर्मात्मा इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! परशुराम और अम्बामें जब इस प्रकार बातचीत हो रही थी, उसी समय परम धर्मात्मा ऋषि अकृतव्रणने यह बात कही—॥ ८ ॥

शरणागतां महाबाहो कन्यां न त्यक्तुमर्हसि।
यदि भीष्मो रणे राम समाहूतस्त्वया मृधे ॥ ९ ॥
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूयात् कुर्याद् वा वचनं तव।
कृतमस्या भवेत् कार्यं कन्याया भृगुनन्दन ॥ १० ॥

'महाबाहो ! यह कन्या शरणमें आयी है; अतः आपको इसका त्याग नहीं करना चाहिये। भृगुनन्दन राम ! यदि युद्धमें आपके बुलानेपर भीष्म सामने आकर अपनी पराजय स्वीकार करे अथवा आपकी बात ही मान ले तो इस कन्याका कार्य सिद्ध हो जायगा ॥ ९-१० ॥

वाक्यं सत्यं च ते वीर भविष्यति कृतं विभो।
इयं चापि प्रतिज्ञा ते तदा राम महामुने ॥ ११ ॥
जित्वा वै क्षत्रियान् सर्वान् ब्राह्मणेषु प्रतिश्रुता।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव रणे यदि ॥ १२ ॥
ब्रह्मद्विड् भविता तं वै हनिष्यामीति भार्गव।
शरणार्थं प्रपन्नानां भीतानां शरणार्थिनाम् ॥ १३ ॥
न शक्ष्यामि परित्यागं कर्तुं जीवन् कथंचन।
यश्च कृत्स्नं रणे क्षत्रं विजेष्यति समागतम् ॥ १४ ॥
दीप्तात्मानमहं तं च हनिष्यामीति भार्गव।

'महामुने राम ! प्रभो ! ऐसा होनेसे आपकी कही हुई बात सत्य सिद्ध होगी। वीरवर भार्गव ! आपने समस्त क्षत्रियोंको जीतकर ब्राह्मणोंके बीचमें यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ब्राह्मणोंसे द्वेष करेगा तो मैं उसे निश्चय ही मार डालूँगा। साथ ही भयभीत होकर शरणमें आये हुए शरणार्थियोंका परित्याग मैं जीते-जी किसी प्रकार नहीं कर सकूँगा और जो युद्धमें एकत्र हुए सम्पूर्ण क्षत्रियोंको जीत लेगा, उस तेजस्वी पुरुषका भी मैं वध कर डालूँगा ॥ ११–१४½ ॥

स एवं विजयी राम भीष्मः कुरुकुलोद्वहः।
तेन युध्यस्व संग्रामे समेत्य भृगुनन्दन ॥ १५ ॥

'भृगुनन्दन राम ! इस प्रकार कुरुकुलका भार वहन करनेवाला भीष्म समस्त क्षत्रियोंपर विजय पा चुका है; अतः आप संग्राममें उसके सामने जाकर युद्ध कीजिये' ॥ १५ ॥

राम उवाच

स्मराम्यहं पूर्वकृतां प्रतिज्ञामृषिसत्तम।
तथैव च चरिष्यामि यथा साम्नैव लप्स्यते ॥ १६ ॥

परशुरामजी बोले—मुनिश्रेष्ठ ! मुझे अपनी पहलेकी की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण है, तथापि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि सामनीतिसे ही काम बन जाय ॥ १६ ॥

कार्यमेतन्महद् ब्रह्मन् काशिकन्यामनोगतम्।
गमिष्यामि स्वयं तत्र कन्यामादाय यत्र सः ॥ १७ ॥

ब्रह्मन् ! काशिराजकी कन्याके मनमें जो यह कार्य है, वह महान् है। मैं उसकी सिद्धिके लिये इस कन्याको साथ लेकर स्वयं ही वहाँ जाऊँगा, जहाँ भीष्म है ॥ १७ ॥

यदि भीष्मो रणश्लाघी न करिष्यति मे वचः।
हनिष्याम्येनमुद्रिक्तमिति मे निश्चिता मतिः ॥ १८ ॥

यदि युद्धकी स्पृहा रखनेवाला भीष्म मेरी बात नहीं मानेगा तो मैं उस अभिमानीको मार डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है ॥ १८ ॥

न हि बाणा मयोत्सृष्टाः सज्जन्तीह शरीरिणाम्।
कायेषु विदितं तुभ्यं पुरा क्षत्रियसंगरे ॥ १९ ॥

मेरे चलाये हुए बाण देहधारियोंके शरीरमें अटकते नहीं हैं। (उन्हें विदीर्ण करके बाहर निकल जाते हैं।) यह बात तुम्हें पूर्वकालमें क्षत्रियोंके साथ होनेवाले युद्धके समय ज्ञात हो चुकी है ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः ।
प्रयाणाय मतिं कृत्वा समुत्तस्थौ महातपाः ॥ २० ॥

ऐसा कहकर महातपस्वी परशुरामजी उन ब्रह्मवादी महर्षियोंके साथ प्रस्थान करनेका निश्चय करके उसके लिये उद्यत हो गये ॥ २० ॥

ततस्ते तामुषित्वा तु रजनीं तत्र तापसाः ।
हुताग्नयो जप्तजप्याः प्रतस्थुर्मज्जिघांसया ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् रातभर वहीं रहकर प्रातःकाल संध्योपासन, गायत्री-जप और अग्निहोत्र करके वे तपस्वी मुनि मेरा वध करनेकी इच्छासे उस आश्रमसे चले ॥ २१ ॥

अभ्यगच्छत् ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः ।
कुरुक्षेत्रं महाराज कन्यया सह भारत ॥ २२ ॥

महाराज भरतनन्दन ! फिर उन वेदवादी मुनियोंको साथ ले परशुरामजी राजकन्या अम्बाके साथ कुरुक्षेत्रमें आये ॥

न्यविशन्त ततः सर्वे परिगृह्य सरस्वतीम् ।
तापसास्ते महात्मानो भृगुश्रेष्ठपुरस्कृताः ॥ २३ ॥

वहाँ भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीको आगे करके उन सभी तपस्वी महात्माओंने सरस्वती नदीके तटका आश्रय ले रात्रिमें निवास किया ॥ २३ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तृतीये दिवसे संदिदेश व्यवस्थितः ।
कुरु प्रियं स मे राजन् प्राप्तोऽस्मीति महाव्रतः ॥ २४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—तदनन्तर तीसरे दिन (हस्तिनापुरके बाहर) एक स्थानपर ठहरकर महान् व्रतधारी परशुरामजीने मुझे संदेश दिया—'राजन् ! मैं यहाँ आया हूँ । तुम मेरा प्रिय कार्य करो' ॥ २४ ॥

तमागतमहं श्रुत्वा विषयान्तं महाबलम् ।
अभ्यगच्छं जवेनाशु प्रीत्या तेजोनिधिं प्रभुम् ॥ २५ ॥

तेजके भण्डार और महाबली भगवान् परशुरामको अपने राज्यकी सीमापर आया हुआ सुनकर मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ वेगपूर्वक उनके पास गया ॥ २५ ॥

गां पुरस्कृत्य राजेन्द्र ब्राह्मणैः परिवारितः ।
ऋत्विग्भिर्देवकल्पैश्च तथैव च पुरोहितैः ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! उस समय एक गौको आगे करके ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ मैं देवताओंके समान तेजस्वी ऋत्विजों तथा पुरोहितोंके साथ उनकी सेवामें उपस्थित हुआ ॥ २६ ॥

स मामभिगतं दृष्ट्वा जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
प्रतिजग्राह तां पूजां वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

मुझे अपने समीप आया हुआ देख प्रतापी परशुरामजीने मेरी दी हुई पूजा स्वीकार की और इस प्रकार कहा ॥

राम उवाच

भीष्म कां बुद्धिमास्थाय काशिराजसुता तदा ।
अकामेन त्वयाऽऽनीता पुनश्चैव विसर्जिता ॥ २८ ॥

परशुरामजी बोले—भीष्म ! तुमने किस विचारसे उन दिनों स्वयं पत्नीकी कामनासे रहित होते हुए भी राजकी इस कन्याका अपहरण किया, अपने घर ले और पुनः इसे निकाल बाहर किया ॥ २८ ॥

विभ्रंशिता त्वया हीयं धर्मादास्ते यशस्विनी ।
परामृष्टां त्वया हीमां को हि गन्तुमिहार्हति ॥

तुमने इस यशस्विनी राजकुमारीको धर्मसे भ्रष्ट कर है । तुम्हारे द्वारा इसका स्पर्श कर लिया गया है, ऐसी में इसे दूसरा कौन ग्रहण कर सकता है ? ॥ २९ ॥

प्रत्याख्याता हि शाल्वेन त्वयाऽऽनीतेति भारत ।
तस्मादिमां मन्नियोगात् प्रतिगृह्णीष्व भारत ॥

भारत ! तुम इसे हरकर लाये थे । इसी कारणसे राजने इसके साथ विवाह करनेसे इन्कार कर दिया है; अब तुम मेरी आज्ञासे इसे ग्रहण कर लो ॥ ३० ॥

स्वधर्मं पुरुषव्याघ्र राजपुत्री लभत्वियम् ।
न युक्तस्त्ववमानोऽयं राज्ञां कर्तुं त्वयानघ ॥

पुरुषसिंह ! तुम्हें ऐसा करना चाहिये, जिससे इस कुमारीको स्वधर्मपालनका अवसर प्राप्त हो । अनघ ! राजाओंका इस प्रकार अपमान करना उचित नहीं है ॥

ततस्तं वै विमनसमुदीक्ष्याहमथाब्रुवम् ।
नाहमेनां पुनर्दद्यां ब्रह्मन् भ्रात्रे कथंचन ॥

तब मैंने परशुरामजीको उदास देखकर इस कहा—'ब्रह्मन् ! अब मैं इसका विवाह अपने भाईके किसी प्रकार नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

शाल्वस्याहमिति प्राह पुरा मामेव भार्गव ।
मया चैवाभ्यनुज्ञाता गतेयं नगरं प्रति ॥

'भृगुनन्दन ! इसने पहले मुझसे ही आकर कहा मैं शाल्वकी हूँ, तब मैंने इसे जानेकी आज्ञा दे दी और शाल्वराजके नगरको चली गयी ॥ ३३ ॥

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया ।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम् ॥

'मैं भयसे, दयासे, धनके लोभसे तथा और किसी से भी क्षत्रियधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा किया हुआ व्रत है' ॥ ३४ ॥

अथ मामब्रवीद् रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
न करिष्यसि चेदेतद् वाक्यं मे नरपुङ्गव ॥
हनिष्यामि सहामात्यं त्वामद्येति पुनः पुनः ।

तब यह सुनकर परशुरामजीके नेत्रोंमें क्रोधका भाव हो गया और वे मुझसे इस प्रकार बोले—'नरश्रेष्ठ ! यदि तुम यह बात नहीं मानोगे तो आज मैं मन्त्रियोंसहित तुम्हें डालूँगा ।' इस बातको उन्होंने बार-बार दुहराया ॥

संरम्भादब्रवीद् रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥
तमहं गीर्भिरिष्टाभिः पुनः पुनररिंदम ।
अयाचं भृगुशार्दूलं न चैव प्रशशाम सः ॥

शत्रुदमन दुर्योधन ! परशुरामजीने क्रोधभरे

देखते हुए बड़े रोषावेशमें आकर यह बात कही थी, तथापि मैं प्रिय वचनोंद्वारा उन भृगुश्रेष्ठ महात्मासे बार-बार शान्त रहनेके लिये प्रार्थना करता रहा; पर वे किसी प्रकार शान्त न हो सके ॥ ३६-३७ ॥

प्रणम्य तमहं मूर्ध्ना भूयो ब्राह्मणसत्तमम् ।
अब्रुवं कारणं किं तद् यत् त्वं युद्धं मयेच्छसि ॥ ३८ ॥
इष्वस्त्रं मम बालस्य भवतैव चतुर्विधम् ।
उपदिष्टं महाबाहो शिष्योऽस्मि तव भार्गव ॥ ३९ ॥

तब मैंने उन ब्राह्मणशिरोमणिके चरणोंमें मस्तक झुकाकर पुनः प्रणाम किया और इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या कारण है कि आप मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं ? बाल्यावस्थामें आपने ही मुझे चार प्रकारके धनुर्वेदकी शिक्षा दी है। महाबाहु भार्गव ! मैं तो आपका शिष्य हूँ' ॥ ३८-३९ ॥

ततो मामब्रवीद् रामः क्रोधसंरक्तलोचनः ।
जानीषे मां गुरुं भीष्म गृह्णासीमां न चैव ह ॥ ४० ॥
सुतां काश्यस्य कौरव्य मत्प्रियार्थं महामते ।
न हि ते विद्यते शान्तिरन्यथा कुरुनन्दन ॥ ४१ ॥

तब परशुरामजीने क्रोधसे लाल आँखें करके मुझसे कहा—'महामते भीष्म ! तुम मुझे अपना गुरु तो समझते हो; परंतु मेरा प्रिय करनेके लिये काशिराजकी इस कन्याको ग्रहण नहीं करते हो; किंतु कुरुनन्दन ! ऐसा किये बिना तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती ॥ ४०-४१ ॥

गृहाणेमां महाबाहो रक्षस्व कुलमात्मनः ।
त्वया विभ्रंशिता हीयं भर्तारं नाधिगच्छति ॥ ४२ ॥

'महाबाहो ! इसे ग्रहण कर लो और इस प्रकार अपने कुलकी रक्षा करो। तुम्हारे द्वारा अपनी मर्यादासे गिर जानेके कारण इसे पतिकी प्राप्ति नहीं हो रही है' ॥ ४२ ॥

तथा ब्रुवन्तं तमहं रामं परपुरंजयम् ।
नैतदेवं पुनर्भावि ब्रह्मर्षे किं श्रमेण ते ॥ ४३ ॥

ऐसी बातें करते हुए शत्रुनगरविजयी परशुरामजीसे मैंने स्पष्ट कह दिया—'ब्रह्मर्षे ! अब फिर ऐसी बात नहीं हो सकती। इस विषयमें आपके परिश्रमसे क्या होगा ? ॥४३॥

गुरुत्वं त्वयि सम्प्रेक्ष्य जामदग्न्य पुरातनम् ।
प्रसादये त्वां भगवंस्त्यक्तैषा तु पुरा मया ॥ ४४ ॥

'जमदग्निनन्दन ! भगवन् ! आप मेरे प्राचीन गुरु हैं, यह सोचकर ही मैं आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहा हूँ। इस अम्बाको तो मैंने पहले ही त्याग दिया था ॥ ४४ ॥

को जातु परभावां हि नारीं व्यालीमिव स्थिताम् ।
वासयेत गृहे जानन् स्त्रीणां दोषो महात्ययः ॥ ४५ ॥

'दूसरेके प्रति अनुराग रखनेवाली नारी सर्पिणीके समान भयंकर होती है। कौन ऐसा पुरुष होगा, जो जान-बूझकर उसे कभी भी अपने घरमें स्थान देगा; क्योंकि स्त्रियोंका (परपुरुषमें अनुरागरूप) दोष महान् अनर्थका कारण होता है ॥

न भयाद् वासवस्यापि धर्मं जह्यां महाव्रत ।
प्रसीद मा वा यद् वा ते कार्यं तत् कुरु मा चिरम् ॥ ४६ ॥

'महान् व्रतधारी राम ! मैं इन्द्रके भी भयसे धर्मका त्याग नहीं कर सकता। आप प्रसन्न हों या न हों। आपको जो कुछ करना हो, शीघ्र कर डालिये ॥ ४६ ॥

अयं चापि विशुद्धात्मन् पुराणे श्रूयते विभो ।
मरुत्तेन महाबुद्धे गीतः श्लोको महात्मना ॥ ४७ ॥
"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते" ॥ ४८ ॥

'विशुद्ध हृदयवाले परम बुद्धिमान् राम ! पुराणमें महात्मा मरुत्तके द्वारा कहा हुआ यह श्लोक सुननेमें आता है कि यदि गुरु भी गर्वमें आकर कर्तव्य और अकर्तव्यको न समझते हुए कुपथका आश्रय ले तो उसका परित्याग कर दिया जाता है॥

स त्वं गुरुरिति प्रेम्णा मया सम्मानितो भृशम् ।
गुरुवृत्तिं न जानीषे तस्माद् योत्स्यामि वै त्वया ॥४९॥

'आप मेरे गुरु हैं, यह समझकर मैंने प्रेमपूर्वक आपका अधिक-से-अधिक सम्मान किया है; परंतु आप गुरुका-सा बर्ताव नहीं जानते; अतः मैं आपके साथ युद्ध करूँगा ॥४९॥

गुरुं न हन्यां समरे ब्राह्मणं च विशेषतः ।
विशेषतस्तपोवृद्धमेवं क्षान्तं मया तव ॥ ५० ॥

'एक तो आप गुरु हैं। उसमें भी विशेषतः ब्राह्मण हैं। उसपर भी विशेष बात यह है कि आप तपस्यामें बढ़े-चढ़े हैं। अतः आप-जैसे पुरुषको मैं कैसे मार सकता हूँ ? यही सोचकर मैंने अबतक आपके तीक्ष्ण बर्तावको चुपचाप सह लिया॥

उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा ब्राह्मणं क्षत्रबन्धुवत् ।
यो हन्यात् समरे क्रुद्धं युध्यन्तमपलायिनम् ॥ ५१ ॥
ब्रह्महत्या न तस्य स्यादिति धर्मेषु निश्चयः ।
क्षत्रियाणां स्थितो धर्मे क्षत्रियोऽस्मि तपोधन ॥ ५२ ॥

'यदि ब्राह्मण भी क्षत्रियकी भाँति धनुष-बाण उठाकर युद्धमें क्रोधपूर्वक सामने आकर युद्ध करने लगे और पीठ दिखाकर भागे नहीं तो उसे इस दशामें देखकर जो योद्धा मार डालता है, उसे ब्रह्महत्याका दोष नहीं लगता, यह धर्मशास्त्रोंका निर्णय है। तपोधन ! मैं क्षत्रिय हूँ और क्षत्रियोंके ही धर्ममें स्थित हूँ ॥ ५१-५२ ॥

यो यथा वर्तते यस्मिंस्तस्मिन्नेव प्रवर्तयन् ।
नाधर्मं समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति ॥ ५३ ॥

'जो जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करनेवाला पुरुष न तो अधर्मको प्राप्त होता है और न अमङ्गलका ही भागी होता है ॥ ५३ ॥

अर्थे वा यदि वा धर्मे समर्थो देशकालवित् ।
अर्थसंशयमापन्नः श्रेयान्निःसंशयो नरः ॥ ५४ ॥

'अर्थ (लौकिक कृत्य) और धर्मके विवेचनमें कुशल तथा देश-कालके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष यदि अर्थके विषयमें संशय उत्पन्न होनेपर उसे छोड़कर संशयशून्य हृदयसे केवल धर्मका ही अनुष्ठान करे तो वह श्रेष्ठ माना गया है ॥ ५४ ॥

यस्मात् संशयिते ऽप्यर्थे ऽयथान्यायं प्रवर्तसे।
तस्माद् योत्स्यामि सहितस्त्वया राम महाहवे ॥ ५५ ॥

'राम! 'अम्बा ग्रहण करने योग्य है या नहीं' यह संशयग्रस्त विषय है तो भी आप इसे ग्रहण करनेके लिये मुझसे न्यायोचित बर्ताव नहीं कर रहे हैं; इसलिये महान् समराङ्गणमें आपके साथ युद्ध करूँगा ॥ ५५ ॥

पश्य मे बाहुवीर्यं च विक्रमं चातिमानुषम्।
एवं गतेऽपि तु मया यच्छक्यं भृगुनन्दन ॥ ५६ ॥
तत् करिष्ये कुरुक्षेत्रे योत्स्ये विप्र त्वया सह।
द्वन्द्वे राम यथेष्टं मे सज्जीभव महाद्युते ॥ ५७ ॥

'आप उस समय मेरे बाहुबल और अलौकिक पराक्रमको देखियेगा। भृगुनन्दन! ऐसी स्थितिमें भी मैं जो कुछ कर सकता हूँ, उसे अवश्य करूँगा। विप्रवर! मैं कुरुक्षेत्रमें चलकर आपके साथ युद्ध करूँगा। महातेजस्वी राम! आप द्वन्द्वयुद्धके लिये इच्छानुसार तैयारी कर लीजिये ॥ ५६-५७ ॥

तत्र त्वं निहतो राम मया शरशतार्दितः।
प्राप्स्यसे निर्जिताँल्लोकान् शस्त्रपूतो महारणे ॥ ५८ ॥

'राम! उस महान् युद्धमें मेरे सैकड़ों बाणोंसे पीड़ित एवं शस्त्रपूत हो मारे जानेपर आप पुण्य कर्मोंद्वारा जीते हुए दिव्य लोकोंको प्राप्त करेंगे ॥ ५८ ॥

स गच्छ विनिवर्तस्व कुरुक्षेत्रं रणप्रिय।
तत्रैष्यामि महाबाहो युद्धाय त्वां तपोधन ॥ ५९ ॥

'युद्धप्रिय महाबाहु तपोधन! अब आप लौटिये और कुरुक्षेत्रमें ही चलिये। मैं युद्धके लिये वहीं आपके पास आऊँगा॥

अपि यत्र त्वया राम कृतं शौचं पुरा पितुः।
तत्राहमपि हत्वा त्वां शौचं कर्तास्मि भार्गव ॥ ६० ॥

'भृगुनन्दन परशुराम! जहाँ पूर्वकालमें अपने पिताको अञ्जलि-दान देकर आपने आत्मशुद्धिका अनुभव किया था, वहीं मैं भी आपको मारकर आत्मशुद्धि करूँगा ॥ ६० ॥

तत्र राम समागच्छ त्वरितं युद्धदुर्मद।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं पौराणं ब्राह्मणब्रुव ॥ ६१ ॥

'ब्राह्मण कहलानेवाले रणदुर्मद राम! आप तुरंत कुरुक्षेत्रमें पधारिये। मैं वहीं आकर आपके पुरातन दर्पका दलन करूँगा ॥ ६१ ॥

यच्चापि कत्थसे राम बहुशः परिषत्सु वै।
निर्जिताः क्षत्रिया लोके मयैकेनेति तच्छृणु ॥ ६२ ॥

'राम! आप जो बहुत बार भरी सभाओंमें अपनी प्रशंसाके लिये यह कहा करते हैं कि मैंने अकेले ही संसारके समस्त क्षत्रियोंको जीत लिया था तो उसका उत्तर सुन लीजिये ॥

न तदा जातवान् भीष्मः क्षत्रियो वापि मद्विधः।
पश्चाज्जातानि तेजांसि तृणेषु ज्वलितं त्वया ॥ ६३ ॥

'उन दिनों भीष्म अथवा मेरे-जैसा दूसरा कोई क्षत्रिय नहीं उत्पन्न हुआ था। तेजस्वी क्षत्रिय तो पीछे उत्पन्न हुए हैं। आप तो घास-फूसमें ही प्रज्वलित हुए हैं (तिनकोंके समान दुर्बल क्षत्रियोंपर ही अपना तेज प्रकट किया है)॥

यस्ते युद्धमयं दर्पं कामं च व्यपनाशयेत्।
सोऽहं जातो महाबाहो भीष्मः परपुरंजयः।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम न संशयः ॥ ६

'महाबाहो! जो आपकी युद्धविषयक कामना अभिमानको नष्ट कर सके, वह शत्रुनगरीपर विजय पा यह भीष्म तो अब उत्पन्न हुआ है। राम! मैं युद्धमें का सारा घमंड चूर-चूर कर दूँगा, इसमें संशय नहीं

भीष्म उवाच

ततो मामब्रवीद् रामः प्रहसन्निव भारत।
दिष्ट्या भीष्म मया सार्धं योद्धुमिच्छसि संगरे॥ ६

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! तब परशुरा मुझसे हँसते हुए-से कहा—'भीष्म! बड़े सौभाग्यकी कि तुम रणक्षेत्रमें मेरे साथ युद्ध करना चाहते हो॥ ६

अयं गच्छामि कौरव्य कुरुक्षेत्रं त्वया सह।
भाषितं ते करिष्यामि तत्रागच्छ परंतप॥ ६
तत्र त्वां निहतं माता मया शरशताचितम्।
जाह्नवी पश्यतां भीष्म गृध्रकङ्कबलाशनम्॥ ६

'कुरुनन्दन! यह देखो, मैं तुम्हारे साथ युद्धके कुरुक्षेत्रमें चलता हूँ। परंतप! वहीं आओ। मैं तुम्हारा पूरा करूँगा। वहाँ तुम्हारी माता गङ्गा तुम्हें मेरे हाथसे कर सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त और कौओं, कङ्कों तथा गीं भोजन बना हुआ देखेगी ॥ ६६-६७ ॥

कृपणं त्वामभिप्रेक्ष्य सिद्धचारणसेविता।
मया विनिहतं देवी रोदतामद्य पार्थिव॥ ६

'राजन्! तुम दीन हो। आज तुम्हें मेरे हाथसे मारा देख सिद्ध-चारणसेविता गङ्गादेवी रुदन करें॥ ६८॥

अतदर्हा महाभागा भगीरथसुतानघा।
या त्वामजीजनन्मन्दं युद्धकामुकमातुरम्॥ ६

'यद्यपि वे महाभागा भगीरथपुत्री पापहीना गङ्गा दुःख देखनेके योग्य नहीं हैं, तथापि जिन्होंने तुम-जैसे कामी, आतुर एवं मूर्ख पुत्रको जन्म दिया है, उन्हें यह भोगना ही पड़ेगा ॥ ६९ ॥

एहि गच्छ मया भीष्म युद्धकामुक दुर्मद।
गृहाण सर्वं कौरव्य रथादि भरतर्षभ॥ ७

'युद्धकी इच्छा रखनेवाले मदोन्मत्त भीष्म! आओ साथ चलो। भरतश्रेष्ठ कुरुनन्दन! रथ आदि सारी साथ ले लो' ॥ ७० ॥

इति ब्रुवाणं तमहं रामं परपुरंजयम्।
प्रणम्य शिरसा राममेवमस्त्वित्यथाब्रुवम्॥ ७

शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले परशुरामजीको प्रकार कहते देख मैंने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम और 'एवमस्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की ॥ ७

एवमुक्त्वा ययौ रामः कुरुक्षेत्रं युयुत्सया।
प्रविश्य नगरं चाहं सत्यवत्यै न्यवेदयम्॥ ७

ऐसा कहकर परशुरामजी युद्धकी इच्छासे कुरुक्षेत्रमें गये और मैंने नगरमें प्रवेश करके सत्यवतीसे यह सारा समाचार निवेदन किया ॥ ७२ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययनो मात्रा च प्रतिनन्दितः ।
द्विजातीन् वाच्य पुण्याहं स्वस्ति चैव महाद्युते ॥ ७३ ॥
रथमास्थाय रुचिरं राजतं पाण्डुरैर्हयैः ।
सूपस्करं स्वधिष्ठानं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥ ७४ ॥
उपपन्नं महाशस्त्रैः सर्वोपकरणान्वितम् ।
तत्कुलीनेन वीरेण हयशास्त्रविदा रणे ॥ ७५ ॥
युक्तं सूतेन शिष्टेन बहुशो दृष्टकर्मणा ।

महातेजस्वी नरेश ! उस समय स्वस्तिवाचन कराकर माता सत्यवतीने मेरा अभिनन्दन किया और मैं ब्राह्मणोंसे पुण्याहवाचन करा उनसे कल्याणकारी आशीर्वाद ले सुन्दर रजतमय रथपर आरूढ़ हुआ । उस रथमें श्वेत रंगके घोड़े जुते हुए थे । उसमें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री सुन्दर ढंगसे रक्खी गयी थी । उसकी बैठक बहुत सुन्दर थी । रथके ऊपर व्याघ्रचर्मका आवरण लगाया गया था । वह रथ बड़े-बड़े शस्त्रों तथा समस्त उपकरणोंसे सम्पन्न था । युद्धमें जिसका कार्य अनेक बार देख लिया गया था, ऐसे सुशिक्षित, कुलीन, वीर तथा अश्वशास्त्रके पण्डित सारथिद्वारा उस रथका संचालन और नियन्त्रण होता था ॥ ७३—७५½ ॥

दंशितः पाण्डुरेणाहं कवचेन वपुष्मता ॥ ७६ ॥
पाण्डुरं कार्मुकं गृह्य प्रायां भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ ! मैंने अपने शरीरपर श्वेतवर्णका कवच धारण करके श्वेत धनुष हाथमें लेकर यात्रा की ॥ ७६½ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥ ७७ ॥
पाण्डुरैश्चापि व्यजनैर्वीज्यमानो नराधिप ।
शुक्लवासाः सितोष्णीषः सर्वशुक्लविभूषणः ॥ ७८ ॥

नरेश्वर ! उस समय मेरे मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था और मेरे दोनों ओर सफेद रंगके चँवर डुलाये जाते थे । मेरे वस्त्र, मेरी पगड़ी और मेरे समस्त आभूषण श्वेत वर्णके ही थे ॥ ७७-७८ ॥

स्तूयमानो जयाशीर्भिर्निष्क्रम्य गजसाह्वयात् ।
कुरुक्षेत्रं रणक्षेत्रमुपायां भरतर्षभ ॥ ७९ ॥

विजयसूचक आशीर्वादोंके साथ मेरी स्तुति की जा रही थी । भरतभूषण ! उस अवस्थामें मैं हस्तिनापुरसे निकलकर कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें गया ॥ ७९ ॥

ते हयाश्चोदितास्तेन सूतेन परमाहवे ।
अवहन् मां भृशं राजन् मनोमारुतरंहसः ॥ ८० ॥

राजन् ! मेरे घोड़े मन और वायुके समान वेगशाली थे । सारथिके हाँकनेपर उन्होंने बात-की-बातमें मुझे उस महान् युद्धके स्थानपर पहुँचा दिया ॥ ८० ॥

गत्वाहं तत् कुरुक्षेत्रं स च रामः प्रतापवान् ।
युद्धाय सहसा राजन् पराक्रान्तौ परस्परम् ॥ ८१ ॥

राजन् ! मैं तथा प्रतापी परशुरामजी दोनों कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर युद्धके लिये सहसा एक-दूसरेको पराक्रम दिखानेके लिये उद्यत हो गये ॥ ८१ ॥

ततः संदर्शनेऽतिष्ठं रामस्यातितपस्विनः ।
प्रगृह्य शङ्खप्रवरं ततः प्राधममुत्तमम् ॥ ८२ ॥

तदनन्तर मैं अत्यन्त तपस्वी परशुरामजीकी दृष्टिके सामने खड़ा हुआ और अपने श्रेष्ठ शङ्खको हाथमें लेकर उसे जोर-जोरसे बजाने लगा ॥ ८२ ॥

ततस्तत्र द्विजा राजंस्तापसाश्च वनौकसः ।
अपश्यन्त रणं दिव्यं देवाः सेन्द्रगणास्तदा ॥ ८३ ॥

राजन् ! उस समय वहाँ बहुत-से ब्राह्मण, वनवासी तपस्वी तथा इन्द्रसहित देवगण उस दिव्य युद्धको देखने लगे ॥

ततो दिव्यानि माल्यानि प्रादुरासंस्ततस्ततः ।
वादित्राणि च दिव्यानि मेघवृन्दानि चैव ह ॥ ८४ ॥

तदनन्तर वहाँ इधर-उधरसे दिव्य मालाएँ प्रकट होने लगीं और दिव्य वाद्य बज उठे । साथ ही सब ओर मेघोंकी घटाएँ छा गयीं ॥ ८४ ॥

ततस्ते तापसाः सर्वे भार्गवस्यानुयायिनः ।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त परिवार्य रणाजिरम् ॥ ८५ ॥

तदनन्तर परशुरामजीके साथ आये हुए वे सब तपस्वी उस संग्रामभूमिको सब ओरसे घेरकर दर्शक बन गये ॥ ८५ ॥

ततो मामब्रवीद् देवी सर्वभूतहितैषिणी ।
माता स्वरूपिणी राजन् किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ८६ ॥

राजन् ! उस समय समस्त प्राणियोंका हित चाहनेवाली मेरी माता गङ्गादेवी स्वरूपतः प्रकट होकर बोलीं—'बेटा ! यह तू क्या करना चाहता है ?' ॥ ८६ ॥

गत्वाहं जामदग्न्यं तु प्रयाचिष्ये कुरूद्वह ।
भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति पुनः पुनः ॥ ८७ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! मैं स्वयं जाकर जमदग्निनन्दन परशुरामजीसे बारंबार याचना करूँगी कि आप अपने शिष्य भीष्मके साथ युद्ध न कीजिये ॥ ८७ ॥

मा मैवं पुत्र निर्बन्धं कुरु विप्रेण पार्थिव ।
जामदग्न्येन समरे योद्धुमित्येव भर्त्सयत् ॥ ८८ ॥

'बेटा ! तू ऐसा आग्रह न कर । राजन् ! विप्रवर जमदग्निनन्दन परशुरामके साथ समरभूमिमें युद्ध करनेका हठ अच्छा नहीं है ।' ऐसा कहकर वे डाँट बताने लगीं ॥

किन्न वै क्षत्रियहणो हरतुल्यपराक्रमः ।
विदितः पुत्र रामस्ते यतस्तं योद्धुमिच्छसि ॥ ८९ ॥

अन्तमें वे फिर बोलीं—'बेटा ! क्षत्रियहन्ता परशुराम महादेवजीके समान पराक्रमी हैं । क्या तू उन्हें नहीं जानता, जो उनके साथ युद्ध करना चाहता है ?' ॥ ८९ ॥

ततोऽहमब्रुवं देवीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
सर्वं तद् भरतश्रेष्ठ यथावृत्तं स्वयंवरे ॥ ९० ॥

तब मैंने हाथ जोड़कर गङ्गादेवीको प्रणाम किया और

स्वयंवरमें जैसी घटना घटित हुई थी, वह सब वृत्तान्त उनसे आद्योपान्त कह सुनाया ॥ ९० ॥

यथा च रामो राजेन्द्र मया पूर्वं प्रचोदितः ।
काशिराजसुतायाश्च यथा कर्म पुरातनम् ॥ ९१ ॥

राजेन्द्र ! मैंने परशुरामजीसे पहले जो-जो बातें कही थीं तथा काशिराजकी कन्याकी जो पुरानी करतूतें थीं, उन सबको बता दिया ॥ ९१ ॥

ततः सा राममभ्येत्य जननी मे महानदी ।
मदर्थे तमृषिं वीक्ष्य क्षमयामास भार्गवम् ॥ ९२ ॥

तत्पश्चात् मेरी जन्मदायिनी माता गङ्गाने भृगुनन्दन परशुरामजीके पास जाकर मेरे लिये उनसे क्षमा माँगी ॥ ९२ ॥

भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति वचोऽब्रवीत् ।
स च तामाह याचन्तीं भीष्ममेव निवर्तय ।
न च मे कुरुते काममित्यहं तमुपागमम् ॥ ९३ ॥

साथ ही यह भी कहा कि भीष्म आपका शिष्य है; अतः उसके साथ आप युद्ध न कीजिये। तब याचना करनेवाली मेरी मातासे परशुरामजीने कहा—'तुम पहले भीष्म युद्धसे निवृत्त करो। वह मेरे इच्छानुसार कार्य नहीं क है; इसीलिये मैंने उसपर चढ़ाई की है' ॥ ९३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो गङ्गा सुतस्नेहाद् भीष्म पुनरुपागमत् ।
न चास्याश्चाकरोद् वाक्यं क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ९

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब ग पुत्रस्नेहवश पुनः भीष्मके पास आयीं। उस समय भी नेत्रोंमें क्रोध व्याप्त हो रहा था; अतः उन्होंने भी म कहना नहीं माना ॥ ९४ ॥

अथादृश्यत धर्मात्मा भृगुश्रेष्ठो महातपाः ।
आह्वयामास च तदा युद्धाय द्विजसत्तमः ॥ ९

इतनेमें ही भृगुकुलतिलक ब्राह्मणशिरोमणि महात धर्मात्मा परशुरामजी दिखायी दिये। उन्होंने सामने अ युद्धके लिये भीष्मको ललकारा ॥ ९५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि परशुरामभीष्मयोः कुरुक्षेत्रावतरणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम और भीष्मका कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये अवतरणविषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

संकल्पनिर्मित रथपर आरूढ़ परशुरामजीके साथ भीष्मका युद्ध प्रारम्भ करना

भीष्म उवाच

तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम् ।
भूमिष्ठं नोत्सहे योद्धुं भवन्तं रथमास्थितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब मैं युद्धके लिये खड़े हुए परशुरामजीसे मुसकराता हुआ-सा बोला—'ब्रह्मन् ! मैं रथपर बैठा हूँ और आप भूमिपर खड़े हैं। ऐसी दशामें मैं आपके साथ युद्ध नहीं कर सकता ॥ १ ॥

आरोह स्यन्दनं वीर कवचं च महाभुज ।
बधान समरे राम यदि योद्धुं मयेच्छसि ॥ २ ॥

'महाबाहो ! वीरवर राम ! यदि आप समरभूमिमें मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं तो रथपर आरूढ़ होइये और कवच भी बाँध लीजिये' ॥ २ ॥

ततो मामब्रवीद् रामः स्मयमानो रणाजिरे ।
रथो मे मेदिनी भीष्म वाहा वेदाः सदश्ववत् ॥ ३ ॥
सूतश्च मातरिश्वा वै कवचं वेदमातरः ।
सुसंवीतो रणे ताभिर्योत्स्येऽहं कुरुनन्दन ॥ ४ ॥

तब परशुरामजी समराङ्गणमें किंचित् मुसकराते हुए मुझसे बोले—'कुरुनन्दन भीष्म ! मेरे लिये तो पृथ्वी ही रथ है, चारों वेद ही उत्तम अश्वोंके समान मेरे वाहन हैं, वायुदेव ही सारथि हैं और वेदमाताएँ (गायत्री, सावित्री और सरस्वती) ही कवच हैं। इन सबसे आवृत एवं सुरक्षित होकर मैं रणक्षेत्रमें युद्ध करूँगा' ॥ ३-४ ॥

एवं ब्रुवाणो गान्धारे रामो मां सत्यविक्रमः ।
शरव्रातेन महता सर्वतः प्रत्यवारयत् ॥ ५

गान्धारीनन्दन ! ऐसा कहते हुए सत्यपराक्रमी प रामजीने मुझे सब ओरसे अपने बाणोंके महान् समुद द्वारा आवृत कर लिया ॥ ५ ॥

ततोऽपश्यं जामदग्न्यं रथमध्ये व्यवस्थितम् ।
सर्वायुधवरे श्रीमत्यद्भुतोपमदर्शने ॥ ६

उस समय मैंने देखा, जमदग्निनन्दन परशुराम अ श्रेष्ठ आयुधोंसे सुशोभित, तेजस्वी, एवं अद्भुत दिखायी दे वाले रथमें बैठे हैं ॥ ६ ॥

मनसा विहिते पुण्ये विस्तीर्णे नगरोपमे ।
दिव्याश्वयुजि संनद्धे काञ्चनेन विभूषिते ॥ ७

उसका विस्तार एक नगरके समान था। उस पुण्य का निर्माण उन्होंने अपने मानसिक संकल्पसे किया था उसमें दिव्य अश्व जुते हुए थे। वह स्वर्णभूषित रथ प्रकारसे सुसज्जित था ॥ ७ ॥

कवचेन महाबाहो सोमार्ककृतलक्ष्मणा ।
धनुर्धरो बद्धतूणो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ ८

महाबाहो ! परशुरामजीने एक सुन्दर कवच धारण रक्खा था, जिसमें चन्द्रमा और सूर्यके चिह्न बने हुए उन्होंने हाथमें धनुष लेकर पीठपर तरकस बाँध रक्खा और अंगुलियोंकी रक्षाके लिये गोहके चर्मके बने हुए दस पहन रक्खे थे ॥ ८ ॥

सारथ्यं कृतवांस्तत्र युयुत्सोरकृतव्रणः ।

सखा वेदविदत्यन्तं दयितो भार्गवस्य ह ॥ ९ ॥

उस समय युद्धके इच्छुक परशुरामजीके प्रिय सखा दवेत्ता अकृतव्रणने उनके सारथिका कार्य सम्पन्न किया ॥

आह्वयानः स मां युद्धे मनो हर्षयतीव मे।
पुनः पुनरभिक्रोशन्नभियाहीति भार्गवः ॥ १० ॥

भृगुनन्दन राम 'आओ, आओ' कहकर बार-बार मुझे पुकारते और युद्धके लिये मेरा आह्वान करते हुए मेरे मनको हर्ष और उत्साह-सा प्रदान कर रहे थे ॥ १० ॥

तमादित्यमिवोद्यन्तमनाधृष्यं महाबलम्।
क्षत्रियान्तकरं राममेकमेकः समासदम् ॥ ११ ॥

उदयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी, अजेय, महाबली और क्षत्रियविनाशक परशुराम अकेले ही युद्धके लिये खड़े थे। अतः मैं भी अकेला ही उनका सामना करनेके लिये गया॥

ततोऽहं बाणपातेषु त्रिषु वाहान् निगृह्य वै।
अवतीर्य धनुर्न्यस्य पदातिर्ऋषिसत्तमम् ॥ १२ ॥
अभ्यागच्छं तदा राममर्चिष्यन् द्विजसत्तमम्।
अभिवाद्य चैनं विधिवदब्रुवं वाक्यमुत्तमम् ॥ १३ ॥

जब वे तीन बार मेरे ऊपर बाणोंका प्रहार कर चुके, तब मैं घोड़ोंको रोककर और धनुष रखकर रथसे उतर गया और उन ब्राह्मणशिरोमणि मुनिप्रवर परशुरामजीका समादर करनेके लिये पैदल ही उनके पास गया। जाकर विधिपूर्वक उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् यह उत्तम वचन बोला—॥ १२–१३ ॥

योत्स्ये त्वया रणे राम सदृशेनाधिकेन वा।
गुरुणा धर्मशीलेन जयमाशास्व मे विभो ॥ १४ ॥

'भगवन् परशुराम! आप मेरे समान अथवा मुझसे भी अधिक शक्तिशाली हैं। मेरे धर्मात्मा गुरु हैं। मैं इस रणक्षेत्रमें आपके साथ युद्ध करूँगा; अतः आप मुझे विजयके लिये आशीर्वाद दें' ॥ १४ ॥

राम उवाच

एवमेतत् कुरुश्रेष्ठ कर्तव्यं भूतिमिच्छता।
धर्मो ह्येष महाबाहो विशिष्टैः सह युध्यताम् ॥ १५ ॥

परशुरामजीने कहा—कुरुश्रेष्ठ! अपनी उन्नतिके चाहनेवाले प्रत्येक योद्धाको ऐसा ही करना चाहिये। महाबाहो! अपनेसे विशिष्ट गुरुजनोंके साथ युद्ध करनेवाले राजाओंका यही धर्म है ॥ १५ ॥

शपेयं त्वां न चेदेवमागच्छेथा विशाम्पते।
युध्यस्व त्वं रणे यत्तो धैर्यमालम्ब्य कौरव ॥ १६ ॥

प्रजानाथ! यदि तुम इस प्रकार मेरे समीप नहीं आते तो मैं तुम्हें शाप दे देता। कुरुनन्दन! तुम धैर्य धारण करके इस रणक्षेत्रमें प्रयत्नपूर्वक युद्ध करो ॥ १६ ॥

न तु ते जयमाशासे त्वां विजेतुमहं स्थितः।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण प्रीतोऽस्मि चरितेन ते ॥ १७ ॥

मैं तो तुम्हें विजयसूचक आशीर्वाद नहीं दे सकता; क्योंकि इस समय मैं तुम्हें पराजित करनेके लिये खड़ा हूँ। जाओ, धर्मपूर्वक युद्ध करो। तुम्हारे इस शिष्टाचारसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ ॥

ततोऽहं तं नमस्कृत्य रथमारुह्य सत्वरः।
प्राध्मापयं रणे शङ्खं पुनर्हेमपरिष्कृतम् ॥ १८ ॥

तब मैं उन्हें नमस्कार करके शीघ्र ही रथपर जा बैठा और उस युद्धभूमिमें मैंने पुनः अपने सुवर्णजटित शङ्खको बजाया॥

ततो युद्धं समभवन्मम तस्य च भारत।
दिवसान् सुबहून् राजन् परस्परजिगीषया ॥ १९ ॥

राजन्! भरतनन्दन! तदनन्तर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे मेरा तथा परशुरामजीका युद्ध बहुत दिनोंतक चलता रहा॥

स मे तस्मिन् रणे पूर्वं प्राहरत् कङ्कपत्रिभिः।
षष्ट्या शतैश्च नवभिः शराणां नतपर्वणाम् ॥ २० ॥

उस रणभूमिमें उन्होंने ही पहले मेरे ऊपर गीधकी पाँखोंसे सुशोभित तथा मुड़े हुए पर्ववाले नौ सौ साठ बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ २० ॥

चत्वारस्तेन मे वाहाः सूतश्चैव विशाम्पते।
प्रतिरुद्धास्तथैवाहं समरे दंशितः स्थितः ॥ २१ ॥

राजन्! उन्होंने मेरे चारों घोड़ों तथा सारथिको भी अवरुद्ध कर दिया तो भी मैं पूर्ववत् कवच धारण किये उस समरभूमिमें डटा रहा ॥ २१ ॥

नमस्कृत्य च देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।
तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् देवताओं और विशेषतः ब्राह्मणोंको नमस्कार कर मैं रणभूमिमें खड़े हुए परशुरामजीसे मुसकराता हुआ-सा बोला—॥

आचार्यता मानिता मे निर्मर्यादे ह्यपि त्वयि।
भूयश्च शृणु मे ब्रह्मन् सम्पदं धर्मसंग्रहे ॥ २३ ॥

'ब्रह्मन्! यद्यपि आप अपनी मर्यादा छोड़ बैठे हैं तो भी मैंने सदा आपके आचार्यत्वका सम्मान किया है। धर्मसंग्रहके विषयमें मेरा जो दृढ़ विचार है, उसे आप पुनः सुन लीजिये ॥

ये ते वेदाः शरीरस्था ब्राह्मण्यं यच्च ते महत्।
तपश्च ते महत् तप्तं न तेभ्यः प्रहराम्यहम् ॥ २४ ॥

'विप्रवर! आपके शरीरमें जो वेद हैं, जो आपका महान् ब्राह्मणत्व है तथा आपने जो बड़ी भारी तपस्या की है, उन सबके ऊपर मैं बाणोंका प्रहार नहीं करता हूँ ॥२४॥

प्रहरे क्षत्रधर्मस्य यं राम त्वं समाश्रितः।
ब्राह्मणः क्षत्रियत्वं हि याति शस्त्रसमुद्यमात् ॥ २५ ॥

'राम! आपने जिस क्षत्रियधर्मका आश्रय लिया है, मैं उसीपर प्रहार करूँगा; क्योंकि ब्राह्मण हथियार उठाते ही क्षत्रियभावको प्राप्त कर लेता है ॥ २५ ॥

पश्य मे धनुषो वीर्यं पश्य बाह्वोर्बलं मम।
एष ते कार्मुकं वीर छिनद्मि निशितेषुणा ॥ २६ ॥

'अब आप मेरे धनुषकी शक्ति और मेरी भुजाओंका बल देखिये। वीर! मैं अपने बाणसे आपके धनुषको अभी काट देता हूँ' ॥ २६ ॥

तस्याहं निशितं भल्लं चिक्षेप भरतर्षभ ।
तेनास्य धनुषः कोटिं छित्त्वा भूमावपातयम् ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर मैंने उनके ऊपर तेज धारवाले एक भल्ल नामक बाणका प्रहार किया और उसके द्वारा उनके धनुषकी कोटि (अग्रभाग) को काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ २७ ॥

तथैव च पृषत्कानां शतानि नतपर्वणाम् ।
चिक्षेप कङ्कपत्राणां जामदग्न्यरथं प्रति ॥ २८ ॥

इसी प्रकार परशुरामजीके रथकी ओर मैंने गीधकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले सौ बाण चलाये ॥ २८ ॥

काये विषक्तास्तु तदा वायुना समुदीरिताः ।
चेलुः क्षरन्तो रुधिरं नागा इव च ते शराः ॥ २९ ॥

वे बाण वायुद्वारा उड़ाये हुए सर्पोंकी भाँति परशुरामजीके शरीरमें धँसकर खून बहाते हुए चल दिये ॥ २९ ॥

क्षतजोक्षितसर्वाङ्गः क्षरन् स रुधिरं रणे ।
बभौ रामस्तदा राजन् मेरुर्धातुमिवोत्सृजन् ॥ ३० ॥

राजन् ! उस समय उनके सारे अङ्ग लहू-लुहान हो गये । जैसे मेरु पर्वत वर्षाकालमें गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित जलकी धार बहाता है, उसी प्रकार उस रणभूमिमें अपने अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए परशुरामजी शोभा पाने लगे ॥ ३० ॥

हेमन्तान्तेऽशोक इव रक्तस्तबकमण्डितः ।
बभौ रामस्तथा राजन् प्रफुल्ल इव किंशुकः ॥ ३१ ॥

राजन् ! जैसे वसन्त ऋतुमें लाल फूलोंके गुच्छोंसे अलंकृत अशोक और खिला हुआ पलाश सुशोभित होता है, परशुरामजीकी भी वैसी ही शोभा हुई ॥ ३१ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय रामः क्रोधसमन्वितः ।
हेमपुङ्खान् सुनिशितांश्शरांस्तान् हि ववर्ष सः॥ ३२ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए परशुरामजीने दूसरा धनुष लेकर सोनेकी पाँखोंसे सुशोभित अत्यन्त तीखे बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ ३२ ॥

ते समासाद्य मां रौद्रा बहुधा मर्मभेदिनः ।
अकम्पयन् महावेगाः सर्पानलविषोपमाः ॥

वे नाना प्रकारके भयंकर बाण मुझपर चोट कर मर्मस्थानोंका भेदन करने लगे । उनका वेग महान् सर्प, अग्नि और विषके समान जान पड़ते थे । मुझे कम्पित कर दिया ॥ ३३ ॥

तमहं समवष्टभ्य पुनरात्मानमाहवे ।
शतसंख्यैः शरैः क्रुद्धस्तदा राममवाकिरम् ॥

तब मैंने पुनः अपने आपको स्थिर करके क्रु उस युद्धमें परशुरामजीपर सैकड़ों बाण बरसाये ॥ ३४

स तैरग्न्यर्कसंकाशैः शरैराशीविषोपमैः ।
शितैरभ्यर्दितो रामो मन्दचेता इवाभवत् ॥

वे बाण अग्नि, सूर्य तथा विषधर सर्पके भयंकर एवं तीक्ष्ण थे । उनसे पीड़ित होकर परशु अचेत-से हो गये ॥ ३५ ॥

ततोऽहं कृपयाऽऽविष्टो विष्टभ्यात्मानमात्मना ।
धिग्धिगित्यब्रुवं युद्धं क्षत्रधर्मं च भारत ॥

भारत ! तब मैं दयासे द्रवित हो स्वयं ही आपमें धैर्य लाकर युद्ध और क्षत्रियधर्मको धिक्कार देने

असकृच्चाब्रुवं राजन् शोकवेगपरिप्लुतः ।
अहो बत कृतं पापं मयेदं क्षत्रधर्मणा ॥
गुरुर्द्विजातिर्धर्मात्मा यदेवं पीडितः शरैः ।

राजन् ! उस समय शोकके वेगसे व्याकुल हो मैं बार इस प्रकार कहने लगा—'अहो ! मुझ क्षत्रियने य भारी पाप कर डाला, जो कि धर्मात्मा एवं ब्राह्मण गु इस प्रकार बाणोंसे पीड़ित किया' ॥ ३७½ ॥

ततो न प्राहरं भूयो जामदग्न्याय भारत ॥
अथावताप्य पृथिवीं पूषा दिवससंक्षये ।
जगामास्तं सहस्रांशुस्ततो युद्धमुपारमत् ॥

भारत ! उसके बादसे मैंने परशुरामजीपर फिर नहीं किया । इधर सहस्र किरणोंवाले भगवान् सूर्य इस को तपाकर दिनका अन्त होनेपर अस्त हो गये; इसलिये युद्ध बंद हो गया ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम और भीष्मका युद्धविषयक एक सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका घोर युद्ध

भीष्म उवाच

आत्मनस्तु ततः सूतो हयानां च विशाम्पते ।
मम चापनयामास शल्यान् कुशलसम्मतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अपने कार्यमें कुशल एवं सम्मानित सारथिने अपने, घोड़ोंके तथा मेरे भी शरीरमें चुभे हुए बाणोंको निकाला ॥ १ ॥

स्नातापवृत्तैस्तुरगैर्लब्धतोयैरविह्वलैः ।
प्रभाते चोदिते सूर्ये ततो युद्धमवर्तत ॥ २

घोड़े टहलाये गये और लोट-पोट कर लेनेपर नह गये; फिर उन्हें पानी पिलाया गया, इस प्रकार ज स्वस्थ और शान्त हुए, तब प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर पु युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २ ॥

दृष्ट्वा मां तूर्णमायान्तं दंशितं स्यन्दने स्थितम् ।
अकरोद् रथमत्यर्थं रामः सज्जं प्रतापवान् ॥ ३ ॥

मुझे रथपर बैठकर कवच धारण किये शीघ्रतापूर्वक आते देख प्रतापी परशुरामजीने अपने रथको अत्यन्त सुसज्जित किया ॥ ३ ॥

ततोऽहं राममायान्तं दृष्ट्वा समरकाङ्क्षिणम् ।
धनुः श्रेष्ठं समुत्सृज्य सहसावतरं रथात् ॥ ४ ॥

तदनन्तर युद्धकी इच्छावाले परशुरामजीको आते देख मैं अपना श्रेष्ठ धनुष छोड़कर सहसा रथसे उतर पड़ा ॥ ४ ॥

अभिवाद्य तथैवाहं रथमारुह्य भारत ।
युयुत्सुर्जामदग्न्यस्य प्रमुखे वीतभीः स्थितः ॥ ५ ॥

भारत ! पूर्ववत् गुरुको प्रणाम करके अपने रथपर आरूढ़ हो युद्धकी इच्छासे परशुरामजीके सामने मैं निर्भय होकर डट गया ॥

ततोऽहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ।
स च मां शरवर्षेण वर्षन्तं समवाकिरत् ॥ ६ ॥

तदनन्तर मैंने उनपर बाणोंकी भारी वर्षा की । फिर उन्होंने भी बाणोंकी वर्षा करनेवाले मुझ भीष्मपर बहुत-से बाण बरसाये ॥ ६ ॥

संक्रुद्धो जामदग्न्यस्तु पुनरेव सुतेजितान् ।
सम्प्रैषीन्मे शरान् घोरान् दीप्तास्यानुरगानिव ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् जमदग्निकुमारने पुनः अत्यन्त क्रुद्ध होकर मुझपर प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंकी भाँति तेज किये हुए भयानक बाण चलाये ॥ ७ ॥

ततोऽहं निशितैर्भल्लैः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अच्छिदं सहसा राजन्नन्तरिक्षे पुनः पुनः ॥ ८ ॥

राजन् ! तब मैंने सहसा तीखी धारवाले भल्लनामक बाणोंसे आकाशमें ही उन सबके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर दिये । यह क्रिया बारंबार चलती रही ॥ ८ ॥

ततस्त्वस्त्राणि दिव्यानि जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
मयि प्रयोजयामास तान्यहं प्रत्यषेधयम् ॥ ९ ॥
अस्त्रैरेव महाबाहो चिकीर्षन्नधिकां क्रियाम् ।

इसके पश्चात् प्रतापी परशुरामजीने मेरे ऊपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया; परंतु महाबाहो ! मैंने उनसे भी अधिक पराक्रम प्रकट करनेकी इच्छा रखकर उन सब अस्त्रोंका दिव्यास्त्रोंद्वारा ही निवारण कर दिया ॥ ९½ ॥

ततो दिवि महान् नादः प्रादुरासीत् समन्ततः ॥ १० ॥
ततोऽहमस्त्रं वायव्यं जामदग्न्ये प्रयुक्तवान् ।
प्रत्याजघ्ने च तद् रामो गुह्यकास्त्रेण भारत ॥ ११ ॥

उस समय आकाशमें चारों ओर बड़ा कोलाहल होने लगा । इसी समय मैंने जमदग्निकुमारपर वायव्यास्त्रका प्रयोग किया । भारत ! परशुरामजीने गुह्यकास्त्रद्वारा मेरे उस अस्त्रको शान्त कर दिया ॥ १०-११ ॥

ततोऽहमस्त्रमाग्नेयमनुमन्त्र्य प्रयुक्तवान् ।
वारुणेनैव तद् रामो वारयामास मे विभुः ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् मैंने मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया; किंतु भगवान् परशुरामने वारुणास्त्र चलाकर उसका निवारण कर दिया ॥ १२ ॥

एवमस्त्राणि दिव्यानि रामस्याहमवारयम् ।
रामश्च मम तेजस्वी दिव्यास्त्रविदरिंदमः ॥ १३ ॥

इस प्रकार मैं परशुरामजीके दिव्यास्त्रोंका निवारण करता और शत्रुओंका दमन करनेवाले दिव्यास्त्रवेत्ता तेजस्वी परशुराम भी मेरे अस्त्रोंका निवारण कर देते थे ॥ १३ ॥

ततो मां सव्यतो राजन् रामः कुर्वन् द्विजोत्तमः ।
उरस्यविध्यत् संक्रुद्धो जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥ १४ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए प्रतापी विप्रवर परशुरामने मुझे बायें लेकर मेरे वक्षःस्थलको बाणद्वारा बींध दिया ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ संन्यषीदं रथोत्तमे ।
ततो मां कश्मलाविष्टं सूतस्तूर्णमुदावहत् ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उससे घायल होकर मैं उस श्रेष्ठ रथपर बैठ गया, उस समय मुझे मूर्च्छित अवस्थामें देखकर सारथि शीघ्र ही अन्यत्र हटा ले गया ॥ १५ ॥

ग्लायन्तं भरतश्रेष्ठ रामबाणप्रपीडितम् ।
ततो मामपयातं वै भृशं विद्धमचेतसम् ॥ १६ ॥
रामस्यानुचरा हृष्टाः सर्वे दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ।
अकृतव्रणप्रभृतयः काशिकन्या च भारत ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! परशुरामजीके बाणसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण मुझे बड़ी व्याकुलता हो रही थी । मैं अत्यन्त घायल और अचेत होकर रणभूमिसे दूर हट गया था । भारत ! इस अवस्थामें मुझे देखकर परशुरामजीके अकृतव्रण आदि सेवक तथा काशिराजकी कन्या अम्बा ये सब-के-सब अत्यन्त प्रसन्न हो कोलाहल करने लगे ॥ १६-१७ ॥

ततस्तु लब्धसंज्ञोऽहं ज्ञात्वा सूतमथाब्रुवम् ।
याहि सूत यतो रामः सज्जोऽहं गतवेदनः ॥ १८ ॥

इतनेहीमें मुझे चेत हो गया और सब कुछ जानकर मैंने सारथिसे कहा—'सूत ! जहाँ परशुरामजी हैं, वहीं चलो । मेरी पीड़ा दूर हो गयी है और अब मैं युद्धके लिये सुसज्जित हूँ' ॥

ततो मामवहत् सूतो हयैः परमशोभितैः ।
नृत्यद्भिरिव कौरव्य मारुतप्रतिमैर्गतौ ॥ १९ ॥

कुरुनन्दन ! तब सारथिने अत्यन्त शोभाशाली अश्वोंद्वारा, जो वायुके समान वेगसे चलनेके कारण नृत्य करते-से जान पड़ते थे, मुझे युद्धभूमिमें पहुँचाया ॥ १९ ॥

ततोऽहं राममासाद्य बाणवर्षैश्च कौरव ।
अवाकिरं सुसंरब्धः संरब्धं च जिगीषया ॥ २० ॥

कौरव ! तब मैंने क्रोधमें भरे हुए परशुरामजीके पास पहुँचकर उन्हें जीतनेकी इच्छासे स्वयं भी कुपित होकर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ २० ॥

तानापतत एवासौ रामो बाणानजिह्मगान् ।
बाणैरेवाच्छिनत् तूर्णमेकैकं त्रिभिराहवे ॥ २१ ॥

किंतु परशुरामजीने सीधे लक्ष्यकी ओर जानेवाले उन बाणोंके आते ही एक-एकको तीन-तीन बाणोंसे तुरंत काट दिया॥

ततस्ते मुदिताः सर्वे मम बाणाः सुसंशिताः।
रामबाणैर्द्विधा छिन्नाः शतशोऽथ सहस्रशः॥ २२॥

इस प्रकार मेरे चलाये हुए वे सब सैकड़ों और हजारों तीखे बाण परशुरामजीके सायकोंसे कटकर दो-दो टूक हो नष्ट हो गये॥ २२॥

ततः पुनः शरं दीप्तं सुप्रभं कालसम्मितम्।
असृजं जामदग्न्याय रामायाहं जिघांसया॥ २३॥

तब मैंने पुनः जमदग्निनन्दन परशुरामकी ओर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे एक कालाग्निके समान प्रज्वलित तथा तेजस्वी बाण छोड़ा॥ २३॥

तेन त्वभिहतो गाढं बाणवेगवशं गतः।
मुमोह समरे रामो भूमौ च निपपात ह॥ २४॥

उसकी गहरी चोट खाकर परशुरामजी उस बाणके वेगके अधीन हो समरभूमिमें मूर्च्छित हो गये और धरतीपर गिर पड़े॥ २४॥

ततो हाहाकृतं सर्वं रामे भूतलमाश्रिते।
जगद् भारत संविग्नं यथार्कपतने भवेत्॥ २५॥

परशुरामके पृथ्वीपर गिरते ही मानो आकाशसे सूर्य टूटकर गिरे हों, ऐसा समझकर सारा जगत् भयभीत हो हाहाकार करने लगा॥ २५॥

तत एनं समुद्विग्नाः सर्व एवाभिदुद्रुवुः।
तपोधनास्ते सहसा काश्या च कुरुनन्दन॥ २६॥
तत एनं परिष्वज्य शनैराश्वासयंस्तदा।
पाणिभिर्जलशीतैश्च जयाशीर्भिश्च कौरव॥ २७॥

कुरुनन्दन! उस समय वे तपोधन और काशिराजकी कन्या सब-के-सब अत्यन्त उद्विग्न हो सहसा उनके पास दौड़े गये और उन्हें हृदयसे लगा हाथ फेरकर तथा शीतल जल छिड़ककर विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए सान्त्वना देने लगे॥ २६—२७॥

ततः स विह्वलं वाक्यं राम उत्थाय चाब्रवीत्।
तिष्ठ भीष्म हतोऽसीति बाणं संधाय कार्मुके॥ २८॥

तदनन्तर कुछ स्वस्थ होनेपर परशुरामजी उठ गये और धनुषपर बाण चढ़ाकर विह्वल स्वरमें बोले—'भीष्म! खड़े रहो, अब तुम मारे गये'॥ २८॥

स मुक्तो न्यपतत् तूर्णं सव्ये पार्श्वे महाहवे।
येनाहं भृशमुद्विग्नो व्याघूर्णित इव द्रुमः॥ २९॥

उस महान् युद्धमें उनके धनुषसे छूटा हुआ वह बाण तुरंत मेरी बायीं पसलीपर पड़ा, जिससे मैं अत्यन्त उद्विग्न होकर वृक्षकी भाँति झूमने लगा॥ २९॥

हत्वा हयांस्ततो रामः शीघ्रास्त्रेण महाहवे।
अवाकिरन्मां विस्रब्धो बाणैस्तैर्लोमवाहिभिः॥

फिर तो परशुरामजी उस महासमरमें शीघ्र औ अस्त्रद्वारा मेरे घोड़ोंको मारकर निर्भय हो मेरे ऊपर उड़नेवाले बाणोंसे वर्षा करने लगे॥ ३०॥

ततोऽहमपि शीघ्रास्त्रं समरप्रतिवारणम्।
अवासृजं महाबाहो तेऽन्तराधिष्ठिताः शराः॥
रामस्य मम चैवाशु व्योमावृत्य समन्ततः।

महाबाहो! तत्पश्चात् मैंने भी शीघ्रतापूर्वक ऐसे का प्रयोग आरम्भ किया, जो युद्धभूमिमें विपक्षीकी रोक देनेवाले थे। मेरे तथा परशुरामजीके बाण आ सब ओर फैलकर मध्यभागमें ही ठहर गये॥ ३१½॥

न स्म सूर्यः प्रतपति शरजालसमावृतः॥
मातरिश्वा ततस्तस्मिन् मेघरुद्ध इवाभवत्।

उस समय बाणोंके समूहसे आच्छादित होनेके सूर्य नहीं तपता था और वायुकी गति इस प्रकार कुण् गयी थी, मानो मेघोंसे अवरुद्ध हो गयी हो॥ ३२½॥

ततो वायोः प्रकम्पाच्च सूर्यस्य च गभस्तिभिः॥
अभिघातप्रभावाच्च पावकः समजायत।

उस समय वायुके कम्पन और सूर्यकी कि समस्त बाण परस्पर टकराने लगे। उनकी रगड़से आग प्रकट हो गयी॥ ३३½॥

ते शराः स्वसमुत्थेन प्रदीप्ताश्चित्रभानुना॥
भूमौ सर्वे तदा राजन् भस्मभूताः प्रपेदिरे।

राजन्! वे सभी बाण अपने ही संघर्षसे उत्पन्न अग्निसे जलकर भस्म हो गये और भूमिपर गिर पड़े॥

तदा शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च॥
अयुतान्यथ खर्वाणि निखर्वाणि च कौरव।
रामः शराणां संक्रुद्धो मयि तूर्णं न्यपातयत्॥

कौरवनरेश! उस समय परशुरामजीने अत्यन्त क्रु कर मेरे ऊपर तुरंत ही दस हजार, लाख, दस लाख, खर्ब और निखर्ब बाणोंका प्रहार किया॥ ३५-३६॥

ततोऽहं तानपि रणे शरैराशीविषोपमैः।
संछिद्य भूमौ नृपते पातयेयं नगानिव॥

नरेश्वर! तब मैंने रणभूमिमें विषधर सर्पके भयंकर सायकोंद्वारा उन सब बाणोंको वृक्षोंकी भूमिपर काट गिराया॥ ३७॥

एवं तदभवद् युद्धं तदा भरतसत्तम।
संध्याकाले व्यतीते तु व्यपायात् स च मे गुरुः॥

भरतभूषण! इस प्रकार वह युद्ध चलता संध्याकाल बीतनेपर मेरे गुरु रणभूमिसे हट गये॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुरामभीष्मयुद्धविषयक एक सौ असीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका युद्ध

भीष्म उवाच

समागतस्य रामेण पुनरेवातिदारुणम् ।
अन्येद्युस्तुमुलं युद्धं तदा भरतसत्तम ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! दूसरे दिन परशुरामजीके साथ भेंट होनेपर पुनः अत्यन्त भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥

ततो दिव्यास्त्रविच्छूरो दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
अयोजयत् स धर्मात्मा दिवसे दिवसे विभुः ॥ २ ॥

फिर तो दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता, शूरवीर एवं धर्मात्मा भगवान् परशुरामजी प्रतिदिन अनेक प्रकारके अलौकिक अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे ॥ २ ॥

तान्यहं तत्प्रतीघातैरस्त्रैरस्त्राणि भारत ।
व्यधमं तुमुले युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ॥ ३ ॥

भारत ! उस तुमुल युद्धमें अपने दुस्त्यज प्राणोंकी परवा न करके मैंने उनके सभी अस्त्रोंका विघातक अस्त्रोंद्वारा संहार कर डाला ॥ ३ ॥

अस्त्रैरस्त्रेषु बहुधा हतेष्वेव च भारत ।
अक्रुध्यत महातेजास्त्यक्तप्राणः स संयुगे ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार बार-बार मेरे अस्त्रोंद्वारा अपने अस्त्रोंके विनष्ट होनेपर महातेजस्वी परशुरामजी उस युद्धमें प्राणोंका मोह छोड़कर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ४ ॥

ततः शक्तिं प्राहिणोद् घोररूपा-
मस्त्रे रुद्धे जामदग्न्यो महात्मा ।
कालोत्सृष्टां प्रज्वलितामिवोल्कां
संदीप्ताग्रां तेजसा व्याप्य लोकम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार अपने अस्त्रोंका अवरोध होनेपर जमदग्निनन्दन महात्मा परशुरामने कालकी छोड़ी हुई प्रज्वलित उल्काके समान एक भयंकर शक्ति छोड़ी, जिसका अग्रभाग उद्दीप्त हो रहा था । वह शक्ति अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकको व्याप्त किये हुए थी ॥ ५ ॥

ततोऽहं तामिषुभिर्दीप्यमानां
समायान्तीमन्तकालार्कदीप्ताम् ।
छित्त्वा त्रिधा पातयामास भूमौ
ततो ववौ पवनः पुण्यगन्धिः ॥ ६ ॥

तब मैंने प्रलयकालके सूर्यकी भाँति प्रज्वलित होनेवाली उस देदीप्यमान शक्तिको अपनी ओर आती देख अनेक बाणोंद्वारा उसके तीन टुकड़े करके उसे भूमिपर गिरा दिया । फिर तो पवित्र सुगन्धसे युक्त मन्द-मन्द वायु चलने लगी ।६।

तस्यां छिन्नायां क्रोधदीप्तोऽथ रामः
शक्तीर्घोराः प्राहिणोद् द्वादशान्याः ।
तासां रूपं भारत नोत शक्यं
तेजस्वित्वाल्लाघवाच्चैव वक्तुम् ॥ ७ ॥

उस शक्तिके कट जानेपर परशुरामजी क्रोधसे जल उठे तथा उन्होंने दूसरी-दूसरी भयंकर बारह शक्तियाँ और छोड़ीं । भारत ! वे इतनी तेजस्विनी तथा शीघ्रगामिनी थीं कि उनके स्वरूपका वर्णन करना असम्भव है ॥ ७ ॥

किं त्वेवाहं विह्वलः सम्प्रदृश्य
दिग्भ्यः सर्वास्ता महोल्का इवाग्नेः ।
नानारूपास्तेजसोग्रेण दीप्ता
यथाऽऽदित्या द्वादश लोकसंक्षये ॥ ८ ॥

प्रलयकालके बारह सूर्योंके समान भयंकर तेजसे प्रज्वलित अनेक रूपवाली तथा अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाओंके समान धधकती हुई उन शक्तियोंको सब ओरसे आती देख मैं अत्यन्त विह्वल हो गया ॥ ८ ॥

ततो जालं बाणमयं विवृत्तं
संदृश्य भित्त्वा शरजालेन राजन् ।
द्वादशेषून् प्राहिणवं रणेऽहं
ततः शक्तीरप्यधमं घोररूपाः ॥ ९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् वहाँ फैले हुए बाणमय जालको देखकर मैंने अपने बाणसमूहोंसे उसे छिन्न-भिन्न कर डाला और उस रणभूमिमें बारह सायकोंका प्रयोग किया, जिनसे उन भयंकर शक्तियोंको भी व्यर्थ कर दिया ॥ ९ ॥

ततो राजञ्जामदग्न्यो महात्मा
शक्तीर्घोरा व्याक्षिपद्धेमदण्डाः ।
विचित्रिताः काञ्चनपट्टनद्धा
यथा महोल्का ज्वलितास्तथा ताः ॥ १० ॥

राजन् ! तत्पश्चात् महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामने स्वर्णमय दण्डसे विभूषित और भी बहुत-सी भयानक शक्तियाँ चलायीं, जो विचित्र दिखायी देती थीं । उनके ऊपर सोनेके पत्र जड़े हुए थे और वे जलती हुई बड़ी-बड़ी उल्काओंके समान प्रतीत होती थीं ॥ १० ॥

ताश्चाप्युग्राश्चर्मणा वारयित्वा
खड्गेनाजौ पातयित्वा नरेन्द्र ।
बाणैर्दिव्यैर्जामदग्न्यस्य संख्ये
दिव्यानश्वानभ्यवर्षं ससूतान् ॥ ११ ॥

नरेन्द्र ! उन भयंकर शक्तियोंको भी मैंने ढालसे रोककर तलवारसे रणभूमिमें काट गिराया । तत्पश्चात् परशुरामजीके दिव्य घोड़ों तथा सारथिपर मैंने दिव्य बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ११ ॥

निर्मुक्तानां पन्नगानां सरूपा
दृष्ट्वा शक्तीर्हेमचित्रा निकृत्ताः ।
प्रादुश्चक्रे दिव्यमस्त्रं महात्मा
क्रोधाविष्टो हैहयेशप्रमाथी ॥ १२ ॥

केंचुलिसे छूटकर निकले हुए सर्पोंके समान आकृतिवाली

उन सुवर्णजटित विचित्र शक्तियोंको कटी हुई देख हैहयराजका विनाश करनेवाले महात्मा परशुरामजीने कुपित होकर पुनः अपना दिव्य अस्त्र प्रकट किया ॥ १२ ॥

ततः श्रेण्यः शलभानामिवोग्राः
समापेतुर्विशिखानां प्रदीप्ताः ।
समाचिनोच्चापि भृशं शरीरं
हयान् सूतं सरथं चैव मह्यम् ॥ १३ ॥

फिर तो टिड्डियोंकी पंक्तियोंके समान प्रज्वलित एवं भयंकर बाणोंके समूह प्रकट होने लगे । इस प्रकार उन्होंने मेरे शरीर, रथ, सारथि और घोड़ोंको सर्वथा आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

रथः शरैर्मे निचितः सर्वतोऽभूत्
तथा वाहाः सारथिश्चैव राजन् ।
युगं रथेषां च तथैव चक्रे
तथैवाक्षः शरकृत्तोऽथ भग्नः ॥ १४ ॥

राजन् ! मेरा रथ चारों ओरसे उनके बाणोंद्वारा व्याप्त हो रहा था । घोड़ों और सारथिकी भी यही दशा थी । युग तथा ईषादण्डको भी उन्होंने उसी प्रकार बाणविद्ध क था और रथका धुरा उनके बाणोंसे कटकर टूक-टूक हो ग

ततस्तस्मिन् बाणवर्षे व्यतीते
शरौघेण प्रत्यवर्षं गुरुं तम् ।
स विक्षतो मार्गणैर्ब्रह्मराशि-
र्देहादसक्तं मुमुचे भूरि रक्तम् ॥

जब उनकी बाण-वर्षा समाप्त हुई, तब मैंने भी गुरुदेवपर बाणसमूहोंकी बौछार आरम्भ कर दी । वे राशि महात्मा मेरे बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर अपने अधिकाधिक रक्तकी धारा बहाने लगे ॥ १५ ॥

यथा रामो बाणजालाभितप्त-
स्तथैवाहं सुभृशं गाढविद्धः ।
ततो युद्धं व्यरमच्चापराह्णे
भानावस्तं प्रति याते महीध्रम् ॥

जिस प्रकार परशुरामजी मेरे सायकसमूहोंसे सं उसी प्रकार मैं भी उनके बाणोंसे अत्यन्त घायल हो था । तदनन्तर सायंकालमें जब सूर्यदेव अस्ताचलको गये, वह युद्ध बंद हो गया ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका युद्ध

भीष्म उवाच

ततः प्रभाते राजेन्द्र सूर्ये विमलतां गते ।
भार्गवस्य मया सार्धं पुनर्युद्धमवर्तत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर प्रातःकाल जब सूर्यदेव उदित होकर प्रकाशमें आ गये, उस समय मेरे साथ परशुरामजीका युद्ध पुनः प्रारम्भ हुआ ॥ १ ॥

ततोऽभ्रान्ते रथे तिष्ठन् रामः प्रहरतां वरः ।
ववर्ष शरजालानि मयि मेघ इवाचले ॥ २ ॥

तत्पश्चात् योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामजी स्थिर रथपर खड़े हो जैसे मेघ पर्वतपर जलकी बौछार करता है, उसी प्रकार मेरे ऊपर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

ततः सूतो मम सुहृच्छरवर्षेण ताडितः ।
अपयातो रथोपस्थान्मनो मम विषादयन् ॥ ३ ॥

उस समय मेरा प्रिय सुहृद् सारथि बाणवर्षासे पीड़ित हो मेरे मनको विषादमें डालता हुआ रथकी बैठकसे नीचे गिर गया ॥

ततः सूतो ममात्यर्थं कश्मलं प्राविशन्महत् ।
पृथिव्यां च शराघातान्निपपात मुमोह च ॥ ४ ॥

मेरे सारथिको अत्यन्त मोह छा गया था । वह बाणोंके आघातसे पृथ्वीपर गिरा और अचेत हो गया ॥ ४ ॥

ततः सूतोऽजहात् प्राणान् रामबाणप्रपीडितः ।
मुहूर्तादिव राजेन्द्र मां च भीराविशत् तदा ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! परशुरामजीके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो कारण दो ही घड़ीमें सूतने प्राण त्याग दिये । उस सम मनमें बड़ा भय समा गया ॥ ५ ॥

ततः सूते हते तस्मिन् क्षिपतस्तस्य मे शरान् ।
प्रमत्तमनसो रामः प्राहिणोन्मृत्युसम्मितम् ॥

उस सारथिके मारे जानेपर मैं असावधान मनसे रामजीके बाणोंको काट रहा था ! इतनेहीमें परशुरा मुझपर मृत्युके समान भयंकर बाण छोड़ा ॥ ६ ॥

ततः सूतव्यसनिनं विप्लुतं मां स भार्गवः ।
शरेणाभ्यहनद् गाढं विकृष्य बलवद्धनुः ॥

उस समय मैं सारथिकी मृत्युके कारण व्याकुल भी भृगुनन्दन परशुरामने अपने सुदृढ़ धनुषको जोर खींचकर मुझपर बाणसे गहरा आघात किया ॥ ७ ॥

स मे भुजान्तरे राजन् निपत्य रुधिराशनः ।
मयैव सह राजेन्द्र जगाम वसुधातलम् ॥

राजेन्द्र ! वह रक्त पीनेवाला बाण मेरी दोनों भुज बीच (वक्षःस्थलमें) चोट पहुँचाकर मुझे साथ लि पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ८ ॥

मत्वा तु निहतं रामस्ततो मां भरतर्षभ ।
मेघवद् विननादोच्चैर्जहृषे च पुनः पुनः ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय मुझे मारा गया जानकर

रामजी मेघके समान गम्भीर स्वरसे गर्जना करने लगे। उनके शरीरमें बार-बार हर्षजनित रोमाञ्च होने लगा ॥ ९ ॥

तथा तु पतिते राजन् मयि रामो मुदा युतः।
उदक्रोशन्महानादं सह तैरनुयायिभिः ॥ १० ॥

राजन्! इस प्रकार मेरे धराशायी होनेपर परशुरामजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने अनुयायियोंके साथ महान् कोलाहल मचाया ॥ १० ॥

मम तत्राभवन् ये तु कुरवः पार्श्वतः स्थिताः।
आगता अपि युद्धं तज्जनास्तत्र दिदृक्षवः।
आर्तिं परमिकां जग्मुस्ते तदा पतिते मयि ॥ ११ ॥

वहाँ मेरे पार्श्वभागमें जो कुरुवंशी क्षत्रियगण खड़े थे तथा जो लोग वहाँ युद्ध देखनेकी इच्छासे आये थे, उन सबको मेरे गिर जानेपर बड़ा दुःख हुआ ॥ ११ ॥

ततोऽपश्यं पतितो राजसिंह
द्विजानष्टौ सूर्यहुताशनाभान्।
ते मां समन्तात् परिवार्य तस्थुः
स्वबाहुभिः परिधार्याजिमध्ये ॥ १२ ॥

राजसिंह! वहाँ गिरते समय मैंने देखा कि सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी आठ ब्राह्मण आये और संग्रामभूमिमें मुझे सब ओरसे घेरकर अपनी भुजाओंपर ही मेरे शरीरको धारण करके खड़े हो गये ॥ १२ ॥

रक्ष्यमाणश्च तैर्विप्रैर्नाहं भूमिमुपास्पृशम्।
अन्तरिक्षे धृतो ह्यस्मि तैर्विप्रैर्बान्धवैरिव ॥ १३ ॥

उन ब्राह्मणोंसे सुरक्षित होनेके कारण मुझे धरतीका स्पर्श नहीं करना पड़ा। मेरे सगे भाई-बन्धुओंकी भाँति उन ब्राह्मणोंने मुझे आकाशमें ही रोक लिया था ॥ १३ ॥

श्वसन्निवान्तरिक्षे च जलबिन्दुभिरुक्षितः।
ततस्ते ब्राह्मणा राजन्नब्रुवन् परिगृह्य माम् ॥ १४ ॥

राजन्! आकाशमें मैं साँस लेता-सा ठहर गया था। उस समय ब्राह्मणोंने मुझपर जलकी बूँदें छिड़क दीं। फिर वे मुझे पकड़कर बोले ॥ १४ ॥

मा भैरिति समं सर्वे स्वस्ति तेऽस्त्विति चासकृत्।
ततस्तेषामहं वाग्भिस्तर्पितः सहसोत्थितः।
मातरं सरितां श्रेष्ठामपश्यं रथमास्थिताम् ॥ १५ ॥

उन सबने एक साथ ही बार-बार कहा—'तुम्हारा कल्याण हो। तुम भयभीत न हो।' उनके वचनामृतोंसे तृप्त होकर मैं सहसा उठकर खड़ा हो गया और देखा, मेरे रथपर सारथिके स्थानमें सरिताओंमें श्रेष्ठ माता गङ्गा बैठी हुई हैं।१५।

हयाश्च मे संगृहीतास्तयासन्
महानद्या संयति कौरवेन्द्र।
पादौ जनन्याः प्रतिगृह्य चाहं
तथा पितॄणां रथमभ्यरोहम् ॥ १६ ॥

कौरवराज! उस युद्धमें महानदी माता गङ्गाने मेरे घोड़ोंकी बागडोर पकड़ रक्खी थी। तब मैं माताके चरणोंका स्पर्श करके और पितरोंके उद्देश्यसे भी मस्तक नवाकर उस रथपर जा बैठा ॥ १६ ॥

ररक्ष सा मां सरथं हयांश्चोपस्कराणि च।
तामहं प्राञ्जलिर्भूत्वा पुनरेव व्यसर्जयम् ॥ १७ ॥

माताने मेरे रथ, घोड़ों तथा अन्यान्य उपकरणोंकी रक्षा की। तब मैंने हाथ जोड़कर पुनः माताको विदा कर दिया ॥

ततोऽहं स्वयमुद्यम्य हयांस्तान् वातरंहसः।
अयुध्यं जामदग्न्येन निवृत्तेऽहनि भारत ॥ १८ ॥

भारत! तदनन्तर स्वयं ही उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको काबूमें करके मैं जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध करने लगा। उस समय दिन प्रायः समाप्त हो चला था ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ वेगवन्तं महाबलम्।
अमुञ्चं समरे बाणं रामाय हृदयच्छिदम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समरभूमिमें मैंने परशुरामजीकी ओर एक प्रबल एवं वेगवान् बाण चलाया, जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाला था ॥ १९ ॥

ततो जगाम वसुधां मम बाणप्रपीडितः।
जानुभ्यां धनुरुत्सृज्य रामो मोहवशं गतः ॥ २० ॥

मेरे उस बाणसे अत्यन्त पीड़ित हो परशुरामजीने मूर्छाके वशीभूत होकर धनुष छोड़ धरतीपर घुटने टेक दिये।२०।

ततस्तस्मिन् निपतिते रामे भूरिसहस्रदे।
आवव्रुर्जलदा व्योम क्षरन्तो रुधिरं बहु ॥ २१ ॥

अनेक सहस्र ब्राह्मणोंको बहुत दान करनेवाले परशुरामजीके धराशायी होनेपर अधिकाधिक रक्तकी वर्षा करते हुए बादलोंने आकाशको ढक लिया ॥ २१ ॥

उल्काश्च शतशः पेतुः सनिर्घाताः सकम्पनाः।
अर्कं च सहसा दीप्तं स्वर्भानुरभिसंवृणोत् ॥ २२ ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सैकड़ों उल्कापात होने लगे। भूकम्प आ गया। अपनी किरणोंसे उद्भासित होनेवाले सूर्यदेवको राहुने सब ओरसे सहसा घेर लिया ॥ २२ ॥

ववुश्च वाताः परुषाश्चलिता च वसुन्धरा।
गृध्रा बलाश्च कङ्काश्च परिपेतुर्मुदा युताः ॥ २३ ॥

वायु तीव्र वेगसे बहने लगी, धरती डोलने लगी, गीध, कौवे और कङ्क प्रसन्नतापूर्वक सब ओर उड़ने लगे ॥२३॥

दीप्तायां दिशि गोमायुर्दारुणं मुहुरुन्नदत्।
अनाहता दुन्दुभयो विनेदुर्भृशनिःस्वनाः ॥ २४ ॥

दिशाओंमें दाह-सा होने लगा, गीदड़ बार-बार भयंकर बोली बोलने लगा, दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही जोर-जोरसे बजने लगीं ॥ २४ ॥

एतदौत्पातिकं सर्वं घोरमासीद् भयंकरम्।
विसंज्ञकल्पे धरणीं गते रामे महात्मनि ॥ २५ ॥

इस प्रकार महात्मा परशुरामके मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिरते ही ये समस्त उत्पातसूचक अत्यन्त भयंकर अपशकुन होने लगे ॥ २५ ॥

ततो वै सहसोत्थाय रामो मामभ्यवर्तत।
पुनर्युद्धाय कौरव्य विह्वलः क्रोधमूर्छितः ॥ २६ ॥

कुरुनन्दन ! इसी समय परशुरामजी सहसा उठकर क्रोधसे मूर्छित एवं विह्वल हो पुनः युद्धके लिये मेरे समीप आये॥

आददानो महाबाहुः कार्मुकं तालसंनिभम्।
ततो मय्याददानं तं राममेव न्यवारयन् ॥ २७ ॥
महर्षयः कृपायुक्ताः क्रोधाविष्टोऽथ भार्गवः।
स मेऽहरदमेयात्मा शरं कालानलोपमम् ॥ २८ ॥

परशुराम ताड़के समान विशाल धनुष लिये हुए थे। जब वे मेरे लिये बाण उठाने लगे, तब दयालु महर्षियोंने उन्हें रोक दिया। वह बाण कालाग्निके समान भयंकर था। अमेयस्वरूप भार्गवने कुपित होनेपर भी मुनियोंके कहनेसे उस बाणका उपसंहार कर लिया ॥ २७-२८ ॥

ततो रविर्मन्दमरीचिमण्डलो
जगामास्तं पांसुपुञ्जावगूढः।
निशा व्यगाहत् सुखशीतमारुता
ततो युद्धं प्रत्यवहारयावः ॥ २

तदनन्तर मन्द किरणोंके पुञ्जसे प्रकाशित सूर्यदेव भूमिकी उड़ती हुई धूलोंसे आच्छादित हो अस्ताचलको गये। रात्रि आ गयी और सुखद शीतल वायु चलने लगी। उस समय हम दोनोंने युद्ध समाप्त कर दिया ॥ २९ ॥

एवं राजन्नवहारो बभूव
ततः पुनर्विमलेऽभूत् सुघोरम्।
कल्यं कल्यं विंशतिं वै दिनानि
तथैव चान्यानि दिनानि त्रीणि ॥ ३

राजन् ! इस प्रकार प्रतिदिन संध्याके समय युद्ध हो जाता और प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर पुनः अ भयंकर संग्राम छिड़ जाता था। इस प्रकार हम दोनोंके करते-करते तेईस दिन बीत गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम-भीष्मयुद्धविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मको अष्टवसुओंसे प्रस्वापनास्त्रकी प्राप्ति

भीष्म उवाच

ततोऽहं निशि राजेन्द्र प्रणम्य शिरसा तदा।
ब्राह्मणानां पितॄणां च देवतानां च सर्वशः ॥ १ ॥
नक्तंचराणां भूतानां राजन्यानां विशाम्पते।
शयनं प्राप्य रहिते मनसा समचिन्तयम् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर मैं रातके समय एकान्तमें शय्यापर जाकर ब्राह्मणों, पितरों, देवताओं, निशाचरों, भूतों तथा राजर्षिगणोंको मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके पश्चात् मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगा १-२

जामदग्न्येन मे युद्धमिदं परमदारुणम्।
अहानि च बहून्यद्य वर्तते सुमहात्ययम् ॥ ३ ॥

आज बहुत दिन हो गये, जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ यह मेरा अत्यन्त भयंकर और महान् अनिष्टकारक युद्ध चल रहा है ॥ ३ ॥

न च रामं महावीर्यं शक्नोमि रणमूर्धनि।
विजेतुं समरे विप्रं जामदग्न्यं महाबलम् ॥ ४ ॥

परंतु मैं महाबली, महापराक्रमी विप्रवर परशुरामजीको समरभूमिमें युद्धके मुहानेपर किसी तरह जीत नहीं सकता ॥४॥

यदि शक्यो मया जेतुं जामदग्न्यः प्रतापवान्।
दैवतानि प्रसन्नानि दर्शयन्तु निशां मम ॥ ५ ॥

यदि प्रतापी जमदग्निकुमारको जीतना मेरे लिये सम्भव हो तो प्रसन्न हुए देवगण रात्रिमें मुझे दर्शन दें ॥ ५ ॥

ततो निशि च राजेन्द्र प्रसुप्तः शरविक्षतः।
दक्षिणेनेह पार्श्वेन प्रभातसमये तदा ॥ ६ ॥
ततोऽहं विप्रमुख्यैस्तैर्यैरस्मि पतितो रथात्।
उत्थापितो धृतश्चैव मा भैरिति च सान्त्वितः ॥ ७
त एव मां महाराज स्वप्नदर्शनमेत्य वै।
परिवार्याब्रुवन् वाक्यं तन्निबोध कुरूद्वह ॥ ८

राजेन्द्र ! ऐसी प्रार्थना करके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुआ मैं रात्रिके अन्तमें प्रभातके समय दाहिनी करवटसे सो गया। महाराज ! कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् जिन ब्राह्मणशिरोमणियोंने रथसे गिरनेपर मुझे थाम लिया और उठाया था तथा 'डरो मत' ऐसा कहकर सान्त्वना दी थी, उन्हीं लोगोंने मुझे स्वप्नमें दर्शन दे मेरे चारों ओर खड़े होकर जो बात कही थी उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ६–८ ॥

उत्तिष्ठ मा भैर्गाङ्गेय न भयं तेऽस्ति किंचन।
रक्षामहे त्वां कौरव्य स्वशरीरं हि नो भवान् ॥ ९

'गङ्गानन्दन ! उठो। भयभीत न होओ। तुम्हें कोई भय नहीं है। कुरुनन्दन ! हम तुम्हारी रक्षा करते हैं क्योंकि तुम हमारे ही स्वरूप हो ॥ ९ ॥

न त्वां रामो रणे जेता जामदग्न्यः कथंचन।
त्वमेव समरे रामं विजेता भरतर्षभ ॥ १०॥

'जमदग्निकुमार परशुराम तुम्हें किसी प्रकार युद्धमें जीत नहीं सकेंगे। भरतभूषण ! तुम्हीं रणक्षेत्रमें परशुरामपर विजय पाओगे ॥ १० ॥

इदमस्त्रं सुदयितं प्रत्यभिज्ञास्यते भवान्।
विदितं हि तवाप्येतत् पूर्वस्मिन् देहधारणे ॥ ११॥
प्राजापत्यं विश्वकृतं प्रस्वापं नाम भारत।

न हीदं वेद रामोऽपि पृथिव्यां वा पुमान् क्वचित्॥ १२ ॥

‘भारत ! यह प्रस्वाप नामक अस्त्र है, जिसके देवता प्रजापति हैं। विश्वकर्माने इसका आविष्कार किया है। यह तुम्हें भी परम प्रिय है। इसकी प्रयोगविधि तुम्हें स्वतः ज्ञात हो जायगी; क्योंकि पूर्व शरीरमें तुम्हें भी इसका पूर्ण ज्ञान था। परशुरामजी भी इस अस्त्रको नहीं जानते हैं। इस पृथ्वीपर कहीं किसी भी पुरुषको इसका ज्ञान नहीं है ११-१२

तत् स्मरस्व महाबाहो भृशं संयोजयस्व च।
उपस्थास्यति राजेन्द्र स्वयमेव तवानघ ॥ १३ ॥

‘महाबाहो ! इस अस्त्रका स्मरण करो और विशेषरूपसे इसीका प्रयोग करो। निष्पाप राजेन्द्र ! यह अस्त्र स्वयं ही तुम्हारी सेवामें उपस्थित हो जायगा ॥ १३ ॥

येन सर्वान् महावीर्यान् प्रशासिष्यसि कौरव।
न च रामः क्षयं गन्ता तेनास्त्रेण नराधिप ॥ १४ ॥

‘कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे तुम सम्पूर्ण महापराक्रमी नरेशोंपर शासन करोगे। राजन् ! उस अस्त्रसे परशुरामका नाश नहीं होगा ॥ १४ ॥

एनसा न तु संयोगं प्राप्स्यसे जातु मानद।
स्वप्स्यते जामदग्न्योऽसौ त्वद्बाणबलपीडितः ॥ १५ ॥

‘इसलिये मानद ! तुम्हें कभी इसके द्वारा पापसे संयोग नहीं होगा। तुम्हारे अस्त्रके प्रभावसे पीड़ित होकर जमदग्निकुमार परशुराम चुपचाप सो जायँगे ॥ १५ ॥

ततो जित्वा त्वमेवैनं पुनरुत्थापयिष्यसि।
अस्त्रेण दयितेनाजौ भीष्म सम्बोधनेन वै ॥ १६ ॥

‘भीष्म ! तदनन्तर अपने उस प्रिय अस्त्रके द्वारा युद्धमें विजयी होकर तुम्हीं उन्हें सम्बोधनास्त्रद्वारा पुनः जगाकर उठाओगे ॥ १६ ॥

एवं कुरुष्व कौरव्य प्रभाते रथमास्थितः।
प्रसुप्तं वा मृतं चेति तुल्यं मन्यामहे वयम् ॥ १७ ॥

‘कुरुनन्दन ! प्रातःकाल रथपर बैठकर तुम ऐसा ही करो; क्योंकि हमलोग सोये अथवा मरे हुएको समान ही समझते हैं ॥

न च रामेण मर्तव्यं कदाचिदपि पार्थिव।
ततः समुत्पन्नमिदं प्रस्वापं युज्यतामिति ॥ १८ ॥

‘राजन् ! परशुरामकी कभी मृत्यु नहीं हो सकती; अतः इस प्राप्त हुए प्रस्वाप नामक अस्त्रका प्रयोग करो’ ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हिता राजन् सर्व एव द्विजोत्तमाः।
अष्टौ सदृशरूपास्ते सर्वे भास्वरमूर्तयः ॥ १९ ॥

राजन् ! ऐसा कहकर वे वसुस्वरूप सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण अदृश्य हो गये। वे आठों समान रूपवाले थे। उन सबके शरीर तेजोमय प्रतीत होते थे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मप्रस्वापनास्त्रलाभे त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें भीष्मको प्रस्वापनास्त्रकी प्राप्तिविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ १८३

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म तथा परशुरामजीका एक दूसरेपर शक्ति और ब्रह्मास्त्रका प्रयोग

भीष्म उवाच

ततो रात्रौ व्यतीतायां प्रतिबुद्धोऽस्मि भारत।
ततः संचिन्त्य वै स्वप्नमवापं हर्षमुत्तमम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर रात बीतनेपर जब मेरी नींद खुली, तब उस स्वप्नकी बातको सोचकर मुझे बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

ततः समभवद् युद्धं मम तस्य च भारत।
तुमुलं सर्वभूतानां लोमहर्षणमद्भुतम् ॥ २ ॥

भारत ! तदनन्तर मेरा और परशुरामजीका भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो समस्त प्राणियोंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला और अद्भुत था ॥ २ ॥

ततो बाणमयं वर्षं ववर्ष मयि भार्गवः।
न्यवारयमहं तच्च शरजालेन भारत ॥ ३ ॥

उस समय भृगुनन्दन परशुरामजीने मुझपर बाणोंकी झड़ी लगा दी। भारत ! तब मैंने अपने सायकसमूहोंसे उस बाणवर्षाको रोक दिया ॥ ३ ॥

ततः परमसंक्रुद्धः पुनरेव महातपाः।
ह्यस्तनेन च कोपेन शक्तिं वै प्राहिणोन्मयि ॥ ४ ॥

तब महातपस्वी परशुराम पुनः मुझपर अत्यन्त कुपित हो गये। पहले दिनका भी कोप था ही। उससे प्रेरित होकर उन्होंने मेरे ऊपर शक्ति चलायी ॥ ४ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शां यमदण्डसमप्रभाम्।
ज्वलन्तीमग्निवत् संख्ये लेलिहानां समन्ततः ॥ ५ ॥

उसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान भयंकर था। उसकी प्रभा यमदण्डके समान थी और उस संग्राममें अग्निके समान प्रज्वलित हुई वह शक्ति मानो सब ओरसे रक्त चाट रही थी ॥

ततो भरतशार्दूल धिष्ण्यमाकाशगं यथा।
स मामभ्यवधीत् तूर्णं जत्रुदेशे कुरूद्वह ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कुरुकुलरत्न ! फिर आकाशवर्ती नक्षत्रके समान प्रकाशित होनेवाली उस शक्तिने तुरंत आकर मेरे गलेकी हँसलीपर आघात किया ॥ ६ ॥

अथास्रमस्रवद् घोरं गिरेर्गैरिकधातुवत्।
रामेण सुमहाबाहो क्षतस्य क्षतजेक्षण ॥ ७ ॥

लाल नेत्रोंवाले महाबाहु दुर्योधन ! परशुरामजीके द्वारा किये हुए उस गहरे आघातसे भयंकर रक्तकी धारा बह चली। मानो पर्वतसे गैरिक धातुमिश्रित जलका झरना झर रहा हो ॥ ७ ॥

ततोऽहं जामदग्न्याय भृशं क्रोधसमन्वितः।
चिक्षेप मृत्युसंकाशं बाणं सर्पविषोपमम् ॥ ८ ॥

तब मैंने भी अत्यन्त कुपित हो सर्पविषके समान भयंकर मृत्युतुल्य बाण लेकर परशुरामजीके ऊपर चलाया ॥ ८ ॥

स तेनाभिहतो वीरो ललाटे द्विजसत्तमः।
अशोभत महाराज सशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ९ ॥

उस बाणने विप्रवर वीर परशुरामजीके ललाटमें चोट पहुँचायी। महाराज! उसके कारण वे शिखरयुक्त पर्वतके समान शोभा पाने लगे ॥ ९ ॥

स संरब्धः समावृत्य शरं कालान्तकोपमम्।
संदधे बलवत् कृष्य घोरं शत्रुनिबर्हणम् ॥ १० ॥

तब उन्होंने भी रोषमें आकर काल और यमके समान भयंकर शत्रुनाशक बाणको हाथमें ले धनुषको बलपूर्वक खींचकर उसके ऊपर रक्खा ॥ १० ॥

स वक्षसि पपातोग्रः शरो व्याल इव श्वसन्।
महीं राजंस्ततश्चाहमगमं रुधिराविलः ॥ ११ ॥

राजन्! उनका चलाया हुआ वह भयंकर बाण फुफकारते हुए सर्पके समान सनसनाता हुआ मेरी छातीपर आकर लगा। उससे लहूलुहान होकर मैं पृथ्वीपर गिर पड़ा ।११।

सम्प्राप्य तु पुनः संज्ञां जामदग्न्याय धीमते।
प्राहिण्वं विमलां शक्तिं ज्वलन्तीमशनीमिव ॥ १२ ॥

पुनः चेतमें आनेपर मैंने बुद्धिमान् परशुरामजीके ऊपर प्रज्वलित वज्रके समान एक उज्ज्वल शक्ति चलायी ॥ १२ ॥

सा तस्य द्विजमुख्यस्य निपपात भुजान्तरे।
विह्वलश्चाभवद् राजन् वेपथुश्चैनमाविशत् ॥ १३ ॥

वह शक्ति उन ब्राह्मणशिरोमणिकी दोनों भुजाओंके ठीक बीचमें जाकर लगी। राजन्! इससे वे विह्वल हो गये और उनके शरीरमें कँपकँपी आ गयी ॥ १३ ॥

तत एनं परिष्वज्य सखा विप्रो महातपाः।
अकृतव्रणः शुभैर्वाक्यैराश्वासयदनेकधा ॥ १४ ॥

तब उनके महातपस्वी मित्र अकृतव्रणने उन्हें हृदयसे लगाकर सुन्दर वचनोंद्वारा अनेक प्रकारसे आश्वासन दिया ॥

समाश्वस्तस्ततो रामः क्रोधामर्षसमन्वितः।
प्रादुश्चक्रे तदा ब्राह्मं परमास्त्रं महाव्रतः ॥ १५ ॥

तदनन्तर महाव्रती परशुरामजी धैर्ययुक्त हो क्रोध और अमर्षमें भर गये और उन्होंने परम उत्तम ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया ॥ १५ ॥

ततस्तत्प्रतिघातार्थं ब्राह्ममेवास्त्रमुत्तमम्।
मया प्रयुक्तं जज्वाल युगान्तमिव दर्शयत् ॥

तब उस अस्त्रका निवारण करनेके लिये मैंने भी ब्रह्मास्त्रका ही प्रयोग किया। मेरा वह अस्त्र प्रलयकाल दृश्य उपस्थित करता हुआ प्रज्वलित हो उठा ॥

तयोर्ब्रह्मास्त्रयोरासीदन्तरा वै समागमः।
असम्प्राप्यैव रामं च मां च भारतसत्तम ॥

भरतवंशशिरोमणे! वे दोनों ब्रह्मास्त्र मेरे तथा रामजीके पास न पहुँचकर बीचमें ही एक दूसरेसे भिड़

ततो व्योम्नि प्रादुरभूत् तेज एव हि केवलम्।
भूतानि चैव सर्वाणि जग्मुरार्तिं विशाम्पते ॥

प्रजानाथ! फिर तो आकाशमें केवल आगकी ही प्रकट होने लगी। इससे समस्त प्राणियोंको बड़ी पीड़ा

ऋषयश्च सगन्धर्वा देवताश्चैव भारत।
संतापं परमं जग्मुरस्त्रतेजोऽभिपीडिताः ॥

भारत! उन ब्रह्मास्त्रोंके तेजसे पीड़ित होकर गन्धर्व तथा देवता भी अत्यन्त संतप्त हो उठे ॥ १९ ॥

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा।
संतप्तानि च भूतानि विषादं जग्मुरुत्तमम् ॥

फिर तो पर्वत, वन और वृक्षोंसहित सारी पृथ्वी लगी। भूतलके समस्त प्राणी संतप्त हो अत्यन्त विषाद करने

प्रजज्वाल नभो राजन् धूमायन्ते दिशो दश।
न स्थातुमन्तरिक्षे च शेकुराकाशगास्तदा ॥

राजन्! उस समय आकाश जल रहा था। दिशाओंमें धूम व्याप्त हो रहा था। आकाशचारी प्राणी आकाशमें ठहर न सके ॥ २१ ॥

ततो हाहाकृते लोके सदेवासुरराक्षसे।
इदमन्तरमित्येवं मोक्तुकामोऽस्मि भारत ॥
प्रस्वापमस्त्रं त्वरितो वचनाद् ब्रह्मवादिनाम्।
विचित्रं च तदस्त्रं मे मनसि प्रत्यभात् तदा ॥

तदनन्तर देवता, असुर तथा राक्षसोंसहित जगत्में हाहाकार मच गया। भारत! 'यही उपयुक्त है' ऐसा मानकर मैंने तुरंत ही प्रस्वापनास्त्रको छोड़ विचार किया। फिर तो उन ब्रह्मवादी वसुओंके कथनानुसार विचित्र अस्त्रका मेरे मनमें स्मरण हो आया ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि परस्परब्रह्मास्त्रप्रयोगे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परस्पर ब्रह्मास्त्रप्रयोगविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

देवताओंके मना करनेसे भीष्मका प्रस्वापनास्त्रको प्रयोगमें न लाना तथा पितर, देवता और गङ्गाके आग्रहसे भीष्म और परशुरामके युद्धकी समाप्ति

भीष्म उवाच

ततो हलहलाशब्दो दिवि राजन् महानभूत्।
प्रस्वापं भीष्म मा स्वाप्सीरिति कौरवनन्दन ॥ १

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! कौरवनन्दन! तदन

स्वामी सहजानंद संस्कृत हाई स्कूल
पाण्डे पट्टी जेल रोड,
बक्सर।

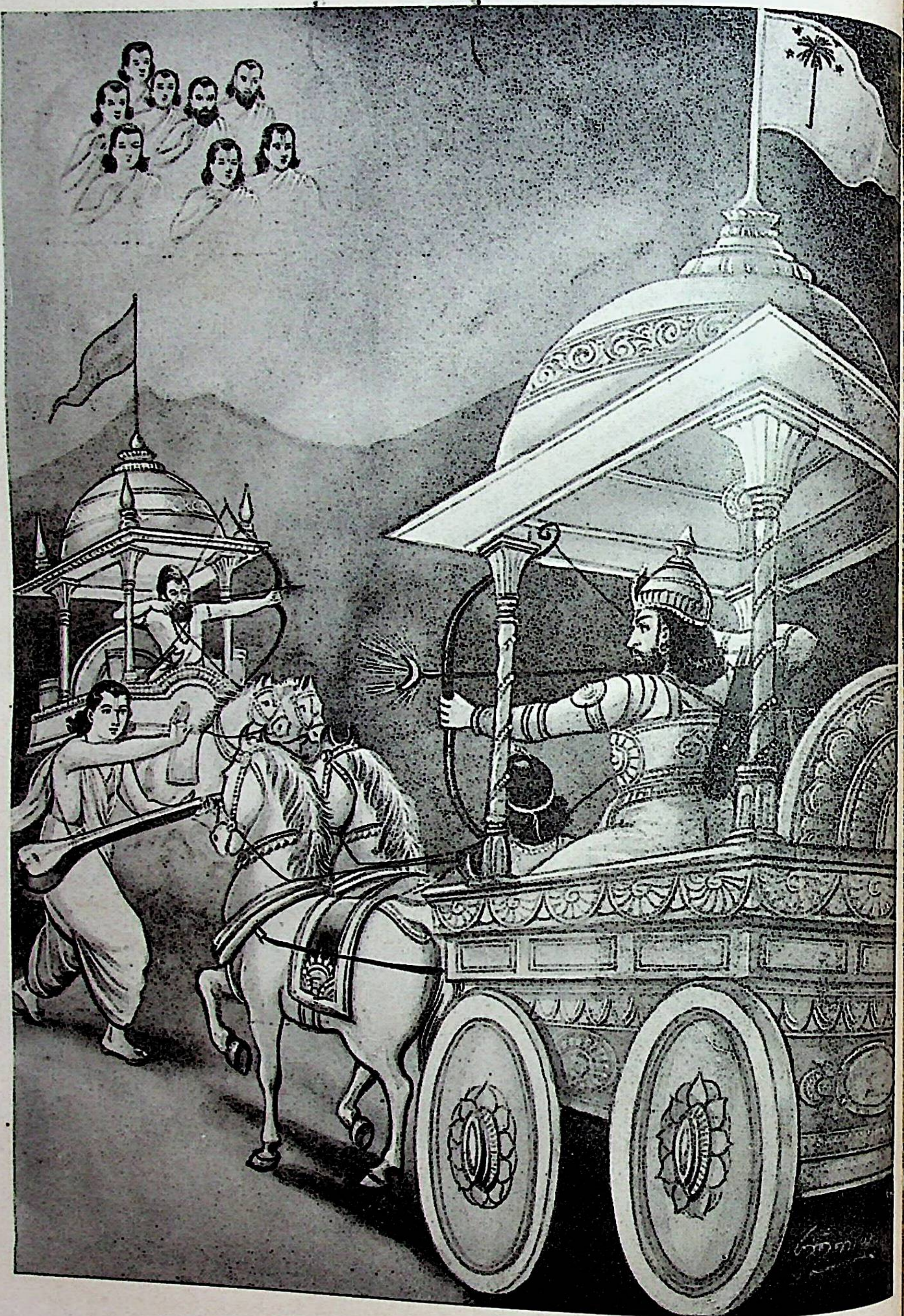

भीष्म और परशुरामके युद्धमें नारदजीद्वारा बीच-बचाव

मीष्म ! प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग न करो' इस प्रकार आकाश-
महान् कोलाहल मच गया ॥ १ ॥

युञ्जमेव चैवाहं तदस्त्रं भृगुनन्दने ।
स्वापं मां प्रयुञ्जानं नारदो वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

तथापि मैंने भृगुनन्दन परशुरामजीको लक्ष्य करके उस स्त्रको धनुषपर चढ़ा ही लिया। मुझे प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग रते देख नारदजीने इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

ते वियति कौरव्य दिवि देवगणाः स्थिताः ।
त्वां निवारयन्त्यद्य प्रस्वापं मा प्रयोजय ॥ ३ ॥

'कुरुनन्दन ! ये आकाशमें स्वर्गलोकके देवता खड़े हैं। सबके सब इस समय तुम्हें मना कर रहे हैं, तुम स्वापनास्त्रका प्रयोग न करो ॥ ३ ॥

ामस्तपस्वी ब्रह्मण्यो ब्राह्मणश्च गुरुश्च ते ।
स्यावमानं कौरव्य मा स्म कार्षीः कथंचन ॥ ४ ॥

'परशुरामजी तपस्वी, ब्राह्मणभक्त, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ौर तुम्हारे गुरु हैं। कुरुकुलरत्न ! तुम किसी तरह भी नका अपमान न करो' ॥ ४ ॥

तोऽपश्यं दिविष्ठान् वै तानष्टौ ब्रह्मवादिनः ।
मां स्मयन्तो राजेन्द्र शनकैरिदमब्रुवन् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् मैंने आकाशमें खड़े हुए उन आठों ह्मवादी वसुओंको देखा। वे मुसकराते हुए मुझसे धीरे-धीरे स प्रकार बोले—॥ ५ ॥

थाऽऽह भरतश्रेष्ठ नारदस्तत् तथा कुरु ।
तद्धि परमं श्रेयो लोकानां भरतर्षभ ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! नारदजी जैसा कहते हैं, वैसा करो। भरत-कुलतिलक ! यही सम्पूर्ण जगत्के लिये परम कल्याणकारी होगा'॥

तश्च प्रतिसंहृत्य तदस्त्रं स्वापनं महत् ।
ह्मास्त्रं दीपयांचक्रे तस्मिन् युधि यथाविधि ॥ ७ ॥

तब मैंने उस महान् प्रस्वापनास्त्रको धनुषसे उतार लिया और उस युद्धमें विधिपूर्वक ब्रह्मास्त्रको ही प्रकाशित किया॥

ततो रामो हृषितो राजसिंह
दृष्ट्वा तदस्त्रं विनिवर्तितं वै ।
जितोऽस्मि भीष्मेण सुमन्दबुद्धि-
रित्येव वाक्यं सहसा व्यमुञ्चत् ॥ ८ ॥

राजसिंह ! मैंने प्रस्वापनास्त्रको उतार लिया है—यह देखकर परशुरामजी बड़े प्रसन्न हुए। उनके मुखसे सहसा यह वाक्य निकल पड़ा कि 'मुझ मन्दबुद्धिको भीष्मने जीत लिया' ॥

ततोऽपश्यत् पितरं जामदग्न्यः
पितुस्तथा पितरं चास्य मान्यम् ।
ते तत्र चैनं परिवार्य तस्थु-
रूचुश्चैनं सान्त्वपूर्वं तदानीम् ॥ ९ ॥

इसके बाद जमदग्निकुमार परशुरामने अपने पिता जमदग्निको तथा उनके भी माननीय पिता ऋचीक मुनिको देखा। वे सब पितर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये और उस समय उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले ॥ ९ ॥

पितर ऊचुः

मा स्मैवं साहसं तात पुनः कार्षीः कथंचन ।
भीष्मेण संयुगं गन्तुं क्षत्रियेण विशेषतः ॥ १० ॥

पितरोंने कहा—तात ! फिर कभी किसी प्रकार भी ऐसा साहस न करना। भीष्म और विशेषतः क्षत्रियके साथ युद्धभूमिमें उतरना अब तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ १० ॥

क्षत्रियस्य तु धर्मोऽयं यद् युद्धं भृगुनन्दन ।
स्वाध्यायो व्रतचर्याथ ब्राह्मणानां परं धनम् ॥ ११ ॥

भृगुनन्दन ! क्षत्रियका तो युद्ध करना धर्म ही है; किंतु ब्राह्मणोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय तथा उत्तम व्रतोंका पालन ही परम धर्म है ॥ ११ ॥

इदं निमित्ते कस्मिंश्चिदस्माभिः प्रागुदाहृतम् ।
शस्त्रधारणमत्युग्रं तच्चाकार्यं कृतं त्वया ॥ १२ ॥

यह बात पहले भी किसी अवसरपर हमने तुमसे कही थी। शस्त्र उठाना अत्यन्त भयंकर कर्म है; अतः तुमने यह न करने योग्य कार्य ही किया है ॥ १२ ॥

वत्स पर्याप्तमेतावद् भीष्मेण सह संयुगे ।
विमर्दस्ते महाबाहो व्यपयाहि रणादितः ॥ १३ ॥

महाबाहो ! वत्स ! भीष्मके साथ युद्धमें उतरकर जो तुमने इतना विध्वंसात्मक कार्य किया है, यही बहुत हो गया। अब तुम इस संग्रामसे हट जाओ ॥ १३ ॥

पर्याप्तमेतद् भद्रं ते तव कार्मुकधारणम् ।
विसर्जयैतद् दुर्धर्ष तपस्तप्यस्व भार्गव ॥ १४ ॥
एष भीष्मः शान्तनवो देवैः सर्वैर्निवारितः ।
निवर्तस्व रणादस्मादिति चैव प्रसादितः ॥ १५ ॥
रामेण सह मा योत्सीर्गुरुणेति पुनः पुनः ।
न हि रामो रणे जेतुं त्वया न्याय्यः कुरूद्वह ॥ १६ ॥
मानं कुरुष्व गाङ्गेय ब्राह्मणस्य रणाजिरे ।

भृगुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। दुर्धर्ष वीर ! तुमने जो धनुष उठा लिया, यही पर्याप्त है। अब इसे त्याग दो और तपस्या करो। देखो, इन सम्पूर्ण देवताओंने शान्तनु-नन्दन भीष्मको भी रोक दिया है। वे उन्हें प्रसन्न करके यह बात कह रहे हैं कि 'तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ। परशुराम तुम्हारे गुरु हैं। तुम उनके साथ बार-बार युद्ध न करो। कुरुश्रेष्ठ ! परशुरामको युद्धमें जीतना तुम्हारे लिये कदापि न्यायसंगत नहीं है। गङ्गानन्दन ! तुम इस समराङ्गणमें अपने ब्राह्मणगुरुका सम्मान करो' ॥ १४—१६½ ॥

वयं तु गुरवस्तुभ्यं तस्मात् त्वां वारयामहे ॥ १७ ॥
भीष्मो वसूनामन्यतमो दिष्ट्या जीवसि पुत्रक ।

बेटा परशुराम ! हम तो तुम्हारे गुरुजन—आदरणीय पितर हैं। इसलिये तुम्हें रोक रहे हैं। पुत्र ! भीष्म वसुओंमेंसे एक वसु हैं। तुम अपना सौभाग्य ही समझो कि उनके साथ युद्ध करके अबतक जीवित हो ॥ १७½ ॥

गाङ्गेयः शान्तनोः पुत्रो वसुरेष महायशाः ॥ १८ ॥
कथं शक्यस्त्वया जेतुं निवर्तस्वेह भार्गव ।

भृगुनन्दन ! गङ्गा और शान्तनुके ये महायशस्वी पुत्र भीष्म साक्षात् वसु ही हैं । इन्हें तुम कैसे जीत सकते हो ? अतः यहाँ युद्धसे निवृत्त हो जाओ ॥ १८½ ॥

अर्जुनः पाण्डवश्रेष्ठः पुरंदरसुतो बली ॥ १९ ॥
नरः प्रजापतिर्वीरः पूर्वदेवः सनातनः ।
सव्यसाचीति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ।
भीष्ममृत्युर्यथाकालं विहितो वै स्वयम्भुवा ॥ २० ॥

प्राचीन सनातन देवता और प्रजापालक वीरवर भगवान् नर इन्द्रपुत्र महाबली पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके रूपमें प्रकट होंगे तथा पराक्रमसम्पन्न होकर तीनों लोकोंमें सव्यसाचीके नामसे विख्यात होंगे । स्वयम्भू ब्रह्माजीने उन्हींको यथासमय भीष्मकी मृत्युमें कारण बनाया है ॥ १९-२० ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स पितृभिः पितॄन् रामोऽब्रवीदिदम् ।
नाहं युधि निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ॥ २१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पितरोंके ऐसा कहनेपर परशुरामजीने उनसे इस प्रकार कहा—'मैं युद्धमें पीठ नहीं दिखाऊँगा । यह मेरा चिरकालसे धारण किया हुआ व्रत है ॥

न निवर्तितपूर्वश्च कदाचिद् रणमूर्धनि ।
निवर्त्यतामापगेयः कामं युद्धात् पितामहाः ॥ २२ ॥
न त्वहं विनिवर्तिष्ये युद्धादस्मात् कथंचन ।

'आजसे पहले भी मैं कभी किसी युद्धसे पीछे नहीं हटा हूँ । अतः पितामहो ! आपलोग अपनी इच्छाके अनुसार पहले गङ्गानन्दन भीष्मको ही युद्धसे निवृत्त कीजिये । मैं किसी प्रकार पहले स्वयं ही इस युद्धसे पीछे नहीं हटूँगा' २२½

ततस्ते मुनयो राजन्नृचीकप्रमुखास्तदा ॥ २३ ॥
नारदेनैव सहिताः समागम्येदमब्रुवन् ।
निवर्तस्व रणात् तात मानयस्व द्विजोत्तमम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तब वे ऋचीक आदि मुनि नारदजीके साथ मेरे पास आये और इस प्रकार बोले—'तात ! तुम्हीं युद्धसे निवृत्त हो जाओ और द्विजश्रेष्ठ परशुरामजीका मान रक्खो' ॥ २३-२४ ॥

इत्यवोचमहं तांश्च क्षत्रधर्मव्यपेक्षया ।
मम व्रतमिदं लोके नाहं युद्धात् कदाचन ॥ २५ ॥
विमुखो विनिवर्तेयं पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।
नाहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नार्थकारणात् ॥ २६ ॥
त्यजेयं शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः ।

तब मैंने क्षत्रियधर्मको लक्ष्य करके उनसे कहा—'महर्षियो ! संसारमें मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि मैं पीठपर बाणोंकी चोट खाता हुआ कदापि युद्धसे निवृत्त नहीं हो सकता । मेरा यह निश्चित विचार है कि मैं लोभसे, कायरता या दीनतासे, भयसे अथवा किसी स्वार्थके कारण भी क्षत्रियोंके सनातन धर्मका त्याग नहीं कर सकता' ॥ २५-

ततस्ते मुनयः सर्वे नारदप्रमुखा नृप ॥
भागीरथी च मे माता रणमध्यं प्रपेदिरे ।
तथैवात्तशरो धन्वी तथैव दृढनिश्चयः ।
स्थिरोऽहमाहवे योद्धुं ततस्ते राममब्रुवन् ॥
समेत्य सहिता भूयः समरे भृगुनन्दनम् ।

इतना कहकर मैं पूर्ववत् धनुष-बाण लिये दृढ़ साथ समरभूमिमें युद्ध करनेके लिये डटा रहा । राज वे नारद आदि सम्पूर्ण ऋषि और मेरी माता गङ्गा उस रणक्षेत्रमें एकत्र हुए और पुनः एक साथ मिल समराङ्गणमें भृगुनन्दन परशुरामजीके पास जाकर इस बोले—॥ २७-२८½ ॥

नावनीतं हि हृदयं विप्राणां शाम्य भार्गव ॥
राम राम निवर्तस्व युद्धादस्माद् द्विजोत्तम ।
अवध्यो वै त्वया भीष्मस्त्वं च भीष्मस्य भार्गव ॥

'भृगुनन्दन ! ब्राह्मणोंका हृदय नवनीतके समान होता है; अतः शान्त हो जाओ । विप्रवर परशुराम युद्धसे निवृत्त हो जाओ । भार्गव ! तुम्हारे लिये भी भीष्मके लिये तुम अवध्य हो' ॥ २९-३० ॥

एवं ब्रुवन्तस्ते सर्वे प्रतिरुध्य रणाजिरम् ।
न्यासयांचक्रिरे शस्त्रं पितरो भृगुनन्दनम् ॥

इस प्रकार कहते हुए उन सब लोगोंने रणस्थल लिया और पितरोंने भृगुनन्दन परशुरामसे अ रखवा दिया ॥ ३१ ॥

ततोऽहं पुनरेवाथ तानष्टौ ब्रह्मवादिनः ।
अद्राक्षं दीप्यमानान् वै ग्रहानष्टाविवोदितान् ॥

इसी समय मैंने पुनः उन आठों ब्रह्मवादी व आकाशमें उदित हुए आठ ग्रहोंकी भाँति प्रकाशित होते

ते मां सप्रणयं वाक्यमब्रुवन् समरे स्थितम् ।
प्रैहि रामं महाबाहो गुरुं लोकहितं कुरु ॥

उन्होंने समरभूमिमें डटे हुए मुझसे प्रेमपूर्वक क 'महाबाहो ! तुम अपने गुरु परशुरामजीके पास जाओ जगत्का कल्याण करो' ॥ ३२ ॥

दृष्ट्वा निवर्तितं रामं सुहृद्वाक्येन तेन वै ।
लोकानां च हितं कुर्वन्नहमप्याददे वचः ॥

अपने सुहृदोंके कहनेसे परशुरामजीको युद्धसे हुआ देख मैंने भी लोककी भलाई करनेके लिये उन मह की बात मान ली ॥ ३४ ॥

ततोऽहं राममासाद्य ववन्दे भृशविक्षतः ।
रामश्चाभ्युत्स्मयन् प्रेम्णा मामुवाच महातपाः ॥

तदनन्तर मैंने परशुरामजीके पास जाकर उनके प्रणाम किया । उस समय मेरा शरीर बहुत घायल हो था । महातपस्वी परशुराम मुझे देखकर मुसकराये और पूर्वक इस प्रकार बोले—॥ ३५ ॥

त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् क्षत्रियः पृथिवीचरः ।

म्यतां भीष्म युद्धेऽस्मिंस्तोषितोऽहं भृशं त्वया ॥ ३६ ॥

'भीष्म ! इस जगत्‌में भूतलपर विचरनेवाला कोई भी त्रिय तुम्हारे समान नहीं है । जाओ, इस युद्धमें तुमने मुझे हुत संतुष्ट किया है' ॥ ३६ ॥

मम चैव समक्षं तां कन्यामाहूय भार्गवः ।
उक्तवान् दीनया वाचा मध्ये तेषां महात्मनाम् ॥ ३७ ॥

फिर मेरे सामने ही उन्होंने उस कन्याको बुलाकर उन सब महात्माओंके बीच दीनतापूर्ण वाणीमें उससे कहा ।३७।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि युद्धनिवृत्तौ पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें युद्धनिवृत्तिविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाकी कठोर तपस्या

राम उवाच

त्यक्षमेतल्लोकानां सर्वेषामेव भाविनि ।
थाशक्त्या मया युद्धं कृतं वै पौरुषं परम् ॥ १ ॥

परशुराम बोले—भाविनि ! यह सब लोगोंने प्रत्यक्ष खा है कि मैंने (तेरे लिये) पूरी शक्ति लगाकर युद्ध किया ौर महान् पुरुषार्थ दिखाया है ॥ १ ॥

चैवमपि शक्नोमि भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
शेषयितुमत्यर्थमुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ॥ २ ॥

परंतु इस प्रकार उत्तमोत्तम अस्त्र प्रकट करके भी मैं स्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मसे अपनी अधिक विशिष्टता नहीं खा सका ॥ २ ॥

षा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ।
थेष्टं गम्यतां भद्रे किमन्यद् वा करोमि ते ॥ ३ ॥

मेरी अधिक-से-अधिक शक्ति, अधिक-से-अधिक बल इतना है । भद्रे ! अब तेरी जहाँ इच्छा हो, चली जा, अथवा ता, तेरा दूसरा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ ? ॥ ३ ॥

ष्ममेव प्रपद्यस्व न तेऽन्या विद्यते गतिः ।
जितो ह्यस्मि भीष्मेण महास्त्राणि प्रमुञ्चता ॥ ४ ॥

अब तू भीष्मकी ही शरण ले । तेरे लिये दूसरी कोई ति नहीं है; क्योंकि महान् अस्त्रोंका प्रयोग करके भीष्मने झे जीत लिया है ॥ ४ ॥

वमुक्त्वा ततो रामो विनिःश्वस्य महामनाः ।
ष्णीमासीत् ततः कन्या प्रोवाच भृगुनन्दनम् ॥ ५ ॥

ऐसा कहकर महामना परशुराम लंबी साँस खींचते हुए न हो गये । तब राजकन्या अम्बाने उन भृगुनन्दनसे कहा—॥

गवन्नेवमेवैतद् यथाऽऽह भगवांस्तथा ।
जियो युधि भीष्मोऽयमपि देवैरुदारधीः ॥ ६ ॥

'भगवन् ! आपका कहना ठीक है । वास्तवमें ये उदार-द्धि भीष्म युद्धमें देवताओंके लिये भी अजेय हैं ॥ ६ ॥

याशक्ति यथोत्साहं मम कार्यं कृतं त्वया ।
निवार्यं रणे वीर्यमस्त्राणि विविधानि च ॥ ७ ॥

'आपने अपनी पूरी शक्ति लगाकर पूर्ण उत्साहके साथ रा कार्य किया है । युद्धमें ऐसा पराक्रम दिखाया है, जिसे ष्मके सिवा दूसरा कोई रोक नहीं सकता था । इसी प्रकार पने नाना प्रकारके दिव्यास्त्र भी प्रकट किये हैं ॥ ७ ॥

न चैव शक्यते युद्धे विशेषयितुमन्ततः ।
न चाहमेनं यास्यामि पुनर्भीष्मं कथंचन ॥ ८ ॥

'परंतु अन्ततोगत्वा आप युद्धमें उनकी अपेक्षा अपनी विशेष्यता स्थापित न कर सके । मैं भी अब किसी प्रकार पुनः भीष्मके पास नहीं जाऊँगी ॥ ८ ॥

गमिष्यामि तु तत्राहं यत्र भीष्मं तपोधन ।
समरे पातयिष्यामि स्वयमेव भृगूद्वह ॥ ९ ॥

'भृगुश्रेष्ठ तपोधन ! अब मैं वहीं जाऊँगी, जहाँ ऐसा बन सकूँ कि समरभूमिमें स्वयं ही भीष्मको मार गिराऊँ' ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा ययौ कन्या रोषव्याकुललोचना ।
तापस्ये धृतसंकल्पा सा मे चिन्तयती वधम् ॥ १० ॥

ऐसा कहकर रोषभरे नेत्रोंवाली वह राजकन्या मेरे वधके उपायका चिन्तन करती हुई तपस्याके लिये दृढ़ संकल्प लेकर वहाँसे चली गयी ॥ १० ॥

ततो महेन्द्रं सह तैर्मुनिभिर्भृगुसत्तमः ।
यथाऽऽगतं तथा सोऽगान्मामुपामन्त्र्य भारत ॥ ११ ॥

भारत ! तदनन्तर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी उन महर्षियोंके साथ मुझसे विदा ले जैसे आये थे, वैसे ही महेन्द्र पर्वतपर चले गये ॥ ११ ॥

ततो रथं समारुह्य स्तूयमानो द्विजातिभिः ।
प्रविश्य नगरं मात्रे सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ १२ ॥
यथावृत्तं महाराज सा च मां प्रत्यनन्दत ।
पुरुषांश्चादिशं प्राज्ञान् कन्यावृत्तान्तकर्मणि ॥ १३ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् मैंने भी ब्राह्मणके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनते हुए रथपर आरूढ़ हो हस्तिनापुरमें आकर माता सत्यवतीसे सब समाचार यथार्थरूपसे निवेदन किया । माताने भी मेरा अभिनन्दन किया । इसके बाद मैंने कुछ बुद्धिमान् पुरुषोंको उस कन्याके वृत्तान्तका पता लगानेके कार्यमें नियुक्त कर दिया ॥ १२-१३ ॥

दिवसे दिवसे ह्यस्या गतिजल्पितचेष्टितम् ।
प्रत्याहरंश्च मे युक्ताः स्थिताः प्रियहिते सदा ॥ १४ ॥

मेरे लगाये हुए गुप्तचर सदा मेरे प्रिय एवं हितमें संलग्न रहनेवाले थे । वे प्रतिदिन उस कन्याकी गतिविधि, बोलचाल और चेष्टाका समाचार मेरे पास पहुँचाया करते थे ॥ १४ ॥

यदैव हि वनं प्रायात् सा कन्या तपसे धृता ।

तदैव व्यथितो दीनो गतचेता इवाभवम् ॥ १५ ॥

जिस दिन वह कन्या तपस्याका निश्चय करके वनमें गयी, उसी दिन मैं व्यथित, दीन और अचेत-सा हो गया ॥

न हि मां क्षत्रियः कश्चिद् वीर्येण व्यजयद् युधि ।
ऋते ब्रह्मविदस्तात तपसा संशितव्रतात् ॥ १६ ॥

तात ! जो तपस्याके द्वारा कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, उन ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण परशुरामजीको छोड़कर कोई भी क्षत्रिय अबतक युद्धमें मुझे पराजित नहीं कर सका है ॥ १६ ॥

अपि चैतन्मया राजन् नारदेऽपि निवेदितम् ।
व्यासे चैव तथा कार्यं तौ चोभौ मामवोचताम् ॥ १७ ॥
न विषादस्त्वया कार्यो भीष्म काशिसुतां प्रति ।
दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत् ॥ १८ ॥

राजन् ! मैंने यह वृत्तान्त देवर्षि नारद और महर्षि व्याससे भी निवेदन किया था । उस समय उन दोनोंने मुझसे कहा— 'भीष्म ! तुम्हें काशिराजकी कन्याके विषयमें तनिक भी विषाद नहीं करना चाहिये । दैवके विधानको पुरुषार्थके द्वारा कौन टाल सकता है ?' ॥ १७-१८ ॥

सा कन्या तु महाराज प्रविश्याश्रममण्डलम् ।
यमुनातीरमाश्रित्य तपस्तेपेऽतिमानुषम् ॥ १९ ॥

महाराज ! फिर उस कन्याने आश्रममण्डलमें पहुँचकर यमुनाके तटका आश्रय ले ऐसी कठोर तपस्या की, जो मानवीय शक्तिसे परे है ॥ १९ ॥

निराहारा कृशा रुक्षा जटिला मलपङ्किनी ।
षण्मासान् वायुभक्षा च स्थाणुभूता तपोधना ॥ २० ॥

उसने भोजन छोड़ दिया, वह दुबली तथा रुक्ष हो गयी । सिरपर केशोंकी जटा बन गयी । शरीरमें मैल और कीचड़ जम गयी । वह तपोधना कन्या छः महीनोंतक केवल वायु पीकर ठूँठे काठकी भाँति निश्चल भावसे खड़ी रही २०

यमुनाजलमाश्रित्य संवत्सरमथापरम् ।
उदवासं निराहारा पारयामास भाविनी ॥ २१ ॥

फिर एक वर्षतक यमुनाजीके जलमें घुसकर बिना कुछ खाये-पीये वह भाविनी राजकन्या जलमें ही रहकर तपस्या करती रही ॥ २१ ॥

शीर्णपर्णेन चैकेन पारयामास सा परम् ।
संवत्सरं तीव्रकोपा पादाङ्गुष्ठाग्रधिष्ठिता ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् तीव्र क्रोधसे युक्त हुई अम्बाने पैरके अँगूठेके अग्रभागपर खड़ी हो अपने-आप झड़कर गिरा हुआ केवल एक सूखा पत्ता खाकर एक वर्ष व्यतीत किया ॥ २२ ॥

एवं द्वादश वर्षाणि तापयामास रोदसी ।
निवर्त्यमानापि च सा ज्ञातिभिर्नैव शक्यते ॥ २३ ॥

इस प्रकार बारह वर्षोंतक कठोर तपस्यामें संलग्न हो उसने पृथ्वी और आकाशको संतप्त कर दिया । उसके जातिवालोंने आकर उसे उस कठोर व्रतसे निवृत्त करनेकी चेष्टा की; परंतु उन्हें सफलता न मिल सकी ॥ २३ ॥

ततोऽगमद् वत्सभूमिं सिद्धचारणसेविताम् ।
आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्मनाम् ॥
तत्र पुण्येषु तीर्थेषु साऽऽप्लुताङ्गी दिवानिशम् ।
व्यचरत् काशिकन्या सा यथाकामविचारिणी ॥

तदनन्तर वह सिद्धों और चारणोंद्वारा से
देशकी भूमिमें गयी और वहाँ पुण्यशील तपस्वी मह
आश्रमोंमें विचरने लगी । काशिराजकी वह कन्या
वहाँके पुण्य तीर्थोंमें स्नान करती और अपनी इच्छा
सर्वत्र विचरती रहती थी ॥ २४-२५ ॥

नन्दाश्रमे महाराज तथोलूकाश्रमे शुभे ।
च्यवनस्याश्रमे चैव ब्रह्मणः स्थान एव च ॥
प्रयागे देवयजने देवारण्येषु चैव ह ।
भोगवत्यां महाराज कौशिकस्याश्रमे तथा ॥
माण्डव्यस्याश्रमे राजन् दिलीपस्याश्रमे तथा ।
रामह्रदे च कौरव्य पैलगर्गस्य चाश्रमे ॥
एतेषु तीर्थेषु तदा काशिकन्या विशाम्पते ।
आप्लावयत गात्राणि व्रतमास्थाय दुष्करम् ॥

महाराज ! शुभकारक नन्दाश्रम, उलूकाश्रम, च्यव
ब्रह्मस्थान, देवताओंके यज्ञस्थान प्रयाग, देवारण्य, भो
कौशिकाश्रम, माण्डव्याश्रम, दिलीपाश्रम, रामह्रद औ
गर्गाश्रम—क्रमशः इन सभी तीर्थोंमें उन दिनों काशि
कन्याने कठोर व्रतका आश्रय ले स्नान किया ॥ २६-

तामब्रवीच्च कौरव्य मम माता जले स्थिता ।
किमर्थं क्लिश्यसे भद्रे तथ्यमेव वदस्व मे ॥

कुरुनन्दन ! उस समय मेरी माता गङ्गाने जलमें
होकर अम्बासे कहा—'भद्रे ! तू किसलिये शरीरको इतना
देती है । मुझे ठीक-ठीक बता' ॥ ३० ॥

सैनामथाब्रवीद् राजन् कृताञ्जलिरनिन्दिता ।
भीष्मेण समरे रामो निर्जितश्चारुलोचने ॥
कोऽन्यस्तमुत्सहेज्जेतुमुद्यतेषुं महीपतिः ।
साहं भीष्मविनाशाय तपस्तप्स्ये सुदारुणम् ॥

राजन् ! तब साध्वी अम्बाने हाथ जोड़कर गङ्गा
कहा—'चारुलोचने ! भीष्मने युद्धमें परशुरामजीको परास्त
दिया; फिर दूसरा कौन ऐसा राजा है, जो धनुष-बाण ले
खड़े हुए भीष्मको युद्धमें परास्त कर सके ? अतः मैं भी
विनाशके लिये अत्यन्त कठोर तपस्या कर रही हूँ ॥ ३१-

विचरामि महीं देवि यथा हन्यामहं नृपम् ।
एतद् व्रतफलं देवि परमस्मिन् यथा हि मे ॥

'देवि ! मैं इस भूतलपर विभिन्न तीर्थोंमें इसीलिये वि
रही हूँ कि योग्य बनकर मैं स्वयं ही भीष्मको मार स
भगवति ! इस जगत्‌में मेरे व्रत और तपस्याका यही सर्वो
फल है, जैसा मैंने आपको बताया है' ॥ ३३ ॥

ततोऽब्रवीत् सागरगा जिह्मं चरसि भाविनि ।
नैष कामोऽनवद्याङ्गि शक्यः प्राप्तुं त्वयाबले ॥

तब सागरगामिनी गङ्गानदीने उससे कहा—'भाविनि ! तू कुटिल आचरण कर रही है । सुन्दर अङ्गोंवाली अबले ! तेरा यह मनोरथ कभी पूर्ण नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

यदि भीष्मविनाशाय काश्ये चरसि वै व्रतम् ।
व्रतस्था च शरीरं त्वं यदि नाम विमोक्ष्यसि ॥ ३५ ॥
नदी भविष्यसि शुभे कुटिला वार्षिकोदका ।
दुस्तीर्था न तु विज्ञेया वार्षिकी नाष्टमासिकी ॥ ३६ ॥

'काशिराजकन्ये ! यदि भीष्मके विनाशके लिये तू प्रयत्न कर रही है और व्रतमें स्थित रहकर ही यदि तू अपना शरीर छोड़ेगी तो शुभे ! तुझे टेढ़ी-मेढ़ी नदी होना पड़ेगा । केवल बरसातमें ही तेरे भीतर जल दिखायी देगा । तेरे भीतर तीर्थ या स्नानकी सुविधा बड़ी कठिनाईसे होगी । तू केवल बरसातकी नदी समझी जायगी । शेष आठ महीनोंमें तेरा पता नहीं लगेगा ॥ ३५-३६ ॥

भीमग्राहवती घोरा सर्वभूतभयङ्करी ।
एवमुक्त्वा ततो राजन् काशिकन्यां न्यवर्तत ॥ ३७ ॥
माता मम महाभागा स्मयमानेव भाविनी ।
कदाचिदष्टमे मासि कदाचिद् दशमे तथा ।
न प्राश्नीतोदकमपि पुनः सा वरवर्णिनी ॥ ३८ ॥

'बरसातमें भी भयंकर ग्राहोंसे भरी रहनेके कारण तू समस्त प्राणियोंके लिये अत्यन्त भयंकर और घोरस्वरूपा बनी रहेगी ।' राजन् ! काशिराजकी कन्यासे ऐसा कहकर मेरी परम सौभाग्यशालिनी माता गङ्गा देवी मुसकराती हुई लौट गयीं । तदनन्तर वह सुन्दरी कन्या पुनः कठोर तपस्यामें प्रवृत्त हो कभी आठवें और कभी दसवें महीने तक जल भी नहीं पीती थी ॥ ३७-३८ ॥

सा वत्सभूमिं कौरव्य तीर्थलोभात् ततस्ततः ।
पतिता परिधावन्ती पुनः काशिपतेः सुता ॥ ३९ ॥

कुरुनन्दन ! काशिराजकी वह कन्या तीर्थसेवनके लोभसे वत्सदेशकी भूमिपर इधर-उधर दौड़ती फिरती थी ॥ ३९ ॥

सा नदी वत्सभूम्यां तु प्रथिताम्बेति भारत ।
वार्षिकी ग्राहबहुला दुस्तीर्था कुटिला तथा ॥ ४० ॥

भारत ! कुछ कालके पश्चात् वह वत्सदेशकी भूमिमें अम्बा नामसे प्रसिद्ध नदी हुई, जो केवल बरसातमें जलसे भरी रहती थी । उसमें बहुत-से ग्राह निवास करते थे । उसके भीतर उतरना और स्नान आदि तीर्थकृत्योंका सम्पादन बहुत ही कठिन था । वह नदी टेढ़ी-मेढ़ी होकर बहती थी ॥ ४० ॥

सा कन्या तपसा तेन देहार्धेन व्यजायत ।
नदी च राजन् वत्सेषु कन्या चैवाभवत् तदा ॥ ४१ ॥

राजन् ! राजकन्या अम्बा उस तपस्याके प्रभावसे आधे शरीरसे तो अम्बा नामकी नदी हो गयी और आधे अङ्गसे वत्सदेशमें ही एक कन्या होकर प्रकट हुई ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बातपस्यायां षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाकी तपस्याविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८६॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका द्वितीय जन्ममें पुनः तप करना और महादेवजीसे अभीष्ट वरकी प्राप्ति तथा उसका चिताकी आगमें प्रवेश

भीष्म उवाच

ततस्ते तापसाः सर्वे तपसे धृतनिश्चयाम् ।
दृष्ट्वा न्यवर्तयंस्तात किं कार्यमिति चाब्रुवन् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—तात ! उस जन्ममें भी उसे तपस्या करनेका ही दृढ़ निश्चय लिये देख सब तपस्वी महात्माओंने उसे रोका और पूछा—'तुझे क्या करना है ?' ॥ १ ॥

तानुवाच ततः कन्या तपोवृद्धानृषींस्तदा ।
निराकृतास्मि भीष्मेण भ्रंशिता पतिधर्मतः ॥ २ ॥

तब उस कन्याने उन तपोवृद्ध महर्षियोंसे कहा—'भीष्मने मुझे ठुकराया है और मुझे पतिकी प्राप्ति एवं उसकी सेवारूप धर्मसे वञ्चित कर दिया है ॥ २ ॥

वधार्थं तस्य दीक्षा मे न लोकार्थं तपोधनाः ।
निहत्य भीष्मं गच्छेयं शान्तिमित्येव निश्चयः ॥ ३ ॥

'तपोधनो ! मेरी यह तपकी दीक्षा पुण्यलोकोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, भीष्मका वध करनेके लिये है । मेरा यह निश्चय है कि भीष्मको मार देनेपर मेरे हृदयको शान्ति मिल जायगी ।३।

यत्कृते दुःखवसतिमिमां प्राप्तास्मि शाश्वतीम् ।
पतिलोकाद् विहीना च नैव स्त्री न पुमानिह ॥ ४ ॥
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं निवर्तिष्ये तपोधनाः ।
एष मे हृदि संकल्पो यदिदं कथितं मया ॥ ५ ॥

'जिसके कारण मैं सदाके लिये इस दुःखमयी परिस्थितिमें पड़ गयी हूँ और पतिलोकसे वञ्चित होकर इस जगत्में न तो स्त्री रह गयी हूँ न पुरुष ही । उस गङ्गापुत्र भीष्मको युद्धमें मारे बिना तपस्यासे निवृत्त नहीं होऊँगी । तपोधनो ! यही मेरे हृदयका संकल्प है, जिसे मैंने स्पष्ट बता दिया ।४-५।

स्त्रीभावे परिनिर्विण्णा पुंस्त्वार्थे कृतनिश्चया ।
भीष्मे प्रतिचिकीर्षामि नास्मि वार्येति वै पुनः ॥ ६ ॥

'मुझे स्त्रीके स्वरूपसे विरक्ति हो गयी है, अतः पुरुषशरीरकी प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय लेकर तपस्यामें प्रवृत्त हुई हूँ । भीष्मसे अवश्य बदला लेना चाहती हूँ, अतः आपलोग मुझे रोकें नहीं' ॥ ६ ॥

तां देवो दर्शयामास शूलपाणिरुमापतिः ।
मध्ये तेषां महर्षीणां स्वेन रूपेण तापसीम् ॥ ७ ॥

तब शूलपाणि उमावल्लभ भगवान् शिवने उन महर्षियोंके बीचमें अपने साक्षात् स्वरूपसे प्रकट होकर उस तपस्विनीको दर्शन दिया ॥ ७ ॥

छन्द्यमाना वरेणाथ सा वव्रे मत्पराजयम् ।
हनिष्यसीति तां देवः प्रत्युवाच मनस्विनीम् ॥ ८ ॥

फिर इच्छानुसार वर माँगनेका आदेश देनेपर उसने मेरी पराजयका वर माँगा । तब महादेवजीने उस मनस्विनीसे कहा—'तू अवश्य भीष्मका वध करेगी' ॥ ८ ॥

ततः सा पुनरेवाथ कन्या रुद्रमुवाच ह ।
उपपद्येत कथं देव स्त्रिया युधि जयो मम ॥ ९ ॥

यह सुनकर उस कन्याने भगवान् रुद्रसे पुनः पूछा—'देव! मैं तो स्त्री हूँ । मुझे युद्धमें विजय कैसे प्राप्त हो सकती है?॥९॥

स्त्रीभावेन च मे गाढं मनः शान्तमुमापते ।
प्रतिश्रुतश्च भूतेश त्वया भीष्मपराजयः ॥ १० ॥

'उमापते! भूतनाथ! स्त्रीरूप होनेके कारण मेरा मन बहुत निस्तेज है । इधर आपने मेरे द्वारा भीष्मके पराजित होनेका वरदान दिया है ॥ १० ॥

यथा स सत्यो भवति तथा कुरु वृषध्वज ।
यथा हन्यां समागम्य भीष्मं शान्तनवं युधि ॥ ११ ॥

'वृषध्वज! आपका वह वरदान जिस प्रकार सत्य हो, वैसा कीजिये; जिससे मैं युद्धमें शान्तनुपुत्र भीष्मका सामना करके उन्हें मार सकूँ' ॥ ११ ॥

तामुवाच महादेवः कन्यां किल वृषध्वजः ।
न मे वागनृतं प्राह सत्यं भद्रे भविष्यति ॥ १२ ॥

तब वृषभध्वज महादेवजीने उस कन्यासे कहा—'भद्रे ! मेरी वाणीने कभी झूठ नहीं कहा है; अतः मेरी बात सत्य होकर रहेगी ॥ १२ ॥

हनिष्यसि रणे भीष्मं पुरुषत्वं च लप्स्यसे ।
स्मरिष्यसि च तत् सर्वं देहमन्यं गता सती ॥ १३ ॥

'तू रणक्षेत्रमें भीष्मको अवश्य मारेगी और इसके लिये आवश्यकतानुसार पुरुषत्व भी प्राप्त कर लेगी । दूसरे जानेपर तुझे इन सब बातोंका स्मरण भी बना रहेगा ॥

द्रुपदस्य कुले जाता भविष्यसि महारथः ।
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च भविष्यसि सुसम्मतः ॥ १

'तू द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हो महारथी वीर होगी । शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेकी कलामें निपुणता प्राप्त साथ ही तू विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाली सम्मानित योद्धा

यथोक्तमेव कल्याणि सर्वमेतद् भविष्यति ।
भविष्यसि पुमान् पश्चात् कस्माच्चित्कालपर्ययात् ॥ १

'कल्याणि ! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा हो तू पहले तो कन्यारूपमें ही उत्पन्न होगी; फिर कुछ पश्चात् पुरुष हो जायगी' ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महादेवः कपर्दी वृषभध्वजः ।
पश्यतामेव विप्राणां तत्रैवान्तरधीयत ॥ १

ऐसा कहकर जटाजूटधारी वृषभध्वज महादेवजी सब ब्राह्मणोंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १

ततः सा पश्यतां तेषां महर्षीणामनिन्दिता ।
समाहृत्य वनात् तस्मात् काष्ठानि वरवर्णिनी ॥ १
चितां कृत्वा सुमहतीं प्रदाय च हुताशनम् ।
प्रदीप्तेऽग्नौ महाराज रोषदीप्तेन चेतसा ॥ १
उक्त्वा भीष्मवधायेति प्रविवेश हुताशनम् ।
ज्येष्ठा काशिसुता राजन् यमुनामभितो नदीम् ॥ १

तदनन्तर उन महर्षियोंके देखते-देखते उस साध्वी सुन्दरी कन्याने उस वनसे बहुत-सी लकड़ियोंका संग्रह और एक विशाल चिता बनाकर उसमें आग लगा महाराज ! जब आग प्रज्वलित हो गयी, तब वह क्रोधसे हुए हृदयसे भीष्मके वधका संकल्प बोलकर उस आगमें कर गयी । राजन् ! इस प्रकार काशिराजकी वह ज्येष्ठ अम्बा दूसरे जन्ममें यमुनानदीके किनारे चिताकी जलकर भस्म हो गयी ॥ १७–१९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बाहुताशनप्रवेशे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाका अग्निमें प्रवेशविषयक एक सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका राजा द्रुपदके यहाँ कन्याके रूपमें जन्म, राजा तथा रानीका उसे पुत्ररूपमें प्रसिद्ध करके उसका नाम शिखण्डी रखना

दुर्योधन उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेय कन्या भूत्वा पुरा तदा ।
पुरुषोऽभूद् युधिश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—समरश्रेष्ठ गङ्गानन्दन पितामह ! शिखण्डी पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर फिर पुरुष कैसे हो गया, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

भार्या तु तस्य राजेन्द्र द्रुपदस्य महीपतेः ।
महिषी दयिता ह्यासीदपुत्रा च विशाम्पते ॥ २ ॥

भीष्मने कहा—प्रजापालक राजेन्द्र ! राजा द्रुपद प्यारी पटरानीके कोई पुत्र नहीं था ॥ २ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदो वै महीपतिः ।
अपत्यार्थं महाराज तोषयामास शङ्करम् ॥ ३ ॥

महाराज ! इसी समय भूपाल द्रुपदने संतानकी प्राप्ति लिये भगवान् शंकरको संतुष्ट किया ॥ ३ ॥

अस्मद्वधार्थं निश्चित्य तपो घोरं समास्थितः ।
ऋते कन्यां महादेव पुत्रो मे स्यादिति ब्रुवन् ॥ ४ ॥
भगवन् पुत्रमिच्छामि भीष्मं प्रतिचिकीर्षया ।
इत्युक्तो देवदेवेन स्त्रीपुमांस्ते भविष्यति ॥ ५ ॥
निवर्तस्व महीपाल नैतज्जात्वन्यथा भवेत् ।

हमलोगोंके वधके लिये पुत्र पानेका निश्चित संकल्प लेकर उन्होंने यह कहते हुए घोर तपस्या की थी कि 'महादेव ! मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो । भगवन् ! मैं भीष्मसे बदला लेनेके लिये पुत्र चाहता हूँ ।' यह सुनकर देवाधिदेव महादेवजीने कहा—'भूपाल ! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी । अब तुम लौटो । मैंने जो कहा है वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता' ॥ ४-५½ ॥

स तु गत्वा च नगरं भार्यामिदमुवाच ह ॥ ६ ॥
कृतो यत्नो महादेवस्तपसाऽऽराधितो मया ।
कन्या भूत्वा पुमान् भावी इति चोक्तोऽस्मि शम्भुना ॥ ७ ॥
पुनः पुनर्याच्यमानो दिष्टमित्यब्रवीच्छिवः ।
न तदन्यच्च भविता भवितव्यं हि तत् तथा ॥ ८ ॥

तब राजा द्रुपद नगरको लौट गये और अपनी पत्नीसे इस प्रकार बोले—'देवि ! मैंने बड़ा प्रयत्न किया । तपस्याके द्वारा महादेवजीकी आराधना की । तब भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर कहा—पहले तुम्हें पुत्री होगी; फिर वही पुत्रके रूपमें परिणत हो जायगी । मैंने बार-बार केवल पुत्रके लिये याचना की; परंतु भगवान् शिवने इसे दैवका विधान बताया है और कहा—'यह बदल नहीं सकता । जो कहा गया है, वही होगा' ॥ ६-८ ॥

ततः सा नियता भूत्वा ऋतुकाले मनस्विनी ।
पत्नी द्रुपदराजस्य द्रुपदं प्रविवेश ह ॥ ९ ॥
लेभे गर्भं यथाकालं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
पार्षतस्य महीपाल यथा मां नारदोऽब्रवीत् ॥ १० ॥
ततो दधार सा देवी गर्भं राजीवलोचना ।

तदनन्तर द्रुपदराजकी मनस्विनी पत्नीने नियमपूर्वक रहकर द्रुपदके साथ संयोग किया । शास्त्रीय विधिसे गर्भाधान-संस्कार होनेपर यथासमय उसने गर्भ धारण किया । राजन् ! जैसा कि मुझसे नारदजीने कहा था । द्रुपदकी कमलनयनी रानीने इसी प्रकार गर्भ धारण किया ॥ ९-१०½ ॥

तां स राजा प्रियां भार्यां द्रुपदः कुरुनन्दन ॥ ११ ॥
पुत्रस्नेहान्महाबाहुः सुखं पर्यचरत् तदा ।
सर्वानभिप्रायकृतान् भार्यालभत कौरव ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! महाबाहु द्रुपदने भावी पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण अपनी प्यारी पत्नीको बड़े सुखसे रक्खा । उसका आदर-सत्कार किया । कुरुकुलरत्न ! रानीको जिन-जिन वस्तुओंकी इच्छा हुई, वे सब उनके सामने प्रस्तुत की गयीं ॥ ११-१२ ॥

अपुत्रस्य सतो राज्ञो द्रुपदस्य महीपतेः ।
यथाकालं तु सा देवी महिषी द्रुपदस्य ह ॥ १३ ॥
कन्यां प्रवररूपां तु प्राजायत नराधिप ।

नरेश्वर ! पुत्रहीन राजा द्रुपदकी उस महारानीने समय आनेपर एक परम सुन्दरी कन्याको जन्म दिया ॥ १३½ ॥

अपुत्रस्य तु राज्ञः सा द्रुपदस्य मनस्विनी ॥ १४ ॥
ख्यापयामास राजेन्द्र पुत्रो ह्येष ममेति वै ।

राजेन्द्र ! तब पुत्रहीन राजा द्रुपदकी मनस्विनी रानीने यह घोषणा करा दी कि यह मेरा पुत्र है ॥ १४½ ॥

ततः स राजा द्रुपदः प्रच्छन्नाया नराधिप ॥ १५ ॥
पुत्रवत् पुत्रकार्याणि सर्वाणि समकारयत् ।
रक्षणं चैव मन्त्रस्य महिषी द्रुपदस्य सा ॥ १६ ॥
चकार सर्वयत्नेन ब्रुवाणा पुत्र इत्युत ।
न च तां वेद नगरे कश्चिदन्यत्र पार्षतात् ॥ १७ ॥

नरेन्द्र ! इसके बाद राजा द्रुपदने छिपाकर रक्खी हुई उस कन्याके सभी संस्कार पुत्रके ही समान कराये । द्रुपदकी रानीने सब प्रकारका प्रयत्न करके इस रहस्यको गुप्त रखनेकी व्यवस्था की । वह उस कन्याको पुत्र कहकर ही पुकारती थी । सारे नगरमें केवल द्रुपदको छोड़कर दूसरा कोई नहीं जानता था कि वह कन्या है ॥ १५-१७ ॥

श्रद्दधानो हि तद्वाक्यं देवस्याच्युततेजसः ।
छादयामास तां कन्यां पुमानिति च सोऽब्रवीत् ॥ १८ ॥

जिनका तेज कभी क्षीण नहीं होता, उन महादेवजीके वचनोंपर श्रद्धा रखनेके कारण राजा द्रुपदने उसके कन्याभावको छिपाया और पुत्र होनेकी घोषणा कर दी ॥ १८ ॥

जातकर्माणि सर्वाणि कारयामास पार्थिवः ।
पुंवद्विधानयुक्तानि शिखण्डीति च तां विदुः ॥ १९ ॥

राजाने बालकके सम्पूर्ण जातकर्म पुत्रोचित विधानसे ही करवाये, लोग उसे 'शिखण्डी' के नामसे जानते थे ॥ १९ ॥

अहमेकस्तु चारेण वचनान्नारदस्य च ।
ज्ञातवान् देववाक्येन अम्बायास्तपसा तथा ॥ २० ॥

केवल मैं गुप्तचरके दिये हुए समाचारसे, नारदजीके कथनसे, महादेवजीके वरदान-वाक्यसे तथा अम्बाकी तपस्यासे शिखण्डीके कन्या होनेका वृत्तान्त जान गया था ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शिखण्ड्युत्पत्तौ अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शिखण्डीकी उत्पत्तिविषयक
एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिखण्डीका विवाह तथा उसके स्त्री होनेका समाचार पाकर उसके श्वशुर दशार्णराजका महान्

भीष्म उवाच

चकार यत्नं द्रुपदः सुतायाः सर्वकर्मसु ।
ततो लेख्यादिषु तथा शिल्पेषु च परंतप ॥ १ ॥

भीष्म कहते हैं—तदनन्तर द्रुपदने अपनी पुत्रीको लेखनशिक्षा और शिल्पशिक्षा आदि सभी कार्योंकी योग्यता प्राप्त करानेके लिये विशेष प्रयत्न किया ॥ १ ॥

इष्वस्त्रे चैव राजेन्द्र द्रोणशिष्यो बभूव ह ।
तस्य माता महाराज राजानं वरवर्णिनी ॥ २ ॥
चोदयामास भार्यार्थे कन्यायाः पुत्रवत् तदा ।
ततस्तां पार्षतो दृष्ट्वा कन्यां सम्प्राप्तयौवनाम् ।
स्त्रियं मत्वा ततश्चिन्तां प्रपेदे सह भार्यया ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! धनुर्विद्याके लिये शिखण्डी द्रोणाचार्यका शिष्य हुआ। महाराज ! शिखण्डीकी सुन्दरी माताने राजा द्रुपदको प्रेरित किया कि वे उसके पुत्रके लिये बहू ला दें। वह अपनी कन्याका पुत्रके समान ब्याह करना चाहती थी। द्रुपदने देखा, मेरी बेटी जवान हो गयी तो भी अबतक स्त्री ही बनी हुई है (वरदानके अनुसार पुरुष नहीं हो सकी), इससे पत्नीसहित उनके मनमें बड़ी चिन्ता हुई ॥ २-३ ॥

द्रुपद उवाच

कन्या ममेयं सम्प्राप्ता यौवनं शोकवर्धिनी ।
मया प्रच्छादिता चेयं वचनाच्छूलपाणिनः ॥ ४ ॥

द्रुपद बोले—देवि ! मेरी यह कन्या युवावस्थाको प्राप्त होकर मेरा शोक बढ़ा रही है। मैंने भगवान् शंकरके कथनपर विश्वास करके अबतक इसके कन्याभावको छिपा रक्खा था ॥ ४ ॥

भार्योवाच

न तन्मिथ्या महाराज भविष्यति कथंचन ।
त्रैलोक्यकर्ता कस्माद्धि वृथा वक्तुमिहार्हति ॥ ५ ॥
यदि ते रोचते राजन् वक्ष्यामि शृणु मे वचः ।
श्रुत्वेदानीं प्रपद्येथाः स्वां मतिं पृषतात्मज ॥ ६ ॥

रानीने कहा—महाराज ! भगवान् शिवका दिया हुआ वर किसी तरह मिथ्या नहीं होगा। भला, तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् झूठी बात कैसे कह सकते हैं ? राजन् ! यदि आपको अच्छा लगे तो कहूँ। मेरी बात सुनिये। पृषतनन्दन ! इसे सुनकर अपनी बुद्धिके अनुसार ग्रहण करें ॥ ५—६ ॥

क्रियतामस्य यत्नेन विधिवद् दारसंग्रहः ।
भविता तद्वचः सत्यमिति मे निश्चिता मतिः ॥ ७ ॥

मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान्का वचन सत्य होगा। अतः आप प्रयत्नपूर्वक शास्त्रीय विधिके अनुसार इसका कन्याके साथ विवाह कर दें ॥ ७ ॥

ततस्तौ निश्चयं कृत्वा तस्मिन् कार्येऽथ दम्पती ।
वरयांचक्रतुः कन्यां दशार्णाधिपतेः सुताम् ॥

इस प्रकार विवाहका निश्चय करके दोनों प
दशार्णराजकी पुत्रीका अपने पुत्रके लिये वरण कि

ततो राजा द्रुपदो राजसिंहः
सर्वान् राज्ञः कुलतः संनिशाम्य ।
दाशार्णकस्य नृपतेस्तनूजां
शिखण्डिने वरयामास दारान् ॥

तदनन्तर राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपदने समस्त राजाओं आदिका परिचय सुनकर दशार्णराजकी ही पुत्रीका शि के लिये वरण किया ॥ ९ ॥

हिरण्यवर्मेति नृपो योऽसौ दाशार्णकः स्मृतः ।
स च प्रादान्महीपालः कन्यां तस्मै शिखण्डिने ॥

दशार्णदेशके राजाका नाम हिरण्यवर्मा था। हिरण्यवर्माने शिखण्डीको अपनी कन्या दे दी ॥ १०

स च राजा दशार्णेषु महानासीत् सुदुर्जयः ।
हिरण्यवर्मा दुर्धर्षो महासेनो महामनाः ॥

दशार्णदेशका वह राजा हिरण्यवर्मा महान् दुर्ज दुर्धर्ष वीर था। उसके पास विशाल सेना थी। उसका हृदय भी विशाल था ॥ ११ ॥

कृते विवाहे तु तदा सा कन्या राजसत्तम ।
यौवनं समनुप्राप्ता सा च कन्या शिखण्डिनी ॥
कृतदारः शिखण्डी च काम्पिल्यं पुनरागमत् ।
ततः सा वेद तां कन्यां कश्चित् कालं स्त्रियं किल ।

नृपश्रेष्ठ ! हिरण्यवर्माकी पुत्री भी युवावस्था थी। इधर द्रुपदकी कन्या शिखण्डिनी भी पूर्ण यु गयी थी। विवाहकार्य सम्पन्न हो जानेपर पत्नीसहित पुनः काम्पिल्य नगरमें आया। दशार्णराजकी कन्याने दिनोंमें यह समझ लिया कि शिखण्डी तो स्त्री है ॥ १२-१

हिरण्यवर्मणः कन्या ज्ञात्वा तां तु शिखण्डिनीम् ।
धात्रीणां च सखीनां च व्रीडमाना न्यवेदयत् ।
कन्यां पञ्चालराजस्य सुतां तां वै शिखण्डिनीम् ॥

हिरण्यवर्माकी पुत्रीने शिखण्डीके यथार्थ जानकर अपनी धाय तथा सखियोंसे लजाते-लजाते य बात कह दी कि पाञ्चालराजके पुत्र शिखण्डी पुरुष नहीं, स्त्री हैं ॥ १४ ॥

ततस्ता राजशार्दूल धात्र्यो दाशार्णिकास्तदा ।
जग्मुरार्तिं परां प्रेष्याः प्रेषयामासुरेव च ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह सुनकर दशार्णदेशकी धायोंको बड़ा हुआ। उन्होंने यह समाचार सूचित करनेके लिये दासियोंको दशार्णराजके यहाँ भेजा ॥ १५ ॥

ततो दशार्णाधिपतेः प्रेष्याः सर्वा न्यवेदयन् ।
विप्रलम्भं यथावृत्तं स च चुक्रोध पार्थिवः ॥

वे सब दासियाँ दशार्णराजसे सब बातें ठीक-ठीक बताती हुई बोलीं कि 'राजा द्रुपदने बहुत बड़ा धोखा दिया है।' यह सुनकर दशार्णराज अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ १६ ॥

शिखण्ड्यपि महाराज पुंवद् राजकुले तदा ।
विजहार मुदा युक्तः स्त्रीत्वं नैवातिरोचयन् ॥ १७ ॥

महाराज ! शिखण्डी भी उस राजपरिवारमें पुरुषकी ही भाँति आनन्दपूर्वक घूमता-फिरता था। उसे अपना स्त्रीत्व अच्छा नहीं लगता था ॥ १७ ॥

ततः कतिपयाहस्य तच्छ्रुत्वा भरतर्षभ ।
हिरण्यवर्मा राजेन्द्र रोषादार्तिं जगाम ह ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजेन्द्र ! तदनन्तर कुछ दिनोंमें उसके स्त्री होनेका समाचार सुनकर हिरण्यवर्मा क्रोधसे पीड़ित हो गया ॥

ततो दाशार्णको राजा तीव्रकोपसमन्वितः ।
दूतं प्रस्थापयामास द्रुपदस्य निवेशनम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर दशार्णराजने दुःसह क्रोधसे युक्त हो राजा द्रुपदके दरबारमें दूत भेजा ॥ १९ ॥

ततो द्रुपदमासाद्य दूतः काञ्चनवर्मणः ।
एक एकान्तमुत्सार्य रहो वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

हिरण्यवर्माका वह दूत द्रुपदके पास पहुँचकर अकेला एकान्तमें सबको हटाकर केवल राजासे इस प्रकार बोला—॥

दाशार्णराजो राजंस्त्वामिदं वचनमब्रवीत् ।
अभिषङ्गात् प्रकुपितो विप्रलब्धस्त्वयानघ ॥ २१ ॥

'निष्पाप नरेश ! आपने दशार्णराजको धोखा दिया है। आपके द्वारा किये गये अपमानसे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया है। उन्होंने आपसे कहनेके लिये यह संदेश भेजा है ॥

अवमन्यसे मां नृपते नूनं दुर्मन्त्रितं तव ।
यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे मोहाद् याचितवानसि ॥ २२ ॥
तस्याद्य विप्रलम्भस्य फलं प्राप्नुहि दुर्मते ।
एष त्वां सजनामात्यमुद्धरामि स्थिरो भव ॥ २३ ॥

'नरेश्वर ! तुमने जो मेरा अपमान किया है, वह निश्चय ही तुम्हारे खोटे विचारका परिचय है। तुमने मोहवश अपनी पुत्रीके लिये मेरी पुत्रीका वरण किया था। दुर्मते ! उस ठगी और वञ्चनाका फल अब तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त होगा, धीरज रक्खो। मैं अभी सेवकों और मन्त्रियोंसहित तुम्हें जड़मूलसहित उखाड़ फेंकता हूँ' ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि हिरण्यवर्मदूतागमने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें हिरण्यवर्माके दूतका आगमनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ १८९

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

हिरण्यवर्माके आक्रमणके भयसे घबराये हुए द्रुपदका अपनी महारानीसे संकटनिवारणका उपाय पूछना

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्य दूतेन द्रुपदस्य तदा नृप ।
चोरस्येव गृहीतस्य न प्रावर्तत भारती ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! दूतके ऐसा कहनेपर पकड़े गये चोरकी भाँति राजा द्रुपदके मुखसे सहसा कोई बात नहीं निकली ॥ १ ॥

स यत्नमकरोत् तीव्रं सम्बन्धिन्यनुमानने ।
दूतैर्मधुरसम्भाषैर्न तदस्तीति संदिशन् ॥ २ ॥

उन्होंने मधुरभाषी दूतोंके द्वारा यह संदेश देकर कि 'ऐसी बात नहीं है (आपको धोखा नहीं दिया गया है)' अपने सम्बन्धीको मनानेका दुष्कर प्रयत्न किया ॥ २ ॥

स राजा भूय एवाथ ज्ञात्वा तत्त्वमथागमत् ।
कन्येति पाञ्चालसुतां त्वरमाणो विनिर्ययौ ॥ ३ ॥

राजा हिरण्यवर्माने जब पुनः पता लगाया तो पाञ्चालराजकी पुत्री शिखण्डिनी कन्या ही है, यह बात ठीक जान पड़ी। इससे रुष्ट होकर उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ द्रुपदपर आक्रमण करनेका निश्चय किया ॥ ३ ॥

ततः सम्प्रेषयामास मित्राणाममितौजसाम् ।
दुहितुर्विप्रलम्भं तं धात्रीणां वचनात् तदा ॥ ४ ॥

तदनन्तर राजाने धायोंके कथनानुसार अपनी कन्याको द्रुपदके द्वारा धोखा दिये जानेका समाचार अमिततेजस्वी मित्र राजाओंके पास भेजा ॥ ४ ॥

ततः समुदयं कृत्वा बलानां राजसत्तमः ।
अभियाने मतिं चक्रे द्रुपदं प्रति भारत ॥ ५ ॥

भारत ! इसके बाद नृपश्रेष्ठ हिरण्यवर्माने सैन्य-संग्रह करके राजा द्रुपदके ऊपर चढ़ाई करनेका निश्चय किया ॥५॥

ततः सम्मन्त्रयामास मन्त्रिभिः स महीपतिः ।
हिरण्यवर्मा राजेन्द्र पाञ्चाल्यं पार्थिवं प्रति ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! फिर राजा हिरण्यवर्माने अपने मन्त्रियोंके साथ बैठकर परामर्श किया कि मुझे पाञ्चालनरेशके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये ॥ ६ ॥

तत्र वै निश्चितं तेषामभूद् राज्ञां महात्मनाम् ।
तथ्यं भवति चेदेतत् कन्या राजन् शिखण्डिनी ॥ ७ ॥
बद्ध्वा पञ्चालराजानमानयिष्यामहे गृहम् ।
अन्यं राजानमाधाय पञ्चालेषु नरेश्वरम् ॥ ८ ॥
घातयिष्याम नृपतिं पाञ्चालं सशिखण्डिनम् ॥ ९ ॥

वहाँ महामना मित्र राजाओंका यह निश्चय घोषित हुआ कि राजन् ! यदि यह सत्य सिद्ध हुआ कि शिखण्डी वास्तवमें पुत्र नहीं, कन्या है, तब हमलोग पाञ्चालराजको कैद करके अपने घर ले आयेंगे और पाञ्चालदेशके राज्यपर दूसरे किसी राजाको बिठाकर शिखण्डीसहित द्रुपदको मरवा डालेंगे ॥ ७-९ ॥

तत् तथाभूतमाज्ञाय पुनर्दूतान्नराधिपः ।
प्रास्थापयत् पार्षताय निहन्मीति स्थिरो भव ॥ १० ॥

फिर दूतके मुखसे उस समाचारको यथार्थ जानकर राजा हिरण्यवर्माने द्रुपदके पास दूत भेजा । स्थिर रहो (सावधान हो जाओ), मैं कुछ ही दिनोंमें तुम्हारा संहार कर डालूँगा ॥

भीष्म उवाच

स हि प्रकृत्या वै भीतः किल्बिषी च नराधिपः ।
भयं तीव्रमनुप्राप्तो द्रुपदः पृथिवीपतिः ॥ ११ ॥

भीष्म कहते हैं—राजा द्रुपद उन दिनों स्वभावसे ही भीरु थे । फिर उनके द्वारा अपराध भी बन गया था । अतः उन्होंने बड़े भारी भयका अनुभव किया ॥ ११ ॥

विसृज्य दूतान् दाशार्णे द्रुपदः शोकमूर्छितः ।
समेत्य भार्यां रहिते वाक्यमाह नराधिपः ॥ १२ ॥

राजा द्रुपदने दशार्णनरेशके पास दूतोंको भेजकर शोकसे अधीर हो एकान्त स्थानमें अपनी पत्नीसे मिलकर इस विषयमें बातचीत करनेकी इच्छा की ॥ १२ ॥

भयेन महताऽऽविष्टो हृदि शोकेन चाहतः ।
पाञ्चालराजो दयितां मातरं वै शिखण्डिनः ॥ १३ ॥

पाञ्चालराजके हृदयमें बड़ा भारी भय समा गया था । वे शोकसे पीड़ित थे । अतः उन्होंने अपनी प्यारी पत्नी शिखण्डीकी मातासे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

अभियास्यति मां कोपात् सम्बन्धी सुमहाबलः ।
हिरण्यवर्मा नृपतिः कर्षमाणो वरूथिनीम् ॥ १४ ॥

'देवि ! मेरे महाबली सम्बन्धी हिरण्यवर्मा क्रोधवश अपनी विशाल सेना लाकर मेरे ऊपर आक्रमण करेंगे ॥ १४ ॥

किमिदानीं करिष्यावो मूढौ कन्यामिमां प्रति ।
शिखण्डी किल पुत्रस्ते कन्येति परिशङ्कितः ॥ १५ ॥

'इस समय हम दोनों क्या करें ? इस कन्याके प्रश्नको लेकर हमलोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं । सम्बन्धीके मनमें यह शंका दृढ़मूल हो गयी है कि तुम्हारा पुत्र शिखण्डी वास्तवमें कन्या है ॥ १५ ॥

इति संचिन्त्य यत्नेन समित्रः सबलानुगः ।
वञ्चितोऽस्मीति मन्वानो मां किलोद्धर्तुमिच्छति ॥ १६ ॥
किमत्र तथ्यं सुश्रोणि मिथ्या किं ब्रूहि शोभने ।
श्रुत्वा त्वत्तः शुभं वाक्यं संविधास्याम्यहं तथा ॥ १

'यह सोचकर वे ऐसा मानने लगे हैं कि मेरे साथ किया गया है और इसलिये वे अपने मित्रों, सैनिकों सेवकोंसहित आकर मुझे यत्नपूर्वक उखाड़ फेंकना चाह सुश्रोणि ! यहाँ क्या सच है और क्या झूठ ? शोभने ! बातको तुम्हीं बताओ । तुम्हारे मुखसे निकले हुए शुभ को सुनकर मैं वैसा ही करूँगा ॥ १६–१७ ॥

अहं हि संशयं प्राप्तो बाला चेयं शिखण्डिनी ।
त्वं च राज्ञि महत् कृच्छ्रं सम्प्राप्ता वरवर्णिनि ॥ १८

'रानी ! मेरा जीवन संशयमें पड़ गया है । यह शिखण्डि भी बालिका ही है । सुन्दरि ! तुम भी महान् सं फँस गयी हो ॥ १८ ॥

सा त्वं सर्वविमोक्षाय तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ।
तथा विदध्यां सुश्रोणि कृत्यमाशु शुचिस्मिते ॥ १९

'सुश्रोणि ! मैं पूछ रहा हूँ । सबको संकटसे छुड़ा लिये कोई यथार्थ उपाय बताओ । शुचिस्मिते ! मैं उपायको शीघ्र ही काममें लाऊँगा ॥ १९ ॥

शिखण्डिनि च मा भैस्त्वं विधास्ये तत्र तत्त्वतः ।
कृपयाहं वरारोहे वञ्चितः पुत्रधर्मतः ॥ २०

'सुन्दर अङ्गोंवाली महारानी ! तुम शिखण्डीके विष भय मत करो । मैं दया करके वही कार्य करूँगा, जो बहु हितकारक होगा, मैं स्वयं पुत्रधर्मसे वञ्चित हो गया हूँ

मया दाशार्णको राजा वञ्चितः स महीपतिः ।
तदाचक्ष्व महाभागे विधास्ये तत्र यद्धितम् ॥ २१

'और मैंने दशार्णनरेश महाराज हिरण्यवर्मा भी वञ्चित किया है । अतः महाभागे ! इस अवसर तुम्हारी दृष्टिमें जो हितकारक कार्य हो, उसे बताओ । उसका अनुष्ठान करूँगा' ॥ २१ ॥

जानता हि नरेन्द्रेण ख्यापनार्थं परस्य वै ।
प्रकाशं चोदिता देवी प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ २२

यद्यपि राजा द्रुपद सब कुछ जानते थे तो भी द्रु लोगोंमें अपनी निर्दोषता सिद्ध करनेके लिये महारानीसे शब्दोंमें पूछा । उनके प्रश्न करनेपर रानीने राजा इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि द्रुपदप्रश्ने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें द्रुपदप्रश्नविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९० ॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदपत्नीका उत्तर, द्रुपदके द्वारा नगररक्षाकी व्यवस्था और देवाराधन तथा शिखण्डिनीका वनमें जाकर स्थूणाकर्ण नामक यक्षसे अपने दुःखनिवारणके लिये प्रार्थना करना

भीष्म उवाच

ततः शिखण्डिनो माता यथातत्त्वं नराधिप ।
आचचक्षे महाबाहो भर्त्रे कन्यां शिखण्डिनीम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाबाहु नरेश्वर ! त शिखण्डीकी माताने अपने पतिसे यथार्थ रहस्य बताते हुए कहा 'यह पुत्र शिखण्डी नहीं, शिखण्डिनी नामवाली कन्या है ॥ १

अपुत्रया मया राजन् सपत्नीनां भयादिदम्।
कन्या शिखण्डिनी जाता पुरुषो वै निवेदिता ॥ २ ॥

'राजन्! पुत्ररहित होनेके कारण मैंने अपनी सौतोंके भयसे इस कन्या शिखण्डिनीके जन्म लेनेपर भी इसे पुत्र ही बताया ॥ २ ॥

त्वया चैव नरश्रेष्ठ तन्मे प्रीत्यानुमोदितम्।
पुत्रकर्म कृतं चैव कन्यायाः पार्थिवर्षभ ॥ ३ ॥

'नरश्रेष्ठ! आपने भी प्रेमवश मेरे इस कथनका अनुमोदन किया और महाराज! कन्या होनेपर भी आपने इसका पुत्रोचित संस्कार किया ॥ ३ ॥

भार्या चोढा त्वया राजन् दशार्णाधिपतेः सुता।
मया च प्रत्यभिहितं देववाक्यार्थदर्शनात्।
कन्या भूत्वा पुमान् भावीत्येवं चैतदुपेक्षितम् ॥ ४ ॥

'राजन्! मेरे ही कथनपर विश्वास करके आप दशार्णराजकी पुत्रीको इसकी पत्नी बनानेके लिये ब्याह लाये। महादेवजीके वरदानवाक्यपर दृष्टि रखनेके कारण मैंने इसके विषयमें पुत्र होनेकी घोषणा की थी। महादेवजीने कहा था कि पहले कन्या होगी, फिर वही पुत्र हो जायगा। इसीलिये इस वर्तमान संकटकी उपेक्षा की गयी' ॥ ४ ॥

एतच्छ्रुत्वा द्रुपदो यज्ञसेनः
सर्वं तत्त्वं मन्त्रविद्भ्यो निवेद्य।
मन्त्रं राजा मन्त्रयामास राजन्
यथायुक्तं रक्षणे वै प्रजानाम् ॥ ५ ॥

यह सुनकर यज्ञसेन द्रुपदने मन्त्रियोंको सब बातें ठीक-ठीक बता दीं। राजन्! तत्पश्चात् प्रजाकी रक्षाके लिये जैसी व्यवस्था उचित है, उसके लिये उन्होंने पुनः मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा की ॥ ५ ॥

सम्बन्धकं चैव समर्थ्य तस्मिन्
दाशार्णके वै नृपतौ नरेन्द्र।
स्वयं कृत्वा विप्रलम्भं यथाव-
न्मन्त्रैकाग्रो निश्चयं वै जगाम ॥ ६ ॥

नरेन्द्र! यद्यपि राजा द्रुपदने स्वयं ही वञ्चना की थी, तथापि दशार्णराजके साथ सम्बन्ध और प्रेम बनाये रखनेकी इच्छा करके एकाग्रचित्तसे मन्त्रणा करते हुए वे एक निश्चयपर पहुँच गये ॥ ६ ॥

स्वभावगुप्तं नगरमापत्काले तु भारत।
गोपयामास राजेन्द्र सर्वतः समलंकृतम् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन राजेन्द्र! यद्यपि वह नगर स्वभावसे ही सुरक्षित था, तथापि उस विपत्तिके समय उसको सब प्रकारसे सजा करके उन्होंने उसकी रक्षाके लिये विशेष व्यवस्था की ॥

आर्तिं च परमां राजा जगाम सह भार्यया।
दशार्णपतिना सार्धं विरोधे भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ! दशार्णराजके साथ विरोधकी भावना होनेपर रानीसहित राजा द्रुपदको बड़ा कष्ट हुआ ॥ ८ ॥

कथं सम्बन्धिना सार्धं न मे स्याद् विग्रहो महान्।
इति संचिन्त्य मनसा देवतामर्चयत् तदा ॥ ९ ॥

अपने सम्बन्धीके साथ मेरा महान् युद्ध कैसे टल जाय—यह मन-ही-मन विचार करके उन्होंने देवताकी अर्चना आरम्भ कर दी ॥ ९ ॥

तं तु दृष्ट्वा तदा राजन् देवी देवपरं तदा।
अर्चां प्रयुञ्जानमथो भार्या वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

राजन्! राजा द्रुपदको देवाराधनमें तत्पर देख महारानीने पूजा चढ़ाते हुए नरेशसे इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

देवानां प्रतिपत्तिश्च सत्या साधुमता सदा।
किमु दुःखार्णवं प्राप्य तस्मादर्चयतां गुरून् ॥ ११ ॥
दैवतानि च सर्वाणि पूज्यन्तां भूरिदक्षिणम्।
अग्नयश्चापि हूयन्तां दाशार्णप्रतिषेधने ॥ १२ ॥

'देवताओंकी आराधना साधु पुरुषोंके लिये सदा ही सत्य (उत्तम) है। फिर जो दुःखके समुद्रमें डूबा हुआ हो, उसके लिये तो कहना ही क्या है। अतः आप गुरुजनों और सम्पूर्ण देवताओंका पूजन करें, ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणा दें और दशार्णराजके लौट जानेके लिये अग्नियोंमें होम करें ॥ ११-१२ ॥

अयुद्धेन निवृत्तिं च मनसा चिन्तय प्रभो।
देवतानां प्रसादेन सर्वमेतद् भविष्यति ॥ १३ ॥

'प्रभो! मन-ही-मन यह चिन्तन कीजिये कि दशार्णराज बिना युद्ध किये ही लौट जायँ। देवताओंके कृपाप्रसादसे यह सब कुछ सिद्ध हो जायगा ॥ १३ ॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रितं सार्धं त्वया पृथुललोचन।
पुरस्यास्याविनाशाय यच्च राजंस्तथा कुरु ॥ १४ ॥

'विशाललोचन नरेश! आपने इस नगरकी रक्षाके लिये मन्त्रियोंके साथ जैसा विचार किया है वैसा कीजिये ॥ १४ ॥

दैवं हि मानुषोपेतं भृशं सिद्ध्यति पार्थिव।
परस्परविरोधाद्धि सिद्धिरस्ति न चैतयोः ॥ १५ ॥

'भूपाल! पुरुषार्थसे संयुक्त होनेपर ही दैव विशेषरूपसे सिद्धिको प्राप्त होता है। दैव और पुरुषार्थमें परस्पर विरोध होनेपर इन दोनोंकी ही सिद्धि नहीं होती ॥ १५ ॥

तस्माद् विधाय नगरे विधानं सचिवैः सह।
अर्चयस्व यथाकामं दैवतानि विशाम्पते ॥ १६ ॥

'राजन्! अतः आप मन्त्रियोंके साथ नगरकी रक्षाके लिये आवश्यक व्यवस्था करके इच्छानुसार देवताओंकी अर्चना कीजिये' ॥ १६ ॥

एवं संभाषमाणौ तु दृष्ट्वा शोकपरायणौ।
शिखण्डिनी तदा कन्या व्रीडितेव तपस्विनी ॥ १७ ॥
ततः सा चिन्तयामास मत्कृते दुःखितावुभौ।
इमाविति ततश्चक्रे मतिं प्राणविनाशने ॥ १८ ॥

इन दोनोंको इस प्रकार शोकमग्न होकर बातचीत करते देख उनकी तपस्विनी पुत्री शिखण्डिनी लज्जित-सी होकर इस

प्रकार चिन्ता करने लगी—'ये मेरे माता और पिता दोनों मेरे ही कारण दुखी हो रहे हैं।' ऐसा सोचकर उसने प्राण त्याग देनेका विचार किया ॥ १७-१८ ॥

एवं सा निश्चयं कृत्वा भृशं शोकपरायणा।
निर्जगाम गृहं त्यक्त्वा गहनं निर्जनं वनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार जीवनका अन्त कर देनेका निश्चय करके वह अत्यन्त शोकमग्न हो घर छोड़कर निर्जन एवं गहन वन-में चली गयी ॥ १९ ॥

यक्षेणर्द्धिमता राजन् स्थूणाकर्णेन पालितम्।
तद्भयादेव च जनो विसर्जयति तद् वनम् ॥ २० ॥

राजन्! वह वन समृद्धिशाली यक्ष स्थूणाकर्णके द्वारा सुरक्षित था। इसीके भयसे साधारण लोगोंने उस वनमें आना-जाना छोड़ दिया था ॥ २० ॥

तत्र च स्थूणभवनं सुधामृत्तिकलेपनम्।
लाजोल्लापिकधूमाढ्यमुच्चप्राकारतोरणम् ॥ २१ ॥

उसके भीतर स्थूणाकर्णका विशाल भवन था, जो चूना और मिट्टीसे लीपा गया था। उसके परकोटे और फाटक बहुत ऊँचे थे। उसमें खसकी जड़के धूमकी सुगन्ध फैली हुई थी ॥ २१ ॥

तत् प्रविश्य शिखण्डी सा द्रुपदस्यात्मजा नृप।
अनश्नाना बहुतिथं शरीरमुदशोषयत् ॥ २२ ॥

उस भवनमें प्रवेश करके द्रुपदपुत्री शिखण्डिनी बहुत दिनोंतक उपवास करके शरीरको सुखाती रही ॥ २२ ॥

दर्शयामास तां यक्षः स्थूणो मार्दवसंयुतः।
किमर्थोऽयं तवारम्भः करिष्ये ब्रूहि मा चिरम् ॥ २३ ॥

स्थूणाकर्ण यक्षने उसे इस अवस्थामें देखा। देखकर उसके हृदयमें कोमल भावका उदय हुआ। फिर उसने पूछा—'भद्रे! तुम्हारा यह उपवास-व्रत किसलिये है? अपना प्रयोजन शीघ्र बताओ। मैं उसे पूर्ण करूँगा' ॥ २३ ॥

अशक्यमिति सा यक्षं पुनः पुनरुवाच ह।
करिष्यामीति वै क्षिप्रं प्रत्युवाचाथ गुह्यकः ॥ २४ ॥

यह सुनकर उसने यक्षसे बार-बार कहा—'यह लिये असम्भव है।' तब यक्षने बार बार उत्तर दिया तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण कर दूँगा ॥ २४ ॥

धनेश्वरस्यानुचरो वरदोऽस्मि नृपात्मजे।
अदेयमपि दास्यामि ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ॥

'राजकुमारी! मैं कुबेरका सेवक हूँ। मुझमें वर शक्ति है, तुम्हारी जो भी इच्छा हो बताओ। मैं तुम्हें अदे भी दे दूँगा' ॥ २५ ॥

ततः शिखण्डी तत् सर्वमखिलेन न्यवेदयत्।
तस्मै यक्षप्रधानाय स्थूणाकर्णाय भारत ॥

भरतनन्दन! तब शिखण्डिनीने उस यक्षप्रवर स्थूण से अपना सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया ॥ २६ ॥

शिखण्डिन्युवाच

अपुत्रो मे पिता यक्ष न चिरान्नाशमेष्यति।
अभियास्यति सक्रोधो दशार्णाधिपतिर्हि तम् ॥

शिखण्डिनी बोली—यक्ष! मेरे पुत्रहीन पिता शीघ्र ही नष्ट हो जायँगे; क्योंकि दशार्णराज कुपित हो उनपर आक्रमण करेंगे ॥ २७ ॥

महाबलो महोत्साहः सहेमकवचो नृपः।
तस्माद् रक्षस्व मां यक्ष मातरं पितरं च मे ॥

वे सुवर्णमय कवचसे युक्त नरेश महाबली और उत्साही हैं—यक्ष! तुम मेरे माता-पिताकी और मेरी उनसे रक्षा करो ॥ २८ ॥

प्रतिज्ञातो हि भवता दुःखप्रतिशमो मम।
भवेयं पुरुषो यक्ष त्वत्प्रसादादनिन्दितः ॥ २
यावदेव स राजा वै नोपयाति पुरं मम।
तावदेव महायक्ष प्रसादं कुरु गुह्यक ॥ ३

गुह्यक! महायक्ष! तुमने मेरे दुःखनिवारणके प्रतिज्ञा की है। मैं चाहती हूँ कि तुम्हारी कृपासे एक श्रेष्ठ हो जाऊँ। जबतक राजा हिरण्यवर्मा हमारे नगरपर आक्र नहीं कर रहे हैं, तभीतक मुझपर कृपा करो ॥ २९-३०

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि स्थूणाकर्णसमागमे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें स्थूणाकर्णके साथ शिखण्डिनीकी भेंटविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९१ ॥

◆

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिखण्डीको पुरुषत्वकी प्राप्ति, द्रुपद और हिरण्यवर्माकी प्रसन्नता, स्थूणाकर्णको कुबेरका शाप तथा भीष्मका शिखण्डीको न मारनेका निश्चय

भीष्म उवाच

शिखण्डिवाक्यं श्रुत्वाथ स यक्षो भरतर्षभ।
प्रोवाच मनसा चिन्त्य दैवेनोपनिपीडितः ॥ १ ॥
भवितव्यं तथा तद्धि मम दुःखाय कौरव।
भद्रे कामं करिष्यामि समयं तु निबोध मे ॥ २ ॥
(स्वं ते पुंस्त्वं प्रदास्यामि स्त्रीत्वं धारयितास्मि ते।)
किंचित् कालान्तरे दास्ये पुँल्लिङ्गं स्वमिदं तव।
आगन्तव्यं त्वया काले सत्यं चैव वदस्व मे ॥ ३

भीष्म कहते हैं—भरतश्रेष्ठ कौरव! शिखण्डिनीकी बात सुनकर दैवपीड़ित यक्षने मन-ही-मन कुछ सोच

कहा—'भद्रे ! तुम जैसा कहती हो वैसा हो तो जायगा; परंतु वह मेरे दुःखका कारण होगा, तथापि मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा। इस विषयमें जो मेरी शर्त है, उसे सुनो। मैं तुम्हें अपना पुरुषत्व दूँगा और तुम्हारा स्त्रीत्व स्वयं धारण करूँगा; किंतु कुछ ही कालके लिये अपना यह पुरुषत्व तुम्हें दूँगा। उस निश्चित समयके भीतर ही तुम्हें मेरा पुरुषत्व लौटानेके लिये यहाँ आ जाना चाहिये। इसके लिये मुझे सच्चा वचन दो ॥ १–३ ॥

प्रभुः संकल्पसिद्धोऽस्मि कामचारी विहङ्गमः।
मत्प्रसादात् पुरं चैव त्राहि बन्धूंश्च केवलम् ॥ ४ ॥

'मैं सिद्धसंकल्प, सामर्थ्यशाली, इच्छानुसार सर्वत्र विचरनेवाला तथा आकाशमें भी चलनेकी शक्ति रखनेवाला हूँ। तुम मेरी कृपासे केवल अपने नगर और बन्धु-बान्धवोंकी रक्षा करो ॥ ४ ॥

स्त्रीलिङ्गं धारयिष्यामि तदेवं पार्थिवात्मजे।
सत्यं मे प्रतिजानीहि करिष्यामि प्रियं तव ॥ ५ ॥

'राजकुमारी ! इस प्रकार मैं तुम्हारा स्त्रीत्व धारण करूँगा, कार्य पूर्ण हो जानेपर तुम मेरा पुरुषत्व लौटा देनेकी मुझसे सची प्रतिज्ञा करो; तब मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा' ॥ ५ ॥

शिखण्डिन्युवाच

प्रतिदास्यामि भगवन् पुँल्लिङ्गं तव सुव्रत।
किञ्चित्कालान्तरं स्त्रीत्वं धारयस्व निशाचर ॥ ६ ॥

शिखण्डिनी बोली—भगवन् ! तुम्हारा यह पुरुषत्व मैं समयपर लौटा दूँगा। निशाचर ! तुम कुछ ही समयके लिये मेरा स्त्रीत्व धारण कर लो ॥ ६ ॥

प्रतियाते दशार्णे तु पार्थिवे हेमवर्मणि।
कन्यैव हि भविष्यामि पुरुषस्त्वं भविष्यसि ॥ ७ ॥

दशार्णदेशके स्वामी राजा हिरण्यवर्माके लौट जानेपर मैं फिर कन्या ही हो जाऊँगी और तुम पूर्ववत् पुरुष हो जाओगे ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा समयं तत्र चक्राते तावुभौ नृप।
अन्योऽन्यस्याभिसंदेहे तौ संक्रामयतां ततः ॥ ८ ॥
स्त्रीलिङ्गं धारयामास स्थूणायक्षोऽथ भारत।
यक्षरूपं च तद् दीप्तं शिखण्डी प्रत्यपद्यत ॥ ९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! इस प्रकार बात करके उन्होंने परस्पर प्रतिज्ञा कर ली तथा उन दोनोंने एक दूसरेके शरीरमें अपने-अपने पुरुषत्व और स्त्रीत्वका संक्रमण करा दिया। भारत ! स्थूणाकर्ण यक्षने उस शिखण्डिनीके स्त्रीत्वको धारण कर लिया और शिखण्डिनीने यक्षका प्रकाशमान पुरुषत्व प्राप्त कर लिया ॥ ८-९ ॥

ततः शिखण्डी पाञ्चाल्यः पुंस्त्वमासाद्य पार्थिव।
विवेश नगरं हृष्टः पितरं च समासदत् ॥ १० ॥

राजन् ! इस प्रकार पुरुषत्व पाकर पाञ्चालराजकुमार शिखण्डी बड़े हर्षके साथ नगरमें आया और अपने पितासे मिला ॥

यथावृत्तं तु तत् सर्वमाचख्यौ द्रुपदस्य तत्।
द्रुपदस्तस्य तच्छ्रुत्वा हर्षमाहारयत् परम् ॥ ११ ॥

उसने जैसे जो वृत्तान्त हुआ था, वह सब राजा द्रुपदसे कह सुनाया। उसकी यह बात सुनकर राजा द्रुपदको अपार हर्ष हुआ ॥ ११ ॥

सभार्यस्तच्च सस्मार महेश्वरवचस्तदा।
ततः सम्प्रेषयामास दशार्णाधिपतेर्नृपः ॥ १२ ॥
पुरुषोऽयं मम सुतः श्रद्धत्तां मे भवानिति।

पत्नीसहित राजाको भगवान् महेश्वरके दिये हुए वरका स्मरण हो आया। तदनन्तर राजा द्रुपदने दशार्णराजके पास दूत भेजा और यह कहलाया कि मेरा पुत्र पुरुष है। आप मेरी इस बातपर विश्वास करें ॥ १२½ ॥

अथ दाशार्णको राजा सहसाभ्यागमत् तदा ॥ १३ ॥
पञ्चालराजं द्रुपदं दुःखशोकसमन्वितः।

इधर दुःख और शोकमें डूबे हुए दशार्णराजने सहसा पाञ्चालराज द्रुपदपर आक्रमण किया ॥ १३½ ॥

ततः काम्पिल्यमासाद्य दशार्णाधिपतिस्ततः ॥ १४ ॥
प्रेषयामास सत्कृत्य दूतं ब्रह्मविदां वरम्।

काम्पिल्य नगरके निकट पहुँचकर दशार्णराजने वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ एक ब्राह्मणको सत्कारपूर्वक दूत बनाकर भेजा ॥ १४½ ॥

ब्रूहि मद्वचनाद् दूत पाञ्चाल्यं तं नृपाधमम् ॥ १५ ॥
यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे वृतवानसि दुर्मते।
फलं तस्यावलेपस्य द्रक्ष्यस्यद्य न संशयः ॥ १६ ॥

और कहा—'दूत ! मेरे कथनानुसार राजाओंमें अधम उस पाञ्चालनरेशसे कहिये। दुर्मते ! तुमने जो अपनी कन्याके लिये मेरी कन्याका वरण किया था, उस घमंडका फल तुम्हें आज देखना पड़ेगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ १५-१६ ॥

एवमुक्तश्च तेनासौ ब्राह्मणो राजसत्तम।
दूतः प्रयातो नगरं दाशार्णनृपचोदितः ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! दशार्णराजका यह संदेश पाकर और उन्हींकी प्रेरणासे दूत बनकर वे ब्राह्मणदेवता काम्पिल्य नगरमें आये ॥

तत आसादयामास पुरोधा द्रुपदं पुरे।
तस्मै पाञ्चालको राजा गामर्घ्यं च सुसत्कृतम् ॥ १८ ॥
प्रापयामास राजेन्द्र सह तेन शिखण्डिना।
तां पूजां नाभ्यनन्दत् स वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १९ ॥

नगरमें आकर वे पुरोहित ब्राह्मण महाराज द्रुपदसे मिले। पाञ्चालराजने सत्कारपूर्वक उन्हें अर्घ्य तथा गौ अर्पण की। उनके साथ राजकुमार शिखण्डी भी थे। राजेन्द्र ! पुरोहितने वह पूजा ग्रहण नहीं की और इस प्रकार कहा—॥ १८-१९ ॥

यदुक्तं तेन वीरेण राज्ञा काञ्चनवर्मणा।
यत् तेऽहमधमाचार दुहित्रास्म्यभिवञ्चितः ॥ २० ॥
तस्य पापस्य करणात् फलं प्राप्नुहि दुर्मते।
देहि युद्धं नरपते ममाद्य रणमूर्धनि ॥ २१ ॥

उद्धरिष्यामि ते सद्यः सामात्यसुतबान्धवम् ।

'राजन्! वीरवर राजा हिरण्यवर्माने जो संदेश दिया है, उसे सुनिये । पापाचारी दुर्बुद्धि नरेश! तुम्हारी पुत्रीके द्वारा मैं ठगा गया हूँ । वह पाप तुमने ही किया है; अतः उसका फल भोगो । नरेश्वर! युद्धके मैदानमें आकर मुझे युद्धका अवसर दो । मैं मन्त्री, पुत्र और बान्धवोंसहित तुम्हारे समस्त कुलको उखाड़ फेंकूँगा' ॥ २०-२१½ ॥

तदुपालम्भसंयुक्तं श्रावितः किल पार्थिवः ॥ २२ ॥
दशार्णपतिना चोक्तो मन्त्रिमध्ये पुरोधसा ।

इस प्रकार पुरोहितने मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए राजा द्रुपदसे दशार्णराजका कहा हुआ उपालम्भयुक्त संदेश सुनाया ॥ २२½ ॥

अभवद् भरतश्रेष्ठ द्रुपदः प्रणयानतः ॥ २३ ॥
यदाह मां भवान् ब्रह्मन् सम्बन्धिवचनाद् वचः ।
अस्योत्तरं प्रतिवचो दूतो राज्ञे वदिष्यति ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ! तब राजा द्रुपद प्रेमसे विनीत हो गये और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! आपने मेरे सम्बन्धीके कथनानुसार जो बात मुझे सुनायी है, इसका उत्तर मेरा दूत स्वयं जाकर राजाको देगा' ॥ २३-२४ ॥

ततः सम्प्रेषयामास द्रुपदोऽपि महात्मने ।
हिरण्यवर्मणे दूतं ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर द्रुपदने भी महामना हिरण्यवर्माके पास वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको दूत बनाकर भेजा ॥ २५ ॥

तमागम्य तु राजानं दशार्णाधिपतिं तदा ।
तद् वाक्यमाददे राजन् यदुक्तं द्रुपदेन ह ॥ २६ ॥

राजन्! उन्होंने दशार्णनरेशके पास आकर द्रुपदने जो कुछ कहा था, वह सब दुहरा दिया ॥ २६ ॥

आगमः क्रियतां व्यक्तः कुमारोऽयं सुतो मम ।
मिथ्यैतदुक्तं केनापि तदश्रद्धेयमित्युत ॥ २७ ॥

'राजन्! आप आकर स्पष्टरूपसे परीक्षा कर लें । मेरा यह कुमार पुत्र है (कन्या नहीं) । आपसे किसीने झूठे ही उसके कन्या होनेकी बात कह दी है, जो विश्वास करनेके योग्य नहीं है' ॥ २७ ॥

ततः स राजा द्रुपदस्य श्रुत्वा
विमर्षयुक्तो युवतीर्वरिष्ठाः ।
सम्प्रेषयामास सुचारुरूपाः
शिखण्डिनं स्त्री पुमान् वेति वेत्तुम् ॥ २८ ॥

राजा द्रुपदका यह उत्तर सुनकर हिरण्यवर्माने कुछ विचार किया और अत्यन्त मनोहर रूपवाली कुछ श्रेष्ठ युवतियोंको यह जाननेके लिये भेजा कि शिखण्डी स्त्री है या पुरुष ॥

ताः प्रेषितास्तत्त्वभावं विदित्वा
प्रीत्या राज्ञे तच्छशंसुर्हि सर्वम् ।
शिखण्डिनं पुरुषं कौरवेन्द्र
दाशार्णराजाय महानुभावम् ॥ २९ ॥

कौरवराज! उन भेजी हुई युवतियोंने वास्तविक बात जानकर राजा हिरण्यवर्माको बड़ी प्रसन्नताके साथ स
बता दिया । उन्होंने दशार्णराजको यह विश्वास दि
कि शिखण्डी महान् प्रभावशाली पुरुष है ॥ २९ ॥

ततः कृत्वा तु राजा स आगमं प्रीतिमानथ ।
सम्बन्धिना समागम्य हृष्टो वासमुवास ह ॥

इस प्रकार परीक्षा करके राजा हिरण्यवर्मा बड़े
हुए । फिर उन्होंने सम्बन्धीसे मिलकर बड़े हर्ष और
के साथ वहाँ निवास किया ॥ ३० ॥

शिखण्डिने च मुदितः प्रादाद् वित्तं जनेश्वरः ।
हस्तिनोऽश्वांश्च गाश्चैव दास्योऽथ बहुलास्तथा ॥

राजाने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने जामाता शि
भी बहुत धन, हाथी, घोड़े, गाय, बैल और दासियाँ

पूजितश्च प्रतिययौ निर्भर्त्स्य तनयां किल ।
विनीतकिल्बिषे प्रीते हेमवर्मणि पार्थिवे ।
प्रतियाते दशार्णे तु हृष्टरूपा शिखण्डिनी ॥

इतना ही नहीं, उन्होंने झूठी खबर भेजनेके
अपनी पुत्रीको भी झिड़कियाँ दीं । फिर वे राजा द्रु
सम्मानित होकर लौट गये । मनोमालिन्य दूर करके
राज हिरण्यवर्माके प्रसन्नतापूर्वक लौट जानेपर शिख
भी बड़ा हर्ष हुआ ॥ ३२ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कुबेरो नरवाहनः ।
लोकयात्रां प्रकुर्वाणः स्थूणस्यागान्निवेशनम् ॥

उधर कुछ कालके पश्चात् नरवाहन कुबेर लोकमें
करते हुए स्थूणाकर्णके घरपर आये ॥ ३३ ॥

स तद्गृहस्योपरि वर्तमान
आलोकयामास धनाधिगोप्ता ।
स्थूणस्य यक्षस्य विवेश वेश्म
स्वलंकृतं माल्यगुणैर्विचित्रैः ॥
लाज्यैश्च गन्धैश्च तथा वितानै-
रभ्यर्चितं धूपनधूपितं च ।
ध्वजैः पताकाभिरलंकृतं च
भक्ष्यान्नपेयामिषदन्तहोमम् ॥

उसके घरके ऊपर आकाशमें स्थित हो धनाध्यक्ष कु
ने उसका अच्छी तरह अवलोकन किया । स्थूणाकर्ण
वह भवन विचित्र हारोंसे सजाया गया था । खशकी और
पदार्थोंकी सुगन्धसे भी अर्चित तथा चँदोवोंसे सुशोभित
उसमें सब ओर धूपकी सुगन्ध फैली हुई थी । अने
ध्वज और पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं । वहाँ
भोज्य, पेय आदि सभी वस्तुएँ, जिनका दन्त और
द्वारा उदराग्निमें हवन किया जाता है, प्रस्तुत थीं । तत
कुबेरने उस भवनमें प्रवेश किया ॥ ३४-३५ ॥

तत् स्थानं तस्य दृष्ट्वा तु सर्वतः समलंकृतम् ।
मणिरत्नसुवर्णानां मालाभिः परिपूरितम् ॥ ३६
नानाकुसुमगन्धाढ्यं सिक्तसम्मृष्टशोभितम् ।

तथाब्रवीद् यक्षपतिस्तान् यक्षाननुगांस्तदा ॥ ३७ ॥
अलंकृतमिदं वेश्म स्थूणस्यामितविक्रमाः ।
नोपसर्पति मां चैव कस्मादद्य स मन्दधीः ॥ ३८ ॥

कुबेरने उसके निवासस्थानको सब ओरसे सुसज्जित, मणि, रत्न तथा सुवर्णकी मालाओंसे परिपूर्ण, भाँति-भाँतिके पुष्पोंकी सुगन्धसे व्याप्त तथा झाड़-बुहार और धो-पोंछ देनेके कारण शोभासम्पन्न देखकर यक्षराजने स्थूणाकर्णके सेवकोंसे पूछा—'अमित पराक्रमी यक्षो ! स्थूणाकर्णका यह भवन तो सब प्रकारसे सजाया हुआ दिखायी देता है (इससे सिद्ध है कि वह घरमें ही है); तथापि वह मूर्ख मेरे पास आता क्यों नहीं है ? ॥ ३६—३८ ॥

प्रसाज्जानन् स मन्दात्मा मामसौ नोपसर्पति ।
तस्मात् तस्मै महादण्डो धार्यः स्यादिति मे मतिः ॥ ३९ ॥

'वह मन्दबुद्धि यक्ष मुझे आया हुआ जानकर भी मेरे निकट नहीं आ रहा है; इसलिये उसे महान् दण्ड देना चाहिये, ऐसा मेरा विचार है' ॥ ३९ ॥

यक्षा ऊचुः

द्रुपदस्य सुता राजन् राज्ञो जाता शिखण्डिनी ।
तस्या निमित्ते कस्मिंश्चित् प्रादात् पुरुषलक्षणम् ॥ ४० ॥
अग्रहील्लक्षणं स्त्रीणां स्त्रीभूतो तिष्ठते गृहे ।
नोपसर्पति तेनासौ सव्रीडः स्त्रीसरूपवान् ॥ ४१ ॥

यक्षोंने कहा—राजन् ! राजा द्रुपदके यहाँ एक शिखण्डिनी नामकी कन्या उत्पन्न हुई है । उसीको किसी विशेष कारणवश इन्होंने अपना पुरुषत्व दे दिया है और उसका स्त्रीत्व स्वयं ग्रहण कर लिया है । तबसे वे स्त्रीरूप होकर घरमें ही रहते हैं । स्त्रीरूपमें होनेके कारण ही वे लज्जावश आपके पास नहीं आ रहे हैं ॥ ४०-४१ ॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् स्थूणो न त्वाद्य सर्पति ।
श्रुत्वा कुरु यथान्यायं विमानमिह तिष्ठताम् ॥ ४२ ॥

महाराज ! इसी कारणसे स्थूणाकर्ण आज आपके सामने नहीं उपस्थित हो रहे हैं । यह सुनकर आप जैसा उचित समझें, करें । आज आपका विमान यहीं रहना चाहिये ॥ ४२ ॥

आनीयतां स्थूण इति ततो यक्षाधिपोऽब्रवीत् ।
कर्तास्मि निग्रहं तस्य प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥ ४३ ॥

तब यक्षराजने कहा—'स्थूणाकर्णको यहाँ बुला ले आओ । मैं उसे दण्ड दूँगा ।' यह बात उन्होंने बार-बार दुहरायी ॥ ४३ ॥

सोऽभ्यगच्छत यक्षेन्द्रमाहूतः पृथिवीपते ।
स्त्रीसरूपो महाराज तस्थौ व्रीडासमन्वितः ॥ ४४ ॥

राजन् ! इस प्रकार बुलानेपर वह यक्ष कुबेरकी सेवामें गया । महाराज ! वह स्त्रीस्वरूप धारण करनेके कारण लज्जामें डूबा हुआ उनके सामने खड़ा हो गया ॥ ४४ ॥

तं शशापाथ संक्रुद्धो धनदः कुरुनन्दन ।
एवमेव भवत्वद्य स्त्रीत्वं पापस्य गुह्यकाः ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन ! उसे इस रूपमें देखकर कुबेर अत्यन्त कुपित हो उठे और शाप देते हुए बोले—'गुह्यको ! इस पापी स्थूणाकर्णका यह स्त्रीत्व अब ऐसा ही बना रहे' ॥ ४५ ॥

ततोऽब्रवीद् यक्षपतिर्महात्मा
　यस्माददास्त्ववमन्येह यक्षान् ।
शिखण्डिने लक्षणं पापबुद्धे
　स्त्रीलक्षणं चाग्रहीः पापकर्मन् ॥ ४६ ॥
अप्रवृत्तं सुदुर्बुद्धे यस्मादेतत् त्वया कृतम् ।
तस्मादद्य प्रभृत्येव स्त्री त्वं सा पुरुषस्तथा ॥ ४७ ॥

तदनन्तर महात्मा यक्षराजने उस यक्षसे कहा—'पापबुद्धि और पापाचारी यक्ष ! तूने यक्षोंका तिरस्कार करके यहाँ शिखण्डीको अपना पुरुषत्व दे दिया और उसका स्त्रीत्व ग्रहण कर लिया है । दुर्बुद्धे ! तूने जो यह अव्यावहारिक कार्य कर डाला है, इसके कारण आजसे तू स्त्री ही बना रहे और शिखण्डी पुरुषरूपमें ही रह जाय' ॥ ४६-४७ ॥

ततः प्रसादयामासुर्यक्षा वैश्रवणं किल ।
स्थूणस्यार्थे कुरुष्वान्तं शापस्येति पुनः पुनः ॥ ४८ ॥

तब यक्षोंने अनुनय-विनय करके स्थूणाकर्णके लिये कुबेरको प्रसन्न किया और बारंबार आग्रहपूर्वक कहा—'भगवन् ! इस शापका अन्त कर दीजिये' ॥ ४८ ॥

ततो महात्मा यक्षेन्द्रः प्रत्युवाचानुगामिनः ।
सर्वान् यक्षगणांस्तात शापस्यान्तचिकीर्षया ॥ ४९ ॥

तात ! तब महात्मा यक्षराजने स्थूणाकर्णका अनुगमन करनेवाले उन समस्त यक्षोंसे उस शापका अन्त कर देनेकी इच्छासे इस प्रकार कहा— ॥ ४९ ॥

शिखण्डिनि हते यक्षाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यते ।
स्थूणो यक्षो निरुद्वेगो भवत्विति महामनाः ॥ ५० ॥
इत्युक्त्वा भगवान् देवो यक्षराजः सुपूजितः ।
प्रययौ सहितः सर्वैर्निमेषान्तरचारिभिः ॥ ५१ ॥

'यक्षो ! शिखण्डीके मारे जानेपर यह स्थूणाकर्ण यक्ष अपना पूर्वरूप फिर प्राप्त कर लेगा । अतः अब इसे निर्भय हो जाना चाहिये ।' ऐसा कहकर महामना भगवान् यक्षराज कुबेर उन यक्षोंद्वारा अत्यन्त पूजित हो निमेषमात्रमें ही अभीष्ट स्थानपर पहुँच जानेवाले अपने समस्त सेवकोंके साथ वहाँसे चले गये ॥ ५०-५१ ॥

स्थूणस्तु शापं सम्प्राप्य तत्रैव न्यवसत् तदा ।
समये चागमत् तूर्णं शिखण्डी तं क्षपाचरम् ॥ ५२ ॥

उस समय कुबेरका शाप पाकर स्थूणाकर्ण वहीं रहने लगा । शिखण्डी पूर्वनिश्चित समयपर उस निशाचर स्थूणाकर्णके पास तुरंत आ गया ॥ ५२ ॥

सोऽभिगम्याब्रवीद् वाक्यं प्राप्तोऽस्मि भगवन्निति ।
तमब्रवीत् ततः स्थूणः प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

उसके निकट जाकर शिखण्डीने कहा—'भगवन् ! मैं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ ।' तब स्थूणाकर्णने उससे बारंबार कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, बहुत प्रसन्न हूँ' ॥ ५३ ॥

आर्जवेनागतं दृष्ट्वा राजपुत्रं शिखण्डिनम् ।

सर्वमेव यथावृत्तमाचचक्षे शिखण्डिने ॥ ५४ ॥

राजकुमार शिखण्डीको सरलतापूर्वक आया हुआ देख उससे यक्षने अपना सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया।५४।

यक्ष उवाच

शप्तो वैश्रवणेनाहं त्वत्कृते पार्थिवात्मज।
गच्छेदानीं यथाकामं चर लोकान् यथासुखम् ॥ ५५ ॥

यक्षने कहा—राजकुमार ! तुम्हारे लिये ही यक्षराजने मुझे शाप दे दिया है; अतः अब जाओ, इच्छानुसार सारे जगत्‌में सुखपूर्वक विचरो ॥ ५५ ॥

दिष्टमेतत् पुरा मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम्।
गमनं तव चेतो हि पौलस्त्यस्य च दर्शनम् ॥ ५६ ॥

मैं इसे अपना पुरातन प्रारब्ध ही मानता हूँ, जो कि तुम्हारा यहाँसे जाना और उसी समय यक्षराज कुबेरका यहाँ आकर दर्शन देना हुआ। अब इसे टाला नहीं जा सकता।५६।

भीष्म उवाच

एवमुक्तः शिखण्डी तु स्थूणयक्षेण भारत।
प्रत्याजगाम नगरं हर्षेण महता वृतः ॥ ५७ ॥

भीष्म कहते हैं—भरतनन्दन ! स्थूणाकर्ण यक्षके ऐसा कहनेपर शिखण्डी बड़े हर्षके साथ अपने नगरको लौट आया॥

पूजयामास विविधैर्गन्धमाल्यैर्महाधनैः।
द्विजातीन् देवतांश्चैव चैत्यानथ चतुष्पथान् ॥ ५८ ॥
द्रुपदः सह पुत्रेण सिद्धार्थेन शिखण्डिना।
मुदं च परमां लेभे पाञ्चाल्यः सह बान्धवैः ॥ ५९ ॥

पूर्ण मनोरथ होकर लौटे हुए अपने पुत्र शिखण्डीके साथ पाञ्चालराज द्रुपदने गन्ध-माल्य आदि नाना प्रकारके बहुमूल्य उपचारोंद्वारा देवताओं, ब्राह्मणों, चैत्य (पीपल आदि धार्मिक) वृक्षों तथा चौराहोंका पूजन किया तथा बन्धु-बान्धवों-सहित उन्हें महान् हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ५८-५९ ॥

शिष्यार्थं प्रददौ चाथ द्रोणाय कुरुपुङ्गव।
शिखण्डिनं महाराज पुत्रं स्त्रीपूर्विणं तथा ॥ ६० ॥

महाराज ! कुरुश्रेष्ठ ! द्रुपदने अपने पुत्र शिखण्डीको जो पहले कन्यारूपमें उत्पन्न हुआ था, द्रोणाचार्यकी सेवामें धनुर्वेदकी शिक्षाके लिये सौंप दिया ॥ ६० ॥

प्रतिपेदे चतुष्पादं धनुर्वेदं नृपात्मजः।
शिखण्डी सह युष्माभिर्धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार द्रुपदपुत्र शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्नने तुम सब भाइयोंके साथ ही ग्रहण, धारण, प्रयोग और प्रतीकार–इन चार पादोंसे युक्त धनुर्वेदका अध्ययन किया ॥ ६१ ॥

मम त्वेतच्चरास्तात यथावत् प्रत्यवेदयन्।
जडान्धबधिराकारा ये मुक्ता द्रुपदे मया ॥ ६२ ॥

मैंने द्रुपदके नगरमें कुछ गुप्तचर नियुक्त कर दिये थे, जो गूँगे, अंधे और बहरे बनकर वहाँ रहते थे। वे ही समाचार मुझे ठीक-ठीक बताया करते थे ॥ ६२ ॥

एवमेष महाराज स्त्रीपुमान् द्रुपदात्मजः।
स सम्भूतः कुरुश्रेष्ठ शिखण्डी रथसत्तमः ॥

महाराज ! कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार यह रथियोंमें द्रुपदकुमार शिखण्डी पहले स्त्रीरूपमें उत्पन्न हो पुरुष हुआ था ॥ ६३ ॥

ज्येष्ठा काशिपतेः कन्या अम्बानामेति विश्रुता।
द्रुपदस्य कुले जाता शिखण्डी भरतर्षभ ॥

भरतश्रेष्ठ ! काशिराजकी ज्येष्ठ कन्या, जो अम्बा विख्यात थी, वही द्रुपदके कुलमें शिखण्डीके रूपमें हुई है ॥ ६४ ॥

नाहमेनं धनुष्पाणिं युयुत्सुं समुपस्थितम्।
मुहूर्तमपि पश्येयं प्रहरेयं न चाच्युत ॥

जब यह हाथमें धनुष लेकर युद्ध करनेकी इ सामने उपस्थित होगा, उस समय मुहूर्तभर भी न तो ओर देखूँगा और न इसपर प्रहार ही करूँगा ॥ ६५

व्रतमेतन्मम सदा पृथिव्यामपि विश्रुतम्।
स्त्रियां स्त्रीपूर्वके चैव स्त्रीनाम्नि स्त्रीसरूपिणि ॥
न मुञ्चेयमहं बाणमिति कौरवनन्दन।

कौरवनन्दन ! इस भूमण्डलमें भी मेरा यह व्रत है कि जो स्त्री हो, जो पहले स्त्री रहकर पुरुष हु जिसका नाम स्त्रीके समान हो तथा जिसका रूप एवं स्त्रियोंकेसमान हो, इन सबपर मैं बाण नहीं छोड़ सकता।

न हन्यामहमेतेन कारणेन शिखण्डिनम् ॥
एतत् तत्त्वमहं वेद जन्म तात शिखण्डिनः।
ततो नैनं हनिष्यामि समरेष्वाततायिनम् ॥

तात ! इसी कारणसे मैं शिखण्डीको नहीं मार शिखण्डीके जन्मका वास्तविक वृत्तान्त मैं जानता हूँ। समरभूमिमें वह आततायी होकर आवे तो भी मैं इसे मारूँगा ॥ ६७-६८ ॥

यदि भीष्मः स्त्रियं हन्यात् सन्तः कुर्युर्विगर्हणम्।
नैनं तस्माद्धनिष्यामि दृष्ट्वापि समरे स्थितम् ॥

यदि भीष्म स्त्रीका वध करे तो साधु पुरुष इसकी करेंगे, अतः शिखण्डीको समरभूमिमें खड़ा देखकर इसे नहीं मारूँगा ॥ ६९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यो राजा दुर्योधनस्तदा।
मुहूर्तमिव स ध्यात्वा भीष्मे युक्तममन्यत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह कर कुरुवंशी राजा दुर्योधनने दो घड़ीतक कुछ सोच-वि भीष्मके लिये शिखण्डीका वध न करना उचित ही मान

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शिखण्डिपुंस्त्वप्राप्तौ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शिखण्डीको पुरुषत्वकी प्राप्तिविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर भीष्म आदिके द्वारा अपनी-अपनी शक्तिका वर्णन

संजय उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां पुनरेव सुतस्तव ।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य पितामहमपृच्छत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब रात बीती और प्रभात हुआ, उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने सारी सेनाके बीचमें पुनः पितामह भीष्मसे पूछा—॥ १ ॥

पाण्डवेयस्य गाङ्गेय यदेतत् सैन्यमुद्यतम् ।
प्रभूतनरनागाश्वं महारथसमाकुलम् ॥ २ ॥
भीमार्जुनप्रभृतिभिर्महेष्वासैर्महाबलैः ।
लोकपालसमैर्गुप्तं धृष्टद्युम्नपुरोगमैः ॥ ३ ॥
अप्रधृष्यमनावार्यमुद्धूतमिव सागरम् ।
सेनासागरमक्षोभ्यमपि देवैर्महाहवे ॥ ४ ॥

'गङ्गानन्दन ! यह जो पाण्डवोंकी सेना युद्धके लिये उद्यत है । इसमें बहुत-से पैदल, हाथीसवार और घुड़सवार भरे हुए हैं । यह सेना बड़े-बड़े महारथियों एवं उनके विशाल रथोंसे व्याप्त है । लोकपालोंके समान महापराक्रमी एवं महाधनुर्धर भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न आदि वीर इस सेनाकी रक्षा करते हैं । यह उछलती हुई तरङ्गोंसे युक्त समुद्रकी भाँति दुर्धर्ष प्रतीत होती है । इसे आगे बढ़नेसे रोकना असम्भव है तथा बड़े-बड़े देवता भी इस महान् युद्धमें इस सैन्य-समुद्रको क्षुब्ध नहीं कर सकते ॥ २–४ ॥

केन कालेन गाङ्गेय क्षपयेथा महाद्युते ।
आचार्यो वा महेष्वासः कृपो वा सुमहाबलः ॥ ५ ॥
कर्णो वा समरश्लाघी द्रौणिर्वा द्विजसत्तमः ।
दिव्यास्त्रविदुषः सर्वे भवन्तो हि बले मम ॥ ६ ॥

'महातेजस्वी गङ्गानन्दन ! आप कितने समयमें इस सारी सेनाका विध्वंस कर सकते हैं ? महाधनुर्धर द्रोणाचार्य, अत्यन्त बलशाली कृपाचार्य, युद्धकी स्पृहा रखनेवाले कर्ण अथवा द्विजश्रेष्ठ अश्वत्थामा कितने समयमें शत्रुसेनाका संहार कर सकते हैं; क्योंकि मेरी सेनामें आप ही सब लोग दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हैं ॥ ५-६ ॥

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं परं कौतूहलं हि मे ।
हृदि नित्यं महाबाहो वक्तुमर्हसि तन्मम ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! मैं यह जानना चाहता हूँ, इसके लिये मेरे हृदयमें सदा अत्यन्त कौतूहल बना रहता है । आप मुझे यह बतानेकी कृपा करें' ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

अनुरूपं कुरुश्रेष्ठ त्वय्येतत् पृथिवीपते ।
बलाबलममित्राणां तेषां यदिह पृच्छसि ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुश्रेष्ठ ! पृथ्वीपते ! तुम जो यहाँ शत्रुओंके बलाबलके विषयमें पूछ रहे हो, 'यह तुम्हारे योग्य ही है ॥ ८ ॥

शृणु राजन् मम रणे या शक्तिः परमा भवेत् ।
शस्त्रवीर्यं रणे यच्च भुजयोश्च महाभुज ॥ ९ ॥

राजन् ! महाबाहो ! युद्धमें जो मेरी सबसे अधिक शक्ति है, मेरे अस्त्र-शस्त्रोंका तथा दोनों भुजाओंका जितना बल है, वह सब बताता हूँ, सुनो ॥ ९ ॥

आर्जवेनैव युद्धेन योद्धव्य इतरो जनः ।
मायायुद्धेन मायावी इत्येतद् धर्मनिश्चयः ॥ १० ॥

साधारण लोगोंके साथ सरलभावसे ही युद्ध करना चाहिये । जो लोग मायावी हैं, उनका सामना मायायुद्धसे ही करना चाहिये । यही धर्मशास्त्रोंका निश्चय है ॥ १० ॥

हन्यामहं महाभाग पाण्डवानामनीकिनीम् ।
दिवसे दिवसे कृत्वा भागं प्रागाह्निकं मम ॥ ११ ॥

महाभाग ! मैं प्रतिदिन पाण्डवोंकी सेनाको पहले अपने दैनिक भागमें विभक्त करके उसका वध करूँगा ॥ ११ ॥

योधानां दशसाहस्रं कृत्वा भागं महाद्युते ।
सहस्रं रथिनामेकमेष भागो मतो मम ॥ १२ ॥

महाद्युते ! दस-दस हजार योद्धाओंका तथा एक हजार रथियोंका समूह मेरा एक भाग मानना चाहिये ॥ १२ ॥

अनेनाहं विधानेन संनद्धः सततोत्थितः ।
क्षपयेयं महत् सैन्यं कालेनानेन भारत ॥ १३ ॥

भारत ! इस विधानसे मैं सदा उद्यत और संनद्ध होकर उस विशाल सेनाको इतने ही समयमें नष्ट कर सकता हूँ ॥

मुञ्चेयं यदि चास्त्राणि महान्ति समरे स्थितः ।
शतसाहस्रघातीनि हन्यां मासेन भारत ॥ १४ ॥

भारत ! यदि मैं युद्धमें स्थित होकर लाखों वीरोंका संहार करनेवाले अपने महान् अस्त्रोंका प्रयोग करने लगूँ तो एक मासमें पाण्डवोंकी सारी सेनाको नष्ट कर सकता हूँ ।१४।

संजय उवाच

श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वाक्यं राजा दुर्योधनस्ततः ।
पर्यपृच्छत राजेन्द्र द्रोणमङ्गिरसां वरम् ॥ १५ ॥
आचार्य केन कालेन पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् ।
निहन्या इति तं द्रोणः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ १६ ॥

संजय बोले—राजेन्द्र ! भीष्मका यह वचन सुनकर राजा दुर्योधनने आङ्गिरस ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे पूछा—'आचार्य ! आप कितने समयमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके सैनिकोंका संहार कर सकते हैं ?' यह प्रश्न सुनकर द्रोणाचार्य हँसते हुए-से बोले—॥ १५-१६ ॥

स्थविरोऽस्मि महाबाहो मन्दप्राणविचेष्टितः ।
शस्त्राग्निना निर्दहेयं पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ १७ ॥

'महाबाहो ! अब तो मैं बूढ़ा हो गया, मेरी प्राणशक्ति और चेष्टा कम हो गयी, तो भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंकी अग्निसे पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीको भस्म कर दूँगा ॥ १७ ॥

यथा भीष्मः शान्तनवो मासेनेति मतिर्मम ।
एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ॥ १८ ॥

'जैसे शान्तनुनन्दन भीष्म एक मासमें पाण्डव-सेनाका विनाश कर सकते हैं, उसी प्रकार और उतने ही समयमें मैं भी कर सकता हूँ, ऐसा मेरा विश्वास है। यही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है और यही मेरा अधिक-से-अधिक बल है'॥ १८॥

द्वाभ्यामेव तु मासाभ्यां कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे बलक्षयम् ॥ १९ ॥

कृपाचार्यने दो महीनोंमें पाण्डव-सेनाके संहारकी बात कही; परंतु अश्वत्थामाने दस ही दिनोंमें शत्रुसेनाके संहारकी प्रतिज्ञा कर ली ॥ १९ ॥

कर्णस्तु पञ्चरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
तच्छ्रुत्वा सूतपुत्रस्य वाक्यं सागरगासुतः ॥ २० ॥
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमुवाच ह ।
न हि यावद् रणे पार्थं बाणशङ्खधनुर्धरम् ॥
वासुदेवसमायुक्तं रथेनायान्तमाहवे ।
समागच्छसि राधेय तेनैवमभिमन्यसे ।
शक्यमेवं च भूयश्च त्वया वक्तुं यथेष्टतः ॥

बड़े-बड़े अस्त्रोंके ज्ञाता कर्णने पाँच ही दिनोंमें सेनाको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा की। सूतपुत्रका यह कथन कर गङ्गानन्दन भीष्मजी ठहाका मारकर हँस पड़े वचन बोले—'राधापुत्र! जबतक युद्धभूमिमें शंख, धनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णसहित अर्जुनको तुम रथसे आते हुए नहीं देखते और जबतक उनके साथ मुठभेड़ नहीं होती, तभीतक ऐसा अभिमान प्रकट तुम इच्छानुसार और भी ऐसी बहुत-सी बहकी-बहकी कह सकते हो'॥ २०—२२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मादिशक्तिकथने त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें भीष्म आदिके द्वारा अपनी शक्तिका वर्णनविषयक एक सौ तिरानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अपनी, अपने सहायकोंकी तथा युधिष्ठिरकी भी शक्तिका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयः सर्वान् भ्रातॄनुपह्वरे ।
आहूय भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! कौरव-सेनामें जो बातचीत हुई थी, उसका समाचार पाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको एकान्तमें बुलाकर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु ये चारपुरुषा मम ।
ते प्रवृत्तिं प्रयच्छन्ति ममेमां व्युषितां निशाम् ॥ २ ॥
दुर्योधनः किलापृच्छदापगेयं महाव्रतम् ।
केन कालेन पाण्डूनां हन्याः सैन्यमिति प्रभो ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—धृतराष्ट्रकी सेनामें जो मेरे गुप्तचर नियुक्त हैं, उन्होंने मुझे यह समाचार दिया है कि इसी विगत रात्रिमें दुर्योधनने महान् व्रतधारी गङ्गानन्दन भीष्मसे यह प्रश्न किया था कि प्रभो! आप पाण्डवोंकी सेनाका कितने समयमें संहार कर सकते हैं ॥ २-३ ॥

मासेनेति च तेनोक्तो धार्तराष्ट्रः सुदुर्मतिः ।
तावता चापि कालेन द्रोणोऽपि प्रतिजज्ञिवान् ॥ ४ ॥
गौतमो द्विगुणं कालमुक्तवानिति नः श्रुतम् ।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ॥ ५ ॥

भीष्मजीने धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनको यह उत्तर दिया कि मैं एक महीनेमें पाण्डव-सेनाका विनाश कर सकता हूँ। द्रोणाचार्यने भी उतने ही समयमें वैसा करनेकी की। कृपाचार्यने दो महीनेका समय बताया। यह बात सुननेमें आयी है तथा महान् अस्त्रवेत्ता अश्वत्थामाने दिनोंमें पाण्डव-सेनाके संहारकी प्रतिज्ञा की है ॥ ४-५ ॥

तथा दिव्यास्त्रवित् कर्णः सम्पृष्टः कुरुसंसदि ।
पञ्चभिर्दिवसैर्हन्तुं ससैन्यं प्रतिजज्ञिवान् ॥

दिव्यास्त्रवेत्ता कर्णसे जब कौरव-सभामें पूछा गया, उसने पाँच ही दिनोंमें हमारी सेनाको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा

तस्मादहमपीच्छामि श्रोतुमर्जुन ते वचः ।
कालेन कियता शत्रून् क्षपयेरिति फाल्गुन ॥

अतः अर्जुन! मैं भी तुम्हारी बात सुनना चाहता फाल्गुन! तुम कितने समयमें शत्रुओंको नष्ट कर सकते

एवमुक्तो गुडाकेशः पार्थिवेन धनंजयः ।
वासुदेवं समीक्ष्येदं वचनं प्रत्यभाषत ॥

राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर निद्राविजयी ने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह बात कही—

सर्व एते महात्मानः कृतास्त्राश्चित्रयोधिनः ।
असंशयं महाराज हन्युरेव न संशयः ॥

'महाराज! निःसंदेह ये सभी महामना योद्धा के विद्वान् तथा विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले हैं। उतने दिनोंमें शत्रुसेनाको मार सकते हैं, इसमें संशय नहीं

अपैतु ते मनस्तापो यथा सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
हन्यामेकरथेनैव वासुदेवसहायवान् ॥

सामरानपि लोकांस्त्रीन् सर्वान् स्थावरजङ्गमान्।
भूतं भव्यं भविष्यं च निमेषादिति मे मतिः ॥ ११ ॥

'परंतु इससे आपके मनमें संताप नहीं होना चाहिये। आपका मनस्ताप तो दूर ही हो जाना चाहिये। मैं जो सत्य बात कहने जा रहा हूँ, उसपर ध्यान दीजिये। मैं भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे युक्त हुआ एकमात्र रथको लेकर ही देवताओंसहित तीनों लोकों, सम्पूर्ण चराचर प्राणियों तथा भूत, वर्तमान और भविष्यको भी पलक मारते-मारते नष्ट कर सकता हूँ। ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १०-११ ॥

यत् तद् घोरं पशुपतिः प्रादादस्त्रं महन्मम।
कैराते द्वन्द्वयुद्धे तु तदिदं मयि वर्तते ॥ १२ ॥

'भगवान् पशुपतिने किरातवेषमें द्वन्द्वयुद्ध करते समय मुझे जो अपना भयंकर महास्त्र प्रदान किया था, वह मेरे पास मौजूद है ॥

यद् युगान्ते पशुपतिः सर्वभूतानि संहरन्।
प्रयुङ्क्ते पुरुषव्याघ्र तदिदं मयि वर्तते ॥ १३ ॥

'पुरुषसिंह! प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंका संहार करते समय भगवान् पशुपति जिस अस्त्रका प्रयोग करते हैं, वही यह मेरे पास विद्यमान है ॥ १३ ॥

तन्न जानाति गाङ्गेयो न द्रोणो न च गौतमः।
न च द्रोणसुतो राजन् कुत एव तु सूतजः ॥ १४ ॥

'राजन्! इसे न तो गङ्गानन्दन भीष्म जानते हैं, न द्रोणाचार्य जानते हैं, न कृपाचार्य जानते हैं और न द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको ही इसका पता है; फिर सूतपुत्र कर्ण तो इसे जान ही कैसे सकता है? ॥ १४ ॥

न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग्जनम्।
आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान् ॥ १५ ॥

'परंतु युद्धमें साधारण जनोंको दिव्यास्त्रोंद्वारा मारना कदापि उचित नहीं है; अतः हमलोग सरलतापूर्ण युद्धके द्वारा ही शत्रुओंको जीतेंगे ॥ १५ ॥

तथेमे पुरुषव्याघ्राः सहायास्तत्र पार्थिव।
सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः ॥ १६ ॥

'राजन्! ये सभी पुरुषसिंह जो हमारे सहायक हैं, दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखते हैं और सभी युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं ॥ १६ ॥

वेदान्तावभृथस्नाताः सर्वे एतेऽपराजिताः।
निहन्युः समरे सेनां देवानामपि पाण्डव ॥ १७ ॥

'इन सबने वेदाध्ययन समाप्त करके यज्ञान्त स्नान किया है। ये सभी कभी परास्त न होनेवाले वीर हैं। पाण्डुनन्दन! ये लोग समरभूमिमें देवताओंकी सेनाको भी नष्ट कर सकते हैं ॥

शिखण्डी युयुधानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
भीमसेनो यमौ चोभौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ १८ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ भीष्मद्रोणसमौ युधि।

'शिखण्डी, सात्यकि, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, दोनों भाई नकुल-सहदेव, युधामन्यु, उत्तमौजा तथा राजा विराट और द्रुपद भी युद्धमें भीष्म और द्रोणाचार्यकी समानता करनेवाले हैं ॥ १८½ ॥

शङ्खश्चैव महाबाहुर्हैडिम्बश्च महाबलः ॥ १९ ॥
पुत्रोऽस्याञ्जनपर्वा तु महाबलपराक्रमः।
शैनेयश्च महाबाहुः सहायो रणकोविदः ॥ २० ॥

'महाबाहु शङ्ख, महाबली घटोत्कच, महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न घटोत्कच-पुत्र अञ्जनपर्वा तथा संग्राम-कुशल महाबाहु सात्यकि—ये सभी आपके सहायक हैं ॥ १९-२० ॥

अभिमन्युश्च बलवान् द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः।
स्वयं चापि समर्थोऽसि त्रैलोक्योत्सादनेऽपि च ॥ २१ ॥

'बलवान् अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र तो आपके साथ हैं ही। आप स्वयं भी तीनों लोकोंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

क्रोधाद् यं पुरुषं पश्येस्त्वथा शक्रसमद्युते।
स क्षिप्रं न भवेद् व्यक्तमिति त्वां वेद्मि कौरव ॥ २२ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी कुरुनन्दन! आप क्रोधपूर्वक जिस पुरुषको देख लें वह शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। आपके इस प्रभावको मैं जानता हूँ' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अर्जुनवाक्ये चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक एक सौ चौरानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवसेनाका रणके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रभाते विमले धार्तराष्ट्रेण चोदिताः।
दुर्योधनेन राजानः प्रययुः पाण्डवान् प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर निर्मल प्रभातकालमें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे प्रेरित हो सब राजा पाण्डवोंसे युद्ध करनेके लिये चले ॥ १ ॥

आप्लाव्य शुचयः सर्वे स्रग्विणः शुक्लवाससः।
गृहीतशस्त्रा ध्वजिनः स्वस्ति वाच्य हुताग्नयः ॥ २ ॥

चलनेके पहले उन सबने स्नान करके शुद्ध हो श्वेत वस्त्र धारण किये, पुष्पोंकी मालाएँ पहनीं, ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया, अग्निमें आहुतियाँ दीं, फिर ध्वजा फहराते हुए हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर रणभूमिकी ओर प्रस्थित हुए ॥ २ ॥

सर्वे ब्रह्मविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
सर्वे वर्मभृतश्चैव सर्वे चाहवलक्षणाः ॥ ३ ॥

वे सभी वेदवेत्ता, शूरवीर तथा उत्तम विधिसे व्रतका पालन करनेवाले थे । सभी कवचधारी तथा युद्धके चिह्नोंसे सुशोभित थे ॥ ३ ॥

आहवेषु पराँल्लोकान् जिगीषन्तो महाबलाः ।
एकाग्रमनसः सर्वे श्रद्दधानाः परस्परम् ॥ ४ ॥

वे महाबली वीर युद्धमें पराक्रम दिखाकर उत्तम लोकोंपर विजय पाना चाहते थे । उन सबका चित्त एकाग्र था और वे सभी एक दूसरेपर विश्वास करते थे ॥ ४ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केकया बाह्लिकैः सह ।
प्रययुः सर्व एवैते भारद्वाजपुरोगमाः ॥ ५ ॥

अवन्तीदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लीकदेशीय सैनिकोंके साथ केकयराजकुमार—ये सब द्रोणाचार्यको आगे करके चले ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा शान्तनवः सैन्धवोऽथ जयद्रथः ।
दाक्षिणात्याः प्रतीच्याश्च पर्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ ६ ॥
गान्धारराजः शकुनिः प्राच्योदीच्याश्च सर्वशः ।
शकाः किराता यवनाः शिबयोऽथ वसातयः ॥ ७ ॥
स्वैः स्वैरनीकैः सहिताः परिवार्य महारथम् ।
एते महारथाः सर्वे द्वितीये निर्ययुर्बले ॥ ८ ॥

अश्वत्थामा, भीष्म, सिन्धुराज जयद्रथ, दाक्षिणात्य नरेश, पाश्चात्त्य भूपाल और पर्वतीय भूपाल, गान्धारराज शकुनि तथा पूर्व और उत्तर दिशाके नरेश, शक, किरात, यवन, शिबि और वसाति भूपालगण—ये सभी महारथीलोग अपनी-अपनी सेनाओंके साथ महारथी (भीष्म) को सब ओरसे घेरकर दूसरे सैन्य-दलके रूपमें सुसज्जित होकर निकले ॥ ६–८ ॥

कृतवर्मा सहानीकस्त्रिगर्तश्च महारथः ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ९ ॥
शलो भूरिश्रवाः शल्यः कौसल्योऽथ बृहद्रथः ।
एते पश्चादनुगता धार्तराष्ट्रपुरोगमाः ॥ १० ॥

सेनासहित कृतवर्मा, महारथी त्रिगर्त, भाइयोंसे घिरा हुआ महाराज दुर्योधन, शल, भूरिश्रवा, शल्य तथा कोसलराज बृहद्रथ—ये दुर्योधनको आगे करके उसके पीछे-पीछे (तृतीय सैन्यदलमें) चले ॥ ९-१० ॥

ते समेत्य यथान्यायं धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कुरुक्षेत्रस्य पश्चार्धे व्यवातिष्ठन्त दंशिताः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रके वे महाबली पुत्र रणक्षेत्रमें जाकर कवच आदिसे सुसज्जित हो कुरुक्षेत्रके पश्चिम भागमें यथोचितरूपसे

दुर्योधनस्तु शिबिरं कारयामास भारत ।
यथैव हास्तिनपुरं द्वितीयं समलंकृतम् ॥
न विशेषं विजानन्ति पुरस्य शिबिरस्य वा ।
कुशला अपि राजेन्द्र नरा नगरवासिनः ॥

भारत ! दुर्योधनने पहलेसे ही ऐसा निवासस्थान रक्खा था, जो दूसरे हस्तिनापुरकी भाँति सजा हुआ राजेन्द्र ! नगरमें निवास करनेवाले चतुर मनुष्य शिविर तथा हस्तिनापुर नामक नगरमें क्या अन्तर नहीं समझ पाते थे ॥ १२-१३ ॥

तादृशान्येव दुर्गाणि राज्ञामपि महीपतिः ।
कारयामास कौरव्यः शतशोऽथ सहस्रशः ॥

अन्य राजाओंके लिये भी कुरुवंशी भूपालने सैकड़ों तथा सहस्रों दुर्ग बनवाये थे ॥ १४ ॥

पञ्चयोजनमुत्सृज्य मण्डलं तद्रणाजिरम् ।
सेनानिवेशास्ते राजन्नाविशञ्छतसंघशः ॥

समराङ्गणके लिये पाँच योजनका घेरा छोड़कर सैनि ठहरनेके लिये सौ-सौकी संख्यामें कितनी ही छावनियाँ डाली गयी थीं ॥ १५ ॥

तत्र ते पृथिवीपाला यथोत्साहं यथाबलम् ।
विविशुः शिबिराण्यत्र द्रव्यवन्ति सहस्रशः ॥

उन्हीं बहुमूल्य आवश्यक सामग्रियोंसे सम्पन्न छावनियोंमें वे भूपाल अपने बल और उत्साहके अनुरू के लिये उद्यत होकर रहते थे ॥ १६ ॥

तेषां दुर्योधनो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ॥
सनागाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ।
ये चान्येऽनुगतास्तत्र सूतमागधबन्दिनः ॥

राजा दुर्योधन सवारियों और सैनिकोंसहित उन मना नरेशोंको परम उत्तम भक्ष्य-भोज्य पदार्थ देता हाथियों, अश्वों, पैदल मनुष्यों, शिल्प-जीवियों, अन्य गामियों तथा सूत, मागध और बंदीजनोंको भी ओरसे भोजन प्राप्त होता था ॥ १७-१८ ॥

वणिजो गणिकाश्चारा ये चैव प्रेक्षका जनाः ।
सर्वांस्तान् कौरवो राजा विधिवत् प्रत्यवैक्षत ॥

वहाँ जो वणिक्, गणिकाएँ, गुप्तचर तथा दर्शक आते थे, उन सबकी कुरुराज दुर्योधन विधिपूर्वक करता था ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कौरवसैन्यनिर्याणे पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें कौरव-सेनाका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवसेनाका युद्धके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तथैव राजा कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
धृष्टद्युम्नमुखान् वीरांश्चोदयामास भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी प्रकार कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने भी धृष्टद्युम्न आदि वीरोंको युद्धके लिये जानेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

चेदिकाशिकरूषाणां नेतारं दृढविक्रमम्।
सेनापतिममित्रघ्नं धृष्टकेतुमथादिशत् ॥ २ ॥

चेदि, काशि और करूषदेशोंके अधिनायक दृढ़ पराक्रमी शत्रुनाशक सेनापति धृष्टकेतुको भी प्रस्थान करनेका आदेश दिया।

विराटं द्रुपदं चैव युयुधानं शिखण्डिनम्।
पाञ्चाल्यौ च महेष्वासौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ ३ ॥

विराट, द्रुपद, सात्यकि, शिखण्डी, महाधनुर्धर पाञ्चालवीर युधामन्यु और उत्तमौजाको भी राजाका आदेश प्राप्त हुआ।

ते शूराश्चित्रवर्माणस्तप्तकुण्डलधारिणः।
आज्यावसिक्ता ज्वलिता धिष्ण्येष्विव हुताशनाः॥ ४ ॥
अशोभन्त महेष्वासा ग्रहाः प्रज्वलिता इव।

वे महाधनुर्धर शूरवीर विचित्र कवच और तपाये हुए सोनेके कुण्डल धारण किये वेदीपर घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुए अग्निदेवके समान तथा आकाशमें प्रकाशित होनेवाले ग्रहोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ४½ ॥

अथ सैन्यं यथायोगं पूजयित्वा नरर्षभः ॥ ५ ॥
दिदेश तान्यनीकानि प्रयाणाय महीपतिः।
तेषां युधिष्ठिरो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ॥ ६ ॥
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम्।
सगजाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ॥ ७ ॥

तदनन्तर योग्यतानुसार सम्पूर्ण सेनाका समादर करके नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उन सैनिकोंको प्रस्थान करनेकी आज्ञा दी और सेना तथा सवारियोंसहित उन महामना नरेशोंको उत्तमोत्तम खाने-पीनेकी वस्तुएँ देनेकी आज्ञा दी। उनके साथ जो भी हाथी, घोड़े, मनुष्य और शिल्पजीवी पुरुष थे, उन सबके लिये भोजन प्रस्तुत करनेका आदेश दिया ॥५—७॥

अभिमन्युं बृहन्तं च द्रौपदेयांश्च सर्वशः।
धृष्टद्युम्नमुखानेतान् प्राहिणोत् पाण्डुनन्दनः ॥ ८ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्नको आगे करके अभिमन्यु, बृहन्त तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—इन सबको प्रथम सेनादलके साथ भेजा ॥ ८ ॥

भीमं च युयुधानं च पाण्डवं च धनंजयम्।
द्वितीयं प्रेषयामास बलस्कन्धं युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

भीमसेन, सात्यकि तथा पाण्डुनन्दन अर्जुनको युधिष्ठिरने द्वितीय सैन्यसमूहका नेता बनाकर भेजा ॥ ९ ॥

भाण्डं समारोपयतां चरतां सम्प्रधावताम्।
हृष्टानां तत्र योधानां शब्दो दिवमिवास्पृशत् ॥ १० ॥

वहाँ हर्षमें भरे हुए कुछ योद्धा सवारियोंपर युद्धकी सामग्री चढ़ाते, कुछ इधर-उधर जाते और कुछ लोग कार्यवश दौड़-धूप करते थे। उन सबका कोलाहल मानो स्वर्गलोकको छूने लगा ॥ १० ॥

स्वयमेव ततः पश्चाद् विराटद्रुपदान्वितः।
अथापरैर्महीपालैः सह प्रायान्महीपतिः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् राजा विराट और द्रुपदको साथ ले अन्यान्य भूपालोंसहित स्वयं राजा युधिष्ठिर चले ॥ ११ ॥

भीमधन्वायनी सेना धृष्टद्युम्नेन पालिता।
गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्यन्दमाना व्यदृश्यत ॥ १२ ॥

भयंकर धनुर्धरोंसे भरी हुई और धृष्टद्युम्नके द्वारा सुरक्षित हो कहीं ठहरती और कहीं आगे बढ़ती हुई वह पाण्डवसेना कहीं निश्चल और कहीं प्रवाहशील जलसे भरी गङ्गाके समान दिखायी देती थी ॥ १२ ॥

ततः पुनरनीकानि न्ययोजयत बुद्धिमान्।
मोहयन् धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां बुद्धिनिश्चयम् ॥ १३ ॥

थोड़ी दूर जाकर बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रके पुत्रोंके बौद्धिक निश्चयमें भ्रम उत्पन्न करनेके लिये अपनी सेनाका दुबारा संगठन किया ॥ १३ ॥

द्रौपदेयान् महेष्वासानभिमन्युं च पाण्डवः।
नकुलं सहदेवं च सर्वांश्चैव प्रभद्रकान् ॥ १४ ॥
दश चाश्वसहस्राणि द्विसहस्राणि दन्तिनाम्।
अयुतं च पदातीनां रथाः पञ्चशतं तथा ॥ १५ ॥
भीमसेनस्य दुर्धर्षं प्रथमं प्रादिशद् बलम्।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने द्रौपदीके महाधनुर्धर पुत्र, अभिमन्यु, नकुल, सहदेव, समस्त प्रभद्रक वीर, दस हजार घुड़सवार, दो हजार हाथीसवार, दस हजार पैदल तथा पाँच सौ रथी—इनके प्रथम दुर्धर्ष दलको भीमसेनकी अध्यक्षतामें दे दिया ॥

मध्यमे च विराटं च जयत्सेनं च पाण्डवः ॥ १६ ॥
महारथौ च पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ।
वीर्यवन्तौ महात्मानौ गदाकार्मुकधारिणौ ॥ १७ ॥
अन्वयातां तदा मध्ये वासुदेवधनंजयौ।

बीचके दलमें राजाने विराट, जयत्सेन तथा पाञ्चालदेशीय महारथी युधामन्यु और उत्तमौजाको रक्खा। हाथोंमें गदा और धनुष धारण किये ये दोनों वीर (युधामन्यु-उत्तमौजा) बड़े पराक्रमी और मनस्वी थे। उस समय इन सबके मध्यभागमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन सेनाके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ १६-१७½ ॥

बभूवुरतिसंरब्धाः कृतप्रहरणा नराः ॥ १८ ॥
तेषां विंशतिसाहस्रा हयाः शूरैरधिष्ठिताः।

पञ्च नागसहस्राणि रथवंशाश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

उस समय जो योद्धा पहले कभी युद्ध कर चुके थे, वे आवेशमें भरे हुए थे। उनमें बीस हजार घोड़े ऐसे थे जिनकी पीठपर शौर्यसम्पन्न वीर बैठे हुए थे। इन घुड़सवारोंके साथ पाँच हजार गजारोही तथा बहुत-से रथी भी थे ॥ १८-१९॥

पदातयश्च ये शूराः कार्मुकासिगदाधराः ।
सहस्रशोऽन्वयुः पश्चादग्रतश्च सहस्रशः ॥ २० ॥

धनुष, बाण, खड्ग और गदा धारण करनेवाले जो पैदल सैनिक थे, वे सहस्रोंकी संख्यामें सेनाके आगे और पीछे चलते थे॥

युधिष्ठिरो यत्र सैन्ये स्वयमेव बलार्णवे ।
तत्र ते पृथिवीपाला भूयिष्ठं पर्यवस्थिताः ॥ २१ ॥

जिस सैन्य-समुद्रमें स्वयं राजा युधिष्ठिर थे, उसमें बहुत-से भूमिपाल उन्हें चारों ओरसे घेरकर चलते थे ॥ २१ ॥

तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च ।
तथा रथसहस्राणि पदातीनां च भारत ॥ २२ ॥

भारत ! उसमें एक हजार हाथीसवार, दस हजार घुड़सवार, एक हजार रथी और कई सहस्र पैदल सैनिक थे ॥

चेकितानः स्वसैन्येन महता पार्थिवर्षभ ।
धृष्टकेतुश्च चेदीनां प्रणेता पार्थिवो ययौ ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अपनी विशाल सेनाके साथ चेकितान तथा चेदिराज धृष्टकेतु भी उन्हींके साथ जा रहे थे ॥ २३ ॥

सात्यकिश्च महेष्वासो वृष्णीनां प्रवरो रथः ।
वृतः शतसहस्रेण रथानां प्रणुदन् बली ॥ २४ ॥

वृष्णिवंशके प्रमुख महारथी महान् धनुर्धर बलवान् सात्यकि एक लाख रथियोंसे घिरकर गर्जना करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ २४ ॥

क्षत्रदेवब्रह्मदेवौ रथस्थौ पुरुषर्षभौ ।
जघनं पालयन्तौ च पृष्ठतोऽनुप्रजग्मतुः ॥ २५ ॥

क्षत्रदेव और ब्रह्मदेव ये दोनों पुरुषरत्न रथपर बैठकर सेनाके पिछले भागकी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे जा रहे थे ॥

शकटापणवेशाश्च यानं युग्यं च सर्वशः ।
तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च ।
फल्गु सर्वं कलत्रं च यत्किञ्चित् कृशदुर्बलम् ॥ २६ ॥
कोशसंचयवाहांश्च कोष्ठागारं तथैव च ।
गजानीकेन संगृह्य शनैः प्रायाद् युधिष्ठिरः ॥ २७ ॥

इनके सिवा और भी बहुत-से छकड़े, दूकानें, वेशभूषाके सामान, सवारियाँ, सामान ढोनेकी गाड़ी, एक सहस्र हाथी, अनेक अयुत घोड़े, अन्य छोटी-मोटी वस्तुएँ, स्त्रियाँ, कृश और दुर्बल मनुष्य, कोश-संग्रह और उनके ढोनेवा तथा कोष्ठागार आदि सब कुछ संग्रह करके राजा यु धीरे-धीरे गजसेनाके साथ यात्रा कर रहे थे ॥ २६-२७

तमन्वयात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य वा विभुः ॥
रथा विंशतिसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः ।
हयानां दश कोट्यश्च महतां किंकिणीकिनाम् ॥
गजा विंशतिसाहस्रा ईषादन्ताः प्रहारिणः ।
कुलीना भिन्नकरटा मेघा इव विसर्पिणः ॥

उनके पीछे सुचित्तके पुत्र रणदुर्मद सत्यधृति, श्रेणि वसुदान तथा काशिराजके सामर्थ्यशाली पुत्र जा रहे थे सबका अनुगमन करनेवाले बीस हजार रथी, घुँघु सुशोभित दस करोड़ घोड़े, ईषादण्डके समान दाँतवाले, कुशल, अच्छी जातिमें उत्पन्न, मदस्रावी और मेघों के समान चलनेवाले बीस हजार हाथी थे ॥ २८—३

षष्टिर्नागसहस्राणि दशान्यानि च भारत ।
युधिष्ठिरस्य यान्यासन् युधि सेना महात्मनः ॥
क्षरन्त इव जीमूताः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः ॥

भारत ! इनके सिवा, युद्धमें महात्मा युधिष्ठिरके निजी तौरपर सत्तर हजार हाथी और थे, जो जल बरसा बादलोंकी भाँति अपने गण्डस्थलसे मदकी धारा बहाते वे सबके सब जङ्गम पर्वतोंकी भाँति राजा युधिष्ठिरका अनु कर रहे थे ॥ ३१-३२ ॥

एवं तस्य बलं भीमं कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ।
यदाश्रित्याथ युयुधे धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् कुन्तीपुत्रके पास भयंकर विशाल सेना थी, जिसका आश्रय लेकर वे धृतराष्ट्रपुत्र दुर्यो लोहा ले रहे थे ॥ ३३ ॥

ततोऽन्ये शतशः पश्चात् सहस्रायुतशो नराः ।
नर्दन्तः प्रययुस्तेषामनीकानि सहस्रशः ॥

इन सबके अतिरिक्त पीछे-पीछे लाखों पैदल मनुष्य उनकी सहस्रों सेनाएँ गर्जना करती हुई आगे बढ़ रही

तत्र भेरीसहस्राणि शङ्खानामयुतानि च ।
न्यवादयन्त संहृष्टाः सहस्रायुतशो नराः ॥

उस समय उस रणक्षेत्रमें लाखों मनुष्य हर्ष उत्साहमें भरकर हजारों भेरियों तथा शङ्खोंकी ध्वनि कर रहे

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि पाण्डवसेनानिर्याणे षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें पाण्डवसेनानिर्याणविषयक एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १

उद्योगपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द) बड़े छंदोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	५९७८॥	(७८४।-) १०७८।≡	७०५
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	६८॥	(५॥) ७॥-	७१

उद्योगपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

भीष्मपर्व

(जम्बूखण्डविनिर्माणपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रमें उभय पक्षके सैनिकोंकी स्थिति तथा युद्धके नियमोंका निर्माण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

कथं युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
पार्थिवाः सुमहात्मानो नानादेशसमागताः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! कौरव, पाण्डव और सोमकवीरों तथा नाना देशोंसे आये हुए अन्य महामना नरेशोंने वहाँ किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

यथा युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
कुरुक्षेत्रे तपःक्षेत्रे शृणु त्वं पृथिवीपते ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—पृथ्वीपते ! वीर कौरव, पाण्डव और सोमकोंने तपोभूमि कुरुक्षेत्रमें जिस प्रकार युद्ध किया था, उसे बताता हूँ; सुनो ॥ २ ॥

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं पाण्डवाः सहसोमकाः ।
कौरवाः समवर्तन्त जिगीषन्तो महाबलाः ॥ ३ ॥

सोमकोंसहित पाण्डव तथा कौरव दोनों महाबली थे । वे एक दूसरेको जीतनेकी आशासे कुरुक्षेत्रमें उतरकर आमने-सामने डटे हुए थे ॥ ३ ॥

वेदाध्ययनसम्पन्नाः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ।
आशंसन्तो जयं युद्धे बलेनाभिमुखा रणे ॥ ४ ॥

वे सबके सब वेदाध्ययनसे सम्पन्न और युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे और संग्राममें विजयकी आशा रखकर रणभूमिमें बलपूर्वक एक दूसरेके सम्मुख खड़े थे ॥ ४ ॥

अभियाय च दुर्धर्षां धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम् ।
प्राङ्मुखाः पश्चिमे भागे न्यविशन्त ससैनिकाः ॥ ५ ॥

पाण्डवोंके योद्धालोग अपने-अपने सैनिकोंके सहित धृतराष्ट्र-पुत्रकी दुर्धर्ष सेनाके सम्मुख जाकर पश्चिमभागमें पूर्वाभिमुख होकर ठहर गये थे ॥ ५ ॥

समन्तपञ्चकाद् बाह्यं शिबिराणि सहस्रशः ।
कारयामास विधिवत् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने समन्तपञ्चक क्षेत्रसे बाहर यथायोग्य सहस्रों शिविर बनवाये थे ॥ ६ ॥

शून्या च पृथिवी सर्वा बालवृद्धावशेषिता ।
निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता ॥ ७ ॥

समस्त पृथ्वीके सभी प्रदेश नवयुवकोंसे सूने हो रहे थे । उनमें केवल बालक और वृद्ध ही शेष रह गये थे । सारी वसुधा घोड़े, हाथी, रथ और तरुण पुरुषोंसे हीन-सी हो रही थी ॥

यावत्तपति सूर्यो हि जम्बूद्वीपस्य मण्डलम् ।
तावदेव समायातं बलं पार्थिवसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! सूर्यदेव जम्बूद्वीपके जितने भूमण्डलको अपनी किरणोंसे तपाते हैं, उतनी दूरकी सेनाएँ वहाँ युद्धके लिये आ गयी थीं ॥ ८ ॥

एकस्थाः सर्ववर्णास्ते मण्डलं बहुयोजनम् ।
पर्याक्रामन्त देशांश्च नदीः शैलान् वनानि च ॥ ९ ॥

वहाँ सभी वर्णके लोग एक ही स्थानपर एकत्र थे । युद्धभूमिका घेरा कई योजन लम्बा था । उन सब लोगोंने वहाँके अनेक प्रदेशों, नदियों, पर्वतों और वनोंको सब ओरसे घेर लिया था ॥ ९ ॥

तेषां युधिष्ठिरो राजा सर्वेषां पुरुषर्षभ ।
व्यादिदेश सवाहानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ॥ १० ॥

नरश्रेष्ठ ! राजा युधिष्ठिरने सेना और सवारियोंसहित

उन सबके लिये उत्तमोत्तम भोजन प्रस्तुत करनेका आदेश दे दिया था ॥ १० ॥

शय्याश्च विविधास्तात तेषां रात्रौ युधिष्ठिरः।
एवंवेदी वेदितव्यः पाण्डवेयोऽयमित्युत ॥ ११ ॥
अभिज्ञानानि सर्वेषां संज्ञाश्चाभरणानि च।
योजयामास कौरव्यो युद्धकाल उपस्थिते ॥ १२ ॥

तात ! रातके समय युधिष्ठिरने उन सबके सोनेके लिये नाना प्रकारकी शय्याओंका भी प्रबन्ध कर दिया था। युद्धकाल उपस्थित होनेपर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने सभी सैनिकोंके पहचानके लिये उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके संकेत और आभूषण दे दिये थे, जिससे यह जान पड़े कि यह पाण्डव-पक्षका सैनिक है ॥ ११-१२ ॥

दृष्ट्वा ध्वजाग्रं पार्थस्य धार्तराष्ट्रो महामनाः।
सह सर्वैर्महीपालैः प्रत्यव्यूहत पाण्डवम् ॥ १३ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुनके ध्वजका अग्रभाग देखकर महामना दुर्योधनने समस्त भूपालोंके साथ पाण्डवसेनाके विरुद्ध अपनी सेनाकी व्यूहरचना की ॥ १३ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
मध्ये नागसहस्रस्य भ्रातृभिः परिवारितः ॥ १४ ॥

उसके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था। वह एक हजार हाथियोंके बीचमें अपने भाइयोंसे घिरा हुआ शोभा पाता था ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा दुर्योधनं हृष्टाः पञ्चाला युद्धनन्दिनः।
दध्मुः प्रीता महाशङ्खान् भेर्यश्च मधुरस्वनाः ॥ १५ ॥

दुर्योधनको देखकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले पाञ्चाल सैनिक बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नतापूर्वक बड़े-बड़े शङ्खों तथा मधुर ध्वनि करनेवाली भेरियोंको बजाने लगे ॥

ततः प्रहृष्टां तां सेनामभिवीक्ष्याथ पाण्डवाः।
बभूवुर्हृष्टमनसो वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥

तदनन्तर अपनी सेनाको हर्ष और उल्लासमें भरी हुई देख समस्त पाण्डवोंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ तथा पराक्रमी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण भी संतुष्ट हुए ॥ १६ ॥

ततो हर्षं समागम्य वासुदेवधनंजयौ।
दध्मतुः पुरुषव्याघ्रौ दिव्यौ शङ्खौ रथे स्थितौ ॥ १७ ॥

उस समय एक ही रथपर बैठे हुए पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन आनन्दमग्न होकर अपने दिव्य शंखोंको बजाने लगे ॥ १७ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं देवदत्तस्य चोभयोः।
श्रुत्वा तु निनदं योधाः शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ॥ १८ ॥

पाञ्चजन्य और देवदत्त दोनों शङ्खोंकी ध्वनि सुनकर शत्रुपक्षके बहुत-से सैनिक भयके मारे मल-मूत्र करने लगे ॥

यथा सिंहस्य नदतः स्वनं श्रुत्वेतरे मृगाः।
त्रसेयुर्निनदं श्रुत्वा तथासीदत तद्बलम् ॥ १९ ॥

जैसे गर्जते हुए सिंहकी आवाज सुनकर दूसे पशु भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंका सुनकर कौरवसेनाका उत्साह शिथिल पड़ वह खिन्न-सी हो गयी ॥ १९ ॥

उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन।
अस्तङ्गत इवादित्ये सैन्येन सहसाऽऽवृते ॥

धरतीसे धूल उड़कर आकाशमें छा गयी। सूझ नहीं पड़ता था। सेनाकी गर्दसे सहसा आच्छादि जानेके कारण सूर्य अस्त हो गये-से जान पड़ते थे ॥

ववर्ष तत्र पर्जन्यो मांसशोणितवृष्टिमान्।
दिक्षु सर्वाणि सैन्यानि तदद्भुतमिवाभवत् ॥

उस समय वहाँ मेघ सब दिशाओंमें समस्त सैनि मांस और रक्तकी वर्षा करने लगे। वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ २१ ॥

वायुस्ततः प्रादुरभून्नीचैः शर्करकर्षणः।
विनिघ्नंस्तान्यनीकानि शतशोऽथ सहस्रशः ॥

तदनन्तर वहाँ नीचेसे बालू तथा कंकड़ खींचक ओर बिखेरनेवाली बवंडरकी-सी वायु उठी, जिसने हजारों सैनिकोंको घायल कर दिया ॥ २२ ॥

उभे सैन्ये च राजेन्द्र युद्धाय मुदिते भृशम्।
कुरुक्षेत्रे स्थिते यत्ते सागरक्षुभितोपमे ॥

राजेन्द्र ! कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये अत्यन्त हर्षो भरी हुई दोनों पक्षकी सेनाएँ दो विक्षुब्ध महासागरोंके एक दूसरेके सम्मुख खड़ी थीं ॥ २३ ॥

तयोस्तु सेनयोरासीदद्भुतः स तु संगमः।
युगान्ते समनुप्राप्ते द्वयोः सागरयोरिव ॥

दोनों सेनाओंका वह अद्भुत समागम प्रलयकाल परस्पर मिलनेवाले दो समुद्रोंके समान जान पड़ता था

शून्याऽऽसीत् पृथिवी सर्वा वृद्धबालावशेषिता।
निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता ॥
तेन सेनासमूहेन समानीतेन कौरवैः।

कौरवोंद्वारा संग्रह करके वहाँ लाये हुए उस सैन्य द्वारा सारी पृथ्वी नवयुवकोंसे सूनी-सी हो रही थी। केवल बालक और बूढ़े ही शेष रह गये थे। सारी घोड़े, हाथी, रथ और तरुण पुरुषोंसे हीन-सी हो गयी

ततस्ते समयं चक्रुः कुरुपाण्डवसोमकाः ॥
धर्मान् संस्थापयामासुर्युद्धानां भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् कौरव, पाण्डव तथा सो परस्पर मिलकर युद्धके सम्बन्धमें कुछ नियम युद्धधर्मकी मर्यादा स्थापित की ॥ २६½ ॥

निवृत्ते विहिते युद्धे स्यात् प्रीतिर्नः परस्परम् ॥
यथापरं यथायोगं न च स्यात् कस्यचित् पुनः।

वे नियम इस प्रकार हैं—चालू युद्धके बंद होनेपर संध्याकालमें हम सब लोगोंमें परस्पर प्रेम बना रहे। उस समय पुनः किसीका किसीके साथ शत्रुतापूर्ण अयोग्य बर्ताव नहीं होना चाहिये ॥ २७½ ॥

वाचा युद्धप्रवृत्तानां वाचैव प्रतियोधनम्।
निष्क्रान्ताः पृतनामध्यान्न हन्तव्याः कदाचन ॥ २८ ॥
रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः।
अश्वेनाश्वी पदातिश्च पादातेनैव भारत ॥ २९ ॥

जो वाग्युद्धमें प्रवृत्त हों उनके साथ वाणीद्वारा ही युद्ध किया जाय। जो सेनासे बाहर निकल गये हों उनका वध कदापि न किया जाय। भारत! रथीको रथीसे ही युद्ध करना चाहिये, इसी प्रकार हाथीसवारके साथ हाथीसवार, घुड़सवारके साथ घुड़सवार तथा पैदलके साथ पैदल ही युद्ध करे ॥ २८-२९ ॥

यथायोगं यथाकामं यथोत्साहं यथाबलम्।
समाभाष्य प्रहर्तव्यं न विश्वस्ते न विह्वले ॥ ३० ॥

जिसमें जैसी योग्यता, इच्छा, उत्साह तथा बल हो उसके अनुसार ही विपक्षीको बताकर उसे सावधान करके ही उसके ऊपर प्रहार किया जाय। जो विश्वास करके असावधान हो रहा हो अथवा जो युद्धसे घबराया हुआ हो, उसपर प्रहार करना उचित नहीं है ॥ ३० ॥

एकेन सह संयुक्तः प्रपन्नो विमुखस्तथा।
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन ॥ ३१ ॥

जो एकके साथ युद्धमें लगा हो, शरणमें आया हो, पीठ दिखाकर भागा हो और जिसके अस्त्र-शस्त्र और कवच कट गये हों; ऐसे मनुष्यको कदापि न मारा जाय ॥ ३१ ॥

न सूतेषु न धुर्येषु न च शस्त्रोपनायिषु।
न भेरीशङ्खवादेषु प्रहर्तव्यं कथंचन ॥ ३२ ॥

घोड़ोंकी सेवाके लिये नियुक्त हुए सूतों, बोझ ढोनेवालों, शस्त्र पहुँचानेवालों तथा भेरी और शङ्ख बजानेवालोंपर कोई किसी प्रकार भी प्रहार न करे ॥ ३२ ॥

एवं ते समयं कृत्वा कुरुपाण्डवसोमकाः।
विस्मयं परमं जग्मुः प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार नियम बनाकर कौरव, पाण्डव तथा सोमक एक दूसरेकी ओर देखते हुए बड़े आश्चर्यचकित हुए ॥ ३३ ॥

निविश्य च महात्मानस्ततस्ते पुरुषर्षभाः।
हृष्टरूपाः सुमनसो बभूवुः सहसैनिकाः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर वे महामना पुरुषरत्न अपने-अपने स्थानपर स्थित हो सैनिकोंसहित प्रसन्नचित्त होकर हर्ष एवं उत्साहसे भर गये ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि सैन्यशिक्षणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें सैन्यशिक्षणविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

वेदव्यासजीके द्वारा संजयको दिव्य दृष्टिका दान तथा भयसूचक उत्पातोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः पूर्वापरे सैन्ये समीक्ष्य भगवानृषिः।
सर्ववेदविदां श्रेष्ठो व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥
भविष्यति रणे घोरे भरतानां पितामहः।
प्रत्यक्षदर्शी भगवान् भूतभव्यभविष्यवित् ॥ २ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं स रहस्यब्रवीदिदम्।
शोचन्तमार्तं ध्यायन्तं पुत्राणामनयं तदा ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पूर्व और पश्चिम दिशामें आमने-सामने खड़ी हुई दोनों ओरकी सेनाओंको देखकर भूत, भविष्य और वर्तमानका ज्ञान रखनेवाले, सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, भरतवंशियोंके पितामह सत्यवतीनन्दन महर्षि भगवान् व्यास, जो होनेवाले भयंकर संग्रामके भावी परिणामको प्रत्यक्ष देख रहे थे, विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्रके पास आये। वे उस समय अपने पुत्रोंके अन्यायका चिन्तन करते हुए शोकमग्न एवं आर्त हो रहे थे। व्यासजीने उनसे एकान्तमें कहा ॥ १-३ ॥

व्यास उवाच

राजन् परीतकालास्ते पुत्राश्चान्ये च पार्थिवाः।
ते हिंसन्तीव संग्रामे समासाद्येतरेतरम् ॥ ४ ॥

व्यासजी बोले—राजन्! तुम्हारे पुत्रों तथा अन्य राजाओंका मृत्युकाल आ पहुँचा है। वे संग्राममें एक दूसरेसे भिड़कर मरने-मारनेको तैयार खड़े हैं ॥ ४ ॥

तेषु कालपरीतेषु विनश्यत्स्वेव भारत।
कालपर्यायमाज्ञाय मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ५ ॥

भारत! वे कालके अधीन होकर जब नष्ट होने लगें, तब इसे कालका चक्कर समझकर मनमें शोक न करना ॥ ५ ॥

यदि चेच्छसि संग्रामे द्रष्टुमेतान् विशाम्पते।
चक्षुर्ददानि ते पुत्र युद्धं तत्र निशामय ॥ ६ ॥

राजन्! यदि संग्रामभूमिमें इन सबकी अवस्था तुम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करूँ। वत्स! फिर तुम (यहाँ बैठे-बैठे ही) वहाँ होनेवाले युद्धका सारा दृश्य अपनी आँखों देखो ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न रोचये ज्ञातिवधं द्रष्टुं ब्रह्मर्षिसत्तम।
युद्धमेतत् त्वशेषेण शृणुयां तव तेजसा॥ ७॥

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मर्षिप्रवर! मुझे अपने कुटुम्बीजनोंका वध देखना अच्छा नहीं लगता; परंतु आपके प्रभावसे इस युद्धका सारा वृत्तान्त सुन सकूँ, ऐसी कृपा आप अवश्य कीजिये॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन् नेच्छति द्रष्टुं संग्रामं श्रोतुमिच्छति।
वराणामीश्वरो व्यासः संजयाय वरं ददौ॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीने देखा, धृतराष्ट्र युद्धका दृश्य देखना तो नहीं चाहता, परंतु उसका पूरा समाचार सुनना चाहता है। तब वर देनेमें समर्थ उन महर्षिने संजयको वर देते हुए कहा—॥ ८॥

एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद् वदिष्यति।
एतस्य सर्वसंग्रामे न परोक्षं भविष्यति॥ ९॥

'राजन्! यह संजय आपको इस युद्धका सब समाचार बताया करेगा। सम्पूर्ण संग्रामभूमिमें कोई ऐसी बात नहीं होगी, जो इसके प्रत्यक्ष न हो॥ ९॥

चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति॥ १०॥

'राजन्! संजय दिव्य दृष्टिसे सम्पन्न होकर सर्वज्ञ हो जायगा और तुम्हें युद्धकी बात बतायेगा॥ १०॥

प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि।
मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति संजयः॥ ११॥

'कोई भी बात प्रकट हो या अप्रकट, दिनमें हो या रातमें अथवा वह मनमें ही क्यों न सोची गयी हो, संजय सब कुछ जान लेगा॥ ११॥

नैनं शस्त्राणि छेत्स्यन्ति नैनं बाधिष्यते श्रमः।
गावल्गणिरयं जीवन् युद्धादस्माद् विमोक्ष्यते॥ १२॥

'इसे कोई हथियार नहीं काट सकता। इसे परिश्रम या थकावटकी बाधा भी नहीं होगी। गवल्गणका पुत्र यह संजय इस युद्धसे जीवित बच जायगा॥ १२॥

अहं तु कीर्तिमेतेषां कुरूणां भरतर्षभ।
पाण्डवानां च सर्वेषां प्रथयिष्यामि मा शुचः॥ १३॥

'भरतश्रेष्ठ! मैं इन समस्त कौरवों और पाण्डवोंकी कीर्तिका तीनों लोकोंमें विस्तार करूँगा। तुम शोक न करो॥ १३॥

दिष्टमेतन्नरव्याघ्र नाभिशोचितुमर्हसि।
न चैव शक्यं संयन्तुं यतो धर्मस्ततो जयः॥ १४॥

'नरश्रेष्ठ! यह दैवका विधान है। इसे कोई मेट नहीं सकता। अतः इसके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय होगी'॥ १४॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कुरूणां प्रपितामहः।
पुनरेव महाभागो धृतराष्ट्रमुवाच ह॥ १

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहक कुलके पितामह महाभाग भगवान् व्यास पुनः धृतराष्ट्रसे बो

इह युद्धे महाराज भविष्यति महान् क्षयः।
तथेह च निमित्तानि भयदान्युपलक्षये॥ १

'महाराज! इस युद्धमें महान् नर-संहार होगा; मुझे इस समय ऐसे ही भयदायक अपशकुन दिखायी दे

श्येना गृध्राश्च काकाश्च कङ्काश्च सहिता बकैः।
सम्पतन्ति नगाग्रेषु समवायांश्च कुर्वते॥ १

'बाज, गीध, कौवे, कङ्क और बगुले वृक्षोंके अग्र पर आकर बैठते तथा अपना समूह एकत्र करते हैं॥

अभ्यग्रं च प्रपश्यन्ति युद्धमानन्दिनो द्विजाः।
क्रव्यादा भक्षयिष्यन्ति मांसानि गजवाजिनाम्॥ १
निर्दयं चाभिवाशन्तो भैरवा भयवेदिनः।
कङ्काः प्रयान्ति मध्येन दक्षिणामभितो दिशम्॥ १

'ये पक्षी अत्यन्त आनन्दित होकर युद्धस्थलको निकटसे आकर देखते हैं। इससे सूचित होता है कि भक्षी पशु-पक्षी आदि प्राणी हाथियों और घोड़ोंके खायँगे। भयकी सूचना देनेवाले कङ्क पक्षी कठोर बोलते हुए सेनाके बीचसे होकर दक्षिण दिशाकी ओर जाते

उभे पूर्वापरे संध्ये नित्यं पश्यामि भारत।
उदयास्तमने सूर्यं कबन्धैः परिवारितम्॥

'भारत! मैं प्रातः और सायं दोनों संध्याओंके उदय और अस्तकी वेलामें सूर्यदेवको प्रतिदिन कब घिरा हुआ देखता हूँ॥ २०॥

श्वेतलोहितपर्यन्ताः कृष्णग्रीवाः सविद्युतः।
विवर्णाः परिघाः संधौ भानुमन्तमवारयन्॥ २

'संध्याके समय सूर्यदेवको तिरंगे घेरोंने सब ओरसे रक्खा था। उनमें श्वेत और लाल रंगके घेरे दोनों किन पर थे और मध्यमें काले रंगका घेरा दिखायी देता इन घेरोंके साथ बिजलियाँ भी चमक रही थीं॥ २१॥

ज्वलितार्केन्दुनक्षत्रं निर्विशेषदिनक्षपम्।
अहोरात्रं मया दृष्टं तद् भयाय भविष्यति॥ २

'मुझे दिन और रातका समय ऐसा दिखायी दि जिसमें सूर्य, चन्द्रमा और तारे जलते-से जान पड़ते थे। और रातमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखायी देता था। लक्षण भय लानेवाला होगा॥ २२॥

अलक्ष्यः प्रभया हीनः पौर्णमासीं च कार्तिकीम्।
चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णनभस्तले॥ २

'कार्तिककी पूर्णिमाको कमलके समान नीलवर्णके आक

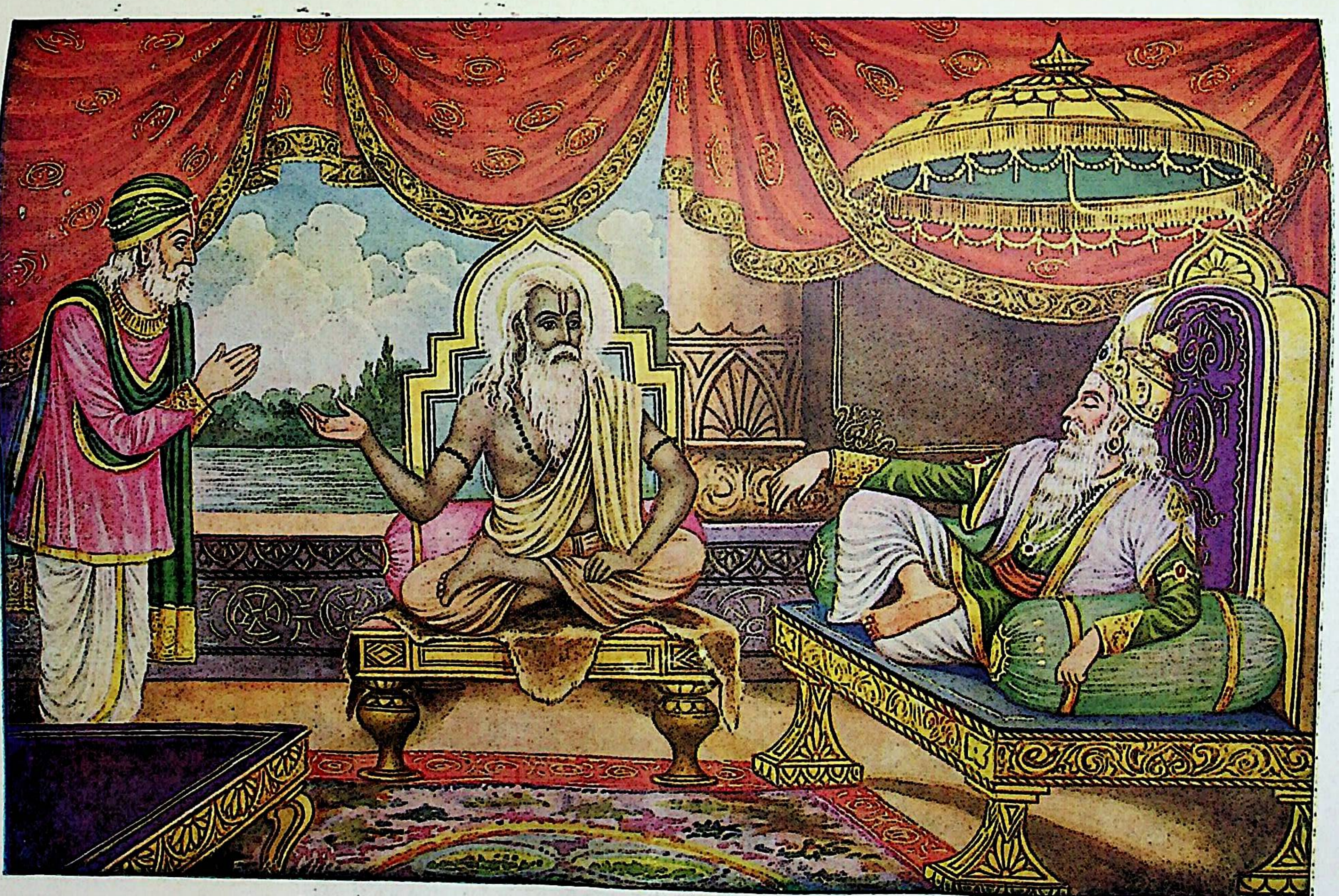

संजयको दिव्यदृष्टि

में चन्द्रमा प्रभाहीन होनेके कारण दृष्टिगोचर नहीं हो पाता था तथा उसकी कान्ति भी अग्निके समान प्रतीत होती थी॥

स्वप्स्यन्ति निहता वीरा भूमिमावृत्य पार्थिवाः।
राजानो राजपुत्राश्च शूराः परिघबाहवः ॥ २४ ॥

'इसका फल यह है कि परिघके समान मोटी बाहुओंवाले बहुत-से शूरवीर नरेश तथा राजकुमार मारे जाकर पृथ्वीको आच्छादित करके रणभूमिमें शयन करेंगे ॥ २४ ॥

अन्तरिक्षे वराहस्य वृषदंशस्य चोभयोः।
प्रणादं युद्ध्यतो रात्रौ रौद्रं नित्यं प्रलक्षये ॥ २५ ॥

'सूअर और बिलाव दोनों आकाशमें उछल-उछलकर रातमें लड़ते और भयानक गर्जना करते हैं। यह बात मुझे प्रतिदिन दिखायी देती है ॥ २५ ॥

देवताप्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति च।
वमन्ति रुधिरं चास्यैः खिद्यन्ति प्रपतन्ति च ॥ २६ ॥

'देवताओंकी मूर्तियाँ काँपती, हँसती, मुँहसे खून उगलती, खिन्न होती और गिर पड़ती हैं ॥ २६ ॥

अनाहता दुन्दुभयः प्रणदन्ति विशाम्पते।
अयुक्ताश्च प्रवर्तन्ते क्षत्रियाणां महारथाः ॥ २७ ॥

'राजन्! दुन्दुभियाँ बिना बजाये बज उठती हैं और क्षत्रियोंके बड़े-बड़े रथ बिना जोते ही चल पड़ते हैं ॥ २७ ॥

कोकिलाः शतपत्राश्च चाषा भासाः शुकास्तथा।
सारसाश्च मयूराश्च वाचो मुञ्चन्ति दारुणाः ॥ २८ ॥

'कोयल, शतपत्र, नीलकण्ठ, भास (चील्ह), शुक, सारस तथा मयूर भयंकर बोली बोलते हैं ॥ २८ ॥

गृहीतशस्त्राः क्रोशन्ति चर्मिणो वाजिपृष्ठगाः।
अरुणोदये प्रदृश्यन्ते शतशः शलभव्रजाः ॥ २९ ॥

'घोड़ेकी पीठपर बैठे हुए सवार हाथोंमें ढाल-तलवार लिये चीत्कार कर रहे हैं। अरुणोदयके समय टिड्डियोंके सैकड़ों दल सब ओर फैले दिखायी देते हैं ॥ २९ ॥

उभे संध्ये प्रकाशेते दिशां दाहसमन्विते।
पर्जन्यः पांसुवर्षी च मांसवर्षी च भारत ॥ ३० ॥

'दोनों संध्याएँ दिग्दाहसे युक्त दिखायी देती हैं। भारत! बादल धूल और मांसकी वर्षा करता है ॥ ३० ॥

या चैषा विश्रुता राजंस्त्रैलोक्ये साधुसम्मता।
अरुन्धती तयाप्येष वसिष्ठः पृष्ठतः कृतः ॥ ३१ ॥

'राजन्! जो अरुन्धती तीनों लोकोंमें पतिव्रताओंकी मुकुटमणिके रूपमें प्रसिद्ध हैं, उन्होंने वसिष्ठको अपने पीछे कर दिया है ॥ ३१ ॥

रोहिणीं पीडयन्नेष स्थितो राजञ्शनैश्चरः।
व्यावृत्तं लक्ष्म सोमस्य भविष्यति महद् भयम् ॥ ३२ ॥

'महाराज! यह शनैश्चर नामक ग्रह रोहिणीको पीड़ा देता हुआ खड़ा है। चन्द्रमाका चिह्न मिट-सा गया है। इससे सूचित होता है कि भविष्यमें महान् भय प्राप्त होगा ॥ ३२ ॥

अनभ्रे च महाघोरः स्तनितः श्रूयते स्वनः।
वाहनानां च रुदतां निपतन्त्यश्रुबिन्दवः ॥ ३३ ॥

'बिना बादलके ही आकाशमें अत्यन्त भयंकर गर्जना सुनायी देती है। रोते हुए वाहनोंकी आँखोंसे आँसुओंकी बूँदें गिर रही हैं' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि श्रीवेदव्यासदर्शने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें श्रीवेदव्यासदर्शनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा अमङ्गलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णन

व्यास उवाच

खरा गोषु प्रजायन्ते रमन्ते मातृभिः सुताः।
अनार्तवं पुष्पफलं दर्शयन्ति वनद्रुमाः ॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—राजन्! गायोंके गर्भसे गदहे पैदा होते हैं, पुत्र माताओंके साथ रमण करते हैं। वनके वृक्ष बिना ऋतुके फूल और फल प्रकट करते हैं ॥ १ ॥

गर्भिण्योऽजातपुत्राश्च जनयन्ति विभीषणान्।
क्रव्यादाः पक्षिभिश्चापि सहाश्नन्ति परस्परम् ॥ २ ॥

गर्भवती स्त्रियाँ पुत्रको जन्म न देकर अपने गर्भसे भयंकर जीवोंको पैदा करती हैं। मांसभक्षी पशु भी पक्षियोंके साथ परस्पर मिलकर एक ही जगह आहार ग्रहण करते हैं॥

त्रिविषाणाश्चतुर्नेत्राः पञ्चपादा द्विमेहनाः।
द्विशीर्षाश्च द्विपुच्छाश्च दंष्ट्रिणः पशवोऽशिवाः ॥ ३ ॥
जायन्ते विवृतास्याश्च व्याहरन्तोऽशिवा गिरः।

तीन सींग, चार नेत्र, पाँच पैर, दो मूत्रेन्द्रिय, दो मस्तक, दो पूँछ और अनेक दाढ़ोंवाले अमङ्गलमय पशु जन्म लेते तथा मुँह फैलाकर अमङ्गलसूचक वाणी बोलते हैं ॥ ३½ ॥

त्रिपदाः शिखिनस्तार्क्ष्याश्चतुर्दंष्ट्रा विषाणिनः ॥ ४ ॥
तथैवान्याश्च दृश्यन्ते स्त्रियो वै ब्रह्मवादिनाम्।
वैनतेयान् मयूरांश्च जनयन्ति पुरे तव ॥ ५ ॥

गरुड़ पक्षीके मस्तकपर शिखा और सींग हैं। उनके तीन पैर तथा चार दाढ़ें दिखायी देती हैं। इसी प्रकार अन्य जीव भी देखे जाते हैं। वेदवादी ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ तुम्हारे नगरमें गरुड़ और मोर पैदा करती हैं ॥ ४-५ ॥

गोवत्सं वडवा सूते श्वा सृगालं महीपते।
कुक्कुरान् करभाश्चैव शुकाश्चाशुभवादिनः ॥ ६ ॥

भूपाल ! घोड़ी गायके बछड़ेको जन्म देती है, कुतियाके पेटसे सियार पैदा होता है, हाथी कुत्तोंको जन्म देते हैं और तोते भी अशुभसूचक बोली बोलने लगे हैं ॥ ६ ॥

स्त्रियः काश्चित्प्रजायन्ते चतस्रः पञ्च कन्यकाः।
जातमात्राश्च नृत्यन्ति गायन्ति च हसन्ति च ॥ ७ ॥

कुछ स्त्रियाँ एक ही साथ चार-चार या पाँच-पाँच कन्याएँ पैदा करती हैं। वे कन्याएँ पैदा होते ही नाचती, गाती तथा हँसती हैं ॥ ७ ॥

पृथग्जनस्य सर्वस्य क्षुद्रकाः प्रहसन्ति च।
नृत्यन्ति परिगायन्ति वेदयन्तो महद् भयम् ॥ ८ ॥

समस्त नीच जातियोंके घरोंमें उत्पन्न हुए काने, कुबड़े आदि बालक भी महान् भयकी सूचना देते हुए जोर-जोरसे हँसते, गाते और नाचते हैं ॥ ८ ॥

प्रतिमाश्चालिखन्त्येताः सशस्त्राः कालचोदिताः।
अन्योन्यमभिधावन्ति शिशवो दण्डपाणयः ॥ ९ ॥

ये सब कालसे प्रेरित हो हाथोंमें हथियार लिये मूर्तियाँ लिखते और बनाते हैं। छोटे-छोटे बच्चे हाथमें डंडा लिये एक दूसरेपर धावा करते हैं ॥ ९ ॥

अन्योन्यमभिमृद्नन्ति नगराणि युयुत्सवः।
पद्मोत्पलानि वृक्षेषु जायन्ते कुमुदानि च ॥ १० ॥

और कृत्रिम नगर बनाकर परस्पर युद्धकी इच्छा रखते हुए उन नगरोंको रौंदकर मिट्टीमें मिला देते हैं। पद्म, उत्पल और कुमुद आदि जलीय पुष्प वृक्षोंपर पैदा होते हैं ॥ १० ॥

विष्वग्वाताश्च वान्त्युग्रा रजो नाप्युपशाम्यति।
अभीक्ष्णं कम्पते भूमिरर्कं राहुरुपैति च ॥ ११ ॥

चारों ओर भयंकर आँधी चल रही है, धूलका उड़ना शान्त नहीं हो रहा है, धरती बारंबार काँप रही है तथा राहु सूर्यके निकट जा रहा है ॥ ११ ॥

श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति।
अभावं हि विशेषेण कुरूणां तत्र पश्यति ॥ १२ ॥

केतु चित्राका अतिक्रमण करके स्वातीपर स्थित हो रहा है;* उसकी विशेषरूपसे कुरुवंशके विनाशपर ही दृष्टि है ॥

धूमकेतुर्महाघोरः पुष्यं चाक्रम्य तिष्ठति।
सेनयोरशिवं घोरं करिष्यति महाग्रहः ॥ १३ ॥

अत्यन्त भयंकर धूमकेतु पुष्य नक्षत्रपर आक्रमण करके वहीं स्थित हो रहा है। यह महान् उपग्रह दोनों सेनाओंका घोर अमङ्गल करेगा ॥ १३ ॥

मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः।
भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीड्यते ॥

मङ्गल वक्र होकर मघा नक्षत्रपर स्थित है, बृह श्रवण नक्षत्रपर विराजमान है तथा सूर्यपुत्र शनि फाल्गुनी नक्षत्रपर पहुँचकर उसे पीड़ा दे रहा है ॥

शुक्रः प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विरोचते।
उत्तरे तु परिक्रम्य सहितः समुदीक्षते ॥

शुक्र पूर्वा भाद्रपदापर आरूढ़ हो प्रकाशित हो और सब ओर घूम-फिरकर परिघ नामक उपग्रहके उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्रपर दृष्टि लगाये हुए है ॥ १५ ॥

श्वेतो ग्रहः प्रज्वलितः सधूम इव पावकः।
ऐन्द्रं तेजस्वि नक्षत्रं ज्येष्ठामाक्रम्य तिष्ठति ॥

केतु नामक उपग्रह धूमयुक्त अग्निके समान प्रज्व इन्द्रदेवतासम्बन्धी तेजस्वी ज्येष्ठा नक्षत्रपर जाकर स्थित

ध्रुवं प्रज्वलितो घोरमपसव्यं प्रवर्तते।
रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्ठितः परुषग्रहः ॥

चित्रा और स्वातीके बीचमें स्थित हुआ क्रूर ग्रह सदा वक्री होकर रोहिणी तथा चन्द्रमा और सूर्यको पहुँचाता है तथा अत्यन्त प्रज्वलित होकर ध्रुवकी बायीं जा रहा है, जो घोर अनिष्टका सूचक है ॥ १७ ॥

वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहिताङ्गो व्यवस्थितः ॥

अग्निके समान कान्तिमान् मङ्गल ग्रह (जिसकी मघा नक्षत्रमें बतायी गयी है) बारंबार वक्र होकर ब्रह्म (बृहस्पतिसे युक्त नक्षत्र) श्रवणको पूर्णरूपसे आवृत स्थित है ॥ १८ ॥

सर्वसस्यपरिच्छन्ना पृथिवी सस्यमालिनी।
पञ्चशीर्षा यवाश्चापि शतशीर्षाश्च शालयः ॥

(इसका प्रभाव खेतीपर अनुकूल पड़ा है) पृथ्वी प्रकारके अनाजके पौधोंसे आच्छादित है, शस्यकी माला अलंकृत है, जौमें पाँच-पाँच और जड़हन धानमें बालियाँ लग रही हैं ॥ १९ ॥

प्रधानाः सर्वलोकस्य यास्वायत्तमिदं जगत्।
ता गावः प्रस्नुता वत्सैः शोणितं प्रक्षरन्त्युत ॥

जो सम्पूर्ण जगत्में माताके समान प्रधान मानी हैं, यह समस्त संसार जिनके अधीन है, वे गौएँ बछड़ों पिन्हा जानेके बाद अपने थनोंसे खून बहाती हैं ॥ २०

निश्चेरुरर्चिषश्चापाद् खड्गाश्च ज्वलिता भृशम्।
व्यक्तं पश्यन्ति शस्त्राणि संग्रामं समुपस्थितम् ॥

योद्धाओंके धनुषसे आगकी लपटें निकलने लगी खड्ग अत्यन्त प्रज्वलित हो उठे हैं मानो सम्पूर्ण शस्त्र

---

* राहु और केतु सदा एक-दूसरेसे सातवीं राशिपर स्थित होते हैं, किंतु उस समय दोनों एक राशिपर आ गये थे; अतः महान् अनिष्टके सूचक थे। सूर्य तुलापर थे, उनके निकट राहुके आनेका वर्णन पहले आ चुका है; फिर केतुके वहाँ पहुँचनेसे महान् दुर्योग बन गया है।

रूपसे यह देख रहे हैं कि संग्राम उपस्थित हो गया है ।२१।

अग्निवर्णा यथा भासः शस्त्राणामुदकस्य च ।
कवचानां ध्वजानां च भविष्यति महाक्षयः ॥ २२ ॥

शस्त्रोंकी, जलकी, कवचोंकी और ध्वजाओंकी कान्तियाँ अग्निके समान लाल हो गयी हैं; अतः निश्चय ही महान् जन-संहार होगा ॥ २२ ॥

पृथिवी शोणितावर्ता ध्वजोडुपसमाकुला ।
कुरूणां वैशसे राजन् पाण्डवैः सह भारत ॥ २३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! जब पाण्डवोंके साथ कौरवोंका हिंसात्मक संग्राम आरम्भ होजायगा, उस समय धरतीपर रक्तकी नदियाँ बह चलेंगी, उनमें शोणितमयी भँवरें उठेंगी तथा रथकी ध्वजाएँ उन नदियोंके ऊपर छोटी-छोटी डोंगियोंके समान सब ओर व्याप्त दिखायी देंगी ॥ २३ ॥

दिक्षु प्रज्वलितास्याश्च व्याहरन्ति मृगद्विजाः ।
अत्याहितं दर्शयन्तो वेदयन्ति महद् भयम् ॥ २४ ॥

चारों दिशाओंमें पशु और पक्षी प्राणान्तकारी अनर्थका दर्शन कराते हुए भयंकर बोली बोल रहे हैं । उनके मुख प्रज्वलित दिखायी देते हैं और वे अपने शब्दोंसे किसी महान् भयकी सूचना दे रहे हैं ॥ २४ ॥

एकपक्षाक्षिचरणः शकुनिः खचरो निशि ।
रौद्रं वदति संरब्धः शोणितं छर्दयन्निव ॥ २५ ॥

रातमें एक आँख, एक पाँख और एक पैरका पक्षी आकाशमें विचरता है और कुपित होकर भयंकर बोली बोलता है । उसकी बोली ऐसी जान पड़ती है, मानो कोई रक्त वमन कर रहा हो ॥ २५ ॥

शस्त्राणि चैव राजेन्द्र प्रज्वलन्तीव सम्प्रति ।
सप्तर्षीणामुदाराणां समवच्छाद्यते प्रभा ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! सभी शस्त्र इस समय जलते-से प्रतीत होते हैं। उदार सप्तर्षियोंकी प्रभा फीकी पड़ती जाती है ॥ २६ ॥

संवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलितावुभौ ।
विशाखायाः समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ ॥ २७ ॥

वर्षपर्यन्त एक राशिपर रहनेवाले दो प्रकाशमान ग्रह बृहस्पति और शनैश्चर तिर्यग्वेधके द्वारा विशाखा नक्षत्रके समीप आ गये हैं ॥ २७ ॥

चन्द्रादित्यावुभौ ग्रस्तावेकाह्ना हि त्रयोदशीम् ।
अपर्वणि ग्रहं यातौ प्रजासंक्षयमिच्छतः ॥ २८ ॥

(इस पक्षमें तो तिथियोंका क्षय होनेके कारण) एक ही दिन त्रयोदशी तिथिको बिना पर्वके ही राहुने चन्द्रमा और सूर्य दोनोंको ग्रस लिया है । अतः ग्रहणावस्थाको प्राप्त हुए वे दोनों ग्रह प्रजाका संहार चाहते हैं ॥ २८ ॥

अशोभिता दिशः सर्वाः पांसुवर्षैः समन्ततः ।
उत्पातमेघा रौद्राश्च रात्रौ वर्षन्ति शोणितम् ॥ २९ ॥

चारों ओर धूलकी वर्षा होनेसे सम्पूर्ण दिशाएँ शोभाहीन हो गयी हैं । उत्पातसूचक भयंकर मेघ रातमें रक्तकी वर्षा करते हैं ॥ २९ ॥

कृत्तिकां पीडयंस्तीक्ष्णैर्नक्षत्रं पृथिवीपते ।
अभीक्ष्णवाता वायन्ते धूमकेतुमवस्थिताः ॥ ३० ॥

राजन् ! अपने तीक्ष्ण (क्रूरतापूर्ण) कर्मोंके द्वारा उपलक्षित होनेवाला राहु (चित्रा और स्वातीके बीचमें रहकर सर्वतोभद्रचक्रगतवेधके अनुसार) कृत्तिका नक्षत्रको पीड़ा दे रहा है । बारंबार धूमकेतुका आश्रय लेकर प्रचण्ड आँधी उठती रहती है ॥ ३० ॥

विषमं जनयन्त्येत आक्रन्दजननं महत् ।
त्रिषु सर्वेषु नक्षत्रनक्षत्रेषु विशाम्पते ।
गृध्रः सम्पतते शीर्षे जनयन् भयमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

वह महान् युद्ध एवं विषम परिस्थिति पैदा करनेवाली है । राजन् ! (अश्विनी आदि नक्षत्रोंको तीन भागोंमें बाँटनेपर जो नौ-नौ नक्षत्रोंके तीन समुदाय होते हैं, वे क्रमशः अश्वपति, गजपति तथा नरपतिके छत्र कहलाते हैं; ये ही पापग्रहसे आक्रान्त होनेपर क्षत्रियोंका विनाश सूचित करनेके कारण 'नक्षत्र-नक्षत्र' कहे गये हैं) इन तीनों अथवा सम्पूर्ण नक्षत्र-नक्षत्रोंमें शीर्षस्थानपर यदि पापग्रहसे वेध हो तो वह ग्रह महान् भय उत्पन्न करनेवाला होता है; इस समय ऐसा ही कुयोग आया है ॥ ३१ ॥

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां च षोडशीम् ।
इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीम् ।
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीम् ॥ ३२ ॥

एक तिथिका क्षय होनेपर चौदहवें दिन, तिथिक्षय न होनेपर पंद्रहवें दिन और एक तिथिकी वृद्धि होनेपर सोलहवें दिन अमावास्याका होना तो पहले देखा गया है; परंतु इस पक्षमें जो तेरहवें दिन यह अमावास्या आ गयी है, ऐसा पहले भी कभी हुआ है, इसका स्मरण मुझे नहीं है । इस एक ही महीनेमें तेरह दिनोंके भीतर चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण दोनों लग गये ॥ ३२ ॥

अपर्वणि ग्रहेणैतौ प्रजाः संक्षपयिष्यतः ।
मांसवर्षं पुनस्तीव्रमासीत् कृष्णचतुर्दशीम् ।
शोणितैर्वक्त्रसम्पूर्णा अतृप्तास्तत्र राक्षसाः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार अप्रसिद्ध पर्वमें ग्रहण लगनेके कारण ये सूर्य और चन्द्रमा प्रजाका विनाश करनेवाले होंगे । कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको बड़े जोरसे मांसकी वर्षा हुई थी । उस समय राक्षसोंका मुँह रक्तसे भरा हुआ था । वे खून पीते अघाते नहीं थे ॥ ३३ ॥

प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः ।
फेनायमानाः कूपाश्च कूर्दन्ति वृषभा इव ॥ ३४ ॥

बड़ी-बड़ी नदियोंके जल रक्तके समान लाल हो गये हैं और उनकी धारा उल्टे स्रोतकी ओर बहने लगी है। कुँओंसे फेन ऊपरको उठ रहे हैं, मानो वृषभ उछल रहे हों। ३४।

पतन्त्युल्काः सनिर्घाताः शक्राशनिसमप्रभाः।
अद्य चैव निशां व्युष्टामनयं समवाप्स्यथ ॥ ३५ ॥

बिजलीकी कड़कड़के साथ इन्द्रकी अशनिके समान प्रकाशित होनेवाली उल्काएँ गिर रही हैं। आजकी रात बीतनेपर सबेरेसे ही तुमलोगोंको अपने अन्यायका फल मिलने लगेगा ॥ ३५ ॥

विनिःसृत्य महोल्काभिस्तिमिरं सर्वतोदिशम्।
अन्योन्यमुपतिष्ठद्भिस्तत्र चोक्तं महर्षिभिः ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार व्याप्त होनेके कारण बड़ी-बड़ी मशालें जलाकर घरसे निकले हुए महर्षियोंने एक दूसरेके पास उपस्थित हो इन उत्पातोंके सम्बन्धमें अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है ॥ ३६ ॥

भूमिपालसहस्राणां भूमिः पास्यति शोणितम्।
कैलासमन्दराभ्यां तु तथा हिमवता विभो ॥ ३७ ॥
सहस्रशो महाशब्दः शिखराणि पतन्ति च।

जान पड़ता है, यह भूमि सहस्रों भूमिपालोंका रक्तपान करेगी। प्रभो ! कैलास, मन्दराचल तथा हिमालयसे सहस्रों प्रकारके अत्यन्त भयानक शब्द प्रकट होते हैं और उनके शिखर भी टूट-टूटकर गिर रहे हैं ॥ ३७½ ॥

महाभूता भूमिकम्पे चत्वारः सागराः पृथक्।
वेलामुद्वर्तयन्तीव क्षोभयन्तो वसुंधराम् ॥ ३८ ॥

भूकम्प होनेके कारण पृथक्-पृथक् चारों सागर वृद्धिको प्राप्त होकर वसुधामें क्षोभ उत्पन्न करते हुए अपनी सीमाको लाँघते हुए-से जान पड़ते हैं ॥ ३८ ॥

वृक्षानुन्मथ्य वान्त्युग्रा वाताः शर्करकर्षिणः।
आभग्नाः सुमहावातैरशनीभिः समाहताः ॥ ३९ ॥
वृक्षाः पतन्ति चैत्याश्च ग्रामेषु नगरेषु च।

बालू और कंकड़ खींचकर बरसानेवाले भयानक बवंडर उठकर वृक्षोंको उखाड़े डालते हैं। गाँवों तथा नगरोंमें वृक्ष और चैत्यवृक्ष प्रचण्ड आँधियों तथा बिजलीके आघातोंसे टूटकर गिर रहे हैं ॥ ३९½ ॥

नीललोहितपीतश्च भवत्यग्निर्हुतो द्विजैः ॥ ४० ॥
वामार्चिर्दुष्टगन्धश्च मुञ्चन् वै दारुणं स्वनम्।
स्पर्शा गन्धा रसाश्चैव विपरीता महीपते ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणलोगोंके आहुति देनेपर प्रज्वलित हुई अग्नि काले, लाल और पीले रंगकी दिखायी देती है। उसकी लपटें वामावर्त होकर उठ रही हैं। उससे दुर्गन्ध निकलती है और वह भयानक शब्द प्रकट करती रहती है। राजन् ! स्पर्श, गन्ध तथा रस—इन सबकी स्थिति विपरीत हो गयी है॥

धूमं ध्वजाः प्रमुञ्चन्ति कम्पमाना मुहुर्मुहुः।
मुञ्चन्त्यङ्गारवर्षं च भेर्यश्च पटहास्तथा ॥ ४२ ॥

ध्वज बारंबार कम्पित होकर धूआँ छोड़ते हैं नगाड़े अङ्गारोंकी वर्षा करते हैं ॥ ४२ ॥

शिखराणां समृद्धानामुपरिष्टात् समन्ततः।
वायसाश्च रुवन्त्युग्रं वामं मण्डलमाश्रिताः।

फल-फूलसे सम्पन्न वृक्षोंकी शिखाओंपर बा घूम-घूमकर सब ओर कौए बैठते हैं और भयंकर काँ कोलाहल करते हैं ॥ ४३ ॥

पक्वापक्वेति सुभृशं वावाश्यन्ते वयांसि च।
निलीयन्ते ध्वजाग्रेषु क्षयाय पृथिवीक्षिताम्।

बहुत-से पक्षी 'पक्वा-पक्वा' इस शब्दका बारं जोरसे उच्चारण करते और ध्वजाओंके अग्रभागमें छि यह लक्षण राजाओंके विनाशका सूचक है ॥ ४४॥

ध्यायन्तः प्रकिरन्तश्च व्याला वेपथुसंयुताः।
दीनास्तुरङ्गमाः सर्वे वारणाः सलिलाश्रयाः॥

दुष्ट हाथी काँपते और चिन्ता करते हुए मल-मूत्र त्याग कर रहे हैं, घोड़े अत्यन्त दीन हो रहे सम्पूर्ण गजराज पसीने-पसीने हो रहे हैं ॥ ४५ ॥

एतच्छ्रुत्वा भवानत्र प्राप्तकालं व्यवस्यताम्।
यथा लोकः समुच्छेदं नायं गच्छेत भारत॥

भारत ! यह सुनकर (और उसके परिणामपर करके) तुम इस अवसरके अनुरूप ऐसा कोई उपाय जिससे यह संसार विनाशसे बच जाय ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

पितुर्वचो निशम्यैतद् धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम्।
दिष्टमेतत् पुरा मन्ये भविष्यति नरक्षयः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने व्यासजीका यह वचन सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—'भगव तो इसे पूर्वनिश्चित दैवका विधान मानता हूँ; अ जनसंहार होगा ही ॥ ४७ ॥

राजानः क्षत्रधर्मेण यदि वध्यन्ति संयुगे।
वीरलोकं समासाद्य सुखं प्राप्स्यन्ति केवलम् ॥

'यदि राजालोग क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध जायँगे तो वीरलोकको प्राप्त होकर केवल सुखके भागी हैं

इह कीर्तिं परे लोके दीर्घकालं महत् सुखम्।
प्राप्स्यन्ति पुरुषव्याघ्राः प्राणांस्त्यक्त्वा महाहवे॥

'वे पुरुषसिंह नरेश महायुद्धमें प्राणोंका परित्याग इहलोकमें कीर्ति तथा परलोकमें दीर्घकालतक महान् प्राप्त करेंगे' ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो मुनिस्तत्त्वं कवीन्द्रो राजसत्तम।
धृतराष्ट्रेण पुत्रेण ध्यानमन्वगमत् परम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! अपने

धृतराष्ट्रके इस प्रकार यथार्थ बात कहनेपर ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महर्षि व्यास कुछ देरतक बड़े सोच-विचारमें पड़े रहे ॥ ५० ॥

स मुहूर्तं तथा ध्यात्वा पुनरेवाब्रवीद् वचः।
असंशयं पार्थिवेन्द्र कालः संक्षिपते जगत् ॥ ५१ ॥
सृजते च पुनर्लोकान् नेह विद्यति शाश्वतम्।

दो घड़ीतक चिन्तन करनेके बाद वे पुनः इस प्रकार बोले—'राजेन्द्र ! इसमें संशय नहीं है कि काल ही इस जगत्‌का संहार करता है और वही पुनः इन सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करता है। यहाँ कोई वस्तु सदा रहनेवाली नहीं है ॥५१½॥

ज्ञातीनां वै कुरूणां च सम्बन्धिसुहृदां तथा ॥५२॥
धर्म्यं देशय पन्थानं समर्थो ह्यसि वारणे।
क्षुद्रं जातिवधं प्राहुर्मा कुरुष्व ममाप्रियम् ॥ ५३ ॥

'राजन् ! तुम अपने जाति-भाई, कौरवों, सगे-सम्बन्धियों तथा हितैषी-सुहृदोंको धर्मानुकूल मार्गका उपदेश करो; क्योंकि तुम उन सबको रोकनेमें समर्थ हो। जाति-वधको अत्यन्त नीच कर्म बताया गया है। वह मुझे अत्यन्त अप्रिय है। तुम यह अप्रिय कार्य न करो ॥ ५२-५३ ॥

कालोऽयं पुत्ररूपेण तव जातो विशाम्पते।
न वधः पूज्यते वेदे हितं नैव कथंचन ॥ ५४ ॥

'महाराज ! यह काल तुम्हारे पुत्ररूपसे उत्पन्न हुआ है। वेदमें हिंसाकी प्रशंसा नहीं की गयी है। हिंसासे किसी प्रकार हित नहीं हो सकता ॥ ५४ ॥

हन्यात् स एनं यो हन्यात् कुलधर्मं स्विकां तनुम्।
कालेनोत्पथगन्तासि शक्ये सति यथाऽऽपदि ॥ ५५॥

'कुल-धर्म अपने शरीरके ही समान है। जो इस कुल-धर्मका नाश करता है, उसे वह धर्म ही नष्ट कर देता है। जबतक धर्मका पालन सम्भव है (जबतक तुमपर कोई आपत्ति नहीं आयी है), तबतक तुम कालसे प्रेरित होकर ही धर्मकी अवहेलना करके कुमार्गपर चल रहे हो, जैसा कि बहुधा लोग किसी आपत्तिमें पड़नेपर ही करते हैं ॥ ५५ ॥

कुलस्यास्य विनाशाय तथैव च महीक्षिताम्।
अनर्थो राज्यरूपेण तव जातो विशाम्पते ॥ ५६ ॥

'राजन् ! तुम्हारे कुलका तथा अन्य बहुत-से राजाओंका विनाश करनेके लिये यह तुम्हारे राज्यके रूपमें अनर्थ ही प्राप्त हुआ है ॥ ५६ ॥

लुप्तधर्मा परेणासि धर्मं दर्शय वै सुतान्।
किं ते राज्येन दुर्धर्ष येन प्राप्तोऽसि किल्बिषम् ॥ ५७ ॥

'तुम्हारा धर्म अत्यन्त लुप्त हो गया है। अपने पुत्रोंको धर्मका मार्ग दिखाओ। दुर्धर्ष वीर ! तुम्हें राज्य लेकर क्या करना है, जिसके लिये अपने ऊपर पापका बोझ लाद रहे हो ?॥

यशो धर्मं च कीर्तिं च पालयन् स्वर्गमाप्स्यसि।
लभन्तां पाण्डवा राज्यं शमं गच्छन्तु कौरवाः ॥५८॥

'तुम मेरी बात माननेपर यश, धर्म और कीर्तिका पालन करते हुए स्वर्ग प्राप्त कर लोगे। पाण्डवोंको उनके राज्य प्राप्त हों और समस्त कौरव आपसमें संधि करके शान्त हो जायँ' ५८

एवं ब्रुवति विप्रेन्द्रे धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
आक्षिप्य वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यं चैवाब्रवीत् पुनः॥५९॥

विप्रवर व्यासजी जब इस प्रकार उपदेश दे रहे थे, उसी समय बोलनेमें चतुर अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने बीचमें ही उनकी बात काटकर उनसे इस प्रकार कहा ॥ ५९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यथा भवान् वेत्ति तथैव वेत्ता
भावाभावौ विदितौ मे यथार्थौ।
स्वार्थे हि सम्मुह्यति तात लोको
मां चापि लोकात्मकमेव विद्धि ॥ ६० ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! जैसा आप जानते हैं, उसी प्रकार मैं भी इन बातोंको समझता हूँ। भाव और अभावका यथार्थ स्वरूप मुझे भी ज्ञात है, तथापि यह संसार अपने स्वार्थके लिये मोहमें पड़ा रहता है। मुझे भी संसारसे अभिन्न ही समझें॥

प्रसादये त्वामतुलप्रभावं
त्वं नो गतिर्दर्शयिता च धीरः।
न चापि ते मद्वशगा महर्षे
न चाधर्मं कर्तुमर्हा हि मे मतिः ॥ ६१ ॥

आपका प्रभाव अनुपम है। आप हमारे आश्रय, मार्गदर्शक तथा धीर पुरुष हैं। मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। महर्षे ! मेरी बुद्धि भी अधर्म करना नहीं चाहती; परंतु क्या करूँ ? मेरे पुत्र मेरे वशमें नहीं हैं ॥ ६१ ॥

त्वं हि धर्मप्रवृत्तिश्च यशः कीर्तिश्च भारती।
कुरूणां पाण्डवानां च मान्यश्चापि पितामहः ॥ ६२ ॥

आप ही हम भरतवंशियोंकी धर्म-प्रवृत्ति, यश तथा कीर्तिके हेतु हैं। आप कौरवों और पाण्डवों—दोनोंके माननीय पितामह हैं ॥ ६२ ॥

व्यास उवाच

वैचित्रवीर्य नृपते यत् ते मनसि वर्तते।
अभिधत्स्व यथाकामं छेत्तासि तव संशयम् ॥ ६३ ॥

व्यासजी बोले—विचित्रवीर्यकुमार ! नरेश्वर ! तुम्हारे मनमें जो संदेह है, उसे अपनी इच्छाके अनुसार प्रकट करो। मैं तुम्हारे संशयका निवारण करूँगा ॥ ६३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानि लिङ्गानि संग्रामे भवन्ति विजयिष्यताम्।
तानि सर्वाणि भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ६४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—भगवन् ! युद्धमें निश्चितरूपसे विजय पानेवाले लोगोंको जो शुभ लक्षण दीख पड़ते हैं, उन सबको यथार्थरूपसे सुननेकी मेरी इच्छा है ॥ ६४ ॥

व्यास उवाच

प्रसन्नभाः पावक ऊर्ध्वरश्मिः
प्रदक्षिणावर्तशिखो विधूमः ।
पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां प्रवान्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ६५ ॥

व्यासजीने कहा—अग्निकी प्रभा निर्मल हो, उसकी लपटें ऊपरकी ओर दक्षिणावर्त होकर उठें और धूआँ बिल्कुल न रहे; साथ ही अग्निमें जो आहुतियाँ डाली जायँ, उनकी पवित्र सुगन्ध वायुमें मिलकर सर्वत्र व्याप्त होती रहे—यह भावी विजयका स्वरूप (लक्षण) बताया गया है ॥ ६५ ॥

गम्भीरघोषाश्च महास्वनाश्च
शङ्खा मृदङ्गाश्च नदन्ति यत्र ।
विशुद्धरश्मिस्तपनः शशी च
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ६६ ॥

जिस पक्षमें शङ्खों और मृदङ्गोंकी गम्भीर आवाज बड़े जोर-जोरसे हो रही हो तथा जिन्हें सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें विशुद्ध प्रतीत होती हों, उनके लिये यह भावी विजयका शुभ लक्षण बताया है ॥ ६६ ॥

इष्टा वाचः प्रसृता वायसानां
सम्प्रस्थितानां च गमिष्यतां च ।
ये पृष्ठतस्ते त्वरयन्ति राजन्
ये चाग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति ॥ ६७ ॥

जिनके प्रस्थित होनेपर अथवा प्रस्थानके लिये उद्यत होनेपर कौवोंकी मीठी आवाज फैलती है, उनकी विजय सूचित होती है; राजन्! जो कौवे पीछे बोलते हैं, वे मानो सिद्धिकी सूचना देते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़नेके लिये प्रेरित करते हैं और जो सामने बोलते हैं, वे मानो युद्धमें जानेसे रोकते हैं ॥ ६७ ॥

कल्याणवाचः शकुना राजहंसाः
शुकाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च यत्र ।
प्रदक्षिणाश्चैव भवन्ति संख्ये
ध्रुवं जयस्तत्र वदन्ति विप्राः ॥ ६८ ॥

जहाँ शुभ एवं कल्याणमयी बोली बोलनेवाले राजहंस, शुक, क्रौञ्च तथा शतपत्र (मोर) आदि पक्षी सैनिकोंकी प्रदक्षिणा करते हैं (दाहिने जाते हैं), उस पक्षकी युद्धमें निश्चितरूपसे विजय होती है, यह ब्राह्मणोंका कथन है ॥ ६८ ॥

अलङ्कारैः कवचैः केतुभिश्च
सुखप्रणादैर्हेषितैर्वा हयानाम् ।
भ्राजिष्मती दुष्प्रतिवीक्षणीया
येषां चमूस्ते विजयन्ति शत्रून् ॥ ६९ ॥

अलङ्कार, कवच, ध्वजा-पताका, सुखपूर्वक किये जानेवाले सिंहनाद अथवा घोड़ोंके हिनहिनानेकी आवाजसे जिनकी सेना अत्यन्त शोभायमान होती है तथा शत्रुओंको सेनाकी ओर देखना भी कठिन जान पड़ता है, वे अपने विपक्षियोंपर विजय पाते हैं ॥ ६९ ॥

हृष्टा वाचस्तथा सत्त्वं योधानां यत्र भारत।
न म्लायन्ति स्रजश्चैव ते तरन्ति रणोदधिम् ॥

भारत ! जिस पक्षके योद्धाओंकी बातें हर्ष और परिपूर्ण होती हैं, मन प्रसन्न रहता है तथा जिनके क हुई पुष्पमालाएँ कुम्हलाती नहीं हैं, वे युद्धरूपी मह पार हो जाते हैं ॥ ७० ॥

इष्टा वाचः प्रविष्टस्य दक्षिणाः प्रविविक्षतः।
पश्चात् संधारयन्त्यर्थमग्रे च प्रतिषेधिकाः ॥

जिस पक्षके योद्धा शत्रुकी सेनामें प्रवेश करने करते समय अथवा उसमें प्रवेश कर लेनेपर अभीष्ट (मैं तुझे अभी मार भगाता हूँ इत्यादि शौर्यसूचक बोलते हैं और अपने रणकौशलका परिचय देते हैं, प्राप्त होनेवाली अपनी विजयको पहलेसे ही निश्चित क हैं। इसके विपरीत जिन्हें शत्रुसेनामें प्रवेश करते समय से निषेधसूचक वचन सुननेको मिलते हैं, उनकी पराजय

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धाश्चाविकृताः शुभाः।
सदा हर्षश्च योधानां जयतामिह लक्षणम् ॥

जिनके शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श निर्विकार एवं शुभ होते हैं तथा जिन योद्धाओंके हृदय हर्ष और उत्साह बना रहता है, उनके विजयी होने शुभ लक्षण है ॥ ७२ ॥

अनुगा वायवो वान्ति तथाभ्राणि वयांसि च।
अनुप्लवन्ति मेघाश्च तथैवेन्द्रधनूंषि च ॥
एतानि जयमानानां लक्षणानि विशाम्पते।
भवन्ति विपरीतानि मुमूर्षूणां जनाधिप ॥

राजन् ! हवा जिनके अनुकूल बहती है, बादल पक्षी भी जिनके अनुकूल होते हैं, मेघ जिनके पीछे-पीछे छाया किये चलते हैं तथा इन्द्रधनुष भी जिन्हें अ दिशामें ही दृष्टिगोचर होते हैं, उन विजयी वीरोंके वि विजयके शुभ लक्षण हैं। जनेश्वर! मरणासन्न मनुष्योंको विपरीत अशुभ लक्षण दिखायी देते हैं ॥ ७३-७४ ॥

अल्पायां वा महत्यां वा सेनायामिति निश्चयः।
हर्षो योधगणस्यैको जयलक्षणमुच्यते ॥

सेना छोटी हो या बड़ी, उसमें सम्मिलित हुए सैनिकोंका एकमात्र हर्ष ही निश्चितरूपसे विजयका बताया जाता है ॥ ७५ ॥

एको दीर्णो दारयति सेनां सुमहतीमपि।
तां दीर्णामनुदीर्यन्ते योधाः शूरतरा अपि ॥

यदि सेनाका एक सैनिक भी उत्साहहीन होकर हटे तो वह अपनी ही देखा-देखी अत्यन्त विशाल

भी भगा देता है (उसके भागनेमें कारण बन जाता है)। उस सेनाके पलायन करनेपर बड़े-बड़े शूरवीर सैनिक भी भागनेको विवश होते हैं ॥ ७६ ॥

दुर्निवर्त्या तदा चैव प्रभग्ना महती चमूः ।
अपामिव महावेगास्त्रस्ता मृगगणा इव ॥ ७७ ॥

जब बड़ी भारी सेना भागने लगती है, तब डरकर भागे हुए मृगोंके झुंड तथा नीची भूमिकी ओर बहनेवाले जलके महान् वेगकी भाँति उसे पीछे लौटाना बहुत कठिन है ॥७७॥

नैव शक्या समाधातुं संनिपाते महाचमूः ।
दीर्णमित्येव दीर्यन्ते सुविद्वांसोऽपि भारत ॥ ७८ ॥

भरतनन्दन ! विशाल सेनामें जब भगदड़ मच जाती है, तब उसे समझा-बुझाकर रोकना कठिन हो जाता है । सेना भाग रही है, इतना सुनकर ही बड़े-बड़े युद्धविद्याके विद्वान् भी भागने लगते हैं ॥ ७८ ॥

भीतान् भग्नांश्च सम्प्रेक्ष्य भयं भूयोऽभिवर्धते ।
प्रभग्ना सहसा राजन् दिशो विद्रवते चमूः ॥ ७९ ॥

राजन् ! भयभीत होकर भागते हुए सैनिकोंको देखकर अन्य योद्धाओंका भय बहुत अधिक बढ़ जाता है; फिर तो सहसा सारी सेना हतोत्साह होकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगती है ॥ ७९ ॥

नैव स्थापयितुं शक्या शूरैरपि महाचमूः ।
सत्कृत्य महतीं सेनां चतुरङ्गां महीपतिः ।
उपायपूर्वं मेधावी यतेत सततोत्थितः ॥ ८० ॥

उस समय बहुत-से शूर-वीर भी उस विशाल वाहिनीको रोककर खड़ी नहीं रख सकते । इसलिये बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि वह सतत सावधान रहकर कोई-न-कोई उपाय करके अपनी विशाल चतुरंगिणी सेनाको विशेष सत्कारपूर्वक स्थिर रखनेका यत्न करे ॥ ८० ॥

उपायविजयं श्रेष्ठमाहुर्भेदेन मध्यमम् ।
जघन्य एष विजयो यो युद्धेन विशाम्पते ॥ ८१ ॥

राजन् ! साम-दानरूप उपायसे जो विजय प्राप्त होती है, उसे श्रेष्ठ बताया गया है । भेदनीतिके द्वारा शत्रुसेनामें फूट डालकर जो विजय प्राप्त की जाती है, वह मध्यम है तथा युद्धके द्वारा मार-काट मचाकर जो शत्रुको पराजित किया जाता है, वह सबसे निम्नश्रेणीकी विजय है ॥ ८१ ॥

महादोषः संनिपातस्तस्याद्यः क्षय उच्यते ।
परस्परज्ञाः संहृष्टा व्यवधूताः सुनिश्चिताः ॥ ८२ ॥
पञ्चाशदपि ये शूरा मृद्नन्ति महतीं चमूम् ।
अपि वा पञ्च षट् सप्त विजयन्त्यनिवर्तिनः ॥ ८३ ॥

युद्ध महान् दोषका भण्डार है । उन दोषोंमें सबसे प्रधान है जनसंहार । यदि एक दूसरेको जाननेवाले, हर्ष और उत्साहमें भरे रहनेवाले, कहीं भी आसक्त न होकर विजय-प्राप्तिका दृढ़ निश्चय रखनेवाले तथा शौर्यसम्पन्न पचास सैनिक भी हों तो वे बड़ी भारी सेनाको धूलमें मिला देते हैं । यदि पीछे पैर न हटानेवाले पाँच, छः और सात ही योद्धा हों तो वे भी निश्चितरूपसे विजयी होते हैं ॥ ८२-८३ ॥

न वैनतेयो गरुडः प्रशंसति महाजनम् ।
दृष्ट्वा सुपर्णोऽपचितिं महत्या अपि भारत ॥ ८४ ॥

भारत ! सुन्दर पंखोंवाले विनतानन्दन गरुड़ विशाल सेनाका भी विनाश होता देखकर अधिक जनसमूहकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ८४ ॥

न बाहुल्येन सेनाया जयो भवति नित्यशः ।
अध्रुवो हि जयो नाम दैवं चात्र परायणम् ।
जयवन्तो हि संग्रामे कृतकृत्या भवन्ति हि ॥ ८५ ॥

सदा अधिक सेना होनेसे ही विजय नहीं होती है । युद्धमें जीत प्रायः अनिश्चित होती है। उसमें दैव ही सबसे बड़ा सहारा है। जो संग्राममें विजयी होते हैं, वे ही कृतकार्य होते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि निमित्ताख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें अमङ्गलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णनविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजयके द्वारा भूमिके महत्त्वका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो धृतराष्ट्राय धीमते ।
धृतराष्ट्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे ऐसा कहकर महर्षि व्यासजी चले गये । धृतराष्ट्र भी उनके पूर्वोक्त वचन सुनकर कुछ कालतक उनपर सोच-विचार करते रहे ॥ १ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः ।
संजयं संशितात्मानमपृच्छद् भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! दो घड़ीतक सोचने-विचारनेके पश्चात् बारंबार लम्बी साँस खींचते हुए उन्होंने विशुद्ध हृदयवाले संजयसे पूछा—॥ २ ॥

संजयेमे महीपालाः शूरा युद्धाभिनन्दिनः ।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्ति शस्त्रैरुच्चावचैरिह ॥ ३ ॥
पार्थिवाः पृथिवीहेतोः समभित्यज्य जीवितम् ।
न वा शाम्यन्ति निघ्नन्तो वर्धयन्ति यमक्षयम् ॥ ४ ॥
भौममैश्वर्यमिच्छन्तो न मृष्यन्ते परस्परम् ।
मन्ये बहुगुणा भूमिस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ५ ॥

'संजय ! पृथ्वीका पालन करनेवाले ये शूरवीर नरेश इस भूमिके लिये ही अपना जीवन निछावर करके युद्धका अभिनन्दन करते और छोटे-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा एक दूसरेपर घातक प्रहार करते हैं । इस भूतलके ऐश्वर्यको स्वयं ही चाहते हुए वे एक दूसरेको सहन नहीं कर पाते हैं । परस्पर प्रहार करते हुए यमलोककी जनसंख्या बढ़ाते हैं, परंतु शान्त नहीं होते हैं । अतः मैं ऐसा मानता हूँ कि यह भूमि बहुसंख्यक गुणोंसे विभूषित है । इसलिये संजय ! तुम मुझसे इस भूमिके गुणोंका ही वर्णन करो ॥ ३—५ ॥

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
कोट्यश्च लोकवीराणां समेताः कुरुजाङ्गले ॥ ६ ॥

'कुरुक्षेत्रमें इस जगत्के कई हजार, लाख, करोड़ और अरबों वीर एकत्र हुए हैं ॥ ६ ॥

देशानां च परीमाणं नगराणां च संजय ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यत एते समागताः ॥ ७ ॥

'संजय ! ये लोग जहाँ-जहाँसे आये हैं, उन देशों और नगरोंका यथार्थ परिमाण मैं तुमसे सुनना चाहता हूँ ॥ ७ ॥

दिव्यबुद्धिप्रदीपेन युक्तस्त्वं ज्ञानचक्षुषा ।
प्रभावात् तस्य विप्रर्षेर्व्यासस्यामिततेजसः ॥ ८ ॥

'क्योंकि तुम अमित तेजस्वी ब्रह्मर्षि व्यासजीके प्रभावसे दिव्य बुद्धिरूपी प्रदीपसे प्रकाशित ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न हो गये हो' ॥ ८ ॥

संजय उवाच

यथाप्रज्ञं महाप्राज्ञ भौमान् वक्ष्यामि ते गुणान् ।
शास्त्रचक्षुरवेक्षस्व नमस्ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥

संजयने कहा—महाप्राज्ञ ! मैं अपनी बुद्धिके अनुसार आपसे इस भूमिके गुणोंका वर्णन करूँगा । भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है; आप शास्त्रदृष्टिसे इस विषयको देखिये और समझिये ॥ ९ ॥

द्विविधानीह भूतानि चराणि स्थावराणि च ।
त्रसानां त्रिविधा योनिरण्डस्वेदजरायुजाः ॥ १० ॥

राजन् ! इस पृथ्वीपर दो तरहके प्राणी उपलब्ध हैं—स्थावर और जङ्गम । जङ्गम प्राणियोंकी उत्पत्तिके तीन स्थान हैं—अण्डज, स्वेदज और जरायुज ॥ १० ॥

त्रसानां खलु सर्वेषां श्रेष्ठा राजन् जरायुजाः ।
जरायुजानां प्रवरा मानवाः पशवश्च ये ॥ ११ ॥

राजन् ! सम्पूर्ण जङ्गम जीवोंमें जरायुज श्रेष्ठ माने गये हैं, जरायुजोंमें भी मनुष्य और पशु उत्तम हैं ॥ ११ ॥

नानारूपधरा राजंस्तेषां भेदाश्चतुर्दश ।
वेदोक्ताः पृथिवीपाल येषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ १

वे नाना प्रकारकी आकृतिवाले होते हैं । राजन् ! चौदह भेद हैं, जो वेदोंमें बताये गये हैं । भूपाल ! यज्ञोंकी प्रतिष्ठा है ॥ १२ ॥

ग्राम्याणां पुरुषाः श्रेष्ठाः सिंहाश्चारण्यवासिनाम् ।
सर्वेषामेव भूतानामन्योन्येनोपजीवनम् ॥

ग्रामवासी पशु और मनुष्योंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं और पशुओंमें सिंह श्रेष्ठ हैं । समस्त प्राणियोंका जीवन-निर्वा दूसरेके सहयोगसे होता है ॥ १३ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः प्रोक्तास्तेषां पञ्चैव जातयः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥ १

स्थावरोंको उद्भिज्ज कहते हैं । उनकी पाँच ही हैं—वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली और त्वक्सार (बाँस आ ये सब तृणवर्गकी जातियाँ हैं ॥ १४ ॥

तेषां विंशतिरेकोना महाभूतेषु पञ्चसु ।
चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गायत्री लोकसम्मता ॥ १

ये स्थावर-जङ्गमरूप उन्नीस प्राणी हैं । इनके पाँच महाभूतोंको गिन लेनेपर इनकी संख्या चौबीस हो है । गायत्रीके भी चौबीस ही अक्षर होते हैं । इसलिये चौबीस भूतोंको भी लोकसम्मत गायत्री कहा गया है ॥

य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति ॥ १

भरतश्रेष्ठ ! जो लोकमें स्थित इस सर्वगुण पुण्यमयी गायत्रीको यथार्थरूपसे जानता है, वह कभी नहीं होता ॥ १६ ॥

अरण्यवासिनः सप्त सप्तैषां ग्रामवासिनः ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च महिषा वारणास्तथा ॥ १
ऋक्षाश्च वानराश्चैव सप्तारण्याः स्मृता नृप ।

नरेश्वर! उपर्युक्त चौदह प्रकारके जरायुज प्राणियोंमें वन पशु सात हैं और ग्रामवासी भी सात ही हैं । सिंह, व्याघ्र, महिष, गज, रीछ और वानर—ये सात वनवासी पशु माने गये

गौरजाविमनुष्याश्च अश्वाश्वतरगर्दभाः ॥ १
एते ग्राम्याः समाख्याताः पशवः सप्त साधुभिः ।
एते वै पशवो राजन् ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ॥ १

गाय, बकरी, भेड़, मनुष्य, घोड़े, खच्चर और गदहे इन सात पशुओंको साधु पुरुषोंने ग्रामवासी बताया राजन् ! इस प्रकार ये ग्रामवासी और वनवासी मिलकर चौदह पशु कहे गये हैं ॥ १८-१९ ॥

भूमौ च जायते सर्वं भूमौ सर्वं विनश्यति ।
भूमिः प्रतिष्ठा भूतानां भूमिरेव परायणम् ॥ २

सब कुछ इस भूमिपर ही उत्पन्न होता है और भूमिमें ही विलीन होता है। भूमि ही सब प्राणियोंकी प्रतिष्ठा और भूमि ही सबका परम आश्रय है ॥ २० ॥

यस्य भूमिस्तस्य सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
तत्रातिगृद्धा राजानो विनिघ्नन्तीतरेतरम् ॥ २१ ॥

जिसके अधिकारमें भूमि है, उसीके अधिकारमें सम्पूर्ण चराचर जगत् है, इसीलिये भूमिके प्रति आसक्ति रखनेवाले राजालोग एक-दूसरेको मारते हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भौमगुणकथने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भूमिगुणवर्णनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतों तथा सुदर्शनद्वीपका संक्षिप्त वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

नदीनां पर्वतानां च नामधेयानि संजय।
तथा जनपदानां च ये चान्ये भूमिमाश्रिताः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! नदियों, पर्वतों तथा जनपदोंके और दूसरे भी जो पदार्थ इस भूतलपर आश्रित हैं, उन सबके नाम बताओ ॥ १ ॥

प्रमाणं च प्रमाणज्ञ पृथिव्या मम सर्वतः।
निखिलेन समाचक्ष्व काननानि च संजय ॥ २ ॥

प्रमाणवेत्ता संजय ! तुम सारी पृथ्वीका पूरा प्रमाण (लम्बाई-चौड़ाईका माप) मुझे बताओ । साथ ही यहाँके वनोंका भी वर्णन करो ॥ २ ॥

संजय उवाच

पञ्चेमानि महाराज महाभूतानि संग्रहात्।
जगतीस्थानि सर्वाणि समान्याहुर्मनीषिणः ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज ! इस पृथ्वीपर रहनेवाली जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब संक्षेपसे पञ्चमहाभूतस्वरूप हैं। इसीलिये मनीषी पुरुष उन सबको 'सम' कहते हैं॥

भूमिरापस्तथा वायुरग्निराकाशमेव च।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां भूमिः प्रधानतः ॥ ४ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि—ये पञ्च महाभूत हैं। आकाशसे लेकर भूमितक जो पञ्चमहाभूतोंका क्रम है, उसमें पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सब भूतोंमें एक-एक गुण अधिक होते हैं। इन सब भूतोंमें भूमिकी प्रधानता है ॥ ४ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
भूमेरेते गुणाः प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्ववेदिभिः ॥ ५ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचोंको तत्त्ववेत्ता महर्षियोंने पृथ्वीका गुण बताया है ॥ ५ ॥

चत्वारोऽप्सु गुणा राजन् गन्धस्तत्र न विद्यते।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः।
शब्दःस्पर्शश्च वायोस्तु आकाशे शब्द एव तु ॥ ६ ॥

राजन् ! जलमें चार ही गुण हैं। उसमें गन्धका अभाव है। तेजके शब्द, स्पर्श तथा रूप—ये तीन गुण हैं। वायुके शब्द और स्पर्श दो ही गुण हैं और आकाशका एक मात्र शब्द ही गुण है ॥ ६ ॥

एते पञ्च गुणा राजन् महाभूतेषु पञ्चसु।
वर्तन्ते सर्वलोकेषु येषु भूताः प्रतिष्ठिताः ॥ ७ ॥

राजन् ! ये पाँच गुण सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयभूत पञ्चमहाभूतोंमें रहते हैं। जिनमें समस्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं ॥ ७ ॥

अन्योन्यं नाभिवर्तन्ते साम्यं भवति वै यदा ॥ ८ ॥

ये पाँचों गुण जब साम्यावस्थामें रहते हैं, तब एक-दूसरेसे संयुक्त नहीं होते हैं ॥ ८ ॥

यदा तु विषमीभावमाविशन्ति परस्परम्।
तदा देहैर्देहवन्तो व्यतिरोहन्ति नान्यथा ॥ ९ ॥

जब ये विषमभावको प्राप्त होते हैं, तब एक-दूसरेसे मिल जाते हैं। उस समय ही देहधारी प्राणी अपने शरीरोंसे संयुक्त होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ९ ॥

आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः।
सर्वाण्यपरिमेयाणि तदेषां रूपमैश्वरम् ॥ १० ॥

ये सब भूत क्रमसे नष्ट होते और क्रमसे ही उत्पन्न होते हैं (पृथ्वी आदिके क्रमसे इनका लय होता है और आकाश आदिके क्रमसे इनका प्रादुर्भाव)। ये सब अपरिमेय हैं। इनका रूप ईश्वरकृत है ॥ १० ॥

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः।
तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते ॥ ११ ॥

भिन्न-भिन्न लोकोंमें पाञ्चभौतिक धातु दृष्टिगोचर होते हैं। मनुष्य तर्कके द्वारा उनके प्रमाणोंका प्रतिपादन करते हैं ॥

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत् तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

परंतु जो अचिन्त्य भाव हैं, उन्हें तर्कसे सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। जो प्रकृतिसे परे है, वही अचिन्त्यस्वरूप है ॥ १२ ॥

सुदर्शनं प्रवक्ष्यामि द्वीपं तु कुरुनन्दन।
परिमण्डलो महाराज द्वीपोऽसौ चक्रसंस्थितः ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! अब मैं सुदर्शन नामक द्वीपका वर्णन

---

१. एक समान।

करूँगा। महाराज! वह द्वीप चक्रकी भाँति गोलाकार स्थित है ॥

नदीजलप्रतिच्छन्नः पर्वतैश्चाभ्रसंनिभैः।
पुरैश्च विविधाकारै रम्यैर्जनपदैस्तथा ॥ १४ ॥
वृक्षैः पुष्पफलोपेतैः सम्पन्नधनधान्यवान्।
लवणेन समुद्रेण समन्तात् परिवारितः ॥ १५ ॥

वह नाना प्रकारकी नदियोंके जलसे आच्छादित, मेघके समान उच्चतम पर्वतोंसे सुशोभित, भाँति-भाँतिके नगरों, रमणीय जनपदों तथा फल-फूलसे भरे हुए वृक्षोंसे विभूषित है। यह द्वीप भाँति-भाँतिकी सम्पदाओं तथा धन-धान्यसे सम्पन्न है। उसे सब ओरसे लवणसमुद्रने घेर रक्खा है ॥

यथा हि पुरुषः पश्येदादर्शे मुखमात्मनः।
एवं सुदर्शनद्वीपो दृश्यते चन्द्रमण्डले ॥ १६ ॥

जैसे पुरुष दर्पणमें अपना मुँह देखता है, उसी सुदर्शनद्वीप चन्द्रमण्डलमें दिखायी देता है ॥ १६ ॥

द्विरंशे पिप्पलस्तत्र द्विरंशे च शशो महान्।
सर्वौषधिसमावायः सर्वतः परिवारितः ॥

इसके दो अंशमें पिप्पल और दो अंशमें महा दृष्टिगोचर होता है। इनके सब ओर सम्पूर्ण ओष समुदाय फैला हुआ है ॥ १७ ॥

आपस्ततोऽन्या विज्ञेयाः शेषः संक्षेप उच्यते।
ततोऽन्य उच्यते चायमेनं संक्षेपतः शृणु ॥

इन सबको छोड़कर शेष स्थान जलमय समझना चा इससे भिन्न संक्षिप्त भूमिखण्ड बताया जाता है। उस त मैं संक्षेपसे वर्णन करता हूँ, उसे सुनिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि सुदर्शनद्वीपवर्णने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें सुदर्शनद्वीपवर्णनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

सुदर्शनके वर्ष, पर्वत, मेरुगिरि, गङ्गानदी तथा शशाकृतिका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

उक्तो द्वीपस्य संक्षेपो विधिवद् बुद्धिमंस्त्वया।
तत्त्वज्ञश्चासि सर्वस्य विस्तरं ब्रूहि संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बुद्धिमान् संजय! तुमने सुदर्शनद्वीपका विधिपूर्वक थोड़ेमें ही वर्णन कर दिया, परंतु तुम तो तत्त्वोंके ज्ञाता हो; अतः इस सम्पूर्ण द्वीपका विस्तारके साथ वर्णन करो ॥ १ ॥

यावान् भूम्यवकाशोऽयं दृश्यते शशलक्षणे।
तस्य प्रमाणं प्रब्रूहि ततो वक्ष्यसि पिप्पलम् ॥ २ ॥

चन्द्रमाके शश-चिह्नमें भूमिका जितना अवकाश दृष्टिगोचर होता है, उसका प्रमाण बताओ। तत्पश्चात् पिप्पलस्थानका वर्णन करना ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं राज्ञा स पृष्टस्तु संजयो वाक्यमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर संजयने कहना आरम्भ किया ॥ २½ ॥

संजय उवाच

प्रागायता महाराज षडेते वर्षपर्वताः।
अवगाढा ह्युभयतः समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज! पूर्व दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर फैले हुए ये छः वर्ष पर्वत हैं, जो दोनों ओर पूर्व तथा पश्चिम समुद्रमें घुसे हुए हैं ॥ ३ ॥

हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्च नगोत्तमः।
नीलश्च वैदूर्यमयः श्वेतश्च शशिसंनिभः ॥ ४ ॥
सर्वधातुविचित्रश्च शृङ्गवान् नाम पर्वतः।
एते वै पर्वता राजन् सिद्धचारणसेविताः ॥ ५ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—हिमवान्, हेमकूट, प निषध, वैदूर्यमणिमय नीलगिरि, चन्द्रमाके समान उ श्वेतगिरि तथा सब धातुओंसे सम्पन्न होकर विचित्र धारण करनेवाला शृङ्गवान् पर्वत। राजन्! ये छः सिद्धों तथा चारणोंके निवासस्थान हैं ॥ ४-५ ॥

एषामन्तरविष्कम्भो योजनानि सहस्रशः।
तत्र पुण्या जनपदास्तानि वर्षाणि भारत ॥

भरतनन्दन! इनके बीचका विस्तार सहस्रों योज वहाँ भिन्न-भिन्न वर्ष (खण्ड) हैं और उनमें बहुत-से जनपद हैं ॥ ६ ॥

वसन्ति तेषु सत्त्वानि नानाजातीनि सर्वशः।
इदं तु भारतं वर्षं ततो हैमवतं परम् ॥

उनमें सब ओर नाना जातियोंके प्राणी निवास कर उनमेंसे यह भारतवर्ष है। इसके बाद हिमालयसे हैमवतवर्ष है ॥ ७ ॥

हेमकूटात् परं चैव हरिवर्षं प्रचक्षते।
दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु ॥
प्रागायतो महाभाग माल्यवान् नाम पर्वतः।
ततः परं माल्यवतः पर्वतो गन्धमादनः ॥

हेमकूट पर्वतसे आगे हरिवर्षकी स्थिति बतायी जा महाभाग! नीलगिरिके दक्षिण और निषधपर्वतके उत्तर पश्चिमकी ओर फैला हुआ माल्यवान् नामक पर्व माल्यवान्से आगे गन्धमादन पर्वत है ॥ ८-९ ॥

परिमण्डलस्तयोर्मध्ये मेरुः कनकपर्वतः।
आदित्यतरुणाभासो विधूम इव पावकः ॥

इन दोनोंके बीचमें मण्डलाकार सुवर्णमय मेरुपर्वत है, जो प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशमान तथा धूमरहित अग्निके समान कान्तिमान् है ॥ १० ॥

योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिरुच्छ्रितः ।
अधस्ताच्चतुरशीतिर्योजनानां महीपते ॥ ११ ॥

उसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है । राजन् ! वह नीचे भी चौरासी हजार योजनतक पृथ्वीके भीतर घुसा हुआ है॥

ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च लोकानावृत्य तिष्ठति ।
तस्य पार्श्वेष्वमी द्वीपाश्चत्वारः संस्थिता विभो ॥ १२ ॥

प्रभो ! मेरुपर्वत ऊपर-नीचे तथा अगल-बगल सम्पूर्ण लोकोंको आवृत करके खड़ा है । उसके पार्श्वभागमें ये चार द्वीप बसे हुए हैं ॥ १२ ॥

भद्राश्वः केतुमालश्च जम्बूद्वीपश्च भारत ।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्यप्रतिश्रयाः ॥ १३ ॥

भारत ! उनके नाम ये हैं—भद्राश्व, केतुमाल, जम्बूद्वीप तथा उत्तरकुरु । उत्तरकुरु द्वीपमें पुण्यात्मा पुरुषोंका निवास है॥

विहगः सुमुखो यस्तु सुपर्णस्यात्मजः किल ।
स वै विचिन्तयामास सौवर्णान् वीक्ष्य वायसान् ॥१४॥
मेरुरुत्तममध्यानामधमानां च पक्षिणाम् ।
अविशेषकरो यस्मात् तस्मादेनं त्यजाम्यहम् ॥ १५ ॥

एक समय पक्षिराज गरुड़के पुत्र सुमुखने मेरुपर्वतपर सुनहरे शरीरवाले कौवोंको देखकर सोचा कि यह सुमेरुपर्वत उत्तम, मध्यम तथा अधम पक्षियोंमें कुछ भी अन्तर नहीं रहने देता है । इसलिये मैं इसको त्याग दूँगा । ऐसा विचार करके वे वहाँसे अन्यत्र चले गये ॥ १४-१५ ॥

तमादित्योऽनुपर्येति सततं ज्योतिषां वरः ।
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो वायुश्चैव प्रदक्षिणः ॥ १६ ॥

ज्योतिर्मय ग्रहोंमें सर्वश्रेष्ठ सूर्यदेव, नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा तथा वायुदेव भी प्रदक्षिणक्रमसे सदा मेरुगिरिकी परिक्रमा करते रहते हैं ॥ १६ ॥

स पर्वतो महाराज दिव्यपुष्पफलान्वितः ।
भवनैरावृतः सर्वैर्जाम्बूनदपरिष्कृतैः ॥ १७ ॥

महाराज ! वह पर्वत दिव्य पुष्पों और फलोंसे सम्पन्न है। वहाँके सभी भवन जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित हैं । उनसे घिरे हुए उस पर्वतकी बड़ी शोभा होती है ॥ १७ ॥

तत्र देवगणा राजन् गन्धर्वासुरराक्षसाः ।
अप्सरोगणसंयुक्ताः शैले क्रीडन्ति सर्वदा ॥ १८ ॥

राजन् ! उस पर्वतपर देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस तथा अप्सराएँ सदा क्रीड़ा करती रहती हैं ॥ १८ ॥

तत्र ब्रह्मा च रुद्रश्च शक्रश्चापि सुरेश्वरः ।
समेत्य विविधैर्यज्ञैर्यजन्तेऽनेकदक्षिणैः ॥ १९ ॥

वहाँ ब्रह्मा, रुद्र तथा देवराज इन्द्र एकत्र हो पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं ॥१९॥

तुम्बुरुर्नारदश्चैव विश्वावसुर्हहा हुहूः ।
अभिगम्यामरश्रेष्ठांस्तुष्टुवुर्विविधैः स्तवैः ॥ २० ॥

उस समय तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु, हाहा और हूहू नामक गन्धर्व उन देवेश्वरोंके पास जाकर भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं ॥ २० ॥

सप्तर्षयो महात्मानः कश्यपश्च प्रजापतिः ।
तत्र गच्छन्ति भद्रं ते सदा पर्वणि पर्वणि ॥ २१ ॥

राजन् ! आपका कल्याण हो । वहाँ महात्मा सप्तर्षिगण तथा प्रजापति कश्यप प्रत्येक पर्वपर सदा पधारते हैं ॥२१॥

तस्यैव मूर्धन्युशनाः काव्यो दैत्यैर्महीपते ।
इमानि तस्य रत्नानि तस्येमे रत्नपर्वताः ॥ २२ ॥

भूपाल ! उस मेरुपर्वतके ही शिखरपर दैत्योंके साथ शुक्राचार्य निवास करते हैं । ये सब रत्न तथा ये रत्नमय पर्वत शुक्राचार्यके ही अधिकारमें हैं ॥ २२ ॥

तस्मात् कुबेरो भगवांश्चतुर्थं भागमश्नुते ।
ततः कलांशं वित्तस्य मनुष्येभ्यः प्रयच्छति ॥ २३ ॥

भगवान् कुबेर उन्हींसे धनका चतुर्थ भाग प्राप्त करके उसका उपभोग करते हैं और उस धनका सोलहवाँ भाग मनुष्योंको देते हैं ॥ २३ ॥

पार्श्वे तस्योत्तरे दिव्यं सर्वर्तुकुसुमैश्चितम् ।
कर्णिकारवनं रम्यं शिलाजालसमुद्गतम् ॥ २४ ॥

सुमेरु पर्वतके उत्तर भागमें समस्त ऋतुओंके फूलोंसे भरा हुआ दिव्य एवं रमणीय कर्णिकार (कनेर वृक्षोंका) वन है, जहाँ शिलाओंके समूह संचित हैं ॥ २४ ॥

तत्र साक्षात् पशुपतिर्दिव्यैर्भूतैः समावृतः ।
उमासहायो भगवान् रमते भूतभावनः ॥ २५ ॥
कर्णिकारमयीं मालां बिभ्रत्पादावलम्बिनीम् ।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतस्त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः ॥ २६ ॥

वहाँ दिव्य भूतोंसे घिरे हुए साक्षात् भूतभावन भगवान् पशुपति पैरोंतक लटकनेवाली कनेरके फूलोंकी दिव्य माला धारण किये भगवती उमाके साथ विहार करते हैं । वे अपने तीनों नेत्रोंद्वारा ऐसा प्रकाश फैलाते हैं, मानो तीन सूर्य उदित हुए हों ॥ २५-२६ ॥

तमुग्रतपसः सिद्धाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
पश्यन्ति न हि दुर्वृत्तैः शक्यो द्रष्टुं महेश्वरः ॥ २७ ॥

उग्र तपस्वी एवं उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले सत्यवादी सिद्ध पुरुष ही वहाँ उनका दर्शन करते हैं । दुराचारी लोगोंको भगवान् महेश्वरका दर्शन नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

तस्य शैलस्य शिखरात् क्षीरधारा नरेश्वर ।
विश्वरूपापरिमिता भीमनिर्घातनिःस्वना ॥ २८ ॥
पुण्या पुण्यतमैर्जुष्टा गङ्गा भागीरथी शुभा ।

प्लवन्तीव प्रवेगेन ह्रदे चन्द्रमसः शुभे ॥ २९ ॥

नरेश्वर ! उस मेरुपर्वतके शिखरसे दुग्धके समान श्वेत-धारवाली, विश्वरूपा, अपरिमित शक्तिशालिनी, भयंकर वज्र-पातके समान शब्द करनेवाली, परम पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा सेवित, शुभस्वरूपा पुण्यमयी भागीरथी गङ्गा बड़े प्रबल-वेगसे सुन्दर चन्द्रकुण्डमें गिरती हैं ॥ २८-२९ ॥

तया ह्युत्पादितः पुण्यः स ह्रदः सागरोपमः ।
तां धारयामास तदा दुर्धरां पर्वतैरपि ॥ ३० ॥
शतं वर्षसहस्राणां शिरसैव पिनाकधृक् ।

वह पवित्र कुण्ड स्वयं गङ्गाजीने ही प्रकट किया है, जो अपनी अगाध जलराशिके कारण समुद्रके समान शोभा पाता है। जिन्हें अपने ऊपर धारण करना पर्वतोंके लिये भी कठिन था, उन्हीं गङ्गाको पिनाकधारी भगवान् शिव एक लाख वर्षोंतक अपने मस्तकपर ही धारण किये रहे ॥३०½॥

मेरोस्तु पश्चिमे पार्श्वे केतुमालो महीपते ॥ ३१ ॥
जम्बूखण्डस्तु तत्रैव सुमहान् नन्दनोपमः ।
आयुर्दश सहस्राणि वर्षाणां तत्र भारत ॥ ३२ ॥

राजन् ! मेरुके पश्चिम भागमें केतुमाल द्वीप है, वहीं अत्यन्त विशाल जम्बूखण्ड नामक प्रदेश है, जो नन्दनवनके समान मनोहर जान पड़ता है। भारत ! वहाँके निवासियोंकी आयु दस हजार वर्षोंकी होती है ॥ ३१-३२ ॥

सुवर्णवर्णाश्च नराः स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः ।
अनामया वीतशोका नित्यं मुदितमानसाः ॥ ३३ ॥

वहाँके पुरुष सुवर्णके समान कान्तिमान् और स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी होती हैं। उन्हें कभी रोग और शोक नहीं होते। उनका चित्त सदा प्रसन्न रहता है ॥३३॥

जायन्ते मानवास्तत्र निष्टप्तकनकप्रभाः ।
गन्धमादनशृङ्गेषु कुबेरः सह राक्षसैः ॥ ३४ ॥
संवृतोऽप्सरसां सङ्घैर्मोदते गुह्यकाधिपः ।

वहाँ तपाये हुए सुवर्णके समान गौर कान्तिवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर गुह्यकोंके स्वामी कुबेर राक्षसोंके साथ रहते और अप्सराओंके समुदायोंके साथ आमोद-प्रमोद करते हैं ॥ ३४½ ॥

गन्धमादनपादेषु परेष्वपरगण्डिकाः ॥ ३५ ॥
एकादश सहस्राणि वर्षाणां परमायुषः ।

गन्धमादनके अन्यान्य पार्श्ववर्ती पर्वतोंपर दूसरी-दूसरी नदियाँ हैं, जहाँ निवास करनेवाले लोगोंकी आयु ग्यारह हजार वर्षोंकी होती है ॥ ३५½ ॥

तत्र हृष्टा नरा राजंस्तेजोयुक्ता महाबलाः ।
स्त्रियश्चोत्पलवर्णाभाः सर्वाः सुप्रियदर्शनाः ॥ ३६ ॥

राजन् ! वहाँके पुरुष हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी और महाबली होते हैं तथा सभी स्त्रियाँ कमलके समान कान्तिमती और देखनेमें अत्यन्त मनोरम होती हैं ॥ ३६ ॥

नीलात् परतरं श्वेतं श्वेताद्धैरण्यकं परम्।
वर्षमैरावतं राजन् नानाजनपदावृतम्॥

नील पर्वतसे उत्तर श्वेतवर्ष और श्वेतवर्ष हिरण्यकवर्ष है। तत्पश्चात् शृङ्गवान् पर्वतसे आगे नामक वर्ष है। राजन् ! वह अनेकानेक भरा हुआ है ॥ ३७ ॥

धनुःसंस्थे महाराज द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे।
इलावृतं मध्यमं तु पञ्च वर्षाणि चैव हि॥

महाराज ! दक्षिण और उत्तरके क्रमशः भारत ऐरावत नामक दो वर्ष धनुषकी दो कोटियोंके समान हैं और बीचमें पाँच वर्ष (श्वेत, हिरण्यक, हरिवर्ष तथा हैमवत) हैं। इन सबके बीचमें इलावृत

उत्तरोत्तरमेतेभ्यो वर्षमुद्रिच्यते गुणैः।
आयुःप्रमाणमारोग्यं धर्मतः कामतोऽर्थतः॥

भारतसे आरम्भ करके ये सभी वर्ष आयुके आरोग्य, धर्म, अर्थ और काम—इन सभी दृष्टियोंसे उत्तरोत्तर बढ़ते गये हैं ॥ ३९ ॥

समन्वितानि भूतानि तेषु वर्षेषु भारत।
एवमेषा महाराज पर्वतैः पृथिवी चिता॥

भारत ! इन सब वर्षोंमें निवास करनेवाले प्राणी मिल-जुलकर रहते हैं। महाराज ! इस प्रकार यह सारी पर्वतोंद्वारा स्थिर की गयी है ॥ ४० ॥

हेमकूटस्तु सुमहान् कैलासो नाम पर्वतः।
यत्र वैश्रवणो राजन् गुह्यकैः सह मोदते॥

राजन् ! विशाल पर्वत हेमकूट ही कैलास नामसे है। जहाँ कुबेर गुह्यकोंके साथ सानन्द निवास करते

अस्त्युत्तरेण कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति।
हिरण्यशृङ्गः सुमहान् दिव्यो मणिमयो गिरिः॥

कैलाससे उत्तर मैनाक है और उससे भी उत्तर तथा महान् मणिमय पर्वत हिरण्यशृङ्ग है ॥४२॥

तस्य पार्श्वे महद् दिव्यं शुभ्रं काञ्चनवालुकम्।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः॥
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः।

उसीके पास विशाल, दिव्य, उज्ज्वल तथा काञ्चन वालुकासे सुशोभित रमणीय बिन्दुसरोवर है, जहाँ भगीरथने भागीरथी गङ्गाका दर्शन करनेके लिये वर्षोंतक निवास किया था ॥ ४३½ ॥

यूपा मणिमयास्तत्र चैत्याश्चापि हिरण्मयाः॥
तत्रेष्ट्वा तु गतः सिद्धिं सहस्राक्षो महायशाः।

वहाँ बहुत-से मणिमय यूप तथा सुवर्णमय चैत्य (शोभा पाते हैं। वहीं यज्ञ करके महायशस्वी सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ४४½ ॥

ष्टा भूतपतिर्यत्र सर्वलोकैः सनातनः ॥ ४५ ॥
पास्यते तिग्मतेजा यत्र भूतैः समन्ततः ।
रनारायणौ ब्रह्मा मनुः स्थाणुश्च पञ्चमः ॥ ४६ ॥

उसी स्थानपर सब ओर सम्पूर्ण जगत्के लोग लोकस्रष्टा चण्ड तेजस्वी सनातन भगवान् भूतनाथकी उपासना करते । नर, नारायण, ब्रह्मा, मनु और पाँचवें भगवान् शिव हाँ सदा स्थित रहते हैं ॥ ४५-४६ ॥

त्र दिव्या त्रिपथगा प्रथमं तु प्रतिष्ठिता ।
ह्मलोकादपक्रान्ता सप्तधा प्रतिपद्यते ॥ ४७ ॥

ब्रह्मलोकसे उतरकर त्रिपथगामिनी दिव्य नदी गङ्गा हले उस बिन्दुसरोवरमें ही प्रतिष्ठित हुई थीं । वहींसे उनकी ात धाराएँ विभक्त हुई हैं ॥ ४७ ॥

स्वोकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती ।
जम्बूनदी च सीता च गङ्गा सिन्धुश्च सप्तमी ॥ ४८ ॥

उन धाराओंके नाम इस प्रकार हैं—वस्वोकसारा, नलिनी, पावनी सरस्वती, जम्बूनदी, सीता, गङ्गा और सिंधु ॥

अचिन्त्या दिव्यसंकाशा प्रभोरेषैव संविधिः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ ४९ ॥

यह (सात धाराओंका प्रादुर्भाव जगत्के उपकारके लिये) भगवान्का ही अचिन्त्य एवं दिव्य सुन्दर विधान है । जहाँ लोग कल्पके अन्ततक यज्ञानुष्ठानके द्वारा परमात्माकी उपासना करते हैं ॥ ४९ ॥

दृश्यादृश्या च भवति तत्र तत्र सरस्वती ।
एता दिव्याः सप्तगङ्गास्त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥ ५० ॥

इन सात धाराओंमें जो सरस्वती नामवाली धारा है, वह कहीं प्रत्यक्ष दिखायी देती है और कहीं अदृश्य हो जाती है । ये सात दिव्य गङ्गाएँ तीनों लोकोंमें विख्यात हैं ॥५०॥

रक्षांसि वै हिमवति हेमकूटे तु गुह्यकाः ।
सर्पा नागाश्च निषधे गोकर्णं च तपोवनम् ॥ ५१ ॥

हिमालयपर राक्षस, हेमकूटपर गुह्यक तथा निषधपर्वतपर सर्प और नाग निवास करते हैं । गोकर्ण तो तपोवन है ॥

देवासुराणां सर्वेषां श्वेतपर्वत उच्यते ।
गन्धर्वा निषधे नित्यं नीले ब्रह्मर्षयस्तथा ।
शृङ्गवांस्तु महाराज देवानां प्रतिसंचरः ॥ ५२ ॥

श्वेतपर्वत सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंका निवासस्थान बताया जाता है । निषधगिरिपर गन्धर्व तथा नीलगिरिपर ब्रह्मर्षि निवास करते हैं । महाराज ! शृङ्गवान् पर्वत तो केवल देवताओंकी ही विहारस्थली है ॥ ५२ ॥

इत्येतानि महाराज सप्त वर्षाणि भागशः ।
भूतान्युपनिविष्टानि गतिमन्ति ध्रुवाणि च ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार स्थावर और जङ्गम सम्पूर्ण प्राणी इन सात वर्षोंमें विभागपूर्वक स्थित हैं ॥ ५३ ॥

तेषामृद्धिर्बहुविधा दृश्यते दैवमानुषी ।
अशक्या परिसंख्यातुं श्रद्धेया तु बुभूषता ॥ ५४ ॥

उनकी अनेक प्रकारकी दैवी और मानुषी समृद्धि देखी जाती है । उसकी गणना असम्भव है । कल्याणकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको उस समृद्धिपर विश्वास करना चाहिये ॥

(स वै सुदर्शनद्वीपो दृश्यते शशवद् द्विधा ।)
यां तु पृच्छसि मां राजन् दिव्यामेतां शशाकृतिम् ।
पार्श्वे शशस्य द्वे वर्षे उक्ते ये दक्षिणोत्तरे ।
कर्णौ तु नागद्वीपश्च काश्यपद्वीप एव च ॥ ५५ ॥

इस प्रकार वह सुदर्शनद्वीप बताया गया है, जो दो भागोंमें विभक्त होकर चन्द्रमण्डलमें प्रतिबिम्बित हो खरगोश-की-सी आकृतिमें दृष्टिगोचर होता है । राजन् ! आपने जो मुझसे इस शशाकृति (खरगोशकी-सी आकृति) के विषयमें प्रश्न किया है उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये । पहले जो दक्षिण और उत्तरमें स्थित (भारत और ऐरावत नामक) दो द्वीप बताये गये हैं, वे ही दोनों उस शश (खरगोश) के दो पार्श्वभाग हैं । नागद्वीप तथा काश्यपद्वीप उसके दोनों कान हैं ॥ ५५ ॥

ताम्रपर्णः शिरो राजञ्छ्रीमान् मलयपर्वतः ।
एतद् द्वितीयं द्वीपस्य दृश्यते शशसंस्थितम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! ताम्रवर्णके वृक्षों और पत्रोंसे सुशोभित श्रीमान् मलयपर्वत ही इसका सिर है । इस प्रकार यह सुदर्शन-द्वीपका दूसरा भाग खरगोशके आकारमें दृष्टिगोचर होता है ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भूम्यादिपरिमाणविवरणे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भूमि आदि
परिमाणका विवरणविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ५६$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

सप्तमोऽध्यायः

उत्तर कुरु, भद्राश्ववर्ष तथा माल्यवान्का वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

मेरोरथोत्तरं पार्श्वं पूर्वं चाचक्ष्व संजय ।
निखिलेन महाबुद्धे माल्यवन्तं च पर्वतम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—परमबुद्धिमान् संजय ! तुम मेरुके उत्तर तथा पूर्व भागमें जो कुछ है, उसका पूर्ण-रूपसे वर्णन करो । साथ ही माल्यवान् पर्वतके

विषयमें भी जानने योग्य बातें बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

दक्षिणेन तु नीलस्य मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे ।
उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! नीलगिरिसे दक्षिण तथा मेरुपर्वतके उत्तर भागमें पवित्र उत्तर कुरुवर्ष है, जहाँ सिद्ध पुरुष निवास करते हैं ॥ २ ॥

तत्र वृक्षा मधुफला नित्यपुष्पफलोपगाः ।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि रसवन्ति फलानि च ॥ ३ ॥

वहाँके वृक्ष सदा पुष्प और फलसे सम्पन्न होते हैं और उनके फल बड़े मधुर एवं स्वादिष्ट होते हैं । उस देशके सभी पुष्प सुगन्धित और फल सरस होते हैं ॥ ३ ॥

सर्वकामफलास्तत्र केचिद् वृक्षा जनाधिप ।
अपरे क्षीरिणो नाम वृक्षास्तत्र नराधिप ॥ ४ ॥
ये क्षरन्ति सदा क्षीरं षड्रसं चामृतोपमम् ।
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! वहाँके कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंके दाता हैं । राजन् ! दूसरे क्षीरी नामवाले वृक्ष हैं, जो सदा षड्विध रसोंसे युक्त एवं अमृतके समान स्वादिष्ट दुग्ध बहाते रहते हैं । उनके फलोंमें इच्छानुसार वस्त्र और आभूषण भी प्रकट होते हैं ॥ ४–५ ॥

सर्वा मणिमयी भूमिः सूक्ष्मकाञ्चनवालुका ।
सर्वर्तुसुखसंस्पर्शा निष्पङ्का च जनाधिप ।
पुष्करिण्यः शुभास्तत्र सुखस्पर्शा मनोरमाः ॥ ६ ॥

जनेश्वर ! वहाँकी सारी भूमि मणिमयी है । वहाँ जो सूक्ष्म बालूके कण हैं, वे सब सुवर्णमय हैं । उस भूमिपर कीचड़का कहीं नाम भी नहीं है । उसका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुखदायक होता है । वहाँके सुन्दर सरोवर अत्यन्त मनोरम होते हैं । उनका स्पर्श सुखद जान पड़ता है ॥ ६ ॥

देवलोकच्युताः सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः ।
शुक्लाभिजनसम्पन्नाः सर्वे सुप्रियदर्शनाः ॥ ७ ॥

वहाँ देवलोकसे भूतलपर आये हुए समस्त पुण्यात्मा मनुष्य ही जन्म ग्रहण करते हैं । ये सभी उत्तम कुलसे सम्पन्न और देखनेमें अत्यन्त प्रिय होते हैं ॥ ७ ॥

मिथुनानि च जायन्ते स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः ।
तेषां ते क्षीरिणां क्षीरं पिबन्त्यमृतसंनिभम् ॥ ८ ॥

वहाँ स्त्री-पुरुषोंके जोड़े भी उत्पन्न होते हैं । स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी होती हैं । उत्तरकुरुके निवासी क्षीरी वृक्षोंके अमृत-तुल्य दूध पीते हैं ॥८॥

मिथुनं जायते काले समं तच्च प्रवर्धते ।
तुल्यरूपगुणोपेतं समवेषं तथैव च ॥ ९ ॥

वहाँ स्त्री-पुरुषोंके जोड़े एक ही साथ उत्पन्न होते और साथ-साथ बढ़ते हैं । उनके रूप, गुण सब एक-से होते हैं ॥ ९ ॥

एकैकमनुरक्तं च चक्रवाकसमं विभो ।
निरामयाश्च ते लोका नित्यं मुदितमानसाः ।

प्रभो ! वे चकवा-चकवीके समान सदा ए अनुकूल बने रहते हैं । उत्तरकुरुके लोग सदा नीरो प्रसन्नचित्त रहते हैं ॥ १० ॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
जीवन्ति ते महाराज न चान्योन्यं जहत्युत ।

महाराज ! वे ग्यारह हजार वर्षोंतक जीवित र एक दूसरेका कभी त्याग नहीं करते ॥ ११ ॥

भारुण्डा नाम शकुनास्तीक्ष्णतुण्डा महाबलाः ।
तान् निर्हरन्तीह मृतान् दरीषु प्रक्षिपन्ति च ।

वहाँ भारुण्ड नामके महाबली पक्षी हैं, जिनक बड़ी तीखी होती हैं । वे वहाँके मरे हुए लोगोंकी ला कर ले जाते और कन्दराओंमें फेंक देते हैं ॥ १२॥

उत्तराः कुरवो राजन् व्याख्यातास्ते समासतः ।
मेरोः पार्श्वमहं पूर्वं वक्ष्याम्यथ यथातथम् ।

राजन् ! इस प्रकार मैंने आपसे थोड़ेमें उत्तरकु वर्णन किया । अब मैं मेरुके पूर्वभागमें स्थित भद्रा यथावत् वर्णन करूँगा ॥ १३ ॥

तस्य मूर्धाभिषेकस्तु भद्राश्वस्य विशाम्पते ।
भद्रसालवनं यत्र कालाम्रश्च महाद्रुमः ।

प्रजानाथ ! भद्राश्ववर्षके शिखरपर भद्रशाल एक वन है एवं वहाँ कालाम्र नामक महान् वृक्ष भी

कालाम्रस्तु महाराज नित्यपुष्पफलः शुभः ।
द्रुमश्च योजनोत्सेधः सिद्धचारणसेवितः ॥

महाराज ! कालाम्र वृक्ष बहुत ही सुन्दर और योजन ऊँचा है । उसमें सदा फूल और फल लगे रहते सिद्ध और चारण पुरुष उसका सदा सेवन करते हैं ।

तत्र ते पुरुषाः श्वेतास्तेजोयुक्ता महाबलाः ।
स्त्रियः कुमुदवर्णाश्च सुन्दर्यः प्रियदर्शनाः ॥

वहाँके पुरुष श्वेत वर्णके होते हैं । वे तेजस्वी और बलवान् हुआ करते हैं । वहाँकी स्त्रियाँ कुमुद-पुष्पके गौर वर्णवाली, सुन्दरी तथा देखनेमें प्रिय होती हैं ॥

चन्द्रप्रभाश्चन्द्रवर्णाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।
चन्द्रशीतलगात्र्यश्च नृत्यगीतविशारदाः ॥

उनकी अङ्गकान्ति एवं वर्ण चन्द्रमाके समान उनके मुख पूर्ण चन्द्रके समान मनोहर होते हैं । एक-एक अङ्ग चन्द्ररश्मियोंके समान शीतल प्रतीत है । वे नृत्य और गीतकी कलामें कुशल होती हैं ॥

दश वर्षसहस्राणि तत्रायुर्भरतर्षभ ।
कालाम्ररसपीतास्ते नित्यं संस्थितयौवनाः ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँके लोगोंकी आयु दस हजार वर्षकी होती है। वे कालाम्र वृक्षका रस पीकर सदा जवान बने रहते हैं ॥

दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु।
सुदर्शनो नाम महाञ्जम्बूवृक्षः सनातनः ॥ १९ ॥

नीलगिरिके दक्षिण और निषधके उत्तर सुदर्शन नामक एक विशाल जामुनका वृक्ष है, जो सदा स्थिर रहनेवाला है ॥

सर्वकामफलः पुण्यः सिद्धचारणसेवितः।
तस्य नाम्ना समाख्यातो जम्बूद्वीपः सनातनः ॥ २० ॥

वह समस्त मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला, पवित्र तथा सिद्धों और चारणोंका आश्रय है। उसीके नामपर यह सनातन प्रदेश जम्बूद्वीपके नामसे विख्यात है ॥ २० ॥

योजनानां सहस्रं च शतं च भरतर्षभ।
उत्सेधो वृक्षराजस्य दिवस्पृङ्मनुजेश्वर ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुजेश्वर ! उस वृक्षराजकी ऊँचाई ग्यारह सौ योजन है। वह (ऊँचाई) स्वर्गलोकको स्पर्श करती हुई-सी प्रतीत होती है ॥ २१ ॥

अरत्नीनां सहस्रं च शतानि दश पञ्च च।
परिणाहस्तु वृक्षस्य फलानां रसभेदिनाम् ॥ २२ ॥

उसके फलोंमें जब रस आ जाता है अर्थात् जब वे पक जाते हैं, तब अपने-आप टूटकर गिर जाते हैं। उन फलोंकी लंबाई ढाई हजार अरत्नि[1] मानी गयी है ॥ २२ ॥

पतमानानि तान्युर्वीं कुर्वन्ति विपुलं स्वनम्।
मुञ्चन्ति च रसं राजंस्तस्मिन् रजतसंनिभम् ॥ २३ ॥

राजन् ! वे फल इस पृथ्वीपर गिरते समय भारी धमाकेकी आवाज करते हैं और उस भूतलपर सुवर्णसदृश रस बहाया करते हैं ॥ २३ ॥

तस्या जम्ब्वाः फलरसो नदी भूत्वा जनाधिप।
मेरुं प्रदक्षिणं कृत्वा सम्प्रयात्युत्तरान् कुरून् ॥ २४ ॥

जनेश्वर ! उस जम्बूके फलोंका रस नदीके रूपमें परिणत होकर मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करता हुआ उत्तरकुरुवर्षमें पहुँच जाता है ॥ २४ ॥

तत्र तेषां मनःशान्तिर्न पिपासा जनाधिप।
तस्मिन् फलरसे पीते न जरा बाधते च तान् ॥ २५ ॥

राजन् ! फलोंके उस रसका पान कर लेनेपर वहाँके निवासियोंके मनमें पूर्ण शान्ति और प्रसन्नता रहती है। उन्हें पिपासा अथवा वृद्धावस्था कभी नहीं सताती है ॥ २५ ॥

तत्र जाम्बूनदं नाम कनकं देवभूषणम्।
इन्द्रगोपकसंकाशं जायते भास्वरं तु तत् ॥ २६ ॥

उस जम्बू नदीसे जाम्बूनद नामक सुवर्ण प्रकट होता है, जो देवताओंका आभूषण है। वह इन्द्रगोपके समान लाल और अत्यन्त चमकीला होता है ॥ २६ ॥

तरुणादित्यवर्णाश्च जायन्ते तत्र मानवाः।
तथा माल्यवतः शृङ्गे दृश्यते हव्यवाट् सदा ॥ २७ ॥

वहाँके लोग प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिमान् होते हैं। माल्यवान् पर्वतके शिखरपर सदा अग्निदेव प्रज्वलित दिखायी देते हैं ॥ २७ ॥

नाम्ना संवर्तको नाम कालाग्निर्भरतर्षभ।
तथा माल्यवतः शृङ्गे पूर्वपूर्वानुगण्डिका ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे वहाँ संवर्तक एवं कालाग्निके नामसे प्रसिद्ध हैं। माल्यवान्‌के शिखरपर पूर्व-पूर्वकी ओर नदी प्रवाहित होती है ॥ २८ ॥

योजनानां सहस्राणि पञ्चषण्माल्यवानथ।
महारजतसंकाशा जायन्ते तत्र मानवाः ॥ २९ ॥

माल्यवान्‌का विस्तार पाँच-छः हजार योजन है। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिमान् मानव उत्पन्न होते हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मलोकच्च्युताः सर्वे सर्वे सर्वेषु साधवः।
तपस्तप्यन्ति ते तीव्रं भवन्ति ह्यूर्ध्वरेतसः ।
रक्षणार्थं तु भूतानां प्रविशन्ते दिवाकरम् ॥ ३० ॥

वे सब लोग ब्रह्मलोकसे नीचे आये हुए पुण्यात्मा मनुष्य हैं। उन सबका सबके प्रति साधुतापूर्ण बर्ताव होता है। वे ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होते और कठोर तपस्या करते हैं। फिर समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये सूर्यलोकमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३० ॥

षष्टिस्तानि सहस्राणि षष्टिमेव शतानि च।
अरुणस्याग्रतो यान्ति परिवार्य दिवाकरम् ॥ ३१ ॥

उनमेंसे छाछठ हजार मनुष्य भगवान् सूर्यको चारों ओरसे घेरकर अरुणके आगे-आगे चलते हैं ॥ ३१ ॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि षष्टिमेव शतानि च।
आदित्यतापतप्तास्ते विशन्ति शशिमण्डलम् ॥ ३२ ॥

वे छाछठ हजार वर्षोंतक ही सूर्यदेवके तापमें तपकर अन्तमें चन्द्रमण्डलमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि माल्यवद्वर्णने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें माल्यवान्‌का वर्णनविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

रमणक, हिरण्यक, शृङ्गवान् पर्वत तथा ऐरावतवर्षका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

वर्षाणां चैव नामानि पर्वतानां च संजय।
आचक्ष्व मे यथातत्त्वं ये च पर्वतवासिनः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुम सभी वर्षों और पर्वतोंके

---

[1] १. पहुचीसे लेकर कनिष्ठिका अंगुलिके मूलभागतक एक मुठीकी लंबाईको 'अरत्नि' कहते हैं।

नाम बताओ और जो उन पर्वतोंपर निवास करनेवाले हैं उनकी स्थितिका भी यथावत् वर्णन करो ॥ १ ॥

संजय उवाच

दक्षिणेन तु श्वेतस्य निषधस्योत्तरेण तु।
वर्षं रमणकं नाम जायन्ते तत्र मानवाः ॥ २ ॥
शुक्लाभिजनसम्पन्नाः सर्वे सुप्रियदर्शनाः।
निःसपत्नाश्च ते सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः ॥ ३ ॥

संजय बोले—राजन् ! श्वेतके दक्षिण और निषधके उत्तर रमणक नामक वर्ष है। वहाँ जो मनुष्य जन्म लेते हैं, वे उत्तम कुलसे युक्त और देखनेमें अत्यन्त प्रिय होते हैं। वहाँके सब मनुष्य शत्रुओंसे रहित होते हैं ॥ २-३ ॥

दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च।
जीवन्ति ते महाराज नित्यं मुदितमानसाः ॥ ४ ॥

महाराज ! रमणकवर्षके मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त होकर साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं ॥ ४ ॥

दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु।
वर्षं हिरण्मयं नाम यत्र हैरण्वती नदी ॥ ५ ॥

नीलके दक्षिण और निषधके उत्तर हिरण्मयवर्ष है, जहाँ हैरण्यवती नदी बहती है ॥ ५ ॥

यत्र चायं महाराज पक्षिराट् पतगोत्तमः।
यक्षानुगा महाराज धनिनः प्रियदर्शनाः ॥ ६ ॥
महाबलास्तत्र जना राजन् मुदितमानसाः।

महाराज ! वहीं विहंगोंमें उत्तम पक्षिराज गरुड़ निवास करते हैं। वहाँके सब मनुष्य यक्षोंकी उपासना करनेवाले, धनवान्, प्रियदर्शन, महाबली तथा प्रसन्नचित्त होते हैं ।६½।

एकादश सहस्राणि वर्षाणां ते जनाधिप ॥ ७ ॥
आयुःप्रमाणं जीवन्ति शतानि दश पञ्च च।

जनेश्वर ! वहाँके लोग साढ़े बारह हजार वर्षोंकी आयु-तक जीवित रहते हैं ॥ ७½ ॥

शृङ्गाणि च विचित्राणि त्रीण्येव मनुजाधिप ॥ ८ ॥
एकं मणिमयं तत्र तथैकं रौक्ममद्भुतम्।
सर्वरत्नमयं चैकं भवनैरुपशोभितम् ॥ ९ ॥

मनुजेश्वर ! वहाँ शृङ्गवान् पर्वतके तीन ही विचित्र शिखर हैं। उनमेंसे एक मणिमय है, दूसरा अद्भुत सुवर्णमय है तथा तीसरा अनेक भवनोंसे सुशोभित एवं सर्वरत्नमय है ८-९

तत्र स्वयंप्रभा देवी नित्यं वसति शाण्डिली।
उत्तरेण तु शृङ्गस्य समुद्रान्ते जनाधिप ॥ १० ॥
वर्षमैरावतं नाम तस्माच्छृङ्गमतः परम्।
न तत्र सूर्यस्तपति न जीर्यन्ते च मानवाः ॥ ११ ॥

वहाँ स्वयंप्रभा नामवाली शाण्डिली देवी नित्य निवास करती हैं। जनेश्वर ! शृङ्गवान् पर्वतके उत्तर समुद्रके निकट ऐरावत नामक वर्ष है। अतः इन शिखरोंसे संयुक्त यह वर्ष अन्य वर्षोंकी अपेक्षा उत्तम है। वहाँ सूर्यदेव ताप न हैं और न वहाँके मनुष्य बूढ़े ही होते हैं ॥ १०-११ ॥

चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो ज्योतिर्भूत इवावृतः।
पद्मप्रभाः पद्मवर्णाः पद्मपत्रनिभेक्षणाः ॥

नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा वहाँ ज्योतिर्मय होकर व्याप्त-सा रहता है। वहाँके मनुष्य कमलकी-सी कान्ति वर्णवाले होते हैं। उनके विशाल नेत्र कमलदलके सुशोभित होते हैं ॥ १२ ॥

पद्मपत्रसुगन्धाश्च जायन्ते तत्र मानवाः।
अनिष्यन्दा इष्टगन्धा निराहारा जितेन्द्रियाः ॥

वहाँके मनुष्योंके शरीरसे विकसित कमलदलोंके सुगन्ध प्रकट होती है। उनके शरीरसे पसीने नहीं नि उनकी सुगन्ध प्रिय लगती है। वे आहार (भूख-प्या रहित और जितेन्द्रिय होते हैं ॥ १३ ॥

देवलोकच्युताः सर्वे तथा विरजसो नृप।
त्रयोदश सहस्राणि वर्षाणां ते जनाधिप ॥
आयुःप्रमाणं जीवन्ति नरा भरतसत्तम।

वे सबके सब देवलोकसे च्युत (होकर वहाँ शे का उपभोग करते) हैं ! उनमें रजोगुणका सर्वथा होता है। भरतभूषण जनेश्वर ! वे तेरह हजार वर्षोंकी तक जीवित रहते हैं ॥ १४½ ॥

क्षीरोदस्य समुद्रस्य तथैवोत्तरतः प्रभुः।
हरिर्वसति वैकुण्ठः शकटे कनकामये ॥
अष्टचक्रं हि तद् यानं भूतयुक्तं मनोजवम्।
अग्निवर्णं महातेजो जाम्बूनदविभूषितम् ॥

क्षीरसागरके उत्तर तटपर भगवान् विष्णु निवास हैं, वे वहाँ सुवर्णमय रथपर विराजमान हैं। उस रथमें पहिये लगे हैं। उसका वेग मनके समान है। वह भूतोंसे युक्त, अग्निके समान कान्तिमान्, परम तेजस्वी जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित है ॥ १५-१६ ॥

स प्रभुः सर्वभूतानां विभुश्च भरतर्षभ।
संक्षेपो विस्तरश्चैव कर्ता कारयिता तथा ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी भगवान् ही समस्त प्राणियोंका संकोच और विस्तार करते हैं। करनेवाले और करानेवाले हैं ॥ १७ ॥

पृथिव्यापस्तथाऽऽकाशं वायुस्तेजश्च पार्थिव।
स यज्ञः सर्वभूतानामास्यं तस्य हुताशनः ॥

राजन् ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश वे ही हैं। वे ही समस्त प्राणियोंके लिये यज्ञस्वरूप हैं। उनका मुख है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः संजयेन धृतराष्ट्रो महामनाः।
ध्यानमन्वगमद् राजन् पुत्रान् प्रति जनाधिप ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! संजयके ऐसा कहनेपर महामना धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके लिये चिन्ता करने लगे ॥ १९ ॥

स विचिन्त्य महातेजाः पुनरेवाब्रवीद् वचः।
असंशयं सूतपुत्र कालः संक्षिपते जगत्॥ २०॥

कुछ देरतक सोच-विचार करनेके पश्चात् महातेजस्वी धृतराष्ट्रने पुनः इस प्रकार कहा—'सूतपुत्र संजय! इसमें संदेह नहीं कि काल ही सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करता है ॥

सृजते च पुनः सर्वं विद्यते नेह शाश्वतम्।
नरो नारायणश्चैव सर्वज्ञः सर्वभूतहृत्॥ २१॥
देवा वैकुण्ठमित्याहुर्नरा विष्णुमिति प्रभुम्॥ २२॥

'फिर वही सबकी सृष्टि करता है। यहाँ कुछ भी सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है। भगवान् नर और नारायण समस्त प्राणियोंके सुहृद् एवं सर्वज्ञ हैं। देवता उन्हें वैकुण्ठ और मनुष्य उन्हें शक्तिशाली विष्णु कहते हैं' ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

भारतवर्षकी नदियों, देशों तथा जनपदोंके नाम और भूमिका महत्त्व

धृतराष्ट्र उवाच

यदिदं भारतं वर्षं यत्रेदं मूर्छितं बलम्।
यत्रातिमात्रलुब्धोऽयं पुत्रो दुर्योधनो मम॥ १॥
यत्र गृद्धाः पाण्डुपुत्रा यत्र मे सज्जते मनः।
एतन्मे तत्त्वमाचक्ष्व त्वं हि मे बुद्धिमान् मतः॥ २॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! यह जो भारतवर्ष है, जिसमें यह राजाओंकी विशाल वाहिनी युद्धके लिये एकत्र हुई है, जहाँका साम्राज्य प्राप्त करनेके लिये मेरा पुत्र दुर्योधन ललचाया हुआ है, जिसे पानेके लिये पाण्डवोंके मनमें भी बड़ी इच्छा है तथा जिसके प्रति मेरा मन भी बहुत आसक्त है, उस भारतवर्षका तुम यथार्थरूपसे वर्णन करो; क्योंकि इस कार्यके लिये मेरी दृष्टिमें तुम्हीं सबसे अधिक बुद्धिमान् हो १-२

संजय उवाच

न तत्र पाण्डवा गृद्धाः शृणु राजन् वचो मम।
गृद्धो दुर्योधनस्तत्र शकुनिश्चापि सौबलः॥ ३॥

संजयने कहा—राजन्! आप मेरी बात सुनिये। पाण्डवोंको इस भारतवर्षके साम्राज्यका लोभ नहीं है। दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ही उसके लिये बहुत लुभाये हुए हैं ॥ ३ ॥

अपरे क्षत्रियाश्चैव नानाजनपदेश्वराः।
ये गृद्धा भारते वर्षे न मृष्यन्ति परस्परम्॥ ४॥

विभिन्न जनपदोंके स्वामी जो दूसरे-दूसरे क्षत्रिय हैं, वे भी इस भारतवर्षके प्रति गृध्र-दृष्टि लगाये हुए एक दूसरेके उत्कर्षको सहन नहीं कर पाते हैं ॥ ४ ॥

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च॥ ५॥

भारत! अब मैं यहाँ आपसे उस भारतवर्षका वर्णन करूँगा, जो इन्द्रदेव और वैवस्वत मनुका प्रिय देश है ॥५॥

पृथोस्तु राजन् वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च॥ ६॥
तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा॥ ७॥
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च॥ ८॥
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्॥ ९॥

राजन्! दुर्धर्ष महाराज! वेननन्दन पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, उशीनर-पुत्र शिबि, ऋषभ, इलानन्दन पुरूरवा, राजा नृग, कुशिक, महात्मा गाधि, सोमक, दिलीप तथा अन्य जो महाबली क्षत्रिय नरेश हुए हैं, उन सभीको भारतवर्ष बहुत प्रिय रहा है ॥ ६–९ ॥

तत् ते वर्षं प्रवक्ष्यामि यथायथमरिंदम।
शृणु मे गदतो राजन् यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ १०॥

शत्रुदमन नरेश! मैं उसी भारतवर्षका यथावत् वर्णन कर रहा हूँ। आप मुझसे जो कुछ पूछते या जानना चाहते हैं वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥ १० ॥

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षवानपि।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥ ११॥

इस भारतवर्षमें महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्षवान्, विन्ध्य और पारियात्र—ये सात कुल पर्वत कहे गये हैं ११

तेषां सहस्रशो राजन् पर्वतास्ते समीपतः।
अविज्ञाताः सारवन्तो विपुलाश्चित्रसानवः॥ १२॥

राजन्! इनके आसपास और भी हजारों अविज्ञात पर्वत हैं, जो रत्न आदि सार वस्तुओंसे युक्त, विस्तृत और विचित्र शिखरोंसे सुशोभित हैं ॥ १२ ॥

अन्ये ततोऽपरिज्ञाता ह्रस्वा ह्रस्वोपजीविनः।
आर्या म्लेच्छाश्च कौरव्य तैर्मिश्राः पुरुषा विभो॥ १३॥
नदीं पिबन्ति विपुलां गङ्गां सिन्धुं सरस्वतीम्।
गोदावरीं नर्मदां च बाहुदां च महानदीम्॥ १४॥

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Gyaan Bhandaar Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शतद्रूं चन्द्रभागां च यमुनां च महानदीम् ।
दृषद्वतीं विपाशां च विपापां स्थूलवालुकाम् ॥ १५ ॥
नदीं वेत्रवतीं चैव कृष्णवेणां च निम्नगाम् ।
इरावतीं वितस्तां च पयोष्णीं देविकामपि ॥ १६ ॥
वेदस्मृतां वेदवतीं त्रिदिवामिक्षुलां कृमिम् ।
करीषिणीं चित्रवाहां चित्रसेनां च निम्नगाम् ॥ १७ ॥

इनसे भिन्न और भी छोटे-छोटे अपरिच्चित पर्वत हैं, जो छोटे-छोटे प्राणियोंके जीवन-निर्वाहका आश्रय बने हुए हैं। प्रभो ! कुरुनन्दन! इस भारतवर्षमें आर्य, म्लेच्छ तथा संकर जातिके मनुष्य निवास करते हैं। वे लोग यहाँकी जिन बड़ी-बड़ी नदियोंके जल पीते हैं, उनके नाम बताता हूँ, सुनिये। गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, बाहुदा, महानदी, शतद्रू, चन्द्रभागा, महानदी यमुना, दृषद्वती, विपाशा, विपापा, स्थूलवालुका, वेत्रवती, कृष्णवेणा, इरावती, वितस्ता, पयोष्णी, देविका, वेदस्मृता, वेदवती, त्रिदिवा, इक्षुला, कृमि, करीषिणी, चित्रवाहा तथा चित्रसेना नदी ॥ १३—१७ ॥

गोमतीं धूतपापां च वन्दनां च महानदीम् ।
कौशिकीं त्रिदिवां कृत्यां निचितां लोहितारणीम् ॥ १८ ॥
रहस्यां शतकुम्भां च सरयूं च तथैव च ।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं हस्तिसोमां दिशं तथा ॥ १९ ॥
शरावतीं पयोष्णीं च वेणां भीमरथीमपि ।
कावेरीं चुलुकां चापि वाणीं शतबलामपि ॥ २० ॥

गोमती, धूतपापा, महानदी वन्दना, कौशिकी, त्रिदिवा, कृत्या, निचिता, लोहितारणी, रहस्या, शतकुम्भा, सरयू, चर्मण्वती, वेत्रवती, हस्तिसोमा, दिक्, शरावती, पयोष्णी, वेणा, भीमरथी, कावेरी, चुलुका, वाणी और शतबला १८—२०

नीवारामहितां चापि सुप्रयोगां जनाधिप ।
पवित्रां कुण्डलीं सिन्धुं राजनीं पुरमालिनीम् ॥ २१ ॥
पूर्वाभिरामां वीरां च भीमामोघवतीं तथा ।
पाशाशिनीं पापहरां महेन्द्रां पाटलावतीम् ॥ २२ ॥
करीषिणीमसिक्नीं च कुशचीरां महानदीम् ।
मकरीं प्रवरां मेनां हेमां घृतवतीं तथा ॥ २३ ॥
पुरावतीमनुष्णां च शैब्यां कापीं च भारत ।
सदानीरामधृष्यां च कुशधारां महानदीम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! नीवारा, अहिता, सुप्रयोगा, पवित्रा, कुण्डली, सिन्धु, राजनी, पुरमालिनी, पूर्वाभिरामा, वीरा (नीरा), भीमा, ओघवती, पाशाशिनी, पापहरा, महेन्द्रा, पाटलावती, करीषिणी, असिक्नी, महानदी कुशचीरा, मकरी, प्रवरा, मेना, हेमा, घृतवती, पुरावती, अनुष्णा, शैब्या, कापी, सदानीरा, अधृष्या और महानदी कुशधारा ॥ २१—२४ ॥

सदाकान्तां शिवां चैव तथा वीरमतीमपि ।
वस्त्रां सुवस्त्रां गौरीं च कम्पनां सहिरण्वतीम् ॥ २५ ॥
वरां वीरकरां चापि पञ्चमीं च महानदीम् ।
रथचित्रां ज्योतिरथां विश्वामित्रां कपिञ्जलाम् ॥
उपेन्द्रां बहुलां चैव कुवीरामम्बुवाहिनीम् ।
विनदीं पिञ्जलां वेणां तुङ्गवेणां महानदीम् ॥
विदिशां कृष्णवेणां च ताम्रां च कपिलामपि ।
खलुं सुवामां वेदाश्वां हरिश्रावां महापगाम् ॥
शीघ्रां च पिच्छिलां चैव भारद्वाजीं च निम्नगाम् ।
कौशिकीं निम्नगां शोणां बाहुदामथ चन्द्रमाम् ॥
दुर्गां चित्रशिलां चैव ब्रह्मवेध्यां बृहद्वतीम् ।
यवक्षामथ रोहीं च तथा जाम्बूनदीमपि ॥

सदाकान्ता, शिवा, वीरमती, वस्त्रा, सुवस्त्रा, कम्पना, हिरण्वती, वरा, वीरकरा, महानदी पञ्चमी, चित्रा, ज्योतिरथा, विश्वामित्रा, कपिञ्जला, उपेन्द्रा, कुवीरा, अम्बुवाहिनी, विनदी, पिञ्जला, वेणा, तुंगवेणा, विदिशा, कृष्णवेणा, ताम्रा, कपिला, खलु, वेदाश्वा, हरिश्रावा, महापगा, शीघ्रा, पिच्छिला, नदी, कौशिकी नदी, शोणा, बाहुदा, चन्द्रमा, दुर्गा, शिला, ब्रह्मवेध्या, बृहद्वती, यवक्षा, रोही तथा जाम्बूनदी

सुनसां तमसां दासीं वसामन्यां वराणसीम् ।
नीलां घृतवतीं चैव पर्णाशां च महानदीम् ॥
मानवीं वृषभां चैव ब्रह्ममेध्यां बृहद्ध्वनिम् ।
एताश्चान्याश्च बहुधा महानद्यो जनाधिप ॥

सुनसा, तमसा, दासी, वसा, वराणसी, नीला, महानदी पर्णाशा, मानवी, वृषभा, ब्रह्ममेध्या, राजन् ! ये तथा और भी बहुत-सी नदियाँ हैं ॥

सदा निरामयां कृष्णां मन्दगां मन्दवाहिनीम् ।
ब्राह्मणीं च महागौरीं दुर्गामपि च भारत ॥
चित्रोपलां चित्ररथां मञ्जुलां वाहिनीं तथा ।
मन्दाकिनीं वैतरणीं कोषां चापि महानदीम् ॥
शुक्तिमतीमनङ्गां च तथैव वृषसाह्वयाम् ।
लोहित्यां करतोयां च तथैव वृषकाह्वयाम् ॥
कुमारीमृषिकुल्यां च मारिषां च सरस्वतीम् ।
मन्दाकिनीं सुपुण्यां च सर्वां गङ्गां च भारत ॥

भारत ! सदा निरामया, कृष्णा, मन्दगा, ब्राह्मणी, महागौरी, दुर्गा, चित्रोत्पला, चित्ररथा, वाहिनी, मन्दाकिनी, वैतरणी, महानदी कोषा, अनंगा, वृषा, लोहित्या, करतोया, वृषका, ऋषिकुल्या, मारिषा, सरस्वती, मन्दाकिनी, सुपुण्या, तथा गङ्गा, भारत ! इन नदियोंके जल पीते हैं ॥ ३३—३६ ॥

विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वाश्चैव महाफलाः ।
तथा नद्यस्त्वप्रकाशाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥

राजन्! पूर्वोक्त सभी नदियाँ सम्पूर्ण विश्वकी माताएँ हैं, वे सबकी सब महान् पुण्य फल देनेवाली हैं। इनके सिवा सैकड़ों और हजारों ऐसी नदियाँ हैं, जो लोगोंके परिचयमें नहीं आयी हैं ॥ ३७ ॥

इत्येताः सरितो राजन् समाख्याता यथास्मृति।
अत ऊर्ध्वं जनपदान् निबोध गदतो मम ॥ ३८ ॥

राजन्! जहाँतक मेरी स्मरणशक्ति काम दे सकी है, उसके अनुसार मैंने इन नदियोंके नाम बताये हैं। इनके बाद अब मैं भारतवर्षके जनपदोंका वर्णन करता हूँ, सुनिये ॥

तत्रेमे कुरुपाञ्चालाः शाल्वा माद्रेयजाङ्गलाः।
शूरसेनाः पुलिन्दाश्च बोधा मालास्तथैव च ॥ ३९ ॥
मत्स्याः कुशल्याः सौशल्याः कुन्तयः कान्तिकोसलाः।
चेदिमत्स्यकरूषाश्च भोजाः सिन्धुपुलिन्दकाः ॥ ४० ॥
उत्तमाश्वदशार्णाश्च मेकलाश्चोत्कलैः सह।
पञ्चालाः कोसलाश्चैव नैकपृष्ठा धुरंधराः ॥ ४१ ॥
गोधामद्रकलिङ्गाश्च काशयोऽपरकाशयः।
जठराः कुक्कुराश्चैव सदशार्णाश्च भारत ॥ ४२ ॥
कुन्तयोऽवन्तयश्चैव तथैवापरकुन्तयः।
गोमन्ता मण्डकाः सण्डा विदर्भा रूपवाहिकाः ॥ ४३ ॥
अश्मकाः पाण्डुराष्ट्राश्च गोपराष्ट्राः करीतयः।
अधिराज्यकुशाद्याश्च मल्लराष्ट्रं च केवलम् ॥ ४४ ॥

भारतमें ये कुरु-पाञ्चाल, शाल्व, माद्रेय-जाङ्गल, शूरसेन, पुलिन्द, बोध, माल, मत्स्य, कुशल्य, सौशल्य, कुन्ति, कान्ति, कोसल, चेदि, मत्स्य, करूष, भोज, सिन्धु-पुलिन्द, उत्तमाश्व, दशार्ण, मेकल, उत्कल, पञ्चाल, कोसल, नैकपृष्ठ, धुरंधर, गोधा, मद्रकलिंग, काशि, अपरकाशि, जठर, कुक्कुर, दशार्ण, कुन्ति, अवन्ति, अपरकुन्ति, गोमन्त, मन्दक, सण्ड, विदर्भ, रूपवाहिक, अश्मक, पाण्डुराष्ट्र, गोपराष्ट्र, करीति, अधिराज्य, कुशाद्य तथा मल्लराष्ट्र ॥ ३९–४४ ॥

वारवास्यायवाहाश्च चक्राश्चक्रातयः शकाः।
विदेहा मगधाः स्वक्षा मलजा विजयास्तथा ॥ ४५ ॥
अङ्गा वङ्गाः कलिङ्गाश्च यकृल्लोमान एव च।
मल्लाः सुदेष्णाः प्रह्लादा माहिकाः शशिकास्तथा ॥ ४६ ॥
बाह्लिका वाटधानाश्च आभीराः कालतोयकाः।
अपरान्ताः परान्ताश्च पञ्चालाश्चर्ममण्डलाः ॥ ४७ ॥
अटवीशिखराश्चैव मेरुभूताश्च मारिष।
उपावृत्तानुपावृत्ताः स्वराष्ट्राः केकयास्तथा ॥ ४८ ॥
कुन्दापरान्ता माहेयाः कक्षाः सामुद्रनिष्कुटाः।
अन्ध्राश्च बहवो राजन्नन्तर्गिर्यास्तथैव च ॥ ४९ ॥
बहिर्गिर्याङ्गमलजा मगधा मानवर्जकाः।
समन्तराः प्रावृषेया भार्गवाश्च जनाधिप ॥ ५० ॥

वारवास्य, अयवाह, चक्र, चक्राति, शक, विदेह, मगध, स्वक्ष, मलज, विजय, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, यकृल्लोमा, मल्ल, सुदेष्ण, प्रह्लाद, माहिक, शशिक, बाह्लिक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, अपरान्त, परान्त, पञ्चाल, चर्ममण्डल, अटवीशिखर, मेरुभूत, उपावृत्त, अनुपावृत्त, स्वराष्ट्र, केकय, कुन्दापरान्त, माहेय, कक्ष, सामुद्रनिष्कुट, बहुसंख्यक अन्ध्र, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, अङ्गमलज, मगध, मानवर्जक, समन्तर प्रावृषेय तथा भार्गव ॥ ४५–५० ॥

पुण्ड्रा भर्गाः किराताश्च सुदृष्टा यामुनास्तथा।
शका निषादा निषधास्तथैवानर्तनैर्ऋताः ॥ ५१ ॥
दुर्गालाः प्रतिमत्स्याश्च कुन्तलाः कोसलास्तथा।
तीरग्रहाः शूरसेना ईजिकाः कन्यकागुणाः ॥ ५२ ॥
तिलभारा मसीराश्च मधुमन्तः सुकन्दकाः।
काश्मीराः सिन्धुसौवीरा गान्धारा दर्शकास्तथा ॥ ५३ ॥
अभीसारा उलूताश्च शैवला बाह्लिकास्तथा।
दार्वी च वानवा दर्वा वातजामरथोरगाः ॥ ५४ ॥
बहुवाद्याश्च कौरव्य सुदामानः सुमल्लिकाः।
वध्राः करीषकाश्चापि कुलिन्दोपत्यकास्तथा ॥ ५५ ॥
वनायवो दशापार्श्वरोमाणः कुशबिन्दवः।
कच्छा गोपालकक्षाश्च जाङ्गलाः कुरुवर्णकाः ॥ ५६ ॥
किराता बर्बराः सिद्धा वैदेहास्ताम्रलिप्तकाः।
ओण्ड्रा म्लेच्छाः सैसिरिध्राः पार्वतीयाश्च मारिष ॥ ५७ ॥

पुण्ड्र, भर्ग, किरात, सुदृष्ट, यामुन, शक, निषाद, निषध, आनर्त, नैर्ऋत, दुर्गाल, प्रतिमत्स्य, कुन्तल, कोसल, तीरग्रह, शूरसेन, ईजिक, कन्यकागुण, तिलभार, मसीर, मधुमान्, सुकन्दक, काश्मीर, सिन्धुसौवीर, गान्धार, दर्शक, अभीसार, उलूत, शैवाल, बाह्लिक, दार्वी, वानव, दर्व, वातज, आमरथ, उरग, बहुवाद्य, सुदाम, सुमल्लिक, वध्र, करीषक, कुलिन्द, उपत्यक, वनायु, दश, पार्श्वरोम, कुशबिन्दु, कच्छ, गोपालकक्ष, जाङ्गल, कुरुवर्णक, किरात, बर्बर, सिद्ध, वैदेह, ताम्रलिप्तक, ओण्ड्र, म्लेच्छ, सैसिरिध्र और पार्वतीय इत्यादि ॥

अथापरे जनपदा दक्षिणा भरतर्षभ।
द्रविडाः केरलाः प्राच्या भूषिका वनवासिकाः ॥ ५८ ॥
कर्णाटका महिषका विकल्पा मूषकास्तथा।
झिल्लिकाः कुन्तलाश्चैव सौहृदा नभकाननाः ॥ ५९ ॥
कौकुट्टकास्तथा चोलाः कोङ्कणा मालवा नराः।
समङ्गाः करकाश्चैव कुकुराङ्गारमारिषाः ॥ ६० ॥
ध्वजिन्युत्सवसंकेतास्त्रिगर्ताः शाल्वसेनयः।
व्यूकाः कोकबकाः प्रोष्ठाः समवेगवशास्तथा ॥ ६१ ॥
तथैव विन्ध्यचुलिकाः पुलिन्दा वल्कलैः सह।
मालवा बल्लवाश्चैव तथैवापरबल्लवाः ॥ ६२ ॥
कुलिन्दाः कालदाश्चैव कुण्डलाः करटास्तथा।
मूषकाः स्तनबालाश्च सनीपा घटसृंजयाः ॥ ६३ ॥

अठिदाः पाशिवाटाश्च तनयाः सुनयास्तथा ।
ऋषिका विदभाः काकास्तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ६४ ॥
उत्तराश्चापरम्लेच्छाः क्रूरा भरतसत्तम ।
यवनाश्चीनकाम्बोजा दारुणा म्लेच्छजातयः ॥ ६५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अब जो दक्षिण दिशाके अन्यान्य जनपद हैं उनका वर्णन सुनिये—द्रविड, केरल, प्राच्य, भूषिक, वनवासिक, कर्णाटक, महिषक, विकल्प, मूषक, झिल्लिक, कुन्तल, सौहृद, नभकानन, कौकुट्टक, चोल, कोङ्कण, मालव, नर, समङ्ग, करक, कुकुर, अङ्गार, मारिष, ध्वजिनी, उत्सवसंकेत, त्रिगर्त, शाल्वसेनि, व्यूक, कोकबक, प्रोष्ठ, समवेगवश, विन्ध्यचुलिक, पुलिन्द, वल्कल, मालव, बल्लव, अपरबल्लव, कुलिन्द, कालद, कुण्डल, करट, मूषक, स्तनबाल, सनीप, घट, सृंजय, अठिद, पाशिवाट, तनय, सुनय, ऋषिक, विदभ, काक, तङ्गण, परतङ्गण, उत्तर और क्रूर अपरम्लेच्छ, यवन, चीन तथा जहाँ भयानक म्लेच्छ जातिके लोग निवास करते हैं, वह काम्बोज ॥ ५८–६५ ॥

सक्रुद्ग्रहाः कुलत्थाश्च हूणाः पारसिकैः सह ।
तथैव रमणाश्चीनास्तथैव दशमालिकाः ॥ ६६ ॥
क्षत्रियोपनिवेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च ।
शूद्राभीराश्च दरदाः काश्मीराः पशुभिः सह ॥ ६७ ॥
खाशीराश्चान्तचाराश्च पह्लवा गिरिगह्वराः ।
आत्रेयाः सभरद्वाजास्तथैव स्तनपोषिकाः ॥ ६८ ॥
प्रोषकाश्च कलिङ्गाश्च किरातानां च जातयः ।
तोमरा हन्यमानाश्च तथैव करभञ्जकाः ॥ ६९ ॥

सक्रुद्ग्रह, कुलत्थ, हूण, पारसिक, रमण-चीन, दशमालिक, क्षत्रियोंके उपनिवेश, वैश्यों और शूद्रोंके जनपद, शूद्र, आभीर, दरद, काश्मीर, पशु, खाशीर, अन्तचार, पह्लव, गिरिगह्वर, आत्रेय, भरद्वाज, स्तनपोषिक, प्रोषक, कलिङ्ग, किरात जातियोंके जनपद, तोमर, हन्यमान और करभञ्जक इत्यादि ॥ ६७–६९ ॥

एते चान्ये जनपदाः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ।
उद्देशमात्रेण मया देशाः संकीर्तिता विभो ॥ ७० ॥

राजन् ! ये तथा और भी पूर्व और उत्तर दिशाके जनपद एवं देश मैंने संक्षेपसे बताये हैं ॥ ७० ॥

यथागुणबलं चापि त्रिवर्गस्य महाफलम् ।
दुह्येत धेनुः कामधुग् भूमिः सम्यगनुष्ठिता ॥

अपने गुण और बलके अनुसार यदि अच्छी भूमिका पालन किया जाय तो यह कामनाओंकी वाली कामधेनु बनकर धर्म, अर्थ और काम तीनों फलकी प्राप्ति कराती है ॥ ७१ ॥

तस्यां गृद्ध्यन्ति राजानः शूरा धर्मार्थकोविदाः ।
ते त्यजन्त्याहवे प्राणान् वसुगृद्धास्तरस्विनः ॥

इसीलिये धर्म और अर्थके काममें निपुण शूर इसे पानेकी अभिलाषा रखते हैं और धनके लोभमें हो वेगपूर्वक युद्धमें जाकर अपने प्राणोंका परित्याग क

देवमानुषकायानां कामं भूमिः परायणम् ।
अन्योन्यस्यावलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम् ॥
राजानो भरतश्रेष्ठ भोक्तुकामा वसुंधराम् ।
न चापि तृप्तिः कामानां विद्यतेऽद्यापि कस्यचित् ॥

देवशरीरधारी प्राणियोंके लिये और मानव जीवोंके लिये यथेष्ट फल देनेवाली यह भूमि उन आश्रय होती है । भरतश्रेष्ठ ! जैसे कुत्ते मांसके टुकड़े परस्पर लड़ते और एक दूसरेको नोचते हैं, उसी प्र लोग इस वसुधाको भोगनेकी इच्छा रखकर आपस और लूट-पाट करते हैं; किंतु आजतक किसीको कामनाओंसे तृप्ति नहीं हुई ॥ ७३-७४ ॥

तस्मात् परिग्रहे भूमेर्यतन्ते कुरुपाण्डवाः ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनैव च भारत ॥

भारत ! इस अतृप्तिके ही कारण कौरव और साम, दान, भेद और दण्डके द्वारा सम्पूर्ण वसुधापर पानेके लिये यत्न करते हैं ॥ ७५ ॥

पिता भ्राता च पुत्राश्च खं द्यौश्च नरपुङ्गव ।
भूमिर्भवति भूतानां सम्यगच्छिद्रदर्शना ॥

नरश्रेष्ठ ! यदि भूमिके यथार्थ स्वरूपका सम्य ज्ञान हो जाय तो यह परमात्मासे अभिन्न होनेके कार योंके लिये स्वयं ही पिता, भ्राता, पुत्र, आकाशवर्ती तथा स्वर्ग भी बन जाती है ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतीयनदीदेशादिनामकथने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भारतकी नदियों और देश आदिके नामका वर्णनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

* * *

दशमोऽध्यायः

भारतवर्षमें युगोंके अनुसार मनुष्योंकी आयु तथा गुणोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

भारतस्यास्य वर्षस्य तथा हैमवतस्य च ।
प्रमाणमायुषः सूत बलं चापि शुभाशुभम् ॥
अनागतमतिक्रान्तं वर्तमानं च संजय ।

आचक्ष्व मे विस्तरेण हरिवर्षं तथैव च ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! तुम भारतवर्ष और हैमवतवर्षके लोगोंके आयुका प्रमाण, बल तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान शुभाशुभ फल बताओ । साथ ही हरिवर्षका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करो ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

चत्वारि भारते वर्षे युगानि भरतर्षभ ।
कृतं त्रेता द्वापरं च तिष्यं च कुरुवर्धन ॥ ३ ॥

संजयने कहा—कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले भरतश्रेष्ठ ! भारतवर्षमें चार युग होते हैं—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ॥ ३ ॥

पूर्वं कृतयुगं नाम ततस्त्रेतायुगं प्रभो ।
संक्षेपाद् द्वापरस्याथ ततस्तिष्यं प्रवर्तते ॥ ४ ॥

प्रभो ! पहले सत्ययुग होता है, फिर त्रेतायुग आता है, उसके बाद द्वापरयुग बीतनेपर कलियुगकी प्रवृत्ति होती है ॥

चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणां कुरुसत्तम ।
आयुःसंख्या कृतयुगे संख्याता राजसत्तम ॥ ५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! नृपप्रवर ! सत्ययुगके लोगोंकी आयुका मान चार हजार वर्ष है ॥ ५ ॥

तथा त्रीणि सहस्राणि त्रेतायां मनुजाधिप ।
द्वे सहस्रे द्वापरे तु भुवि तिष्ठति साम्प्रतम् ॥ ६ ॥

मनुजेश्वर ! त्रेताके मनुष्योंकी आयु तीन हजार वर्षोंकी बतायी गयी है । द्वापरके लोगोंकी आयु दो हजार वर्षोंकी है, जो इस समय भूतलपर विद्यमान है ॥ ६ ॥

न प्रमाणस्थितिर्ह्यस्ति तिष्येऽस्मिन् भरतर्षभ ।
गर्भस्थाश्च म्रियन्तेऽत्र तथा जाता म्रियन्ति च ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस कलियुगमें आयु-प्रमाणकी कोई मर्यादा नहीं है । यहाँ गर्भके बच्चे भी मरते हैं और नवजात शिशु भी मृत्युको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

महाबला महासत्त्वाः प्रज्ञागुणसमन्विताः ।
प्रजायन्ते च जाताश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥
जाताः कृतयुगे राजन् धनिनः प्रियदर्शनाः ।
प्रजायन्ते च जाताश्च मुनयो वै तपोधनाः ॥ ९ ॥

सत्ययुगमें महाबली, महान् सत्त्वगुणसम्पन्न, बुद्धिमान्, धनवान् और प्रियदर्शन मनुष्य उत्पन्न होते हैं और सैकड़ों तथा हजारों संतानोंको जन्म देते हैं, उस समय प्रायः तपस्याके धनी महर्षिगण जन्म लेते हैं ॥ ८-९ ॥

महोत्साहा महात्मानो धार्मिकाः सत्यवादिनः ।
प्रियदर्शना वपुष्मन्तो महावीर्या धनुर्धराः ॥ १० ॥
वरार्हा युधि जायन्ते क्षत्रियाः शूरसत्तमाः ।
त्रेतायां क्षत्रिया राजन् सर्वे वै चक्रवर्तिनः ॥ ११ ॥

राजन् ! इसी प्रकार त्रेतायुगमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय अत्यन्त उत्साही, महान् मनस्वी, धर्मात्मा, सत्यवादी, प्रियदर्शन, सुन्दर शरीरधारी, महापराक्रमी, धनुर्धर, वर पानेके योग्य, युद्धमें शूरशिरोमणि तथा मानवोंकी रक्षा करनेवाले होते हैं ॥

सर्ववर्णाश्च जायन्ते सदा चैव च द्वापरे ।
महोत्साहा वीर्यवन्तः परस्परजयैषिणः ॥ १२ ॥

द्वापरमें सभी वर्णोंके लोग उत्पन्न होते हैं एवं वे सदा परम उत्साही, पराक्रमी तथा एक दूसरेको जीतनेके इच्छुक होते हैं ॥ १२ ॥

तेजसाल्पेन संयुक्ताः क्रोधनाः पुरुषा नृप ।
लुब्धा अनृतकाश्चैव तिष्ये जायन्ति भारत ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! कलियुगमें जन्म लेनेवाले लोग प्रायः अल्पतेजस्वी, क्रोधी, लोभी तथा असत्यवादी होते हैं ॥ १३ ॥

ईर्ष्या मानस्तथा क्रोधो मायासूया तथैव च ।
तिष्ये भवति भूतानां रागो लोभश्च भारत ॥ १४ ॥

भारत ! कलियुगके प्राणियोंमें ईर्ष्या, मान, क्रोध, माया, दोष-दृष्टि, राग तथा लोभ आदि दोष रहते हैं ॥ १४ ॥

संक्षेपो वर्तते राजन् द्वापरेऽस्मिन् नराधिप ।
गुणोत्तरं हैमवतं हरिवर्षं ततः परम् ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! इस द्वापरमें भी गुणोंकी न्यूनता होती है । भारतवर्षकी अपेक्षा हैमवत तथा हरिवर्षमें उत्तरोत्तर अधिक गुण हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतवर्षे कृताद्यनुरोधेनायुर्निरूपणे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भारतवर्षमें सत्ययुग आदिके अनुसार आयुका निरूपणविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

(भूमिपर्व)

एकादशोऽध्यायः

शाकद्वीपका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

जम्बूखण्डस्त्वया प्रोक्तो यथावदिह संजय ।
विष्कम्भमस्य प्रब्रूहि परिमाणं तु तत्त्वतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने यहाँ जम्बूखण्डका यथावत् वर्णन किया है । अब तुम इसके विस्तार और परिमाणको ठीक-ठीक बताओ ॥ १ ॥

समुद्रस्य प्रमाणं च सम्यगच्छिद्रदर्शनम्।
शाकद्वीपं च मे ब्रूहि कुशद्वीपं च संजय ॥ २ ॥

संजय ! समुद्रके सम्पूर्ण परिमाणको भी अच्छी तरह समझाकर कहो। इसके बाद मुझसे शाकद्वीप और कुशद्वीपका वर्णन करो ॥ २ ॥

शाल्मलिं चैव तत्त्वेन क्रौञ्चद्वीपं तथैव च।
ब्रूहि गावल्गणे सर्वं राहोः सोमार्कयोस्तथा ॥ ३ ॥

गवल्गणकुमार संजय ! इसी प्रकार शाल्मलिद्वीप, क्रौंचद्वीप तथा सूर्य, चन्द्रमा एवं राहुसे सम्बन्ध रखनेवाली सब बातोंका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करो ॥ ३ ॥

संजय उवाच

राजन् सुबहवो द्वीपा यैरिदं संततं जगत्।
सप्तद्वीपान् प्रवक्ष्यामि चन्द्रादित्यौ ग्रहं तथा ॥ ४ ॥

संजय बोले—राजन् ! बहुत-से द्वीप हैं, जिनसे सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है। अब मैं आपकी आज्ञाके अनुसार सात द्वीपोंका तथा चन्द्रमा, सूर्य और राहुका भी वर्णन करूँगा ॥

अष्टादश सहस्राणि योजनानि विशाम्पते।
षट् शतानि च पूर्णानि विष्कम्भो जम्बुपर्वतः ॥ ५ ॥
लावणस्य समुद्रस्य विष्कम्भो द्विगुणः स्मृतः।
नानाजनपदाकीर्णो मणिविद्रुमचित्रितः ॥ ६ ॥
नैकधातुविचित्रैश्च पर्वतैरुपशोभितः।
सिद्धचारणसंकीर्णः सागरः परिमण्डलः ॥ ७ ॥

राजन् ! जम्बूद्वीपका विस्तार पूरे १८६०० योजन है। इसके चारों ओर जो खारे पानीका समुद्र है, उसका विस्तार जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दूना माना गया है। उसके तटपर तथा टापूमें बहुत-से देश और जनपद हैं। उसके भीतर नाना प्रकारके मणि और मूँगे हैं, जो उसकी विचित्रता सूचित करते हैं। अनेक प्रकारके धातुओंसे अद्भुत प्रतीत होनेवाले बहुसंख्यक पर्वत उस सागरकी शोभा बढ़ाते हैं। सिद्धों तथा चारणोंसे भरा हुआ वह लवणसमुद्र सब ओरसे मण्डलाकार है ॥

शाकद्वीपं च वक्ष्यामि यथावदिह पार्थिव।
शृणु मे त्वं यथान्यायं ब्रुवतः कुरुनन्दन ॥ ८ ॥

राजन्! अब मैं शाकद्वीपका यथावत् वर्णन आरम्भ करता हूँ। कुरुनन्दन! मेरे इस न्यायोचित कथनको आप ध्यान देकर सुनें॥

जम्बूद्वीपप्रमाणेन द्विगुणः स नराधिप।
विष्कम्भेण महाराज सागरोऽपि विभागशः ॥ ९ ॥

महाराज ! नरेश्वर ! वह द्वीप विस्तारकी दृष्टिसे जम्बूद्वीपके परिमाणसे दूना है। भरतश्रेष्ठ ! उसका समुद्र भी विभागपूर्वक उससे दूना ही है ॥ ९ ॥

क्षीरोदो भरतश्रेष्ठ येन सम्परिवारितः।
तत्र पुण्या जनपदास्तत्र न म्रियते जनः ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समुद्रका नाम क्षीरसागर है, जिसने उक्त द्वीपको सब ओरसे घेर रक्खा है। वहाँ पवित्र
वहाँ निवास करनेवाले लोगोंकी मृत्यु नहीं होती ॥

कुत एव हि दुर्भिक्षं क्षमातेजोयुता हि ते।
शाकद्वीपस्य संक्षेपो यथावद् भरतर्षभ।
उक्त एष महाराज किमन्यत् कथयामि ते।

फिर वहाँ दुर्भिक्ष तो हो ही कैसे सकता है ! निवासी क्षमाशील और तेजस्वी होते हैं। भरतश्रेष्ठ इस प्रकार शाकद्वीपका संक्षेपसे यथावत् वर्णन किया अब और आपसे क्या कहूँ ? ॥ ११½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शाकद्वीपस्य संक्षेपो यथावदिह संजय।
उक्तस्त्वया महाप्राज्ञ विस्तरं ब्रूहि तत्त्वतः।

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् संजय ! तुमने द्वीपका संक्षिप्तरूपसे यथावत् वर्णन किया है। अब कुछ विस्तारके साथ यथार्थ परिचय दो ॥ १२½ ॥

संजय उवाच

तथैव पर्वता राजन् सप्तात्र मणिभूषिताः।
रत्नाकरास्तथा नद्यस्तेषां नामानि मे शृणु।

संजय बोले—राजन् ! शाकद्वीपमें भी विभूषित सात पर्वत हैं। वहाँ रत्नोंकी बहुत-सी नदियाँ भी हैं। उनके नाम मुझसे सुनिये ॥ १३½

अतीव गुणवत् सर्वं तत्र पुण्यं जनाधिप।
देवर्षिगन्धर्वयुतः प्रथमो मेरुरुच्यते।
प्रागायतो महाराज मलयो नाम पर्वतः।

जनेश्वर ! वहाँका सब कुछ परम पवित्र और गुणकारी है। वहाँका प्रधान पर्वत है मेरु, जो देवर्षि गन्धर्वोंसे सेवित है। महाराज ! दूसरे पर्वतका नाम जो पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैला हुआ है ॥ १४-१५ ॥

ततो मेघाः प्रवर्तन्ते प्रभवन्ति च सर्वशः।
ततः परेण कौरव्य जलधारो महागिरिः।

मेघ वहींसे उत्पन्न होते हैं, फिर वे सब ओर जलकी वर्षा करनेमें समर्थ होते हैं। कुरुनन्दन ! जलधार नामक महान् पर्वत है ॥ १६ ॥

ततो नित्यमुपादत्ते वासवः परमं जलम्।
ततो वर्षं प्रभवति वर्षकाले जनेश्वर।

जनेश्वर ! इन्द्र वहींसे सदा उत्तम जल ग्रहण इसीलिये वर्षाकालमें वे यथेष्ट जल बरसानेमें समर्थ हैं।

उच्चैर्गिरी रैवतको यत्र नित्यं प्रतिष्ठिता।
रेवती दिवि नक्षत्रं पितामहकृतो विधिः।

उसी द्वीपमें उच्चतम रैवतक पर्वत है, जहाँ रेवती नामक नक्षत्र नित्य प्रतिष्ठित है। यह रचा हुआ विधान है ॥ १८ ॥

उत्तरेण तु राजेन्द्र श्यामो नाम महागिरिः ।
नवमेघप्रभः प्रांशुः श्रीमानुज्ज्वलविग्रहः ॥ १९ ॥

राजेन्द्र ! उसके उत्तर भागमें श्याम नामक महान् पर्वत है, जो नूतन मेघके समान श्याम शोभासे युक्त है । उसकी ऊँचाई बहुत है । उसका कान्तिमान् कलेवर परम उज्ज्वल है॥

यतः श्यामत्वमापन्नाः प्रजा जनपदेश्वर ।

जनपदेश्वर ! वहाँ रहनेसे ही वहाँकी प्रजा श्यामताको प्राप्त हुई है !! १९½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सुमहान् संशयो मेऽद्य प्रोक्तोऽयं संजय त्वया ।
प्रजाः कथं सूतपुत्र सम्प्राप्ताः श्यामतामिह ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र बोले—सूतपुत्र संजय ! यह तो तुमने आज मुझसे महान् संशयकी बात कही है । भला, वहाँ रहने मात्रसे प्रजा श्यामताको कैसे प्राप्त हो गयी ? ॥ २० ॥

संजय उवाच

सर्वेष्वेव महाराज द्वीपेषु कुरुनन्दन ।
गौरः कृष्णश्च वर्णौ द्वौ तयोर्वर्णान्तरं नृप ॥ २१ ॥
श्यामो यस्मात् प्रवृत्तो वै तत् ते वक्ष्यामि भारत ।
आस्तेऽत्र भगवान् कृष्णस्तत्कान्त्या श्यामतां गतः ।२२।

संजयने कहा—महाराज कुरुनन्दन ! सम्पूर्ण द्वीपोंमें गौर, कृष्ण तथा इन दोनों वर्णोंका सम्मिश्रण देखा जाता है । भारत ! यह पर्वत जिस कारणसे श्याम होकर दूसरोंमें भी श्यामता उत्पन्न करनेवाला हुआ, वह आपको बताता हूँ । यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण निवास करते हैं; अतः उन्हींकी कान्तिसे यह (स्वयं भी) श्यामताको प्राप्त हुआ है (और अपने समीप रहनेवाली प्रजामें भी श्यामता उत्पन्न कर देता है) ॥

ततः परं कौरवेन्द्र दुर्गशैलो महोदयः ।
केसरः केसरयुतो यतो वातः प्रवर्तते ॥ २३ ॥

कौरवराज ! श्यामगिरिके बाद बहुत ऊँचा दुर्ग शैल है । उसके बाद केसर पर्वत है, जहाँसे चली हुई वायु केसरकी सुगन्ध लिये बहती है ॥ २३ ॥

तेषां योजनविष्कम्भो द्विगुणः प्रविभागशः ।
वर्षाणि तेषु कौरव्य सप्तोक्तानि मनीषिभिः ॥ २४ ॥

इन सब पर्वतोंका विस्तार दूना होता गया है । कुरुनन्दन ! मनीषी पुरुषोंने उन पर्वतोंके समीप सात वर्ष बताये हैं॥

महामेरुर्महाकाशो जलदः कुमुदोत्तरः ।
जलधारो महाराज सुकुमार इति स्मृतः ॥ २५ ॥

महामेरु पर्वतके समीप महाकाश वर्ष है, जलद या मलयके निकट कुमुदोत्तर वर्ष है । महाराज ! जलधार गिरिका पार्श्ववर्ती वर्ष सुकुमार बताया गया है ॥ २५ ॥

रैवतस्य तु कौमारः श्यामस्य मणिकाञ्चनः ।
केसरस्याथ मोदाकी परेण तु महापुमान् ॥ २६ ॥

रैवतक पर्वतका कुमारवर्ष तथा श्यामगिरिका मणिकाञ्चन वर्ष है । इसी प्रकार केसरके समीपवर्ती वर्षको मोदाकी कहते हैं । उसके आगे महापुमान् नामक एक पर्वत है ॥

परिवार्य तु कौरव्य दैर्घ्यं ह्रस्वत्वमेव च ।
जम्बूद्वीपेन संख्यातस्तस्य मध्ये महाद्रुमः ॥ २७ ॥
शाको नाम महाराज प्रजा तस्य सदानुगा ।
तत्र पुण्या जनपदाः पूज्यते तत्र शंकरः ॥ २८ ॥

वह उस द्वीपकी लंबाई और चौड़ाई सबको घेरकर खड़ा है ! महाराज ! उसके बीचमें शाक नामक एक बड़ा भारी वृक्ष है, जो जम्बूद्वीपके समान ही विशाल है । महाराज ! वहाँकी प्रजा सदा उस शाक वृक्षके ही आश्रित रहती है । वहाँ बड़े पवित्र जनपद हैं । उस द्वीपमें भगवान् शङ्करकी आराधना की जाती है ॥ २७-२८ ॥

तत्र गच्छन्ति सिद्धाश्च चारणा दैवतानि च ।
धार्मिकाश्च प्रजा राजंश्चत्वारोऽतीव भारत ॥ २९ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! वहाँ सिद्ध, चारण और देवता जाते हैं । वहाँके चारों वर्णोंकी प्रजा अत्यन्त धार्मिक होती है॥

वर्णाः स्वकर्मनिरता न च स्तेनोऽत्र दृश्यते ।
दीर्घायुषो महाराज जरामृत्युविवर्जिताः ॥ ३० ॥

सभी वर्णके लोग वहाँ अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मका पालन करते हैं । वहाँ कोई चोर नहीं दिखायी देता । महाराज ! उस द्वीपके निवासी दीर्घायु तथा जरा और मृत्युसे रहित होते हैं ॥ ३० ॥

प्रजास्तत्र विवर्धन्ते वर्षास्विव समुद्रगाः ।
नद्यः पुण्यजलास्तत्र गङ्गा च बहुधा गता ॥ ३१ ॥

जैसे वर्षाऋतुमें समुद्रगामिनी नदियाँ बढ़ जाती हैं, उसी प्रकार वहाँकी समस्त प्रजा सदा वृद्धिको प्राप्त होती रहती है । उस द्वीपमें अनेक पवित्र जलवाली नदियाँ बहती हैं । वहाँ गङ्गा भी अनेक धाराओंमें विभक्त देखी जाती हैं॥

सुकुमारी कुमारी च शीताशी वेणिका तथा ।
महानदी च कौरव्य तथा मणिजला नदी ॥ ३२ ॥
चक्षुर्वर्धनिका चैव नदी भरतसत्तम ।
तत्र प्रवृत्ताः पुण्योदा नद्यः कुरुकुलोद्वह ॥ ३३ ॥

कुरुनन्दन ! भरतश्रेष्ठ ! उस द्वीपमें सुकुमारी, कुमारी, शीताशी, बेणिका, महानदी, मणिजला तथा चक्षुर्वर्धनिका आदि पवित्र जलवाली नदियाँ बहती हैं ॥ ३२-३३ ॥

सहस्राणां शतान्येव यतो वर्षति वासवः ।
न तासां नामधेयानि परिमाणं तथैव च ॥ ३४ ॥
शक्यन्ते परिसंख्यातुं पुण्यास्ता हि सरिद्वराः ।
तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोकसम्मताः ॥ ३५ ॥

वहाँ लाखों ऐसी नदियाँ हैं, जिनसे जल लेकर इन्द्र वर्षा करते हैं । उनके नाम और परिमाणकी संख्या बताना

कठिन ही नहीं, असम्भव है। वे सभी श्रेष्ठ नदियाँ परम पुण्यमयी हैं। उस द्वीपमें लोकसम्मानित चार पवित्र जनपद हैं॥

मङ्गाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा।
मङ्गा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मनिरता नृप ॥ ३६ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—मङ्ग, मशक, मानस तथा मन्दग। नरेश्वर! उनमेंसे मङ्ग जनपदमें अधिकतर ब्राह्मण निवास करते हैं। वे सबके सब अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहते हैं॥ ३६ ॥

मशकेषु तु राजन्या धार्मिकाः सर्वकामदाः।
मानसाश्च महाराज वैश्यधर्मोपजीविनः ॥ ३७ ॥
सर्वकामसमायुक्ताः शूरा धर्मार्थनिश्चिताः।

महाराज! मशक जनपदमें सम्पूर्ण कामनाओंके देनेवाले धर्मात्मा क्षत्रिय निवास करते हैं। मानस जनपदके निवासी वैश्यवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हैं। वे सर्वभोगसम्पन्न वीर, धर्म और अर्थको समझनेवाले एवं दृढ़निश्चयी हैं।

शूद्रास्तु मन्दगा नित्यं पुरुषा धर्मशीलिनः ॥

मन्दग जनपदमें शूद्र रहते हैं। वे भी धर्मात्मा हैं।

न तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न च दण्डिकः।
स्वधर्मेणैव धर्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम् ॥

राजेन्द्र! वहाँ न कोई राजा है, न दण्ड है और न देनेवाला है। वहाँके लोग धर्मके ज्ञाता हैं और स्वधर्मके ही प्रभावसे एक-दूसरेकी रक्षा करते हैं॥ ३९ ॥

एतावदेव शक्यं तु तत्र द्वीपे प्रभाषितुम्।
एतदेव च श्रोतव्यं शाकद्वीपे महौजसि ॥

महाराज! उस महान् तेजोमय शाकद्वीपके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है और इतना ही सुनना चाहिये।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भूमिपर्वणि शाकद्वीपवर्णने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भूमिपर्वमें शाकद्वीपवर्णनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११॥

द्वादशोऽध्यायः

कुश, क्रौञ्च और पुष्कर आदि द्वीपोंका तथा राहु, सूर्य एवं चन्द्रमाके प्रमाणका वर्णन

संजय उवाच

उत्तरेषु च कौरव्य द्वीपेषु श्रूयते कथा।
एवं तत्र महाराज ब्रुवतश्च निबोध मे ॥ १ ॥

संजय बोले—महाराज! कुरुनन्दन! इसके बादवाले द्वीपोंके विषयमें जो बातें सुनी जाती हैं, वे इस प्रकार हैं; उन्हें आप मुझसे सुनिये॥ १॥

घृततोयः समुद्रोऽत्र दधिमण्डोदकोऽपरः।
सुरोदः सागरश्चैव तथान्यो जलसागरः ॥ २ ॥

क्षीरोद समुद्रके बाद घृतोद समुद्र है। फिर दधिमण्डोदक समुद्र है। इनके बाद सुरोद समुद्र है, फिर मीठे पानीका सागर है॥ २॥

परस्परेण द्विगुणाः सर्वे द्वीपा नराधिप।
पर्वताश्च महाराज समुद्रैः परिवारिताः ॥ ३ ॥

महाराज! इन समुद्रोंसे घिरे हुए सभी द्वीप और पर्वत उत्तरोत्तर दुगुने विस्तारवाले हैं॥ ३॥

गौरस्तु मध्यमे द्वीपे गिरिर्मानःशिलो महान्।
पर्वतः पश्चिमे कृष्णो नारायणसखो नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर! इनमेंसे मध्यम द्वीपमें मनःशिला (मैनसिल) का एक बहुत बड़ा पर्वत है; जो 'गौर' नामसे विख्यात है। उसके पश्चिममें 'कृष्ण' पर्वत है, जो नारायणको विशेष प्रिय है॥

तत्र रत्नानि दिव्यानि स्वयं रक्षति केशवः।
प्रसन्नश्चाभवत् तत्र प्रजानां व्यदधत् सुखम् ॥ ५ ॥

स्वयं भगवान् केशव ही वहाँ दिव्य रत्नोंको रखते और उनकी रक्षा करते हैं। वे वहाँकी प्रजापर प्रसन्न हुए थे, इसलिये उनको सुख पहुँचानेकी व्यवस्था उन्होंने स्वयं की।

कुशस्तम्बः कुशद्वीपे मध्ये जनपदैः सह।
सम्पूज्यते शाल्मलिश्च द्वीपे शाल्मलिके नृप ॥

नरेश्वर! कुशद्वीपमें कुशोंका एक बहुत बड़ा झाड़ है, जिसकी वहाँके जनपदोंमें रहनेवाले लोग पूजा करते हैं। इसी प्रकार शाल्मलि द्वीपमें शाल्मलि (सेंमर) वृक्षकी पूजा की जाती है॥ ६॥

क्रौञ्चद्वीपे महाक्रौञ्चो गिरी रत्नचयाकरः।
सम्पूज्यते महाराज चातुर्वर्ण्येन नित्यदा ॥

क्रौञ्चद्वीपमें महाक्रौञ्च नामक महान् पर्वत है, जो रत्नराशिकी खान है। महाराज! वहाँ चारों वर्णोंके लोग उसीकी पूजा करते हैं॥ ७॥

गोमन्तः पर्वतो राजन् सुमहान् सर्वधातुकः।
यत्र नित्यं निवसति श्रीमान् कमललोचनः ॥
मोक्षिभिः संस्तुतो नित्यं प्रभुर्नारायणो हरिः।

राजन्! वहाँ गोमन्त नामक विशाल पर्वत है, जो सम्पूर्ण धातुओंसे सम्पन्न है। वहाँ मोक्षकी इच्छा रखनेवाले उपासकोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए सबके स्वामी श्रीमान् कमलनयन भगवान् नारायण नित्य निवास करते हैं॥

कुशद्वीपे तु राजेन्द्र पर्वतो विद्रुमैश्चितः ॥
सुधामा नाम दुर्धर्षो द्वितीयो हेमपर्वतः।

राजेन्द्र! कुशद्वीपमें सुधामा नामसे प्रसिद्ध दूसरा सुवर्णमय पर्वत है, जो मूँगोंसे भरा हुआ और दुर्गम है॥

द्युतिमान् नाम कौरव्य तृतीयः कुमुदो गिरिः ॥

चतुर्थः पुष्पवान् नाम पञ्चमस्तु कुशेशयः ।
षष्ठो हरिगिरिर्नाम षडेते पर्वतोत्तमाः ॥ ११ ॥

कौरव्य ! वहीं परम कान्तिमान् कुमुद नामक तीसरा पर्वत है । चौथा पुष्पवान्, पाँचवाँ कुशेशय और छठा हरिगिरि है । ये छः कुशद्वीपके श्रेष्ठ पर्वत हैं ॥ १०-११ ॥

तेषामन्तरविष्कम्भो द्विगुणः सर्वभागशः ।
औद्भिदं प्रथमं वर्षं द्वितीयं वेणुमण्डलम् ॥ १२ ॥

इन पर्वतोंके बीचका विस्तार सब ओरसे उत्तरोत्तर दूना होता गया है । कुशद्वीपके पहले वर्षका नाम उद्भिद् है । दूसरेका नाम वेणुमण्डल है ॥ १२ ॥

तृतीयं सुरथाकारं चतुर्थं कम्बलं स्मृतम् ।
धृतिमत् पञ्चमं वर्षं षष्ठं वर्षं प्रभाकरम् ॥ १३ ॥

तीसरेका नाम सुरथाकार, चौथेका कम्बल, पाँचवेंका धृतिमान् और छठे वर्षका नाम प्रभाकर है ॥ १३ ॥

सप्तमं कापिलं वर्षं सप्तैते वर्षलम्भकाः ।
एतेषु देवगन्धर्वाः प्रजाश्च जगतीश्वर ॥ १४ ॥
विहरन्ते रमन्ते च न तेषु म्रियते जनः ।
न तेषु दस्यवः सन्ति म्लेच्छजात्योऽपि वा नृप॥ १५ ॥

सातवाँ वर्ष कापिल कहलाता है । ये सात वर्षसमुदाय हैं । पृथ्वीपते ! इन सबमें देवता, गन्धर्व तथा मनुष्य सानन्द विहार करते हैं । उनमेंसे किसीकी मृत्यु नहीं होती है । नरेश्वर ! वहाँ लुटेरे अथवा म्लेच्छ जातिके लोग नहीं हैं १४-१५

गौरप्रायो जनः सर्वः सुकुमारश्च पार्थिव ।
अवशिष्टेषु सर्वेषु वक्ष्यामि मनुजेश्वर ॥ १६ ॥

मनुजेश्वर ! इन वर्षोंके सभी लोग प्रायः गोरे और सुकुमार होते हैं । अब मैं शेष सम्पूर्ण द्वीपोंके विषयमें बताता हूँ ॥ १६ ॥

यथाश्रुतं महाराज तदव्यग्रमनाः शृणु ।
क्रौञ्चद्वीपे महाराज क्रौञ्चो नाम महागिरिः ॥ १७ ॥

महाराज ! मैंने जैसा सुन रक्खा है, वैसा ही सुनाऊँगा। आप शान्तचित्त होकर सुनिये । क्रौञ्चद्वीपमें क्रौञ्च नामक विशाल पर्वत है ॥ १७ ॥

क्रौञ्चात् परो वामनको वामनादन्धकारकः ।
अन्धकारात् परो राजन् मैनाकः पर्वतोत्तमः ॥ १८ ॥
मैनाकात् परतो राजन् गोविन्दो गिरिरुत्तमः ।
गोविन्दात् परतो राजन् निविडो नाम पर्वतः ॥ १९ ॥

राजन् ! क्रौञ्चके बाद वामन पर्वत है, वामनके बाद अन्धकार और अन्धकारके बाद मैनाक नामक श्रेष्ठ पर्वत है । प्रभो ! मैनाकके बाद उत्तम गोविन्द गिरि है । गोविन्दके बाद निबिड नामक पर्वत है ॥ १८-१९ ॥

परस्तु द्विगुणस्तेषां विष्कम्भो वंशवर्धन ।
देशांस्तत्र प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ २० ॥

कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले महाराज ! इन पर्वतोंके बीचका विस्तार उत्तरोत्तर दूना होता गया है । उनमें जो देश बसे हुए हैं, उनका परिचय देता हूँ; सुनिये ॥ २० ॥

क्रौञ्चस्य कुशलो देशो वामनस्य मनोनुगः ।
मनोनुगात् परश्चोष्णो देशः कुरुकुलोद्वह ॥ २१ ॥

क्रौञ्चपर्वतके निकट कुशल नामक देश है । वामन पर्वतके पास मनोनुग देश है । कुरुकुलश्रेष्ठ ! मनोनुगके बाद उष्ण देश आता है ॥ २१ ॥

उष्णात् परः प्रावरकः प्रावारादन्धकारकः ।
अन्धकारकदेशात् तु मुनिदेशः परः स्मृतः ॥ २२ ॥

उष्णके बाद प्रावरक, प्रावरकके बाद अन्धकारक और अन्धकारकके बाद उत्तम मुनिदेश बताया गया है ॥ २२ ॥

मुनिदेशात् परश्चैव प्रोच्यते दुन्दुभिस्वनः ।
सिद्धचारणसंकीर्णो गौरप्रायो जनाधिप ॥ २३ ॥
एते देशा महाराज देवगन्धर्वसेविताः ।

मुनिदेशके बाद जो देश है, उसे दुन्दुभिस्वन कहते हैं। वह सिद्धों और चारणोंसे भरा हुआ है । जनेश्वर ! वहाँके लोग प्रायः गोरे होते हैं । महाराज ! इन सभी देशोंमें देवता और गन्धर्व निवास करते हैं ॥ २३½ ॥

पुष्करे पुष्करो नाम पर्वतो मणिरत्नवान् ॥ २४ ॥

पुष्करद्वीपमें पुष्कर नामक पर्वत है, जो मणियों तथा रत्नोंसे भरा हुआ है ॥ २४ ॥

तत्र नित्यं प्रभवति स्वयं देवः प्रजापतिः ।
तं पर्युपासते नित्यं देवाः सर्वे महर्षयः ॥ २५ ॥
वाग्भिर्मनोऽनुकूलाभिः पूजयन्तो जनाधिप ।

वहाँ स्वयं प्रजापति भगवान् ब्रह्मा नित्य निवास करते हैं । जनेश्वर ! सम्पूर्ण देवता और महर्षि मनोनुकूल वचनोंद्वारा प्रतिदिन उनकी पूजा करते हुए सदा उन्हींकी उपासनामें लगे रहते हैं ॥ २५½ ॥

जम्बूद्वीपात् प्रवर्तन्ते रत्नानि विविधान्युत ॥ २६ ॥
द्वीपेषु तेषु सर्वेषु प्रजानां कुरुसत्तम ।
ब्रह्मचर्येण सत्येन प्रजानां हि दमेन च ॥ २७ ॥
आरोग्यायुःप्रमाणाभ्यां द्विगुणं द्विगुणं ततः ।

जम्बूद्वीपसे अनेक प्रकारके रत्न अन्यान्य सब द्वीपोंमें वहाँकी प्रजाओंके उपयोगके लिये भेजे जाते हैं । कुरुश्रेष्ठ ! ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रियसंयमके प्रभावसे उन सब द्वीपोंकी प्रजाओंके आरोग्य और आयुका प्रमाण जम्बूद्वीपकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दूना माना गया है ॥ २६-२७½ ॥

एको जनपदो राजन् द्वीपेष्वेतेषु भारत ।
उक्ता जनपदा येषु धर्मश्चैकः प्रदृश्यते ॥ २८ ॥

भरतवंशी नरेश ! वास्तवमें इन देशोंमें एक ही जनपद है । जिन द्वीपोंमें अनेक जनपद बताये गये हैं, उनमें भी एक प्रकारका ही धर्म देखा जाता है ॥ २८ ॥

ईश्वरो दण्डमुद्यम्य स्वयमेव प्रजापतिः ।
द्वीपानेतान् महाराज रक्षंस्तिष्ठति नित्यदा ॥ २९ ॥

महाराज ! सबके ईश्वर प्रजापति ब्रह्मा स्वयं ही दण्ड लेकर इन द्वीपोंकी रक्षा करते हुए इनमें नित्य निवास करते हैं ॥ २९ ॥

स राजा स शिवो राजन् स पिता प्रपितामहः ।
गोपायति नरश्रेष्ठ प्रजाः सजडपण्डिताः ॥ ३० ॥

नरश्रेष्ठ ! प्रजापति ही वहाँके राजा हैं। वे कल्याणस्वरूप होकर सबका कल्याण करते हैं। राजन् ! वे ही पिता और प्रपितामह हैं। जडसे लेकर चेतनतक समस्त प्रजाकी वे ही रक्षा करते हैं ॥ ३० ॥

भोजनं चात्र कौरव्य प्रजाः स्वयमुपस्थितम् ।
सिद्धमेव महाबाहो तद्धि भुञ्जन्ति नित्यदा ॥ ३१ ॥

महाबाहु कुरुनन्दन ! यहाँकी प्रजाओंके पास सदा पका-पकाया भोजन स्वयं उपस्थित हो जाता है और उसीको खाकर वे लोग रहते हैं ॥ ३१ ॥

ततः परं समा नाम दृश्यते लोकसंस्थितिः ।
चतुरस्रं महाराज त्रयस्त्रिंशत् तु मण्डलम् ॥ ३२ ॥

उसके बाद समानामवाली लोगोंकी बस्ती देखी जाती है। महाराज ! वह चौकोर बसी हुई है। उसमें तैंतीस मण्डल हैं ॥

तत्र तिष्ठन्ति कौरव्य चत्वारो लोकसम्मताः ।
दिग्गजा भरतश्रेष्ठ वामनैरावतादयः ॥ ३३ ॥

कुरुनन्दन ! भरतश्रेष्ठ ! वहाँ लोकविख्यात वामन, ऐरावत, सुप्रतीक और अञ्जन—ये चार दिग्गज रहते हैं ।३३।

सुप्रतीकस्तथा राजन् प्रभिन्नकरटामुखः ।
तस्याहं परिमाणं तु न संख्यातुमिहोत्सहे ॥ ३४ ॥
असंख्यातः स नित्यं हि तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।

राजन् ! इनमेंसे सुप्रतीक नामक गजराज, जिसके गण्डस्थलसे मदकी धारा बहती रहती है, उसका परिमाण कैसा और कितना है, यह मैं नहीं बता सकता । वह नीचे-ऊपर तथा अगल-बगलमें सब ओर फैला हुआ है । वह अपरिमित है ॥ ३४½ ॥

तत्र वै वायवो वान्ति दिग्भ्यः सर्वास्य एव हि ॥ ३५ ॥
असम्बद्धा महाराज तान् निगृह्णन्ति ते गजाः ।
पुष्करैः पद्मसंकाशैर्विकसद्भिर्महाप्रभैः ॥ ३६ ॥
शतधा पुनरेवाशु ते तान् मुञ्चन्ति नित्यशः ।
श्वसद्भिर्मुच्यमानास्तु दिग्गजैरिह मारुताः ॥ ३७ ॥
आगच्छन्ति महाराज ततस्तिष्ठन्ति वै प्रजाः ।

वहाँ सब दिशाओंसे खुली हुई हवा आती है। उसे वे चारों दिग्गज ग्रहण करके रोक रखते हैं। फिर वे विकसित कमल-सदृश परम कान्तिमान् शुण्डदण्डके अग्रभागसे उस हवाको सैकड़ों भागोंमें करके तुरंत ही सब ओर छोड़ते हैं, यह उनका नित्यका काम है। महाराज ! साँस लेते दिग्गजोंके मुखसे मुक्त होकर जो वायु यहाँ आती है, सारी प्रजा जीवन धारण करती है ॥ ३५–३७½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

परो वै विस्तरोऽत्यर्थं त्वया संजय कीर्तितः ॥
दर्शितं द्वीपसंस्थानमुत्तरं ब्रूहि संजय।

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने द्वीपोंकी विषयमें तो बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। अन्तिम विषय—सूर्य, चन्द्रमा तथा राहुका प्रमाण शेष रह गया है, उसका वर्णन करो ॥ ३८½ ॥

संजय उवाच

उक्ता द्वीपा महाराज ग्रहं वै शृणु तत्त्वतः ॥
स्वर्भानोः कौरवश्रेष्ठ यावदेव प्रमाणतः।
परिमण्डलो महाराज स्वर्भानुः श्रूयते ग्रहः ॥

संजय बोले—महाराज ! मैंने द्वीपोंका वर्णन दिया। अब ग्रहोंका यथार्थ वर्णन सुनिये। कौरवश्रेष्ठ की जितनी बड़ी लंबाई-चौड़ाई सुननेमें आती है, वह बताता हूँ । महाराज ! सुना है कि राहु ग्रह कार है ॥ ३९-४० ॥

योजनानां सहस्राणि विष्कम्भो द्वादशास्य वै।
परिणाहेन षट्त्रिंशद् विपुलत्वेन चानघ ॥

निष्पाप नरेश ! राहु ग्रहका व्यासगत विस्तार हजार योजन है और उसकी परिधिका विस्तार छत्तीस योजन है ॥ ४१ ॥

षष्टिमाहुः शतान्यस्य बुधाः पौराणिकास्तथा।
चन्द्रमास्तु सहस्राणि राजन्नेकादश स्मृतः ॥

पौराणिक विद्वान् उसकी विपुलता (मोटाई) हजार योजनकी बताते हैं। राजन् ! चन्द्रमाका व्यास हजार योजन है ॥ ४२ ॥

विष्कम्भेण कुरुश्रेष्ठ त्रयस्त्रिंशत् तु मण्डलम्।
एकोनषष्टिविष्कम्भं शीतरश्मेर्महात्मनः ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उनकी परिधि या मण्डलका विस्तार हजार योजन बताया गया है और महामना शीत चन्द्रमाका वैपुल्यगत विस्तार (मोटाई) उनसठ योजन है ॥ ४३ ॥

सूर्यस्त्वष्टौ सहस्राणि द्वे चान्ये कुरुनन्दन।
विष्कम्भेण ततो राजन् मण्डलं त्रिंशता समम् ॥
अष्टपञ्चाशतं राजन् विपुलत्वेन चानघ।
श्रूयते परमोदारः पतगोऽसौ विभावसुः ॥

कुरुनन्दन ! सूर्यका व्यासगत विस्तार दस हजार है और उनकी परिधि या मण्डलका विस्तार तीस योजन है तथा उनकी विपुलता अठावन सौ योजनकी अनघ ! इस प्रकार शीघ्रगामी परम उदार भगवान्

त्रिविध विस्तारका वर्णन सुना जाता है ॥ ४४-४५ ॥

एतत् प्रमाणमर्कस्य निर्दिष्टमिह भारत ।
स राहुश्छादयत्येतौ यथाकालं महत्तया ॥ ४६ ॥
चन्द्रादित्यौ महाराज संक्षेपोऽयमुदाहृतः ।
इत्येतत् ते महाराज पृच्छतः शास्त्रचक्षुषा ॥ ४७ ॥
सर्वमुक्तं यथातत्त्वं तस्माच्छममवाप्नुहि ।

भारत ! यहाँ सूर्यका प्रमाण बताया गया, इन दोनोंसे अधिक विस्तार रखनेके कारण राहु यथासमय इन सूर्य और चन्द्रमाको आच्छादित कर लेता है । महाराज ! आपके प्रश्नके अनुसार शास्त्रदृष्टिसे ग्रहोंके विषयमें संक्षेपसे बताया गया। ये सारी बातें मैंने आपके सामने यथार्थरूपसे उपस्थित की हैं । अतः आप शान्ति धारण कीजिये ॥ ४६-४७½ ॥

यथोद्दिष्टं मया प्रोक्तं सनिर्माणमिदं जगत् ॥ ४८ ॥
तस्मादाश्वस कौरव्य पुत्रं दुर्योधनं प्रति ।

इस जगत्का स्वरूप कैसा है और इसका निर्माण किस प्रकार हुआ है, ये सब बातें मैंने शास्त्रोक्त रीतिसे बतायी हैं; अतः कुरुनन्दन ! आप अपने पुत्र दुर्योधनकी ओरसे निश्चिन्त रहिये ॥ ४८½ ॥

श्रुत्वेदं भरतश्रेष्ठ भूमिपर्व मनोनुगम् ॥ ४९ ॥
श्रीमान् भवति राजन्यः सिद्धार्थः साधुसम्मतः ।
आयुर्बलं च कीर्तिश्च तस्य तेजश्च वर्धते ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो राजा इस भूमिपर्वको मनोयोगपूर्वक सुनता है, वह श्रीसम्पन्न, सफलमनोरथ तथा श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित होता है और उसके बल, आयु, कीर्ति तथा तेजकी वृद्धि होती है ॥ ४९—५० ॥

यः शृणोति महीपाल पर्वणीदं यतव्रतः ।
प्रीयन्ते पितरस्तस्य तथैव च पितामहाः ॥ ५१ ॥

भूपाल ! जो मनुष्य दृढ़तापूर्वक संयम एवं व्रतका पालन करते हुए प्रत्येक पर्वके दिन इस प्रसङ्गको सुनता है, उसके पितर और पितामह पूर्ण तृप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

इदं तु भारतं वर्षं यत्र वर्तामहे वयम् ।
पूर्वैः प्रवर्तितं पुण्यं तत् सर्वं श्रुतवानसि ॥ ५२ ॥

राजन् ! जिसमें हमलोग निवास करते हैं और जहाँ हमारे पूर्वजोंने पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान किया है, यह वही भारतवर्ष है । आपने इसका पूरा-पूरा वर्णन सुन लिया है ॥५२॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भूमिपर्वणि उत्तरद्वीपादिसंस्थानवर्णने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भूमिपर्वमें उत्तरद्वीपादिसंस्थानवर्णनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(श्रीमद्भगवद्गीतापर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

संजयका युद्धभूमिसे लौटकर धृतराष्ट्रको भीष्मकी मृत्युका समाचार सुनाना

वैशम्पायन उवाच

अथ गावल्गणिर्विद्वान् संयुगादेत्य भारत ।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य भूतभव्यभविष्यवित् ॥ १ ॥
ध्यायते धृतराष्ट्राय सहसोत्पत्य दुःखितः ।
आचष्ट निहतं भीष्मं भरतानां पितामहम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! तदनन्तर एक दिनकी बात है कि भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता एवं सब घटनाओंको प्रत्यक्ष देखनेवाले गवल्गणपुत्र विद्वान् संजयने युद्धभूमिसे लौटकर सहसा चिन्तामग्न धृतराष्ट्रके पास जा अत्यन्त दुखी होकर भरतवंशियोंके पितामह भीष्मके युद्धभूमिमें मारे जानेका समाचार बताया ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

संजयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ ।
हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ॥ ३ ॥

संजय बोले—महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है । मैं संजय आपकी सेवामें उपस्थित हूँ । भरतवंशियोंके पितामह और महाराज शान्तनुके पुत्र भीष्मजी आज युद्धमें मारे गये ॥ ३ ॥

ककुदं सर्वयोधानां धाम सर्वधनुष्मताम् ।
शरतल्पगतः सोऽद्य शेते कुरुपितामहः ॥ ४ ॥

जो समस्त योद्धाओंके ध्वजस्वरूप और सम्पूर्ण धनुर्धरोंके आश्रय थे, वे ही कुरुकुलपितामह भीष्म आज बाणशय्यापर सो रहे हैं ॥ ४ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य द्यूतं पुत्रस्तवाकरोत् ।
स शेते निहतो राजन् संख्ये भीष्मः शिखण्डिना ॥ ५ ॥

राजन् ! आपके पुत्र दुर्योधनने जिनके बाहुबलका भरोसा करके जूएका खेल किया था, वे भीष्म शिखण्डीके हाथों मारे जाकर रणभूमिमें शयन करते हैं ॥ ५ ॥

यः सर्वान् पृथिवीपालान् समवेतान् महामृधे ।
जिगायैकरथेनैव काशिपुर्यां महारथः ॥ ६ ॥
जामदग्न्यं रणे रामं योऽयुध्यदपसम्भ्रमः ।
न हतो जामदग्न्येन स हतोऽद्य शिखण्डिना ॥ ७ ॥

जिन महारथी वीर भीष्मने काशिराजकी नगरीमें एकत्र हुए समस्त भूपालोंको अकेला ही रथपर बैठकर महान् युद्धमें पराजित कर दिया था, जिन्होंने रणभूमिमें जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ निर्भय होकर युद्ध किया था और जिन्हें

परशुरामजी भी मार न सके, वे ही भीष्म आज शिखण्डीके हाथसे मारे गये ॥ ६-७ ॥

महेन्द्रसदृशः शौर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव।
समुद्र इव गाम्भीर्ये सहिष्णुत्वे धरासमः ॥ ८ ॥

जो शौर्यमें देवराज इन्द्रके समान, स्थिरतामें हिमालयके समान, गम्भीरतामें समुद्रके समान और सहनशीलतामें पृथ्वीके समान थे ॥ ८ ॥

शरदंष्ट्रो धनुर्वक्त्रः खड्गजिह्वो दुरासदः।
नरसिंहः पिता तेऽद्य पाञ्चाल्येन निपातितः ॥ ९ ॥

जो मनुष्योंमें सिंह थे, बाण ही जिनकी दाढ़ें थीं, धनुष जिनका फैला हुआ मुख था, तलवार ही जिनकी जिह्वा थी और इसीलिये जिनके पास पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था, वे ही आपके पिता भीष्म आज पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीके द्वारा मार गिराये गये ॥ ९ ॥

पाण्डवानां महासैन्यं यं दृष्ट्वोद्यतमाहवे।
प्रावेपत भयोद्विग्नं सिंहं दृष्ट्वेव गोगणः ॥ १० ॥
परिरक्ष्य स सेनां ते दशरात्रमनीकहा।
जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥

जैसे गौओंका झुंड सिंहके देखते ही भयसे व्या उठता है, उसी प्रकार जिन्हें युद्धमें हथियार उ पाण्डवोंकी विशाल वाहिनी भयसे उद्विग्न होकर या लगती थी, वे ही शत्रुसैन्यसंहारक भीष्म दस दिनों सेनाका संरक्षण करके अत्यन्त दुष्कर पराक्रम प्रक अन्तमें सूर्यकी भाँति अस्ताचलको चले गये ॥ १०-१

यः स शक्र इवाक्षोभ्यो वर्षन् बाणान् सहस्रशः।
जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ॥
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् यथा नार्हः स भारत ॥

जिन्होंने इन्द्रकी भाँति क्षोभरहित होकर हजारों की वर्षा करते हुए दस दिनोंमें शत्रुपक्षके दस करोड़ का संहार कर डाला, वे ही आज आँधीके उखाड़े हु की भाँति मारे जाकर युद्धभूमिमें सो रहे हैं। भरतवं यह सब आपकी कुमन्त्रणाका फल है; नहीं तो भीष्म दुर्दशाके योग्य नहीं थे ॥१२-१३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि भीष्ममृत्युश्रवणे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें भीष्ममृत्युश्रवणविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३

चतुर्दशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विलाप करते हुए भीष्मजीके मारे जानेकी घटनाको विस्तारपूर्वक जाननेके लिये संजयसे प्रश्न करना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं कुरूणामृषभो हतो भीष्मः शिखण्डिना।
कथं रथात् स न्यपतत् पिता मे वासवोपमः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! कुरुकुलके श्रेष्ठतम पुरुष मेरे पितृतुल्य भीष्म शिखण्डीके हाथसे कैसे मारे गये ? वे इन्द्रके समान पराक्रमी थे, वे रथसे कैसे गिरे ? ॥ १ ॥

कथमाचक्ष्व मे योधा हीना भीष्मेण संजय।
बलिना देवकल्पेन गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणा ॥ २ ॥

संजय ! जिन्होंने अपने पिताके संतोषके लिये आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया और जो देवताओंके समान बलवान् थे, उन्हीं भीष्मसे रहित होकर आज हमारे सैनिकोंकी कैसी अवस्था हुई है ? यह बताओ ॥ २ ॥

तस्मिन् हते महाप्राज्ञे महेष्वासे महाबले।
महासत्त्वे नरव्याघ्रे किमु आसीन्मनस्तव ॥ ३ ॥

महाज्ञानी, महाधनुर्धर, महाबली और महान् धैर्यशाली नरश्रेष्ठ भीष्मजीके मारे जानेपर तुम्हारे मनकी कैसी अवस्था हुई ?॥

आर्तिं परामाविशति मनः शंससि मे हतम्।
कुरूणामृषभं वीरमकम्पं पुरुषर्षभम् ॥ ४ ॥

संजय ! तुम कहते हो, अकम्प्य वीर पुरुषसिंह, कुरुकुलशिरोमणि भीष्मजी मारे गये—इसे सुनकर मेरे बड़ी पीड़ा हो रही है ॥ ४ ॥

के तं यान्तमनुप्राप्ताः के वास्यासन् पुरोगमाः।
केऽतिष्ठन् के न्यवर्तन्त केऽन्ववर्तन्त संजय ॥

संजय ! जिस समय वे युद्धके लिये अग्रसर हुए समय इनके पीछे कौन गये थे अथवा उनके आगे कौन वीर थे ? कौन उनके साथ युद्धमें डटे रहे ? कौन यु कर भाग गये ? और किन लोगोंने सर्वथा उनका किया था ? ॥ ५ ॥

के शूरा रथशार्दूलमद्भुतं क्षत्रियर्षभम्।
तथानीकं गाहमानं सहसा पृष्ठतोऽन्वयुः ॥

किन शूरवीरोंने शत्रुसेनामें प्रवेश करते समय सिंहके समान अद्भुत पराक्रमी, क्षत्रियशिरोमणि भी पास सहसा पहुँचकर सदा उनके पृष्ठभागका अनुसरण

यस्तमोऽर्क इवापोहन् परसैन्यममित्रहा।
सहस्ररश्मिप्रतिमः परेषां भयमादधत् ॥

जैसे सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रक सूदन भीष्म शत्रुसेनाका नाश करते थे। जिनका ते किरणोंवाले सूर्यके समान था, जिन्होंने शत्रुओंको कर रक्खा था ॥ ७ ॥

अकरोद् दुष्करं कर्म रणे पाण्डुसुतेषु यः।
प्रसमानमनीकानि य एनं पर्यवारयन् ॥ ८ ॥
कृतिनं तं दुराधर्षं संजयास्य त्वमन्तिके।
कथं शान्तनवं युद्धे पाण्डवाः प्रत्यवारयन् ॥ ९ ॥

जिन्होंने युद्धमें पाण्डवोंपर दुष्कर पराक्रम किया था तथा जो उनकी सेनाका निरन्तर संहार कर रहे थे, उन अस्त्र-विद्याके ज्ञाता दुर्जय वीर भीष्मजीको जिन्होंने रोका है, वे कौन हैं ? संजय ! तुम तो उनके पास ही थे, पाण्डवोंने युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको किस प्रकार आगे बढ़नेसे रोका ?॥

निकृन्तन्तमनीकानि शरदंष्ट्रं मनस्विनम्।
चापव्यात्ताननं घोरमसिजिह्वं दुरासदम् ॥ १० ॥
अनर्हं पुरुषव्याघ्रं ह्रीमन्तमपराजितम्।
पातयामास कौन्तेयः कथं तमजितं युधि ॥ ११ ॥

जो शत्रुपक्षकी सेनाओंका निरन्तर उच्छेद करते थे, बाण ही जिनकी दाढ़ें थीं, धनुष ही खुला हुआ मुख था, तलवार ही जिनकी जिह्वा थी, उन भयकर एवं दुर्धर्ष पुरुष-सिंह भीष्मको कुन्तीनन्दन अर्जुनने युद्धमें कैसे मार गिराया ? मनस्वी भीष्म इस प्रकार पराजयके योग्य नहीं थे। वे लज्जाशील और पराजयशून्य थे ॥ १०-११ ॥

उग्रधन्वानमुग्रेषुं वर्तमानं रथोत्तमे।
परेषामुत्तमाङ्गानि प्रचिन्वन्तमथेषुभिः ॥ १२ ॥

जो उत्तम रथपर बैठकर भयंकर धनुष और भयानक बाण लिये शत्रुओंके मस्तकोंको सायकोंद्वारा काट-काटकर उनके ढेर लगा रहे थे ॥ १२ ॥

पाण्डवानां महत् सैन्यं यं दृष्ट्वोद्यतमाहवे।
कालाग्निमिव दुर्धर्षं समचेष्टत नित्यशः ॥ १३ ॥

पाण्डवोंकी विशाल सेना दुर्धर्ष कालाग्निके समान जिन्हें युद्धके लिये उद्यत देख सदा काँपने लगती थी ॥ १३ ॥

परिकृष्य स सेनां तु दशरात्रमनीकहा।
जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १४ ॥

वे ही शत्रुसूदन भीष्म दस दिनोंतक शत्रुओंकी सेनाका संहार करते हुए अत्यन्त दुष्कर पराक्रम दिखाकर सूर्यकी भाँति अस्त हो गये ॥ १४ ॥

यः स शक्र इवाक्षय्यं वर्षं शरमयं क्षिपन्।
जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ॥ १५ ॥
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः।
मम दुर्मन्त्रितेनाजौ यथा नार्हति भारत ॥ १६ ॥

जिन्होंने इन्द्रके समान युद्धमें दस दिनोंतक अक्षय बाणोंकी वर्षा करके दस करोड़ विपक्षी सेनाओंका संहार कर डाला, वे ही भरतवंशी वीर भीष्म मेरी कुमन्त्रणाके कारण आँधीसे उखाड़े गये वृक्षकी भाँति युद्धमें मारे जाकर पृथ्वीपर शयन कर रहे हैं, वे कदापि इसके योग्य नहीं थे ॥१५-१६॥

कथं शान्तनवं दृष्ट्वा पाण्डवानामनीकिनी।
प्रहर्तुमशकत् तत्र भीष्मं भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म तो बड़े भयंकर पराक्रमी थे, उन्हें सामने देखकर पाण्डवसेना उनपर प्रहार कैसे कर सकी ? ॥

कथं भीष्मेण संग्रामं प्राकुर्वन् पाण्डुनन्दनाः।
कथं च नाजयद् भीष्मो द्रोणे जीवति संजय ॥ १८ ॥

संजय ! पाण्डवोंने भीष्मके साथ संग्राम कैसे किया ? द्रोणाचार्यके जीते-जी भीष्म विजयी कैसे नहीं हो सके ? ॥

कृपे संनिहिते तत्र भरद्वाजात्मजे तथा।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः कथं स निधनं गतः ॥ १९ ॥

उस युद्धमें कृपाचार्य तथा भरद्वाजपुत्र द्रोणाचार्य दोनों ही उनके निकट थे, तो भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म कैसे मारे गये ? ॥ १९ ॥

कथं चातिरथस्तेन पाञ्चाल्येन शिखण्डिना।
भीष्मो विनिहतो युद्धे दैवैरपि दुरासदः ॥ २० ॥

भीष्म तो युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय एवं अतिरथी थे, फिर पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीके हाथसे वे किस प्रकार मारे गये ? ॥ २० ॥

यः स्पर्धते रणे नित्यं जामदग्न्यं महाबलम्।
अजितं जामदग्न्येन शक्रतुल्यपराक्रमम् ॥ २१ ॥
तं हतं समरे भीष्मं महारथकुलोदितम्।
संजयाचक्ष्व मे वीरं येन शर्म न विद्महे ॥ २२ ॥

जो रणभूमिमें महाबली जमदग्निनन्दन परशुरामसे भी टक्कर लेनेकी सदा इच्छा रखते थे, जिनका पराक्रम इन्द्रके समान था और परशुरामजी भी जिन्हें पराजित न कर सके थे; संजय ! महारथियोंके कुलमें प्रकट हुए वे महावीर भीष्म समरभूमिमें किस प्रकार मारे गये, यह मुझे बताओ; क्योंकि मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ २१-२२ ॥

मामकाः के महेष्वासा नाजहुः संजयाच्युतम्।
दुर्योधनसमादिष्टाः के वीराः पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

संजय ! कभी युद्धसे पीछे न हटनेवाले भीष्मजीका मेरे पक्षके किन महाधनुर्धरोंने साथ नहीं छोड़ा ? दुर्योधनकी आज्ञा पाकर किन-किन वीरोंने उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा था ?

यच्छिखण्डिमुखाः सर्वे पाण्डवा भीष्ममभ्ययुः।
कच्चित् ते कुरवः सर्वे नाजहुः संजयाच्युतम् ॥ २४ ॥

संजय ! जब शिखण्डी आदि समस्त पाण्डव वीरोंने भीष्मपर आक्रमण किया, उस समय समस्त कौरवोंने कहीं अच्युत भीष्मका साथ छोड़ तो नहीं दिया था ? ॥ २४ ॥

अश्मसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम।
यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते ॥ २५ ॥

अवश्य ही मेरा यह हृदय लोहेके समान सुदृढ़ है, तभी तो पुरुषसिंह भीष्मको मारा गया सुनकर विदीर्ण नहीं होता है ! ॥ २५ ॥

यस्मिन् सत्यं च मेधा च नीतिश्च भरतर्षभे ।
अप्रमेयाणि दुर्धर्षे कथं स निहतो युधि ॥ २६ ॥

जिन दुर्जय वीर भरतभूषण भीष्ममें सत्य, मेधा और नीति—ये तीन अप्रमेय शक्तियाँ थीं, वे युद्धमें कैसे मारे गये ? ॥

मौर्वीघोषस्तनयित्नुः पृषत्कपृषतो महान् ।
धनुर्ह्रादमहाशब्दो महामेघ इवोन्नतः ॥ २७ ॥

वे युद्धमें महान् मेघके समान ऊँचे उठे हुए थे। धनुषकी टंकार ही उनकी गर्जना थी, बाण ही उनके लिये वर्षाकी बूँदें थीं और धनुषका महान् शब्द ही बिजलीकी गड़गड़ाहटका भयंकर शब्द था ॥ २७ ॥

योऽभ्यवर्षत कौन्तेयान् सपाञ्चालान् ससृंजयान् ।
निघ्नन् पररथान् वीरो दानवानिव वज्रभृत् ॥ २८ ॥

वीरवर भीष्मने शत्रुपक्षके रथियों—कुन्तीकुमारों, पाञ्चालों तथा सृंजयोंको मारते हुए उनके ऊपर उसी प्रकार बाणोंकी बौछार की, जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंपर बाण-वर्षा करते हैं ॥ २८ ॥

इष्वस्त्रसागरं घोरं बाणग्राहं दुरासदम् ।
कार्मुकोर्मिणमक्षय्यमद्वीपं चलमप्लवम् ॥ २९ ॥

उनका धनुष-बाण आदि अस्त्रसमूह भयंकर एवं दुर्गम समुद्रके समान था, बाण ही उसमें ग्राह थे, धनुष लहरोंके समान जान पड़ता था, वह अक्षय, द्वीपरहित, चञ्चल तथा नौका आदि तैरनेके साधनोंसे शून्य था ॥ २९ ॥

गदासिमकरावासं हयावर्तं गजाकुलम् ।
पदातिमत्स्यकलिलं शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनम् ॥ ३० ॥

गदा और खड्ग आदि ही उसमें मगरके समान थे। वह अश्वरूपी भँवरोंसे भयावह प्रतीत होता था, उसमें हाथी जलहस्तीके समान प्रतीत होते थे, पैदल सेना उसमें भरे हुए मत्स्योंके समान जान पड़ती थी तथा शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस समुद्रकी गर्जना थी ॥ ३० ॥

हयान् गजपदातींश्च रथांश्च तरसा बहून् ।
निमज्जयन्तं समरे परवीरापहारिणम् ॥ ३१ ॥

भीष्मजी उस समुद्रमें शत्रुपक्षके हाथियों, घोड़ों, पैदलों तथा बहुसंख्यक रथोंको वेगपूर्वक डुबो रहे थे। वे समरभूमिमें शत्रुवीरोंके प्राणोंका अपहरण करनेवाले थे ॥ ३१ ॥

विदह्यमानं कोपेन तेजसा च परंतपम् ।
वेलेव मकरावासं के वीराः पर्यवारयन् ॥ ३२ ॥

अपने क्रोध और तेजसे दग्ध एवं प्रज्वलित-से होते हुए शत्रुसंतापी भीष्मको जैसे तट समुद्रको रोक देता है उसी प्रकार किन वीरोंने आगे बढ़नेसे रोका था ॥ ३२ ॥

भीष्मो यदकरोत् कर्म समरे संजयारिहा ।
दुर्योधनहितार्थाय के तस्यास्य पुरोऽभवन् ॥ ३३ ॥
केऽरक्षन् दक्षिणं चक्रं भीष्मस्यामिततेजसः ।
पृष्ठतः के परान् वीरानपासेधन् यतव्रताः ॥ ३४ ॥

शत्रुहन्ता भीष्मने दुर्योधनके हितके लिये
जो पराक्रम किया था, वह अनुपम है। उस
कौनसे योद्धा उनके आगे थे ? किन-किन वीरों
तेजस्वी भीष्मके रथके दाहिने पहियेकी रक्षा की
लोगोंने दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए उनके
ओर रहकर शत्रुपक्षके वीरोंको आगे बढ़नेसे रोका

के पुरस्तादवर्तन्त रक्षन्तो भीष्ममन्तिके।
केऽरक्षन्नुत्तरं चक्रं वीरा वीरस्य युध्यतः।

कौन-कौनसे वीर निकटसे भीष्मकी रक्षा
उनके आगे खड़े थे ? और किन वीरोंने युद्धमें
शूरशिरोमणि भीष्मके बायें पहियेकी रक्षा की थी।

वामे चक्रे वर्तमानाः केऽघ्नन् संजय सृंजयान्।
अग्रतोऽभ्यमनीकेषु केऽभ्यरक्षन् दुरासदम्।

संजय ! उनके बायें चक्रकी रक्षामें तत्पर हो
किन योद्धाओंने सृंजयवंशियोंका विनाश किया
किन्होंने आगे रहकर सेनाके अग्रणी दुर्जय वीर भी
ओरसे रक्षा की थी ? ॥ ३६ ॥

पार्श्वतः केऽभ्यरक्षन्त गच्छन्तो दुर्गमां गतिम्।
समूहे के परान् वीरान् प्रत्ययुध्यन्त संजय।

संजय ! किन लोगोंने दुर्गम संग्राममें आगे
उनके पार्श्वभागका संरक्षण किया था ? और कि
सैन्यसमूहमें आगे रहकर वीरतापूर्वक शत्रुयोद्धाओं
सामना किया था ? ॥ ३७ ॥

रक्ष्यमाणः कथं वीरैर्गोप्यमानाश्च तेन ते।
दुर्जेयानामनीकानि नाजयंस्तरसा युधि।

जब मेरे पक्षके बहुत-से वीर उनकी रक्षा करते
वे भी उन वीरोंकी रक्षामें दत्तचित्त थे, तब भी
लोगोंने मिलकर शत्रुपक्षकी दुर्जय सेनाओंको कैसे
परास्त नहीं कर दिया ? ॥ ३८ ॥

सर्वलोकेश्वरस्येव परमेष्ठिप्रजापतेः।
कथं प्रहर्तुमपि ते शेकुः संजय पाण्डवाः।

संजय ! भीष्मजी सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी परमे
पति ब्रह्माजीके समान अजेय थे; फिर पाण्डव उन
कैसे प्रहार कर सके ? ॥ ३९ ॥

यस्मिन् द्वीपे समाश्वस्य युध्यन्ते कुरवः परैः।
तं निमग्नं नरव्याघ्रं भीष्मं शंससि संजय।

संजय ! जिन द्वीपस्वरूप भीष्मजीके आश्रयमें
एवं निश्चिन्त होकर समस्त कौरव शत्रुओंके साथ यु
थे, उन्हीं नरश्रेष्ठ भीष्मको तुम मारा गया बता रहे
कितने दुःखकी बात है ? ॥ ४० ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य मम पुत्रो बृहद्बलः।
न पाण्डवानगणयत् कथं स निहतः परैः।

जिनके पराक्रमका आश्रय लेकर विशाल सेनाओंसे सम्पन्न मेरा पुत्र पाण्डवोंको कुछ नहीं गिनता था, वे शत्रुओं-द्वारा किस प्रकार मारे गये ? ॥ ४१ ॥

यः पुरा विबुधैः सर्वैः सहाये युद्धदुर्मदः ।
काङ्क्षितो दानवान् घ्नद्भिः पिता मम महाव्रतः ॥ ४२ ॥
यस्मिञ्जाते महावीर्ये शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
शोकं दैन्यं च दुःखं च प्राजहात् पुत्रलक्ष्मणि ॥ ४३ ॥
प्रोक्तं परायणं प्राज्ञं स्वधर्मनिरतं शुचिम् ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञं कथं शंससि मे हतम् ॥ ४४ ॥

पहलेकी बात है, दानवोंका संहार करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंने जिन मेरे महान् व्रतधारी पिता रणदुर्मद भीष्मजीको अपना सहायक बनानेकी अभिलाषा की थी, जिन महापराक्रमी पुत्ररत्नके जन्म लेनेपर लोकविख्यात महाराज शान्तनुने शोक, दीनता और दुःखका सदाके लिये त्याग कर दिया था, जो सबके आश्रयदाता, बुद्धिमान्, स्वधर्मपरायण, पवित्र और वेदवेदाङ्गोंके तत्त्वज्ञ बताये गये हैं, उन्हीं भीष्मको तुम मारा गया कैसे बता रहे हो ? ॥ ४२–४४ ॥

सर्वास्त्रविनयोपेतं शान्तं दान्तं मनस्विनम् ।
हतं शान्तनवं श्रुत्वा मन्ये शेषं हतं बलम् ॥ ४५ ॥

जो सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षासे सम्पन्न, शान्त, जितेन्द्रिय और मनस्वी थे, उन शान्तनुनन्दन भीष्मको मारा गया सुनकर मुझे यह विश्वास हो गया कि अब हमारी सारी सेना मार दी गयी ॥ ४५ ॥

धर्मादधर्मो बलवान् सम्प्राप्त इति मे मतिः ।
यत्र वृद्धं गुरुं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ॥ ४६ ॥

आज मुझे निश्चितरूपसे ज्ञात हुआ कि धर्मसे अधर्म ही बलवान् है; क्योंकि पाण्डव अपने वृद्ध गुरुजनकी हत्या करके राज्य लेना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

जामदग्न्यः पुरा रामः सर्वास्त्रविदनुत्तमः ।
अम्बार्थमुद्यतः संख्ये भीष्मेण युधि निर्जितः ॥ ४७ ॥
तमिन्द्रसमकर्माणं ककुदं सर्वधन्विनाम् ।
हतं शंससि मे भीष्मं किं नु दुःखमतः परम् ॥ ४८ ॥

पूर्वकालमें अम्बाके लिये उद्यत होकर सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुराम युद्ध करनेके लिये आये थे, परंतु भीष्मने उन्हें परास्त कर दिया, उन्हीं इन्द्रके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भीष्मको तुम मारा गया कह रहे हो, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ ४७-४८ ॥

असकृत् क्षत्रियव्राताः संख्ये येन विनिर्जिताः ।
जामदग्न्येन वीरेण परवीरनिघातिना ॥ ४९ ॥
न हतो यो महाबुद्धिः स हतोऽद्य शिखण्डिना ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले जिन वीरवर परशुरामजीने अनेक बार समस्त क्षत्रियोंको युद्धमें परास्त किया था, उनसे भी जो मारे न जा सके, वे ही परम बुद्धिमान् भीष्म आज शिखण्डीके हाथसे मार दिये गये ! ॥ ४९½ ॥

तस्मान्नूनं महावीर्याद् भार्गवाद् युद्धदुर्मदात् ॥ ५० ॥
तेजोवीर्यबलैर्भूयाञ्छिखण्डी द्रुपदात्मजः ।
यः शूरं कृतिनं युद्धे सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ ५१ ॥
परमास्त्रविदं वीरं जघान भरतर्षभम् ।

इससे जान पड़ता है कि महापराक्रमी युद्धदुर्मद परशुरामजीकी अपेक्षा भी तेज, पराक्रम और बलमें द्रुपदकुमार शिखण्डी निश्चय ही बहुत बढ़ा-चढ़ा है, जिसने सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण, परमास्त्रवेत्ता और शूरवीर विद्वान् भरतकुलभूषण भीष्मजीका वध कर डाला है ॥ ५०-५१½ ॥

के वीरास्तममित्रघ्नमन्वयुः शस्त्रसंसदि ॥ ५२ ॥
शंस मे तद् तथा चासीद् युद्धं भीष्मस्य पाण्डवैः ।
योषेव हतवीरा मे सेना पुत्रस्य संजय ॥ ५३ ॥

उस समय युद्धमें शत्रुहन्ता भीष्मजीके साथ कौन-कौनसे वीर थे ? संजय ! पाण्डवोंके साथ भीष्मका किस प्रकार युद्ध हुआ ? यह मुझे बताओ । उन वीर सेनापतिके मारे जानेपर मेरे पुत्रकी सेना विधवा स्त्रीके समान असहाय हो गयी है ॥

अगोपमिव चोद्भ्रान्तं गोकुलं तद् बलं मम ।
पौरुषं सर्वलोकस्य परं यस्मिन् महाहवे ॥ ५४ ॥
परासक्ते च वस्तस्मिन् कथमासीन्मनस्तदा ।

जैसे ग्वालेके बिना गौओंका समुदाय इधर-उधर भटकता-फिरता है, उसी प्रकार अब मेरी सेना उद्भ्रान्त हो रही होगी। महान् युद्धके समय जिनमें सम्पूर्ण जगत्का परम पुरुषार्थ प्रकट दिखायी देता था, वे ही भीष्म जब परलोकके पथिक हो गये, उस समय तुमलोगोंके मनकी अवस्था कैसी हुई थी ? ॥

जीवितेऽप्यद्य सामर्थ्यं किमिवास्मासु संजय ॥ ५५ ॥
घातयित्वा महावीर्यं पितरं लोकधार्मिकम् ।
अगाधे सलिले मग्नां नावं दृष्ट्वेव पारगाः ॥ ५६ ॥

संजय ! आज जीवित रहनेपर भी हमलोगोंमें क्या सामर्थ्य है ? जगत्के विख्यात धर्मात्मा महापराक्रमी पिता भीष्मको युद्धमें मरवाकर हम उसी प्रकार शोकमें डूब गये हैं, जैसे पार जानेकी इच्छावाले पथिक नावको अगाध जलमें डूबी हुई देखकर दुखी होते हैं ॥ ५५-५६ ॥

भीष्मे हते भृशं दुःखान्मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः।
अद्रिसारमयं नूनं हृदयं मम संजय ॥ ५७ ॥
यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते ।

मैं समझता हूँ कि भीष्मजीके मारे जानेपर मेरे बेटे दुःखके कारण अत्यन्त शोकमग्न हो गये होंगे । संजय ! मेरा हृदय निश्चय ही लोहेका बना हुआ है, जो पुरुषसिंह भीष्मको मारा गया सुनकर भी विदीर्ण नहीं हो रहा है ॥ ५७½ ॥

यस्मिन्नस्त्राणि मेधा च नीतिश्च पुरुषर्षभे ॥ ५८ ॥

अप्रमेयाणि दुर्धर्षे कथं स निहतो युधि।

जिन पुरुषरत्न तथा दुर्धर्ष वीर-शिरोमणिमें अस्त्र, बुद्धि और नीति तीन अप्रमेय शक्तियाँ थीं, वे युद्धमें कैसे मारे गये ?॥

न चास्त्रेण न शौर्येण तपसा मेधया न च ॥ ५९ ॥
न धृत्या न पुनस्त्यागान्मृत्योः कश्चिद्विमुच्यते।

जान पड़ता है कि अस्त्रसे, शौर्यसे, तपस्यासे, बुद्धिसे, धैर्यसे तथा त्यागके द्वारा भी कोई मृत्युसे छूट नहीं सकता है॥

कालो नूनं महावीर्यः सर्वलोकदुरत्ययः ॥ ६० ॥
यत्र शान्तनवं भीष्मं हतं शंससि संजय।

संजय ! निश्चय ही कालकी शक्ति बहुत बड़ी है, सम्पूर्ण जगत्‌के लिये वह दुर्लङ्घ्य है, जिसके अधीन होनेके कारण तुम शान्तनुनन्दन भीष्मको मारा गया बता रहे हो ॥६०½॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तो महद् दुःखमचिन्तयम् ॥ ६१ ॥
आशंसेऽहं परं त्राणं भीष्माच्छान्तनुनन्दनात्।

मुझे शान्तनुनन्दन भीष्मसे अपने पक्षके परित्राणकी बड़ी आशा थी। इस समय अपने पुत्रके शोकसे संतप्त होकर मैं महान् दुःखसे चिन्तित हो उठा हूँ ॥ ६१½ ॥

यदाऽऽदित्यमिवापश्यत् पतितं भुवि संजय ॥ ६२ ॥
दुर्योधनः शान्तनवं किं तदा प्रत्यपद्यत।

संजय ! जब दुर्योधनने शान्तनुनन्दन भीष्मको अस्ताचलगामी सूर्यकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखा, तब उसने क्या सोचा ?॥

नाहं स्वेषां परेषां वा बुद्ध्या संजय चिन्तयन् ॥ ६३ ॥
शेषं किंचित् प्रपश्यामि प्रत्यनीके महीक्षिताम्।

संजय ! जब मैं अपनी बुद्धिसे विचार करके देखता हूँ तो अपने अथवा शत्रुपक्षके राजाओंमेंसे किसीका भी जीवन इस युद्धमें शेष रहता नहीं दिखायी देता है ॥ ६३½ ॥

दारुणः क्षत्रधर्मोऽयमृषिभिः सम्प्रदर्शितः ॥ ६४ ॥
यत्र शान्तनवं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः।

ऋषियोंने क्षत्रियोंका यह धर्म अत्यन्त कठोर निश्चित किया है, जिसमें रहते हुए पाण्डव शान्तनुनन्दन भीष्मको मारकर राज्य लेना चाहते हैं ॥ ६४½ ॥

वयं वा राज्यमिच्छामो घातयित्वा महाव्रतम् ॥ ६५ ॥
क्षत्रधर्मे स्थिताः पार्था नापराध्यन्ति पुत्रकाः।
एतदार्येण कर्तव्यं कृच्छ्रास्वापत्सु संजय ॥ ६६ ॥
पराक्रमः परं शक्त्या तत्तु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।

अथवा हम भी तो उन महारथी भीष्मको मरवाकर ही राज्य लेना चाहते हैं। क्षत्रियधर्ममें स्थित हुए मेरे बच्चे कुन्तीकुमारोंका कोई अपराध नहीं है। संजय ! दुस्तर आपत्तिके समय श्रेष्ठ पुरुषको यही करना चाहिये, जो भीष्मजीने किया है। कि वह शक्तिके अनुसार अधिकसे अधिक पराक्रम करे। यह गुण भीष्मजीमें पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित था ॥ ६५-६६ ॥

अनीकानि विनिघ्नन्तं ह्रीमन्तमपराजितम् ॥ ६७ ॥
कथं शान्तनवं तातं पाण्डुपुत्रा न्यवारयन्।
कथं युक्तान्यनीकानि कथं युद्धं महात्मभिः ॥

भीष्मजी किसीसे पराजित न होनेवाले और थे। विपक्षी सेनाओंका संहार करते हुए उन मेरे ताऊ को पाण्डवोंने कैसे रोका ? उन महामनस्वी वीरोंने कि सेनाएँ संगठित कीं और किस प्रकार युद्ध किया ? ॥६७-६

कथं वा निहतो भीष्मः पिता संजय मे परैः।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ॥
दुःशासनश्च कितवो हते भीष्मे किमब्रुवन्।

संजय ! शत्रुओंने मेरे आदरणीय पिता भीष्म प्रकार वध किया ? दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन तथा जुआरी शकुनिने भीष्मजीके मारे जानेपर क्या-क्या बातें

यच्छरीरैरुपास्तीर्णां नरवारणवाजिनाम् ॥
शरशक्तिमहाखड्गतोमराक्षां महाभयाम्।
प्राविशन् कितवा मन्दाः सभां युद्धदुरासदाम् ॥
प्राणद्यूते प्रतिभये केऽदीव्यन्त नरर्षभाः।

संजय ! जहाँ मनुष्य, हाथी और घोड़ोंके शरी हुए थे, जहाँ बाण, शक्ति, महान् खड्ग और तो पासे फेंके जाते थे। जो युद्धके कारण दुर्गम एवं मह देनेवाली थी, उस रणक्षेत्ररूपी द्यूतसभामें किन-किन बुद्धि जुआरियोंने प्रवेश किया था ? जहाँ प्राणोंकी लगायी जाती थी, वह भयंकर जूएका खेल किन-किन वीरोंने खेला था ? ॥ ७०-७१½ ॥

के जीयन्ते जितास्तत्र कृतलक्ष्या निपातिताः ॥
अन्ये भीष्माच्छान्तनवात् तन्ममाचक्ष्व संजय।

संजय ! शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा, उस युद्धमें कौन-से हार रहे थे, किन-किन लोगोंकी पराजय हुई कौन-कौन वीर बाणोंके लक्ष्य बनकर मार गिराये यह सब मुझे बताओ ॥ ७२½ ॥

न हि मे शान्तिरस्तीह श्रुत्वा देवव्रतं हतम् ॥
पितरं भीमकर्माणं भीष्ममाहवशोभिनम्।
आर्तिं मे हृदये रूढां महतीं पुत्रहानिजाम् ॥
त्वं हि मे सर्पिषेवाग्निमुद्दीपयसि संजय।

युद्धभूमिमें शोभा पानेवाले भयंकर पराक्रमी अपने देवव्रत भीष्मको मारा गया सुनकर मेरे हृदयमें शान्ति रह गयी है। उनके मारे जानेसे मेरे पुत्रोंकी जो हानि वाली है, उसके कारण मेरे मनमें भारी व्यथा जाग उठी संजय ! तुम अपने वचनरूपी घृतकी आहुति मेरी उस चिन्ता एवं व्यथारूपी अग्निको और भी कर रहे हो ॥ ७३-७४½ ॥

महान्तं भारमुद्यम्य विश्रुतं सार्वलौकिकम् ॥
दृष्ट्वा विनिहतं भीष्मं मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः।
श्रोष्यामि तानि दुःखानि दुर्योधनकृतान्यहम् ॥

जिन्होंने सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात इस युद्धके महान् भारको अपनी भुजाओंपर उठा रक्खा था, उन्हीं भीष्मजीको मारा गया देख मेरे पुत्र भारी शोकमें पड़ गये होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं दुर्योधनके द्वारा प्रकट किये हुए उन दुःखोंको सुनूँगा ॥ ७५-७६ ॥

तस्मान्मे सर्वमाचक्ष्व यद् वृत्तं तत्र संजय ।
यद् वृत्तं तत्र संग्रामे मन्दस्याबुद्धिसम्भवम् ॥ ७७ ॥
अपनीतं सुनीतं यत् तन्ममाचक्ष्व संजय ।

इसलिये संजय ! मुझसे वहाँका सारा वृत्तान्त कहो। मूर्ख दुर्योधनके अज्ञानके कारण उस युद्धमें अन्याय और न्यायकी जो-जो बातें संघटित हुई हों, उन सबका वर्णन करो।

यत् कृतं तत्र संग्रामे भीष्मेण जयमिच्छता ॥ ७८ ॥
तेजोयुक्तं कृतास्त्रेण शंस तच्चाप्यशेषतः ।

विजयकी इच्छा रखनेवाले अस्त्रवेत्ता भीष्मजीने उस युद्धमें अपनी तेजस्विताके अनुरूप जो-जो कार्य किया हो, वह सभी पूर्णरूपसे मुझे बताओ ॥ ७८½ ॥

तथा तदभवद् युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ७९ ॥
क्रमेण येन यस्मिंश्च काले यच्च यथाभवत् ॥ ८० ॥

कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका वह युद्ध जिस समय जिस क्रमसे और जिस रूपमें हुआ था, वह सब कहो ॥ ७९-८० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतापर्वणि धृतराष्ट्रप्रश्ने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें धृतराष्ट्रके प्रश्नविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

संजयका युद्धके वृत्तान्तका वर्णन आरम्भ करना—दुर्योधनका दुःशासनको भीष्मकी रक्षाके लिये समुचित व्यवस्था करनेका आदेश

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथार्हसि ।
न तु दुर्योधने दोषमिममासंक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपने जो ये वारम्बार अनेक प्रश्न किये हैं, वे सर्वथा उचित और आपके योग्य ही हैं; परंतु यह सारा दोष आपको दुर्योधनके ही माथेपर नहीं मढ़ना चाहिये ॥ १ ॥

य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः ।
मनसा तेन नान्यं स उपाशङ्कितुमर्हति ॥ २ ॥

जो मनुष्य अपने दुष्कर्मोंके कारण अशुभ फल भोग रहा हो, उसे उस पापकी आशंका दूसरेपर नहीं करनी चाहिये।

महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत् ।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ॥ ३ ॥

महाराज ! जो पुरुष मनुष्य-समाजमें सर्वथा निन्दनीय आचरण करता है, वह निन्दित कर्म करनेके कारण सब लोगोंके लिये मार डालनेयोग्य है ॥ ३ ॥

निकारो निकृतिप्रज्ञैः पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया ।
अनुभूतः सहामात्यैः क्षान्तश्च सुचिरं वने ॥ ४ ॥

पाण्डव आप लोगोंद्वारा अपने प्रति किये गये अपमान एवं कपटपूर्ण बर्तावको अच्छी तरह जानते थे, तथापि उन्होंने केवल आपकी ओर देखकर—आपके द्वारा न्यायोचित बर्ताव होनेकी आशा रखकर दीर्घकालतक अपने मन्त्रियोंसहित वनमें रहकर क्लेश भोगा और सब कुछ सहन किया ॥ ४ ॥

हयानां च गजानां च राज्ञां चामिततेजसाम् ।
प्रत्यक्षं यन्मया दृष्टं दृष्टं योगबलेन च ॥ ५ ॥
शृणु तत् पृथिवीपाल मा च शोके मनः कृथाः ।
दिष्टमेतत् पुरा नूनमिदमेव नराधिप ॥ ६ ॥

भूपाल ! मैंने हाथियों, घोड़ों तथा अमिततेजस्वी राजाओंके विषयमें जो कुछ अपनी आँखों देखा है और योगबलसे जिसका साक्षात्कार किया है, वह सब वृत्तान्त सुना रहा हूँ, सुनिये। अपने मनको शोकमें न डालिये। नरेश्वर ! निश्चय ही दैवका यह सारा विधान मुझे पहलेसे ही प्रत्यक्ष हो चुका है ॥ ५-६ ॥

नमस्कृत्वा पितुस्तेऽहं पाराशर्याय धीमते ।
यस्य प्रसादाद् दिव्यं तत् प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
दृष्टिश्चातीन्द्रिया राजन् दूराच्छ्रवणमेव च ।
परचित्तस्य विज्ञानमतीतानागतस्य च ॥ ८ ॥
व्युत्थितोत्पत्तिविज्ञानमाकाशे च गतिः शुभा ।
अस्त्रैरसंगो युद्धेषु वरदानान्महात्मनः ॥ ९ ॥
शृणु मे विस्तरेणेदं विचित्रं परमाद्भुतम् ।
भरतानामभूद् युद्धं यथा तल्लोमहर्षणम् ॥ १० ॥

राजन् ! जिनके कृपाप्रसादसे मुझे परम उत्तम दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, इन्द्रियातीत विषयको भी प्रत्यक्ष देखनेवाली दृष्टि मिली है; दूरसे भी सब कुछ सुननेकी शक्ति, दूसरेके मनकी बातोंको समझ लेनेकी सामर्थ्य, भूत और भविष्यका ज्ञान, शास्त्रके विपरीत चलनेवाले मनुष्योंकी उत्पत्तिका ज्ञान, आकाशमें चलने-फिरनेकी उत्तम शक्ति तथा युद्धके समय अस्त्रोंसे अपने शरीरके अछूते रहनेका अद्भुत चमत्कार आदि बातें जिन महात्माके वरदानसे मेरे लिये सम्भव हुई हैं, उन्हीं आपके पिता पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासजीको नमस्कार करके भरतवंशियोंके इस अत्यन्त अद्भुत विचित्र एवं रोमाञ्चकारी युद्धका वर्णन आरम्भ करता हूँ।

आप मुझसे यह सब कुछ जिस प्रकार हुआ था; वह विस्तारपूर्वक सुनें ॥ ७–१० ॥

तेष्वनीकेषु यत्तेषु व्यूढेषु च विधानतः ।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

महाराज! जब समस्त सेनाएँ शास्त्रीय विधिके अनुसार व्यूह-रचनापूर्वक अपने-अपने स्थानपर युद्धके लिये तैयार हो गयीं, उस समय दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—॥ ११ ॥

दुःशासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिणः ।
अनीकानि च सर्वाणि शीघ्रं त्वमनुचोदय ॥ १२ ॥

'दुःशासन! तुम भीष्मजीकी रक्षा करनेवाले रथोंको शीघ्र तैयार कराओ। सम्पूर्ण सेनाओंको भी शीघ्र उनकी रक्षाके लिये तैयार हो जानेकी आज्ञा दो ॥ १२ ॥

अयं स मामभिप्राप्तो वर्षपूगाभिचिन्तितः ।
पाण्डवानां ससैन्यानां कुरूणां च समागमः ॥ १३ ॥

'मैं वर्षोंसे जिसके लिये चिन्तित था, वह यह सेनासहित कौरव-पाण्डवोंका महान् संग्राम मेरे सामने उपस्थित हो गया है ॥ १३ ॥

नातः कार्यतमं मन्ये रणे भीष्मस्य रक्षणात् ।
हन्याद् गुप्तो ह्यसौ पार्थान् सोमकांश्च ससृंजयान् १४

'इस समय युद्धमें भीष्मजीकी रक्षासे बढ़कर दूसरा कोई कार्य मैं आवश्यक नहीं समझता हूँ; क्योंकि वे सुरक्षित रहें तो कुन्तीके पुत्रों, सोमकवंशियों तथा सृंजयोंको भी मार सकते हैं ॥

अब्रवीच्च विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
श्रूयते स्त्री ह्यसौ पूर्वं तस्माद् वर्ज्यो रणे मम ॥ १५ ॥

'विशुद्ध हृदयवाले पितामह भीष्म मुझसे कह चुके हैं कि 'मैं शिखण्डीको युद्धमें नहीं मारूँगा; क्योंकि सुननेमें आया है कि वह पहले स्त्री था; अतः रणभूमिमें मेरे लिये त्याज्य है' ॥ १५ ॥

तस्माद् भीष्मो रक्षितव्यो विशेषेणेति मे मतिः ।
शिखण्डिनो वधे यत्ताः सर्वे तिष्ठन्तु मामकाः ॥

'इसलिये मेरा विचार है कि इस समय हमें कि भीष्मजीकी रक्षामें ही तत्पर रहना चाहिये। मेरे सारे शिखण्डीको मार डालनेका प्रयत्न करें ॥ १६ ॥

तथा प्राच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्योत्तरापथाः ।
सर्वथास्त्रेषु कुशलास्ते रक्षन्तु पितामहम् ॥

'पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशाके जो-जो वी विद्यामें सर्वथा कुशल हों, वे ही पितामह (भीष्म) की रक्षा

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम् ।
मा सिंहं जम्बुकेनेव घातयामः शिखण्डिना ॥

'यदि महाबली सिंह भी अरक्षित-दशामें हो तो एक भेड़िया भी मार सकता है। हमें चाहिये कि समान शिखण्डीके द्वारा सिंहसदृश भीष्मको न मरने दें ॥

वामं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम् ।
गोप्तारौ फाल्गुनं प्राप्तौ फाल्गुनोऽपि शिखण्डिनः ॥

'अर्जुनके बायें पहियेकी रक्षा युधामन्यु और दा रक्षा उत्तमौजा कर रहे हैं। अर्जुनको ये दो रक्षक और अर्जुन शिखण्डीकी रक्षा कर रहे हैं ॥ १९ ॥

संरक्ष्यमाणः पार्थेन भीष्मेण च विवर्जितः ।
यथा न हन्याद् गाङ्गेयं दुःशासन तथा कुरु ॥

'अतः दुःशासन! भीष्मसे उपेक्षित तथा अर्जुनसे होकर शिखण्डी जिस प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मको सके, वैसा प्रयत्न करो' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि दुर्योधनदुःशासनसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें दुर्योधन-दुःशासनसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

षोडशोऽध्यायः

दुर्योधनकी सेनाका वर्णन

संजय उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां शब्दः समभवन्महान् ।
क्रोशतां भूमिपालानां युज्यतां युज्यतामिति ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर रात्रिके अन्तमें सवेरा होते ही 'रथ जोतो, युद्धके लिये तैयार हो जाओ।' इस प्रकार जोर-जोरसे बोलनेवाले राजाओंका महान् कोलाहल सब ओर छा गया ॥ १ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषैश्च सिंहनादैश्च भारत ।
हयहेषितनादैश्च रथनेमिस्वनैस्तथा ॥ २ ॥
गजानां बृंहतां चैव योधानां चापि गर्जताम् ।
क्ष्वेलितास्फोटितोत्क्रुष्टैस्तुमुलं सर्वतोऽभवत् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन! शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि, सिंहनाद, घोड़ोंकी हिन्‌हिनाहट, रथके पहियोंकी घरघ हाथियोंकी गर्जना तथा गर्जते हुए योद्धाओंके सिंहनाद ताल ठोंकने और जोर-जोरसे बोलने आदिकी तुमुल सब ओर व्याप्त हो गयी ॥ २-३ ॥

उदतिष्ठन्महाराज सर्वं युक्तमशेषतः ।
सूर्योदये महत् सैन्यं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥

महाराज! सूर्योदय होते-होते कौरवों और पाण्ड वह सारी विशाल सेना सम्पूर्ण रूपसे युद्धके लिये तैयार हो

राजेन्द्र तव पुत्राणां पाण्डवानां तथैव च ।
दुष्प्रधृष्याणि चास्त्राणि सशस्त्रकवचानि च ॥

राजेन्द्र ! आपके पुत्रों तथा पाण्डवोंके दुर्दम्य अस्त्र-शस्त्र तथा कवच चमक उठे ॥ ५ ॥

ततः प्रकाशे सैन्यानि समदृश्यन्त भारत।
त्वदीयानां परेषां च शस्त्रवन्ति महान्ति च ॥ ६ ॥

भारत ! तब सूर्योदयके प्रकाशमें आपकी और शत्रुओंकी सारी सेनाएँ शस्त्रोंसे सुसज्जित तथा अत्यन्त विशाल दिखायी देने लगीं ॥ ६ ॥

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदपरिष्कृताः।
विभ्राजमाना दृश्यन्ते मेघा इव सविद्युतः ॥ ७ ॥

जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित आपके हाथी और रथ बिजलियोंसहित मेघोंकी घटाके समान प्रकाशमान दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

रथानीकान्यदृश्यन्त नगराणीव भूरिशः।
अतीव शुशुभे तत्र पिता ते पूर्णचन्द्रवत् ॥ ८ ॥

बहुसंख्यक रथोंकी सेनाएँ नगरोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं। उनके बीच आपके ताऊ भीष्मजी पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ८ ॥

धनुर्भिर्ऋष्टिभिः खड्गैर्गदाभिः शक्तितोमरैः।
योधाः प्रहरणैः शुभ्रैस्तेष्वनीकेष्ववस्थिताः ॥ ९ ॥

आपकी सेनाके सैनिक धनुष, खड्ग, ऋष्टि, गदा, शक्ति और तोमर आदि चमकीले अस्त्र-शस्त्र लेकर उन सेनाओंमें खड़े थे ॥

गजाः पदाता रथिनस्तुरगाश्च विशाम्पते।
व्यतिष्ठन् वागुराकाराः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

प्रजानाथ ! हाथी, घोड़े, पैदल और रथी, शत्रुओंको बाँधनेके लिये जाल-से बनकर एक-एक जगह सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें खड़े थे ॥ १० ॥

ध्वजा बहुविधाकारा व्यदृश्यन्त समुच्छ्रिताः।
स्वेषां चैव परेषां च द्युतिमन्तः सहस्रशः ॥ ११ ॥

अपने और शत्रुओंके अनेक प्रकारके ऊँचे ऊँचे चमकीले ध्वज हजारोंकी संख्यामें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ११ ॥

काञ्चना मणिचित्राङ्गा ज्वलन्त इव पावकाः।
अर्चिष्मन्तो व्यरोचन्त गजारोहाः सहस्रशः ॥ १२ ॥

सुवर्णमय आभूषण पहने, मणियोंके अलंकारोंसे विचित्र अङ्गोंवाले, सहस्रों हाथीसवार सैनिक अपनी प्रभासे शिखाओं-सहित प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १२ ॥

महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव।
संनद्धास्ते प्रवीराश्च ददृशुर्युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १३ ॥

जैसे इन्द्रभवनमें देवराज इन्द्रके चमकीले ध्वज फहराते रहते हैं, उसी प्रकार कौरव-पाण्डवसेनाके ध्वज भी फहरा रहे थे। दोनों सेनाओंके प्रमुख वीर युद्धकी अभिलाषा रखकर कवच आदिसे सुसज्जित दिखायी दे रहे थे ॥ १३ ॥

उद्यतैरायुधैश्चित्रास्तलबद्धाः कलापिनः।
ऋषभाक्षा मनुष्येन्द्राश्चमूमुखगता बभुः ॥ १४ ॥

उनके हथियार उठे हुए थे। वे हाथमें दस्ताने और पीठपर तरकस बाँधे सेनाके मुहानेपर खड़े हुए भूपालगण अद्भुत शोभा पा रहे थे। उनकी आँखें बैलोंकी आँखोंके समान बड़ी-बड़ी दिखायी दे रही थीं ॥ १४ ॥

शकुनिः सौबलः शल्यः सैन्धवोऽथ जयद्रथः।
विन्दानुविन्दौ कैकेयाः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ १५ ॥
श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयत्सेनश्च पार्थिवः।
बृहद्बलश्च कौशल्यः कृतवर्मा च सात्वतः ॥ १६ ॥
दशैते पुरुषव्याघ्राः शूराः परिघबाहवः।
अक्षौहिणीनां पतयो यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥ १७ ॥

सुबलपुत्र शकुनि, शल्य, सिन्धुनरेश जयद्रथ, विन्द-अनुविन्द, केकयराजकुमार, काम्बोजराज सुदक्षिण, कलिङ्गराज श्रुतायुध, राजा जयत्सेन, कोशलनरेश बृहद्बल तथा भोजवंशी कृतवर्मा—ये दस पुरुषसिंह शूरवीर क्षत्रिय एक-एक अक्षौहिणी सेनाके अधिनायक थे। इनकी भुजाएँ परिघोंके समान मोटी दिखायी देती थीं। इन सबने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे और उनमें प्रचुर दक्षिणाएँ दी थीं ॥ १५—१७ ॥

एते चान्ये च बहवो दुर्योधनवशानुगाः।
राजानो राजपुत्राश्च नीतिमन्तो महारथाः ॥ १८ ॥
संनद्धाः समदृश्यन्त स्वेष्वनीकेष्ववस्थिताः।

ये तथा और भी बहुतसे नीतिज्ञ महारथी राजा और राजकुमार दुर्योधनके वशमें रहकर कवच आदिसे सुसज्जित हो अपनी-अपनी सेनाओंमें खड़े दिखायी देते थे ॥ १८½ ॥

बद्धकृष्णाजिनाः सर्वे बलिनो युद्धशालिनः ॥ १९ ॥
हृष्टा दुर्योधनस्यार्थे ब्रह्मलोकाय दीक्षिताः।
समर्था दश वाहिन्यः परिगृह्य व्यवस्थिताः ॥ २० ॥

इन सबने काले मृगचर्म बाँध रक्खे थे। सभी बलवान् और युद्धभूमिमें सुशोभित होनेवाले थे और सबने दुर्योधनके हितके लिये बड़े हर्ष और उल्लासके साथ ब्रह्मलोककी दीक्षा ली थी। ये सामर्थ्यशाली दस वीर अपने सेनापतित्वमें दस सेनाओंको लेकर युद्धके लिये तैयार खड़े थे ॥ १९-२० ॥

एकादशी धार्तराष्ट्री कौरवाणां महाचमूः।
अग्रतः सर्वसैन्यानां यत्र शान्तनवोऽग्रणीः ॥ २१ ॥

ग्यारहवीं विशाल वाहिनी दुर्योधनकी थी, जिनमें अधिकांश कौरव-योद्धा थे। यह कौरवसेना अन्य सब सेनाओंके आगे खड़ी थी। इसके अधिनायक थे शान्तनुनन्दन भीष्म ॥

श्वेतोष्णीषं श्वेतहयं श्वेतवर्माणमच्युतम्।
अपश्याम महाराज भीष्मं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

उनके सिरपर सफेद पगड़ी शोभा पाती थी। उनके घोड़े भी सफेद ही थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें श्वेत कवच बाँध रक्खा था। महाराज! मर्यादासे कभी पीछे न हटनेवाले उन भीष्मजीको मैंने अपनी श्वेतकान्तिके कारण नवोदित चन्द्रमाके समान सुशोभित देखा ॥ २२ ॥

हेमतालध्वजं भीष्मं राजते स्यन्दने स्थितम्।
श्वेताभ्र इव तीक्ष्णांशुं ददृशुः कुरुपाण्डवाः ॥ २३ ॥
सृंजयाश्च महेष्वासा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।

भीष्मजी चाँदीके बने हुए सुन्दर रथपर विराजमान थे। उनकी तालचिह्नित स्वर्णमयी ध्वजा आकाशमें फहरा रही थी। उस समय कौरवों, पाण्डवों तथा धृष्टद्युम्न आदि महाधनुर्धर सृंजयवंशियोंने उन्हें सफेद बादलोंमें छिपे हुए सूर्यदेवके समान देखा ॥ २३½ ॥

जृम्भमाणं महासिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा यथा ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नमुखाः सर्वे समुद्विविजिरे मुहुः।

धृष्टद्युम्न आदि सृंजयवंशी उन्हें देखकर बारंबार उद्विग्न हो उठते थे। ठीक उसी तरह, जैसे मुँह बाये हुए विशाल सिंहको देखकर क्षुद्र मृग भयसे व्याकुल हो उठते हैं।

एकादशैताः श्रीजुष्टा वाहिन्यस्तव पार्थिव ॥
पाण्डवानां तथा सप्त महापुरुषपालिताः।

भूपाल! आपकी ये ग्यारह अक्षौहिणी सेना पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाएँ वीर पुरुषोंसे सु उत्तम शोभासे सम्पन्न दिखायी देती थीं ॥ २५½ ॥

उन्मत्तमकरावर्तौ महाग्राहसमाकुलौ ॥
युगान्ते समवेतौ द्वौ दृश्येते सागराविव।

वे दोनों सेनाएँ प्रलयकालमें एक दूसरेसे मि उन दो समुद्रोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं जिन वाले मगर और भँवरें होती हैं तथा जिनमें बड़े-बड़े सब ओर फैले रहते हैं ॥ २६½ ॥

नैव नस्तादृशो राजन् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः।
अनीकानां समेतानां कौरवाणां तथाविधः ॥

राजन्! कौरवोंकी इतनी बड़ी सेनाका वैसा संघ पहले कभी न तो देखा था और न सुना ही था ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

कौरवमहारथियोंका युद्धके लिये आगे बढ़ना तथा उनके व्यूह, वाहन और ध्वज आदिका वर्ण

संजय उवाच

यथा स भगवान् व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
तथैव सहिताः सर्वे समाजग्मुर्महीक्षितः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासने जैसा कहा था, उसीके अनुसार सब राजा कुरुक्षेत्रमें एकत्र हुए थे ॥ १ ॥

मघाविषयगः सोमस्तद् दिनं प्रत्यपद्यत।
दीप्यमानाश्च सम्पेतुर्दिवि सप्त महाग्रहाः ॥ २ ॥

उस दिन चन्द्रमा मघा नक्षत्रपर था। आकाशमें सात महाग्रह अग्निके समान उद्दीप्त दिखायी दे रहे थे ॥ २ ॥

द्विधाभूत इवादित्य उदये प्रत्यदृश्यत।
ज्वलन्त्या शिखया भूयो भानुमानुदितो रविः ॥ ३ ॥

उदयकालमें सूर्य दो भागोंमें बँटा हुआ-सा दिखायी देने लगा। साथ ही वह अपनी प्रचण्ड ज्वालाओंसे अधिकाधिक जाज्वल्यमान होकर उदित हुआ था ॥ ३ ॥

ववाशिरे च दीप्तायां दिशि गोमायुवायसाः।
लिप्समानाः शरीराणि मांसशोणितभोजनाः ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें दाह-सा हो रहा था और मांस तथा रक्तका आहार करनेवाले गीदड़ और कौए मनुष्यों तथा पशुओंकी लाशोंकी लालसा रखकर अमङ्गलसूचक कर रहे थे ॥ ४ ॥

अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरुपितामहः।
भरद्वाजात्मजश्चैव प्रातरुत्थाय संयतौ ॥
जयोऽस्तु पाण्डुपुत्राणामित्यूचतुररिंदमौ।
युयुधाते तवार्थाय यथा स समयः कृतः ॥

कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म तथा भरद्वा द्रोणाचार्य ये दोनों शत्रुदमन महारथी प्रतिदिन सवेरे मनको संयममें रखते हुए यही आशीर्वाद देते थे कि की जय हो' परंतु वे जैसी प्रतिज्ञा कर चुके थे, अनुसार आपके लिये ही पाण्डवोंके साथ युद्ध करते

सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव।
समानीय महीपालानिदं वचनमब्रवीत् ॥

उस दिन सम्पूर्ण धर्मोंके विशेषज्ञ आपके देवव्रत भीष्मजी सब राजाओंको बुलाकर उन प्रकार बोले—॥ ७ ॥

इदं वः क्षत्रिया द्वारं स्वर्गायापावृतं महत्।
गच्छध्वं तेन शक्रस्य ब्रह्मणः सहलोकताम् ॥

'क्षत्रियो! यह युद्ध तुम्हारे लिये स्वर्गका खुला

विशाल द्वार है । तुमलोग इसके द्वारा इन्द्र अथवा ब्रह्माजीका सालोक्य प्राप्त करो ॥ ८ ॥

एष वः शाश्वतः पन्थाः पूर्वैः पूर्वतरैः कृतः ।
सम्भावयध्वमात्मानमव्यग्रमनसो युधि ॥ ९ ॥

'यह तुम्हारे पूर्ववर्ती पूर्वजोंद्वारा स्वीकार किया हुआ सनातन मार्ग है । तुम सब लोग शान्तचित्त होकर युद्धमें शौर्यका परिचय देते हुए अपने-आपको सुयश और सम्मानका भागी बनाओ ॥ ९ ॥

नाभागोऽथ ययातिश्च मान्धाता नहुषो नृगः ।
संसिद्धाः परमं स्थानं गताः कर्मभिरीदृशैः ॥ १० ॥

'नाभाग, ययाति, मान्धाता, नहुष और नृग ऐसे ही कर्मोंद्वारा सिद्धिको प्राप्त होकर उत्कृष्ट लोकोंमें गये हैं ॥ १० ॥

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यद् व्याधिमरणं गृहे ।
यदयोनिधनं याति सोऽस्य धर्मः सनातनः ॥ ११ ॥

'घरमें रोगी होकर पड़े-पड़े प्राण त्याग करना क्षत्रियके लिये अधर्म माना गया है । वह युद्धमें लोहेके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा आहत होकर जो मृत्युको अङ्गीकार करता है, वही उसका सनातन धर्म है' ॥ ११ ॥

एवमुक्ता महीपाला भीष्मेण भरतर्षभ ।
निर्ययुः स्वान्यनीकानि शोभयन्तो रथोत्तमैः ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भीष्मके ऐसा कहनेपर वे सभी भूपाल श्रेष्ठ रथोंद्वारा अपनी सेनाओंकी शोभा बढ़ाते हुए युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥ १२ ॥

स तु वैकर्तनः कर्णः सामात्यः सह बन्धुभिः ।
न्यासितः समरे शस्त्रं भीष्मेण भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतभूषण ! इस युद्धमें भीष्मने मन्त्रियों और बन्धुओंसहित कर्णके अस्त्र-शस्त्र रखवा दिये थे ॥ १३ ॥

अपेतकर्णाः पुत्रास्ते राजानश्चैव तावकाः ।
निर्ययुः सिंहनादेन नादयन्तो दिशो दश ॥ १४ ॥

इसलिये आपके पुत्र और अन्य नरेश बिना कर्णके ही अपने सिंहनादसे दसों दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए युद्धके लिये निकले ॥ १४ ॥

श्वेतैश्छत्रैः पताकाभिर्ध्वजवारणवाजिभिः ।
तान्यनीकानि शोभन्ते रथैरथ पदातिभिः ॥ १५ ॥

श्वेत छत्रों, पताकाओं, ध्वजों, हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल सैनिकोंसे उन समस्त सेनाओंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १५ ॥

भेरीपणवशब्दैश्च दुन्दुभीनां च निःस्वनैः ।
रथनेमिनिनादैश्च बभूवाकुलिता मही ॥ १६ ॥

भेरी, पणव, दुन्दुभि आदि वाद्योंकी ध्वनियों तथा रथके पहियोंके घर्घर शब्दोंसे वहाँकी सारी भूमि व्याप्त हो रही थी ।

काञ्चनाङ्गदकेयूरैः कार्मुकैश्च महारथाः ।
भ्राजमाना व्यराजन्त साग्नयः पर्वता इव ॥ १७ ॥

सोनेके अङ्गद और केयूर नामक बाहुभूषण तथा धनुष धारण किये महारथी वीर अग्नियुक्त पर्वतोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १७ ॥

तालेन महता भीष्मः पञ्चतारेण केतुना ।
विमलादित्यसंकाशस्तस्थौ कुरुचमूपरि ॥ १८ ॥

कौरवसेनाके प्रधान सेनापति भीष्म भी ताड़ और पाँच तारोंके चिह्नसे युक्त विशाल ध्वजा, पताकासे सुशोभित रथपर जा बैठे । उस समय वे निर्मल तेजोमय सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १८ ॥

ये त्वदीया महेष्वासा राजानो भरतर्षभ ।
अवर्तन्त यथादेशं राजन् शान्तनवस्य ते ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाराज ! आपकी सेनाके समस्त महाधनुर्धर भूपाल सेनापति भीष्मकी आज्ञाके अनुसार चलते थे ॥ १९ ॥

स तु गोवासनः शैब्यः सहितः सर्वराजभिः ।
ययौ मातङ्गराजेन राजार्हेण पताकिना ।
पद्मवर्णस्त्वनीकानां सर्वेषामग्रतः स्थितः ॥ २० ॥
अश्वत्थामा ययौ यत्तः सिंहलाङ्गूलकेतुना ।

गोवासनदेशके स्वामी महाराज शैब्य अपने अधीन राजाओंके साथ पताकासे सुशोभित राजोचित गजराजपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले । कमलके समान कान्तिमान् अश्वत्थामा सिंहकी पूँछके चिह्नसे युक्त ध्वजा, पताकावाले रथपर आरूढ़ हो समस्त सेनाओंके आगे रहकर चलने लगे ॥ २०½ ॥

श्रुतायुधश्चित्रसेनः पुरुमित्रो विविंशतिः ॥ २१ ॥
शल्यो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च महारथः ।
एते सप्त महेष्वासा द्रोणपुत्रपुरोगमाः ॥ २२ ॥
स्यन्दनैर्वरवर्माणो भीष्मस्यासन् पुरोगमाः ।

श्रुतायुध, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल्य, भूरिश्रवा तथा महारथी विकर्ण—ये सात महाधनुर्धर वीर रथोंपर आरूढ़ हो सुन्दर कवच धारण किये द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको अपने आगे रखकर भीष्मके आगे-आगे चल रहे थे ॥ २१-२२½ ॥

तेषामपि महोत्सेधाः शोभयन्तो रथोत्तमान् ॥ २३ ॥
भ्राजमाना व्यरोचन्त जाम्बूनदमया ध्वजाः ।

इन सबके जाम्बूनद सुवर्णके बने हुए अत्यन्त ऊँचे ध्वज इनके श्रेष्ठ रथोंकी शोभा बढ़ाते हुए अत्यन्त प्रकाशित हो रहे थे ॥ २३½ ॥

जाम्बूनदमयी वेदी कमण्डलुविभूषिता ॥ २४ ॥
केतुराचार्यमुख्यस्य द्रोणस्य धनुषा सह ।

आचार्यप्रवर द्रोणकी पताकापर कमण्डलुविभूषित सुवर्णमयी वेदी और धनुषके चिह्न बने हुए थे ॥ २४½ ॥

अनेकशतसाहस्रमनीकमनुकर्षतः ॥ २५ ॥
महान् दुर्योधनस्यासीन्नागो मणिमयो ध्वजः ।

कई लाख सैनिकोंकी सेनाको अपने साथ लेकर चलनेवाले दुर्योधनका मणिमय महान् ध्वज नागचिह्नसे विभूषित था ॥ २५½ ॥

तस्य पौरवकालिङ्गौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥ २६ ॥
क्षेमधन्वा सुमित्रश्च तस्थुः प्रमुखतो रथाः ।

पौरव, कलिङ्गराज श्रुतायुध, काम्बोजराज सुदक्षिण, क्षेमधन्वा तथा सुमित्र—ये पाँच प्रधान रथी दुर्योधनके आगे-आगे चल रहे थे ॥ २६½ ॥

स्यन्दनेन महार्हेण केतुना वृषभेण च ।
प्रकर्षन्नेव सेनाग्रं मागधस्य कृपो ययौ ॥ २७ ॥

वृषभचिह्नित ध्वजा-पताकासे युक्त बहुमूल्य रथपर बैठे हुए कृपाचार्य मगधकी श्रेष्ठ सेनाको अपने साथ लिये चल रहे थे ॥ २७ ॥

तदङ्गपतिना गुप्तं कृपेण च मनस्विना ।
शारदाम्बुधरप्रख्यं प्राच्यानां सुमहद् बलम् ॥ २८ ॥

अङ्गराज तथा मनस्वी कृपाचार्यसे सुरक्षित पूर्वदेशीय क्षत्रियोंकी वह विशाल वाहिनी शरद्‌ऋतुके बादलोंके समान शोभा पाती थी ॥ २८ ॥

अनीकप्रमुखे तिष्ठन् वराहेण महायशाः ।
शुशुभे केतुमुख्येन राजतेन जयद्रथः ॥ २९ ॥

महायशस्वी राजा जयद्रथ वराहके चिह्नसे युक्त रजतमय ध्वजा-पताकाके साथ रथपर आरूढ़ हो सेनाके अग्रभागमें खड़े हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ २९ ॥

शतं रथसहस्राणां तस्यासन् वशवर्तिनः ।
अष्टौ नागसहस्राणि सादिनामयुतानि षट् ॥ ३० ॥

उनके अधीन एक लाख रथ, आठ हजार हाथी और साठ हजार घुड़सवार थे ॥ ३० ॥

तत् सिन्धुपतिना राज्ञा पालितं ध्वजिनीमुखम् ।
अनन्तरथनागाश्वमशोभत महद् बलम् ॥ ३१ ॥

सिन्धुराजके द्वारा सुरक्षित अनन्त रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई वह विशाल सेना अद्भुत शोभा पा रही थी ॥

षष्ट्या रथसहस्रैस्तु नागानामयुतेन च ।
पतिः सर्वकालिङ्गानां ययौ केतुमता सह ॥ ३२ ॥

कलिङ्गदेशका राजा श्रुतायुध अपने मित्र केतुमा साठ हजार रथ और दस हजार हाथियोंको साथ लि लिये चला ॥ ३२ ॥

तस्य पर्वतसंकाशा व्यरोचन्त महागजाः ।
यन्त्रतोमरतूणीरैः पताकाभिः सुशोभिताः ॥

यन्त्र, तोमर, तूणीर तथा पताकाओंसे सुशोभि विशाल गजराज पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥

शुशुभे केतुमुख्येन पावकेन कलिङ्गकः ।
श्वेतच्छत्रेण निष्केण चामरव्यजनेन च ॥

कलिङ्गराजके रथकी ध्वजापर अग्निका चिह्न था । वह श्वेत छत्र और चँवररूपी पंखेसे तथा (कण्ठहार) से विभूषित हो बड़ी शोभा पा रहा था

केतुमानपि मातङ्गं विचित्रपरमाङ्कुशम् ।
आस्थितः समरे राजन् मेघस्थ इव भानुमान् ॥

राजन् ! केतुमान् भी विचित्र एवं विशाल अङ्कु गजराजपर आरूढ़ हो समरभूमिमें खड़ा हुआ मेघों ऊपर प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवके समान जान पड़त

तेजसा दीप्यमानस्तु वारणोत्तममास्थितः ।
भगदत्तो ययौ राजा यथा वज्रधरस्तथा ॥
गजस्कन्धगतावास्तां भगदत्तेन सम्मितौ ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केतुमन्तमनुव्रतौ ॥

इसी प्रकार श्रेष्ठ गजराजपर आरूढ़ हो राजा भी वज्रधारी इन्द्रके समान अपने तेजसे उद्दीप्त हो लिये आगे बढ़ गये थे । अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द अनुविन्द भी भगदत्तके समान ही तेजस्वी थे । वे दो हाथीकी पीठपर बैठकर केतुमान्‌के पीछे-पीछे चल रहे थे ॥

स रथानीकवान् व्यूहो हस्त्यङ्गो नृपशीर्षवान् ।
वाजिपक्षः पतत्युग्रः प्रहसन् सर्वतोमुखः ॥

राजन् ! रथोंके समूहसे युक्त उस सेनाका भयंक सर्वतोमुखी था । वह हँसता हुआ आक्रमण-सा कर रहा हाथी उस व्यूहके अङ्ग थे, राजाओंका समुदाय ही मस्तक था और घोड़े उसके पंख जान पड़ते थे ॥

द्रोणेन विहितो राजन् राज्ञा शान्तनवेन च ।
तथैवाचार्यपुत्रेण बाह्लीकेन कृपेण च ॥

द्रोणाचार्य, राजा शान्तनुनन्दन भीष्म, अश्वत्थामा, बाह्लीक और कृपाचार्यने उस सैन्य निर्माण किया था ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

कौरवसेनाका कोलाहल तथा भीष्मके रक्षकोंका वर्णन

संजय उवाच

ततो मुहूर्तात् तुमुलः शब्दो हृदयकम्पनः ।
अश्रूयत महाराज योधानां प्रयुयुत्सताम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर दो ही घड़ीमें युद्धकी इच्छा रखनेवाले योद्धाओंका भयंकर कोलाहल सुनायी देने लगा, जो हृदयको कँपा देनेवाला था ॥ १ ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषैश्च वारणानां च बृंहितैः ।
नेमिघोषै रथानां च दीर्यतीव वसुंधरा ॥ २ ॥

शंख और दुन्दुभियोंके घोष, गजराजोंकी गर्जना तथा रथोंके पहियोंकी घरघराहटसे सारी पृथ्वी विदीर्ण-सी हो रही थी ॥

हयानां हेषमाणानां योधानां चैव गर्जताम् ।
क्षणेनैव नभो भूमिः शब्देनापूरितं तदा ॥ ३ ॥

घोड़ोंके हींसने और योद्धाओंके गर्जनेके शब्दोंसे एक ही क्षणमें वहाँकी पृथ्वी और आकाशका सारा प्रदेश गूँज उठा ॥

पुत्राणां तव दुर्धर्ष पाण्डवानां तथैव च ।
समकम्पन्त सैन्यानि परस्परसमागमे ॥ ४ ॥

दुर्धर्ष नरेश ! आपके पुत्रों और पाण्डवोंकी सेनाएँ एक-दूसरीके निकट आनेपर काँप उठीं ॥ ४ ॥

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदविभूषिताः ।
भ्राजमाना व्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः ॥ ५ ॥

उस रणक्षेत्रमें स्वर्णभूषित रथ और हाथी बिजलियोंसे युक्त मेघोंके समान सुशोभित दिखायी देते थे ॥ ५ ॥

ध्वजा बहुविधाकारास्तावकानां नराधिप ।
काञ्चनाङ्गदिनो रेजुर्ज्वलिता इव पावकाः ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! आपकी सेनाके नाना प्रकारके ध्वज और सोनेके अङ्गद (बाजूबन्द) पहने हुए सैनिक प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६ ॥

स्वेषां चैव परेषां च समदृश्यन्त भारत ।
महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव ॥ ७ ॥

भारत ! अपनी और शत्रुकी सेनाके चमकीले ध्वज इन्द्रभवनमें फहरानेवाले देवेन्द्रके ध्वजोंके समान दिखायी देते थे ॥

काञ्चनैः कवचैर्वीरा ज्वलनार्कसमप्रभैः ।
संनद्धाः समदृश्यन्त ज्वलनार्कसमप्रभाः ॥ ८ ॥

अग्नि और सूर्यके समान कान्तिमान् काञ्चनमय कवच धारण किये वीर सैनिक अग्नि और सूर्यके ही तुल्य प्रकाशित दीख रहे थे ॥ ८ ॥

कुरुयोधवरा राजन् विचित्रायुधकार्मुकाः ।
उद्यतैरायुधैश्चित्रैस्तलबद्धाः पताकिनः ॥ ९ ॥

राजन् ! कौरवपक्षके श्रेष्ठ योद्धा विचित्र आयुध और धनुष धारण किये बड़ी शोभा पा रहे थे । उनके विचित्र आयुध ऊपरकी ओर उठे हुए थे । उन्होंने हाथोंमें दस्ताने पहन रक्खे थे और उनकी पताकाएँ आकाशमें फहरा रही थीं ॥

ऋषभाक्षा महेष्वासाश्चमूमुखगता बभुः ।
पृष्ठगोपास्तु भीष्मस्य पुत्रास्तव नराधिप ।
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुःसहस्तथा ॥ १० ॥
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः ।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवाः शलः ॥ ११ ॥
रथा विंशतिसाहस्रास्तथैषामनुयायिनः ।

सेनाके मुहानेपर खड़े हुए, वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले वे महाधनुर्धर वीर बड़ी शोभा पा रहे थे । नरेश्वर ! भीष्मजीके पृष्ठभागकी रक्षा आपके पुत्र दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुःसह, विविंशति, चित्रसेन, महारथी विकर्ण, सत्यव्रत, पुरुमित्र, जय, भूरिश्रवा, शल तथा इनके अनुयायी बीस हजार रथी कर रहे थे ॥ १०–११½ ॥

अभीषाहाः शूरसेनाः शिवयोऽथ वसातयः ॥ १२ ॥
शाल्वा मत्स्यास्तथाम्बष्ठास्त्रैगर्ताः केकयास्तथा ।
सौवीराः कैतवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यवासिनः ॥ १३ ॥
द्वादशैते जनपदाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ।
महता रथवंशेन ते ररक्षुः पितामहम् ॥ १४ ॥

अभीषाह, शूरसेन, शिवि, वसाति, शाल्व, मत्स्य, अम्बष्ठ, त्रिगर्त, केकय, सौवीर, कैतव तथा पूर्व, पश्चिम एवं उत्तर प्रदेशके निवासी—इन बारह जनपदोंके समस्त शूरवीर अपना शरीर निछावर करनेको उद्यत होकर विशाल रथसमुदायके द्वारा पितामह भीष्मकी रक्षा कर रहे थे ॥ १२–१४ ॥

अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।
मागधो यत्र नृपतिस्तद् रथानीकमन्वयात् ॥ १५ ॥

दस हजार वेगवान् हाथियोंकी सेना साथ लेकर मगधराज उपर्युक्त रथसेनाके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ १५ ॥

रथानां चक्ररक्षाश्च पादरक्षाश्च दन्तिनाम् ।
अभवन् वाहिनीमध्ये शतानामयुतानि षट् ॥ १६ ॥

उस विशाल वाहिनीमें रथोंके पहियों और हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेवाले सैनिक साठ लाख थे ॥ १६ ॥

पादाताश्चाग्रतोऽगच्छन् धनुश्चर्मासिपाणयः ।
अनेकशतसाहस्रा नखरप्रासयोधिनः ॥ १७ ॥

कुछ पैदल सैनिक, जिनकी संख्या कई लाख थी, हाथमें धनुष, ढाल और तलवार लिये आगे-आगे चल रहे थे । वे नखर (बघनले) और प्रासद्वारा भी युद्ध करनेमें कुशल थे ॥

अक्षौहिण्यो दशैका च तव पुत्रस्य भारत ।
अदृश्यन्त महाराज गङ्गेव यमुनान्तरा ॥ १८ ॥

भारत ! महाराज ! आपके पुत्रकी ये ग्यारह अ सेनाएँ यमुनामें मिली हुई गङ्गाके समान दिखायी दे

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८

एकोनविंशतितमोऽध्यायः

व्यूहनिर्माणके विषयमें युधिष्ठिर और अर्जुनकी बातचीत, अर्जुनद्वारा वज्रव्यूहकी रचना, भीमसेनकी अध्यक्षतामें सेनाका आगे बढ़ना

धृतराष्ट्र उवाच

अक्षौहिण्यो दशैका च व्यूढा दृष्ट्वा युधिष्ठिरः ।
कथमल्पेन सैन्येन प्रत्यव्यूहत पाण्डवः ॥ १ ॥
यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम् ।
कथं भीष्मं स कौन्तेयः प्रत्यव्यूहत संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरी ग्यारह अक्षौहिणियोंको व्यूहाकारमें खड़ी हुई देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उसका सामना करनेके लिये अपनी थोड़ी-सी सेनाके द्वारा किस प्रकार व्यूह-रचना की ? जो मनुष्य, देवता, गन्धर्व और असुर सभीकी व्यूह-निर्माण-विधिको जानते हैं, उन भीष्मजीके सामने कुन्तीकुमारने किस तरह अपनी सेनाका व्यूह बनाया ? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

धार्तराष्ट्राण्यनीकानि दृष्ट्वा व्यूढानि पाण्डवः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा धर्मराजो धनंजयम् ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! आपकी सेनाओंको व्यूहाकारमें खड़ी हुई देख धर्मात्मा पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा— ॥ ३ ॥

महर्षेर्वचनात् तात वेदयन्ति बृहस्पतेः ।
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ॥ ४ ॥

'तात ! महर्षि बृहस्पतिके वचनसे ऐसा ज्ञात होता है कि यदि शत्रुओंकी सेना थोड़ी हो, तो अपनी सेनाको छोटे आकारमें संगठित करके युद्ध करना चाहिये और यदि अपनेसे अधिक सैनिकोंके साथ युद्ध करना हो, तो अपनी सेनाको इच्छानुसार फैलाकर खड़ी करे ॥ ४ ॥

सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ।
अस्माकं च तथा सैन्यमल्पीयः सुतरां परैः ॥ ५ ॥

'थोड़े-से सैनिकोंसे बहुतोंके साथ युद्ध करनेके लिये सूचीमुख नामक व्यूह उपयोगी हो सकता है और हमारी सेना शत्रुओंसे बहुत कम है ही ॥ ५ ॥

एतद् वचनमाज्ञाय महर्षेर्व्यूह पाण्डव ।
एतच्छ्रुत्वा धर्मराजं प्रत्यभाषत पाण्डवः ॥ ६ ॥

'पाण्डुनन्दन ! महर्षिके इस कथनपर विचार करके अपनी सेनाका व्यूह बनाओ ।' धर्मराजकी यह बात पाण्डुपुत्र अर्जुनने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥

एष व्यूहामि ते व्यूहं राजसत्तम दुर्जयम् ।
अचलं नाम वज्राख्यं विहितं वज्रपाणिना ॥

'नृपश्रेष्ठ ! यह लीजिये, मैं आपके लिये अवि दुर्जय वज्रव्यूहकी रचना करता हूँ, जिसका आविष्कार धारी इन्द्रने किया है ॥ ७ ॥

यः स वात इवोद्धूतः समरे दुःसहः परैः ।
स नः पुरो योत्स्यते वै भीमः प्रहरतां वरः ॥

'जो समरभूमिमें प्रचण्ड वायुकी भाँति उठकर लिये दुःसह हो उठते हैं, वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ आर्य हमारे आगे रहकर युद्ध करेंगे ॥ ८ ॥

तेजांसि रिपुसैन्यानां मृद्नन् पुरुषसत्तमः ।
अग्रेऽग्रणीर्योत्स्यति नो युद्धोपायविचक्षणः ॥

'पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन युद्धके विविध उपायोंके ज्ञानमें हैं । वे हमारी सेनाके अगुआ होकर शत्रुसेनाके तेज करते हुए युद्ध करेंगे ॥ ९ ॥

यं दृष्ट्वा कुरवः सर्वे दुर्योधनपुरोगमाः ।
निवर्तिष्यन्ति संत्रस्ताः सिंहं क्षुद्रमृगा यथा ॥

'जैसे सिंहको देखते ही क्षुद्र मृग भयभीत होकर उठते हैं, उसी प्रकार इन्हें देखकर दुर्योधन आदि कौरव त्रस्त होकर पीछे लौट जायँगे ॥ १० ॥

तं सर्वे संश्रयिष्यामः प्राकारमकुतोभयाः ।
भीमं प्रहरतां श्रेष्ठं देवराजमिवामराः ॥

'जैसे देवता देवराजका आश्रय लेकर निर्भय हो उसी प्रकार हमलोग योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेनका आश्रय ये हमारे लिये परकोटेका काम करेंगे । फिर हमें कहीं भय नहीं रह जायगा ॥ ११ ॥

न हि सोऽस्ति पुमाँल्लोके यः संक्रुद्धं वृकोदरम् ।
द्रष्टुमत्युग्रकर्माणं विषहेत नरर्षभम् ॥

'संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले क्रोधमें भरे हुए नरश्रेष्ठ वृकोदरकी ओर देखनेका साहस कर सके ॥ १२ ॥

भीमसेनो गदां बिभ्रद् वज्रसारमयीं दृढाम् ।
चरन् वेगेन महता समुद्रमपि शोषयेत् ॥ १३ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।

'जब भीमसेन लोहेसे बनी हुई अपनी सुदृढ़ गदा हाथोंमें ले महान् वेगसे विचरते हैं, उस समय वे समुद्रको भी सोख सकते हैं। केकयराजकुमार, धृष्टकेतु और चेकितान भी ऐसे ही पराक्रमी हैं ॥ १३½ ॥

एते तिष्ठन्ति सामात्याः प्रेक्षकास्ते जनाधिप ॥ १४ ॥
धृतराष्ट्रस्य दायादा इति बीभत्सुरब्रवीत् ।
भीमसेनं तदा राजन् दर्शयस्व महाबलम् ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! ये धृतराष्ट्रके पुत्र अपने मन्त्रियोंसहित आपकी ओर देख रहे हैं।' राजन् ! युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन भीमसेनसे बोले—'अब आप इन शत्रुओंको अपना महान् बल दिखाइये' ॥ १४-१५ ॥

ब्रुवाणं तु तथा पार्थं सर्वसैन्यानि भारत ।
अपूजयंस्तदा वाग्भिरनुकूलाभिराहवे ॥ १६ ॥

भारत ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर उस युद्धस्थलमें समस्त सैनिकोंने अनुकूल वचनोंद्वारा उस समय उनका पूजन समादर किया ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुस्तथा चक्रे धनंजयः ।
व्यूह्य तानि बलान्याशु प्रययौ फाल्गुनस्तथा ॥ १७ ॥

महाबाहु अर्जुनने ऐसा कहकर उसी तरह किया; अपनी सब सेनाओंका शीघ्र ही व्यूह बनाया और रणके लिये प्रस्थान किया ॥ १७ ॥

सम्प्रयातान् कुरून् दृष्ट्वा पाण्डवानां महाचमूः।
गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्पन्दमाना व्यदृश्यत ॥ १८ ॥

कौरवोंको अपनी ओर आते देख पाण्डवोंकी वह विशाल सेना पहले तो भरी हुई गङ्गाके समान स्थिर दिखायी दी; फिर उसमें धीरे-धीरे कुछ चेष्टा दृष्टिगोचर होने लगी ॥

भीमसेनोऽग्रणीस्तेषां धृष्टद्युम्नश्च वीर्यवान् ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ॥ १९ ॥

पाण्डवसेनामें भीमसेन सबके आगे चलनेवाले थे। उनके साथ पराक्रमी धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव तथा चेदिराज धृष्टकेतु भी थे ॥ १९ ॥

विराटश्च ततः पश्चाद् राजाथाक्षौहिणीवृतः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च सोऽभ्यरक्षत पृष्ठतः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् राजा विराट अपने भाइयों और पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहे थे ॥ २० ॥

चक्ररक्षौ तु भीमस्य माद्रीपुत्रौ महाद्युती ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पृष्ठगोपास्तरस्विनः ॥ २१ ॥

भीमके पहियोंकी रक्षा परम तेजस्वी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कर रहे थे। द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अभिमन्यु—ये वेगशाली वीर उनके पृष्ठभागकी रक्षा करते थे ॥ २१ ॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यस्तेषां गोप्ता महारथः ।
सहितः पृतनाशूरै रथमुख्यैः प्रभद्रकैः ॥ २२ ॥

पाञ्चालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न अपनी सेनाके चुने हुए शूरवीर एवं प्रधान रथी प्रभद्रकोंके साथ उन सबकी रक्षा करते थे ॥ २२ ॥

शिखण्डी तु ततः पश्चादर्जुनेनाभिरक्षितः ।
यत्तो भीष्मविनाशाय प्रययौ भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन सबके पीछे अर्जुनद्वारा सुरक्षित शिखण्डी भीष्मका विनाश करनेके लिये उद्यत हो आगे बढ़ रहा था ॥

पृष्ठतोऽप्यर्जुनस्यासीद् युयुधानो महाबलः ।
चक्ररक्षौ तु पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ २४ ॥

अर्जुनके पीछे महाबली सात्यकि थे। पाञ्चाल वीर युधामन्यु और उत्तमौजा अर्जुनके रथके पहियोंकी रक्षा करते थे॥

राजा तु मध्यमानीके कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बृहद्भिः कुञ्जरैर्मत्तैश्चलद्भिरचलैरिव ॥ २५ ॥

चलते-फिरते पर्वतोंके समान विशाल और मतवाले गजराजोंकी सेनाके साथ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर बीचकी सेनामें उपस्थित थे ॥ २५ ॥

अक्षौहिण्याथ पाञ्चाल्यो यज्ञसेनो महामनाः ।
विराटमन्वयात् पश्चात् पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ २६ ॥

महामना पराक्रमी पाञ्चालराज द्रुपद पाण्डवोंके लिये एक अक्षौहिणी सेनाके सहित राजा विराटके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥

तेषामादित्यचन्द्राभाः कनकोत्तमभूषणाः ।
नानाचित्रधरा राजन् रथेष्वासन् महाध्वजाः ॥ २७ ॥

राजन् ! उनके रथोंपर भाँति-भाँतिके बेल-बूटोंसे विभूषित स्वर्णमण्डित विशाल ध्वज सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७ ॥

समुत्सार्य ततः पश्चाद् धृष्टद्युम्नो महारथः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च सोऽभ्य रक्षद् युधिष्ठिरम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर महारथी धृष्टद्युम्न अन्य लोगोंको हटाकर स्वयं भाइयों और पुत्रोंके साथ उपस्थित हो राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करने लगे ॥ २८ ॥

त्वदीयानां परेषां च रथेषु विपुलान् ध्वजान् ।
अभिभूयार्जुनस्यैको रथे तस्थौ महाकपिः ॥ २९ ॥

राजन् ! आपके तथा शत्रुओंके रथोंपर जो बहुसंख्यक विशाल ध्वज फहरा रहे थे, उन सबको तिरस्कृत करके केवल अर्जुनके रथपर एकमात्र महान् कपिसे उपलक्षित दिव्य ध्वज शोभा पाता था ॥ २९ ॥

पादातास्त्वग्रतोऽगच्छन्नसिशक्त्यृष्टिपाणयः ।
अनेकशतसाहस्रा भीमसेनस्य रक्षिणः ॥ ३० ॥

भीमसेनकी रक्षाके लिये उनके आगे-आगे हाथोंमें खड्ग, शक्ति तथा ऋष्टि लिये कई लाख पैदल सैनिक चल रहे थे॥

वारणा दशसाहस्राः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
शूरा हेममयैर्जालैर्दीप्यमाना इवाचलाः ॥ ३१ ॥
क्षरन्त इव जीमूता महार्हाः पद्मगन्धिनः ।
राजानमन्वयुः पश्चाज्जीमूता इव वार्षिकाः ॥ ३२ ॥

राजा युधिष्ठिरके पीछे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति तथा पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे दस हजार गजराज जा रहे थे। उनके गण्डस्थलसे फूटकर मदकी धारा बह रही थी। वे सोनेकी जालीदार झूलोंसे उद्दीप्त हो रहे थे। उनमें शौर्य भरा था। वे मेघोंके समान मदकी बूँदें बरसाते थे। उनसे कमलके समान सुगन्ध निकलती थी और वे सभी बहुमूल्य थे ॥ ३१-३२ ॥

भीमसेनो गदां भीमां प्रकर्षन् परिघोपमाम् ।
प्रचकर्ष महासैन्यं दुराधर्षो महामनाः ॥ ३३ ॥

दुर्जय वीर महामनस्वी भीमसेन हाथमें परिघके समान मोटी एवं भयंकर गदा लिये अपने साथ विशाल सेनाको खींचे लिये जा रहे थे ॥ ३३ ॥

तमर्कमिव दुष्प्रेक्ष्यं तपन्तमिव वाहिनीम् ।
न शेकुः सर्वयोधास्ते प्रतिवीक्षितुमन्तिके ॥ ३४ ॥

उस समय सूर्यकी भाँति उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था। वे आपकी सेनाको संतप्त-सी कर रहे थे। निकट आनेपर समस्त योद्धा उनकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ न हो सके ॥ ३४ ॥

वज्रो नामैष स व्यूहो निर्भयः सर्वतोमुखः ।
चापविद्युद्ध्वजो घोरो गुप्तो गाण्डीवधन्वना ॥ ३५ ॥

यह वज्रनामक व्यूह सर्वथा भयरहित तथा सब ओर मुखवाला था। उसके ध्वजके निकट सुवर्णभूषित धनुष विद्युत्के समान प्रकाशित होता था। गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा ही वह भयंकर व्यूह सुरक्षित था ॥ ३५ ॥

यं प्रतिव्यूह्य तिष्ठन्ति पाण्डवास्तव वाहिनीम् ।
अजेयो मानुषे लोके पाण्डवैरभिरक्षितः ॥ ३६ ॥

पाण्डवलोग जिस व्यूहकी रचना करके आपकी सेनाका सामना करनेके लिये खड़े थे, वह उनके द्वारा सुरक्षि कारण मनुष्यलोकमें अजेय था ॥ ३६ ॥

संध्यां तिष्ठत्सु सैन्येषु सूर्यस्योदयनं प्रति।
प्रावात् सपृषतो वायुर्निरभ्रे स्तनयित्नुमान्॥

सूर्योदयके समय जब सभी सैनिक संध्योपासना थे, बिना बादलके ही पानीकी बूँदोंके साथ हवा च उसके साथ मेघकी-सी गर्जना भी होती थी ॥ ३७

विष्वग्वाताश्च विववुर्नीचैः शर्करकर्षिणः।
रजश्चोद्धूयत महत् तम आच्छादयज्जगत्॥

वहाँ सब ओर नीचे बालू और कंकड़ बरसाती वायु बह रही थी। उस समय इतनी धूल उड़ी कि घोर अन्धकार छा गया ॥ ३८ ॥

पपात महती चोल्का प्राङ्मुखी भरतर्षभ।
उद्यन्तं सूर्यमाहत्य व्यशीर्यत महास्वना॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके उल्का गिरी और उदय होते हुए सूर्यसे टकराकर की आवाजके साथ बिखर गयी ॥ ३९ ॥

अथ संनह्यमानेषु सैन्येषु भरतर्षभ।
निष्प्रभोऽभ्युद्ययौ सूर्यः सघोषं भूश्चचाल च॥

भरतभूषण ! जब उभय-पक्षकी सेनाएँ युद्ध पूर्णतः तैयार हो गयीं, उस समय सूर्यकी प्रभा फी गयी और भारी आवाजके साथ धरती काँपने लगी॥

व्यशीर्यत सनादा च भूस्तदा भरतर्षभ।
निर्घाता बहवो राजन् दिक्षु सर्वासु चाभवन्॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो विकट नाद करती हुई फटी जा रही है। राजन्! दिशाओंमें अनेक बार वज्रपातके समान भयानक शब्द प्र

प्रादुरासीद् रजस्तीव्रं न प्राज्ञायत किंचन।
ध्वजानां धूयमानानां सहसा मातरिश्वना॥
किङ्किणीजालबद्धानां काञ्चनस्रग्वराम्बरैः।
महतां सपताकानामादित्यसमतेजसाम्॥
सर्वं झणझणीभूतमासीत् तालवनेष्विव।

तीव्र वेगसे धूलकी वर्षा होने लगी। कुछ भी दि पड़ता था। सहसा वायुके वेगसे ध्वज हिलने लगे। सहित वे ध्वज सूर्यके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। सोनेके हार और सुन्दर वस्त्रोंसे सजाया गया था। छोटी-छोटी घंटियोंके साथ झालरें बँधी थीं, जिनके शब्द सब ओर फैल रहे थे। इस प्रकार उन महान् शब्दसे ताड़के जंगलोंकी भाँति उस रणभूमिमें सब ओर झनकी आवाज हो रही थी ॥ ४२-४३½ ॥

एवं ते पुरुषव्याघ्राः पाण्डवा युद्धनन्दिनः ॥ ४४ ॥
व्यवस्थिताः प्रतिव्यूह्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।
प्रसन्त इव मज्जा नो योधानां भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
दृष्ट्वाग्रतो भीमसेनं गदापाणिमवस्थितम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार युद्धसे आनन्दित होनेवाले पुरुषसिंह पाण्डव आपके पुत्रकी वाहिनीके सामने व्यूह बनाकर खड़े थे और हमारे योद्धाओंकी रक्त और मज्जा भी सुखाये देते थे । गदाधारी भीमसेनको आगे खड़ा देख हमारी सारी सेना भयभीत हो रही थी ॥ ४४—४६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि पाण्डवसैन्यव्यूहे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें पाण्डवसेनाका व्यूहनिर्माणविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

दोनों सेनाओंकी स्थिति तथा कौरवसेनाका अभियान

धृतराष्ट्र उवाच

सूर्योदये संजय के नु पूर्वं
युयुत्सवो हृष्यमाणा इवासन् ।
मामका वा भीष्मनेत्राः समीपे
पाण्डवा वा भीमनेत्रास्तदानीम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! सूर्योदयके समय किस पक्षके योद्धा युद्धकी इच्छासे अधिक हर्षका अनुभव करते हुए जान पड़ते थे ? भीष्मके नेतृत्वमें निकट आये हुए मेरे सैनिक अथवा भीमसेनकी अध्यक्षतामें आनेवाले पाण्डव सैनिक ? उस समय कौन अधिक प्रसन्न थे ? ॥ १ ॥

केषां जघन्यौ सोमसूर्यौ सवायू
केषां सेनां श्वापदाश्चाभषन्त ।
केषां यूनां मुखवर्णाः प्रसन्नाः
सर्वं ह्येतद् ब्रूहि तत्त्वं यथावत् ॥ २ ॥

चन्द्रमा, सूर्य और वायु किनके प्रतिकूल थे ? किनकी सेनाकी ओर देखकर हिंसक जन्तु भयंकर शब्द करते थे ? किस पक्षके नवयुवकोंके मुखकी कान्ति प्रसन्न थी ? ये सब बातें तुम मुझे ठीक-ठीक बताओ ॥ २ ॥

संजय उवाच

उभे सेने तुल्यमिवोपयाते
उभे व्यूहे हृष्टरूपे नरेन्द्र ।
उभे चित्रे वनराजिप्रकाशे
तथैवोभे नागरथाश्वपूर्णे ॥ ३ ॥

संजय बोले—नरेन्द्र ! दोनों ओरकी सेनाएँ समानरूपसे आगे बढ़ रही थीं । दोनों ओरके व्यूहमें खड़े हुए सैनिक हर्षसे उल्लसित थे । दोनों ही सेनाएँ वनश्रेणियोंके समान आश्चर्यरूप प्रतीत होती थीं और दोनों ही हाथी, रथ एवं घोड़ोंसे भरी हुई थीं ॥ ३ ॥

उभे सेने बृहत्यौ भीमरूपे
तथैवोभे भारत दुर्विषह्ये ।
तथैवोभे स्वर्गजयाय सृष्टे
तथैवोभे सत्पुरुषोपजुष्टे ॥ ४ ॥

भारत ! दोनों ओरकी सेनाएँ विशाल, भयंकर और दुःसह थीं, मानो विधाताने दोनों सेनाओंको स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही रचा था । दोनोंमें ही सत्पुरुष भरे हुए थे ॥ ४ ॥

पश्चान्मुखाः कुरवो धार्तराष्ट्राः
स्थिताः पार्थाः प्राङ्मुखा योत्स्यमानाः ।
दैत्येन्द्रसेनेव च कौरवाणां
देवेन्द्रसेनेव च पाण्डवानाम् ॥ ५ ॥

आपके पुत्र कौरवोंका मुख पश्चिम दिशाकी ओर था और कुन्तीके पुत्र उनसे युद्ध करनेके लिये पूर्वाभिमुख खड़े थे । कौरवसेना दैत्यराजकी सेनाके समान जान पड़ती थी और पाण्डववाहिनी देवराज इन्द्रकी सेनाके तुल्य प्रतीत होती थी ॥

चक्रे वायुः पृष्ठतः पाण्डवानां
धार्तराष्ट्राञ्श्वापदा व्याहरन्त ।
गजेन्द्राणां मदगन्धांश्च तीव्रान्
न सेहिरे तव पुत्रस्य नागाः ॥ ६ ॥

पाण्डवसेनाके पीछेकी ओरसे हवा चल रही थी और आपके पुत्रोंकी ओर देखकर हिंसक जन्तु बोल रहे थे । आपके पुत्रकी सेनामें जो हाथी थे, वे पाण्डवपक्षके गजराजोंके मदोंकी तीव्र गन्ध नहीं सहन कर पाते थे ॥ ६ ॥

दुर्योधनो हस्तिनं पद्मवर्णं
सुवर्णकक्षं जालवन्तं प्रभिन्नम् ।
समास्थितो मध्यगतः कुरूणां
संस्तूयमानो वन्दिभिर्मागधैश्च ॥ ७ ॥

दुर्योधन कमलके समान कान्तिवाले मदस्रावी गजराजपर बैठकर कौरवसेनाके मध्यभागमें खड़ा था । उसके हाथीपर सोनेका हौदा कसा हुआ था और पीठपर सोनेकी जाली बिछी हुई थी । उस समय वन्दी और मागधजन उसकी स्तुति कर रहे थे ॥ ७ ॥

चन्द्रप्रभं श्वेतमथातपत्रं
सौवर्णस्रग् भ्राजति चोत्तमाङ्गे ।
तं सर्वतः शकुनिः पर्वतीयैः
सार्धं गान्धारैर्याति गान्धारराजः ॥ ८ ॥

उसके मस्तकपर चन्द्रमाके समान कान्तिमान् श्वेत छत्र तना हुआ था और कण्ठमें सोनेकी माला सुशोभित हो रही थी। गान्धारराज शकुनि गान्धारदेशके पर्वतीय योद्धाओंके साथ आकर दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर चल रहा था ॥८॥

भीष्मोऽग्रतः सर्वसैन्यस्य वृद्धः
श्वेतच्छत्रः श्वेतधनुः सखड्गः ।
श्वेतोष्णीषः पाण्डुरेण ध्वजेन
श्वेतैरश्वैः श्वेतशैलप्रकाशैः ॥ ९ ॥

हमारी सम्पूर्ण सेनाके आगे बूढ़े पितामह भीष्म थे। उनके सिरपर श्वेत रंगकी पगड़ी थी और श्वेत वर्णका ही छत्र तना हुआ था। उनके धनुष और खड्ग भी श्वेत ही थे। वे श्वेत शैलके समान प्रकाशित होनेवाले श्वेत घोड़ों और श्वेत ध्वजसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ९ ॥

तस्य सैन्ये धार्तराष्ट्राश्च सर्वे
बाह्लीकानामेकदेशः शलश्च ।
ये चाम्बष्ठाः क्षत्रिया ये च सिन्धो-
स्तथा सौवीराः पञ्चनदाश्च शूराः ॥१०॥

उनकी सेनामें आपके सभी पुत्र, बाह्लीकसेनाका एक अंश, शल और अम्बष्ठ, सौवीर, सिन्धु तथा पञ्चनद देशके शूरवीर क्षत्रिय विद्यमान थे ॥ १० ॥

शोणैर्हयै रुक्मरथो महात्मा
द्रोणो धनुष्पाणिरदीनसत्त्वः ।
आस्ते गुरुः प्रायशः सर्वराज्ञां
पश्चाच्च भूमीन्द्र इवाभियाति ॥ ११ ॥

उनके पीछे प्रायः समस्त राजाओंके गुरु, उदार हृदयवाले महामना द्रोणाचार्य हाथमें धनुष लिये लाल घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमय रथमें बैठकर भूमिपालकी भाँति युद्धके लिये जा रहे थे ॥

वार्धक्षत्रिः सर्वसैन्यस्य मध्ये
भूरिश्रवाः पुरुमित्रो जयश्च ।
शाल्वा मत्स्याः केकयाश्चेति सर्वे
गजानीकैर्भ्रातरो योत्स्यमानाः ॥ १२ ॥

वृद्धक्षत्रका पुत्र जयद्रथ, भूरिश्रवा, पुरुमित्र, जय, शाल्व और मत्स्यदेशीय क्षत्रिय तथा सब भाई केकयराजकुमार युद्धकी इच्छासे हाथियोंके समूहोंको साथ ले सम्पूर्ण सेनाके मध्यभागमें स्थित थे ॥ १२ ॥

शारद्वतश्चोत्तरधूर्महात्मा
महेष्वासो गौतमश्चित्रयोधी ।
शकैः किरातैर्यवनैः पह्लवैश्च
सार्धं चमूमुत्तरतोऽभियाति ।

महान् धनुर्धर और विचित्र रीतिसे युद्ध करने
वंशीय महामना कृपाचार्य गुरुतर भार ग्रहण क
किरात, यवन तथा पह्लव सैनिकोंके साथ कौरव
भागमें होकर चल रहे थे ॥ १३ ॥

महारथैर्वृष्णिभोजैः सुगुप्तं
सुराष्ट्रैर्विहितैरात्तशस्त्रैः ।
बृहद् बलं कृतवर्माभिगुप्तं
बलं त्वदीयं दक्षिणेनाभियाति ॥

हाथमें हथियार लिये सुशिक्षित सुराष्ट्रदेशीय
वृष्णि और भोजवंशके महारथियोंद्वारा पालित वि
कृतवर्माद्वारा सुरक्षित होकर आपकी सेनाके दाहि
होकर युद्धके लिये यात्रा कर रही थी ॥ १४ ॥

संशप्तकानामयुतं रथानां
मृत्युर्जयो वार्जुनस्येति सृष्टाः ।
येनार्जुनस्तेन राजन् कृतास्त्राः
प्रयातारस्ते त्रिगर्ताश्च शूराः ।

‘या तो हम अर्जुनपर विजय प्राप्त करेंगे अथ
मृत्यु हो जायगी’ ऐसी प्रतिज्ञा करके दस हजार सं
तथा बहुत-से अस्त्रवेत्ता त्रिगर्तदेशीय शूरवीर जिस ओ
थे, उसी ओर जा रहे थे ॥ १५ ॥

साग्रं शतसहस्रं तु नागानां तव भारत ।
नागे नागे रथशतं शतमश्वा रथे रथे ।

भारत ! आपकी सेनामें एक लाखसे अधिक हा
एक-एक हाथीके साथ सौ-सौ रथ थे और एक-ए
साथ सौ-सौ घोड़े थे ॥ १६ ॥

अश्वेऽश्वे दश धानुष्का धानुष्के शतचर्मिणः ।
एवं व्यूढान्यनीकानि भीष्मेण तव भारत ।

प्रत्येक अश्वके पीछे दस-दस धनुर्धर और प्रत्येक
के साथ सौ-सौ पैदल सैनिक नियुक्त किये गये थे,
तलवार लिये रहते थे। भरतनन्दन ! इस प्रकार
आपकी सेनाओंका व्यूह रचा था ॥१७॥

संव्यूह्य मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम् ।
दिवसे दिवसे प्राप्ते भीष्मः शान्तनवोऽग्रणीः ।
महारथौघविपुलः समुद्र इव घोषवान् ।
भीष्मेण धार्तराष्ट्राणां व्यूहः प्रत्यङ्मुखो युधि ।

शान्तनुनन्दन सेनापति भीष्म प्रत्येक दिन मा
गान्धर्व और आसुर प्रणालीके अनुसार व्यूह-रच
सेनाके अग्रभागमें स्थित होते थे। भीष्मद्वारा रचि

सेनाका वह व्यूह महारथियोंके समुदायसे सम्पन्न हो समुद्रके समान गर्जना करता था । युद्धमें उसका मुख पश्चिमकी ओर था ॥ १८-१९ ॥

अनन्तरूपा ध्वजिनी नरेन्द्र
भीमा त्वदीया न तु पाण्डवानाम्।
तां चैव मन्ये बृहतीं दुष्प्रधर्षां
यस्या नेता केशवश्चार्जुनश्च ॥ २० ॥

नरेन्द्र ! आपकी सेना अनन्त रूपवाली एवं भयंकर थी; पाण्डवोंकी वैसी नहीं थी । परंतु मैं तो उसी सेनाको विशाल और दुर्जय मानता हूँ, जिसके नेता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

कौरवसेनाको देखकर युधिष्ठिरका विषाद करना और 'श्रीकृष्णकी कृपासे ही विजय होती है' यह कहकर अर्जुनका उन्हें आश्वासन देना

संजय उवाच

बृहतीं धार्तराष्ट्रस्य सेनां दृष्ट्वा समुद्यताम् ।
विषादमगमद् राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युद्धके लिये उद्यत हुई दुर्योधनकी विशाल सेनाको देखकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके मनमें विषाद छा गया ॥ १ ॥

व्यूहं भीष्मेण चाभेद्यं कल्पितं प्रेक्ष्य पाण्डवः ।
अक्षोभ्यमिव सम्प्रेक्ष्य विवर्णोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥

भीष्मने जिस व्यूहकी रचना की थी, उसका भेदन करना असम्भव था । उसे अक्षोभ्य-सा देखकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी अङ्ग-कान्ति फीकी पड़ गयी । वे अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥

धनंजय कथं शक्यमस्माभिर्योद्धुमाहवे ।
धार्तराष्ट्रैर्महाबाहो येषां योद्धा पितामहः ॥ ३ ॥

'महाबाहु धनंजय ! जिनके प्रधान योद्धा पितामह भीष्म हैं, उन धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ हम समरभूमिमें कैसे युद्ध कर सकते हैं ? ॥ ३ ॥

अक्षोभ्योऽयमभेद्यश्च भीष्मेणामित्रकर्षिणा ।
कल्पितः शास्त्रदृष्टेन विधिना भूरिवर्चसा ॥ ४ ॥

'महातेजस्वी शत्रुसूदन भीष्मने शास्त्रीय विधिके अनुसार यह अक्षोभ्य एवं अभेद्य व्यूह रचा है ॥ ४ ॥

ते वयं संशयं प्राप्ताः ससैन्याः शत्रुकर्षण ।
कथमस्मान्महाव्यूहादुत्थानं नो भविष्यति ॥ ५ ॥

'शत्रुनाशन अर्जुन ! हमलोग अपनी सेनाओंके साथ प्राणसंकटकी स्थितिमें पहुँच गये हैं । इस महान् व्यूहसे हमारा उद्धार कैसे होगा ?' ॥ ५ ॥

अथार्जुनोऽब्रवीत् पार्थं युधिष्ठिरममित्रहा ।
विषण्णमिव सम्प्रेक्ष्य तव राजन्ननीकिनीम् ॥ ६ ॥

राजन् ! तब शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुनने आपकी सेनाको देखकर विषादग्रस्त-से हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको सम्बोधित करके कहा—॥ ६ ॥

प्रज्ञयाभ्यधिकाञ्शूरान् गुणयुक्तान् बहूनपि ।
जयन्त्यल्पतरा येन तन्निबोध विशाम्पते ॥ ७ ॥

'प्रजानाथ ! अधिक बुद्धिमान्, उत्तम गुणोंसे युक्त तथा बहुसंख्यक शूरवीरोंको भी बहुत थोड़े योद्धा जिस प्रकार जीत लेते हैं, उसे बताता हूँ, सुनिये—॥ ७ ॥

तत्र ते कारणं राजन् प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
नारदस्तमृषिर्वेद भीष्मद्रोणौ च पाण्डव ॥ ८ ॥

'राजन् ! आप दोषदृष्टिसे रहित हैं, अतः आपको वह युक्ति बताता हूँ । पाण्डुनन्दन ! उसे केवल देवर्षि नारद, भीष्म तथा द्रोणाचार्य जानते हैं ॥ ८ ॥

एतमेवार्थमाश्रित्य युद्धे देवासुरेऽब्रवीत् ।
पितामहः किल पुरा महेन्द्रादीन् दिवौकसः ॥ ९ ॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें जब देवासुर-संग्राम हो रहा था, उस समय इसी विषयको लेकर पितामह ब्रह्माने इन्द्र आदि देवताओंसे इस प्रकार कहा था—॥ ९ ॥

न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः ।
यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च ॥ १० ॥

'विजयकी इच्छा रखनेवाले शूरवीर अपने बल और पराक्रमसे वैसी विजय नहीं पाते, जैसी कि सत्य, सज्जनता, धर्म तथा उत्साहसे प्राप्त कर लेते हैं ॥ १० ॥

त्यक्त्वाधर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिताः ।
युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ११ ॥

'देवताओ ! अधर्म, लोभ और मोह त्यागकर उद्यमका सहारा ले अहंकारशून्य होकर युद्ध करो । जहाँ धर्म है उसी पक्षकी विजय होती है' ॥ ११ ॥

एवं राजन् विजानीहि ध्रुवोऽस्माकं रणे जयः।
यथा तु नारदः प्राह यतः कृष्णस्ततो जयः॥ १२॥

'राजन्! इसी नियमके अनुसार आप भी यह निश्चितरूपसे जान लें कि युद्धमें हमारी विजय अवश्यम्भावी है। जैसा कि नारदजीने कहा है, जहाँ कृष्ण हैं, वहीं विजय है॥

गुणभूतो जयः कृष्णे पृष्ठतोऽभ्येति माधवम्।
तद् यथा विजयश्चास्य संनतिश्चापरो गुणः॥ १३॥

'विजय तो श्रीकृष्णका एक गुण है, अतः वह उनके पीछे-पीछे चलता है। जैसे विजय गुण है, उसी प्रकार विनय भी उनका द्वितीय गुण है॥ १३॥

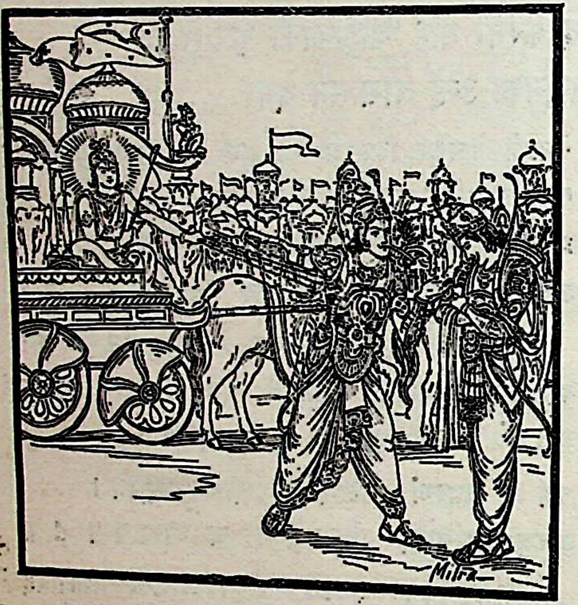

अनन्ततेजा गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः।
पुरुषः सनातनमयो यतः कृष्णस्ततो जयः।

'भगवान् गोविन्दका तेज अनन्त है। वे समुदायमें भी कभी व्यथित नहीं होते; क्योंकि वे पुरुष (परमात्मा) हैं। अतः जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं वि

पुरा ह्येष हरिर्भूत्वा विकुण्ठोऽकुण्ठसायकः।
सुरासुरानवस्फूर्जन्नब्रवीत् के जयन्त्विति।

'ये श्रीकृष्ण कहीं भी प्रतिहत या अवरुद्ध न ईश्वर हैं। इनका बाण अमोघ है। ये ही पूर्वकालमें रूपमें प्रकट हो वज्रगर्जनके समान गम्भीर वाणीमें और असुरोंसे बोले—तुमलोगोंमेंसे किसकी विजय हो!

कथं कृष्ण जयेमेति यैरुक्तं तत्र तैर्जितम्।
तत्प्रसादाद्धि त्रैलोक्यं प्राप्तं शक्रादिभिः सुरैः॥

'उस समय जिन लोगोंने उनका आश्रय लेकर 'कृष्ण! हमारी जीत कैसे होगी?' उन्हींकी जीत हु प्रकार श्रीकृष्णकी कृपासे ही इन्द्र आदि देवताओंने का राज्य प्राप्त किया है॥ १६॥

तस्य ते न व्यथां काञ्चिदिह पश्यामि भारत।
यस्य ते जयमाशास्ते विश्वभुक् त्रिदिवेश्वरः॥

'अतः भारत! मैं आपके लिये किसी प्रकारकी चिन्ता होनेका कारण नहीं देखता; क्योंकि देवे विश्वम्भर भगवान् श्रीकृष्ण आपके लिये विजयकी आशा

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें युधिष्ठिर-अर्जुनसंवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी रणयात्रा, अर्जुन और भीमसेनकी प्रशंसा तथा श्रीकृष्णका अर्जुनसे कौरवसेनाको मारनेके लिये कहना

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वां सेनां समनोदयत्।
प्रतिव्यूहन्ननीकानि भीष्मस्य भरतर्षभ॥ १॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भीष्मजीकी सेनाका सामना करनेके लिये अपनी सेनाकी व्यूहरचना करते हुए उसे युद्धके लिये प्रेरित किया॥ १॥

यथोद्दिष्टान्यनीकानि प्रत्यव्यूहन्त पाण्डवाः।
स्वर्गं परममिच्छन्तः सुयुद्धेन कुरूद्वहाः॥ २॥

कुरुकुलके धुरन्धर वीर पाण्डवोंने उत्तम युद्धके द्वारा उत्कृष्ट स्वर्गलोककी इच्छा रखकर शास्त्रोक्त विधिसे शत्रुके मुकाबिलेमें अपनी सेनाका व्यूह-निर्माण किया॥ २॥

मध्ये शिखण्डिनोऽनीकं रक्षितं सव्यसाचिना।
धृष्टद्युम्नश्चरन्नग्रे भीमसेनेन पालितः॥

व्यूहके मध्यभागमें सव्यसाची अर्जुनद्वारा शिखण्डीकी सेना थी और अग्रभागमें भीमसेनद्वारा धृष्टद्युम्न विचरण कर रहे थे॥ ३॥

अनीकं दक्षिणं राजन् युयुधानेन पालितम्।
श्रीमता सात्वताग्र्येण शक्रेणेव धनुष्मता॥

राजन्! उस व्यूहके दक्षिण भागकी रक्षा इन्द्रके धनुर्धर सात्वतशिरोमणि श्रीमान् सात्यकि कर रहे थे॥

महेन्द्रयानप्रतिमं रथं तु
सोपस्करं हाटकरत्नचित्रम्।

युधिष्ठिरः काञ्चनभाण्डयोक्त्रं
समास्थितो नागपुरस्य मध्ये ॥ ५ ॥

राजा युधिष्ठिर हाथियोंकी सेनाके बीचमें खड़े एक सुन्दर रथपर आरूढ़ हुए, जो देवराज इन्द्रके रथकी समानता कर रहा था। उस रथमें सब आवश्यक सामग्री रक्खी गयी थी। भाँति-भाँतिके सुवर्ण तथा रत्नोंसे विभूषित होनेके कारण उस रथकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें सुवर्णमय भाण्ड तथा रस्सियाँ रक्खी हुई थीं ॥ ५ ॥

समुच्छ्रितं दन्तशलाकमस्य
सुपाण्डुरं छत्रमतीव भाति।
प्रदक्षिणं चैनमुपाचरन्त
महर्षयः संस्तुतिभिर्महेन्द्रम् ॥ ६ ॥

उस समय किसी सेवकने युधिष्ठिरके ऊपर हाथीके दाँतोंकी बनी हुई शलाकाओंसे युक्त श्वेत छत्र लगा रक्खा था, जिसकी बड़ी शोभा हो रही थी। कुछ महर्षिगणोंने नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की ॥ ६ ॥

पुरोहिताः शत्रुवधं वदन्तो
ब्रह्मर्षिसिद्धाः श्रुतवन्त एनम्।
जप्यैश्च मन्त्रैश्च महौषधीभिः
समन्ततः स्वस्त्ययनं ब्रुवन्तः ॥ ७ ॥

शास्त्रोंके विद्वान् पुरोहित, ब्रह्मर्षि और सिद्धगण जप, मन्त्र तथा उत्तम ओषधियोंद्वारा सब ओरसे युधिष्ठिरके कल्याण और शत्रुओंके संहारका शुभ आशीर्वाद देने लगे ॥ ७ ॥

ततः स वस्त्राणि तथैव गाश्च
फलानि पुष्पाणि तथैव निष्कान्।
कुरूत्तमो ब्राह्मणसान्महात्मा
कुर्वन् ययौ शक्र इवामरेशः ॥ ८ ॥

उस समय देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर बहुत-से वस्त्र, गाय, फल-फूल और स्वर्णमय आभूषण ब्राह्मणोंको दान करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ८ ॥

सहस्रसूर्यः शतकिङ्किणीकः
परार्ध्यजाम्बूनदहेमचित्रः।
रथोऽर्जुनस्याग्निरिवार्चिमाली
विभ्राजते श्वेतहयः सुचक्रः ॥ ९ ॥

अर्जुनका रथ ज्वालमालाओंसे युक्त अग्निके समान शोभा पा रहा था। उसमें सूर्यकी आकृतिके सहस्रों चक्र विद्यमान थे। सैकड़ों क्षुद्र घंटिकाएँ लगी थीं। बहुमूल्य जाम्बूनद नामक सुवर्णसे भूषित होनेके कारण उस रथकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें श्वेत रंगके घोड़े और सुन्दर पहिये लगे थे ॥ ९ ॥

तमास्थितः केशवसंगृहीतं
कपिध्वजो गाण्डिवबाणपाणिः।
धनुर्धरो यस्य समः पृथिव्यां
न विद्यते नो भविता कदाचित् ॥ १० ॥

गाण्डीव धनुष और बाण हाथमें लिये हुए कपिध्वज अर्जुन उस रथपर आरूढ़ थे। भगवान् श्रीकृष्णने उसकी बागडोर सँभाल रखी थी। अर्जुनके समान धनुर्धर इस भूतलपर न तो कोई है और न होगा ही ॥ १० ॥

उद्वर्तयिष्यंस्तव पुत्रसेना-
मतीव रौद्रं स बिभर्ति रूपम्।
अनायुधो यः सुभुजो भुजाभ्यां
नराश्वनागान् युधि भस्म कुर्यात् ॥ ११ ॥

महाराज! जो सुन्दर बाहोंवाले भीमसेन बिना आयुधके केवल भुजाओंसे ही युद्धमें मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंको भस्म कर सकते हैं, उन्होंने ही आपके पुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालनेके लिये अत्यन्त रौद्र रूप धारण कर रक्खा है ॥ ११ ॥

स भीमसेनः सहितो यमाभ्यां
वृकोदरो वीररथस्य गोप्ता।
तं तत्र सिंहर्षभमत्तखेलं
लोके महेन्द्रप्रतिमानकल्पम् ॥ १२ ॥
समीक्ष्य सेनाग्रगतं दुरासदं
संविव्यथुः पङ्कगता यथा द्विपाः।
वृकोदरं वारणराजदर्पं
योधास्त्वदीया भयविग्नसत्त्वाः ॥ १३ ॥

वृकोदर भीमसेन नकुल और सहदेवके साथ रहकर अपने वीर रथी धृष्टद्युम्नकी रक्षा कर रहे थे। जो सिंहों और साँड़ोंके समान उन्मत्त-से होकर युद्धका खेल खेलते हैं, जिनका दर्प गजराजके समान बढ़ा हुआ है तथा जो लोकमें देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी हैं, उन्हीं दुर्धर्ष वीर भीमसेनको सेनाके अग्रभागमें उपस्थित देख आपके सैनिक भयसे उद्विग्नचित्त हो कीचड़में फँसे हुए हाथियोंकी भाँति व्यथित हो उठे ॥

अनीकमध्ये तिष्ठन्तं राजपुत्रं दुरासदम्।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं गुडाकेशं जनार्दनः ॥ १४ ॥

उस समय सेनाके मध्यभागमें खड़े हुए दुर्जय वीर निद्राविजयी भरतश्रेष्ठ राजकुमार अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

वासुदेव उवाच

य एष रोषात् प्रतपन् बलस्थो
यो नः सेनां सिंह इवेक्षते च।
स एष भीष्मः कुरुवंशकेतु-
र्येनाहृतास्त्रिशतं वाजिमेधाः ॥ १५ ॥

भगवान् वासुदेव बोले—धनंजय ! ये जो अपनी सेनाके मध्यभागमें स्थित हो रोषसे तप रहे हैं और सिंहके समान हमारी सेनाकी ओर देखते हैं, ये ही कुरुकुलकेतु भीष्म हैं, जिन्होंने अबतक तीन सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया है॥

एतान्यनीकानि महानुभावं
गूहन्ति मेघा इव रश्मिमन्तम्।
एतानि हत्वा पुरुषप्रवीर
काङ्क्षस्व युद्धं भरतर्षभेण॥

जैसे बादल अंशुमाली सूर्यको ढक लेते हैं, उसी ये सारी सेनाएँ इन महानुभाव भीष्मको आच्छादि हुए हैं। नरवीर अर्जुन ! तुम पहले इन सेनाओंको भरतकुलभूषण भीष्मजीके साथ युद्धकी अभिलाषा करो

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीकृष्णार्जुनसंवादे द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

* * *

त्रयोविंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति, वरप्राप्ति और अर्जुनकृत दुर्गास्तवनके पाठकी महिमा

संजय उवाच

धार्तराष्ट्रबलं दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम्।
अर्जुनस्य हितार्थाय कृष्णो वचनमब्रवीत्॥ १॥

संजय कहते हैं—दुर्योधनकी सेनाको युद्धके लिये उपस्थित देख श्रीकृष्णने अर्जुनके हितके लिये इस प्रकार कहा॥

श्रीभगवानुवाच

शुचिर्भूत्वा महाबाहो संग्रामाभिमुखे स्थितः।
पराजयाय शत्रूणां दुर्गास्तोत्रमुदीरय॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! तुम युद्धके सम्मुख खड़े हो। पवित्र होकर शत्रुओंको पराजित करनेके लिये दुर्गा देवीकी स्तुति करो॥ २॥

संजय उवाच

एवमुक्तोऽर्जुनः संख्ये वासुदेवेन धीमता।
अवतीर्य रथात् पार्थः स्तोत्रमाह कृताञ्जलिः॥ ३॥

संजय कहते हैं—परम बुद्धिमान् भगवान् वासुदेवके द्वारा रणक्षेत्रमें इस प्रकार आदेश प्राप्त होनेपर कुन्तीकुमार अर्जुन रथसे नीचे उतरकर दुर्गादेवीकी स्तुति करने लगे॥

अर्जुन उवाच

नमस्ते सिद्धसेनानि आर्ये मन्दरवासिनि।
कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्णपिङ्गले॥ ४॥
भद्रकालि नमस्तुभ्यं महाकालि नमोऽस्तु ते।
चण्डि चण्डे नमस्तुभ्यं तारिणि वरवर्णिनि॥ ५॥

अर्जुन बोले—मन्दराचलपर निवास करनेवाली सिद्धोंकी सेनानेत्री आर्ये ! तुम्हें बारम्बार नमस्कार है। तुम्हीं कुमारी, काली, कापाली, कपिला, कृष्णपिङ्गला, भद्रकाली और महाकाली आदि नामोंसे प्रसिद्ध हो; तुम्हें बारम्बार प्रणाम है। दुष्टोंपर प्रचण्ड कोप करनेके कारण तुम चण्डी कहलाती हो, भक्तोंको संकटसे तारनेके कारण तारिणी हो, तुम्हारा दिव्य वर्ण बहुत ही सुन्दर है; मैं तुम्हें प्रणाम करत

कात्यायनि महाभागे करालि विजये जये।
शिखिपिच्छध्वजधरे नानाभरणभूषिते॥

महाभागे ! तुम्हीं (सौम्य और सुन्दर रूपवाली) कात्यायनी हो और तुम्हीं विकराल रूपधारिणी काली हो विजया और जयाके नामसे विख्यात हो। मोरपंखकी ध्वजा है। नाना प्रकारके आभूषण तुम्हारे अङ्गोंकी शोभा

अट्टशूलप्रहरणे खड्गखेटकधारिणि।
गोपेन्द्रस्यानुजे ज्येष्ठे नन्दगोपकुलोद्भवे॥

तुम भयंकर त्रिशूल, खड्ग और खेटक आदि अ धारण करती हो। नन्दगोपके वंशमें तुमने अवतार था, इसलिये गोपेश्वर श्रीकृष्णकी तुम छोटी बहिन हो गुण और प्रभावमें सर्वश्रेष्ठ हो॥ ७॥

महिषासृक्प्रिये नित्यं कौशिकि पीतवासिनि।
अट्टहासे कोकमुखे नमस्तेऽस्तु रणप्रिये॥

महिषासुरका रक्त बहाकर तुम्हें बड़ी प्रसन्नता हुई तुम कुशिकगोत्रमें अवतार लेनेके कारण कौशिकी ना प्रसिद्ध हो। तुम पीताम्बर धारण करती हो। जब तुम को देखकर अट्टहास करती हो, उस समय तुम्हारा चक्रवाकके समान उद्दीप्त हो उठता है। युद्ध तुम्हें प्रिय है। मैं तुम्हें बारंबार प्रणाम करता हूँ॥ ८॥

उमे शाकम्भरि श्वेते कृष्णे कैटभनाशिनि।
हिरण्याक्षि विरूपाक्षि सुधूम्राक्षि नमोऽस्तु ते॥

उमा, शाकम्भरी, श्वेता, कृष्णा, कैटभनाशिनी, हिरण्य विरूपाक्षी और सुधूम्राक्षी आदि नाम धारण करने देवि ! तुम्हें अनेकों बार नमस्कार है॥ ९॥

वेदश्रुति महापुण्ये ब्रह्मण्ये जातवेदसि।
जम्बूकटकचैत्येषु नित्यं सन्निहितालये॥

तुम वेदोंकी श्रुति हो, तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त पवित्र है; वेद और ब्राह्मण तुम्हें प्रिय हैं। तुम्हीं जातवेदा अग्निकी शक्ति हो; जम्बू, कटक और चैत्यवृक्षोंमें तुम्हारा नित्य निवास है ॥ १० ॥

त्वं ब्रह्मविद्या विद्यानां महानिद्रा च देहिनाम्।
स्कन्दमातर्भगवति दुर्गे कान्तारवासिनि ॥ ११ ॥

तुम समस्त विद्याओंमें ब्रह्मविद्या और देहधारियोंकी महानिद्रा हो। भगवति! तुम कार्तिकेयकी माता हो, दुर्गम स्थानोंमें वास करनेवाली दुर्गा हो ॥ ११ ॥

स्वाहाकारः स्वधा चैव कला काष्ठा सरस्वती।
सावित्रि वेदमाता च तथा वेदान्त उच्यते ॥ १२ ॥

सावित्रि! स्वाहा, स्वधा, कला, काष्ठा, सरस्वती, वेदमाता तथा वेदान्त—ये सब तुम्हारे ही नाम हैं ॥ १२ ॥

स्तुतासि त्वं महादेवि विशुद्धेनान्तरात्मना।
जयो भवतु मे नित्यं त्वत्प्रसादाद् रणाजिरे ॥ १३ ॥

महादेवि! मैंने विशुद्ध हृदयसे तुम्हारा स्तवन किया है। तुम्हारी कृपासे इस रणाङ्गणमें मेरी सदा ही जय हो ॥ १३ ॥

कान्तारभयदुर्गेषु भक्तानां चालयेषु च।
नित्यं वससि पाताले युद्धे जयसि दानवान् ॥ १४ ॥

माँ! तुम घोर जंगलमें, भयपूर्ण दुर्गम स्थानोंमें, भक्तोंके घरोंमें तथा पातालमें भी नित्य निवास करती हो। युद्धमें दानवोंको हराती हो ॥ १४ ॥

त्वं जम्भनी मोहिनी च माया ह्रीः श्रीस्तथैव च।
संध्या प्रभावती चैव सावित्री जननी तथा ॥ १५ ॥

तुम्हीं जम्भनी, मोहिनी, माया, ह्री, श्री, संध्या, प्रभावती, सावित्री और जननी हो ॥ १५ ॥

तुष्टिः पुष्टिर्धृतिर्दीप्तिश्चन्द्रादित्यविवर्धिनी।
भूतिर्भूतिमतां सङ्ख्ये वीक्ष्यसे सिद्धचारणैः ॥ १६ ॥

तुष्टि, पुष्टि, धृति तथा सूर्य-चन्द्रमाको बढ़ानेवाली दीप्ति भी तुम्हीं हो। तुम्हीं ऐश्वर्यवानोंकी विभूति हो। युद्धभूमिमें सिद्ध और चारण तुम्हारा दर्शन करते हैं ॥ १६ ॥

संजय उवाच

ततः पार्थस्य विज्ञाय भक्तिं मानववत्सला।
अन्तरिक्षगतोवाच गोविन्दस्याग्रतः स्थिता ॥ १७ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! अर्जुनके इस भक्तिभावका अनुभव करके मनुष्योंपर वात्सल्य-भाव रखनेवाली माता दुर्गा अन्तरिक्षमें भगवान् श्रीकृष्णके सामने आकर खड़ी हो गयीं और इस प्रकार बोलीं ॥ १७ ॥

देव्युवाच

स्वल्पेनैव तु कालेन शत्रूञ्जेष्यसि पाण्डव।
नरस्त्वमसि दुर्धर्ष नारायणसहायवान् ॥ १८ ॥
अजेयस्त्वं रणेऽरीणामपि वज्रभृतः स्वयम्।

देवीने कहा—पाण्डुनन्दन! तुम थोड़े ही समयमें शत्रुओंपर विजय प्राप्त करोगे। दुर्धर्ष वीर! तुम तो साक्षात् नर हो। ये साक्षात् नारायण तुम्हारे सहायक हैं। तुम रणक्षेत्रमें शत्रुओंके लिये अजेय हो। साक्षात् इन्द्र भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकते ॥ १८½ ॥

इत्येवमुक्त्वा वरदा क्षणेनान्तरधीयत ॥ १९ ॥
लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो मेने विजयमात्मनः।
आरुरोह ततः पार्थो रथं परमसम्मतम् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर वरदायिनी देवी दुर्गा वहाँसे क्षणभरमें अन्तर्धान हो गयीं। वह वरदान पाकर कुन्तीकुमार अर्जुनको अपनी विजयका विश्वास हो गया। फिर वे अपने परम सुन्दर रथपर आरूढ़ हुए ॥ १९-२० ॥

कृष्णार्जुनावेकरथौ दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।

फिर एक रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने अपने दिव्य शङ्ख बजाये।

य इदं पठते स्तोत्रं कल्य उत्थाय मानवः ॥ २१ ॥
यक्षरक्षःपिशाचेभ्यो न भयं विद्यते सदा।

जो मनुष्य सबेरे उठकर इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे यक्ष, राक्षस और पिशाचोंसे कभी भय नहीं होता ॥ २१½ ॥

न चापि रिपवस्तेभ्यः सर्पाद्या ये च दंष्ट्रिणः ॥ २२ ॥
न भयं विद्यते तस्य सदा राजकुलादपि।
विवादे जयमाप्नोति बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥ २३ ॥

शत्रु तथा सर्प आदि विषैले दाँतोंवाले जीव भी उनको कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। राजकुलसे भी उन्हें कोई भय नहीं होता है। इसका पाठ करनेसे विवादमें विजय प्राप्त होती है और बंदी बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २२-२३ ॥

दुर्गं तरति चावश्यं तथा चौरैर्विमुच्यते।
संग्रामे विजयेन्नित्यं लक्ष्मीं प्राप्नोति केवलाम् ॥ २४ ॥

वह दुर्गम संकटसे अवश्य पार हो जाता है। चोर भी उसे छोड़ देते हैं। वह संग्राममें सदा विजयी होता और विशुद्ध लक्ष्मी प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

आरोग्यबलसम्पन्नो जीवेद् वर्षशतं तथा।
एतद् दृष्टं प्रसादात् तु मया व्यासस्य धीमतः ॥ २५ ॥

इतना ही नहीं, इसका पाठ करनेवाला पुरुष आरोग्य और बलसे सम्पन्न हो सौ वर्षोंकी आयुतक जीवित रहता है। यह

सब परम बुद्धिमान् भगवान् व्यासजीके कृपा-प्रसादसे मैंने प्रत्यक्ष देखा है ॥ २५ ॥

मोहादेतौ न जानन्ति नरनारायणावृषी ।
तव पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मन्युवशानुगाः ॥ २६ ॥

राजन् ! आपके सभी दुरात्मा पुत्र क्रोधके वशीभूत हो मोहवश यह नहीं जानते हैं कि ये श्रीकृष्ण और अर्जुन ही साक्षात् नर-नारायण ऋषि हैं ॥ २६ ॥

प्राप्तकालमिदं वाक्यं कालपाशेन गुण्ठिताः ।
द्वैपायनो नारदश्च कण्वो रामस्तथानघः ।
अवारयंस्तव सुतं न चासौ तद् गृहीतवान् ॥ २७ ॥

वे कालपाशसे बद्ध होनेके कारण इस समयोचि बतानेपर भी नहीं सुनते । द्वैपायन व्यास, नारद, पापशून्य परशुरामने तुम्हारे पुत्रको बहुत रोका उसने उनकी बात नहीं मानी ॥ २७ ॥

यत्र धर्मो द्युतिः कान्तिर्यत्र ह्रीः श्रीस्तथा मतिः।
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ।

जहाँ न्यायोचित बर्ताव, तेज और कान्ति है, श्री और बुद्धि है तथा जहाँ धर्म विद्यमान है, वहाँ हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि दुर्गास्तोत्रे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें दुर्गास्तोत्रविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

सैनिकोंके हर्ष और उत्साहके विषयमें धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

धृतराष्ट्र उवाच

केषां प्रहृष्टास्तत्राग्रे योधा युध्यन्ति संजय ।
उदग्रमनसः के वा के वा दीना विचेतसः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! उस समय किस पक्षके योद्धा अत्यन्त हर्षमें भरकर पहले युद्धमें प्रवृत्त हुए ? किनके मनमें उत्साह भरा था और कौन-कौन मनुष्य दीन एवं अचेत हो रहे थे ? ॥ १ ॥

के पूर्वं प्राहरंस्तत्र युद्धे हृदयकम्पने ।
मामकाः पाण्डवेया वा तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २ ॥

संजय ! हृदयको कम्पित कर देनेवाले संग्राममें किन्होंने पहले संग्राम किया, मेरे पुत्रोंने या पाण्डवोंने ? यह मुझे बताओ ॥

कस्य सेनासमुदये गन्धमाल्यसमुद्भवः ।
वाचः प्रदक्षिणाश्चैव योधानामभिगर्जताम् ॥ ३ ॥

किसकी सेनाओंमें सुगन्धित पुष्पमाला आदिका प्रादुर्भाव हुआ ? किस पक्षके गर्जते हुए योद्धाओंकी वाणी उदारतापूर्ण और उत्साहयुक्त थीं ? ॥ ३ ॥

संजय उवाच

उभयोः सेनयोस्तत्र योधा जहृषिरे तदा ।
स्रजः समाः सुगन्धानामुभयत्र समुद्भवः ॥ ४ ॥

संजयने कहा—राजन् ! दोनों ही सेनाओं उस समय हर्षमें भरे हुए थे । उभयपक्षमें ही सुग पुष्पहारोंका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ४ ॥

संहतानामनीकानां व्यूढानां भरतर्षभ ।
संसर्गात् समुदीर्णानां विमर्दः सुमहानभूत् ।

भरतश्रेष्ठ ! संगठित, व्यूहबद्ध तथा युद्धविषयक उद्यत हुए दोनों दलोंके योद्धाओंकी जब मुठभेड़ हु समय बड़ी भारी मार-काट मची थी ॥ ५ ॥

वादित्रशब्दस्तुमुलः शङ्खभेरीविमिश्रितः ।
शूराणां रणशूराणां गर्जतामितरेतरम् ।
उभयोः सेनयो राजन् महान् व्यतिकरोऽभवत् ।

राजन् ! शङ्ख और भेरी आदि वाद्योंका भयंकर शब्द जब एक दूसरेपर गर्जन-तर्जन करनेवाले शूरोंके सिंहनादसे मिला, तब दोनों सेनाओंमें महान् एवं संघर्ष होने लगा ॥ ६ ॥

अन्योन्यं वीक्षमाणानां योधानां भरतर्षभ ।
कुञ्जराणां च नदतां सैन्यानां च प्रहृष्यताम् ।

भरतभूषण ! एक-दूसरेकी ओर देखनेवाले गर्जते हुए हाथियों और हर्षमें भरी हुई सेनाओं नाद सर्वत्र व्याप्त हो रहा था ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

महाभारत

संस्कृत
मूल

संस्कृत
मूल

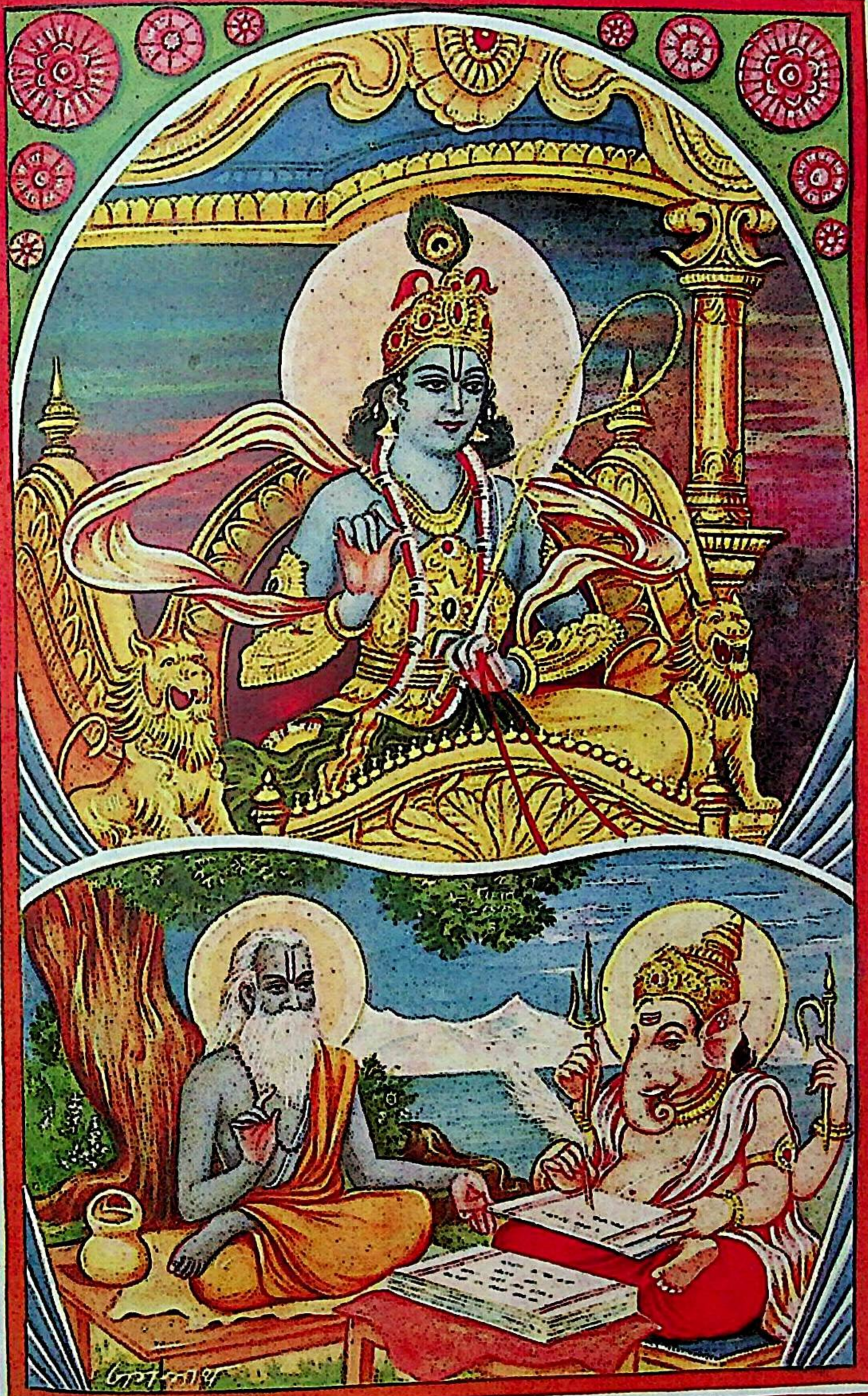

हिन्दी
अनुवाद

हिन्दी
अनुवाद

वर्ष २

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या २

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

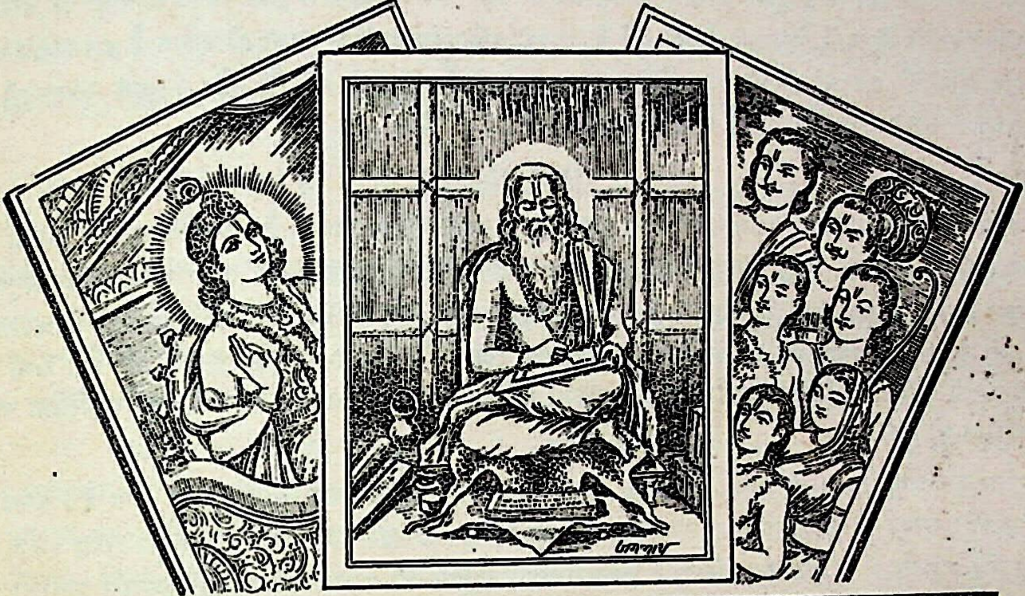

▼ महाभारत ▼

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष २ गोरखपुर, मार्गशीर्ष २०१३, दिसम्बर १९५६ संख्या २
पूर्ण संख्या १४

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

'आप ही माता और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हैं, आप ही विद्या और आप ही धन हैं, हे देवोंके देव ! आप ही मेरे सर्वस्व हैं ।'

नम्र निवेदन

महाभारतके भीष्मपर्वके चौबीसवें अध्यायके बाद श्रीमद्भगवद्गीता है। इसे इस अङ्कमें किस रूपमें दि इसके सम्बन्धमें जब मित्रोंके साथ परामर्श किया गया तो कुछ मित्रोंकी यह राय मिली कि गीता एक महान् उप ग्रन्थ है, इसलिये इस अङ्कमें गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'गीता-तत्त्वविवेचनी टीका' का सारा-का-सारा व्याख् दिया जाय तो अच्छा रहे; किंतु दूसरे मित्रोंने यह सलाह दी कि ऐसा करनेसे अङ्कका कलेवर बड़ा हो जायगा; गीता-तत्त्वविवेचनीमें जो बातें विस्तारसे लिखी हुई हैं, उनको संक्षेप करके दिया जाना ही उचित है। इसलिये इस गीताके मूल श्लोकोंके शब्दार्थ तो गीता-तत्त्वविवेचनीसे प्रायः ज्यों-के-त्यों लिये गये हैं और विस्तृत व्याख्यासे छोड़कर उत्तर-भागमेंसे सार-सार विषय टिप्पणियोंके रूपमें लिये गये हैं।

गीता-महिमा

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्‌की दिव्य वाणी है। इसकी महिमा अपार है, अपरिमित है। उसका व वर्णन कोई नहीं कर सकता। शेष, महेश, गणेश भी इसकी महिमाको पूरी तरहसे नहीं कह सकते; फिर मनुष्यों बात ही क्या है। इतिहास-पुराणोंमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है; परंतु जितनी महिमा इसकी अबतक गयी है, उसे एकत्र कर लिया जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी महिमा इतनी ही है। सच्ची बा यह है कि इसकी महिमाका पूर्णतया वर्णन हो नहीं सकता। जिस वस्तुका वर्णन हो सकता है, वह अपरिमित कहाँ वह तो परिमित हो गयी।

गीता एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेद और शास्त्रोंका सार संग्रह किया गया है। इसकी र इतनी सरल और सुन्दर है कि थोड़ा अभ्यास करनेसे भी मनुष्य इसको सहज ही समझ सकता है; परंतु इसका आ इतना गूढ़ और गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये भाव उत्पन्न होते ही रहते हैं, इससे वह सदा नवीन ही बना रहता है; एवं एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा-भक्तिसहित वि करनेसे इसके पद-पदमें परम रहस्य भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, स्वरूप, मर्म उपासनाका तथा कर्म एवं ज्ञानका वर्णन जिस प्रकार इस गीता-शास्त्रमें किया गया है, वैसा अन्य ग्रन्थोंमें एक मिलना कठिन है। भगवद्गीता एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र है, जिसका एक भी शब्द सदुपदेशसे खाली नहीं है। गी एक भी शब्द ऐसा नहीं है, जो रोचक कहा जा सके। उसमें जितनी बातें कही गयी हैं, वे सभी अक्षरशः यथार्थ सत्यस्वरूप भगवान्‌की वाणीमें रोचकताकी कल्पना करना उसका निरादर करना है।

गीता सर्वशास्त्रमयी है। गीतामें सारे शास्त्रोंका अध्यात्मविषयक सार भरा हुआ है। उसे सारे शास्त्रों खजाना कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। गीताका भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर सब शास्त्रोंका तात्त्विक ज्ञान अपने- हो सकता है, उसके लिये अलग परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। शास्त्रोंमें गङ्गास्नानका फल मुक्ति बतलाया गया है; परंतु गङ्गामें स्नान करनेवा स्वयं मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको तारनेका सामर्थ्य नहीं रखता; किंतु गीतारूपी गङ्गामें गोते लगानेवाला स्वयं मुक्त होता ही है, वह दूसरोंको भी तारनेमें समर्थ हो जाता है। गङ्गा तो भगवान्‌के चरणोंसे उत्पन्न हुई है और गी साक्षात् भगवान् नारायणके मुखारविन्दसे निकली है; फिर गङ्गा तो जो उसमें आकर स्नान करता है, उसीको मुक्त कर है, परंतु गीता तो घर-घरमें जाकर उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखलाती है। इन सब कारणोंसे गीताको गङ्गासे बढ़कर कहते हैं

ऊपर यह बतलाया गया है कि गीता सर्वशास्त्रमयी है। इस महाभारतमें ही कहा है—'सर्वशास्त्रमयी गी (भीष्म० ४३। २), परंतु इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है; क्योंकि सारे शास्त्रोंकी उत्पत्ति वेदोंसे हुई, वेदों प्राकट्य भगवान् ब्रह्माजीके मुखसे हुआ और ब्रह्माजी भगवान्‌के नाभिकमलसे उत्पन्न हुए। इस प्रकार शास्त्रों औ भगवान्‌के बीचमें बहुत अधिक व्यवधान पड़ गया है; किंतु गीता तो स्वयं भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली इसलिये उसे सभी शास्त्रोंसे बढ़कर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। स्वयं भगवान् श्रीवेदव्यासने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १

'गीताका ही भली प्रकारसे गान करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि ग स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

इस श्लोकमें 'पद्मनाभ' शब्दका प्रयोग करके महाभारतकारने यही बात व्यक्त की है। तात्पर्य यह है कि

गीता उन्हीं भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं।

गीता गायत्रीसे बढ़कर है। गायत्री-जपसे मनुष्यकी मुक्ति होती है, यह बात ठीक है; किंतु गायत्री-जप करनेवाला भी स्वयं ही मुक्त होता है, पर गीताका अभ्यास करनेवाला तो तरन-तारन बन जाता है। जब मुक्तिके दाता स्वयं भगवान् ही उसके हो जाते हैं, तब मुक्तिकी तो बात ही क्या है। मुक्ति उसकी चरणधूलिमें निवास करती है। मुक्तिका तो वह सदाव्रत खोल देता है।

गीताको हम स्वयं भगवान्‌से भी बढ़कर कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्। गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥

(वाराहपुराण)

'मैं गीताके आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा श्रेष्ठ गृह है। गीताके ज्ञानका सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ।'

इसके सिवा, गीतामें ही भगवान् मुक्तकण्ठसे यह घोषणा करते हैं कि जो कोई मेरी इस गीतारूप आज्ञाका पालन करेगा, वह निःसंदेह मुक्त हो जायगा। यही नहीं, भगवान् कहते हैं कि जो कोई इसका अध्ययन भी करेगा, उसके द्वारा ज्ञानयज्ञसे मैं पूजित होऊँगा। जब गीताके अध्ययनमात्रका इतना माहात्म्य है, तब जो मनुष्य इसके उपदेशोंके अनुसार अपना जीवन बना लेता है और इसका रहस्य भक्तोंको धारण कराता है तथा उनमें इसका विस्तार एवं प्रचार करता है, उसकी तो बात ही क्या है। उसके लिये तो भगवान् कहते हैं कि वह मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला है। वह भगवान्‌को प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा होता है, यह भी कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा। भगवान् अपने ऐसे भक्तोंके अधीन बन जाते हैं। अच्छे पुरुषोंमें भी यह देखा जाता है कि उनके सिद्धान्तोंका पालन करनेवाला जितना उन्हें प्रिय होता है, उतने प्यारे उन्हें अपने प्राण भी नहीं होते। गीता भगवान्‌का प्रधान रहस्यमय आदेश है। ऐसी दशामें उसका पालन करनेवाला उन्हें प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है।

गीता भगवान्‌का श्वास है, हृदय है और भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति है। जिसके हृदयमें, वाणीमें, शरीरमें तथा समस्त इन्द्रियों एवं उनकी क्रियाओंमें गीता रम गयी है, वह पुरुष साक्षात् गीताकी मूर्ति है। उसके दर्शन, स्पर्श, भाषण एवं चिन्तनसे भी दूसरे मनुष्य परम पवित्र बन जाते हैं; फिर उसके आज्ञापालन एवं अनुकरण करनेवालोंकी तो बात ही क्या है। वास्तवमें गीताके समान संसारमें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, संयम और उपवास आदि कुछ भी नहीं हैं।

गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकली हुई वाणी है। इसके संकलनकर्ता श्रीव्यासजी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने उपदेशका कितना ही अंश तो पद्योंमें ही कहा था, जिसे व्यासजीने ज्यों-का-त्यों रख दिया। कुछ अंश जो उन्होंने गद्यमें कहा था, उसे व्यासजीने स्वयं श्लोकबद्ध कर दिया; साथ ही अर्जुन, संजय एवं धृतराष्ट्रके वचनोंको भी पद्यरूपमें ग्रथित कर लिया और इस पूरे ग्रन्थको अठारह अध्यायोंमें विभक्त करके महाभारतके अंदर मिला लिया, जो आज हमें इस रूपमें उपलब्ध है।

गीताका तात्पर्य

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है। इसके अंदर ज्ञानका अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका तत्त्व समझानेमें बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् और तत्त्वालोचक महात्माओंकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है; क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं। उनके बाद कहीं इसके संकलनकर्ता व्यासजी और श्रोता अर्जुनका नंबर आता है। ऐसी अगाध रहस्यमयी गीताका आशय और महत्त्व समझना मेरे-जैसे मनुष्यके लिये ठीक वैसा ही है, जैसा एक साधारण पक्षीका अनन्त आकाशका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना। गीता अनन्त भावोंका अथाह समुद्र है। रत्नाकरमें गहरा गोता लगानेपर जैसे रत्नोंकी प्राप्ति होती है, वैसे ही इस गीता-सागरमें गहरी डुबकी लगानेसे जिज्ञासुओंको नित्य-नूतन विलक्षण भाव-रत्न-राशिकी उपलब्धि होती है; परंतु आकाशमें गरुड़ भी उड़ते हैं तथा साधारण मच्छर भी—इसीके अनुसार सभी अपने-अपने भावके अनुसार कुछ अनुभव करते ही हैं। अतएव विचार करनेपर प्रतीत होता है कि गीताका मुख्य तात्पर्य अनादिकालसे अज्ञानवश संसार-समुद्रमें पड़े हुए जीवको परमात्माकी प्राप्ति करवा देनेमें है और उसके लिये गीतामें ऐसे उपाय बतलाये गये हैं, जिनसे मनुष्य अपने सांसारिक कर्तव्य-कर्मोंका भलीभाँति आचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है। व्यवहारमें परमार्थके प्रयोगकी यह अद्भुत कला गीतामें बतलायी गयी है और अधिकारी-भेदसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये इस प्रकारकी दो निष्ठाओंका प्रतिपादन किया गया है। वे दो निष्ठाएँ हैं—ज्ञाननिष्ठा यानी सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा (गीता ३ । ३)।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'प्रायः सभी शास्त्रोंमें भगवान्‌को प्राप्त करनेके तीन प्रधान मार्ग बतलाये गये हैं—

कर्म, उपासना और ज्ञान। ऐसी दशामें गीताने दो ही निष्ठाएँ कैसे मानी हैं? क्या गीताको भक्तिका सिद्धान्त नहीं है? बहुत-से लोग तो गीताका उपदेश भक्तिप्रधान ही मानते हैं और यत्र-तत्र भगवान्ने भक्ति महत्त्व भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है (गीता ६ । ४७) और भक्तिके द्वारा अपनी प्राप्ति सुलभ बतलायी है (८ । १४; ११ । ५४)।' इसका उत्तर यह है कि गीताने भक्तिको भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन माना है— की यह मान्यता ठीक ही है। गीताने भक्तिको बहुत ऊँचा स्थान दिया है और स्थान-स्थानपर अर्जुनको भक्त बननेकी भी दी है (गीता ९ । ३४; १२ । ८; १८ । ५७, ६५, ६६); परंतु गीताने निष्ठाएँ दो ही मानी हैं। भक्ति योगनिष्ठामें शामिल है और भक्तिके क्रियात्मिका होनेसे गीताका ऐसा मानना युक्तिविरुद्ध भी नहीं कहा जा

इसके अतिरिक्त 'ज्ञान' और 'कर्म' शब्दोंका जिस अर्थमें गीतामें प्रयोग हुआ है, वह भी विशेष है। गीताके कर्म और कर्मयोग तथा ज्ञान और ज्ञानयोग एक ही चीज नहीं हैं। गीताके अनुसार कर्म ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा दोनों ही दृष्टियोंसे हो सकते हैं। ज्ञाननिष्ठामें भी कर्मका विरोध नहीं है और निष्ठामें तो कर्मोंका सम्पादन ही साधन माना गया है (गीता ६ । ३) और उनका स्वरूपसे त्याग उ माना गया है (गीता ३ । ४)। दूसरे अध्यायके ४७वेंसे लेकर ५१ वें श्लोकतक तथा तीसरे अध्यायके १९वें अध्यायके ४२ वें श्लोकोंमें अर्जुनको योगनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है और तीसरे अध्यायके तथा पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें और तेरहवें श्लोकोंमें सांख्य यानी ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म करनेकी बात कही सकाम कर्मके लिये किसी भी निष्ठामें स्थान ही नहीं है, सकामकर्मियोंको तो भगवान्ने तुच्छ बत (गीता २ । ४२ से ४४; ७ । २० से २३; ९ । २०, २१)।

ज्ञानका अर्थ भी गीतामें केवल ज्ञानयोग ही नहीं है; फलरूप ज्ञानको भी, जो सब प्रकारके फल है—जो ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा दोनोंका फल है और जिसे यथार्थ ज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान भी 'ज्ञान' शब्दसे ही कहा है। चौथे अध्यायके चौबीसवेंमें तथा पचीसवेंके उत्तरार्द्धमें ज्ञानयोगका वर्णन है अध्यायके ३६ वेंसे ३९ वें तक फलरूप ज्ञानका वर्णन है। इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रसङ्गानुसार समझ लेना

शास्त्रोंमें कर्म और ज्ञानके अतिरिक्त जो 'उपासना' का प्रकरण आया है, वह उपासना इन्हीं दो अन्तर्गत है। जब अपनेको परमात्मासे अभिन्न मानकर उपासना की जाती है, तब वह सांख्यनिष्ठाके जाती है और जब भेददृष्टिसे की जाती है, तब योगनिष्ठाके अन्तर्गत मानी जाती है। सांख्यनिष्ठा और यही मुख्य अन्तर है। इसी प्रकार तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें केवल ध्यानके द्वारा परमात्मा बतलायी गयी है; परंतु वहाँ भी यही बात समझनी चाहिये कि जो ध्यान अभेददृष्टिसे किया जाता है, वह निष्ठाके अन्तर्गत है और जो भेददृष्टिसे किया जाता है, वह योगनिष्ठाके अन्तर्गत है।

गीतामें केवल भजन-पूजन अथवा केवल ध्यानसे अपनी प्राप्ति बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखल कि योगनिष्ठाके पूरे साधनसे तो उनकी प्राप्ति होती ही है, उसके एक-एक अङ्गके साधनसे भी उनकी सकती है। यह उनकी कृपा है कि उन्होंने अपनेको जीवोंके लिये इतना सुलभ बना दिया है। अब सां और योगनिष्ठाके स्वरूपके विषयमें संक्षेपसे विचार किया जा रहा है—

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाका स्वरूप

(१) सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी भाँति अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामय होनेसे कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—इस प्रकार समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होना (गीता ५ । ८-९) तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका रहना (गीता १३ । ३०)—यह तो 'सांख्यनिष्ठा' है। 'ज्ञानयोग' अथवा 'कर्मसंन्यास' भी इसीके नाम हैं।

(२) सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग करके भगवद सब कर्मोंका आचरण करना (गीता २ । ४७से ५१) अथवा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे भगवान्के शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना (गीता ६ । यह 'योगनिष्ठा' है। इसीका भगवान्ने समत्वयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म एवं सात्त्विक त्याग आदि नामोंसे उल्लेख कि

योगनिष्ठामें सामान्यरूपसे अथवा प्रधानरूपसे भक्ति रहती ही है। गीतोक्त योगनिष्ठा भक्तिसे है। जहाँ भक्ति अथवा भगवान्का स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख नहीं है (गीता २ । ४७ से ५१), वहाँ भी आज्ञाका पालन तो है ही और उसका फल भी भगवान्की ही प्राप्ति है—इस दृष्टिसे भक्तिका सम्बन्ध वहाँ भी

अब यहाँ गीताकी कुछ खास-खास बातें बतलायी जाती हैं—

गीतामें समता

गीतामें समताकी बात प्रधानरूपसे आयी है। भगवत्प्राप्तिकी तो समता ही कसौटी है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति—तीनों ही मार्गोंमें साधनरूपमें भी समताकी आवश्यकता बतलायी गयी है और तीनों ही मार्गोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंका भी समता एक असाधारण लक्षण बतलाया गया है। साधन भी उसके बिना अधूरा है, सिद्धि तो अधूरी है ही। जिसमें समता नहीं, वह सिद्ध ही कैसा ? दूसरे अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'समदुःखसुखम्' पदसे ज्ञानमार्गके साधकोंमें समतावालेको ही अमृतत्व अर्थात् मुक्तिका अधिकारी बतलाया गया है। दूसरे अध्यायके अड़तालीसवेंमें 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' इस श्लोकार्धके द्वारा कर्मयोगके साधकको समतायुक्त होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है। बारहवें अध्यायके १८ वें, १९ वें इन दो श्लोकोंमें सिद्ध भक्तके लक्षणोंमें समताका उल्लेख किया गया है और उसी अध्यायके २० वें श्लोकमें भक्ति-मार्गके साधकके लिये भी इन्हीं गुणोंके सेवनकी बात कही गयी है। इसी प्रकार छठे अध्यायके ७ वेंसे ९ वेंतक सिद्ध कर्मयोगीको सम बतलाया गया है और चौदहवें अध्यायके २४-२५ वेंमें गुणातीत (सिद्ध ज्ञानयोगी) के लक्षणोंमें भी समताका प्रधानरूपसे समावेश पाया जाता है।

इस समताका तत्त्व सुगमताके साथ भलीभाँति समझानेके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें अनेकों प्रकारसे सम्पूर्ण क्रिया, भाव, पदार्थ और भूतप्राणियोंमें समताकी व्याख्या की है। जैसे—

मनुष्योंमें समता

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ (६। ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला श्रेष्ठ है।'

मनुष्यों और पशुओंमें समता

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (५। १८)

'ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

सम्पूर्ण जीवोंमें समता

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (६। ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

कहीं-कहींपर भगवान्‌ने व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भावकी समताका एक ही साथ वर्णन किया है। जैसे—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ (१२। १८)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है (वह भक्त है)।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'व्यक्ति' के वाचक हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ (१४। २४)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वही गुणातीत है)।'

इसमें भी दुःख-सुख 'भाव' हैं, लोष्ट, अश्म और काञ्चन 'पदार्थ' हैं, निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं और प्रिय-अप्रिय 'प्राणी', 'भाव', 'पदार्थ' तथा 'क्रिया' सभीके वाचक हैं।

इस प्रकार जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहारमें कथनमात्रकी अहंता-ममता रहते हुए भी जो सबमें समबुद्धि रखता है, जिसका समष्टिरूप समस्त संसारमें आत्मभाव है, वह समतायुक्त पुरुष है और वही सच्चा साम्यवादी है।

गीताके साम्यवाद और आजकलके कहे जानेवाले साम्यवादमें बड़ा अन्तर है। आजकलका साम्यवाद ईश्वर-विरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरको देखता है; वह धर्मका नाशक है, यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है; वह हिंसामय है, यह अहिंसाका प्रतिपादक है; वह स्वार्थमूलक है, यह स्वार्थको समीप भी नहीं आने देता; वह खान-पान-स्पर्शादिमें एकता रखकर आन्तरिक भेदभाव रखता है, यह खान-पान-स्पर्शादिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथा-योग्य भेद रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता और सबमें आत्माको अभिन्न देखनेकी शिक्षा देता है; उसका लक्ष्य

केवल धनोपासना है, इसका लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति है; उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनाद सर्वथा अभिमानशून्यता है और सारे जगत्‌में परमात्माको देखकर सबका सम्मान करना है; उसमें बाह्य प्रधानता है, इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है; उसमें भौतिक सुख मुख्य है, इसमें आध्यात्मिक सुख मुख परधन और परमतसे असहिष्णुता है, इसमें सबका समान आदर है; उसमें राग-द्वेष है, इसमें राग-द्वेषका अ

गुणोंकी पहचान

इसी प्रकार गीतामें सात्त्विक-राजस-तामस पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंकी कुछ खास पहचान बतलायी वह इस प्रकार है—

(१) जिस पदार्थ, भाव या क्रियाका स्वार्थसे सम्बन्ध न हो और जिसमें आसक्ति एवं ममता न जिसका फल भगवत्प्राप्ति हो, उसे सात्त्विक जानना चाहिये ।

(२) जिस पदार्थ, भाव या क्रियामें लोभ, स्वार्थ एवं आसक्तिका सम्बन्ध हो तथा जिसका फल क्षणि प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दुःख हो, उसे राजस समझना चाहिये ।

(३) जिस पदार्थ, भाव या क्रियामें हिंसा, मोह एवं प्रमाद हो तथा जिसका फल दुःख एवं अज्ञान तामस समझना चाहिये ।

इस प्रकार तीनों तरहके पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंका भेद बतलाकर भगवान्‌ने सात्त्विक पदार्थों, क्रियाओंको ग्रहण करने तथा राजस और तामस पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंका त्याग करनेका उपदेश दिया है।

गीतामें आचरणकी अपेक्षा भावकी प्रधानता

यद्यपि उत्तम आचरण एवं अन्तःकरणका उत्तम भाव दोनोंहीको गीताने कल्याणका साधन माना प्रधानता भावको ही दी है। दूसरे, बारहवें तथा चौदहवें अध्यायोंके अन्तमें क्रमशः स्थितप्रज्ञ, भक्त एवं गुणातीत लक्षणोंमें भावकी ही प्रधानता बतलायी गयी है (देखिये गीता २ । ५५ से ७१; १२ । १३ से १९; १ २५)। दूसरे तथा चौदहवें अध्यायोंमें तो अर्जुनने प्रश्न किया है आचरणको लक्ष्य करके, परंतु भगवान्‌ने उत्त प्रधानतया भावको ही दृष्टिमें रखकर । गीताके अनुसार सकामभावसे की हुई यज्ञ, दान, तप आदि ऊँची-से-ऊँ एवं उपासनासे भी निष्कामभावसे की हुई शिल्प, व्यापार एवं सेवा आदि छोटी-से-छोटी क्रिया भी मुक्तिदायक होने श्रेष्ठ है (गीता २ । ४०, ४९; १२ । १२; १८ । ४६)। चौथे अध्यायमें जहाँ कई प्रकारके यज्ञरूप साधन गये हैं, उनमें भी भावकी प्रधानतासे ही मुक्ति बतलायी है ।

अधिकारी

गीताकी शिक्षापर विचार करनेपर यह कहा जा सकता है कि गीतामें बतलाये हुए साधनोंके अनुसार आचरण अधिकार मनुष्यमात्रको है। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णका यह उपदेश समस्त मानवजातिके लिये है—किसी खास वर्ण किसी खास आश्रमके लिये नहीं। यही गीताकी विशेषता है। भगवान्‌ने अपने उपदेशमें जगह-जगह 'मानवः', 'नरः', 'देही' इत्यादि शब्दोंका प्रयोग करके इस बातको स्पष्ट कर दिया है। पाँचवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें जहाँ सांख्य मुख्य साधन बतलाया गया है, भगवान्‌ने 'देही' शब्दका प्रयोग करके मनुष्यमात्रको उसका अधिकारी बतलाया है प्रकार अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि मनुष्यमात्र अपने-अपने शास्त्रविहित द्वारा सर्वव्यापी परमेश्वरकी पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है । इसी प्रकार भक्तिके लिये भगवान्‌ने स्त्री, शू पापयोनितकको अधिकारी बतलाया है (९ । ३२) और भी जहाँ-जहाँ भगवान्‌ने मुक्तिके लिये किसी भी उपदेश दिया है, वहाँ ऐसा नहीं कहा है कि इस साधनको करनेका किसी खास वर्ण, आश्रम या जातिको ही अधि दूसरोंको नहीं।

सार बात यह है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' एक परम रहस्यका विषय है । इसको परम कृपालु भगवान् अर्जुनको निमित्त करके सभी प्राणियोंके हितके लिये कहा है; परंतु इसके प्रभावको वे ही पुरुष जान सकते भगवान्‌के शरण होकर श्रद्धा-भक्तिसहित इसका अभ्यास करते हैं । इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनु उचित है कि जितना शीघ्र हो सके, अज्ञाननिद्रासे चेतकर एवं अपना मुख्य कर्तव्य समझकर श्रद्धा-भक्तिसहित श्रवण, मनन और पठन-पाठनद्वारा अभ्यास करते हुए भगवान्‌के आज्ञानुसार साधनमें लग जायँ; क्योंकि जो श्रद्धा-भक्तिसहित इसका मर्म जाननेके लिये इसके अन्तर प्रवेश करके सदा इसका मनन करते हैं एवं भगवद्वि साधन करनेमें तत्पर रहते हैं, उनके अन्तःकरणमें प्रतिदिन नये-नये सद्भाव उत्पन्न होते हैं और वे शुद्धान्तःकरण शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं ।

—जयदयाल गो

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

ध्याय विषय पृष्ठ-संख्या

५–(श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रथमोऽध्यायः)
दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान वीरों एवं शङ्खध्वनिका वर्णन तथा स्वजनवधके पापसे भयभीत हुए अर्जुनका विषाद ··· २५९७

६–(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयोऽध्यायः)
अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए भगवान्के द्वारा नित्यानित्य वस्तुके विवेचन-पूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञकी स्थिति और महिमाका प्रतिपादन ··· २६०१

–(श्रीमद्भगवद्गीतायां तृतीयोऽध्यायः)
ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनोंके अनुसार कर्तव्य कर्म करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन एवं स्वधर्मपालनकी महिमा तथा कामनिरोधके उपायका वर्णन ··· २६१२

–(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्थोऽध्यायः)
सगुण भगवान्के प्रभाव, निष्काम कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमाका वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञानकी महिमाका वर्णन ··· २६२३

–(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चमोऽध्यायः)
सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोगका वर्णन ··· २६३६

–(श्रीमद्भगवद्गीतायां षष्ठोऽध्यायः)
निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धारके लिये प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन ··· २६४५

–(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तमोऽध्यायः)
ज्ञान-विज्ञान, भगवान्की व्यापकता, अन्य देवताओंकी उपासना एवं भगवान्को प्रभाव-सहित न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमाका कथन ··· २६५८

–(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टमोऽध्यायः)
ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका प्रतिपादन ··· २६६५

अध्याय विषय पृष्ठ-संख्या

३३–(श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्यायः)
ज्ञान, विज्ञान और जगत्की उत्पत्तिका, आसुरी और दैवी सम्पदावालोंका, प्रभावसहित भगवान्के स्वरूपका, सकाम-निष्काम उपासनाका एवं भगवद्-भक्तिकी महिमाका वर्णन ··· २६७५

३४–(श्रीमद्भगवद्गीतायां दशमोऽध्यायः)
भगवान्की विभूति और योगशक्तिका तथा प्रभावसहित भक्तियोगका कथन, अर्जुनके पूछनेपर भगवान्द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः वर्णन ··· २६९१

३५–(श्रीमद्भगवद्गीतायामेकादशोऽध्यायः)
विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना, भगवान् और संजयद्वारा विश्वरूपका वर्णन, अर्जुनद्वारा भगवान्के विश्वरूपका देखा जाना, भयभीत हुए अर्जुनद्वारा भगवान्की स्तुति-प्रार्थना, भगवान्द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके दर्शनकी महिमा और केवल अनन्यभक्तिसे ही भगवान्की प्राप्तिका कथन २७०८

३६–(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशोऽध्यायः)
साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय तथा भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं भगवत्प्राप्तिवाले पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन ··· २७२७

३७–(श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रयोदशोऽध्यायः)
ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषका वर्णन ··· ··· ··· २७३९

३८–(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्दशोऽध्यायः)
ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्की उत्पत्तिका, सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंका, भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन ··· ··· २७५२

३९–(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः)
संसारवृक्षका, भगवत्प्राप्तिके उपायका, जीवात्माका, प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके तत्त्वका वर्णन २७६२

अध्याय विषय पृष्ठ-संख्या

४०–(श्रीमद्भगवद्गीतायां षोडशोऽध्यायः)
फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणोंको त्यागने और शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेके लिये प्रेरणा· २७६९

४१–(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः)
श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृ भेद तथा ॐ, तत्, सत्‌के प्रयोगकी व्या

अध्याय विषय

४२–(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टादशोऽध्यायः)
त्यागका, सांख्यसिद्धान्तका, फलसहित व धर्मका, उपासनासहित ज्ञाननिष्ठाका, भक्तिसहि निष्काम कर्मयोगका एवं गीताके माहात्म्य वर्णन ··· ···

* * *

चित्र-सूची

१–महाभारतलेखन (तिरंगा) ··· मुखपृष्ठ
२–द्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनका सैन्य प्रदर्शन ··· ··· (तिरंगा) ··· २५९७
३–शरणागत अर्जुन ··· (एकरंगा) ··· २६०१
४–देवताओं और मनुष्योंको प्रजापतिकी शिक्षा ··· (तिरंगा) ··· २६१४
५–पञ्च महायज्ञ ··· (एकरंगा) ··· २६१५
६–सूर्यके प्रति नारायणका उपदेश (तिरंगा) ··· २६२३
७–समदर्शिता ··· (,,) ··· २६४०
८–सबमें भगवद्-दर्शन ··· (,,) ··· २६५३
९–अर्थार्थी भक्त ध्रुव ··· (,,) ··· २६६१
१०–आर्तभक्त द्रौपदी ··· (,,) ··· २६६२
११–ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ··· (,,) ··· २६६८
१२–भक्तोंके द्वारा प्रेमसे दिये हुए पत्र, पुष्प, फल, जल आदिको भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर ग्रहण करते हैं ··· (,,) ··· २६८६
१३–पुण्यात्मा ब्राह्मण सुतीक्ष्ण (तिरंगा) ···
१४–राजर्षि अम्बरीष ··· (,,) ···
१५–भगवान्‌की प्रह्लाद आदि तीन विभूतियाँ ··· (,,) ···
१६–अर्जुनके प्रति भगवान्‌का विराट्रूप-प्रदर्शन ··· (एकरंगा) ···
१७–भगवान् विष्णु ··· (तिरंगा) ···
१८–भगवान्‌के द्वारा भक्तका संसारसागरसे उद्धार ··· (एकरंगा) ···
१९–चार अवस्था ··· (,,) ···
२०–संसार-वृक्ष ··· (,,) ···
२१–मोह-नाश ··· (,,) ···
२२–भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ वि विभूति, नीति और श्री (तिरंगा) ···
२३–(३ लाइनचित्र फरमोंमें)

टीकाकार—जयदयाल गोयन्दका
सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्री सहजानंद संस्कृत हा
पाण्डे पुरी

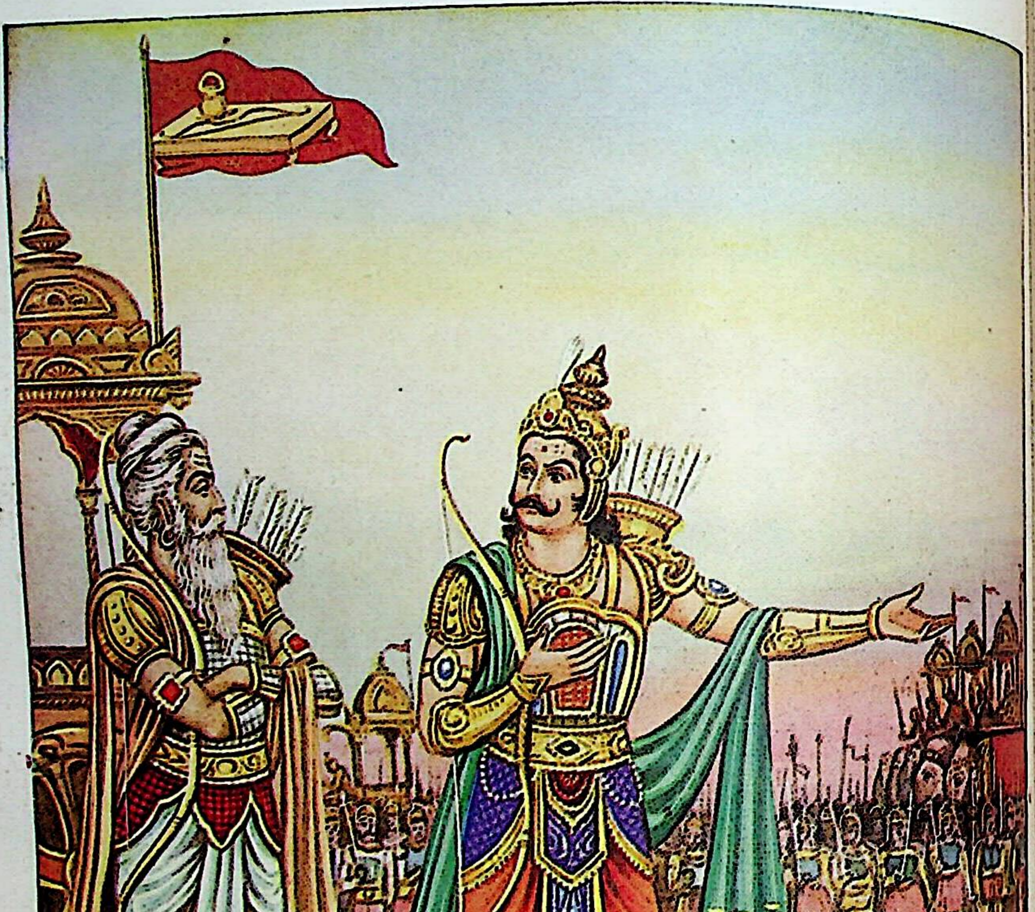

द्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनका सैन्य-प्रदर्शन

CC-0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पञ्चविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रथमोऽध्यायः)

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान वीरों एवं शङ्खध्वनिका वर्णन तथा स्वजनवधके पापसे भयभीत हुए अर्जुनका विषाद

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें एकत्र हुए युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

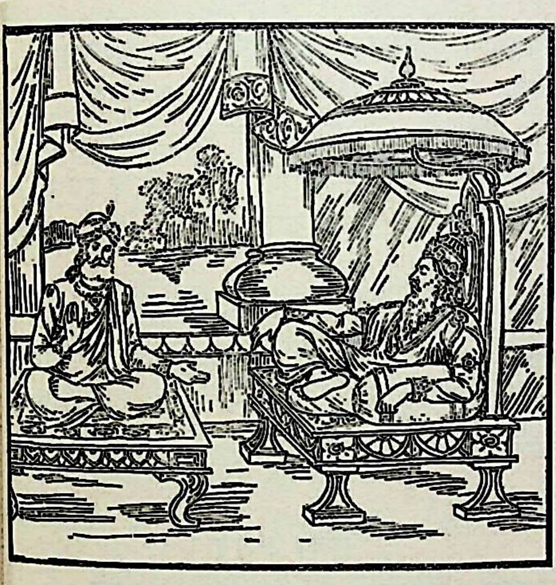

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय बोले—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा—॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

'हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

'इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४—६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

'हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अपने पक्षमें भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये । आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

'आप—द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

'और भी मेरे लिये जीवनकी आशा त्याग देनेवाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और सबके सब युद्धमें चतुर हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

'भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

'इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आपलोग सभी निःसंदेह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें' ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

(तब) कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

इसके पश्चात् शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शङ्ख बजाये ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्यनामक, अर्जुनने देवदत्तनामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्रनामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजयनामक और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पकनामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने, हे राजन् ! (सब ओरसे) अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृ गुँजाते हुए धार्तराष्ट्रोंके यानी आपके पक्षवालोंके हृद कर दिये ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।

हे राजन् ! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने मोर्चा डटे हुए धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, उस शस्त्र तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण यह वचन कहा—'हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों बीचमें खड़ा कीजिये ॥ २०-२१ ॥

यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।

'और जबतक कि मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके इन विपक्षी योद्धाओंको भली प्रकार देख लूँ कि इस व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है उसे खड़ा रखिये ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।

'दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें हित चाहनेवाले राजालोग इस सेनामें आये हैं, इन युद्ध करनेवालों देखूँगा' ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥

संजय बोले—हे धृतराष्ट्र ! अर्जुनद्वारा इस प्र हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीच और द्रोणाचार्यके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि 'हे पार्थ ! युद्ध जुटे हुए इन कौरवोंको देख'* ॥ २४-२५ ॥

---

* 'कौरवोंको देख' इन शब्दोंका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि 'इस सेनामें जितने लोग हैं, प्र तुम्हारे वंशके तथा आत्मीय स्वजन ही हैं। उनको तुम अच्छी तरह देख लो ।' भगवान्के इसी संकेतने अर्जुनके करणमें छिपे हुए कुटुम्ब-स्नेहको प्रकट कर दिया, मानो अर्जुनको निमित्त बनाकर लोककल्याण करनेके लिये स्वयं भ ही इन शब्दोंके द्वारा उनके हृदयमें ऐसी भावना उत्पन्न कर दी, जिसमें उन्होंने युद्ध करनेसे इन्कार कर दिया और फलस्वरूप साक्षात् भगवान्के मुखारविन्दसे त्रिलोकपावन दिव्य गीतामृतकी ऐसी परम मधुर धारा बह निक अनन्त कालतक अनन्त जीवोंका परम कल्याण करती रहेगी ।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ॥ २६½ ॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओंको देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले ॥ २७½ ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इस स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीरमें कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है ॥ २८-२९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

हे केशव ! मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखोंको ही । हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या लाभ है ? ॥ ३२ ॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े हैं ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं ॥

एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे मधुसूदन ! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको[1] मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अतएव हे माधव ! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि अपने ही कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको और मित्रोंसे विरोध करनेमें पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन ! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ? ॥ ३८-३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप भी बहुत फैल जाता है* ॥

---

[1] वसिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः । (३ । १९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं ।'

* पाँच हेतु ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्य अधर्मसे बचता है और धर्मको सुरक्षित रखनेमें समर्थ होता है—ईश्वरका

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है । लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन ! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालतक नरकमें वास होता हम सुनते आये हैं ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥

हा ! शोक ! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी म करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥

यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करनेवाले हाथमें लिये धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो वह भी मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥

संजयबोले—रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाले इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके भागमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ भीष्मपर्वणि तु पञ्चविंशोऽध्यायः* ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन संवादमें अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥ भीष्मपर्वमें पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

⁂

भय, शास्त्रका शासन, कुलमर्यादाओंके टूटनेका डर, राज्यका कानून और शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आ इनमें ईश्वर और शास्त्र सर्वथा सत्य होनेपर भी वे श्रद्धापर निर्भर करते हैं, प्रत्यक्ष हेतु नहीं हैं। राज्यके कानून प्रजाके ही प्रधानतया होते हैं; जिनके हाथोंमें अधिकार होता है, वे उन्हें प्रायः नहीं मानते । शारीरिक तथा आर्थिक आशङ्का अधिकतर व्यक्तिगत रूपमें हुआ करती है। एक कुल-मर्यादा ही ऐसी वस्तु है, जिसका सम्बन्ध सारे कुटुम्बसे रहता है । जिस समाज या कुलमें परम्परासे चली आती हुई शुभ और श्रेष्ठ मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं, वह समाज बिना लगामके मतवाले घोड़ोंके समान यथेच्छाचारी हो जाता है । यथेच्छाचार किसी भी नियमको सहन नहीं कर वह मनुष्यको उच्छृङ्खल बना देता है । जिस समाजके मनुष्योंमें इस प्रकारकी उच्छृङ्खलता आ जाती है, उस कुलमें स्वाभाविक ही सर्वत्र पाप छा जाता है ।

*प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर जो उपर्युक्त पुष्पिका दी गयी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य और प्र प्रकट किया गया है । 'ॐ तत्सत्' भगवान्‌के पवित्र नाम हैं (गीता १७ । २३), स्वयं श्रीभगवान्‌के द्वारा गायी जानेके इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है, इसमें उपनिषदोंका सारतत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी उपनिषद् है, इससे इसको 'उप कहा गया है, निर्गुण-निराकार परमात्माके परमतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है जिस कर्मयोगका योगके नामसे वर्णन हुआ है, उस निष्कामभावपूर्ण कर्मयोगका तत्त्व बतलानेवाली होनेसे इसका 'योगशास्त्र' है । यह साक्षात् परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुनका संवाद है और इसके प्रत्येक अ परमात्माको प्राप्त करानेवाले योगका वर्णन है, इसीसे इसके लिये 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे .... योगो नाम' कहा

शरणागत अर्जुन

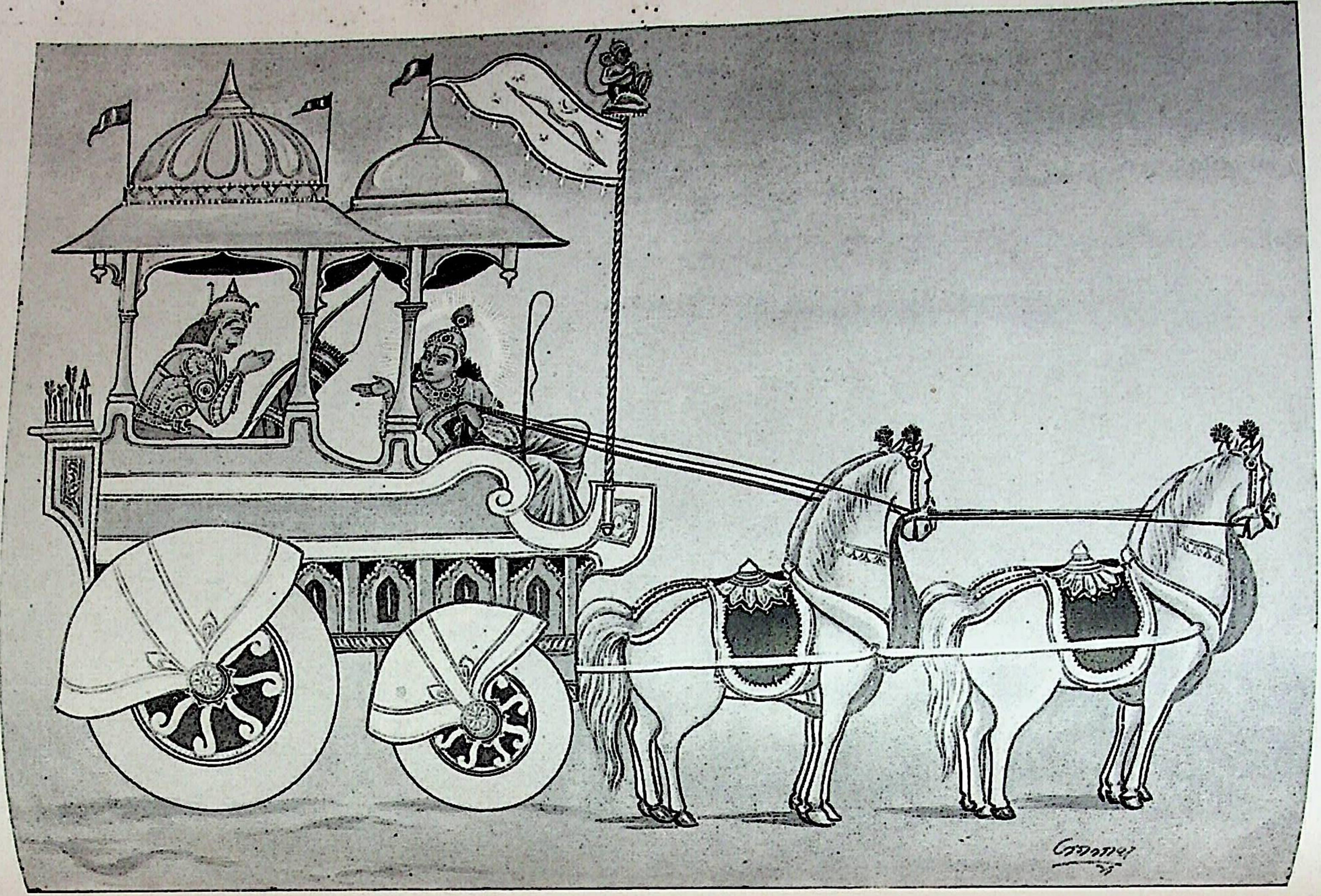

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

षड्विंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयोऽध्यायः)

अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए भगवान्‌के द्वारा नित्यानित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञकी स्थिति और महिमाका प्रतिपादन

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें गीतोक्त उपदेशकी प्रस्तावनाके रूपमें दोनों सेनाओंके महारथियोंका और उनकी शङ्खध्वनिका वर्णन करके अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेकी बात कही गयी; उसके बाद दोनों सेनाओंमें स्थित स्वजन-समुदायको देखकर शोक और मोहके कारण अर्जुनके युद्धसे निवृत्त हो जानेकी और शस्त्र-अस्त्रोंको छोड़कर विषाद करते हुए बैठ जानेकी बात कहकर उस अध्यायकी समाप्ति की गयी। ऐसी स्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे क्या बात कही और किस प्रकार उसे युद्धके लिये पुनः तैयार किया; यह सब बतलानेकी आवश्यकता होनेपर संजय अर्जुनकी स्थितिका वर्णन करते हुए दूसरे अध्यायका आरम्भ करते हैं—

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजय बोले—उस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपना निश्चय प्रकट कर देनेपर भी जब अर्जुनको संतोष नहीं हुआ और अपने निश्चयमें शङ्का उत्पन्न हो गयी, तब वे फिर कहने लगे—

न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना—इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे मुकाबलेमें खड़े हैं ॥ ६ ॥

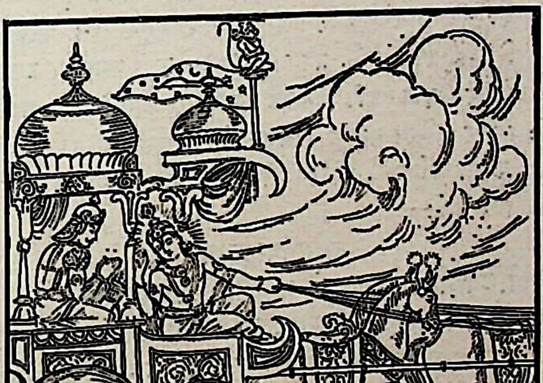

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक, धन-धान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय बोले—हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्‌से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनको हँसते हुए-से यह वचन बोले ॥ १० ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे चिन्तामग्न अर्जुनने जब भगवान्‌के शरण होकर अपने महान् शोककी निवृत्तिका उपाय पूछा और यह कहा कि इस लोक और परलोकका राज्यसुख इस शोककी निवृत्तिका उपाय नहीं है, तब अर्जुनको अधिकारी समझकर उसके शोक और मोहको सदाके लिये नष्ट करनेके उद्देश्यसे भगवान् पहले नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोगकी दृष्टिसे भी युद्ध करना कर्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए सांख्यनिष्ठाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—पहले भगवान् आत्माकी नित्यता और निर्वि प्रतिपादन करके आत्मदृष्टिसे उनके लिये शोक करना सिद्ध करते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवा वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता। अर्थात् जै युवा और जरा-अवस्थारूप स्थूल शरीरका विकार आत्मामें भासता है, वैसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीर होनारूप सूक्ष्म शरीरका विकार भी अज्ञानसे ही भासता है, इसलिये तत्त्वको जाननेवाला धीर पुरुष नहीं होता ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाश अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान सम जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्मा और निर्विकारताका प्रतिपादन किया तथा चौदहवें श्लोकमें साथ विषयोंके संयोगोंको अनित्य बतलाया, किंतु आत्मा है और ये संयोग क्यों अनित्य हैं? इसका स्पष्टीकरण गया; अतएव इस श्लोकमें भगवान् नित्य और अनित्य विवेचनकी रीति बतलानेके लिये दोनोंके लक्षण बतलाते हैं

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी द्वारा देखा गया है* ॥ १६ ॥

---

* तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंद्वारा 'असत्' और 'सत्'का विवेचन करके जो यह निश्चय कर लेना है कि जिस परिवर्तन और नाश होता है, जो सदा नहीं रहती, वह असत् है—अर्थात् असत् वस्तुका विद्यमान रहना सम्भव नहीं जिसका परिवर्तन और नाश किसी भी अवस्थामें किसी भी निमित्तसे नहीं होता, जो सदा विद्यमान रहती है, है—अर्थात् सत्का कभी अभाव होता ही नहीं—यही तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा उन दोनोंका तत्त्व देखा जाना है।

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है । इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने जो यह बात कही थी कि 'मैं इनको मारना नहीं चाहता और यदि वे मुझे मार डालें तो वह मेरे लिये क्षेमतर होगा' उसका समाधान करनेके लिये अगले श्लोकोंमें आत्माको मरने या मारनेवाला मानना अज्ञान है, यह कहते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता * ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ? ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि आत्माका जो एक शरीरसे सम्बन्ध छूटकर दूसरे शरीरसे सम्बन्ध होता है, उसमें उसे अत्यन्त कष्ट होता है; अतः उसके लिये शोक करना कैसे अनुचित है ? इसपर कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है † ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—आत्माका स्वरूप दुर्विज्ञेय होनेके कारण पुनः तीन श्लोकोंद्वारा प्रकारान्तरसे उसकी नित्यता, निराकारता और निर्विकारता-का प्रतिपादन करते हुए उसके विनाशकी आशङ्कासे शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है; यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ॥ २४ ॥

---

१. पूर्वश्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वसे समस्त जडवर्गको व्याप्त बतलाया है, उसे 'शरीरी' कहकर तथा शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध दिखलाकर आत्मा और परमात्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक दृष्टिसे जो भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करनेवाले, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न आत्मा प्रतीत होते हैं, वे वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं, सब एक ही चेतन तत्त्व है; जैसे निद्राके समय स्वप्नकी सृष्टिमें एक पुरुषके सिवा कोई वस्तु नहीं होती, स्वप्नका समस्त नानात्व निद्राजनित होता है, जागनेके बाद पुरुष एक ही रह जाता है, वैसे ही यहाँ भी समस्त नानात्व अज्ञानजनित है, ज्ञानके अनन्तर कोई नानात्व नहीं रहता ।

* इस श्लोकमें छहों विकारोंका अभाव इस प्रकार दिखलाया गया है—आत्माको 'अजः' (अजन्मा) कहकर उसमें 'उत्पत्ति'रूप विकारका अभाव बतलाया है । 'अयं भूत्वा भूयः न भविता' अर्थात् यह जन्म लेकर फिर सत्तावाला नहीं होता, बल्कि स्वभावसे ही सत् है—यह कहकर 'अस्तित्व'रूप विकारका, 'पुराणः' (चिरकालीन और सदा एकरस रहनेवाला) कहकर 'वृद्धि'रूप विकारका, 'शाश्वतः' (सदा एकरूपमें स्थित) कहकर 'विपरिणाम'का, 'नित्यः' (अखण्ड सत्तावाला) कहकर 'क्षय'का और 'शरीरे हन्यमाने न हन्यते' (शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता)—यह कहकर 'विनाश'का अभाव दिखलाया है ।

† वास्तवमें अचल और अक्रिय होनेके कारण आत्माका किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं होता; पर जैसे घड़ेको एक मकानसे दूसरे मकानमें ले जानेके समय उसके भीतरके आकाशका अर्थात् घटाकाशका भी घटके सम्बन्धसे गमनागमन-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें भी गमनागमनकी प्रतीति होती है । अतएव लोगोंको समझानेके लिये आत्मामें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है । इससे हे अर्जुन ! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥२५॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माको अजन्मा और अविनाशी बतलाकर उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया; अब दो श्लोकोंद्वारा आत्माको औपचारिकरूपसे जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी उसके लिये शोक करना अनुचित है, ऐसा सिद्ध करते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

किंतु यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो ! तू इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है ।* इससे भी इस बिना उपायवाले विषयमें तू शोक करनेको योग्य नहीं है ॥

सम्बन्ध—अब अगले श्लोकमें यह सिद्ध करते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंको उद्देश्य करके भी शोक करना नहीं बनता—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है ? ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्बोध होनेके कारण के लिये भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे उसका वर्णन किया; अब अगले श्लोकमें उस आत्मतत्त्वके दर्शन, श्रवणकी अलौकिकता और दुर्लभताका निरूपण करते हैं—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।

कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है † और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है‡ तथा दूसरा अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता है§ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि

हे अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीरमें सदा ही है । इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने सांख्ययोगके अनुसार युक्तियोंद्वारा नित्य शुद्ध, बुद्ध, सम, निर्विकार और आत्माके एकत्व, नित्यत्व, अविनाशित्व आदिका प्रतिपादन तथा शरीरोंको विनाशशील बतलाकर आत्माके या शरीरों अथवा शरीर और आत्माके वियोगके लिये शोक करना सिद्ध किया । साथ ही प्रसङ्गवश आत्माको जन्मने मानने‌पर भी शोक करनेके अनौचित्यका प्रतिपादन कि अर्जुनको युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी । अब सात क्षात्रधर्मके अनुसार शोक करना अनुचित सिद्ध अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हैं—

---

१. आत्माको 'अविकार्य' कहकर अव्यक्त प्रकृतिसे उसकी विलक्षणताका प्रतिपादन किया गया है । अभि है कि समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरण प्रकृतिके कार्य हैं, वे अपनी कारणरूपा प्रकृतिको विषय नहीं कर सकते प्रकृति भी अव्यक्त और अचिन्त्य है; किंतु वह निर्विकार नहीं है, उसमें विकार होता है और आत्मामें कभी कि अवस्थामें विकार नहीं होता । अतएव प्रकृतिसे आत्मा अत्यन्त विलक्षण है ।

* भगवान्‌का यह कथन उन अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है, जो आत्माका जन्मना-मरना नित्य मानते हैं । उनके जो मरणधर्मा है, उसका जन्म होना निश्चित ही है; क्योंकि उस मान्यतामें किसीकी मुक्ति नहीं हो सकती । जिस सिद्धान्तमें मुक्ति मानी गयी है, उसमें आत्माको जन्मने-मरनेवाला भी नहीं माना गया है, जन्मना-मरना सब अज्ञानजनित

† जैसे मनुष्य लौकिक दृश्य वस्तुओंको मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा इदंबुद्धिसे देखता है, आत्मदर्शन वैसा नहीं है का देखना अद्भुत और अलौकिक है । जब एकमात्र चेतन आत्मासे भिन्न किसीकी सत्ता ही नहीं रहती, उस समय आत्मा द्वारा ही अपनेको देखता है । उस दर्शनमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटी नहीं रहती, इसलिये वह देखना आश्चर्यकी भाँति है

‡ जितने भी उदाहरणोंसे आत्मतत्त्व समझाया जाता है, उनमेंसे कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे आत्मतत्त्वको समझाने है । उसके किसी एक अंशको ही उदाहरणोंद्वारा समझाया जाता है; क्योंकि आत्माके सदृश अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, इस अवस्था भी उदाहरण पूर्णरूपसे कैसे लागू हो सकता है ? तथापि बहुत-से आश्चर्यमय संकेतोंद्वारा महापुरुष उसका लक्ष्य कराते हैं, यही आश्चर्यकी भाँति वर्णन करना है । वास्तवमें आत्मा वाणीका अविषय होनेके कारण स्पष्ट शब्दोंमें वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं होता

§ जिसके अन्तःकरणमें पूर्ण श्रद्धा और आस्तिकभाव नहीं होता, जिसकी बुद्धि शुद्ध और सूक्ष्म नहीं होती मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर भी संशय और विपरीत भावनाके कारण इसके स्वरूपको यथार्थ नहीं समझ सकता; इस आत्मतत्त्वका समझना अनधिकारीके लिये बड़ा ही दुर्लभ है ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं ॥

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

किंतु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

तथा सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्तिका भी कथन करेंगे और माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ॥ ३४ ॥

भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

और जिनकी दृष्टिमें तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुताको प्राप्त होगा, वे महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे; उससे अधिक दुःख और क्या होगा ? ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

या तो तू युद्धमें मारा जाकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इस कारण हे अर्जुन ! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा ॥ ३७ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌ने युद्धका फल राज्यसुख या स्वर्गकी प्राप्तितक बतलाया, किंतु अर्जुनने तो पहले ही कह दिया था कि इस लोकके राज्यकी तो बात ही क्या है, मैं तो त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपने कुलका नाश नहीं करना चाहता; अतः जिसे राज्यसुख और स्वर्गकी इच्छा न हो उसको किस भावसे युद्ध करना चाहिये, यह बात अगले श्लोकमें बतलायी जाती है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने सांख्ययोगके सिद्धान्तसे तथा क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्धका औचित्य सिद्ध करके अर्जुनको समतापूर्वक युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी; अब कर्मयोगके सिद्धान्तसे युद्धका औचित्य बतलानेके लिये कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन*—जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धनको भलीभाँति त्याग देगा यानी सर्वथा नष्ट कर डालेगा ॥ ३९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करके अब उसका रहस्यपूर्ण महत्त्व बतलाते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है; बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है† ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगका महत्त्व बतलाकर अब उसके आचरणकी विधि बतलानेके लिये पहले उस कर्मयोगमें परम आवश्यक जो सिद्ध कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका स्थायी समबुद्धि है, उसका और कर्मयोगमें बाधक जो सकाम मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न बुद्धियाँ हैं, उनका भेद बतलाते हैं—

---

* इस श्लोकमें बुद्धिके साथ 'एषा' और 'इमाम्'—ये दो विशेषण देकर यह बात दिखलायी गयी है कि इस अध्यायके ३८ वें श्लोकमें कही हुई समत्वबुद्धि सांख्ययोगके अनुसार ११ वें श्लोकसे लेकर ३० वें श्लोकतक कही गयी, उसीको अब कर्मयोगके अनुसार कहना आरम्भ करते हैं ।

१. इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जहाँ कामनायुक्त कर्म होता है, वहीं अच्छे-बुरे फलकी सम्भावना होती है; इसमें कामनाका सर्वथा अभाव है, इसलिये इसमें प्रत्यवाय अर्थात् विपरीत फल भी नहीं होता ।

† भाव यह है कि निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है । अतएव वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्काम बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन ! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किंतु अस्थिर विचारवाले विवेकहीन सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं॥

सम्बन्ध—अब तीन श्लोकोंमें सकामभावको त्याज्य बतलानेके लिये सकाम मनुष्योंके स्वभाव, सिद्धान्त और आचार-व्यवहारका वर्णन करते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

हे अर्जुन ! जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं, जो कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकी जन इस प्रकारकी जिस पुष्पित यानी दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहा करते हैं जो कि जन्मरूप कर्मफल देनेवाली एवं भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है, उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मि नहीं होती ॥ ४२–४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्

हे अर्जुन ! वेद उपर्युक्त प्रकारसे तीनों गुणोंके समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करने इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसं हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तु परमात्मामें योगक्षेमको न चाहनेवाला* और स्वाधीन अन्तःकरण

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जाने जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना ही रह जाता है† ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समबुद्धिरूप कर्मयोगका फलका महत्त्व बतलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको कर्मयोगमें स्थित होकर लिये कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है,‡ उसके फलों नहीं§ । इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो× तथा न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥

---

* अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग कहते हैं और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम क्षेम है; सांसारिक भोगोंकी त्याग कर देनेके बाद भी शरीरनिर्वाहके लिये मनुष्यकी योगक्षेममें वासना रहा करती है, अतएव उस वासनाका त्याग करानेके लिये यहाँ अर्जुनको 'निर्योगक्षेम' होनेको कहा गया है ।

† इस दृष्टान्तका अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी-कूप-तडागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं वैसे ही जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है ।

‡ जैसे सरकारके द्वारा लोगोंको आत्मरक्षाके लिये या प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पास नाना प्रकारके शस्त्र और उनके प्रयोग करनेका अधिकार दिया जाता है और उसी समय उनके प्रयोगके नियम भी उनको बतला दिये उसके बाद यदि कोई मनुष्य उस अधिकारका दुरुपयोग करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है और उसका अधिकार छीन लिया जाता है, वैसे ही जीवको जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये और दूसरोंका हित करनेके लिये बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित यह मनुष्यशरीर देकर इसके द्वारा नवीन कर्म करनेका अधिकार दिया गया है । अतः अधिकारका सदुपयोग करता है, वह तो कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त हो जाता है और जो दुरुपयोग करता है दण्डका भागी होता है तथा उससे वह अधिकार छीन लिया जाता है अर्थात् उसे पुनः सूकर-कूकरादि योनियोंमें दिया जाता है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये ।

§ मनुष्य कर्मोंका फल प्राप्त करनेमें कभी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है । उसके कौन-से कर्मका क्या फल और वह फल उसको किस जन्ममें और किस प्रकार प्राप्त होगा—इसका न तो उसको कुछ पता है और न वह इच्छानुसार समयपर उसे प्राप्त कर सकता है अथवा न उससे बच ही सकता है । मनुष्य चाहता कुछ और है और होता कुछ और

× मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति, वासना,

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

हे धनंजय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्य-कर्मोंको कर,* समत्व ही योग कहलाता है ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मयोगकी प्रक्रिया बतलाकर अब सकाम भावकी निन्दा और समभावरूप बुद्धियोगका महत्त्व प्रकट करते हुए भगवान् अर्जुनको उसका आश्रय लेनेके लिये आज्ञा देते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्[१] धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

इस समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणीका है। इसलिये हे धनंजय ! तू समबुद्धिमें ही रक्षाका उपाय ढूँढ़ अर्थात् बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है।† इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्[२] ॥ ५१ ॥

क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

सम्बन्ध—भगवान्ने कर्मयोगके आचरणद्वारा अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी, इसपर अर्जुनको यह जिज्ञासा हो सकती है कि अनामय परम पदकी प्राप्ति मुझे कब और कैसे होगी, इसके लिये भगवान् दो श्लोकोंमें कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

जिस कालमें तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले इस लोक और परलोकसम्बन्धी सभी भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा‡ ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना[३] ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

स्पृहा और कामना करना ही कर्मफलका हेतु बनना है; क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्त होता है, उसीको उन कर्मोंका फल मिलता है।

* योगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि केवल सिद्धि और असिद्धिमें ही समत्व रखनेसे काम नहीं चलेगा, बल्कि प्रत्येक क्रियाके करते समय भी तुमको किसी भी पदार्थमें, कर्ममें या उसके फलमें अथवा किसी भी प्राणीमें विषमभाव न रखकर नित्य समभावमें स्थित रहना चाहिये।

[१] जिसमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके समबुद्धिपूर्वक कर्तव्य-कर्मका अनुष्ठान किया जाता है, उस कर्मयोगका वाचक यहाँ 'बुद्धियोगात्' पद है; क्योंकि उन्चालीसवें श्लोकमें 'योगे त्विमां शृणु' अर्थात् अब तुम मुझसे इस बुद्धिको योगमें सुनो, यह कहकर भगवान्ने कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया है। इसके सिवा इस श्लोकमें फल चाहनेवालोंको कृपण बतलाया गया है और अगले श्लोकमें बुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगके लिये आज्ञा दी गयी है और यह कहा गया है कि बुद्धियुक्त मनुष्य कर्मफलका त्याग करके 'अनामय पद' को प्राप्त हो जाता है (गीता २। ५१); इस कारण भी यहाँ 'बुद्धियोगात्' पदका अर्थ कर्मयोग ही है।

† जन्म-जन्मान्तरमें और इस जन्ममें किये हुए जितने भी पुण्यकर्म और पापकर्म संस्काररूपसे अन्तःकरणमें संचित रहते हैं, उन समस्त कर्मोंको समबुद्धिसे युक्त कर्मयोगी इसी लोकमें त्याग देता है—अर्थात् इस वर्तमान जन्ममें ही वह उन समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। उसका उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसके कर्म पुनर्जन्मरूप फल नहीं दे सकते।

[२] जहाँ राग-द्वेष आदि क्लेशोंका, शुभाशुभ कर्मोंका, हर्ष-शोकादि विकारोंका और समस्त दोषोंका सर्वथा अभाव है, जो इस प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा अतीत है, जो भगवान्से सर्वथा अभिन्न भगवान्का परम धाम है, जहाँ पहुँचे हुए मनुष्य वापस नहीं लौटते, उस परम धामको 'अनामय पद' कहते हैं।

‡ इस लोक और परलोकके जितने भी भोगैश्वर्यादि आजतक देखने, सुनने और अनुभवमें आ चुके हैं, उनका नाम 'श्रुत' है और भविष्यमें जो देखे, सुने और अनुभव किये जा सकते हैं, उन्हें 'श्रोतव्य' कहते हैं। उन सबको दुःखके हेतु और अनित्य समझकर जो आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना है, यही उनसे वैराग्यको प्राप्त होना है।

[३] इस लोक और परलोकके भोगैश्वर्य और उनकी प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे बुद्धिमें विक्षिप्तता आ जाती है; इसके कारण वह एक निश्चयपर निश्चलरूपसे नहीं टिक सकती, अभी एक बातको अच्छी समझती है, तो कुछ ही समय बाद दूसरी बातको अच्छी मानने लगती है। ऐसी विक्षिप्त और अनिश्चयात्मिका बुद्धिको यहाँ 'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि' कहा गया है। यह बुद्धिका विक्षेपदोष है।

भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा अर्थात् तेरा परमात्मासे नित्य संयोग हो जायगा ॥ ५३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने यह बात कही कि जब तुम्हारी बुद्धि परमात्मामें निश्चल ठहर जायगी, तब तुम परमात्माको प्राप्त हो जाओगे। इसपर परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ सिद्धयोगीके लक्षण और आचरण जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अर्जुन बोले—हे केशव! समाधिमें स्थित परमात्माको प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुषका क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है? ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध योगीके विषयमें चार बातें पूछी हैं; इन चारों बातोंका उत्तर भगवान्ने अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त दिया है, बीचमें प्रसङ्गवश दूसरी बातें भी कही हैं। इस अगले श्लोकमें भगवान् अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है* और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस

स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें 'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता दूसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके और क्रोध नष्ट हो गये हैं,† ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥

सम्बन्ध—अब भगवान् 'वह कैसे बैठता है?' इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गोंको जैसे समेट वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियों प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (समझना चाहिये) ॥ ५८ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए स्थि बैठनेका प्रकार बतलाकर अब उसमें होनेवाली शङ्काओंका

---

* शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदि अनुकूल पदार्थोंके बने रहनेकी और प्रतिकूल पदार्थोंके नष्ट हो जो राग-द्वेषजनित सूक्ष्म कामना है, जिसका स्वरूप विकसित नहीं होता, उसे 'वासना' कहते हैं। किसी अनुकूल अभावका बोध होनेपर जो चित्तमें ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम नहीं इस अपेक्षारूप कामनाका नाम 'स्पृहा' है। यह कामनाका वासनाकी अपेक्षा विकसित रूप है। जिस अनुकूल अभाव होता है, उसके मिलनेकी और प्रतिकूलके विनाशकी या न मिलनेकी प्रकट कामनाका नाम 'इच्छा' यह कामनाका पूर्ण विकसित रूप है और स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ यथेष्ट प्राप्त रहते हुए भी जो उनके अधिक बढ़नेकी इच्छा है, उसको 'तृष्णा' कहते हैं। यह कामनाका बहुत स्थूल रूप है। इन सबका सर्वथा त्याग कर देना ही कामनाओंका भलीभाँति त्याग करना है।

† इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी भय और क्रोधके भावोंसे रहित, शान्त और सरल होती है।

‡ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका होनेपर स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (गीता ५। २०)। इस कारण उसकी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं एवं स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी द्वेषभाव उत्पन्न होता। उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (गीता ५। २०)। इस वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता।

करनेके लिये अन्य प्रकारसे किये जानेवाले इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा स्थितप्रज्ञके इन्द्रियसंयमकी विलक्षणता दिखलाते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती । इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है* ॥

सम्बन्ध—आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथन-स्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेसे और भगवत्परायण न होनेसे क्या हानि है ? यह बात अब दो श्लोकोंमें बतलायी जाती है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ॥ ६३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेवाले मनुष्यके पतनका क्रम बतलाकर अब भगवान् 'स्थितप्रज्ञ योगी कैसे चलता है' इस चौथे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें होते हैं, ऐसे साधकद्वारा विषयोंमें विचरण किये जानेका प्रकार और उसका फल बतलाते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा† विषयोंमें विचरण करता हुआ ‡ अन्तःकरणकी

---

* परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे ? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है ।

† उनसठवें श्लोकमें तो राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव बताया गया है और यहाँ राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयसेवनकी बात कहकर राग-द्वेषके सर्वथा अभावकी साधना बतायी गयी है । तीसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन तीनोंको ही कामका अधिष्ठान बताया है । इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियोंमें राग-द्वेष न रहनेपर भी मन या बुद्धिमें सूक्ष्मरूपसे राग-द्वेष रह सकते हैं; परंतु उनसठवें श्लोकमें 'अस्य' पदका प्रयोग करके स्थिरबुद्धि पुरुषमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव बताया गया है । वहाँ केवल इन्द्रियोंमें ही राग-द्वेषके अभावकी बात नहीं है ।

‡ यद्यपि बाह्य विषयोंका त्याग भी भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक है, परंतु जबतक इन्द्रियोंका संयम और राग-द्वेषका त्याग न हो, तबतक केवल बाह्य विषयोंके त्यागसे विषयोंकी पूर्ण निवृत्ति नहीं हो सकती और न कोई सिद्धि ही प्राप्त होती है तथा ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषयका त्याग किये बिना इन्द्रियसंयम हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌की पूजा, सेवा, जप और विवेक-वैराग्य आदि दूसरे उपायोंसे सहज ही इन्द्रियसंयम हो सकता है ।

इसी प्रकार इन्द्रियसंयम भी भगवत्प्राप्तिमें सहायक है; परंतु इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हुए बिना केवल इन्द्रियसंयमसे विषयोंकी पूर्णतया निवृत्ति होकर वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती और ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषय-त्याग तथा इन्द्रियसंयम हुए बिना इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हो ही न सकता हो । सत्सङ्ग, स्वाध्याय और विचारद्वारा सांसारिक भोगोंकी अनित्यताका भान होनेसे तथा ईश्वरकृपा और भजन-ध्यान आदिसे जिसकी इन्द्रियोंके राग-द्वेषका नाश हो गया है, उसके लिये बाह्य विषयोंका त्याग और इन्द्रियसंयम अनायास अपने-आप हो जाता है । जिसका इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेष नहीं है, वह पुरुष यदि बाह्यरूपसे विषयोंका त्याग न करे तो विषयोंमें विचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है; इसलिये इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना ही मुख्य है ।

प्रसन्नताको* प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तभावसे इन्द्रियोंद्वारा व्यवहार करनेवाले साधकको सुख, शान्ति और स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त होनेकी बात कहकर अब दो श्लोकोंद्वारा इससे विपरीत जिसके मन-इन्द्रिय जीते हुए नहीं हैं, ऐसे विषयासक्त मनुष्यमें सुख-शान्तिका अभाव दिखलाकर विषयोंके सङ्गसे उसकी बुद्धिके विचलित हो जानेका प्रकार बतलाते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको
मिलती† और शान्तिरहित मनुष्यको सुख
सकता है ? ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।

क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु
वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन
साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त
को हर लेती है‡ ॥ ६७ ॥

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।

इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ
विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, § उसीकी बुद्धि

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है,

---

* वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा बिना राग-द्वेषके व्यवहार करनेसे साधकका अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ हो जा
कारण उसमें आध्यात्मिक सुख और शान्तिका अनुभव होता है (गीता १८ । ३७); उस सुख और शान्तिको 'प्रसन्नता'

† इससे यह दिखलाया गया है कि परम आनन्द और शान्तिके समुद्र परमात्माका चिन्तन न होनेके कारण
मनुष्यका चित्त निरन्तर विक्षिप्त रहता है; उसमें राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-ईर्ष्या आदिके कारण हर समय
व्याकुलता बनी रहती है । अतएव उसको शान्ति नहीं मिलती ।

‡ यहाँ नौकाके स्थानमें बुद्धि है, वायुके स्थानमें जिसके साथ मन रहता है, वह इन्द्रिय है, जलाशयके
संसाररूप समुद्र है और जलके स्थानमें शब्दादि समस्त विषयोंका समुदाय है । जलमें अपने गन्तव्य स्थानकी
हुई नौकाको प्रबल वायु दो प्रकारसे विचलित करती है—या तो उसे पथभ्रष्ट करके जलकी भीषण तरङ्गोंमें
या अगाध जलमें डुबो देती है; इसी प्रकार जिसके मन-इन्द्रिय वशमें नहीं हैं, ऐसा मनुष्य यदि अपनी बुद्धिको
स्वरूपमें निश्चल करना चाहता है तो भी उसकी इन्द्रियाँ उसके मनको आकर्षित करके उसकी बुद्धिको दो
विचलित करती हैं । इन्द्रियोंका बुद्धिरूप नौकाको परमात्मासे हटाकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिका उपाय
लगा देना, उसे भीषण तरङ्गोंमें भटकाना है और पापोंमें प्रवृत्त करके उसका अधःपतन करा देना, उसे डुबो देना है,
परंतु जिसके मन और इन्द्रिय वशमें रहते हैं उसकी बुद्धिको वे विचलित नहीं करते, वरं बुद्धिरूप नौकाको परमात्मा
पहुँचानेमें सहायता करते हैं । चौंसठवें और पैंसठवें श्लोकोंमें यही बात कही गयी है ।

§ श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियोंके जितने भी शब्दादि विषय हैं, उन विषयोंमें बिना किसी रुकावटके प्रवृत्त हो
इन्द्रियोंका स्वभाव है; क्योंकि अनादिकालसे जीव इन इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता आया है, इस कारण
की उनमें आसक्ति हो गयी है । इन्द्रियोंकी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको सर्वथा रोक देना, उनके विषयलोलुप
परिवर्तित कर देना, उनमें विषयासक्तिका अभाव कर देना और मन-बुद्धिको विचलित करनेकी शक्ति न रहने
यही उनको उनके विषयोंसे सर्वथा निगृहीत कर लेना है । इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ वशमें की हुई होती हैं,
जब ध्यानकालमें इन्द्रियोंकी क्रियाओंका त्याग कर देता है, उस समय उसकी कोई भी इन्द्रिय न तो किसी भी
ग्रहण कर सकती है और न अपनी सूक्ष्म वृत्तियोंद्वारा मनमें विक्षेप ही उत्पन्न कर सकती है । उस समय
तद्रूप-सी हो जाती हैं और व्युत्थानकालमें जब वह देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी क्रिया करता रहता है,
बिना आसक्तिके नियमित रूपसे यथायोग्य शब्दादि विषयोंका ग्रहण करती हैं । किसी भी विषयमें उसके मनको
नहीं कर सकतीं वरं मनका ही अनुसरण करती हैं । स्थितप्रज्ञ पुरुष लोकसंग्रहके लिये जिस इन्द्रियके द्वारा जितने
जिस शास्त्रसम्मत विषयका ग्रहण करना उचित समझता है, वही इन्द्रिय उतने ही समयतक उसी विषयका

नस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है* और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी ागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह त्रिके समान है† ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल तिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते , वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका वकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं,‡ वही पुरुष परम ान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं ॥ ७० ॥

सम्बन्ध—'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है ?' अर्जुनका यह चौथा प्रश्न परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके विषयमें ही था; किंतु यह प्रश्न आचरणविषयक होनेके कारण उसके उत्तरमें चौंसठवें श्लोकसे यहाँतक किस प्रकार आचरण करनेवाला मनुष्य शीघ्र स्थितप्रज्ञ बन सकता है, कौन नहीं बन सकता और जब मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है उस समय उसकी कैसी स्थिति होती है—ये सब बातें बतलायी गयीं। अब उस चौथे प्रश्नका स्पष्ट उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषके आचरणका प्रकार बतलाते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है,§ वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है ॥ ७१ ॥

हण करती है; उसके विपरीत कोई भी इन्द्रिय किसी भी विषयको ग्रहण नहीं कर सकती। इस प्रकार जो इन्द्रियोंपर र्ण आधिपत्य कर लेना है, उनकी स्वतन्त्रताको सर्वथा नष्ट करके उनको अपने अनुकूल बना लेना है—यही इन्द्रियोंके वषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे निगृहीत कर लेना है।

* जैसे प्रकाशसे पूर्ण दिनको उल्लू अपने नेत्रदोषसे अन्धकारमय देखता है, वैसे ही अनादिसिद्ध अज्ञानके परदेसे न्तःकरणरूप नेत्रोंकी विवेक-विज्ञानरूप प्रकाशनशक्तिके आवृत रहनेके कारण अविवेकी मनुष्य स्वयंप्रकाश नित्यबोध रमानन्दमय परमात्माको नहीं देख पाते। उस परमात्माकी प्राप्तिरूप सूर्यके प्रकाशित होनेसे जो परम शान्ति और नित्य आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह वास्तवमें दिनकी भाँति प्रकाशमय है, तो भी परमात्माके गुण, प्रभाव, रहस्य और त्त्वको न जाननेवाले अज्ञानियोंके लिये रात्रिके समान है। उसीमें स्थितप्रज्ञ पुरुषका जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके वरूपको प्रत्यक्ष करके निरन्तर स्थित रहना है, यही उसका उस सम्पूर्ण प्राणियोंकी रात्रिमें जागना है।

† जैसे स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यका स्वप्नके जगत्से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही परमात्मतत्त्वको जाननेवाले ानीके अनुभवमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती। वह ज्ञानी इस दृश्य जगत्के थानमें इसके अधिष्ठानरूप परमात्मतत्त्वको ही देखता है, अतएव उसके लिये समस्त सांसारिक भोग और विषयानन्द ात्रिके समान है।

‡ किसी भी जड वस्तुकी उपमा देकर स्थितप्रज्ञ पुरुषकी वास्तविक स्थितिका पूर्णतया वर्णन करना सम्भव नहीं है, तथापि उपमाद्वारा उस स्थितिके किसी अंशका लक्ष्य कराया जा सकता है। अतः समुद्रकी उपमासे यह भाव समझना चाहिये कि जिस प्रकार समुद्र 'आपूर्यमाण' यानी अथाह जलसे परिपूर्ण हो रहा है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ अनन्त आनन्दसे रिपूर्ण है; जैसे समुद्रको जलकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुषको भी किसी सांसारिक सुख-भोगकी तनिकमात्र ी आवश्यकता नहीं है, वह सर्वथा आप्तकाम है। जिस प्रकार समुद्रकी स्थिति अचल है, भारी-से-भारी आँधी-तूफान आनेर या नाना प्रकारसे नदियोंके जलप्रवाह उसमें प्रविष्ट होनेपर भी वह अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता, मर्यादाका त्याग हीं करता, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित योगीकी स्थिति भी सर्वथा अचल होती है, बड़े-से-बड़े सांसारिक सुखदुःखोंका संयोग-वियोग होनेपर भी उसकी स्थितिमें जरा भी अन्तर नहीं पड़ता, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मामें नित्य-निरन्तर अटल और एकरस स्थित रहता है।

§ मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें जो साधारण अज्ञानी मनुष्योंका आत्माभिमान रहता है, जिसके कारण वे शरीरको ही अपना स्वरूप मानते हैं, अपनेको शरीरसे भिन्न नहीं समझते, उस देहाभिमानका नाम अहङ्कार है; उससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'अहङ्काररहित' हो जाना है।

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरको, उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, भाई और बन्धु-बान्धवोंको तथा ह, धन, ऐश्वर्य आदि पदार्थोंको, अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और उन कर्मोंके फलरूप समस्त भोगोंको साधारण नुष्य अपना समझते हैं; इसी भावका नाम 'ममता' है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'ममतारहित' हो जाना है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके चारों प्रश्नोंका उत्तर देनेके अनन्तर अब स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थितिका महत्त्व बतलाते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुष
इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता।
कालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मान
हो जाता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां यो
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ भीष्मपर्वणि तु षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्री
संवादमें सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥ भीष्मपर्वमें छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां तृतीयोऽध्यायः)

ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनोंके अनुसार कर्तव्यकर्म करनेकी आवश्यकता प्रतिपादन एवं स्वधर्मपालनकी महिमा तथा कामनिरोधके उपायका वर्णन

सम्बन्ध—दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (गीता २ । ११) से लेकर 'देही नित्यमवध्योऽयम्' (गीता २ । ३०) तक आत्मतत्त्वका निरूपण करते हुए सांख्ययोगका प्रतिपादन किया और 'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (गीता २ । ३९) से लेकर 'तदा योगमवाप्स्यसि' (गीता २ । ५३) तक समबुद्धिरूप कर्मयोगका वर्णन किया । इसके पश्चात् चौवनवें श्लोकसे अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने समबुद्धिरूप कर्मयोगके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुषके लक्षण, आचरण और महत्त्वका प्रतिपादन किया । वहाँ कर्मयोगकी महिमा कहते हुए भगवान्‌ने सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगका स्वरूप बतलाकर अर्जुनको कर्म करनेके लिये कहा, उन्चासवेंमें समबुद्धिरूप कर्मयोगकी अपेक्षा सकाम कर्मका स्थान बहुत ही नीचा बतलाया, पचासवेंमें समबुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगमें लगनेके लिये कहा, इक्यावनवेंमें समबुद्धियुक्त ज्ञानी पुरुषको अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी । इस प्रसङ्गको
उसका यथार्थ अभिप्राय निश्चित नहीं कर सके ।
अर्थ 'ज्ञान' मान लेनेसे उन्हें भ्रम हो गया,
'कर्म' की अपेक्षा 'ज्ञान' की प्रशंसा प्रतीत होने
वचन उनको स्पष्ट न दिखायी देकर मिले हुए-से
लगे । अतएव भगवान्‌से उनका स्पष्टीकरण
अपने लिये निश्चित श्रेयःसाधन जाननेकी
पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! यदि आपको
अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे
कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ॥ १ ॥

किसी अनुकूल वस्तुका अभाव होनेपर मनमें जो ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है,
काम न चलेगा, इस अपेक्षाका नाम स्पृहा है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'स्पृहारहित' होना है ।

अहङ्कार, ममता और स्पृहा—इन तीनोंसे उपर्युक्त प्रकारसे रहित होकर अपने वर्ण, आश्रम, प्रकृति और
के अनुसार केवल लोकसंग्रहके लिये इन्द्रियोंके विषयोंमें विचरना अर्थात् देखना-सुनना, खाना-पीना, सोना-
समस्त शास्त्रविहित चेष्टा करना ही समस्त कामनाओंका त्याग करके अहङ्कार, ममता और स्पृहासे रहित होकर

* अर्जुनके पूछनेपर पचपनवें श्लोकसे यहाँतक स्थितप्रज्ञ पुरुषकी जिस स्थितिका जगह-जगह वर्णन किया
उसमें सर्वथा निर्विकार और निश्चलभावसे नित्य-निरन्तर निमग्न रहना ही उस स्थितिको प्राप्त होना है ।

ईश्वर क्या है ? संसार क्या है ? माया क्या है ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? मैं कौन हूँ ?
हूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? और क्या कर रहा हूँ ?—आदि विषयोंका यथार्थ ज्ञान न होना ही मोह है, यह
अनादि-कालसे है, इसीके कारण यह इस संसारचक्रमें घूम रहा है । उपर्युक्त ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त पुरुषका यह
मोह समूल नष्ट हो जाता है, अतएव फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं।* इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ ॥ २ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनका निश्चित कर्तव्य भक्तिप्रधान कर्मयोग बतलानेके उद्देश्यसे पहले उनके प्रश्नका उत्तर देते हुए यह दिखलाते हैं कि मेरे वचन 'व्यामिश्र' अर्थात् 'मिले हुए' नहीं हैं वरं सर्वथा स्पष्ट और अलग-अलग हैं—

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे† और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे‡ होती है ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये विना निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठाको प्राप्त होता है और न कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है§ ॥४॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी विना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय

---

* भगवान्के वचनोंका तात्पर्य न समझनेके कारण अर्जुनको भी भगवान्के वचन मिले हुए-से प्रतीत होते थे; क्योंकि 'बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, तू बुद्धिका ही आश्रय ग्रहण कर' (गीता २ । ४९) इस कथनसे तो अर्जुनने समझा कि भगवान् ज्ञानकी प्रशंसा और कर्मोंकी निन्दा करते हैं और मुझे ज्ञानका आश्रय लेनेके लिये कहते हैं तथा 'बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पापोंको यहीं छोड़ देता है' (गीता २ । ५०) इस कथनसे यह समझा कि पुण्य-पापरूप समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवालेको भगवान् 'बुद्धियुक्त' कहते हैं। इसके विपरीत 'तेरा कर्ममें अधिकार है' (गीता २ । ४७) 'तू योगमें स्थित होकर कर्म कर' (गीता २ । ४८) इन वाक्योंसे अर्जुनने यह बात समझी कि भगवान् मुझे कर्मोंमें नियुक्त कर रहे हैं; इसके सिवा 'निस्त्रैगुण्यो भव' 'आत्मवान् भव' (गीता २ । ४५) आदि वाक्योंसे कर्मका त्याग और 'तस्माद् युध्यस्व भारत' (गीता २ । १८), 'ततो युद्धाय युज्यस्व' (गीता २ । ३८) 'तस्माद् योगाय युज्यस्व' (गीता २ । ५०) आदि वचनोंसे उन्होंने कर्मकी प्रेरणा समझी। इस प्रकार उपर्युक्त वचनोंमें उन्हें विरोध दिखायी दिया।

† प्रकृतिसे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३ । २८), मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित हो जाना; किसी भी क्रियामें या उसके फलमें किञ्चिन्मात्र भी अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका न रहना तथा सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अपनेको अभिन्न समझकर निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना अर्थात् ब्रह्मभूत (ब्रह्मस्वरूप) बन जाना (गीता ५ । २४; ६ । २७)—यह पहली निष्ठा है। इसका नाम ज्ञाननिष्ठा है।

‡ वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिन कर्मोंका शास्त्रमें विधान है, जिनका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये अवश्यकर्तव्य माना गया है, उन शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक, अपना कर्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके प्रत्येक कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें तथा उसके फलमें सदा ही सम रहना (गीता २ । ४७-४८) एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्त न होकर समस्त संकल्पोंका त्याग करके योगारूढ़ हो जाना (गीता ६ । ४)—यह कर्मयोगकी निष्ठा है। तथा परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सबके सुहृद् और सबके प्रेरक समझकर और अपनेको सर्वथा उनके अधीन मानकर समस्त कर्म और उनका फल भगवान्के समर्पण करना (गीता ३ । ३०; ९ । २७-२८), उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी पूजा समझकर जैसे वे करवावें, वैसे ही समस्त कर्म करना; उन कर्मोंमें या उनके फलमें किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या कामना न रखना; भगवान्के प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना तथा निरन्तर उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना (गीता १० । ९; १२ । ६; १८ । ५७)—यह भक्तिप्रधान कर्मयोगकी निष्ठा है।

§ कर्मोंका आरम्भ न करने और कर्मोंका त्याग करनेकी बात कहकर अलग-अलग यह भाव दिखाया है कि कर्मयोगीके लिये विहित कर्मोंका न करना योगनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक है; किंतु सांख्ययोगीके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना सांख्यनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है, किंतु केवल उसीसे उसे सिद्धि नहीं मिलती; सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे कर्तापनका त्याग करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदभावसे स्थित होना आवश्यक है। अतएव उसके लिये कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करना मुख्य बात नहीं है, भीतरी त्याग ही प्रधान है और कर्मयोगीके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करना विधेय है।

प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है* ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता; इसपर यह शङ्का होती है कि इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठसे रोककर भी तो मनुष्य कर्मोंका त्याग कर सकता है। इसपर कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि[1] संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते[2] ॥ ७ ॥

किंतु हे अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने जो यह पूछा था कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं, उसके उत्तरमें ऊपरसे कर्मोंका त्याग करनेवाले मिथ्याचारीकी निन्दा और कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अब उन्हें कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म
अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है† तथा कर्म न
शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि
दान और तप आदि शुभ कर्म भी तो बन्धनके
हैं; फिर कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ कैसे
कहते हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।

यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरि
कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे
इसलिये हे अर्जुन ! तू आसक्तिसे रहित होकर
निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्यकर्म कर ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने यह बात कही
निमित्त कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता;
यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ किसको कहते हैं,
करना चाहिये और उसके लिये कर्म करनेवाला मनुष्य
बँधता । अतएव इन बातोंको समझानेके लिये भगवान्
वचनोंका प्रमाण देकर कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित

---

* यद्यपि गुणातीत ज्ञानी पुरुषका गुणोंसे या उनके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतः वह गुणों
होकर कर्म करता है, यह कहना नहीं बन सकता; तथापि मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका सङ्घातरूप जो उसका
की दृष्टिमें वर्तमान है, उसके द्वारा उसके और लोगोंके प्रारब्धानुसार क्रियाका होना अनिवार्य है; क्योंकि वह गुणों
होनेसे गुणोंसे अतीत नहीं है, बल्कि उस ज्ञानीका शरीरसे सर्वथा अतीत हो जाना ही गुणातीत हो जाना है।

[1] यहाँ 'कर्मेन्द्रियाणि' पदका पारिभाषिक अर्थ नहीं है; इसलिये जिनके द्वारा मनुष्य बाहरकी क्रिया करता है
शब्दादि विषयोंको ग्रहण करता है, उन श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण तथा वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और
इन दसों इन्द्रियोंका वाचक है; क्योंकि गीतामें श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंके लिये कहीं भी 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्दका प्रयोग
है। इसके सिवा यहाँ कर्मेन्द्रियोंका अर्थ केवल वाणी आदि पाँच इन्द्रियाँ मान लेनेसे श्रोत्र और नेत्र आदि
रोकनेकी बात शेष रह जाती है और उसके रह जानेसे मिथ्याचारीका स्वाँग भी पूरा नहीं बनता; तथा वाणी आदि
को रोककर श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा वह क्या करता है, यह बात भी यहाँ बतलानी आवश्यक हो जाती है।

[2] यहाँ 'स विशिष्यते' पदका अभिप्राय कर्मयोगीको पूर्ववर्णित केवल मिथ्याचारीकी अपेक्षा ही श्रेष्ठ
है, क्योंकि पूर्वश्लोकमें वर्णित मिथ्याचारी तो आसुरी सम्पदावाला दम्भी है। उसकी अपेक्षा तो सकामभावसे
करनेवाला मनुष्य भी बहुत श्रेष्ठ है; फिर दैवी सम्पदायुक्त कर्मयोगीको मिथ्याचारीकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाना तो
अपेक्षा सती स्त्रीको श्रेष्ठ बतलानेकी भाँति कर्मयोगीकी स्तुतिमें निन्दा करनेके समान है। अतः यहाँ
ठीक है कि 'स विशिष्यते' से कर्मयोगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी है।

† इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके उस भ्रमका निराकरण किया है, जिसके कारण उन्होंने यह समझ
कि भगवान्के मतमें कर्म करनेकी अपेक्षा उनका न करना श्रेष्ठ है। अभिप्राय यह है कि कर्तव्यकर्म करनेसे
अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा कर्तव्यकर्मोंका त्याग करनेसे वह पापका भागी होता है एवं निद्रा, आलस्य और
फँसकर अधोगतिको प्राप्त होता है (गीता १४ । १८); अतः कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना सर्वथा श्रेष्ठ है।

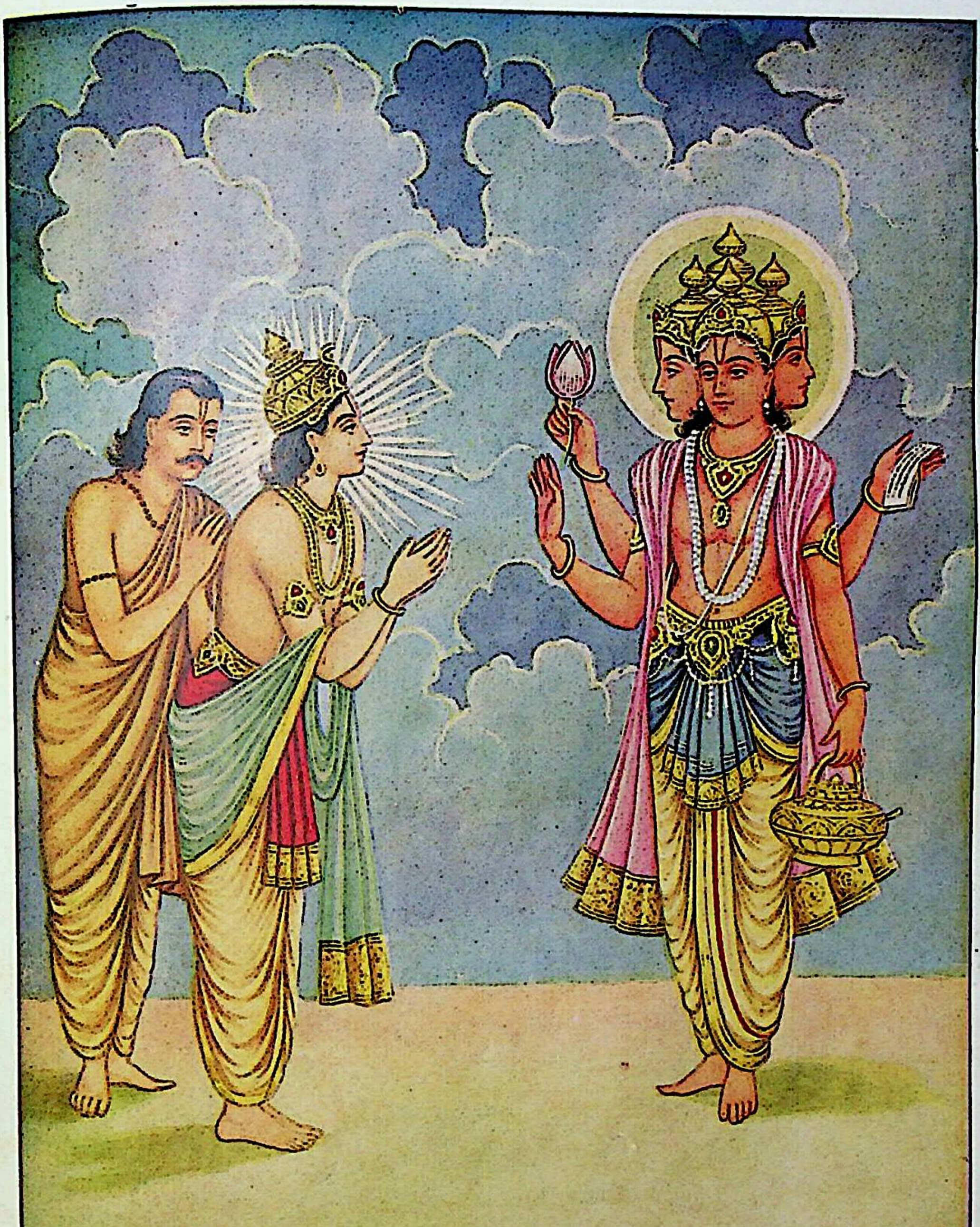

देवताओं और मनुष्योंको प्रजापतिकी शिक्षा

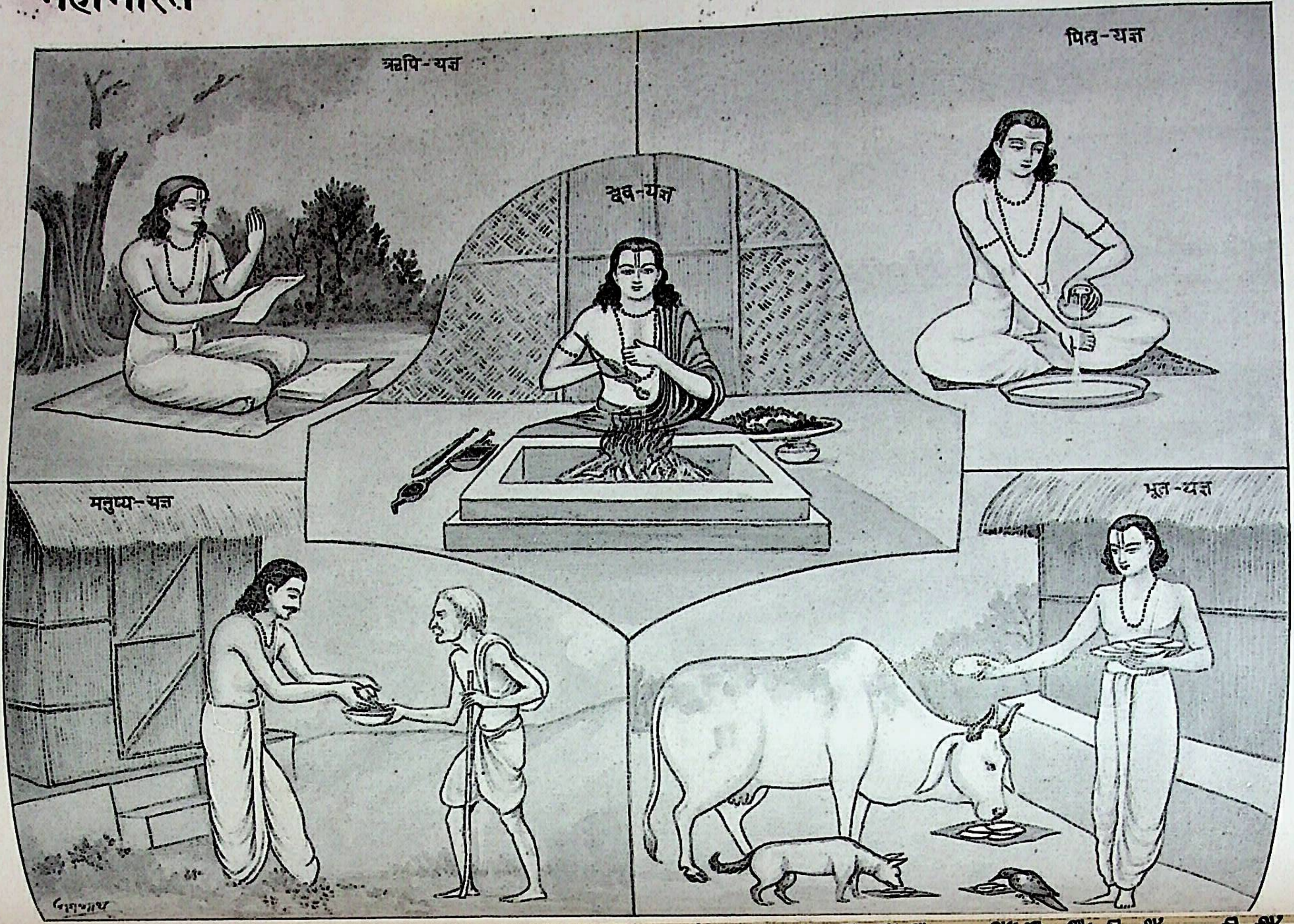
ऋषि-यज्ञ
पितृ-यज्ञ
देव-यज्ञ
मनुष्य-यज्ञ
भूत-यज्ञ

रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ* तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो ॥ १० ॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे† ॥ ११ ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है‡ ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।१३।

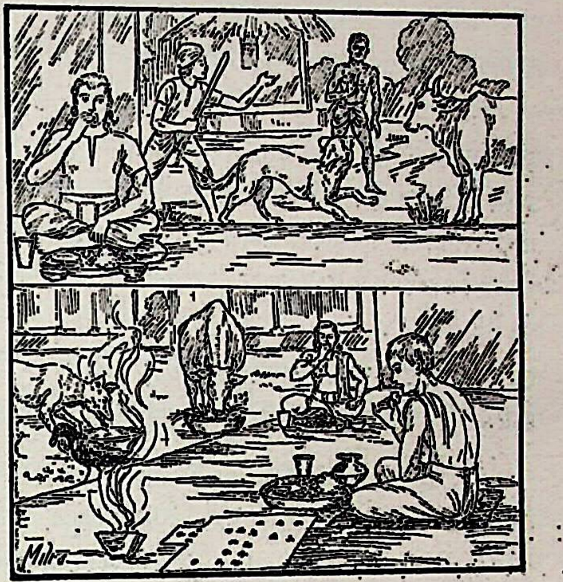

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ न करनेसे क्या हानि है; इसपर सृष्टिचक्रको सुरक्षित रखनेके लिये यज्ञकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

---

* समस्त मनुष्योंके लिये वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके भेदसे भिन्न-भिन्न यज्ञ, दान, तप, प्राणायाम, इन्द्रिय-संयम, अध्ययन-अध्यापन, प्रजापालन, युद्ध, कृषि, वाणिज्य और सेवा आदि कर्तव्यकर्मोंसे सिद्ध होनेवाला जो स्वधर्म है—उसका नाम यज्ञ है।

† इस कथनसे ब्रह्माजीने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थका त्याग करके एक-दूसरेको उन्नत बनानेके लिये अपने कर्तव्यका पालन करनेसे तुमलोग इस सांसारिक उन्नतिके साथ-साथ परमकल्याणरूप मोक्षको भी प्राप्त हो जाओगे। अभिप्राय यह है कि यहाँ देवताओंके लिये तो ब्रह्माजीका यह आदेश है कि मनुष्य यदि तुमलोगोंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि न करें तो भी तुम कर्तव्य समझकर उनकी उन्नति करो और मनुष्योंके प्रति यह आदेश है कि देवताओंकी उन्नति और पुष्टिके लिये ही स्वार्थत्यागपूर्वक देवताओंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि कर्म करो। इसके सिवा अन्य ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिको भी निःस्वार्थभावसे स्वधर्मपालनके द्वारा सुख पहुँचाओ।

‡ देवतालोग सृष्टिके आदिकालसे मनुष्योंको सुख पहुँचानेके लिये—उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके निमित्त पशु, पक्षी, औषध, वृक्ष, तृण आदिके सहित सबकी पुष्टि कर रहे हैं और अन्न, जल, पुष्प, फल, धातु आदि मनुष्योपयोगी समस्त वस्तुएँ मनुष्योंको दे रहे हैं; जो मनुष्य उन सब वस्तुओंको उन देवताओंका ऋण चुकाये बिना—उनका न्यायोचित स्वत्व उन्हें अर्पण किये बिना स्वयं अपने काममें लाता है, वह चोर होता है।

१. सृष्टिकार्यके सुचारुरूपसे संचालनमें और सृष्टिके जीवोंका भलीभाँति भरण-पोषण होनेमें पाँच श्रेणीके प्राणियोंका परस्पर सम्बन्ध है—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणी। इन पाँचोंके सहयोगसे ही सबकी पुष्टि होती है। देवता समस्त संसारको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-महर्षि सबको ज्ञान देते हैं, पितरलोग संतानका भरण-पोषण करते और हित चाहते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करते हैं और पशु, पक्षी, वृक्षादि सबके सुखके साधनरूपमें अपनेको समर्पित किये रहते हैं। इन पाँचोंमें योग्यता, अधिकार और साधनसम्पन्न होनेके कारण सबकी पुष्टिका दायित्व मनुष्यपर है। इसीसे मनुष्य शास्त्रीय कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करता है। पञ्चमहायज्ञसे यहाँ लोकसेवारूप शास्त्रीय सत्कर्म ही विवक्षित है। इस दृष्टिसे मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी कमावे, उसमें इन सबका भाग समझे; क्योंकि वह सबकी सहायता और सहयोगसे ही कमाता-खाता है। इसीलिये जो यज्ञ करनेके बाद बचे हुए अन्नको अर्थात् इन सबको उनका प्राप्य भाग देकर उससे बचे हुए अन्नको खाता है, उसीको शास्त्रकार अमृताशी (अमृत खानेवाला) बतलाते हैं।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १४-१५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्र*के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है† ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

क्योंकि उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ॥ १८

सम्बन्ध—यहाँतक भगवान्‌ने बहुत-से हेतु बात सिद्ध की कि जबतक मनुष्यको परम श्रेयकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक उसके लिये स्वधर्मका अर्थात् अपने वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका अनुष्ठान भावसे करना अवश्यकर्तव्य है और परमात्माको प्राप्त लिये किसी प्रकारका कर्तव्य न रहनेपर भी उसके लोकसंग्रहके लिये प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं। वर्णनका लक्ष्य कराते हुए भगवान् अर्जुनको कर्तव्य कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा हो जाता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा सिद्धिको प्राप्त हुए थे।‡ इसलिये तथा लोकसंग्रह हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे ही उचित है§ ॥ २० ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको लोकसंग्रह देखते हुए कर्मोंका करना उचित बतलाया; इसपर

---

* मनुष्यके द्वारा की जानेवाली शास्त्रविहित क्रियाओंसे यज्ञ होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, पुनः उन प्राणियोंके ही अन्तर्गत मनुष्यके द्वारा किये हुए कर्मोंसे यज्ञ और यज्ञसे है। इस तरह यह सृष्टिपरम्परा सदासे चक्रकी भाँति चली आ रही है।

† उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त महापुरुष परमात्माको प्राप्त है, अतएव उसके समस्त कर्तव्य समाप्त हो चुके कृतकृत्य हो गया है; क्योंकि मनुष्यके लिये जितना भी कर्तव्यका विधान किया गया है, उस सबका उद्देश्य एक परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना है; अतएव वह उद्देश्य जिसका पूर्ण हो गया, उसके लिये कुछ भी शेष नहीं रहता, उसके कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है।

‡ राजा जनककी भाँति ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही कर्म वाले अश्वपति, इक्ष्वाकु, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि जितने भी महापुरुष हो चुके हैं, वे सब प्रधान-प्रधान महापुरुष रहित कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे तथा और भी आजतक बहुत-से महापुरुष ममता, आसक्ति और त्याग करके कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं; यह कोई नयी बात नहीं है। अतः यह परमात्माकी स्वतन्त्र और निश्चित मार्ग है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

इसके अतिरिक्त कर्मोंद्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उसे परमात्माकी कृपासे तत्त्वज्ञान अपने-आप जाता है (गीता ४ । ३८) तथा कर्मयोगयुक्त मुनि तत्काल ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता ५ । ६ कथनसे भी इसकी अनादिता सिद्ध होती है।

§ समस्त प्राणियोंके भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है; अतः अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव

होती है कि कर्म करनेसे किस प्रकार लोकसंग्रह होता है; अतः यही बात समझानेके लिये कहते हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है,* समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

क्योंकि हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं† ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ‡ ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

इसलिये हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे§ ॥ २५ ॥

परिस्थितिके अनुसार कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करके जो दूसरे लोगोंको अपने आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर स्वधर्ममें लगाये रखना है—यही लोकसंग्रह है।

अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको परम श्रेयरूप परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही, इसके सिवा लोकसंग्रहके लिये भी मनुष्यको कर्म करते रहना उचित है, उसका त्याग करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

* श्रेष्ठ पुरुष स्वयं आचरण करके और लोगोंको शिक्षा देकर जिस बातको प्रामाणिक कर देता है अर्थात् लोगोंके अन्तःकरणमें विश्वास करा देता है कि अमुक कर्म अमुक मनुष्यको इस प्रकार करना चाहिये, उसीके अनुसार साधारण मनुष्य चेष्टा करने लग जाते हैं।

† बहुत लोग तो मुझे बड़ा शक्तिशाली और श्रेष्ठ समझते हैं और बहुत-से मर्यादापुरुषोत्तम समझते हैं, इस कारण जिस कर्मको मैं जिस प्रकार करता हूँ, दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी उसे उसी प्रकार करते हैं अर्थात् मेरी नकल करते हैं। ऐसी स्थितिमें यदि मैं कर्तव्यकर्मोंकी अवहेलना करने लगूँ, उनमें सावधानीके साथ विधिपूर्वक न बरतूँ तो लोग भी उसी प्रकार करने लग जायँ और ऐसा करके स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे वञ्चित रह जायँ। अतएव लोगोंको कर्म करनेकी रीति सिखलानेके लिये मैं समस्त कर्मोंमें स्वयं बड़ी सावधानीके साथ विधिवत् बरतता हूँ, कभी कहीं भी जरा भी असावधानी नहीं करता।

‡ जिस समय कर्तव्यभ्रष्ट हो जानेसे लोगोंमें सब प्रकारकी संकरता फैल जाती है, उस समय मनुष्य भोगपरायण और स्वार्थान्ध होकर भिन्न-भिन्न साधनोंसे एक दूसरेका नाश करने लग जाते हैं, अपने अत्यन्त क्षुद्र और क्षणिक सुखोपभोगके लिये दूसरोंका नाश कर डालनेमें जरा भी नहीं हिचकते। इस प्रकार अत्याचार बढ़ जानेपर उसीके साथ-साथ नयी-नयी दैवी विपत्तियाँ भी आने लगती हैं, जिनके कारण सभी प्राणियोंके लिये आवश्यक खान-पान और जीवनधारणकी सुविधाएँ प्रायः नष्ट हो जाती हैं; चारों ओर महामारी, अनावृष्टि, जल-प्रलय, अकाल, अग्निकोप, भूकम्प और उल्कापात आदि उत्पात होने लगते हैं। इससे समस्त प्रजाका विनाश हो जाता है। अतः भगवान्ने 'मैं समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ' इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया है कि यदि मैं शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दूँ तो मुझे उपर्युक्त प्रकारसे लोगोंको उच्छृङ्खल बनाकर समस्त प्रजाका नाश करनेमें निमित्त बनना पड़े।

§ स्वाभाविक स्नेह, आसक्ति और भविष्यमें उससे सुख मिलनेकी आशा होनेके कारण माता अपने पुत्रका जिस प्रकार सच्ची हार्दिक लगन, उत्साह और तत्परताके साथ लालन-पालन करती है, उस प्रकार दूसरा कोई नहीं कर सकता; इसी तरह जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनसे प्राप्त होनेवाले भोगोंमें स्वाभाविक आसक्ति होती है और उनका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें जिसका विश्वास होता है, वह जिस प्रकार सच्ची लगनसे श्रद्धा और विधिपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको साङ्गोपाङ्ग करता है, उस प्रकार जिनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा और शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, वे मनुष्य नहीं कर सकते। अतएव यहाँ

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम. अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे; किंतु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे* ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है† ॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

परंतु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला‡ ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गु कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझने बुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्ने निश्चित कल्याणकारक साधन बतलानेके उद्देश्यसे लेकर यहाँतक यह बात सिद्ध की कि मनुष्य किसी क्यों न हो, उसे अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और अनुरूप विहित कर्म करते ही रहना चाहिये। इस करनेके लिये पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने क्रमशः निम्न कही हैं—

१—कर्म किये बिना नैष्कर्म्यसिद्धिरूप कर्मनिष्ठा न (गीता ३ । ४)।

२—कर्मोंका त्याग कर देनेमात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध (गीता ३ । ४)।

'यथा' और 'तथा' का प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका अभाव होनेपर भी ज्ञानी महात्माओंको केवल लोकसंग्रहके लिये कर्मासक्त मनुष्योंकी भाँति ही शास्त्रविहित कर्मोंका पूर्वक साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करना चाहिये ।

* मनुष्योंको निष्काम कर्मका और तत्त्वज्ञानका उपदेश देते समय ज्ञानीको इस बातका पूरा खयाल रखना कि उसके किसी आचार-व्यवहार और उपदेशसे उनके अन्तःकरणमें कर्तव्यकर्मोंके या शास्त्रादिके प्रति किसी प्रकारकी या संशय उत्पन्न न हो जाय; क्योंकि ऐसा हो जानेसे वे जो कुछ शास्त्रविहित कर्मोंका श्रद्धापूर्वक सकामभावसे अनुष्ठान रहे हैं, उसका भी ज्ञानके या निष्कामभावके नामपर परित्याग कर देंगे । इस कारण उन्नतिके बदले उनका वर्तमान से भी पतन हो जायगा । अतएव भगवान्के कहनेका यहाँ यह भाव नहीं है कि अज्ञानियोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश देना चाहिये या निष्कामभावका तत्त्व नहीं समझाना चाहिये, उनका तो यहाँ यही कहना है कि अज्ञानियोंके मनमें ऐसा भाव उत्पन्न होने देना चाहिये कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेके बाद कर्म अनावश्यक है, भाव पैदा होने देना चाहिये कि फलकी इच्छा न हो तो कर्म करनेकी जरूरत ही क्या है और न इसी भ्रममें चाहिये कि फलासक्तिपूर्वक सकामभावसे कर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ है, इससे बढ़कर और कोई कर्तव्य ही नहीं है; बल्कि अपने आचरण तथा उपदेशोंद्वारा उनके अन्तःकरणसे आसक्ति और कामनाको हटाते हुए उनको पूर्ववत् श्रद्धापूर्वक कर्म करनेमें लगाये रखना चाहिये ।

† वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे सम्बन्ध न होनेपर भी अज्ञानी मनुष्य तेईस तत्त्वोंके इस सङ्घातमें आत्माभिमान उसके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंसे अपना सम्बन्ध स्थापन करके अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मान लेता है—अर्थात् करता हूँ, मैं संकल्प करता हूँ, मैं सुनता हूँ, देखता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, चलता हूँ—इत्यादि प्रकारसे क्रियाको अपनेद्वारा की हुई समझता है ।

‡ त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच और शब्दादि पाँच विषय—इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्पर चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है । इन गुणविभाग और कर्मविभागसे आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है ।

§ कर्मोंमें लगे हुए अधिकारी सकाम मनुष्योंको 'कर्म अत्यन्त ही परिश्रमसाध्य हैं, कर्मोंमें रक्खा ही क्या है, मिथ्या है, कर्ममात्र ही बन्धनके हेतु हैं' ऐसा उपदेश देकर शास्त्रविहित कर्मोंसे हटाना या उनमें उनकी श्रद्धा और कर देना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेसे उनके पतनकी सम्भावना है ।

३–एक क्षणके लिये भी मनुष्य सर्वथा कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३ । ५) ।

४–बाहरसे कर्मोंका त्याग करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है (गीता ३ । ६) ।

५–मन-इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है (गीता ३ । ७) ।

६–कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है (गीता ३।८)।

७–बिना कर्म किये शरीरनिर्वाह भी नहीं हो सकता (गीता ३ । ८) ।

८–यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म बन्धन करनेवाले नहीं, बल्कि मुक्तिके कारण हैं (गीता ३ । ९) ।

९–कर्म करनेके लिये प्रजापतिकी आज्ञा है और निःस्वार्थभावसे उसका पालन करनेसे श्रेयकी प्राप्ति होती है (गीता ३ । १०-११) ।

१०–कर्तव्यका पालन किये बिना भोगोंका उपभोग करनेवाला चोर है (गीता ३ । १२) ।

११–कर्तव्य-पालन करके यज्ञशेषसे शरीरनिर्वाहके लिये भोजनादि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है (गीता ३ । १३) ।

१२–जो यज्ञादि न करके केवल शरीरपालनके लिये भोजन पकाता है, वह पापी है (गीता ३ । १३) ।

१३–कर्तव्य-कर्मके त्यागद्वारा सृष्टिचक्रमें बाधा पहुँचानेवाले मनुष्यका जीवन व्यर्थ और पापमय है (गीता ३ । १६) ।

१४–अनासक्तभावसे कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है (गीता ३ । १९) ।

१५–पूर्वकालमें जनकादिने भी कर्मोंद्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी (गीता ३ । २०) ।

१६–दूसरे मनुष्य श्रेष्ठ महापुरुषका अनुकरण करते हैं, इसलिये श्रेष्ठ महापुरुषको कर्म करना चाहिये (गीता ३ । २१) ।

१७–भगवान्‌को कुछ भी कर्तव्य नहीं है, तो भी वे लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हैं (गीता ३ । २२) ।

१८–ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, तो भी उसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये (गीता ३ । २५) ।

१९–ज्ञानीको स्वयं विहित कर्मोंका त्याग करके या कर्मत्यागका उपदेश देकर किसी प्रकार भी लोगोंको कर्तव्यकर्मसे विचलित न करना चाहिये वरं स्वयं कर्म करना और दूसरोंसे करवाना चाहिये (गीता ३ । २६) ।

२०–ज्ञानी महापुरुषको उचित है कि विहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करनेका उपदेश देकर कर्मासक्त मनुष्योंको विचलित न करे (गीता ३ । २९) ।

इस प्रकार कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करके अब भगवान् अर्जुनकी दूसरे श्लोकमें की हुई प्रार्थनाके अनुसार उसे परम कल्याणकी प्राप्तिका ऐकान्तिक और सर्वश्रेष्ठ निश्चित साधन बतलाते हुए युद्धके लिये आज्ञा देते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके* आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

परंतु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि भगवान्‌के मतके अनुसार न चलनेवाला नष्ट हो जाता है । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि कोई भगवान्‌के मतके अनुसार कर्म न करके हठपूर्वक कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे तो क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

---

* सर्वान्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और स्वरूपको समझकर उनपर विश्वास करनेवाले और निरन्तर सर्वत्र उनका चिन्तन करते रहनेवाले चित्तके द्वारा जो भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर तथा परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय, परम सुहृद् और परम दयालु समझकर, अपने अन्तःकरण और इन्द्रियोंसहित शरीर-को, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और जगत्‌के समस्त पदार्थोंको भगवान्‌के जानकर उन सबमें ममता और आसक्ति-का सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरे-द्वारा अपने इच्छानुसार यथायोग्य समस्त कर्म करवा रहे हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—इस प्रकार अपनेको सर्वथा भगवान्‌के अधीन समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये उन्हींकी प्रेरणासे जैसे वे करावें वैसे ही समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना, उन कर्मोंसे या उनके फलसे किसी प्रकारका भी अपना मानसिक सम्बन्ध न रखकर सब कुछ भगवान्‌का समझना—यही 'अध्यात्मचित्तसे समस्त कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण कर देना' है ।

सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं*। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ?॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सबको प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, तो फिर कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न† करनेवाले महान् शत्रु हैं॥ ३४ ॥

सम्बन्ध—यहाँ अर्जुनके मनमें यह बात आ सकती है कि मैं यह युद्धरूप घोर कर्म न करके यदि भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करता हुआ शान्तिमय कर्मोंमें लगा रहूँ तो सहज ही राग-द्वेषसे छूट सकता हूँ; फिर आप मुझे युद्ध करनेके लिये आज्ञा क्यों दे रहे हैं; इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुण-रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है‡। अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है§ और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ॥

सम्बन्ध—मनुष्यका स्वधर्मपालन करनेमें ही कल्याण है, परधर्मका सेवन और निषिद्ध कर्मोंका आचरण करनेमें सब प्रकार हानि है। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेके बाद भी मनुष्य अपनी इच्छा, विचार और धर्मके विरुद्ध पापाचारमें किस कारण प्रवृत्त हो जाते हैं? इस बातको जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥३६॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

---

*इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस प्रकार समस्त नदियोंका जल जो स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर बहता है, उसके प्रवाहको हठपूर्वक रोका नहीं जा सकता; उसी प्रकार समस्त प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन होकर प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए प्रकृतिकी ओर जा रहे हैं; इसलिये कोई भी मनुष्य हठपूर्वक सर्वथा कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता। हाँ, जिस तरह नदीके प्रवाहको एक ओरसे दूसरी ओर घुमा दिया जा सकता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने उद्देश्यका परिवर्तन करके उस प्रवाहकी चालको बदल सकता है यानी राग-द्वेषका त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक बना सकता है।

† जिस प्रकार अपने निश्चित स्थानपर जानेके लिये राह चलनेवाले किसी मुसाफिरको मार्गमें विघ्न करनेवाले लुटेरोंसे भेंट हो जाय और वे मित्रताका-सा भाव दिखलाकर और उसके साथी गाड़ीवान आदिसे मिलकर उनके द्वारा उसकी विवेकशक्तिमें भ्रम उत्पन्न कराकर उसे मिथ्या सुखोंका प्रलोभन देकर अपनी बातोंमें फँसा लें और उसे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर न जाने देकर उसके विपरीत जंगलमें ले जायँ और उसका सर्वस्व लूटकर उसे गहरे गड्ढेमें गिरा दें, उसी प्रकार ये राग-द्वेष कल्याणमार्गमें चलनेवाले साधकसे भेंट करके मित्रताका भाव दिखलाकर उसके मन और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं और उसकी विवेकशक्तिको नष्ट करके तथा उसे सांसारिक विषयभोगोंके सुखका प्रलोभन देकर पापाचारमें प्रवृत्त कर देते हैं। इससे उसका साधन-क्रम नष्ट हो जाता है और पापोंके फलस्वरूप उसे घोर नरकमें पड़कर भयानक दुःखोंका उपभोग करना होता है।

‡ वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी बहुलता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म अधिक गुणयुक्त हैं। अतः यह भाव समझना चाहिये कि जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किंतु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों, वैसे परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म ही अति उत्तम है। जैसे देखनेमें कुरूप और गुणहीन होनेपर भी अपने पतिका सेवन करना ही स्त्रीके लिये कल्याणप्रद है, उसी प्रकार देखनेमें सद्गुणोंसे हीन होनेपर तथा अनुष्ठानमें अङ्ग-वैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है; फिर जो स्वधर्म सर्वगुणसम्पन्न है और जिसका साङ्गोपाङ्ग पालन किया जाता है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

§ किसी प्रकारकी आपत्ति आनेपर मनुष्य अपने धर्मसे न डिगे और उसके कारण उसका मरण हो जाय तो वह मरण भी उसके लिये कल्याण करनेवाला हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है,* इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ॥ ३७ ॥

सम्बन्ध—यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह काम मनुष्यको किस प्रकार पापोंमें प्रवृत्त करता है। अतः तीन श्लोकोंद्वारा इसका समाधान करते हैं—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जिस प्रकार धूएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है† ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

और हे अर्जुन ! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके‡ द्वारा मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है§ ॥ ४० ॥

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले× महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें इन्द्रियोंको वशमें करके कामरूप शत्रुको मारनेके लिये कहा गया। इसपर यह शङ्का होती है कि जब इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर कामका अधिकार है और उनके द्वारा कामने जीवात्माको मोहित कर रक्खा है, तब ऐसी

---

* मनुष्यको बिना इच्छा पापोंमें नियुक्त करनेवाला न तो प्रारब्ध है और न ईश्वर ही है, यह काम ही इस मनुष्यको नाना प्रकारके भोगोंमें आसक्त करके उसे बलात्कारसे पापोंमें प्रवृत्त करता है; इसलिये यह महान् पापी है।

† इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंके रूपमें परिणत होकर मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित किये रहता है। यहाँ धूएँके स्थानमें 'विक्षेप' को समझना चाहिये। जिस प्रकार धूआँ चञ्चल होते हुए भी अग्निको ढक लेता है, उसी प्रकार 'विक्षेप' चञ्चल होते हुए भी ज्ञानको ढके रहता है; क्योंकि बिना एकाग्रताके अन्तःकरणमें ज्ञानशक्ति प्रकाशित नहीं हो सकती, वह दबी रहती है। मैलके स्थानमें 'मल' दोषको समझना चाहिये। जैसे दर्पणपर मैल जम जानेसे उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार पापोंके द्वारा अन्तःकरणके अत्यन्त मलिन हो जानेपर उसमें वस्तु या कर्तव्यका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता। इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता। एवं जेरके स्थानमें 'आवरण' को समझना चाहिये। जैसे जेरसे गर्भ सर्वथा आच्छादित रहता है, उसका कोई अंश भी दिखलायी नहीं देता, वैसे ही आवरणसे ज्ञान सर्वथा ढका रहता है। जिसका अन्तःकरण अज्ञानसे मोहित रहता है, वह मनुष्य निद्रा और आलस्यादिके सुखमें फँसकर किसी प्रकारका विचार करनेमें तत्पर ही नहीं होता।

‡ यहाँ 'ज्ञानी' शब्द यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले विवेकशील साधकोंका वाचक है। यह कामरूप शत्रु उन साधकोंके अन्तःकरणमें विवेक, वैराग्य और निष्कामभावको स्थिर नहीं होने देता, उनके साधनमें बाधा उपस्थित करता रहता है। इस कारण इसको ज्ञानियोंका 'नित्य वैरी' बतलाया गया है।

§ यह 'काम' मनुष्यके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उसकी विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और भोगोंमें सुख दिखलाकर उसे पापोंमें प्रवृत्त कर देता है, जिससे मनुष्यका अधःपतन हो जाता है। इसलिये शीघ्र ही सचेत हो जाना चाहिये।

× भगवान्‌के निर्गुण-निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'ज्ञान' तथा सगुण-निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'विज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान और विज्ञानकी यथार्थ प्राप्तिके लिये हृदयमें जो आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, उसको यह महान् कामरूप

स्थितिमें वह इन्द्रियोंको वशमें करके कामको कैसे मार सकता है। इसपर कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है* ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके† हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ भीष्मपर्वणि तु सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥ भीष्मपर्वमें सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

◆

शत्रु अपनी मोहिनी शक्तिके द्वारा नित्य-निरन्तर दबाता रहता है अर्थात् उस आकाङ्क्षाकी जागृतिसे उत्पन्न ज्ञान-विज्ञानके साधनोंमें बाधा पहुँचाता रहता है, इसी कारण ये प्रकट नहीं हो पाते, इसीलिये कामको उनका नाश करनेवाला बतलाया गया है।

* आत्मा सबका आधार, कारण, प्रकाशक और प्रेरक तथा सूक्ष्म, व्यापक, श्रेष्ठ, बलवान् और नित्य चेतन होनेके कारण उसे 'अत्यन्त पर' कहा गया है।

१. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीव—इन सभीका वाचक आत्मा है। उनमेंसे सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये इकतालीसवें श्लोकमें कहा जा चुका है। शरीर इन्द्रियोंके अन्तर्गत आ ही गया, जीवात्मा स्वयं वशमें करनेवाला है। अब बचे मन और बुद्धि, बुद्धिको मनसे बलवान् कहा है; अतः इसके द्वारा मनको वशमें किया जा सकता है। इसीलिये 'आत्मानम्'का अर्थ 'मन' और 'आत्मना'का अर्थ 'बुद्धि' किया गया है।

† भगवान्ने गीताके छठे अध्यायमें मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बतलाये हैं (गीता ६। ३५)। प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें मनुष्यका स्वाभाविक राग-द्वेष रहता है, विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होते समय जब-जब राग-द्वेषका अवसर आवे, तब-तब बड़ी सावधानीके साथ बुद्धिसे विचार करते हुए राग-द्वेषके वशमें न होनेकी चेष्टा रखनेसे शनैः-शनैः राग-द्वेष कम होते चले जाते हैं। यहाँ बुद्धिसे विचारकर इन्द्रियोंके भोगोंमें दुःख और दोषोंका बार-बार दर्शन कराकर मनकी उनमें अरुचि उत्पन्न कराना 'वैराग्य' है और व्यवहारकालमें स्वार्थके त्यागकी और ध्यानके समय मनको परमेश्वरके चिन्तनमें लगानेकी चेष्टा रखना और मनको भोगोंकी प्रवृत्तिसे हटाकर परमेश्वरके चिन्तनमें बार-बार नियुक्त करना 'अभ्यास' है।

अवश्य ही आत्मामें अनन्त बल है, वह कामको मार सकता है। वस्तुतः उसीके बलको पाकर सब बलवान् और क्रियाशील होते हैं; परंतु वह अपने महान् बलको भूल रहा है और जैसे प्रबल शक्तिशाली सम्राट् अज्ञानवश अपने बलको भूलकर अपनी अपेक्षा सर्वथा बलहीन क्षुद्र नौकर-चाकरोंके अधीन होकर उनकी हाँमें हाँ मिला देता है, वैसे ही आत्मा भी अपनेको बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अधीन मानकर उनके कामप्रेरित उच्छृङ्खलतापूर्ण मनमाने कार्योंमें मूक अनुमति दे रहा है। इसीसे उन बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अंदर छिपा हुआ काम जीवात्माको विषयोंका प्रलोभन देकर उसे संसारमें फँसाता रहता है। अतएव यह आवश्यक है कि आत्मा अपने स्वरूपको और अपनी शक्तिको पहचानकर बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको वशमें करे। अन्तमें इनको वशमें कर लेनेपर काम सहज ही मर सकता है। कामको मारनेका वस्तुतः अखिल आत्माके लिये यही तरीका है। इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामको मारना चाहिये।

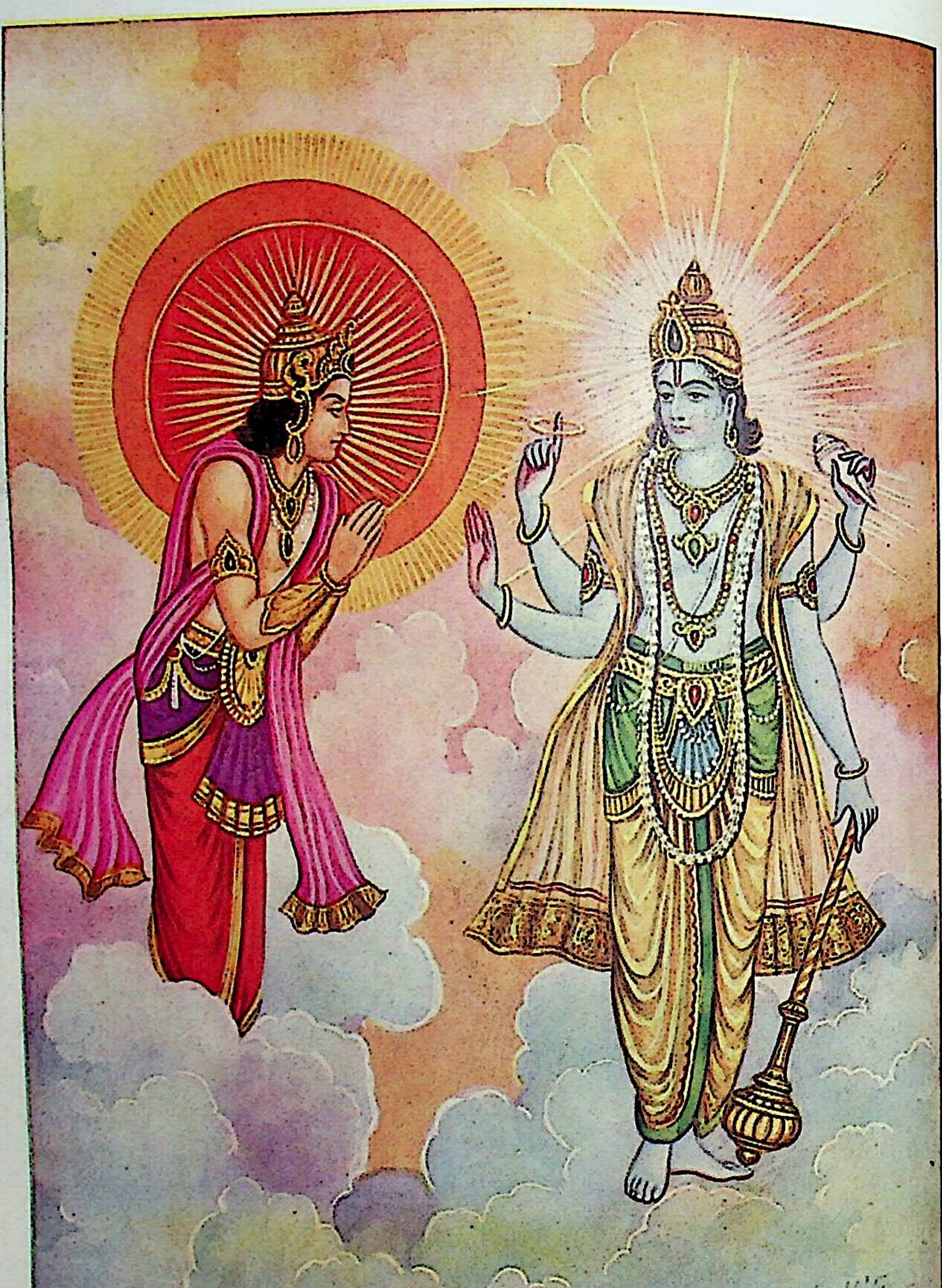

सूर्यके प्रति नारायणका उपदेश

अष्टाविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्थोऽध्यायः)

सगुण भगवान्‌के प्रभाव, निष्काम कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमाका वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञानकी महिमाका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकसे लेकर उन्तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने बहुत प्रकारसे विहित कर्मोंके आचरणकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके तीसवें श्लोकमें अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोगकी विधिसे ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी। उसके बाद इकतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक उस सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेवालोंकी प्रशंसा और न करनेवालोंकी निन्दा करके राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये कहते हुए स्वधर्मपालनपर जोर दिया। फिर छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनके पूछनेपर सैंतीसवेंसे अध्याय-समाप्तिपर्यन्त कामको सारे अनर्थोंका हेतु बतलाकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियों और मनको वशमें करके उसे मारनेकी आज्ञा दी; परंतु कर्मयोगका तत्त्व बड़ा ही गहन है, इसलिये अब भगवान् पुनः उसके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें बतलानेके उद्देश्यसे उसीका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले तीन श्लोकोंमें उस कर्मयोगकी परम्परा बतलाकर उसकी अनादिता सिद्ध करते हुए प्रशंसा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं[1] प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा॥ १॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २॥

हे परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया* ॥ २॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है†॥ ३॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अर्वाचीन—अभी हालका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्पके आदिमें हो चुका था; तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपहीने कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था ?॥ ४॥

---

[1] गीताके दूसरे अध्यायके उन्चालीसवें श्लोकमें कर्मयोगका वर्णन आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने उस अध्यायके अन्ततक कर्मयोगका ही भलीभाँति प्रतिपादन किया। उसके बाद भी तीसरे अध्यायके अन्ततक प्रायः कर्मयोगका ही अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित प्रतिपादन किया गया। इसके सिवा इस योगकी परम्परा बतलाते हुए भगवान्‌ने यहाँ जिन 'सूर्य' और 'मनु' आदिके नाम गिनाये हैं, वे सभी गृहस्थ और कर्मयोगी ही हैं। इससे भी यहाँ 'योगम्' पदको कर्मयोगका ही वाचक मानना उपयुक्त मालूम होता है।

* परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं—सभी नित्य हैं; इनका कभी अभाव नहीं होता। जब परमेश्वर नित्य हैं, तब उनकी प्राप्तिके लिये उन्हींके द्वारा निश्चित किये हुए अनादि नियम अनित्य नहीं हो सकते। जब-जब जगत्‌का प्रादुर्भाव होता है, तब-तब भगवान्‌के समस्त नियम भी साथ-ही-साथ प्रकट हो जाते हैं और जब जगत्‌का प्रलय होता है, उस समय नियमोंका भी तिरोभाव हो जाता है; परंतु उनका अभाव कभी नहीं होता। इस प्रकार इस कर्मयोगकी अनादिता सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकमें उसे अविनाशी कहा गया है। अतएव इस श्लोकमें जो यह बात कही गयी कि वह योग बहुत कालसे नष्ट हो गया है—इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि बहुत समयसे इस पृथ्वीलोकमें उसका तत्त्व समझनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंका अभाव-सा हो गया है, इस कारण वह अप्रकाशित हो गया है, उसका इस लोकमें तिरोभाव हो गया है; यह नहीं कि उसका अभाव हो गया है।

† इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह योग सब प्रकारके दुःखोंसे और बन्धनोंसे छुड़ाकर परमानन्दस्वरूप मुझ परमेश्वरको सुगमतापूर्वक प्राप्त करा देनेवाला है, इसलिये अत्यन्त ही उत्तम और बहुत ही गोपनीय है; इसके सिवा इसका यह भाव भी है कि अपनेको सूर्यादिके प्रति इस योगका उपदेश करनेवाला बतलाकर और वही योग मैंने तुझसे कहा है, तू मेरा भक्त है—यह कहकर मैंने जो अपना ईश्वरभाव प्रकट किया है, यह बड़े रहस्यकी बात है।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे परंतप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं*। उन सबको तू नहीं जानता, किंतु मैं जानता हूँ ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌के मुखसे यह बात सुनकर कि अबतक मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, यह जाननेकी इच्छा होती है कि आपका जन्म किस प्रकार होता है और आपके जन्ममें तथा अन्य लोगोंके जन्ममें क्या भेद है। अतएव इस बातको समझानेके लिये भगवान् अपने जन्मका तत्त्व बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ† ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे उनके जन्मका तत्त्व सुननेपर यह जिज्ञासा होती है कि आप किस-किस समय और किन-किन कारणोंसे इस प्रकार अवतार धारण करते हैं। इसपर भगवान् दो श्लोकोंमें अपने अवतारके अवसर, हेतु और उद्देश्य बतलाते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है,‡ तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां[2] विनाशाय च दुष्कृताम्[3]।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे

---

* यहाँ भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं और तुम अभी हुए हैं, पहले नहीं थे—ऐसी बात नहीं है। हमलोग अनादि और नित्य हैं। मेरा नित्य स्वरूप तो है ही; उसके अतिरिक्त मैं अनेक रूपोंमें पहले प्रकट हो चुका हूँ। इसलिये मैंने जो यह बात कही है कि यह योग पहले सूर्यसे मैंने ही कहा था, इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि कल्पके आदिमें मैंने नारायणरूपसे सूर्यको यह योग कहा था।

१. भगवान्‌की शक्तिरूपा जो मूलप्रकृति है, जिसका वर्णन गीताके नवम अध्यायके सातवें और आठवें श्लोकोंमें किया गया है और जिसे चौदहवें अध्यायमें 'महद्ब्रह्म' कहा गया है, उसी 'मूलप्रकृति' का वाचक यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद है। तथा भगवान् अपनी जिस योगशक्तिसे समस्त जगत्‌को धारण किये हुए हैं, जिस असाधारण शक्तिसे वे नाना प्रकारके रूप धारण करके लोगोंके सम्मुख प्रकट होते हैं और जिसमें छिपे रहनेके कारण लोग उनको पहचान नहीं सकते—उसका वाचक यहाँ 'आत्ममायया' पद है।

† इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ—वास्तवमें मेरा जन्म और विनाश कभी नहीं होता, तो भी मैं साधारण व्यक्तिकी भाँति जन्मता और विनष्ट होता-सा प्रतीत होता हूँ; इसी तरह समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी एक साधारण व्यक्ति-सा ही प्रतीत होता हूँ। अभिप्राय यह है कि मेरे अवतार-तत्त्वको न समझनेवाले लोग जब मैं मत्स्य, कच्छप, वराह और मनुष्यादि रूपमें प्रकट होता हूँ, तब मेरा जन्म हुआ मानते हैं और जब मैं अन्तर्धान हो जाता हूँ, उस समय मेरा विनाश समझ लेते हैं तथा जब मैं उस रूपमें दिव्य लीला करता हूँ, तब मुझे अपने-जैसा ही साधारण व्यक्ति समझकर मेरा तिरस्कार करते हैं (गीता ९। ११)। वे बेचारे इस बातको नहीं समझ पाते कि ये सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही जगत्‌का कल्याण करनेके लिये इस रूपमें प्रकट होकर दिव्य लीला कर रहे हैं; क्योंकि मैं उस समय अपनी योगमायाके परदेमें छिपा रहता हूँ (गीता ७। २५)।

‡ ऋषिकल्प, धार्मिक, ईश्वरप्रेमी, सदाचारी पुरुषों तथा निरपराधी, निर्बल प्राणियोंपर बलवान् और दुराचारी मनुष्योंका अत्याचार बढ़ जाना तथा उसके कारण लोगोंमें सद्‌गुण और सदाचारका अत्यन्त ह्रास होकर दुर्गुण और दुराचारका अधिक फैल जाना ही धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिका स्वरूप है।

२. जो पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि समस्त सामान्य धर्मोंका तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्यापन, प्रजापालन आदि अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका भलीभाँति पालन करते हैं; दूसरोंका हित करना ही जिनका स्वभाव है; जो सद्‌गुणोंके भण्डार और सदाचारी हैं तथा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीलादिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करनेवाले भक्त हैं—उनका वाचक यहाँ 'साधु' शब्द है।

३. जो मनुष्य निरपराध, सदाचारी और भगवान्‌के भक्तोंपर अत्याचार करनेवाले हैं, जो झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्गुण और दुराचारोंके भण्डार हैं, जो नाना प्रकारसे अन्याय करके धनका संग्रह करनेवाले तथा नास्तिक

करनेके लिये* मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ† ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है‡ वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता; किंतु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया[1] मामुपाश्रिताः[2] ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

भगवान् और वेद-शास्त्रोंका विरोध करना ही जिनका स्वभाव हो गया है—ऐसे आसुर स्वभाववाले दुष्ट पुरुषोंका वाचक 'दुष्कृताम्' पद है।

* स्वयं शास्त्रानुकूल आचरण कर, विभिन्न प्रकारसे धर्मका महत्त्व दिखलाकर और लोगोंके हृदयोंमें प्रवेश करनेवाली प्रभावशालिनी वाणीके द्वारा उपदेश-आदेश देकर सबके अन्तःकरणमें वेद, शास्त्र, परलोक, महापुरुष और श्रद्धा उत्पन्न कर देना तथा सद्गुणोंमें और सदाचारोंमें विश्वास तथा प्रेम उत्पन्न करवाकर लोगोंमें इन सबको भलीभाँति धारण करा देना आदि सभी बातें धर्मकी स्थापनाके अन्तर्गत हैं।

† यद्यपि भगवान् बिना ही अवतार लिये अनायास ही सब कुछ कर सकते हैं और करते भी हैं ही; किंतु लोगोंपर दया करके अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा सुगमतासे लोगोंको उद्धारका सुअवसर देनेके लिये एवं अपने भक्तोंको अपनी दिव्य लीलादिका आस्वादन करानेके लिये भगवान् साकाररूपसे प्रकट होते हैं। उन अवतारोंमें धारण हुए रूपका तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्य कर्मोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके लोग सहज संसार-समुद्रसे पार हो सकते हैं। यह काम बिना अवतारके नहीं हो सकता।

‡ सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमेश्वर वास्तवमें जन्म और मृत्युसे सर्वथा अतीत हैं। उनका जन्म जीवोंकी भाँति नहीं है। वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके अपनी दिव्य लीलाओंके द्वारा उनके मनको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, दर्शन, और भाषणादिके द्वारा उनको सुख पहुँचानेके लिये, संसारमें अपनी दिव्य कीर्ति फैलाकर उसके श्रवण, कीर्तन और द्वारा लोगोंके पापोंका नाश करनेके लिये तथा जगत्‌में पापाचारियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये धारणकी केवल लीलामात्र करते हैं। उनका वह जन्म निर्दोष और अलौकिक है। जगत्‌का कल्याण करनेके लिये ही वान् इस प्रकार मनुष्यादिके रूपमें लोगोंके सामने प्रकट होते हैं; उनका वह विग्रह प्राकृत उपादानोंसे बना हुआ नहीं —वह दिव्य, चिन्मय, प्रकाशमान, शुद्ध और अलौकिक होता है; उनके जन्ममें गुण और कर्म-संस्कार हेतु नहीं होते; के वशमें होकर जन्म-धारण नहीं करते, किंतु अपनी प्रकृतिके अधिष्ठाता होकर योगशक्तिसे मनुष्यादिके रूपमें केवल लोगोंपर करके ही प्रकट होते हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना ही भगवान्‌के जन्मको तत्त्वसे दिव्य समझना है।

भगवान् सृष्टि-रचना और अवतार-लीलादि जितने भी कर्म करते हैं, उनमें उनका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है; लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वे मनुष्यादि अवतारोंमें नाना प्रकारके कर्म करते हैं (गीता ३। २२-२३)। भगवान् अपनी द्वारा समस्त कर्म करते हुए भी उन कर्मोंके प्रति कर्तृत्वभाव न रहनेके कारण वास्तवमें न तो कुछ भी करते हैं और बन्धनमें पड़ते हैं; भगवान्‌की उन कर्मोंके फलमें किंचिन्मात्र भी स्पृहा नहीं होती (गीता ४। १३-१४)। भगवान्‌के जो कुछ भी चेष्टा होती है, लोकहितार्थ ही होती है (गीता ४। ८); उनके प्रत्येक कर्ममें लोगोंका हित भरा रहता है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी होते हुए भी सर्वसाधारणके साथ अभिमानरहित दया और प्रेमपूर्ण समताका करते हैं (गीता ९। २९); जो कोई मनुष्य जिस प्रकार उनको भजता है, वे स्वयं उसे उसी प्रकार भजते हैं (गीता ४। ११); अपने अनन्यभक्तोंका योगक्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (गीता ९। २२), उनको दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं (गीता १०। १०-११) और भक्तिरूपी नौकापर बैठे हुए भक्तोंका संसारसमुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेके लिये स्वयं उनके बन जाते हैं (गीता १२। ७)। इस प्रकार भगवान्‌के समस्त कर्म आसक्ति, अहङ्कार और कामनादि दोषोंसे सर्वथा निर्मल और शुद्ध तथा केवल लोगोंका कल्याण करने एवं नीति, धर्म, शुद्ध प्रेम और भक्ति आदिका जगत्‌में करनेके लिये ही होते हैं; इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्‌का वास्तवमें उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, सर्वथा अतीत और अकर्ता हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना, इसमें किंचिन्मात्र भी असम्भावना या विपरीत न रहकर पूर्ण विश्वास हो जाना ही भगवान्‌के कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझना है।

[1] भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जानेके कारण जिनको सर्वत्र एक भगवान्-ही-भगवान् दीखने लग जाते हैं; उनका वाचक 'मन्मयाः' पद है।

[2] जो भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेते हैं, सर्वथा उनपर निर्भर हो जाते हैं, सदा उनमें ही संतुष्ट रहते हैं, जिनका

पहले भी जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं* ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ;† क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ‡ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—यदि यह बात है, तो फिर लोग भगवान्‌को न भजकर अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं ? इसपर कहते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है ।§ इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर

अपने लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता और जो सब कुछ भगवान्‌का समझकर उनकी आज्ञाका पालन करनेके उद्देश्यसे उनकी सेवाके रूपमें ही समस्त कर्म करते हैं—ऐसे पुरुषोंका वाचक 'मामुपाश्रिताः' पद है ।

* यहाँ सांख्ययोगका प्रसङ्ग नहीं है, भक्तिका प्रकरण है तथा पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझनेका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है; उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है । इस कारण यहाँ 'ज्ञानतपसा' पदमें ज्ञानका अर्थ आत्मज्ञान न मानकर भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझ लेनारूप ज्ञान ही माना गया है । इस ज्ञानरूप तपके प्रभावसे मनुष्यका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, उसके समस्त पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं, अन्तःकरणमें सब प्रकारके दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और समस्त कर्म भगवान्‌के कर्मोंकी भाँति दिव्य हो जाते हैं तथा वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं होता, उसके भगवान् सदा ही प्रत्यक्ष रहते हैं—यही उन भक्तोंका ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है।

† इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे भक्तोंके भजनके प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं । अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भक्त मेरे पृथक्-पृथक् रूप मानते हैं और अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मेरा भजन-स्मरण करते हैं, अतएव मैं भी उनको उनकी भावनाके अनुसार उन-उन रूपोंमें ही दर्शन देता हूँ तथा वे जिस प्रकार जिस-जिस भावसे मेरी उपासना करते हैं, मैं उनके उस-उस प्रकार और उस-उस भावका ही अनुसरण करता हूँ । जो मेरा चिन्तन करता है उसका मैं चिन्तन करता हूँ, जो मेरे लिये व्याकुल होता है उसके लिये मैं भी व्याकुल हो जाता हूँ, जो मेरा वियोग सहन नहीं कर सकता मैं भी उसका वियोग नहीं सहन कर सकता । जो मुझे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है मैं भी उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता हूँ । जो ग्वाल-बालोंकी भाँति मुझे अपना सखा मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ मैं मित्रके-जैसा व्यवहार करता हूँ । जो नन्द-यशोदाकी भाँति पुत्र मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ पुत्रके-जैसा बर्ताव करके उनका कल्याण करता हूँ । इसी प्रकार रुक्मिणीकी तरह पति समझकर भजनेवालोंके साथ पति-जैसा, हनुमान्‌की भाँति स्वामी समझकर भजनेवालोंके साथ स्वामी-जैसा और गोपियोंकी भाँति माधुर्यभावसे भजनेवालोंके साथ प्रियतम-जैसा बर्ताव करके मैं उनका कल्याण करता हूँ और उनको दिव्य लीला-रसका अनुभव कराता हूँ ।

‡ इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि लोग मेरा अनुसरण करते हैं, इसलिये यदि मैं इस प्रकार प्रेम और सौहार्दका बर्ताव करूँगा तो दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी ऐसे ही निःस्वार्थभावसे एक दूसरोंके साथ यथायोग्य प्रेम और सुहृदताका बर्ताव करेंगे । अतएव इस नीतिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये भी ऐसा करना मेरा कर्तव्य है ।।

§ अनादि कालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फलभोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है । भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं, तब उन-उन गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मणादि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं । साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि देव, पितर और तिर्यक् आदि दूसरी-दूसरी योनियोंकी रचना भी भगवान् जीवोंके गुण और कर्मोंके अनुसार ही करते हैं । इसलिये इन सृष्टि-रचनादि कर्मोंमें भगवान्‌की किंचिन्मात्र भी विषमता नहीं है, यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि मेरे द्वारा चारों वर्णोंकी रचना उनके गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक की गयी है।

आजकल लोग यह पूछा करते हैं कि ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे ? तो उसका

मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ॥*

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता† ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं‡। इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये§ और अकर्मका

उत्तर यह हो सकता है कि यद्यपि जन्म और कर्म दोनों ही वर्णके अङ्ग होनेके कारण वर्णकी पूर्णता तो दोनोंसे ही होती है परंतु इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी है, इसलिये जन्मसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग मानना चाहिये; क्योंकि यदि माता-पिता एक वर्णके हों और किसी प्रकारसे भी जन्ममें संकरता न आवे तो सहज ही कर्ममें भी प्रायः संकरता नहीं आती; परंतु सङ्गदोष, आहारदोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि कारणोंसे कर्ममें कहीं कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्णरक्षा हो सकती है, तथापि कर्मशुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है। कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है। अतः जीविका और विवाहादि व्यवहारके लिये तो जन्मकी प्रधानता तथा कल्याणकी प्राप्तिमें कर्मकी प्रधानता माननी चाहिये; क्योंकि जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी यदि उसके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं तो उसका कल्याण नहीं हो सकता तथा सामान्य धर्मके अनुसार शम-दमादिका पालन करनेवाला और अच्छे आचरणवाला शूद्र भी यदि ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करता है और उससे अपनी जीविका चलाता है तो पापका भागी होता है।

* इससे भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका भाव प्रकट किया गया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का किसी भी कर्ममें राग-द्वेष या कर्तापन नहीं होता। वे सदा ही उन कर्मोंसे सर्वथा अतीत हैं, उनके सकाशसे उनकी प्रकृति ही समस्त कर्म करती है। इस कारण लोकव्यवहारमें भगवान् उन कर्मोंके कर्ता माने जाते हैं; वास्तवमें भगवान् सर्वथा उदासीन हैं, कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है (गीता ९। ९-१०)।

† उपर्युक्त वर्णनके अनुसार जो यह समझ लेना है कि विश्व-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् वास्तवमें अकर्ता ही हैं—उन कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, उनके कर्मोंमें विषमता लेशमात्र भी नहीं है, कर्मफलमें उनकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है, अतएव उनको वे कर्म बन्धनमें नहीं डाल सकते—यही भगवान्‌को उपर्युक्त प्रकारसे तत्त्वतः जानना है और इस प्रकार भगवान्‌के कर्मोंका रहस्य यथार्थरूपसे समझ लेनेवाले महात्माके कर्म भी भगवान्‌की ही भाँति ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; इसीलिये वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।

‡ जो मनुष्य जन्म-मरणरूप संसारबन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, जो सांसारिक भोगोंको दुःखमय और क्षणभङ्गुर समझकर उनसे विरक्त हो गया है और जिसे इस लोक या परलोकके भोगोंकी इच्छा नहीं है—उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं। अर्जुन भी मुमुक्षु थे, वे कर्मबन्धनके भयसे स्वधर्मरूप कर्तव्यकर्मका त्याग करना चाहते थे; अतएव भगवान्ने इस श्लोकमें पूर्वकालके मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर यह बात समझायी है कि कर्मोंको छोड़ देनेसे मनुष्य उनके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता, इसी कारण पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी मेरे कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व समझकर मेरी ही भाँति कर्मोंमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारका त्याग करके निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनका आचरण ही किया है।

§ साधारणतः मनुष्य यही जानते हैं कि शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका नाम कर्म है; किंतु इतना जान लेनेमात्रसे कर्मका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसके आचरणमें भावका भेद होनेसे उसके स्वरूपमें भेद हो जाता है। अतः अपने अधिकारके अनुसार वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मोंको आचरणमें लानेके लिये कर्मके तत्त्वको समझना चाहिये।

स्वरूप भी जानना चाहिये* तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये;† क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रोताके अन्तःकरणमें रुचि और श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्मतत्त्वको गहन एवं उसका जानना आवश्यक बतलाकर अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् कर्मका तत्त्व समझाते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है‡ ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्ममें अकर्म और अ कर्मदर्शनका महत्त्व बतलाकर अब पाँच श्लोकोंमें भिन्न-भि शैलीसे उपर्युक्त कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म-दर्शनपूर्वक करनेवाले सिद्ध और साधक पुरुषोंकी असङ्गताका करके उस विषयको स्पष्ट करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना संकल्पके होते हैं§ तथा जिसके समस्त कर्म

---

* साधारणतः मनुष्य यही समझते हैं कि मन, वाणी और शरीरद्वारा की जानेवाली क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग क देना ही अकर्म यानी कर्मोंसे रहित होना है; किंतु इतना समझ लेनेमात्रसे अकर्मका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जा सक क्योंकि भावके भेदसे इस प्रकारका अकर्म भी कर्म या विकर्मके रूपमें बदल जाता है। अतः किस भावसे कि प्रकार की हुई कौन-सी क्रिया या उसके त्यागका नाम अकर्म है एवं किस स्थितिमें किस मनुष्यको किस प्रकार उस आचरण करना चाहिये, इस बातको भलीभाँति समझकर साधन करना चाहिये।

† साधारणतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्मोंका नाम ही विकर्म है—यह प्रसिद्ध है; पर इतना जान लेनेमात्रसे विकर्मका स्वरूप यथार्थ नहीं जाना जा सकता, क्योंकि शास्त्रके तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानी पुण्यको पाप मान लेते हैं और पापको भी पुण्य मान लेते हैं। वर्ण, आश्रम और अधिकारके भेदसे जो कर्म एकके लिये विहि होनेसे कर्तव्य (कर्म) है, वही दूसरेके लिये निषिद्ध होनेसे पाप (विकर्म) हो जाता है—जैसे सब वर्णोंकी सेवा करके जीविका चलाना शूद्रके लिये विहित कर्म है, किंतु वही ब्राह्मणके लिये निषिद्ध कर्म है; जैसे दान लेकर, वेद पढ़ाकर और यज्ञ कराकर जीविका चलाना ब्राह्मणके लिये कर्तव्य-कर्म है, किंतु दूसरे वर्णोंके लिये पाप है; जैसे गृहस्थके लिये न्यायोपार्जि द्रव्यसंग्रह करना और ऋतुकालमें स्वपत्नीगमन करना धर्म है, किंतु संन्यासीके लिये काञ्चन और कामिनीका दर्शन-स्प करना भी पाप है। अतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि जो सर्वसाधारणके लिये निषिद्ध हैं तथा अधिकारभेदसे जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये निषिद्ध हैं—उन सबका त्याग करनेके लिये विकर्मके स्वरूपको भलीभाँति समझना चाहिये।

‡ यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीर-निर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं—उ सबमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फल भुगताने और पुनर्जन्मके हेतु नहीं बनते, बल्कि मनुष्यके पूर्वकृत समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश करके उसे संसार-बन्धनसे मुक्त करने वाले होते हैं—इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है। इस प्रकार कर्ममें अकर्म देखनेवाला मनुष्य आसक्ति फलेच्छा और ममताके त्यागपूर्वक ही विहित कर्मोंका यथायोग्य आचरण करता है। अतः वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है; वह परमात्माको प्राप्त है, इसलिये योगी है और उसे कोई भी कर्त शेष नहीं रहता—वह कृतकृत्य हो गया है, इसलिये वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है।

लोकप्रसिद्धिमें मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; यह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति फलेच्छा, ममता और अहंकारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है; इतना ही नहीं, कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलना से या दम्भाचारके लिये किया जानेपर तो यह विकर्म (पाप) के रूपमें बदल जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है।

§ स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके जितने भी वि (पदार्थ) हैं, उनमेंसे किसीकी किंचिन्मात्र भी इच्छा करनेका नाम 'कामना' है तथा किसी विषयको ममता, अहंक राग-द्वेष एवं रमणीय-बुद्धिसे स्मरण करनेका नाम 'संकल्प' है। कामना संकल्पका कार्य है और संकल्प उसका कारण है विषयोंका स्मरण करनेसे ही उनमें आसक्ति होकर कामनाकी उत्पत्ति होती है (गीता २ । ६२)। जिन कर्मोंमें कि वस्तुके संयोग-वियोगकी किंचिन्मात्र भी कामना नहीं है; जिनमें ममता, अहंकार और आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जो केवल लोक-संग्रहके लिये चेष्टामात्र किये जाते हैं—वे सब कर्म कामना और संकल्पसे रहित हैं।

अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं,* उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि[1] नैव किंचित् करोति सः ॥ २० ॥

जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है,† वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः[2] ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता‡ ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो[3] द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला§ कर्मयोगी कर्म

---

* जैसे अग्निद्वारा भुने हुए बीज केवल नाममात्रके ही बीज रह जाते हैं, उनमें अङ्कुरित होनेकी शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जो समस्त कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना है—यही उन कर्मोंका ज्ञानरूप अग्निसे भस्म हो जाना है।

[1] 'अपि' अव्ययसे यह भाव दिखलाया गया है कि ममता, अहङ्कार और फलासक्तिसे युक्त मनुष्य तो कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता और यह नित्यतृप्त पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ भी उनके बन्धनमें नहीं पड़ता।

† आसक्तिका सर्वथा त्याग करके शरीरमें अहङ्कार और ममतासे सर्वथा रहित हो जाना और किसी भी सांसारिक वस्तु या मनुष्यके आश्रित न होना अर्थात् अमुक वस्तु या मनुष्यसे ही मेरा निर्वाह होता है, यही आधार है, इसके बिना मेरा काम ही नहीं चल सकता—इस प्रकारके भावोंका सर्वथा अभाव हो जाना ही 'निराश्रय' हो जाना है। ऐसा हो जानेपर मनुष्यको किसी भी सांसारिक पदार्थकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती, वह पूर्णकाम हो जाता है; उसे परमानन्द-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके कारण वह निरन्तर आनन्दमें मग्न रहता है, उसकी स्थितिमें किसी भी घटनासे कभी कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। यही उसका 'नित्यतृप्त' हो जाना है।

[2] जिस मनुष्यको किसी भी सांसारिक वस्तुकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है; जो किसी भी कर्मसे या मनुष्यसे किसी प्रकारका भोगप्राप्त होनेकी किंचिन्मात्र भी आशा या इच्छा नहीं रखता; जिसने सब प्रकारकी इच्छा, कामना, वासना आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है—उसे 'निराशीः' कहते हैं; जिसका अन्तःकरण और समस्त इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है—अर्थात् जिसके मन और इन्द्रिय राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण उनपर शब्दादि विषयोंके सङ्गका कुछ भी असर नहीं पड़ सकता और जिसका शरीर भी जैसे वह उसे रखना चाहता है वैसे ही रहता है—वह चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी 'यतचित्तात्मा' है और जिसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं है तथा जिसने समस्त भोग-सामग्रियोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग कर दिया है, वह संन्यासी तो सर्वथा "'त्यक्तसर्वपरिग्रह' है ही। इसके सिवा जो कोई दूसरे आश्रमवाला भी यदि उपर्युक्त प्रकारसे परिग्रहका त्याग कर देनेवाला है तो वह भी 'त्यक्तसर्वपरिग्रह' है।

‡ उपर्युक्त पुरुषको न तो यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे होनेवाला प्रत्यवायरूप पाप लगता है और न शरीर-निर्वाहके लिये की जानेवाली क्रियाओंमें होनेवाले पापोंसे ही उसका सम्बन्ध होता है; यही उसका 'पाप'को प्राप्त न होना है।

[3] अनिच्छासे या परेच्छासे प्रारब्धानुसार जो अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह 'यदृच्छालाभ' है, उस यदृच्छालाभमें सदा ही आनन्द मानना, न किसी अनुकूल पदार्थकी प्राप्ति होनेपर उसमें राग करना, उसके बने रहनेकी इच्छा करना और न प्रतिकूलकी प्राप्तिमें द्वेष करना, उसके नष्ट हो जानेकी इच्छा करना—इस प्रकार दोनोंको ही प्रारब्ध या भगवान्‌का विधान समझकर निरन्तर शान्त और प्रसन्नचित्त रहना—यही 'यदृच्छालाभ' में सदा संतुष्ट रहना है।

§ यज्ञ, दान और तप आदि किसी भी कर्तव्यकर्मका निर्विघ्नतासे पूर्ण हो जाना उसकी सिद्धि है और किसी प्रकार विघ्न-बाधाके कारण उसका पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इसी प्रकार जिस उद्देश्यसे कर्म किया जाता है, उस उद्देश्यका पूर्ण हो जाना सिद्धि है और पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इस प्रकारकी सिद्धि और असिद्धिमें भेदबुद्धिका न होना अर्थात् सिद्धिमें हर्ष और आसक्ति आदि तथा असिद्धिमें द्वेष और शोक आदि विकारोंका न होना, दोनोंमें एक-सा भाव रहना ही सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना है।

करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता[*] ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे केवल यज्ञसम्पादन-के लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं[†] ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि यज्ञके लिये कर्म करनेवाले पुरुषके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं। वहाँ केवल अग्निमें हविका हवन करना ही यज्ञ है और उसका सम्पादन करनेके लिये की जानेवाली क्रिया ही यज्ञके लिये कर्म करना है, इतनी ही बात नहीं है; इसी भावको सुस्पष्ट करनेके लिये अब भगवान् सात श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न योगियोंद्वारा किये जानेवाले परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका विभिन्न यज्ञोंके नामसे वर्णन करते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है[‡]—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भली भाँति अनुष्ठान किया करते हैं[§] और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मरूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं[×] ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयम

---

[*] जिस प्रकार केवल शरीरसम्बन्धी कर्मोंको करनेवाला परिग्रहरहित सांख्ययोगी अन्य कर्मोंका आचरण न करनेपर भी कर्म न करनेके पापसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्मयोगी विहित कर्मोंका अनुष्ठान करके भी उनसे नहीं बँधता।

[†] अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यका जो शास्त्रदृष्टिसे विहित कर्तव्य है, वही उसके लिये यज्ञ है। उस शास्त्रविहित यज्ञका सम्पादन करनेके उद्देश्यसे ही जो कर्मोंका करना है—अर्थात् किसी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध न रखकर केवल लोकसंग्रहरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही जो कर्मोंका आचरण करना है, वही यज्ञके लिये कर्मोंका आचरण करना है।

उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्म उसको बाँधनेवाले नहीं होते, इतना ही नहीं; किंतु जैसे किसी घासकी ढेरीमें आगमें जलाकर गिराया हुआ घास स्वयं भी जलकर नष्ट हो जाता है और उस घासकी ढेरीको भी भस्म कर देता है—वैसे ही आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अभिमानके त्यागरूप अग्निमें जलाकर किये हुए कर्म पूर्वसंचित समस्त कर्मोंके सहित विलीन हो जाते हैं, फिर उसके किसी भी कर्ममें किसी प्रकारका फल देनेकी शक्ति नहीं रहती।

[‡] इस यज्ञमें स्रुवा, हवि, हवन करनेवाला और हवनरूप क्रियाएँ आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं होतीं; ऐसा यज्ञ करनेवाले योगीकी दृष्टिमें सब कुछ ब्रह्म ही होता है; क्योंकि वह जिन मन, बुद्धि आदिके द्वारा समस्त जगत्को ब्रह्म समझनेका अभ्यास करता है, उनको, अपनेको, इस अभ्यासरूप क्रियाको या अन्य किसी भी वस्तुको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझता, सबको ब्रह्मरूप ही देखता है; इसलिये उसकी उनमें किसी प्रकारकी भी भेदबुद्धि नहीं रहती।

[§] ब्रह्मा, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र और वरुणादि जो शास्त्रसम्मत देव हैं—उनके लिये हवन करना, उनकी पूजा करना, उनके मन्त्रका जप करना, उनके निमित्त दान देना और ब्राह्मण-भोजन करवाना आदि समस्त कर्मोंका अपना कर्तव्य समझकर विना ममता, आसक्ति और फलेच्छाके केवल परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शास्त्रविधिके अनुसार पूर्णतया अनुष्ठान करना ही देवताओंके पूजनरूप यज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करना है।

[×] अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण शरीरकी उपाधिसे आत्मा और परमात्माका भेद अनादिकालसे प्रतीत हो रहा है, इस अज्ञानजनित भेद-प्रतीतिको ज्ञानके अभ्यासद्वारा मिटा देना अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे सुने हुए तत्त्वज्ञानके निरन्तर मनन और निदिध्यासन करते-करते नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको एक कर देना—विलीन कर देना ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है।

अग्नियोंमें हवन किया करते हैं* और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं† ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं‡ ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, § कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं× तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं+ और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त

---

* श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिकाको वशमें करके प्रत्याहार करना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि बाहर-भीतरके विषयोंसे विवेकपूर्वक उन्हें हटाकर उपरत होना ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन करना है। इसका सुस्पष्टभाव गीताके दूसरे अध्यायके अठावनवें श्लोकमें कछुएके दृष्टान्तसे बतलाया गया है।

† कानोंके द्वारा निन्दा और स्तुतिको या अन्य किसी प्रकारके अनुकूल या प्रतिकूल शब्दोंको सुनते हुए, नेत्रोंके द्वारा अच्छे-बुरे दृश्योंको देखते हुए, जिह्वाके द्वारा अनुकूल और प्रतिकूल रसको ग्रहण करते हुए—इसी प्रकार अन्य समस्त इन्द्रियोंद्वारा भी प्रारब्धके अनुसार योग्यतासे प्राप्त समस्त विषयोंका अनासक्तभावसे सेवन करते हुए अन्तःकरणमें समभाव रखना, भेदबुद्धिजनित राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि विकारोंका न होने देना—अर्थात् उन विषयोंमें जो मन और इन्द्रियोंको विक्षिप्त (विचलित) करनेकी शक्ति है, उसका नाश करके उनको इन्द्रियोंमें विलीन करते रहना—यही शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करना है।

‡ इस प्रकारके ध्यानयोगमें जो मनोनिग्रहपूर्वक इन्द्रियोंकी देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, आस्वादन करना एवं ग्रहण करना, त्याग करना, बोलना और चलना-फिरना आदि तथा प्राणोंकी श्वास-प्रश्वास और हिलना-डुलना आदि समस्त क्रियाओंको विलीन करके समाधिस्थ हो जाना है—यही आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें इन्द्रियोंकी और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंका हवन करना है।

§ अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार न्यायसे प्राप्त द्रव्यको ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके यथायोग्य देशसेवामें लगाना अर्थात् उपर्युक्त भावसे बावली, कुएँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना; भूखे, अनाथ, रोगी, दुःखी, असमर्थ, भिक्षु आदि मनुष्योंकी यथावश्यक अन्न, वस्त्र, जल, औषध, पुस्तक आदि वस्तुओंद्वारा सेवा करना; विद्वान् तपस्वी वेदपाठी सदाचारी ब्राह्मणोंको गौ, भूमि, वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थोंका यथायोग्य अपनी शक्तिके अनुसार दान करना—इसी तरह अन्य सब प्राणियोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे यथाशक्ति द्रव्यका व्यय करना 'द्रव्ययज्ञ' है।

× परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंको पवित्र करनेके लिये ममता, आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक व्रत-उपवासादि करना; धर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना; मौन धारण करना; अग्नि और सूर्यके तेजको तथा वायुको सहन करना; एक वस्त्र या दो वस्त्रोंसे अधिकका त्याग कर देना; अन्नका त्याग कर देना, केवल फल या दूध खाकर ही शरीरका निर्वाह करना; वनवास करना आदि जो शास्त्रविधिके अनुसार तितिक्षासम्बन्धी क्रियाएँ हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'तपोयज्ञ' है।

+ यहाँ योगरूप यज्ञसे यह भाव समझना चाहिये कि बहुत-से साधक परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे आसक्ति, फलेच्छा और ममताका त्याग करके अष्टाङ्गयोगरूप यज्ञका ही अनुष्ठान किया करते हैं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।

किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किंचिन्मात्र कभी कष्ट न देना (अहिंसा); हितकी भावनासे कपटरहित प्रिय शब्दोंमें यथार्थभाषण (सत्य); किसी प्रकारसे भी किसीके स्वत्व—हकको न चुराना और न छीनना (अस्तेय); मन, वाणी और शरीरसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा-सर्वदा सब प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना (ब्रह्मचर्य); और शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त भोग्य सामग्रीका कभी संग्रह न करना (अपरिग्रह)—इन पाँचोंका नाम 'यम' है।

सब प्रकारसे बाहर और भीतरकी पवित्रता रखना (शौच); प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा संतुष्ट रहना (संतोष); एकादशी आदि व्रत-उपवास करना (तप); कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन तथा ईश्वरके नाम और गुणोंका कीर्तन करना (स्वाध्याय); सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके उनकी आज्ञाका पालन करना (ईश्वरप्रणिधान)—इन पाँचोंका नाम 'नियम' है।

यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं* ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं,† वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपान-वायुको हवन करते हैं‡ तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गति-को रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं§ ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और

सुखपूर्वक स्थिरतासे बैठनेका नाम 'आसन' है। आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुष-के लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो, परंतु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीके मध्यभागमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जो पुरुष जिस आसनसे सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके उसके लिये वही आसन उत्तम है।

बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है; इन दोनोंको रोकनेका नाम 'प्राणायाम' है।

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले—ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम चतुर्थ 'प्राणायाम' है।

अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर–किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना या लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे ध्येय वस्तुमें ही लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने-आपका भी ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम 'समाधि' है।

*जिन शास्त्रोंमें भगवान्के तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका तथा उनके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका वर्णन है—ऐसे शास्त्रोंका अध्ययन करना, भगवान्की स्तुतिका पाठ करना, उनके नाम और गुणोंका कीर्तन करना तथा वेद और वेदाङ्गोंका अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है। ऐसा स्वाध्याय अर्थज्ञानके सहित होनेसे तथा ममता, आसक्ति और फलेच्छाके अभावपूर्वक किये जानेसे 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' कहलाता है। इस पदमें स्वाध्यायके साथ 'ज्ञान' शब्दका समास करके यह भाव दिखलाया है कि स्वाध्यायरूप कर्म भी ज्ञानयज्ञ ही है, इसलिये गीताके अध्ययनको भी भगवान्ने 'ज्ञानयज्ञ' नाम दिया है (गीता १८ । ७०)।

† उपर्युक्त प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय अपानवायु है और हविःस्थानीय प्राणवायु है। अतएव यह समझना चाहिये कि जिसे पूरक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँ अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करना है; क्योंकि जब साधक पूरक प्राणायाम करता है तो बाहरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरमें ले जाता है, तब वह बाहरकी वायु हृदयमें स्थित प्राणवायुको साथ लेकर नाभिमेंसे होती हुई अपानमें विलीन हो जाती है। इस साधनमें बार-बार बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर वहीं रोका जाता है, इसलिये इसे आभ्यन्तर कुम्भक भी कहते हैं।

‡ इस दूसरे प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय प्राणवायु है और हविःस्थानीय अपानवायु है। अतः समझना चाहिये कि जिसे रेचक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँपर प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करना है; क्योंकि जब साधक रेचक प्राणायाम करता है तो वह भीतरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरसे बाहर निकालकर रोकता है; उस समय पहले हृदयमें स्थित प्राणवायु बाहर आकर स्थित हो जाती है, पीछेसे अपानवायु आकर उसमें विलीन होती है। इस साधनमें बार-बार भीतरकी वायुको बाहर निकालकर वहीं रोका जाता है, इस कारणसे इसे बाह्य कुम्भक भी कहते हैं।

§ जिस प्राणायाममें प्राण और अपान—इन दोनोंकी गति रोक दी जाती है अर्थात् न तो पूरक प्राणायाम किया जाता है और न रेचक, किंतु श्वास और प्रश्वासको बंद करके प्राण-अपान आदि समस्त वायुभेदोंको अपने-अपने स्थानोंमें ही रोक दिया जाता है—वही यहाँ प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंका प्राणोंमें हवन करना है। इस साधनमें न तो

यज्ञोंको जाननेवाले हैं* ॥ २९-३० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार यज्ञ करनेवाले साधकोंकी प्रशंसा करके अब उन यज्ञोंको करनेसे होनेवाले लाभ और न करनेसे होनेवाली हानि दिखलाकर भगवान् उपर्युक्त प्रकारसे यज्ञ करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं† और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है?‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने यह बात कही थी कि मैं तुम्हें वह कर्मतत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम अशुभसे मुक्त हो जाओगे। उस प्रतिज्ञाके अनुसार अठारहवें श्लोकसे यहाँतक उस कर्मतत्त्वका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हैं—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान;§ इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उन यज्ञोंमेंसे कौन-सा यज्ञ श्रेष्ठ है। इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है× तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं+ ॥ ३३ ॥

बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर रोका जाता है और न भीतरकी वायुको बाहर लाकर; बल्कि अपने-अपने स्थानोंमें स्थित प्राणवायु-भेदोंको वहीं रोक दिया जाता है। इसलिये इसे 'केवल कुम्भक' कहते हैं।

* इस अध्यायमें चौबीसवें श्लोकसे लेकर यहाँतक जिन यज्ञ करनेवाले साधक पुरुषोंका वर्णन हुआ है, वे सभी ममता, आसक्ति और फलेच्छासे रहित होकर उपर्युक्त यज्ञरूप साधनोंका अनुष्ठान करके उनके द्वारा पूर्वसंचित कर्मसंस्काररूप समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश कर देनेवाले हैं; इसलिये वे यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं।

† यहाँ भगवान्ने उपर्युक्त यज्ञके रूपकमें परमात्माकी प्राप्तिके ज्ञान, संयम, तप, योग, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि साधनोंका भी वर्णन किया है, जिनमें अन्नका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करनेसे साधकोंका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रमादरूप प्रसन्नताकी उपलब्धि होती है (गीता २। ६४-६५; १८। ३६-३७), वही यज्ञसे बचा हुआ अमृत है; क्योंकि वह अमृतस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है तथा उस विशुद्ध भावसे उत्पन्न सुखमें निमग्न रहना ही यहाँ उस अमृतका अनुभव करना है।

‡ जो मनुष्य उपर्युक्त यज्ञोंमेंसे या इनके सिवा जो और भी अनेक प्रकारके साधनरूप यज्ञ शास्त्रोंमें वर्णित हैं, उनमेंसे कोई-सा भी यज्ञ—किसी प्रकार भी नहीं करता, उसको यह लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक तो कैसे सुखदायक हो सकता है—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त साधनोंका अधिकार पाकर भी उनमें न लगनेके कारण उसको मुक्ति तो मिलती ही नहीं, स्वर्ग भी नहीं मिलता और मुक्तिके द्वाररूप इस मनुष्यशरीरमें भी कभी शान्ति नहीं मिलती।

§ यहाँ जिन साधनरूप यज्ञोंका वर्णन किया गया है एवं इनके सिवा और भी जितने कर्तव्यकर्मरूप यज्ञ शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा ही होते हैं। उनमेंसे किसीका सम्बन्ध केवल मनसे है, किसीका मन और इन्द्रियोंसे एवं किसी-किसीका मन, इन्द्रिय और शरीर—इन सबसे है। ऐसा कोई भी यज्ञ नहीं है, जिसका इन तीनोंमेंसे किसीके साथ सम्बन्ध न हो। इसलिये साधकको चाहिये कि जिस साधनमें शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंकी क्रियाका या संकल्प-विकल्प आदि मनकी क्रियाका त्याग किया जाता है, उस त्यागरूप साधनको भी कर्म ही समझे और उसे भी फल-कामना, आसक्ति तथा ममतासे रहित होकर ही करे; नहीं तो वह भी बन्धनका हेतु बन सकता है।

× जिस यज्ञमें द्रव्यकी अर्थात् सांसारिक वस्तुकी प्रधानता हो, उसे द्रव्यमय यज्ञ कहते हैं। अतः अग्निमें घृत, चीनी, दही, दूध, तिल, जौ, चावल, मेवा, चन्दन, कपूर, धूप और सुगन्धयुक्त ओषधियाँ आदि हविका विधिपूर्वक हवन करना; दान देना; परोपकारके लिये कुँआ, बावली, तालाब, धर्मशाला आदि बनवाना; बलि-वैश्वदेव करना आदि जितने सांसारिक पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रविहित शुभकर्म हैं—वे सब द्रव्यमय यज्ञके अन्तर्गत हैं तथा जो विवेक, विचार और आध्यात्मिक ज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले साधन हैं, वे सब ज्ञानयज्ञके अन्तर्गत हैं।

+ उपर्युक्त प्रकरणमें जितने प्रकारके साधनरूप कर्म बतलाये गये हैं तथा इनके सिवा और भी जितने शुभ कर्म

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें* और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा† ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करने है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा‡ ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३

क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भ मय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों भस्ममय कर देता है§ ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला नि कुछ भी नहीं है । उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयो द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्म पा लेता है × ॥ ३८ ॥

रूप यज्ञ वेद-शास्त्रोंमें वर्णित हैं (गीता ४ । ३२), वे सब कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं, इस कथनसे भगवान्ने यह दिखलाया है कि समस्त साधनोंका बड़े-से-बड़ा फल परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करा देना है ।

१. परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे श्रद्धा और भक्तिभावपूर्वक किसी बातको पूछना 'परिप्रश्न' है ।

२. श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महापुरुषोंके पास निवास करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके मानसिक भावोंको समझकर हरेक प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना—ये सभी सेवाके अन्तर्गत हैं ।

* महापुरुषोंसे परमात्माके तत्त्वज्ञानका उपदेश पाकर आत्माको सर्वव्यापी, अनन्तस्वरूप समझना तथा सब प्राणियोंमें भेदबुद्धिका अभाव होकर सर्वत्र आत्मभाव हो जाना—अर्थात् जैसे स्वप्नसे जागा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्‌को अपने अन्तर्गत स्मृतिमात्र देखता है, वास्तवमें अपनेसे भिन्न अन्य किसीकी सत्ता नहीं देखता, उसी प्रकार समस्त जगत्‌को अपनेसे अभिन्न और अपने अन्तर्गत समझना सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषतासे आत्माके अन्तर्गत देखना है (गीता ६ । २९)।

† सम्पूर्ण भूतोंको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखना पूर्वोक्त आत्मदर्शनरूप स्थितिका फल है; इसीको परमपदकी प्राप्ति, निर्वाण-ब्रह्मकी प्राप्ति और परमात्मामें प्रविष्ट हो जाना भी कहते हैं ।

‡ यहाँ भगवान्ने अर्जुनको यह बतलाया है कि तुम वास्तवमें पापी नहीं हो, तुम तो दैवी-सम्पदाके लक्षणोंसे यु (गीता १६ । ५) तथा मेरे प्रिय भक्त और सखा हो (गीता ४ । ३); तुम्हारे अंदर पाप कैसे रह सकते हैं । परंतु इस ज्ञानका इतना प्रभाव और माहात्म्य है कि यदि तुम अधिक-से-अधिक पापकर्मी होओ तो भी तुम इस ज्ञानरूप नौकाके द्वारा समुद्रके समान अथाह पापोंसे भी अनायास तर सकते हो । बड़े-से-बड़े पाप भी तुम्हें अटका नहीं सकते ।

§ इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए समस्त कर्म संस्काररूपसे मनुष्यके अन्तःकरणमें एकत्रित रहते हैं, उनका नाम 'सञ्चित' कर्म है। उनमेंसे जो वर्तमान जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं, उनका नाम 'प्रारब्ध' कर्म है और वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्मोंको 'क्रियमाण' कहते हैं । उपर्युक्त तत्त्वज्ञानरूप अग्निके प्रकट होते ही समस्त पूर्वसञ्चित संस्कारोंका अभाव हो जाता है । मन, बुद्धि और शरीरसे आत्माको असङ्ग समझ लेनेके कारण उन मन, इन्द्रिय और शरीरादिके साथ प्रारब्ध भोगोंका सम्बन्ध होते हुए भी उन भोगोंके कारण उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक आदि विकार नहीं हो सकते । इस कारण वे भी उसके लिये नष्ट हो जाते हैं और क्रियमाण कर्मोंमें उसका कर्तृत्वाभिमान तथा ममता, आसक्ति और वासना न रहनेके कारण उनके संस्कार नहीं बनते; इसलिये वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं । इस प्रकार उसके समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है ।

× कितने ही कालतक कर्मयोगका आचरण करते-करते राग-द्वेषके नष्ट हो जानेसे जिसका अन्तःकरण स्वच्छ हो गया है, जो कर्मयोगमें भलीभाँति सिद्ध हो गया है; जिसके समस्त कर्म ममता, आसक्ति और फलेच्छाके बिना भगवान्की आज्ञाके अनुसार भगवान्के ही लिये होते हैं—उस योग-संसिद्ध पुरुषके अन्तःकरणमें परमेश्वरके अनुग्रहसे अपने-आप उस ज्ञानका प्रकाश हो जाता है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान्* मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है।† ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है‡ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

किंतु हे धनंजय ! जिसने कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंका परमात्मामें अर्पण कर दिया है§ और जिसने विवेकद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है,× ऐसे वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले पुरुषको कर्म नहीं बाँधते+॥४१॥

---

* वेद, शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषोंके वचनोंमें तथा परलोकमें जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है एवं उन सबमें परम पूज्य और उत्तमताकी भावना है—उसका नाम श्रद्धा है और ऐसी श्रद्धा जिसमें हो, उसको 'श्रद्धावान्' कहते हैं।

जबतक इन्द्रिय और मन अपने काबूमें न आ जायँ, तबतक श्रद्धापूर्वक कटिबद्ध होकर उत्तरोत्तर तीव्र अभ्यास करते रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यासकी कसौटी इन्द्रियसंयम ही है, जितना ही श्रद्धापूर्ण तीव्र अभ्यास किया जाता है, उत्तरोत्तर उतना ही इन्द्रियोंका संयम होता जाता है। अतएव इन्द्रिय-संयमकी जितनी कमी है, उतनी ही उसमें कमी समझनी चाहिये और साधनमें जितनी कमी है, उतनी ही श्रद्धामें त्रुटि समझनी चाहिये।

† वेद-शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंको तथा उनके बतलाये हुए साधनोंको ठीक-ठीक न समझ सकनेके कारण तथा जो कुछ समझमें आवे उसपर भी विश्वास न होनेके कारण जिसको हरेक विषयमें संशय होता रहता है, जो किसी प्रकार भी अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाता, हर हालतमें संशययुक्त रहता है, वह मनुष्य अपने मनुष्य-जीवनको व्यर्थ ही खो बैठता है।

जिसमें स्वयं विवेचन करनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा अज्ञ मनुष्य भी यदि श्रद्धालु हो तो श्रद्धाके कारण महापुरुषोंके कथनानुसार संशयरहित होकर साधानपरायण हो सकता है और उनकी कृपासे उसका भी कल्याण हो सकता है (गीता १३। २५);परंतु जिस संशययुक्त पुरुषमें न विवेकशक्ति है और न श्रद्धा ही है, उसके संशयके नाशका कोई उपाय नहीं रह जाता; इसलिये जबतक उसमें श्रद्धा या विवेक नहीं आ जाता, उसका अवश्य पतन हो जाता है।

‡ संशययुक्त मनुष्य केवल परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है इतनी ही बात नहीं है, जबतक मनुष्यमें संशय विद्यमान रहता है, वह उसका नाश नहीं कर लेता, तबतक वह न तो इस लोकमें यानी मनुष्यशरीरमें रहते हुए धन, ऐश्वर्य या भोगोंकी प्राप्ति कर सकता है, न परलोकमें यानी मरनेके बाद स्वर्गादिकी प्राप्ति कर सकता है और न किसी प्रकारके सांसारिक सुखोंको ही भोग सकता है।

§ यहाँ 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' का अर्थ स्वरूपसे कर्मोंका त्याग कर देनेवाला न मानकर कर्मयोगके द्वारा समस्त कर्मों और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उन सबको परमात्मामें अर्पण कर देनेवाला मानना (गीता ३। ३०; ५। १०) मानना ही उचित है।

× ईश्वर है या नहीं, है तो कैसा है, परलोक है या नहीं, यदि है तो कैसे है और कहाँ है, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सब आत्मा हैं या आत्मासे भिन्न हैं, जड़ हैं या चेतन, व्यापक हैं या एकदेशीय, कर्ता-भोक्ता जीवात्मा है या नहीं, आत्मा एक है या अनेक, यदि वह एक है तो कैसे है और अनेक है तो कैसे, जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि परतन्त्र है तो कैसे है और किसके परतन्त्र है, कर्म-बन्धनसे छूटनेके लिये कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ देना ठीक है या कर्मयोगके अनुसार उनका करना ठीक है, अथवा सांख्ययोगके अनुसार साधन करना ठीक है—इत्यादि जो अनेक प्रकारकी बातें तर्कशील मनुष्योंके अन्तःकरणमें उठा करती हैं, इन समस्त शङ्काओंका विवेकज्ञानके द्वारा विवेचन करके एक निश्चय कर लेना अर्थात् किसी भी विषयमें संशययुक्त न रहना और अपने कर्तव्यको निर्धारित कर लेना, यही विवेकज्ञानद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर देना है।

+ जिसके मन और इन्द्रिय वशमें किये हुए हैं—अपने काबूमें हैं, उस पुरुषके शास्त्रविहित कर्म ममता, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित होते हैं; इस कारण उन कर्मोंमें बन्धन करनेकी शक्ति नहीं रहती।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके* समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ भीष्मपर्वणि तु अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥४॥ भीष्मपर्वमें अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चमोऽध्यायः)

सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोगका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तीसरे और चौथे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्‌के श्रीमुखसे अनेकों प्रकारसे कर्मयोगकी प्रशंसा सुनी और उसके सम्पादनकी प्रेरणा तथा आज्ञा प्राप्त की। साथ ही यह भी सुना कि 'कर्मयोगके द्वारा भगवत्स्वरूपका तत्त्वज्ञान अपने-आप ही हो जाता है' (गीता ४ । ३८); गीताके चौथे अध्यायके अन्तमें भी उन्हें भगवान्‌के द्वारा कर्मयोगके सम्पादनकी ही आज्ञा मिली। परंतु बीच-बीचमें उन्होंने भगवान्‌के श्रीमुखसे ही 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः (गीता ४ । २४)' 'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति (गीता ४ । २५)' 'तद्विद्धि प्रणिपातेन (गीता ४ । ३४)' आदि वचनोंद्वारा ज्ञानयोग अर्थात् कर्मसंन्यासकी भी प्रशंसा सुनी। इससे अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ है। अतएव अब भगवान्‌के श्रीमुखसे ही उसका निर्णय करानेके उद्देश्यसे अर्जुन उनसे प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये† ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः[1] कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनों

---

* संशयका कारण अविवेक है। अतः विवेकद्वारा अविवेकका नाश होते ही उसके साथ-साथ संशयका भी नाश हो जाता है। इसका स्थान हृदय यानी अन्तःकरण है; अतः जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, उसके लिये इसका नाश करना सहज है।

अर्जुनके अन्तःकरणमें संशय विद्यमान था, उनकी विवेकशक्ति मोहके कारण कुछ दबी हुई थी; इसीसे वे अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सकते थे और स्वधर्मरूप युद्धका त्याग करनेके लिये तैयार हो गये थे। इसलिये भगवान् यहाँ उन्हें उनके हृदयमें स्थित संशयका विवेकद्वारा छेदन करनेके लिये कहते हैं।

† 'सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर ऐसा समझना कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, (गीता ३ । २८) तथा निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहना और सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना (गीता ४ । २४)'—यही ज्ञानयोग है—यही कर्मसंन्यास है। गीताके चौथे अध्यायमें इसी प्रकारके ज्ञानयोगकी प्रशंसा की गयी है और उसीके आधारपर अर्जुनका यह प्रश्न है।

[1] मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका और शरीर तथा समस्त संसारमें अहंता-ममताका पूर्णतया त्याग ही 'संन्यास' शब्दका अर्थ है। चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें 'संन्यास' को ही 'सांख्य' कहकर भलीभाँति स्पष्टीकरण भी कर दिया है। अतएव यहाँ 'संन्यास' शब्दका अर्थ 'सांख्ययोग' ही मानना युक्त है।

कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है* ।२।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है;† क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है‡ ॥ ४ ॥

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है§ । इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

परंतु हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है× और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है + ॥ ६ ॥

---

* कर्मयोगी कर्म करते हुए भी सदा संन्यासी ही है, वह सुखपूर्वक अनायास ही संसारबन्धनसे छूट जाता है (गीता ५। ३)। उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (गीता ५ । ६)। प्रत्येक अवस्थामें भगवान् उसकी रक्षा करते हैं (गीता ९।२२) और कर्मयोगका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मरणरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है (गीता २।४०)। किंतु ज्ञानयोगका साधन क्लेशयुक्त है (गीता १२ । ५), पहले कर्मयोगका साधन किये बिना उसका होना भी कठिन है (गीता ५।६)। इन्हीं सब कारणोंसे ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

† कर्मयोगी न किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकांक्षा करता है, वह द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो जाता है। वास्तवमें संन्यास भी इसी स्थितिका नाम है । जो राग-द्वेषसे रहित है, वही सच्चा संन्यासी है; क्योंकि उसे न तो संन्यास-आश्रम ग्रहण करनेकी आवश्यकता है और न सांख्ययोगकी ही । अतएव यहाँ कर्मयोगीको 'नित्यसंन्यासी' कहकर भगवान् उसका महत्त्व प्रकट करते हैं कि समस्त कर्म करते हुए भी वह सदा संन्यासी ही है और सुखपूर्वक अनायास ही संसारबन्धनसे छूट जाता है।

‡ 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग' दोनों ही परमार्थतत्त्वके ज्ञानद्वारा परमपदरूप कल्याणकी प्राप्तिमें हेतु हैं । इस प्रकार दोनोंका फल एक होनेपर भी जो लोग कर्मयोगका दूसरा फल मानते हैं और सांख्ययोगका दूसरा, वे फलभेदकी कल्पना करके दोनों साधनोंको पृथक्-पृथक् माननेवाले लोग बालक हैं; क्योंकि दोनोंकी साधनप्रणालीमें भेद होनेपर भी फलमें एकता होनेके कारण वस्तुतः दोनोंमें एकता ही है । दोनों निष्ठाओंका फल एक ही है, अतएव यह कहना उचित ही है कि एकमें पूर्णतया स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है। गीताके तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने दोनोंको ही आत्मसाक्षात्कारके स्वतन्त्र साधन माना है।

§ जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिकाको जाना है, तो वह यदि ठीक रास्तेसे होकर यहाँसे पूर्व-ही-पूर्व दिशामें चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा। वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधनप्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह दोनोंके ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मातक पहुँच ही जाता है।

× जो मुमुक्षु पुरुष यह मानता है कि 'समस्त दृश्य-जगत् स्वप्नके सदृश मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है; यह सारा प्रपञ्च मायासे उसी ब्रह्ममें अध्यारोपित है, वस्तुतः दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं;' परंतु उसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, उसमें राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादि दोष वर्तमान हैं, वह यदि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगका आचरण न करके केवल अपनी मान्यताके भरोसेपर ही सांख्ययोगके साधनमें लगना चाहेगा तो उसे 'सांख्यनिष्ठा' सहज ही नहीं प्राप्त हो सकेगी।

+ जो सब कुछ भगवान्का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञानुसार समस्त कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नाम, गुण और प्रभावसहित श्रीभगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता है, वह भक्तियुक्त कर्मयोगका साधक मुनि भगवान्की दयासे परमार्थज्ञानके द्वारा शीघ्र ही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है * और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी† तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ‡ ॥ ८-९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगीके साधनका स्वरूप बतलाकर अब दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें कर्मयोगियोंके साधनका फलसहित स्वरूप बतलाते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके§ और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ११ ॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं× ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है+ ॥ १२ ॥

---

* मन और इन्द्रियाँ यदि साधकके वशमें न हों तो उनकी स्वाभाविक ही विषयोंमें प्रवृत्ति होती है और अन्तःकरणमें जबतक राग-द्वेषादि मल रहता है, तबतक सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रहना कठिन होता है। अतएव जबतक मन और इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें न हो जायँ और अन्तःकरण पूर्णरूपसे परिशुद्ध न हो जाय, तबतक साधकको वास्तविक कर्मयोगी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये यह कहा गया है कि जिसमें ये सब बातें हों वही पूर्ण कर्मयोगी है और उसीको शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

† सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण मृगतृष्णाके जल या स्वप्नके संसारकी भाँति मायामय है, केवल एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सत्य है; उसीमें यह सारा प्रपञ्च मायासे अध्यारोपित है—इस प्रकार नित्यानित्य वस्तुके तत्त्वको समझकर जो पुरुष निरन्तर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहता है, वही तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी है।

‡ जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य समझता है कि स्वप्नकालमें स्वप्नके शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियोंद्वारा मुझे जिन क्रियाओंके होनेकी प्रतीति होती थी, वास्तवमें न तो वे क्रियाएँ होती थीं और न मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध ही था; वैसे ही तत्त्वको समझकर निर्विकार अक्रिय परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहनेवाले सांख्ययोगीको भी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन आदिके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको करते समय यही समझना चाहिये कि ये सब मायामय मन, प्राण और इन्द्रिय ही अपने-अपने मायामय विषयोंमें विचर रहे हैं। वास्तवमें न तो कुछ हो रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है।

§ ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमानुकूल अर्थोपार्जनसम्बन्धी और खान-पानादि शरीरनिर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबको ममताका सर्वथा त्याग करके, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, उन्हींके लिये उन्हींकी आज्ञा और इच्छाके अनुसार, जैसे वे करावें वैसे ही, कठपुतलीकी भाँति करना—परमात्मामें सब कर्मोंका अर्पण करना है।

× कर्मप्रधान कर्मयोगी मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंमें ममता नहीं रखते और लौकिक स्वार्थसे सर्वथा रहित होकर निष्कामभावसे ही समस्त कर्तव्यकर्म करते रहते हैं।

+ सकामभावसे किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार देव-मनुष्यादि योनियोंमें भटकना ही बन्धन है।

CC-0. In Public Domain. ...Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर* आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—जब कि आत्मा वास्तवमें कर्म करनेवाला भी नहीं है और इन्द्रियादिसे करवानेवाला भी नहीं है, तो फिर सब मनुष्य अपनेको कर्मोंका कर्ता क्यों मानते हैं और वे कर्मफलके भोगी क्यों होते हैं ? इसपर कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं;† किंतु स्वभाव ही बर्त रहा है‡ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—जो साधक समस्त कर्मोंको और कर्मफलोंको भगवान्के अर्पण करके कर्मफलसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर लेते हैं, उनके शुभाशुभ कर्मोंके फलके भागी क्या भगवान् होते हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है;§ किंतु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं× ॥ १५ ॥

---

* स्वरूपसे सब कर्मोंका त्याग कर देनेपर मनुष्यकी शरीरयात्रा भी नहीं चल सकती । इसलिये मनसे—विवेकबुद्धिके द्वारा कर्तृत्व-कारयितृत्वका त्याग करना ही सांख्ययोगीका त्याग है ।

† मनुष्योंका जो कर्मोंमें कर्तापन है, वह भगवान्का बनाया हुआ नहीं है । अज्ञानी मनुष्य अहंकारके वशमें होकर अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (गीता ३ । २७) । मनुष्योंके कर्मोंकी रचना भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि अमुक शुभ या अशुभ कर्म अमुक मनुष्यको करना पड़ेगा, ऐसी रचना भगवान् नहीं करते; क्योंकि ऐसी रचना यदि भगवान् कर दें तो विधि-निषेधशास्त्र ही व्यर्थ हो जाय—उसकी कोई सार्थकता ही नहीं रहे । कर्मफलके संयोगकी रचना भी भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि कर्मोंके साथ सम्बन्ध मनुष्योंका ही अज्ञानवश जोड़ा हुआ है । कोई तो आसक्तिवश उनका कर्ता बनकर और कोई कर्मफलमें आसक्त होकर अपना सम्बन्ध कर्मोंके साथ जोड़ लेते हैं ।

यदि इन तीनोंकी रचना भगवान्की की हुई होती तो मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट ही नहीं सकता, उसके उद्धारका कोई उपाय ही नहीं रह जाता । अतः साधक मनुष्यको चाहिये कि कर्मोंका कर्तापन पूर्वोक्त प्रकारसे प्रकृतिके अर्पण करके (गीता ५ । ८, ९) या भगवान्के अर्पण करके (गीता ५ । १०) अथवा कर्मोंके फल और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके (गीता ५ । १२) कर्मोंसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर ले (गीता ४ । २०) । यही सब भाव दिखलानेके लिये यह कहा है कि परमेश्वर मनुष्योंके कर्तापन, कर्म और कर्मफलकी रचना नहीं करते ।

‡ इस कथनका यह अभिप्राय है कि सत्त्व, रज और तम तीनों गुण, राग-द्वेष आदि समस्त विकार, शुभाशुभ कर्म और उनके संस्कार, इन सबके रूपमें परिणत हुई प्रकृति अर्थात् स्वभाव ही सब कुछ करता है । प्राकृत जीवोंके साथ इसका अनादिसिद्ध संयोग है । इसीसे उनमें कर्तृत्वभाव उत्पन्न हो रहा है अर्थात् अहंकारसे मोहित होकर वे अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (गीता ३ । २७) तथा इसीसे कर्म और कर्मफलसे भी उनका सम्बन्ध हो जाता है और वे उनके बन्धनमें पड़ जाते हैं । वास्तवमें आत्माका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।

§ सबके हृदयमें रहनेवाले (गीता १३ । १७; १५ । १५; १८ । ६१) और सम्पूर्ण जगत्का अपने संकल्पद्वारा नियमन करनेवाले सर्वशक्तिमान् सगुण निराकार परमेश्वर किसीके पुण्य-पापोंको ग्रहण नहीं करते । यद्यपि समस्त कर्म उन्हींकी शक्तिसे मनुष्योंद्वारा किये जाते हैं, सबको शक्ति, बुद्धि और इन्द्रियाँ आदि उनके कर्मानुसार वे ही प्रदान करते हैं; तथापि वे उनके द्वारा किये हुए कर्मोंको ग्रहण नहीं करते अर्थात् स्वयं उन कर्मोंके फलके भागी नहीं बनते ।

× यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि वास्तवमें मनुष्योंका या परमेश्वरका कर्मोंसे और उनके फलसे सम्बन्ध नहीं है तो फिर संसारमें जो मनुष्य यह समझते हैं कि 'अमुक कर्म मैंने किया है', 'यह मेरा कर्म है', 'मुझे इसका फल मिलेगा', यह क्या बात है ? इसी शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं कि अनादिसिद्ध अज्ञानद्वारा सब जीवोंका यथार्थ ज्ञान ढका हुआ है । इसीलिये वे अपने और परमेश्वरके स्वरूपको तथा कर्मके तत्त्वको न जाननेके कारण अपनेमें और ईश्वरमें कर्ता, कर्म और कर्मफलके सम्बन्धकी कल्पना करके मोहित हो रहे हैं ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

परंतु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है* ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, यह बात संक्षेपमें कहकर अब छब्बीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त होनेके साधन तथा परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंके लक्षण, आचरण, महत्त्व और स्थितिका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले यहाँ ज्ञानयोगके एकान्त साधनद्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है,† जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है‡ और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है,§ ऐसे तत्परायण पुरुष× ज्ञानके द्वारा पापरहित+होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं÷ ॥ १७ ॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैंऽ ॥ १८ ॥

---

* जिस प्रकार सूर्य अन्धकारका सर्वथा नाश करके दृश्यमात्रको प्रकाशित कर देता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञान भी अज्ञानका सर्वथा नाश करके परमात्माके स्वरूपको भलीभाँति प्रकाशित कर देता है। जिनको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वे कभी, किसी भी अवस्थामें मोहित नहीं होते।

† सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का अभ्यास करनेवालेको चाहिये कि आचार्य और शास्त्रके उपदेशसे सम्पूर्ण जगत्को मायामय और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही सत्य वस्तु समझकर तथा सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंके चिन्तनको सर्वथा छोड़कर, मनको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल स्थित करनेके लिये उनके आनन्दमय स्वरूपका चिन्तन करे। बार-बार आनन्दकी आवृत्ति करता हुआ ऐसी धारणा करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अनन्त आनन्द, सम आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, चिन्मय आनन्द, एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न अन्य कोई वस्तु ही नहीं है—इस प्रकार निरन्तर मनन करते-करते सच्चिदानन्दघन परमात्मामें मनका अभिन्नभावसे निश्चल हो जाना मनका तद्रूप होना है।

‡ उपर्युक्त प्रकारसे मनके तद्रूप हो जानेपर बुद्धिमें सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका प्रत्यक्षके सदृश निश्चय हो जाता है, उस निश्चयके अनुसार निदिध्यासन (ध्यान) करते-करते जो बुद्धिकी भिन्न सत्ता न रहकर उसका सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकाकार हो जाना है, वही बुद्धिका तद्रूप हो जाना है।

§ मन-बुद्धिके परमात्मामें एकाकार हो जानेके बाद साधककी दृष्टिसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जाना एवं ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटीका अभाव होकर केवलमात्र एक वस्तु सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही रह जाना तन्निष्ठ होना अर्थात् परमात्मामें एकीभावसे स्थित होना है।

× उपर्युक्त प्रकारसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जानेपर जब परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, तब मन, बुद्धि, प्राण आदि सब कुछ परमात्मरूप ही हो जाते हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेना ही तत्परायण हो जाना है।

+ उपर्युक्त प्रकारके साधनसे प्राप्त यथार्थ ज्ञानके द्वारा जिनके मल, विक्षेप और आवरणरूप समस्त पाप भलीभाँति नष्ट हो गये हैं, जिनमें उन पापोंका लेशमात्र भी नहीं रहा है, जो सर्वथा पापरहित हो गये हैं, वे 'ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए पुरुष' हैं।

÷ जिस पदको प्राप्त होकर योगी पुनः नहीं लौटता, जिसको सोलहवें श्लोकमें 'तत्परम्' के नामसे कहा है, गीतामें जिसका वर्णन कहीं 'अक्षय सुख', कहीं 'निर्वाण ब्रह्म', कहीं 'उत्तम सुख', कहीं 'परम गति', कहीं 'परमधाम', कहीं 'अव्ययपद' और कहीं 'दिव्य परमपुरुष' के नामसे आया है, उस यथार्थ ज्ञानके फलरूप परमात्माको प्राप्त होना ही अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना है।

ऽ तत्त्वज्ञानी सिद्ध पुरुषोंका विषमभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उनकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये उनका सर्वत्र समभाव हो जाता है। इसी बातको समझानेके लिये मनुष्योंमें उत्तम-से-उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मण, नीच-से-नीच चाण्डाल एवं पशुओंमें उत्तम गौ, मध्यम हाथी और नीच-से-नीच [illegible] उदाहरण देकर उनके समत्वका दिग्दर्शन कराया गया है। इन पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें विषमता सभीको

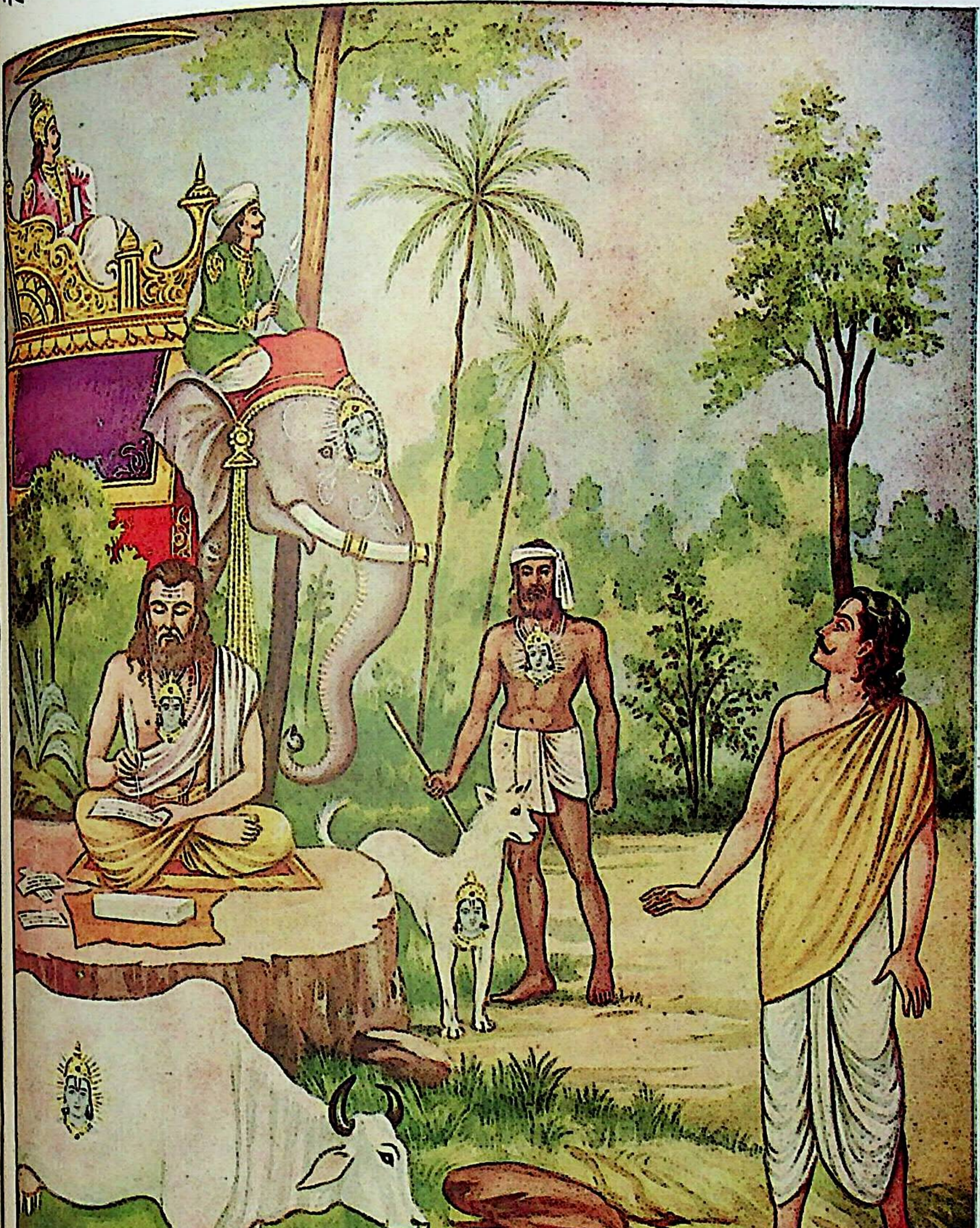

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (गीता ५ । १८)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया अर्थात् वे सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटकर जीवन्मुक्त हो गये; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं* ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो,† वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक‡ आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है;§ तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित× पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है+ ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं

पड़ती है। जैसे गौका दूध सभी पीते हैं, पर कुतियाका दूध कोई भी मनुष्य नहीं पीता। वैसे ही हाथीपर सवारी की जा सकती है, कुत्तेपर नहीं की जा सकती। जो वस्तु शरीरनिर्वाहार्थ पशुओंके लिये उपयोगी होती है, वह मनुष्योंके लिये नहीं हो सकती। श्रेष्ठ ब्राह्मणके पूजन-सत्कारादि करनेकी शास्त्रोंकी आज्ञा है, चाण्डालके नहीं। अतः इनका उदाहरण देकर भगवान्‌ने यह बात समझायी है कि जिनमें व्यावहारिक विषमता अनिवार्य है, उनमें भी ज्ञानी पुरुषोंका समभाव ही रहता है। कभी किसी भी कारणसे कहीं भी उनमें विषमभाव नहीं होता।

जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ और पैर आदि अङ्गोंके साथ भी बर्तावमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिके सदृश भेद रखता है, जो काम मस्तक और मुखसे लेता है, वह हाथ और पैरोंसे नहीं लेता; जो हाथ-पैरोंका काम है, वह सिरसे नहीं लेता और सब अङ्गोंके आदर, मान एवं शौचादिमें भी भेद रखता है, तथापि उनमें आत्मभाव—अपनापन समान होनेके कारण वह सभी अङ्गोंके सुख-दुःखका अनुभव समानभावसे ही करता है और सारे शरीरमें उसका प्रेम एक-सा ही रहता है, और आत्मभावकी दृष्टिसे कहीं विषमता नहीं रहती; वैसे ही तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो जानेके कारण उसकी दृष्टिसे व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहनेपर भी उसका आत्मभाव और प्रेम सर्वत्र सम रहता है।

* तत्त्वज्ञानी तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। अतः उसके राग, द्वेष, मोह, ममता, अहंकार आदि समस्त दुर्गुणोंका और विषमभावका सर्वथा नाश होकर उसकी स्थिति समभावमें हो जाती है। समभाव ब्रह्मका ही स्वरूप है; इसलिये जिनका मन समभावमें स्थित है, वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

† जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल होता है, उसे लोग 'प्रिय' कहते हैं; उन अनुकूल पदार्थोंका संयोग होनेपर वह हर्षित नहीं होता। इसी प्रकार जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल होता है, उसे लोग 'अप्रिय' कहते हैं; उन प्रतिकूल पदार्थोंका संयोग होनेपर भी वह उद्विग्न यानी दुखी नहीं होता।

‡ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि जो इन्द्रियोंके विषय हैं, उनको 'बाह्य-स्पर्श' कहते हैं; जिस पुरुषने विवेकके द्वारा अपने मनसे उनकी आसक्तिको बिल्कुल नष्ट कर डाला है, जिसका समस्त भोगोंमें पूर्ण वैराग्य है और जिसकी उनमें उपरति हो गयी है, वह पुरुष बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला है।

§ इन्द्रियोंके भोगोंको ही सुखरूप माननेवाले मनुष्यको यह ध्यानजनित सुख नहीं मिल सकता। बाहरके भोगोंमें वस्तुतः सुख है ही नहीं; सुखका केवल आभासमात्र है। उसकी अपेक्षा वैराग्यका सुख कहीं बढ़कर है और वैराग्यसुखकी अपेक्षा भी उपरतिका सुख तो बहुत ऊँचा है; परंतु परमात्माके ध्यानमें अटल स्थिति प्राप्त होनेपर जो सुख प्राप्त होता है, वह तो इन सबसे बढ़कर है। ऐसे सुखको प्राप्त होना ही आत्मामें स्थित आनन्दको पाना है।

× उपर्युक्त प्रकारसे जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंमें आसक्तिरहित होकर उपरतिको प्राप्त हो गया है तथा परमात्माके ध्यानकी अटल स्थितिसे उत्पन्न महान् सुखका अनुभव करता है, उसे परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित कहते हैं।

+ सदा एकरस रहनेवाला परमानन्दस्वरूप अविनाशी परमात्मा ही 'अक्षय सुख' है और नित्य-निरन्तर ध्यान करते-करते उस परमात्माको जो अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, यही उसका अनुभव करना है।

तो भी दुःखके ही हेतु हैं* और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता† ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही‡ काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, § वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ॥ २

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे बाह्य विषयभोगोंको क्षणिक दुःखोंका कारण समझकर तथा आसक्तिका त्याग करके जो काम-क्रोध विजय प्राप्त कर चुका है, अब ऐसे सांख्ययोगीकी अन्तिम स्थिति फलसहित वर्णन किया जाता है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है,× आत्मामें

---

* जैसे पतंग अज्ञानवश परिणाम न सोचकर दीपककी लौको सुखका कारण समझते हैं और उसे प्राप्त करनेके लिये उड़-उड़कर उसकी ओर जाते तथा उसमें पड़कर भयानक ताप सहते और अपनेको दग्ध कर डालते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य भोगोंको सुखके कारण समझकर तथा उनमें आसक्त होकर उन्हें भोगनेकी चेष्टा करते हैं और परिणाममें महान् दुःखोंको प्राप्त होते हैं। विषयोंको सुखके हेतु समझकर उन्हें भोगनेसे उनमें आसक्ति बढ़ती है, आसक्तिसे काम-क्रोधादि अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है और फिर उनसे भाँति-भाँतिके दुर्गुण और दुराचार आ-आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका जीवन पापमय हो जाता है और उसके फलस्वरूप उन्हें इस लोक और परलोकमें नाना प्रकारके भयानक ताप और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

विषयभोगके समय मनुष्य भ्रमवश जिन स्त्री-प्रसंगादि भोगोंको सुखका कारण समझता है, वे ही परिणाममें उसके बल, वीर्य, आयु तथा मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी शक्तिका क्षय करके और शास्त्रविरुद्ध होनेपर तो परलोकमें भीषण नरकयन्त्रणादिकी प्राप्ति कराकर महान् दुःखके हेतु बन जाते हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि अज्ञानी मनुष्य जब दूसरेके पास अपनेसे अधिक भोग-सामग्री देखता है, तब उसके मनमें ईर्ष्याकी आग जल उठती है और वह उससे जलने लगता है।

सुखरूप समझकर भोगे हुए विषय कहीं प्रारब्धवश नष्ट हो जाते हैं तो उनके संस्कार बार-बार उनकी स्मृति कराते हैं और मनुष्य उन्हें याद कर-करके शोकमग्न होता, रोता-बिलखता और पछताता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले भोग वास्तवमें सर्वथा दुःखके ही कारण हैं, उनमें सुखका लेश भी नहीं है। अज्ञानवश भ्रमसे ही वे सुखरूप प्रतीत होते हैं (गीता १८। ३८)।

† विषय-भोग वास्तवमें अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप ही हैं, परंतु विवेकहीन अज्ञानी पुरुष इस बातको न जान मानकर उनमें रमता है और भाँति-भाँतिके क्लेश भोगता है; किंतु बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनकी अनित्यता और क्षण-भङ्गुरतापर विचार करता है तथा उन्हें काम-क्रोध, पाप-ताप आदि अनर्थोंमें हेतु समझता है और उनकी आसक्तिके त्यागको अक्षय सुखकी प्राप्तिमें कारण समझता है, इसलिये वह उनमें नहीं रमता।

‡ इससे यह बतलाया गया है कि शरीर नाशवान् है—इसका वियोग होना निश्चित है और यह भी पता नहीं कि यह किस क्षणमें नष्ट हो जायगा; इसलिये मृत्युकाल उपस्थित होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये।

§ (पुरुषके लिये) स्त्री, (स्त्रीके लिये) पुरुष, (दोनोंहीके लिये) पुत्र, धन, मकान या स्वर्गादि जो कुछ भी देखे-सुने हुए मन और इन्द्रियोंके विषय हैं, उनमें आसक्ति हो जानेके कारण उनको प्राप्त करनेकी जो इच्छा होती है उसका नाम 'काम' है और उसके कारण अन्तःकरणमें होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह कामसे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इसी प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके प्रतिकूल विषयोंकी प्राप्ति होनेपर अथवा इष्ट-प्राप्तिमें इच्छापूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर उस स्थितिके कारणभूत पदार्थ या जीवोंके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होकर अन्तःकरणमें जो 'उत्तेजना'का भाव आता है, उसका नाम 'क्रोध' है और उस क्रोधके कारण होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इन वेगोंको शान्तिपूर्वक सहन करनेकी अर्थात् इन्हें कार्यान्वित न होने देनेकी शक्ति प्राप्त कर लेना ही इनको सहन करनेमें समर्थ होना है।

× यहाँ 'अन्तः' शब्द सम्पूर्ण जगत्के अन्तःस्थित परमात्माका वाचक है, अन्तःकरणका नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि जो पुरुष बाह्य विषयभोगरूप सांसारिक सुखोंको स्वप्नकी भाँति अनित्य समझ लेनेके कारण उनको सुख नहीं मानता किंतु इन सबके अन्तःस्थित परम आनन्दस्वरूप परमात्मामें ही 'सुख' मानता है, वही 'अन्तःसुख' अर्थात् अन्तरात्मामें ही सुखवाला है।

करनेवाला है* तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है,† सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको सांख्ययोगी‡ शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है§ ॥ २४ ॥

न्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
न्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं,× जिनके सब संशय के द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥

मक्रोधवियुक्तानां यतीनां[1] यतचेतसाम् ।
भितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं+ ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों साधनोंद्वारा परमात्माकी प्राप्ति और परमात्माको प्राप्त महापुरुषोंके लक्षण कहे गये। उक्त दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये वैराग्यपूर्वक मन-इन्द्रियोंको वशमें करके ध्यानयोगका साधन करना उपयोगी है; अतः अब संक्षेपमें फलसहित ध्यानयोगका वर्णन करते हैं—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाहरके विषयभोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर÷ और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करकेऽ

---

* जो बाह्य विषय-भोगोंमें सत्ता और सुख-बुद्धि न रहनेके कारण उनमें रमण नहीं करता, इन सबमें आसक्तिरहित केवल परमात्मामें ही रमण करता है अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्माका ही निरन्तर अभिन्नभावसे चिन्तन करता है, वह 'अन्तराराम' अर्थात् आत्मामें ही रमण करनेवाला कहलाता है ।

† परमात्मा समस्त ज्योतियोंकी भी परम ज्योति है (गीता १३ । १७)। सम्पूर्ण जगत् उसीके प्रकाशसे प्रकाशित है। जो निरन्तर अभिन्नभावसे ऐसे परम ज्ञानस्वरूप परमात्माका अनुभव करता हुआ उसीमें स्थित रहता है, जिसकी दृष्टिमें विज्ञानानन्दस्वरूप परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य दृश्य वस्तुकी भिन्न सत्ता ही नहीं रही है, वही ज्योति' अर्थात् आत्मामें ही ज्ञानवाला है ।

‡ सांख्ययोगका साधन करनेवाला योगी अहंकार, ममता और काम-क्रोधादि समस्त अवगुणोंका त्याग करके निरन्तर भावसे परमात्माका चिन्तन करते-करते जब ब्रह्मरूप हो जाता है—उसका ब्रह्मके साथ किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं तब इस प्रकारकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त सांख्ययोगी 'ब्रह्मभूत' अर्थात् सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ को प्राप्त कहलाता है ।

§ 'शान्त ब्रह्म (ब्रह्मनिर्वाण)' सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प एवं शान्त परमात्माका वाचक है और भावसे प्रत्यक्ष हो जाना ही उसकी प्राप्ति है । सांख्ययोगीकी जिस अन्तिम अवस्थाका 'ब्रह्मभूत' शब्दसे निर्देश किया है, यह उसीका फल है । श्रुतिमें भी कहा है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उप० ४ । ४ । ६) अर्थात् 'वह ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है ।' इसीको परम शान्तिकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति और की प्राप्ति कहते हैं ।

× इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार, राग-द्वेषादि दोष तथा उनकी वृत्तियोंके पुञ्ज, जो मनुष्यके करणमें इकट्ठे रहते हैं, बन्धनमें हेतु होनेके कारण सभी कल्मष—पाप हैं । परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इन नाश हो जाता है । फिर उस पुरुषके अन्तःकरणमें दोषका लेशमात्र भी नहीं रहता ।

१. यहाँ 'कामक्रोधवियुक्तानाम्' से मलदोषका, 'यतचेतसाम्' से विक्षेपदोषका और 'विदितात्मनाम्' से आवरण-का सर्वथा अभाव दिखलाकर परमात्माके पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी गयी है । इसलिये 'यति' शब्दका अर्थ यहाँ सांख्य-के द्वारा परमात्माको प्राप्त आत्मसंयमी तत्त्वज्ञानी मानना उचित है ।

+ परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महापुरुषोंके अनुभवमें ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, यहाँ-वहाँ, सर्वत्र नित्य-निरन्तर एक नन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान हैं—एक अद्वितीय परमात्माके सिवा अन्य किसी भी पदार्थकी सत्ता ही नहीं इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि उनके लिये सभी ओरसे परमात्मा ही परिपूर्ण हैं ।

÷ विवेक और वैराग्यके बलसे सम्पूर्ण बाह्यविषयोंको क्षणभङ्गुर, अनित्य, दुःखमय और दुःखोंके कारण समझकर संस्काररूप समस्त चित्रोंको अन्तःकरणसे निकाल देना—उनकी स्मृतिको सर्वथा नष्ट कर देना ही बाहरके विषयोंको निकाल देना है ।

ऽ नेत्रोंके द्वारा चारों ओर देखते रहनेसे तो ध्यानमें स्वाभाविक ही विघ्न—विक्षेप होता है और उन्हें बंद कर आलस्य और निद्राके वश हो जानेका भय है । इसीलिये नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थिर करनेको कहा गया है ।

तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके,* जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं†—ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि‡ इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है§ ॥ २७-२८ ॥

सम्बन्ध—जो मनुष्य इस प्रकार मन, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके कर्मयोग, सांख्ययोग या ध्यानयोगका साधन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं समझता हो, ऐसे साधकके लिये सुगमतासे परमपदकी प्राप्ति करानेवाले भक्तियोगका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवा सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर+ तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद्÷ अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता हैऽ ॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसं कर्मसंन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥ भीष्मपर्वमें उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

---

* प्राण और अपानकी स्वाभाविक गति विषम है। कभी तो वे वाम नासिकामें विचरते हैं और कभी दक्षिण नासिका वाममें चलनेको इडानाडीमें चलना और दक्षिणमें चलनेको पिङ्गलामें चलना कहते हैं। ऐसी अवस्थामें मनुष्यका चित्त चञ्चल र है। इस प्रकार विषमभावसे विचरनेवाले प्राण और अपानकी गतिको दोनों नासिकाओंमें समानभावसे कर देना उनको सम क है। यही उनका सुषुम्णामें चलना है। सुषुम्णा नाडीपर चलते समय प्राण और अपानकी गति बहुत ही सूक्ष्म और शान्त र है। तब मनकी चञ्चलता और अशान्ति अपने-आप ही नष्ट हो जाती है और वह सहज ही परमात्माके ध्यानमें लग जाता

† इन्द्रियाँ चाहे जब, चाहे जिस विषयमें स्वच्छन्द चली जाती हैं, मन सदा चञ्चल रहता है और अपनी आद छोड़ना ही नहीं चाहता, एवं बुद्धि एक परम निश्चयपर अटल नहीं रहती—यही इनका स्वतन्त्र या उच्छृङ्खल हो जाना है विवेक और वैराग्यपूर्वक अभ्यासद्वारा इन्हें सुशृङ्खल, आज्ञाकारी और अन्तर्मुखी या भगवन्निष्ठ बना लेना ही इनको जीतना

‡ 'मुनि' मननशीलको कहते हैं, जो पुरुष ध्यान-कालकी भाँति व्यवहारकालमें भी परमात्माकी सर्वव्यापक दृढ निश्चय होनेके कारण सदा परमात्माका ही मनन करता रहता है, वही 'मुनि' है।

§ जो महापुरुष उपर्युक्त साधनोंद्वारा इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह ध्यानकालमें व्यवहारकालमें, शरीर रहते या शरीर छूट जानेपर, सभी अवस्थाओंमें सदा मुक्त ही है—संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्व छूटकर परमात्माको प्राप्त हो चुका है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

× अहिंसा, सत्य आदि धर्मोंका पालन, देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनोंका सेवन-पूजन, दीन-दुखी गरीब और पीड़ित जीवोंकी स्नेह और आदरयुक्त सेवा और उनके दुःखनाशके लिये किये जानेवाले उपर्युक्त साधन यज्ञ, दान आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सभीका समावेश 'यज्ञ' और 'तप' शब्दोंमें समझना चाहिये। भगवान् सब आत्मा हैं (गीता १० । २०), अतएव देवता, ब्राह्मण, दीन-दुखी आदिके रूपमें स्थित होकर भगवान् ही समस्त सेवा-पूज ग्रहण कर रहे हैं। इसलिये वे ही समस्त यज्ञ और तपोंके भोक्ता हैं (गीता ९ । २४)। इस प्रकार समझना ही भगवा 'यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला' समझना है।

+ इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज आदि जितने भी लोकपाल हैं तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने-अपने ब्रह्माण्ड नियन्त्रण करनेवाले जितने भी ईश्वर हैं, भगवान् उन सभीके स्वामी और महान् ईश्वर हैं। इसीसे श्रुतिमें कहा है 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' 'उन ईश्वरोंके भी परम महेश्वरको' (श्वेताश्वतर उप० ६। ७)। अपनी अनिर्वचनीय शक्तिद्वारा भगवान् अपनी लीलासे ही सम्पूर्ण अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको यथा नियन्त्रणमें रखते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सबसे ऊपर ही रहते हैं। इस प्रकार भगवान्को सर्वशक्तिमान्, सर्वनि सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वरेश्वर समझना ही उन्हें 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना है।

÷ भगवान् स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबके हितकी व्यवस्था करते हैं और बार-बार अवतीर्ण हो नाना प्रकारके ऐसे विचित्र चरित्र करते हैं, जिन्हें गा-गाकर ही लोग तर जाते हैं। उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्का भरा रहता है। भगवान् जिनको मारते या दण्ड देते हैं, उनपर भी दया ही करते हैं, उनका कोई भी विधान दया प्रेमसे रहित नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं।

ऽ जो पुरुष इस बातको जान लेता है और विश्वास कर लेता है कि 'भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कु भी करते हैं, मेरे मङ्गलके लिये ही करते हैं', वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको दयामय परमेश्वर प्रेम और दयासे ओतप्रोत मङ्गलविधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। इसलिये उसे अटल शान्ति मिल जाती है। उसकी शान्तिमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां षष्ठोऽध्यायः)

निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धारके लिये प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन

सम्बन्ध—पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने 'कर्मसंन्यास' (सांख्ययोग) और 'कर्मयोग'—इन दोनोंमेंसे कौन-सा एक साधन मेरे लिये सुनिश्चित कल्याणप्रद है?—यह बतलानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की थी। इसपर भगवान्‌ने दोनों साधनोंको कल्याणप्रद बतलाया और फलमें दोनोंकी समानता होनेपर भी साधनमें सुगमता होनेके कारण 'कर्मसंन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग' की श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया। तदनन्तर दोनों साधनोंके स्वरूप, उनकी विधि और उनके फलका भलीभाँति निरूपण करके दोनोंके लिये ही अत्यन्त उपयोगी एवं परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान उपाय समझकर संक्षेपमें ध्यानयोगका भी वर्णन किया; परंतु दोनोंमेंसे कौन-सा साधन करना चाहिये, इस बातको न तो अर्जुनको स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा ही की गयी और न ध्यानयोगका ही अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित विस्तारसे वर्णन हुआ। इसलिये अब ध्यानयोगका अङ्गोंसहित विस्तृत वर्णन करनेके लिये छठे अध्यायका आरम्भ करते हुए सबसे पहले अर्जुनको भक्तियुक्त कर्मयोगमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर* करने योग्य कर्म करता है,† वह संन्यासी तथा योगी है‡ और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है§ तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है× ॥ १॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेवालेको संन्यासी और योगी बतलाया। उसपर यह शङ्का हो सकती है कि यदि 'संन्यास' और 'योग' दोनों भिन्न-भिन्न स्थिति हैं तो उपर्युक्त साधक दोनोंसे सम्पन्न कैसे हो सकता है; अतः इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये दूसरे श्लोकमें 'संन्यास' और 'योग' की एकताका प्रतिपादन करते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

हे अर्जुन! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू

---

* स्त्री, पुत्र, धन, मान और बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गसुखादि परलोकके जितने भी भोग हैं, उन सबका समावेश 'कर्मफल' में कर लेना चाहिये। साधारण मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी फलका आश्रय लेकर ही करता है। इसलिये उसके कर्म उसे बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें गिरानेवाले होते हैं। अतएव इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको अनित्य, क्षणभङ्गुर और दुःखोंमें हेतु समझकर समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और उनकी कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही कर्मफलके आश्रयका त्याग करना है।

† अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान, तप, शरीरनिर्वाह-सम्बन्धी तथा लोकसेवा आदिके लिये किये जानेवाले शुभ कर्म हैं, वे सभी करनेयोग्य कर्म हैं। उन सबको यथाविधि तथा यथायोग्य आसक्तिरहित होकर अपनी शक्तिके अनुसार कर्तव्यबुद्धिसे उत्साहपूर्वक सदा करते रहना ही उनका करना है।

‡ ऐसा कर्मयोगी पुरुष समस्त संकल्पोंका त्यागी होता है और उस यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाता है जो सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही निष्ठाओंका चरम फल है, इसलिये वह 'संन्यासित्व' और 'योगित्व' दोनों ही गुणोंसे युक्त माना जाता है।

§ जिसने अग्निको त्यागकर संन्यास-आश्रमका तो ग्रहण कर लिया है; परंतु जो ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के लक्षणोंसे युक्त नहीं है, वह वस्तुतः संन्यासी नहीं है, क्योंकि उसने केवल अग्निका ही त्याग किया है, समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग तथा ममता, आसक्ति और देहाभिमानका त्याग नहीं किया।

× जो सब क्रियाओंका त्याग करके ध्यान लगाकर तो बैठ गया है, परंतु जिसके अन्तःकरणमें अहंता, ममता, राग, द्वेष, कामना आदि दोष वर्तमान हैं, वह भी वास्तवमें योगी नहीं है; क्योंकि उसने भी केवल बाहरी क्रियाओंका ही त्याग किया है, ममता, अभिमान, आसक्ति, कामना और क्रोध आदिका त्याग नहीं किया।

योग जान;* क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है† और योगारूढ हो जानेपर उस योगारूढ पुरुषका जो सर्वसंकल्पोंका अभाव है‡ वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी§ पु योगारूढ कहा जाता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—परमपदकी प्राप्तिमें हेतुरूप योगारूढ-अवस्था वर्णन करके अब उसे प्राप्त करनेके लिये उत्साहित करते हुए भग मनुष्यका कर्तव्य बतलाते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे× औ अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है+ ॥ ५ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

---

* यहाँ संन्यास शब्दका अर्थ है–शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका भाव मिटकर केवल परमात्मामें ही अभिन्न-भावसे स्थित हो जाना । यह सांख्ययोगकी पराकाष्ठा है तथा 'योग' शब्दका अर्थ है–ममता आसक्ति और कामनाके त्यागद्वारा होनेवाली 'कर्मयोग' की पराकाष्ठारूप नैष्कर्म्य-सिद्धि । दोनोंमें ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और सांख्ययोगी जिस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है, कर्मयोगी भी उसीको प्राप्त होता है । इस प्रकार दोनोंमें ही समस्त संकल्पोंका त्याग है और दोनोंका एक ही फल है; इसलिये दोनोंकी एकता की गयी है ।

† अपने वर्ण, आश्रम, अधिकार और स्थितिके अनुकूल जिस समय जो कर्तव्य-कर्म हों, फल और आसक्तिका त्याग करके उनका आचरण करना योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु है—इसीलिये गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भी कहा है कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य नैष्कर्म्य अर्थात् योगारूढ-अवस्थाको नहीं प्राप्त हो सकता ।

‡ मन वशमें होकर शान्त हो जानेपर ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव होता है । इसके अतिरिक्त कर्मोंका स्वरूपसे सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता । अतएव यहाँ 'शमः' का अर्थ सर्वसंकल्पोंका अभाव माना गया है ।

§ यहाँ 'संकल्पोंके त्याग' का अर्थ स्फुरणामात्रका सर्वथा त्याग नहीं है, यदि ऐसा माना जाय तो योगारूढ-अवस्था का वर्णन ही असम्भव हो जाय । इसके अतिरिक्त गीताके चौथे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि 'जिस महापुरुषके समस्त कर्म कामना और संकल्पके बिना ही भलीभाँति होते हैं, उसे पण्डित कहते हैं ।' और वहाँ जिस महा- पुरुषकी ऐसी प्रशंसा की गयी है, वह योगारूढ नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता । ऐसी अवस्थामें यह नहीं माना जा सकता कि संकल्परहित पुरुषके द्वारा कर्म नहीं होते । इससे यही सिद्ध होता है कि संकल्पोंके त्यागका अर्थ स्फुरणा या वृत्तिमात्रका त्याग नहीं है । ममता, आसक्ति और द्वेषपूर्वक जो सांसारिक विषयोंका चिन्तन किया जाता है, उसे 'संकल्प' कहते हैं । ऐसे संकल्पोंका पूर्णतया त्याग ही 'सर्वसंकल्पसंन्यास' है ।

× मानव-जीवनके दुर्लभ अवसरको व्यर्थ न खोकर कर्मयोग, सांख्ययोग तथा भक्तियोग आदि किसी भी साधनमें लगकर अपने जन्मको सफल बना लेना ही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है ।

राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-मोह आदि दोषोंमें फँसकर भाँति-भाँतिके दुष्कर्म करना और उनके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरके परमफल भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर पुनः शूकर-कूकरादि योनियोंमें जानेका कारण बनना अपनेको अधोगति- में ले जाना है ।

मनुष्यको कभी भी यह नहीं समझना चाहिये कि प्रारब्ध बुरा है, इसलिये मेरी उन्नति होगी ही नहीं; उसका उत्थान पतन प्रारब्धके अधीन नहीं है, उसीके हाथमें है । मनुष्य अपने स्वभाव और कर्मोंमें जितना ही अधिक सुधार कर लेता है, वह उतना ही उन्नत होता है । स्वभाव और कर्मोंका सुधार ही उन्नति या उत्थान है तथा इसके विपरीत स्वभाव और कर्मोंमें दोषोंका बढ़ना ही अवनति या पतन है ।

+ जो अपने उद्धारके लिये चेष्टा करता है, वह आप ही अपना मित्र है और जो इसके विपरीत करता है, वही अपना शत्रु है । इसलिये अपनेसे भिन्न दूसरा कोई भी अपना मित्र या शत्रु नहीं है ।

जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है,* उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है†॥ ६ ॥

सम्बन्ध—जिसने मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र क्यों है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये अब शरीर, इन्द्रिय और मनरूप आत्माको वशमें करनेका फल बतलाते हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो[1] विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्-प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य‡ और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला§ अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जितात्मा पुरुषको परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये, वह किस साधनसे परमात्माको शीघ्र प्राप्त कर सकता है, इसलिये ध्यानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः[2] ॥ १० ॥

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

---

* परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्य जिन साधनोंमें अपने शरीर, इन्द्रिय और मनको लगाना चाहे, उनमें जब वे अनायास ही लग जायँ और उनके लक्ष्यसे विपरीत मार्गकी ओर ताकें ही नहीं, तब समझना चाहिये कि ये वशमें हो चुके हैं।

† असंयमी मनुष्य स्वयं मन, इन्द्रिय आदिके वश होकर कुपथ्य करनेवाले रोगीकी भाँति अपने ही कल्याणसाधनके विपरीत आचरण करता है। वह अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिके कारण प्रमाद, आलस्य और विषय-भोगोंमें फँसकर पाप-कर्मोंके कठिन बन्धनमें पड़ जाता है एवं अपने-आपको बार-बार नरकादिमें डालकर और नाना [illegible] योनियोंमें भटकाकर अनन्तकालतक भीषण दुःख भोगनेके लिये बाध्य करता है। यही शत्रुकी भाँति शत्रुताका आचरण करना है।

[1] जो पुरुष तरह-तरहके बड़े-से-बड़े दुःखोंके आ पड़नेपर भी अपनी स्थितिसे तनिक भी विचलित नहीं होता, जिसके अन्तःकरणमें जरा भी विकार उत्पन्न नहीं होता और जो सदा-सर्वदा अचलभावसे परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं।

‡ सम्बन्ध और उपकार आदिकी अपेक्षा न करके बिना ही कारण स्वभावतः प्रेम और हित करनेवाले 'सुहृद्' कहलाते हैं तथा परस्पर प्रेम और एक दूसरेका हित करनेवाले 'मित्र' कहलाते हैं। किसी निमित्तसे बुरा करनेकी इच्छा या द्वेष करनेवाला 'वैरी' है और स्वभावसे ही प्रतिकूल आचरण करनेके कारण जो द्वेषका पात्र हो, वह 'द्वेष्य' कहलाता है। परस्पर झगड़ा करनेवालोंमें मेल करानेकी चेष्टा करनेवालेको और पक्षपात छोड़कर उनके हितके लिये न्याय करनेवालेको 'मध्यस्थ' कहते हैं तथा उनसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न रखनेवालेको 'उदासीन' कहते हैं।

§ उपर्युक्त अत्यन्त विलक्षण स्वभाववाले मित्र, वैरी, साधु और पापी आदिके आचरण, स्वभाव और व्यवहारके भेदका जिसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, जिसकी बुद्धिमें किसी समय, किसी भी परिस्थितिमें, किसी भी निमित्तसे राग-द्वेषपूर्वक भेदभाव नहीं आता, वही समबुद्धियुक्त पुरुष है।

[2] भोग-सामग्रीके संग्रहका नाम परिग्रह है, जो उससे रहित हो उसे 'अपरिग्रह' कहते हैं। वह यदि गृहस्थ हो तो किसी भी वस्तुका ममतापूर्वक संग्रह न रक्खे और यदि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी हो तो स्वरूपसे भी किसी प्रकारका शास्त्रप्रतिकूल संग्रह न करे। ऐसे पुरुष किसी भी आश्रमवाले हों 'अपरिग्रह' ही हैं।

शुद्ध भूमिमें,* जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके—॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर† अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ—॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित‡, भयरहित§ तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला× सावधान+ योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला÷ और मेरे परायणऽ होकर स्थित होवे ॥ १४ ॥

---

* ध्यानयोगका साधन करनेके लिये ऐसा स्थान होना चाहिये, जो स्वभावसे ही शुद्ध हो और झाड़-बुहारकर, लीप-पोतकर अथवा धो-पोंछकर स्वच्छ और निर्मल बना लिया गया हो। गङ्गा, यमुना या अन्य किसी पवित्र नदीका तट, पर्वतकी गुफा, देवालय, तीर्थस्थान अथवा बगीचे आदि, पवित्र वायुमण्डलयुक्त स्थानोंमेंसे जो सुगमतासे प्राप्त हो सकता हो और स्वच्छ, पवित्र तथा एकान्त हो—ध्यानयोगके लिये साधकको ऐसा ही कोई एक स्थान चुन लेना चाहिये।

† यहाँ जंघासे ऊपर और गलेसे नीचेके स्थानका नाम 'काया' है, गलेका नाम 'ग्रीवा' है और उससे ऊपरके अङ्गका नाम 'शिर' है। कमर या पेटको आगे-पीछे या दाहिने-बायें किसी ओर भी न झुकाना, अर्थात् रीढ़की हड्डीको सीधा रखना, गलेको भी किसी ओर न झुकाना और सिरको भी इधर-उधर न घुमाना—इस प्रकार तीनोंको एक सूतमें सीधा रखते हुए किसी भी अङ्गको जरा भी न हिलने-डुलने देना—यही इन सबको 'सम' और 'अचल' धारण करना है। ध्यानयोगके साधनमें निद्रा, आलस्य, विक्षेप एवं शीतोष्णादि द्वन्द्व विघ्न माने गये हैं। इन दोषोंसे बचनेका यह बहुत ही अच्छा उपाय है। काया, सिर और गलेको सीधा तथा नेत्रोंको खुला रखनेसे आलस्य और निद्राका आक्रमण नहीं हो सकता। नाककी नोकपर दृष्टि लगाकर इधर-उधर अन्य वस्तुओंको न देखनेसे बाह्य विक्षेपोंकी सम्भावना नहीं रहती और आसनके दृढ़ हो जानेसे शीतोष्णादि द्वन्द्वोंसे भी बाधा होनेका भय नहीं रहता; इसलिये ध्यानयोगका साधन करते समय इस प्रकार आसन लगाकर बैठना बहुत ही उपयोगी है।

‡ ब्रह्मचर्यका तात्त्विक अर्थ दूसरा होनेपर भी वीर्यधारण उसका एक प्रधान अर्थ है और यहाँ वीर्यधारण अर्थ ही प्रसङ्गानुकूल भी है। मनुष्यके शरीरमें वीर्य ही एक ऐसी अमूल्य वस्तु है, जिसका भलीभाँति संरक्षण किये बिना शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक—किसी प्रकारका भी बल न तो प्राप्त होता है और न उसका संचय ही होता है; इसीलिये ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित होनेके लिये कहा गया है।

§ ध्यान करते समय साधकको निर्भय रहना चाहिये। मनमें जरा भी भय रहेगा तो एकान्त और निर्जन स्थानमें स्वाभाविक ही चित्तमें विक्षेप हो जायगा। इसलिये साधकको उस समय मनमें यह दृढ़ सत्य धारणा कर लेनी चाहिये कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं और सर्वव्यापी होनेके कारण यहाँ भी सदा हैं ही, उनके रहते किसी बातका भय नहीं है। यदि कदाचित् प्रारब्धवश ध्यान करते-करते मृत्यु हो जाय तो उससे भी परिणाममें परम कल्याण ही होगा।

× ध्यान करते समय मनसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि दूषित वृत्तियोंको तथा सांसारिक संकल्प-विकल्पोंको सर्वथा दूर कर देना एवं वैराग्यके द्वारा मनको सर्वथा निर्मल और शान्त कर देना—यही 'प्रशान्तात्मा' होना है।

+ ध्यान करते समय साधकको निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदि विघ्नोंसे बचनेके लिये खूब सावधान रहना चाहिये। ऐसा न करनेसे मन और इन्द्रियाँ उसे धोखा देकर ध्यानमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित कर सकती हैं। इसी बातको दिखलानेके लिये 'युक्त' विशेषण दिया गया है।

÷ एक जगह न रुकना और रोकते-रोकते भी बलात्कारसे विषयोंमें चले जाना मनका स्वभाव है। इस मनको भलीभाँति रोके बिना ध्यानयोगका साधन नहीं बन सकता। इसलिये ध्यानयोगीको चाहिये कि वह ध्यान करते समय मनको बाह्य विषयोंसे भलीभाँति हटाकर परम हितैषी, परम सुहृद्, परम प्रेमास्पद परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर सम्पूर्ण जगत्से प्रेम हटाकर, एकमात्र उन्हींको अपना ध्येय बनावे और अनन्यभावसे चित्तको उन्हींमें लगानेका अभ्यास करे।

ऽ इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मुझको ही परम गति, परम ध्येय, परम आश्रय और परम महेश्वर तथा सबसे बढ़कर प्रेमास्पद मानकर निरन्तर मेरे ही आश्रित रहना और मुझीको अपना एकमात्र परम रक्षक, सहायक, स्वामी तथा जीवन, प्राण और सर्वस्व मानकर मेरे प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना—यही मेरे (भगवान्के) परायण होना है।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ* मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है† ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! यह योग‡ न तो बहुत खानेवालेका, न बिल्कुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है§ ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका,× कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका+ और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका÷ ही सिद्ध होता है ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए

---

* उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिके द्वारा निरन्तर तैलधाराकी भाँति अविच्छिन्नभावसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करना और उसमें अटलभावसे तन्मय हो जाना ही आत्माको परमेश्वरके स्वरूपमें लगाना है ।

† जिसे नैष्ठिकी शान्ति (गीता ५ । १२), शाश्वती शान्ति (गीता ९ । ३१) और परा शान्ति (गीता १८ । ६२) कहते हैं और जिसका परमेश्वरकी प्राप्ति, परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, परम गतिकी प्राप्ति आदि नामोंसे वर्णन किया जाता है, वह शान्ति अद्वितीय अनन्त आनन्दकी अवधि है और परम दयालु, परम सुहृद्, आनन्दनिधि, आनन्दस्वरूप भगवान्‌में सदा-निरन्तर अचल और अटलभावसे निवास करती है । ध्यानयोगका साधक उसी शान्तिको प्राप्त करता है ।

‡ 'योग' शब्द उस 'ध्यानयोग' का वाचक है, जो सम्पूर्ण दुःखोंका आत्यन्तिक नाश करके परमानन्द और परम शान्तिके समुद्र परमेश्वरकी प्राप्ति करा देनेवाला है ।

§ उचित मात्रामें नींद ली जाय तो उससे थकावट दूर होकर शरीरमें ताजगी आती है; परंतु वही नींद यदि आवश्यकतासे अधिक ली जाय तो उससे तमोगुण बढ़ जाता है, जिससे अनवरत आलस्य घेरे रहता है और स्थिर होकर बैठनेमें कष्ट मालूम होता है । इसके अतिरिक्त अधिक सोनेमें मानवजीवनका अमूल्य समय भी नष्ट होता है । इसी प्रकार सदा जागते रहनेसे थकावट बनी रहती है । कभी ताजगी नहीं आती । शरीर, इन्द्रिय और प्राण शिथिल हो जाते हैं, शरीरमें कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

× खाने-पीनेकी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिये जो अपने वर्ण और आश्रमधर्मके अनुसार सत्य और न्यायके द्वारा प्राप्त हों, धर्मानुकूल, सात्त्विक हों (गीता १७ । ८), रजोगुण और तमोगुणको बढ़ानेवाली न हों, पवित्र हों, अपनी प्रकृति, स्थिति और रुचिके प्रतिकूल न हों तथा योगसाधनमें सहायता देनेवाली हों । उनका परिमाण भी उतना ही परिमित होना चाहिये, जितना अपनी शक्ति, स्वास्थ्य और साधनकी दृष्टिसे हितकर एवं आवश्यक हो । इसी प्रकार घूमना-फिरना भी उतना ही चाहिये, जितना अपने लिये आवश्यक और हितकर हो ।

+ वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और वातावरण आदिके अनुसार जिसके लिये शास्त्रमें जो कर्तव्यकर्म बतलाये गये हैं, उन्हींका नाम कर्म है । उन कर्मोंका उचित स्वरूपमें और उचित मात्रामें यथायोग्य सेवन करना ही कर्मोंमें युक्त चेष्टा करना है । जैसे ईश्वर-भक्ति, देवपूजन, दीन-दुखियोंकी सेवा, माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनोंका पूजन, यज्ञ, दान, तप तथा जीविकासम्बन्धी कर्म यानी शिक्षा, पठन-पाठन-व्यापार आदि कर्म और शौच-स्नानादि क्रियाएँ—ये सभी कर्म वे ही करने चाहिये, जो शास्त्रविहित हों, साधुसम्मत हों, किसीका अहित करनेवाले न हों, स्वावलम्बनमें सहायक हों, किसीको कष्ट पहुँचाने या किसीपर भार डालनेवाले न हों और ध्यानयोगमें सहायक हों तथा इन कर्मोंका परिमाण भी उतना ही होना चाहिये, जितना जिसके लिये आवश्यक हो, जिससे न्यायपूर्वक शरीरनिर्वाह होता रहे और ध्यानयोगके लिये भी आवश्यकतानुसार पर्याप्त समय मिल जाय । ऐसा करनेसे शरीर, इन्द्रिय और मन स्वस्थ रहते हैं और ध्यानयोग सुगमतासे सिद्ध होता है ।

÷ दिनके समय जागते रहना, रातके समय पहले तथा पिछले पहरमें जागना और बीचके दो पहरोंमें सोना—साधारणतया इसीको उचित सोना-जागना माना जाता है ।

योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है* ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषके और उसके जीते हुए चित्तके लक्षण बतला देनेके बाद अब तीन श्लोकोंमें ध्यानयोगद्वारा सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है,† और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ ‡ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है;§ उसको जि अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उसे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता× और परमा प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे चलायमान नहीं होता;+ ॥ २२ ॥

---

* यहाँ 'दीप' शब्द प्रकाशमान दीपशिखाका वाचक है । दीपशिखा चित्तकी भाँति प्रकाशमान और चञ्चल है इसलिये उसीके साथ मनकी समानता है। जैसे वायु न लगनेसे दीपशिखा हिलती-डुलती नहीं, उसी प्रकार वशमें किया हुआ चि भी ध्यानकालमें सब प्रकारसे सुरक्षित होकर हिलता-डुलता नहीं, वह अविचल दीपशिखाकी भाँति समभावसे प्रकाशित रहता है

† जिस समय योगीका चित्त परमात्माके स्वरूपमें सब प्रकारसे निरुद्ध हो जाता है, उसी समय उसका चित्त संसारसे सर्वथा उपरत हो जाता है; फिर उसके अन्तःकरणमें संसारके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता ।

‡ एक विज्ञान-आनन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही है । उसके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं, केवल एकमात्र वही परिपूर्ण है । उसका यह ज्ञान भी उसीको है; क्योंकि वही ज्ञानस्वरूप है । वह सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अक और अनवद्य है । मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि जो कुछ भी हैं, सब उस ब्रह्ममें ही आरोपित हैं औ वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं । वह आनन्दमय है और अवर्णनीय है । उसका वह आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। व आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, विज्ञानमय है कूटस्थ है, अचल है, ध्रुव है, अनामय है, बोधमय है, अनन्त है और शान्त है । इस प्रकार उसके आनन्दस्वरूपका चिन्तन करते हुए बार-बार ऐसी दृढ़ धारणा करते रहना चाहिये कि उस आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि कोई संकल्प उठे तो उसे भी आनन्दमयसे ही निकला हुआ, आनन्दमय ही समझकर आनन्दमयमें ही विलीन कर दे। इस प्रकार धारणा करते-करते जब समस्त संकल्प आनन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें विलीन हो जाते हैं और एक आनन्दघन परमात्माके अतिरिक्त किसी भी संकल्पका अस्तित्व नहीं रह जाता, तब साधककी आनन्दमय परमात्मामें अचल स्थिति हो जाती है । इस प्रकार नित्य-नियमित ध्यान करते-करते अपनी और संसारकी समस्त सत्ता जब ब्रह्मसे अभिन्न हो जाती है जब सभी कुछ परमानन्द और परम-शान्तिस्वरूप ब्रह्म बन जाता है, तब साधकको परमात्माका वास्तविक साक्षात्कार सहज ही हो जाता है ।

§ परमात्माके ध्यानसे होनेवाला सात्त्विक सुख भी इन्द्रियोंसे अतीत, बुद्धिग्राह्य और अक्षय सुखमें हेतु होनेसे अन्य सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है, किंतु वह केवल ध्यानकालमें ही रहता है, सदा एकरस नहीं रहता और वह चित्तकी ही एक अवस्थाविशेष होती है, इसलिये उसे 'आत्यन्तिक' या 'अक्षय सुख' नहीं कहा जा सकता। परमात्माका स्वरूपभूत यह सुख तो उस ध्यानजनित सुखका फल है । अतएव यह उससे अत्यन्त विलक्षण है ।

× इस स्थितिमें योगीको परमानन्द और परमशान्तिके निधान परमात्माकी प्राप्ति हो जानेसे वह पूर्णकाम हो जाता है । उसकी दृष्टिमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोग, त्रिलोकीका राज्य और ऐश्वर्य, विश्वव्यापी मान और बड़ाई आदि जितने भी सांसारिक सुखके साधन हैं, सभी क्षणभङ्गुर, अनित्य, रसहीन, हेय, तुच्छ और नगण्य हो जाते हैं । अतः वह संसारकी किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेयोग्य ही नहीं मानता, फिर अधिक माननेकी तो गुंजाइश ही कहाँ है ।

+ शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका अचानक वियोग और संसारमें अकारण ही महान् अपमान, तिरस्कार और निन्दा आदि जितने भी महान् दुःखोंके कारण हैं, सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसको अपनी स्थितिसे जरा भी नहीं डिगा सकते ।

सम्बन्ध—बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस स्थितिके महत्त्व और लक्षणोंका वर्णन किया गया, अब उस स्थितिका नाम 'योग' बतलाते हुए उसे प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये *। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे† निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है‡ ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें उसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगका साधन करनेकी रीति बतलाते हैं—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर§ और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर×। क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो+। तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे÷ ॥ २४-२५ ॥

---

* द्रष्टा और दृश्यका संयोग अर्थात् दृश्यप्रपञ्चसे आत्माका जो अज्ञानजनित अनादि सम्बन्ध है, वही बार-बार जन्म-मरणरूप दुःखकी प्राप्तिमें मूल कारण है। इस योगके द्वारा उसका अभाव हो जानेपर ही दुःखोंका भी सदाके लिये अभाव हो जाता है, अतः 'यत्रोपरमते चित्तम्' (गीता ६ । २०) से लेकर यहाँतक जिस स्थितिका वर्णन किया गया है, उसे प्राप्त करनेके लिये सिद्ध महात्मा पुरुषोंके पास जाकर एवं शास्त्रका अभ्यास करके उसके स्वरूप, महत्त्व और साधनकी रीतिको भलीभाँति जानना चाहिये।

† साधनका फल प्रत्यक्ष न होनेके कारण थोड़ा-सा साधन करनेके बाद मनमें जो ऐसा भाव आया करता है कि 'न जाने यह काम कबतक पूरा होगा, मुझसे हो सकेगा या नहीं'—उसीका नाम 'निर्विण्णता' अर्थात् साधनसे ऊब जाना है। ऐसे भावसे रहित जो धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त है, उसे 'अनिर्विण्णचित्त' कहते हैं, अतः साधकको अपने चित्तसे निर्विण्णताका दोष सर्वथा दूर कर देना चाहिये।

‡ 'निश्चय' यहाँ विश्वास और श्रद्धाका वाचक है। योगीको योगसाधनमें, उसका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें, आचार्योंमें और योगसाधनके फलमें पूर्णरूपसे श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये।

§ सम्पूर्ण कामनाओंके निःशेषरूपसे त्यागका अर्थ है—किसी भी भोगमें किसी प्रकारसे भी जरा भी वासना, आसक्ति, स्पृहा, इच्छा, लालसा, आशा या तृष्णा न रहने देना। बरतनमेंसे घी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें घीकी चिकनाहट शेष रह जाती है, अथवा डिबियामेंसे कपूर, केसर या कस्तूरी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें उसकी गन्ध रह जाती है, वैसे ही कामनाओंका त्याग कर देनेपर भी उसका सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है। उस शेष बचे हुए सूक्ष्म अंशका भी त्याग कर देना 'कामनाका निःशेषतः त्याग' है।

× ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें श्लोकके वर्णनके अनुसार ध्यानयोगके साधनके लिये आसनपर बैठकर योगीको यह चाहिये कि वह विवेक और वैराग्यकी सहायतासे मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको सम्पूर्ण बाह्य विषयोंसे सब प्रकारसे सर्वथा हटा ले, किसी भी इन्द्रियको किसी भी विषयमें जरा भी न जाने देकर उन्हें सर्वथा अन्तर्मुखी बना दे। यही मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायका भलीभाँति रोकना है।

+ जैसे छोटा बच्चा हाथमें कैंची या चाकू पकड़ लेता है तब माता समझा-बुझाकर और आवश्यक होनेपर डाँट-डपटकर भी धीरे-धीरे उसके हाथसे चाकू या कैंची छीन लेती है, वैसे ही विवेक और वैराग्यसे युक्त बुद्धिके द्वारा मनको सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और क्षणभंगुरता समझाकर और भोगोंमें फँस जानेसे प्राप्त होनेवाले बन्धन और नरकादि यातनाओंका भय दिखलाकर उसे विषय-चिन्तनसे सर्वथा रहित कर देना चाहिये। यही शनैः-शनैः उपरतिको प्राप्त होना है।

÷ साधक जब ध्यान करने बैठे और अभ्यासके द्वारा जब उसका मन परमात्मामें स्थिर हो जाय, तब फिर ऐसा सावधान रहे कि जिसमें मन एक क्षणके लिये भी परमात्मासे हटकर दूसरे विषयमें न जा सके। साधककी यह सजगता अभ्यासकी दृढ़तामें बड़ी सहायक होती है। प्रतिदिन ध्यान करते-करते ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़े, त्यों-ही-त्यों मनको और भी सावधानीके साथ कहीं न जाने देकर विशेषरूपसे विशेष कालतक परमात्मामें स्थिर रक्खे। फिर मनमें जिस किसी वस्तुकी स्फुरणा हो, उसको कल्पनामात्र जानकर तुरंत ही त्याग दे। इस प्रकार चित्तमें स्फुरित वस्तुमात्रका त्याग करके क्रमशः

सम्बन्ध—यदि किसी साधकका चित्त पूर्वाभ्यासवश बलात्कारसे विषयोंकी ओर चला जाय तो उसे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे * ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं[1] ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं[2] ब्रह्मभूतमकल्मषम्[3] ॥ २७ ॥

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक† परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका‡ अनुभव करता है ॥ २८

सम्बन्ध—इस प्रकार अभेदभावसे साधन करनेवाले सांख्ययोगीके ध्यानका और उसके फलका वर्णन करके अब साधकके व्यवहारकालकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला§ तथा सबमें समभावसे देखनेवाला× योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है+ ॥ २९ ॥

शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी सत्ताका भी त्याग कर दे । सबका अभाव करते-करते जब समस्त दृश्य पदार्थ चित्तसे निकल जायँगे, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली एकमात्र वृत्ति रहं जायगी । यह वृत्ति शुभ और शुद्ध है, परंतु इस धारणाके द्वारा इसका भी बाध करना चाहिये या समस्त दृश्य-प्रपञ्चका अभाव हो जानेके बाद यह अपने-आप ही शान्त हो जायगी; इसके बाद जो कुछ बच रहता है, वही अचिन्त्य तत्त्व है । वह केवल है और समस्त उपाधियोंसे रहित अकेला ही परिपूर्ण है । उसका न कोई वर्णन कर सकता है, न चिन्तन । अतएव इस प्रकार दृश्य-प्रपञ्च और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकारका अभाव करके तथा अभाव करनेवाली वृत्तिका भी अभाव करके अचिन्त्य-तत्त्वमें स्थित हो जाना ही परमात्मामें मनको स्थितकर अचिन्त्य होना है ।

* ध्यानके समय साधकको ज्यों ही पता चले कि मन अन्यत्र विषयोंमें गया, त्यों ही बड़ी सावधानी और दृढ़ताके साथ उसे रोककर तुरंत परमात्मामें लगावे । यों बार-बार विषयोंसे हटा-हटाकर उसे परमात्मामें लगानेका अभ्यास करे।

[1] विवेक और वैराग्यके प्रभावसे विषय-चिन्तन छोड़कर और चञ्चलता तथा विक्षेपसे रहित होकर जिसका चित्त सर्वथा स्थिर और सुप्रसन्न हो गया है, ऐसे योगीको 'प्रशान्तमनाः' कहते हैं ।

[2] आसक्ति, स्पृहा, कामना, लोभ, तृष्णा और सकामकर्म—इन सबकी रजोगुणसे ही उत्पत्ति होती है (गीता १४। ७, १२) और यही रजोगुणको बढ़ाते भी हैं। अतएव जो पुरुष इन सबसे रहित है, उसीका वाचक 'शान्तरजसम्' पद है।

[3] मैं देह नहीं, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते साधककी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें दृढ़ स्थिति हो जाती है । इस प्रकार अभिन्नभावसे ब्रह्ममें स्थित पुरुषको 'ब्रह्मभूत' कहते हैं ।

† जब साधकमें देहाभिमान नहीं रहता, उसकी ब्रह्मके स्वरूपमें अभेदरूपसे स्थिति हो जाती है, तब उसको ब्रह्मकी प्राप्ति सुखपूर्वक होती ही है ।

‡ इसी अनन्त आनन्दको इस अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख' और गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'अक्षय सुख' बतलाया गया है।

§ सच्चिदानन्द, निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें जिसकी अभिन्नभावसे स्थिति हो गयी है, ऐसे ही ब्रह्मभूत योगीका वाचक यहाँ 'योगयुक्तात्मा' पद है । इसीका वर्णन गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' के नामसे तथा पाँचवेंके चौबीसवें, छठेके सत्ताईसवें और अठारहवेंके चौवनवें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' के नामसे हुआ है ।

× गीताके पाँचवें अध्यायके अठारहवें और इसी अध्यायके बत्तीसवें श्लोकोंमें ज्ञानी महात्माके समदर्शनका वर्णन आया है, उसी प्रकारसे यह योगी सबके साथ शास्त्रानुकूल यथायोग्य सद्व्यवहार करता हुआ नित्य-निरन्तर सभीमें अपने स्वरूपभूत एक ही अखण्ड चेतन आत्माको देखता है । यही उसका सबमें समभावसे देखना है ।

+ एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सत्य तत्त्व हैं, उनसे भिन्न यह सम्पूर्ण जगत् कुछ भी नहीं

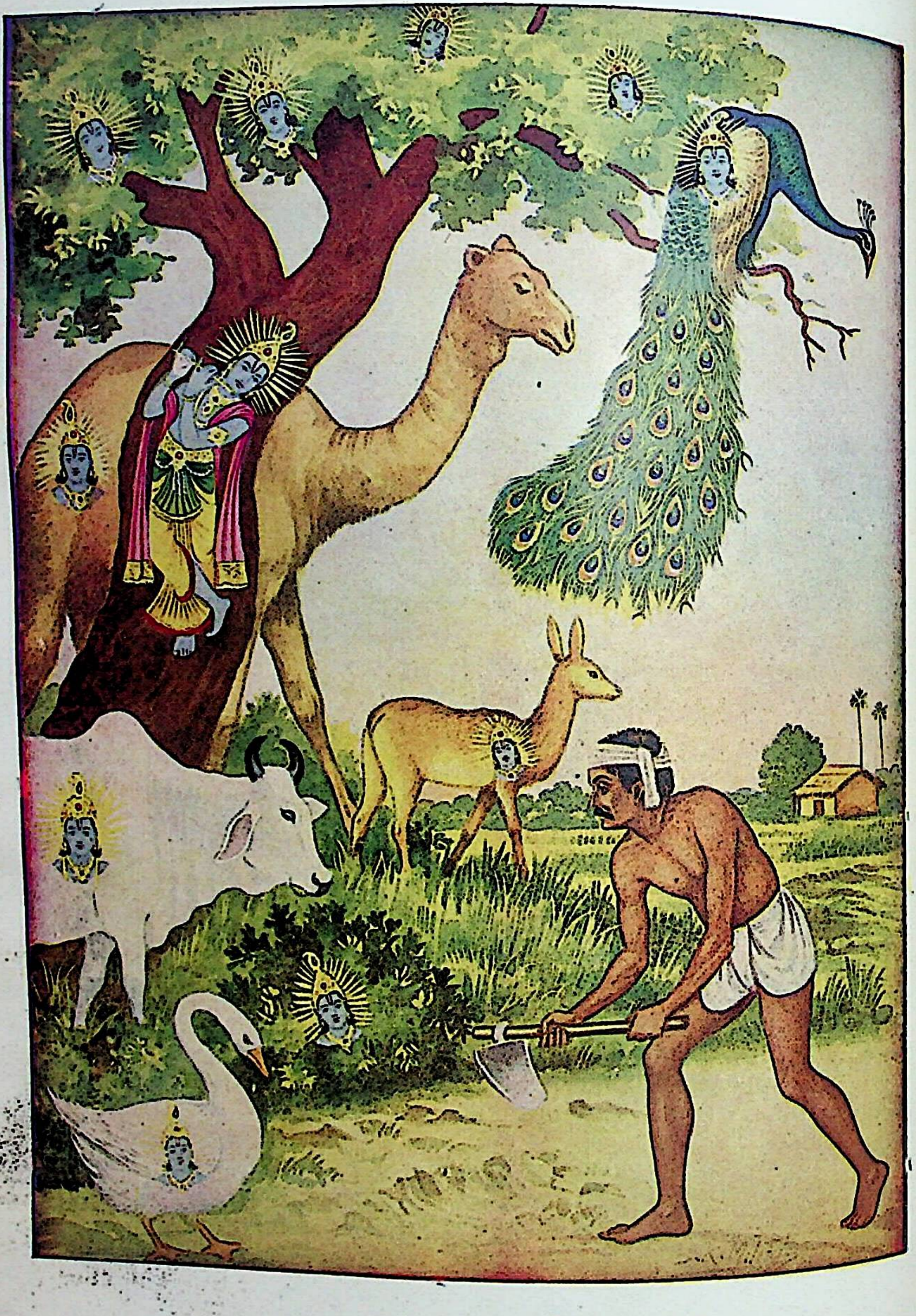

सबमें भगवद्-दर्शन

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगका साधन करनेवाले योगी-का और उसकी सर्वत्र समदर्शनरूप अन्तिम स्थितिका वर्णन करनेके बाद, अब भक्तियोगका साधन करनेवाले योगीकी अन्तिम स्थिति और उसके सर्वत्र भगवद्दर्शनका वर्णन करते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है* उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता† ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर‡ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है,§ वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है× ॥ ३१ ॥

है। इस रहस्यको भलीभाँति समझकर उनमें अभिन्नभावसे स्थित होकर जो स्वप्नके दृश्यवर्गमें स्वप्नद्रष्टा पुरुषकी भाँति चराचर सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक अद्वितीय आत्माको ही अधिष्ठानरूपमें परिपूर्ण देखना है अर्थात् 'एक अद्वितीय आत्मा ही इन सबके रूपमें दीख रहा है, वास्तवमें उनके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।' इस बातको जो भलीभाँति अनुभव करना है, यही सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको देखना है। इसी तरह जो समस्त चराचर प्राणियोंको आत्मामें कल्पित देखना है, यानी जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्को या नाना प्रकारकी कल्पना करनेवाला मनुष्य कल्पित दृश्योंको अपने ही संकल्पके आधारपर अपनेमें देखता है वैसे ही देखना, सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखना है। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्ने आत्माके साथ 'सर्वभूतस्थम्' विशेषण देकर आत्माको भूतोंमें स्थित देखनेकी बात कही, किंतु भूतोंको आत्मामें स्थित देखनेकी बात न कहकर केवल देखनेके लिये ही कहा।

* जैसे बादलमें आकाश और आकाशमें बादल है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें भगवान् वासुदेव हैं और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूत हैं—इस प्रकार अनुभव करना सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेवको और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूतोंको देखना है; क्योंकि सम्पूर्ण चराचर जगत् उन्हींसे उत्पन्न होता है, अतएव वे ही इसके महाकारण हैं तथा जैसे बादलोंका आधार आकाश है, आकाशके बिना बादल रहें ही कहाँ ? एक बादल ही क्यों—वायु, तेज, जल आदि कोई भी भूत आकाशके आश्रय बिना नहीं ठहर सकता, वैसे ही इस सम्पूर्ण चराचर विश्वके एकमात्र परमाधार परमेश्वर ही हैं (गीता १० । ४२)।

अतएव जिस प्रकार एक ही चतुर बहुरूपिया नाना प्रकारके वेष धारण करके आता है और जो उस बहुरूपियेसे और उसकी बोलचाल आदिसे परिचित है, वह सभी रूपोंमें उसे पहचान लेता है, वैसे ही समस्त जगत्में जितने भी रूप हैं सब श्रीभगवान्के ही वेष हैं। इस प्रकार जो समस्त जगत्के सब प्राणियोंमें उनको पहचान लेते हैं, वे चाहे वेष-भेदके कारण बाहरसे व्यवहारमें भेद रक्खें, परंतु हृदयसे तो उनकी पूजा ही करते हैं।

† अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, औदार्य आदिके अनन्त समुद्र, रसमय और आनन्दमय भगवान्के देवदुर्लभ सच्चिदानन्दस्वरूपके साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद भक्त और भगवान्का संयोग सदाके लिये अविच्छिन्न हो जाता है।

‡ सर्वदा और सर्वत्र अपने एकमात्र इष्टदेव भगवान्का ध्यान करते-करते साधक अपनी भिन्न स्थितिको सर्वथा भूलकर इतना तन्मय हो जाता है कि फिर उसके ज्ञानमें एक भगवान्के सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता। भगवत्प्राप्तिरूप ऐसी स्थितिको भगवान्में एकीभावसे स्थित होना कहते हैं।

§ जैसे भाप, बादल, कुहरा, बूँद और बर्फ आदिमें सर्वत्र जल भरा है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर विश्वमें एक भगवान् ही परिपूर्ण हैं—इस प्रकार जानना और प्रत्यक्ष देखना ही सब भूतोंमें स्थित भगवान्को भजना है।

× जिस पुरुषको भगवान् श्रीवासुदेवकी प्राप्ति हो गयी है, उसको प्रत्यक्षरूपसे सब कुछ वासुदेव ही दिखलायी देता है। ऐसी अवस्थामें उस भक्तके शरीर, वचन और मनसे जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, उसकी दृष्टिमें सब एकमात्र भगवान्के ही साथ होती हैं। वह हाथोंसे किसीकी सेवा करता है तो वह भगवान्की ही सेवा करता है, किसीको मधुर वाणीसे सुख पहुँचाता है तो वह भगवान्को ही सुख पहुँचाता है, किसीको देखता है तो वह भगवान्को ही देखता है, किसीके साथ कहीं जाता है तो वह भगवान्के साथ भगवान्की ओर ही जाता है। इस प्रकार वह जो कुछ भी करता है, सब भगवान्में ही और भगवान्के ही साथ करता है। इसीलिये यह कहा गया है कि वह सब प्रकारसे बरतता हुआ (सब कुछ करता हुआ) भी भगवान्में ही बरतता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार भक्तियोगद्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके महत्त्वका प्रतिपादन करके अब सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके समदर्शनका और महत्त्वका प्रतिपादन करते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है* और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है,† वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन ! जो यह योग‡ आपने समभावसे कहा है, मनके चञ्चल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देखता हूँ§ ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रम स्वभाववाला,× बड़ा दृढ़+ और बलवान्÷ है। इसलिये उस वशमें करना मैं वायुके रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्क मानता हूँऽ ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो ! निःसंदेह म चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपु अर्जुन ! यह अभ्यास= और वैराग्यसे A वशमें होता है ॥ ३५

---

* जैसे मनुष्य अपने सारे अङ्गोंमें अपने आत्माको समभावसे देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर संसारमें अपने आपको समभावसे देखना—अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखना है।

† सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उपर्युक्त योगीका स्वरूप बन जाता है। जगत्‌में उसके लिये दूसरा कुछ रहता ही नहीं। इसलिये जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये ही अथक चेष्टा करता रहता है और ऐसा करके न वह कभी अपनेपर अपनेको कृपा करनेवाला मानकर बदलेमें कृतज्ञता चाहता है, न कोई अहसान करता है और न अपने को 'कर्तव्यपरायण' समझकर अभिमान ही करता है, वह अपने सुखकी चेष्टा इसीलिये करता है कि उससे वैसा किये बिना रहा ही नहीं जाता, यह उसका सहज स्वभाव होता है; ठीक वैसे ही वह योगी समस्त विश्वको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख न पहुँचाकर सदा उसके सुखके लिये सहज स्वभावसे ही चेष्टा करता है।

‡ कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग या ज्ञानयोग आदि साधनोंको पराकाष्ठारूप समताको ही यहाँ 'योग' कहा गया है।

§ 'चञ्चलता' चित्तके विक्षेपको कहते हैं। विक्षेपमें प्रधान कारण हैं—राग-द्वेष। जहाँ राग-द्वेष हैं, वहाँ 'समता' नहीं रह सकती; क्योंकि 'राग-द्वेष' से 'समता'का अत्यन्त विरोध है। इसीलिये 'समता'की स्थितिमें मनकी चञ्चलताको बाधक माना गया है।

× मन दीपशिखाकी भाँति चञ्चल तो है ही, परंतु मथानीके सदृश प्रमथनशील भी है। जैसे दूध-दहीको मथानी मथ डालती है, वैसे ही मन भी शरीर और इन्द्रियोंको बिल्कुल क्षुब्ध कर देता है।

+ यह चञ्चल, प्रमाथी और बलवान् मन तन्तुनाग (गोह) के सदृश अत्यन्त दृढ़ भी है। यह जिस विषयमें रमता है, उसको इतनी मजबूतीसे पकड़ लेता है कि उसके साथ तदाकार-सा हो जाता है। इसको 'दृढ़' बतलानेका यही भाव है।

÷ जैसे बड़े पराक्रमी हाथीपर बार-बार अङ्कुश-प्रहार होनेपर भी कुछ असर नहीं होता, वह मनमानी करता ही रहता है, वैसे ही विवेकरूपी अङ्कुशके द्वारा बार-बार प्रहार करनेपर भी यह बलवान् मन विषयोंके बीहड़ वनसे निकलना नहीं चाहता।

ऽ जैसे शरीरमें निरन्तर चलनेवाले श्वासोच्छ्वासरूपी वायुके प्रवाहको हठ, विचार, विवेक और बल आदि साधनोंके द्वारा रोक लेना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार विषयोंमें निरन्तर विचरनेवाले, चञ्चल, प्रमथनशील, बलवान् और दृढ़ मनको रोकना भी अत्यन्त कठिन है।

= मनको किसी लक्ष्य विषयमें तदाकार करनेके लिये, उसे अन्य विषयोंसे खींच-खींचकर बार-बार उस विषयमें लगानेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम ही अभ्यास है। यह प्रसंग परमात्मामें मन लगानेका है, अतएव परमात्माको अपना लक्ष्य बनाकर चित्तवृत्तियोंके प्रवाहको बार-बार उन्हींकी ओर लगानेका प्रयत्न करना यहाँ 'अभ्यास' है। इसका विस्तार गीताके बारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें देखना चाहिये।

A इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे जब आसक्ति और समस्त कामनाओंका पूर्णतया नाश हो जाता है तब उसे 'वैराग्य' कहते हैं।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मनको वशमें न किया जाय, तो क्या हानि है; इसपर भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है* और वशमें किये हुए मनवाले† प्रयत्नशील पुरुषद्वारा‡ साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है ॥ ३६ ॥

सम्बन्ध—योगसिद्धिके लिये मनको वशमें करना परम आवश्यक बतलाया गया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि जिसका मन वशमें नहीं है, किंतु योगमें श्रद्धा होनेके कारण जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसकी मरनेके बाद क्या गति होती है; इसीके लिये अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

अयतिः[1] श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं[2] कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण ! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है, किंतु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है,§ ऐसा साधक योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

वैराग्यकी प्राप्तिके लिये अनेकों साधन हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) संसारके पदार्थोंमें विचारके द्वारा रमणीयता, प्रेम और सुखका अभाव देखना ।

(२) उन्हें जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दुःख-दोषोंसे युक्त, अनित्य और भयदायक मानना ।

(३) संसारके और भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वका निरूपण करनेवाले सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना ।

(४) परम वैराग्यवान् पुरुषोंका संग करना, संगके अभावमें उनके वैराग्यपूर्ण चित्र और चरित्रोंका स्मरण, मनन करना ।

(५) संसारके टूटे हुए विशाल महलों, वीरान हुए नगरों और गाँवोंके खँडहरोंको देखकर जगत्‌को क्षणभङ्गुर समझना ।

(६) एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड, अद्वितीय सत्ताका बोध करके अन्य सबकी भिन्न सत्ताका अभाव समझना ।

(७) अधिकारी पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌के अकथनीय गुण, प्रभाव, तत्त्व, प्रेम, रहस्य तथा उनके लीला-चरित्रोंका एवं दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यका बार-बार श्रवण करना, उन्हें जानना और उनपर पूर्ण श्रद्धा करके मुग्ध होना ।

* जो अभ्यास और वैराग्यके द्वारा अपने मनको वशमें नहीं कर लेते, उनके मनपर राग-द्वेषका अधिकार रहता है और राग-द्वेषकी प्रेरणासे वह बंदरकी भाँति संसारमें ही इधर-उधर उछलता-कूदता रहता है । जब मन भोगोंमें इतना आसक्त होता है, तब उसकी बुद्धि भी बहुशाखावाली और अस्थिर ही बनी रहती है (गीता २ । ४१–४४)। ऐसी अवस्थामें उसे 'समत्वयोग' की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

† वशमें हो जानेपर चित्तकी चञ्चलता, प्रमथनशीलता, बलवत्ता और कठिन आग्रहकारिता दूर हो जाती है । वह मन सरल और शान्त हो जाता है; फिर उसे जब, जहाँ और जितनी देरतक लगाया जाय, चुपचाप लगा रहता है । यही उसके वशमें हो जानेकी पहचान है ।

‡ मनके वशमें हो जानेके बाद भी यदि प्रयत्न न किया जाय—उस मनको परमात्मामें पूर्णतया लगानेका तीव्र साधन न किया जाय तो उससे समत्वयोगकी प्राप्ति अपने-आप नहीं हो जाती । अतः 'प्रयत्न' की आवश्यकता सिद्ध करनेके लिये ही प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे योगका प्राप्त होना सहज बतलाया गया है ।

[1] पिछले श्लोकमें जिसका मन वशमें नहीं है, उस 'असंयतात्मा' के लिये योगका प्राप्त होना कठिन बतलाया गया है। यही बात अर्जुनके इस प्रश्नका बीज है । इस कारण 'जिसका मन जीता हुआ नहीं है' ऐसे साधकके लक्ष्यसे 'अयतिः' पदका 'असंयमी' अर्थ किया गया है ।

[2] सब प्रकारके योगोंके परिणामरूप समभावका फल जो परमात्माकी प्राप्ति है, उसका वाचक यहाँ 'योगसंसिद्धिम्' पद है ।

§ यहाँ 'योग' शब्द परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंसे होनेवाले समभावका वाचक है । शरीरसे प्राणोंका वियोग होते समय जो समभावसे या परमात्माके स्वरूपसे मनका विचलित हो जाना है, यही मनका योगसे विचलित हो जाना है और इस प्रकार मनके विचलित होनेमें मनकी चञ्चलता, आसक्ति, कामना, शरीरकी पीड़ा और बेहोशी आदि बहुत-से कारण हो सकते हैं ।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ?* ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है† ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही; क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता‡ ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

योगभ्रष्ट पुरुष§ पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गा उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवा करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें ज लेता है ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—साधारण योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गति बतलाकर अ आसक्तिरहित उच्च श्रेणीके योगभ्रष्ट पुरुषोंको विशेष गतिका वर्ण करते हैं—

अथवा[1] योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवा योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है; परंतु इस प्रकारका यह जन्म है सो संसारमें निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है× ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३॥

वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्था समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है।

सम्बन्ध—अब पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्र

---

* यहाँ अर्जुनका अभिप्राय यह है कि जीवनभर फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेसे स्वर्गादि भोग तो उसे मिले नहीं और अन्त समयमें परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे मन विचलित हो जानेके कारण भगवत्प्राप्ति भी नहीं होती। अतएव जैसे बादलका एक टुकड़ा उससे पृथक् होकर पुनः दूसरे बादलसे संयुक्त न होनेपर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही वह साधक स्वर्गादि लोक और परमात्मा—दोनोंकी प्राप्तिसे वञ्चित होकर नष्ट तो नहीं हो जाता यानी उसकी कहीं अधोगति तो नहीं होती!

† यहाँ अर्जुन भगवान्में अपना विश्वास प्रकट करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं कि आप सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण मर्यादाओंके निर्माता और नियन्त्रणकर्ता साक्षात् परमेश्वर हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्त जीवोंकी समस्त गतियोंके रहस्यका आपको पूरा पता है और समस्त लोक-लोकान्तरोंकी त्रिकालमें होनेवाली समस्त घटनाएँ आपके लिये सदा ही प्रत्यक्ष हैं। ऐसी अवस्थामें योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गतिका वर्णन करना आपके लिये बहुत ही आसान बात है। जब आप स्वयं यहाँ उपस्थित हैं, तब मैं और किससे पूछूँ और वस्तुतः आपके सिवा इस रहस्यको दूसरा बतला ही कौन सकता है ! अतएव कृपापूर्वक आप ही इस रहस्यको खोलकर मेरे संशयजालका छेदन कीजिये।

‡ जो साधक अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक कल्याणका साधन करता है, उसकी किसी भी कारणसे कभी शूकर, कूकर, कीट, पतङ्ग आदि नीच योनियोंकी प्राप्तिरूप या कुम्भीपाक आदि नरकोंकी प्राप्तिरूप दुर्गति नहीं हो सकती।

§ ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और कर्मयोग आदिका साधन करनेवाले जिस पुरुषका मन विक्षेप आदि दोषोंसे या विषयासक्ति अथवा रोगादिके कारण अन्तकालमें लक्ष्यसे विचलित हो जाता है, उसे 'योगभ्रष्ट' कहते हैं।

[1] योगभ्रष्ट पुरुषोंमेंसे जिनके मनमें विषयासक्ति होती है, वे तो स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं और पवित्र धनियोंके घरोंमें जन्म लेते हैं; परंतु जो वैराग्यवान् पुरुष होते हैं, वे न तो किसी लोकमें जाते हैं और न उन्हें धनियोंके घरोंमें ही जन्म लेना पड़ता है। वे तो सीधे ज्ञानवान् सिद्ध योगियोंके घरोंमें ही जन्म लेते हैं। पूर्ववर्णित योगभ्रष्टोंसे इन्हें पृथक् करनेके लिये 'अथवा' का प्रयोग किया गया है।

× परमार्थसाधन (योगसाधन) की जितनी सुविधा योगियोंके कुलमें जन्म लेनेपर मिल सकती है, उतनी स्वर्गके श्रीमानोंके घरमें अथवा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकती। योगियोंके कुलमें तदनुकूल वातावरणके प्रभावसे मनुष्य प्रारम्भिक जीवनमें ही योगसाधनमें लग सकता है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानीके कुलमें जन्म लेनेवाला अज्ञानी नहीं रहता, यह सिद्धान्त तियोंसे भी प्रमाणित है। इसीलिये ऐसे जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया गया है।

पुरुषकी परिस्थितिका वर्णन करते हुए योगको जाननेकी इच्छाका महत्त्व बतलाते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्संदेह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकामकर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है* ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

परंतु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी† तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कारबलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर‡ सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो फिर तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है,§ इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें योगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर भगवान्‌ने अर्जुनको योगी बननेके लिये कहा; किंतु ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि साधनोंमेंसे अर्जुनको कौन-सा साधन करना चाहिये ? इस बातका स्पष्टीकरण नहीं किया । अतः अब भगवान् अपनेमें अनन्यप्रेम करनेवाले भक्त योगीकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनको अपनी ओर आकर्षित करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां[1] मद्गतेनान्तरात्मना[2] ।
श्रद्धावान्[3] भजते[4] यो मां[5] स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

---

* जो योगका जिज्ञासु है, योगमें श्रद्धा रखता है और उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वह मनुष्य भी वेदोक्त सकामकर्मोंके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगजनित सुखको पार कर जाता है तो फिर जन्म-जन्मान्तरसे योगका अभ्यास करनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

† तैंतालीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष उस जन्ममें परमसिद्धिकी प्राप्तिके लिये अधिक प्रयत्न करता है । इस श्लोकमें उसी योगीको परमगतिकी प्राप्ति बतलायी जाती है, इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'योगी' को 'प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करनेवाला' बतलाया गया है; क्योंकि उसके प्रयत्नका फल वहाँ उस श्लोकमें नहीं बतलाया गया था, उसे यहाँ बतलाया गया है ।

‡ पिछले अनेक जन्मोंमें किया हुआ अभ्यास और इस जन्मका अभ्यास दोनों ही उसे योगसिद्धिकी प्राप्ति करानेमें अर्थात् साधनकी पराकाष्ठातक पहुँचानेमें हेतु हैं, क्योंकि पूर्व संस्कारोंके बलसे ही वह विशेष प्रयत्नके साथ इस जन्ममें तीव्र अभ्यास करके साधनकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता है ।

§ सकामभावसे यज्ञ-दानादि शास्त्रविहित क्रिया करनेवालेका नाम ही 'कर्मी' है । इसमें क्रियाकी बहुलता है । तपस्वीमें क्रियाकी प्रधानता नहीं, मन और इन्द्रियके संयमकी प्रधानता है और शास्त्रज्ञानीमें शास्त्रीय बौद्धिक आलोचनाकी प्रधानता है । इसी विलक्षणताको ध्यानमें रखकर कर्मी, तपस्वी और शास्त्रज्ञानीका अलग-अलग निर्देश किया गया है ।

[1] गीताके चौथे अध्यायमें चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन यज्ञके नामसे बतलाये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी भगवत्प्राप्तिके जिन-जिन साधनोंका अबतक वर्णन किया गया है, उन सबकी पराकाष्ठाका नाम 'योग' होनेके कारण विभिन्न साधन करनेवाले बहुत प्रकारके 'योगी' हो सकते हैं । उन सभी प्रकारके योगियोंका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ 'योगिनाम्' पदके साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके 'सर्वेषाम्' विशेषण दिया गया है ।

[2] इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि मुझको ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुणाधार, सर्वशक्तिमान् और महान् प्रियतम जानकर जिसका मुझमें अनन्य प्रेम हो गया है और इसलिये जिसका मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण अचल, अटल और अनन्यभावसे मुझमें ही स्थित हो गया है, उसके अन्तःकरणको 'मद्गत अन्तरात्मा' या मुझमें लगा हुआ अन्तरात्मा कहते हैं ।

[3] जो भगवान्‌की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनके अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंमें तथा नाम और लीलामें एवं उनकी महिमा, शक्ति, प्रभाव और ऐश्वर्य आदिमें प्रत्यक्षके सदृश पूर्ण और अटल विश्वास रखता हो, उसे 'श्रद्धावान्' कहते हैं ।

[4] सब प्रकार और सब ओरसे अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाकर परम श्रद्धा और प्रेमके साथ चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, प्रत्येक क्रिया करते अथवा एकान्तमें स्थित रहते, निरन्तर श्रीभगवान्‌का भजन-ध्यान करना ही 'भजते' का अर्थ है ।

[5] यहाँ 'माम्' पद निरतिशय ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदिके परम आश्रय, सौन्दर्य, [illegible] और

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है* ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ भीष्मपर्वणि तु त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥ भीष्मपर्वमें तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तमोऽध्यायः)

ज्ञान-विज्ञान, भगवान्‌की व्यापकता, अन्य देवताओंकी उपासना एवं भगवान्‌को प्रभाव-सहित न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमाका कथन

सम्बन्ध—छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि—'अन्तरात्माको मुझमें लगाकर जो श्रद्धा और प्रेमके साथ मुझको भजता है, वह सब प्रकारके योगियोंमें उत्तम योगी है ।' परंतु भगवान्‌के स्वरूप, गुण और प्रभावको मनुष्य जबतक नहीं जान पाता, तबतक उसके द्वारा अन्तरात्मासे निरन्तर भजन होना बहुत कठिन है; साथ ही भजनका प्रकार जानना भी आवश्यक है । इसलिये अब भगवान् अपने गुण, प्रभावके सहित समग्र स्वरूपका तथा अनेक प्रकारोंसे युक्त भक्तियोगका वर्णन करनेके लिये सातवें अध्यायका आरम्भ करते हैं और सबसे पहले दो श्लोकोंमें अर्जुनको उसे सावधानीके साथ सुननेके लिये प्रेरणा क ज्ञान-विज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अनन्यप्रेमसे मुझ आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योग लगा हुआ† तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्व गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जाने उसको सुन ॥ १ ॥

औदार्यके अनन्त समुद्र, परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, दिव्य अचिन्त्यानन्दस्वरूप, नित्य, सत्य, अज और अविना सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वदिव्यगुणालङ्कृत, सर्वात्मा, अचिन्त्य महत्त्वसे महिमान्वित, चित्र-विचित्र लीलाओं लीलामात्रसे प्रकृतिद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले तथा रससागर, रसमय, आनन्दकन्द, सगु निर्गुणरूप समग्र ब्रह्म पुरुषोत्तमका वाचक है ।

* श्रीभगवान् यहाँपर अपने प्रेमी भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए मानो कहते हैं कि यद्यपि मुझे तपस्वी, ज्ञा और कर्मी आदि सभी प्यारे हैं और इन सबसे भी वे योगी मुझे अधिक प्यारे हैं, जो मेरी ही प्राप्तिके लिये साधन करते हैं परंतु जो मेरे समग्ररूपको जानकर मुझसे अनन्यप्रेम करता है, केवल मुझको ही अपना परम प्रेमास्पद मानकर, कि बातकी अपेक्षा, आकाङ्क्षा और परवा न रखकर अपने अन्तरात्माको दिन-रात मुझमें ही लगाये रखता है, वह मेरा अ है, मेरा ही है, उससे बढ़कर मेरा प्रियतम और कौन है ? जो मेरा प्रियतम है, वही तो श्रेष्ठ है; इसलिये मेरे मनमें सर्वोत्तम भक्त है और वही सर्वोत्तम योगी है ।

१. इस लोक और परलोकके किसी भी भोगके प्रति जिसके मनमें तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है तथा जि मन सब ओरसे हटकर एकमात्र परम प्रेमास्पद, सर्वगुणसम्पन्न परमेश्वरमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि जलके से वियोगमें परम व्याकुल हो जानेवाली मछलीके समान जो क्षणभर भी भगवान्‌के वियोग और विस्मरणको सहन नहीं सकता, वह 'मय्यासक्तमनाः' है ।

२. जो पुरुष संसारके सम्पूर्ण आश्रयोंका त्याग करके समस्त आशाओं और भरोसोंसे मुँह मोड़कर एकमात्र भगवा पर ही निर्भर करता है और सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को ही परम आश्रय तथा परम गति जानकर एकमात्र उन्हींके भरोसे सदाके लिये निश्चिन्त हो गया है, वह 'मदाश्रयः' है ।

† मन और बुद्धिको अचलभावसे भगवान्‌में स्थिर करके नित्य-निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनका चिन्तन करना योगमें लग जाना है ।

‡ भगवान् नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं; वे सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्व

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको* सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता† ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है‡ और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है§।३।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा× अर्थात् मेरी जड प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान+॥ ४-५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं÷ और मैं सम्पूर्ण जगत्का

तथा स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्के रूपमें प्रकट होते हैं। वस्तुतः उनके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं; व्यक्त, अव्यक्त और सगुण-निर्गुण सब वे ही हैं। इस प्रकार उन भगवान्के स्वरूपको निर्भ्रान्त और असंदिग्धरूपसे समझ लेना ही समग्र भगवान्को संशयरहित जानना है।

* भगवान्के निर्गुण-निराकार तत्त्वका जो प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसहित यथार्थ ज्ञान है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं; इसी प्रकार उनके सगुण निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है।

† ज्ञान और विज्ञानके द्वारा भगवान्के समग्र स्वरूपकी भलीभाँति उपलब्धि हो जाती है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड तो उनके स्वरूपका एक क्षुद्र-सा अंशमात्र है। जब मनुष्य भगवान्के समग्र रूपको जान लेता है, तब स्वभावतः ही उसके लिये कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता।

‡ भगवत्कृपाके फलस्वरूप मनुष्य-शरीर प्राप्त होनेपर भी जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति और भगवान्में श्रद्धा-प्रेमका अभाव या कमी रहनेके कारण अधिकांश मनुष्य तो इस मार्गकी ओर मुँह ही नहीं करते। जिसके संस्कार शुभ होते हैं, भगवान्, महापुरुष और शास्त्रोंमें जिसकी कुछ श्रद्धा-भक्ति होती है तथा पूर्वपुण्योंके पुञ्जसे और भगवत्कृपासे जिसको सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, हजारों मनुष्योंमेंसे ऐसा कोई विरला ही इस मार्गमें प्रवृत्त होकर यत्न करता है।

§ चेष्टाके तारतम्यसे सबका साधन एक-सा नहीं होता। अहंकार, ममत्व, कामना, आसक्ति और सङ्गदोष आदिके कारण नाना प्रकारके विघ्न भी आते ही रहते हैं। अतएव साधन करनेवालोंमें भी बहुत थोड़े ही पुरुष ऐसे निकलते हैं जिनकी श्रद्धा-भक्ति और साधना पूर्ण होती है और उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें वे भगवान्का साक्षात्कार कर लेते हैं।

× गीताके तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने जिस अव्यक्त मूल प्रकृतिके तेईस कार्य बतलाये हैं, उसीको यहाँ आठ भेदोंमें विभक्त बतलाया है। यह 'अपरा प्रकृति' ज्ञेय तथा जड होनेके कारण ज्ञाता चेतन जीवरूपा 'परा प्रकृति' से सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है; यही संसारकी हेतुरूप है और इसीके द्वारा जीवका बन्धन होता है। इसीलिये इसका नाम 'अपरा प्रकृति' है।

+ समस्त जीवोंके शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण तथा भोग्यवस्तुएँ और भोगस्थानमय इस सम्पूर्ण व्यक्त प्रकृतिका नाम जगत् है। ऐसा यह जगत्रूप जड तत्त्व चेतन तत्त्वसे व्याप्त है। अतः उसीने इसे धारण कर रक्खा है।

÷ अचर और चर जितने भी छोटे-बड़े सजीव प्राणी हैं, उन सभी सजीव प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि इन 'अपरा' (जड) और 'परा' (चेतन) प्रकृतियोंके संयोगसे ही होती हैं। इसलिये उनकी उत्पत्तिमें ये ही दोनों कारण हैं। यही बात गीताके तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे कही गयी है।

प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्‌का मूलकारण हूँ*॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है†॥ ७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

हे अर्जुन! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ॥ ८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

मैं पृथिवीमें पवित्र‡ गन्ध और अग्निमें तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ॥ ९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको जान§! मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ※

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओं रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ+॥ ११॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रधान-प्रधान वस्तुओंमें सारभूत अपनी व्यापकता बतलाते हुए भगवान्‌ने प्रकारान्तरसे समस्त जगत्‌में अपनी सर्वव्यापकता और सर्वस्वरूपता सिद्ध कर दी, अब अपने को ही त्रिगुणमय जगत्‌का मूल कारण बतलाकर इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको

---

* जैसे बादल आकाशसे उत्पन्न होते हैं, आकाशमें रहते हैं और आकाशमें ही विलीन हो जाते हैं तथा आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, वैसे ही यह सारा विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न होता है, भगवान्‌में ही स्थित है और भगवान्‌में ही विलीन हो जाता है। भगवान् ही इसके एकमात्र महान् कारण और परम आधार हैं।

† जैसे सूतकी डोरीमें उसी सूतकी गाँठें लगाकर उन्हें मनिये मानकर माला बना लेते हैं और जैसे उस डोरीमें और गाँठोंके मनियोंमें सर्वत्र केवल सूत ही व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यह समस्त संसार भगवान्‌में गुँथा हुआ है। भगवान् ही सबमें ओतप्रोत हैं।

‡ शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धसे इस प्रसंगमें इनके कारणरूप तन्मात्राओंका ग्रहण है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ा गया है।

§ जो सदासे हो तथा कभी नष्ट न हो, उसे 'सनातन' कहते हैं। भगवान् ही समस्त चराचर भूत-प्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव वे ही सबके 'सनातन बीज' हैं।

※ सम्पूर्ण पदार्थोंका निश्चय करनेवाली और मन-इन्द्रियोंको अपने शासनमें रखकर उनका संचालन करनेवाली अन्तःकरणकी जो परिशुद्ध बोधमयी शक्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं; जिसमें वह बुद्धि अधिक होती है, उसे बुद्धिमान् कहते हैं। यह बुद्धिशक्ति भगवान्‌की अपरा प्रकृतिका ही अंश है। इसी प्रकार सब लोगोंपर प्रभाव डालनेवाली शक्तिविशेषका नाम तेजस है; यह तेजस्तत्त्व जिसमें विशेष होता है, उसे लोग 'तेजस्वी' कहते हैं। यह तेज भी भगवान्‌की अपरा प्रकृतिका ही एक अंश है; इसीलिये भगवान्‌ने इन दोनोंको अपना स्वरूप बतलाया है।

+ जिस बलमें कामना, राग, अहंकार तथा क्रोधादिका संयोग है, उस बलका वर्णन आसुरी सम्पदामें किया गया है (गीता १६। १८); अतः वह तो आसुर बल है और उसके त्यागनेकी बात कही है (गीता १८। ५३)। इसी प्रकार धर्मविरुद्ध काम भी आसुरी सम्पदाका प्रधान गुण होनेसे समस्त अनर्थोंका मूल (गीता ३। ३७), नरकका द्वार और त्याज्य है (गीता १६। २१)। काम-रागयुक्त 'बल' से और धर्मविरुद्ध 'काम' से विलक्षण, विशुद्ध 'बल' और विशुद्ध 'काम' ही भगवान्‌का स्वरूप है।

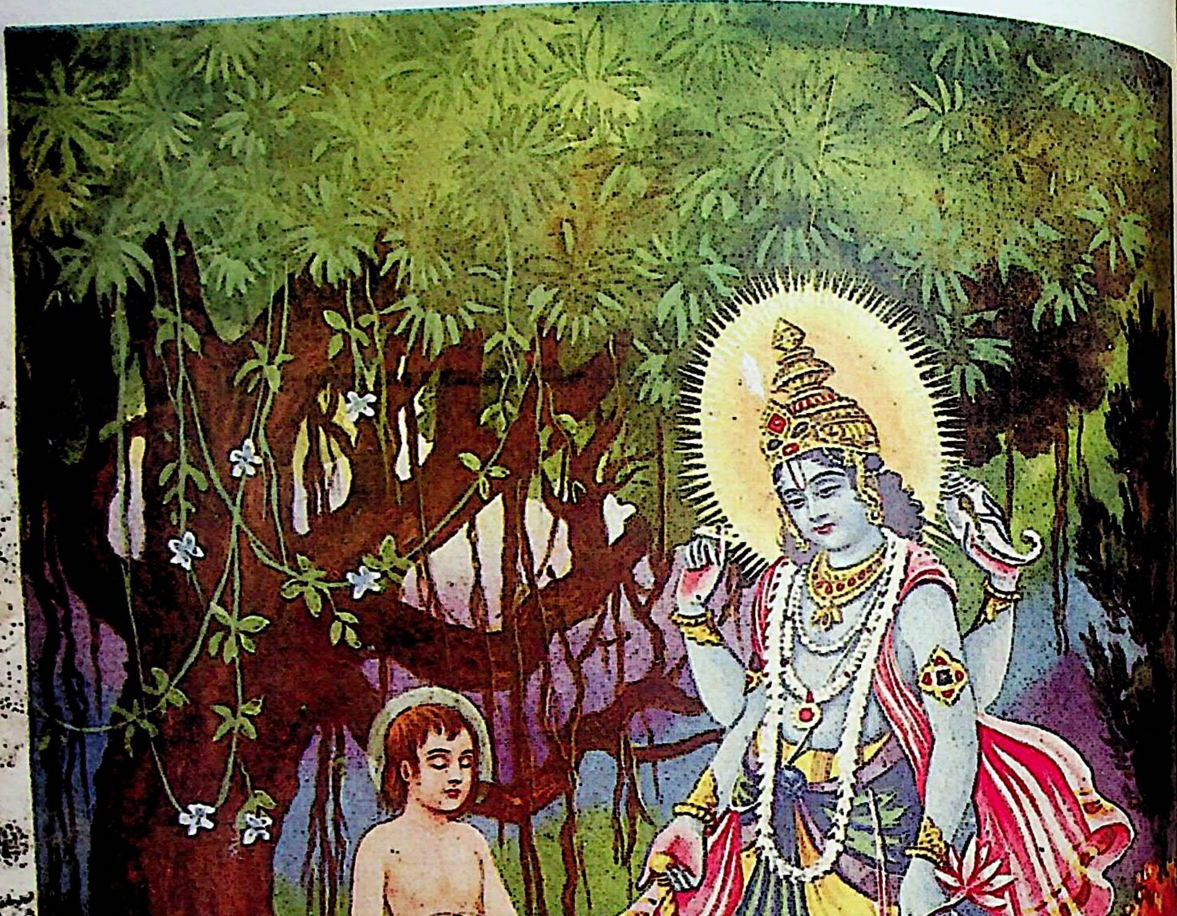

अर्थार्थी भक्त ध्रुव

मुझसे ही होनेवाले हैं'* ऐसा जान। परंतु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं† ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—भगवान्ने यह दिखलाया कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है और मुझसे ही व्याप्त है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इस प्रकार सर्वत्र परिपूर्ण और अत्यन्त समीप होनेपर भी लोग भगवान्को क्यों नहीं पहचानते; इसपर भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता‡ ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं§ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्ने मायाकी दुस्तरता दिखलाकर अपने भजनको उससे तरनेका उपाय बतलाया। इसपर यह प्रश्न उठता है कि जब ऐसी बात है, तब सब लोग निरन्तर आपका भजन क्यों नहीं करते; इसपर भगवान् कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढलोग मुझको नहीं भजते ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

किंतु हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करने-

---

* मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, तन्मात्राएँ, महाभूत और समस्त गुण-अवगुण तथा कर्म आदि जितने भी भाव हैं, सभी सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अन्तर्गत हैं। इन समस्त पदार्थोंका विकास और विस्तार भगवान्की 'अपरा प्रकृति' से होता है और वह प्रकृति भगवान्की है, अतः भगवान्से भिन्न नहीं है, उन्हींके लीला-लेशसे प्रकृतिके द्वारा सबका सृजन, विस्तार और उपसंहार होता रहता है—इस प्रकार जान लेना ही उन सबको 'भगवान्से होनेवाले' समझना है।

† जैसे आकाशमें उत्पन्न होनेवाले बादलोंका कारण और आधार आकाश है, परंतु आकाश उनसे सर्वथा निर्लिप्त है। बादल आकाशमें सदा नहीं रहते और अनित्य होनेसे वस्तुतः उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है; पर आकाश बादलोंके न रहनेपर भी सदा रहता है। जहाँ बादल नहीं है, वहाँ भी आकाश तो है ही; वह बादलोंके आश्रित नहीं है। वस्तुतः बादल भी आकाशसे भिन्न नहीं हैं, उसीमें उससे उत्पन्न होते हैं। अतएव यथार्थमें बादलोंकी भिन्न सत्ता न होनेसे आकाश किसी समय भी बादलोंमें नहीं है, वह तो सदा अपने-आपमें ही स्थित है। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् भी समस्त त्रिगुणमय भावोंके कारण और आधार हैं, तथापि वास्तवमें वे गुण भगवान्में नहीं हैं और भगवान् उनमें नहीं हैं। भगवान् तो सर्वथा और सर्वदा गुणातीत हैं तथा नित्य अपने-आपमें ही स्थित हैं।

‡ जगत्के समस्त देहाभिमानी प्राणी—यहाँतक कि मनुष्य भी—अपने-अपने स्वभाव, प्रकृति और विचारके अनुसार, अस्थिर और दुःखपूर्ण इन त्रिगुणमय भावोंको ही नित्य और सुखके हेतु समझकर इनकी कल्पित रमणीयता और सुख-रूपताकी केवल ऊपरसे ही दीखनेवाली चमक-दमकमें जीवनके परम लक्ष्यको भूलकर भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप और रहस्यके चिन्तन और ज्ञानसे विमुख हो रहे हैं। इस कारण उनकी विवेकदृष्टि इतनी स्थूल हो गयी है कि वे विषयोंके संग्रह करने और भोगनेके सिवा जीवनका अन्य कोई कर्तव्य या लक्ष्य ही नहीं समझते। इसलिये वे इन सबसे सर्वथा अतीत, अविनाशी परमात्माको नहीं जान सकते।

§ जो एकमात्र भगवान्को ही अपना परम आश्रय, परम गति, परम प्रिय और परम प्राप्य मानते हैं तथा सब कुछ भगवान्का या भगवान्के ही लिये है—ऐसा समझकर जो शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, गृह, कीर्ति आदिमें ममता और आसक्तिका त्याग करके, उन सबको भगवान्की ही पूजाकी सामग्री बनाकर तथा भगवान्के रचे हुए विधानमें सदा संतुष्ट रहकर, भगवान्की आज्ञाके पालनमें तत्पर और भगवान्के स्मरणपरायण होकर अपनेको सब प्रकारसे निरन्तर भगवान्में ही लगाये रखते हैं, वे शरणागत भक्त मायासे तरते हैं।

१. जन्म-जन्मान्तरसे शुभकर्म करते-करते जिनका स्वभाव सुधरकर शुभकर्मशील बन गया है और पूर्व-संस्कारोंके बलसे अथवा महत्सङ्गके प्रभावसे जो इस जन्ममें भी भगवदाज्ञानुसार शुभकर्म ही करते हैं, उन शुभकर्म करनेवालोंको 'सुकृती' कहते हैं।

वाले अर्थार्थी,* आर्त्त,† जिज्ञासु‡ और ज्ञानी§—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है,× क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है+ ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया । इसपर यह शङ्का हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं; इसपर भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

ये सभी उदार हैं,÷ परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही हैऽ—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥

---

* स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके भोगोंमेंसे, जिसके मनमें एककी या बहुतोंकी कामना है, परंतु कामनापूर्तिके लिये जो केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और इसके लिये जो श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवान्‌का भजन करता है, वह 'अर्थार्थी' भक्त है । सुग्रीव-विभीषणादि भक्त अर्थार्थी माने जाते हैं, इनमें प्रधानतासे ध्रुवका नाम लिया जाता है ।

† जो शारीरिक या मानसिक संताप, विपत्ति, शत्रुभय, रोग, अपमान, चोर, डाकू और आततायियोंके अथवा हिंसक जानवरोंके आक्रमण आदिसे घबराकर उनसे छूटनेके लिये पूर्ण विश्वासके साथ हृदयकी अडिग श्रद्धासे भगवान्‌का भजन करता है, वह 'आर्त' भक्त है । आर्त भक्तोंमें गजराज, जरासंधके बंदी राजागण आदि बहुत-से माने जाते हैं; परंतु सती द्रौपदीका नाम मुख्यतया लिया जाता है ।

‡ धन, स्त्री, पुत्र, गृह आदि वस्तुओंकी और रोग-संकटादिकी परवा न करके एकमात्र परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी इच्छासे ही जो एकनिष्ठ होकर भगवान्‌की भक्ति करता है (गीता १४ । २६), उस कल्याणकामी भक्तको 'जिज्ञासु' कहते हैं । जिज्ञासु भक्तोंमें परीक्षित् आदि अनेकोंके नाम हैं, परंतु उद्धवजीका नाम विशेष प्रसिद्ध है ।

§ जो परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी दृष्टिमें एक परमात्मा ही रह गये हैं—परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और इस प्रकार परमात्माको प्राप्त कर लेनेसे जिनकी समस्त कामनाएँ निःशेषरूपसे समाप्त हो चुकी हैं, तथा ऐसी स्थितिमें जो सहज भावसे ही परमात्माका भजन करते हैं, वे 'ज्ञानी' हैं (गीता १२ । १३-१९) । गीताके नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें तथा दसवें अध्यायके तीसरे और पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिनका वर्णन है, वे निष्काम अनन्य प्रेमी साधक भक्त भी ज्ञानी भक्तोंके अन्तर्गत हैं । ज्ञानियोंमें शुकदेवजी, सनकादि, नारदजी और भीष्मजी आदि प्रसिद्ध हैं । बालक प्रह्लाद भी ज्ञानी भक्त माने जाते हैं ।

× संसार, शरीर और अपने-आपको सर्वथा भूलकर जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌में ही स्थित है, उसे 'नित्ययुक्त' कहते हैं और जो भगवान्‌में ही हेतुरहित और अविरल प्रेम करता है, उसे 'एकभक्ति' कहते हैं; ऐसा भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी भक्त अन्य सबसे उत्तम है ।

+ जिन्होंने इस लोक और परलोकके अत्यन्त प्रिय, सुखप्रद तथा सांसारिक मनुष्योंकी दृष्टिसे दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले भोगों और सुखोंकी समस्त अभिलाषाओंका भगवान्‌के लिये त्याग कर दिया है, उनकी दृष्टिमें 'भगवान्‌का कितना महत्त्व है और उनको भगवान् कितने प्यारे हैं—दूसरे किसीके द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'ज्ञानीको' मैं अत्यन्त प्रिय हूँ ।' और जिनको भगवान् अतिशय प्रिय हैं, वे भगवान्‌को तो अतिशय प्रिय होंगे ही ।

÷ वे सब प्रकारके भक्त इस बातका भलीभाँति निश्चय कर चुके हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, परम दयालु हैं और परम सुहृद् हैं; हमारी आशा और आकाङ्क्षाओंकी पूर्ति एकमात्र उन्हींसे हो सकती है । ऐसा मान और जानकर, वे अन्य सब प्रकारके आश्रयोंका त्याग करके अपने जीवनको भगवान्‌के ही भजन-स्मरण, पूजन और सेवा आदिमें लगाये रखते हैं । उनकी एक भी चेष्टा ऐसी नहीं होती, जो भगवान्‌के विश्वासमें जरा भी त्रुटि लानेवाली हो । इसलिये सबको 'उदार' कहा गया है ।

ऽ इस कथनसे भगवान् यह भाव दिखला रहे हैं कि ज्ञानी भक्तमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है । भक्त है सो मैं हूँ और मैं हूँ सो भक्त है ।

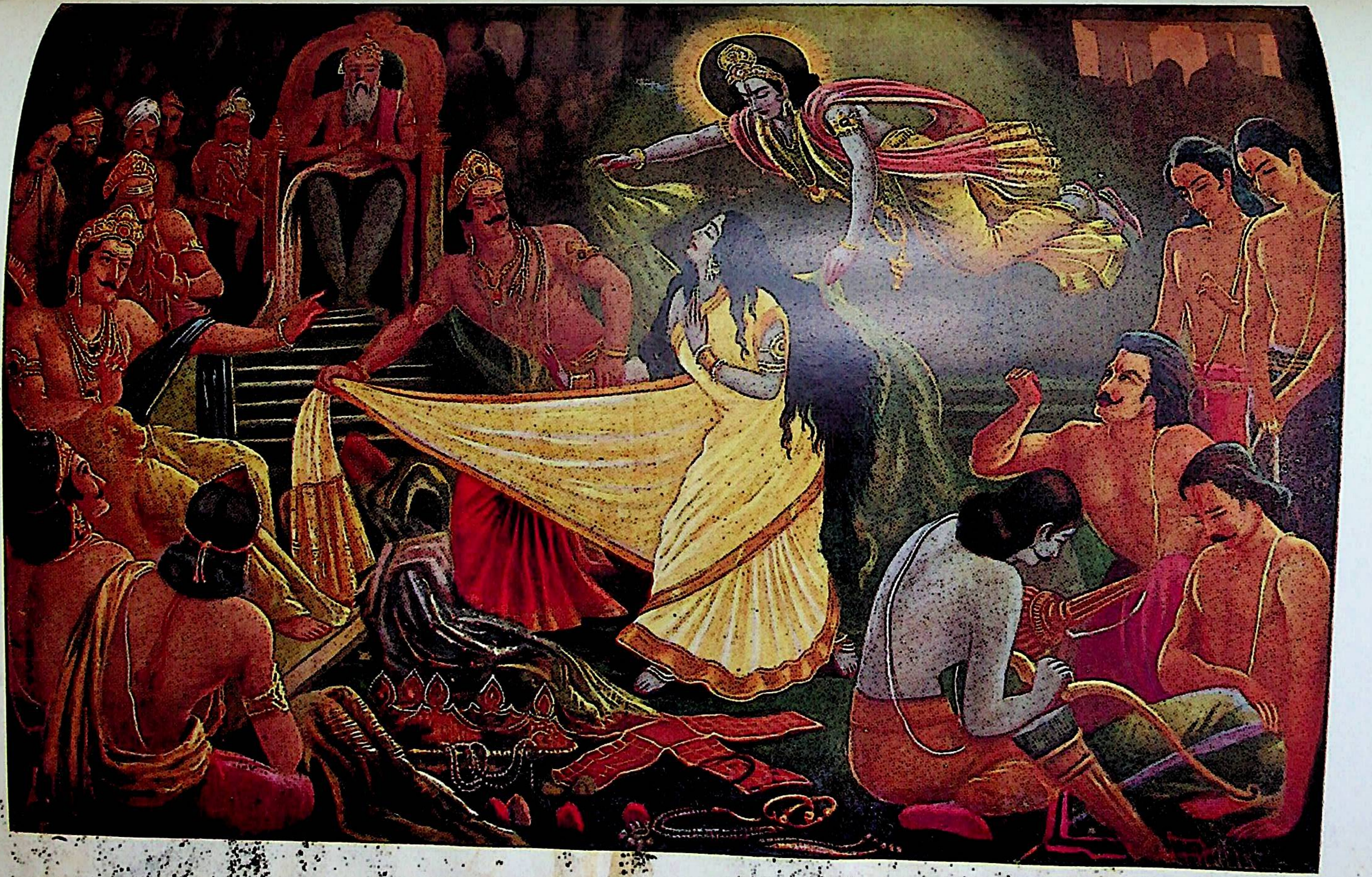

आर्त भक्त द्रौपदी

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्[2] मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है;* वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर† उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं‡ ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है,§ उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥ २२ ॥

वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसंदेह प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

परंतु उन अल्प बुद्धिवालोंका× वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं+ ।२३।

सम्बन्ध—जब भगवान् इतने प्रेमी और दयासागर हैं कि जिस-किसी प्रकारसे भी भजनेवालेको अपने स्वरूपकी प्राप्ति करा ही देते हैं, तो फिर सभी लोग उनको क्यों नहीं भजते, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको

---

१. जिस जन्ममें मनुष्य भगवान्‌का ज्ञानी भक्त बन जाता है, वही उसके बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है; क्योंकि भगवान्‌को इस प्रकार तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् उसका पुनः जन्म नहीं होता; वही उसका अन्तिम जन्म होता है।

२. भगवान्‌ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें विज्ञानसहित जिस ज्ञानके जाननेकी प्रशंसा की थी, जिस प्रेमी भक्तने उस विज्ञानसहित ज्ञानको प्राप्त कर लिया है तथा तीसरे श्लोकमें जिसके लिये कहा है कि कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है, उसीके लिये यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसीलिये अठारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

* सम्पूर्ण जगत् भगवान् वासुदेवका ही स्वरूप है, वासुदेवके सिवा और कुछ है ही नहीं, इस तत्त्वका प्रत्यक्ष और अटल अनुभव हो जाना और उसीमें नित्य स्थित रहना—यही 'सब कुछ वासुदेव है', इस प्रकारसे भगवान्‌का भजन करना है।

† जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे संस्कारोंका संचय होता है और उस संस्कारसमूहसे जो प्रकृति बनती है, उसे 'स्वभाव' कहा जाता है। स्वभाव प्रत्येक जीवका भिन्न होता है। उस स्वभावके अनुसार जो अन्तःकरणमें भिन्न-भिन्न देवताओंका पूजन करनेकी भिन्न-भिन्न इच्छा उत्पन्न होती है, उसीको 'उससे प्रेरित होना' कहते हैं।

‡ सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, इन्द्र, मरुत्, यमराज और वरुण आदि शास्त्रोक्त देवताओंको भगवान्‌से भिन्न समझकर, उन देवताकी, जिस उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनामें जप, ध्यान, पूजन, नमस्कार, न्यास, हवन, व्रत, उपवास आदिके जैसे-जैसे भिन्न-भिन्न नियम हैं, उन-उन नियमोंको धारण करके बड़ी सावधानीके साथ उनका भलीभाँति पालन करते हुए उन देवताओंकी आराधना करना ही 'उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजना' है।

§ देवताओंकी सत्तामें, उनके प्रभाव और गुणोंमें तथा पूजन-प्रकार और उसके फलमें पूरा विश्वास करके श्रद्धा-सहित जिस देवताकी जैसी मूर्तिका विधान हो, उसकी वैसे ही धातु, काष्ठ, मिट्टी, पाषाण आदिकी मूर्ति या चित्रपटकी श्रद्धापूर्वक स्थापना करके अथवा मनके द्वारा मानसिक मूर्तिका निर्माण करके जिस मन्त्रकी जितनी संख्याके जपपूर्वक जिन सामग्रियोंसे जैसी पूजाका विधान हो, उसी मन्त्रकी उतनी ही संख्या जपकर उन्हीं सामग्रियोंसे उसी विधानसे पूजा करना, देवताओंके निमित्त अग्निमें आहुति देकर यज्ञादि करना, उनका ध्यान करना, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रत्यक्ष देवताओंका पूजन करना और इन सबको यथाविधि नमस्कारादि करना—यही 'देवताओंके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना' है।

× देवोपासक कामनाओंके वशमें होकर, अन्य देवताओंको भगवान्‌से पृथक् मानकर, भोगवस्तुओंके लिये उनकी उपासना करते हैं, इसलिये उनको भक्तोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके और 'अल्पबुद्धि' कहा गया है।

+ भगवान्‌के नित्य दिव्य परमधाममें निरन्तर भगवान्‌के समीप निवास करना अथवा अभेदभावसे भगवान्‌में [illegible]को प्राप्त हो जाना, दोनोंहीका नाम 'भगवत्प्राप्ति' है।

न जानते हुए* मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं† ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको[1] मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

क्योंकि अपनी योगमायासे छिपा हुआ‡ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ,§ परंतु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

क्योंकि हे भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे× सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढनिश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं+ ॥ २८ ॥

---

* अपनी अनन्त दयालुता और शरणागतवत्सलताके कारण जगत्के प्राणियोंको अपनी शरणागतिका सहारा देनेके लिये ही भगवान् अपने अजन्मा, अविनाशी और महेश्वर स्वभाव तथा सामर्थ्यके सहित ही नाना स्वरूपोंमें प्रकट होते हैं और अपनी अलौकिक लीलाओंसे जगत्के प्राणियोंको परमानन्दके महान् सागरमें निमग्न कर देते हैं । भगवान्का जो नित्य, अनुत्तम और परम भाव है तथा इसको न समझना ही 'उनके अनुत्तम अविनाशी परमभावको न जानना' है।

† भगवान्के निर्गुण-सगुण दोनों ही रूप नित्य और दिव्य हैं । मनुष्यादिके रूपमें उनका प्रादुर्भाव होना ही जन्म है और अन्तर्धान हो जाना ही परमधामगमन है । अन्य प्राणियोंकी भाँति शरीर-संयोग-वियोगरूप जन्म-मरण उनके नहीं होते । इस रहस्यको न समझनेके कारण बुद्धिहीन मनुष्य समझते हैं कि जैसे अन्य सब प्राणी जन्मसे पहले अव्यक्त थे अर्थात् उनकी कोई सत्ता नहीं थी, अब जन्म लेकर व्यक्त हुए हैं; इसी प्रकार यह श्रीकृष्ण भी जन्मसे पहले नहीं था अब वसुदेवके घरमें जन्म लेकर व्यक्त हुआ है; अन्य मनुष्योंमें और इसमें अन्तर ही क्या है ? अर्थात् कोई भेद नहीं है । यही बुद्धिहीन मनुष्यका भगवान्को अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानना है ।

[1] 'लोकः' पदका प्रयोग केवल भगवान्के भक्तोंको छोड़कर शेष पापी, पुण्यात्मा—सभी श्रेणीके साधारण अज्ञानी मनुष्यसमुदायके लिये किया गया है ।

‡ गीताके चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने जिसको 'आत्ममाया' कहा है, जिस योगशक्तिसे भगवान् दिव्य गुणोंके सहित स्वयं मनुष्यादि रूपोंमें प्रकट होते हुए भी लोकदृष्टिमें जन्म धारण करनेवाले साधारण मनुष्य-से ही प्रतीत होते हैं, उस मायाशक्तिका नाम 'योगमाया' है। उससे वास्तवमें भगवान् आवृत नहीं होते तथापि जैसे लोगोंकी दृष्टि बादलोंसे आवृत हो जानेके कारण ऐसा कहा जाता है कि सूर्य बादलोंसे ढका गया, उसी प्रकार यहाँ भगवान्का अपनेको योगमायासे छिपा रहना बताना है।

§ यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि 'देवता, मनुष्य, पशु और कीट-पतङ्गादि जितने भी भूत—चराचर प्राणी हैं, वे सब अबसे पूर्व अनन्त कल्प-कल्पान्तरोंमें कब किन-किन योनियोंमें किस प्रकार उत्पन्न होकर कैसे रहे थे और उन्होंने क्या-क्या किया था तथा वर्तमान कल्पमें कौन, कहाँ, किस योनिमें किस प्रकार उत्पन्न होकर क्या कर रहे हैं और भविष्य कल्पोंमें कौन कहाँ किस प्रकार रहेंगे, इन सब बातोंको मैं जानता हूँ ।' वास्तवमें भगवान्के लिये भूत, भविष्य और वर्तमानकालका भेद नहीं है । उनके अखण्ड ज्ञानस्वरूपमें सभी कुछ सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष है ।

× जिनको भगवान्ने मनुष्यके कल्याणमार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु (परिपन्थी) बतलाया है (गीता ३ । ३४) और काम-क्रोधके नामसे (गीता ३ । ३७) जिनको पापोंमें हेतु तथा मनुष्यका वैरी कहा है, उन्हीं राग-द्वेषका यहाँ 'इच्छा' और 'द्वेष' के नामसे वर्णन किया है । इन 'इच्छा-द्वेष' से जो हर्ष-शोक और सुख-दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, वे इस जीवके अज्ञानको दृढ़ करनेमें कारण होते हैं; अतएव उन्हींका नाम 'द्वन्द्वरूप मोह' है ।

+ भगवान्को ही सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके आत्मा और परम पुरुषोत्तम समझकर बुद्धिसे उनके तत्त्वका निश्चय, मनसे उनके गुण, प्रभाव, स्वरूप और लीला-रहस्यका चिन्तन, वाणीसे उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, सिरसे उनको नमस्कार, हाथोंसे उनकी पूजा और दीन-दुखी आदिके रूपमें उनकी सेवा, नेत्रोंसे उनके विग्रहके दर्शन, चरणोंसे [illegible] मन्दिर और तीर्थादिमें जाना तथा अपनी समस्त वस्तुओंको निःशेषरूपसे केवल उनके ही अर्पण करके उस प्रकार केवल उन्हींका हो रहना—यही 'सब प्रकारसे उनको भजना' है ।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९ ॥

जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं,* वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

एवं जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबके आत्मरूप) मुझे अन्तकालमें भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं† अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञान-विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥ भीष्मपर्वमें इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

◆

द्वात्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टमोऽध्यायः)

ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर, एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका प्रतिपादन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक भगवान्‌ने अपने समग्र रूपका तत्त्व सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए उसके कहनेकी प्रतिज्ञा और जाननेवालोंकी प्रशंसा की। फिर उन्तीसवें श्लोकतक अनेक प्रकारसे उस तत्त्वको समझाकर न जाननेके कारणको भी भलीभाँति समझाया और अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌के समग्र रूपको जाननेवाले भक्तकी महिमाका वर्णन करते हुए उस अध्यायका उपसंहार किया; किंतु उन्तीसवें और तीसवें श्लोकोंमें वर्णित ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छहोंका तथा प्रयाणकालमें भगवान्‌को जाननेकी बातका रहस्य भलीभाँति न समझनेके कारण इस आठवें अध्यायके आरम्भमें पहले दो श्लोकोंमें अर्जुन उपर्युक्त सातों विषयोंको समझनेके लिये भगवान्‌से सात प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं? ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस शरीरमें कैसे है? तथा युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

---

* यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि 'जो संसारके सब विषयोंके आश्रयको छोड़कर दृढ़ विश्वासके साथ एकमात्र मेरा ही आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही मन-बुद्धिको लगाये रखते हैं, वे मेरे शरण होकर यत्न करनेवाले हैं।'

† उन्तीसवें श्लोकमें वर्णित 'ब्रह्म', जीवसमुदायरूप 'अध्यात्म', भगवान्‌का आदि संकल्परूप 'कर्म' तथा उपर्युक्त [illegible]रूप 'अधिभूत', हिरण्यगर्भरूप 'अधिदैव' और अन्तर्यामीरूप 'अधियज्ञ'—सब एक भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। यही भगवान्‌का समग्र रूप है। अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने इसी समग्र रूपको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी। फिर सातवें श्लोकमें 'मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है', बारहवेंमें 'सात्त्विक, राजस और तामस भाव सब मुझसे ही होते हैं' और उन्नीसवेंमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' कहकर इसी समग्रका वर्णन किया है तथा यहाँ भी उपर्युक्त शब्दोंसे इसीका वर्णन करके अध्यायका उपसंहार किया गया है। इस समग्रको जान लेना अर्थात् जैसे जलके परमाणु, भाप, बादल, धूम, जल और बर्फ सभी जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार यथार्थरूपसे अनुभव कर लेना ही समग्र ब्रह्मको या भगवान्‌को जानना है।

श्रीभगवान्‌ने कहा—परम अक्षर 'ब्रह्म' है,* अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म'† नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है,‡ वह 'कर्म' नामसे कहा गया है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

उत्पत्ति-विनाशधर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्मय पुरुष अधिदैव§ है और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ× ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको होता है+—इसमें कुछ भी संशय नहीं है÷ ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—यहाँ यह बात कही गयी कि भगवान्‌का करते हुए मरनेवाला भगवान्‌को ही प्राप्त होता है। इसपर जिज्ञासा होती है कि केवल भगवान्‌के स्मरणके सम्बन्धमें विशेष नियम है या सभीके सम्बन्धमें है; इसपर कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावकोऽ स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावित रहा हैA ॥ ६ ॥

---

* अक्षरके साथ 'परम' विशेषण देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि गीताके सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें 'ब्रह्म' शब्द निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माका वाचक है; वेद, ब्रह्मा और प्रकृति आदिका नहीं।

† 'स्वो भावः स्वभावः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अपने ही भावका नाम स्वभाव है। जीवरूपा भगवान्‌की चेतन परा प्रकृतिरूप आत्मतत्त्व ही जब आत्म-शब्दवाच्य शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्ध्यादिरूप अपरा प्रकृतिका अधिष्ठाता हो है, तब उसे 'अध्यात्म' कहते हैं। अतएव गीताके सातवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने 'कृत्स्न' विशेषणके साथ 'अध्यात्म' शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ 'चेतन जीवसमुदाय' समझना चाहिये।

‡ 'भूत' शब्द चराचर प्राणियोंका वाचक है। इन भूतोंके भावका उद्भव और अभ्युदय जिस त्यागसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, उस 'त्याग' का नाम ही कर्म है। महाप्रलयमें विश्वके समस्त प्राणी अपने-अपने कर्म-संस्कारोंके साथ भगवान्‌में विलीन हो जाते हैं। फिर सृष्टिके आदिमें भगवान् जब यह संकल्प करते हैं कि 'मैं एक ही बहुत हो जाऊँ' तब पुनः उनकी उत्पत्ति होती है। भगवान्‌का यह 'आदि संकल्प' ही अचेतन प्रकृतिरूप योनिमें चेतनरूप बीजकी करना है। यही महान् विसर्जन है और इसी विसर्जन (त्याग)का नाम 'विसर्ग' है।

१. अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न जो विनाशशील तत्त्व है, जिसका प्रतिक्षण क्षय होता है, नाम 'क्षरभाव' है। इसीको गीताके तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' (शरीर) के नामसे और पंद्रहवें अध्यायमें 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है।

§ 'पुरुष' शब्द यहाँ 'प्रथम पुरुष' का वाचक है; इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं। चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्वका यही प्राणपुरुष है, समस्त देवता इसीके अङ्ग हैं, यही सबका अधिष्ठाता, अधिपति और उत्पादक है; इसीसे इसका नाम 'अधिदैव' है।

× अर्जुनने दो बातें पूछी थीं—'अधियज्ञ' कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? दोनों प्रश्नोंका भगवान्‌ने ही साथ उत्तर दे दिया है। भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं (गीता ५ । २९; ९ । २४) और समस्त विधान वे ही करते हैं (गीता ७ । २२) तथा वे ही अन्तर्यामीरूपसे सबके अंदर व्यापक हैं; इसलिये वे कहते हैं कि शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ मैं स्वयं ही हूँ।'

+ यहाँ अन्तकालका विशेष महत्त्व प्रकट किया गया है, अतः भगवान्‌के कहनेका यहाँ यह भाव है कि जो सर्वदा मेरा अनन्यचिन्तन करते हैं उनकी तो बात ही क्या है, जो इस मनुष्य-जन्मके अन्तिम क्षणतक भी मेरा चिन्तन करते हुए शरीर त्यागकर जाते हैं, उनको भी मेरी प्राप्ति हो जाती है।

÷ अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करनेवाला मनुष्य किसी भी देश और किसी भी कालमें क्यों न मरे एवं पहलेके उसके आचरण चाहे जैसे भी क्यों न रहे हों, उसे भगवान्‌की प्राप्ति निःसंदेह हो जाती है। इसमें जरा भी शङ्का नहीं है।

ऽ ईश्वर, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, मकान, जमीन आदि जितने भी चेतन और जड पदार्थ हैं, उन सबका नाम 'भाव' है। अन्तकालमें किसी भी पदार्थका चिन्तन करना, उस भावका स्मरण करना है।

A अन्तकालमें प्रायः उसी भावका स्मरण होता है जिस भावसे चित्त सदा भावित होता है। पूर्वसंस्कार, वातावरण, आसक्ति, कामना, भय और अध्ययन आदिके प्रभावसे मनुष्य जिस भावका बार-बार चिन्तन करता है, कव

स्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
य्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण र और युद्ध भी कर ।* इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए बुद्धिसे युक्त होकर† तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।७।

भ्यासयोगयुक्तेन¹ चेतसा नान्यगामिना ।
मं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यास-प योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर न्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको र्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है‡ ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता,§ सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है ॥ ९—१० ॥

भावित हो जाता है तथा मरनेके बाद सूक्ष्मरूपसे अन्तःकरणमें अङ्कित हुए उस भावसे भावित होता-होता समयपर भावको पूर्णतया प्राप्त हो जाता है । किसी मनुष्यका छायाचित्र (फोटो) लेते समय जिस क्षण फोटो (चित्र) खींचा जाता उस क्षणमें वह मनुष्य जिस प्रकारसे स्थित होता है, उसका वैसा ही चित्र उतर जाता है; उसी प्रकार अन्तकालमें मनुष्य चिन्तन करता है, वैसे ही रूपका फोटो उसके अन्तःकरणमें अङ्कित हो जाता है । उसके बाद फोटोकी भाँति अन्य दूसरी पदार्थोंकी सहायता पाकर उस भावसे भावित होता हुआ वह समयपर स्थूलरूपको प्राप्त हो जाता है ।

यहाँ अन्तःकरण ही कैमरेका प्लेट है, उसमें होनेवाला स्मरण ही प्रतिबिम्ब है और अन्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति ही खिंचना है; अतएव जैसे चित्र लेनेवाला सबको सावधान करता है और उसकी बात न मानकर इधर-उधर हिलनेसे चित्र बिगड़ जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंका चित्र उतारनेवाले भगवान् मनुष्यको सावधान करते हैं कि 'तुम्हारा उतरनेका समय अत्यन्त समीप है, पता नहीं वह अन्तिम क्षण कब आ जाय; इसलिये तुम सावधान हो जाओ, नहीं चित्र बिगड़ जायगा ।' यहाँ निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करना ही सावधान होना है और परमात्माको छोड़कर किसीका चिन्तन करना ही अपने चित्रको बिगाड़ना है ।

* जो भगवान्के गुण और प्रभावको भलीभाँति जाननेवाला अनन्यप्रेमी भक्त है, जो सम्पूर्ण जगत्को भगवान्के ही रचित और वास्तवमें भगवान्से अभिन्न तथा भगवान्की क्रीडास्थली समझता है, उसे प्रह्लाद और गोपियोंकी भाँति परमाणुमें भगवान्के दर्शन प्रत्यक्षकी भाँति होते रहते हैं; अतएव उसके लिये तो निरन्तर भगवत्स्मरणके साथ-साथ कर्म करते रहना बहुत आसान बात है तथा जिसका विषयभोगोंमें वैराग्य होकर भगवान्में मुख्य प्रेम हो गया है, जो निष्काम भावसे केवल भगवान्की आज्ञा समझकर भगवान्के लिये ही वर्णधर्मके अनुसार कर्म करता है, वह भी भगवान्का स्मरण करता हुआ अन्यान्य कर्म कर सकता है । जैसे अपने पैरोंका ध्यान रखती हुई नटी बाँसपर अनेक प्रकारके खेल दिखलाती है, अथवा जैसे हैंडलपर पूरा ध्यान रखता हुआ मोटर-ड्राइवर दूसरोंसे बातचीत है और विपत्तिसे बचनेके लिये रास्तेकी ओर भी देखता रहता है, उसी प्रकार निरन्तर भगवान्का स्मरण करते हुए के सब काम सुचारुरूपसे हो सकते हैं ।

† बुद्धिसे भगवान्के गुण, प्रभाव, स्वरूप, रहस्य और तत्त्वको समझकर परमश्रद्धाके साथ अटल निश्चय कर लेना मनसे अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गुण, प्रभावके सहित भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते रहना—यही मन-बुद्धिको समर्पित कर देना है ।

१. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यानके अभ्यासका नाम 'अभ्यासयोग' है । ऐसे अभ्यासद्वारा जो चित्त भलीभाँति वशमें होकर निरन्तर अभ्यासमें ही लगा रहता है, उसे 'अभ्यासयोगयुक्त' कहते हैं ।

‡ इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसको 'अधियज्ञ' कहा है और बाईसवें श्लोकमें जिसको 'परम पुरुष' बतलाया भगवान्के उस सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले सगुण निराकार सर्वव्यापी अव्यक्त ज्ञानस्वरूपको यहाँ 'दिव्य पुरुष' कहा गया है। उसका चिन्तन करते-करते उसे यथार्थरूपमें जानकर उसके साथ तद्रूप हो जाना ही उसको प्राप्त होना है।

§ परमेश्वर अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाले होनेसे 'सबके नियन्ता' हैं।

सम्बन्ध—पाँचवें श्लोकमें भगवान्का चिन्तन करते-करते मरनेवाले साधारण मनुष्यकी गतिका संक्षेपमें वर्णन किया गया, फिर आठवेंसे दसवें श्लोकतक भगवान्के 'अधियज्ञ' नामक सगुण निराकार दिव्य अव्यक्त स्वरूपका चिन्तन करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिके सम्बन्धमें बतलाया, अब ग्यारहवें श्लोकसे तेरहवेंतक परम अक्षर निर्गुण निराकार परब्रह्मकी उपासना करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिका वर्णन करनेके लिये पहले उस अक्षर ब्रह्मको प्रशंसा करके उसे बतलाते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं,* आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परम पदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा† ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् माम्[1]अनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर‡ तथा मनको हृदे स्थिर करके,§ फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्त में स्थापित करके, परमात्मासम्बन्धी योगधारणामें स्थित हो जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण कर हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्त करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष प गतिको प्राप्त होता है× ॥ १२-१३ ॥

अनन्यचेताः[2] सततं यो मां[3] स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्त मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सह ही प्राप्त हो जाता हूँ+ ॥ १४ ॥

---

* वेदके जाननेवाले ज्ञानी महात्मा पुरुष कहते हैं कि यह 'अक्षर' है अर्थात् यह एक ऐसा महान् तत्त्व है, जिसका किसी भी अवस्थामें कभी भी किसी भी रूपमें क्षय नहीं होता; यह सदा अविनश्वर, एकरस और एकरूप रहता है। गीताके बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका वर्णन है, यहाँ भी यह उसीका प्रसंग है।

† 'ब्रह्मचर्य' का वास्तविक अर्थ है, ब्रह्ममें अथवा ब्रह्मके मार्गमें संचरण करना—जिन साधनोंसे ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हुआ जा सकता है, उनका आचरण करना। ऐसे साधन ही ब्रह्मचारीके व्रत कहलाते हैं, सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना भी इन्हींके अन्तर्गत है। ये ब्रह्मचर्य-आश्रममें आश्रमधर्मके रूपमें अवश्य पालनीय हैं और साधारणतया अवस्थाभेदके अनुसार सभी साधकोंको यथाशक्ति उनका अवश्य पालन करना चाहिये।

यहाँ भगवान्ने यह प्रतिज्ञा की है कि उपर्युक्त वाक्योंमें जिस परब्रह्म परमात्माका निर्देश किया गया है, व ब्रह्म कौन है और अन्तकालमें किस प्रकार साधन करनेवाला मनुष्य उसको प्राप्त होता है—यह बात मैं तुम्हें संक्षेपसे कहूँगा।

[1] यहाँ ज्ञानयोगीके अन्तकालका प्रसंग होनेसे 'माम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है।

‡ श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दसों इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण होता है, इसलिये इनको 'द्वार' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इनके रहनेके स्थानों (गोलकों) को भी 'द्वार' कहते हैं। इन इन्द्रियों को बाह्य विषयोंसे हटाकर अर्थात् देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको बंद करके, साथ ही इन्द्रियोंके गोलकोंको रोककर इन्द्रियोंकी वृत्तिको अन्तर्मुख कर लेना ही सब द्वारोंका संयम करना है। इसीको योगशास्त्रमें 'प्रत्याहार' कहते हैं।

§ नाभि और कण्ठ—इन दोनों स्थानोंके बीचका स्थान, जिसे हृदयकमल भी कहते हैं और जो मन तथा प्राणों निवासस्थान माना गया है, हृद्देश है और इधर-उधर भटकनेवाले मनको संकल्प-विकल्पोंसे रहित करके हृदयमें निरु कर देना ही उसको हृद्देशमें स्थिर करना है।

× निर्गुण-निराकार ब्रह्मको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना, परम गतिको प्राप्त होना है। इसीको सदाके लिये आवागमन से मुक्त होना, मुक्तिलाभ कर लेना, मोक्षको प्राप्त होना अथवा निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होना कहते हैं।

[2] जिसका चित्त अन्य किसी भी वस्तुमें न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेमके साथ केवल परम प्रेमी परमेश्वरमें ही लगा रहता हो, उसे 'अनन्यचेताः' कहते हैं।

[3] यहाँ 'माम्' पद सगुण साकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है; परंतु जो श्रीविष्णु और श्रीराम आदि भगवान्के दूसरे रूपको इष्ट माननेवाले हैं, उनके लिये वह रूप भी 'माम्' का ही वाच्य है तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्के स्वरूपका अथवा उनके नाम, गुण, प्रभाव और लीला आदिका चिन्तन करते रहना ही उनका स्मरण करना है।

+ [illegible] प्रेमसे भगवान्का चिन्तन करनेवाला प्रेमी भक्त जब भगवान्के वियोगको नहीं सह सकता तब वे कव

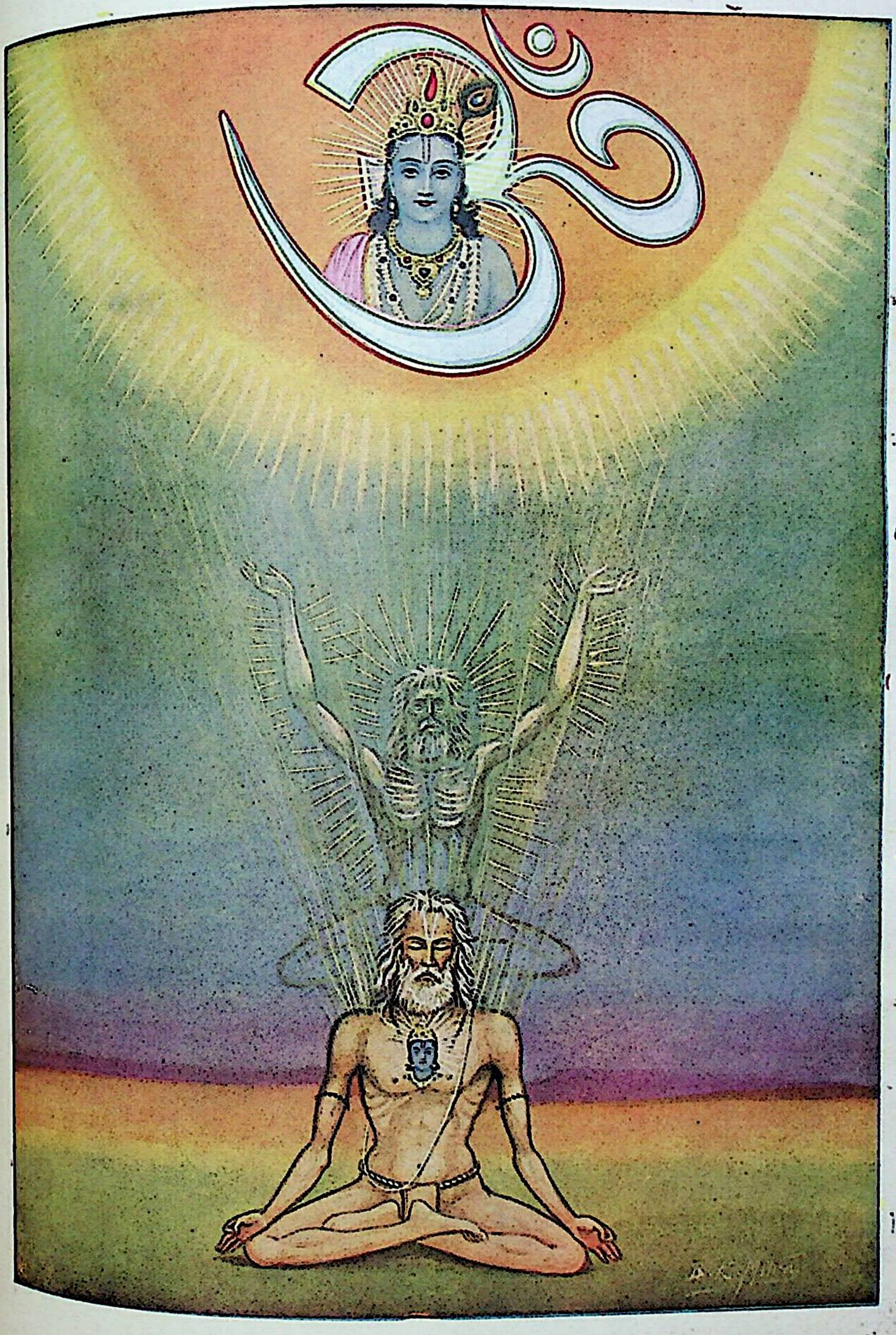

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ (गीता ८ । १३)

मुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
प्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन* मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ॥

सम्बन्ध—भगवत्प्राप्त महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता—इस कथनसे यह प्रकट होता है कि दूसरे जीवोंका पुनर्जन्म होता है। अतः यहाँ यह जाननेकी इच्छा होती है कि किस लोकतक गये हुए जीवोंको वापस लौटना पड़ता है । इसपर भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त‡ सब लोक पुनरावर्ती§ हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं,× वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥

प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्’ (गीता ४ । ११) के अनुसार भगवान्‌को भी उसका वियोग असह्य हो जाता है और जब भगवान् स्वयं मिलनेकी इच्छा करते हैं, तब कठिनताके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता । इसी हेतुसे ऐसे भक्तोंके लिये भगवान्‌को सुलभ बतलाया गया है ।

* अतिशय श्रद्धा और प्रेमके साथ नित्य-निरन्तर भजन-ध्यानका साधन करते-करते जब साधनकी वह पराकाष्ठारूप स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेके बाद फिर कुछ भी साधन करना शेष नहीं रह जाता और तत्काल ही उसे भगवान्‌का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है—उस पराकाष्ठाकी स्थितिको ‘परम सिद्धि’ कहते हैं और भगवान्‌के जो भक्त इस परम सिद्धिको प्राप्त हैं, उन ज्ञानी भक्तोंके लिये ‘महात्मा’ शब्दका प्रयोग किया गया है ।

† मरनेके बाद कर्मपरवश होकर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमेंसे किसी भी योनिमें जन्म लेना ही पुनर्जन्म कहलाता है और ऐसी कोई भी योनि नहीं है, जो दुःखपूर्ण और अनित्य न हो । अतः पुनर्जन्ममें गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख-ही-दुःख होनेके कारण उसे दुःखोंका घर कहा गया है और किसी भी योनिका तथा उस योनिमें प्राप्त भोगोंका संयोग सदा न रहनेवाला होनेसे उसे अशाश्वत (क्षणभङ्गुर) बतलाया गया है ।

‡ जो चतुर्मुख ब्रह्मा सृष्टिके आदिमें भगवान्‌के नाभिकमलसे उत्पन्न होकर सारी सृष्टिकी रचना करते हैं, जिनको प्रजापति, हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मा भी कहते हैं तथा इसी अध्यायमें जिनको ‘अधिदैव’ कहा गया है (गीता ८ । ४), वे जिस ऊर्ध्वलोकमें निवास करते हैं, उस लोकविशेषका नाम ‘ब्रह्मलोक’ है । उपर्युक्त ब्रह्मलोकके सहित उससे नीचेके जितने भी विभिन्न लोक हैं, उन सबको पुनरावर्ती समझना चाहिये ।

§ बार-बार नष्ट होना और उत्पन्न होना जिनका स्वभाव हो, उन लोकोंको ‘पुनरावर्ती’ कहते हैं ।

× यहाँ ‘युग’ शब्द ‘दिव्य युग’का वाचक है—जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग चारों युगोंके समयको मिलाकर होता है । यह देवताओंका युग है, इसलिये इसको ‘दिव्य युग’ कहते हैं । इस देवताओंके समयका परिमाण हमारे समयके परिमाणसे तीन सौ साठ गुना अधिक माना जाता है । अर्थात् हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिन-रात, हमारे तीस वर्ष देवताओंका एक महीना और हमारे तीन सौ साठ वर्ष उनका एक दिव्य वर्ष होता है । ऐसे बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक ‘दिव्य युग’ होता है । इसे ‘महायुग’ और ‘चतुर्युगी’ भी कहते हैं । इस संख्याके जोड़नेपर हमारे ४३,२०,००० वर्ष होते हैं । दिव्य वर्षोंके हिसाबसे बारह सौ दिव्य वर्षोंका हमारा कलियुग, चौबीस सौका द्वापर, छत्तीस सौका त्रेता और अड़तालीस सौ वर्षोंका सत्ययुग होता है । कुल मिलाकर १२,००० वर्ष होते हैं । इसे दूसरी तरह समझिये । हमारे युगोंके समयका परिमाण इस प्रकार है—

कलियुग—४,३२,००० वर्ष
द्वापरयुग—८,६४,००० वर्ष (कलियुगसे दुगुना)
त्रेतायुग—१२,९६,००० वर्ष (कलियुगसे तिगुना)
सत्ययुग—१७,२८,०००वर्ष (कलियुगसे चौगुना)
कुल जोड़—४३, २०, ००० वर्ष

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं* और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं† ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पार्थ ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है‡ ॥ १९ ॥

सम्बन्ध——ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें जिस अव्यक्तमें सब भूत लीन होते हैं और दिनका आरम्भ होते ही जिससे उत्पन्न होते हैं; वही अव्यक्त सर्वश्रेष्ठ है या उससे बढ़कर कोई दूसरा भी है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं——

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण है

यह एक दिव्य युग हुआ । ऐसे हजार दिव्य युगोंका अर्थात् हमारे ४, ३२, ००, ००, ००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है ।

मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायमें चौंसठवेंसे तिहत्तरवें श्लोकतक इस विषयका विशद वर्णन है । ब्रह्माके दिनको 'कल्प' या 'सर्ग' और रात्रिको प्रलय कहते हैं । ऐसे तीस दिन-रातका ब्रह्माका एक महीना, ऐसे बारह महीनोंका एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षोंकी ब्रह्माकी पूर्णायु होती है । ब्रह्माके दिन-रात्रिका परिमाण बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार ब्रह्माका जीवन और उनका लोक भी सीमित तथा कालकी अवधिवाला है, इसलिये वह भी अनित्य ही है और जब वही अनित्य है, तब उसके नीचेके लोक और उनमें रहनेवाले प्राणियोंके शरीर अनित्य हों, इसमें तो कहना ही क्या है !

* देव, मनुष्य, पितर, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जितने भी व्यक्तरूपमें स्थित देहधारी चराचर प्राणी हैं, उन सबको 'व्यक्ति' कहा है ।

प्रकृतिका जो सूक्ष्म परिणाम है, जिसको ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं, स्थूल पञ्चमहाभूतोंके उत्पन्न होनेसे पूर्वकी जो स्थिति है, उस सूक्ष्म अपरा प्रकृतिका नाम यहाँ 'अव्यक्त' है ।

ब्रह्माके दिनके आगममें अर्थात् जब ब्रह्मा अपनी सुषुप्ति-अवस्थाका त्याग करके जाग्रत्-अवस्थाको स्वीकार करते हैं तब उस सूक्ष्म प्रकृतिमें विकार उत्पन्न होता है और वह स्थूलरूपमें परिणत हो जाती है एवं उस स्थूलरूपमें परिणत प्रकृतिके साथ सब प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न रूपोंमें सम्बद्ध हो जाते हैं । यही अव्यक्तसे व्यक्तियोंका उत्पन्न होना है ।

† एक हजार दिव्य युगोंके बीत जानेपर जिस क्षणमें ब्रह्मा जाग्रत्-अवस्थाका त्याग करके सुषुप्ति-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, उस प्रथम क्षणका नाम ब्रह्माकी रात्रिका आगम प्रवेश-काल है ।

उस समय स्थूलरूपमें परिणत प्रकृति सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त हो जाती है और समस्त देहधारी प्राणी भिन्न-भिन्न स्थूल शरीरोंसे रहित होकर प्रकृतिकी सूक्ष्म अवस्थामें स्थित हो जाते हैं । यही उस अव्यक्तमें समस्त व्यक्तियोंका लय होना है ।

‡ अव्यक्तमें लीन हो जानेसे भूतप्राणी न तो मुक्त होते हैं और न उनकी भिन्न सत्ता ही मिटती है । इसीलिये ब्रह्माकी रात्रिका समय समाप्त होते ही वे सब पुनः अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार यथायोग्य स्थूल शरीरोंको प्राप्त करके प्रकट हो जाते हैं ।

इस प्रकार यह भूतसमुदाय अनादिकालसे उत्पन्न हो-होकर लीन होता चला आ रहा है । ब्रह्माकी आयुके सौ वर्ष पूर्ण होनेपर जब ब्रह्माका शरीर भी मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है और उसके साथ-साथ सब भूतसमुदाय भी उसीमें लीन हो जाते हैं (गीता ९ । ७), तब भी इनके इस चक्करका अन्त नहीं आता । ये उसके बाद भी उसी तरह पुनः पुनः उत्पन्न होते रहते हैं (गीता ९ । ८) । जबतक प्राणीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक वह बार-बार इसी प्रकार उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिमें लीन होता रहेगा ।

यहाँ ब्रह्माके दिन-रातका प्रसंग होनेसे यही समझना चाहिये कि ब्रह्मा ही समस्त प्राणियोंको उनके गुण-कर्मानुसार शरीरोंसे सम्बद्ध करके बार-बार उत्पन्न करते हैं । महाप्रलयके बाद जिस समय ब्रह्माकी उत्पत्ति नहीं होती, उस समय तो सृष्टिकी रचना स्वयं भगवान् करते हैं; परंतु ब्रह्माके उत्पन्न होनेके बाद सबकी रचना ब्रह्मा ही करते हैं ।

गीताके नवें अध्यायमें (श्लोक ७ से १०) और चौदहवें अध्यायमें (श्लोक ३, ४) जो सृष्टिरचनाका प्रसंग है, वह महाप्रलयके बाद महासर्गके आदिकालका है और यहाँका वर्णन ब्रह्माकी रात्रिके (प्रलयके) बाद ब्रह्माके दिनके (सर्गके) आरम्भ-समयका है ।

सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता* ॥ २० ॥

सम्बन्ध—आठवें और दसवें श्लोकोंमें अधियज्ञकी उपासनाका फल परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, तेरहवें श्लोकमें परम अक्षर निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका फल परमगतिकी प्राप्ति और चौदहवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनाका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है। इससे तीनोंमें किसी प्रकारके भेदका भ्रम न हो जाय, इस उद्देश्यसे अब सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए भगवान्‌की प्राप्तिके बाद पुनर्जन्मका अभाव दिखलाते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

जो अव्यक्त 'अक्षर'† इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षरनामक अव्यक्तभावको परम गति‡ कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है§ ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है,× वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है+ ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनके सातवें प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने अन्तकालमें किस प्रकार मनुष्य परमात्माको प्राप्त होता है, यह बात भलीभाँति समझायी। प्रसङ्गवश यह बात भी कही कि भगवत्प्राप्ति न होनेपर ब्रह्मलोकतक पहुँचकर भी जीव आवागमनके चक्करसे नहीं छूटता; परंतु वहाँ यह बात नहीं कही गयी कि जो वापस न लौटनेवाले स्थानको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे और कैसे जाते हैं तथा इसी प्रकार जो वापस लौटनेवाले स्थानोंको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे जाते हैं। अतः उन दोनों मार्गोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् प्रस्तावना करते हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! जिस कालमें÷ शरीर त्यागकर गये हुए

---

* अठारहवें श्लोकमें जिस 'अव्यक्त' में समस्त व्यक्तियों (भूत-प्राणियों) का लय होना बतलाया गया है, उसीका वाचक यहाँ 'अव्यक्तात्' पद है; उस पूर्वोक्त 'अव्यक्त' से इस 'अव्यक्त' को 'पर' और 'अन्य' बतलाकर उससे इसकी अत्यन्त श्रेष्ठता और विलक्षणता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि दोनोंका स्वरूप 'अव्यक्त' होनेपर भी दोनों एक जातिकी वस्तु नहीं हैं। वह पहला 'अव्यक्त' जड, नाशवान् और ज्ञेय है; परंतु यह दूसरा चेतन, अविनाशी और ज्ञाता है। साथ ही यह उसका स्वामी, संचालक और अधिष्ठाता है; अतएव यह उससे अत्यन्त श्रेष्ठ और विलक्षण है। अनादि और अनन्त होनेके कारण इसे 'सनातन' कहा गया है। इसलिये यह सबके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।

† जिसे पूर्वश्लोकमें 'सनातन अव्यक्तभाव'के नामसे और आठवें तथा दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्य पुरुष' के नामसे कहा है, उसी अधियज्ञ पुरुषको यहाँ 'अव्यक्त' और 'अक्षर' कहा है।

‡ जो मुक्ति सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु है, जिसे प्राप्त कर लेनेके बाद और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता, उसका नाम 'परम गति' है। इसलिये जिस निर्गुण-निराकार परमात्माको 'परम अक्षर' और 'ब्रह्म' कहते हैं, उसी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको 'परम गति' कहा गया है (गीता ८। १३)।

§ अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के नित्य धामकी, भगवद्भावकी और भगवान्‌के स्वरूपकी प्राप्तिमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। इसी तरह अव्यक्त अक्षरकी प्राप्तिमें तथा परमगतिकी प्राप्तिमें और भगवान्‌की प्राप्तिमें भी वस्तुतः कोई भेद नहीं है। साधनाके भेदसे साधकोंकी दृष्टिमें फलका भेद है। इसी कारण उसका भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया गया है। स्वरूपमें वस्तुगत कुछ भी भेद न होनेके कारण यहाँ उन सबकी एकता दिखलायी गयी है।

× जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वी—चारों भूत आकाशके अन्तर्गत हैं, आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, उसी प्रकार समस्त चराचर प्राणी अर्थात् सारा जगत् परमेश्वरके ही अन्तर्गत है, परमेश्वरसे ही उत्पन्न है और परमेश्वरके ही आधारपर स्थित है तथा जिस प्रकार वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन सबमें आकाश व्याप्त है, उसी प्रकार यह सारा जगत् परमेश्वरसे व्याप्त है, यही बात गीताके नवम अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक दिखलायी गयी है।

+ सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, परम पुरुष परमेश्वरमें ही सब कुछ समर्पण करके उनके विधानमें सदा परम संतुष्ट रहना और सब प्रकारसे अनन्य प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर उनका स्मरण करना ही अनन्य-भक्ति है। इस अनन्य-भक्तिके द्वारा साधक अपने उपास्यदेव परमेश्वरके गुण, स्वभाव और तत्त्वको भलीभाँति जानकर उनमें तन्मय हो जाता है और शीघ्र ही उनका साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो जाता है। यही साधकका उन परमेश्वरको प्राप्त कर लेना है।

÷ यहाँ 'काल' शब्द उस मार्गका वाचक है, जिसमें कालाभिमानी भिन्न-भिन्न देवताओंका अपनी-अपनी सीमातक अधिकार

योगीजन* तो वापस न लौटनेवाली गतिको और जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको कहूँगा ॥ २३ ॥

अग्नि[१]र्ज्योतिरहः[२] शुक्लः[३] षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

है; क्योंकि इस अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें इसीको 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दो प्रकारकी 'गति'के नामसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'सृति' के नामसे कहा है। वे दोनों ही शब्द मार्गवाचक हैं। इसके सिवा 'अग्निः', 'ज्योतिः' और 'धूमः' पद भी समयवाचक नहीं हैं। अतएव चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आये हुए 'तत्र' पदका अर्थ 'समय' मानना उचित नहीं होगा। इसलिये यहाँ 'काल' शब्दका अर्थ कालाभिमानी देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाला 'मार्ग' मानना ही ठीक है। संसारमें लोग जो दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके समय मरना अच्छा समझते हैं, यह समझना भी एक प्रकारसे ठीक ही है; क्योंकि उस समय उस-उस कालाभिमानी देवताओंके साथ तत्काल सम्बन्ध हो जाता है। अतः उस समय मरनेवाला योगी गन्तव्य स्थानको शीघ्र और सुगमतासे पहुँच जाता है। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि रात्रिके समय मरनेवाला तथा कृष्णपक्षमें और दक्षिणायनके छः महीनोंमें मरनेवाला अर्चिमार्गसे नहीं जाता; बल्कि यह समझना चाहिये कि चाहे जिस समय मरनेपर भी वह जिस मार्गसे जानेका अधिकारी होगा, उसी मार्गसे जायगा।

* 'योगीजन'से यह बात समझनी चाहिये कि जो साधारण मनुष्य इसी लोकमें एक योनिसे दूसरी योनिमें बदलनेवाले हैं या जो नरकादिमें जानेवाले हैं, उनकी गतिका यहाँ वर्णन नहीं है।

१. यहाँ 'ज्योतिः' पद 'अग्निः' का विशेषण है और 'अग्निः' पद अग्नि-अभिमानी देवताका वाचक है। उपनिषदोंमें इसी देवताको 'अर्चिः' कहा गया है। इसका स्वरूप दिव्य प्रकाशमय है, पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित सब देशोंमें इसका अधिकार है तथा उत्तरायण-मार्गमें जानेवाले अधिकारीका दिनके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। उत्तरायण-मार्गसे जानेवाला जो उपासक रात्रिमें शरीर त्याग करता है, उसे यह रातभर अपने अधिकारमें रखकर दिनके उदय होनेपर दिनके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है और जो दिनमें मरता है, उसे तुरंत ही दिनके अभिमानी देवताको सौंप देता है।

२. 'अहः' पद दिनके अभिमानी देवताका वाचक है, इसका स्वरूप अग्नि-अभिमानी देवताकी अपेक्षा बहुत अधिक दिव्य प्रकाशमय है। जहाँतक पृथ्वी-लोककी सीमा है अर्थात् जितनी दूरतक आकाशमें पृथ्वीके वायुमण्डलका सम्बन्ध है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायणमार्गमें जानेवाले उपासकको शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। अभिप्राय यह है कि उपासक यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो शुक्लपक्ष आनेतक उसे यह अपने अधिकारमें रखकर और यदि शुक्लपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपनी सीमातक ले जाकर उसे शुक्लपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

३. 'शुक्लः' पद शुक्लपक्षाभिमानी देवताका वाचक है। इसका स्वरूप दिनके अभिमानी देवतासे भी अधिक दिव्य प्रकाशमय है। भूलोककी सीमासे बाहर अन्तरिक्षलोकमें—जिन पितृ-लोकोंमें पंद्रह दिनके दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण-मार्गसे जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमाके पार करके उत्तरायणके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यह भी पहलेवालोंकी भाँति यदि साधक दक्षिणायनमें इसके अधिकारमें आता है तो उत्तरायणका समय आनेतक उसे अपने अधिकारमें रखकर और यदि उत्तरायणमें आता है तो तुरंत ही अपनी सीमासे पार करके उत्तरायण-अभिमानी देवताके अधिकारमें सौंप देता है।

४. जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण-कालाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'षण्मासा उत्तरायणम्' पद है। इसका स्वरूप शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे भी बढ़कर दिव्य प्रकाशमय है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन देवताओंके लोकोंमें छः महीनोंके दिन एवं उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायण-मार्गसे परमधामको जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित—(छान्दोग्य उप० ४ । १५ । ५ तथा ५ । १० । १, २; बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १५) संवत्सरके अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे आगे संवत्सरका अभिमानी देवता उसे सूर्यलोकमें पहुँचाता है। वहाँसे क्रमशः आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवताके अधिकारमें और वह विद्युत्-अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देता है। फिर वहाँपर भगवान्के परमधामसे भगवान्के पार्षद आकर उसे परम धाममें ले जाते हैं और तब उसका भगवान्से मिलन हो जाता है।

ध्यान रहे कि इस वर्णनमें आया हुआ 'चन्द्र' शब्द हमें दीखनेवाले चन्द्रलोकका और उसके अभिमानी देवताका वाचक नहीं है।

जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, ...स अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता ...और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस ...मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता* योगीजन उपर्युक्त देवताओं-द्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको† प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धूमो[1] रात्रि[2]स्तथा कृष्णः[3] षण्मासा दक्षिणायनम्[4] ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

---

* इस श्लोकमें 'ब्रह्मविदः' पद निर्गुण ब्रह्मके तत्त्वको या सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपको शास्त्र और ...के उपदेशानुसार श्रद्धापूर्वक परोक्षभावसे जाननेवाले उपासकोंका तथा निष्कामभावसे कर्म करनेवाले कर्मयोगियोंका ...है। यहाँका 'ब्रह्मविदः' पद परब्रह्म परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महात्माओंका वाचक नहीं है; क्योंकि उनके लिये एक ...से दूसरे स्थानमें गमनका वर्णन उपयुक्त नहीं है। श्रुतिमें भी कहा है—'न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति' (बृहदारण्यक उप० ४।४।६), 'अत्रैव समवलीयन्ते' (बृहदारण्यक उप० ३।२।११); 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उप० ४।...।६) अर्थात् 'क्योंकि उसके प्राण उत्क्रान्तिको नहीं प्राप्त होते—शरीरसे निकलकर अन्यत्र नहीं जाते', 'यहींपर लीन ...ते हैं', 'वह ब्रह्म हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

† यहाँ 'ब्रह्म' शब्द सगुण परमेश्वरका वाचक है। उनके कभी नाश न होनेवाले नित्य धाममें, जिसे सत्यलोक, परम ...साकेतलोक, गोलोक, वैकुण्ठलोक आदि नामोंसे कहा है, पहुँचकर भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेना ही उनको ...होना है।

१. यहाँ 'धूमः' पद धूमाभिमानी देवताका अर्थात् अन्धकारके अभिमानी देवताका वाचक है। उसका स्वरूप ...कारमय होता है। अग्नि-अभिमानी देवताकी भाँति पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित समस्त देशमें इसका भी अधिकार है ...दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले साधकोंको रात्रि-अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। दक्षिणायन-मार्गसे ...जो साधक दिनमें मर जाता है, उसे यह दिनभर अपने अधिकारमें रखकर रात्रिका आरम्भ होते ही रात्रि-अभिमानी ...को सौंप देता है और जो रात्रिमें मरता है, उसे तुरंत ही रात्रि-अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

२. यहाँ 'रात्रिः' पदको भी रात्रिके अभिमानी देवताका ही वाचक समझना चाहिये। इसका स्वरूप अन्धकारमय होता ...दिनके अभिमानी देवताकी भाँति इसका अधिकार भी जहाँतक पृथ्वीलोककी सीमा है, वहाँतक है। भेद इतना ही है कि ...लोकमें जिस समय जहाँ दिन रहता है, वहाँ दिनके अभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जिस समय जहाँ रात्रि ...है, वहाँ रात्रि-अभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाले साधकको पृथ्वीलोककी सीमासे पार ...के अन्तरिक्षमें कृष्णपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यदि वह साधक शुक्लपक्षमें मरता है, ...तो उसे कृष्णपक्षके आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपने अधिकारसे ...उसे कृष्णपक्षाभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

३. कृष्णपक्षाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'कृष्णः' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। पृथ्वी-...लोककी सीमाके बाहर अन्तरिक्षलोकमें, जिन पितृलोकोंमें पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँ-...तक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि जिस समय जहाँ उस लोकमें शुक्लपक्ष रहता है, वहाँ शुक्लपक्षाभिमानी ...का अधिकार रहता है और जहाँ कृष्णपक्ष रहता है, वहाँ कृष्णपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन-...मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको दक्षिणायनाभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। जो दक्षिणायन-मार्गका ...अधिकारी साधक उत्तरायणके समय इसके अधिकारमें आता है, उसे दक्षिणायनका समय आनेतक अपने अधिकारमें रखकर ...और जो दक्षिणायनके समय आता है, उसे तुरंत ही यह अपने अधिकारसे पार करके दक्षिणायनाभिमानी देवताके पास ...पहुँचा देता है।

४. जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको दक्षिणायन कहते हैं। उसके अभिमानी ...देवताका वाचक यहाँ 'दक्षिणायनम्' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन ...देवताओंके लोकोंमें छः महीनोंका दिन और छः महीनोंकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ...ही है कि उत्तरायणके छः महीनोंमें उसके अभिमानी देवताका वहाँ अधिकार रहता है और दक्षिणायनके छः महीनोंमें ...इसका अधिकार रहता है। दक्षिणायन मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको अपने अधिकारसे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित ...पितृलोकाभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे पितृलोकाभिमानी देवता साधकको आकाशा-...भिमानी देवताके पास और वह आकाशाभिमानी देवता चन्द्रमाके लोकमें पहुँचा देता है (छान्दोग्य उप० ५।१०।४)

जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी* उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको† प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस आता है‡ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

क्योंकि जगत्‌के ये दो प्रकारके—शुक्ल और अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये इनमें एकके द्वारा गया हुआ×—जिससे वापस नहीं पड़ता, उस परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरेके गया हुआ+ फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको होता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥

हे पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे कोई भी योगी मोहित नहीं होता ।÷ इस कारण हे

बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १६) । यहाँ चन्द्रमाका लोक उपलक्षणमात्र है; अतः ब्रह्माके लोकतक जितने भी पुनराग शील लोक हैं, चन्द्रलोकसे उन सभीको समझ लेना चाहिये ।

ध्यान रहे कि उपनिषदोंमें वर्णित यह पितृलोक वह पितृलोक नहीं है, जो अन्तरिक्षके अन्तर्गत है और पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है ।

* स्वर्गादिके लिये पुण्यकर्म करनेवाला पुरुष भी अपनी ऐहिक भोगोंकी प्रवृत्तिका निरोध करता है, इस उसे भी 'योगी' कहना उचित है । इसके सिवा योगभ्रष्ट पुरुष भी इस मार्गसे स्वर्गमें जाकर वहाँ कुछ कालतक करके वापस लौटते हैं । वे भी इसी मार्गसे जानेवालोंमें हैं । अतः उनको 'योगी' कहना उचित ही है । यहाँ 'योगी' प्रयोग करके यह बात भी दिखलायी गयी है कि यह मार्ग पापकर्म करनेवाले तामस मनुष्योंके लिये नहीं है, उच्च प्राप्तिके अधिकारी शास्त्रीय कर्म करनेवाले पुरुषोंके लिये ही है (गीता २ । ४२, ४३, ४४ तथा ९ । २०, २१ आदि)।

† चन्द्रमाके लोकमें उसके अभिमानी देवताका स्वरूप शीतल प्रकाशमय है । उसीके-जैसे प्रकाशमय नाम 'ज्योति' है और वैसे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाना—चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होना है । वहाँ जानेवाला साधक उस शीतल प्रकाशमय दिव्य देवशरीर पाकर अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप दिव्य भोगोंको भोगता है ।

‡ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर वहाँ रहनेका नियत समय समाप्त हो जानेपर इस मृत्युलोकमें वापस आ ही वहाँसे लौटना है । जिन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और वहाँके भोग प्राप्त होते हैं, उनका भोग समाप्त हो जानेसे क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणीको बाध्य होकर वहाँसे वापस लौटना पड़ता है । वह चन्द्रलोकसे आकाशमें आता है, वायुरूप हो जाता है, फिर धूमके आकारमें परिणत हो जाता है, धूमसे बादलमें आता है, बादलसे मेघ बनता है, अनन्तर जलके रूपमें पृथ्वीपर बरसता है, वहाँ गेहूँ, जौ, तिल, उड़द आदि बीजोंमें या वनस्पतियोंमें प्रविष्ट होता है उनके द्वारा पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होकर स्त्रीकी योनिमें सींचा जाता है और अपने कर्मानुसार योनिको पाकर जन्म करता है । (छान्दोग्य उप० ५ । १० । ५, ६, ७; बृहदारण्यक उप० ६ । २ । १६) ।

§ चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते कभी-न-कभी भगवान् दया करके जीवमात्रको मनुष्यशरीर देकर तथा देवताओंके लोकोंमें जानेका सुअवसर देते हैं । उस समय यदि वह जीवनका सदुपयोग करे तो दोनोंमेंसे किसी मार्गके द्वारा गन्तव्य स्थानको अवश्य प्राप्त कर सकता है । अतएव प्रकारान्तरसे प्राणिमात्रके साथ इन दोनों सम्बन्ध है । ये मार्ग सदासे ही समस्त प्राणियोंके लिये हैं और सदैव रहेंगे । इसीलिये इनको शाश्वत कहा है । यद्यपि प्रलयमें जब समस्त लोक भगवान्‌में लीन हो जाते हैं, उस समय ये मार्ग और इनके देवता भी लीन हो जाते हैं, जब पुनः सृष्टि होती है, तब पूर्वकी भाँति ही इनका पुनः निर्माण हो जाता है । अतः इनको 'शाश्वत' कहनेमें दोष नहीं है ।

× अर्थात् इसी अध्यायके २४ वें श्लोकके अनुसार अर्चिमार्गसे गया हुआ योगी ।

+ अर्थात् इसी अध्यायके २५ वें श्लोकके अनुसार धूममार्गसे गया हुआ सकाम कर्मयोगी ।

÷ योगसाधनामें लगा हुआ भी मनुष्य इन मार्गोंका तत्त्व न जाननेके कारण स्वभाववश इस लोक या परलोकके भोगोंमें आसक्त होकर साधनसे भ्रष्ट हो जाता है, यही उसका मोहित होना है; किंतु जो इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे है, वह फिर ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोकोंके भोगोंको नाशवान् और तुच्छ समझ लेनेके कारण किसी भी प्रकारके आसक्त नहीं होता एवं निरन्तर परमेश्वरकी प्राप्तिके ही साधनमें लगा रहता है । यही उसका मोहित न होना है ।

सब कालमें समबुद्धिरूप योगसे युक्त हो* अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्

योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर† वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निःसंदेह उल्लङ्घन कर जाता है‡ और सनातन परम पदको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ भीष्मपर्वणि तु द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥ भीष्मपर्वमें बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्यायः)

ज्ञान, विज्ञान और जगत्की उत्पत्तिका, आसुरी और दैवी सम्पदावालोंका, प्रभावसहित भगवान्के स्वरूपका, सकाम-निष्काम उपासनाका एवं भगवद्-भक्तिकी महिमाका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी । उसके अनुसार उस विषयका वर्णन करते हुए, अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्को जाननेकी एवं अन्तकालके भगवच्चिन्तनकी बात कही। इसपर आठवें अध्यायमें अर्जुनने उन तत्त्वोंको और अन्तकालकी उपासनाके विषयको समझनेके लिये सात प्रश्न कर दिये । उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर तो भगवान्ने दूसरे तीसरे और चौथे श्लोकोंमें दे दिया, किंतु सातवें प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने जिस उपदेशका आरम्भ किया, उसमें सारा-का-सारा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया । इस प्रकार सातवें अध्यायमें आरम्भ किये हुए विज्ञानसहित ज्ञानका साङ्गोपाङ्ग वर्णन न होनेके कारण उसी विषयको भलीभाँति समझानेके उद्देश्यसे भगवान् इस नवम अध्यायका आरम्भ करते हैं । तथा सातवें अध्यायमें वर्णित उपदेशके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलानेके लिये पहले श्लोकमें पुनः उसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

---

* यहाँ भगवान्ने जो अर्जुनको सब कालमें योगयुक्त होनेके लिये कहा है, इसका यह भाव है कि मनुष्य-जीवन बहुत थोड़े ही दिनोंका है, मृत्युका कुछ भी पता नहीं है कि कब आ जाय । यदि अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको साधनमें लगाये रखनेका प्रयत्न नहीं किया जायगा तो साधन बीच-बीचमें छूटता रहेगा और यदि कहीं साधनहीन अवस्थामें मृत्यु हो जायगी तो होकर पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। अतएव मनुष्यको भगवत्-प्राप्तिके साधनमें नित्य-निरन्तर लगे ही रहना चाहिये।

† इस अध्यायमें वर्णित शिक्षाको अर्थात् भगवान्के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपकी उपासनाको, भगवान्के गुण, प्रभाव और माहात्म्यको एवं किस प्रकार साधन करनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, कहाँ जाकर मनुष्यको लौटना पड़ता है और कहाँ पहुँच जानेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता, इत्यादि जितनी बातें इस अध्यायमें बतलायी गयी हैं, उन सबको भलीभाँति समझ लेना ही उसे तत्त्वसे जानना है ।

‡ यहाँ 'वेद' शब्द अङ्गोंसहित चारों वेदोंका और उनके अनुकूल समस्त शास्त्रोंका, 'यज्ञ' शास्त्रविहित पूजन, हवन आदि सब प्रकारके यज्ञोंका, 'तप' व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयम, स्वधर्मपालन आदि सभी प्रकारके शास्त्रविहित तपोंका और 'दान' अन्नदान, विद्यादान, क्षेत्रदान आदि सब प्रकारके शास्त्रविहित दान एवं परोपकारका वाचक है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सकामभावसे वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय तथा यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जो पुण्यसंचय होता है, उस पुण्यका जो ब्रह्मलोकपर्यन्त भिन्न-भिन्न देवलोकोंकी और वहाँके भोगोंकी प्राप्तिरूप फल वेद-शास्त्रोंमें बतलाया गया है, वही पुण्यफल है। एवं जो उन सब लोकोंको और उनके भोगोंको क्षणभङ्गुर तथा अनित्य समझकर उनमें आसक्त न होना और उनसे सर्वथा उपरत हो जाना है, यही उनको उल्लङ्घन कर जाना है ।

१. संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें समग्ररूप भगवान्के तत्त्व, प्रेम, गुण, प्रभाव, विभूति और महत्त्व आदिके साथ उनकी शरणागतिका स्वरूप सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य है, यही भाव दिखलानेके लिये इसे 'गुह्यतम' कहा गया है ।

२. गुणवानोंके गुणोंको न मानना, गुणोंमें दोष देखना, उनकी निन्दा करना एवं उनपर मिथ्या दोषोंका आरोपण

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Gyaan Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रीभगवान् बोले—तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे* मुक्त हो जायगा ॥ १ ॥

राजविद्या[१] राजगुह्यं[२] पवित्र[३]मिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं[४] धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्[५] ॥ २ ॥

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम† और अविनाशी है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—जब विज्ञानसहित ज्ञानकी इतनी महिमा है और इसका साधन भी इतना सुगम है तो फिर सभी मनुष्य इसे क्यों नहीं करते ? इस जिज्ञासापर अश्रद्धाको ही इसमें कारण दिखलानेके लिये भगवान् अब इसपर श्रद्धा न कर मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परंतप ! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरु मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण क रहते हैं ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने जिस विज्ञानसहित उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा की थी तथा जिसका माहात्म्य वर्णन कि

करना 'असूया' है । जिसमें स्वभावसे ही यह 'असूया' दोष बिल्कुल ही नहीं होता, उसे 'अनसूयु' कहते हैं ।

* इस श्लोकमें 'अशुभ' शब्द समस्त दुःखोंका, उनके हेतुभूत कर्मोंका, दुर्गुणोंका, जन्म-मरणरूप संसार-बन्धन और इन सबके कारणरूप अज्ञानका वाचक है । इन सबसे सदाके लिये सम्पूर्णतया छूट जाना और परमानन्दस्वरू परमेश्वरको प्राप्त हो जाना ही 'अशुभसे मुक्त' होना है ।

१. संसारमें जितनी भी ज्ञात और अज्ञात विद्याएँ हैं, यह उन सबमें बढ़कर है; जिसने इस विद्याका यथार्थ अनु कर लिया है उसके लिये फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता । इसलिये इसे 'राजविद्या' कहा गया है ।

२. इसमें भगवान्के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और महत्त्व उनकी उपासना-विधिका और उसके फलका भलीभाँति निर्देश किया गया है । इसके अतिरिक्त इसमें भगवान्ने अप समस्त रहस्य खोलकर यह तत्त्व समझा दिया है कि मैं जो श्रीकृष्णरूपमें तुम्हारे सामने विराजित हूँ, इस समस्त जगत् कर्ता, हर्ता, सबका आधार, सर्वशक्तिमान्, परब्रह्म परमेश्वर और साक्षात् पुरुषोत्तम हूँ । तुम सब प्रकारसे मेरी शरण जाओ । इस प्रकारके परम गोपनीय रहस्यकी बात अर्जुन-जैसे दोषदृष्टिहीन परम श्रद्धावान् भक्तके सामने ही कही जा सक है, हरेकके सामने नहीं । इसीलिये इसे 'राजगुह्य' बतलाया गया है ।

३. यह उपदेश इतना पावन करनेवाला है कि जो कोई भी इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन और इसके अनुस आचरण करता है, यह उसके समस्त पापों और अवगुणोंका समूल नाश करके उसे सदाके लिये परम विशुद्ध बना देता है इसीलिये इसे 'पवित्र' कहा गया है ।

४. विज्ञानसहित इस ज्ञानका फल श्राद्धादि कर्मोंकी भाँति अदृष्ट नहीं है । साधक ज्यों-ज्यों इसकी ओर आगे बढ़ है, त्यों-ही-त्यों उसके दुर्गुणों, दुराचारों और दुःखोंका नाश होकर, उसे परम शान्ति और परम सुखका प्रत्यक्ष अनु होने लगता है; जिसको इसकी पूर्णरूपसे उपलब्धि हो जाती है, वह तो तुरंत ही परम सुख और परम शान्तिके परम प्रेमी, परम दयालु और सबके सुहृद्, साक्षात् भगवान्को ही प्राप्त हो जाता है । इसीलिये यह 'प्रत्यक्षावगम' है ।

५. जैसे सकामकर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाता है और जैसे सांसारिक विद्या एक बार पढ़ लेनेके ब यदि उसका बार-बार अभ्यास न किया जाय तो नष्ट हो जाती है—भगवान्का यह ज्ञान-विज्ञान वैसे नष्ट नहीं हो सकता इसके अतिरिक्त इसका फल भी अविनाशी है; इसलिये इसे 'अव्यय' कहा गया है ।

† इसमें न तो किसी प्रकारके बाहरी आयोजनकी आवश्यकता है और न कोई आयास ही करना पड़ता है । सि होनेके बादकी बात तो दूर रही, साधनके आरम्भसे ही इसमें साधकोंको शान्ति और सुखका अनुभव होने लगता है इसलिये इसे साधन करनेमें बड़ा सुगम बतलाया है ।

‡ पिछले श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानका माहात्म्य बतलाया गया है और इसके आगे पूरे अध्यायमें जिस वर्णन है, उसीका वाचक यहाँ 'अस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है । इस प्रसंगमें वर्णन किये हुए भगवान्के स्वरू प्रभाव, गुण और महत्त्वको, उनकी प्राप्तिके उपायको और उसके फलको सत्य न मानकर उसमें असम्भावना और विप भावना करना और उसे केवल रोचक उक्ति समझना आदि जो विश्वासविरोधिनी भावनाएँ हैं—ये जिनमें हों, वे श्रद्धारहित पुरुष हैं ।

अब उसका आरम्भ करते हुए वे सबसे पहले प्रभावके साथ अपने निराकारस्वरूपके तत्त्वका वर्णन करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना[1]।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत्* जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है† और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं‡; किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ§ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्[2] ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख× कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है+ ॥ ५ ॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु

---

[1] गीताके आठवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसे 'अधियज्ञ', आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्यपुरुष', नवें श्लोकमें 'कवि' 'पुराण' आदि, बीसवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें 'अव्यक्त अक्षर' और बाईसवें श्लोकमें भक्तिद्वारा प्राप्त होनेयोग्य 'परम पुरुष' बतलाया है, उसी सर्वव्यापी सगुण निराकार स्वरूपके लक्ष्यसे यहाँ 'अव्यक्तमूर्तिना' पदका प्रयोग हुआ है।

* 'यह सब जगत्'से यहाँ सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंके सहित समस्त ब्रह्माण्ड समझना चाहिये।

† जैसे आकाशसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सुवर्णसे गहने और मिट्टीसे उसके बने हुए बर्तन व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व इसकी रचना करनेवाले सगुण परमेश्वरके निराकाररूपसे व्याप्त है। श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिद९ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (ईशोपनिषद् १)

'इस संसारमें जो कुछ जड-चेतन पदार्थसमुदाय है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

‡ 'यहाँ सब भूत'से समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा उनके विषय और वासस्थानोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंको कहा गया है। भगवान् ही अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं, उन्होंने ही इस समस्त जगत्को अपने किसी अंशमें धारण कर रक्खा है (गीता १०। ४२) और एकमात्र वे ही सबके गति, भर्ता, निवासस्थान, आश्रय, प्रभव, प्रलय, स्थान और निधान हैं (गीता ९। १८)। इस प्रकार सबकी स्थिति भगवान्के अधीन है। इसीलिये सब भूतोंको भगवान्में स्थित बतलाया गया है।

§ बादलोंमें आकाशकी भाँति समस्त जगत्के अंदर अणु-अणुमें व्याप्त होनेपर भी भगवान् उससे सर्वथा अतीत और सम्बन्धरहित हैं। समस्त जगत्का नाश होनेपर भी, बादलोंके नाश होनेपर आकाशकी भाँति, भगवान् ज्यों-के-त्यों रहते हैं। जगत्के नाशसे भगवान्का नाश नहीं होता तथा जिस जगह इस जगत्की गन्ध भी नहीं है, वहाँ भी भगवान् अपनी महिमामें स्थित ही हैं। यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने यह बात कही है कि वास्तवमें मैं उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। वरं मैं अपने-आपमें ही नित्य स्थित हूँ।

[2] सबके उत्पादक और सबमें व्याप्त रहते हुए तथा सबका धारण-पोषण करते हुए भी सबसे सर्वथा निर्लिप्त रहनेकी जो अद्भुत प्रभावमयी शक्ति है, जो ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीमें हो ही नहीं सकती, उसीका यहाँ 'ऐश्वरम् योगम्' इन पदोंद्वारा प्रतिपादन किया गया है। इन दो श्लोकोंमें कही हुई सभी बातोंको लक्ष्यमें रखकर भगवान्ने अर्जुनको अपना 'ऐश्वरीय योग' देखनेके लिये कहा है।

× यहाँ भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन! तुम मेरी असाधारण योगशक्तिका चमत्कार देखो! यह कैसा आश्चर्य है कि आकाशमें बादलोंकी भाँति समस्त जगत् मुझमें स्थित भी है और नहीं भी है। बादलोंका आधार आकाश है, परंतु बादल उसमें सदा नहीं रहते। वस्तुतः अनित्य होनेके कारण उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है। अतः वे आकाशमें नहीं हैं। इसी प्रकार यह सारा जगत् मेरी ही योगशक्तिसे उत्पन्न है और मैं ही इसका आधार हूँ, इसलिये तो सब भूत मुझमें स्थित हैं; परंतु ऐसा होते हुए भी मैं इनसे सर्वथा अतीत हूँ, ये मुझमें सदा नहीं रहते, इसलिये ये मुझमें स्थित नहीं हैं। वास्तवमें जबतक मनुष्यकी दृष्टिमें जगत् है, तबतक सब कुछ मुझमें ही है; मेरे सिवा इस जगत्का कोई दूसरा आधार है ही नहीं। जब मेरा साक्षात् हो जाता है, तब उसकी दृष्टिमें मुझसे भिन्न कोई वस्तु रह नहीं जाती, उस समय मुझमें यह जगत् नहीं है।'

+ वास्तवमें भगवान् इस समस्त जगत्से अतीत हैं, यही भाव दिखलानेके लिये 'वह भूतोंमें स्थित नहीं है' ऐसा कहा गया है।

सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान* ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने यहाँतक प्रभावसहित अपने निराकार स्वरूपका तत्त्व समझानेके लिये अपनेको सबमें व्यापक, सबका आधार, सबका उत्पादक, असङ्ग और निर्विकार बतलाया। अब अपने भूतभावन स्वरूपका स्पष्टीकरण करते हुए सृष्टिरचनादि कर्मोंका तत्त्व समझाते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं† अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ‡ ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृतिको अङ्गीकार§ करके स्वभावके परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उनके के अनुसार रचता हूँ× ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार जगत्-रचनादि समस्त कर्म करते भी भगवान् उन कर्मोंके बन्धनमें क्यों नहीं पड़ते, अब यही समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते+ ॥ ९ ॥

---

* आकाशकी भाँति भगवान्‌को सम, निराकार, अकर्ता, अनन्त, असंग और निर्विकार तथा वायुकी भाँति समस्त चराचर भूतोंको भगवान्‌से ही उत्पन्न, उन्हींमें स्थित और उन्हींमें लीन होनेवाले बतलानेके लिये ऐसा कहा गया है। जैसे वायुकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आकाशमें ही होनेके कारण वह कभी किसी भी अवस्थामें आकाशसे अलग नहीं रह सकता, सदा ही आकाशमें स्थित रहता है एवं ऐसा होनेपर भी आकाशका वायुसे और उसके गमनादि विकारोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वह सदा ही उससे अतीत है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय भगवान्‌के संकल्पके आधार होनेके कारण समस्त भूतसमुदाय सदा भगवान्‌में ही स्थित रहता है; तथापि भगवान् उन भूतोंसे सर्वथा अतीत हैं और भगवान्‌में सदा ही, सब प्रकारके विकारोंका सर्वथा अभाव है।

१. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, समस्त भोगवस्तु और वासस्थानके सहित चराचर प्राणियोंका वाचक 'सर्वभूतानि' पद है।

२. ब्रह्माके एक दिनको 'कल्प' कहते हैं और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। इस अहोरात्रिके हिसाबसे जब ब्रह्माके सौ वर्ष पूरे होकर ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जाती है, उस कालका वाचक यहाँ 'कल्पक्षय' है; वही कल्पोंका अन्त है। इसीको 'महाप्रलय' भी कहते हैं।

† समस्त जगत्‌की कारणभूता जो मूल-प्रकृति है, जिसे गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा जिसे अव्याकृत और प्रधान भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'प्रकृति' शब्द है। वह प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है, इसी बातको दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उसको अपनी प्रकृति बतलाया है। कल्पोंके अन्तमें समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और लोकोंके सहित समस्त प्राणियोंका प्रकृतिमें लय हो जाना—अर्थात् उनके गुणकर्मोंके संस्कार-समुदायरूप कारणशरीरसहित उनका मूल-प्रकृतिमें विलीन हो जाना ही 'सब भूतोंका प्रकृतिको प्राप्त होना' है।

‡ कल्पोंका अन्त होनेके बाद यानी ब्रह्माके सौ वर्षके बराबर समय पूरा होनेपर जब पुनः जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये जगत्‌का विस्तार करनेकी भगवान्‌में स्फुरणा होती है, उस कालका वाचक 'कल्पादि' शब्द है। इसे महा-सर्गका आदि भी कहते हैं। उस समय जो भगवान्‌का सब भूतोंकी उत्पत्तिके लिये अपने संकल्पके द्वारा हिरण्यगर्भ ब्रह्माको उनके लोकसहित उत्पन्न कर देना है, यही उनका सब भूतोंको रचना है।

§ सृष्टिरचनादि कार्यके लिये भगवान्‌का जो शक्तिरूपसे अपने अंदर स्थित प्रकृतिको स्मरण करना है, वही उसे अङ्गीकार करना है।

× भिन्न-भिन्न प्राणियोंका जो अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार बना हुआ स्वभाव है, वही उनकी प्रकृति है। भगवान्‌की प्रकृति समष्टि-प्रकृति है और जीवोंकी प्रकृति उसीकी एक अंशभूता व्यष्टि-प्रकृति है। उस व्यष्टि-प्रकृतिके बन्धनमें पड़े रहना ही उसके बलसे परतन्त्र होना है। यहाँ भगवान्‌ने उनको बार-बार रचनेकी बात कहकर यह बात दिखलायी है कि-जबतक जीव अपनी उस प्रकृतिके वशमें रहते हैं, तबतक मैं उनको बार-बार इसी प्रकार प्रत्येक कल्पके आदिमें उनके भिन्न-भिन्न गुणकर्मोंके अनुसार नाना योनियोंमें उत्पन्न करता रहता हूँ।

+ सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार आदिके निमित्त भगवान्‌के द्वारा जितने भी कर्म होते हैं, उन

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति चराचर-सहित सर्वजगत्‌को रचती है* और इस हेतुसे ही यह संसार-चक्र घूम रहा है ॥ १० ॥

सम्बन्ध—अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने चौथेसे छठे श्लोकतक प्रभावसहित सगुण-निराकार स्वरूपका तत्त्व समझाया। फिर सातवेंसे दसवें श्लोकतक सृष्टि-रचनादि समस्त कर्मोंमें अपनी असंगता और निर्विकारता दिखलाकर उन कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व बतलाया। अब अपने सगुण साकार रूपका महत्त्व, उसकी भक्तिका प्रकार और उसके गुण और प्रभावका तत्त्व समझानेके लिये पहले दो श्लोकोंमें उसके प्रभावको न जाननेवाले असुर-प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मेरे परम भावको न जाननेवाले† मूढलोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं‡ ॥ ११ ॥

या उनके फलमें भगवान्‌का किसी प्रकार भी आसक्त न होना—'आसक्तिरहित रहना' है और केवल अध्यक्षतामात्रसे प्रकृतिद्वारा प्राणियोंके गुण-कर्मानुसार उनकी उत्पत्ति आदिके लिये की जानेवाली चेष्टामें कर्तृत्वाभिमानसे तथा पक्षपातसे रहित होकर निर्लिप्त रहना—'उन कर्मोंमें उदासीनके सदृश स्थित रहना' है। इसी कारण वे कर्म भगवान्‌को नहीं बाँधते।

* जिस प्रकार किसान अपनी अध्यक्षतामें पृथ्वीके साथ स्वयं बीजका सम्बन्ध कर देता है, फिर पृथ्वी उन बीजोंके अनुसार भिन्न-भिन्न पौधोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार भगवान् अपनी अध्यक्षतामें चेतनसमूहरूप बीजका प्रकृतिरूपी भूमिके साथ सम्बन्ध कर देते हैं (गीता १४ । ३)। इस प्रकार जड-चेतनका संयोग कर दिये जानेपर यह प्रकृति समस्त चराचर जगत्‌को कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न कर देती है।

जहाँ भगवान्‌ने अपनेको जगत्‌का रचयिता बतलाया है, वहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि वस्तुतः भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते, वे अपनी शक्ति प्रकृतिको स्वीकार करके उसीके द्वारा जगत्‌की रचना करते हैं और जहाँ प्रकृतिको सृष्टिरचनादि कार्य करनेवाली कहा गया है, वहाँ उसीके साथ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि भगवान्‌की अध्यक्षतामें उनसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति सब कुछ करती है। जबतक उसे भगवान्‌का सहारा नहीं मिलता, तबतक वह जड-प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती। इसीलिये भगवान्‌ने आठवें श्लोकमें यह कहा है कि 'मैं अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके जगत्‌की रचना करता हूँ' और इस श्लोकमें यह कहते हैं कि 'मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति जगत्‌की रचना करती है।' वस्तुतः दो तरहकी युक्तियोंसे एक ही तत्त्व समझाया गया है।

१. गीताके सोलहवें अध्यायके चौथे तथा सातवेंसे बीसवें श्लोकतक जिनके विविध लक्षण बतलाये गये हैं, ऐसे ही आसुरी सम्पदावाले मनुष्योंके लिये 'मूढाः' पदका प्रयोग हुआ है।

† चौथेसे छठे श्लोकतक भगवान्‌के जिस 'सर्वव्यापकत्व' आदि प्रभावका वर्णन किया गया है, जिसको 'ऐश्वर योग' कहा है तथा गीताके सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें जिस 'परमभाव' को न जाननेकी बात कही है, भगवान्‌के उस सर्वोत्तम प्रभावका ही वाचक यहाँ 'परम' विशेषणके सहित 'भाव' शब्द है। सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सबके हर्ता कर्ता परमेश्वर ही सब जीवोंपर अनुग्रह करके सबको अपनी शरण प्रदान करने और धर्म-संस्थापन, भक्त-उद्धार आदि अनेकों लीला-कार्य करनेके लिये अपनी योगमायासे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं (गीता ४ । ६, ७, ८)—इस तत्त्वको न समझना और इसपर विश्वास न करना ही उस परम भावको न जानना है।

‡ महाभारतमें भीष्मपर्वके छाछठवें अध्यायमें बतलाया है—

'सब लोकोंके महान् ईश्वर भगवान् वासुदेव सबके पूजनीय हैं। उन महान् वीर्यवान् शङ्ख-चक्र-गदाधारी वासुदेवको मनुष्य समझकर कभी उनकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। वे ही परम गुह्य, परम पद, परम ब्रह्म और परम यशःस्वरूप हैं। वे ही अक्षर हैं, अव्यक्त हैं, सनातन हैं, परम तेज हैं, परम सुख हैं और परम सत्य हैं। देवता, इन्द्र और मनुष्य, किसीको भी उन अमित-पराक्रमी प्रभु वासुदेवको मनुष्य मानकर उनका अनादर नहीं करना चाहिये। जो मूढ-बुद्धि लोग उन हृषीकेशको मनुष्य बतलाते हैं, वे नराधम हैं। जो मनुष्य इन महात्मा योगेश्वरको मनुष्यदेहधारी मानकर उनका अनादर करते हैं और जो इन चराचरके आत्मा श्रीवत्सके चिह्नवाले महान् तेजस्वी पद्मनाभ भगवान्‌को नहीं पहचानते वे तामसी प्रकृतिसे युक्त हैं। जो इन कौस्तुभ-किरीटधारी और मित्रोंको अभय करनेवाले भगवान्‌का अपमान करता है, वह भयानक नरकमें पड़ता है।'

मोघाशा[1] मोघकर्माणो[2] मोघज्ञाना[3] विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं* ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—भगवान्का प्रभाव न जाननेवाले आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करके अब सगुणरूपकी भक्तिका तत्त्व समझानेके लिये भगवान्के प्रभावको जाननेवाले, दैवी प्रकृतिके आश्रित, उच्च श्रेणीके अनन्य भक्तोंके लक्षण बतलाते हैं—

महात्मानस्तु[4] मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १

परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित† महा मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित स्वरूप जानकर‡ अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं

सततं[5] कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च[6] दृढव्रताः[7]।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता[8] उपासते ॥ १

---

१. भगवान्के प्रभावको न जाननेवाले आसुर मनुष्य ऐसी निरर्थक आशाएँ करते रहते हैं, जो कभी पूर्ण नहीं हो (गीता १६। १० से १२); इसीलिये उनको 'मोघाशाः' कहते हैं।

२. भगवान् और शास्त्रोंपर विश्वास न करनेवाले विषयी पामर लोग शास्त्रविधिका त्याग करके अश्रद्धापूर्वक मनमाने यज्ञादि कर्म करते हैं, उन कर्मोंका उन्हें इस लोक या परलोकमें कुछ भी फल नहीं मिलता (गीता १६। २३; १७। २८)। इसीलिये उनको 'मोघकर्माणः' कहा गया है।

३. जिनका ज्ञान व्यर्थ हो, तात्त्विक अर्थसे शून्य हो और युक्तियुक्त न हो (गीता १८। २२), उन्हें 'मोघज्ञानाः' कहते हैं।

* राक्षसोंकी भाँति बिना ही कारण द्वेष करके जो दूसरोंके अनिष्ट करनेका और उन्हें कष्ट पहुँचानेका स्वभाव है, उसे 'राक्षसी प्रकृति' कहते हैं। काम और लोभके वश होकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंको क्लेश पहुँचाने और उनके स्वत्वहरण करनेका जो स्वभाव है, उसे 'आसुरी प्रकृति' कहते हैं और प्रमाद या मोहके कारण किसी प्राणीको दुःख पहुँचानेका जो स्वभाव है, उसे 'मोहिनी प्रकृति' कहते हैं। ऐसे दुष्ट स्वभावका त्याग करनेके लिये चेष्टा न करना, वरं उसीको उत्तम समझकर पकड़े रहना ही 'उसे धारण करना' है। भगवान्के प्रभावको न जाननेवाले मनुष्य प्रायः ऐसा ही करते हैं, इसीलिये उनको उक्त प्रकृतियोंके आश्रित बतलाया है।

४. यहाँ 'महात्मानः' पदका प्रयोग उन निष्काम अनन्यप्रेमी भगवद्भक्तोंके लिये किया गया है, जो भगवत्प्रेममें सराबोर रहते हैं और भगवत्प्राप्तिके सर्वथा योग्य हैं।

† देव अर्थात् भगवान्से सम्बन्ध रखनेवाले और उनकी प्राप्ति करा देनेवाले जो सात्त्विक गुण और आचरण हैं, गीताके सोलहवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक जिनका अभय आदि छब्बीस नामोंसे वर्णन किया गया है, उन सबको भलीभाँति धारण कर लेना ही 'दैवी प्रकृतिके आश्रित होना' है।

‡ 'माम्' पद यहाँ भगवान्के सगुण पुरुषोत्तमरूपका वाचक है। उस सगुण परमेश्वरसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और सम्पूर्ण लोकोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है (गीता ७। ६; ९। १८; १०। २, ४, ५, ६, ८)—इस तत्त्वको सम्यक् प्रकारसे समझ लेना ही भगवान्को 'सब भूतोंका आदि समझना है और वे भगवान् अजन्मा तथा अविनाशी हैं, केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही लीलासे मनुष्य आदि रूपमें प्रकट और अन्तर्धान होते हैं; उन्हींको अक्षर, अविनाशी परब्रह्म परमात्मा कहते हैं और समस्त भूतोंका नाश होनेपर भी भगवान्का नाश नहीं होता (गीता ८। २०)—इस बातको यथार्थतः समझना ही 'भगवान्को अविनाशी समझना' है।

§ जिनका मन भगवान्के सिवा अन्य किसी भी वस्तुमें नहीं रमता और क्षणमात्रका भी भगवान्का वियोग जिनको असह्य प्रतीत होता है, ऐसे भगवान्के अनन्यप्रेमी भक्त निरन्तर भगवान्को भजते रहते हैं।

५. 'सततम्' पद यहाँ 'नित्य-निरन्तर' समयका वाचक है और इसका खास सम्बन्ध उपासनाके साथ है। कीर्तन, नमस्कारादि सब उपासनाके ही अङ्ग होनेके कारण प्रकारान्तरसे उन सबके साथ भी इसका सम्बन्ध है। अभिप्राय यह है कि भगवान्के प्रेमी भक्त कभी कीर्तन करते हुए, कभी नमस्कार करते हुए, कभी सेवा आदि प्रयत्न करते हुए तथा सर्वदा भगवान्का चिन्तन करते हुए निरन्तर उनकी उपासना करते रहते हैं।

६. 'यतन्तः' पदका यह भाव है कि वे प्रेमी भक्त भगवान्की पूजा सबको भगवान्का स्वरूप समझकर उनकी सेवा और भगवान्के भक्तोंद्वारा भगवान्के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रवण आदि उत्साह और तत्परताके साथ करते रहते हैं।

७. भगवान्के प्रेमी भक्तोंका निश्चय, उनकी श्रद्धा, उनके विचार और नियम—सभी अत्यन्त दृढ़ होते हैं। इसीलिये बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों और प्रबल विघ्नोंके समूह भी उन्हें अपने साधन और विचारसे विचलित नहीं कर सकते। उनको 'दृढव्रताः' (दृढ निश्चयवाले) कहा गया है।

८. जो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और सब कुछ करते समय तथा एकान्तमें ध्यान करते समय नि

वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन* करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम† करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्यप्रेमसे मेरी उपासना करते हैं‡ ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिको जाननेवाले अनन्यप्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर अब भगवान् उनसे भिन्न श्रेणीके उपासकोंकी उपासनाका प्रकार बतलाते हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं;§ और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते हैं × ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—समस्त विश्वकी उपासना भगवान्‌की ही उपासना कैसे है—यह स्पष्ट समझानेके लिये अब चार श्लोकोंद्वारा भगवान् इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है—

अहं क्रतुरहं[1] यज्ञः[2] स्वधाहमहमौषधम्[3] ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं[4] हुतम् ॥ १६ ॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, ओषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ + ॥ १६ ॥

निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें 'नित्ययुक्ताः' कहते हैं ।

* कथा, व्याख्यान आदिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महिमा और चरित्र आदिका वर्णन करना; अकेले अथवा दूसरे बहुत-से लोगोंके साथ मिलकर, भगवान्‌को अपने सम्मुख समझते हुए उनके पवित्र नामोंका जप अथवा उच्चस्वरसे कीर्तन करना; और दिव्य स्तोत्र तथा सुन्दर पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना आदि भगवन्नाम-गुणगान-सम्बन्धी सभी चेष्टाएँ कीर्तनके अन्तर्गत हैं ।

† भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर अर्चा-विग्रहरूप भगवान्‌को, अपने घरमें भगवान्‌की प्रतिमा या चित्रपटको, भगवान्‌के नामोंको, भगवान्‌के चरण और चरण-पादुकाओंको, एवं सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या सबके हृदयमें भगवान् विराजित हैं—ऐसा जानकर सम्पूर्ण प्राणियोंको यथायोग्य विनयपूर्वक श्रद्धा-भक्तिके साथ गद्गद होकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा नमस्कार करना—यही 'भगवान्‌को प्रणाम करना' है ।

‡ श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ उपर्युक्त साधनोंको निरन्तर करते रहना ही अनन्यप्रेमसे भगवान्‌की उपासना करना है ।

§ गीताके तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस 'ज्ञानयोग' का वर्णन है, यहाँ भी 'ज्ञानयज्ञ' का वही स्वरूप है। उसके अनुसार शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें, मायामय गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर कर्तापनके अभिमानसे रहित रहना; सम्पूर्ण दृश्यवर्गको मृगतृष्णाके जलके सदृश या स्वप्नके संसारके समान अनित्य समझना; तथा एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी सत्ता न मानकर निरन्तर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य अभिन्नभावसे स्थित रहनेका अभ्यास करते रहना—यही 'ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए उसकी उपासना करना' है ।

× समस्त विश्व उस भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान् ही इसमें व्याप्त हैं । अतः भगवान् स्वयं ही विश्वरूपमें स्थित हैं । इसलिये चन्द्र, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरुण आदि विभिन्न देवता तथा और भी समस्त प्राणी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं—ऐसा समझकर जो उन सबकी अपने कर्मोंद्वारा यथायोग्य निष्कामभावसे सेवा-पूजा करना है (गीता १८ । ४६)—यही 'बहुत प्रकारसे स्थित भगवान्‌के विराट्स्वरूपकी पृथग्भावसे उपासना करना' है ।

[1] श्रौत कर्मको 'क्रतु' कहते हैं ।

[2] पञ्चमहायज्ञादि स्मार्त कर्म 'यज्ञ' कहलाते हैं ।

[3] पितरोंके निमित्त प्रदान किया जानेवाला अन्न 'स्वधा' कहलाता है !

[4] 'अग्नि'से यहाँ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि आदि सभी प्रकारके अग्नि समझने चाहिये ।

+ अभिप्राय यह कि यज्ञ, श्राद्ध आदि शास्त्रीय शुभकर्ममें प्रयोजनीय समस्त वस्तुएँ, तत्सम्बन्धी मन्त्र, जिनमें हवनादि किये जाते हैं, वे अधिष्ठान तथा मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली तद्विषयक समस्त चेष्टाएँ—ये सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ ॥ १७ ॥

इस सम्पूर्ण जगत्‌का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला, पिता, माता,* पितामह,† जाननेयोग्य, पवित्र,‡ ओङ्कार § तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ × ॥ १७ ॥

गति[1]र्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं[2] सुहृत्[3]।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्[4] ॥ १८ ॥

प्राप्त होने योग्य परम धाम, भरण-पोषण वाला, सबका स्वामी,+ शुभाशुभका देखने सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, आधार, निधान÷ और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण और उसे बरसाता हूँA । हे अर्जुन! मैं ही अमृतB

---

* यह चराचर प्राणियोंके सहित समस्त विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है, भगवान् ही इसके महाकारण हैं इसलिये भगवान्‌ने अपनेको इसका पिता-माता कहा है।

† जिन ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंसे सृष्टिकी रचना होती है, उनको भी उत्पन्न करनेवाले भगवान् ही हैं; उन्होंने अपनेको इसका 'पितामह' बतलाया है।

‡ जो स्वयं विशुद्ध हो और सहज ही दूसरोंके पापोंका नाश करके उन्हें भी विशुद्ध बना दे, उसे 'पवित्र' हैं। भगवान् परम पवित्र हैं तथा भगवान्‌के दर्शन, भाषण और स्मरणसे मनुष्य परम पवित्र हो जाते हैं।

§ 'ॐ' भगवान्‌का नाम है, इसीको प्रणव भी कहते हैं। गीताके आठवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें इसे ब्रह्म बतला तथा इसीका उच्चारण करनेके लिये कहा गया है। यहाँ नाम तथा नामीका अभेद प्रतिपादन करनेके लिये ही भगवान् अपनेको ओङ्कार बतलाया है।

× 'ऋक्', 'साम' और 'यजुः'—ये तीनों पद तीनों वेदोंके वाचक हैं। वेदोंका प्राकट्य भगवान्‌से हुआ तथा सारे वेदोंसे भगवान्‌का ज्ञान होता है, इसलिये सब वेदोंको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

१. प्राप्त करनेकी वस्तुका नाम 'गति' है। सबसे बढ़कर प्राप्त करनेकी वस्तु एकमात्र भगवान् ही हैं, उन्होंने अपनेको 'गति' कहा है। 'परा गति', 'परमा गति', 'अविनाशी पद' आदि नाम भी इसीके हैं।

२. जिसकी शरण ली जाय उसे 'शरणम्' कहते हैं। भगवान्‌के समान शरणागतवत्सल, प्रणतपाल और शरणा दुःखोंका नाश करनेवाला अन्य कोई भी नहीं है। वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥ (६ । १८ । ३३)

अर्थात् 'एक बार भी 'मैं तेरा हूँ' यों कहकर मेरी शरणमें आये हुए और मुझसे अभय चाहनेवालेको मैं सभी अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' इसीलिये भगवान्‌ने अपनेको 'शरण' कहा है।

३. भगवान् समस्त प्राणियोंके बिना ही कारण उपकार करनेवाले परम हितैषी और सबके साथ अतिशय प्रेम करने वाले परम बन्धु हैं, इसलिये उन्होंने अपनेको 'सुहृत्' कहा है।

४. जिसका कभी नाश न हो, उसे 'अव्यय' कहते हैं। भगवान् समस्त चराचर भूतप्राणियोंके अविनाशी हैं। सबकी उत्पत्ति उन्हींसे होती है, वे ही सबके परम आधार हैं। इसीसे उनको 'अव्यय बीज' कहा है। गीताके सातवें अध्याय दसवें श्लोकमें उन्हींको 'सनातन बीज' और दसवें अध्यायके उन्चालीसवें श्लोकमें 'सब भूतोंका बीज' बतलाया गया है

+ भगवान् ही ईश्वरोंके महान् ईश्वर, देवताओंके परम दैवत, पतियोंके परम पति, समस्त भुवनोंके स्वामी परम पूज्य परमदेव हैं (श्वेताश्वतर उप० ६ । ७)।

÷ जिसमें कोई वस्तु बहुत दिनोंके लिये रक्खी जाती हो, उसे 'निधान' कहते हैं। महाप्रलयमें समस्त प्राणियों सहित अव्यक्त प्रकृति भगवान्‌के ही किसी एक अंशमें धरोहरकी भाँति बहुत समयतक अक्रिय-अवस्थामें स्थित रहती है इसलिये भगवान्‌ने अपनेको 'निधान' कहा है।

ऽ इस श्लोकमें जितने भी शब्द आये हैं, सब-के-सब भगवान्‌के विशेषण हैं; अतः इस श्लोकमें पूर्व श्लोकोंकी 'अहम्' पदका प्रयोग नहीं किया गया।

A इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि अपनी किरणोंद्वारा समस्त जगत्‌को उष्णता और प्रकाश प्रदान करनेवाला तथा समुद्र आदि स्थानोंसे जलको उठाकर रोक रखनेवाला तथा उसे लोकहितार्थ मेघोंके द्वारा यथास्थान यथायोग्य वितरण करनेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है।

B वास्तवमें अमृत तो एक भगवान् ही हैं, जिनकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्य सदाके लिये मृत्युके पाशसे मुक्त

त्यु* हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ † ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—तेरहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक अपने सगुण-निर्गुण और रूपकी उपासनाओंका वर्णन करके भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकमें समस्त विश्वको अपना स्वरूप बतलाया। 'समस्त विश्व ही स्वरूप होनेके कारण इन्द्रादि अन्य देवोंकी उपासना भी मेरी ही उपासना है, परंतु ऐसा न जानकर फला-पूर्वक पृथक्-पृथक् भावसे उपासना करनेवालोंको मेरी प्राप्ति न होकर विनाशी फल ही मिलता है।' इसी बातको दिखलानेके लिये अब दो श्लोकोंमें भगवान् उस उपासनाका फलसहित वर्णन करते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकामकर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापरहित पुरुष‡ मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको§ प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

वे उस विशाल× स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकामकर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं+ ॥ २१ ॥

अनन्या[1]श्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

है, इसीलिये भगवान्‌ने अपनेको 'अमृत' कहा है और इसलिये मुक्तिको भी 'अमृत' कहते हैं।

* सबका नाश करनेवाले 'काल' को 'मृत्यु' कहते हैं। भगवान् ही यथासमय लोकोंका संहार करनेके लिये कालरूप धारण किये रहते हैं। वे कालके भी काल हैं। इसीलिये भगवान्‌ने 'मृत्यु' को अपना स्वरूप बतलाया है।

† जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' कहते हैं और नाशवान् अनित्य वस्तु-मात्रका नाम 'असत्' है। इन्हीं दोनोंको गीताके पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर' और 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है। ये दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं, इसलिये भगवान्‌ने सत् और असत्‌को अपना स्वरूप कहा है।

‡ ऋक्, यजु और साम—इन तीनों वेदोंको 'वेदत्रयी' अथवा त्रिविद्या कहते हैं। इन तीनों वेदोंमें वर्णित नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधि और उनके फलमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले एवं उसके अनुसार सकाम कर्म करनेवाले मनुष्योंको 'त्रैविद्य' कहते हैं। यज्ञोंमें सोमलताके रसपानकी जो विधि बतलायी गयी है, उस विधिसे सोमलताके रसपान करनेवालोंको 'सोमपा' कहते हैं। उपर्युक्त वेदोक्त कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे जिनके स्वर्गप्राप्तिमें प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो गये हैं, उनको 'पूतपाप' कहते हैं। ये तीनों विशेषण ऐसी श्रेणीके मनुष्योंके लिये हैं, जो भगवान्‌की सर्वरूपतासे अनभिज्ञ हैं और वेदोक्त कर्मकाण्डपर प्रेम और श्रद्धा रखकर पापकर्मोंसे बचते हुए सकामभावसे यज्ञादि कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान किया करते हैं।

§ यज्ञादि पुण्यकर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होनेवाले इन्द्रलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी लोक हैं, उन सबको लक्ष्य करके श्लोकमें 'पुण्यम्' विशेषणके सहित 'सुरेन्द्रलोकम्' पदका प्रयोग किया गया है। अतः 'सुरेन्द्रलोकम्' पद इन्द्रलोकका वाचक होते हुए भी उसे उपर्युक्त सभी लोकोंका वाचक समझना चाहिये।

× स्वर्गादि लोकोंके विस्तारका, वहाँकी भोग्य-वस्तुओंका, भोगप्रकारोंका, भोग्यवस्तुओंकी सुखरूपताका और भोगयोग्य शारीरिक तथा मानसिक शक्ति और परमायु आदि सभीका अनेक प्रकारका परिमाण मृत्युलोककी अपेक्षा कहीं अधिक और महान् है। इसीलिये उसको 'विशाल' कहा गया है।

+ भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्वको न जाननेवाले सकाम मनुष्य अनन्यचित्तसे भगवान्‌की शरण ग्रहण नहीं करते, भोग-कामनाके वशमें होकर उपर्युक्त धर्मका आश्रय लेते हैं। इसी कारण उनके कर्मोंका फल अनित्य है और इसीलिये उन्हें फिर मृत्युलोकमें लौटना पड़ता है।

[1] जिनका संसारके समस्त भोगोंसे प्रेम हटकर केवलमात्र भगवान्‌में ही अटल और अचल प्रेम हो गया है, भगवान्‌का वियोग जिनके लिये असह्य है, जिनका भगवान्‌से भिन्न दूसरा कोई भी उपास्यदेव नहीं है और जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति और परम प्रेमास्पद मानते हैं—ऐसे अनन्यप्रेमी एकनिष्ठ भक्तोंका विशेषण 'अनन्याः' पद है।

किंतु जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं,* उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ† ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त¹ जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है‡ ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ;§ परंतु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—भगवान्के भक्त आवागमनको प्राप्त नहीं होते और अन्य देवताओंके उपासक आवागमनको प्राप्त होते हैं, इसमें क्या कारण है ? इस जिज्ञासापर उपास्यके स्वरूप और उपासकके भावसे उपासनाके फलमें भेद होनेका नियम बतलाते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं,× भूतोंको पूजने

---

* सगुण भगवान् पुरुषोत्तमके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और एकान्तमें साधन करते, सब समय निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे उनका चिन्तन करते हुए, उन्हींके आज्ञानुसार निष्कामभावसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये चेष्टा करते रहना—यही 'उनका चिन्तन करते हुए भजन करना' है ।

† अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है । अतः भगवान्की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—यही 'उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम चलाना' है । भक्त प्रह्लादका जीवन इसका सुन्दर उदाहरण है । हिरण्यकशिपुद्वारा उसके साधनमें बड़े-बड़े विघ्न उपस्थित किये जानेपर भी सब प्रकारसे भगवान्ने उसकी रक्षा करके अन्तमें उसे अपनी प्राप्ति करवा दी ।

जो पुरुष भगवान्के ही परायण होकर अनन्यचित्तसे उनका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करते हुए ही सब कर्म करते हैं, अन्य किसी भी विषयकी कामना, अपेक्षा और चिन्ता नहीं करते, उनके जीवननिर्वाहका सारा भार भी भगवान् पर रहता है । अतः वे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परमसुहृद् भगवान् ही अपने भक्तका लौकिक और पारमार्थिक सब प्रकारका योगक्षेम चलाते हैं ।

१. वेद-शास्त्रोंमें वर्णित देवता, उनकी उपासना और स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप उसके फलपर जिनका आदरपूर्वक दृढ़ विश्वास हो, उनको यहाँ 'श्रद्धासे युक्त' कहा गया है और इस विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो बिना श्रद्धाके दम्भपूर्वक यज्ञादि कर्मोंद्वारा देवताओंका पूजन करते हैं, वे इस श्रेणीमें नहीं आ सकते; उनकी गणना तो आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंमें है ।

‡ जिस कामनाकी सिद्धिके लिये जिस देवताकी पूजाका शास्त्रमें विधान है, उस देवताकी शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मों द्वारा श्रद्धापूर्वक पूजा करना 'दूसरे देवताओंकी पूजा करना' है । समस्त देवता भी भगवान्के ही अङ्गभूत हैं, भगवान् ही सबके स्वामी हैं और वस्तुतः भगवान् ही उनके रूपमें प्रकट हैं—इस तत्त्वको न जानकर उन देवताओंको भगवान्से भिन्न समझकर सकाम भावसे जो उनकी पूजा करना है, यही भगवान्की 'अविधिपूर्वक' पूजा है ।

§ यह सारा विश्व भगवान्का ही विराट्‌रूप होनेके कारण भिन्न-भिन्न यज्ञ-पूजादि कर्मोंके भोक्तारूपमें माने जानेवाले जितने भी देवता हैं, सब भगवान्के ही अङ्ग हैं तथा भगवान् ही उन सबके आत्मा हैं (गीता १० । २०) । अतः उन देवताओंके रूपमें भगवान् ही समस्त यज्ञादि कर्मोंके भोक्ता हैं । भगवान् ही अपनी योगशक्तिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हुए सबको यथायोग्य नियममें चलाते हैं; वे ही इन्द्र, वरुण, यमराज, प्रजापति आदि जितने भी लोकपाल और देवतागण हैं—उन सबके नियन्ता हैं; इसलिये वही सबके प्रभु अर्थात् महेश्वर हैं (गीता ५।२९)

× देवताओंकी पूजा करना, उनकी पूजाके लिये बतलाये हुए नियमोंका पालन करना, उनके निमित्त यज्ञादिका अनुष्ठान करना, उनके मन्त्रका जप करना और उनके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराना—इत्यादि सभी बातें 'देवताओंके व्रत' हैं । इनका पालन करनेवाले मनुष्योंको अपनी उपासनाके फलस्वरूप जो उन देवताओंके लोकोंकी, उनके सदृश भोगोंकी अथवा उनके-जैसे रूपकी प्राप्ति होती है, वही देवोंको प्राप्त होना है ।

भूतोंको प्राप्त होते हैं* और मेरा पूजन करनेवाले भक्त ही प्राप्त होते हैं† । इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—भगवान्की भक्तिका भगवत्प्राप्तिरूप महान् फल होनेपर भी उसके साधनमें कोई कठिनता नहीं है, बल्कि उसका साधन बहुत ही सुगम है—यही बात दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युप[1]हृतमश्[2]नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो कोई भक्त‡ मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है,§ उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका

पितरोंके लिये यथाविधि श्राद्ध-तर्पण करना, उनके निमित्त ब्राह्मणोंको भोजन कराना, हवन करना, जप करना, पूजा करना तथा उनके लिये शास्त्रमें बतलाये हुए व्रत और नियमोंका भलीभाँति पालन करना आदि 'पितरोंके व्रत' हैं और जो मनुष्य सकामभावसे इन व्रतोंका पालन करते हैं, वे मरनेके बाद पितृलोकमें जाते हैं और वहाँ जाकर उन पितरोंके-जैसे स्वरूपको प्राप्त करके उनके-जैसे भोग भोगते हैं। यही पितरोंको प्राप्त होना है। ये भी अधिक-से-अधिक देवताओं या दिव्य पितरोंकी आयुपर्यन्त ही वहाँ रह सकते हैं। अन्तमें इनका भी पुनरागमन होता है।

यहाँ देव और पितरोंकी पूजाका निषेध नहीं समझना चाहिये। देव-पितृ-पूजा तो यथाविधि अपने-अपने वर्णाश्रम-के अधिकारानुसार सबको अवश्य ही करनी चाहिये; परंतु वह पूजा यदि सकामभावसे होती है तो अपना अधिक-से-अधिक फल देकर नष्ट हो जाती है और यदि कर्तव्यबुद्धिसे भगवत् आज्ञा मानकर या भगवत्-पूजा समझकर की जाती है तो वह भगवत्-प्राप्तिरूप महान् फलमें कारण होती है। इसलिये यहाँ समझना चाहिये कि देव-पितृकर्म तो अवश्य ही करें; परंतु उसमें निष्कामभाव लानेका प्रयत्न करें।

* जो प्रेत और भूतगणोंकी पूजा करते हैं, उनकी पूजाके नियमोंका पालन करते हैं, उनके लिये हवन या दान आदि करते हैं, ऐसे मनुष्योंका जो उन-उन भूत-प्रेतादिके समान रूप, भोग आदिको प्राप्त होना है, वही उनको प्राप्त होना है। भूत-प्रेतोंकी पूजा तामसी है तथा अनिष्ट फल देनेवाली है, इसलिये उसको नहीं करना चाहिये।

† जो पुरुष भगवान्के सगुण निराकार अथवा साकार—किसी भी रूपका सेवन-पूजन और भजन-ध्यान आदि करते हैं, समस्त कर्म उनके अर्पण करते हैं, उनके नामका जप करते हैं, गुणानुवाद सुनते और गाते हैं तथा इसी प्रकार भगवद्-भक्ति-विषयक अनेक प्रकारके साधन करते हैं, वे भगवान्का पूजन करनेवाले भक्त हैं और उनका भगवान्के दिव्य लोकमें जाना, भगवान्के समीप रहना, उनके जैसे ही दिव्य रूपको प्राप्त होना अथवा उनमें लीन हो जाना—यही भगवान्-को प्राप्त होना है।

[1] पत्र, पुष्प आदि कोई भी वस्तु जो प्रेमपूर्वक समर्पण की जाती है, उसे 'भक्त्युपहृत' कहते हैं। इसके प्रयोगसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि बिना प्रेमके दी हुई वस्तुको मैं स्वीकार नहीं करता और जहाँ प्रेम होता है तथा जिससे मुझे वस्तु अर्पण करनेमें और मेरेद्वारा उसके स्वीकार हो जानेमें सच्चा आनन्द होता है, वहाँ उस भक्तके द्वारा अर्पण की हुई वस्तु बहुत प्रेमसे स्वीकार कर लेता हूँ।

[2] इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार शुद्ध भावसे प्रेमपूर्वक समर्पण की हुई वस्तुओंको मैं स्वयं उस भक्तके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट होकर खा लेता हूँ अर्थात् जब मनुष्यादिके रूपमें अवतीर्ण होकर संसारमें विचरता हूँ, तब तो उस रूपमें वहाँ पहुँचकर और अन्य समयमें उस भक्तके इच्छानुसार रूपमें प्रकट होकर उसकी दी हुई वस्तुका भोग लगाकर उसे कृतार्थ कर देता हूँ।

‡ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि किसी भी वर्ण, आश्रम और जातिका कोई भी मनुष्य पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर सकता है। बल, रूप, धन, आयु, जाति, गुण और विद्या आदिके कारण मेरी किसीमें भेदबुद्धि नहीं है; अवश्य ही अर्पण करनेवालेका भाव विदुर और शबरी आदिकी भाँति सर्वथा शुद्ध और प्रेमपूर्ण होना चाहिये।

§ यहाँ पत्र, पुष्प, फल और जलका नाम लेकर यह भाव दिखलाया गया है कि जो वस्तु साधारण मनुष्योंको बिना किसी परिश्रम, हिंसा और व्ययके अनायास मिल सकती है—ऐसी कोई भी वस्तु भगवान्के अर्पण की जा सकती है। भगवान् पूर्णकाम होनेके कारण वस्तुके भूखे नहीं हैं, उनको तो केवल प्रेमकी ही आवश्यकता है। 'मुझ-जैसे साधारण-से-साधारण मनुष्यद्वारा अर्पण की हुई छोटी-से-छोटी वस्तु भी भगवान् सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, यह उनकी कैसी महत्ता है!' इस भावसे होकर प्रेमविह्वल चित्तसे किसी भी वस्तुको भगवान्के समर्पण करना, उसे भक्तिपूर्वक भगवान्के अर्पण करना है।

प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ* ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—यदि ऐसी ही बात है तो मुझे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर भगवान् अर्जुनको उसका कर्तव्य बतलाते हैं—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है,† वह सब मेरे अर्पण कर‡ ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समस्त कर्मोंको आपके अर्पण क्या होगा, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा[1] विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त मुझको ही प्राप्त होगा§ ॥ २८ ॥

---

* जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो, उसे 'शुद्धबुद्धि' कहते हैं। इसका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया कि यदि अर्पण करनेवालेका भाव शुद्ध न हो तो बाहरसे चाहे जितने शिष्टाचारके साथ, चाहे जितनी उत्तम-से-उत्तम मुझे अर्पण की जाय, मैं उसे कभी स्वीकार नहीं करता। मैंने दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार करके भाव शुद्ध होनेके विदुरके घरपर जाकर प्रेमपूर्वक भोजन किया, सुदामाके चिउरोंका बड़ी रुचिके साथ भोग लगाया, द्रौपदीकी बटलोईमें बचे हुए 'पत्ते' को खाकर विश्वको तृप्त कर दिया, गजेन्द्रद्वारा अर्पण किये हुए 'पुष्प' को स्वयं वहाँ पहुँचकर स्वीकार किया, शबरीकी कुटियापर जाकर उसके दिये हुए 'फलों'का भोग लगाया और रन्तिदेवके 'जल'को स्वीकार करके कृतार्थ किया। इसी प्रकार प्रत्येक भक्तकी प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुको मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ।

† इससे भगवान्ने सब प्रकारके कर्तव्य-कर्मोंका समाहार किया है। अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान और अतिरिक्त जीविकानिर्वाह आदिके लिये किये जानेवाले वर्ण, आश्रम और लोकव्यवहारके कर्म तथा भगवान्का भजन, आदि जितने भी शास्त्रीय कर्म हैं, उन सबका समावेश 'यत्करोषि' में, शरीर-पालनके निमित्त किये जानेवाले खान आदि कर्मोंका 'यदश्नासि' में, पूजन और हवनसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यज्जुहोषि' में, सेवा और दानसम्बन्धी कर्मोंका 'यद्ददासि' में और संयम तथा तपसम्बन्धी समस्त कर्मोंका समावेश 'यत्तपस्यसि' में किया गया है (गीता १७। १४—१७)।

‡ साधारण मनुष्यकी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति होती है तथा वह उनमें फलकी कामना रखता है। अतएव समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग कर देना और यह समझना कि समस्त जगत् भगवान्का है, मेरे मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय भी भगवान्के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्का हूँ, इसलिये मेरेद्वारा जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, वे सब भगवान्के ही हैं। कठपुतलीको नचानेवाले सूत्रधारकी भाँति भगवान् ही मुझसे यह सब करवा रहे हैं। मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—ऐसा समझकर जो भगवान्के आज्ञानुसार भगवान्की ही प्रसन्नताके लिये निष्काम भावसे उपर्युक्त कर्मोंका करना है, यही उन कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना है।

पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्को अर्पण करना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फल ही भगवान्के अर्पण करना— इस प्रकारका अर्पण करना भी भगवान्के ही अर्पण करना है। पहले इसी प्रकार होता है। ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त प्रकारसे पूर्णतया भगवदर्पण होता है।

[1] यहाँ 'संन्यासयोग' पद सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगका वाचक नहीं है, किंतु पूर्वश्लोकके अनुसार समस्त कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर देना ही यहाँ 'संन्यासयोग' है। इसलिये ऐसे संन्यासयोगसे जिसका आत्मा युक्त हो, जिसके मन और बुद्धिमें पूर्वश्लोकके कथनानुसार समस्त कर्म भगवान्के अर्पण करनेका भाव सुदृढ़ हो गया हो, उसे 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' समझना चाहिये।

§ भिन्न-भिन्न शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वर्ग, नरक और पशु, पक्षी एवं मनुष्यादि लोकोंके अंदर नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेना तथा सुख दुःखोंका भोग करना—यही शुभाशुभ फल है, इसीको कर्मबन्धन कहते हैं; क्योंकि कर्मोंके फल भोगना ही कर्मबन्धनमें पड़ना है। उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्म भगवान्के अर्पण कर देनेवाला मनुष्य कर्मफलरूप पुनर्जन्मसे और सुख-दुःखोंके भोगसे मुक्त हो जाता है, यही शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाना है। मरनेके बाद भगवान्के परम धाममें पहुँच जाना या इसी जन्ममें भगवान्को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेना ही उस कर्मबन्धनसे मुक्त होकर भगवान्को प्राप्त होना है।

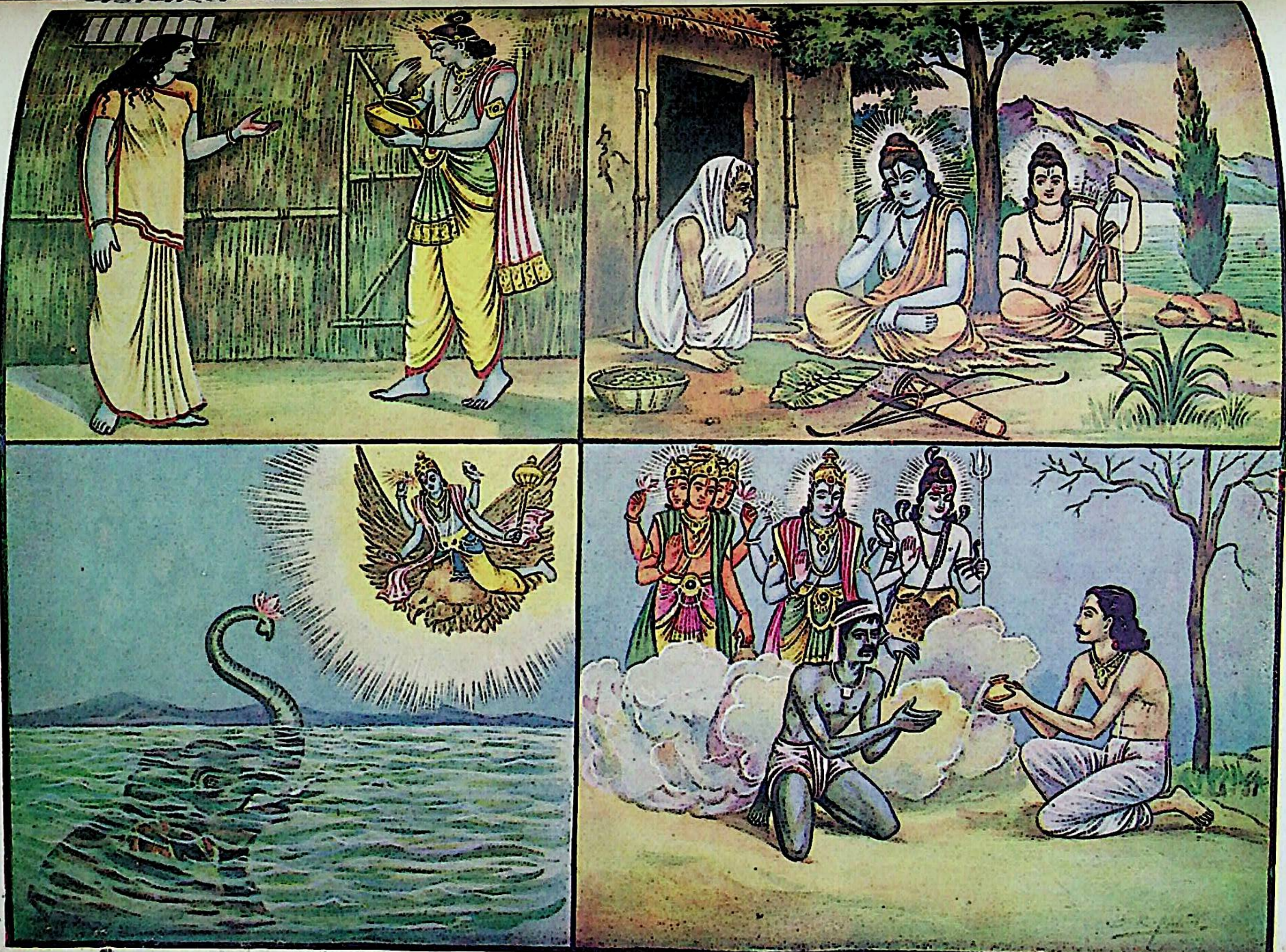

भक्तोंके द्वारा प्रेमसे दिये हुए पत्र, पुष्प, फल, जल आदिको भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर ग्रहण करते हैं !

सम्बन्ध--उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की भक्ति करनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं होती--इस कथनसे भगवान्‌में विषमताके दोषकी आशङ्का हो सकती है । अतएव उसका निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है;* परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ† ॥

अपि[1] चेत्[2] सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है‡ तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है । अर्थात् उसने भली-भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है§ ॥ ३० ॥

---

* इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे समभावसे व्याप्त हूँ । अतएव मेरा सबमें समभाव है, किसीमें भी मेरा राग-द्वेष नहीं है । इसलिये वास्तवमें मेरा कोई भी अप्रिय या प्रिय नहीं है ।

† भगवानके साकार या निराकार–किसी भी रूपका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, महिमा और लीला-चरित्रोंका श्रवण, मनन और कीर्तन करना; उनको नमस्कार करना, पत्र, पुष्प आदि यथेष्ट वस्तुओंके द्वारा उनकी प्रेमपूर्वक पूजा करना और अपने समस्त कर्म उनके समर्पण करना आदि सभी क्रियाओंका नाम प्रेमपूर्वक भगवान्‌को भजना है ।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् भी उनको वैसे ही भजते हैं । वे जैसे भगवान्‌को नहीं भूलते, वैसे ही भगवान् भी उनको नहीं भूल सकते–यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उनको अपनेमें बतलाया है और उन भक्तोंका विशुद्ध अन्तःकरण भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है, इससे उनके हृदयमें भगवान् सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं–यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको उनमें बतलाया है ।

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिविम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता, तथापि उसमें विषमता नहीं है, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंको मिलते हैं, दूसरोंको नहीं मिलते—इसमें उनकी विषमता नहीं है, यह तो भक्तिकी ही महिमा है ।

[1] 'अपि' देनेका अभिप्राय यह है कि सदाचारी और साधारण पापियोंका मेरा भजन करनेसे उद्धार हो जाय–इसमें तो कहना ही क्या है, भजनसे अतिशय दुराचारीका भी उद्धार हो सकता है ।

[2] 'चेत्' अव्यय 'यदि' के अर्थमें है । इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि प्रायः दुराचारी मनुष्योंकी विषयोंमें और पापोंमें आसक्ति रहनेके कारण वे मुझमें प्रेम करके मेरा भजन नहीं करते, तथापि किसी पूर्व शुभ संस्कारकी जागृति, भगवद्भावमय वातावरण, शास्त्रके अध्ययन और महात्मा पुरुषोंके सत्संगसे एवं मेरे गुण, प्रभाव, महत्त्व और रहस्यका श्रवण करनेसे यदि कदाचित् दुराचारी मनुष्यकी मुझमें श्रद्धा-भक्ति हो जाय और वह मेरा भजन करने लगे तो उसका भी उद्धार हो जाता है ।

‡ जिनके आचरण अत्यन्त दूषित हों, खान-पान और चाल-चलन भ्रष्ट हों, अपने स्वभाव, आसक्ति और बुरी आदतसे विवश होनेके कारण जो दुराचारोंका त्याग न कर सकते हों, ऐसे मनुष्योंको अतिशय दुराचारी समझना चाहिये । ऐसे मनुष्योंका जो भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिके सुनने और पढ़नेसे या अन्य किसी कारणसे भगवान्‌को सर्वोत्तम समझ लेना और एकमात्र भगवान्‌का ही आश्रय लेकर अतिशय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उन्हींको अपना इष्टदेव मान लेना है—यही उनका 'अनन्यभाक्' होना है । इस प्रकार भगवान्‌का भक्त बनकर जो उनके स्वरूपका चिन्तन करना, नाम, गुण, महिमा और लीलाका श्रवण, मनन और कीर्तन करना, उनको नमस्कार करना, पत्र-पुष्प आदि यथेष्ट वस्तु उनके अर्पण करके उनका पूजन करना तथा अपने किये हुए शुभ कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करना है–यही अनन्यभाक् होकर भगवान्‌का भजन करना है ।

§ जिसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि 'भगवान् पतितपावन, सबके सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, सर्वज्ञ, सबके स्वामी और सर्वोत्तम हैं एवं उनका भजन करना ही मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य है; इससे समस्त पापों और दुर्गुणोंका समूल नाश होकर भगवत्कृपासे मुझको अपने आप ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी ।'—यह बहुत ही उत्तम और सच्चा निश्चय है । भगवान् कहते हैं कि जिसका ऐसा निश्चय है, वह मेरा भक्त है और मेरी भक्तिके प्रतापसे वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जायगा । अतएव उसे पापी या दुष्ट न मानकर साधु ही मानना उचित है ।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है ।* हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान † कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—अब दो श्लोकोंमें भगवान् अच्छी-बुरी जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें अभाव दिखलाते शरणागतिरूप भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन करके अर्जुनको करनेकी आज्ञा देते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि[1] स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि[1] यान्ति परां गतिम् ॥

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि

---

* इसी जन्ममें बहुत ही शीघ्र सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर गीताके सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें वर्णित दैवी सम्पदासे युक्त हो जाना अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिका पात्र बन जाना ही शीघ्र धर्मात्मा बन जाना है और जो सदा रहनेवाली शान्ति है, जिसकी एक बार प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी अभाव नहीं होता, जिसे नैष्ठिकी शान्ति (गीता ५ । १२), निर्वाणपरमा शान्ति (गीता ६ । १५) और परमा शान्ति (गीता १८ । ६२) कहते हैं, परमेश्वरकी प्राप्तिरूप उस शान्तिको प्राप्त हो जाना ही 'सदा रहनेवाली परम शान्ति' को प्राप्त होना है ।

† इसके प्रयोगसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन ! मैंने जो तुम्हें अपनी भक्तिका और भक्तका महत्त्व बतलाया है, उसमें तुम्हें किञ्चिन्मात्र भी संशय न रखकर उसे सर्वथा सत्य समझना और दृढ़तापूर्वक धारण कर लेना चाहिये ।

‡ यहाँ भगवान्‌के कहनेका यह अभिप्राय है कि मेरे भक्तका क्रमशः उत्थान ही होता रहता है, पतन नहीं होता। अर्थात् वह न तो अपनी स्थितिसे कभी गिरता है और न उसको नीच योनि या नरकादिकी प्राप्तिरूप दुर्गतिकी ही प्राप्ति होती है; वह पूर्व कथनके अनुसार क्रमशः दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

[1] यहाँ 'अपि' का दो बार प्रयोग करके भगवान्‌ने ऊँची-नीची जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें सर्वथा अभाव दिखलाया है । भगवान्‌के कथनका यहाँ यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी अपेक्षा हीन समझे जानेवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र एवं उनसे भी हीन समझे जानेवाले चाण्डाल आदि कोई भी हों, मेरी उनमें भेदबुद्धि नहीं है । मेरी शरण होकर जो कोई भी मुझको भजते हैं, उन्हींको परम गति मिल जाती है ।

§ पूर्वजन्मोंके पापोंके कारण चाण्डालादि योनियोंमें उत्पन्न प्राणियोंको 'पापयोनि' माना गया है । इनके सिवा शास्त्रोंके अनुसार हूण, भील, खस, यवन आदि म्लेच्छ-जातिके मनुष्य भी 'पापयोनि' ही माने जाते हैं । यहाँ 'पापयोनि' शब्द इन्हीं सबका वाचक है । भगवान्‌की भक्तिके लिये किसी जाति या वर्णके लिये कोई रुकावट नहीं है । वहाँ तो शुद्ध प्रेमकी आवश्यकता है । श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् । भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ (११ । १४ । २१)

'हे उद्धव ! संतोंका परमप्रिय 'आत्मा' रूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही वशीभूत होता हूँ । मेरी भक्ति जन्मतः चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है ।'

यहाँ 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वैश्योंकी गणना द्विजोंमें की गयी है । उनको वेद पढ़नेका और यज्ञादि वैदिक कर्मोंके करनेका शास्त्रमें पूर्ण अधिकार दिया गया है । अतः द्विज होनेके कारण वैश्योंको 'पापयोनि' कहना नहीं बन सकता । इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद्में जहाँ जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन है, यह स्पष्ट कहा गया है कि—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥ (अध्याय ५ खण्ड १० मं० ७)

'उन जीवोंमें जो इस लोकमें रमणीय आचरणवाले अर्थात् पुण्यात्मा होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनि—ब्राह्मणकी, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरणवाले अर्थात् पापकर्मा होते हैं, वे अधम योनि अर्थात् कुत्तेकी, सूकरकी या चाण्डालकी योनिको प्राप्त करते हैं ।

इससे यह सिद्ध है कि वैश्योंकी गणना 'पापयोनि' में नहीं की जा सकती । अब रही स्त्रियोंकी बात—सो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी स्त्रियोंका अपने पतियोंके साथ यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार माना गया है । इस कारणसे उनको पापयोनि कहना नहीं बन सकता । सबसे बड़ी अड़चन तो यह पड़ेगी कि भगवान्‌की भक्तिसे चाण्डाल आदिको

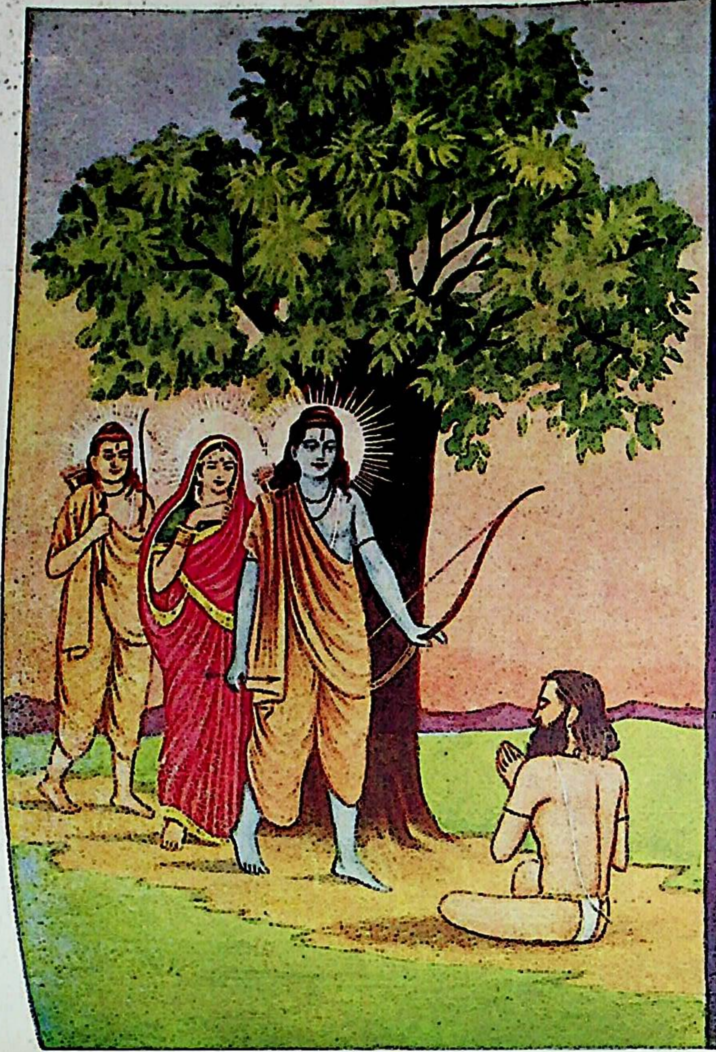

पुण्यात्मा ब्राह्मण सुतीक्ष्ण

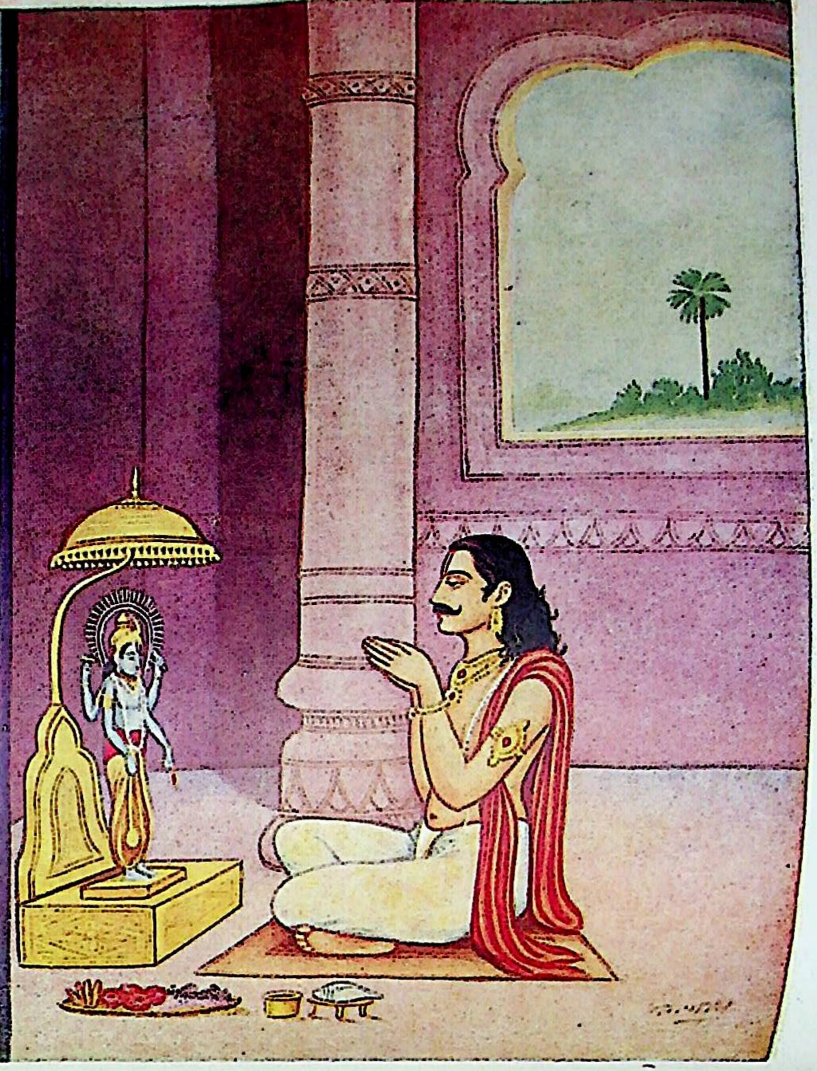

राजर्षि अम्बरीष

ादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर* परम-
ो ही प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता[2] राजर्षयस्तथा ।
ित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा र्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते । इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर† ॥ ३३ ॥

सम्बन्ध—पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने अपने भजनका महत्त्व दिखलाया और अन्तमें अर्जुनको भजन करनेके लिये कहा । अतएव अब भगवान् अपने भजनका अर्थात् शरणागतिका प्रकार बतलाते हुए अध्यायकी समाप्ति करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां[3] नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

ति मिलनेकी बात, जो कि सर्वशास्त्रसम्मत है और जो भक्तिके महत्त्वको प्रकट करती है, कैसे रहेगी ? अतएव योनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण न मानकर शूद्रोंकी अपेक्षा भी हीनजातिके मनुष्योंका वाचक ना ही ठीक प्रतीत होता है । क्योंकि भागवतमें बतलाया है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ (२ । ४ । १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन और खस अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् ुको नमस्कार है ।'

* भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास करके चौंतीसवें श्लोकके कथनानुसार प्रेमपूर्वक सब प्रकारसे भगवान्‌की शरण हो जाना उनके प्रत्येक विधानमें सदा संतुष्ट रहना, उनके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका निरन्तर श्रवण, कीर्तन और करते रहना, उन्हींको अपनी गति, भर्ता, प्रभु आदि मानना, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना, उन्हें नमस्कार , उनकी आज्ञाका पालन करना और समस्त कर्म उन्हींके समर्पण कर देना आदि भगवान्‌की शरण होना है ।

[1] 'किम्' और 'पुनः' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जब उपर्युक्त अत्यन्त दुराचारी ९ । ३०) और चाण्डाल आदि नीच जातिके मनुष्य भी (गीता ९ । ३२) मेरा भजन करके परम गतिको प्राप्त हो जाते ब फिर जिनके आचार-व्यवहार और वर्ण अत्यन्त उत्तम हैं, ऐसे मेरे भक्त पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षिलोग मेरी होकर परम गतिको प्राप्त हो जायँ—इसमें तो कहना ही क्या है !

[2] 'भक्ताः' पदका सम्बन्ध ब्राह्मण और राजर्षि दोनोंके ही साथ है, क्योंकि यहाँ भक्तिके ही कारण उनको परम की प्राप्ति बतलायी गयी है ।

† मनुष्यदेह बहुत ही दुर्लभ है । यह बड़े पुण्यबलसे और खास करके भगवान्‌की कृपासे मिलता है और मिलता भगवत्प्राप्तिके लिये ही । इस शरीरको पाकर जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसीका मनुष्य-जीवन सफल है । जो इसमें सुख खोजता है, वह तो असली लाभसे वञ्चित ही रह जाता है ; क्योंकि यह सर्वथा सुखरहित है, इसमें सुखका लेश भी नहीं है । जिन विषयभोगोंके सम्बन्धको मनुष्य सुखरूप समझता है, वह बार-बार जन्म मृत्युके चक्कर-डालनेवाला होनेके कारण वस्तुतः दुःखरूप ही है । अतएव इसको सुखरूप न समझकर यह जिस उद्देश्यकी सिद्धिके मिला है, उस उद्देश्यको शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिये; क्योंकि यह शरीर क्षणभङ्गुर है, पता नहीं, किस क्षण नाश हो जाय ! इसलिये सावधान हो जाना चाहिये । न इसे सुखरूप समझकर विषयोंमें फँसना चाहिये और न नित्य समझकर भजनमें देर ही करनी चाहिये । कदाचित् अपनी असावधानीमें यह व्यर्थ ही नष्ट हो गया तो फिर पछतानेके और कुछ भी उपाय हाथमें नहीं रह जायगा । श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । (केनोपनिषद् २ । ५)

'यदि इस मनुष्यजन्ममें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना तब तो बड़ी हानि है ।'

इसीलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसे शरीरको पाकर नित्य-निरन्तर मेरा भजन ही करो । क्षणभर भी मुझे मत भूलो ।

[3] जिन परमेश्वरके सगुण, निर्गुण, निराकार, साकार आदि अनेक रूप हैं; जो विष्णुरूपसे सबका पालन करते ब्रह्मारूपसे सबकी रचना करते हैं और रुद्ररूपसे सबका संहार करते हैं; जो भगवान् युग-युगमें मत्स्य, कच्छप, वाराह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य रूपोंमें अवतीर्ण होकर जगत्‌में विचित्र लीलाएँ करते हैं; जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार

मुझमें मनवाला हो,* मेरा भक्त बन,† मेरा पूजन करनेवाला हो,‡ मुझको प्रणाम कर§। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके× मेरे परायण+ होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा÷ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ भीष्मपर्वणि तु त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥ भीष्मपर्वमें तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उनको अपनी शरण प्रदान करते हैं—उन समस्त जगत्‌के कर्ता, हर्ता, विधाता, सर्वा सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वगुणसम्पन्न, परम पुरुषोत्तम, समग्र भगवान्‌का वाचक यहाँ 'माम्' पद है।

* भगवान् ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वातीत, सर्वमय, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यके समुद्र और परम प्रेमस्वरूप हैं—इस प्रकार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका यथार्थ परिचय हो जानेसे जब साधकको यह निश्चय हो जाता है कि एकमात्र भगवान् ही हमारे परम प्रेमास्पद हैं, तब जगत्‌की किसी भी वस्तुमें उसकी जरा भी रमणीय-बुद्धि नहीं रह जाती। ऐसी अवस्थामें संसारके किसी दुर्लभ से-दुर्लभ भोगमें भी उसके लिये कोई आकर्षण नहीं रहता। जब इस प्रकारकी स्थिति हो जाती है, तब स्वाभाविक ही इस लोक और परलोककी समस्त वस्तुओंसे उसका मन सर्वथा हट जाता है और वह अनन्य तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करता रहता है। भगवान्‌का यह प्रेमपूर्ण चिन्तन ही उसके प्राणोंका आधार होता है, वह क्षणमात्रकी भी उनकी विस्मृतिको सहन नहीं कर सकता। जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसीको 'भगवान्‌में मनवाला' कहते हैं।

† भगवान् ही परमगति हैं, वे ही एकमात्र भर्ता और स्वामी हैं, वे ही परम आश्रय और परम आत्मीय संरक्षक हैं, ऐसा मानकर उन्हींपर निर्भर हो जाना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना, उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करना, भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमें अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको निमग्न रखना और उन्हींकी प्रीतिके लिये प्रत्येक कार्य करना—इसीका नाम 'भगवान्‌का भक्त बनना' है।

‡ भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर उनके मङ्गलमय विग्रहका यथाविधि पूजन करना, सुविधानुसार अपने अपने घरोंमें इष्टरूप भगवान्‌की मूर्ति स्थापित करके उसका विधिपूर्वक श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना, अपने हृदयमें या अन्तरिक्षमें अपने सामने भगवान्‌की मानसिक मूर्ति स्थापित करके उसकी मानस-पूजा करना, उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमियों और चित्रपट आदिका आदर-सत्कार करना, उनकी सेवाके कार्योंमें अपनेको संलग्न रखना, निष्कामभावसे यज्ञादिके अनुष्ठानके द्वारा भगवान्‌की पूजा करना, माता-पिता, ब्राह्मण, साधु-महात्मा और गुरुजनोंको तथा अन्य समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे भगवान् सबमें व्याप्त हैं, ऐसा जानकर सबका यथायोग्य पूजन, आदर-सत्कार करना और तन-मन-धनसे सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेकी तथा सबका हित करनेकी यथार्थ चेष्टा करना—ये सभी क्रियाएँ 'भगवान्‌की पूजा' ही कहलाती हैं।

§ भगवान्‌के साकार या निराकार रूपको, उनकी मूर्तिको, चित्रपटको, उनके चरण, चरणपादुका या चरणचिह्नोंको, उनके तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभावका और उनकी मधुर लीलाओंका व्याख्यान करनेवाले सत्-शास्त्रोंको, माता-पिता, ब्राह्मण, गुरु, साधु संत और महापुरुषोंको तथा विश्वके समस्त प्राणियोंको उन्हींका स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे उनको सबमें व्याप्त जानकर श्रद्धा-भक्तिसहित, मन, वाणी और शरीरके द्वारा यथायोग्य प्रणाम करना—यही 'भगवान्‌को नमस्कार करना' है।

× यहाँ 'आत्मा' शब्द मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक है; तथा इन सबको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌में लगा देना ही आत्माको उसमें युक्त करना है।

+ इस प्रकार सब कुछ भगवान्‌को समर्पण कर देना और भगवान्‌को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और अपना सर्वस्व समझना 'भगवान्‌के परायण होना' है।

÷ इसी मनुष्यशरीरमें ही भगवान्‌का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाना, भगवान्‌को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश कर जाना अथवा भगवान्‌के दिव्य लोकमें जाना, उनके समीप रहना अथवा उनके-जैसे रूप आदिको प्राप्त कर लेना—ये सभी भगवत्प्राप्ति ही है।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां दशमोऽध्यायः)

भगवान्‌की विभूति और योगशक्तिका तथा प्रभावसहित भक्तियोगका कथन, अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः वर्णन

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायसे लेकर नवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानका जो वर्णन किया गया, उसके बहुत गम्भीर हो जानेके कारण अब पुनः उसी विषयको दूसरे प्रकारसे भलीभाँति समझानेके लिये दसवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले श्लोकमें भगवान् पूर्वोक्त विषयका ही पुनः वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय[१] वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुन,* जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा ॥ १ ॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जिस विषयपर कहनेकी प्रतिज्ञा की है, उसका वर्णन आरम्भ करते हुए वे पहले पाँच श्लोकोंमें योगशब्दवाच्य प्रभावका और अपनी विभूतिका संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः[२] प्रभवं न महर्षयः[३]।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं,† क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ‡ २

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है,§ वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

---

[१] 'प्रीयमाणाय' विशेषणका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि हे अर्जुन! तुम्हारा मुझमें अतिशय प्रेम है, मेरे वचनोंको तुम अमृततुल्य समझकर अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ सुनते हो; इसीलिये मैं किसी प्रकारका संकोच न करके बिना पूछे भी तुम्हारे सामने अपने परम गोपनीय गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य बार-बार खोल रहा हूँ। इसमें तुम्हारा प्रेम ही कारण है।

* इस अध्यायमें भगवान्‌ने अपने गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य समझानेके लिये जो उपदेश दिया है, वही 'परम वचन' है और उसे फिरसे सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरी भक्तिका तत्त्व अत्यन्त ही गहन है; अतः उसे बार-बार सुनना परम आवश्यक समझकर बड़ी सावधानीके साथ श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सुनना चाहिये।

[२] 'सुरगणाः' पद एकादश रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य, प्रजापति, उन्चास मरुद्गण, अश्विनीकुमार और इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रीय देवताओंके समुदाय हैं—उन सबका वाचक है।

[३] 'महर्षयः' पदसे यहाँ सप्त महर्षियोंको समझना चाहिये।

† भगवान्‌का अपने अतुलनीय प्रभावसे जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करनेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके रूपमें; दुष्टोंके विनाश, धर्मके संस्थापन तथा नाना प्रकारकी लीलाओंके द्वारा जगत्‌के प्राणियोंके उद्धारके लिये श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य अवतारोंके रूपमें; भक्तोंको दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ करनेके लिये उनके इच्छानुरूप नाना रूपोंमें तथा लीलावैचित्र्यकी अनन्त धारा प्रवाहित करनेके लिये समस्त विश्वके रूपमें जो प्रकट होना है—उसीका वाचक यहाँ 'प्रभव' शब्द है। उसे देवसमुदाय और महर्षिलोग नहीं जानते, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं किस-किस समय किन-किन रूपोंमें किन-किन हेतुओंसे किस प्रकार प्रकट होता हूँ—इसके रहस्यको साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, अतीन्द्रिय विषयोंको समझनेमें समर्थ देवता और महर्षिलोग भी यथार्थरूपसे नहीं जानते।

‡ इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जिन देवता और महर्षियोंसे इस सारे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं; उनका निमित्त और उपादान कारण मैं ही हूँ और उनमें जो विद्या, बुद्धि, शक्ति, तेज और प्रभाव हैं—वे सब भी उन्हें मुझसे ही मिलते हैं।

§ भगवान् अपनी योगमायासे नाना रूपोंमें प्रकट होते हुए भी अजन्मा हैं (गीता ४। ६), अन्य जीवोंकी भाँति उनका जन्म नहीं होता, वे अपने भक्तोंको सुख देने और धर्मकी स्थापना करनेके लिये केवल जन्मधारणकी लीला किया करते हैं—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना तथा इसमें जरा भी संदेह न करना—यही 'भगवान्

बुद्धि[1]र्ज्ञान[2]मसम्मोह[3]ः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा[4] समता[5] तुष्टि[6]स्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

निश्चय करनेकी शक्ति, यथार्थ ज्ञान, अस क्षमा,* सत्य,† इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्र सुख-दुःख,‡ उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय§ तथा अ समता, संतोष, तप,× दान,+ कीर्ति और अपकीर्ति— ये प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं÷ ॥

को अजन्मा जानना’ है तथा भगवान् ही सबके आदि अर्थात् महाकारण हैं, उनका आदि कोई नहीं है; वे नित्य हैं, सदासे हैं, अन्य पदार्थोंकी भाँति उनका किसी कालविशेषसे आरम्भ नहीं हुआ है—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके ठीक-ठीक समझ लेना—‘भगवान्‌को अनादि जानना’ है। एवं जितने भी ईश्वरकोटिमें गिने जानेवाले इन्द्र, वरुण, प्रजापति आदि लोकपाल हैं—भगवान् उन सबके महान् ईश्वर हैं; वे ही सबके नियन्ता, प्रेरक, कर्ता, हर्ता, सब प्रकारसे भरण-पोषण और संरक्षण करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं—इस बातको श्रद्धापूर्वक संशयरहित ठीक-ठीक समझ ले ‘भगवान्‌को लोकोंका महान् ईश्वर जानना’ है।

१. कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य और भले-बुरे आदिका निर्णय करके निश्चय करनेवाली जो वृत्ति है, ‘बुद्धि’ कहते हैं।

२. किसी भी पदार्थको यथार्थ जान लेना ‘ज्ञान’ है; यहाँ ‘ज्ञान’ शब्द साधारण ज्ञानसे लेकर भगवान्‌के स्वरूप तक सभी प्रकारके ज्ञानका वाचक है।

३. भोगासक्त मनुष्योंको नित्य और सुखप्रद प्रतीत होनेवाले समस्त सांसारिक भोगोंको अनित्य, क्षणिक और दुः मूलक समझकर उनमें मोहित न होना—यही ‘असम्मोह’ है।

४. किसी भी प्राणीको किसी भी समय किसी भी प्रकारसे मन, वाणी या शरीरके द्वारा जरा भी कष्ट न पहुँचने भावको ‘अहिंसा’ कहते हैं।

५. सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु आदि जितने भी क्रिया, पदार्थ घटना आदि विषमताके हेतु माने जाते हैं, उन सबमें निरन्तर राग-द्वेषरहित समबुद्धि रहनेके भावको ‘समता’ कहते हैं।

६. जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसे प्रारब्धका भोग या भगवान्‌का विधान समझकर सदा संतुष्ट रहनेके भाव ‘तुष्टि’ कहते हैं।

* बुरा चाहना, बुरा करना, धनादि हर लेना, अपमान करना, आघात पहुँचाना, कड़ी जबान कहना या देना, निन्दा या चुगली करना, आग लगाना, विष देना, मार डालना और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षमें क्षति पहुँचाना जितने भी अपराध हैं, इनमेंसे एक या अधिक किसी प्रकारका भी अपराध करनेवाला कोई भी प्राणी क्यों न हो, बदला लेनेका पूरा सामर्थ्य रहनेपर भी उससे उस अपराधका किसी प्रकार भी बदला लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दे और उस अपराधके कारण उसे इस लोक या परलोकमें कोई भी दण्ड न मिले—ऐसा भाव होना ‘क्षमा’ है।

† इन्द्रिय और अन्तःकरणद्वारा जो बात जिस रूपमें देखी, सुनी और अनुभव की गयी हो, ठीक उसी रूपमें दूसरों समझानेके उद्देश्यसे हितकर प्रिय शब्दोंमें उसको प्रकट करना ‘सत्य’ है।

‡ ‘सुख’ शब्द यहाँ प्रिय (अनुकूल) वस्तुके संयोगसे और अप्रिय (प्रतिकूल) के वियोगसे होनेवाले सब प्रकारके सुख का वाचक है। इसी प्रकार प्रियके वियोगसे और अप्रियके संयोगसे होनेवाले आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक— सब प्रकारके दुःखोंका वाचक यहाँ ‘दुःख’ शब्द है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियोंके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले कष्टोंको ‘आधिभौतिक’, अनावृ अतिवृष्टि, भूकम्प, वज्रपात और अकाल आदि दैवीप्रकोपसे होनेवाले कष्टोंको ‘आधिदैविक’ और शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तः करणमें किसी प्रकारके रोगसे होनेवाले कष्टोंको ‘आध्यात्मिक’ दुःख कहते हैं।

§ सर्गकालमें समस्त चराचर जगत्‌का उत्पन्न होना ‘भव’ है, प्रलयकालमें उसका लीन हो जाना ‘अभाव’ है। किसी प्रकारकी हानि या मृत्युके कारणको देखकर अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाले भावका नाम ‘भय’ है और सर्वत्र ए परमेश्वरको व्याप्त समझ लेनेसे अथवा अन्य किसी कारणसे भयका जो सर्वथा अभाव हो जाना है वह ‘अभय’ है।

× स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना ‘तप’ है।

+ अपने स्वत्वको दूसरोंके हितके लिये वितरण करना ‘दान’ है।

÷ इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि विभिन्न प्राणियोंके उनकी प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त प्रकार जितने भी विभिन्न भाव होते हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं, अर्थात् वे सब मेरी ही सहायता, शक्ति और सत्तासे होते हैं।

र्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
द्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

सात महर्षिजन,* चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु†—ये मुझमें भाववाले

---

१. 'चत्वारः पूर्वे' से सबसे पहले होनेवाले सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चारोंको लेना हिये। ये भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं और ब्रह्माजीके तप करनेपर स्वेच्छासे प्रकट हुए हैं। ब्रह्माजीने स्वयं कहा है—

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत् ।
प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । ७ । ५)

मैंने विविध प्रकारके लोकोंको उत्पन्न करनेकी इच्छासे जो सबसे पहले तप किया, उस मेरी अखण्डित तपस्यासे भगवान् स्वयं सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार 'सन' नामवाले रूपोंमें प्रकट हुए और पूर्वकल्पमें कालके समय जो आत्मतत्त्वके ज्ञानका प्रचार इस संसारमें नष्ट हो गया था, उसका इन्होंने भलीभाँति उपदेश किया, से उन मुनियोंने अपने हृदयमें आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया ।'

* सप्तर्षियोंके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

एतान् भावानधीयाना ये चैत ऋषयो मताः । सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः ॥
दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरा दिव्यचक्षुषः । वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये ॥

(वायुपुराण ६१ । ९३-९४)

'तथा देवर्षियोंके इन (उपर्युक्त) भावोंका जो अध्ययन (स्मरण) करनेवाले हैं, वे ऋषि माने गये हैं; इन सातोंमें जो दीर्घायु, मन्त्रकर्ता, ऐश्वर्यवान्, दिव्य-दृष्टियुक्त, गुण, विद्या और आयुमें वृद्ध, धर्मका प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) नेवाले और गोत्र चलानेवाले हैं—ऐसे सातों गुणोंसे युक्त सात ऋषियोंको ही सप्तर्षि कहते हैं ।' इन्हींसे प्रजाका विस्तार ता है और धर्मकी व्यवस्था चलती है ।

यहाँ जिन सप्तर्षियोंका वर्णन है, उनको भगवान्‌ने 'महर्षि' कहा है और उन्हें संकल्पसे उत्पन्न बतलाया है । इसलिये उन्हींका लक्ष्य है, जो ऋषियोंसे भी उच्चस्तरके हैं । ऐसे सप्तर्षियोंका उल्लेख महाभारत-शान्तिपर्वमें मिलता है; इनके साक्षात् परम पुरुष परमेश्वरने देवताओंसहित ब्रह्माजीसे कहा है—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः । प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥

(महा० शान्ति० ३४० । ६९-७०)

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने रचे हुए हैं । ये सातों वेदके ज्ञाता हैं, इनको मैंने मुख्य वेदाचार्य बनाया है । ये प्रवृत्तिमार्गका संचालन करनेवाले और (मेरे ही द्वारा) प्रजापतिके कर्ममें नियुक्त किये गये हैं ।'

इस कल्पके सर्वप्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि यही हैं (हरिवंश० ७ । ८, ९) । अतएव यहाँ सप्तर्षियोंसे ग्रहण करना चाहिये ।

† ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु होते हैं, प्रत्येक मनुके अधिकारकालको 'मन्वन्तर' कहते हैं । इकहत्तर चतु- कुछ अधिक कालका एक मन्वन्तर होता है । मानवी वर्षगणनाके हिसाबसे एक मन्वन्तर तीस करोड़ सड़सठ बीस हजार वर्षसे और दिव्य-वर्षगणनाके हिसाबसे आठ लाख बावन हजार वर्षसे कुछ अधिक कालका होता है (विष्णुपुराण १ । ३) ।

सूर्यसिद्धान्तमें मन्वन्तर आदिका जो वर्णन है, उसके अनुसार इस प्रकार समझना चाहिये—

सौरमानसे ४३,२०,००० वर्षकी अथवा देवमानसे १२,००० वर्षकी एक चतुर्युगी होती है । इसीको महायुग हैं । ऐसे इकहत्तर युगोंका एक मन्वन्तर होता है । प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें सत्ययुगके मानकी अर्थात् १७,२८,००० संध्या होती है । मन्वन्तर बीतनेपर जब संध्या होती है, तब सारी पृथ्वी जलमें डूब जाती है । प्रत्येक कल्पमें (ब्रह्माके एक दिनमें) चौदह मन्वन्तर अपनी-अपनी संध्याओंके मानके सहित होते हैं । इसके सिवा कल्पके आरम्भ- में भी एक सत्ययुगके मानकालकी संध्या होती है । इस प्रकार एक कल्पके चौदह मनुओंमें ७१ चतुर्युगीके अतिरिक्त युगके मानकी १५ संध्याएँ होती हैं । ७१ महायुगोंके मानसे १४ मनुओंमें ९९४ महायुग होते हैं और सत्ययुगके

सब-के-सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं,* जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको† और

मानकी १५ संध्याओंका काल पूरा ६ महायुगोंके समान हो जाता है। दोनोंका योग मिलानेपर पूरे एक हजार महायुग या दिव्ययुग बीत जाते हैं।

इस हिसाबसे निम्नलिखित अङ्कोंके द्वारा इसको समझिये—

	सौरमान या मानव वर्ष	देवमान या दिव्य
एक चतुर्युगी (महायुग या दिव्ययुग)	४३,२०,०००	१२,०००
इकहत्तर चतुर्युगी	३०,६७,२०,०००	८,५२,०००
कल्पकी संधि	१७,२८,०००	४,८००
मन्वन्तरकी चौदह संध्या	२,४१,९२,०००	६७,२००
संधिसहित एक मन्वन्तर	३०,८४,४८,०००	८,५६,८००
चौदह संध्यासहित चौदह मन्वन्तर	४,३१,८२,७२,०००	१,१९,९६,२००
कल्पकी संधिसहित चौदह मन्वन्तर या एक कल्प	४,३२,००,००,०००	१,२०,००,०००

ब्रह्माजीका दिन ही कल्प है, इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि है। इस अहोरात्रके मानसे ब्रह्माजीकी परमायु एक सौ वर्ष है। इसे 'पर' कहते हैं। इस समय ब्रह्माजी अपनी आयुका आधा भाग अर्थात् एक परार्द्ध बिताकर दूसरे परार्द्धमें चल रहे हैं। यह उनके ५१ वें वर्षका प्रथम दिन या कल्प है। वर्तमान कल्पके आरम्भसे अबतक स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर अपनी-अपनी संध्याओंसहित बीत चुके हैं, कल्पकी संध्यासमेत सात संध्याएँ बीत चुकी हैं। वर्तमान सातवें वैवस्वत मन्वन्तरके २७ चतुर्युग बीत चुके हैं। इस समय अट्ठाईसवें चतुर्युगके कलियुगका संध्याकाल चल रहा है। (सूर्यसिद्धान्त मध्यमाधिकारः श्लोक १५ से २४ देखिये)।

इस २०१३ वि० तक कलियुगके ५०५७ वर्ष बीते हैं। कलियुगके आरम्भमें ३६,००० वर्ष संध्याकालका मान है। इस हिसाबसे अभी कलियुगकी संध्याके ३०,९४३ सौर वर्ष बीतने बाकी हैं।

प्रत्येक मन्वन्तरमें धर्मकी व्यवस्था और लोकरक्षणके लिये भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। एक मन्वन्तरके बीत जानेपर जब मनु बदल जाते हैं, तब उन्हींके साथ सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और मनुपुत्र भी बदल जाते हैं। वर्तमान कल्पके मनुओंके नाम ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि।

श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायोंमें इनका विस्तारसे वर्णन पढ़ना चाहिये। विभिन्न पुराणोंमें इनके नामभेद मिलते हैं। यहाँ ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार दिये गये हैं।

चौदह मनुओंका एक कल्प बीत जानेपर सब मनु भी बदल जाते हैं।

* ये सभी भगवान्में श्रद्धा और प्रेम रखनेवाले हैं, यही भाव दिखलानेके लिये इनको मुझमें भाववाले बतलाया गया है तथा इनकी जो ब्रह्माजीसे उत्पत्ति होती है, वह वस्तुतः भगवान्से ही होती है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्की रचनाके लिये ब्रह्माका रूप धारण करते हैं। अतएव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न होनेवालोंको भगवान् 'अपने मनसे उत्पन्न होनेवाले' कहें तो इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है।

१. भगवान्की जो अनन्यभक्ति है (गीता ११। ५५), जिसे 'अव्यभिचारिणी भक्ति' (गीता १३। १०) और 'अव्यभिचारी भक्तियोग' (गीता १४। २६) भी कहते हैं; उस 'अविचल भक्तियोग' का वाचक यहाँ 'अविकम्पेन' विशेषणके सहित 'योगेन' पद है और उसमें संलग्न रहना ही उससे युक्त हो जाना है।

† इसी अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें भगवान्ने जिन बुद्धि आदि भावोंको और महर्षि आदिको अपनेसे उत्पन्न बतलाया है तथा गीताके सातवें अध्यायमें 'जलमें मैं रस हूँ' (७। ८) एवं नवें अध्यायमें 'क्रतु मैं हूँ' 'यज्ञ मैं हूँ' (९। १६) इत्यादि वाक्योंसे जिन-जिन पदार्थोंका, भावोंका और देवता आदिका वर्णन किया है—उन सबका वाचक 'विभूति' शब्द है।

शक्तिको* तत्त्वसे जानता है,† वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—भगवान्‌के प्रभाव और विभूतियोंके ज्ञानका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी गयी, अब दो श्लोकोंमें उस भक्तियोगकी प्राप्तिका क्रम बतलाते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर‡ श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं§ ॥ ८ ॥

मच्चित्ता[1] मद्गतप्राणा[2] बोधयन्तः परस्परम्[3]।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा

---

* भगवान्‌की जो अलौकिक शक्ति है, जिसे देवता और महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जानते (गीता १० । २, ३); जिसके कारण स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अभिन्न-निमित्तोपादान कारण होनेपर भी भगवान् सदा उनसे न्यारे रहते हैं और यह कहा जाता है कि 'न तो वे भाव भगवान्‌में हैं और न भगवान् ही उनमें हैं' (गीता ७। १२); जिस शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि समस्त कर्म करते हुए भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌को नियममें चलाते हैं; जिसके कारण वे समस्त लोकोंके महान् ईश्वर, समस्त भूतोंके सुहृद्, समस्त यज्ञादिके भोक्ता, सर्वाधार और सर्वशक्तिमान् हैं; जिस शक्तिसे भगवान् इस समस्त जगत्‌को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हैं (गीता १० । ४२) और युग-युगमें अपनी इच्छानुसार विभिन्न कार्योंके लिये अनेक रूप धारण करते हैं तथा सब कुछ करते हुए भी समस्त कर्मोंसे, सम्पूर्ण गुणोंसे एवं जन्मादि समस्त विकारोंसे सर्वथा निर्लेप रहते हैं और गीताके नवम अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिसको 'ऐश्वर्य योग' कहा गया है—उस अद्भुत शक्ति (प्रभाव) का वाचक यहाँ 'योग' शब्द है।

† इस प्रकार समस्त जगत् भगवान्‌की ही रचना है और सब उन्हींके एक अंशमें स्थित हैं। इसलिये जगत्‌में जो वस्तु शक्तिसम्पन्न प्रतीत हो, जहाँ भी कुछ विशेषता दिखलायी दे, उसे—अथवा समस्त जगत्‌को ही भगवान्‌की विभूति अर्थात् उन्हींका स्वरूप समझना एवं उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को समस्त जगत्‌के कर्ता-हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वाधार, परम दयालु, सबके सुहृद् और सर्वान्तर्यामी मानना—यही 'भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना' है।

‡ भगवान्‌के ही योगबलसे यह सृष्टिचक्र चल रहा है; उन्हींकी शासन-शक्तिसे सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और पृथ्वी आदि नियमपूर्वक घूम रहे हैं; उन्हींके शासनसे समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं—इस प्रकारसे भगवान्‌को सबका नियन्ता और प्रवर्तक समझना ही 'सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से चेष्टा करता है' यह समझना है।

§ उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को सम्पूर्ण जगत्‌का कर्ता, हर्ता और प्रवर्तक समझकर अगले श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे अतिशय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मन, बुद्धि और समस्त इन्द्रियोंद्वारा निरन्तर भगवान्‌का स्मरण और सेवन करना ही भगवान्‌को निरन्तर भजना है।

१. भगवान्‌को ही अपना परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम गति और परम प्रिय समझनेके कारण जिनका चित्त अनन्यभावसे भगवान्‌में लगा हुआ है (गीता ८ । १४; ९ । २२)। भगवान्‌के सिवा किसी भी वस्तुमें जिनकी प्रीति, आसक्ति या रमणीयबुद्धि नहीं है; जो सदा-सर्वदा ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं और जो शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करते हुए उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, व्यवहारकालमें और ध्यानकालमें कभी क्षणमात्र भी भगवान्‌को नहीं भूलते, ऐसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंके लिये ही यहाँ भगवान्‌ने 'मच्चित्ताः' विशेषणका प्रयोग किया है।

२. जिनका जीवन और इन्द्रियोंकी समस्त चेष्टाएँ केवल भगवान्‌के ही लिये हैं; जिनको क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य है; जो भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करते हैं; खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि जितनी भी चेष्टाएँ हैं, उन सबमें जिनका अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं रह गया है—जो सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करते हैं, उनके लिये भगवान्‌ने 'मद्गतप्राणाः' का प्रयोग किया है।

३. भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंका जो अपने-अपने अनुभवके अनुसार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, लीला, माहात्म्य और रहस्यको परस्पर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे समझानेकी चेष्टा करना है—यही परस्पर भगवान्‌का बोध कराना है।

कथन करते हुए ही[*] निरन्तर संतुष्ट होते हैं[†] और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं[‡] ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवाले भक्तोंके प्रति भगवान् क्या करते हैं, अगले दो श्लोकोंमें यह बतलाते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले[§] भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ[×] जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता[१] ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ[+] ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें अपने समग्ररूपका ज्ञान करानेवाले जिस विषयको सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनको आज्ञा दी थी तथा दूसरे श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानको पूर्णतया कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसका वर्णन भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें किया । उसके बाद आठवें अध्यायमें अर्जुनके सात प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भी भगवान्‌ने उसी विषयका स्पष्टीकरण किया; किंतु वहाँ कहनेकी शैली दूसरी रही, इसलिये नवम अध्यायके आरम्भमें पुनः विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसी विषयको अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित भलीभाँति समझाया । तदनन्तर दूसरे शब्दोंमें पुनः उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें उसी विषयको पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा की और पाँच श्लोकोंद्वारा अपनी योगशक्ति और विभूतियोंका वर्णन करके सातवें श्लोकमें उनके जाननेका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी । फिर आठवें और नवें श्लोकोंमें भक्तियोगके द्वारा भगवान्

---

[*] श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका कीर्तन और गायन करना तथा कथा-व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें प्रचार करना और उनकी स्तुति करना आदि सब भगवान्‌का कथन करना है ।

[†] प्रत्येक क्रिया करते हुए निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करना ही 'नित्य संतुष्ट रहना' है । इस प्रकार संतुष्ट रहनेवाले भक्तकी शान्ति, आनन्द और संतोषका कारण केवल भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूप आदिका श्रवण, मनन और कीर्तन तथा पठन-पाठन आदि ही होता है । सांसारिक वस्तुओंसे उसके आनन्द और संतोषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता ।

[‡] भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, स्वरूप, तत्त्व और रहस्यका यथायोग्य श्रवण, मनन और कीर्तन करते हुए एवं उनकी रुचि, आज्ञा और संकेतके अनुसार केवल उनमें प्रेम होनेके लिये ही प्रत्येक क्रिया करते हुए, मनके द्वारा उनको सदा-सर्वदा प्रत्यक्षवत् अपने पास समझकर निरन्तर प्रेमपूर्वक उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप आदि क्रीडा करते रहना—यही भगवान्‌में निरन्तर रमण करना है ।

[§] इससे यह भाव दिखलाया है कि पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जिन भक्तोंका वर्णन हुआ है, वे भोगोंकी कामनाके लिये भगवान्‌को भजनेवाले नहीं हैं, किंतु किसी प्रकारका भी फल न चाहकर केवल निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही भगवान्‌का, उस श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे, निरन्तर भजन करनेवाले हैं ।

[×] भगवान्‌का जो भक्तोंके अन्तःकरणमें अपने प्रभाव और महत्त्वादिके रहस्यसहित निर्गुण-निराकार तत्त्वको तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण निराकार और साकार तत्त्वको यथार्थरूपसे समझनेकी शक्ति प्रदान करना है—वही 'बुद्धि (तत्त्वज्ञानरूप) योगका प्रदान करना' है ।

[१] पूर्वश्लोकमें जिसे बुद्धियोग कहा गया है; जिसके द्वारा प्रभाव और महिमा आदिके सहित निर्गुण-निराकार तत्त्वका तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण-निराकार और साकारतत्त्वका स्वरूप भलीभाँति जाना जाता है, ऐसे संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे रहित 'दिव्य बोध' का वाचक यहाँ 'भास्वता' विशेषणके सहित 'ज्ञानदीपेन' पद है ।

[+] अनादिसिद्ध अज्ञानसे उत्पन्न जो आवरणशक्ति है—जिसके कारण मनुष्य भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपको यथार्थ नहीं जानता—उसको यहाँ 'अज्ञानजनित अन्धकार' कहा है । 'उसे मैं भक्तोंके अन्तःकरणमें स्थित हुआ नष्ट कर देता हूँ' भगवान्‌के इस कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सबके हृदयदेशमें अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा स्थित रहता हूँ, तो भी लोग मुझे अपनेमें स्थित नहीं मानते; इसी कारण मैं उनका अज्ञानजनित अन्धकार नाश नहीं कर सकता । परंतु मेरे प्रेमी भक्त मुझे अपना अन्तर्यामी समझते हुए पूर्वश्लोकोंमें कहे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं, इस कारण उनके अज्ञानजनित अन्धकारका मैं सहज ही नाश कर देता हूँ ।

भजनमें लगे हुए भक्तोंके भाव और आचरणका वर्णन किया दसवें तथा ग्यारहवेंमें उसका फल अज्ञानजनित अन्धकारका और भगवान्‌की प्राप्ति करा देनेवाले बुद्धियोगकी प्राप्ति बतला- इस विषयका उपसंहार कर दिया। इसपर भगवान्‌की विभूति योगको तत्त्वसे जानना भगवत्प्राप्तिमें परम सहायक है, यह समझकर अब सात श्लोकोंमें अर्जुन पहले भगवान्‌की स्तुति भगवान्‌से उनकी योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तारसहित करनेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः[1] सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुन बोले—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं;* क्योंकि आपको सब ऋषिगण† सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि‡ नारद तथा असित और देवल

---

१. ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ। एतत् संनियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥
गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः। यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता॥
(वायुपुराण ५९। ७९, ८१)

'ऋष्' धातु गमन (ज्ञान), श्रवण, सत्य और तप—इन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अंदर एक निश्चित रूपसे हों, उसीका नाम ब्रह्माने 'ऋषि' रक्खा है। गत्यर्थक 'ऋष' धातुसे ही 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति हुई है आदिकालमें चूँकि यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता है, इसीलिये इसकी 'ऋषि' संज्ञा है।'

* इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिस निर्गुण परमात्माको 'परम ब्रह्म' कहते हैं, वे आपके ही हैं तथा आपका जो नित्यधाम है, वह भी सच्चिदानन्दमय दिव्य और आपसे अभिन्न होनेके कारण आपका ही है तथा आपके नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपोंके श्रवण, मनन और कीर्तन आदि सबको सर्वथा परम पवित्र करनेवाले हैं; इसलिये आप 'परम पवित्र' हैं।

† यहाँ 'ऋषिगण' शब्दसे मार्कण्डेय, अङ्गिरा आदि समस्त ऋषियोंको समझना चाहिये। अपनी मान्यताके समर्थनमें उनके कथनका प्रमाण दे रहे हैं। अभिप्राय यह है कि वे लोग आपको सनातन—नित्य एकरस रहनेवाले, क्षय-रहित, दिव्य—स्वतःप्रकाश और ज्ञानस्वरूप, सबके आदिदेव तथा अजन्मा—उत्पत्तिरूप विकारसे रहित और सर्व-व्यापी बतलाते हैं। अतः आप 'परम ब्रह्म', 'परम धाम' और 'परम पवित्र' हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

परम सत्यवादी धर्ममूर्ति पितामह भीष्मजीने भी दुर्योधनको भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव बतलाते हुए कहा है—

'भगवान् वासुदेव सब देवताओंके देवता और सबसे श्रेष्ठ हैं; ये ही धर्म हैं, धर्मज्ञ हैं, वरद हैं, सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं और ये ही कर्ता, कर्म और स्वयंप्रभु हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, संध्या, दिशाएँ, आकाश और सब नियमोंको इन्हीं जनार्दनने रचा है। इन महात्मा अविनाशी प्रभुने ऋषि, तप और जगत्‌की सृष्टि करनेवाले प्रजापतिको रचा। सब प्राणियोंके अग्रज संकर्षणको भी इन्होंने ही रचा। लोक जिनको 'अनन्त' कहते हैं और जिन्होंने पहाड़ोंसमेत सारी पृथ्वीको धारण कर रक्खा है, वे शेषनाग भी इन्हींसे उत्पन्न हैं; ये ही वाराह, नृसिंह और वामनका अवतार धारण करनेवाले हैं; ये ही सबके माता-पिता हैं, इनसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है; ये ही केशव परम तेजरूप हैं और सब लोगोंके पितामह हैं, मुनिगण इन्हें हृषीकेश कहते हैं, ये ही आचार्य, पितर और गुरु हैं। ये श्रीकृष्ण जिसपर प्रसन्न होते हैं, उसे अक्षय लोककी प्राप्ति होती है। भय प्राप्त होनेपर जो इन भगवान् केशवके शरण जाता है और इनकी स्तुति करता है, वह मनुष्य परम सुखको प्राप्त होता है। जो लोग भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें चले जाते हैं, वे कभी मोहको नहीं प्राप्त होते। घोर भय (संकट) में डूबे हुए लोगोंकी भी भगवान् जनार्दन नित्य रक्षा करते हैं।' (महा० भीष्म० अ० ६७)

‡ देवर्षिके लक्षण ये हैं—

……………। देवलोकप्रतिष्ठाश्च ज्ञेया देवर्षयः शुभाः॥
देवर्षयस्तथान्ये च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्। भूतभव्यभवज्ज्ञानं सत्याभिव्याहृतं तथा॥
सम्बुद्धास्तु स्वयं ये तु सम्बद्धा ये च वै स्वयम्। तपसेह प्रसिद्धा ये गर्भे यैश्च प्रणोदितम्॥
मन्त्रव्याहारिणो ये च ऐश्वर्यात् सर्वगाश्च ये। इत्येते ऋषिभिर्युक्ता देवद्विजनृपास्तु ये॥
(वायुपुराण ६१। ८८, ९०, ९१, ९२)

'जिनका देवलोकमें निवास है, उन्हें शुभ देवर्षि समझना चाहिये। इनके सिवा वैसे ही जो दूसरे और भी देवर्षि हैं, उनके लक्षण कहता हूँ। भूत, भविष्यत् और वर्तमानका ज्ञान होना तथा सब प्रकारसे सत्य बोलना—देवर्षिका लक्षण—

ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं* और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं† ॥ १२-१३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव ! ‡जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इ सबको मैं सत्य मानता हूँ§ । हे भगवन् ! ×आपके लीलाम स्वरूपको न तो दानव जानते हैं न देवता ही+ ॥ १४ ॥

है । जो स्वयं भलीभाँति ज्ञानको प्राप्त हैं तथा जो स्वयं अपनी इच्छासे ही संसारसे सम्बद्ध हैं, जो अपनी तपस्याके कार इस संसारमें विख्यात हैं, जिन्होंने (प्रह्लादादिको) गर्भमें ही उपदेश दिया है, जो मन्त्रोंके वक्ता हैं और ऐश्वर्य (सिद्धियों) के बलसे सर्वत्र सब लोकोंमें बिना किसी बाधाके जा-आ सकते हैं और जो सदा ऋषियोंसे घिरे रहते हैं, वे देवता, ब्राह्म और राजा—ये सभी देवर्षि हैं ।'

देवर्षि अनेकों हैं, जिनमेंसे कुछके नाम ये हैं—

देवर्षी धर्मपुत्रौ तु नरनारायणावुभौ । बालखिल्याः क्रतोः पुत्राः कर्दमः पुलहस्य तु ॥
पर्वतो नारदश्चैव कश्यपस्यात्मजावुभौ । ऋषन्ति देवान् यस्मात्ते तस्माद् देवर्षयः स्मृताः ।
(वायुपुराण ६१ । ८३, ८४, ८५)

'धर्मके दोनों पुत्र नर और नारायण, क्रतुके पुत्र बालखिल्य ऋषि, पुलहके कर्दम, पर्वत और नारद तथा कश्यपके दोनों ब्रह्मवादी पुत्र असित और वत्सल—ये चूँकि देवताओंको अधीन रख सकते हैं, इसलिये इन्हें 'देवर्षि' कहते हैं ।'

* देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास—ये चारों ही भगवान्के यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले, उनके महान् प्रेमी भक्त और परम ज्ञानी महर्षि हैं । ये अपने कालके बहुत ही सम्मान्य तथा महान् सत्यवादी महापुरुष माने जाते हैं, इसीसे इनके नाम खास तौरपर गिनाये गये हैं और भगवान्की महिमा तो ये नित्य ही गाया करते हैं । इनके जीवनका प्रधान कार्य है भगवान्की महिमाका ही विस्तार करना । महाभारतमें भी इनके तथा अन्यान्य ऋषि-महर्षियोंके भगवान्की महिमा गानेके कई प्रसंग आये हैं ।

†इस कथनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि केवल उपर्युक्त ऋषिलोग ही कहते हैं, यह बात नहीं है; स्वयं आप भी मुझसे अपने अतुलनीय प्रभावकी बातें इस समय भी कह रहे हैं (गीता ४ । ६ से ९ तक; ५ । २९; ७ । ७ से १२ तक; ९ । ४ से ११ और १६ से १९ तक; तथा १० । २, ३, ८) । अतः मैं जो आपको साक्षात् परमेश्वर समझता हूँ, यह ठीक ही है ।

‡ ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों शक्तियोंको क्रमशः 'क' 'अ' और 'ईश' (केश) कहते हैं और ये तीनों जिसके वपु यानी स्वरूप हों, उसे 'केशव' कहते हैं ।

§ गीताके चौथे अध्यायके आरम्भसे लेकर इस अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक भगवान्ने जो अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा, रहस्य और ऐश्वर्य आदिकी बातें कही हैं, जिनसे श्रीकृष्णका अपनेको साक्षात् परमेश्वर स्वीकार करना सिद्ध होता है—उन समस्त वचनोंका संकेत करनेवाले 'एतत्' और 'यत्' पद हैं तथा भगवान् श्रीकृष्णको समस्त जगत्के हर्ता, कर्ता, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबके आदि, सबके नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, देवोंके भी देव, सच्चिदानन्दघन, साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना और उनके उपदेशको सत्य मानना तथा उसमें किंचिन्मात्र भी संदेह न करना 'उन सब वचनोंको सत्य मानना' है ।

× विष्णुपुराणमें कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
(६ । ५ । ७४)

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छहोंका नाम 'भग' है । ये सब जिसमें हों, उसे भगवान् कहते हैं ।' वहीं यह भी कहा है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैवं भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥
(६ । ५ । ७८)

'उत्पत्ति और प्रलयको, भूतोंके आने और जानेको तथा विद्या और अविद्याको जो जानता है, उसे 'भगवान्' कहना चाहिये ।' अतएव यहाँ अर्जुन श्रीकृष्णको 'भगवन्' सम्बोधन देकर यह भाव दिखलाते हैं कि आप सर्वैश्वर्यसम्पन्न और सर्वज्ञ, साक्षात् परमेश्वर हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

+ जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये, धर्मकी स्थापना और भक्तोंको दर्शन देकर उनका उद्धार

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतोंके ईश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगत्के स्वामी ! हे पुरुषोत्तम !* आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं† ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥ १७ ॥

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन् ! आप किन-किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं‡ ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

हे जनार्दन !§ अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती× अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनके द्वारा योग और विभूतियोंका विस्तारपूर्वक पूर्णरूपसे वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की जानेपर भगवान् पहले अपने विस्तारकी अनन्तता बतलाकर प्रधानतासे अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है+ ॥ १९ ॥

[illegible] लिये, देवताओंका संरक्षण और राक्षसोंका संहार करनेके लिये एवं अन्यान्य कारणोंसे भगवान् भिन्न-भिन्न लीलामय स्वरूप धारण किया करते हैं । उन सबको देवता और दानव नहीं जानते—यह कहकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मायासे नाना रूप धारण करनेकी शक्ति रखनेवाले दानवलोग तथा इन्द्रियातीत विषयोंको प्रत्यक्ष करनेवाले देवतालोग भी आपके उन लीलामय रूपोंको, उनके धारण करनेकी दिव्य शक्ति और युक्तिको, उनके निमित्तको और उनकी लीलाओंके रहस्यको नहीं जान सकते; फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?

* यहाँ अर्जुनने इन पाँच सम्बोधनोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले, सबके नियन्ता, सबके पूजनीय, सबका पालन-पोषण करनेवाले तथा 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिनामक जो क्षर और अक्षर पुरुष हैं, उनसे उत्तम साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं ।

† इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्के आदि हैं, आपके गुण, प्रभाव, लीला, रहस्य और रूप आदि अपरिमित हैं—इस कारण आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य, रहस्य और स्वरूप आदिको कोई भी दूसरा पुरुष पूर्णतया नहीं जान सकता, स्वयं आप ही अपने प्रभाव आदिको जानते हैं ।

‡ किन-किन पदार्थोंमें किस प्रकारसे निरन्तर चिन्तन करके सहज ही भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको जाना जा सकता है—इसके सम्बन्धमें अर्जुन पूछ रहे हैं ।

§ सभी मनुष्य अपनी-अपनी इच्छित वस्तुओंके लिये जिससे याचना करें, उसे 'जनार्दन' कहते हैं ।

× इससे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपके वचनोंमें ऐसी माधुरी भरी है, उनसे आनन्दकी वह सुधाधारा बह रही है, जिसका पान करते-करते मन कभी अघाता ही नहीं । इस दिव्य अमृतका जितना ही पान किया जाता है, उतनी ही [illegible] प्यास बढ़ती जा रही है । मन करता है कि यह अमृतमय रस निरन्तर ही पीता रहूँ ।

+ जब सारा जगत् भगवान्का स्वरूप है, तब साधारणतया तो सभी वस्तुएँ उन्हींकी विभूति हैं; परंतु वे सब-के-सब दिव्य विभूति नहीं हैं । दिव्य विभूति उन्हीं वस्तुओं या प्राणियोंको समझना चाहिये, जिनमें भगवान्के तेज, बल, विद्या, ऐश्वर्य, कान्ति और शक्ति आदिका विशेष विकास हो । भगवान् यहाँ ऐसी ही विभूतियोंके लिये कहते हैं कि मेरी ऐसी विभूतियाँ अनन्त हैं, अतएव सबका तो पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता; उनमेंसे जो प्रधान-प्रधान हैं, यहाँ मैं उन्हींका वर्णन करूँगा ।

विश्वमें अनन्त पदार्थों, भावों और विभिन्नजातीय प्राणियोंका विस्तार है । इन सबका यथाविधि नियन्त्रण और संचालन करनेके लिये जगत्स्रष्टा भगवान्के अटल नियमके द्वारा विभिन्नजातीय पदार्थों, भावों और जीवोंके विभिन्न [illegible]-विभाग कर दिये गये हैं और उन सबका ठीक नियमानुसार सृजन, पालन तथा संहारका कार्य चलता रहे—इसके लिये प्रत्येक समष्टि-विभागके अधिकारी नियुक्त हैं । रुद्र, वसु, आदित्य, इन्द्र, साध्य, विश्वेदेव, मरुत्, पितृदेव, मनु और

सम्बन्ध—अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् बीसवेंसे उन्चालीसवें श्लोकतक पहले अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश[1] सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ* तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ† ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु‡ और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ§ तथा मैं उन्चास वायुदेवताओंका तेज

सप्तर्षि आदि इन्हीं अधिकारियोंकी विभिन्न संज्ञाएँ हैं । इनके मूर्त और अमूर्त दोनों ही रूप माने गये हैं । ये सभी भगवान्की विभूतियाँ हैं ।

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च । इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥
(श्रीविष्णुपुराण ३ । १ । ४६)

'सभी देवता, समस्त मनु, सप्तर्षि तथा जो मनुके पुत्र हैं और जो ये देवताओंके अधिपति इन्द्र हैं—ये सभी भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं ।'

[1] 'गुडाका' निद्राको कहते हैं । उसके स्वामीको 'गुडाकेश' कहते हैं । भगवान् अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्रापर विजय प्राप्त कर चुके हो; अतएव मेरे उपदेशको धारण करके अज्ञाननिद्राको भी जीत सकते हो ।

* समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित जो 'चेतन' है, जिसको परा 'प्रकृति' और 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते हैं (गीता ७ । ५; १३ । १), उसीको यहाँ 'सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा' बतलाया है । वह भगवान्का ही अंश होनेके कारण (गीता १५ । ७) वस्तुतः भगवत्स्वरूप ही है (गीता १३ । २) । इसीलिये भगवान्ने कहा है कि 'यह आत्मा मैं हूँ ।'

† यहाँ 'भूत' शब्दसे चराचर समस्त देहधारी प्राणी समझने चाहिये । ये सब प्राणी भगवान्से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हींमें स्थित हैं और प्रलयकालमें भी उन्हींमें लीन होते हैं; भगवान् ही सबके मूल कारण और आधार हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको उन सबका आदि, मध्य और अन्त बतलाया है ।

‡ अदितिके धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु नामक बारह पुत्रोंको द्वादश आदित्य कहते हैं —

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च । भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते । जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥
(महा० आदि० ६५ । १५-१६)

इनमें जो विष्णु हैं, वे इन सबके राजा हैं और अन्य सबसे श्रेष्ठ हैं । इसीलिये भगवान्ने विष्णुको अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली और अग्नि आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, उन सबमें सूर्य प्रधान हैं इसलिये भगवान्ने समस्त ज्योतियोंमें सूर्यको अपना स्वरूप बतलाया है ।

× उन्चास मरुतोंके नाम ये हैं—सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश् (वायुपुराण ६७ । १२३ से १३०) । गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें कुछ नामभेद पाये जाते हैं; परंतु 'मरीचि' नाम कहीं भी नहीं मिला है । इसीलिये 'मरीचि' को मरुत् न मानकर समस्त मरुद्गणोंका तेज या किरणें माना गया है ।

दक्षकन्या मरुत्वतीसे उत्पन्न पुत्रोंको भी मरुद्गण कहते हैं (हरिवंश) । भिन्न-भिन्न मन्वन्तरोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे तथा विभिन्न प्रकारसे इनकी उत्पत्तिके वर्णन पुराणोंमें मिलते हैं ।

दितिपुत्र उन्चास मरुद्गण दिति देवीके भगवद्ध्यानरूप व्रतके तेजसे उत्पन्न हैं । उस तेजके ही कारण इनका गर्भमें विनाश नहीं हो सका था । इसलिये उनके इस तेजको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ* ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ,† देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतप्राणियोंकी चेतना अर्थात् जीवनी शक्ति हूँ‡ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

मैं एकादश रुद्रोंमें शङ्कर हूँ§ और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ× और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ+ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पुरोहितोंमें मुखिया बृहस्पति मुझको जान।÷ हे पार्थ! मैं सेनापतियोंमें स्कन्दऽ और जलाशयोंमें समुद्र हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

मैं महर्षियोंमें भृगुA और शब्दोंमें एक अक्षर अर्थात्

---

* अश्विनी, भरणी और कृत्तिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबके स्वामी और सम्पूर्ण तारा-मण्डलके राजा होनेसे चन्द्रमा भगवान्‌की प्रधान विभूति हैं। इसलिये यहाँ उनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

† ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंमें सामवेद अत्यन्त मधुर संगीतमय तथा परमेश्वरकी अत्यन्त स्तुतियोंसे युक्त है; अतः वेदोंमें उसकी प्रधानता है। इसलिये भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

‡ समस्त प्राणियोंकी जो ज्ञान-शक्ति है, जिसके द्वारा उनको दुःख-सुखका और समस्त पदार्थोंका अनुभव होता है, जो अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है, गीताके तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें जिसकी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है, उस ज्ञान-शक्तिका नाम 'चेतना' है। यह प्राणियोंके समस्त अनुभवोंकी हेतुभूता प्रधान शक्ति है, इसलिये इसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

§ हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह रुद्र कहलाते हैं—

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः । वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ॥
मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च विशाम्पते । एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥
(हरिवंश० १ । ३ । ५१, ५२)

इनमें शम्भु अर्थात् शङ्कर सबके अधीश्वर (राजा) हैं तथा कल्याणप्रदाता और कल्याणस्वरूप हैं। इसलिये उन्हें भगवान्‌ने अपना स्वरूप कहा है।

× धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—इन आठोंको वसु कहते हैं—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ (महा० आदि० ६६ । १८)

इनमें अनल (अग्नि) वसुओंके राजा हैं और देवताओंको हवि पहुँचानेवाले हैं। इसके अतिरिक्त वे भगवान्‌के मुख माने जाते हैं। इसीलिये अग्नि (पावक) को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

+ समस्त नक्षत्र सुमेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हैं और सुमेरु पर्वत नक्षत्र और द्वीपोंका केन्द्र तथा सुवर्ण और रत्नोंका भण्डार माना जाता है तथा उसके शिखर अन्य पर्वतोंकी अपेक्षा ऊँचे हैं। इस प्रकार शिखरवाले पर्वतोंमें प्रधान होनेसे मेरुको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

÷ बृहस्पति देवराज इन्द्रके गुरु, देवताओंके कुलपुरोहित और विद्या-बुद्धिमें सर्वश्रेष्ठ हैं तथा संसारके समस्त पुरोहितोंमें मुख्य और आङ्गिरसोंके राजा माने गये हैं। इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप कहा है।

ऽ स्कन्दका दूसरा नाम कार्तिकेय है। इनके छः मुख और बारह हाथ हैं। ये महादेवजीके पुत्र और देवताओंके सेनापति हैं। कहीं-कहीं इन्हें अग्निके तेजसे तथा दक्षकन्या स्वाहाके द्वारा उत्पन्न माना गया है (महाभारत वनपर्व २२३)। इनके सम्बन्धमें महाभारत और पुराणोंमें बड़ी ही विचित्र-विचित्र कथाएँ मिलती हैं। संसारके समस्त सेनापतियोंमें ये प्रधान हैं, इसीलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

A महर्षि बहुत-से हैं, उनके लक्षण और उनमेंसे प्रधान दसके नाम ये हैं—

ईश्वराः स्वयमुद्भूता मानसा ब्रह्मणः सुताः । यस्मान्न हन्यते मानैर्महान् परिगतः पुरः ॥
यस्मादृषन्ति ये धीरा महान्तं सर्वतो गुणैः । तस्मान्महर्षयः प्रोक्ता बुद्धेः परमदर्शिनः ॥

ओङ्कार हूँ*। सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ† और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ ‡ ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

मैं सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष,§ देवर्षियोंमें नारद× गन्धर्वोंमें चित्ररथ+ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ÷ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः । मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येत उद्भूताः स्वयमीश्वराः । प्रवर्तत ऋषेर्यस्मान्महांस्तस्मान्महर्षयः ॥
(वायुपुराण ५९ । ८२-८३, ८९-९०)

'ब्रह्माके ये मानस पुत्र ऐश्वर्यवान् (सिद्धियोंसे सम्पन्न) एवं स्वयं उत्पन्न हैं। परिमाणसे जिसका हनन न हो (अर्थात् जो अपरिमेय हो) और जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सामने (प्रत्यक्ष) हो, वही महान् है । जो बुद्धिके पार पहुँचे हुए (भगवत्प्राप्त) विज्ञजन गुणोंके द्वारा उस महान् (परमेश्वर) का सब ओरसे अवलम्बन करते हैं, वे इसी कारण ('महान्तम् ऋषन्ति इति महर्षयः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) महर्षि कहलाते हैं । भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य–ये दस महर्षि हैं । ये सब ब्रह्माके मनसे स्वयं उत्पन्न हुए हैं और ऐश्वर्यवान् हैं । चूँकि ऋषि (ब्रह्माजी) से इन ऋषियोंके रूपमें स्वयं महान् (परमेश्वर) ही प्रकट हुए, इसलिये ये महर्षि कहलाये ।'

महर्षियोंमें भृगुजी मुख्य हैं । ये भगवान्के भक्त, ज्ञानी और बड़े तेजस्वी हैं; इसीलिये इनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

* किसी अर्थका बोध करानेवाले शब्दको 'गीः' (वाणी) कहते हैं और ओङ्कार (प्रणव) को 'एक अक्षर' कहते हैं (गीता ८ । १३)। जितने भी अर्थबोधक शब्द हैं, उन सबमें प्रणवकी प्रधानता है; क्योंकि 'प्रणव' भगवान्का नाम है (गीता १७ । २३) । प्रणवके जपसे भगवान्की प्राप्ति होती है । नाम और नामीमें अभेद माना गया है । इसलिये भगवान्ने 'प्रणव'को अपना स्वरूप बतलाया है ।

† जपयज्ञमें हिंसाका सर्वथा अभाव है और जपयज्ञ भगवान्का प्रत्यक्ष करानेवाला है । मनुस्मृतिमें भी जपयज्ञकी बहुत प्रशंसा की गयी है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ (२ । ८५)

'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है ।'

इसलिये समस्त यज्ञोंमें जपयज्ञकी प्रधानता है, यह भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने जपयज्ञको अपना स्वरूप बतलाया है।

‡ स्थिर रहनेवालोंको स्थावर कहते हैं । जितने भी पहाड़ हैं, सब अचल होनेके कारण स्थावर हैं । उनमें हिमालय सर्वोत्तम है । वह परम पवित्र तपोभूमि है और मुक्तिमें सहायक है । भगवान् नर और नारायण वहीं तपस्या कर चुके हैं। साथ ही, हिमालय सब पर्वतोंका राजा भी है । इसीलिये उसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ पीपलका वृक्ष समस्त वनस्पतियोंमें राजा और पूजनीय माना गया है । पुराणोंमें अश्वत्थका बड़ा माहात्म्य मिलता है । स्कन्दपुराणमें कहा है—

स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवितपुण्यमूलः । यस्याश्रयः पापसहस्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुघो गुणाढ्यः ॥
(नागर० २४७ । ४४)

'यह वृक्ष मूर्तिमान् श्रीविष्णुस्वरूप है; महात्मा पुरुष इस वृक्षके पुण्यमय मूलकी सेवा करते हैं । इसका गुणोंसे युक्त और कामनादायक आश्रय मनुष्योंके हजारों पापोंका नाश करनेवाला है ।' इसलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

× देवर्षिके लक्षण इसी अध्यायके बारहवें, तेरहवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें दिये गये हैं, उन्हें वहाँ पढ़ना चाहिये। ऐसे देवर्षियोंमें नारदजी सबसे श्रेष्ठ हैं । साथ ही वे भगवान्के परम अनन्य भक्त, महान् ज्ञानी और निपुण मन्त्रद्रष्टा हैं। इसीलिये नारदजीको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

+ गन्धर्व एक देवयोनिविशेष है; ये देवलोकमें गान, वाद्य और नाट्याभिनय किया करते हैं । स्वर्गमें ये सबसे सुन्दर और अत्यन्त रूपवान् माने जाते हैं । 'गुह्यक-लोक' से ऊपर और 'विद्याधर-लोक' से नीचे इनका 'गन्धर्व-लोक' है । देवता और पितरोंकी भाँति गन्धर्व भी दो प्रकारके होते हैं—मर्त्य और दिव्य । जो मनुष्य मरकर पुण्यबलसे गन्धर्वलोकको प्राप्त होते हैं, वे 'मर्त्य' हैं और जो कल्पके आरम्भसे ही गन्धर्व हैं, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं । दिव्य गन्धर्वोंकी दो श्रेणियाँ हैं—'मौनेय' और 'प्राधेय' । महर्षि कश्यपकी दो पत्नियोंके नाम थे—मुनि और प्राधा । इन्हींसे अधिकांश अप्सराओं और गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई । चित्ररथ दिव्य संगीत-विद्याके पारदर्शी और अत्यन्त ही निपुण हैं। इसीसे भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

÷ जो सर्व प्रकारकी स्थूल और सूक्ष्म जगत्की सिद्धियोंको प्राप्त हों तथा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि

घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा …घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी* और …ष्योंमें राजा मुझको जान † ॥ २७ ॥

…युधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
…जनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

मैं शस्त्रोंमें वज्र‡ और गौओंमें कामधेनु हूँ§ । शास्त्रोक्त …से संतानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ× और सर्पोंमें …राज वासुकि हूँ+ ॥ ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

मैं नागोंमें शेषनाग÷ और जलचरोंका अधिपति वरुण-देवता हूँऽ और पितरोंमें अर्यमा नामक पितरA तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँB ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

…गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न हों, उनको सिद्ध कहते हैं । ऐसे हजारों सिद्ध हैं, जिनमें भगवान् कपिल सर्वप्रधान हैं ; …वान् कपिल साक्षात् ईश्वरके अवतार हैं । इसीलिये भगवान्ने समस्त सिद्धोंमें कपिल मुनिको अपना …रूप बतलाया है ।

* बहुत-से हाथियोंमें जो श्रेष्ठ हो, उसे गजेन्द्र कहते हैं । ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी, जो इन्द्रका वाहन …सर्वश्रेष्ठ और 'गज' जातिका राजा माना गया है । इसकी उत्पत्ति भी उच्चैःश्रवा घोड़ेकी भाँति समुद्रमन्थनसे ही हुई है। इसलिये इसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

† शास्त्रोक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मपरायण राजा अपनी प्रजाको पापोंसे हटाकर धर्ममें प्रवृत्त करता है और सबकी …क्षा करता है, इस कारण अन्य मनुष्योंसे राजा श्रेष्ठ माना गया है । ऐसे राजामें भगवान्की शक्ति साधारण मनुष्योंकी …क्षा अधिक रहती है । इसीलिये भगवान्ने राजाको अपना स्वरूप कहा है ।

‡ जितने भी शस्त्र हैं, उन सबमें वज्र अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वज्रमें दधीचि ऋषिके तपका तथा साक्षात् भगवान्-…तेज विराजमान है और उसे अमोघ माना गया है (श्रीमद्भागवत ६ । ११ । १९-२०) । इसलिये वज्रको भगवान्ने …ना स्वरूप बतलाया है ।

§ कामधेनु समस्त गौओंमें श्रेष्ठ दिव्य गौ है, यह देवता तथा मनुष्य सभीकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली …और इसकी उत्पत्ति भी समुद्रमन्थनसे हुई है; इसलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

× इन्द्रियाराम मनुष्योंके द्वारा विषयसुखके लिये उपभोगमें आनेवाला काम निकृष्ट है, वह धर्मानुकूल नहीं है; …न्तु शास्त्रविधिके अनुसार संतानकी उत्पत्तिके लिये इन्द्रियजयी पुरुषोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाला काम ही धर्मानुकूल होनेसे …है। अतः उसको भगवान्की विभूतियोंमें गिना गया है ।

+ वासुकि समस्त सर्पोंके राजा और भगवान्के भक्त होनेके कारण सर्पोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं, इसलिये उनको …वान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ शेषनाग समस्त नागोंके राजा और हजार फणोंसे युक्त हैं तथा भगवान्की शय्या बनकर और नित्य उनकी …वामें रहकर उन्हें सुख पहुँचानेवाले, उनके परम अनन्य भक्त और बहुत बार भगवान्के साथ-साथ अवतार लेकर …लीलामें सम्मिलित रहनेवाले हैं तथा इनकी उत्पत्ति भी भगवान्से ही मानी गयी है। इसलिये भगवान्ने इनको …ना स्वरूप बतलाया है ।

ऽ वरुण समस्त जलचरोंके और जलदेवताओंके अधिपति, लोकपाल, देवता और भगवान्के भक्त होनेके कारण …श्रेष्ठ माने गये हैं । इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

A कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषद्—ये सात दिव्य पितृगण हैं । (शिवपुराण …। ६३ । २) इनमें अर्यमानामक पितर समस्त पितरोंमें प्रधान होनेसे श्रेष्ठ माने गये हैं । इसलिये उनको …वान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

B मर्त्य और देवजगत्में, जितने भी नियमन करनेवाले अधिकारी हैं, यमराज उन सबमें बढ़कर हैं । इनके सभी …न्याय और धर्मसे युक्त, हितपूर्ण और पापनाशक होते हैं । ये भगवान्के ज्ञानी भक्त और लोकपाल भी हैं । इसीलिये …वान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है ।

१. यहाँ 'काल' शब्द क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदि नामोंसे कहे जानेवाले समयका वाचक है । यह गणित-…जाननेवालोंकी गणनाका आधार है । इसलिये कालको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद* और गणना करनेवालोंका समय हूँ तथा पशुओंमें मृगराज सिंह† और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूँ‡ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम§ हूँ तथा मछलियोंमें मगर हूँ× और नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गाजी हूँ+ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ । मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या÷ अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद ऽ हूँ ॥ ३२ ॥

---

* दितिके वंशजोंको दैत्य कहते हैं । उन सबमें प्रह्लाद उत्तम माने गये हैं; क्योंकि वे सर्वसद्गुणसम्पन्न, परम धर्मात्मा और भगवान्‌के परम श्रद्धालु, निष्काम, अनन्यप्रेमी भक्त हैं तथा दैत्योंके राजा हैं । इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है

† सिंह सब पशुओंका राजा माना गया है । वह सबसे बलवान्, तेजस्वी, शूरवीर और साहसी होता है । इसलिये भगवान्‌ने सिंहको अपनी विभूतियोंमें गिना है ।

‡ विनताके पुत्र गरुड़जी पक्षियोंके राजा और उन सबसे बड़े होनेके कारण पक्षियोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं । साथ ही ये भगवान्‌के वाहन, उनके परम भक्त और अत्यन्त पराक्रमी हैं । इसलिये गरुड़को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है ।

§ 'राम' शब्द दशरथपुत्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका वाचक है । उनको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीला करनेके लिये मैं ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हूँ । श्रीराममें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है, स्वयं मैं ही श्रीरामरूपमें अवतीर्ण होता हूँ ।

× जितने प्रकारकी मछलियाँ होती हैं, उन सबमें मगर बहुत बड़ा और बलवान् होता है; इसी विशेषताके कारण मछलियोंमें मगरको भगवान्‌ने अपनी विभूति बतलाया है ।

+ जाह्नवी अर्थात् श्रीभागीरथी गङ्गाजी समस्त नदियोंमें परम श्रेष्ठ हैं; ये श्रीभगवान्‌के चरणोदकसे उत्पन्न, परम पवित्र हैं । पुराण और इतिहासोंमें इनका बड़ा भारी माहात्म्य बतलाया गया है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥ (८ । २१ । ४)

'हे राजन् ! वह ब्रह्माजीके कमण्डलुका जल, भगवान्‌के चरणोंको धोनेसे पवित्रतम होकर स्वर्ग-गङ्गा हो गया । वह गङ्गा आकाशसे पृथ्वीपर गिरकर अबतक तीनों लोकोंको भगवान्‌की निर्मल कीर्तिके समान पवित्र कर रही है।'

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि एक बार भगवान् विष्णु स्वयं ही द्रवरूप होकर बहने लगे थे और ब्रह्माजीके कमण्डलुमें जाकर गङ्गारूप हो गये थे । इस प्रकार साक्षात् ब्रह्मद्रव होनेके कारण भी गङ्गाजीका अत्यन्त माहात्म्य है । इसी-लिये भगवान्‌ने गङ्गाको अपना स्वरूप बतलाया है ।

÷ अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या उस विद्याको कहते हैं जिसका आत्मासे सम्बन्ध है, जो आत्मतत्त्वका प्रकाश करती है और जिसके प्रभावसे अनायास ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है । संसारमें ज्ञात या अज्ञात जितनी भी विद्याएँ हैं, सब इस ब्रह्मविद्यासे निकृष्ट हैं; क्योंकि उनसे अज्ञानका बन्धन टूटता नहीं, बल्कि और भी दृढ़ होता है; परंतु इस ब्रह्मविद्यासे अज्ञानकी गाँठ सदाके लिये खुल जाती है और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है । इसीसे यह सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

ऽ शास्त्रार्थके तीन स्वरूप होते हैं— जल्प, वितण्डा और वाद । उचित-अनुचितका विचार छोड़कर अपने पक्षके मण्डन और दूसरेके पक्षका खण्डन करनेके लिये जो विवाद किया जाता है, उसे 'जल्प' कहते हैं; केवल दूसरे पक्षका खण्डन करनेके लिये किये जानेवाले विवादको 'वितण्डा' कहते हैं और जो तत्त्वनिर्णयके उद्देश्यसे शुद्ध नीयतसे किया जाता है, उसे 'वाद' कहते हैं । 'जल्प' और 'वितण्डा'से द्वेष, क्रोध, हिंसा और अभिमानादि दोषोंकी उत्पत्ति होती है तथा 'वाद'से सत्यके निर्णयमें और कल्याण-साधनमें सहायता प्राप्त होती है । 'जल्प' और 'वितण्डा' त्याज्य हैं तथा 'वाद' [illegible]कता होनेपर ग्राह्य है । इसी विशेषताके कारण भगवान्‌ने 'वाद'को अपनी विभूति बतलाया है ।

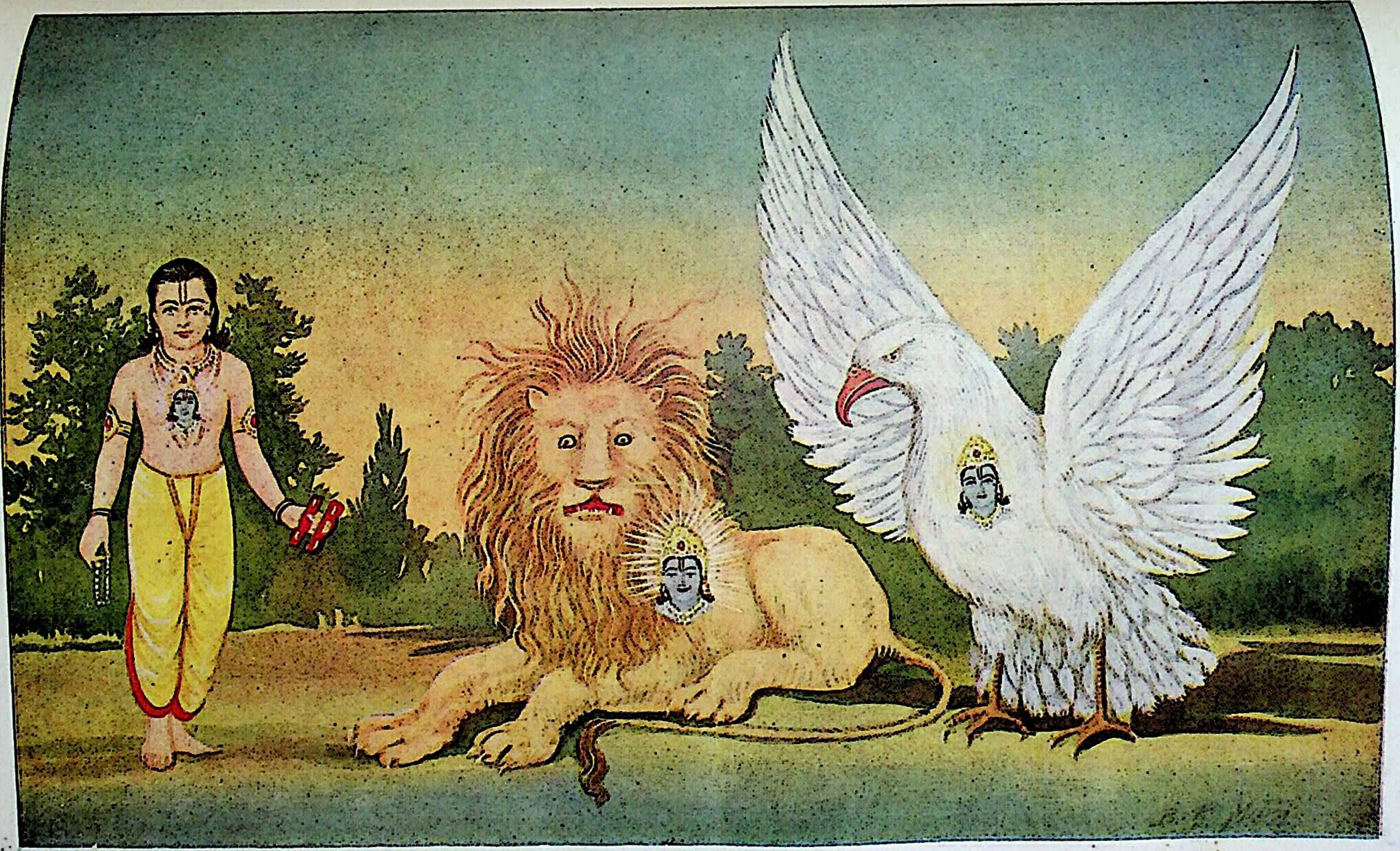

भगवान्‌की प्रह्लाद आदि तीन विभूतियाँ

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

मैं अक्षरोंमें अकार* हूँ और समासोंमें द्वन्द्वनामक समास† हूँ। अक्षय काल‡ अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला विराट्स्वरूप, सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।३४।

मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्ति-हेतु हूँ§ तथा स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ× ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

तथा गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें मैं बृहत्साम+ और छन्दोंमें गायत्री छन्द ÷ हूँ तथा महीनोंमें

---

* स्वर और व्यञ्जन आदि जितने भी अक्षर हैं, उन सबमें अकार सबका आदि है और वही सबमें व्याप्त है। इसीलिये भगवान्ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

† संस्कृत-व्याकरणके अनुसार समास चार हैं—१ अव्ययीभाव, २ तत्पुरुष, ३ बहुव्रीहि और ४ द्वन्द्व। कर्मधारय और द्विगु—ये दोनों तत्पुरुषके ही अन्तर्गत हैं। द्वन्द्व समासमें दोनों पदोंके अर्थकी प्रधानता होनेके कारण यह अन्य समासोंसे श्रेष्ठ है; इसलिये भगवान्ने उसको अपनी विभूतियोंमें गिना है।

‡ कालके तीन भेद हैं—

१-'समय' वाचक काल।

२-'प्रकृति' रूप काल। महाप्रलयके बाद जितने समयतक प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूपी काल है।

३-नित्य शाश्वत विज्ञानानन्दघन परमात्मा।

समयवाचक स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप काल सूक्ष्म और पर है तथा इस प्रकृतिरूप कालसे भी परमात्मारूप काल अत्यन्त सूक्ष्म, परातिपर और परम श्रेष्ठ है। वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित हैं; परंतु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले होनेके कारण उन सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही वास्तविक 'काल' हैं। ये ही 'अक्षय' काल हैं।

§ जिस प्रकार मृत्युरूप होकर भगवान् सबका नाश करते हैं अर्थात् उनका शरीरसे वियोग कराते हैं, उसी प्रकार भगवान् ही उनका पुनः दूसरे शरीरोंसे सम्बन्ध कराके उन्हें उत्पन्न करते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्तिहेतु बतलाया है।

× स्वायम्भुव मनुकी कन्या प्रसूति प्रजापति दक्षको ब्याही थीं, उनसे चौबीस कन्याएँ हुईं। कीर्ति, मेधा, धृति, स्मृति और क्षमा उन्हींमेंसे हैं। इनमें कीर्ति, मेधा और धृतिका विवाह धर्मसे हुआ; स्मृतिका अङ्गिरासे और क्षमा महर्षि पुलहसे ब्याही गयीं। महर्षि भृगुकी कन्याका नाम श्री है, जो दक्षकन्या ख्यातिके गर्भसे उत्पन्न हुई थीं। इनका पाणिग्रहण भगवान् विष्णुने किया और वाक् ब्रह्माजीकी कन्या थीं। इन सातोंके नाम जिन गुणोंका निर्देश करते हैं—उन विभिन्न गुणोंकी ये सातों अधिष्ठातृदेवता हैं तथा संसारकी समस्त स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं। इसीलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बतलाया है।

+ सामवेदमें 'बृहत्साम' एक गीतिविशेष है। इसके द्वारा परमेश्वरकी इन्द्ररूपमें स्तुति की गयी है। 'अतिरात्र' यागमें यही पृष्ठस्तोत्र है तथा सामवेदके 'रथन्तर' आदि सामोंमें बृहत्साम ('बृहत्' नामक साम) प्रधान होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ है, इसी कारण यहाँ भगवान्ने 'बृहत्साम'को अपना स्वरूप बतलाया है।

÷ वेदोंकी जितनी भी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उन सबमें गायत्रीकी ही प्रधानता है। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह गायत्रीकी महिमा भरी है—

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम् । गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम् । हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ॥

(शङ्खस्मृति १२ । २४-२५

मार्गशीर्ष* और ऋतुओंमें वसन्त† मैं हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

मैं छल करनेवालोंमें जूआ‡ और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ। मैं जीतनेवालोंका विजय हूँ। निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूँ§ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव× अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवोंमें धनंजय+ अर्थात् तू, मुनियोंमें

‘(गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज) अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है, मनोवाञ्छित भोग प्राप्त कर लेता है। गायत्री समस्त वेदोंकी जननी और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली हैं। स्वर्गलोकमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गायत्री देवी नरकसमुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली हैं।’

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं न देवः केशवात् परः। गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति ॥

(बृहद्योगियाज्ञवल्क्य १०। १०)

‘गङ्गाजीके समान तीर्थ नहीं है, श्रीविष्णुभगवान्‌से बढ़कर देवता नहीं है और गायत्रीसे बढ़कर जपनेयोग्य मन्त्र न हुआ, न होगा।’

गायत्रीकी इस श्रेष्ठताके कारण ही भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

* महाभारतकालमें महीनोंकी गणना मार्गशीर्षसे ही आरम्भ होती थी (महा० अनुशासन० १०६ और १०९)। अतः यह सब मासोंमें प्रथम मास है तथा इस मासमें किये हुए व्रत-उपवासोंका शास्त्रोंमें महान् फल बतलाया गया है। नये अन्नकी इष्टि (यज्ञ) का भी इसी महीनेमें विधान है। वाल्मीकीय रामायणमें इसे संवत्सरका भूषण बतलाया गया है। इस प्रकार अन्यान्य मासोंकी अपेक्षा इसमें कई विशेषताएँ हैं, इसलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

† वसन्त सब ऋतुओंमें श्रेष्ठ और सबका राजा है। इसमें बिना ही जलके सब वनस्पतियाँ हरी-भरी और नये नये पत्रों तथा पुष्पोंसे समन्वित हो जाती हैं। इसमें न अधिक गरमी रहती है और न सरदी। इस ऋतुमें प्रायः सभी प्राणियोंको आनन्द होता है। इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

‡ संसारमें उत्तम, मध्यम और नीच जितने भी जीव और पदार्थ हैं, सभीमें भगवान् व्याप्त हैं और भगवान्‌की ही सत्ता-स्फूर्तिसे सब चेष्टा करते हैं। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो भगवान्‌की सत्ता और शक्तिसे रहित हो। ऐसे सब प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस जीवों एवं पदार्थोंमें जो विशेष गुण, विशेष प्रभाव और विशेष चमत्कारसे युक्त है, उसीमें भगवान्‌की सत्ता और शक्तिका विशेष विकास है।

इस विशेषताके कारण जिस-जिस व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या भावका मनसे चिन्तन होने लगे, उस-उसमें भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहिये। इसी अभिप्रायसे छल करनेवालोंमें जूएको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया है। उसे उत्तम बतलाकर उसमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे नहीं; क्योंकि भगवानने तो महान् क्रूर और हिंसक सिंह और मगरको एवं सहज ही विनाश करनेवाले अग्निको तथा सर्वसंहारकारी मृत्युको भी अपना स्वरूप बतलाया है। उसका अभिप्राय यह थोड़े ही है कि कोई भी मनुष्य जाकर सिंह या मगरके साथ खेले, आगमें कूद पड़े अथवा जान-बूझकर मृत्युके मुँहमें घुस जाय। इनके करनेमें जो आपत्ति है, वही आपत्ति जूआ खेलनेमें है।

§ ये चारों ही गुण भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, इसलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है। इन चारोंको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव भी दिखलाया है कि तेजस्वी प्राणियोंमें जो तेज या प्रभाव है, वह वास्तवमें मेरा ही है। जो मनुष्य उसे अपनी शक्ति समझकर अभिमान करता है, वह भूल करता है। इसी प्रकार विजय प्राप्त करनेवालोंका विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव—ये सब गुण भी मेरे ही हैं। इनके निमित्तसे अभिमान करना भी बड़ी भारी मूर्खता है। इसके अतिरिक्त इस कथनमें यह भाव भी है कि जिन-जिनमें उपर्युक्त गुण हों, उनमें भगवान्‌के तेजकी अधिकता समझकर उनको श्रेष्ठ मानना चाहिये।

× इस कथनसे भगवान्‌ने अवतार और अवतारीकी एकता दिखलायी है। कहनेका भाव यह है कि मैं अजन्मा, अविनाशी, सब भूतोंका महेश्वर, सर्वशक्तिमान्, पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम ही यहाँ वसुदेवके पुत्रके रूपमें लीलासे प्रकट हुआ हूँ (गीता ४। ६)।

+ अर्जुन ही सब पाण्डवोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। इसका कारण यह है कि नर-नारायण-अवतारमें अर्जुन नररूपसे

और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि† भी मैं ही हूँ ॥३७॥

दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी हूँ‡ जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति§ हूँ, गुप्त रखने-भावोंका रक्षक मौन× हूँ और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान ही हूँ ॥ ३८ ॥

पि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
स्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

और हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ;+ क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो÷ ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्से उनकी विभूति और योगशक्तिका वर्णन करनेकी प्रार्थना की थी, उसके अनुसार भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अब संक्षेपमें अपनी योगशक्तिका वर्णन करते हैं—

के साथ रह चुके हैं। इसके अतिरिक्त वे भगवान्के परम प्रिय सखा और उनके अनन्य प्रेमी भक्त हैं। इसलिये को भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्। काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च।

(महा० वन० १२ । ४६-४७)

हे दुर्धर्ष अर्जुन ! तू भगवान् नर है और मैं स्वयं हरि नारायण हूँ। हम दोनों एक समय नर और नारायण ऋषि इस लोकमें आये थे। इसीलिये हे अर्जुन ! तू मुझसे अलग नहीं है और उसी प्रकार मैं तुझसे अलग नहीं हूँ।'

* भगवान्के स्वरूपका और वेदादि शास्त्रोंका मनन करनेवालोंको 'मुनि' कहते हैं। भगवान् वेदव्यास समस्त वेदोंका चिन्तन करके उनका विभाग करनेवाले, महाभारत, पुराण आदि अनेक शास्त्रोंके रचयिता, भगवान्के अंशावतार सर्वसद्गुणसम्पन्न हैं। अतएव मुनिमण्डलमें उनकी प्रधानता होनेके कारण भगवान्ने उन्हें अपना स्वरूप बतलाया है।

† जो पण्डित और बुद्धिमान् हो, उसे 'कवि' कहते हैं। शुक्राचार्यजी भार्गवोंके अधिपति, सब विद्याओंमें विशारद, के रचयिता, संजीवनी विद्याके जाननेवाले और कवियोंमें प्रधान हैं, इसलिये इनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

१. 'ज्ञानवताम्' पद परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात् कर लेनेवाले यथार्थ ज्ञानियोंका वाचक है। उनका ज्ञान त्तम ज्ञान है। इसलिये उसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

‡ दण्ड (दमन करनेकी शक्ति) धर्मका त्याग करके अधर्ममें प्रवृत्त उच्छृङ्खल मनुष्योंको पापाचारसे रोककर सत्कर्ममें करता है। मनुष्योंके मन और इन्द्रिय आदि भी इस दमन-शक्तिके द्वारा ही वशमें होकर भगवान्की प्राप्तिमें सहायक ते हैं। दमन-शक्तिसे समस्त प्राणी अपने-अपने अधिकारका पालन करते हैं। इसलिये जो भी देवता, राजा और आदि न्यायपूर्वक दमन करनेवाले हैं, उन सबकी उस दमन-शक्तिको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

§ 'नीति' शब्द यहाँ न्यायका वाचक है। न्यायसे ही मनुष्यकी सच्ची विजय होती है। जिस राज्यमें नीति नहीं अनीतिका बर्ताव होने लगता है, वह राज्य भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतएव नीति अर्थात् न्याय विजयका प्रधान है। इसलिये विजय चाहनेवालोंकी नीतिको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

× जितने भी गुप्त रखने योग्य भाव हैं, वे मौनसे (न बोलनेसे) ही गुप्त रह सकते हैं। बोलना बंद किये बिना गुप्त रक्खा जाना कठिन है। इस प्रकार गोपनीय भावोंके रक्षक मौनकी प्रधानता होनेसे मौनको भगवान्ने अपना बतलाया है।

+ भगवान् ही समस्त चराचर भूतप्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव वे ही सबके महान् कारण हैं। इसीसे गीताके सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हें सब भूतोंका 'सनातन बीज' और नवम अध्यायके श्लोकमें 'अविनाशी बीज' बतलाया गया है। इसीलिये भगवान्ने उसको यहाँ अपना स्वरूप बतलाया है।

÷ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि चर या अचर जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें मैं व्याप्त हूँ; कोई भी मुझसे रहित नहीं है। अतएव समस्त प्राणियोंको मेरा स्वरूप समझकर और मुझे उनमें व्याप्त समझकर जहाँ भी मन जाय, वहीं तुम मेरा चिन्तन करते रहो। इस प्रकार अर्जुनके 'आपको किन-किन भावोंमें चिन्तन करना है?' (गीता १० । १७) इस प्रश्नका भी इससे उत्तर हो जाता है।

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान* ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२॥

अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयो है ?† मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अं मात्रसे धारण करके स्थित हूँ‡ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ भीष्मपर्वणि तु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥ भीष्मपर्वमें चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

◆

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामेकादशोऽध्यायः)

विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना, भगवान् और संजयद्वारा विश्वरूपका वर्णन, अर्जुनद्वारा भगवान्के विश्वरूपका देखा जाना, भयभीत हुए अर्जुनद्वारा भगवान्की स्तुति-प्रार्थना, भगवान्द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके दर्शनकी महिमा और केवल अनन्य भक्तिसे ही भगवान्की प्राप्तिका कथन

सम्बन्ध—गीताके दसवें अध्यायके सातवें श्लोकतक भगवान्ने अपनी विभूति तथा योगशक्तिका और उनके जाननेके माहात्म्यका संक्षेपमें वर्णन करके ग्यारहवें श्लोकतक भक्तियोग और उसके फलका निरूपण किया । इसपर बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्की स्तुति करके उनसे दिव्य विभूतियोंका और योगशक्तिका विस्तृत वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की । तब भगवान्ने चालीसवें श्लोकतक अपनी विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अन्तमें योगशक्तिका प्रभाव बतलाते हुए समस्त ब्रह्माण्डको अपने एक अंशमें धारण किया हुआ कहकर अध्यायका उपसंहार किया। इस प्रसं को सुनकर अर्जुनके मनमें उस महान् स्वरूपको, जिसके ए अंशमें समस्त विश्व स्थित है, प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा उत्प गयी । इसीलिये इस ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें पहले च श्लोकोंमें भगवान्की और उनके उपदेशकी प्रशंसा करते हुए अर्जु उनसे विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥

---

* जिस किसी भी प्राणी या जडवस्तुमें उपर्युक्त ऐश्वर्य, शोभा, कान्ति, शक्ति, बल, तेज, पराक्रम या अन्य कि प्रकारकी शक्ति आदि सब-के-सब या इनमेंसे कोई एक भी प्रतीत होता हो, उस प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तुको भगवान् तेजका अंश समझना ही उसको भगवान्के तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझना है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बिजलीकी शक्तिसे कहीं रोशनी हो रही है, कहीं पंखे चल रहे हैं, कहीं जल निक रहा है, कहीं रेडियोमें दूर-दूरके गाने सुनायी पड़ रहे हैं—इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनेकों स्थानोंमें और भी बहुत कार्य रहे हैं; परंतु यह निश्चय है कि जहाँ-जहाँ ये कार्य होते हैं, वहाँ-वहाँ बिजलीका ही प्रभाव कार्य कर रहा है, वस्तुतः बिजलीके ही अंशकी अभिव्यक्ति है। उसी प्रकार जिस प्राणी या वस्तुमें जो भी किसी तरहकी विशेषता दिखलायी पड़ती उसमें भगवान्के ही तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझनी चाहिये ।

† इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे पूछनेपर मैंने प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन तो दिया, किंतु इतना ही जानना यथेष्ट नहीं है । सार बात यह है जो मैं अब तुम्हें बतला रहा हूँ, इसको तुम अच्छी प्र समझ लो; फिर सब कुछ अपने-आप ही समझमें आ जायगा, उसके बाद तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा।

‡ मन, इन्द्रिय और शरीरसहित समस्त चराचर प्राणी तथा भोगसामग्री, भोगस्थान और समस्त लोकोंके स यह ब्रह्माण्ड भगवान्के किसी एक अंशमें उन्हींकी योगशक्तिसे धारण किया हुआ है, यही भाव दिखलानेके लिये भगव इस जगत्के सम्पूर्ण विस्तारको अपनी योगशक्तिके एक अंशसे धारण किया हुआ बतलाया है।

१. गीताके दसवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रेम-समुद्र भगवान्ने 'अर्जुन ! तुम्हारा मुझमें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे मैं

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन* अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है† ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

क्योंकि हे कमलनेत्र ! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है‡ ॥ २ ॥

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर !§ आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है; परंतु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त ऐश्वर-रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ× ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

तुम्हारे हितके लिये कह रहा हूँ’ ऐसा कहकर अपना जो अलौकिक प्रभाव सुनाया, उसे सुनकर अर्जुनको महर्षियोंकी कही हुई बातोंका स्मरण हो आया । अर्जुनके हृदयपर भगवत्कृपाकी मुहर लग गयी । वे भगवत्कृपाके अपूर्व दर्शन कर मुग्ध हो गये; क्योंकि साधकको जबतक अपने पुरुषार्थ, साधन या अपनी योग्यताका स्मरण होता है, तबतक वह भगवत्कृपाके परमलाभसे वञ्चित-सा ही रहता है; भगवत्कृपाके प्रभावसे वह सहज ही साधनके उच्च स्तरपर नहीं चढ़ सकता, परंतु जब उसे भगवत्कृपासे ही भगवत्कृपाका भान होता है और वह प्रत्यक्षवत् यह समझ जाता है कि जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्के अनुग्रहसे ही हो रहा है, तब उसका हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है और वह पुकार उठता है, ‘ओहो, भगवन् ! मैं किसी भी योग्य नहीं हूँ । मैं तो सर्वथा अनधिकारी हूँ । यह सब तो आपके अनुग्रहकी ही लीला है ।’ ऐसे ही कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे अर्जुन कह रहे हैं कि भगवन् ! आपने जो कुछ भी महत्त्व और प्रभावकी बातें सुनायी हैं, मैं इसका पात्र नहीं हूँ । आपने अनुग्रह करनेके लिये ही अपना यह परम गोपनीय रहस्य मुझको सुनाया है । ‘मदनुग्रहाय’ पदके प्रयोगका यही अभिप्राय है ।

* गीताके सातवेंसे दसवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्ने जो अपने गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपका तत्त्व और रहस्य समझाया है—उस सभी उपदेशका वाचक यहाँ ‘परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन’ है । उन-उन प्रकरणोंमें भगवान्ने स्पष्टरूपसे यह बतलाया है कि मैं श्रीकृष्ण जो तुम्हारे सामने विराजित हूँ, वही समस्त जगत्का कर्ता, हर्ता, निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, मायातीत, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर हूँ, उन विशेषणोंको भगवान्ने स्वयं ‘परम गुह्य’ बतलाया है । अतएव यहाँ उन्हीं विशेषणोंका लक्ष्य करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपका यह उपदेश अवश्य ही परम गोपनीय है ।

† अर्जुन जो भगवान्के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको पूर्णरूपसे नहीं जानते थे—यही उनका मोह था । अब उपर्युक्त उपदेशके द्वारा भगवान्के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, रहस्य और स्वरूपको कुछ समझकर वे जो यह जान गये हैं कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् परमेश्वर हैं—यही उनके मोहका नष्ट होना है ।

‡ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि केवल भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयकी ही बात आपसे सुनी हो, ऐसी बात नहीं है; आपकी जो अविनाशी महिमा है, अर्थात् आप समस्त विश्वका सृजन, पालन और संहार आदि करते हुए भी वास्तवमें अकर्ता हैं, सबका नियमन करते हुए भी उदासीन हैं, सर्वव्यापी होते हुए भी उन-उन वस्तुओंके गुण-दोषसे सर्वथा निर्लिप्त हैं, शुभाशुभ कर्मोंका सुख-दुःखरूप फल देते हुए भी निर्दयता और विषमताके दोषसे रहित हैं, प्रकृति, काल और समस्त लोकपालोंके रूपमें प्रकट होकर सबका नियमन करनेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं—इस प्रकारके माहात्म्यको भी उन-उन प्रकरणोंमें बार-बार सुना है ।

§ ‘परमेश्वर’ सम्बोधनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं और सर्वसमर्थ हैं; अतएव मैं आपके जिस ऐश्वर-स्वरूपके दर्शन करना चाहता हूँ, उसके दर्शन आप सहज ही करा सकते हैं ।

× असीम और अनन्त ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि ईश्वरीय गुण और प्रभाव जिसमें प्रत्यक्ष दिखलायी देते हों तथा सारा विश्व जिसके एक अंशमें हो, ऐसे रूपको यहाँ ‘ऐश्वररूप’ बतलाया है और ‘उसे मैं देखना चाहता हूँ’ इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा अद्भुत रूप मैंने कभी नहीं देखा, आपके मुखसे उसका वर्णन सुनकर (गीता १० । ४२) उसे देखनेकी मेरे मनमें अत्यन्त उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गयी है, उस रूपके दर्शन करके मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा—मैं ऐसा मानता हूँ ।

हे प्रभो* ! यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है—ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर ! उस अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये† ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—परम श्रद्धालु और परम प्रेमी अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर तीन श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपका वर्णन करते हुए उसे देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि[1] दिव्यानि[2] नानावर्णाकृतीनि[3] च ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भरतवंशी अर्जुन ! मुझमें आदित्योंको अर्थात् अदिति के द्वादश पुत्रोंको, आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उन्चास मरुद्गणोंको देख‡ तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश[4] यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! अब§ इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख× तथा और भी जो कुछ

---

* 'प्रभो' सम्बोधनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामी-रूपसे शासन करनेवाले होनेके कारण सर्वसमर्थ हैं। इसलिये यदि मैं आपके उस रूपके दर्शनका सुयोग्य अधिकारी नहीं हूँ तो आप कृपापूर्वक अपने सामर्थ्यसे मुझे सुयोग्य अधिकारी बना सकते हैं।

† इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मेरे मनमें आपके उस रूपके दर्शनकी लालसा अत्यन्त प्रबल है आप अन्तर्यामी हैं, देख लें—जान लें कि मेरी वह लालसा सच्ची और उत्कट है या नहीं। यदि आप उस लालसाको सच्ची पाते हैं, तब तो प्रभो ! मैं उस स्वरूपके दर्शनका अधिकारी हो जाता हूँ; क्योंकि आप तो भक्त-वाञ्छाकल्पतरु हैं, उसके मनकी इच्छा ही देखते हैं, अन्य योग्यताको नहीं देखते। इसलिये यदि उचित समझें तो कृपा करके अपने उस स्वरूपके दर्शन मुझे कराइये।

[1] 'नानाविधानि' पद बहुत-से भेदोंका बोधक है। इसका प्रयोग करके भगवान्ने विश्वरूपमें दीखनेवाले रूपोंके जातिगत भेदकी अनेकता प्रकट की है—अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि समस्त चराचर जीवोंके नाना भेदोंको अपनेमें देखनेके लिये कहा है।

[2] अलौकिक और आश्चर्यजनक वस्तुको दिव्य कहते हैं। 'दिव्यानि' पदका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे शरीरमें दीखनेवाले ये भिन्न-भिन्न प्रकारके असंख्य रूप सब-के-सब दिव्य हैं।

[3] 'वर्ण' शब्द लाल, पीले, काले आदि विभिन्न रंगोंका और 'आकृति' शब्द अङ्गोंकी बनावटका वाचक है। जिन रूपोंके वर्ण और उनके अङ्गोंकी बनावट पृथक्-पृथक् अनेकों प्रकारकी हों, उनको 'नानावर्णाकृति' कहते हैं। उन्हींके लिये 'नानावर्णाकृतीनि'[3]का प्रयोग हुआ है।

‡ इनका नाम लेकर भगवान्ने सभी देवताओंको अपने विराट् रूपमें देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी है। इनमें से आदित्य और मरुद्गणोंकी व्याख्या गीताके दसवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें तथा वसु और रुद्रोंकी तेईसवें की जा चुकी है। इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं किया गया है। अश्विनीकुमार दोनों भाई देव-वैद्य हैं। ये दोनों सूर्यकी पत्नी संज्ञासे उत्पन्न माने जाते हैं (विष्णुपुराण ३। २। ७, अग्निपुराण २७३। ४)। कहीं इनको कश्यपके औरस पुत्र और अदितिके गर्भसे उत्पन्न (वाल्मीकीय रामायण अरण्य० १४। १४) तथा कहीं ब्रह्मा के कानोंसे उत्पन्न भी माना गया है (वायुपुराण ६५। ५७)। कल्पभेदसे सभी वर्णन यथार्थ हैं।

[4] यहाँ अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्राके स्वामी हो, अतः सावधान होकर मेरे रूपको भलीभाँति देखो, ताकि किसी प्रकारका संशय या भ्रम न रह जाय।

§ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने मेरे जिस रूपके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की है, उसे दिखलानेमें जरा भी विलम्ब नहीं कर रहा हूँ, इच्छा प्रकट करते ही मैं अभी दिखला रहा हूँ।

× पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और देव, मनुष्य आदि चलने-फिरनेवाले प्राणियोंको 'चर' कहते हैं तथा पहाड़, वृक्ष आदि एक जगह स्थिर रहनेवालोंको 'अचर' कहते हैं। ऐसे समस्त प्राणियोंके तथा उनके शरीर, इन्द्रिय, भोगस्थान और भोगसामग्रियोंके सहित समस्त ब्रह्माण्डका वाचक यहाँ 'चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्' शब्द है। इससे भगवान्ने अर्जुनको यह बतलाया है कि इसी मेरे शरीरके एक अंशमें तुम समस्त जगत्को स्थित देखो। अर्जुनको

देखना चाहता हो सो देख* ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन श्लोकोंमें बार-बार अपना अद्भुत रूप देखनेके लिये आज्ञा देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्के रूपको नहीं देख सके, तब उसके न देख सकनेके कारणको जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् अर्जुनको दिव्यदृष्टि देनेकी इच्छा करके कहने लगे—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

परंतु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसंदेह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको† देख ॥

सम्बन्ध—अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर भगवान्ने जिस प्रकारका अपना दिव्य विराट् स्वरूप दिखलाया था, अब पाँच श्लोकोंद्वारा संजय उसका वर्णन करते हैं—

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोले—हे राजन् ! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्ने‡ इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया§ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्[1] ।
सर्वाश्चर्यमयं[2] देवमनन्तं[3] विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, × अनेक अद्भुत

भगवान्ने गीताके दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें जो यह बात कही थी कि मैं इस समस्त जगत्को एक अंशमें धारण किये स्थित हूँ, उसी बातको यहाँ उन्हें प्रत्यक्ष दिखला रहे हैं ।

* इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस वर्तमान सम्पूर्ण जगत्को देखनेके अतिरिक्त और जिनसे गुण, प्रभाव आदिके द्योतक कोई दृश्य, अपने और दूसरोंके जय-पराजयके दृश्य अथवा जो कुछ भी भूत, भविष्य और वर्तमानकी घटनाएँ देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो, उन सबको तुम इस समय मेरे शरीरके एक अंशमें प्रत्यक्ष देख सकते हो ।

† भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन करनेके लिये अपने योगबलसे एक प्रकारकी योगशक्ति प्रदान की थी, जिसके प्रभावसे अर्जुनमें अलौकिक सामर्थ्यका प्रादुर्भाव हो गया—उस दिव्य रूपको देख सकनेकी योग्यता उत्पन्न हो गयी। इसी योगशक्तिका नाम दिव्य दृष्टि है। ऐसी ही दिव्य दृष्टि श्रीवेदव्यासजीने संजयको भी दी थी। अर्जुनको जिस रूपके दर्शन हुए थे, वह दिव्य था । उसे भगवान्ने अपनी अद्भुत योगशक्तिसे ही प्रकट करके उन्हें दिखलाया था। अतः उसके देखनेसे ही भगवान्की अद्भुत योगशक्तिके दर्शन आप ही हो गये ।

‡ संजयके इस कथनका भाव यह है कि श्रीकृष्ण कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे बड़े-से-बड़े योगेश्वर और सब पापों और दुःखोंके नाश करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं। उन्होंने अर्जुनको अपना जो दिव्य विश्वरूप दिखलाया था, जिसका वर्णन करके मैं अभी आपको सुनाऊँगा, वह रूप बड़े-से-बड़े योगी भी नहीं दिखला सकते; उसे तो एकमात्र स्वयं परमेश्वर ही दिखला सकते हैं ।

§ भगवान्ने अपना जो विराट् स्वरूप अर्जुनको दिखलाया था, वह अलौकिक, दिव्य, सर्वश्रेष्ठ और तेजोमय था, साधारण जगत्की भाँति पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ नहीं था; भगवान्ने अपने परम प्रिय भक्त अर्जुनपर कृपा करके अपना अद्भुत प्रभाव उसको समझानेके लिये ही अपनी अद्भुत योगशक्तिके द्वारा उस रूपको प्रकट करके दिखलाया था ।

[1] चन्दन आदि जो लौकिक गन्ध हैं, उनसे विलक्षण अलौकिक गन्धको 'दिव्य गन्ध' कहते हैं। ऐसे दिव्य गन्धका अनुभव प्राकृत इन्द्रियोंसे न होकर दिव्य इन्द्रियोंद्वारा ही किया जा सकता है । जिसके समस्त अङ्गोंमें इस प्रकारका अत्यन्त मनोहर दिव्य गन्ध लगा हो, उसको 'दिव्यगन्धानुलेपन' कहते हैं ।

[2] भगवान्के उस विराट्रूपमें उपर्युक्त प्रकारसे मुख, नेत्र, आभूषण, शस्त्र, माला, वस्त्र और गन्ध आदि सभी अलौकिक थे; इसलिये उन्हें 'सर्वाश्चर्यमय' कहा गया है ।

[3] जो प्रकाशमय और पूज्य हों, उन्हें 'देव' कहते हैं ।

× अर्जुनने भगवान्का जो रूप देखा, उसके प्रधान नेत्र तो चन्द्रमा और सूर्य बतलाये गये हैं (गीता ११ । १९); उनके अंदर दिखलायी देनेवाले और भी असंख्य विभिन्न मुख और नेत्र थे, इसीसे भगवान्को अनेक मुखों और नेत्रोंसे युक्त बतलाया गया है ।

दर्शनोंवाले,* बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त† और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए,‡ दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए§ और दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥ १०-११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो× ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभिन्न अर्थात् पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्को देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्के उस शरीरमें एक जगह स्थित देखा+ ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

उसके अनन्तर वह आश्चर्यसे चकित और पुलकितशरीर अर्जुन÷ प्रकाशमय विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोला ऽ ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

---

* भगवान्के उस विराट् रूपमें अर्जुनने ऐसे असंख्य अलौकिक विचित्र दृश्य देखे थे, इसी कारण उनके लिये यह विशेषण दिया गया है।

† जो गहने लौकिक गहनोंसे विलक्षण, तेजोमय और अलौकिक हों, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं तथा जो रूप ऐसे असंख्य दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो, उसे 'अनेकदिव्याभरण' कहते हैं।

‡ जो आयुध अलौकिक तथा तेजोमय हों, उनको 'दिव्य' कहते हैं—जैसे भगवान् विष्णुके चक्र, गदा और धनुष आदि हैं। इस प्रकारके असंख्य दिव्य शस्त्र भगवान्ने अपने हाथोंमें उठा रक्खे थे।

§ विश्वरूप भगवान्ने अपने गलेमें बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर तेजोमय अलौकिक मालाएँ धारण कर रक्खी थीं तथा वे अनेक प्रकारके बहुत ही उत्तम तेजोमय अलौकिक वस्त्रोंसे सुसज्जित थे, इसलिये उनके लिये यह विशेषण दिया गया है।

× इसके द्वारा विराट्स्वरूप भगवान्के दिव्य प्रकाशको निरुपम बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हजारों तारे एक साथ उदय होकर भी सूर्यकी समानता नहीं कर सकते, उसी प्रकार हजार सूर्य यदि एक साथ आकाशमें उदय हो जायँ तो उनका प्रकाश भी उस विराट्स्वरूप भगवान्के प्रकाशकी समानता नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि सूर्योंका प्रकाश अनित्य, भौतिक और सीमित है; परंतु विराट्स्वरूप भगवान्का प्रकाश नित्य, दिव्य, अलौकिक और अपरिमित है।

+ यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और वृक्ष आदि भोक्तृवर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पाताल आदि भोग्यस्थान एवं उनके भोगनेयोग्य असंख्य सामग्रियोंके भेदसे विभक्त—इस समस्त ब्रह्माण्डको अर्जुनने भगवान्के शरीरके एक देशमें देखा। गीताके दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने जो यह बात कही थी कि इस सम्पूर्ण जगत्को मैं एक अंशमें धारण किये हुए स्थित हूँ, उसीको यहाँ अर्जुनने प्रत्यक्ष देखा।

÷ इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्के उस रूपको देखकर अर्जुनको इतना महान् हर्ष और आश्चर्य हुआ, जिसके कारण उसी क्षण उनका समस्त शरीर पुलकित हो गया। उन्होंने इससे पूर्व भगवान्का ऐसा ऐश्वर्यपूर्ण स्वरूप कभी नहीं देखा था; इसलिये इस अलौकिक रूपको देखते ही उनके हृदयपटपर सहसा भगवान्के अपरिमित प्रभावका कुछ अंश अङ्कित हो गया, भगवान्का कुछ प्रभाव उनकी समझमें आया। इससे उनके हर्ष और आश्चर्यकी सीमा न रही।

ऽ अर्जुनने जब भगवान्का ऐसा अनन्त आश्चर्यमय दृश्योंसे युक्त परम प्रकाशमय और असीम ऐश्वर्यसमन्वित महान् स्वरूप देखा, तब उससे वे इतने प्रभावित हुए कि उनके मनमें जो पूर्व जीवनकी मित्रताका एक भाव था, वह सहसा विलुप्त-सा हो गया; भगवान्की महिमाके सामने वे अपनेको अत्यन्त तुच्छ समझने लगे। भगवान्के प्रति उनके हृदयमें अत्यन्त पूज्यभाव जाग्रत् हो गया और उस पूज्यभावके प्रवाहने बिजलीकी तरह गति उत्पन्न करके उनके मस्तकको उसी क्षण भगवान्के चरणोंमें टिका दिया और वे हाथ जोड़कर बड़े ही विनम्रभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्का स्तवन [illegible]ने लगे।

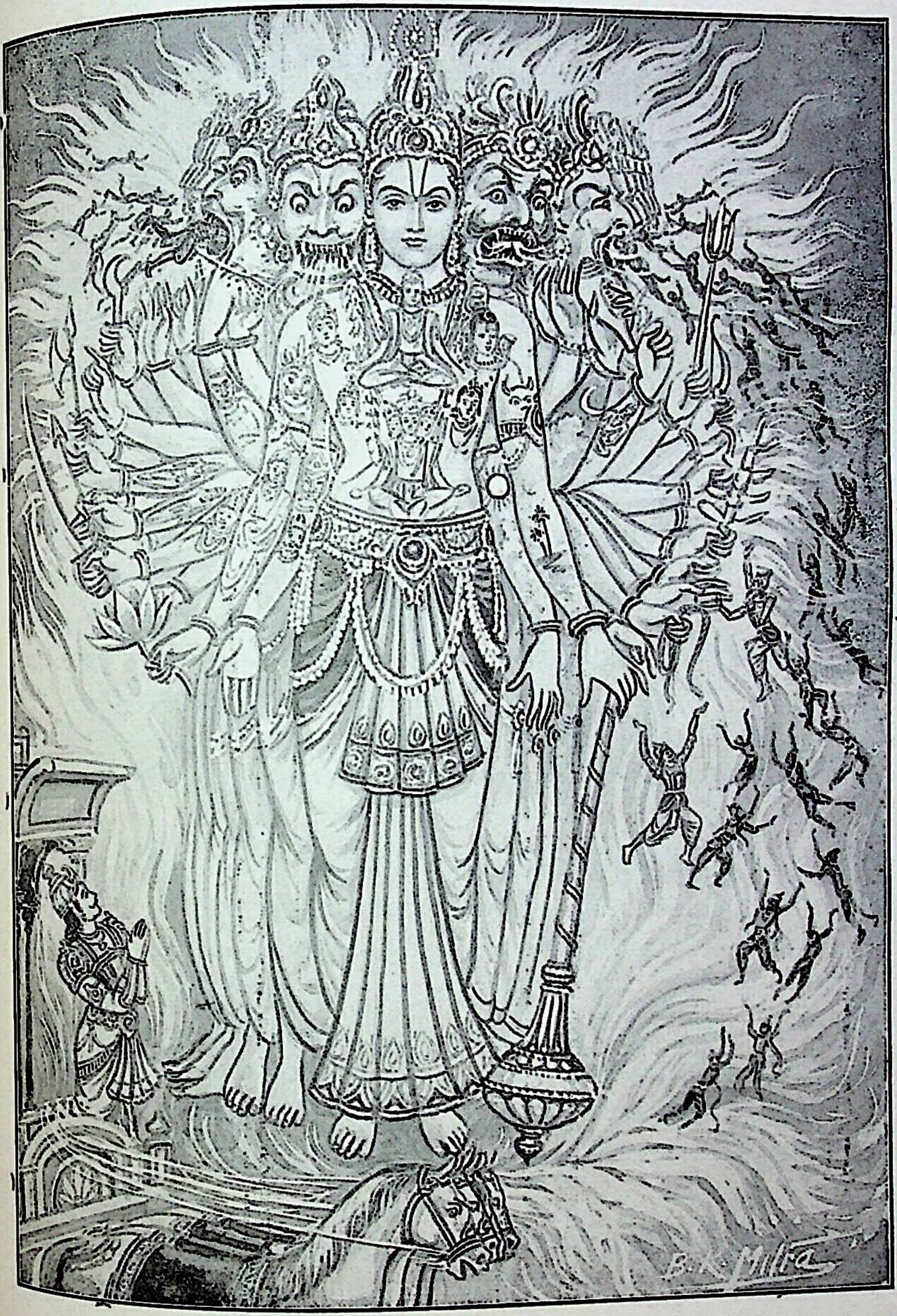

अर्जुनके प्रति भगवान्‌का विराट्‌रूप-प्रदर्शन

अर्जुन बोले—हे देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको तथा अनेक भूतोंके समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको* और सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ† ॥ १५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप[1] ॥१६॥

हे सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन् ! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सबओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप ! मैं आपके न अन्तको देखता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं[2] समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्[3] ॥१७॥

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजके पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं[4]
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता[5]
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं। ऐसा मेरा मत है‡ ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तम्[6]अनन्तवीर्य[7]-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

---

* ब्रह्मा और शिव देवोंके भी देव हैं तथा ईश्वरकोटिमें हैं, इसलिये उनके नाम विशेषरूपसे लिये गये हैं। एवं ब्रह्माको 'कमलके आसनपर विराजित' बतलाकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं भगवान् विष्णुकी नाभिसे निकले हुए कमलपर विराजित ब्रह्माको देख रहा हूँ अर्थात् उन्हींके साथ आपके विष्णुरूपको भी आपके शरीरमें देख रहा हूँ।

† यहाँ स्वर्ग, मर्त्य और पाताल—तीनों लोकोंके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके समुदायकी गणना करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं त्रिभुवनात्मक समस्त विश्वको आपके शरीरमें देख रहा हूँ।

[1] यहाँ अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप ही इस समस्त विश्वके कर्ता-हर्ता और सबको अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करनेवाले सबके अधीश्वर हैं और यह समस्त विश्व वस्तुतः आपका ही स्वरूप है, आप ही इसके निमित्त और उपादान कारण हैं।

[2] अर्जुनको तो भगवान्ने उस रूपको देखनेके लिये ही दिव्य दृष्टि दी थी और उसीके द्वारा वे उसको देख रहे थे। इस कारण दूसरोंके लिये दुर्निरीक्ष्य होनेपर भी उनके लिये वैसी बात नहीं थी।

[3] इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके गुण, प्रभाव, शक्ति और स्वरूप अप्रमेय हैं, अतः उनको कोई भी प्राणी किसी भी उपायसे पूर्णतया नहीं जान सकता।

[4] जिस जाननेयोग्य परमतत्त्वको मुमुक्षु पुरुष जाननेकी इच्छा करते हैं, जिसके जाननेके लिये जिज्ञासु साधक नाना प्रकारके साधन करते हैं, गीताके आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस परम अक्षरको ब्रह्म बतलाया गया है, उसी परम तत्त्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'वेदितव्यम्' और 'परमम्' विशेषणोंके सहित 'अक्षरम्' पद है।

[5] जो सदासे चला आता हो और सदा रहनेवाला हो, उस सनातन (वैदिक) धर्मको 'शाश्वतधर्म' कहते हैं। भगवान् बार बार अवतार लेकर उसी धर्मकी रक्षा करते हैं, इसलिये भगवान्को अर्जुनने 'शाश्वतधर्मगोप्ता' कहा है।

‡ यहाँ अर्जुनने यह बतलाया है कि जिनका कभी नाश नहीं होता—ऐसे समस्त जगत्के हर्ता, कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण विकारोंसे रहित, सनातन परम पुरुष साक्षात् परमेश्वर आप ही हैं।

[6] इस अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अर्जुन भगवान्के विराट् रूपको असीम बतला ही चुके थे, फिर यहाँ उसे 'अनादिमध्यान्त' कहनेका भाव यह है कि वह उत्पत्ति आदि छः विकारोंसे रहित नित्य है। 'यहाँ आदि' शब्द उत्पत्तिका, 'मध्य' उत्पत्ति और विनाशके बीचमें होनेवाले स्थिति, वृद्धि, क्षय और परिणाम—इन चारों भावविकारोंका और 'अन्त' शब्द विनाशरूप विकारका वाचक है। ये तीनों जिसमें न हों, उसे 'अनादिमध्यान्त' कहते हैं।

[7] यहाँ अर्जुनने भगवान्को 'अनन्तवीर्य' कहकर यह भाव दिखलाया है कि आपके बल, वीर्य, सामर्थ्य और तेज आदिकी कहीं भी सीमा नहीं है।

आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले,* चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाले,† प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस जगत्को संतप्त करते हुए देखता हूँ ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्[1] ॥२०॥

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं एवं आपके इस अलौकिक और भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २० ॥

अमी[2] हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

वे ही देवताओंके समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं‡ तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं§ ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च[3] ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा[4]
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण× और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धोंके

---

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके इस विराट् रूपमें मैं जिस ओर देखता हूँ, उसी ओर मुझे अगणित भुजाएँ दिखलायी दे रही हैं ।

† इससे अर्जुन यह अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि आपके इस विराट्स्वरूपमें मुझे सब ओर आपके असंख्य मुख दिखलायी दे रहे हैं; उनमें जो आपका प्रधान मुख है, उस मुखपर नेत्रोंके स्थानमें मैं चन्द्रमा और सूर्यको देख रहा हूँ।

[1] समस्त विश्वके महान् आत्मा होनेसे भगवान्को 'महात्मन्' कहा है ।

[2] 'सुरसङ्घाः' पदके साथ परोक्षवाची 'अमी' विशेषण देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं जब स्वर्गलोक गया था, तब वहाँ जिन-जिन देवसमुदायोंको मैंने देखा था—मैं आज देख रहा हूँ कि वे ही आपके इस विराट् रूपमें प्रवेश कर रहे हैं ।

‡ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि शेष बचे हुए कितने ही देवता अपनी बहुत देरतक बचे रहनेकी सम्भावना न जानकर डरके मारे हाथ जोड़कर आपके नाम और गुणोंका बखान करते हुए आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहे हैं ।

§ इससे अर्जुनने यह व्यक्त किया है कि मरीचि, अङ्गिरा, भृगु आदि महर्षियोंके और ज्ञाताज्ञात सिद्धजनोंके जितने भी विभिन्न समुदाय हैं, वे आपके तत्त्वका यथार्थ रहस्य जाननेवाले होनेके कारण आपके इस उग्र रूपको देखकर भयभीत नहीं हो रहे हैं; वरं समस्त जगत्के कल्याणके लिये प्रार्थना करते हुए अनेकों प्रकारके सुन्दर भावमय स्तोत्रोंद्वारा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आपका स्तवन कर रहे हैं—ऐसा मैं देख रहा हूँ ।

[3] जो ऊष्म (गरम) अन्न खाते हों, उनको 'ऊष्मपाः' कहते हैं । मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके दो सौ सैंतीसवें श्लोकमें कहा है कि पितरलोग गरम अन्न ही खाते हैं । अतएव यहाँ 'ऊष्मपाः' पद पितरोंके समुदायका वाचक समझना चाहिये । पितरोंके नाम गीताके दसवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोककी टिप्पणीमें बतलाये जा चुके हैं ।

[4] कश्यपजीकी पत्नी मुनि और प्राधासे तथा अरिष्टासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति मानी गयी है, ये राग-रागिनियोंके ज्ञानमें निपुण हैं और देवलोककी वाद्य-नृत्यकलामें कुशल समझे जाते हैं । यक्षोंकी उत्पत्ति महर्षि कश्यपकी खसा नामक पत्नीसे मानी गयी है । भगवान् शङ्करके गणोंमें भी यक्षलोग हैं । इन यक्षोंके और उत्तम राक्षसोंके राजा कुबेर माने जाते हैं । देवताओंके विरोधी दैत्य, दानव और राक्षसोंको असुर कहते हैं । कश्यपजीकी स्त्री दितिसे उत्पन्न होनेवाले 'दैत्य' और 'दनु' से उत्पन्न होनेवाले 'दानव' कहलाते हैं । राक्षसोंकी उत्पत्ति विभिन्न प्रकारसे हुई है । कपिल आदि सिद्धजनोंको 'सिद्ध' कहते हैं । इन सबके विभिन्न अनेकों समुदायोंका वाचक यहाँ 'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः' पद है ।

× ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु और उनचास मरुत्—इन चार प्रकारके देवताओंके समूहोंका वर्णन तो

हैं, वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं॥२२॥

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत जङ्घा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी ढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल महान् रूपको देखकर सब व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो[1] ॥ २४ ॥

क्योंकि हे विष्णो ! आकाशको स्पर्श करनेवाले, दीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित आपके मुखोंको देखकर मैं दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हों* ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ[2]
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

वे सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित आपमें

के दसवें अध्यायके इक्कीसवें और तेईसवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें तथा अश्विनीकुमारोंका ग्यारहवें अध्यायके छठे श्लोककी में किया जा चुका है—वहाँ देखना चाहिये । मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, और विभु—ये बारह साध्यदेवता हैं —

मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान् ॥
चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा ।
प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे ॥
(वायुपुराण ६६ । १५-१६)

और क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान—ये दस विश्वेदेव हैं—

विश्वेदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः ।
क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा ।
कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश ॥
(वायुपुराण ६६ । ३१-३२)

[1] भगवान्‌को विष्णु नामसे सम्बोधित करके अर्जुन यह दिखलाते हैं कि आप साक्षात् विष्णु ही पृथ्वीका भार नेके लिये श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं। अतः आप मेरी व्याकुलताको दूर करनेके लिये इस विश्वरूपका संवरण करके रूपसे प्रकट हो जाइये ।

* यहाँ अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त देवताओंके स्वामी, सर्वव्यापी और सम्पूर्ण जगत्‌के परमाधार इस बातको तो मैंने पहलेसे ही सुन रक्खा था और मेरा विश्वास भी था कि आप ऐसे ही हैं। आज मैंने आपका विराट्स्वरूप प्रत्यक्ष देख लिया । अब तो आपके 'देवेश' और 'जगन्निवास' होनेमें कोई संदेह ही नहीं रह गया । प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करनेका यह भाव है कि 'प्रभो ! आपका प्रभाव तो मैंने प्रत्यक्ष देख ही लिया, परंतु आपके विराट् रूपको देखकर मेरी बड़ी ही शोचनीय दशा हो रही है; मेरे सुख, शान्ति और धैर्यका नाश हो गया है; यहाँतक मुझे दिशाओंका भी ज्ञान नहीं रह गया है। अतएव दया करके अब आप अपने इस विराट् स्वरूपको शीघ्र समेट लीजिये ।'

[2] वीरवर कर्णसे अर्जुनकी स्वाभाविक प्रतिद्वन्द्विता थी। इसलिये उनके नामके साथ 'असौ' विशेषणका प्रयोग अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि अपनी शूरवीरताके दर्पमें जो कर्ण सबको तुच्छ समझते थे, वे भी आज आपके मुखोंमें पड़कर नष्ट हो रहे हैं।

प्रवेश कर रहे हैं* और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य† तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके दाढ़ोंके कारण विकराल भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दीख रहे हैं ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८ ॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं‡ ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे पतङ्ग मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं§ ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

आप उन सम्पूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रास करते हुए सब ओरसे बार-बार चाट रहे हैं। हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्‌को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—अर्जुनने तीसरे और चौथे श्लोकोंमें भगवान्‌से अपने ऐश्वर्यमय रूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की थी, उसीके अनुसार भगवान्‌ने अपना विश्वरूप अर्जुनको दिखलाया; परंतु भगवान्‌के इस भयानक उग्र रूपको देखकर अर्जुन बहुत डर गये और उनके मनमें इस बातके जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी कि ये श्रीकृष्ण वस्तुतः कौन हैं तथा इस महान् उग्र स्वरूपके द्वारा अब ये क्या करना चाहते हैं। इसीलिये वे भगवान्‌से पूछ रहे हैं—

---

* इससे अर्जुनने यह दिखलाया है कि केवल धृतराष्ट्रपुत्रोंको ही मैं आपके अंदर प्रविष्ट करते नहीं देख रहा हूँ, उन्हींके साथ मैं उन सब राजाओंके समूहोंको भी आपके अंदर प्रवेश करते देख रहा हूँ, जो दुर्योधनकी सहायता करनेके लिये आये थे।

† पितामह भीष्म और गुरु द्रोण कौरवसेनाके सर्वप्रधान महान् योद्धा थे। अर्जुनके मतमें इनका पराजित होना या मारा जाना बहुत ही कठिन था। यहाँ उन दोनोंके नाम लेकर अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'भगवन्! दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या है; मैं देख रहा हूँ, भीष्म और द्रोण-सरीखे महान् योद्धा भी आपके भयानक विकराल मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।'

‡ इस श्लोकमें उन भीष्म-द्रोणादि श्रेष्ठ शूरवीर पुरुषोंके प्रवेश करनेका वर्णन किया गया है, जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये साधन कर रहे थे तथा जिनको बिना ही इच्छाके युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा था और जो युद्धमें मरकर भगवान्‌को प्राप्त करनेवाले थे। इसी हेतुसे उनको 'नरलोकके वीर' कहा गया है। वे भौतिक युद्धमें जैसे महान् वीर थे, वैसे ही भगवत्प्राप्तिके साधनरूप आध्यात्मिक युद्धमें भी काम आदि शत्रुओंके साथ बड़ी वीरतासे लड़नेवाले थे। उनके प्रवेशमें नदी और समुद्रका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे नदियोंके जल स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्र ही बन जाते हैं, वैसे ही ये शूरवीर भक्तजन भी आपकी ओर मुख करके दौड़ रहे हैं और आपके अंदर अभिन्नभावसे प्रवेश कर रहे हैं।

यहाँ मुखोंके साथ 'प्रज्वलित' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे समुद्रमें सब ओरसे जल-ही-जल भरा रहता है और नदियोंका जल उसमें प्रवेश करके उसके साथ एकत्वको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आपके सब मुख भी सब ओरसे अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं और उनमें प्रवेश करनेवाले शूरवीर भक्तजन भी आपके मुखोंकी महान् ज्योतिमें अपने बाह्यरूपको जलाकर स्वयं ज्योतिर्मय हो आपमें एकताको प्राप्त हो रहे हैं।

§ इस श्लोकमें पिछले श्लोकमें बतलाये हुए भक्तोंसे भिन्न उन समस्त साधारण लोगोंके प्रवेशका वर्णन किया गया है, जो इच्छापूर्वक युद्ध करनेके लिये आये थे; इसीलिये प्रज्वलित अग्नि और पतङ्गोंका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे मोहमें पड़े हुए पतङ्ग नष्ट होनेके लिये ही इच्छापूर्वक बड़े वेगसे उड़-उड़कर अग्निमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी आपके प्रभावको न जाननेके कारण मोहमें पड़े हुए हैं और अपना नाश करनेके लिये ही पतङ्गोंकी भाँति दौड़-दौड़कर आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं ? हे श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो । आप प्रसन्न होइये । आदिपुरुष आपको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता* ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् अपने उग्ररूप धारण करनेका कारण बतलाते हुए प्रश्नानुसार उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ ।† इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ ।‡ इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धालोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबका नाश हो जायगा§ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा युद्ध करनेमें सब प्रकारसे लाभ दिखलाकर अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए आज्ञा देते हैं—

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अतएव तू उठ ! यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग ।× ये सब शूरवीर

---

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यह इतना भयंकर रूप—जिसमें कौरवपक्षके और हमारे प्रायः सभी प्रत्यक्ष नष्ट होते दिखलायी दे रहे हैं—आप मुझे किसलिये दिखला रहे हैं तथा अब निकट भविष्यमें आप क्या करना चाहते हैं—इस रहस्यको मैं नहीं जानता । अतएव अब आप कृपा करके इसी रहस्यको खोलकर बतलाइये ।

† इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह जानना चाहा था कि आप कौन हैं । भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण जगत्का सृजन, पालन और संहार करनेवाला साक्षात् परमेश्वर हूँ । अतएव इस समय मुझको तुम इन सबका संहार करनेवाला साक्षात् काल समझो ।

‡ इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके उस प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह कहा था कि 'मैं आपकी प्रवृत्ति-को नहीं जानता ।' भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि इस समय मेरी सारी चेष्टाएँ इन सब लोगोंका नाश करनेके लिये ही हो रही हैं, यही बात समझानेके लिये मैंने इस विराट् रूपके अंदर तुझको सबके नाशका भयंकर दृश्य दिखलाया है ।

§ इस कथनसे भगवान्ने यह दिखलाया है कि गुरु, ताऊ, चाचे, मामे और भाई आदि आत्मीय स्वजनोंको युद्धके लिये तैयार देखकर तुम्हारे मनमें जो कायरताका भाव आ गया है और उसके कारण तुम जो युद्धसे हटना चाहते हो—यह उचित नहीं है; क्योंकि यदि तुम युद्ध करके इनको न भी मारोगे, तब भी ये बचेंगे नहीं । इनका तो मरण ही निश्चित है । जब मैं स्वयं इनका नाश करनेके लिये प्रवृत्त हूँ, तब ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे इनकी रक्षा हो सके । इसलिये तुमको युद्धसे हटना नहीं चाहिये; तुम्हारे लिये तो मेरी आज्ञाके अनुसार युद्धमें प्रवृत्त होना ही हितकर है ।

अपने पक्षके योद्धागणोंका अर्जुनके द्वारा मारा जाना सम्भव नहीं है, अतएव 'तुम न मारोगे तो भी वे तो मरेंगे ही' ऐसा कथन उनके लिये नहीं बन सकता । इसीलिये भगवान्ने यहाँ केवल कौरवपक्षके वीरोंके विषयमें कहा है । इसके सिवा अर्जुनको उत्साहित करनेके लिये भी भगवान्के द्वारा ऐसा कहा जाना युक्तिसंगत है । भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि शत्रुपक्षके जितने भी योद्धा हैं, वे सब एक तरहसे मरे ही हुए हैं; उन्हें मारनेमें तुम्हें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ेगा ।

१. 'तस्मात्' के साथ 'उत्तिष्ठ' क्रियाका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जब तुम्हारे युद्ध न करनेपर भी ये सब नहीं बचेंगे, निःसंदेह मरेंगे ही, तब तुम्हारे लिये युद्ध करना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है । अतएव तुम किसी प्रकारसे भी युद्धसे हटो मत, उत्साहके साथ खड़े हो जाओ ।

× इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस युद्धमें तुम्हारी विजय निश्चित है; अतएव शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न महान् राज्यका उपभोग करो और दुर्लभ यश प्राप्त करो, इस अवसरको हाथसे न जाने दो ।

पहलेहीसे मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा* ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरेद्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार।† भय मत कर।‡ निस्संदेह तू युद्धमें वैरियोंको जीतेगा। इसलिये युद्ध कर§ ॥ ३४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे सब बातें सुननेके बाद अर्जुनकी कैसी परिस्थिति हुई और उन्होंने क्या किया-इस जिज्ञासापर संजय कहते हैं—

---

* जो बायें हाथसे भी बाण चला सकता हो, उसे 'सव्यसाची' कहते हैं। यहाँ भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम तो दोनों ही हाथोंसे बाण चलानेमें अत्यन्त निपुण हो, तुम्हारे लिये इन शूरवीरोंपर विजय प्राप्त करना कौन-सी बड़ी बात है। फिर इन सबको तो वस्तुतः तुम्हें मारना ही क्या पड़ेगा, तुमने प्रत्यक्ष देख ही लिया कि सब-के-सब मेरेद्वारा पहलेहीसे मारे हुए हैं। तुम्हारा तो सिर्फ नामभर होगा। अतएव अब तुम इन्हें मारनेमें जरा भी हिचको मत। मार तो मैंने रक्खा ही है, तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ।

निमित्तमात्र बननेके लिये कहनेका एक भाव यह भी है कि इन्हें मारनेपर तुम्हें किसी प्रकारका पाप होगा, इसकी भी सम्भावना नहीं है; क्योंकि तुम तो क्षात्रधर्मके अनुसार कर्तव्यरूपसे प्राप्त युद्धमें इन्हें मारनेमें एक निमित्तभर बनते हो। इससे पापकी बात तो दूर रही, तुम्हारे द्वारा उलटा क्षात्रधर्मका पालन होगा। अतएव तुम्हें अपने मनमें किसी प्रकारका संशय न रखकर, अहंकार और ममतासे रहित होकर उत्साहपूर्वक युद्धमें ही प्रवृत्त होना चाहिये।

† द्रोणाचार्य धनुर्वेद तथा अन्यान्य शस्त्रास्त्र-प्रयोगकी विद्यामें अत्यन्त पारंगत और युद्धकलामें परम निपुण थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि जबतक उनके हाथमें शस्त्र रहेगा, तबतक उन्हें कोई भी मार नहीं सकेगा। इस कारण अर्जुन उन्हें अजेय समझते थे और साथ ही गुरु होनेके कारण अर्जुन उनको मारना पाप भी मानते थे। भीष्मपितामहकी शूरता जगत्प्रसिद्ध थी। परशुराम-सरीखे अजेय वीरको भी उन्होंने छका दिया था। साथ ही पिता शान्तनुका उन्हें यह वरदान था कि उनकी बिना इच्छाके मृत्यु भी उन्हें नहीं मार सकेगी। इन सब कारणोंसे अर्जुनकी यह धारणा थी कि पितामह भीष्मपर विजय प्राप्त करना सहज कार्य नहीं है, इसीके साथ-साथ वे पितामहका अपने हाथों वध करना पाप भी समझते थे। उन्होंने कई बार कहा भी है, मैं इन्हें नहीं मारना चाहता।

जयद्रथ स्वयं बड़े वीर थे और भगवान् शङ्करके भक्त होनेके कारण उनसे दुर्लभ वरदान पाकर अत्यन्त दुर्जय हो गये थे। फिर दुर्योधनकी बहिन दुःशलाके स्वामी होनेसे ये पाण्डवोंके बहनोई भी लगते थे। स्वाभाविक ही सौजन्य और आत्मीयताके कारण अर्जुन उन्हें भी मारनेमें हिचकते थे।

कर्णको भी अर्जुन किसी प्रकार भी अपनेसे कम वीर नहीं मानते थे। संसारभरमें प्रसिद्ध था कि अर्जुनके योग्य प्रतिद्वन्द्वी कर्ण ही हैं। ये स्वयं बड़े ही वीर थे और परशुरामजीके द्वारा दुर्लभ शस्त्रविद्याका इन्होंने अध्ययन किया था।

इसीलिये इन चारोंके पृथक्-पृथक् नाम लेकर और इनके अतिरिक्त भगदत्त, भूरिश्रवा और शल्यप्रभृति जिन-जिन योद्धाओंको अर्जुन बहुत बड़े वीर समझते थे और जिनपर विजय प्राप्त करना आसान नहीं समझते थे, उन सबका लक्ष्य कराते हुए उन सबको अपनेद्वारा मारे हुए बतलाकर और उन्हें मारनेके लिये आज्ञा देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुमको किसीपर भी विजय प्राप्त करनेमें किसी प्रकारका भी संदेह नहीं करना चाहिये। ये सभी मेरेद्वारा मारे हुए हैं। साथ ही इस बातका भी लक्ष्य करा दिया है कि तुम जो इन गुरुजनोंको मारनेमें पापकी आशङ्का करते थे, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि क्षत्रियधर्मानुसार इन्हें मारनेके जो तुम निमित्त बनोगे, इसमें तुम्हें कोई भी पाप नहीं होगा, वरं धर्मका ही पालन होगा। अतएव उठो और इनपर विजय प्राप्त करो।

‡ इससे भगवान्‌ने अर्जुनको आश्वासन दिया है कि मेरे उग्ररूपको देखकर तुम जो इतने भयभीत और व्यथित हो रहे हो, यह ठीक नहीं है। मैं तुम्हारा प्रिय वही कृष्ण हूँ। इसलिये तुम न तो जरा भी भय करो और न संतप्त ही होओ।

§ अर्जुनके मनमें जो इस बातकी शङ्का थी कि न जाने युद्धमें हम जीतेंगे या हमारे ये शत्रु ही हमको जीतेंगे (गीता २। ६), उस शङ्काको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने ऐसा कहा है। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि युद्धमें निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी, इसलिये तुम्हें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

संजय बोले—केशव भगवान्‌के इस वचनको सुनकर टधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपता हुआ* नमस्कार के फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके† वान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोला‡ ॥ ३५ ॥

म्बन्ध—अब छत्तीसवेंसे छियालीसवें श्लोकतक अर्जुन भगवान्‌के हित नमस्कार और क्षमायाचनासहित प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित हो रहा है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षसलोग दिशाओंमें भाग रहे हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार कर रहे हैं§ ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें; क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास!× जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं+ ॥

---

१. अर्जुनके मस्तकपर देवराज इन्द्रका दिया हुआ सूर्यके समान प्रकाशमय दिव्य मुकुट सदा रहता था, इसीसे उन- एक नाम 'किरीटी' पड़ गया था।

स्वयं अर्जुनने विराटपुत्र उत्तरकुमारसे कहा है—

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः। किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥
(महा० विराट० ४४। १७)

* इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि श्रीकृष्णके उस घोर रूपको देखकर अर्जुन इतने व्याकुल हो गये कि के इस प्रकार आश्वासन देनेपर भी उनका डर दूर नहीं हुआ; इसलिये वे डरके मारे काँपते हुए ही भगवान्‌से उस संवरण करनेके लिये प्रार्थना करने लगे।

† इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्यमय स्वरूपको देखकर उस स्वरूपके प्रति अर्जुनकी सम्मान्य दृष्टि हो गयी थी और वे डरे हुए थे ही। इसीसे वे हाथ जोड़े हुए बार-बार भगवान्‌को नमस्कार और प्रणाम ते हुए उनकी स्तुति करने लगे।

‡ इसका अभिप्राय यह है कि अर्जुन जब भगवान्‌की स्तुति करने लगे, तब आश्चर्य और भयके कारण उनका पानी-पानी हो गया, नेत्रोंमें जल भर आया, कण्ठ रुक गया और इसी कारण उनकी वाणी गद्गद हो गयी। उनका उच्चारण अस्पष्ट और करुणापूर्ण हो गया।

§ भगवान्‌के द्वारा प्रदान की हुई दिव्य दृष्टिसे केवल अर्जुन ही यह सब देख रहे थे, सारा जगत् नहीं। जगत्का और अनुरक्त होना, राक्षसोंका डरकर भागना और सिद्धोंका नमस्कार करना—ये सब उस विराट् रूपके ही अङ्ग अभिप्राय यह है कि यह वर्णन अर्जुनको दिखलायी देनेवाले विराट् रूपका ही है, बाहरी जगत्का नहीं। उनको जो विराट्‌रूप दीखता था, उसीके अंदर ये सब दृश्य दिखलायी पड़ रहे थे। इसीसे अर्जुनने ऐसा कहा है।

× यहाँ 'महात्मन्', 'अनन्त', 'देवेश' और 'जगन्निवास'—इन चार सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव किया है कि आप समस्त चराचर प्राणियोंके महान् आत्मा हैं, अन्तरहित हैं—आपके रूप, गुण और प्रभाव आदिकी नहीं है; आप देवताओंके भी स्वामी हैं और समस्त जगत्के एकमात्र परमाधार हैं। यह सारा जगत् आपमें ही तथा आप इसमें व्याप्त हैं। अतएव इन सबका आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित ही है।

+ जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रको 'असत्' हैं; इन्हींको गीताके सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृति तथा पंद्रहवें अध्यायमें अक्षर और क्षर पुरुष कहा गया है। से परे परम अक्षर सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व है। अर्जुन अपने नमस्कारादिके औचित्यको सिद्ध करते हुए कह रहे हैं सब आपका ही स्वरूप है। अतएव आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्‌के परम आश्रय और जाननेवाले* तथा जानने योग्य† और परम धाम‡ हैं। हे अनन्तरूप§ ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है× ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च[1]।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः[2]
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार ! नमस्कार हो !! आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार ! नमस्कार !! ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार ! हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो;+ क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं÷ ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति और प्रणाम करके अब भगवान्‌के गुण, रहस्य और माहात्म्यको यथार्थ न जाननेके कारण वाणी और क्रियाद्वारा किये गये अपराधोंको क्षमा करनेके लिये भगवान्‌से अर्जुन प्रार्थना करते हैं—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि[3]
विहारशय्यासनभोजनेषु ।

---

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप इस भूत, वर्तमान और भविष्य समस्त जगत्‌को यथार्थ तथा पूर्णरूपसे जाननेवाले, सबके नित्य द्रष्टा हैं; इसलिये आप सर्वज्ञ हैं, आपके सदृश सर्वज्ञ कोई नहीं है (गीता ७ । २६)।

† इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जो जाननेके योग्य है, जिसको जानना मनुष्यजन्मका परम उद्देश्य है, गीताके तेरहवें अध्यायमें बारहवेंसे सतरहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय तत्त्वका वर्णन किया गया है—वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर आप ही हैं।

‡ इससे अर्जुनने यह बतलाया है कि जो मुक्त पुरुषोंकी परम गति है, जिसे प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं लौटता, वह साक्षात् परम धाम आप ही हैं (गीता ८ । २१)

§ इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके रूप असीम और अगणित हैं, उनका पार कोई पा ही नहीं सकता।

× इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि सारे विश्वके प्रत्येक परमाणुमें आप व्याप्त हैं, इसका कोई भी स्थान आपसे रहित नहीं है।

[1] इस कथनसे अर्जुनने यह दिखलाया है कि समस्त जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले कश्यप, दक्षप्रजापति तथा सबकी आदिके पिता होनेसे ब्रह्मा सबके पितामह हैं और उन ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाले आप हैं; इसलिये आप सबके प्रपितामह हैं। इसलिये भी आपको नमस्कार करना सर्वथा उचित ही है।

[2] 'सहस्रकृत्वः' पदके सहित बार-बार 'नमः' पदके प्रयोगसे यह भाव समझना चाहिये कि अर्जुन भगवान्‌के प्रति सम्मान और अपने भयके कारण हजारों बार नमस्कार करते-करते अघाते ही नहीं हैं, वे उनको नमस्कार ही करना चाहते हैं।

+ 'सर्व' नामसे सम्बोधित करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबके आत्मा, सर्वव्यापी और सर्वरूप हैं, इसलिये मैं आपको आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें—सभी ओरसे नमस्कार करता हूँ।

÷ अर्जुन इस कथनसे भगवान्‌की सर्वताको सिद्ध करते हैं। अभिप्राय यह है कि आपने इस सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रक्खा है। विश्वमें क्षुद्रसे भी क्षुद्रतम अणुमात्र भी ऐसी कोई जगह या वस्तु नहीं है, जहाँ और जिसमें आप न हों। अतएव सब कुछ आप ही हैं। वास्तवमें आपसे पृथक् जगत् कोई वस्तु ही नहीं है, यही मेरा निश्चय है।

[3] प्रेम, प्रमाद और विनोद—इन तीन कारणोंसे मनुष्य व्यवहारमें किसीके मानापमानका खयाल नहीं रखता। प्रेममें नियम नहीं रहता, प्रमादमें भूल होती है और विनोदमें वाणीकी यथार्थताका सुरक्षित रहना कठिन हो जाता है। किसी सम्मान्य पुरुषके अपमानमें ये तीनों कारण मिलकर भी हेतु हो सकते हैं और पृथक्-पृथक् भी। इनमेंसे 'प्रेम' और 'प्रमाद'—इन कारणोंके विषयमें पिछले श्लोकमें अर्जुन कह चुके हैं। यहाँ 'अवहासार्थम्' पदसे तीसरे कारण 'हँसी-मजाक' का लक्ष्य करा रहे हैं।

एकोऽथवाप्यच्युत[1] तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

आपके इस प्रभावको न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी मैंने 'हे कृष्ण !' 'हे यादव !' 'हे सखे !' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है* और हे अच्युत ! आप जो मेरे द्वारा विनोदके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं— वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ† ॥ ४१-४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

आप इस चराचर जगत्‌के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं;‡ हे अनुपम प्रभाववाले ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है ॥ ४३ ॥

तस्मात्[2] प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४॥

अतएव हे प्रभो ! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको

---

[1] अपने महत्त्व और स्वरूपसे जिसका कभी पतन न हो, उसे 'अच्युत' कहते हैं।

* इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपकी अप्रतिम और अपार महिमाको न जाननेके कारण ही मैंने आपको अपनी बराबरीका मित्र मान रक्खा था, इसीलिये मैंने बातचीतमें कभी आपके महान् गौरव और सर्वपूज्य पनका ख्याल नहीं रक्खा; अतः प्रेम या प्रमादसे मेरे द्वारा निश्चय ही बड़ी भूल हुई। बड़े-से-बड़े देवता और महर्षिगण जिन आपके चरणोंकी वन्दना करना अपना सौभाग्य समझते हैं, मैंने उन आपके साथ बराबरीका बर्ताव किया।

प्रभो ! कहाँ आप और कहाँ मैं ! मैं इतना मूढ़मति हो गया कि आप परम पूजनीय परमेश्वरको मैं अपना मित्र ही मानता रहा और किसी भी आदरसूचक विशेषणका प्रयोग न करके सदा बिना सोचे-समझे 'कृष्ण', 'यादव' और 'सखे' आदि कहकर आपको तिरस्कारपूर्वक पुकारता रहा।

† यहाँ अर्जुन कह रहे हैं कि प्रभो ! आपका स्वरूप और महत्त्व अचिन्त्य है। उसको पूर्णरूपसे तो कोई भी नहीं जान सकता। किसीको उसका थोड़ा-बहुत ज्ञान होता है तो वह आपकी कृपासे ही होता है। यह आपके परम अनुग्रहका ही फल है कि मैं—जो पहले आपके प्रभावको नहीं जानता था और इसीलिये आपका अनादर किया करता था—अब आपके प्रभावको कुछ-कुछ जान सका हूँ। अवश्य ही ऐसी बात नहीं है कि मैंने आपका सारा प्रभाव जान लिया है; सारा जाननेकी बात तो दूर रही—मैं तो अभी उतना भी नहीं समझ पाया हूँ, जितना आपकी दया मुझे समझा देना चाहती है। परंतु जो कुछ समझा हूँ, उसीसे मुझे यह भलीभाँति मालूम हो गया है कि आप सर्वशक्तिमान् साक्षात् परमेश्वर हैं। मैंने जो आपको अपनी बराबरीका मित्र मानकर आपसे जैसा बर्ताव किया, उसे मैं अपराध मानता हूँ और ऐसे समस्त अपराधोंके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।

‡ इस कथनसे अर्जुनने अपराध क्षमा करनेके औचित्यका प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं—'भगवन् ! यह चराचर जगत् आपहीसे उत्पन्न है, अतएव आप ही इसके पिता हैं; संसारमें जितने भी बड़े-बड़े देवता, महर्षि और अन्यान्य समर्थ पुरुष हैं, उन सबमें सबकी अपेक्षा बड़े ब्रह्माजी हैं; क्योंकि सबसे पहले उन्हींका प्रादुर्भाव होता है और वे ही इसको नित्य ज्ञानके द्वारा सबको यथायोग्य शिक्षा देते हैं, परंतु हे प्रभो ! वे ब्रह्माजी भी आपहीसे उत्पन्न होते हैं और उनको वह ज्ञान भी आपहीसे मिलता है। अतएव हे सर्वेश्वर ! सबसे बड़े, सब बड़ोंसे बड़े और सबके एकमात्र महान् गुरु आप ही हैं। समस्त जगत् जिन देवताओंकी और महर्षियोंकी पूजा करता है, उन देवताओंके और महर्षियोंके भी परम पूज्य तथा नित्य वन्दनीय ब्रह्मा आदि देवता और वसिष्ठादि महर्षि यदि क्षणभरके लिये आपके प्रत्यक्ष पूजन या स्तवनका सुअवसर पा जाते हैं तो अपनेको महान् भाग्यवान् समझते हैं। अतएव सब पूजनीयोंके भी परम पूजनीय आप ही हैं, इसलिये मुझ क्षुद्रके अपराधोंको क्षमा करना आपके लिये सभी प्रकारसे उचित है।

[2] 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके अर्जुन यह कह रहे हैं कि आप इस प्रकारके महत्त्व और प्रभावसे युक्त हैं, अतएव मुझ-जैसे दीन शरणागतपर दया करके प्रसन्न होना तो, मैं समझता हूँ, आपका स्वभाव ही है।

प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ*। हे देव ! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं† ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान्‌से अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करके अब अर्जुन दो श्लोकोंमें भगवान्‌से चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है,‡ इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णु-रूपको ही मुझे दिखलाइये। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ,§ इसलिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये× ॥ ४६॥

---

* जो सबका नियमन करनेवाले स्वामी हों, उन्हें 'ईश' कहते हैं और जो स्तुतिके योग्य हों, उन्हें 'ईड्य' कहते हैं। इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि हे प्रभो ! इस समस्त जगत्‌का नियमन करनेवाले यहाँतक कि इन्द्र, आदित्य, वरुण, कुबेर और यमराज आदि लोकनियन्ता देवताओंको भी अपने नियममें रखनेवाले आप—सबके एकमात्र महेश्वर हैं और आपके गुणगौरव तथा महत्त्वका इतना विस्तार है कि सारा जगत् सदा-सर्वदा आपका स्तवन करता रहे तब भी उसका पार नहीं पा सकता; इसलिये आप ही वस्तुतः स्तुतिके योग्य हैं। मुझमें न तो इतना ज्ञान है और न वाणीमें ही बल है कि जिससे मैं स्तवन करके आपको प्रसन्न कर सकूँ। मैं अबोध भला आपका क्या स्तवन करूँ ! मैं आपका प्रभाव बतलानेमें जो कुछ भी कहूँगा वह वास्तवमें आपके प्रभावकी छायाको भी न छू सकेगा; इसलिये वह आपके प्रभावको घटानेवाला ही होगा। अतः मैं तो बस, इस शरीरको ही लकड़ीकी भाँति आपके चरणप्रान्तमें लुटाकर—समस्त अङ्गोंके द्वारा आपको प्रणाम करके आपकी चरणधूलिके प्रसादसे ही आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना चाहता हूँ। आप कृपा करके मेरे सब अपराधोंको भुला दीजिये और मुझ दीनपर प्रसन्न हो जाइये।

† यहाँ अर्जुन यह प्रार्थना कर रहे हैं कि जैसे अज्ञानमें प्रमादवश किये हुए पुत्रके अपराधोंको पिता क्षमा करता है, हँसी-मजाकमें किये हुए मित्रके अपराधोंको मित्र सहता है और प्रेमवश किये हुए प्रियतमा पत्नीके अपराधोंको पति क्षमा करता है— वैसे ही मेरे तीनों ही कारणोंसे बने हुए समस्त अपराधोंको आप क्षमा कीजिये।

१. इससे अर्जुनने यह भाव व्यक्त किया है कि आपका जो वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला देवरूप अर्थात् विष्णु-रूप है, मुझको उसी चतुर्भुजरूपके दर्शन करवाइये। यहाँ केवल 'तत्' का प्रयोग होनेसे तो यह बात भी मानी जा सकती थी कि भगवान्‌का जो मनुष्यावतारका रूप है, उसीको दिखलानेके लिये अर्जुन प्रार्थना कर रहे हैं; किंतु रूपके साथ 'देव' पद रहनेसे वह स्पष्ट ही मानुषरूपसे भिन्न देवसम्बन्धी रूपका वाचक हो जाता है।

‡ अर्जुनने इससे यह भाव दिखलाया है कि आपके इस अलौकिक रूपमें जब मैं आपके गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यकी ओर देखकर विचार करता हूँ तब तो मुझे बड़ा भारी हर्ष होता है कि 'अहो ! मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली हूँ, जो साक्षात् परमेश्वरकी मुझ तुच्छपर इतनी अनन्त दया और ऐसा अनोखा प्रेम है कि जिससे वे कृपा करके मुझको अपना यह अलौकिक रूप दिखला रहे हैं; परंतु इसीके साथ जब आपकी भयावनी विकराल मूर्तिकी ओर मेरी दृष्टि जाती है, तब मेरा मन भयसे काँप उठता है और मैं अत्यन्त व्याकुल हो जाता हूँ।

२. अर्जुनको भगवान् जो हजारों हाथोंवाले विराट्‌स्वरूपसे दर्शन दे रहे हैं, उस रूपको समेटकर चतुर्भुजरूप होनेके लिये अर्जुन 'सहस्रबाहो' 'विश्वमूर्ते'—इन नामोंसे सम्बोधन करके भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हैं।

§ महाभारत-युद्धमें भगवान्‌ने शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी और अर्जुनके रथपर वे अपने हाथोंमें चाबुक और घोड़ोंकी लगाम थामे विराजमान थे; परंतु इस समय अर्जुन भगवान्‌के इस द्विभुज रूपको देखनेसे पहले उस चतुर्भुज रूपको देखना चाहते हैं, जिसके हाथोंमें गदा और चक्रादि हैं।

×(१) यदि चतुर्भुज रूप श्रीकृष्णका स्वाभाविक रूप होता तो फिर 'गदिनम्' और 'चक्रहस्तम्' कहनेकी कोई

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थनापर अब अगले दो श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपकी महिमा और दुर्लभताका वर्णन करते हुए उनचासवें श्लोकमें अर्जुनको आश्वासन देकर चतुर्भुजरूप देखनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे* यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने पहले नहीं देखा था† ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

आवश्यकता न थी, क्योंकि अर्जुन उस रूपको सदा देखते ही थे। वरं 'चतुर्भुज' कहना भी निष्प्रयोजन था; अर्जुनका इतना ही कहना पर्याप्त होता कि मैं अभी कुछ देर पहले जो रूप देख रहा था, वही दिखलाइये।

(२) पिछले श्लोकमें 'देवरूपम्' पद आया है, जो आगे इक्यावनवें श्लोकमें आये हुए 'मानुषं रूपम्' से सर्वथा विलक्षण अर्थ रखता है; इससे भी सिद्ध है कि देवरूपसे श्रीविष्णुका ही कथन किया गया है।

(३) आगे पचासवें श्लोकमें आये हुए 'स्वकं रूपम्' के साथ 'भूयः' और 'सौम्यवपुः' के साथ 'पुनः' पद आनेसे भी यहाँ पहले चतुर्भुज और फिर द्विभुज मानुषरूप दिखलाया जाना सिद्ध होता है।

(४) आगे बावनवें श्लोकमें 'सुदुर्दर्शम्' पदसे यह दिखलाया गया है कि यह रूप अत्यन्त दुर्लभ है और फिर कहा गया है कि देवता भी इस रूपको देखनेकी नित्य आकांक्षा करते हैं। यदि श्रीकृष्णका चतुर्भुज रूप स्वाभाविक था, तब तो वह रूप मनुष्योंको भी दीखता था; फिर देवता उसकी सदा आकांक्षा क्यों करने लगे? यदि यह कहा जाय कि विश्वरूपके लिये ऐसा कहा गया है तो ऐसे घोर विश्वरूपकी देवताओंको कल्पना भी क्यों होने लगी, जिसकी दाढ़ोंमें भीष्म-द्रोणादि चूर्ण हो रहे हैं। अतएव यही प्रतीत होता है कि देवतागण वैकुण्ठवासी श्रीविष्णुरूपके दर्शनकी ही आकांक्षा करते हैं।

(५) विराट् स्वरूपकी महिमा आगे अड़तालीसवें श्लोकमें 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' इत्यादिके द्वारा गायी गयी, फिर तिरपनवें श्लोकमें 'नाहं वेदैर्न तपसा' आदिमें पुनः वैसी ही बात आती है। यदि दोनों जगह एक ही विराट् रूपकी महिमा है तो इसमें पुनरुक्तिदोष आता है; इससे भी सिद्ध है कि मानुषरूप दिखलानेके पहले भगवान्‌ने अर्जुनको चतुर्भुज देवरूप दिखलाया और उसीकी महिमामें तिरपनवाँ श्लोक कहा गया।

(६) इसी अध्यायके चौबीसवें और तीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने 'विष्णो' पदसे भगवान्‌को सम्बोधित भी किया है। इससे भी उनके विष्णुरूप देखनेकी आकांक्षा प्रतीत होती है।

इन हेतुओंसे यही सिद्ध होता है कि यहाँ अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे चतुर्भुज विष्णुरूप दिखलानेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

---

* इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे इस विराट् रूपके दर्शन सब समय और सबको नहीं हो सकते। जिस समय मैं अपनी योगशक्तिसे इसके दर्शन कराता हूँ, उसी समय होते हैं। वह भी उसीको होते हैं, जिसको दिव्य दृष्टि मिली हो, दूसरेको नहीं। अतएव इस रूपका दर्शन प्राप्त करना बड़े सौभाग्यकी बात है।

† यद्यपि यशोदा माताको अपने मुखमें और भीष्मादि वीरोंको कौरवोंकी सभामें विराट् रूपोंके दर्शन कराये हैं, परंतु उनमें और अर्जुनको दीखनेवाले इस विराट् रूपमें बहुत अन्तर है। तीनोंके भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। अर्जुनको भगवान्‌ने जिस रूपके दर्शन कराये, उसमें भीष्म और द्रोण आदि शूरवीर भगवान्‌के प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करते दीख पड़ते थे। ऐसा विराट् रूप भगवान्‌ने पहले कभी किसीको नहीं दिखलाया था।

१. वेद-यज्ञादिके अध्ययन, दान, तप तथा अन्यान्य विभिन्न प्रकारकी क्रियाओंका अधिकार मनुष्यलोकमें ही है और मनुष्यशरीरमें ही जीव भिन्न-भिन्न प्रकारके नवीन कर्म करके भाँति-भाँतिके अधिकार प्राप्त करता है। अन्यान्य सब लोक तो प्रधानतया भोगस्थान ही हैं। मनुष्यलोकके इसी महत्त्वको समझानेके लिये यहाँ 'नृलोके' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि जब मनुष्यलोकमें भी उपर्युक्त साधनोंद्वारा दूसरा कोई भगवान्‌के इस रूपको नहीं देख सकता, तब अन्यान्य लोकोंमें और बिना किसी साधनके कोई नहीं देख सकता—इसमें तो कहना ही क्या है?

हे अर्जुन ! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ* ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये । तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख ।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय बोले—वासुदेव† भगवान्ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूपको दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया‡ ॥ ५० ॥

---

* वेदवेत्ता अधिकारी आचार्यके द्वारा अङ्ग-उपाङ्गोंसहित वेदोंको पढ़कर उन्हें भलीभाँति समझ लेनेका नाम 'वेदाध्ययन' है । यज्ञ-क्रियामें सुनिपुण याज्ञिक पुरुषोंकी सेवामें रहकर उनके द्वारा यज्ञविधियोंको पढ़ना और उन्हींकी अध्यक्षतामें विधिवत् किये जानेवाले यज्ञोंको प्रत्यक्ष देखकर यज्ञसम्बन्धी समस्त क्रियाओंको भलीभाँति जान लेना 'यज्ञ-अध्ययन' है ।

धन, सम्पत्ति, अन्न, जल, विद्या, गौ, पृथ्वी आदि किसी भी अपने स्वत्वकी वस्तुका दूसरोंके सुख और हितके लिये प्रसन्न हृदयसे जो उन्हें यथायोग्य दे देना है—इसका नाम 'दान' है ।

श्रौत-स्मार्त यज्ञादिका अनुष्ठान और अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेके लिये किये जानेवाले समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको 'क्रिया' कहते हैं ।

कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत, विभिन्न प्रकारके कठोर नियमोंका पालन, मन और इन्द्रियोंका विवेक और बलपूर्वक दमन तथा धर्मके लिये शारीरिक या मानसिक कठिन क्लेशोंका सहन, अथवा शास्त्रविधिके अनुसार की जानेवाली अन्य विभिन्न प्रकारकी तपस्याएँ—इन्हीं सबका नाम 'उग्र तप' है ।

इन सब साधनोंके द्वारा भी अपने विराट् स्वरूपके दर्शनको असम्भव बतलाकर भगवान् उस रूपकी महत्ता प्रकट करते हुए यह कह रहे हैं कि इस प्रकारके महान् प्रयत्नोंसे भी जिसके दर्शन नहीं हो सकते, उसी रूपको तुम मेरी प्रसन्नता और कृपाके प्रसादसे प्रत्यक्ष देख रहे हो—यह तुम्हारा महान् सौभाग्य है । इस समय तुम्हें जो भय, दुःख और मोह हो रहा है—यह उचित नहीं है ।

१. 'स्वकं रूपम्'का अर्थ है अपना निजी रूप । वैसे तो विश्वरूप भी भगवान् श्रीकृष्णका ही है और वह भी उनका स्वकीय ही है तथा भगवान् जिस मानुषरूपमें सबके सामने प्रकट रहते थे—वह श्रीकृष्णरूप भी उनका स्वकीय ही है; किंतु यहाँ 'रूपम्'के साथ 'स्वकम्' विशेषण देनेका अभिप्राय उक्त दोनोंसे भिन्न किसी तीसरे ही रूपका लक्ष्य करानेके लिये होना चाहिये; क्योंकि विश्वरूप तो अर्जुनके सामने प्रस्तुत था ही, उसे देखकर तो वे भयभीत हो रहे थे; अतएव उसे दिखलाने की तो यहाँ कल्पना भी नहीं की जा सकती और मानुषरूपके लिये यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि उसे भगवान्ने दिखलाया (दर्शयामास); क्योंकि विश्वरूपको हटा लेनेके बाद भगवान्का जो स्वाभाविक मनुष्यावतारका रूप है, वह तो ज्यों का-त्यों अर्जुनके सामने रहता ही; उसमें दिखलानेकी क्या बात थी, उसे तो अर्जुन स्वयं ही देख लेते । अतएव यहाँ 'स्वकम्' विशेषण और 'दर्शयामास' क्रियाके प्रयोगसे यही भाव प्रतीत होता है कि नरलीलाके लिये प्रकट किये हुए सबके सम्मुख रहनेवाले मानुषरूपसे और अपनी योगशक्तिसे प्रकट करके दिखलाये हुए विश्वरूपसे भिन्न जो नित्य वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला भगवान्का दिव्य चतुर्भुज निजी रूप है—उसीको देखनेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी और वही रूप भगवान्ने उनको दिखलाया ।

† भगवान् श्रीकृष्ण महाराज वसुदेवजीके पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं और आत्मरूपसे सबमें निवास करते हैं, इसलिये उनका नाम 'वासुदेव' है ।

‡ जिनका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् हो, उन्हें महात्मा कहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मरूप हैं, इसलिये वे महात्मा हैं । कहनेका अभिप्राय यह है कि अर्जुनको अपने चतुर्भुज रूपका दर्शन करानेके पश्चात् महात्मा श्रीकृष्णने सौम्य अर्थात् परम शान्त श्यामसुन्दर मानुषरूपसे युक्त होकर भयसे व्याकुल हुए अर्जुनको धैर्य दिया ।

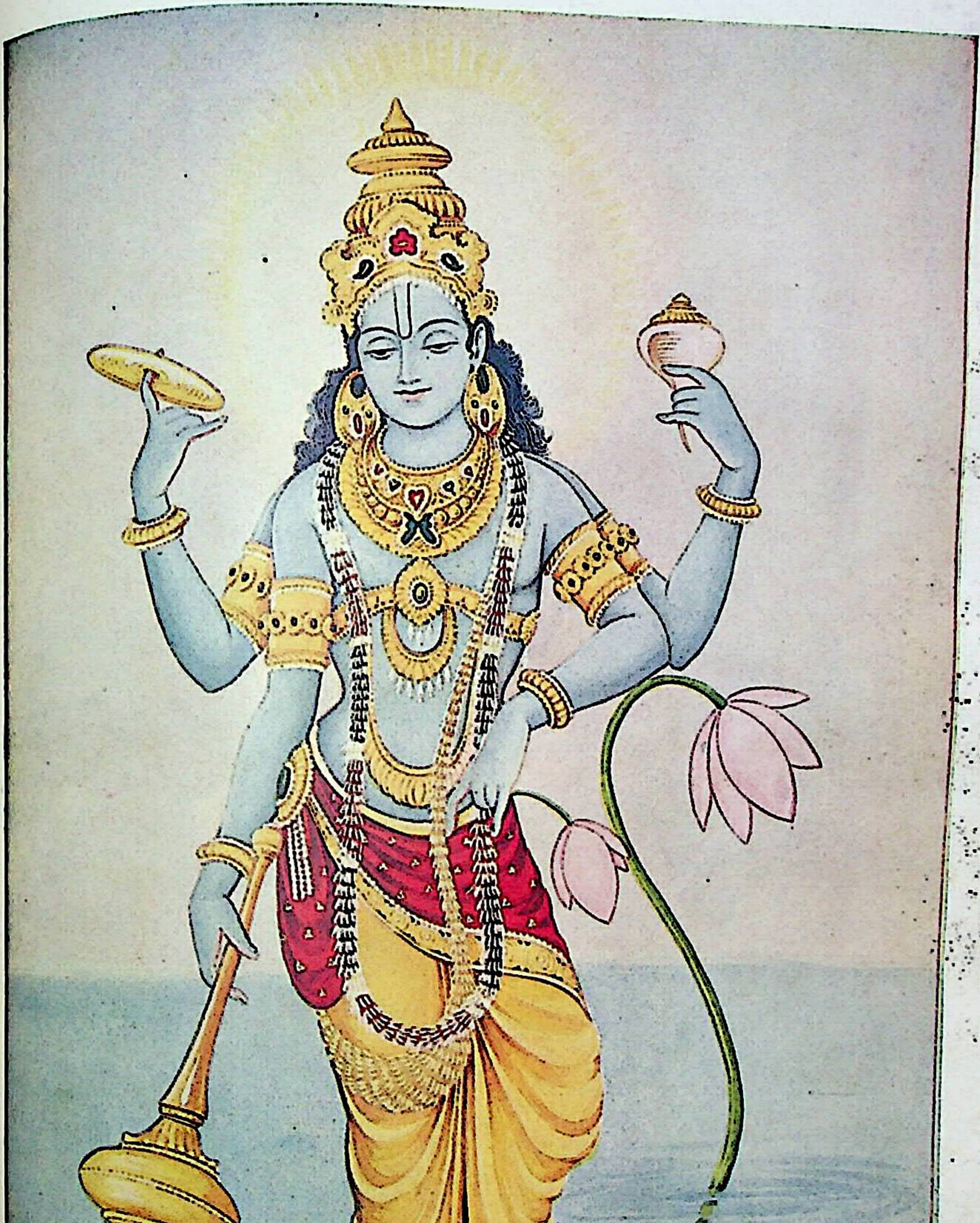

भगवान् विष्णु

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने विश्वरूपको संवरण करके चतुर्भुजरूपके दर्शन देनेके पश्चात् जब स्वाभाविक मानुषरूपसे युक्त होकर अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन स्वस्थ होकर कहने लगे—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं[1] जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ*॥ ५१॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके वचन सुनकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अपने चतुर्भुज देवरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महिमाका वर्णन करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

श्रीभगवान् बोले—मेरा जो चतुर्भुज रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते रहते हैं॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुज-रूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ†॥ ५३॥

सम्बन्ध—यदि उपर्युक्त उपायोंसे आपके दर्शन नहीं हो सकते तो किस उपायसे हो सकते हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ ५४॥

परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये‡, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ॥ ५४॥

---

१. भगवान्का जो मानुषरूप था, वह बहुत ही मधुर, सुन्दर और शान्त था तथा पिछले श्लोकमें जो भगवान्के सौम्यवपु हो जानेकी बात कही गयी है, वह भी मानुषरूपको लक्ष्य करके ही कही गयी है—इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'रूपम्' के साथ 'सौम्यम्' और 'मानुषम्' इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग किया गया है।

* इससे अर्जुनने यह बतलाया कि मेरा मोह, भ्रम और भय दूर हो गया और मैं अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ। अर्थात् भय और व्याकुलता एवं कम्प आदि जो अनेक प्रकारके विकार मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरमें उत्पन्न हो गये थे, उन सबके दूर हो जानेसे अब मैं पूर्ववत् स्वस्थ हो गया हूँ।

२. 'सुदुर्दर्शम्' विशेषण देकर भगवान्ने अपने चतुर्भुज दिव्यरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महत्ता दिखलायी है तथा 'इदम्' पद निकटवर्ती वस्तुका निर्देश करानेवाला होनेसे इसके द्वारा विश्वरूपके पश्चात् दिखलाये जानेवाले चतुर्भुज रूपका संकेत किया गया है। इससे भगवान् यह बतला रहे हैं कि मेरे जिस चतुर्भुज, मायातीत, दिव्य गुणोंसे युक्त नित्यरूपके तुमने दर्शन किये हैं, उस रूपके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं; इसके दर्शन उसीको हो सकते हैं, जो अनन्य भक्त होता है और जिसपर मेरी कृपाका पूर्ण प्रकाश हो जाता है।

† गीताके नवम अध्यायके सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें यह कहा गया है कि तुम जो कुछ यज्ञ करते हो, दान देते हो और तप करते हो—सब मेरे अर्पण कर दो; ऐसा करनेसे तुम सब कर्मोंसे मुक्त हो जाओगे और मुझे प्राप्त हो जाओगे। तथा गीताके सतरहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ फलकी इच्छा छोड़कर की जाती हैं; इससे यह भाव निकलता है कि यज्ञ, दान और तप मुक्तिमें और भगवान्की प्राप्तिमें अवश्य ही हेतु हैं, किंतु इस श्लोकमें भगवान्ने यह बात कही है कि मेरे चतुर्भुज रूपके दर्शन न तो वेदोंके अध्ययनाध्यापनसे ही हो सकते हैं और न तप, दान और यज्ञसे ही।

पर इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है, क्योंकि कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना अनन्यभक्तिका एक अङ्ग है। इसी अध्यायके पचपनवें श्लोकमें अनन्य भक्तिका वर्णन करते हुए भगवान्ने स्वयं 'मत्कर्मकृत्' (मेरे लिये कर्म करनेवाला) पदका प्रयोग किया है और चौवनवें श्लोकमें यह स्पष्ट घोषणा की है कि अनन्य भक्तिके द्वारा मेरे इस स्वरूपको देखना, जानना और प्राप्त करना सम्भव है। अतएव यहाँ यह समझना चाहिये कि निष्कामभावसे भगवदर्थ और भगवदर्पणबुद्धिसे किये हुए यज्ञ, दान और तप आदि कर्म भक्तिके अङ्ग होनेके कारण भगवान्की प्राप्ति में हेतु हैं—सकामभावसे किये जाने-वाले नहीं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त यज्ञादि क्रियाएँ भगवान्का दर्शन करानेमें स्वभावसे समर्थ नहीं हैं। भगवान्के दर्शन तो प्रेमपूर्वक भगवान्के शरण होकर निष्कामभावसे कर्म करनेपर भगवत्कृपासे ही होते हैं।

‡ भगवान्में ही अनन्य प्रेम हो जाना तथा अपने मन, इन्द्रिय और शरीर एवं धन, जन आदि सर्वस्वको भगवान्के

सम्बन्ध—अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्को देखना, जानना और एकीभावसे प्राप्त करना सुलभ बतलाया जानेके कारण अनन्य भक्तिका स्वरूप जाननेकी आकाङ्क्षा होनेपर अब अनन्य भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है—

मत्कर्मकृ[1]न्मत्परमो[2] मद्भक्तः[3] सङ्गवर्जितः[4] ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु[5] यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्र होता है* ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ भीष्मपर्वणि तु पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥ भीष्मपर्वमें पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

समझकर भगवान्के लिये भगवान्की ही सेवामें सदाके लिये लगा देना—यही अनन्य भक्ति है। इस अनन्य भक्तिको ही भगवान्के देखे जाने आदिमें हेतु बतलाया गया है।

यद्यपि सांख्ययोगके द्वारा भी निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है और वह सर्वथा सत्य है, परंतु सांख्ययोगके द्वारा सगुण-साकार भगवान्के दिव्य चतुर्भुज रूपके भी दर्शन हो जायँ, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सांख्ययोगके द्वारा साकाररूपमें दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं। यहाँ प्रकरण भी सगुण भगवान्के दर्शनका ही है। अतएव यहाँ केवल अनन्य भक्तिको ही भगवद्दर्शन आदिमें हेतु बतलाना उचित ही है।

१. जो मनुष्य स्वार्थ, ममता और आसक्तिको छोड़कर, सब कुछ भगवान्का समझकर, अपनेको केवल निमित्त मात्र मानता हुआ यज्ञ, दान, तप और खान-पान, व्यवहार आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निष्कामभावसे भगवान्की ही प्रसन्नताके लिये भगवान्के आज्ञानुसार करता है—वह 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् भगवान्के लिये भगवान्के कर्मोंको करनेवाला है।

२. जो भगवान्को ही परम आश्रय, परम गति, एकमात्र शरण लेने योग्य, सर्वोत्तम, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद्, परम आत्मीय और अपने सर्वस्व समझता है तथा उनके किये हुए प्रत्येक विधानमें सदा सुप्रसन्न रहता है—वह 'मत्परमः' अर्थात् भगवान्के परायण है।

३. भगवान्में अनन्यप्रेम हो जानेके कारण जो भगवान्में ही तन्मय होकर नित्य-निरन्तर भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीला आदिका श्रवण, कीर्तन और मनन आदि करता रहता है; इनके बिना जिसे क्षणभर भी चैन नहीं पड़ती और जो भगवान्के दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ निरन्तर लालायित रहता है—वह 'मद्भक्तः' अर्थात् भगवान्का भक्त है।

४. शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन, कुटुम्ब तथा मान-बड़ाई आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग्य पदार्थ हैं, उन सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंमें जिसकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं रह गयी है; भगवान्को छोड़कर जिसका किंचित् भी प्रेम नहीं है—वह 'सङ्गवर्जितः' अर्थात् आसक्तिरहित है।

५. समस्त प्राणियोंको भगवान्का ही स्वरूप समझने अथवा सबमें एकमात्र भगवान्को व्याप्त समझनेके कारण किसीके द्वारा कितना भी विपरीत व्यवहार किया जानेपर भी जिसके मनमें विकार नहीं होता तथा जिसका किसी भी प्राणीमें किंचिन्मात्र भी द्वेष या वैरभाव नहीं रह गया है—वह 'सर्वभूतेषु निर्वैरः' अर्थात् समस्त प्राणियोंमें वैर-भावसे रहित है।

* इस कथनका भाव पिछले चौवनवें श्लोकके अनुसार सगुण भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेना, उनको भली भाँति तत्त्वसे जान लेना और उनमें प्रवेश कर जाना है।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशोऽध्यायः)

साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय तथा भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं भगवत्प्राप्तिवाले पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके दूसरे अध्यायसे लेकर छठे अध्यायतक भगवान्ने जगह-जगह निर्गुण ब्रह्मकी और सगुण परमेश्वरकी उपासनाकी प्रशंसा की है। सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक तो विशेषरूपसे सगुण भगवान्की उपासनाका महत्त्व दिखलाया है। इसीके साथ पाँचवें अध्यायमें सतरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक, छठे अध्यायमें चौबीसवेंसे उन्तीसवेंतक, आठवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक तथा इसके सिवा और भी कितनी ही जगह निर्गुणकी उपासनाका महत्त्व भी दिखलाया है। आखिर ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें सगुण-साकार भगवान्की अनन्यभक्तिका फल भगवत्प्राप्ति बतलाकर 'मत्कर्मकृत्' से आरम्भ होनेवाले इस अन्तिम श्लोकमें सगुण-साकार-स्वरूप भगवान्के भक्तकी विशेषरूपसे बड़ाई की। इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण-साकार भगवान्की उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकोंमें उत्तम उपासक कौन है—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।*
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं[1] तेषां के योगवित्तमाः॥ १ ॥

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया[2] परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं,† वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं॥ २॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें सगुण-साकार परमेश्वरके उपासकोंको उत्तम योगवेत्ता बतलाया, इसपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि तो क्या निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासक उत्तम योगवेत्ता नहीं हैं; इसपर कहते हैं—

---

* 'त्वाम्' पद यद्यपि यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है, तथापि भिन्न-भिन्न अवतारोंमें भगवान्ने जितने सगुण रूप धारण किये हैं एवं दिव्य धाममें जो भगवान्का सगुण रूप विराजमान है—जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे बतलाते हैं—यहाँ 'त्वाम्' पदको उन सभीका वाचक मानना चाहिये; क्योंकि वे सभी भगवान् श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। उन सगुण भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते हुए परम श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे जो समस्त इन्द्रियोंको उनकी सेवामें लगा देना है, यही निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उनकी श्रेष्ठ उपासना करना है।

[1] 'अक्षरम्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। यद्यपि जीवात्माको भी अक्षर और अव्यक्त कहा जा सकता है, पर अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय उसकी उपासनासे नहीं है; क्योंकि उसके उपासकका सगुण भगवान्के उपासकसे उत्तम होना सम्भव नहीं है और पूर्व प्रसङ्गमें कहीं उसकी उपासनाका भगवान्ने विधान भी नहीं किया है।

[2] भगवान्की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनकी शक्तिमें, उनके गुण, प्रभाव, लीला और ऐश्वर्य आदिमें अत्यन्त सम्मानपूर्वक जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है—वही अतिशय श्रद्धा है और भक्त प्रह्लादकी भाँति सब प्रकारसे भगवान्पर निर्भर हो जाना ही उपर्युक्त श्रद्धासे युक्त होना है।

† गोपियोंकी भाँति समस्त कर्म करते समय परम प्रेमास्पद, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण गुणोंके समुद्र भगवान्में मनको तन्मय करके उनके गुण, प्रभाव और स्वरूपका सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहना ही मनको एकाग्र करके निरन्तर उनके ध्यानमें स्थित रहते हुए उनको भजना है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥ (१०।४४।१५)

ये त्वक्षरमनिर्देश्य[1]मव्यक्तं[2] पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं[3] ध्रुवम्[4] ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः[5] ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे (अभिन्नभावसे) ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत* और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं† ॥ ३-४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार निर्गुण-उपासना और उसके फलका प्रतिपादन करनेके पश्चात् अब देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त ब्रह्मकी प्राप्तिको कठिन बतलाते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है,‡ क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है§ ॥ ५ ॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं ।'

[1] जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता हो—किसी भी युक्ति या उपमासे जिसका स्वरूप समझाया या बतलाया नहीं जा सकता हो, उसे 'अनिर्देश्य' कहते हैं ।

[2] जो किसी भी इन्द्रियका विषय न हो अर्थात् जो इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें न आ सके, जिसका कोई रूप या आकृति न हो, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं ।

[3] जो हलन-चलनकी क्रियासे सर्वथा रहित हो, उसे 'अचल' कहते हैं ।

[4] जो नित्य और निश्चित हो—जिसकी सत्तामें किसी प्रकारका संशय न हो और जिसका कभी अभाव न हो, उसे 'ध्रुव' कहते हैं ।

[5] इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना करनेवालोंकी कहीं भेदबुद्धि नहीं रहती । समस्त जगत्‌में एक ब्रह्मसे भिन्न किसीकी सत्ता न रहनेके कारण उनकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है।

* जिस प्रकार अविवेकी मनुष्य अपने हितमें रत रहता है, उसी प्रकार उन निर्गुण-उपासकोंका सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव हो जानेके कारण वे समानभावसे सबके हितमें रत रहते हैं ।

† इस कथनसे भगवान्‌ने ब्रह्मको अपनेसे अभिन्न बतलाते हुए यह कहा है कि उपर्युक्त उपासनाका फल जो निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति है, वह मेरी ही प्राप्ति है; क्योंकि ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है और मैं ब्रह्मसे भिन्न नहीं हूँ । वह ब्रह्म मैं ही हूँ; यही भाव भगवान्‌ने गीताके चौदहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' अर्थात् मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ—इस कथनसे दिखलाया है ।

‡ पूर्व श्लोकोंमें जिन निर्गुण-उपासकोंका वर्णन है, उन निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें आसक्त-चित्तवाले पुरुषोंको परिश्रम विशेष है, यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व बड़ा ही गहन है; जिसकी बुद्धि शुद्ध, स्थिर और सूक्ष्म होती है, जिसका शरीरमें अभिमान नहीं होता, वही उसे समझ सकता है; साधारण मनुष्योंकी समझमें यह नहीं आता। इसलिये निर्गुण उपासनाके साधनके आरम्भकालमें परिश्रम अधिक होता है।

§ उपर्युक्त कथनसे भगवान्‌ने पूर्वार्द्धमें बतलाये हुए परिश्रमका हेतु दिखलाया है । अभिप्राय यह है कि देहमें अभिमान रहते निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व समझमें आना बहुत कठिन है । इसलिये जिनका शरीरमें अभिमान है, उनको वैसी स्थिति बड़े परिश्रमसे प्राप्त होती है ।

किंतु जो गीताके छठे अध्यायके चौबीसवेंसे सत्ताईसवें श्लोकतक निर्गुण-उपासनाका प्रकार बतलाकर अट्ठाईसवें श्लोकमें उस प्रकारका साधन करते-करते सुखपूर्वक परमात्मप्राप्तिरूप अत्यन्तानन्दका लाभ होना बतलाया है, वह कथन जिसके समस्त पाप तथा रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं, जो 'ब्रह्मभूत' हो गया है अर्थात् जो ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित हो गया है—ऐसे पुरुषके लिये है; देहाभिमानियोंके लिये नहीं ।

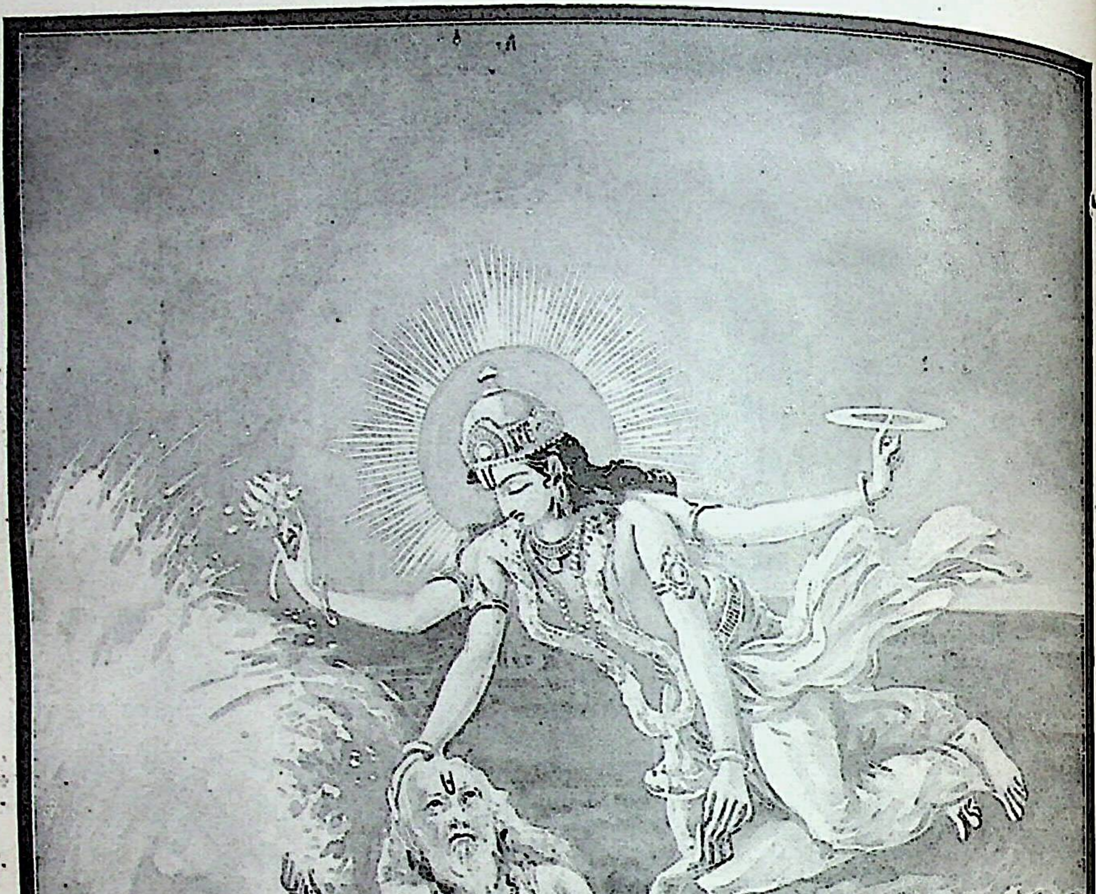

भगवान्‌के द्वारा भक्तका संसारसागरसे उद्धार

जिसक
े स्थित हो रा

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले* भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके† मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्यभक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं‡ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ§ ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार पूर्वश्लोकोंमें निर्गुण-उपासनाकी अपेक्षा सगुण-उपासनाकी सुगमताका प्रतिपादन किया गया । इसलिये अब भगवान् अर्जुनको उसी प्रकार मन-बुद्धि लगाकर सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा देते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा,× इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥

---

* भाँति-भाँतिके दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति भगवान्पर निर्भर और निर्विकार रहना, उन दुःखोंको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सुखरूप ही समझना तथा भगवान्को ही परम प्रेमी, परम गति, परम सुहृद् और सब प्रकारसे शरण लेनेयोग्य समझकर अपने आपको भगवान्के समर्पण कर देना—यही भगवान्के परायण होना है ।

† कर्मोंके करनेमें अपनेको पराधीन समझकर भगवान्की आज्ञा और संकेतके अनुसार समस्त शास्त्रानुकूल कर्म करते हुए उन कर्मोंमें न तो ममता और आसक्ति रखना और न उनके फलसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना; प्रत्येक क्रियामें ऐसा ही भाव रखना कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ, मेरी कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मुझसे कठपुतलीकी भाँति समस्त कर्म करवा रहे हैं—यही समस्त कर्मोंका भगवान्के समर्पण करना है ।

‡ एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर जो भगवान्में स्वार्थरहित तथा अत्यन्त श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना है—जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है; जो सर्वथा पूर्ण और अटल है; जिसका किंचित् अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्की विस्मृति असह्य हो जाती है—उस अनन्य प्रेमको 'अनन्य भक्तियोग' कहते हैं और ऐसे भक्तियोगद्वारा निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते हुए जो उनके गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन, उनके नामोंका उच्चारण और जप आदि करना है—यही अनन्य भक्तियोगके द्वारा भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको भजना है ।

§ इस संसारमें सभी कुछ मृत्युमय है; इसमें पैदा होनेवाली एक भी चीज ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मृत्युके आक्रमणसे बचती हो । जैसे समुद्रमें असंख्य लहरें उठती रहती हैं, वैसे ही इस अपार संसार-सागरमें अनवरत जन्म-मृत्युरूपी तरंगे उठा करती हैं । समुद्रकी लहरोंकी गणना चाहे हो जाय; पर जबतक परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक भविष्यमें जीवको कितनी बार जन्मना और मरना पड़ेगा—इसकी गणना नहीं हो सकती । इसीलिये इसको 'मृत्युरूप संसार-सागर' कहते हैं ।

जो भक्त मन-बुद्धिको भगवान्में लगाकर निरन्तर भगवान्की उपासना करते हैं, उनको भगवान् तत्काल ही जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छुड़ाकर अपनी प्राप्ति यहीं करा देते हैं अथवा मरनेके बाद अपने परम धाममें ले जाते हैं—अर्थात् जैसे केवट किसीको नौकामें बैठाकर नदीसे पार कर देता है, वैसे ही भक्तिरूपी नौकापर स्थित भक्तके लिये भगवान् स्वयं केवट बनकर, उसकी समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंको दूर करके बहुत शीघ्र उसे भीषण संसार-समुद्रके उस पार अपने परम धाममें ले जाते हैं । यही भगवान्का अपने उपर्युक्त भक्तको मृत्युरूप संसारसे पार कर देना है ।

× जो सम्पूर्ण चराचर संसारको व्याप्त करके सबके हृदयमें स्थित हैं और जो दयालुता, सर्वज्ञता, सुशीलता तथा सुहृदता आदि अनन्त गुणोंके समुद्र हैं, उन परम दिव्य, प्रेममय और आनन्दमय, सर्वशक्तिमान्, सर्वोत्तम, शरण लेनेके योग्य परमेश्वरके गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व तथा रहस्यको भलीभाँति समझकर उनका सदा-सर्वदा और सर्वत्र अटल निश्चय रखना—यही बुद्धिको भगवान्में लगाना है तथा इस प्रकार अपने परम प्रेमास्पद पुरुषोत्तम भगवान्के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयोंसे आसक्तिको सर्वथा हटाकर मनको केवल उन्हींमें तन्मय कर देना और नित्य-निरन्तर उपर्युक्त प्रकारसे उनका चिन्तन करते रहना—यही मनको भगवान्में लगाना है । इस प्रकार जो अपने मन-बुद्धिको भगवान्में लगा देता है, वह शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त हो जाता है ।

इसलिये भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जाननेवाले महापुरुषोंका संग, उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण तथा भोग, आलस्य और प्रमादको छोड़कर उनके बतलाये हुए मार्गका विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ अनुसरण करना चाहिये ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर* ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा† । इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही

---

* भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌में नाना प्रकारकी युक्तियोंसे चित्तको स्थापन करनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं । अतः भगवान्‌के जिस नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें साधककी श्रद्धा और प्रेम हो, उसीमें केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही बार-बार मन लगानेके लिये प्रयत्न करना अभ्यासयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करना है ।

भगवान्‌में मन लगानेके साधन शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके बतलाये गये हैं, उनमेंसे निम्नलिखित कतिपय साधन सर्वसाधारणके लिये विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर मनके द्वारा सर्वत्र समभावसे जो एक प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत होता है, उससे भी हजारों गुना अधिक प्रकाशका पुञ्ज भगवत्स्वरूपमें है—इस प्रकार मनसे निश्चय करके परमात्माके उस तेजोमय ज्योतिःस्वरूपमें चित्त लगानेके लिये बार-बार चेष्टा करना ।

(२) जैसे दियासलाईमें अग्नि व्यापक है, वैसे ही भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं—यह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ ही गुण और प्रभावसहित सर्वशक्तिमान् परम प्रेमास्पद परमेश्वरके स्वरूपका प्रेमपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करते रहना ।

(३) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर भगवान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि जो भी अपने इष्टदेव हों, उनकी मानसिक या धातु आदिसे निर्मित मूर्तिमें अथवा चित्रपटमें या उनके नाम-जपमें श्रद्धा और प्रेमके साथ पुनः-पुनः मन लगानेका प्रयत्न करना ।

(४) भ्रमरके गुंजारकी तरह एकतार ओङ्कारकी ध्वनि करते हुए उस ध्वनिमें परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना ।

(५) स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ-साथ भगवान्‌के नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसके लिये प्रयत्न करना ।

(६) परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र और प्रभावके रहस्यको जाननेके लिये तद्विषयक शास्त्रोंका पुनः-पुनः अभ्यास करना ।

(७) गीताके चौथे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकके अनुसार प्राणायामका अभ्यास करना ।

इनमेंसे कोई-सा भी अभ्यास यदि श्रद्धा और विश्वास तथा लगनके साथ किया जाय तो क्रमशः सम्पूर्ण पापों और विघ्नोंका नाश होकर अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है । इसलिये बड़े उत्साह और तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये। साधकोंकी स्थिति, अधिकार तथा साधनकी गतिके तारतम्यसे फलकी प्राप्तिमें देर-सबेर हो सकती है । अतएव शीघ्र फल न मिले तो कठिन समझकर, ऊबकर या आलस्यके वश होकर न तो अपने अभ्यासको छोड़ना ही चाहिये और न उसमें किसी प्रकार कमी ही आने देनी चाहिये; बल्कि उसे बढ़ाते रहना चाहिये ।

† इस श्लोकमें कहे हुए 'मत्कर्म' शब्दसे उन कर्मोंको समझना चाहिये जो केवल भगवान्‌के लिये ही होते हैं या भगवत्-सेवा-पूजाविषयक होते हैं तथा जिन कर्मोंमें अपना जरा भी स्वार्थ, ममत्व और आसक्ति आदिका सम्बन्ध नहीं होता। गीताके ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी 'मत्कर्मकृत्' पदमें 'मत्कर्म' शब्द आया है, वहाँ भी इसकी व्याख्या की गयी है।

एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय और परम गति मानना और केवल उन्हींकी प्रसन्नताके लिये परम श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवा-पूजा आदि तथा यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंको अपना कर्तव्य समझकर निरन्तर करते रहना—यही उन कर्मोंके परायण होना है ।

होगा* ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्[1] ॥ ११ ॥

यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्याग कर† ॥ ११ ॥

---

* इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार कर्मोंका करना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र और सुगम साधन है। जैसे भजन-ध्यानरूपी साधन करनेवालोंको मेरी प्राप्ति होती है, वैसे ही मेरे लिये कर्म करनेवालोंको भी मैं प्राप्त हो सकता हूँ। अतएव मेरे लिये कर्म करना पूर्वोक्त साधनोंकी अपेक्षा किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीका साधन नहीं है।

[1] इस अध्यायके नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोग' बतलाया गया है और भगवान्में मन-बुद्धि लगानेके लिये जितने भी साधन हैं, सभी अभ्यासयोगके अन्तर्गत आ जाते हैं—इस कारण वहाँ 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है और दसवें श्लोकमें भक्तियुक्त कर्मयोगका वर्णन है, उसमें भगवान्का आश्रय है और साधकके समस्त कर्म भी भगवदर्थ ही होते हैं; अतएव उसमें भी 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहना प्रयोजनीय नहीं है, परंतु इस श्लोकमें 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप कर्मयोगका साधन बतलाया गया है, इसमें मन-बुद्धिको वशमें रक्खे बिना काम नहीं चल सकता; क्योंकि वर्णाश्रमोचित समस्त व्यावहारिक कर्म करते हुए यदि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर आदि वशमें न हों तो उनके भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामना हो जाना बहुत ही सहज है और ऐसा होनेपर 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधन बन नहीं सकता। इसीलिये यहाँ 'यतात्मवान्' पदका प्रयोग करके मन-बुद्धि आदिको वशमें रखनेके लिये विशेष सावधान किया गया है।

† यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमानुसार जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रसम्मत सभी कर्मोंको यथायोग्य करते हुए, इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप जो उनका फल है, उसमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही 'सब कर्मोंका फलत्याग करना' है।

इस अध्यायके छठे श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंको भगवान्में अर्पण करना, दसवें श्लोकके कथनानुसार भगवान्के लिये भगवान्के कर्मोंको करना तथा इस श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना——ये तीनों ही 'कर्मयोग' हैं और तीनोंका ही फल परमेश्वरकी प्राप्ति है, अतएव फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। केवल साधकोंकी प्रकृति, भावना और उनके साधनकी प्रणालीके भेदसे इनका भेद किया गया है। समस्त कर्मोंको भगवान्में अर्पण करना और भगवान्के लिये समस्त कर्म करना——इन दोनोंमें तो भक्तिकी प्रधानता है; 'सर्वकर्मफलत्याग'में केवल फल-त्यागकी प्रधानता है। यही इनका मुख्य भेद है।

सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर देनेवाला पुरुष समझता है कि मैं भगवान्के हाथकी कठपुतली हूँ, मुझमें कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं है, मेरे मन, बुद्धि और इन्द्रियादि जो कुछ हैं—सब भगवान्के हैं और भगवान् ही इनसे अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, उन कर्मोंसे और उनके फलसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारके भावसे उसका कर्मोंमें और उनके फलमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं रहता; उसे प्रारब्धानुसार जो कुछ भी सुख-दुःखोंके भोग प्राप्त होते हैं, उन सबको वह भगवान्का प्रसाद समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। अतएव उसका सबमें समभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

भगवदर्थ कर्म करनेवाला मनुष्य पूर्वोक्त साधककी भाँति यह नहीं समझता कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ और भगवान् ही मुझसे सब कुछ करवा लेते हैं।' वह यह समझता है कि भगवान् मेरे परम पूज्य, परम प्रेमी और परम सुहृद् हैं; उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है। अतएव वह भगवान्को समस्त जगत्में व्याप्त समझकर उनकी सेवाके उद्देश्यसे शास्त्रद्वारा प्राप्त उनकी आज्ञाके अनुसार यज्ञ, दान और तप, वर्णाश्रमके अनुकूल आजीविका और शरीरनिर्वाहके तथा भगवान्की पूजा-सेवादिके कर्मोंमें लगा रहता है। उसकी प्रत्येक क्रिया भगवान्के आज्ञानुसार और भगवान्की ही सेवाके उद्देश्यसे होती है (गीता ११ । ५५), अतः उन समस्त क्रियाओं और उनके फलोंमें उसकी आसक्ति और कामनाका अभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

केवल 'सब कर्मोंके फलका त्याग' करनेवाला पुरुष न तो यह समझता है कि मुझसे भगवान् कर्म करवाते हैं और न यही समझता है कि मैं भगवान्के लिये समस्त कर्म करता हूँ। वह यह समझता है कि कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, उसके फलमें नहीं (गीता २ । ४७ से ५१ तक), अतः किसी प्रकारका फल न चाहकर यज्ञ, दान, तप, सेवा तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीरनिर्वाहके खान-पान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करना ही मेरा कर्तव्य

सम्बन्ध—छठे श्लोकसे आठवेंतक अनन्य ध्यानका फलसहित वर्णन करके नवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक एक प्रकारके साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा साधन बतलाते हुए अन्तमें 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधनका वर्णन किया गया। इससे यह शङ्का हो सकती है कि 'कर्मफलत्याग' रूप साधन पूर्वोक्त अन्य साधनोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीका होगा; अतः ऐसी शङ्काको हटानेके लिये कर्मफलके त्याग महत्त्व अगले श्लोकमें बतलाया जाता है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२॥

मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है

है। अतएव वह समस्त कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है; इससे उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार तीनोंके ही साधनका भगवत्प्राप्तिरूप एक फल होनेपर भी साधकोंकी मान्यता, स्वभाव और साधन-प्रणालीमें भेद होनेके कारण तीन तरहके साधन अलग-अलग बतलाये गये हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि झूठ, कपट, व्यभिचार, हिंसा और चोरी आदि निषिद्ध कर्म 'सर्वकर्म' में सम्मिलित नहीं हैं। भोगोंमें आसक्ति और उनकी कामना होनेके कारण ही ऐसे पापकर्म होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्यका सब तरहसे पतन हो जाता है। इसीलिये उनका स्वरूपसे ही सर्वथा त्याग कर देना बतलाया गया है और जब वे कर्मोंका ही सर्वथा निषेध है, तब उनके फलत्यागका तो प्रसंग ही कैसे आ सकता है!

भगवान्‌ने पहले मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेके लिये कहा, फिर अभ्यासयोग बतलाया, तदनन्तर मदर्थ कर्मके लिये कहा और अन्तमें सर्वकर्म फलत्यागके लिये आज्ञा दी और एकमें असमर्थ होनेपर दूसरेका आचरण करनेके लिये कहा। भगवान्‌का इस प्रकारका यह कथन न तो फलभेदकी दृष्टिसे है, क्योंकि सभीका एक ही फल भगवत्प्राप्ति है और न एककी अपेक्षा दूसरेको सुगम ही बतलानेके लिये है, क्योंकि उपर्युक्त साधन एक-दूसरेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सुगम नहीं हैं। जो साधन एकके लिये सुगम है, वही दूसरेके किये कठिन हो सकता है। इस विचारसे यह समझमें आता है कि इन चारों साधनोंका वर्णन केवल अधिकारिभेदसे ही किया गया है।

जिस पुरुषमें सगुण भगवान्‌के प्रेमकी प्रधानता है, जिसकी भगवान्‌में स्वाभाविक श्रद्धा है, उनके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें तथा उनकी लीलाका वर्णन जिसको स्वभावसे ही प्रिय लगता है—ऐसे पुरुषके लिये इस अध्यायके आठवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषका भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम तो नहीं है, किंतु श्रद्धा होनेके कारण जो हठपूर्वक साधन करके भगवान्‌में मन लगाना चाहता है—ऐसी प्रकृतिवाले पुरुषके लिये इस अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषकी सगुण परमेश्वरमें श्रद्धा है तथा यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंमें जिसका स्वाभाविक प्रेम है और भगवान्‌की प्रतिमादिकी सेवा-पूजा करनेमें जिसकी श्रद्धा है—ऐसे पुरुषके लिये इस अध्यायके दसवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषका सगुण-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम और श्रद्धा नहीं है, जो ईश्वरके स्वरूपको केवल सर्वव्यापी निराकार मानता है, व्यावहारिक और लोकहितके कर्म करनेमें ही जिसका स्वाभाविक प्रेम है—ऐसे पुरुषके लिये इस श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

* यहाँ 'अभ्यास' शब्द इसी अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाये हुए अभ्यासयोगमेंसे केवल अभ्यासमात्रका वाचक है अर्थात् सकामभावसे प्राणायाम, मनोनिग्रह, स्तोत्र-पाठ, वेदाध्ययन, भगवन्नाम-जप आदिके लिये बार-बार की जानेवाली ऐसी चेष्टाओंका नाम यहाँ 'अभ्यास' है, जिनमें न तो विवेकज्ञान है, न ध्यान है और न कर्म-फलका त्याग ही है। यह अभिप्राय यह है कि नवें श्लोकमें जो योग यानी निष्कामभाव और विवेकज्ञानका फल भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है, वह इसमें नहीं है; क्योंकि ये दोनों जिसके अन्तर्गत हों, ऐसे अभ्यासके साथ ज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा अभ्यास-रहित ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

इसी प्रकार यहाँ 'ज्ञान' शब्द भी सत्सङ्ग और शास्त्रसे उत्पन्न उस विवेकज्ञानका वाचक है, जिसके द्वारा मनुष्य आत्मा और परमात्माके स्वरूपको तथा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदिको समझता है एवं संसार और भोगोंकी अनित्यता आदि अन्य आध्यात्मिक बातोंको भी समझता है; परंतु जिसके साथ न तो अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्म

ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है* और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है;† क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है‡ ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अलग-अलग साधन बतलाकर उनका फल परमेश्वरकी प्राप्ति बतलाया गया, अतएव भगवान्‌को प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर अब सात श्लोकोंमें उन भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

भोगोंकी इच्छाका त्याग ही है; क्योंकि ये सब जिसके अन्तर्गत हों, उस ज्ञानके साथ अभ्यास, ध्यान और कर्मफलके त्यागका तुलनात्मक विवेचन करना और उसकी अपेक्षा ध्यानको तथा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त अभ्यास और ज्ञान दोनों ही अपने-अपने स्थानपर भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं; श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभावके सम्बन्धसे दोनोंके द्वारा ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, तथापि दोनोंकी परस्पर तुलना की जानेपर अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। विवेकहीन अभ्यास भगवत्प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना कि अभ्यासरहित विवेकज्ञान सहायक हो सकता है; क्योंकि वह भगवत्प्राप्तिकी इच्छाका हेतु है। यही बात दिखलानेके लिये यहाँ अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाया है।

* यहाँ 'ध्यान' शब्द भी छठेसे आठवें श्लोकतक बतलाये हुए ध्यानयोगमेंसे केवल ध्यानमात्रका वाचक है अर्थात् इष्टदेव मानकर भगवान्‌के साकार या निराकार किसी भी स्वरूपमें सकामभावसे केवल मन-बुद्धिको स्थिर कर देनेको यहाँ 'ध्यान' कहा गया है। इसमें न तो पूर्वोक्त विवेकज्ञान है और न भोगोंकी कामनाका त्यागरूप निष्कामभाव ही है। अभिप्राय यह है कि उस ध्यानयोगमें जो समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण कर देना, भगवान्‌को ही परम प्राप्य समझना और अनन्य प्रेमसे भगवान्‌का ध्यान करना—ये सब भाव भी सम्मिलित हैं, वे इसमें नहीं हैं; क्योंकि भगवान्‌को सर्वश्रेष्ठ समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे किया जानेवाला जो ध्यानयोग है, उसमें विवेकज्ञान और कर्मफलके त्यागका अन्तर्भाव है। अतः उसके साथ विवेकज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त विवेकज्ञान और ध्यान—दोनों ही श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावके सम्बन्धसे परमात्माकी प्राप्ति करा देनेवाले हैं, इसलिये दोनों ही भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक हैं; परंतु दोनोंकी परस्पर तुलना करनेपर ध्यान और अभ्याससे रहित ज्ञानकी अपेक्षा विवेकरहित ध्यान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है; क्योंकि बिना ध्यान और अभ्यासके केवल विवेकज्ञान भगवान्‌की प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना बिना विवेकज्ञानके केवल ध्यान हो सकता है। ध्यानद्वारा चित्त स्थिर होनेपर चित्तकी मलिनता और चञ्चलताका नाश होता है; परंतु केवल जानकारीसे वैसा नहीं होता। यही भाव दिखलानेके लिये ज्ञानसे ध्यानको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

† ग्यारहवें श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' का स्वरूप बतलाया गया है, उसीका वाचक 'कर्मफलत्याग' है। ऊपर बतलाया हुआ ध्यान भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक है; परंतु जबतक मनुष्यकी कामना और आसक्तिका नाश नहीं हो जाता, तबतक उसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही नहीं हो सकती। अतः फलासक्तिके त्यागसे रहित ध्यान परमात्माकी प्राप्तिमें उतना लाभप्रद नहीं हो सकता, जितना कि बिना ध्यानके भी समस्त कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग हो सकता है।

‡ इस श्लोकमें अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और कर्मयोगका तुलनात्मक विवेचन नहीं है; क्योंकि उन सभी साधनोंमें कर्मफलरूप भोगोंकी आसक्तिका त्यागरूप निष्कामभाव अन्तर्गत है। अतः उनका तुलनात्मक विवेचन नहीं हो सकता। यहाँ तो कर्मफलके त्यागका महत्त्व दिखलानेके लिये अभ्यास, ज्ञान और ध्यानरूप साधन, जो संसारके झंझटोंसे अलग रहकर किये जाते हैं और क्रियाकी दृष्टिसे एककी अपेक्षा दूसरा क्रमसे सात्त्विक और निवृत्तिपरक होनेके नाते श्रेष्ठ भी है, उनकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको भावकी प्रधानताके कारण श्रेष्ठ बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक उन्नतिमें क्रियाकी अपेक्षा भावका ही अधिक महत्त्व है। वर्ण-आश्रमके अनुसार यज्ञ, दान, युद्ध, वाणिज्य, सेवा आदि तथा शरीर-निर्वाहकी क्रिया; प्राणायाम, स्तोत्र-पाठ, वेद-पाठ, नाम-जप आदि अभ्यासकी क्रिया; सत्सङ्ग और शास्त्रोंके द्वारा आध्यात्मिक बातोंको जाननेके लिये ज्ञानविषयक क्रिया और मनको स्थिर करनेके लिये ध्यानविषयक क्रिया—ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होनेपर भी उनमेंसे वही श्रेष्ठ है, जिसके साथ कर्मफलका त्यागरूप निष्कामभाव है; क्योंकि निष्कामभावसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र होती है, अतः कर्मफलका त्याग ही श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह किसी भी शास्त्रसम्मत क्रियाके साथ क्यों न रहे, वही क्रिया दीखनेमें साधारण होनेपर भी सर्वश्रेष्ठ हो जाती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है* तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम† और क्षमावान्‡ है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है,§ मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है× और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है,+ वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला÷ मेरा भक्त मुझको प्रिय हैऽ ॥ १३-१४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगै[1]र्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

---

* भक्तिके साधकमें आरम्भसे ही मैत्री और दयाके भाव विशेषरूपसे रहते हैं, इसलिये सिद्धावस्थामें भी उनके स्वभाव और व्यवहारमें वे सहज ही पाये जाते हैं। जैसे भगवान्में हेतुरहित अपार दया और प्रेम आदि रहते हैं, वैसे ही उनके सिद्ध भक्तमें भी इनका रहना उचित ही है।

† यहाँ 'सुख-दुःख' हर्ष-शोकके हेतुओंके वाचक हैं न कि हर्ष-शोकके; क्योंकि सुख-दुःखसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका नाम हर्ष-शोक है। अज्ञानी मनुष्योंकी सुखमें आसक्ति होती है, इस कारण सुखकी प्राप्तिमें उनको हर्ष होता है और दुःखमें उनका द्वेष होता है, इसलिये उसकी प्राप्तिमें उनको शोक होता है; पर ज्ञानी भक्तका सुख और दुःखमें समभाव हो जानेके कारण किसी भी अवस्थामें उसके अन्तःकरणमें हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते। श्रुतिमें भी कहा है—'हर्षशोकौ जहाति' (कठोपनिषद् १ । २ । १२), अर्थात् 'ज्ञानी पुरुष हर्ष-शोकोंको सर्वथा त्याग देता है।' प्रारब्ध-भोगके अनुसार शरीरमें रोग हो जानेपर उनको पीड़ारूप दुःखका बोध तो होता है और शरीर स्वस्थ रहनेसे उसमें पीड़ाके अभावका बोधरूप सुख भी होता है, किंतु राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण हर्ष और शोक उन्हें नहीं होते। इसी तरह किसी भी अनुकूल और प्रतिकूल-पदार्थ या घटनाके संयोग-वियोगमें किसी प्रकारसे भी उनको हर्ष-शोक नहीं होते। वही उनका सुख-दुःखमें सम रहना है।

‡ अपना अपकार करनेवालेको किसी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे अभय देनेवालेको 'क्षमावान्' कहते हैं। भगवान्के ज्ञानी भक्तोंमें क्षमाभाव भी असीम रहता है। क्षमाकी व्याख्या गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमें विस्तारसे की गयी है।

§ भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए ज्ञानी भक्तको यहाँ 'योगी' कहा गया है; ऐसा भक्त परमानन्दके अक्षय और अनन्त भण्डार श्रीभगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण वह सदा ही संतुष्ट रहता है। उसे किसी समय, किसी भी अवस्थामें, किसी भी घटनामें संसारकी किसी भी वस्तुके अभावमें असंतोषका अनुभव नहीं होता; क्योंकि वह पूर्णकाम है, यही उसका निरन्तर संतुष्ट रहना है।

× इससे यह भाव दिखलाया है कि भगवान्के ज्ञानी भक्तोंका मन और इन्द्रियोंसहित शरीर सदा ही उनके वशमें रहता है। वे कभी मन और इन्द्रियोंके वशमें नहीं हो सकते, इसीसे उनमें किसी प्रकारके दुर्गुण और दुराचारकी सम्भावना नहीं होती।

+ जिसने बुद्धिके द्वारा परमेश्वरके स्वरूपका भलीभाँति निश्चय कर लिया है, जिसे सर्वत्र भगवान्‌का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा जिसकी बुद्धि गुण, कर्म और दुःख आदिके कारण परमात्माके स्वरूपसे कभी किसी प्रकार विचलित नहीं हो सकती, उसको 'दृढनिश्चय' कहते हैं।

÷ नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्के स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उसका निश्चय करते-करते मन और बुद्धिका भगवान्के स्वरूपमें सदाके लिये तन्मय हो जाना ही उनको 'भगवान्‌में अर्पण करना' है।

ऽ जो उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न है; जिसका भगवान्‌में अहैतुक और अनन्य प्रेम है, जिसकी भगवान्के स्वरूपमें अटल स्थिति है, जिसका कभी भगवान्‌से वियोग नहीं होता, जिसके मन-बुद्धि भगवान्के अर्पित हैं, भगवान् ही जिसके जीवन, धन, प्राण एवं सर्वस्व हैं, जो भगवान्के ही हाथकी कठपुतली है—ऐसे सिद्ध भक्तको भगवान् अपना प्रिय बतलाते हैं।

[1] पूर्वार्द्धमें केवल दूसरे प्राणीसे उसे उद्वेग नहीं होता, इतना ही कहा गया है। इससे परेच्छाजनित उद्वेगकी निवृत्ति तो हुई; किंतु अनिच्छा और स्वेच्छासे प्राप्त घटना और पदार्थमें भी तो मनुष्यको उद्वेग होता है, इसलिये उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेगसे मुक्त होनेकी बात कहकर भगवान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि भक्तको कभी किसी प्रकार भी उद्वेग नहीं होता।

जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता* और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता † तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, ‡ वह भक्त मुझको प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित,§ बाहर-भीतरसे शुद्ध,× चतुर,+ पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, ÷ वह सब आरम्भोंका त्यागी ऽ मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो न कभी हर्षित होता है, A न द्वेष करता

---

* सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण भक्त जान-बूझकर तो किसीको दुःख, संताप, भय और क्षोभ पहुँचा ही नहीं सकता, बल्कि उसके द्वारा तो स्वाभाविक ही सबकी सेवा और परम हित ही होते हैं। अतएव उसकी ओरसे किसीको कभी उद्वेग नहीं होना चाहिये। यदि भूलसे किसी व्यक्तिको उद्वेग होता है तो उसमें उस व्यक्तिके अपने अज्ञानजनित राग, द्वेष और ईर्ष्यादि दोष ही प्रधान कारण हैं, भगवद्भक्त नहीं; क्योंकि जो दया और प्रेमकी मूर्ति है एवं दूसरोंका हित करना ही जिसका स्वभाव है, वह परम दयालु प्रेमी भगवत्प्राप्त भक्त तो किसीके उद्वेगका कारण हो ही नहीं सकता।

† ज्ञानी भक्तको भी प्रारब्धके अनुसार परेच्छासे दुःखके निमित्त तो प्राप्त हो सकते हैं, परंतु उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण बड़े-से-बड़े दुःखकी प्राप्तिमें भी वह विचलित नहीं होता (गीता ६। २२); इसीलिये ज्ञानी भक्तको किसी भी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता।

‡ अभिप्राय यह है कि वास्तवमें मनुष्यको अपने अभिलषित मान, बड़ाई और धन आदि वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर जिस तरह हर्ष होता है, उसी तरह अपने ही समान या अपनेसे अधिक दूसरोंको भी उन वस्तुओंकी प्राप्ति होते देखकर प्रसन्नता होनी चाहिये; किंतु प्रायः ऐसा न होकर अज्ञानके कारण लोगोंको उलटा अमर्ष होता है और यह अमर्ष विवेकशील पुरुषोंके चित्तमें भी देखा जाता है। वैसे ही इच्छा, नीति और धर्मके विरुद्ध पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर उद्वेग तथा नीति और धर्मके अनुकूल भी दुःखप्रद पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर या उसकी आशङ्कासे भय होता देखा जाता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, मृत्युका भय तो विवेकियोंको भी होता है; किंतु भगवान्के ज्ञानी भक्तकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाती है और वह सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्की लीला समझता है; इस कारण ज्ञानी भक्तको न अमर्ष होता है, न उद्वेग होता है और न भय ही होता है—यह भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है।

§ परमात्माको प्राप्त भक्तका किसी भी वस्तुसे किंचित् भी प्रयोजन नहीं रहता; अतएव उसे किसी तरहकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा, स्पृहा अथवा वासना नहीं रहती। वह पूर्णकाम हो जाता है। यह भाव दिखलानेके लिये उसे आकाङ्क्षासे रहित कहा है।

× भगवान्के भक्तमें पवित्रताकी पराकाष्ठा होती है। उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, उनके आचरण और शरीर आदि इतने पवित्र हो जाते हैं कि उसके साथ वार्तालाप होनेपर तो कहना ही क्या है—उसके दर्शन और स्पर्शमात्रसे ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं। ऐसा भक्त जहाँ निवास करता है, वह स्थान पवित्र हो जाता है और उसके सङ्गसे वहाँका वायुमण्डल, जल, स्थल आदि सब पवित्र हो जाते हैं।

+ जिस उद्देश्यकी सफलताके लिये मनुष्यशरीरकी प्राप्ति हुई है, उस उद्देश्यको पूरा कर लेना ही यथार्थ चतुरता है।

÷ शरीरमें रोग आदिका होना, स्त्री-पुत्र आदिका वियोग होना और धन-गृह आदिकी हानि होना—इत्यादि दुःखके हेतु प्रारब्धके अनुसार उसे प्राप्त होते हैं, परंतु इन सबके होते हुए भी उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका शोक नहीं होता।

ऽ संसारमें जो कुछ भी हो रहा है—सब भगवान्की लीला है, सब उनकी मायाशक्तिका खेल है; वे जिससे जब जैसा करवाना चाहते हैं, वैसा ही करवा लेते हैं। मनुष्य मिथ्या ही ऐसा अभिमान कर लेता है कि अमुक कर्म मैं करता हूँ, मेरी ऐसी सामर्थ्य है, इत्यादि। पर भगवान्का भक्त इस रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, इससे वह सदा भगवान्के हाथकी कठपुतली बना रहता है। भगवान् उसको जब जैसा नचाते हैं, वह प्रसन्नतापूर्वक वैसे ही नाचता है। अपना तनिक भी अभिमान नहीं रखता और अपनी ओरसे कुछ भी नहीं करता, इसलिये वह लोकदृष्टिमें सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण 'सब आरम्भोंका त्यागी' ही है।

A भक्तके लिये सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परम दयालु भगवान् ही परम प्रिय वस्तु हैं और वह उन्हें सदाके लिये प्राप्त है। अतएव वह सदा-सर्वदा परमानन्दमें स्थित रहता है। संसारकी किसी वस्तुमें उसका किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं रहता। इस कारण लोकदृष्टिसे होनेवाले किसी प्रिय वस्तुके संयोगसे या अप्रियके वियोगसे उसके अन्तःकरणमें कभी किंचिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता।

है,✻ न शोक करता है,† न कामना करता है‡ तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है,§ वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः[1] ॥ १८ ॥

जो शत्रु-मित्रमें× और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है+ और आसक्तिसे रहित है ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः[2] स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

✻ भगवान्‌का भक्त सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझता है, इसलिये उसका किसी भी वस्तु या प्राणीसे कभी किसी भी कारणसे द्वेष नहीं हो सकता। उसके अन्तःकरणमें द्वेषभावका सदाके लिये सर्वथा अभाव हो जाता है।

† अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें और इष्टके वियोगमें प्राणियोंको शोक हुआ करता है। भगवद्भक्तको लीलामय परम दयालु परमेश्वरकी दयासे भरे हुए किसी भी विधानमें कभी प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती। अतः उसे शोक कैसे हो सकता है ?

‡ भक्तको साक्षात् भगवान्‌की प्राप्ति हो जानेके कारण वह सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिमें स्थित होकर पूर्णकाम हो जाता है, उसके मनमें कभी किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता ही नहीं, इसलिये उसके अन्तःकरणमें सांसारिक वस्तुओंकी आकाङ्क्षा होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

§ यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्मोंका वाचक यहाँ 'शुभ' शब्द है और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि पापकर्मका वाचक 'अशुभ' शब्द है। भगवान्‌का ज्ञानी भक्त इन दोनों प्रकारके कर्मोंका त्यागी होता है; क्योंकि उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके द्वारा किये जानेवाले समस्त शुभ कर्मोंको वह भगवान्‌के समर्पण कर देता है। उनमें उसकी किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या फलेच्छा नहीं रहती; इसीलिये ऐसे कर्म कर्म ही नहीं माने जाते (गीता ४ । २०) और राग-द्वेषका अभाव हो जानेके कारण पापकर्म उसके द्वारा होते ही नहीं, इसलिये उसे 'शुभ और अशुभ कर्मोंका त्यागी' कहा गया है।

१. संसारमें मनुष्यकी जो आसक्ति (स्नेह) है, वही समस्त अनर्थोंका मूल है; बाहरसे मनुष्य संसारका संसर्ग छोड़ भी दे, किंतु मनमें आसक्ति बनी रहे तो ऐसे त्यागसे विशेष लाभ नहीं हो सकता। पक्षान्तरमें मनकी आसक्ति नष्ट हो चुकनेपर बाहरसे राजा जनक आदिकी तरह सबसे ममता और आसक्तिरहित संसर्ग रहनेपर भी कोई हानि नहीं है। ऐसा आसक्तिका त्यागी ही वस्तुतः सच्चा 'सङ्गविवर्जित' है।

× यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें उसका कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तो भी लोग अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मूर्खतावश भक्तके द्वारा अपना अनिष्ट होता हुआ समझकर या उसका स्वभाव अपने अनुकूल न दीखनेके कारण अथवा ईर्ष्यावश उसमें शत्रुभावका भी आरोप कर लेते हैं, ऐसे ही दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्रभावका आरोप कर लेते हैं; परंतु सम्पूर्ण जगत्‌में सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करनेवाले भक्तका सबमें समभाव ही रहता है। उसकी दृष्टिमें शत्रु-मित्रका किंचित् भी भेद नहीं रहता, वह तो सदा-सर्वदा सबके साथ परम प्रेमका ही व्यवहार करता रहता है। सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर समभावसे सबकी सेवा करना ही उसका स्वभाव बन जाता है। जैसे वृक्ष अपनेको काटनेवाले और जल सींचनेवाले दोनोंकी ही छाया, फल और फूल आदिके द्वारा सेवा करनेमें किसी प्रकारका भेद नहीं करता, वैसे ही भक्तमें भी किसी तरहका भेदभाव नहीं रहता। भक्तका समत्व वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वका होता है। उसकी दृष्टिमें परमेश्वरसे भिन्न कुछ भी न रहनेके कारण उसमें भेदभावकी आशङ्का ही नहीं रहती। इसलिये उसे शत्रु-मित्रमें सम कहा गया है।

+ मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख आदि अनुकूल और प्रतिकूल द्वन्द्वोंका मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे उनका अनुभव होते हुए भी भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी तरहका किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होता। वह सदा सम रहता है।

२. जो भक्त अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर चुके हैं, जिनके घर-द्वार, शरीर, विद्या-बुद्धि आदि सभी कुछ भगवान्‌के हो चुके हैं—फिर वे चाहे ब्रह्मचारी हों या गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ हों, वे भी 'अनिकेत' ही हैं। जैसे शरीरमें अहंता, ममता और आसक्ति न होनेपर शरीर रहते हुए भी ज्ञानीको विदेह कहा जाता है—वैसे ही जिसकी घरमें ममता और आसक्ति नहीं है, वह घरमें रहते हुए भी बिना घरवाला—'अनिकेत' ही है।

जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला,* मननशील † और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है‡ तथा रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि§ भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है× ॥

---

* भगवान्के भक्तका अपने नाम और शरीरमें किंचिन्मात्र भी अभिमान या ममत्व नहीं रहता। इसलिये न तो उसे स्तुतिसे हर्ष होता है और न निन्दासे किसी प्रकारका शोक ही होता है। उसका दोनोंमें ही समभाव रहता है। सर्वत्र समबुद्धि हो जानेके कारण स्तुति करनेवालों और निन्दा करनेवालोंमें भी उसकी जरा भी भेद-बुद्धि नहीं होती। यही उसका निन्दा-स्तुतिको समान समझना है।

† मनुष्य केवल वाणीसे ही नहीं बोलता, मनसे भी बोलता रहता है। विषयोंका अनवरत चिन्तन ही मनका निरन्तर बोलना है। भक्तका चित्त भगवान्में इतना संलग्न हो जाता है कि उसमें भगवान्के सिवा दूसरेकी स्मृति ही नहीं होती, वह सदा-सर्वदा भगवान्के ही मननमें लगा रहता है; यही वास्तविक मौन है। बोलना बंद कर दिया जाय और मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहे—ऐसा मौन बाह्य मौन है। मनको निर्विषय करने तथा वाणीको परिशुद्ध और संयत करनेके उद्देश्यसे किया जानेवाला बाह्य मौन भी लाभदायक होता है; परंतु यहाँ भगवान्के प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन है, उसकी वाणी तो स्वाभाविक ही परिशुद्ध और संयत है। इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसमें केवल वाणीका ही मौन है; बल्कि उस भक्तकी वाणीसे तो प्रायः निरन्तर भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन ही हुआ करता है, जिससे जगत्‌का परम उपकार होता है। इसके सिवा भगवान् अपनी भक्तिका प्रचार भी भक्तोंद्वारा ही करवाया करते हैं। अतः वाणीसे मौन रहनेवाला भगवान्का प्रिय भक्त होता है और बोलनेवाला नहीं होता, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। गीताके अठारहवें अध्यायके अड़सठवें और उनहत्तरवें श्लोकोंमें भगवान्ने गीताके प्रचार करनेवालेको अपना सबसे प्रिय कार्य करनेवाला कहा है, यह महत्कार्य वाणीके मौनीसे नहीं हो सकता। इसके सिवा गीताके सतरहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें मानसिक तपके लक्षणोंमें भी 'मौन' शब्द आया है। यदि भगवान्को 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन अभीष्ट होता तो वे उसे वाणीके तपके प्रसङ्गमें कहते; परंतु ऐसा नहीं किया, इससे भी यही सिद्ध है कि मुनिभावका नाम ही मौन है और यह मुनिभाव जिसमें होता है, वही मौनी या मननशील है। वाणीका मौन मनुष्य हठसे भी कर सकता है, इसलिये यह कोई बड़े महत्त्वकी बात भी नहीं है। अतः यहाँ 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन न मानकर मनकी मननशीलता ही मानना उचित है। वाणीका संयम तो इसके अन्तर्गत आप ही आ जाता है।

‡ भक्त अपने परम इष्ट भगवान्को पाकर सदा ही संतुष्ट रहता है। बाहरी वस्तुओंके आने-जानेसे उसकी तुष्टिमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता। प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादिके हेतुभूत जो कुछ भी पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, वह उन्हींमें संतुष्ट रहता है।

§ भक्तको भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन हो जानेके कारण उसके सम्पूर्ण संशय समूल नष्ट हो जाते हैं, उसका निश्चय दृढ़ और निश्चल होता है। अतः वह साधारण मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ, मोह या भय आदि विकारोंके वशमें होकर धर्मसे या भगवान्के स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता।

× उपर्युक्त सभी लक्षण भगवद्भक्तोंके हैं तथा सभी शास्त्रानुकूल और श्रेष्ठ हैं, परंतु स्वभाव आदिके भेदसे भक्तोंके गुण और आचरणोंमें थोड़ा-बहुत अन्तर रह जाना स्वाभाविक है। सबमें सभी लक्षण एक-से नहीं मिलते। इतना अवश्य है कि समता और शान्ति सभीमें होती हैं तथा राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार किसीमें भी नहीं रहते। इसीसे इन श्लोकोंमें पुनरुक्ति पायी जाती है। विचार कर देखिये तो इन पाँचों विभागोंमें कहीं भावसे और कहीं शब्दोंसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव सभीमें मिलता है। पहले विभागमें 'अद्वेष्टा' से द्वेषका, 'निर्ममः' से रागका और 'समदुःखसुखः' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया गया है। दूसरेमें हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगका अभाव बतलाया है; इससे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव अपने-आप सिद्ध हो जाता है। तीसरेमें 'अनपेक्षः' से रागका, 'उदासीनः' से द्वेषका और 'गतव्यथः' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। चौथेमें 'न काङ्क्षति' से रागका, 'न द्वेष्टि' से द्वेषका, 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। इसी प्रकार पाँचवें विभागमें 'सङ्गविवर्जितः' तथा 'संतुष्टः' से राग-द्वेषका और 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' से हर्ष-शोकका अभाव दिखलाया है। 'संतुष्टः' पद भी इस प्रकरणमें दो बार आया है। इससे सिद्ध है कि राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि विकारोंका अभाव और समता तथा शान्ति तो सभीमें आवश्यक है। अन्यान्य लक्षणोंमें स्वभाव-भेदसे कुछ भेद भी रह सकता है। इसी भेदके कारण भगवान्ने भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभक्त करके भक्तोंके लक्षणोंको यहाँ पाँच बार पृथक्-पृथक् बतलाया है; इनमेंसे किसी एक विभागके अनुसार भी सब लक्षण जिसमें पूर्ण हों, वही भगवान्का प्रिय भक्त है।

सम्बन्ध—परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उन लक्षणोंको आदर्श मानकर बड़े प्रयत्नके साथ उनका भलीभाँति सेवन करनेवाले, परम श्रद्धालु, शरणागत भक्तोंकी प्रशंसा करनेके लिये, उनको अपना अत्यन्त प्रिय बतलाकर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको† निष्काम प्रेम-भावसे करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं‡॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥ भीष्मपर्वणि तु षट्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२॥ भीष्मपर्वमें छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३६॥

* * *

इसके सिवा कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे परम सिद्धिको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् भी उनकी वास्तविक स्थितिमें या प्राप्त किये हुए परम तत्त्वमें तो कोई अन्तर नहीं रहता; किंतु स्वभावकी भिन्नताके कारण आचरणोंमें कुछ भेद रह सकता है। 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' (गीता ३। ३३) इस कथनसे यही सिद्ध होता है कि सब ज्ञानवानोंके आचरण और स्वभावमें ज्ञानोत्तरकालमें भी भेद रहता है।

अहंता, ममता और राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अज्ञानजनित विकारोंका अभाव तथा समता और परम शान्ति—ये लक्षण तो सभीमें समानभावसे पाये जाते हैं; किंतु मैत्री और करुणा, ये भक्तिमार्गसे भगवान्को प्राप्त हुए महापुरुषमें विशेषरूपसे रहते हैं। संसार, शरीर और कर्मोंमें उपरामता—यह ज्ञानमार्गसे परम पदको प्राप्त महात्माओंमें विशेषरूपसे रहती है। इसी प्रकार मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए अनासक्त भावसे कर्मोंमें लगे रहना, यह लक्षण विशेषरूपसे कर्मयोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए पुरुषोंमें रहता है।

गीताके दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोकतक कितने ही श्लोकोंमें कर्मयोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए पुरुषके तथा चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणातीत पुरुषके लक्षण बतलाये गये हैं और यहाँ तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भक्तियोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

* सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान्के अवतारोंमें, वचनोंमें एवं उनके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और चरित्रादिमें प्रत्यक्षके सदृश सम्मानपूर्वक विश्वास रखता हो, वह श्रद्धावान् है। परम प्रेमी और परम दयालु भगवान्को ही परम गति, परम आश्रय एवं अपने प्राणोंके आधार, सर्वस्व मानकर उन्हींपर निर्भर और उनके किये हुए विधानमें प्रसन्न रहनेवालेको भगवत्परायण पुरुष कहते हैं।

† भगवद्भक्तोंके उपर्युक्त लक्षण ही वस्तुतः मानवधर्मका सच्चा स्वरूप है। इन्हींके पालनमें मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है, क्योंकि इनके पालनसे साधक सदाके लिये मृत्युके पंजेसे छूट जाता है और उसे अमृतस्वरूप भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। इसी भावको स्पष्ट समझानेके लिये यहाँ इस लक्षण-समुदायका नाम 'धर्ममय अमृत' रक्खा गया है।

‡ जिन सिद्ध भक्तोंको भगवान्की प्राप्ति हो चुकी है, उनमें तो उपर्युक्त लक्षण स्वाभाविक ही रहते हैं; इसलिये उनमें इन गुणोंका होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है; परंतु जिन साधक भक्तोंको भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं, तो भी वे भगवान्पर विश्वास करके परम श्रद्धाके साथ तन, मन, धन, सर्वस्व भगवान्के अर्पण करके उन्हींके परायण हो जाते हैं तथा भगवान्के दर्शनोंके लिये निरन्तर उन्हींका निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहते हैं और सतत चेष्टा करके उपर्युक्त लक्षणोंके अनुसार ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं—बिना प्रत्यक्ष दर्शन हुए भी केवल विश्वासपर उनका इतना निर्भर हो जाना विशेष महत्त्वकी बात है। ऐसे प्रेमी भक्तोंको सिद्ध भक्तोंकी अपेक्षा भी 'अतिशय प्रिय' कहना उचित ही है।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रयोदशोऽध्यायः)

ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने और निर्गुणके उपासकोंकी श्रेष्ठताके विषयमें प्रश्न किया उसका उत्तर देते हुए भगवान्ने दूसरे श्लोकमें संक्षेपमें उपासकोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करके तीसरेसे पाँचवें निर्गुण उपासनाका स्वरूप, उसका फल और देहा- के लिये उसके अनुष्ठानमें कठिनताका निरूपण किया। छठेसे बीसवें श्लोकतक सगुण उपासनाका महत्त्व, फल, और भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते-करते ही अध्यायकी हो गयी; निर्गुणका तत्त्व, महिमा और उसकी प्राप्तिके विस्तारपूर्वक नहीं समझाया गया। अतएव निर्गुण-निराकार- अर्थात् ज्ञानयोगका विषय भलीभाँति समझानेके लिये अध्यायका आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के लक्षण हैं—

श्रीभगवानुवाच

शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र'* इस नामसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ'† इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान‡ और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर संसारभ्रम-का नाश हो जाता है और परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतएव 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूप आदिको भलीभाँति विभागपूर्वक समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—

तत् क्षेत्रं यच्च[1] यादृक्[2] च यद्विकारि[3] यतश्च यत्[4]।

---

* जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इस शरीरमें बोये हुए कर्म- रूप बीजोंका फल भी समयपर प्रकट होता रहता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, इसलिये 'क्षेत्र' कहते हैं और इसीलिये गीताके पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें इसको 'क्षर' पुरुष कहा गया है।

† इससे भगवान्ने अन्तरात्मा द्रष्टाका लक्ष्य करवाया है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, महाभूत और इन्द्रियोंके विषय जितना भी ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) दृश्यवर्ग है—सब जड, विनाशी, परिवर्तनशील है। चेतन आत्मा उस जड सर्वथा विलक्षण है। यह उसका ज्ञाता है, उसमें अनुस्यूत है और उसका अधिपति है। इसीलिये इसे 'क्षेत्रज्ञ' हैं। इसी ज्ञाता चेतन आत्माको गीताके सातवें अध्यायमें 'परा प्रकृति' (७। ५), आठवेंमें 'अध्यात्म' (८।) और पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर पुरुष' (१५। १६) कहा गया है। यह आत्मतत्त्व बड़ा ही गहन है, इसीसे भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके द्वारा कहीं स्त्रीवाचक, कहीं नपुंसकवाचक और कहीं पुरुषवाचक नामसे इसका वर्णन है। वास्तवमें आत्मा विकारोंसे सर्वथा रहित, अलिङ्ग, नित्य, निर्विकार एवं चेतन—ज्ञानस्वरूप है।

‡ इससे 'आत्मा' और 'परमात्मा' की एकताका प्रतिपादन किया गया है। आत्मा और परमात्मामें वस्तुतः कुछ नहीं है, प्रकृतिके संगसे भेद-सा प्रतीत होता है; इसीलिये गीताके दूसरे अध्यायके चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आत्माके वर्णन करते हुए जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्माके वर्णन करते समय भी प्रायः उन्हींके भावोंके द्योतक शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

१. 'यत्' पदसे भगवान्ने क्षेत्रका स्वरूप बतलानेका संकेत किया है और उसे पाँचवें श्लोकमें बतलाया है।

२. 'यादृक्' पदसे क्षेत्रका स्वभाव बतलानेका संकेत किया है और उसका वर्णन छब्बीसवें और सत्ताईसवें श्लोकोंमें भूतोंको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर किया है।

३. 'यद्विकारि' पदसे क्षेत्रके विकारोंका वर्णन करनेका संकेत किया है और उनका वर्णन छठे श्लोकमें किया है।

४. जिन पदार्थोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है, उनमेंसे कौन पदार्थ किससे उत्पन्न हुआ—यह बतलानेका संकेत 'यतः पदोंसे किया है और उसका वर्णन उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्द्धमें तथा बीसवेंके पूर्वार्द्धमें किया गया है।

स[1] च यो यत्प्रभावश्च[2] तत् समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के जिस तत्त्वको संक्षेपमें सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—अब उसके विषयमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रकी उक्तिका प्रमाण देकर भगवान् ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रको आदर देते हैं—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभि[3]र्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदै[4]श्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा* बहु प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभाग पूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्ति युक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ॥ ४ ॥

महाभू[5]तान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

---

[1] 'सः' पद 'क्षेत्रज्ञ'का वाचक है तथा 'यः' पदसे उसका स्वरूप बतलानेका संकेत किया गया है और आगे चलकर उसके प्रकृतिस्थ एवं वास्तविक दोनों स्वरूपोंका वर्णन किया गया है—जैसे उन्नीसवें श्लोकमें उसे 'अनादि' बीसवेंमें 'सुख-दुःखोंका भोक्ता' एवं इक्कीसवेंमें 'अच्छी बुरी योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेवाला' बतलाकर तो प्रकृतिस्थ पुरुषका स्वरूप बतलाया गया है और बाईसवेंमें तथा सत्ताईसवेंसे तीसवेंतक परमात्माके साथ एकता करके उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण किया गया है।

[2] 'यत्प्रभावः' से क्षेत्रज्ञका प्रभाव बतलानेके लिये संकेत किया गया है और उसे इकतीसवेंसे तैंतीसवें श्लोक तक बतलाया गया है।

[3] 'विविधैः' विशेषणके सहित 'छन्दोभिः' पद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' दोनों ही भागोंका वाचक है; समस्त उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी इन्हींके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये।

[4] 'ब्रह्मसूत्रपदैः' पद 'वेदान्तदर्शन' के जो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' आदि सूत्ररूप पद हैं, उन्हींका वाचक प्रतीत होता है; क्योंकि उपर्युक्त सब लक्षण उनमें ठीक-ठीक मिलते हैं। यहाँ इस कथनका यह भाव है कि श्रुति-स्मृति आदिमें वर्णित जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा युक्तिपूर्वक समझाया गया है, उसका निचोड़ भी भगवान् यहाँ संक्षेपमें कह रहे हैं।

* मन्त्रोंके द्रष्टा एवं शास्त्र और स्मृतियोंके रचयिता ऋषिगणोंने 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूपको और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातोंको अपने-अपने ग्रन्थोंमें और पुराण-इतिहासोंमें बहुत प्रकारसे वर्णन करके विस्तारपूर्वक समझाया है; उन्हींका सार यहाँ बहुत थोड़े शब्दोंमें भगवान् कहते हैं।

[5] स्थूल भूतोंके और शब्दादि विषयोंके कारणरूप जो पञ्चतन्मात्राएँ यानी सूक्ष्मपञ्चमहाभूत हैं—गीताके सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिनका 'भूमिः', 'आपः', 'अनलः', 'वायुः' और 'खम्' के नामसे वर्णन हुआ है—उन्हीं पाँचोंका वाचक यहाँ 'महाभूतानि' पद है।

† इसीसे मिलता-जुलता वर्णन सांख्यकारिका और योगदर्शनमें भी आता है, जैसे—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥
(सांख्यकारिका ३)

अर्थात् एक मूल प्रकृति है, वह किसीकी विकृति (विकार) नहीं है। महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्रा)—ये सात प्रकृति-विकृति हैं, अर्थात् ये सातों पञ्चभूतादिके कारण होनेसे 'प्रकृति' भी हैं और मूल प्रकृतिके कार्य होनेसे 'विकृति' भी हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन—ये ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत—ये सोलह केवल विकृति (विकार) हैं, वे किसीकी प्रकृति अर्थात् कारण नहीं हैं। इनमें ग्यारह इन्द्रियाँ तो अहंकारके तथा पञ्च स्थूल महाभूत पञ्चतन्मात्राओंके कार्य हैं; किंतु पुरुष न किसीका कारण है और न किसीका कार्य है, वह सर्वथा असङ्ग है।

योगदर्शनमें कहा है—'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।' (२। १९) विशेष यानी पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, एक मन और पञ्च स्थूल भूत; अविशेष यानी अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ; लिङ्गमात्र यानी महत्तत्त्व और अलिङ्ग यानी मूल प्रकृति—ये चौबीस तत्त्व गुणोंकी अवस्थाविशेष हैं; इन्हींको 'दृश्य' कहते हैं।

योगदर्शनमें जिसको 'दृश्य' कहा है, उसीको गीतामें 'क्षेत्र' कहा गया है।

पाँच महाभूत, अहंकार*, बुद्धि† और मूल प्रकृति‡ भी; तथा दस इन्द्रियाँ§, एक मन× और पाँच इन्द्रियोंके विषय+ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

तथा इच्छा,÷ द्वेष,ऽ सुख,A दुःख,B स्थूल देहका पिंड, चेतनाC और धृतिD—इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गयाE; ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार क्षेत्रके स्वरूप और उसके विकारोंका वर्णन करनेके बाद अब जो दूसरे श्लोकमें यह बात कही थी कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—उस ज्ञानको प्राप्त करनेके साधनोंका 'ज्ञान' के ही नामसे पाँच श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—

अमानित्व[१]मदम्भित्व[२]महिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

---

* यह समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है। अहंकार ही पञ्चतन्मात्राओं, मन और समस्त इन्द्रियोंका कारण है तथा महत्तत्त्वका कार्य है; इसीको 'अहंभाव' भी कहते हैं। यहाँ 'अहंकार' शब्द उसीका वाचक है।

† जिसे 'महत्तत्त्व' (महान्) और 'समष्टि बुद्धि' भी कहते हैं, जो समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है, निश्चय ही जिसका स्वरूप है—उसको यहाँ 'बुद्धि' कहा गया है।

‡ यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ मूल प्रकृति समझना चाहिये, जो महत्तत्त्व आदि समस्त पदार्थोंकी कारणरूपा है, सांख्यशास्त्रमें जिसको 'प्रधान' कहते हैं, भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिसको 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिसको 'प्रकृति' नाम दिया गया है।

§ वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), उपस्थ और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ये सब मिलकर दस इन्द्रियाँ हैं। इन सबका कारण अहंकार है।

× यहाँ 'एक' शब्दसे उस मनको ही बतलाया गया है जो समष्टि अन्तःकरणकी मनन करनेवाली शक्ति-विशेष है, संकल्प-विकल्प ही जिसका स्वरूप है। यह भी अहंकारका कार्य है।

+ यहाँ 'पञ्च इन्द्रियगोचराः' पदोंका अर्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध समझना चाहिये, जो कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके स्थूल विषय हैं। ये सूक्ष्म भूतोंके कार्य हैं।

÷ जिन पदार्थोंको मनुष्य सुखके हेतु और दुःखनाशक समझता है, उनको प्राप्त करनेकी जो आसक्तियुक्त कामना है—जिसके वासना, तृष्णा, आशा, लालसा और स्पृहा आदि अनेकों भेद हैं—उसीका वाचक यहाँ 'इच्छा' शब्द है।

ऽ जिन पदार्थोंको मनुष्य दुःखमें हेतु या सुखमें बाधक समझता है, उनमें जो विरोध-बुद्धि होती है—उसका नाम द्वेष है। इसके स्थूल रूप वैर, ईर्ष्या, घृणा और क्रोध आदि हैं।

A अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलकी निवृत्तिसे अन्तःकरणमें जो प्रसन्नताकी वृत्ति होती है, उसका नाम 'सुख' है।

B प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशसे जो अन्तःकरणमें व्याकुलता होती है, जिसे व्यथा भी कहते हैं—उसका वाचक 'दुःख' है।

C अन्तःकरणमें जो ज्ञान-शक्ति है, जिसके द्वारा प्राणी सुख-दुःख और समस्त पदार्थोंका अनुभव करते हैं, जिसे गीताके दसवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें 'चेतना' कहा गया है—उसीका वाचक यहाँ 'चेतना' है, यह भी अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है अतएव इसकी भी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

D गीताके अठारहवें अध्यायके तैंतीसवें, चौंतीसवें और पैंतीसवें श्लोकोंमें जिस धारण-शक्तिके सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद किये गये हैं, उसीका वाचक यहाँ 'धृति' है। अन्तःकरणका विकार होनेसे इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

E यहाँतक विकारोंसहित क्षेत्रका संक्षेपसे वर्णन हो गया, अर्थात् पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रका स्वरूप संक्षेपमें बतला दिया गया और छठेमें उसके विकारोंका वर्णन संक्षेपमें कर दिया गया।

[१] अपनेको श्रेष्ठ, सम्मान्य, पूज्य या बहुत बड़ा समझना एवं मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा-पूजा आदिकी इच्छा करना; अथवा बिना ही इच्छा किये इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना—यह मानित्व है। इन सबका न होना ही 'अमानित्व' है।

[२] मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगने आदिके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, दानशील, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा विख्यात करना और बिना ही हुए धर्मपालन, उदारता, दातापन, भक्ति,

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना*, क्षमाभाव,† मन-वाणी आदिकी सरलता,‡ श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा,§ बाहर-भीतरकी शुद्धि,× अन्तःकरणकी स्थिरता+ और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह÷ ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्[१]अनहंकार[२] एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करनाऽ ॥ ८ ॥

योगसाधना, व्रत-उपवासादिका अथवा अन्य किसी भी प्रकारके गुणका ढोंग करना—दम्भित्व है। इसके सर्वथा अभावका नाम 'अदम्भित्व' है।

* किसी भी प्राणीको मन, वाणी या शरीरसे किसी प्रकार भी कभी कष्ट देना—मनसे किसीका बुरा चाहना, वाणीसे किसीको गाली देना, कठोर वचन कहना, किसीकी निन्दा करना या अन्य किसी प्रकारके दुःखदायक और अहित-कारक वचन कह देना; शरीरसे किसीको मारना, कष्ट पहुँचाना या किसी प्रकारसे भी हानि पहुँचाना आदि जो हिंसाके मात्र हैं, इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'अहिंसा' अर्थात् किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना है।

† अपना अपराध करनेवालेके लिये किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव मनमें न रखना, उससे बदला लेनेकी अथवा अपराधके बदले उसे इस लोक या परलोकमें दण्ड मिले—ऐसी इच्छा न रखना और उसके अपराधोंको वस्तुतः अपराध ही न मानकर उन्हें सर्वथा भुला देना 'क्षमाभाव' है। गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इसकी कुछ विस्तारसे व्याख्या की गयी है।

‡ जिस साधकमें मन, वाणी और शरीरकी सरलताका भाव पूर्णरूपसे आ जाता है, वह सबके साथ सरलतापूर्ण व्यवहार करता है; उसमें कुटिलताका सर्वथा अभाव हो जाता है। अर्थात् उसके व्यवहारमें दाव-पेंच, कपट या टेढ़ापन जरा भी नहीं रहता; वह बाहर और भीतरसे सदा समान और सरल रहता है।

§ विद्या और सदुपदेश देनेवाले गुरुका नाम 'आचार्य' है। ऐसे गुरुके पास रहकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, मन, वाणी और शरीरके द्वारा सब प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना, नमस्कार करना, उनकी आज्ञाओंका पालन करना और उनके अनुकूल आचरण करना आदि 'आचार्योपासन' यानी गुरु-सेवा है।

× सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी शुद्धि होती है, उस द्रव्यसे उपार्जित अन्नसे आहारकी शुद्धि होती है। यथायोग्य शुद्ध बर्तावसे आचरणोंकी शुद्धि होती है और जल-मिट्टी आदिके द्वारा प्रक्षालनादि क्रियासे शरीरकी शुद्धि होती है। यह सब बाहरकी शुद्धि है। राग-द्वेष और छल-कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि है। दोनों ही प्रकारकी शुद्धियोंको 'शौच' कहा जाता है।

+ बड़े-से-बड़े कष्ट, विपत्ति, भय या दुःखके आ पड़नेपर भी विचलित न होना एवं काम, क्रोध, भय या लोभ आदिसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे जरा भी न डिगना तथा मन और बुद्धिमें किसी तरहकी चञ्चलताका न रहना 'अन्तःकरणकी स्थिरता' है।

÷ यहाँ 'आत्मा' से अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरको समझना चाहिये। अतः इन सबको भलीभाँति अपने वशमें कर लेना ही इनका निग्रह करना है।

१. इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें वे दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' है।

२. मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहम्' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्मवस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहंकार' कहलाता है।

ऽ जन्मका कष्ट सहज नहीं है; पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लंबे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश होते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती; इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती

चार अवस्था

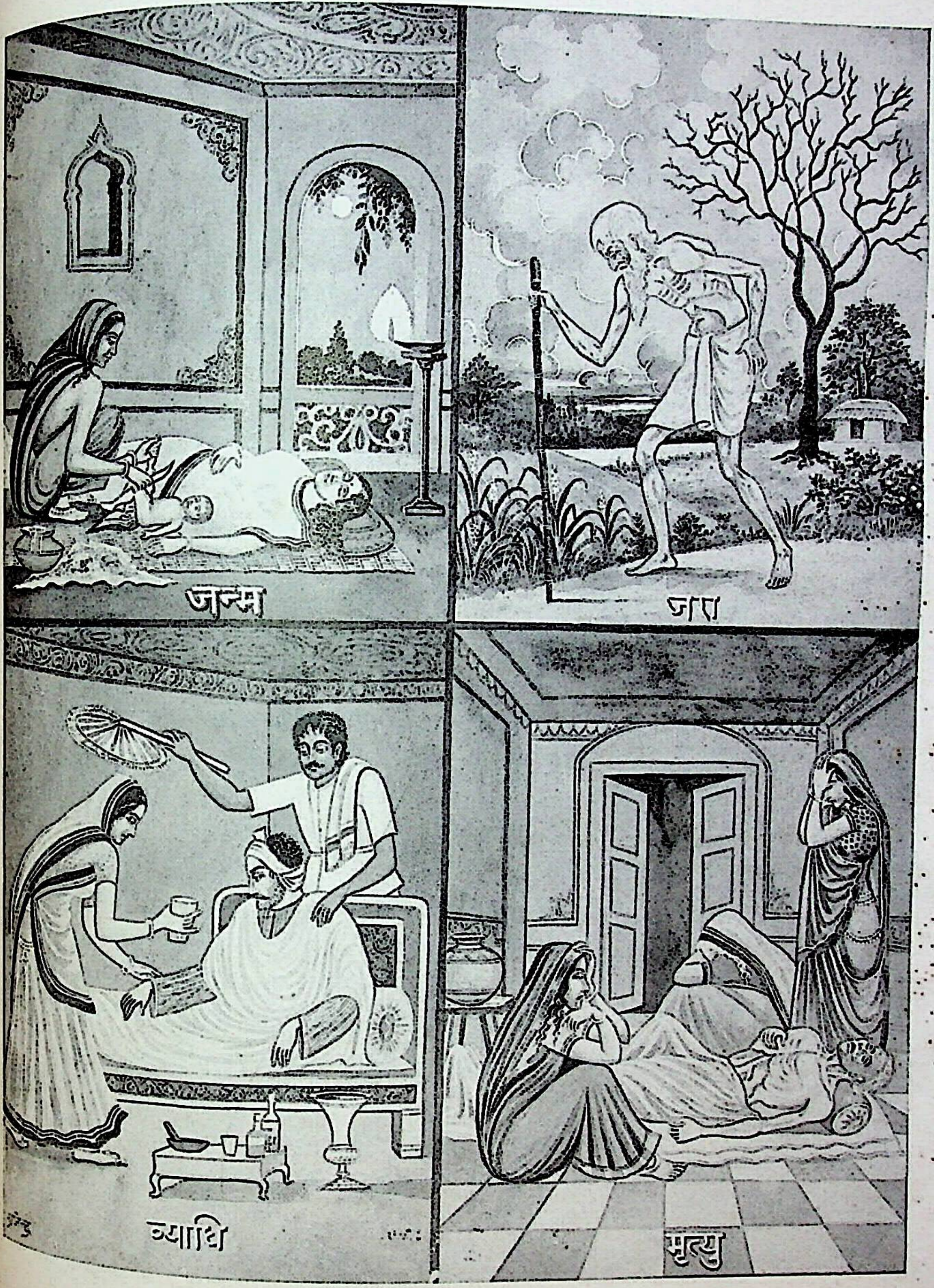
जन्म
जरा
व्याधि
मृत्यु

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (गीता १३ । ८)

सक्तिरनभिष्वङ्गः[2] पुत्रदारगृहादिषु ।
त्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु[3] ॥ ९ ॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही त्तका सम रहना ॥ ९ ॥

यि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जन[5]संसदि ॥ १० ॥

मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति† और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना‡—यह सब ज्ञान है,§ और जो इससे

है, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उछलती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। ऐसी अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है। निरुपाय स्थिति है। यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

१. यद्यपि आठवें श्लोकमें इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य होनेकी बात कही जा चुकी, किंतु स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इनमें उसकी विशेष आसक्ति होती है; इसीलिये इनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जानेकी बात विशेषरूपसे पृथक् कही गयी है।

२. अहंकारके अभावकी बात पूर्वश्लोकके 'अनहंकारः' पदमें स्पष्टतः आ चुकी है, इसीलिये यहाँ 'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ 'ममताका अभाव' किया गया है।

३. अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके शोक, भय और क्रोध आदिका न होना--सदा ही निर्विकार, एकरस, सम रहना—इसको 'प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें समचित्तता' कहते हैं।

४. जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी संकोच या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जल, वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और इनका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों, ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्तदेश' कहते हैं तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

५. यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उसमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' नहीं समझना चाहिये।

* भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करनेयोग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्य योग' है तथा इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्का ही भजन, ध्यान करते रहना ही अनन्य योगके द्वारा भगवान्में अव्यभिचारिणी भक्ति करना है।

† आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है; उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

‡ तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर अनुभव करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

§ 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक जिनका वर्णन किया गया है, वे सभी ज्ञानप्राप्तिके

विपरीत है, वह अज्ञान* है—ऐसा कहा है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार ज्ञानके साधनोंका 'ज्ञान' के नामसे वर्णन सुननेपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन साधनोंद्वारा प्राप्त 'ज्ञान' से जाननेयोग्य वस्तु क्या है और उसे जान लेनेसे क्या होता है। उसका उत्तर देनेके लिये भगवान् अब जाननेके योग्य वस्तुके स्वरूपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके जाननेका फल 'अमरत्वकी प्राप्ति' बतलाकर छः श्लोकोंमें जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

ज्ञेयं[1] यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत् परं ब्रह्म[2] न सत् तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही† ॥ १२ ॥

इसलिये उनका नाम भी 'ज्ञान' रक्खा गया है। अभिप्राय यह है कि दूसरे श्लोकमें भगवान्ने जो यह बात कही है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—इस कथनसे कोई ऐसा न समझ ले कि शरीरका नाम 'क्षेत्र' है और इसके अंदर रहनेवाले ज्ञाता आत्माका नाम 'क्षेत्रज्ञ' है—यह बात हमने समझ ही ली; बस, हमें ज्ञान प्राप्त हो गया; किंतु वास्तवमें सच्चा ज्ञान वही है जो उपर्युक्त बीस साधनोंके द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान लेनेपर होता है। इसी बातको समझानेके लिये यहाँ इन साधनोंको 'ज्ञान' के नामसे कहा गया है। अतएव ज्ञानीमें उपर्युक्त गुणोंका समावेश पहलेसे ही होना आवश्यक है, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी गुण सभी साधकोंमें एक ही समयमें हों। अवश्य ही, इनमें जो 'अमानित्व', 'अदम्भित्व' आदि बहुत-से सबके उपयोगी गुण हैं, वे तो सबमें रहते ही हैं। इनके अतिरिक्त 'अव्यभिचारिणी भक्ति', 'एकान्तदेशसेवित्व', 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्व', 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शन'—इनमें अपनी-अपनी साधन-शैलीके अनुसार विकल्प भी हो सकता है।

* उपर्युक्त अमानित्वादि गुणोंसे विपरीत जो मान-बड़ाईकी कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कपट, कुटिलता, द्रोह, अपवित्रता, अस्थिरता, लोलुपता, आसक्ति, अहंता, ममता, विषमता, अश्रद्धा और कुसंग आदि दोष हैं, वे सभी जन्म-मृत्युके हेतुभूत अज्ञानको बढ़ानेवाले और जीवका पतन करनेवाले हैं; इसलिये वे सब अज्ञान ही हैं। अतएव उन सबका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

[1] यहाँ 'ज्ञेयम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण और सगुण ब्रह्मका वाचक है, क्योंकि इसी प्रकरणमें स्वयं भगवान्ने ही उसको निर्गुण और गुणोंका भोक्ता बतलाया है।

[2] यहाँ 'परम्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' पदका प्रयोग, वह ज्ञेय तत्त्व ही निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा है, यह बतलानेके उद्देश्यसे किया गया है। 'ब्रह्म' पद वेद, ब्रह्मा और प्रकृतिका भी वाचक हो सकता है; अतएव ज्ञेयतत्त्वका स्वरूप उनसे विलक्षण है, यह बतलानेके लिये 'ब्रह्म' पदके साथ 'परम्' विशेषण दिया गया है।

† जो वस्तु प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की जाती है, उसे 'सत्' कहते हैं। स्वतः प्रमाण नित्य अविनाशी परमात्मा किसी भी प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि परमात्मासे ही सबकी सिद्धि होती है, परमात्मातक किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है। वह प्रमाणोंद्वारा जाननेमें आनेवाली वस्तुओंसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये परमात्माको 'सत्' नहीं कहा जा सकता तथा जिस वस्तुका वास्तवमें अस्तित्व नहीं होता, उसे 'असत्' कहते हैं; किंतु परब्रह्म परमात्माका अस्तित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वह अवश्य है और वह है—इसीसे अन्य सबका होना भी सिद्ध होता है; अतः उसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये परमात्मा 'सत्' और 'असत्' दोनोंसे ही परे है।

यद्यपि गीताके नवम अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें तो भगवान्ने कहा है कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ और यहाँ यह कहते हैं कि उस जाननेयोग्य परमात्माको न 'सत्' कहा जा सकता है और न 'असत्'; किंतु वहाँ विधि-मुखसे वर्णन है, इसलिये भगवान्का यह कहना कि 'सत्' भी मैं हूँ और 'असत्' भी मैं हूँ, उचित ही है। पर यहाँ निषेधमुखसे वर्णन है, किंतु वास्तवमें उस परब्रह्म परमात्माका स्वरूप वाणीके द्वारा न तो विधिमुखसे बतलाया जा सकता है और न निषेधमुखसे ही। उसके विषयमें जो कुछ भी कहा जाता है, सब केवल शाखाचन्द्रन्यायसे उसे लक्ष्य करानेके लिये ही है, उसके साक्षात्-स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता। श्रुति भी कहती है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्तिरीय उप० २। ९), अर्थात् 'मनके सहित वाणी जिसे न पाकर वापस लौट आती है (वह ब्रह्म है)।' इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ भगवान्ने निषेधमुखसे कहा है कि वह न 'सत्' कहा जाता है और न 'असत्' ही। अर्थात् मैं जिस ज्ञेयवस्तुका वर्णन करना चाहता हूँ, उसका वास्तविक स्वरूप तो मन-वाणीका अविषय है; अतः उसका जो कुछ भी वर्णन किया जायगा, उसे उसका तटस्थ लक्षण ही समझना चाहिये।

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥*

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है†; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है‡ ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है§ तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है× ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात् तद् विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥+

वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है÷ एवं वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय हैऽ तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही हैA ॥१५॥

---

* यह श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषद् (३ । १६) में अक्षरशः आया है।

† वह परब्रह्म परमात्मा सब ओर हाथवाला है। उसे कोई भी वस्तु कहींसे भी समर्पण की जाय, वह वहींसे उसे ग्रहण करनेमें समर्थ है। इसी तरह वह सब जगह पैरवाला है। कोई भी भक्त कहींसे उसके चरणोंमें प्रणामादि करते हैं, वह वहीं उसे स्वीकार कर लेता है। वह सब जगह आँखवाला है। उससे कुछ भी छिपा नहीं है। वह सब जगह सिर-वाला है। जहाँ कहीं भी भक्तलोग उसका सत्कार करनेके उद्देश्यसे पुष्प आदि उसके मस्तकपर चढ़ाते हैं, वे सब ठीक उसपर चढ़ते हैं। वह सब जगह मुखवाला है। उसके भक्त जहाँ भी उसको खानेकी वस्तु समर्पण करते हैं, वह वहीं उस वस्तुको स्वीकार कर सकता है। अर्थात् वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सबका साक्षी, सब कुछ देखनेवाला तथा सबकी पूजा और सेवा स्वीकार करनेकी शक्तिवाला है। वह परमात्मा सब जगह सुननेकी शक्तिवाला है। जहाँ कहीं भी उसके भक्त उसकी स्तुति करते हैं या उससे प्रार्थना अथवा याचना करते हैं, उन सबको वह भलीभाँति सुनता है।

‡ आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारण होनेसे उनको व्याप्त किये हुए स्थित है, उसी प्रकार वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा भी इस चराचर जीवसमूहसहित समस्त जगत्‌का कारण होनेसे सबको व्याप्त किये हुए स्थित है; अतः सब कुछ उसीसे परिपूर्ण है।

§ अभिप्राय यह है कि तेरहवें श्लोकमें जो उसको सब जगह हाथ-पैरवाला और अन्य सब इन्द्रियोंवाला बतलाया गया है, उससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि वह ज्ञेय परमात्मा अन्य जीवोंकी भाँति हाथ-पैर आदि इन्द्रियोंवाला है; वह इस प्रकारकी इन्द्रियोंसे सर्वथा रहित होते हुए भी सब जगह उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ है। इसीलिये उसको सब जगह सब इन्द्रियोंवाला और सब इन्द्रियोंसे रहित कहा गया है। श्रुतिमें भी कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ । १९)

'वह परमात्मा बिना पैर-हाथके ही वेगसे चलता और ग्रहण करता है तथा बिना नेत्रोंके देखता और बिना कानोंके ही सुनता है।'

अतएव उसका स्वरूप अलौकिक है, इस वर्णनमें यही बात समझायी गयी है।

× अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा सब गुणोंका भोक्ता होते हुए भी अन्य जीवोंकी भाँति प्रकृतिके गुणोंसे लिप्त नहीं है। वह वास्तवमें गुणोंसे सर्वथा अतीत है, तो भी प्रकृतिके सम्बन्धसे समस्त गुणोंका भोक्ता है। यही उसकी अलौकिकता है।

+ श्रुतिमें भी कहा है—'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥' (ईशोपनिषद् ५) अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है, वह इस सम्पूर्ण जगत्‌के भीतर भी है और इन सबके बाहर भी है।

÷ वह परमात्मा चराचर भूतोंके बाहर और भीतर भी है, इससे कोई यह बात न समझ ले कि चराचर भूत उससे भिन्न होंगे। इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं कि चराचर भूत भी वही है। अर्थात् जैसे बरफके बाहर-भीतर भी जल है और स्वयं बरफ भी वस्तुतः जल ही है—जलसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार यह समस्त चराचर जगत् उस परमात्माका ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।

ऽ जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित परमाणुरूप जल साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता—उनके लिये वह दुर्विज्ञेय है, उसी प्रकार वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा भी उस परमाणुरूप जलकी अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता; इसलिये वह अविज्ञेय है।

A सम्पूर्ण जगत्‌में और इसके बाहर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ परमात्मा न हो। इसलिये वह अत्यन्त

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है * तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः[१] परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं[२] ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति† एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है । वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य‡ है और सबके हृ विशेषरूपसे स्थित है§ ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्म स्वरूप संक्षेपसे कहा गया× । मेरा भक्त इसको तत्त्वसे कर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है+ ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्रके वि चार बातें और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो बातें संक्षेपमें सुननेके लिये क से कहा था, फिर विषय आरम्भ करते ही क्षेत्रके स्वरूपका और विकारोंका वर्णन करनेके अनन्तर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके तत्त्वको भ

समीपमें भी है और दूरमें भी है; क्योंकि जिसको मनुष्य दूर और समीप मानता है, उन सभी स्थानोंमें वह विज्ञानानन्द परमात्मा सदा ही परिपूर्ण है । इसलिये इस तत्त्वको समझनेवाले श्रद्धालु मनुष्योंके लिये वह परमात्मा अत्यन्त समीप है अश्रद्धालुके लिये अत्यन्त दूर है ।

* इस वाक्यसे उस जाननेयोग्य परमात्माके एकत्वका प्रतिपादन किया गया है । अभिप्राय यह है कि जैसे महाक वास्तवमें विभागरहित है तो भी भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा वास्त विभागरहित है, तो भी समस्त चराचर प्राणियोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक्‌के सदृश स्थित प्रतीत होता है; किंतु यह भिन्न केवल प्रतीतिमात्र ही है, वास्तवमें वह परमात्मा एक है और वह सर्वत्र परिपूर्ण है ।

१. यहाँ 'तमसः' पद अन्धकार और अज्ञान अर्थात् मायाका वाचक है और वह परमात्मा स्वयंज्योति तथा ज्ञ स्वरूप है; अन्धकार और अज्ञान उसके निकट नहीं रह सकते, इसलिये उसे मायासे अत्यन्त परे—इनसे सर्वथा रहित—बतलाया गया है ।

२. उसे पुनः 'ज्ञेय' कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि जिस ज्ञेयका बारहवें श्लोकमें प्रकरण आरम्भ कि गया है, उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही इस संसारमें मनुष्य-शरीरका परम कर्तव्य है; इस संसारमें जाननेके यो एकमात्र परमात्मा ही है । अतएव उसका तत्त्व जाननेके लिये सभीको पूर्णरूपसे उद्योग करना चाहिये, अपने अमूल जीवनको सांसारिक भोगोंमें लगाकर नष्ट नहीं कर डालना चाहिये ।

† चन्द्रमा, सूर्य, विद्युत्, तारे आदि जितनी भी बाह्य ज्योतियाँ हैं; बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि जित आध्यात्मिक ज्योतियाँ हैं तथा विभिन्न लोकों और वस्तुओंके अधिष्ठातृदेवतारूप जो देवज्योतियाँ हैं—उन सबक प्रकाशक वह परमात्मा है तथा उन सबमें जितनी प्रकाशनशक्ति है, वह भी उसी परब्रह्म परमात्माका एक अंशमात्र है।

‡ अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंके द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञानसे वह जाना जाता है ।

§ वह परमात्मा सब जगह समानभावसे परिपूर्ण होते हुए भी, हृदयमें उसकी विशेष अभिव्यक्ति है । जैसे सूर्य प्रकाश सब जगह समानरूपसे विस्तृत रहनेपर भी दर्पण आदिमें उसके प्रतिबिम्बकी विशेष अभिव्यक्ति होती है एवं सूर्यक शीशेमें उसका तेज प्रत्यक्ष प्रकट होकर अग्नि उत्पन्न कर देता है, अन्य पदार्थोंमें उस प्रकारकी अभिव्यक्ति न होती, उसी प्रकार हृदय उस परमात्माकी उपलब्धिका स्थान है । ज्ञानीके हृदयमें तो वह प्रत्यक्ष ही प्रकट है । यही ब समझानेके लिये उसको सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित बतलाया गया है ।

× इस अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारोंसहित क्षेत्रके स्वरूपका वर्णन किया गया है, सातवें ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञानके नामसे ज्ञानके बीस साधनोंका और बारहवेंसे सतरहवेंतक ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य परमात्म स्वरूपका वर्णन किया गया है ।

+ क्षेत्रको प्रकृतिका कार्य, जड, विकारी, अनित्य और नाशवान् समझना, ज्ञानके साधनोंको भलीभाँ धारण करना और उनके द्वारा भगवान्‌के निर्गुण, सगुण रूपको भलीभाँति समझ लेना—यही क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय जानना है तथा उस ज्ञेयस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाना ही भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है ।

नके उपायभूत साधनोंका और जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका प्रसंगवश किया गया। इससे क्षेत्रके विषयमें उसके स्वभाव- और किस कारणसे कौन कार्य उत्पन्न होता है, इस विषयका प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपका भी वर्णन नहीं हुआ। अतः न सबका वर्णन करनेके लिये भगवान् पुनः प्रकृति और के नामसे प्रकरण आरम्भ करते हैं—

ति पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
कारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥

प्रकृति* और पुरुष, इन दोनोंको ही तू अनादि। और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान॥ १९॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें, जिससे जो उत्पन्न हुआ यह बात सुननेके लिये कहा गया था, उसका वर्णन पूर्व श्लोकके उत्तरार्द्धमें कुछ किया गया। अब उसीकी कुछ बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें कहते हुए इसके उत्तरार्द्धमें और इक्कीसवें श्लोकमें प्रकृतिमें स्थित पुरुषके स्वरूपका वर्णन किया जाता है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है‡ और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है§॥ २०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है× और इन गुणोंका संग ही इस

---

१. इसी अध्यायके छठे श्लोकमें जिन इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि विकारोंका वर्णन किया गया है—उन सबका यहाँ 'विकारान्' पद है तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका और इनसे उत्पन्न समस्त जड पदार्थोंका 'गुणान्' पद है। इन दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझनेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सत्त्व, और तम—इन तीनों गुणोंका नाम प्रकृति नहीं है; प्रकृति अनादि है। तीनों गुण सृष्टिके आदिमें उससे उत्पन्न होते (भागवत २।५।२२ तथा ११।२४।५)। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने गीताके चौदहवें अध्यायके श्लोकमें सत्त्व, रज और तम—इस प्रकार तीनों गुणोंका नाम देकर तीनोंको प्रकृतिसम्भव बतलाया है।

* यहाँ 'प्रकृति' शब्द ईश्वरकी अनादिसिद्ध मूल प्रकृतिका वाचक है। गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इसीको के नामसे कहा गया है। सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें अपरा प्रकृतिके नामसे और इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रके नामसे भी इसीका वर्णन है। भेद इतना ही है कि वहाँ सातवें अध्यायमें उसके कार्य—मन, बुद्धि, अहंकार पञ्चमहाभूतादिके सहित प्रकृतिका वर्णन है और यहाँ केवल 'मूल प्रकृति' का वर्णन है।

† जीवका जीवत्व अर्थात् प्रकृतिके साथ उसका सम्बन्ध किसी हेतुसे होनेवाला—आगन्तुक नहीं है, यह अनादि- है और इसी प्रकार ईश्वरकी शक्ति यह प्रकृति भी अनादिसिद्ध है—ऐसा समझना चाहिये।

‡ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों सूक्ष्म महाभूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये इन्द्रियोंके विषय; इन दसोंका वाचक यहाँ 'कार्य' शब्द है। बुद्धि, अहंकार और मन—ये तीनों अन्तःकरण; त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ; देहका वाचक यहाँ 'करण' शब्द है। ये तेईस तत्त्व प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृति ही इनका उपादान कारण क्योंकि प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और दस इन्द्रिय तथा पाँच महाभूतोंसे पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि पाँचों स्थूल विषयोंकी उत्पत्ति मानी जाती है। सांख्यकारिकामें भी कहा है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥

(सांख्यकारिका २२)

'प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि) की यानी बुद्धितत्त्वकी, उससे अहंकारकी और अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ, एक मन और इन्द्रियाँ—इन सोलहके समुदायकी उत्पत्ति हुई तथा उन सोलहमेंसे पाँच तन्मात्राओंसे पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति हुई।' गीताके वर्णनमें पाँच तन्मात्राओंकी जगह पाँच सूक्ष्म महाभूतोंका नाम आया है और पाँच स्थूल भूतोंके स्थानमें इन्द्रियोंके विषयोंका नाम आया है, इतना ही भेद है।

§ प्रकृति जड है, उसमें भोक्तापनकी सम्भावना नहीं है और पुरुष असङ्ग है, इसलिये उसमें भी वास्तवमें भोक्तापन है। प्रकृतिके संगसे ही पुरुषमें भोक्तापनकी प्रतीति-सी होती है और यह प्रकृति-पुरुषका संग अनादि है, इसलिये यहाँ को सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु यानी निमित्त माना गया है।

× प्रकृतिसे बने हुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ जबतक इस जीवात्मा-

जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है* ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रकृतिस्थ पुरुषके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब जीवात्मा और परमात्माकी एकता करते हुए आत्माके गुणातीत स्वरूपका वर्णन करते हैं—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

इस देहमें स्थित यह आत्मा वास्तवमें परमात्मा ही है† । वही साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा- ऐसा कहा गया है‡ ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको मनुष्य तत्त्वसे जानता है,§ वह सब प्रकारसे कर्तव्य करता हुआ भी× फिर नहीं जन्मता + ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गुणोंके सहित प्रकृति और पुरुषके का महत्त्व सुनकर यह इच्छा हो सकती है कि ऐसा ज्ञान होता है । इसलिये अब दो श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न अधिकारि लिये तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करते हैं—

का सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रकृतिमें स्थित (प्रकृतिस्थ) कहलाता है, अतएव जबतक आत्माका प्रकृतिके स सम्बन्ध रहता है, तभीतक वह प्रकृतिजनित गुणोंका भोक्ता है ।

* मनुष्यसे लेकर उससे ऊँची जितनी भी देवादि योनियाँ हैं, सब सत्-योनियाँ हैं और मनुष्यसे नीची जितनी पशु, पक्षी, वृक्ष और लता आदि योनियाँ हैं, वे असत् हैं । सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साथ जो जीवका अनादिसि सम्बन्ध है एवं उनके कार्यरूप सांसारिक पदार्थोंमें जो आसक्ति है, वही गुणोंका संग है; जिस मनुष्यकी जिस गुणमें उसके कार्यरूप पदार्थमें आसक्ति होगी, उसकी वैसी ही वासना होगी, वासनाके अनुसार ही अन्तकालमें स्मृति होगी उसीके अनुसार उसे पुनर्जन्म प्राप्त होगा । इसीलिये यहाँ अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें गुणोंके संगको कार बतलाया गया है ।

† प्रकृतिजनित शरीरोंकी उपाधिसे जो चेतन आत्मा अज्ञानके कारण जीवभावको प्राप्त-सा प्रतीत होता है, क्षेत्रज्ञ वास्तवमें इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत परमात्मा ही है; क्योंकि उस परब्रह्म परमात्मामें और क्षेत्रज्ञमें वस्तुतः कि प्रकारका भेद नहीं है, केवल शरीररूप उपाधिसे ही भेदकी प्रतीति हो रही है ।

‡ इस कथनसे इस बातका प्रतिपादन किया गया है कि भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे एक ही परब्रह्म परमात्मा भिन्न-भि नामोंसे पुकारा जाता है । वस्तुदृष्टिसे ब्रह्ममें किसी प्रकारका भेद नहीं है ।

§ जितने भी पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञोंकी प्रतीति होती है, सब उस एक परब्रह्म परमात्माके ही अभिन्न स्वरूप हैं प्रकृतिके संगसे उनमें भिन्नता-सी प्रतीत होती है, वस्तुतः कोई भेद नहीं है और वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मु और अविनाशी तथा प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है—इस बातको संशयरहित यथार्थ समझ लेना एवं एकीभावसे उ सच्चिदानन्दघनमें नित्य स्थित हो जाना ही 'पुरुषको तत्त्वसे जानना' है । तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं, यह समस्त विश प्रकृतिका ही पसारा है और वह नाशवान्, जड, क्षणभङ्गुर और अनित्य है—इस रहस्यको समझ लेना ही 'गुणोंके स प्रकृतिको तत्त्वसे जानना' है ।

× वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—किसी भी वर्णमें एवं ब्रह्मचर्यादि किसी भी आश्रममें रहता हुआ तथा उन-उ वर्णाश्रमोंके लिये शास्त्रमें विधान किये हुए समस्त कर्मोंको यथायोग्य करता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ।

यहाँ 'सर्वथा वर्तमानः' का अर्थ निषिद्ध कर्म करता हुआ नहीं समझना चाहिये; क्योंकि आत्मतत्त्वको जान वाले ज्ञानीमें काम-क्रोधादि दोषोंका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण (गीता ५ । २६) उसके द्वारा निषिद्ध कर्मका बन सम्भव नहीं है । इसीलिये उसके आचरण संसारमें प्रमाणरूप माने जाते हैं (गीता ३ । २१) । पापोंमें मनुष्यकी प्रवृ काम-क्रोधादि अवगुणोंके कारण ही होती है; अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें इस बातको स्पष्टरूपसे कह भी दिया है ।

+ प्रकृति और पुरुषके तत्त्वको जान लेनेके साथ ही पुरुषका प्रकृतिसे सम्बन्ध टूट जाता है; क्योंकि प्रकृति और पुरुषका संयोग स्वप्नवत्, अवास्तविक और केवल अज्ञानजनित माना गया है । जबतक प्रकृति और पुरुषका पूर्ण ज्ञ नहीं होता, तभीतक पुरुषका प्रकृतिसे और उसके गुणोंसे सम्बन्ध रहता है और तभीतक उसका बार-बार नाना योनियों जन्म होता है (गीता १३ । २१) । अतएव इनका तत्त्व जान लेनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं;* अन्य कितने ही सांख्ययोगके द्वारा† और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा‡ देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।§
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्मसम्बन्धी तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करके अब तीसरे श्लोकमें जो 'यादृक्' पदसे क्षेत्रके स्वभावको सुननेके लिये कहा था, उसके अनुसार भगवान् दो श्लोकोंद्वारा उस क्षेत्रको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर उसके स्वभावका वर्णन करते हुए आत्माके यथार्थ तत्त्वको जाननेवालेकी प्रशंसा करते हैं—

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान× ॥ २६ ॥

---

* गीताके छठे अध्यायके ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें बतलायी हुई विधिके अनुसार शुद्ध और एकान्त स्थानमें उपयुक्त आसनपर निश्चलभावसे बैठकर इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, मनको वशमें करके तथा एक परमात्माके सिवा दृश्य-जगत्को भूलकर निरन्तर परमात्माका चिन्तन करना ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते रहनेसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है और उस विशुद्ध सूक्ष्मबुद्धिसे जो हृदयमें सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किया जाता है, वही ध्यानद्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माको देखना है।

परंतु भेदभावसे सगुण-निराकारका और सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले साधक भी यदि इस प्रकारका फल चाहते हों तो उनको भी अभेदभावसे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है।

† सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जल अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामात्र हैं; इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप समस्त गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो जाना तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता न समझना—यह 'सांख्ययोग' नामक साधन है और इसके द्वारा जो आत्मा और परमात्माके अभेदका प्रत्यक्ष होकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्न भावसे प्राप्त हो जाना है, वही सांख्ययोगके द्वारा आत्मासे आत्मामें देखना है।

यह साधन साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारीके द्वारा ही सुगमतासे किया जा सकता है। इसका विस्तार 'गीतातत्त्व-विवेचनी' में देखना चाहिये।

‡ जिस साधनका गीताके दूसरे अध्यायमें चालीसवें श्लोकसे उक्त अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त फलसहित वर्णन किया गया है, उसका वाचक यहाँ 'कर्मयोग' है। अर्थात् आसक्ति और कर्मफलका सर्वथा त्याग करके सिद्धि और असिद्धिमें समत्व रखते हुए शास्त्रानुसार निष्कामभावसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सब प्रकारके विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना कर्तव्य है और इसके द्वारा जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको अभिन्नभावसे प्राप्त हो जाना है, वही कर्मयोगके द्वारा आत्मामें आत्माको देखना है।

§ बुद्धिकी मन्दताके कारण जो लोग पूर्वोक्त ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग—इनमेंसे किसी भी साधनको भलीभाँति नहीं समझ पाते, ऐसे साधकोंका वाचक यहाँ 'एवम् अजानन्तः' विशेषणके सहित 'अन्ये' पद है।

तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंका आदेश प्राप्त करके अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ जो जबालाके पुत्र सत्यकामकी भाँति उसके अनुसार आचरण करना है, वही दूसरोंसे सुनकर उपासना करना है।

१. तेईसवें श्लोकमें जो बात 'न स भूयोऽभिजायते' से और चौबीसवेंमें जो बात 'आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति' से कही है, वही बात यहाँ 'मृत्युम् अतितरन्ति' से कही गयी है।

× इस अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिन चौबीस तत्त्वोंके समुदायको क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है, गीताके सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें जिसको 'अपरा प्रकृति' कहा गया है, वही 'क्षेत्र' है और उसको जो जाननेवाला है;

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है* ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता,† इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्वको सर्वत्र समभावसे देखनेका महत्त्व और फल बतलाकर अब अगले श्लोकमें उसे अकर्ता देखनेवालेकी महिमा कहते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है‡ ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

जिसको गीताके सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'परा प्रकृति' कहा गया है, वह चेतन तत्त्व ही 'क्षेत्रज्ञ' है, उसका जो 'प्रकृतिस्थ' पुरुषका जो प्रकृतिसे बने हुए भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना है, वही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका संयोग है और इसके होते ही जो भिन्न-भिन्न योनियोंद्वारा भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें प्राणियोंका प्रकट होना है, वही उनका उत्पन्न होना है।

* यहाँ 'परमेश्वर' शब्द प्रकृतिसे सर्वथा अतीत उस निर्विकार चेतन तत्त्वका वाचक है, जिसका वर्णन 'क्षेत्रज्ञ'के साथ एकता करते हुए इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्माके नामसे किया गया है। समस्त प्राणियोंके जितने भी शरीर हैं, जिनके सम्बन्धसे वे विनाशशील कहे जाते हैं, उन समस्त शरीरोंमें उनके वास्तविक स्वरूपभूत एक ही अविनाशी निर्विकार चेतनतत्त्व परमात्माको जो विनाशशील बादलोंमें आकाशकी भाँति समभावसे स्थित और नित्य देखना है—वही उस 'परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें विनाशरहित और समभावसे स्थित देखना' है।

† एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समभावसे स्थित है, अज्ञानके कारण ही भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसकी भिन्नता प्रतीत होती है—वस्तुतः उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है—इस तत्त्वको भलीभाँति समझकर प्रत्यक्ष कर लेना ही 'सर्वत्र समभावसे स्थित परमेश्वरको सम देखना' है। जो इस तत्त्वको नहीं जानते, उनका देखना सम देखना नहीं है; क्योंकि उनकी सबमें विषमबुद्धि होती है, वे किसीको अपना प्रिय, हितैषी और किसीको अप्रिय तथा अहित करनेवाला समझते हैं एवं अपने-आपको दूसरोंसे भिन्न, एकदेशीय मानते हैं। अतएव वे शरीरोंके जन्म और मरणको अपना जन्म और मरण माननेके कारण बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर मरते रहते हैं, यही उनका अपनेद्वारा अपनेको नष्ट करना है; परंतु जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे एक ही परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वह न तो अपनेको उस परमेश्वरसे भिन्न समझता है और न इन शरीरोंसे अपना कोई सम्बन्ध ही मानता है। इसलिये वह शरीरोंके विनाशसे अपना विनाश नहीं देखता और इसीलिये वह अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता। अभिप्राय यह है कि उसकी स्थिति सर्वज्ञ, अविनाशी सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे हो जाती है, अतएव वह सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है।

‡ गीताके तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें, अट्ठाईसवें और चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकोंमें समस्त कर्मोंको गुणोंद्वारा किये जाते हुए बतलाया गया है तथा पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें श्लोकोंमें सब इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना कहा गया है और यहाँ सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये जाते हुए देखनेको कहते हैं। इस प्रकार तीन तरहके वर्णनका तात्पर्य एक ही है; क्योंकि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही कार्य हैं तथा समस्त इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि एवं इन्द्रियोंके विषय—ये सब भी गुणोंके ही विस्तार हैं। अतएव इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना, गुणोंका गुणोंमें बरतना और गुणोंद्वारा समस्त कर्मोंको किये जाते हुए बतलाना भी सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा ही किये जाते हुए बतलाना है। अतः सभी जगहोंके कथनका अभिप्राय आत्मामें कर्तापनका अभाव दिखलाना है।

आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सब प्रकारके विकारोंसे रहित है; प्रकृतिसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतएव वह न किसी भी कर्मका कर्ता है और न कर्मोंके फलका भोक्ता ही है—इस बातका अपरोक्षभावसे अनुभव कर लेना 'आत्माको अकर्ता समझना' है तथा जो ऐसा देखता है, वही यथार्थ देखता है।

जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है,* उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्माको सब प्राणियोंमें समभावसे स्थित, निर्विकार और अकर्ता बतलाया जानेपर यह शङ्का होती है कि समस्त शरीरोंमें रहता हुआ भी आत्मा उनके दोषोंसे निर्लिप्त और अकर्ता कैसे रह सकता है; इस शङ्काका निवारण करनेके लिये अब भगवान्–इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें जो 'यत्प्रभावश्च' पदसे क्षेत्रज्ञका प्रभाव सुननेका संकेत किया गया था, उसके अनुसार—तीन श्लोकोंद्वारा आत्माके प्रभावका वर्णन करते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः[1] ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा† शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है‡ ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा क्यों नहीं लिप्त होता? इसपर कहते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता§ ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा कर्ता क्यों नहीं है? इसपर कहते हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है× ॥ ३३ ॥

---

* जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकालमें दिखलायी देनेवाले समस्त प्राणियोंके नानात्वको अपने-आपमें ही देखता है और यह भी समझता है कि उन सबका विस्तार मुझसे ही हुआ था; वस्तुतः स्वप्नकी सृष्टिमें मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था, एक मैं ही अपने-आपको अनेक रूपमें देख रहा था—इसी प्रकार जो समस्त प्राणियोंको केवल एक परमात्मामें ही स्थित और उसीसे सबका विस्तार देखता है, वही ठीक देखता है और इस प्रकार देखना ही सबको एकमें स्थित और उसी एकसे सबका विस्तार देखना है।

[1] इस अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें जिसको 'परमेश्वर', अट्ठाईसवेंमें 'ईश्वर', उन्तीसवेंमें आत्मा और तीसवेंमें 'ब्रह्म' कहा गया है, उसीको यहाँ 'परमात्मा' बतलाया गया है। अर्थात् इन सबकी अभिन्नता—एकता दिखलानेके लिये यहाँ 'अयम्' पदका प्रयोग किया गया है।

† जिसका कोई आदि यानी कारण न हो एवं जिसकी किसी भी कालमें नयी उत्पत्ति न हुई हो और जो सदासे हो, उसे 'अनादि' कहते हैं। प्रकृति और उसके गुणोंसे जो सर्वथा अतीत हो, गुणोंसे और गुणोंके कार्यसे जिसका किसी कालमें और किसी भी अवस्थामें वास्तविक सम्बन्ध न हो, उसे 'निर्गुण' कहते हैं। अतएव यहाँ 'अनादि' और 'निर्गुण'—इन दोनों शब्दोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह आत्मा 'अनादि' और 'निर्गुण' है; इसलिये वह अकर्ता, निर्लिप्त और अव्यय है—जन्म, मृत्यु आदि छः विकारोंसे सर्वथा अतीत है।

‡ जैसे आकाश बादलोंमें स्थित होनेपर भी उनका कर्ता नहीं बनता और उनसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा शरीरोंका कर्ता नहीं बनता और शरीरोंसे लिप्त भी नहीं होता।

§ आकाशके दृष्टान्तसे आत्मामें निर्लेपता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें सब जगह समभावसे व्याप्त होते हुए भी उनके गुण-दोषोंसे किसी तरह भी लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी इस शरीरमें सब जगह व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म और गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेके कारण बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरके गुण-दोषोंसे जरा भी लिपायमान नहीं होता।

× इस श्लोकमें रवि (सूर्य) का दृष्टान्त देकर आत्मामें अकर्तापनकी और 'रविः' पदके साथ 'एकः' विशेषण देकर उसके अद्वैतभावकी सिद्धि की गयी है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त क्षेत्रको—यानी इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारसहित क्षेत्रके नामसे जिसके स्वरूपका वर्णन किया गया है, उस समस्त जडवर्गरूप समस्त जगत्‌को प्रकाशित करता है, सबको सत्ता-स्फूर्ति देता है तथा भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसका भिन्न-भिन्न प्राकट्य होता-सा देखा जाता है ऐसा होनेपर भी वह आत्मा सूर्यकी भाँति न तो उनके कर्मोंको करनेवाला और न करवानेवाला ही होता है तथा न द्वैतभाव या वैषम्यादि

सम्बन्ध—तीसरे श्लोकमें जिन छः बातोंको कहनेका भगवान्‌ने संकेत किया था, उनका वर्णन करके अब इस अध्यायमें वर्णित समस्त उपदेशको भलीभाँति समझनेका फल परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं,* वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥३४॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥ भीष्मपर्वणि तु सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३॥ भीष्मपर्वमें सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३७॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्दशोऽध्यायः)

ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्तिका, सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंका, भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के लक्षणोंका निर्देश करके उन दोनोंके ज्ञानको ही ज्ञान बतलाया और उसके अनुसार क्षेत्रके स्वरूप, स्वभाव, विकार और उसके तत्त्वोंकी उत्पत्तिके क्रम आदि तथा क्षेत्रज्ञके स्वरूप और उसके प्रभावका वर्णन किया। वहाँ उन्नीसवें श्लोकसे प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करके गुणोंको प्रकृतिजन्य बतलाया और इक्कीसवें श्लोकमें यह बात भी कही कि पुरुषके बार-बार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेमें गुणोंका सङ्ग ही हेतु है। इससे गुणोंके भिन्न-भिन्न स्वरूप क्या हैं, ये जीवात्माको कैसे शरीरमें बाँधते हैं, किस गुणके सङ्गसे किस योनिमें जन्म होता है, गुणोंसे छूटनेके उपाय क्या हैं, गुणोंसे छू

दोषोंसे ही युक्त होता है। वह अविनाशी आत्मा प्रत्येक अवस्थामें सदा-सर्वदा शुद्ध, विज्ञानस्वरूप, अकर्ता, निर्विकार, सम और निरञ्जन ही रहता है।

* इस अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपने मतसे 'ज्ञान' कहा है और गीताके पाँचवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें जिसको अज्ञानका नाश करनेमें कारण बतलाया है, जिसकी प्राप्ति अमानित्वादि साधनोंसे होती है, इस श्लोकमें 'ज्ञानचक्षुषा' पदमें आया हुआ 'ज्ञान' शब्द उसी 'तत्त्वज्ञान' का वाचक है।

उस ज्ञानके द्वारा जो भलीभाँति तत्त्वसे यह समझ लेना है कि महाभूतादि चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप समष्टिशरीरका नाम 'क्षेत्र' है; वह जाननेमें आनेवाला, परिवर्तनशील, विनाशी, विकारी, जड, परिणामी और अनित्य है तथा 'क्षेत्रज्ञ' उसका ज्ञाता (जाननेवाला), चेतन, निर्विकार, अकर्ता, नित्य, अविनाशी, असङ्ग, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और एक है। इस प्रकार दोनोंमें विलक्षणता होनेके कारण क्षेत्रज्ञ क्षेत्रसे सर्वथा भिन्न है। जो उसकी क्षेत्रके साथ एकता प्रतीत होती है, वह अज्ञानमूलक है। वास्तवमें क्षेत्रज्ञका उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यही ज्ञानचक्षुके द्वारा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के भेदको जानना है।

इस श्लोकमें 'भूत' शब्द प्रकृतिके कार्यरूप समस्त दृश्यवर्गका और 'प्रकृति' उसके कारणका वाचक है। अतः कार्यसहित प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही 'भूतप्रकृतिमोक्ष' है तथा उपर्युक्त प्रकारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको जाननेके साथ-साथ जो क्षेत्रज्ञका प्रकृतिसे अलग होकर अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अभिन्न-भावसे प्रतिष्ठित हो जाना है, यही कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त हो जानेको जानना है।

अभिप्राय यह है कि जैसे स्वप्नमें मनुष्यको किसी निमित्तसे अपनी जाग्रत्-अवस्थाकी स्मृति हो जानेसे यह मालूम हो जाता है कि यह स्वप्न है, अतः अपने असली शरीरमें जग जाना ही इसके दुःखोंसे छूटनेका उपाय है—इस भावका उदय होते ही वह जग उठता है; वैसे ही ज्ञानयोगीका क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी विलक्षणताको समझकर साथ-ही-साथ जो यह समझ लेना है कि अज्ञानवश क्षेत्रको सच्ची वस्तु समझनेके कारण ही इसके साथ मेरा सम्बन्ध-सा हो रहा था। अतः वास्तविक सच्चिदानन्दघन परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही इससे मुक्त होना है; यही उसका कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जानना है।

पुरुषोंके लक्षण तथा आचरण कैसे होते हैं—ये सब बातें जाननेकी स्वाभाविक ही इच्छा होती है; अतएव इसी विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिये इस चौदहवें अध्यायका आरम्भ किया गया है। तेरहवें अध्यायमें वर्णित ज्ञानको ही स्पष्ट करके चौदहवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक समझाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां[1] ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें भी अति उत्तम उस परम ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं* ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः[2]।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानको आश्रय करके† अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते‡ ॥ २ ॥

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है§ और मैं उस योनिमें चेतन-समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ×। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है+ ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं,÷ प्रकृति तो उन

---

[1] श्रुति-स्मृति-पुराणादिमें विभिन्न विषयोंको समझानेके लिये जो नाना प्रकारके बहुत-से उपदेश हैं, उन सबका वाचक यहाँ 'ज्ञानानाम्' पद है। उनमेंसे प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका विवेचन करके पुरुषके वास्तविक स्वरूपको प्रत्यक्ष करा देनेवाला जो तत्त्वज्ञान है, यहाँ भगवान् उसी ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। वह ज्ञान परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाला और जीवात्माको प्रकृतिके बन्धनसे छुड़ाकर सदाके लिये मुक्त कर देनेवाला है, इसीलिये उस ज्ञानको अन्यान्य ज्ञानोंकी अपेक्षा उत्तम और पर (अत्यन्त उत्कृष्ट) बतलाया गया है।

* यहाँ 'मुनिजन' शब्दसे ज्ञानयोगके साधनद्वारा परम गतिको प्राप्त ज्ञानियोंको समझना चाहिये; तथा जिसको 'परब्रह्मकी प्राप्ति' कहते हैं, जिसका वर्णन 'परम शान्ति', 'आत्यन्तिक सुख' और 'अपुनरावृत्ति' आदि अनेक नामोंसे किया गया है, जहाँ जाकर फिर कोई वापस नहीं लौटता—यहाँ मुनिजनोंद्वारा प्राप्त की जानेवाली 'परम सिद्धि' भी वही है।

[2] पिछले श्लोकमें 'परां सिद्धिं गताः' से जो बात कही गयी है, इस श्लोकमें 'मम साधर्म्यमागताः' से भी वही कही गयी है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के निर्गुण रूपको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना ही भगवान्‌के साधर्म्यको प्राप्त होना है।

† इस प्रकरणमें वर्णित ज्ञानके अनुसार प्रकृति और पुरुषके स्वरूपको समझकर गुणोंके सहित प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाना और निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहना ही इस ज्ञानका आश्रय लेना है।

‡ इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि इन अध्यायोंमें बतलाये हुए ज्ञानका आश्रय लेकर तदनुसार साधन करके जो पुरुष परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको अभेदभांवसे प्राप्त हो चुके हैं, वे मुक्त पुरुष न तो महासर्गके आदिमें पुनः उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें पीडित ही होते हैं। वस्तुतः सृष्टिके सर्ग और प्रलयसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता।

§ समस्त जगत्‌की कारणरूपा जो मूल प्रकृति है, जिसे 'अव्यक्त' और 'प्रधान' भी कहते हैं; उस प्रकृतिका वाचक 'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' शब्द है। यहाँ उसे 'योनि' नाम देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त प्राणियोंके विभिन्न शरीरोंका यही उपादान-कारण है और यही गर्भाधानका आधार है।

× महाप्रलयके समय अपने-अपने संस्कारोंके सहित परमेश्वरमें स्थित जीवसमुदायका जो महासर्गके आदिमें प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध कर देना है, वही उस चेतनसमुदायरूप गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापन करना है।

+ उपर्युक्त जड-चेतनके संयोगसे जो भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें सब प्राणियोंका सूक्ष्मरूपसे प्रकट होना है, वही उनकी उत्पत्ति है।

÷ यहाँ 'मूर्ति' शब्द देव, मनुष्य, राक्षस, पशु और पक्षी आदि नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले शरीरोंसे युक्त समस्त प्राणियोंका वाचक है। उन प्राणियोंका स्थूलरूपसे जन्म ग्रहण करना ही उनका उत्पन्न होना है।

सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ* ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—जीवोंके नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेनेकी बात तो चौथे श्लोकतक कही गयी, किंतु वहाँ गुणोंकी कोई बात नहीं आयी। इसलिये अब वे गुण क्या हैं ? उनका संग क्या है ? किस गुणके संगसे अच्छी योनिमें और किस गुणके संगसे बुरी योनिमें जन्म होता है ?—इन सब बातोंको स्पष्ट करनेके लिये इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए भगवान् अब पहले उन तीनों गुणोंकी प्रकृतिसे उत्पत्ति और उनके विभिन्न नाम बतलाकर फिर उनके स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बन्धन-प्रकारका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण† अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं‡ ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्म होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है§, व सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् इसके अभिमानसे बाँधता है× ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्ति उत्पन्न जान+। वह इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है÷ ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको तो अज्ञानसे उत्पन्न जानB। वह इस

---

* इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उन सब मूर्तियोंके जो सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, वे सब प्रकृतिके अंशसे बने हुए हैं और उन सबमें जो चेतन आत्मा है, वह मेरा अंश है। उन दोनोंके सम्बन्धसे समस्त मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी प्रकट होते हैं, अतएव प्रकृति उनकी माता है और मैं पिता हूँ।

† अभिप्राय यह है कि गुण तीन हैं; सत्त्व, रज और तम उनके नाम हैं और तीनों परस्पर भिन्न हैं। ये तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं एवं समस्त जड पदार्थ इन्हीं तीनोंका विस्तार है।

‡ जिसका शरीरमें अभिमान है, उसीपर इन गुणोंका प्रभाव पड़ता है और वास्तवमें स्वरूपसे वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित और अविनाशी है, अतएव उसका बन्धन हो ही नहीं सकता। अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसने बन्धन मान रक्खा है। इन तीनों गुणोंका जो अपने अनुरूप भोगोंमें और शरीरोंमें इसका ममत्व, आसक्ति और अभिमान उत्पन्न कर देना है—यही उन तीनों गुणोंका उसको शरीरमें बाँध देना है।

§ सत्त्वगुणका स्वरूप सर्वथा निर्मल है, उसमें किसी भी प्रकारका कोई दोष नहीं है; इसी कारण वह प्रकाशक और अनामय है। उससे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें प्रकाशकी वृद्धि होती है; एवं दुःख, विक्षेप, दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर शान्तिकी प्राप्ति होती है।

× 'सुख' शब्द यहाँ गीताके अठारहवें अध्यायके छत्तीसवें और सैंतीसवें श्लोकोंमें जिसके लक्षण बतलाये गये हैं, उस 'सात्त्विक सुख' का वाचक है। उस सुखकी प्राप्तिके समय जो 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार अभिमान हो जाता है तथा 'ज्ञान' बोधशक्तिका नाम है; उसके प्रकट होनेपर जो उसमें 'मैं ज्ञानी हूँ', ऐसा अभिमान हो जाता है; वह उसे गुणातीत अवस्थासे वञ्चित रख देता है, अतः यही सत्त्वगुणका जीवात्माको सुख और ज्ञानके संगसे बाँधना है।

+ कामना और आसक्तिसे रजोगुण बढ़ता है तथा रजोगुणसे कामना और आसक्ति बढ़ती है। इनका परस्पर बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इनमें रजोगुण बीजस्थानीय और कामना, आसक्ति आदि वृक्षस्थानीय हैं। बीज वृक्षसे ही उत्पन्न होता है, तथापि वृक्षका कारण भी बीज ही है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहीं रजोगुणसे कामादिकी उत्पत्ति और कहीं कामनादिसे रजोगुणकी उत्पत्ति बतलायी गयी है।

÷ 'इन सब कर्मोंको मैं करता हूँ' कर्मोंमें कर्तापनके इस अभिमानपूर्वक 'मुझे इसका अमुक फल मिलेगा' ऐसा मानकर कर्मोंके और उनके फलोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेनेका नाम 'कर्मसङ्ग' है; इसके द्वारा रजोगुणका जो इस जीवात्माको जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है, वही उसका कर्मसङ्गके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

A अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्तिका अभाव करके उनमें मोह उत्पन्न कर देना ही तमोगुणका सब देहाभिमानियोंको मोहित करना है।

B इस अध्यायके सतरहवें श्लोकमें तो अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुणसे बतलायी है और यहाँ तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न

जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है* ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेका प्रकार बतलाकर अब उन तीनों गुणोंका स्वाभाविक व्यापार बतलाते हैं—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है† और रजोगुण कर्ममें‡ तथा तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें भी लगाता है§ ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—सत्त्व आदि तीनों गुण जिस समय अपने-अपने कार्यमें जीवको नियुक्त करते हैं, उस समय वे ऐसा करनेमें किस प्रकार समर्थ होते हैं—यह बात अगले श्लोकमें बतलाते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

हे अर्जुन! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण,× सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण,+—वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण÷ होता है अर्थात् बढ़ता हैA ॥ १० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अन्य दो गुणोंको दबाकर प्रत्येक गुणके बढ़नेकी बात कही गयी। अब प्रत्येक गुणकी वृद्धिके लक्षण

बतलाया गया—इसका अभिप्राय यह है कि तमोगुणसे अज्ञान बढ़ता है और अज्ञानसे तमोगुण बढ़ता है। इन दोनोंमें बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अज्ञान बीजस्थानीय है और तमोगुण वृक्षस्थानीय है।

* अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टाका एवं शास्त्रविहित कर्तव्यपालनमें अवहेलनाका नाम 'प्रमाद' है। कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम 'आलस्य' है। तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति–इन सबका नाम 'निद्रा' है। इन सबके द्वारा जो तमोगुणका इस जीवात्माको मुक्तिके साधनसे वञ्चित रखकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है—यही उसका प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

† 'सुख' शब्द यहाँ सात्त्विक सुखका वाचक है (गीता १८। ३६, ३७) और सत्त्वगुणका जो इस मनुष्यको सांसारिक भोगों और चेष्टाओंसे तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रासे हटाकर आत्मचिन्तन आदिके द्वारा सात्त्विक सुखसे युक्त कर देना है—यही उसको सुखमें लगाना है।

‡ 'कर्म' शब्द यहाँ (इस लोक और परलोकके भोगरूप फल देनेवाले) शास्त्रविहित सकामकर्मोंका वाचक है। नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा उत्पन्न करके उनकी प्राप्तिके लिये उन कर्मोंमें मनुष्यको प्रवृत्त कर देना ही रजोगुणका मनुष्यको उन कर्मोंमें लगाना है।

§ जब तमोगुण बढ़ता है, तब वह कभी तो मनुष्यकी कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और कभी अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी चेतनाको नष्ट करके निद्राकी वृत्ति उत्पन्न कर देता है—यही तमोगुणका मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित करना है और कर्तव्यपालनमें अवहेलना कराके व्यर्थ चेष्टाओंमें नियुक्त कर देना 'प्रमाद' में लगाना है।

× रजोगुणके कार्य लोभ, प्रवृत्ति और भोगवासनादि तथा तमोगुणके कार्य निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिको दबाकर जो सत्त्वगुणका ज्ञान, प्रकाश और सुख आदिको उत्पन्न कर देना है, यही रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुणका बढ़ जाना है।

+ जिस समय सत्त्वगुण और तमोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर रजोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय मन, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें चञ्चलता, अशान्ति, लोभ, भोगवासना और नाना प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी उत्कट लालसा उत्पन्न हो जाती है—यही सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुणका बढ़ जाना है।

÷ जिस समय सत्त्वगुण और रजोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर तमोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय मन, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें मोह आदि बढ़ जाते हैं और प्रमादमें प्रवृत्ति हो जाती है, वृत्तियाँ विवेकशून्य हो जाती हैं—यही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुणका बढ़ना है।

A गुणोंकी वृद्धिमें निम्नलिखित दस हेतु श्रीमद्भागवतमें बतलाये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च। ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥
(११ । १३ । ४)

'शास्त्र, जल, संतान, देश, काल, कर्म, योनि, चिन्तन, मन्त्र और संस्कार—ये दस गुणोंके हेतु हैं अर्थात् गुणोंको बढ़ानेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थ जिस गुणसे युक्त होते हैं, उनका संग उसी गुणको बढ़ा देता है।'

जाननेकी इच्छा होनेपर क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षण बतलाये जाते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

जिस समय इस देहमें* तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है † ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धिसे कर्मोंका सकामभावसे आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं‡ ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब ही उत्पन्न होते हैं§ ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीनों गुणोंकी वृद्धिके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाकर अब दो श्लोकोंमें उन गुणोंमेंसे किस गुणकी वृद्धिके समय मरकर मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है, यह बतलाया जाता है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्[1]।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है× तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

---

* अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणकी वृद्धिका अवसर मनुष्य-शरीरमें ही मिल सकता है और इसी शरीरमें सत्त्वगुणकी सहायता पाकर मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है, दूसरी योनियोंमें ऐसा अधिकार नहीं है।

† शरीरमें चेतनता, हलकापन तथा इन्द्रिय और अन्तःकरणमें निर्मलता और चेतनाकी अधिकता हो जाना ही 'प्रकाश'का उत्पन्न होना है। एवं सत्य-असत्य तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिका जाग्रत् हो जाना 'ज्ञान' का उत्पन्न होना है। जिस समय प्रकाश और ज्ञान—इन दोनोंका प्रादुर्भाव होता है, उस समय अपने आप ही संसारमें वैराग्य होकर मनमें उपरति और सुख-शान्तिकी बाढ़-सी आ जाती है तथा राग-द्वेष, दुःख-शोक, चिन्ता, भय, चञ्चलता, निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिका अभाव-सा हो जाता है। उस समय मनुष्यको सावधान होकर अपना मन भजन-ध्यानमें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये; तभी सत्त्वगुणकी प्रवृत्ति अधिक समय ठहर सकती है; अन्यथा उसकी अवहेलना कर देनेसे शीघ्र ही तमोगुण या रजोगुण उसे दबाकर अपना कार्य आरम्भ कर सकते हैं।

‡ जिसके कारण मनुष्य प्रतिक्षण धनकी वृद्धिके उपाय सोचता रहता है, धनके व्यय करनेका समुचित अवसर प्राप्त होनेपर भी उसका त्याग नहीं करता एवं धनोपार्जनके समय कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेचन छोड़कर दूसरेके स्वत्वपर भी अधिकार जमानेकी इच्छा या चेष्टा करने लगता है, उस धनकी लालसाका नाम 'लोभ' है। नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये मानसिक भावोंका जाग्रत् होना 'प्रवृत्ति' है। उन कर्मोंको सकामभावसे करने लगना उनका 'आरम्भ' है। मनकी चञ्चलताका नाम 'अशान्ति' है और किसी भी प्रकारके सांसारिक पदार्थोंको अपने लिये आवश्यक मानना 'स्पृहा' है। रजोगुणकी वृद्धिके समय इन लोभ आदि भावोंका प्रादुर्भाव होना ही उनका उत्पन्न हो जाना है।

§ मनुष्यके इन्द्रिय और अन्तःकरणमें दीप्तिका अभाव हो जाना ही 'अप्रकाश' का उत्पन्न होना है। कोई भी कर्म अच्छा नहीं लगना, केवल पड़े रहकर ही समय बितानेकी इच्छा होना, यह 'अप्रवृत्ति'का उत्पन्न होना है। शरीर और इन्द्रियोंद्वारा व्यर्थ चेष्टा करते रहना और कर्तव्यकर्ममें अवहेलना करना, यह 'प्रमाद' का उत्पन्न होना है। मनका मोहित हो जाना; किसी बातकी स्मृति न रहना; तन्द्रा, स्वप्न या सुषुप्ति-अवस्थाका प्राप्त हो जाना; विवेकशक्तिका अभाव हो जाना; किसी विषयको समझनेकी शक्तिका न रहना—यही सब 'मोह' का उत्पन्न होना है। ये सब लक्षण तमोगुणकी वृद्धिके समय उत्पन्न होते हैं, अतएव इनमेंसे कोई-सा भी लक्षण अपनेमें देखा जाय, तब मनुष्यको समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा हुआ है।

[1] 'देहभृत्' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो देहधारी हैं, जिनकी शरीरमें अहंता और ममता है, उन्हींकी पुनर्जन्मरूप भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। जिनका शरीरमें अभिमान नहीं है, ऐसे जीवन्मुक्त महात्माओंका आवागमन नहीं होता।

× इस प्रकरणमें ऐसे मनुष्यकी गतिका निरूपण किया जाता है, जिसकी स्वाभाविक स्थिति दूसरे गुणोंमें होते हुए

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर* कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ† मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी वृद्धिमें मरनेके भिन्न-भिन्न फल बतलाये गये; इससे यह जाननेकी इच्छा होती है कि इस प्रकार कभी किसी गुणकी और कभी किसी गुणकी वृद्धि क्यों होती है; इसपर कहते हैं—

[१]कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है।‡ राजस कर्मका फल दुःख§ एवं तामस कर्मका फल अज्ञान× कहा है ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें सत्त्व, रज और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका क्रमसे वर्णन किया गया; इसपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि 'ज्ञान' आदिकी उत्पत्तिको सत्त्व आदि गुणोंकी वृद्धिके लक्षण क्यों माना गया। अतएव कार्यकी उत्पत्तिसे कारणकी सत्ताको जान लेनेके लिये ज्ञान आदिकी उत्पत्तिमें सत्त्व आदि गुणोंको कारण बतलाते हैं—

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान+ उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निस्संदेह

सात्त्विक गुणकी वृद्धिमें मृत्यु हो जाती है। ऐसे मनुष्यमें जिस समय पूर्वसंस्कार आदि किसी कारणसे सत्त्वगुण बढ़ जाता है—अर्थात् जिस समय ग्यारहवें श्लोकके वर्णनानुसार उसके समस्त शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें 'प्रकाश' और 'ज्ञान' उत्पन्न हो जाता है, उस समय स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

* सात्त्विक और तामस पुरुषके भी हृदयमें जिस समय बारहवें श्लोकके अनुसार लोभ, प्रवृत्ति आदि राजस भाव बढ़े हुए होते हैं, उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्धविच्छेद हो जाना है—वही रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

† जिस समय सात्त्विक और राजस पुरुषके भी हृदयमें तेरहवें श्लोकके अनुसार 'अप्रकाश', 'अप्रवृत्ति' और 'प्रमाद' आदि तामस भाव बढ़े हुए हों, उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्धविच्छेद हो जाना है, वही तमोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

[१] सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों प्रकारके कर्म-संस्कार प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें संचित रहते हैं; उनमें-से जिस समय जैसे संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही सात्त्विक आदि भाव बढ़ते हैं और उन्हींके अनुसार नवीन कर्म होते हैं। कर्मोंसे संस्कार, संस्कारोंसे सात्त्विकादि गुणोंकी वृद्धि और वैसे ही स्मृति, स्मृतिके अनुसार पुनर्जन्म और पुनः कर्मोंका आरम्भ—इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

‡ जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म निष्कामभावसे किये जाते हैं, उन सात्त्विक कर्मोंके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें जो ज्ञान-वैराग्यादि निर्मल भावोंका बार-बार प्रादुर्भाव होता रहता है और मरनेके बाद जो दुःख और दोषोंसे रहित दिव्य प्रकाशमय लोकोंकी प्राप्ति होती है, वही उनका 'सात्त्विक और निर्मल फल' है।

§ जो कर्म भोगोंकी प्राप्तिके लिये अहंकारपूर्वक बहुत परिश्रमके साथ किये जाते हैं (गीता १८। २४), वे राजस हैं। ऐसे कर्मोंके करते समय तो परिश्रमरूप दुःख होता ही है, परंतु उसके बाद भी वे दुःख ही देते रहते हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें बार-बार भोग, कामना, लोभ और प्रवृत्ति आदि राजस भाव स्फुरित होते हैं—जिनसे मन विक्षिप्त होकर अशान्ति और दुःखोंसे भर जाता है। उन कर्मोंके फलस्वरूप जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भी अज्ञानसे सुखरूप दीखनेवाले भी वस्तुतः दुःखरूप ही होते हैं और फल भोगनेके लिये जो बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहना पड़ता है, वह महान् दुःख है ही।

× जो कर्म बिना सोचे-समझे मूर्खतावश किये जाते हैं और जिनमें हिंसा आदि दोष भरे रहते हैं (गीता १८। २५), वे 'तामस' हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें मोह बढ़ता है और मरनेके बाद जिन योनियोंमें तमोगुणकी अधिकता है—ऐसी जड़योनियोंकी प्राप्ति होती है; वही उसका फल 'अज्ञान' है।

+ यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे यह समझना चाहिये कि ज्ञान, प्रकाश और सुख, शान्ति आदि सभी सात्त्विक भावोंकी उत्पत्ति सत्त्वगुणसे होती है।

लोभ* तथा तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥†

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं‡ ॥

सम्बन्ध–गीताके तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो यह बात कही थी कि गुणोंका संग ही इस मनुष्यके अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिरूप पुनर्जन्मका कारण है; उसीके अनुसार इस अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक गुणोंके स्वरूप तथा गुणोंके कार्य-द्वारा बँधे हुए मनुष्योंकी गति आदिका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया। इस वर्णनसे यह बात समझायी गयी कि मनुष्यको पहले तम और रजोगुणका त्याग करके सत्त्वगुणमें अपनी स्थिति करनी चाहिये और उसके बाद सत्त्वगुणका भी त्याग करके गुणातीत हो जाना चाहिये। अतएव गुणातीत होनेके उपाय और गुणातीत अवस्थाका फल अगले दो श्लोकोंद्वारा कहा जाता है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९॥

जिस समय द्रष्टा§ तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता× और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है+ ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २०॥

यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके÷ जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्दको प्राप्त होता हैA ॥ २०॥

---

* यहाँ 'लोभ' शब्दसे भी यही समझना चाहिये कि लोभ, प्रवृत्ति, आसक्ति, कामना, स्वार्थपूर्वक कर्मोंका आरम्भ आदि सभी राजस भावोंकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है।

† महाभारत, अश्वमेधपर्वके उन्चालीसवें अध्यायका दसवाँ श्लोक भी इसीसे मिलता-जुलता है।

‡ चौदहवें और पंद्रहवें श्लोकोंमें तो दूसरे गुणोंमें स्वाभाविक स्थितिके होते हुए भी मरणकालमें जिस गुणकी वृद्धिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार गति होनेकी बात कही गयी है और यहाँ जिनकी स्वाभाविक स्थायी स्थिति सत्त्वादि गुणोंमें है, उनकी गतिके भेदका वर्णन किया गया है। इसलिये ही यहाँ सदा तमोगुणके कार्योंमें स्थित रहनेवाले तामस मनुष्योंके नरकादिकी प्राप्ति होनेकी बात भी कही गयी है।

§ मनुष्य स्वाभाविक तो अपनेको शरीरधारी समझकर कर्ता और भोक्ता बना रहता है, परंतु जिस समय शास्त्र और आचार्यके उपदेशद्वारा विवेक प्राप्त करके वह अपनेको द्रष्टा समझने लग जाता है, उस समयका वर्णन यहाँ किया जाता है।

× इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण आदिकी श्रवण, दर्शन, खान-पान, चिन्तन-मनन, शयन-आसन और व्यवहार आदि सभी स्वाभाविक चेष्टाओंके होते समय सदा-सर्वदा अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित देखते हुए जो ऐसे समझना है कि गुणोंके अतिरिक्त अन्य कोई कर्ता नहीं है; गुणोंके कार्य इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि ही गुणोंके कार्यरूप इन्द्रियादिके विषयोंमें बरत रहे हैं (गीता ५ । ८, ९); अतः गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३ ।२८); मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है–यही गुणोंसे अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता न देखना है।

+ अपनेको निर्गुण-निराकार ब्रह्मसे अभिन्न समझ लेनेपर जो उस एकमात्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी सत्ताका न रहना और सर्वत्र एवं सदा-सर्वदा केवल परमात्माका प्रत्यक्ष हो जाना ही उसे तत्त्वसे जानना है। ऐसी स्थितिके बाद जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी अभिन्नभावसे साक्षात् प्राप्ति हो जाती है, वही भगवद्भाव यानी भगवान्के स्वरूपको प्राप्त होना है।

÷ रज और तमका सम्बन्ध छूटनेके बाद यदि सत्त्वगुणसे सम्बन्ध बना रहे तो वह भी मुक्तिमें बाधक होकर पुनर्जन्मका कारण बन सकता है; अतएव उसका सम्बन्ध भी त्याग देना चाहिये। आत्मा वास्तवमें असङ्ग है, गुणोंके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; तथापि जो अनादिसिद्ध अज्ञानसे इनके साथ सम्बन्ध माना हुआ है, उस सम्बन्धको ज्ञानके द्वारा तोड़ देना और अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अभिन्न और गुणोंसे सर्वथा सम्बन्धरहित समझ लेना अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना ही गुणोंसे अतीत हो जाना यानी तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करना है।

A जन्म और मरण तथा बाल, युवा और वृद्ध-अवस्था शरीरकी होती है; एवं आधि और व्याधि आदि सब प्रकारके दुःख भी इन्द्रिय, मन और प्राण आदिके संघातरूप शरीरमें ही व्याप्त रहते हैं। अतः तत्त्वज्ञानके द्वारा शरीरसे सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना ही जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना है तथा जो अमृतस्वरूप सच्चिदानन्दघन

सम्बन्ध—इस प्रकार जीवन-अवस्थामें ही तीनों गुणोंसे अतीत होकर मनुष्य अमृतको प्राप्त हो जाता है—इस रहस्ययुक्त बातको सुनकर गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत बननेके उपाय जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है तथा हे प्रभो! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनके प्रश्नोंमेंसे 'लक्षण' और 'आचरण' विषयक दो प्रश्नोंका उत्तर चार श्लोकोंद्वारा देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको* और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको† तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको‡ भी न तो प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा करता है ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता§ और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है× एवं उस स्थितिसे कभी विचलित

उसको अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, जिसे उन्नीसवें श्लोकमें भगवद्भावकी प्राप्तिके नामसे कहा गया है—वही यहाँ 'अमृत' का अनुभव करना है।

* गुणातीत पुरुषके अंदर ज्ञान, शान्ति और आनन्द नित्य रहते हैं; उनका कभी अभाव नहीं होता। इसीलिये यहाँ सत्त्वगुणके कार्योंमें केवल प्रकाशके विषयमें कहा है कि उसके शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें यदि अपने-आप सत्त्वगुणकी प्रकाश-वृत्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है तो गुणातीत पुरुष उससे द्वेष नहीं करता और जब तिरोभाव हो जाता है तो पुनः उसके आगमनकी इच्छा नहीं करता; उसके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी स्थिति रहती है।

† नाना प्रकारके कर्म करनेकी स्फुरणाका नाम प्रवृत्ति है। इसके सिवा जो काम, लोभ, स्पृहा और आसक्ति आदि रजोगुणके कार्य हैं—वे गुणातीत पुरुषमें नहीं होते। कर्मोंका आरम्भ गुणातीतके शरीर-इन्द्रियोंद्वारा भी होता है, वह 'प्रवृत्ति' के अन्तर्गत ही आ जाता है; अतएव यहाँ रजोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रवृत्ति'में ही राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्फुरणा और क्रियाके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी ही स्थिति रहती है।

‡ अन्तःकरणकी जो मोहिनी वृत्ति है—जिससे मनुष्यको तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें सत्त्वगुणके कार्य प्रकाशका अभाव-सा हो जाता है—उसका नाम 'मोह' है। इसके सिवा जो अज्ञान और प्रमाद आदि तमोगुणके कार्य हैं, उनका गुणातीतमें अभाव हो जाता है; क्योंकि अज्ञान तो ज्ञानके सामने आ नहीं सकता और प्रमाद बिना कर्ताके करे कौन? इसलिये यहाँ तमोगुणके कार्यमें केवल 'मोह'के प्रादुर्भाव और तिरोभावमें राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जब गुणातीत पुरुषके शरीरमें तन्द्रा, स्वप्न या निद्रा आदि तमोगुणकी वृत्तियाँ व्याप्त होती हैं, तब तो गुणातीत उनसे द्वेष नहीं करता और जब वे निवृत्त हो जाती हैं, तब वह उनके पुनरागमनकी इच्छा नहीं करता। दोनों अवस्थाओंमें ही उसकी स्थिति सदा एक-सी रहती है।

१. गुणातीत पुरुषका तीनों गुणोंसे और उनके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण एवं समस्त पदार्थों और घटनाओंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उदासीनके सदृश स्थित कहा जाता है।

§ जिन जीवोंका गुणोंके साथ सम्बन्ध है, उनको ये तीनों गुण उनकी इच्छा न होते हुए भी बलात्कारसे नाना प्रकारके कर्मोंमें और उनके फलभोगोंमें लगा देते हैं एवं उनको सुखी-दुखी बनाकर विक्षेप उत्पन्न कर देते हैं तथा अनेकों योनियोंमें भटकाते रहते हैं; परंतु जिसका इन गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता, उसपर इन गुणोंका कोई प्रभाव नहीं रह जाता। गुणोंके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी अवस्थाओंका परिवर्तन तथा नाना प्रकारके सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग होते रहनेपर भी वह अपनी स्थितिमें सदा निर्विकार एकरस रहता है; यही उसका गुणोंद्वारा विचलित नहीं किया जाना है।

× इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि समस्त करण और शब्दादि सब विषय—ये सभी गुणोंके ही विस्तार हैं; अतएव इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका जो अपने-अपने विषयोंमें विचरना है—वह गुणोंका ही गुणोंमें बरतना है, आत्माका

नहीं होता * ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दाऽऽत्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला,† मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला‡ और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है§ ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

जो मान और अपमानमें सम है,× मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है+ एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है÷ ॥ २५ ॥

इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा नित्य, चेतन, सर्वथा असङ्ग, सदा एकरस, सच्चिदानन्दस्वरूप है—ऐसा समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मामें जो अभिन्नभावसे सदाके लिये नित्य स्थित हो जाना है, वही 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं यह समझकर परमात्मामें स्थित रहना' है।

* गुणातीत पुरुषको गुण विचलित नहीं कर सकते, इतनी ही बात नहीं है; वह स्वयं भी अपनी स्थितिसे कभी किसी भी कालमें विचलित नहीं होता।

† साधरण मनुष्योंकी स्थिति प्रकृतिके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन प्रकारके शरीरोंमेंसे किसी एकमें रहती ही है; अतः वे 'स्वस्थ' नहीं हैं, किंतु 'प्रकृतिस्थ' हैं और ऐसे पुरुष ही प्रकृतिके गुणोंको भोगनेवाले हैं (गीता १३ । २१), इसलिये वे सुख-दुःखमें सम नहीं हो सकते। गुणातीत पुरुषका प्रकृति और उसके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतएव वह 'स्वस्थ' है—अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्थित है। इसलिये शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें सुख और दुःखोंका प्रादुर्भाव और तिरोभाव होते रहनेपर भी गुणातीत पुरुषका उनसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उनके द्वारा सुखी-दुखी नहीं होता; उसकी स्थिति सदा सम ही रहती है। यही उसका सुख-दुःखको समान समझना है।

‡ जो पदार्थ शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके अनुकूल हो तथा उनका पोषक, सहायक एवं सुखप्रद हो, वह लोकदृष्टिसे 'प्रिय' कहलाता है और जो पदार्थ उनके प्रतिकूल हो, उनका क्षयकारक, विरोधी एवं ताप पहुँचानेवाला है, वह लोकदृष्टिसे 'अप्रिय' माना जाता है। साधारण मनुष्योंको प्रिय वस्तुके संयोगमें और अप्रियके वियोगमें राग और हर्ष तथा अप्रियके संयोगमें और प्रियके वियोगमें द्वेष और शोक होते हैं; किंतु गुणातीतमें ऐसा नहीं होता, वह सदा-सर्वदा राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे सर्वथा अतीत रहता है।

§ किसीके सच्चे या झूठे दोषोंका वर्णन करना निन्दा है और गुणोंका बखान करना स्तुति है; इन दोनोंका सम्बन्ध—अधिकतर नामसे और कुछ शरीरसे है। गुणातीत पुरुषका 'शरीर' और उसके 'नाम' से किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रहनेके कारण उसे निन्दा या स्तुतिके कारण शोक या हर्ष कुछ भी नहीं होता।

१. गुणातीत पुरुषके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे जो कुछ भी शास्त्रानुकूल क्रियाएँ प्रारब्धानुसार लोकसंग्रहके लिये अर्थात् लोगोंको बुरे मार्गसे हटाकर अच्छे मार्गपर लगानेके उद्देश्यसे हुआ करती हैं, उन सबका वह किसी अंशमें भी कर्ता नहीं बनता। यही भाव दिखलानेके लिये उसे 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहा है।

× मान और अपमानका सम्बन्ध अधिकतर शरीरसे है। अतः जिनका शरीरमें अभिमान है, वे संसारी मनुष्य मानमें राग और अपमानमें द्वेष करते हैं; इससे उनको मानमें हर्ष और अपमानमें शोक होता है तथा वे मान करनेवालेके साथ प्रेम और अपमान करनेवालेसे वैर भी करते हैं; परंतु 'गुणातीत' पुरुषका शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण न तो शरीरका मान होनेसे उसे हर्ष होता है और न अपमान होनेसे शोक ही होता है। उसकी दृष्टिमें जिसका मानापमान होता है, जिसके द्वारा होता है एवं जो मान-अपमानरूप कार्य है—ये सभी मायिक और स्वप्नवत् हैं; अतएव मान-अपमानमें उसमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष और हर्ष-शोक नहीं होते। यही उसका मान और अपमानमें सम रहना है।

+ यद्यपि गुणातीत पुरुषका अपनी ओरसे किसी भी प्राणीमें मित्र या शत्रुभाव नहीं होता, इसलिये उसकी दृष्टिमें कोई मित्र अथवा वैरी नहीं है, तथापि लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्र और शत्रुभावकी कल्पना कर लेते हैं; किंतु वह दोनों पक्षवालोंमें समभाव रखता है, उसके द्वारा बिना राग-द्वेषके ही समभावसे सबके हितकी चेष्टा हुआ करती है, वह किसीका भी बुरा नहीं करता और उसकी किसीमें भी भेदबुद्धि नहीं होती। यही उसका मित्र और वैरीके पक्षोंमें सम रहना है।

÷ अभिप्राय यह है कि इस अध्यायके बाईसवें, तेईसवें, चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें जिन लक्षणोंका वर्णन किया

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनके दो प्रश्नोंका उत्तर देकर अब …तीत बननेके उपायविषयक तीसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है। यद्यपि इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने गुणातीत बननेका …को अपनेको अकर्ता समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन …में नित्य-निरन्तर स्थित रहना बतला दिया था। एवं उपर्युक्त …श्लोकोंमें गुणातीतके जिन लक्षण और आचरणोंका वर्णन किया …है, उनको आदर्श मानकर धारण करनेका अभ्यास भी …तीत बननेका उपाय माना जाता है; किंतु अर्जुनने इन उपायोंसे …न दूसरा कोई सरल उपाय जाननेकी इच्छासे प्रश्न किया था, …तीसरे प्रश्नके अनुकूल भगवान् दूसरा सरल उपाय बतलाते हैं—

…ं च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है,* वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है† ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त श्लोकमें सगुण परमेश्वरकी उपासनाका फल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें गुणातीत-अवस्थाका फल भगवद्भावकी प्राप्ति एवं बीसवें श्लोकमें 'अमृत' की प्राप्ति बतलाया गया। अतएव फलमें विषमताकी शङ्काका निराकरण करनेके लिये सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मणो[1] हि प्रतिष्ठाहममृतस्या[2]व्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य[3] सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

…है उन सब लक्षणोंसे जो युक्त है, उसे लोग 'गुणातीत' कहते हैं। यही गुणातीत पुरुषकी पहचानके चिह्न हैं और यही उसकी …चार-व्यवहार है। अतएव जबतक अन्तःकरणमें राग-द्वेष, विषमता, हर्ष-शोक, अविद्या और अभिमानका लेशमात्र भी …है तबतक साधकको समझना चाहिये कि अभी गुणातीत-अवस्था नहीं प्राप्त हुई है।

* केवलमात्र एक परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ हैं; वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति और परम आश्रय तथा …ता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं; उनके अतिरिक्त हमारा और कोई नहीं है—ऐसा समझकर उनमें जो …दर्परहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेम है अर्थात् जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष न …है जो सर्वथा और सर्वदा पूर्ण और अटल रहे, जिसका तनिक-सा अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुके प्रति न हो और जिसके …रण क्षणमात्रकी भी भगवान्‌की विस्मृति असह्य हो जाय, उस अनन्यप्रेमका नाम 'अव्यभिचारी भक्तियोग' है।

ऐसे भक्तियोगके द्वारा जो निरन्तर भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण-कीर्तन मनन, उनके नामोंका …च्चारण, जप तथा उनके स्वरूपका चिन्तन आदि करते रहना है एवं मन, बुद्धि और शरीर आदिको तथा समस्त पदार्थों-…को भगवान्‌का ही समझकर निष्कामभावसे अपनेको केवल निमित्तमात्र समझते हुए उनके आज्ञानुसार उन्हींकी सेवारूपमें …मस्त क्रियाओंको उन्हींके लिये करते रहना है—यही अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को निरन्तर भजना है।

† गुणातीत होनेके साथ ही मनुष्य ब्रह्मभावको अर्थात् जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म है, जिसको पा…नेके बाद कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता, उसको अभिन्नभावसे प्राप्त करनेके योग्य बन जाता है और तत्काल ही उसे …उसकी प्राप्ति हो जाती है।

[1] ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं हूँ, इस कथनसे भगवान्‌ने यहाँ यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'वह ब्रह्म मुझ सगुण परमेश्वरसे भिन्न …नहीं है और मैं उससे भिन्न नहीं हूँ अर्थात् मैं और ब्रह्म दो वस्तु नहीं हैं, एक ही तत्त्व है। अतएव पिछले श्लोकमें जो ब्रह्मकी …प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।' क्योंकि वास्तवमें एक परब्रह्म परमात्माके ही अधिकारी-भेदसे उपासनाके …लिये भिन्न-भिन्न रूप बतलाये गये हैं। उनमेंसे परमात्माका जो मायातीत, अचिन्त्य, मन-वाणीका अविषय, निर्गुण स्वरूप …है वह तो एक ही है, परंतु सगुणरूपके साकार और निराकार—ऐसे दो भेद हैं। जिस स्वरूपसे यह सारा जगत् व्याप्त है, …जो सबका आश्रय है, अपनी अचिन्त्य शक्तिसे सबका धारण-पोषण करता है, वह तो भगवान्‌का सगुण अव्यक्त निराकार …रूप है। श्रीशिव, श्रीविष्णु एवं श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि भगवान्‌के साकार रूप हैं तथा यह सारा जगत् भगवान्‌का …साकार विराट् स्वरूप है।

[2] 'अमृतस्य' पद भी जिसको पाकर मनुष्य अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युरूप संसारसे सदाके लिये छूट …जाता है, उस ब्रह्मका ही वाचक है। उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि वह अमृत भी मैं …ही हूँ। अतएव इस अध्यायके बीसवें श्लोकमें और गीताके तेरहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें जो 'अमृत' की प्राप्ति बतलायी …गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।

[3] जो नित्यधर्म है, जिस धर्मको गीताके नवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'धर्म्य' कहा है और बारहवें अध्यायके अन्तिम …श्लोकमें 'धर्म्यामृत' नाम दिया गया है तथा इस प्रकरणमें जो गुणातीतके लक्षणोंके नामसे वर्णित हुआ है—उसका वाचक

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥ भीष्मपर्वणि तु अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४॥ भीष्मपर्वमें अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः)

संसारवृक्षका, भगवत्प्राप्तिके उपायका, जीवात्माका, प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके तत्त्वका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके चौदहवें अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक तीनों गुणोंके स्वरूप, उनके कार्य एवं उनकी बन्धनकारिताका और बँधे हुए मनुष्योंकी उत्तम, मध्यम और अधम गति आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उन्नीसवें और बीसवें श्लोकोंमें उन गुणोंसे अतीत होनेका उपाय और फल बतलाया गया। उसके बाद अर्जुनके पूछनेपर बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके छब्बीसवें श्लोकमें सगुण परमेश्वरके अव्यभिचारी भक्तियोगको गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मप्राप्तिके लिये योग्य बननेका सरल उपाय बतलाया गया; अतएव भगवान्में अव्यभिचारी भक्तियोगरूप अनन्य प्रेम उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे अब उस सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपका एवं गुणोंसे अतीत होनेमें प्रधान साधन वैराग्य और भगवत्-शरणागतिका वर्णन करनेके लिये पंद्रहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले संसारमें वैराग्य उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे तीन श्लोकोंद्वारा संसारका वर्णन वृक्षके रूपमें करते हुए वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उसका छेदन करनेके लिये कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

यहाँ 'शाश्वतस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वह मेरी प्राप्तिका साधन होनेके कारण मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि इस धर्मका आचरण करनेवाला किसी अन्य फलको न पाकर मुझको ही प्राप्त होता है।

* गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो 'अक्षय सुख' के नामसे, छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख'के नामसे और अट्ठाईसवें श्लोकमें 'अत्यन्त सुख'के नामसे कहा गया है, उसी नित्य परमानन्दको यहाँ 'ऐकान्तिक सुख' अर्थात् अखण्ड एकरस आनन्द कहा गया है। उसका आश्रय (प्रतिष्ठा) अपनेको बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि वह नित्य परमानन्द मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है; अतः उसकी प्राप्ति मेरी ही प्राप्ति है।

१. 'मूल' शब्द कारणका वाचक है। इस संसारवृक्षकी उत्पत्ति और इसका विस्तार आदिपुरुष नारायणसे हुआ है, यह बात अगले चौथे श्लोकमें और अन्यत्र भी स्थान-स्थानपर कही गयी है। वे आदिपुरुष परमेश्वर नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं एवं सगुणरूपसे सबसे ऊपर नित्य-धाममें निवास करते हैं, इसलिये 'ऊर्ध्व' नामसे कहे जाते हैं। यह संसारवृक्ष उन्हीं मायापति सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको 'ऊर्ध्वमूल' अर्थात् ऊपरकी ओर मूलवाला कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्य साधारण वृक्षोंका मूल तो नीचे पृथ्वीके अंदर रहा करता है, पर इस संसारवृक्षका मूल ऊपर है—यह बड़ी अलौकिक बात है।

२. संसारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माका उद्भव होता है, इस कारण ब्रह्मा ही इसकी प्रधान शाखा हैं। ब्रह्माका लोक आदिपुरुष नारायणके नित्यधामकी अपेक्षा नीचे है एवं ब्रह्माजीका अधिकार भी भगवान्‌की अपेक्षा नीचा है—ब्रह्मा उन आदिपुरुष नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं और उन्हींके शासनमें रहते हैं—इसलिये इस संसारवृक्षको 'नीचेकी ओर शाखावाला' कहा है।

संसार-वृक्ष

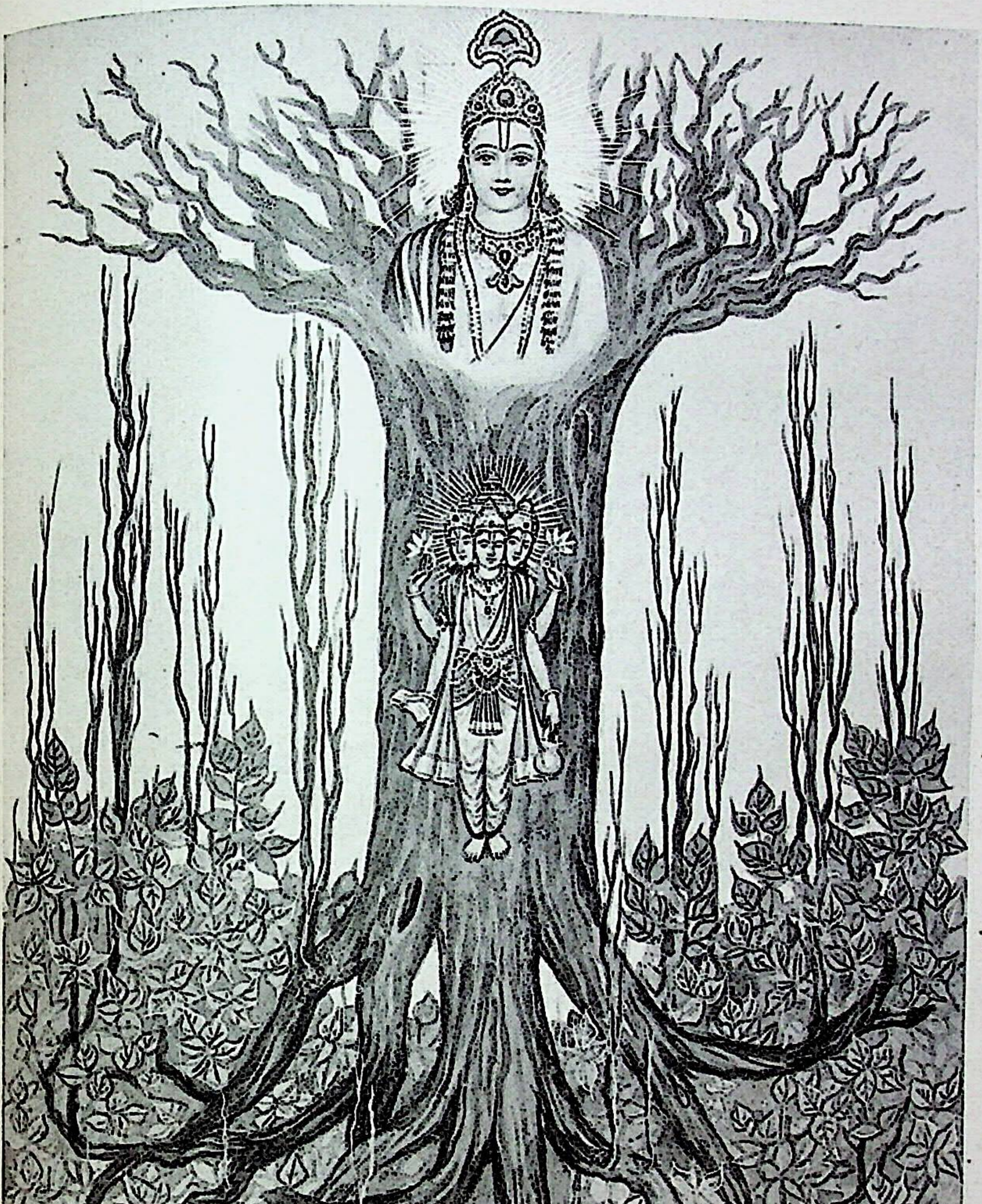

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (गीता १५ । १)

श्रीभगवान् बोले—आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं* तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है‡ ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

उस संसारवृक्षकी तीनों गुणोंरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोंपलोंवाली§ देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ× नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है।+ इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर÷—॥ ३ ॥

---

* यद्यपि यह संसारवृक्ष परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, अनित्य और क्षणभङ्गुर है, तो भी इसका प्रवाह अनादिकालसे चला आता है, इसके प्रवाहका अन्त भी देखनेमें नहीं आता; इसलिये इसको अव्यय अर्थात् अविनाशी कहते हैं; क्योंकि इसका मूल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी हैं, किंतु वास्तवमें यह संसारवृक्ष अविनाशी नहीं है। यदि यह अव्यय होता तो न तो अगले तीसरे श्लोकमें यह कहा जाता कि इसका जैसा स्वरूप बतलाया गया है, वैसा उपलब्ध नहीं होता और न इसको वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा छेदन करनेके लिये ही कहना बनता।

† पत्ते वृक्षकी शाखासे उत्पन्न एवं वृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले होते हैं। वेद भी इस संसाररूप वृक्षकी मूल शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट हुए हैं और वेदविहित कर्मोंसे ही संसारकी वृद्धि और रक्षा होती है, इसलिये वेदोंको पत्तोंका रूप दिया गया है।

‡ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य मूलसहित इस संसारवृक्षको इस प्रकार तत्त्वसे जानता है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी मायासे उत्पन्न यह संसार वृक्षकी भाँति उत्पत्ति-विनाशशील और क्षणिक है, अतएव इसकी चक्करमें न फँसकर इसको उत्पन्न करनेवाले मायापति परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये और ऐसा समझकर संसारसे विरक्त और उपरत होकर जो भगवान्की शरण ग्रहण कर लेता है, वही वास्तवमें वेदोंको जाननेवाला है; क्योंकि वेदोंमें श्लोकमें सब वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य भगवान्को ही बतलाया है।

१. मनुष्यशरीरमें कर्म करनेका अधिकार है एवं मनुष्यशरीरके द्वारा अहंता, ममता और वासनापूर्वक किये हुए कर्म बन्धनके हेतु माने गये हैं; इसीलिये ये मूल मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले हैं। दूसरी सभी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, उनमें कर्मोंका अधिकार नहीं है; अतः वहाँ अहंता, ममता और वासनारूप मूल होनेपर भी वे कर्मानुसार बाँधनेवाले नहीं बनते।

§ अच्छी और बुरी योनियोंकी प्राप्ति गुणोंके सङ्गसे होती है (गीता १३ । २१) एवं समस्त लोक और प्राणियोंके शरीर तीनों गुणोंके ही परिणाम हैं, यह भाव समझानेके लिये उन शाखाओंको गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई कहा गया है और उन शाखा-स्थानीय देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंके विषयभोगको ही यहाँ कोंपल बतलाया गया है।

× ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त जितने भी लोक और उनमें निवास करनेवाली योनियाँ हैं, वे ही सब इस संसारवृक्षकी बहुत-सी शाखाएँ हैं।

+ इस बातका पता नहीं है कि इसकी यह प्रकट होने और लय होनेकी परम्परा कबसे आरम्भ हुई और कबतक चलती रहेगी। स्थितिकालमें भी यह निरन्तर परिवर्तित होता रहता है; जो रूप पहले क्षणमें है, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहता। इस प्रकार इस संसारवृक्षका आदि, अन्त और स्थिति—तीनों ही उपलब्ध नहीं होते।

÷ इस संसार वृक्षके जो अविद्यामूलक अहंता, ममता और वासनारूप मूल हैं, वे अनादिकालसे पुष्ट होते रहनेके कारण अत्यन्त दृढ़ हो गये हैं; अतएव उस वृक्षको अति दृढ़ मूलोंसे युक्त बतलाया गया है। विवेकद्वारा समस्त संसारको नाशवान् और क्षणिक समझकर इस लोक और परलोकके स्त्री-पुत्र, धन, मकान तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये* ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे आदिपुरुष परमपदस्वरूप परमेश्वरकी शरण होकर उसको प्राप्त हो जानेवाले पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—

निर्मानमोहा[1] जितसङ्गदोषा[2]
अध्यात्मनित्या[3] विनिवृत्तकामाः[4] ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं, वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त† ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥ ६ ॥

जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही;‡ वही मे

आदि समस्त भोगोंमें सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना—उनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना ही दृढ़ वैराग्य है, उसीका नाम यहाँ 'असङ्ग-शस्त्र' है । इस असङ्ग-शस्त्रद्वारा जो चराचर समस्त संसारके चिन्तनका त्याग कर देना—उससे उपरत हो जाना है एवं अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका उच्छेद कर देना है—यही उस संसारवृक्षका दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा समूल उच्छेद करना है ।

* इस अध्यायके पहले श्लोकमें जिसे 'ऊर्ध्व' कहा गया है, गीताके चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें जिसे 'माम्' पदसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'अहम्' पदसे कहा गया है एवं अन्यान्य स्थलोंमें जिसको कहीं परम पद, कहीं अव्यय पद और कहीं परम गति तथा कहीं परम धामके नामसे भी कहा है, उसीको यहाँ परम पदके नामसे कहते हैं । उस सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो बार-बार उनके गुण और प्रभावके सहित स्वरूपका मनन और निदिध्यासनद्वारा अनुसंधान करते रहना है, यही उस परम पदको खोजना है । अतः उपर्युक्त प्रकारसे उसका अनुसंधान करनेके लिये अपने अंदर जरा भी अभिमान न आने देकर और सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी शरण लेकर—उसका अनन्य आश्रय लेकर उसीपर पूर्ण विश्वासपूर्वक निर्भर हो जाना चाहिये ।

[1] जो जाति, गुण, ऐश्वर्य और विद्या आदिके सम्बन्धसे अपने अंदर तनिक भी बड़प्पनकी भावना नहीं करते एवं जिनका मान, बड़ाई या प्रतिष्ठासे तथा अविवेक और भ्रम आदि तमोगुणके भावोंसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रह गया है—ऐसे पुरुषोंको 'निर्मानमोहाः' कहते हैं ।

[2] जिनकी इस लोक और परलोकके भोगोंमें जरा भी आसक्ति नहीं रह गयी है, विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जिनके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता—ऐसे पुरुषोंको 'जितसङ्गदोषाः' कहते हैं ।

[3] 'अध्यात्म' शब्द यहाँ परमात्माके स्वरूपका वाचक है । अतएव परमात्माके स्वरूपमें जिनकी नित्य स्थिति हो गयी है, जिनका क्षणमात्रके लिये भी परमात्मासे वियोग नहीं होता और जिनकी स्थिति सदा अटल बनी रहती है—ऐसे पुरुषोंको 'अध्यात्मनित्याः' कहते हैं ।

[4] जिनकी सब प्रकारकी कामनाएँ सर्वथा नष्ट हो गयी हैं, जिनमें इच्छा, कामना, तृष्णा या वासना आदि लेशमात्र भी नहीं रह गयी हैं—ऐसे पुरुषोंको 'विनिवृत्तकामाः' कहते हैं ।

† शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—इत्यादि द्वन्द्वोंको सुख और दुःखमें हेतु होनेसे सुख-दुःखसंज्ञक कहा गया है । इन सबसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रखना अर्थात् किसी भी द्वन्द्वके संयोग-वियोगमें जरा भी राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारका न होना ही उन द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्त होना है ।

‡ समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि एवं ये जिनके देवता हैं—वे चक्षु, मन और वाणी कोई भी उस परम पदको प्रकाशित नहीं कर सकते । इनके अतिरिक्त और भी जितने प्रकाशक तत्त्व माने गये हैं, उनमेंसे भी कोई या सब मिलकर भी उस परम पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि ये सब उसीके प्रकाशसे—उसीकी सत्ता-स्फूर्तिके किसी अंशसे स्वयं प्रकाशित होते हैं (गीता १५ । १२) ।

परम धाम है* ॥ ६ ॥

सम्बन्ध-पहलेसे तीसरे श्लोकतक संसारवृक्षके नामसे क्षर पुरुषका वर्णन किया, उसमें जीवरूप अक्षर पुरुषके बन्धनका हेतु उनके द्वारा मनुष्ययोनिमें अहंता-ममता और आसक्तिपूर्वक किये हुए कर्मोंको बताया तथा उस बन्धनसे छूटनेका उपाय सृष्टिकर्ता आदिपुरुष पुरुषोत्तमकी शरण ग्रहण करना बताया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे बँधे हुए जीवका क्या स्वरूप है और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे कौन कैसे जानता है; अतः इन सब बातोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये पहले जीवका स्वरूप बतलाते हैं—

ममैवांशो जीवलोके[1] जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है† और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको‡ आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—यह जीवात्मा मनसहित छः इन्द्रियोंको किस समय, किस प्रकार और किसलिये आकर्षित करता है तथा वे मनसहित छः इन्द्रियाँ कौन-कौन हैं—ऐसी जिज्ञासा होनेपर अब दो श्लोकोंमें इसका उत्तर दिया जाता है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः[2]।
गृहीत्वैतानि[3] संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है§ ॥ ८ ॥

---

* जहाँ पहुँचनेके बाद इस संसारसे कभी किसी भी कालमें और किसी भी अवस्थामें पुनः सम्बन्ध नहीं हो सकता, वही मेरा परम धाम अर्थात् मायातीत धाम है और वही मेरा भाव और स्वरूप है। इसीको अव्यक्त, अक्षर और परम गति भी कहते हैं (गीता ८ । २१)। इसीका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

'यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ।'

(बृहज्जाबाल उप० ८ । ६)

'जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु नहीं बहता, जहाँ चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता, जहाँ तारे नहीं चमकते, जहाँ अग्नि नहीं जलाता, जहाँ मृत्यु नहीं प्रवेश करती, जहाँ दुःख नहीं प्रवेश करते और जहाँ जाकर योगी लौटते नहीं—वह सदानन्द, परमानन्द, शान्त, सनातन, सदा कल्याणस्वरूप, ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा वन्दित, योगियोंका ध्येय परम पद है।'

[1] 'जीवलोके' पद यहाँ जीवात्माके निवासस्थान 'शरीर' का वाचक है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंका इसमें अन्तर्भाव है। इनमें स्थित जीवात्माको सनातन और अपना अंश बतलाया है।

† जैसे सर्वत्र समभावसे स्थित विभागरहित महाकाश घड़े और मकान आदिके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होने लगता है और उन घड़े आदिमें स्थित आकाश महाकाशका अंश माना जाता है, उसी प्रकार यद्यपि मैं विभागरहित समरूपसे सर्वत्र व्याप्त हूँ, तो भी भिन्न-भिन्न शरीरोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् विभक्त-सा प्रतीत होता हूँ (गीता १३ । १६) और उन शरीरोंमें स्थित जीव मेरा अंश माना जाता है तथा इस प्रकारका यह विभाग अनादि है, नवीन नहीं बना है। यही भाव दिखलानेके लिये जीवात्माको भगवान्ने अपना सनातन अंश बतलाया है।

‡ पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन—इन छहोंकी ही सब विषयोंका अनुभव करनेमें प्रधानता है, कर्मेन्द्रियोंका कार्य भी बिना ज्ञानेन्द्रियोंके नहीं चलता; इसलिये यहाँ मनके सहित इन्द्रियोंकी संख्या छः बतलायी गयी है। अतएव पाँच कर्मेन्द्रियोंका इनमें अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

[2] जीवात्माको ईश्वर कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यह इन मन-बुद्धिके सहित समस्त इन्द्रियोंका शासक और स्वामी है, इसीलिये इनको आकर्षित करनेमें समर्थ है।

[3] मन अन्तःकरणका उपलक्षण होनेसे बुद्धिका उसमें अन्तर्भाव है और पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणोंका अन्तर्भाव ज्ञानेन्द्रियोंमें है, अतः यहाँ 'एतानि' पद इन सतरह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरका बोधक है।

§ यहाँ आधारके स्थानमें स्थूलशरीर है, गन्धके स्थानमें सूक्ष्मशरीर है और वायुके स्थानमें जीवात्मा है। जैसे वायु गन्धको एक स्थानसे उड़ाकर दूसरे स्थानमें ले जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राणोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरको एक स्थूलशरीरसे निकालकर दूसरे स्थूलशरीरमें ले जाता है।

यद्यपि जीवात्मा परमात्माका ही अंश होनेके कारण वस्तुतः नित्य और अचल है, उसका कहीं आना-जाना नहीं

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है* ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयोंको भोगते हुएको—इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं† ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; ‡ किंतु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते§ ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—छठे श्लोकपर दो शङ्काएँ होती हैं—पहली यह कि सबके प्रकाशक सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि तेजोमय पदार्थ परमात्माको क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते और दूसरी यह कि परमपदको प्राप्त होनेके बाद पुरुष वापस क्यों नहीं लौटते। इनमेंसे दूसरी शङ्काके उत्तरमें सातवें श्लोकमें जीवात्माको परमेश्वरका सनातन अंश बतलाकर ग्यारहवें श्लोकतक उसके स्वरूप, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करते हुए उसका यथार्थ स्वरूप जाननेवालोंकी महिमा कही गयी। अब पहली शङ्काका उत्तर देनेके लिये भगवान् बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यसहित अपने स्वरूपका वर्णन करते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान× ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ+ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय

बन सकता, तथापि सूक्ष्मशरीरके साथ इसका सम्बन्ध होनेके कारण सूक्ष्मशरीरके द्वारा एक स्थूलशरीरसे दूसरे स्थूलशरीरमें जीवात्माका जाना-सा प्रतीत होता है; इसलिये यहाँ 'संयाति' क्रियाका प्रयोग करके जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना बतलाया गया है। गीताके दूसरे अध्यायके २२ वें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है।

* वास्तवमें आत्मा न तो कर्मोंका कर्ता है और न उनके फलस्वरूप विषय एवं सुख-दुःखादिका भोक्ता ही; किंतु प्रकृति और उसके कार्योंके साथ जो उसका अज्ञानसे अनादि सम्बन्ध माना हुआ है, उसके कारण वह कर्ता-भोक्ता बना हुआ है (गीता १३ । २१)। श्रुतिमें भी कहा है—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।' (कठोपनिषद् १।३।४) अर्थात् 'मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे युक्त आत्माको ही ज्ञानीजन भोक्ता—ऐसा कहते हैं।'

† ज्ञानीजन शरीर छोड़कर जाते समय, शरीरमें रहते समय और विषयोंका उपभोग करते समय हरेक अवस्थामें ही वह आत्मा वास्तवमें प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, शुद्ध, बोधस्वरूप और असङ्ग ही है—ऐसा समझते हैं।

‡ जिनका अन्तःकरण शुद्ध है और अपने वशमें है तथा जो आत्मस्वरूपको जाननेके लिये निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि प्रयत्न करते रहते हैं, ऐसे उच्चकोटिके 'साधक ही 'यत्न करनेवाले योगीजन' हैं तथा जिस जीवात्माका प्रकरण चल रहा है और जो शरीरके सम्बन्धसे हृदयमें स्थित कहा जाता है, उसके नित्य-शुद्ध-विज्ञानानन्दमय वास्तविक स्वरूपको यथार्थ जान लेना ही उनका 'इस आत्माको तत्त्वसे जानना' है।

§ जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अर्थात् न तो निष्काम कर्म आदिके द्वारा जिनके अन्तःकरणका मल सर्वथा धुल गया है एवं न जिन्होंने भक्ति आदिके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका ही कभी समुचित अभ्यास किया है, ऐसे मलिन और विक्षिप्त अन्तःकरणवाले पुरुषोंको 'अकृतात्मा' कहते हैं। ऐसे मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध बनानेकी चेष्टा न करके यदि केवल उस आत्माको जाननेके लिये शास्त्रालोचनरूप प्रयत्न करते रहें तो भी उसके तत्त्वको नहीं समझ सकते।

× सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें स्थित समस्त तेजको अपना तेज बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि उन तीनोंमें और वे जिनके देवता हैं—ऐसे नेत्र, मन और वाणीमें वस्तुको प्रकाशित करनेकी जो कुछ भी शक्ति है—वह मेरे ही तेजका एक अंश है। इसीलिये छठे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि——ये सब मेरे स्वरूपको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं।

+ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस पृथ्वीमें जो भूतोंको धारण करनेकी शक्ति प्रतीत होती है तथा

चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ* ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ† ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है‡ और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ§ तथा वेदान्तका कर्ता× और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—पहलेसे छठे श्लोकतक वृक्षरूपसे संसारका, दृढ़ शस्त्रके द्वारा उसके छेदनका, परमेश्वरकी शरणमें जानेका, परमात्माको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंके लक्षणोंका और परमधामस्वरूप परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करते हुए अश्वत्थ वृक्षरूप क्षर पुरुषका प्रकरण पूरा किया गया। तदनन्तर सातवें श्लोकसे 'जीव' शब्द-वाच्य उपासक अक्षर पुरुषका प्रकरण आरम्भ करके उसके स्वरूप, शक्ति, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करनेके बाद उसे जाननेवालोंकी महिमा कहते हुए ग्यारहवें श्लोकतक उस प्रकरणको पूरा किया। फिर बारहवें श्लोकसे उपास्यदेव 'पुरुषोत्तम' का प्रकरण आरम्भ करके पंद्रहवें श्लोकतक उसके गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन करते हुए उस प्रकरणको भी पूरा किया। अब अध्यायकी समाप्तितक पूर्वोक्त तीनों प्रकरणोंका सार संक्षेपमें बतलानेके लिये अगले श्लोकोंमें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमका वर्णन करते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते+ ॥ १६ ॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥ १६ ॥

इसी प्रकार और किसीमें जो धारण करनेकी शक्ति है, वह वास्तवमें उसकी नहीं, मेरी ही शक्तिका एक अंश है। अतएव मैं स्वयं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने बलसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ।

* 'ओषधिः' शब्द पत्र, पुष्प और फल आदि समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके सहित वृक्ष, लता और तृण आदि जिनके भेद हैं—ऐसी समस्त वनस्पतियोंका वाचक है तथा 'मैं ही चन्द्रमा बनकर समस्त ओषधियोंका पोषण करता हूँ' इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रकाशनशक्ति मेरे ही प्रकाशका अंश है, उसी प्रकार जो उसमें पोषण करनेकी शक्ति है, वह भी मेरी ही शक्तिका एक अंश है; अतएव मैं ही चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होकर सबका पोषण करता हूँ।

† यहाँ भगवान् यह बतला रहे हैं कि जिस प्रकार अग्निकी प्रकाशनशक्ति मेरे ही तेजका अंश है, उसी प्रकार उसका जो उष्णत्व है अर्थात् उसकी जो पाचन, दीपन करनेकी शक्ति है, वह भी मेरी ही शक्तिका अंश है। अतएव मैं ही प्राण और अपानसे संयुक्त प्राणियोंके शरीरमें निवास करनेवाले वैश्वानर अग्निके रूपमें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य पदार्थोंको अर्थात् दाँतोंसे चबाकर खाये जानेवाले रोटी, भात आदि; निगलकर खाये जानेवाले रबड़ी, दूध, पानी आदि; चाटकर खाये जानेवाले शहद, चटनी आदि और चूसकर खाये जानेवाले ऊख आदि—ऐसे चार प्रकारके भोजनको पचाता हूँ।

‡ पहले देखी-सुनी या किसी प्रकार भी अनुभव की हुई वस्तु या घटनादिके स्मरणका नाम 'स्मृति' है। किसी भी वस्तुको यथार्थ जान लेनेकी शक्तिका नाम 'ज्ञान' है तथा संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालका वाचक 'ऊहन' है और उसके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है। ये तीनों मुझसे ही होते हैं, यह कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि सबके हृदयमें स्थित मैं अन्तर्यामी परमेश्वर ही सब प्राणियोंके कर्मानुसार उपर्युक्त स्मृति, ज्ञान और अपोहन आदि भावोंको उनके अन्तःकरणमें उत्पन्न करता हूँ।

§ इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डात्मक जितने भी वर्णन हैं, उन सबका अन्तिम लक्ष्य संसारमें वैराग्य उत्पन्न करके सब प्रकारके अधिकारियोंको मेरा ही ज्ञान करा देना है। अतएव उनके द्वारा जो मनुष्य मेरे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही वेदोंके अर्थको ठीक समझते हैं। इसके विपरीत जो लोग सांसारिक भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे उनके अर्थको ठीक नहीं समझते।

× इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधोंका वास्तविक समन्वय करके मनुष्यको निर्णय प्रदान करनेवाला मैं ही हूँ।

+ जिन दोनों तत्त्वोंका वर्णन गीताके सातवें अध्यायमें 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिके नामसे (७। ४, ५), आठवें अध्यायमें 'अधिभूत' और 'अध्यात्म' के नामसे (८। ४, ३), तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के नामसे (१३। १) और इस अध्यायमें पहले 'अश्वत्थ' और 'जीव' के नामसे किया गया है, उनमेंसे एकको 'क्षर' और दूसरेको 'अक्षर' कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं; क्योंकि

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है;* जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है† ॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ;‡ इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

यो मामेवमसम्मूढो[1] जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्[2] भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

हे भारत ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है,§ वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है× ॥ १९ ॥

'भूतानि' पद यहाँ समस्त जीवोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों प्रकारके शरीरोंका वाचक है और 'कूटस्थ' शब्द यहाँ समस्त शरीरोंमें रहनेवाले आत्माका वाचक है । यह सदा एक-सा रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता; इसलिये इसे 'कूटस्थ' कहते हैं और इसका कभी किसी अवस्थामें क्षय, नाश या अभाव नहीं होता; इसलिये यह अक्षर है ।

* 'उत्तम पुरुष' नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु, सर्वगुणसम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान्‌का वाचक है, वह पूर्वोक्त क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे विलक्षण और अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

† जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट रहकर उनके नाश होनेपर भी कभी नष्ट नहीं होता, सदा ही निर्विकार, एकरस रहता है तथा जो क्षर और अक्षर—इन दोनोंका नियामक और स्वामी तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर है एवं जो गुणातीत, शुद्ध और सबका आत्मा है—वही परमात्मा 'पुरुषोत्तम' है ।

क्षर, अक्षर और ईश्वर—इन तीनों तत्त्वोंका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में इस प्रकार आया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।

(१ । १०)

'प्रधान यानी प्रकृतिका नाम क्षर है और उसके भोक्ता अविनाशी आत्माका नाम अक्षर है । प्रकृति और आत्मा—इन दोनोंका शासन एक देव (पुरुषोत्तम) करता है ।'

‡ अपनेको 'क्षर' पुरुषसे अतीत बतलाकर भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि मैं क्षर पुरुषसे सर्वथा सम्बन्धरहित और अतीत हूँ । अक्षरसे अपनेको उत्तम बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि क्षर पुरुषकी भाँति अक्षरसे मैं अतीत तो नहीं हूँ, क्योंकि वह मेरा ही अंश होनेके कारण अविनाशी और चेतन है; किंतु उससे मैं उत्तम अवश्य हूँ; क्योंकि वह अल्पज्ञ है, मैं सर्वज्ञ हूँ; वह नियम्य है, मैं नियामक हूँ; वह मेरा उपासक है, मैं उसका स्वामी उपास्यदेव हूँ; और वह अल्पशक्तिसम्पन्न है, मैं सर्वशक्तिमान् हूँ; अतएव उसकी अपेक्षा मैं सब प्रकारसे उत्तम हूँ ।

१. जिसका ज्ञान संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे शून्य हो, जिसमें मोहका जरा भी अंश न हो, उसे 'असम्मूढ' कहते हैं ।

२. इस अध्यायमें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इस प्रकार तीन भागोंमें विभक्त करके समस्त पदार्थोंका वर्णन किया गया है । अतएव जो क्षर और अक्षर दोनोंके यथार्थ स्वरूपको समझकर उनसे भी अत्यन्त उत्तम पुरुषोत्तमके तत्त्वको जानता है, वही 'सर्वविद्' है ।

§ इस कथनसे भगवान्‌ने यह बतलाया है कि मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, समस्त जगत्‌का सृजन, पालन और संहार आदि करनेवाले, सबके परम सुहृद् सबके एकमात्र नियन्ता, सर्वगुणसम्पन्न, परम दयालु, परम प्रेमी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वरको उपर्युक्त दो श्लोकोंमें वर्णित प्रकारसे क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे उत्तम निर्गुण-सगुण—गुणातीत और सर्वगुणसम्पन्न साकार-निराकार, व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परम पुरुष मान लेना ही मुझको 'पुरुषोत्तम' जानना है ।

× भगवान्‌को पुरुषोत्तम समझनेवाले पुरुषका जो समस्त जगत्‌से प्रेम हटाकर केवलमात्र परम प्रेमास्पद एक परमेश्वरमें ही पूर्ण प्रेम करना; एवं बुद्धिसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला, स्वरूप और महिमापर पूर्ण विश्वास करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, चरित्र और स्वरूप आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मनसे चिन्तन करना, कानोंसे श्रवण करना, वाणीसे कीर्तन करना, नेत्रोंसे दर्शन करना एवं उनकी आज्ञाके अनुसार सब कुछ उनका समझकर तथा सबमें उनको व्याप्त समझकर कर्तव्य-कर्मोंद्वारा सबको सुख पहुँचाते हुए उनकी सेवा आदि करना है—यही भगवान्‌को सब प्रकारसे भजना है ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ[२]।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है* ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥ भीष्मपर्वमें उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

* * *

चत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां षोडशोऽध्यायः)

फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणोंको त्यागने और शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेके लिये प्रेरणा

सम्बन्ध—गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें भगवान्ने कहा था कि 'आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ़ मेरा भजन नहीं करते, वरं मेरा तिरस्कार करते हैं।' तथा नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें कहा कि दैवी प्रकृतिसे युक्त महात्माजन मुझे सब भूतोंका आदि और अविनाशी समझकर अनन्य प्रेमके साथ सब प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।' परंतु दूसरा प्रसंग चलता रहनेके कारण वहाँ दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृतिके लक्षणोंका वर्णन नहीं किया जा सका। फिर पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'जो ज्ञानी महात्मा मुझे 'पुरुषोत्तम' जानते हैं वे सब प्रकारसे मेरा भजन करते हैं।' इसपर स्वाभाविक ही भगवान्को पुरुषोत्तम जानकर सर्वभावसे उनका भजन करनेवाले दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा पुरुषोंके और उनका भजन न करनेवाले आसुरी प्रकृतियुक्त अज्ञानी मनुष्योंके क्या-क्या लक्षण हैं—यह जाननेकी इच्छा होती है। अतएव अब भगवान् दोनोंके लक्षण और स्वभावका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये सोलहवाँ अध्याय आरम्भ करते हैं। इसमें पहले तीन श्लोकोंद्वारा दैवी-सम्पद्से युक्त सात्त्विक पुरुषोंके स्वाभाविक लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप[३] आर्जवम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ॥ १ ॥

---

[१] इसे गुह्यतम बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस अध्यायमें मुझ सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बात प्रधानतासे कही गयी है; इसलिये यह अतिशय गुप्त रखनेयोग्य है। मैं हर किसीके सामने इस प्रकारसे अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और ऐश्वर्यको प्रकट नहीं करता; अतएव तुम्हें भी अपात्रके सामने इस रहस्यको नहीं कहना चाहिये।

[२] भगवान्ने अर्जुनको यहाँ 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे अंदर पाप नहीं है, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल है, अतः तुम मेरे इस गुह्यतम उपदेशको सुनने और धारण करनेके पात्र हो।

* इस अध्यायमें वर्णित भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूप आदिको भलीभाँति समझकर भगवान्को पूर्वोक्त प्रकारसे साक्षात् पुरुषोत्तम समझ लेना ही इस शास्त्रको तत्त्वसे जानना है तथा उसे जाननेवालेका जो उस पुरुषोत्तम भगवान्को अपरोक्षभावसे प्राप्त कर लेना है, यही उसका बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानवान् हो जाना है और समस्त कर्तव्योंको पूर्ण कर चुकना—सबके फलको प्राप्त हो जाना ही कृतकृत्य हो जाना है।

[३] अपने धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करके जो अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तपाना है, उसीका नाम यहाँ 'तपः' पद है। गीताके सतरहवें अध्यायमें जिस शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका निरूपण है—यहाँ 'तपः' पदसे

अहिंसा[१] सत्यमक्रोधस्त्यागः[२] शान्तिरपैशुनम्[३] ।
दया[४] भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं[५] ह्रीरचापलम्[६] ॥ २ ॥

मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज,* क्षमा, धैर्य,† बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन ! दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं‡ ॥ ३ ॥

दम्भो[७] दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

उसका निर्देश नहीं है; क्योंकि उसमें अहिंसा, सत्य, शौच, स्वाध्याय और आर्जव आदि जिन लक्षणोंका तपके अङ्ग निरूपण हुआ है, यहाँ उनका अलग वर्णन किया गया है ।

१. किसी भी प्राणीको कभी कहीं भी लोभ, मोह या क्रोधपूर्वक अधिक मात्रामें, मध्य मात्रामें या थोड़ा-सा भी कि प्रकारका कष्ट स्वयं देना, दूसरेसे दिलवाना या कोई किसीको कष्ट देता हो तो उसका अनुमोदन करना—हर हालतमें हिं है । इस प्रकारकी हिंसाका किसी भी निमित्तसे मन, वाणी, शरीरद्वारा न करना—अर्थात् मनसे किसीका बुरा न चाहना वाणीसे किसीको न तो गाली देना, न कठोर वचन कहना और न किसी प्रकारके हानिकारक वचन ही कहना तथा शरीरसे न किसीको मारना, न कष्ट पहुँचाना और न किसी प्रकारकी हानि ही पहुँचाना आदि—ये सभी अहिंसाके भेद हैं ।

२. केवल गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, मेरा इन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मानकर, अथवा मैं तो भगवान्के हाथकी कठपुतलीमात्र हूँ, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मेरे मन, वाणी और शरीरसे सब कर्म करवा रहे हैं, मुझमें न तो अपने-आप कुछ करनेकी शक्ति है और न मैं कुछ करता ही हूँ—ऐसा मानकर कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करना ही त्याग है या कर्तव्यकर्म करते हुए उनमें ममता, आसक्ति, फल और स्वार्थका सर्वथा त्याग करना भी त्याग है एवं आत्मोन्नतिमें विरोधी वस्तु, भाव और क्रियामात्रके त्यागका नाम भी 'त्याग' कहा जा सकता है ।

३. दूसरेके दोष देखना या उन्हें लोगोंमें प्रकट करना, अथवा किसीकी निन्दा या चुगली करना पिशुनता है; इसके सर्वथा अभावका नाम 'अपैशुन' है ।

४. किसी भी प्राणीको दुखी देखकर उसके दुःखको जिस किसी प्रकारसे किसी भी स्वार्थकी कल्पना किये बिना ही निवारण करनेका और सब प्रकारसे उसे सुखी बनानेका जो भाव है, उसे 'दया' कहते हैं । दूसरोंको कष्ट नहीं पहुँचाना 'अहिंसा' है और उनको सुख पहुँचानेका भाव 'दया' है । यही अहिंसा और दयाका भेद है ।

५. अन्तःकरण, वाणी और व्यवहारमें जो कठोरताका सर्वथा अभाव होकर उनका अतिशय कोमल हो जाना है उसीको 'मार्दव' कहते हैं ।

६. हाथ-पैर आदिको हिलाना, तिनके तोड़ना, जमीन कुरेदना, बेमतलब बकते रहना, बेसिर-पैरकी बातें सोचना आदि हाथ-पैर, वाणी और मनकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम चपलता है । इसीको प्रमाद भी कहते हैं । इसके सर्वथा अभाव को 'अचापल' कहते हैं ।

* श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिविशेषका नाम तेज है, जिसके कारण उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

† भारी-से-भारी आपत्ति, भय या दुःख उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना; काम, क्रोध, भय या लोभसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे विमुख न होना 'धैर्य' है ।

‡ इस अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर इस श्लोकके पूर्वार्द्धतक ढाई श्लोकोंमें छब्बीस लक्षणोंके रूपमें उन दैवीसम्पद्रूप सद्गुण और सदाचारका ही वर्णन किया गया है । अतः ये सब लक्षण जिसमें स्वभावसे विद्यमान हों अथवा जिसने साधनद्वारा प्राप्त कर लिये हों, वही पुरुष दैवीसम्पद्से युक्त है ।

७. मान, बड़ाई, पूजा और प्रतिष्ठाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगनेके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा प्रसिद्ध करना अथवा दिखाऊ धर्मपालनका, दानीपनका, भक्तिका, व्रत-उपवासादिका, साधनका और जिस किसी भी रूपमें रहनेसे अपना काम सधता हो, उसीका ढोंग रचना 'दम्भ' है ।

हे पार्थ! दम्भ, घमण्ड* और अभिमान† तथा क्रोध,‡ कठोरता§ और अज्ञान× भी—ये सब आसुरी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं+ ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

दैवी-सम्पदा मुक्तिके लिये÷ और आसुरी-सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे अर्जुन! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकारका है,ऽ एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला। उनमेंसे दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर-स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानतेA। इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥ ७ ॥

---

* विद्या, धन, कुटुम्ब, जाति, अवस्था, बल और ऐश्वर्य आदिके सम्बन्धसे जो मनमें गर्व होता है—जिसके मदसे मनुष्य दूसरोंको तुच्छ समझकर उनकी अवहेलना करता है, उसका नाम 'घमण्ड' है।

† अपनेको श्रेष्ठ, बड़ा या पूज्य समझना, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी इच्छा रखना एवं इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना 'अभिमान' है।

‡ बुरी आदतके अथवा क्रोधी मनुष्योंके सङ्गके कारण या किसीके द्वारा अपना तिरस्कार, अपकार या निन्दा किये जानेपर, मनके विरुद्ध कार्य होनेपर, किसीके द्वारा दुर्वचन सुनकर या किसीका अन्याय देखकर—इत्यादि किसी भी कारणसे अन्तःकरणमें जो द्वेषयुक्त उत्तेजना हो जाती है—जिसके कारण मनुष्यके मनमें प्रतिहिंसाके भाव जाग्रत् हो उठते हैं, नेत्रोंमें लाली आ जाती है, होठ फड़कने लगते हैं, मुखकी आकृति भयानक हो जाती है, बुद्धि मारी जाती है और कर्तव्यका विवेक नहीं रह जाता—इत्यादि किसी प्रकारकी भी 'उत्तेजित वृत्ति' का नाम 'क्रोध' है।

§ कोमलताके अत्यन्त अभावका नाम कठोरता है। किसीको गाली देना, कटुवचन कहना, ताने मारना आदि वाणीकी कठोरता है, विनयका अभाव शरीरकी कठोरता है तथा क्षमा और दयाके विरुद्ध प्रतिहिंसा और क्रूरताके भावको मनकी कठोरता कहते हैं।

× सत्य-असत्य और धर्म-अधर्म आदिको यथार्थ न समझना या उनके सम्बन्धमें विपरीत निश्चय कर लेना ही 'अज्ञान' है।

+ इस श्लोकमें दुर्गुण और दुराचारोंके समुदायरूप आसुरीसम्पद् संक्षेपमें बतलायी गयी है। अतः ये सब या इनमेंसे कोई भी लक्षण जिसमें विद्यमान हो, उसे आसुरीसम्पदासे युक्त समझना चाहिये।

÷ इसी अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर तीसरे श्लोकतक सात्त्विक गुण और आचरणोंके समुदायरूप जिस दैवी-सम्पदाका वर्णन किया गया है, वह मनुष्यको संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त करके सच्चिदानन्दघन परमेश्वरसे मिला देनेवाली है—ऐसा वेद, शास्त्र और महात्मा सभी मानते हैं।

१. 'सर्ग' सृष्टिको कहते हैं, भूतोंकी सृष्टिको भूतसर्ग कहते हैं। यहाँ 'अस्मिन् लोके' से मनुष्यलोकका संकेत किया गया है तथा इस अध्यायमें मनुष्योंके लक्षण बतलाये गये हैं, इसी कारण यहाँ 'भूतसर्गौ' पदका अर्थ 'मनुष्यसमुदाय' किया गया है।

ऽ मनुष्योंके दो समुदायोंमेंसे जो सात्त्विक है, वह तो दैवी प्रकृतिवाला है और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान है, वह आसुरी प्रकृतिवाला है। 'राक्षसी' और 'मोहिनी' प्रकृतिवाले मनुष्योंको यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले समुदायके अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

A जिस कर्मके आचरणसे इस लोक और परलोकमें मनुष्यका यथार्थ कल्याण होता है, वही कर्तव्य है। मनुष्यको जिसमें प्रवृत्त होना चाहिये और जिस कर्मके आचरणसे अकल्याण होता है, वह अकर्तव्य है, उससे निवृत्त होना चाहिये। [illegible] यहाँ यह भाव दिखलाया है कि आसुर-स्वभाववाले मनुष्य इस कर्तव्य-अकर्तव्य-सम्बन्धी प्रवृत्ति और निवृत्तिको ठीक नहीं समझते; इसलिये जो कुछ उनके मनमें आता है, वही करने लगते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥ ८ ॥

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके,* अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है। इसके सिवा और क्या है? ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—ऐसे नास्तिक सिद्धान्तके माननेवालोंके स्वभाव और आचरण कैसे होते हैं? इस जिज्ञासापर अब भगवान् अगले चार श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९ ॥

इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके—जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्के नाशके लिये ही समर्थ होते हैं† ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके‡ संसारमें विचरते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११

तथा वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओं आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले 'इतना ही सुख है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं ॥ ११

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ १२

वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए§ मनुष्य क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक पदार्थोंको संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं× ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास इतना धन है और फिर भी यह हो जायगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४

वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ, मैं सब सिद्धियोंसे युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ

---

* यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंकी मनगढ़ंत कल्पनाका वर्णन किया गया है। वे लोग ऐसा मानते कि न तो इस चराचर जगत्का भगवान् या कोई धर्माधर्म ही आधार है तथा न इस जगत्की कोई नित्य सत्ता है। न तो जन्मसे पहले या मरनेके बाद किसी भी जीवका अस्तित्व है एवं न कोई इसका रचयिता, नियामक और शासक ईश्वर ही

† नास्तिक सिद्धान्तवाले मनुष्य आत्माकी सत्ता नहीं मानते, वे केवल देहवादी या भौतिकवादी ही होते हैं; उनका स्वभाव भ्रष्ट हो जाता है, उनकी किसी भी सत्कार्यके करनेमें प्रवृत्ति नहीं होती। उनकी बुद्धि भी अत्यन्त होती है; वे जो कुछ निश्चय करते हैं, सब केवल भोग-सुखकी दृष्टिसे ही करते हैं। उनका मन निरन्तर सबका करनेकी बात ही सोचा करता है, इससे वे अपना भी अहित ही करते हैं तथा मन, वाणी, शरीरसे चराचर डराने, दुःख देने और उनका नाश करनेवाले बड़े-बड़े भयानक कर्म ही करते रहते हैं।

‡ जिनके खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, व्यवसाय-वाणिज्य, देन-लेन और बर्ताव-व्यवहार आदि शास्त्र और भ्रष्ट होते हैं, वे भ्रष्ट आचरणोंवाले कहे जाते हैं।

§ आसुर-स्वभाववाले मनुष्य मनमें उठनेवाली कल्पनाओंकी पूर्तिके लिये भाँति-भाँतिकी सैकड़ों आशाएँ लगाये हैं। उनका मन कभी किसी विषयकी आशामें लटकता है, कभी किसीमें खिंचता है और कभी किसीमें अटकता है; प्रकार आशाओंके बन्धनसे वे कभी छूटते ही नहीं। इसीसे उनको सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए कहा गया है।

× विषय-भोगोंके उद्देश्यसे जो काम-क्रोधका अवलम्बन करके अन्यायपूर्वक अर्थात् चोरी, ठगी, डाका, कपट, छल, दम्भ, मार-पीट, कूटनीति, जूआ, धोखेबाजी, विष-प्रयोग, झूठे मुकदमे और भय-प्रदान आदि शास्त्र उपायोंके द्वारा दूसरोंके धनादिको हरण करनेकी चेष्टा करना है—यही विषय-भोगोंके लिये अन्यायसे अर्थसंचय करने प्रयत्न करना है।

+ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि अहंकारके साथ ही वे मानमें भी चूर रहते हैं, इससे ऐसा समझते हैं 'संसारमें हमसे बड़ा और है ही कौन; हम जिसे चाहें, मार दें, बचा दें, जिसकी चाहें जड़ उखाड़ दें या रोप दें।' गर्वके साथ कहते हैं—'अरे! हम सर्वथा स्वतन्त्र हैं, सब कुछ हमारे ही हाथोंमें तो है; हमारे सिवा दूसरा कौन ऐश्वर्यवान

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं* ॥ १५-१६ ॥

आत्मसम्भाविताः[1] स्तब्धा[2] धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः[3] ॥ १८ ॥

वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं† ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सातवेंसे अठारहवें श्लोकतक आसुरी स्वभाववालोंके दुर्गुण और दुराचार आदिका वर्णन करके अब उन दुर्गुण-दुराचारोंमें त्याज्य-बुद्धि करानेके लिये अगले दो श्लोकोंमें भगवान् वैसे लोगोंकी घोर निन्दा करते हुए उनकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें‡ ही डालता हूँ ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर§ जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥२०॥

सम्बन्ध—आसुर-स्वभाववाले मनुष्योंको लगातार आसुरी योनियोंके और घोर नरकोंके प्राप्त होनेकी बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि उनके लिये इस दुर्गतिसे बचकर परम गतिको प्राप्त करनेका क्या उपाय है; इसपर कहते हैं—

सारे ऐश्वर्योंके स्वामी हमीं तो हैं। सारे ईश्वरोंके ईश्वर परम पुरुष भी तो हमीं हैं। सबको हमारी ही पूजा करनी चाहिये। हम केवल ऐश्वर्यके स्वामी ही नहीं, समस्त ऐश्वर्यका भोग भी करते हैं। हमने अपने जीवनमें कभी विफलताका अनुभव किया ही नहीं; हमने जहाँ हाथ डाला, वहीं सफलताने हमारा अनुगमन किया। हम सदा सफलजीवन हैं, परम सिद्ध हैं, भविष्यमें होनेवाली घटना हमें पहलेसे ही मालूम हो जाती है। हम सब कुछ जानते हैं, कोई बात हमसे छिपी नहीं है। इतना ही नहीं, हम बड़े बलवान् हैं; हमारे मनोबल या शारीरिक बलका इतना प्रभाव है कि जो कोई उसका सहारा लेगा, वही उस बलसे जगत्‌पर विजय पा लेगा। इन्हीं सब कारणोंसे हम परम सुखी हैं; संसारके सारे सुख सदा हमारी सेवा करते हैं और करते रहेंगे।'

* अभिप्राय यह है कि ऐसे मनुष्य कामोपभोगके लिये भाँति-भाँतिके पाप करते हैं और उनका फल भोगनेके लिये उन्हें विष्ठा, मूत्र, रुधिर, पीब आदि गंदी वस्तुओंसे भरे दुःखदायक कुम्भीपाक, रौरवादि घोर नरकोंमें गिरना पड़ता है।

[1] जो अपने ही मनसे अपने-आपको सब बातोंमें सर्वश्रेष्ठ, सम्मान्य, उच्च और पूज्य मानते हैं, वे 'आत्मसम्भावित' हैं।

[2] जो घमण्डके कारण किसीके साथ—यहाँतक कि पूजनीयोंके प्रति भी विनयका व्यवहार नहीं करते, वे 'स्तब्ध' हैं।

[3] दूसरोंके दोष देखना, देखकर उनकी निन्दा करना, उनके गुणोंका खण्डन करना और गुणोंमें दोषारोपण करना एवं भगवान् और संत पुरुषोंमें भी दोष देखते रहना—इन सब दोषोंसे युक्त मनुष्यको 'अभ्यसूयक' कहते हैं।

† सभीके अंदर अन्तर्यामीरूपसे परमेश्वर स्थित हैं। अतः किसीसे विरोध या द्वेष करना, किसीका अहित करना और किसीको दुःख पहुँचाना अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित परमेश्वरसे ही द्वेष करना है।

‡ सिंह, बाघ, सर्प, बिच्छू, सूअर, कुत्ते और कौए आदि जितने भी पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग हैं—ये सभी आसुरी योनियाँ हैं।

§ मनुष्ययोनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका अधिकार है। इस अधिकारको प्राप्त होकर भी जो मनुष्य इस बातको भूलकर, दैव-स्वभावरूप भगवत्प्राप्तिके मार्गको छोड़कर आसुर-स्वभावका अवलम्बन करते हैं, वे मनुष्य-शरीरका सुअवसर पाकर भी भगवान्‌को नहीं पा सकते—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको न पानेकी बात कही है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं* । अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है,† इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—जो उपर्युक्त दैवीसम्पदाका आचरण न करके अपनी मान्यताके अनुसार कर्म करता है, वह परम गतिको प्रा होता है या नहीं ? इसपर कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही‡ ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है§ ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ भीष्मपर्वणि तु चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें दैवासुरसम्पद्विभागयोगनामक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥ भीष्मपर्वमें चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

---

* स्त्री, पुत्र आदि समस्त भोगोंकी कामनाका नाम 'काम' है; इस कामनाके वशीभूत होकर ही मनुष्य चोरी, व्यभिचार और अभक्ष्य-भोजनादि नाना प्रकारके पाप करते हैं । मनके विपरीत होनेपर जो उत्तेजनामय वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम 'क्रोध' है; क्रोधके आवेशमें मनुष्य हिंसा-प्रतिहिंसा आदि भाँति-भाँतिके पाप करते हैं । धनादि विषयोंकी अत्यन्त बढ़ी हुई लालसाको 'लोभ' कहते हैं । लोभी मनुष्य उचित अवसरपर धनका त्याग नहीं करते एवं अनुचितरूपसे भी उपार्जन और संग्रह करनेमें लगे रहते हैं; इसके कारण उनके द्वारा झूठ, कपट, चोरी और विश्वासघात आदि बड़े-बड़े पाप बन जाते हैं । मनुष्य जबसे काम, क्रोध, लोभके वशमें होते हैं, तभीसे वे अपने विचार, आचरण और भावोंमें गिरने लगते हैं । काम, क्रोध और लोभके कारण उनसे ऐसे कर्म होते हैं, जिनसे उनका शारीरिक पतन हो जाता है, मन बुरे विचारोंसे भर जाता है, बुद्धि बिगड़ जाती है, क्रियाएँ सब दूषित हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप उनका वर्तमान जीवन सुख, शान्ति और पवित्रतासे रहित होकर दुःखमय बन जाता है तथा मरनेके बाद उनको आसुरी योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है । इसीलिये इन त्रिविध दोषोंको 'नरकके द्वार और आत्माका नाश करनेवाले' बतलाया गया है।

† काम, क्रोध और लोभ आदि आसुरी सम्पदाका त्याग करके शास्त्रप्रतिपादित सद्गुण और सदाचाररूप दैवी सम्पदाका निष्कामभावसे सेवन करना ही कल्याणके लिये आचरण करना है ।

‡ वेद और वेदोंके आधारपर रचित स्मृति, पुराण, इतिहासादि सभीका नाम शास्त्र है । आसुरीसम्पदाके आचार-व्यवहार आदिके त्यागका और दैवीसम्पदारूप कल्याणकारी गुण-आचरणोंके सेवनका ज्ञान शास्त्रोंसे ही होता है । कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान करानेवाले शास्त्रोंके विधानकी अवहेलना करके अपनी बुद्धिसे अच्छा समझकर जो मनमाने तौरपर मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि किसीकी भी इच्छाविशेषको लेकर आचरण करना है, यही शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करना है। ऐसे कर्म करनेवाले कर्ताको कोई भी फल नहीं मिलता । अर्थात् परमगति नहीं मिलती—इसमें तो कहना ही क्या है, लौकिक अणिमादि सिद्धि और स्वर्गप्राप्तिरूप सिद्धि भी नहीं मिलती एवं संसारमें सात्त्विक सुख भी नहीं मिलता।

§ इससे यह भाव दिखलाया गया है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसकी व्यवस्था श्रुति, वेदमूलक स्मृति और पुराण-इतिहासादि शास्त्रोंसे प्राप्त होती है । अतएव इस विषयमें मनुष्यको मनमाना आचरण न करके शास्त्रोंको ही प्रमाण मानना चाहिये । अर्थात् इन शास्त्रोंमें जिन कर्मोंके करनेका विधान है, उनको करना चाहिये और जिनका निषेध है, उन्हें नहीं करना चाहिये ।

तथा उन शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण भी निष्कामभावसे ही करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रोंमें निष्कामभावसे किये हुए शुभ कर्मोंको ही भगवत्प्राप्तिमें हेतु बतलाया है ।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः)

श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ, तत्, सत्के प्रयोगकी व्याख्या

सम्बन्ध—गीताके सोलहवें अध्यायके आरम्भमें श्रीभगवान्‌ने निष्काम-भावसे सेवन किये जानेवाले शास्त्रविहित गुण और आचरणोंका दैवीसम्पदाके नामसे वर्णन करके फिर शास्त्रविपरीत आसुरी सम्पत्तिका कथन किया। साथ ही आसुर-स्वभाववाले पुरुषोंको नरकोंमें गिरानेकी बात कही और यह बतलाया कि काम, क्रोध, लोभ ही आसुरी सम्पदाके प्रधान अवगुण हैं और ये तीनों ही नरकके द्वार हैं; इनका त्याग करके जो आत्मकल्याणके लिये आचरण करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। इसके अनन्तर यह कहा कि जो शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे अपनी समझसे जिसको अच्छा कर्म समझता है, वही करता है उसे अपने उन कर्मोंका फल नहीं मिलता, यह तो ठीक ही है; परंतु ऐसे लोग भी तो हो सकते हैं, जो शास्त्रविधिका तो न जाननेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे त्याग कर बैठते हैं तथा यज्ञ-पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं, उनकी क्या स्थिति होती है? इस जिज्ञासाको व्यक्त करते हुए अर्जुन भगवान्‌से पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो श्रद्धासे युक्त मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर देवादिका पूजन करते हैं,* उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी†? ॥ १॥

---

* यद्यपि शास्त्रविधिके त्यागकी बात गीताके सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी कही जा चुकी थी और यहाँ भी कहते हैं; पर इन दोनोंके भावमें बड़ा अन्तर है। वहाँ अवहेलनापूर्वक किये जानेवाले शास्त्रविधिके त्यागका वर्णन है और यहाँ न जाननेके कारण होनेवाले शास्त्रविधिके त्यागका है। उनको तो शास्त्रकी परवा ही नहीं है; अतः वे मनमाने ढंगसे जिस कर्मको अच्छा समझते हैं, उसे करते हैं। इसीलिये वहाँ 'वर्तते कामकारतः' कहा गया है; परंतु यहाँ 'यजन्ते श्रद्धयान्विताः' कहा है, अतः इन लोगोंमें श्रद्धा है। जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ अवहेलना नहीं हो सकती। इन लोगोंको परिस्थिति और वातावरणकी प्रतिकूलतासे, अवकाशके अभावसे अथवा परिश्रम तथा अध्ययन आदिकी कमीसे शास्त्रविधिका ज्ञान नहीं होता और इस अज्ञताके कारण ही इनके द्वारा उसका त्याग होता है।

† जो शास्त्रको न जाननेके कारण शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धाके साथ पूजन आदि करनेवाले हैं, वे कैसे स्वभाववाले हैं—दैव स्वभाववाले या आसुर स्वभाववाले? इसका स्पष्टीकरण पहले नहीं हुआ। अतः उसीको समझनेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है कि ऐसे लोगोंकी स्थिति सात्त्विकी है अथवा राजसी या तामसी? अर्थात् वे दैवीसम्पदावाले हैं या आसुरीसम्पदावाले?

ऊपरके विवेचनसे यह पता लगता है कि संसारमें निम्नलिखित पाँच प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—

(१) जिनमें श्रद्धा भी है और जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं, ऐसे पुरुष दो प्रकारके हैं—एक तो निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले और दूसरे सकामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले। निष्कामभावसे आचरण करनेवाले दैवीसम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुष मोक्षको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन प्रधानतया गीताके सोलहवें अध्यायके पहले तीन श्लोकोंमें तथा इस अध्यायके ग्यारहवें, चौदहवेंसे सतरहवें और बीसवें श्लोकोंमें है। सकामभावसे आचरण करनेवाले स्वार्थमिश्रित राजस पुरुष सिद्धि, सुख तथा स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायके बयालीसवें, तैंतालीसवें और चौवालीसवेंमें, चौथे अध्यायके बारहवेंमें, सातवेंके बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवेंमें और नवें अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और तेईसवें तथा इस अध्यायके बारहवें, अठारहवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें है।

(२) जो लोग शास्त्रविधिका किसी अंशमें पालन करते हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं होती, उन पुरुषोंके कर्म असत् (निष्फल) होते हैं; उन्हें इस लोक और परलोकमें उन कर्मोंसे कोई भी लाभ नहीं होता। इनका वर्णन गीताके इस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें किया गया है।

(३) जो लोग अज्ञताके कारण शास्त्रविधिका तो त्याग करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा है, ऐसे पुरुष श्रद्धाके भेदसे

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है। उसको तू मुझसे सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है * ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—श्रद्धाके अनुसार मनुष्योंकी निष्ठाका स्व बतलाया गया; इससे यह जाननेकी इच्छा हो सकती है कि ऐसे मनुष्योंकी पहचान कैसे हो कि कौन किस निष्ठावाला है। इसपर भगवान् कहते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं,† राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको‡ तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको§ पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

सात्त्विक भी होते हैं और राजस तथा तामस भी। इनकी गति भी इनके स्वरूपके अनुसार ही होती है। इनका वर्णन इस अध्यायके दूसरे, तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें किया गया है।

(४) जो लोग न तो शास्त्रको मानते हैं और न जिनमें श्रद्धा ही है; इससे जो काम, क्रोध और लोभके वश होकर अपना पापमय जीवन बिताते हैं, वे आसुरी-सम्पदावाले लोग नरकोंमें गिरते हैं तथा नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उनका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें, नवेंके बारहवेंमें, सोलहवें अध्यायके सातवेंसे लेकर बीसवेंतकमें और इस अध्यायके पाँचवें, छठे एवं तेरहवें श्लोकोंमें है।

(५) जो लोग अवहेलनासे शास्त्रविधिका त्याग करते हैं और अपनी समझसे उन्हें जो अच्छा लगता है, वही करते हैं, उन यथेच्छाचारी पुरुषोंमें जिनके कर्म शास्त्रनिषिद्ध होते हैं, उन तामस पुरुषोंको तो नरकादि दुर्गतिकी प्राप्ति होती है और जिनके कर्म अच्छे होते हैं, उन पुरुषोंको शास्त्रविधिका त्याग कर देनेके कारण कोई भी फल नहीं मिलता। इसका वर्णन गीताके सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें किया गया है। ध्यान रहे कि इनके द्वारा जो पापकर्म किये जाते हैं, उनका फल—तिर्यक्-योनियोंकी प्राप्ति और नरकोंकी प्राप्ति—अवश्य होता है।

इन पाँच प्रकारके मनुष्योंके वर्णनमें प्रमाणस्वरूप जिन श्लोकोंका संकेत किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्यान्य श्लोकोंमें भी इनका वर्णन है; परंतु यहाँ उन सबका उल्लेख करनेसे बहुत विस्तार हो जाता, इसलिये नहीं किया गया।

१. जो श्रद्धा शास्त्रके श्रवण-पठनादिसे होती है, उसे 'शास्त्रजा' कहते हैं और जो पूर्वजन्मोंके तथा इस जन्मके कर्मोंके संस्कारानुसार स्वाभाविक होती है, वह 'स्वभावजा' कहलाती है।

* पुरुषका वास्तविक स्वरूप तो गुणातीत ही है; परंतु यहाँ उस पुरुषकी बात है, जो प्रकृतिमें स्थित है और प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे सम्बद्ध है; क्योंकि गुणजन्य भेद 'प्रकृतिस्थ पुरुष' में ही सम्भव है। जो गुणोंसे परे है, उसमें तो गुणोंके भेदकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि जिसकी अन्तःकरणके अनुसार जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है—वैसी ही उस पुरुषकी निष्ठा या स्थिति होती है। अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वही उसका स्वरूप है। इससे भगवान्ने श्रद्धा, निष्ठा और स्वरूपकी एकता करते हुए 'उनकी कौन-सी निष्ठा है' अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर दिया है।

† अभिप्राय यह है कि देवताओंको पूजनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं—सात्त्विकी निष्ठावाले हैं। देवताओंसे यहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, यम, अश्विनीकुमार और विश्वेदेव आदि शास्त्रोक्त देव समझने चाहिये।

यहाँ देवपूजनरूप क्रिया सात्त्विक होनेके कारण उसे करनेवालोंको सात्त्विक बतलाया है; परंतु पूर्ण सात्त्विक तो वही है, जो सात्त्विक क्रियाको निष्कामभावसे करता है।

‡ यक्षसे कुबेरादि और राक्षसोंसे राहु-केतु आदि समझना चाहिये।

§ मरनेके बाद जो पाप-कर्मवश भूत-प्रेतादिके वायुप्रधान देहको प्राप्त होते हैं, वे भूत-प्रेत कहलाते हैं।

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कारसे युक्त* एवं ना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ॥ ५ ॥

र्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राम[1]मचेतसः ।
चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं,† उन नियोंको तू आसुर-स्वभाववाले जान ॥ ६ ॥

म्बन्ध—त्रिविध स्वाभाविक श्रद्धावालोंके तथा घोर तप लोगोंके लक्षण बतलाकर अब भगवान् सात्त्विकका और राजस-तामसका त्याग करानेके उद्देश्यसे सात्त्विक-तामस आहार, यज्ञ, तप और दानके भेद सुननेके लिये को आज्ञा देते हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है । वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं ।‡ उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः[2] स्निग्धाः[3] स्थिरा[4] हृद्या[5] आहाराः[6] सात्त्विकप्रियाः ॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले§ रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

---

* जिसमें नाना प्रकारके आडम्बरोंसे शरीर और इन्द्रियोंको कष्ट पहुँचाया जाता है और जिसका स्वरूप बड़ा भयानक है, इस प्रकारके शास्त्रविरुद्ध भयानक तप करनेवाले मनुष्योंमें श्रद्धा नहीं होती । वे लोगोंको ठगनेके लिये और रोब जमानेके लिये पाखण्ड रचते हैं तथा सदा अहङ्कारसे फूले रहते हैं । इसीसे उन्हें दम्भ और अहङ्कारसे कहा गया है ।

१. पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, दस इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन तेईस तत्त्वोंके समूहका भूतग्राम' है ।

† शरीरको क्षीण और दुर्बल करना तथा स्वयं अपने आत्माको या किसीके भी आत्माको दुःख पहुँचाना भूतसमुदाय-और परमात्माको कृश करना है; क्योंकि सबके हृदयमें आत्मरूपसे परमात्मा ही स्थित हैं ।

‡ मनुष्य जैसा आहार करता है, वैसा ही उसका अन्तःकरण बनता है और अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा भी है । आहार शुद्ध होगा तो उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण भी शुद्ध होगा । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः ।' (छान्दोग्य० २६ । २) । अन्तःकरणकी शुद्धिसे ही विचार, भाव, श्रद्धादि गुण और क्रियाएँ शुद्ध होंगी । अतएव इस प्रसङ्गमें विवेचन करके यह भाव दिखलाया गया है कि सात्त्विक, राजस और तामस आहारोंमें जो आहार जिसको प्रिय होता उसी गुणवाला होता है । इसी भावसे श्लोकमें 'प्रिय' शब्द देकर विशेष लक्ष्य कराया गया है । अतः आहारकी भी उसकी पहचान हो सकती है । यही बात यज्ञ, दान और तपके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये ।

२. दूध, चीनी आदि रसयुक्त पदार्थोंको 'रस्याः' कहते हैं ।

३. मक्खन, घी तथा सात्त्विक पदार्थोंसे निकाले हुए तैल आदि स्नेहयुक्त पदार्थोंको 'स्निग्धाः' कहते हैं ।

४. जिन पदार्थोंका सार बहुत कालतक शरीरमें स्थिर रह सकता है, ऐसे ओज उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंको कहते हैं ।

५. जो गंदे और अपवित्र नहीं हैं तथा देखते ही मनमें सात्त्विक रुचि उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे पदार्थोंको कहते हैं ।

६. भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—इन चार प्रकारके खानेयोग्य पदार्थोंको 'आहार' कहते हैं ।

§ (१) आयुका अर्थ है उम्र या जीवन । जीवनकी अवधिका बढ़ जाना आयुका बढ़ना है ।

(२) सत्त्वका अर्थ है बुद्धि । बुद्धिका निर्मल, तीक्ष्ण एवं यथार्थ तथा सूक्ष्मदर्शिनी होना ही सत्त्वका बढ़ना है ।

(३) बलका अर्थ है सत्कार्यमें सफलता दिलानेवाली मानसिक और शारीरिक शक्ति । इस आन्तर एवं बाह्यशक्तिका ही बलका बढ़ना है ।

(४) मानसिक और शारीरिक रोगोंका नष्ट होना ही आरोग्यका बढ़ना है ।

(५) हृदयमें संतोष, सात्त्विक प्रसन्नता और पुष्टिका होना तथा मुखादि शरीरके अङ्गोंपर शुद्ध भावजनित चिह्नोंका प्रकट होना सुख है; इनकी वृद्धि सुखका बढ़ना है ।

(६) चित्तवृत्तिका प्रेम-भावसम्पन्न हो जाना और शरीरमें प्रीतिकर चिह्नोंका प्रकट होना ही प्रीतिका बढ़ना है ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ* राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं[१] गतरसं[२] पूति[३] पर्युषितं[४] च यत् ।
उच्छिष्टम्[५]अपि चामेध्यं[६] भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

जो भोजन अधपका, रसहित, दुर्गन्धयुक्त, उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन को प्रिय होता है ॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्[७]यज्ञो[८] विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥

जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है मनको समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा जाता है, वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥

उपर्युक्त आयु, बुद्धि और बल आदिको बढ़ानेवाले जो दूध, घी, शाक, फल, चीनी, गेहूँ, जौ, चना, चावल आदि सात्त्विक आहार हैं, उन सबको समझानेके लिये आहारका यह लक्षण किया गया है ।

* नीम, करेला आदि पदार्थ कड़वे हैं, इमली आदि खट्टे हैं, क्षार तथा विविध भाँतिके नमक नमकीन हैं, गरम-गरम वस्तुएँ अति उष्ण हैं, लाल मिर्च आदि तीखे हैं, भाड़में भूँजे हुए अन्नादि रूखे हैं और पदार्थ दाहकारक हैं ।

उपर्युक्त पदार्थोंको खानेके समय गले आदिमें तकलीफका होना, जीभ, तालू आदिका जलना, दाँतोंका जाना, चबानेमें दिक्कत होना, आँखों और नाकोंमें पानी आ जाना, हिचकी आना आदि जो कष्ट होते हैं, उन्हें 'दुःख' हैं । खानेके बाद जो पश्चात्ताप होता है, उसे 'चिन्ता' कहते हैं और खानेसे जो बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें कहते हैं । इन कड़वे, खट्टे आदि पदार्थोंके खानेसे ये दुःख, चिन्ता और रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये इन्हें 'दुःख, और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले' कहा है । अतएव इनका त्याग करना उचित है ।

[१] 'यातयाम' अर्थात् अधपका उन फलों अथवा उन खाद्य पदार्थोंको समझना चाहिये, जो पूरी तरहसे पके अथवा जिनके सिद्ध होनेमें (सीझनेमें) कमी रह गयी हो ।

इसी श्लोकमें 'पर्युषितम्' यानी बासी अन्नको तामस बतलाया गया है । 'यातयामम्' का अर्थ एक प्रहर का बना भोजन मान लेनेसे 'बासी' भोजनको तामस बतलानेकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती; यह सोचकर यहाँ का अर्थ 'अधपका' किया गया है ।

[२] अग्नि आदिके संयोगसे, हवासे अथवा मौसिम बीत जाने आदिके कारणोंसे जिन रसयुक्त पदार्थोंका रस गया हो (जैसे संतरे, ऊख आदिका रस सूख जाया करता है), उनको 'गतरस' कहते हैं ।

[३] खानेकी जो वस्तुएँ स्वभावसे ही दुर्गन्धयुक्त हों (जैसे प्याज, लहसुन आदि) अथवा जिनमें किसी क्रियासे दुर्गन्ध उत्पन्न कर दी गयी हो, उन वस्तुओंको 'पूति' कहते हैं ।

[४] पहले दिनके बनाये हुए भोजनको 'पर्युषित' या बासी कहते हैं । उन फलोंको भी बासी समझना चाहिये जिनमें पेड़से तोड़े बहुत समय बीत जानेके कारण विकार उत्पन्न हो गया हो ।

[५] अपने या दूसरेके भोजन कर लेनेपर बची हुई जूठी चीजोंको 'उच्छिष्ट' कहते हैं ।

[६] मांस, अण्डे आदि हिंसामय और शराब-ताड़ी आदि निषिद्ध मादक वस्तुएँ, जो स्वभावसे ही अपवित्र अथवा जिनमें किसी प्रकारके सङ्गदोषसे, किसी अपवित्र वस्तु, स्थान, पात्र या व्यक्तिके संयोगसे या अन्याय और उपार्जित असत् धनके द्वारा प्राप्त होनेके कारण अपवित्रता आ गयी हो, उन सब वस्तुओंको 'अमेध्य' कहते हैं । पदार्थ देव-पूजनमें भी निषिद्ध माने गये हैं । इनके सिवा गाँजा, भाँग, अफीम, तम्बाकू, सिगरेट-बीड़ी, अर्क, आसव अपवित्र दवाइयाँ आदि तमोगुण उत्पन्न करनेवाली जितनी भी खान-पानकी वस्तुएँ हैं—सभी अपवित्र हैं ।

[७] यज्ञ करनेवाले जो पुरुष उस यज्ञसे स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, विजय या स्वर्ग प्राप्ति एवं किसी प्रकारके अनिष्टकी निवृत्तिरूप इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके सुखभोग या दुःख-निवृत्ति ज़रा भी इच्छा नहीं करते, उनका वाचक 'अफलाकाङ्क्षिभिः' पद है (गीता ६ । १) ।

[८] देवता आदिके उद्देश्यसे घृतादिके द्वारा अग्निमें हवन करना या अन्य किसी प्रकारसे किसी भी समर्पण करके किसीकी यथायोग्य पूजा करना 'यज्ञ' कहलाता है ।

[९] अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जिस यज्ञका जिसके लिये शास्त्रोंमें विधान है, उसको अवश्य करना

संधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
ते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

तु हे अर्जुन ! केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फल-दृष्टिमें रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञको तू जान* ॥ १२ ॥

धिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
विरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तीन तरहके यज्ञोंके लक्षण बतलाकर, अब तपके लक्षणोंका प्रकरण आरम्भ करते हुए चार श्लोकोंद्वारा सात्त्विक तपके लक्षण बतलाते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं[३] शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता,† सरलता,‡ ब्रह्मचर्य§ और अहिंसा×—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है+ ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।÷
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

शास्त्रविहित कर्तव्यरूप यज्ञका न करना भगवान्‌के आदेशका उल्लङ्घन करना है—इस प्रकार यज्ञ करनेके लिये मनमें करके निष्कामभावसे जो यज्ञ किया जाता है, वही यज्ञ सात्त्विक होता है ।

* जो यज्ञ किसी फलप्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया है, वह शास्त्रविहित और श्रद्धापूर्वक किया हुआ होनेपर भी है, एवं जो दम्भपूर्वक किया जाता है, वह भी राजस है; फिर जिसमें ये दोनों दोष हों, उसके 'राजस' होनेमें तो ही क्या है ?

१. जो यज्ञ शास्त्रविहित न हो या जिसके सम्पादनमें शास्त्रविधिकी कमी हो, अथवा जो शास्त्रोक्त विधानकी करके मनमाने ढंगसे किया गया हो, उसे 'विधिहीन' कहते हैं ।

२. जो यज्ञ शास्त्रोक्त मन्त्रोंसे रहित हो, जिसमें मन्त्रप्रयोग हुए ही न हों या विधिवत् न हुए हों, अथवा त्रुटि रह गयी हो—उस यज्ञको 'मन्त्रहीन' कहते हैं ।

३. ब्रह्मा, महादेव, सूर्य, चन्द्रमा, दुर्गा, अग्नि, वरुण, यम, इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रोक्त देवता हैं—शास्त्रोंमें पूजनका विधान है, उन सबका वाचक यहाँ 'देव' शब्द है । 'द्विज' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—वर्णोंका वाचक होनेपर भी यहाँ केवल ब्राह्मणोंहीके लिये प्रयुक्त है; क्योंकि शास्त्रानुसार ब्राह्मण ही सबके पूज्य 'गुरु' शब्द यहाँ माता, पिता, आचार्य, वृद्ध एवं अपनेसे जो वर्ण, आश्रम और आयु आदिमें किसी प्रकार भी बड़े उन सबका वाचक है तथा 'प्राज्ञ' शब्द यहाँ परमेश्वरके स्वरूपको भलीभाँति जाननेवाले महात्मा ज्ञानी पुरुषोंका है। इन सबका यथायोग्य आदर-सत्कार करना; इनको नमस्कार करना; दण्डवत्-प्रणाम करना; इनके चरण धोना; पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि समर्पण करना; इनकी यथायोग्य सेवा आदि करना और इन्हें सुख पहुँचाने-उचित चेष्टा करना आदि इनका पूजन करना है ।

† यहाँ 'पवित्रता' केवल शारीरिक शौचका वाचक है; क्योंकि वाणीकी शुद्धिका वर्णन अगले पंद्रहवें श्लोकमें मनकी शुद्धिका वर्णन सोलहवें श्लोकमें अलग किया गया है । जल-मृत्तिकादिके द्वारा शरीरको स्वच्छ और रखना एवं शरीरसम्बन्धी समस्त चेष्टाओंका उत्तम होना ही शरीरकी पवित्रता है (गीता १६ । ३) ।

‡ यहाँ शरीरकी अकड़ और ऐंठ आदि वक्रताके त्यागका नाम 'सरलता' है ।

§ यहाँ 'ब्रह्मचर्य' शब्द शरीरसम्बन्धी सब प्रकारके मैथुनोंके त्याग और भलीभाँति वीर्य धारण करनेका है ।

× शरीरद्वारा किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे कभी जरा भी कष्ट न पहुँचानेका नाम ही यहाँ 'अहिंसा' है ।

+ उपर्युक्त क्रियाओंमें शरीरकी प्रधानता है अर्थात् इनसे शरीरका विशेष सम्बन्ध है और ये इन्द्रियोंके सहित उसके समस्त दोषोंका नाश करके पवित्र बना देनेवाली हैं, इसलिये इन सबको 'शरीर-सम्बन्धी तप' कहते हैं ।

÷ जो वचन किसीके भी मनमें जरा भी उद्वेग उत्पन्न करनेवाले न हों तथा निन्दा या चुगली आदि दोषोंसे सर्वथा हों, उन्हें 'अनुद्वेगकर' कहते हैं । जैसा देखा, सुना और अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही भाव दूसरेको लिये जो यथार्थ वचन बोले जायँ, उनको 'सत्य' कहते हैं । जो सुननेवालेको प्रिय लगते हों तथा कटुता, तीखापन, ताना और अपमानके भाव आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों—ऐसे प्रेमयुक्त, मीठे, सरल और शान्त 'प्रिय' कहते हैं; तथा जिनसे परिणाममें सबका हित होता हो; जो हिंसा, द्वेष, डाह, वैरसे सर्वथा शून्य हों

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा अन्य किसी स्वार्थके लिये भी* स्वभावसे या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—अब तामस तपके लक्षण बतलाते हैं, जो कि सर्वथा त्याज्य है—

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

जो तप मूढतापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है† ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—तीन प्रकारके तपोंका लक्षण करके अब दानके तीन प्रकारके लक्षण कहते हैं—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

दान देना ही कर्तव्य है‡—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल§ और पात्रके प्राप्त होनेपर× उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है+ ॥

---

* तपकी प्रसिद्धिसे जो इस प्रकार जगत्में बड़ाई होती है कि यह मनुष्य बड़ा भारी तपस्वी है, इसकी बराबरी कौन कर सकता है, यह बड़ा श्रेष्ठ है आदि—उसका नाम 'सत्कार' है। किसीको तपस्वी समझकर उसका स्वागत करना, उसके सामने खड़े हो जाना, प्रणाम करना, मानपत्र देना या अन्य किसी क्रियासे उसका आदर करना 'मान' है, तथा उसकी आरती उतारना, पैर धोना, पत्र-पुष्पादि षोडशोपचारसे पूजा करना, उसकी आज्ञाका पालन करना—इन सबका नाम 'पूजा' है। इन सबके लिये जो लौकिक या शास्त्रीय तपका आचरण किया जाता है, वही सत्कार, मान और पूजाके लिये तप करना है। इसके सिवा अन्य किसी स्वार्थकी सिद्धिके लिये किया जानेवाला तप भी राजस है।

१. तपके वास्तविक लक्षणोंको न समझकर जिस किसी भी क्रियाको तप मानकर उसे करनेका जो हठ या दुराग्रह है, उसे 'मूढग्राह' कहते हैं।

† जिस तपका वर्णन इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें किया गया है, जो अशास्त्रीय, मनःकल्पित, घोर और स्वभावसे ही तामस है, जिसमें दम्भकी प्रेरणासे या अज्ञानसे पैरोंको पेड़की डालीमें बाँधकर सिर नीचा करके लटकना, लोहेके काँटोंपर बैठना तथा इसी प्रकारकी अन्यान्य घोर क्रियाएँ करके बुरी भावनासे अर्थात् दूसरोंकी सम्पत्तिका हरण करने, उसका नाश करने, उनके वंशका उच्छेद करने अथवा उनका किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट करनेके लिये जो अपने मन, वाणी और शरीरको ताप पहुँचाना है—उसे 'तामस तप' कहते हैं।

‡ वर्ण, आश्रम, अवस्था और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित दान करना—अपने स्वत्वको यथाशक्ति दूसरोंके हितमें लगाना मनुष्यका परम कर्तव्य है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो मनुष्यत्वसे गिरता है और भगवान्‌के कल्याणमय आदेशका अनादर करता है। अतः जो दान केवल इस कर्तव्य-बुद्धिसे ही दिया जाता है, जिसमें इस लोक और परलोकके किसी भी फलकी जरा भी अपेक्षा नहीं होती—वही दान पूर्ण सात्त्विक है।

§ जिस देश और जिस कालमें जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, उस वस्तुके दानद्वारा सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये वही योग्य देश और काल है। इसके अतिरिक्त कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, मथुरा, काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थस्थान और ग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या, संक्रान्ति, एकादशी आदि पुण्यकाल—जो दानके लिये शास्त्रोंमें प्रशस्त माने गये हैं, वे भी योग्य देश-काल हैं।

× जिसके पास जहाँ जिस समय जिस वस्तुका अभाव हो, वह वहीं और उसी समय उस वस्तुके दानका पात्र है। जैसे—भूखे, प्यासे, नंगे, दरिद्र, रोगी, आर्त, अनाथ और भयभीत प्राणी अन्न, जल, वस्त्र, निर्वाहयोग्य धन, औषध, आश्वासन, आश्रय और अभयदानके पात्र हैं। आर्त प्राणियोंकी पात्रतामें जाति, देश और कालका कोई बन्धन नहीं है। उनकी आतुरदशा ही पात्रताकी पहचान है। इनके सिवा जो श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान्, ब्राह्मण, उत्तम ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा सेवाव्रती लोग हैं—जिनको जिस वस्तुका दान देना शास्त्रमें कर्तव्य बतलाया गया है—वे भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथाशक्ति धन आदि सभी आवश्यक वस्तुओंके दानपात्र हैं।

+ जिसका अपने ऊपर उपकार है, उसकी सेवा करना तथा यथासाध्य उसे सुख पहुँचानेका प्रयास करना तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। उसे जो लोग दान समझते हैं, वे वस्तुतः उपकारीका तिरस्कार करते हैं और जो लोग उपकारीकी सेवा नहीं करना चाहते, वे तो कृतघ्नकी श्रेणीमें हैं; अतएव अपना उपकार करनेवालेकी तो सेवा करनी ही चाहिये।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

किंतु जो दान क्लेशपूर्वक* तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे† अथवा फलको दृष्टिमें रखकर‡ फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान बिना सत्कारके§ अथवा तिरस्कारपूर्वक× अयोग्य देश-कालमें+ और कुपात्रके÷ प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अब सात्त्विक यज्ञ, दान और तप उपादेय क्यों हैं; भगवान‍्से उनका क्या सम्बन्ध है तथा उन सात्त्विक यज्ञ, तप और दानोंमें जो अङ्ग-वैगुण्य हो जाय, उसकी पूर्ति किस प्रकार होती है—यह सब बतलानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है;A उसी ब्रह्मसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिB रचे गये ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—परमेश्वरके उपर्युक्त ॐ, तत् और सत्—इन नामोंका यज्ञ, दान, तप आदिके साथ क्या सम्बन्ध है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा '‌ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैंC ॥ २४ ॥

यहाँ अनुपकारीको दान देनेकी बात कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि दान देनेवाला दानके पात्रसे बदलेमें किसी प्रकारके जरा भी उपकार पानेकी इच्छा न रक्खे। जिससे किसी भी प्रकारका अपना स्वार्थका सम्बन्ध मनमें नहीं है, उस मनुष्यको जो दान दिया जाता है—वही सात्त्विक है। इससे वस्तुतः दाताकी स्वार्थबुद्धिका ही निषेध किया गया है।

* किसीके धरना देने, हठ करने या भय दिखलाने अथवा प्रतिष्ठित और प्रभावशाली पुरुषोंके कुछ दबाव डालनेपर बिना ही इच्छाके मनमें विषाद और दुःखका अनुभव करते हुए निरुपाय होकर जो दान दिया जाता है, वह क्लेशपूर्वक दान देना है।

† जो मनुष्य बराबर अपने काममें आता है या आगे चलकर जिससे अपना कोई छोटा या बड़ा काम निकलनेकी सम्भावना या आशा है, ऐसे व्यक्ति या संस्थाओंको दान देना प्रत्युपकारके प्रयोजनसे दान देना है।

‡ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादि इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये या रोग आदिकी निवृत्तिके लिये जो किसी वस्तुका दान किसी व्यक्ति या संस्थाको दिया जाता है, वह फलके उद्देश्यसे दान देना है।

§ यथायोग्य अभिवादन, कुशल-प्रश्न, प्रियभाषण और आसन आदिद्वारा सम्मान न करके जो रुखाईसे दान दिया जाता है, वह बिना सत्कारके दिया जानेवाला दान है।

× पाँच बात सुनाकर, कड़वा बोलकर, धमकाकर, फिर न आनेकी कड़ी हिदायत देकर, दिल्लगी उड़ाकर अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे वचन, शरीर या संकेतके द्वारा अपमानित करके जो दान दिया जाता है, वह तिरस्कारपूर्वक दिया जानेवाला दान है।

+ जिस देश-कालमें दान देना आवश्यक नहीं है अथवा जहाँ दान देना शास्त्रमें निषेध किया है, वे देश और काल दानके लिये अयोग्य हैं।

÷ जिन मनुष्योंको दान देनेकी आवश्यकता नहीं है तथा जिनको दान देनेका शास्त्रमें निषेध है, वे धर्मभ्रष्ट पाखण्डी, कपटवेषधारी, हिंसा करनेवाले, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले, दूसरोंकी जीविकाका छेदन करके अपने स्वार्थसाधनमें तत्पर, बनावटी विनय दिखानेवाले, मद्य-मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करनेवाले, चोरी, व्यभिचार आदि नीच कर्म करनेवाले, ठग, जुआरी और नास्तिक आदि सभी दानके लिये अपात्र हैं।

A जिस परमात्मासे समस्त कर्ता, कर्म और कर्म-विधिकी उत्पत्ति हुई है, उस भगवान‍्के वाचक 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीनों नाम हैं; अतः इनके उच्चारण आदिसे उन सबके अङ्ग-वैगुण्यकी पूर्ति हो जाती है। अतएव प्रत्येक कामके आरम्भमें परमेश्वरके नामोंका उच्चारण करना परम आवश्यक है।

B यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण आदि समस्त प्रजाका, 'वेद' चारों वेदोंका, 'यज्ञ' शब्द यज्ञ, तप, दान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका वाचक है।

C जिस परमेश्वरसे इन यज्ञादि कर्मोंकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाम होनेके कारण ओङ्कारके उच्चारणसे उन कर्मोंका अङ्गवैगुण्य दूर हो जाता है तथा वे पवित्र और कल्याणप्रद हो जाते हैं। यह भगवान‍्के नामकी अपार महिमा है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं* ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

'सत्'—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें† और श्रेष्ठभावमें‡ प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी§ 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है× और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है+ ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रद्धापूर्वक किये हुए शास्त्रविहित यज्ञ, तप, दान आदि कर्मोंका महत्त्व बतलाया गया; उसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि जो शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म बिना श्रद्धाके किये जाते हैं, उनका क्या फल होता है; इसपर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्[1] ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे अर्जुन! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है—वह समस्त 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही÷॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥ भीष्मपर्वमें इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

◆

इसलिये वेदोक्त मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक यज्ञादि कर्म करनेके अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके यज्ञ, दान, तप आदि समस्त शास्त्रविहित शुभ कर्म सदा ओङ्कारके उच्चारणपूर्वक ही होते हैं ।

* जो विहित कर्म करनेवाले साधारण वेदवादी हैं, वे फलकी इच्छा या अहंता-ममताका त्याग नहीं करते; किंतु जो कल्याणकामी मनुष्य हैं, जिनको परमेश्वरकी प्राप्तिके सिवा अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, वे समस्त कर्म अहंता, ममता, आसक्ति और फल-कामनाका सर्वथा त्याग करके केवल परमेश्वरके ही लिये उनके आज्ञानुसार किया करते हैं ।

† 'सद्भाव' (सत्यभाव) नित्य भावका अर्थात् जिसका अस्तित्व सदा रहता है, उस अविनाशी तत्त्वका वाचक है और वही परमेश्वरका स्वरूप है । इसलिये उसे 'सत्' नामसे कहा जाता है ।

‡ अन्तःकरणका जो शुद्ध और श्रेष्ठभाव है, उसका वाचक यहाँ 'साधुभाव' है । वह परमेश्वरकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमेश्वरके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है अर्थात् उसे 'सद्भाव' कहा जाता है ।

§ जो शास्त्रविहित करनेयोग्य शुभ कर्म है, वह निष्कामभावसे किये जानेपर परमात्माकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है, अर्थात् उसे 'सत् कर्म' कहा जाता है ।

× यज्ञ, तप और दानसे यहाँ सात्त्विक यज्ञ, तप और दानका निर्देश किया गया है तथा उनमें जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आस्तिक बुद्धि है, जिसे निष्ठा भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'स्थिति' शब्द है; ऐसी स्थिति परमेश्वरकी प्राप्तिमें हेतु है, इसलिये वह 'सत्' है ।

+जो कोई भी कर्म केवल भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींके लिये किया जाता है, जिसमें कर्ताका जरा भी स्वार्थ नहीं रहता—ऐसा कर्म कर्ताके अन्तःकरणको शुद्ध बनाकर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति करा देता है, इसलिये वह 'सत्' है ।

[1] 'यत्' पदसे यहाँ निषिद्ध कर्मोंका समाहार नहीं है; क्योंकि निषिद्ध कर्मोंके करनेमें श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं है और उनका फल भी श्रद्धापर निर्भर नहीं है । उनको करते भी वे ही मनुष्य हैं, जिनकी शास्त्र, महापुरुष और ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा नहीं होती । जिनको विश्वास नहीं है, उनको भी पाप कर्मोंका दुःखरूप फल अवश्य ही मिलता है । अतः यहाँ यज्ञ, दान और तपरूप शुभ क्रियाओंके साथ-साथ आया हुआ 'यत् कृतम्' पद उसी जातिकी क्रियाका वाचक है ।

÷ हवन, दान और तप तथा अन्यान्य शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक किये जानेपर ही अन्तःकरणकी शुद्धिमें और इस लोक या परलोकके फल देनेमें समर्थ होते हैं । बिना श्रद्धाके किये हुए शुभ कर्म व्यर्थ हैं, इसीसे उनको 'असत्' और 'वे इस लोक या परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं हैं'—ऐसा कहा है ।

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टादशोऽध्यायः)

त्यागका, सांख्यसिद्धान्तका, फलसहित वर्ण-धर्मका, उपासनासहित ज्ञाननिष्ठाका, भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगका एवं गीताके माहात्म्यका वर्णन

सम्बन्ध—गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे गीताके उपदेशका आरम्भ हुआ। वहाँसे आरम्भ करके तीसवें श्लोकतक भगवान्ने ज्ञानयोगका उपदेश दिया और प्रसङ्गवश क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी कर्तव्यताका प्रतिपादन करके उन्चालीसवें श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त कर्मयोगका उपदेश दिया, उसके बाद तीसरे अध्यायसे सतरहवें अध्यायतक कहीं ज्ञानयोगकी दृष्टिसे और कहीं कर्मयोगकी दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके बहुत-से साधन बतलाये। उन सबको सुननेके अनन्तर अब अर्जुन इस अठारहवें अध्यायमें समस्त अध्यायोंके उपदेशका सार जाननेके उद्देश्यसे भगवान्के सामने संन्यास यानी ज्ञानयोगका और त्याग यानी फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट करते हैं—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन॥ १॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथ जानना चाहता हूँ* ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डितजन तो का कर्मोंके† त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारक पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं‡ ॥ २॥

---

* अर्जुनके प्रश्नका यह भाव है कि संन्यास (ज्ञानयोग) का क्या स्वरूप है, उसमें कौन-कौनसे भाव और क सहायक एवं कौन-कौनसे बाधक हैं, उपासनासहित सांख्ययोगका और केवल सांख्ययोगका साधन किस प्रकार किया जा है; इसी प्रकार त्याग (फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोग) का क्या स्वरूप है; केवल कर्मयोगका साधन किस प्रकार होता है क्या करना इसके लिये उपयोगी है और क्या करना इसमें बाधक है; भक्तिमिश्रित कर्मयोग कौन-सा है; भक्तिप्रधान क योग कौन-सा है तथा लौकिक और शास्त्रीय कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित एवं भक्तिप्रधान कर्मयोगका साधन किस प्रका किया जाता है—इन सब बातोंको भी मैं भलीभाँति जानना चाहता हूँ।

उत्तरमें भगवान्ने इस अध्यायके तेरहवेंसे सतरहवें श्लोकतक संन्यास (ज्ञानयोग) का स्वरूप बतलाया है। उन्नीसवेंसे चालीसवें श्लोकतक जो सात्त्विक भाव और कर्म बतलाये हैं, वे इसके साधनमें उपयोगी हैं और राजस, ताम इसके विरोधी हैं। पचासवेंसे पचपनवेंतक उपासनासहित सांख्ययोगकी विधि और फल बतलाया है तथा सतरहवें श्लोक केवल सांख्ययोगका साधन करनेका प्रकार बतलाया है।

इसी प्रकार छठे श्लोकमें (फलासक्तिके त्यागरूप) कर्मयोगका स्वरूप बतलाया है। नवें श्लोकमें सात्त्विक त्यागके नामसे केवल कर्मयोगके साधनकी प्रणाली बतलायी है। सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वधर्मके पालनको इ साधनमें उपयोगी बतलाया है और सातवें तथा आठवें श्लोकोंमें वर्णित तामस, राजस त्यागको इसमें बाधक बतलाया है। पैंतालीसवें और छियालीसवें श्लोकोंमें भक्तिमिश्रित कर्मयोगका और छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक भक्तिप्रधान कर्मयोग वर्णन है। छियालीसवें श्लोकमें लौकिक और शास्त्रीय समस्त कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है और सत्तावनवें श्लोकमें भगवान्ने भक्तिप्रधान कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है।

† स्त्री, पुत्र, धन और स्वर्गादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये और रोग-संकटादि अप्रियकी निवृत्तिके लिये य दान, तप और उपासना आदि जिन शुभ कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान किया गया है—ऐसे शुभ कर्मोंका नाम 'काम्यकर्म' है।

‡ ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाके कर्म और शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं, उनके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गसुख आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग हैं-उन सबकी कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं* और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं† ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास और त्यागके विषयोंमें विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अब भगवान् त्यागके विषयमें अपना निश्चय बतलाना आरम्भ करते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग, इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन; क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है;‡ क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इसलिये हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है§ ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब तीन श्लोकोंमें क्रमसे उपर्युक्त तीन प्रकारके त्यागोंके लक्षण बतलाते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

(निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है) परंतु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित

---

* आरम्भ (क्रिया) मात्रमें ही कुछ-न-कुछ पापका सम्बन्ध हो जाता है, अतः विहित कर्म भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं; इस भावको लेकर कितने ही विद्वानोंका कहना है कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको नित्य, नैमित्तिक और काम्य आदि सभी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये ।

† बहुत-से विद्वानोंके मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्म वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं । वे मानते हैं कि उन कर्मोंके निमित्त किये जानेवाले आरम्भमें जिन अवश्यम्भावी हिंसादि पापोंका होना देखा जाता है, वे वास्तवमें पाप नहीं हैं । इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको निषिद्ध कर्मोंका ही त्याग करना चाहिये, शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये ।

१. शास्त्रविधिके अनुसार अङ्ग-उपाङ्गोंसहित निष्कामभावसे भलीभाँति अनुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् मुमुक्षु पुरुषोंका वाचक यहाँ 'मनीषिणाम्' पद है ।

‡ शास्त्रोंमें अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जिसके लिये जिस कर्मका विधान है—जिसको जिस समय जिस प्रकार यज्ञ करनेके लिये, दान देनेके लिये और तप करनेके लिये कहा गया है—उसे उसका त्याग नहीं करना चाहिये, यानी शास्त्र-आज्ञाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके त्यागसे किसी प्रकारका लाभ होना तो दूर रहा, उलटा प्रत्यवाय होता है । इसलिये इन कर्मोंका अनुष्ठान मनुष्यको अवश्य करना चाहिये ।

§ भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि ऊपर विद्वानोंके मतानुसार जो त्याग और संन्यासके लक्षण बतलाये गये हैं, वे पूर्ण नहीं हैं; क्योंकि केवल काम्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेपर भी अन्य नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें और उनके फलमें मनुष्यकी ममता, आसक्ति और कामना रहनेसे वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं । सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग कर देनेपर भी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति रह जानेसे वे बन्धनकारक हो सकते हैं । अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग किये बिना यदि समस्त कर्मोंको दोषयुक्त समझकर कर्तव्यकर्मोंका भी स्वरूपसे त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा करनेपर वह विहित कर्मके त्यागरूप प्रत्यवायका भागी होता है । इसी प्रकार यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको करते रहनेपर भी यदि उनमें आसक्ति और उनके फलकी कामनाका त्याग न किया जाय तो वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं । इसलिये उन विद्वानोंके बतलाये हुए लक्षणोंवाले संन्यास और त्यागसे मनुष्य कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं हैं, उनके साथ ममता, आसक्ति और फलका सम्बन्ध ही बन्धनकारक है । अतः कर्मोंमें जो ममता और फलासक्तिका त्याग है, वही वास्तविक त्याग है; क्योंकि इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है ।

नहीं है*। इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है†॥ ७॥

दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है—ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दे,‡तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको किसी प्रकार भी नहीं पाता§॥ ८॥

कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है— भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है— वही सात्त्विक त्याग माना गया है×॥ ९॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे सात्त्विक त्याग करनेवाले पुरुष निषिद्ध और काम्यकर्मोंको स्वरूपसे छोड़नेमें और कर्तव्यकर्मोंके करनेमें कैसा भाव रहता है, इस जिज्ञासापर सात्त्विक त्यागी पुरुषकी अन्तिम स्थितिके लक्षण बतलाते हैं—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता+और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, ÷वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त

---

* वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये यज्ञ, दान, तप, अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, युद्ध, प्रजापालन, पशुपालन, कृषि, व्यापार, सेवा और खान-पान आदि जो-जो कर्म शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, उसके लिये वे नियत कर्म हैं। ऐसे कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन न करनेके कारण पापका भागी होता है; क्योंकि इससे कर्मोंकी परम्परा टूट जाती है और समस्त जगत्‌में विप्लव हो जाता है (गीता ३। २३-२४)। इसलिये नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है।

† कर्तव्यकर्मके त्यागको भूलसे मुक्तिका हेतु समझकर त्याग करना मोहपूर्वक होनेके कारण तामस त्याग है; इसलिये उपर्युक्त त्याग ऐसा त्याग नहीं है; जिसके करनेसे मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह तो प्रत्यवायका हेतु होनेसे उलटा अधोगतिको ले जानेवाला है।

‡ कर्तव्य कर्मोंके अनुष्ठानमें मन, इन्द्रिय और शरीरको परिश्रम होता है; अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं; बहुत-सी सामग्री एकत्र करनी पड़ती है; शरीरके आरामका त्याग करना पड़ता है; व्रत, उपवास आदि करके कष्ट सहन करना पड़ता है और बहुत-से भिन्न-भिन्न नियमोंका पालन करना पड़ता है—इस कारण समस्त कर्मोंको दुःखरूप समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमसे बचनेके लिये तथा आराम करनेकी इच्छासे जो यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना है—यही उनको दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उनका त्याग करना है।

§ जबतक मनुष्यकी मन, इन्द्रिय और शरीरमें ममता और आसक्ति रहती है, तबतक वह किसी प्रकार भी कर्म-बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। अतः यह राजस त्याग नाममात्रका ही त्याग है, सच्चा त्याग नहीं है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले साधकोंको ऐसा त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि मन, इन्द्रिय और शरीरके आराममें आसक्तिका होना रजोगुणका कार्य है। अतएव ऐसा त्याग करनेवाला मनुष्य वास्तविक त्यागके फलको, जो कि समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको पा लेना है, नहीं पाता।

× वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म शास्त्रमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, वे समस्त कर्म ही नियत कर्म हैं, निषिद्ध और काम्य कर्म नियत कर्म नहीं हैं। नियत कर्मोंको न करना भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करना है—इस भावसे भावित होकर उन कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उत्साहपूर्वक विधिवत् उनको करते रहना ही सात्त्विक त्याग है; क्योंकि कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्ति और कामनाका त्याग ही वास्तविक त्याग है। त्यागका परिणाम कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेद होना चाहिये और यह परिणाम ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागसे ही हो सकता है—केवल स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे नहीं।

+ शास्त्रनिषिद्ध कर्म और काम्यकर्म सभी अकुशल कर्म हैं; क्योंकि पापकर्म तो मनुष्यको नाना प्रकारकी नीच योनियोंमें और नरकमें गिरानेवाले हैं एवं काम्यकर्म भी फलभोगके लिये पुनर्जन्म देनेवाले हैं। सात्त्विक त्यागीमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण वह जो निषिद्ध और काम्यकर्मोंका त्याग करता है, वह द्वेष-बुद्धिसे नहीं करता, किंतु शास्त्रदृष्टिसे लोकसंग्रहके लिये उनका त्याग करता है।

÷ शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म निष्कामभावसे किये जानेपर मनुष्यके पूर्वकृत

पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है*॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है;†इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है‡।११।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२ ॥

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है;§किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता×॥ १२ ॥

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट की थी। उसका उत्तर देते हुए भगवान्ने दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस विषयपर विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अपने मतके अनुसार चौथे श्लोकसे बारहवें श्लोकतक त्यागका यानी कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति समझाया; अब संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व समझानेके लिये पहले सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बतलाते हैं—

संचित पापोंका नाश करके उसे कर्मबन्धनसे छुड़ा देनेमें समर्थ हैं, इसलिये ये कुशल कहलाते हैं। सात्त्विक त्यागी जो श्रद्धापूर्वक शुभ कर्मोंका विधिवत् अनुष्ठान करता है, वह आसक्तिपूर्वक नहीं करता; किंतु शास्त्रविहित कर्मोंका करना मनुष्यका कर्तव्य है—इस भावसे ममता, आसक्ति और फलेच्छा छोड़कर लोकसंग्रहके लिये ही उनका अनुष्ठान करता है।

* इस प्रकार राग-द्वेषसे रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंका ग्रहण और त्याग करनेवाला शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित है, यानी उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि यह कर्मयोगरूप सात्त्विक त्याग ही कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त कर लेनेका पूर्ण साधन है। इसीलिये वह बुद्धिमान् है और वही सच्चा त्यागी है।

† कोई भी देहधारी मनुष्य बिना कर्म किये रह नहीं सकता (गीता ३।५); क्योंकि बिना कर्म किये शरीरका निर्वाह ही नहीं हो सकता (गीता ३।८)। इसलिये मनुष्य किसी भी आश्रममें क्यों न रहता हो—जबतक वह जीवित रहेगा, तबतक उसे अपनी परिस्थितिके अनुसार खाना-पीना, सोना-बैठना, चलना-फिरना और बोलना आदि कुछ-न-कुछ कर्म तो करना ही पड़ेगा। अतएव सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाना सम्भव नहीं है।

‡ जो निषिद्ध और काम्य-कर्मोंका सर्वथा त्याग करके यथावश्यक शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी है।

ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रियाओंका संयम करके मनसे विषयोंका चिन्तन करनेवाला मनुष्य त्यागी नहीं है तथा अहंता, ममता और आसक्तिके रहते हुए शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि कर्तव्यकर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेवाला भी त्यागी नहीं है।

§ जिन्होंने अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग नहीं किया है; जो आसक्ति और फलेच्छापूर्वक सब प्रकारके कर्म करनेवाले हैं, उनके द्वारा किये हुए शुभ कर्मोंका जो स्वर्गादिकी प्राप्ति या अन्य किसी प्रकारके सांसारिक इष्ट भोगोंकी प्राप्तिरूप फल है, वह अच्छा फल है; तथा उनके द्वारा किये हुए पाप-कर्मोंका जो पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और वृक्ष आदि तिर्यक् योनियोंकी प्राप्ति या नरकोंकी प्राप्ति अथवा अन्य किसी प्रकारके दुःखोंकी प्राप्तिरूप फल है—वह बुरा फल है। इसी प्रकार जो मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होकर कभी इष्ट भोगोंको प्राप्त होना और कभी अनिष्ट भोगोंको प्राप्त होना है, वह मिश्रित फल है।

उन पुरुषोंके कर्म अपना फल भुगताये बिना नष्ट नहीं हो सकते, जन्म-जन्मान्तरोंमें शुभाशुभ फल देते रहते हैं; इसीलिये ऐसे मनुष्य संसारचक्रमें घूमते रहते हैं।

× कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका जिन्होंने सर्वथा त्याग कर दिया है; इस अध्यायके इसी श्लोकमें त्यागीके नामसे जिनके लक्षण बतलाये गये हैं; गीताके छठे अध्यायके पहले श्लोकमें जिनके लिये 'संन्यासी' और 'योगी' दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है तथा गीताके दूसरे अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमें जिनको अनामय पदकी प्राप्ति होना बतलाया गया है—ऐसे कर्मयोगियोंको यहाँ 'संन्यासी' कहा गया है।

इस प्रकार कर्म फलका त्याग कर देनेवाले त्यागी मनुष्य जितने कर्म करते हैं, वे भूने हुए बीजकी भाँति होते हैं, उनमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं होती तथा इस प्रकार यज्ञार्थ किये जानेवाले निष्काम कर्मोंसे पूर्वसंचित समस्त शुभाशुभ कर्मोंका भी नाश हो जाता है (गीता ४।२३)। इस कारण उनके इस जन्ममें या जन्मान्तरोंमें किये हुए किसी भी कर्मका किसी प्रकारका भी फल किसी भी अवस्थामें, जीते हुए या मरनेके बाद कभी नहीं होता; वे कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते[1] प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्[2] ॥ १३ ॥

हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले सांख्य-शास्त्रमें कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान*और कर्ता†तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण‡एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ§और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव×है ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं[3] वा विपरीतं[4] वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

मनुष्य+मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पाँचों कारण हैं÷ ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सांख्ययोगके सिद्धान्तसे समस्त कर्मोंकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच कारणोंका निरूपण करके अब, उनमें आत्माका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा सर्वथा शुद्ध निर्विकार और अकर्ता है—यह बात समझानेके लिये आत्माको कर्ता माननेवालेकी निन्दा करके अकर्ता माननेवालेकी स्तुति करते हैं—

---

१. 'कृत' नाम कर्मोंका है; अतः जिस शास्त्रमें उनका अन्त करनेका उपाय बतलाया गया हो, उसका नाम 'कृतान्त' है। 'सांख्य' का अर्थ ज्ञान है (सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्मानेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानम्)। अतएव जिस शास्त्रमें तत्त्वज्ञानके साधनरूप ज्ञानयोगका प्रतिपादन किया गया हो, उसको सांख्य कहते हैं। इसलिये यहाँ 'कृतान्ते' विशेषणके सहित 'सांख्ये' पद उस शास्त्रका वाचक मालूम होता है, जिसमें ज्ञानयोगका भलीभाँति प्रतिपादन किया गया हो और उसके अनुसार समस्त कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये हुए एवं आत्माको सर्वथा अकर्ता समझकर कर्मोंका अभाव करनेकी रीति बतलायी गयी हो।

२. 'सर्वकर्मणाम्' पद यहाँ शास्त्रविहित और निषिद्ध, सभी प्रकारके कर्मोंका वाचक है तथा किसी कर्मका पूर्ण हो जाना यानी उसका बन जाना ही उसकी सिद्धि है।

* 'अधिष्ठान' शब्द यहाँ मुख्यतासे करण और क्रियाके आधाररूप शरीरका वाचक है; किंतु गौणरूपसे यज्ञादि कर्मोंमें तद्विषयक क्रियाके आधाररूप भूमि आदिका वाचक भी माना जा सकता है।

† यहाँ 'कर्ता' शब्द प्रकृतिस्थ पुरुषका वाचक है। इसीको गीताके तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भोक्ता बतलाया गया है।

‡ मन, बुद्धि और अहङ्कार भीतरके करण हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये दस बाहरके करण हैं। इनके सिवा गौणरूपसे जैसे स्रुवा आदि उपकरण यज्ञादि कर्मोंके करनेमें सहायक होते हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मोंके करनेमें जितने भी भिन्न-भिन्न द्वार अथवा सहायक हैं, उन सबको यहाँ बाह्य करण कहा जा सकता है।

§ एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करना, हाथ-पैर आदि अङ्गोंका संचालन, श्वासोंका आना जाना, अङ्गोंको सिकोड़ना-फैलाना, आँखोंको खोलना और मूँदना, मनमें संकल्प-विकल्पोंका होना आदि जितनी भी हलचलरूप क्रियाएँ हैं, वे ही नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ हैं।

× पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंको 'दैव' कहते हैं, प्रारब्ध भी इसीके अन्तर्गत है।

३. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जो कर्म कर्तव्य माने गये हैं—उन न्यायपूर्वक किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप, विद्याध्ययन, युद्ध, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, सेवा आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंके समुदायका वाचक यहाँ 'न्याय्यम्' पद है।

४. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जिन कर्मोंके करनेका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है तथा जो कर्म नीति और धर्मके प्रतिकूल हैं—ऐसे असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, मद्यपान, अभक्ष्य-भक्षण आदि समस्त पापकर्मोंका वाचक यहाँ 'विपरीतम्' पद है।

+ मनुष्यशरीरमें ही जीव पुण्य और पापरूप नवीन कर्म कर सकता है। अन्य सब भोगयोनियाँ हैं; उनमें पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगा जाता है, नवीन कर्म करनेका अधिकार नहीं है।

÷ यहाँ मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले जितने भी पुण्य और पापरूप कर्म हैं—जिनका इस जन्म या जन्मान्तरमें जीवको फल भोगना पड़ता है—उन सबके 'ये पाँचों कारण हैं'—इनमेंसे किसी एकके न रहनेसे कर्म नहीं बन सकता। इसीलिये बिना कर्तापनके किया जानेवाला कर्म वास्तवमें कर्म नहीं है।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

परंतु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता* ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती,‡ वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है§। १७।

सम्बन्ध—इस प्रकार संन्यास (ज्ञानयोग) का तत्त्व समझानेके लिये आत्माके अकर्तापनका प्रतिपादन करके अब उसके अनुसार कर्मके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको भलीभाँति समझानेके लिये कर्म-प्रेरणा, कर्म-संग्रह और उनके सात्त्विक आदि भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा×

---

१. सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्यासद्वारा तथा विवेक, विचार और शम-दमादि आध्यात्मिक साधनोंद्वारा जिसकी बुद्धि शुद्ध की हुई नहीं है—ऐसे प्राकृत अज्ञानी मनुष्यको 'अकृतबुद्धि' कहते हैं।

* वास्तवमें आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार और सर्वथा असङ्ग है; प्रकृतिसे, प्रकृतिजनित पदार्थोंसे या कर्मोंसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; किंतु अनादिसिद्ध अविद्याके कारण असङ्ग आत्माका ही इस प्रकृतिके साथ सम्बन्ध-सा हो रहा है। अतः वह दुर्मति प्रकृतिद्वारा सम्पादित क्रियाओंमें मिथ्या अभिमान करके (गीता ३ । २७) स्वयं उन कर्मोंका कर्ता बन जाता है। इस प्रकार कर्ता बने हुए पुरुषका नाम ही 'प्रकृतिस्थ पुरुष' है; वह उन प्रकृतिद्वारा सम्पन्न हुई क्रियाओंका कर्ता बनता है, तभी उनकी 'कर्म' संज्ञा होती है और वे कर्म फल देनेवाले बन जाते हैं। इसीलिये उस प्रकृतिस्थ पुरुषको अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके उन कर्मोंका फल भोगना पड़ता है (गीता १३ । २१)। इसलिये चौदहवें श्लोकमें कर्मोंकी सिद्धिके पाँच हेतुओंमें एक हेतु जो 'कर्ता' माना गया है, वह प्रकृतिमें स्थित पुरुष है और यहाँ आत्माके केवल यानी संगरहित, शुद्ध स्वरूपका वर्णन है; अतः उसको अकर्ता बतलाकर उसके यथार्थ स्वरूपका लक्ष्य किया गया है। जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझ लेता है, उसके कर्मोंमें 'कर्ता' रूप पाँचवाँ हेतु नहीं रहता। इसी कारण उसके कर्मोंकी कर्म संज्ञा नहीं रहती। यही बात अगले श्लोकमें समझायी गयी है।

† सांख्ययोगी पुरुषमें मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा की जानेवाली समस्त क्रियाओंमें 'अमुक कर्म मैंने किया है' 'यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकारके भावका लेशमात्र भी न रहना——यही 'मैं कर्ता हूँ' इस भावका न होना है।

‡ कर्मोंमें और उनके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका अभाव हो जाना, किसी भी कर्मसे या उसके फलसे अपना किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न समझना तथा उन सबको स्वप्नके कर्म और भोगोंकी भाँति क्षणिक, नाशवान् और कल्पित समझ लेनेके कारण अन्तःकरणमें उनके संस्कारोंका संगृहीत न होना ही बुद्धिका लिपायमान न होना है।

§ उपर्युक्त प्रकारसे आत्मस्वरूपको भलीभाँति जान लेनेके कारण जिसका अज्ञानजनित अहंभाव सर्वथा नष्ट हो गया है, मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले कर्मोंसे या उनके फलसे जिसका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा है, उस पुरुषके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जो लोकसंग्रहार्थ प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं, वे सब शास्त्रानुकूल और सबका हित करनेवाले ही होते हैं। अतः जैसे अग्नि, वायु और जल आदिके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी मृत्यु हो जाय तो वे अग्नि, वायु आदि न तो वास्तवमें उस प्राणीको मारनेवाले हैं और न वे उस कर्मसे बँधते ही हैं—उसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुष शुभकर्मोंको करके उनका कर्ता नहीं बनता और उनके फलसे नहीं बँधता, इसमें तो कहना ही क्या है; किंतु असम्भव-जैसे—किसी कारणसे योग्यता प्राप्त हो जानेपर समस्त प्राणियोंका संहाररूप—क्रूर कर्म करके भी उसका वह कर्ता नहीं बनता और उसके फलसे भी नहीं बँधता।

जैसे भगवान् सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि कार्य करते हुए भी वास्तवमें उनके कर्ता नहीं हैं (गीता ४ । १३) और उन कर्मोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है (गीता ४ । १४; ९ । ९)—उसी प्रकार सांख्ययोगीका भी उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; किंतु उसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जानेके कारण उसके द्वारा अज्ञानमूलक चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषण, हिंसा, कपट, दम्भ आदि पापकर्म नहीं होते।

× किसी भी पदार्थके स्वरूपका निश्चय करनेवालेको 'ज्ञाता' कहते हैं; वह जिस वृत्तिके द्वारा वस्तुके स्वरूपका

है और कर्ता, करण तथा क्रिया—यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है* ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन† ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान‡ ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥

किंतु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग है, उस ज्ञानको तू राजस जान§ ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृतम्॥

परंतु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थसे और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है× ॥ २२ ॥

नियतं[1] सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते॥

निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञान' है और जिस वस्तुके स्वरूपका निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञेय' है। इन तीनोंका सम्बन्ध ही मनुष्यको कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला है; क्योंकि जब अधिकारी मनुष्य ज्ञानवृत्तिद्वारा यह निश्चय कर लेता है कि अमुक साधनोंद्वारा अमुक प्रकारसे अमुक सुखकी प्राप्तिके लिये अमुक कर्म मुझे करना है, तभी उसकी उस कर्ममें प्रवृत्ति होती

* देखना, सुनना, समझना, स्मरण करना, खाना, पीना आदि समस्त क्रियाओंको करनेवाले प्रकृतिस्थ पुरुषको 'कर्ता' कहते हैं; उसके जिन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा उपर्युक्त समस्त क्रियाएँ की जाती हैं, उनको करण और उपर्युक्त समस्त क्रियाओंको 'कर्म' कहते हैं। इन तीनोंके संयोगसे ही कर्मका संग्रह होता है, क्योंकि जब मनुष्य स्वयं कर्ता बनकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा क्रिया करके किसी कर्मको करता है, तभी कर्म बनता है, इनके बिना कोई भी कर्म नहीं बन सकता। इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें जो कर्मकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच हेतु बतलाये गये हैं, उनमेंसे अधिष्ठान और दैवको छोड़कर शेष तीनोंको 'कर्म-संग्रह' नाम दिया गया है।

† जिस शास्त्रमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सम्बन्धसे समस्त पदार्थोंके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी हो, ऐसे शास्त्रका वाचक 'गुणसंख्याने' पद है। अतः उसमें बतलाये हुए गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ज्ञान, कर्म और कर्ताको सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने उस शास्त्रको इस विषयमें आदर दिया है और कहे जानेवाले उपदेशको ध्यानपूर्वक सुननेके लिये अर्जुनको सावधान किया है।

ध्यान रहे कि ज्ञाता और कर्ता अलग-अलग नहीं हैं, इस कारण भगवान्‌ने ज्ञाताके भेद अलग नहीं बतलाये हैं तथा करणके भेद बुद्धिके और धृतिके नामसे एवं ज्ञेयके भेद सुखके नामसे आगे बतलायेंगे। इस कारण यहाँ पूर्वोक्त पदार्थोंमेंसे तीनके ही भेद पहले बतलानेका संकेत किया है।

‡ जिस प्रकार आकाश-तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य घड़ा, मकान, गुफा, स्वर्ग, पाताल और समस्त वस्तुओंके सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें एक ही आकाश-तत्त्वको देखता है, वैसे ही लोकदृष्टिसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त चराचर प्राणियोंमें गीताके छठे अध्यायके उन्तीसवें और तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें वर्णित सांख्ययोगके साधनसे होनेवाले अनुभवके द्वारा एक अद्वितीय अविनाशी निर्विकार ज्ञानस्वरूप परमात्मभावको विभागरहित समभावसे व्याप्त देखना ही सात्त्विक ज्ञान है।

§ कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मनुष्य, राक्षस और देवता आदि जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें आत्माको अलग शरीरोंकी आकृतिके भेदसे और स्वभावके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक और अलग-अलग समझना ही राजस ज्ञान है।

× जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य प्रकृतिके कार्यरूप शरीरको ही अपना स्वरूप समझ लेता है और ऐसा समझकर उस क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है—अर्थात् उसके सुखसे सुखी एवं उसके दुःखसे दुखी होता है तथा उसके नाशसे ही सर्वनाश मानता है, आत्माको उससे भिन्न या सर्वव्यापी नहीं समझता—वह वास्तवमें ज्ञान नहीं है। इसलिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें 'ज्ञान' पदका प्रयोग भी नहीं किया है; क्योंकि यह विपरीत ज्ञान वास्तवमें अज्ञान ही है।

[1] नियत कर्मकी व्याख्या इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें देखनी चाहिये।

[2] यहाँ 'सङ्ग' नाम आसक्तिका नहीं है; क्योंकि आसक्तिका अभाव 'अरागद्वेषतः' पदसे अलग बतलाया गया है।

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो*—वह सात्त्विक कहा जाता है† ॥ २३ ॥

तु कामेप्सुना[1] कर्म साहंकारेण[2] वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

परंतु जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है‡ तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है§ ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत् तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है× ॥ २५ ॥

इसलिये यहाँ जो कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान करके उन कर्मोंसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना है, उसका नाम 'संग' समझना चाहिये ।

* कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके जितने भी भोग हैं, उनमें ममता और आसक्तिका अभाव हो जानेके कारण जिसको किंचिन्मात्र भी उन भोगोंकी आकाङ्क्षा नहीं रही है, जो किसी भी कर्मसे अपना कोई भी स्वार्थ सिद्ध करना नहीं चाहता, जो अपने लिये किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं समझता—ऐसे पुरुषद्वारा होनेवाले जो कर्म राग-द्वेषके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये होते हैं—उन कर्मोंको 'बिना राग-द्वेषके किया हुआ कर्म' कहते हैं ।

† इसी अध्यायके नवें श्लोकमें वर्णित सात्त्विक त्यागसे इस सात्त्विक कर्ममें यह विशेषता है कि इसमें कर्तापनके अभिमानका और राग-द्वेषका भी अभाव दिखलाया गया है; किंतु नवें श्लोकमें कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग ही बतलाया गया है, कर्तापनके अभावकी बात नहीं कही है, बल्कि कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंको करनेके लिये कहा है । दोनोंका ही फल तत्त्वज्ञानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति है; भेद केवल अनुष्ठानके प्रकारका है ।

१. जो पुरुष समस्त कर्म—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके भोगोंके लिये ही करता है—ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक यहाँ 'कामेप्सुना' पद है ।

२. जिस मनुष्यका शरीरमें अभिमान है और जो प्रत्येक कर्म अहंकारपूर्वक करता है तथा 'मैं अमुक कर्मका करनेवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है; मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ'—इस प्रकारके भाव मनमें रखनेवाला और वाणीद्वारा इस तरहकी बातें करनेवाला है, उसका वाचक यहाँ 'साहंकारेण' पद है ।

‡ सात्त्विक कर्मसे राजस कर्मका यह भेद है कि सात्त्विक कर्मोंके कर्ताका शरीरमें अहंकार नहीं होता और कर्मोंमें कर्तापन नहीं होता; अतः उसे किसी भी क्रियाके करनेमें किसी प्रकारके परिश्रम या क्लेशका बोध नहीं होता । इसलिये उसके कर्म आयासयुक्त नहीं हैं; किंतु राजस कर्मके कर्ताका शरीरमें अहंकार होनेके कारण वह शरीरके परिश्रम और दुःखोंसे स्वयं दुखी होता है । इस कारण उसे प्रत्येक क्रियामें परिश्रमका बोध होता है । इसके सिवा सात्त्विक कर्मोंके कर्ताद्वारा केवल शास्त्रदृष्टिसे या लोकदृष्टिसे कर्तव्यरूपमें प्राप्त हुए कर्म ही किये जाते हैं; अतः उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं होता; किंतु राजस कर्मका कर्ता आसक्ति और कामनासे प्रेरित होकर प्रतिदिन नये-नये कर्मोंका आरम्भ करता रहता है, इससे उसके कर्मोंका बहुत विस्तार हो जाता है । इस कारण यहाँ बहुत परिश्रमवाले कर्मोंको राजस बतलाया गया है ।

§ जिस पुरुषमें भोगोंकी कामना और अहंकार दोनों हैं, उसके द्वारा किये हुए कर्म राजस हैं—इसमें तो कहना ही क्या है; किंतु इनमेंसे किसी एक दोषसे युक्त पुरुषद्वारा किये हुए कर्म भी राजस ही हैं ।

× किसी भी कर्मका आरम्भ करनेसे पहले अपनी बुद्धिसे विचार करके जो यह सोच लेना है कि अमुक कर्म करनेसे उसका भावी परिणाम अमुक प्रकारसे सुखकी प्राप्ति या अमुक प्रकारसे दुःखकी प्राप्ति होगा, यह उसके अनुबन्धका यानी परिणामका विचार करना है तथा जो यह सोचना है कि अमुक कर्ममें इतना धन व्यय करना पड़ेगा, इतने बलका प्रयोग करना पड़ेगा, इतना समय लगेगा, अमुक अंशमें धर्मकी हानि होगी और अमुक-अमुक प्रकारकी दूसरी हानियाँ होंगी—यह क्षयका यानी हानिका विचार करना है और जो यह सोचना है कि अमुक कर्मके करनेसे अमुक मनुष्योंको या अन्य प्राणियोंको अमुक प्रकारसे इतना कष्ट पहुँचेगा, अमुक मनुष्योंका या अन्य प्राणियोंका जीवन नष्ट होगा—यह हिंसाका विचार करना है । इसी तरह जो यह सोचना है कि अमुक कर्म करनेके लिये इतने सामर्थ्यकी आवश्यकता है, अतः इसे पूरा करनेकी सामर्थ्य हममें है या नहीं—यह पौरुषका यानी सामर्थ्यका विचार करना है । इस तरह परिणाम, हानि, हिंसा और पौरुष—इन चारोंका या चारोंमेंसे किसी एकका विचार न करके केवल मोहसे कर्मका आरम्भ करना ही तामस कर्म है ।

मुक्तसङ्गो[1]ऽनहंवादी[2] धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

जो कर्ता संगरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है, वह सात्त्विक कहा जाता है* ॥ २६ ॥

रागी[3] कर्मफलप्रेप्सु[4]र्लुब्धो[5] हिंसात्मको[6]ऽशुचिः[7] ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त है, वह राजस कहा गया है ॥ २७ ॥

अयुक्तः[8] प्राकृतः[9] स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

---

[1] मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, उनमें और उनके फलरूप मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें जिसकी किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना नहीं रही है—ऐसे मनुष्यको 'मुक्तसंग' कहते हैं ।

[2] मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर—इन अनात्म पदार्थोंमें आत्मबुद्धि न रहनेके कारण जो किसी भी कर्ममें कर्तापनका अभिमान नहीं करता तथा इसी कारण जो आसुरी प्रकृतिवालोंकी भाँति, मैंने अमुक मनोरथ सिद्ध कर लिया है, अमुकको और सिद्ध कर लूँगा; मैं ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा (गीता १६ । १३, १४, १५) इत्यादि अहंकारके वचन कहनेवाला नहीं है, किंतु सरलभावसे अभिमानशून्य वचन बोलनेवाला है—ऐसे मनुष्यको 'अनहंवादी' कहते हैं ।

* शास्त्रविहित स्वधर्मपालनरूप किसी भी कर्मके करनेमें बड़ी-से-बड़ी विघ्न-बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना 'धैर्य' है और कर्म-सम्पादनमें सफलता न प्राप्त होनेपर या ऐसा समझकर कि यदि मुझे फलकी इच्छा नहीं है तो कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है—किसी भी कर्मसे न उकताना, किंतु जैसे कोई सफलता प्राप्त कर चुकनेवाला और कर्मफलको चाहनेवाला मनुष्य करता है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक उसे करनेके लिये उत्सुक रहना 'उत्साह' है । इन दोनों गुणोंसे युक्त होकर जो मनुष्य न तो किसी भी कर्मके पूर्ण होनेमें हर्षित होता है और न उसमें विघ्न उपस्थित होनेपर शोक ही करता है तथा इसी तरह जिसमें अन्य किसी प्रकारका भी कोई विकार नहीं होता, जो हरेक अवस्थामें सदा-सर्वदा सम रहता है—ऐसा समतायुक्त पुरुष ही सात्त्विक कर्ता है ।

[3] जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता और आसक्ति है—ऐसे मनुष्यको 'रागी' कहते हैं ।

[4] जो कर्मोंके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा करता रहता है, ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक 'कर्मफलप्रेप्सुः' पद है ।

[5] धनादि पदार्थोंमें आसक्ति रहनेके कारण जो न्यायसे प्राप्त अवसरपर भी अपनी शक्तिके अनुरूप धनका त्याग नहीं करता तथा न्याय-अन्यायका विचार न करके सदा धनसंग्रहकी लालसा रखता है, यहाँतक कि दूसरोंके स्वत्वको हड़पने की भी इच्छा रखता है और वैसी ही चेष्टा करता है—ऐसे मनुष्यका वाचक 'लुब्धः' पद है ।

[6] जिस किसी भी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाना ही जिसका स्वभाव है, जो अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये कर्म करते समय अपने आराम तथा भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता रहता है—ऐसे हिंसापरायण मनुष्यका वाचक यहाँ 'हिंसात्मकः' पद है ।

[7] जो न तो शास्त्रविधिके अनुसार जल-मृत्तिकादिसे शरीर और वस्त्रादिको शुद्ध रखता है और न यथायोग्य बर्ताव करके अपने आचरणोंको ही शुद्ध रखता है, किंतु भोगोंमें आसक्त होकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके लिये शौचाचार और सदाचारका त्याग कर देता है—ऐसे मनुष्यका वाचक यहाँ 'अशुचिः' पद है ।

[8] जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें किये हुए नहीं हैं, बल्कि जो स्वयं उनके वशीभूत हो रहा है तथा जिसमें श्रद्धा और आस्तिकताका अभाव है—ऐसे पुरुषको 'अयुक्त' कहते हैं ।

[9] जिसको किसी प्रकारकी सुशिक्षा नहीं मिली है, जिसका स्वभाव बालकके समान है, जिसको अपने कर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं है, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंका सुधार नहीं हुआ है—ऐसे संस्काररहित स्वाभाविक मूर्खको 'प्राकृत' कहते हैं ।

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षासे रहित, घमंडी,* धूर्त† और दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला‡ तथा शोक करनेवाला, आलसी§ और दीर्घसूत्री× है—वह तामस कहा जाता है+ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार तत्त्वज्ञानमें सहायक सात्त्विक भावोंको ग्रहण करानेके लिये और उसके विरोधी राजस-तामस भावोंका त्याग करानेके लिये कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रहमेंसे ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार त्रिविध भेद क्रमशः बतलानेकी प्रस्तावना करते हुए बतलाते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे धनंजय ! अब तू बुद्धिका और धृतिका भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक कहा जानेवाला सुन÷ ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३०

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्गA और निवृत्तिमार्गकोB

---

* जिसका स्वभाव अत्यन्त कठोर है, जिसमें विनयका अत्यन्त अभाव है, जो सदा ही घमंडमें चूर रहता है—अपने सामने दूसरोंको कुछ भी नहीं समझता—ऐसे मनुष्यको 'घमंडी' कहते हैं ।

† जो दूसरोंको ठगनेवाला वञ्चक है, द्वेषको छिपाये रखकर गुप्तभावसे दूसरोंका अपकार करनेवाला है, मन-ही-मन दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये दाव-पेंच सोचता रहता है—ऐसे मनुष्यको 'धूर्त' कहते हैं ।

‡ नाना प्रकारसे दूसरोंकी वृत्तिमें बाधा डालना ही जिसका स्वभाव है—ऐसे मनुष्यको दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला कहते हैं ।

§ जिसका रात-दिन पड़े रहनेका स्वभाव है, किसी भी शास्त्रीय या व्यावहारिक कर्तव्य-कर्ममें जिसकी प्रवृत्ति और उत्साह नहीं होते, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें आलस्य भरा रहता है—वह मनुष्य 'आलसी' है ।

× जो किसी कार्यका आरम्भ करके बहुत कालतक उसे पूरा नहीं करता—आज कर लेंगे, कल कर लेंगे, इस प्रकार विचार करते-करते एक रोजमें हो जानेवाले कार्यके लिये बहुत समय निकाल देता है और फिर भी उसे पूरा नहीं कर पाता—ऐसे शिथिल प्रकृतिवाले मनुष्यको 'दीर्घसूत्री' कहते हैं ।

+ जिस पुरुषमें उपर्युक्त समस्त लक्षण घटते हों या उनमेंसे कितने ही लक्षण घटते हों, उसे तामस कर्ता समझना चाहिये ।

÷ 'बुद्धि' शब्द यहाँ निश्चय करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है, इस अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें जिसके तीन भेद बतलाये गये हैं, वह बुद्धिसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यानी बुद्धिकी वृत्तिविशेष है और यह बुद्धि उसका कारण है। अठारहवें श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द कर्म-प्रेरणाके अन्तर्गत आया है और बुद्धिका ग्रहण 'करण' के नामसे कर्म-संग्रहमें किया गया है। यही ज्ञानका और बुद्धिका भेद है । यहाँ कर्म-संग्रहमें वर्णित करणोंके सात्त्विक-राजस-तामस भेदोंको भलीभाँति समझानेके लिये प्रधान 'करण' बुद्धिके तीन भेद बतलाये जाते हैं ।

'धृति' शब्द धारण करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है; यह भी बुद्धिकी ही वृत्ति है। मनुष्य किसी भी क्रिया या भावको इसी शक्तिके द्वारा दृढ़तापूर्वक धारण करता है। इस कारण वह 'करण' के ही अन्तर्गत है। इस अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें सात्त्विक कर्ताके लक्षणोंमें 'धृति' शब्दका प्रयोग हुआ है, इससे यह समझनेकी गुंजाइश हो जाती है कि धृति केवल सात्त्विक ही होती है; किंतु ऐसी बात नहीं है, इसके भी तीन भेद होते हैं—यही बात समझानेके लिये इस प्रकरणमें 'धृति' के तीन भेद बतलाये गये हैं ।

A गृहस्थ-वानप्रस्थादि आश्रमोंमें रहकर ममता, आसक्ति, अहंकार और फलेच्छाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये उसकी उपासनाका तथा शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका, अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार जीविकाके कर्मोंका और शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि कर्मोंका निष्कामभावसे आचरणरूप जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है—वह 'प्रवृत्तिमार्ग' है। और राजा जनक, अम्बरीष, महर्षि वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य आदिकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है ।

B समस्त कर्मोंका और भोगोंका बाहर-भीतरसे सर्वथा त्याग करके, संन्यास-आश्रममें रहकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारकी सांसारिक झंझटोंसे विरक्त होकर अहंता, ममता और आसक्तिके त्यागपूर्वक शम, दम, तितिक्षा आदि साधनोंके सहित निरन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना या केवल भगवान्‌के भजन, स्मरण, कीर्तन आदिमें ही लगे रहना—इस प्रकार जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है, उसका नाम 'निवृत्तिमार्ग' है और श्रीसनकादि, नारदजी,

कर्तव्य और अकर्तव्यको;* भय और अभयको† तथा बन्धन और मोक्षको‡ यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

हे पार्थ ! मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको§ तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको× भी यथार्थ नहीं जान वह बुद्धि राजसी है+ ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है÷ तथा इसी प्रकार

ऋषभदेवजी और शुकदेवजीकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है।

* वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिकी तथा देश-कालकी अपेक्षासे जिसके लिये जिस समय जो कर्म करना उचित है, वही उसके लिये 'कर्तव्य' है; और जिस समय जिसके लिये जिस कर्मका त्याग उचित है, वही उसके लिये 'अकर्तव्य' है। इन दोनोंको भलीभाँति समझ लेना—अर्थात् किसी भी कार्यके सामने आनेपर यह मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, इस बातका यथार्थ निर्णय कर लेना ही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ जानना है।

† किसी दुःखप्रद वस्तुके या घटनाके उपस्थित हो जानेपर या उसकी सम्भावना होनेसे मनुष्यके अन्तःकरणमें जो एक आकुलताभरी कम्पवृत्ति होती है, उसे 'भय' कहते हैं और इससे विपरीत जो भयके अभावकी वृत्ति है, उसे 'अभय' कहते हैं। इन दोनोंके तत्त्वको भलीभाँति समझकर निर्भय हो जाना ही भय और अभय—इन दोनोंको यथार्थ जानना है।

‡ शुभाशुभ कर्मोंके सम्बन्धसे जो जीवको अनादि कालसे निरन्तर परवश होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकना पड़ रहा है, यही 'बन्धन' है और सत्संगके प्रभावसे कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोगादि साधनोंमेंसे किसी साधनके द्वारा भगवत्कृपासे समस्त शुभाशुभ कर्मबन्धनोंका कट जाना और जीवका भगवान्‌को प्राप्त हो जाना ही 'मोक्ष' है।

§ अहिंसा, सत्य, दया, शान्ति, ब्रह्मचर्य, शम, दम, तितिक्षा तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्ययन, प्रजापालन, कृषि, पशुपालन और सेवा आदि जितने भी वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित शुभकर्म हैं——जिन आचरणोंका फल शास्त्रोंमें इस लोक और परलोकके सुख-भोग बतलाया गया है——तथा जो दूसरोंके हितके कर्म हैं, उन सबका नाम 'धर्म' है एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, दम्भ, अभक्ष्यभक्षण आदि जितने भी पापकर्म हैं—जिनका फल शास्त्रोंमें दुःख बतलाया है—उन सबका नाम 'अधर्म' है। किस समय किस परिस्थितिमें कौन-सा कर्म धर्म है और कौन-सा कर्म अधर्म है—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें बुद्धिका कुण्ठित हो जाना, या संशययुक्त हो जाना आदि उन दोनोंका यथार्थ न जानना है।

× वर्ण, आश्रम, प्रकृति, परिस्थिति तथा देश और कालकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रविहित करनेयोग्य कर्म है—वह कार्य (कर्तव्य) है और जिसके लिये शास्त्रमें जिस कर्मको न करनेयोग्य—निषिद्ध बतलाया है बल्कि जिसका न करना ही उचित है——वह अकार्य (अकर्तव्य) है। इस दृष्टिसे शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म तो सबके लिये अकार्य हैं ही, किंतु शास्त्रविहित शुभ कर्मोंमें भी किसीके लिये कोई कर्म कार्य होता है और किसीके लिये कोई अकार्य। जैसे शूद्रके लिये सेवा करना कार्य है और यज्ञ, वेदाध्ययन आदि करना अकार्य है; संन्यासीके लिये विवेक, वैराग्य, शम दमादिका साधन कार्य है और यज्ञ-दानादिका आचरण अकार्य है; ब्राह्मणके लिये यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, वेद पढ़ना-पढ़ाना कार्य है और नौकरी करना अकार्य है; वैश्यके लिये कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यादि कार्य है और दान लेना आदि अकार्य है। इसी तरह स्वर्गादिकी कामनावाले मनुष्यके लिये काम्य-कर्म कार्य हैं और मुमुक्षुके लिये अकार्य हैं; विरक्त ब्राह्मणके लिये संन्यास ग्रहण करना कार्य है और भोगासक्तके लिये अकार्य है। इससे यह सिद्ध है कि शास्त्रविहित धर्म होनेसे ही वह सबके लिये कर्तव्य नहीं हो जाता। इस प्रकार धर्म कार्य भी हो सकता है और अकार्य भी। यही धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका भेद है। किसी भी कर्मके करनेका या त्यागनेका अवसर आनेपर 'अमुक कर्म मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, मुझे कौन-सा कर्म किस प्रकार करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये'—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें जो बुद्धिका किंकर्तव्यविमूढ हो जाना या संशययुक्त हो जाना है——यही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ न जानना है।

+ जिस बुद्धिसे मनुष्य धर्म-अधर्मका और कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकता, जो बुद्धि इसी प्रकार अन्यान्य बातोंका भी ठीक-ठीक निर्णय करनेमें समर्थ नहीं होती, वह रजोगुणके सम्बन्धसे विवेकमें अप्रतिष्ठित विक्षिप्त और अस्थिर रहती है; इसी कारण वह राजसी है।

÷ ईश्वरनिन्दा, देवनिन्दा, शास्त्रविरोध, माता-पिता-गुरु आदिका अपमान, वर्णाश्रमधर्मके प्रतिकूल आचरण

सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है,* वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी। ३३।

हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है† ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन ! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है,‡ वह धारणशक्ति राजसी है ३४

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा[1] धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको तथा उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है,§ वह धारणशक्ति तामसी है ॥ ३५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार सात्त्विकी बुद्धि और धृतिका ग्रहण तथा राजसी-तामसीका त्याग करनेके लिये बुद्धि और धृतिके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब, जिसके लिये मनुष्य समस्त कर्म करता है, उस सुखके भी सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार तीन भेद क्रमसे बतलाते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे

असंतोष, दम्भ, कपट, व्यभिचार, असत्यभाषण, परपीडन, अभक्ष्य भोजन, यथेच्छाचार और पर-सत्त्वापहरण आदि इत्यादि पापकर्मोंको धर्म मान लेना और धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ईश्वरपूजन, देवोपासना, शास्त्रसेवन, वर्णाश्रमधर्मानुसार आचरण, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन, सरलता, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक भोजन, अहिंसा और परोपकार आदि शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंको अधर्म मानना—यही अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म मानना है ।

* अधर्मको धर्म मान लेनेकी भाँति ही अकर्तव्यको कर्तव्य, दुःखको सुख, अनित्यको नित्य, अशुद्धको शुद्ध और हानिको लाभ मान लेना आदि जितनी भी विपरीत मान्यताएँ हैं, वे सब अन्य पदार्थोंको विपरीत मान लेनेके अन्तर्गत हैं ।

† किसी भी क्रिया, भाव या वृत्तिको धारण करनेकी—उसे दृढ़तापूर्वक स्थिर रखनेकी जो शक्तिविशेष है, जिसके द्वारा धारण की हुई कोई भी क्रिया, भावना या वृत्ति विचलित नहीं होती, प्रत्युत चिरकालतक स्थिर रहती है, उस शक्तिका नाम 'धृति' है; परंतु इसके द्वारा मनुष्य जबतक भिन्न-भिन्न उद्देश्योंसे, नाना विषयोंको धारण करता रहता है, तबतक इसमें व्यभिचार-दोष नष्ट नहीं होता; जब इसके द्वारा मनुष्य अपना एक अटल उद्देश्य स्थिर कर लेता है, उस समय यह 'अव्यभिचारिणी' हो जाती है । सात्त्विक धृतिका एक ही उद्देश्य होता है—परमात्माको प्राप्त करना । इसी कारण उसे 'अव्यभिचारिणी' कहते हैं । ऐसी धारणशक्तिसे परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ध्यानयोगद्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको अटलरूपसे परमात्मामें रोके रखना ही 'सात्त्विक धृति' है ।

‡ आसक्तिपूर्वक धर्मका पालन करना धृतिके द्वारा धर्मको धारण करना है एवं धनादि पदार्थोंको और उनसे सिद्ध होनेवाले भोगोंको ही जीवनका लक्ष्य बनाकर अत्यन्त आसक्तिके कारण दृढ़तापूर्वक उनको पकड़े रखना धृतिके द्वारा अर्थ और कामोंको धारण करना है ।

१. जिसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द और मलिन हो, जिसके अन्तःकरणमें दूसरोंका अनिष्ट करने आदिके भाव भरे रहते हैं—ऐसे दुष्टबुद्धि मनुष्यको 'दुर्मेधा' कहते हैं ।

§ निद्रा और तन्द्रा आदि जो मन और इन्द्रियोंको तमसाच्छन्न, बाह्य क्रियासे रहित और मूढ़ बनानेवाले भाव हैं, उन सबका नाम 'निद्रा' है; धन आदि पदार्थोंके नाशकी, मृत्युकी, दुःखप्राप्तिकी, सुखके नाशकी अथवा इसी तरह अन्य किसी प्रकारके इष्टके नाश और अनिष्ट-प्राप्तिकी आशङ्कासे अन्तःकरणमें जो एक आकुलता और घबराहट-भरी वृत्ति होती है, उसका नाम 'भय' है; मनमें होनेवाली नाना प्रकारकी दुश्चिन्ताओंका नाम 'शोक' है; उसके द्वारा जो इन्द्रियोंमें संताप हो जाता है, उसे 'दुःख' कहते हैं; यह शोकका ही स्थूल भाव है तथा जो धन, जन और बल आदिके कारण होनेवाली—विवेक, भविष्यके विचार और दूरदर्शितासे रहित—उन्मत्तवृत्ति है, उसे 'मद' कहते हैं; इसीका नाम गर्व, घमंड और उन्मत्तता भी है । इन सबको तथा प्रमाद आदि अन्यान्य तामस भावोंको जो अन्तःकरणसे दूर हटानेकी चेष्टा न करके उनमें डूबे रहना है, यही धृतिके द्वारा इनको न छोड़ना अर्थात् धारण किये रहना है ।

सुन। जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है* और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—† जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है,‡ परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है;§ इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख× सात्त्विक कहा गया है ॥ ३६-३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है+ ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख÷ तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

---

* मनुष्यको इस सुखका अनुभव तभी होता है, जब वह इस लोक और परलोकके समस्त भोग-सुखोंको क्षणिक समझकर उन सबसे आसक्ति हटाकर निरन्तर परमात्मस्वरूपके चिन्तनका अभ्यास करता है (गीता ५ । २१); बिना साधनके इसका अनुभव नहीं हो सकता—यही भाव दिखलानेके लिये इस सुखका 'जिसमें अभ्याससे रमण करता है' यह लक्षण किया गया है।

† जिस सुखमें रमण करनेवाला मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सब प्रकारके दुःखोंके सम्बन्धसे सदाके लिये छूट जाता है; जिस सुखके अनुभवका फल निरतिशय सुखस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है (गीता ५ । २१, २४; ६ । २८)—वही सात्त्विक सुख है ।

‡ जिस प्रकार बालक अपने घरवालोंसे विद्याकी महिमा सुनकर विद्याभ्यासकी चेष्टा करता है, पर उसके महत्त्वका यथार्थ अनुभव न होनेके कारण आरम्भकालमें अभ्यास करते समय उसे खेल-कूदको छोड़कर विद्याभ्यासमें लगे रहना अत्यन्त कष्टप्रद और कठिन प्रतीत होता है, उसी प्रकार सात्त्विक सुखके लिये अभ्यास करनेवाले मनुष्यको भी विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक विवेक, वैराग्य, शम, दम और तितिक्षा आदि साधनोंमें लगे रहना अत्यन्त श्रमपूर्ण और कष्टप्रद प्रतीत होता है; यही सात्त्विक सुखका आरम्भकालमें विषके तुल्य प्रतीत होना है ।

§ जब सात्त्विक सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करते-करते साधकको उस ध्यानजनित सुखका अनुभव होने लगता है, तब उसे वह अमृतके तुल्य प्रतीत होता है; उस समय उसके सामने संसारके समस्त भोग-सुख तुच्छ, नगण्य और दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं ।

× उपर्युक्त प्रकारसे अभ्यास करते-करते निरन्तर परमात्माका ध्यान करनेके फलस्वरूप अन्तःकरणके स्वच्छ होनेपर इस सुखका अनुभव होता है, इसीलिये इस सुखको परमात्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला बतलाया गया है ।

+ जब मनुष्य मनसहित इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका सेवन करता है, तब वह उसे आसक्तिके कारण अत्यन्त प्रिय मालूम होता है; उस समय वह उसके सामने किसी भी अदृष्ट सुखको कोई चीज नहीं समझता, परंतु यह राजस सुख प्रतीतिमात्रका ही सुख है, वस्तुतः सुख नहीं है । प्रत्युत विषयोंमें आसक्ति बढ़ जानेसे पुनः उनकी प्राप्ति न होनेपर अभावके दुःखका अनुभव होता है तथा उनसे वियोग होते समय भी अत्यन्त दुःख होता है । इसलिये विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला यह क्षणिक सुख यद्यपि वस्तुतः सब प्रकारसे दुःखरूप ही है, तथापि जैसे रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके लोभसे परिणामका विचार न करके कुपथ्यका सेवन करता है और परिणाममें रोग बढ़ जानेसे दुःखी होता है या मृत्यु हो जाती है; उसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य भी मूर्खता और आसक्तिवश परिणामका विचार न करके सुखबुद्धिसे विषयोंका सेवन करता है और परिणाममें अनेकों प्रकारसे भाँति-भाँतिके भीषण दुःख भोगता है (गीता ५ । २२)।

÷ निद्राके समय मन और इन्द्रियोंकी क्रिया बंद हो जानेके कारण थकावटसे होनेवाले दुःखका अभाव होनेसे तथा मन और इन्द्रियोंको विश्राम मिलनेसे जो सुखकी प्रतीति होती है, वह निद्राजनित सुख जितनी देरतक निद्रा रहती है उतनी ही देरतक रहता है, निरन्तर नहीं रहता—इस कारण क्षणिक है । इसके अतिरिक्त उस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाशका अभाव हो जाता है, किसी भी वस्तुका अनुभव करनेकी शक्ति नहीं रहती । इस कारण तो वह सुख भोग-कालमें आत्माको यानी अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तथा इनके अभिमानी पुरुषको मोहित करनेवाला है, और इस सुखकी आसक्तिके कारण परिणाममें मनुष्यको अज्ञानमय वृक्ष, पहाड़ आदि जड योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है अतएव यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है ।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो* ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—इस अध्यायके चौथेसे बारहवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने मतके अनुसार त्याग और त्यागीके लक्षण बतलाये। तदनन्तर तेरहवेंसे सतरहवें श्लोकतक संन्यास (सांख्य) के स्वरूपका निरूपण करके संन्यासमें सहायक सत्त्वगुणका ग्रहण और उसके विरोधी रज एवं तमका त्याग करानेके उद्देश्यसे अठारहवेंसे चालीसवें श्लोकतक गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता आदि मुख्य-मुख्य पदार्थोंके भेद समझाये और अन्तमें समस्त सृष्टिको गुणोंसे युक्त बतलाकर इस विषयका उपसंहार किया।

वहाँ त्यागका स्वरूप बतलाते समय भगवान्‌ने यह बात कही थी कि नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है (गीता १८। ७) अपितु नियत कर्मोंको आसक्ति और फलके त्यागपूर्वक करते रहना ही वास्तविक त्याग है (गीता १८। ९), किंतु वहाँ यह बात नहीं बतलायी कि किसके लिये कौन-सा कर्म नियत है। अतएव अब संक्षेपमें नियत कर्मोंका स्वरूप, त्यागके नामसे वर्णित कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग और उसका फल परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलानेके लिये पुनः उसी त्यागरूप कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके† कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं‡ ॥

इसी तरह समस्त क्रियाओंका त्याग करके पड़े रहनेके समय जो मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमका त्याग कर देनेसे आरामकी प्रतीति होती है, वह आलस्यजनित सुख भी निद्राजनित सुखकी भाँति भोगकालमें और परिणाममें भी मोहित करनेवाला है।

व्यर्थ क्रियाओंके करनेमें मनकी प्रसन्नताके कारण और कर्तव्यका त्याग करनेमें परिश्रमसे बचनेके कारण मूर्खतावश जो सुखकी प्रतीति होती है, उस प्रमादजनित सुख-भोगके समय मनुष्यको कर्तव्य-अकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, उसकी विवेकशक्ति मोहसे ढक जाती है; अतः कर्तव्यकी अवहेलना होती है। इस कारण यह प्रमादजनित सुख भोगकालमें आत्माको मोहित करनेवाला है तथा उपर्युक्त व्यर्थ कर्मोंमें अज्ञान और आसक्तिवश होनेवाले झूठ, कपट, हिंसा आदि दुष्कर्मोंका और कर्तव्य-कर्मोंके त्यागका फल भोगनेके लिये ऐसा करनेवालोंको सूकर-कूकर आदि नीच योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है; इससे यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

* 'सत्त्व' शब्द यहाँ वस्तुमात्रका यानी सब प्रकारके प्राणियोंका और समस्त पदार्थोंका वाचक है। ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो; क्योंकि समस्त जडवर्ग तो गुणोंका कार्य होनेसे गुणमय है ही और समस्त प्राणियोंका उन गुणोंसे और गुणोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध है, इससे ये सब भी तीनों गुणोंसे युक्त ही हैं; इसलिये पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा देवलोकके एवं अन्य सब लोकोंके प्राणी एवं पदार्थ सभी इन तीनों गुणोंसे युक्त हैं।

† ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों ही द्विज हैं। तीनोंका ही यज्ञोपवीतधारणपूर्वक वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार है; इसी हेतुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंको सम्मिलित करके कहा गया है। शूद्र द्विज नहीं है, अतएव उनका यज्ञोपवीतधारणमें तथा वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार नहीं है—यह भाव दिखलानेके लिये उनको इन तीनोंसे अलग कहा गया है।

‡ प्राणियोंके जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्मोंके जो संस्कार हैं, उनका नाम स्वभाव है; उस स्वभावके अनुरूप प्राणियोंके अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाली सत्त्व, रज और तम—इन गुणवृत्तियोंके अनुसार ही ब्राह्मण आदि वर्णोंमें मनुष्य उत्पन्न होते हैं; इस कारण उन गुणोंकी अपेक्षासे ही शास्त्रमें चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है। जिसके स्वभावमें केवल सत्त्वगुण अधिक होता है, वह ब्राह्मण होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शम-दमादि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें सत्त्वमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह क्षत्रिय होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शूरवीरता, तेज आदि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह वैश्य होता है; इसलिये उसके स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा आदि बतलाये गये हैं और जिसके स्वभावमें रजोमिश्रित तमोगुण प्रधान होता है, वह शूद्र होता है; इस कारण उसका स्वाभाविक कर्म तीनों वर्णोंकी सेवा करना बतलाया गया है। इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई श्रृङ्खला या नियम ही न रहेगा; सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी, परंतु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है।

शमो[1] दम[2]स्तपः[3] शौचं[4] क्षान्ति[5]रार्जव[6]मेव च ।
ज्ञानं[7] विज्ञान[8]मास्तिक्यं[9] ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

अन्तःकरणका निग्रह करना, इन्द्रियोंका दमन करना, धर्मपालनके लिये कष्ट सहना, बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करना और पर के तत्त्वका अनुभव करना—ये सब-के-सब ही ब्रा स्वाभाविक कर्म हैं* ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

शूरवीरता†, तेज‡, धैर्य§, चतुरता× और युद्धमें भागना+, दान देना और स्वामिभाव÷—ये सब-के-स

---

१. अन्तःकरणको अपने वशमें करके उसे विक्षेपरहित—शान्त बना लेना तथा सांसारिक विषयोंके चिन्तन त्याग कर देना 'शम' है ।

२. समस्त इन्द्रियोंको वशमें कर लेना तथा वशमें की हुई इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर परमात्माकी प्राप्ति साधनोंमें लगाना 'दम' है ।

३. स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना—अर्थात् अहिंसादि महाव्रतोंका पालन करना, भोग-सामग्रियोंका त्या करके सादगीसे रहना, एकादशी आदि व्रत-उपवास करना और वनमें निवास करना—ये सब 'तप' के अन्तर्गत हैं।

४. मन, इन्द्रिय और शरीरको तथा उनके द्वारा की जानेवाली क्रियाओंको पवित्र रखना, उनमें किसी प्रकार अशुद्धिको प्रवेश न होने देना ही 'शौच' है । इसका विस्तार गीताके तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोककी टिप्पणीमें है।

५. दूसरोंके द्वारा किये हुए अपराधोंको क्षमा कर देनेका नाम 'क्षान्ति' है । गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोक टिप्पणीमें इसका विस्तार है ।

६. मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना अर्थात् मनमें किसी प्रकारका दुराग्रह और ऐंठ नहीं रखना; जैसा मनका हो, वैसा ही इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करना; इसके अतिरिक्त शरीरमें भी किसी प्रकारकी ऐंठ नहीं रखना—यह सब 'आर्जव'के अन्तर्गत

७. वेद-शास्त्रोंके श्रद्धापूर्वक अध्ययन-अध्यापन करनेका और उनमें वर्णित उपदेशको भलीभाँति समझनेका ना यहाँ 'ज्ञान' है ।

८. वेद-शास्त्रोंमें बतलाये हुए और महापुरुषोंसे सुने हुए साधनोंद्वारा परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेने नाम यहाँ 'विज्ञान' है ।

९. वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक—इन सबकी सत्तामें पूर्ण विश्वास रखना; वेद-शास्त्रोंके और महात्माओंके वचनों यथार्थ मानना और धर्मपालनमें दृढ़ विश्वास रखना—ये सब 'आस्तिकता'के लक्षण हैं ।

* ब्राह्मणमें केवल सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसका स्वभाव उपर्युक्त कर्मोंके अनुकूल होता है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनता नहीं होती । इन कर्मोंमें बहुत-से सामान्य धर्मोंका भी वर्णन हुआ है । इससे यह समझना चाहिये कि क्षत्रिय आदि अन्य वर्णों वे स्वाभाविक कर्म तो नहीं हैं; परंतु परमात्माकी प्राप्तिमें सबका अधिकार है, अतएव उनके लिये वे प्रयत्नसाध्य हैं।

† बड़े-से-बड़े बलवान् शत्रुका न्याययुक्त सामना करनेमें भय न करना तथा न्याययुक्त युद्ध करनेके लिये सदा ही उत्साहि रहना और युद्धके समय साहसपूर्वक गम्भीरतासे लड़ते रहना 'शूरवीरता' है। भीष्मपितामहका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

‡ जिस शक्तिके प्रभावसे मनुष्य दूसरोंका दबाव मानकर किसी भी कर्तव्यपालनसे कभी विमुख नहीं होता और दूसरे लो न्यायके और उसके प्रतिकूल व्यवहार करनेमें डरते रहते हैं, उस शक्तिका नाम 'तेज' है। इसीको प्रताप और प्रभाव भी कहते हैं।

§ बड़े-से-बड़ा संकट उपस्थित हो जानेपर—युद्धस्थलमें शरीरपर भारी-से-भारी चोट लग जानेपर, अपने पुत्र-पौत्रादि मर जानेपर, सर्वस्वका नाश हो जानेपर या इसी तरह अन्य किसी प्रकारकी भारी-से-भारी विपत्ति आ पड़नेपर भी व्याकुल न होना और अपने कर्तव्यपालनसे कभी विचलित न होकर न्यायानुकूल कर्तव्यपालनमें संलग्न रहना—इसीका नाम 'धैर्य' है।

× परस्पर झगड़ा करनेवालोंका न्याय करनेमें, अपने कर्तव्यका निर्णय और पालन करनेमें, युद्ध करनेमें तथ मित्र, वैरी और मध्यस्थोंके साथ यथायोग्य व्यवहार करने आदिमें जो कुशलता है, उसीका नाम 'चतुरता' है ।

+ युद्ध करते समय भारी-से-भारी संकट आ पड़नेपर भी पीठ न दिखलाना, हर हालतमें न्यायपूर्वक सामना करते अपनी शक्तिका प्रयोग करते रहना और प्राणोंकी परवा न करके युद्धमें डटे रहना ही 'युद्धमें न भागना' है। इसी धर्म को ध्यानमें रखते हुए वीर बालक अभिमन्युने छः महारथियोंसे अकेले युद्ध करके प्राण दे दिये, किंतु शस्त्र नहीं छोड़े (महा० द्रोण० ४९ । २२)।

÷ शासनके द्वारा लोगोंको अन्यायाचरणसे रोककर सदाचारमें प्रवृत्त करना, दुराचारियोंको दण्ड देना, लोगों

क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं* ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती†, गोपालन‡ और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार§ ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णोंकी सेवा करना× शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके अब भक्तियुक्त कर्मयोगका स्वरूप और फल बतलानेके लिये, उन कर्मोंका किस प्रकार आचरण करनेसे मनुष्य अनायास परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है—यह बात दो श्लोकोंमें बतलाते हैं—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है+ ।

अपनी आज्ञाका न्याययुक्त पालन करवाना तथा समस्त प्रजाका हित सोचकर निःस्वार्थभावसे प्रेमपूर्वक पुत्रकी भाँति उसकी रक्षा और पालन-पोषण करना—'स्वामिभाव' है ।

* उपर्युक्त कर्मोंमें क्षत्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इनका पालन करनेमें उन्हें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती । इन कर्मोंमें भी जो धृति, दान आदि सामान्य धर्म हैं, उनमें सबका अधिकार होनेके कारण वे अन्य वर्णवालोंके लिये अधर्म या परधर्म नहीं हैं; किंतु वे उनके स्वाभाविक कर्म नहीं हैं । इसी कारण वे उनके लिये प्रयत्नसाध्य हैं ।

† जमीनमें बीज बोकर गेहूँ, जौ, चने, मूँग, धान, मक्की, उड़द, हल्दी, धनियाँ आदि समस्त खाद्य पदार्थोंको, कपास और नाना प्रकारकी ओषधियोंको और इसी प्रकार देवता, मनुष्य और पशु आदिके उपयोगमें आनेवाली अन्य पवित्र वस्तुओंको न्यायानुकूल उत्पन्न करनेका नाम 'कृषि' यानी खेती करना है ।

‡ नन्द आदि गोपोंकी भाँति गौओंको अपने घरमें रखना; उनको जंगलमें चराना, घरमें भी यथावश्यक चारा देना, जल पिलाना तथा व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंसे उनको बचाना; उनसे दूध, दही, घृत आदि पदार्थोंको उत्पन्न करके उन पदार्थोंसे लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना और उसके परिवर्तनमें प्राप्त धनसे अपनी गृहस्थीके सहित उन गौओंका भलीभाँति न्यायपूर्वक निर्वाह करना 'गौरक्ष्य' यानी गोपालन है । पशुओंमें 'गौ' प्रधान है तथा मनुष्यमात्रके लिये सबसे अधिक उपकारी पशु भी 'गौ' ही है; इसलिये भगवान्‌ने यहाँ 'पशुपालनम्' पदका प्रयोग न करके उसके बदलेमें 'गौरक्ष्यम्' पदका प्रयोग किया है । अतएव यह समझना चाहिये कि मनुष्यके उपयोगी भैंस, ऊँट, घोड़े और हाथी आदि अन्यान्य पशुओंका पालन करना भी वैश्योंका कर्म है; अवश्य ही गोपालन उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है ।

§ मनुष्योंके और देवता, पशु, पक्षी आदि अन्य समस्त प्राणियोंके उपयोगमें आनेवाली समस्त पवित्र वस्तुओंको न्यायानुकूल खरीदना और बेचना तथा आवश्यकतानुसार उनको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचाकर लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना 'वाणिज्य' यानी क्रय-विक्रयरूप व्यवहार है । वाणिज्य करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना; वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आढ़त और दलाली आदि ठहराकर उससे अधिक ज्यादा या कम देना; इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्यायका प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्वको हड़प लेना—ये सब वाणिज्यके दोष हैं । इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याययुक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार है । तुलाधारने इस व्यवहारसे ही सिद्धि प्राप्त की थी (महाभारत शान्तिपर्व) ।

× उपर्युक्त द्विजाति वर्णोंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी दासवृत्तिसे रहना; उनकी आज्ञाओंका पालन करना; घरमें जल भर देना, स्नान करा देना, उनके जीवन-निर्वाहके कार्योंमें सुविधा कर देना, दैनिक कार्यमें यथायोग्य सहायता करना, उनके पशुओंका पालन करना, उनकी वस्तुओंको सम्हालकर रखना, कपड़े साफ करना, क्षौरकर्म करना आदि जितने भी सेवाके कार्य हैं, उन सबको करके उनको संतुष्ट रखना; अथवा सबके काममें आनेवाली वस्तुओंको कारीगरीके द्वारा तैयार करके उन वस्तुओंसे उनकी सेवा करके अपनी जीविका चलाना—ये सब 'परिचर्यात्मक' यानी उन वर्णोंकी सेवा करनारूप कर्मके अन्तर्गत हैं ।

+ समाज-शरीरका मस्तिष्क ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है । चारों एक ही समाज-शरीरके चार आवश्यक अङ्ग हैं और एक-दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं । घृणा या अपमानकी तो बात ही नहीं है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती । न इनमें ऊँच-नीचकी कल्पना है । अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं । ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल या श्रम-बलसे बड़ा है और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है ।

अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके* मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है† ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करके परम सिद्धिको पा लेता है; इसपर यह शङ्का होती है कि यदि कोई अपने युद्धादि क्रूर कर्मोंको न करके, ब्राह्मणोंकी भाँति शान्तिमय कर्मोंसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त चेष्टा करे या इसी तरह कोई वैश्य या शूद्र अपने कर्मोंको वर्णोंके कर्मोंसे हीन समझकर उनका त्याग कर दे और ऊँचे वर्णकी वृत्तिसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त प्रयत्न करे तो उचित है या नहीं। इसपर दूसरेके धर्मसे स्वधर्मको श्रेष्ठ बतलाकर उसके त्यागका निषेध करते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्¹ ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे

एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई प्रसन्नता और योग्यताके अनुसार बँटे हुए अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण स्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेका हित करते हुए, समाजकी शक्ति बढ़ाते हुए परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं।

* भगवान् इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी हैं; यह सारा जगत् उन्हींकी रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्‌के रूपमें प्रकट हुए हैं, अतएव यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का है; मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णोचित कर्म किये जाते हैं—वे सब भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का ही हूँ; समस्त देवताओंके एवं अन्य प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण वे ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (गीता ५ । २९)—परम श्रद्धा और विश्वासके साथ इस प्रकार समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग करके भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपना कर्तव्य पालन करते हुए अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा समस्त जगत्‌की सेवा करना—समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचाना ही अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करना है।

† प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें स्थित हो, अपने कर्मोंसे भगवान्‌की पूजा करके परम सिद्धिरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सबका समान अधिकार है। अपने शम, दम आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने शूरवीरता आदि कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने कृषि आदि कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है। अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका यह बहुत ही सुगम मार्ग है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त भावसे अपने कर्तव्य-पालनद्वारा परमेश्वरकी पूजा करनेका अभ्यास करना चाहिये।

१. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित है, उसके लिये वही स्वधर्म है। झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, ठगी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं और काम्यकर्म भी किसीके लिये अवश्यकर्तव्य नहीं हैं; इस कारण उनकी गणना यहाँ किसीके स्वधर्मोंमें नहीं है। इनको छोड़कर जिन वर्ण और आश्रमके जो विशेष धर्म बतलाये गये हैं, जिनमें एकसे दूसरे वर्ण-आश्रमवालोंका अधिकार नहीं है, वे तो उन वर्ण-आश्रमवालोंके अलग-अलग स्वधर्म हैं और जिन कर्मोंमें द्विजमात्रका अधिकार बतलाया गया है, वे वेदाध्ययन और यज्ञादि कर्म द्विजोंके लिये स्वधर्म हैं तथा जिनमें सभी वर्णाश्रमोंके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है, वे ईश्वर-भक्ति, सत्यभाषण, माता-पिताकी सेवा, इन्द्रियोंका संयम, ब्रह्मचर्यपालन और विनय आदि सामान्य धर्म सबके स्वधर्म हैं।

‡ जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किंतु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों—ऐसे भलीभाँति आचरित कर्मोंकी अपेक्षा अर्थात् जैसे वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी अधिकता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म गुणयुक्त हैं, ऐसे परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म श्रेष्ठ है। भाव यह है कि जैसे देखनेमें कुरूप और गुणरहित होनेपर भी स्त्रीके लिये अपने ही पतिका सेवन करना कल्याणप्रद है, उसी

गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है,* क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता† ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको‡ नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं§ ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—भगवान्ने तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक संन्यास यानी सांख्यका निरूपण किया। फिर इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक कर्मयोगरूप त्यागका तत्त्व समझानेके लिये स्वाभाविक कर्मोंका स्वरूप और उनकी अवश्यकर्तव्यताका निर्देश करके तथा कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग दिखलाकर उसका फल भगवत्प्राप्ति बतलाया; किंतु वहाँ संन्यासके प्रकरणमें यह बात नहीं कही गयी कि संन्यासका क्या फल होता है और कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान त्याग कर उपासनाके सहित सांख्ययोगका किस प्रकार साधन करना चाहिये। अतः यहाँ उपासनाके सहित विवेक और वैराग्यपूर्वक एकान्तमें रहकर साधन करनेकी विधि और उसका फल बतलानेके लिये पुनः सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष× सांख्ययोगके द्वारा उस परम

ऊपर देखनेमें गुणोंसे हीन होनेपर भी तथा उसके अनुष्ठानमें अङ्गवैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है।

* क्षत्रियका स्वधर्म युद्ध करना और दुष्टोंको दण्ड देना आदि है; उसमें अहिंसा और शान्ति आदि गुणोंकी कमी होती है। इसी तरह वैश्यके 'कृषि' आदि कर्मोंमें भी हिंसा आदि दोषोंकी बहुलता है, इस कारण ब्राह्मणोंके शान्तिमय कर्मोंकी अपेक्षा वे भी विगुण यानी गुणहीन हैं एवं शूद्रोंके कर्म वैश्यों और क्षत्रियोंकी अपेक्षा भी निम्न श्रेणीके हैं। इसके सिवा उन कर्मोंके पालनमें किसी अङ्गका छूट जाना भी गुणकी कमी है। उपर्युक्त प्रकारसे स्वधर्ममें गुणोंकी कमी रहनेपर भी वह गुणयुक्त परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है।

† दूसरेका धर्म पालन करनेसे उसमें हिंसादि दोष कम होनेपर भी परवृत्तिच्छेदन आदि पाप लगते हैं; किंतु अपने स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक आचरण करते समय उनमें जो आनुषङ्गिक हिंसादि पाप बन जाते हैं, वे उसको नहीं लगते।

१. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिसके लिये जो कर्म बतलाये गये हैं, उसके लिये वे ही सहज कर्म हैं। अतएव इस अध्यायमें जिन कर्मोंका वर्णन स्वधर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावनियत कर्म और स्वभावज कर्मके नामसे हुआ है, उन्हींको यहाँ 'सहज' कर्म कहा है।

‡ जो स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त हों, उनका त्याग न करना चाहिये—इसमें तो कहना ही क्या है; पर जिनमें साधारणतः हिंसादि दोषोंका मिश्रण दीखता हो, वे भी शास्त्रविहित एवं न्यायोचित होनेके कारण दोषयुक्त दीखनेपर भी वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं। इसलिये उन कर्मोंका भी त्याग नहीं करना चाहिये।

§ जिस प्रकार धूएँसे अग्नि ओतप्रोत रहती है, धूआँ अग्निसे सर्वथा अलग नहीं हो सकता—उसी प्रकार आरम्भमात्र दोषसे ओतप्रोत हैं, क्रियामात्रमें किसी-न-किसी प्रकारसे किसी-न-किसी प्राणीकी हिंसा हो जाती है; क्योंकि संन्यास-आश्रममें भी शौच, स्नान और भिक्षाटनादि कर्मद्वारा किसी-न-किसी अंशमें प्राणियोंकी हिंसा होती ही है और ब्राह्मणके यज्ञादि कर्मोंमें भी आरम्भकी बहुलता होनेसे क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसा होती है। इसलिये किसी भी वर्ण-आश्रमके कर्म साधारण दृष्टिसे सर्वथा दोषरहित नहीं हैं और कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता (गीता ३। ५); इस कारण स्वधर्मका त्याग कर देनेपर भी कुछ-न-कुछ कर्म तो मनुष्यको करना ही पड़ेगा तथा वह जो कुछ करेगा, वही दोषयुक्त होगा। इसलिये अमुक कर्म नीचा है या दोषयुक्त है—ऐसा समझकर मनुष्यको स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; बल्कि उसमें ममता, आसक्ति और फलेच्छारूप दोषोंका त्याग करके उनका न्याययुक्त आचरण करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

× अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें तथा समस्त भोगोंमें और चराचर प्राणियोंके सहित समस्त जगत्में जिसकी आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है; जिसके मन-बुद्धिकी कहीं किंचिन्मात्र भी संलग्नता नहीं रही है—वह 'सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला' है। जिसकी स्पृहाका सर्वथा अभाव हो गया है, जिसको किसी भी सांसारिक वस्तुकी किंचिन्मात्र भी परवा नहीं रही है, उसे 'स्पृहारहित' कहते हैं और जिसका इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरण अपने वशमें किया हुआ है, उसे 'जीते हुए अन्तःकरणवाला' कहते हैं। जो उपर्युक्त तीनों गुणोंसे सम्पन्न होता है, वही मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति कर सकता है।

नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है* ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

जो कि ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है, उस नैष्कर्म्यसिद्धिको† जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है,‡ उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र ! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त§ तथा हल्का, सात्त्वि नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग क एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला,× सात्त्वि धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम क मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला,÷ राग-द्वे सर्वथा नष्ट करके A भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय ले तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परि त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला B म

---

* संन्यास—ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगका स्वरूप भगवान्ने इक्यावनवेंसे तिरपनवें श्लोकतक बतलाया है। इ साधनका फल जो कि कर्मबन्धनसे सर्वथा छूटकर सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाना है वही 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' है, जिसको संन्यासके द्वारा प्राप्त किया जाता है ।

† जो ज्ञानयोगकी अन्तिम स्थिति है, जिसको परा भक्ति और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, जो समस्त साधनोंकी अवधि है, पूर्वश्लोकमें 'नैष्कर्म्यसिद्धि' के नामसे कही गयी है, वही यहाँ 'सिद्धि' के नामसे तथा वही 'परा निष्ठा' के नामसे कही गयी है।

‡ नित्य-निर्विकार, निर्गुण-निराकार, सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'ब्रह्म' पद है तत्त्वज्ञानके द्वारा पचपनवें श्लोकके वर्णनानुसार अभिन्नभावसे उसमें प्रविष्ट हो जाना ही उसको प्राप्त होना है।

१. जो साधनके उपयुक्त अनायास हजम हो जानेवाले सात्त्विक पदार्थोंका (गीता १७ । ८) अपनी प्रकृ आवश्यकता और शक्तिके अनुरूप नियमित और परिमित भोजन करता है—ऐसे युक्त आहारके करनेवाले (गीता ६ । १७) पुरुषको 'लघ्वाशी' कहते हैं ।

§ पूर्वार्जित पापके संस्कारोंसे रहित अन्तःकरणवाला ही 'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त' कहलाता है ।

× जहाँका वायुमण्डल पवित्र हो, जहाँ बहुत लोगोंका आना-जाना न हो, जो स्वभावसे ही एकान्त और स्व हो या झाड़-बुहारकर और धोकर जिसे स्वच्छ बना लिया गया हो—ऐसे नदीतट, देवालय, वन और पहाड़की गुफा स्थानोंमें निवास करना ही 'एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करना' है ।

+ इन्द्रियों और अन्तःकरणका समस्त विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर देना ही उनका संयम करना है।

÷ मन, वाणी और शरीरमें इच्छाचारिताका तथा बुद्धिके विचलित करनेकी शक्तिका अभाव कर देना ही उनको वशमें कर लेना है ।

A इस लोक या परलोकके किसी भी भोगमें, किसी भी प्राणीमें तथा किसी भी पदार्थ, क्रिया अथवा घटना किंचिन्मात्र भी आसक्ति या द्वेष न रहने देना 'राग-द्वेषका सर्वथा नाश कर देना' है ।

B शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जो आत्मबुद्धि है, जिसके कारण मनुष्य मन, बुद्धि और शरीरद्वारा कि जानेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्ता मान लेता है, उसका नाम 'अहंकार' है । अन्यायपूर्वक बलात्कारसे जो दूसरोंपर प्रभुत्व जमानेका साहस है, उसका नाम 'बल' है । धन, जन, विद्या, जाति और शारीरिक शक्ति आदिके कारण होनेवाला जो गर्व है, उसका नाम 'दर्प' यानी घमंड है । इस लोक और परलोकके भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम 'काम' है। अपने मनके प्रतिकूल आचरण करनेवालेपर और नीतिविरुद्ध व्यवहार करनेवालेपर जो अन्तःकरणमें उत्तेजनाका भाव उत्पन्न होता है—जिसके कारण मनुष्यके नेत्र लाल हो जाते हैं, होंठ फड़कने लगते हैं, हृदयमें जलन होने लगती है और मुख विकृत हो जाता है—उसका नाम 'क्रोध' है । भोग्यबुद्धिसे सांसारिक भोग-सामग्रियोंके संग्रहका नाम 'परिग्रह' है, अतः इन सबका त्याग करके पूर्वोक्त प्रकारसे सात्त्विक धृतिके द्वारा मन-इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर समस्त स्फुरणाओंका सर्वथा अभाव करके, नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्नभावसे चिन्तन करना (गीता ६ । २५) तथा उठते बैठते, सोते-जागते एवं शौच-स्नान, खान-पान आदि आवश्यक क्रिया करते समय भी नित्य-निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं उसीको सबसे बढ़कर परम कर्तव्य समझना 'ध्यानयोगके परायण रहना' है ।

रहित* और शान्तियुक्त पुरुष† सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ॥ ५१—५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा[२] न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है ।‡ ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको§ प्राप्त हो जाता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है× तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है+ ॥ ५५ ॥

सम्बन्ध—अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार त्यागका यानी कर्मयोगका और संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व अलग-अलग समझाकर यहाँतक उस प्रकरणको समाप्त कर दिया; किंतु इस वर्णनमें भगवान्‌ने यह बात नहीं कही कि दोनोंमेंसे तुम्हारे लिये अमुक साधन कर्तव्य है; अतएव अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोग ग्रहण करानेके उद्देश्यसे अब भक्तिप्रधान कर्मयोगकी महिमा कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि[१] सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

मेरे परायण हुआ÷ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा

---

* मन और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, समस्त प्राणियोंमें, कर्मोंमें, समस्त भोगोंमें एवं जाति, कुल, देश, वर्ण और आश्रममें ममताका सर्वथा त्याग कर देना ही 'ममतासे रहित होना' है ।

† जिसके अन्तःकरणमें विक्षेपका सर्वथा अभाव हो गया है और जिसका अन्तःकरण अटल शान्ति और शुद्ध सात्त्विक प्रसन्नतासे व्याप्त रहता है, वह उपरत पुरुष 'शान्तियुक्त' कहा जाता है ।

१. जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित हो जाता है, जिसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ (बृहदारण्यक उप० १ । ४ । १०), 'सोऽहमस्मि'—वह ब्रह्म ही मैं हूँ, आदि महावाक्योंके अनुसार जिसकी परमात्मामें अभिन्नभावसे नित्य अटल स्थिति हो जाती है, ऐसे सांख्ययोगीका वाचक यहाँ 'ब्रह्मभूतः' पद है । गीताके पाँचवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें और छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भी इस स्थितिवाले योगीको 'ब्रह्मभूत' कहा है ।

२. जिसका मन पवित्र, स्वच्छ और शान्त हो तथा निरन्तर शुद्ध प्रसन्न रहता हो, उसे 'प्रसन्नात्मा' कहते हैं ।

‡ ब्रह्मभूत योगीकी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेके कारण संसारकी किसी भी वस्तुमें उसकी भिन्न सत्ता, रमणीय-बुद्धि और ममता नहीं रहती । अतएव शरीरादिके साथ किसीका संयोग-वियोग होनेमें उसका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं; इस कारण वह किसी भी हालतमें किसी भी कारणसे किंचिन्मात्र भी चिन्ता या शोक नहीं करता और वह पूर्णकाम हो जाता है, इसलिये वह कुछ भी नहीं चाहता ।

§ जो ज्ञानयोगका फल है, जिसको ज्ञानकी परा निष्ठा और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, उसीको 'परा भक्ति' कहा है ।

× इस परा भक्तिरूप तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके साथ ही वह योगी उस तत्त्वज्ञानके द्वारा मेरे यथार्थ रूपको जान लेता है; मेरा निर्गुण-निराकार रूप क्या है तथा सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूप क्या है, मैं निराकारसे साकार कैसे होता हूँ और पुनः साकारसे निराकार कैसे होता हूँ—इत्यादि कुछ भी जानना उसके लिये शेष नहीं रहता ।

+ परमात्माके तत्त्वज्ञान और उनकी प्राप्तिमें अन्तर यानी व्यवधान नहीं होता, परमात्माके स्वरूपको यथार्थ जानना और उनमें प्रविष्ट होना—दोनों एक साथ होते हैं । परमात्मा सबके आत्मरूप होनेसे वास्तवमें किसीको अप्राप्त नहीं हैं, अतः उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही उनकी प्राप्ति हो जाती है ।

१. अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—जिनका वर्णन पहले 'नियत कर्म' और 'स्वभावज कर्म' के नामसे किया गया है तथा जो भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुकूल हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'सर्वकर्माणि' पद है ।

÷ समस्त कर्मोंका और उनके फलरूप समस्त भोगोंका आश्रय त्यागकर जो भगवान्‌के ही आश्रित हो गया है, जो अपने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको, उसके द्वारा किये जानेवाले समस्त कर्मोंको और उनके फलको भगवान्‌के समर्पण करके उन सबसे ममता, आसक्ति और कामना हटाकर भगवान्‌के ही परायण हो गया है, भगवान्‌को ही अपना परम परम प्रिय, परम हितैषी, परमाधार और सर्वस्व समझकर जो भगवान्‌के विधानमें सदैव प्रसन्न रहता है—किसी भी सांसारिक वस्तुके संयोग-वियोगमें और किसी भी घटनामें कभी हर्ष-शोक नहीं करता, सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है, ऐसा भक्तिप्रधान कर्मयोगी ही भगवत्परायण है ।

करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको* प्राप्त हो जाता है†॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके‡ तथा समबुद्धिरूप योगको§ अवलम्बन करके मेरे परायण× और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो+॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा÷ और अहंकारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगाA॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९

जो तू अहङ्कारका आश्रय लेकर यह मान रहा है 'मैं युद्ध नहीं करूँगा',B तेरा यह निश्चय मिथ्या है; तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगाC॥ ५९ ॥

---

* जो सदासे है और सदा रहता है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, वह सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर परम प्राप्य है, इसलिये उसे 'परम पद' के नामसे कहा गया है। इसीको पैंतालीसवें श्लोकमें 'संसिद्धि', छियालीसवेंमें 'सिद्धि' और पचपनवें श्लोकमें 'माम्' पदवाच्य परमेश्वर कहा गया है।

† सांख्ययोगी समस्त परिग्रह और समस्त भोगोंका त्याग करके एकान्त देशमें निरन्तर परमात्माके ध्यानका साधन करता हुआ जिस परमात्माको प्राप्त करता है, भगवदाश्रयी कर्मयोगी स्ववर्णाश्रमोचित समस्त कर्मोंको सदा करता हुआ भी उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है; दोनोंके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता।

‡ अपने मन, इन्द्रिय और शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और संसारकी समस्त वस्तुओंको भगवान्की समझकर उन सबमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरेद्वारा अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, मैं कुछ भी नहीं करता—ऐसा समझकर भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींके लिये, उन्हींकी प्रेरणासे, जैसे करावें वैसे ही, निमित्तमात्र बनकर समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना—यही समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्में अर्पण कर देना है।

§ सिद्धि और असिद्धिमें, सुख और दुःखमें, लाभ और हानिमें, इसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंमें और प्राणियोंमें जो समबुद्धि है, उसको 'बुद्धियोग' कहते हैं।

× भगवान्को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय और परमाधार मानना, उनके विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना और उनकी प्राप्तिके साधनोंमें तत्पर रहना भगवान्के परायण होना है।

+ मन-बुद्धिको अटल भावसे भगवान्में लगा देना; भगवान्के सिवा अन्य किसीमें किंचिन्मात्र भी प्रेमका सम्बन्ध न रखकर अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करते रहना; क्षणमात्रके लिये भी भगवान्की विस्मृतिका असह्य हो जाना; उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते और समस्त कर्म करते समय भी नित्य-निरन्तर भगवान्के दर्शन करते रहना—यही निरन्तर भगवान्में चित्तवाला होना है।

÷ निरन्तर मुझमें मन लगा देनेके बाद तुम्हें और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा, मेरी दयाके प्रभावसे अनायास ही तुम्हारे इस लोक और परलोकके समस्त दुःख टल जायँगे, तुम सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर सदाके लिये जन्म-मरणरूप महान् संकटसे मुक्त हो जाओगे और मुझ नित्य-आनन्दघन परमेश्वरको प्राप्त कर लोगे।

A यद्यपि भगवान् अर्जुनसे पहले यह कह चुके हैं कि तुम मेरे भक्त हो (गीता ४ । ३) और यह भी कह चुके हैं कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' अर्थात् मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता (गीता ९ । ३१) और यहाँ यह कहते हैं कि तुम नष्ट हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा पतन हो जायगा; इसमें विरोध मालूम होता है; किंतु भगवान्ने स्वयं ही उपर्युक्त वाक्यमें 'चेत्' पदका प्रयोग करके इस विरोधका समाधान कर दिया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्के भक्तका कभी पतन नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है और यह भी सत्य है कि अर्जुन भगवान्के परम भक्त हैं; इसलिये वे भगवान्की बात न सुनें, उनकी आज्ञाका पालन न करें—यह हो ही नहीं सकता; किंतु इतनेपर भी यदि अहंकारके वशमें होकर भगवान्की आज्ञाकी अवहेलना कर दें तो फिर भगवान्के भक्त नहीं समझे जा सकते, इसलिये फिर उनका पतन होना भी युक्तिसङ्गत ही है।

B पहले भगवान्के द्वारा युद्ध करनेकी आज्ञा दी जानेपर (गीता २ । ३) जो अर्जुनने भगवान्से यह कहा था कि 'न योत्स्ये'—मैं युद्ध नहीं करूँगा (गीता २ । ९), उसी बातको स्मरण कराते हुए भगवान् कहते हैं कि तुम जो यह मान रहे हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तुम्हारा यह मानना केवल अहंकारमात्र है; युद्ध न करना तुम्हारे हाथकी बात नहीं है।

C जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार जो वर्तमान जन्ममें स्वभावरूपसे प्रादुर्भूत हुए हैं, उनके अनुसार

स्वभावजेन कौन्तेय[1] निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

हे कुन्तीपुत्र! जिस कर्मको तू मोहके कारण* करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा†॥ ६०॥

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकोंमें कर्म करनेमें मनुष्यको स्वभावके अधीन बतलाया गया; इसपर यह शङ्का हो सकती है कि प्रकृति या स्वभाव जड है, वह किसीको अपने वशमें कैसे कर सकता है; इसलिये भगवान् कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर‡ अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है§॥ ६१॥

प्रकृति यानी स्वभाव कहते हैं। इस स्वभावके अनुसार ही मनुष्यका भिन्न-भिन्न कर्मोंके अधिकारीसमुदायमें जन्म होता है और उस स्वभावके अनुसार ही भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्ति हुआ करती है। अतएव यहाँ उपर्युक्त इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि जिस स्वभावके कारण तुम्हारा क्षत्रियकुलमें जन्म हुआ है, वह स्वभाव तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी तुमको जबर्दस्ती युद्धमें प्रवृत्त करा देगा। योग्यता प्राप्त होनेपर वीरतापूर्वक युद्ध करना, युद्धसे डरना या भागना नहीं—यह तुम्हारा सहज कर्म है; अतएव तुम इसे किये बिना रह नहीं सकोगे, तुमको युद्ध अवश्य करना पड़ेगा। यहाँ क्षत्रियके नाते अर्जुनको युद्धके विषयमें जो बात कही है, वही बात अन्य वर्णवालोंको अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके विषयमें समझ लेनी चाहिये।

[1] अर्जुनकी माता कुन्ती बड़ी वीर महिला थी, उसने स्वयं श्रीकृष्णके हाथ सँदेशा भेजते समय पाण्डवोंको युद्धके लिये उत्साहित किया था। अतः भगवान् यहाँ अर्जुनको 'कौन्तेय' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम वीर माताके पुत्र हो, स्वयं भी शूरवीर हो, इसलिये तुमसे युद्ध किये बिना नहीं रहा जायगा।

* न्यायसे प्राप्त सहजकर्मको न करनेका अविवेकके अतिरिक्त दूसरा कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है।

† यहाँ भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि युद्ध तो तुम्हें अपने स्वभावके वशमें होकर करना ही पड़ेगा। इसलिये यदि मेरी आज्ञाके अनुसार अर्थात् सत्तावनवें श्लोकमें बतलायी हुई विधिके अनुसार उसे करोगे तो कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे, नहीं तो राग-द्वेषके जालमें फँसकर जन्म-मृत्युरूप संसारसागरमें गोते लगाते रहोगे।

जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें बहता हुआ मनुष्य उस प्रवाहका सामना करके नदीके पार नहीं जा सकता, वरं अपना नाश कर लेता है और जो किसी नौका या काठका आश्रय लेकर या तैरनेकी कलासे जलके ऊपर तैरता रहकर उस प्रवाहके अनुकूल चलता है, वह किनारे लगकर उसको पार कर जाता है; उसी प्रकार प्रकृतिके प्रवाहमें पड़ा हुआ जो मनुष्य प्रकृतिका सामना करता है, यानी हठसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर देता है, वह प्रकृतिसे पार नहीं हो सकता; वरं उसमें अधिक फँसता जाता है और जो परमेश्वरका या कर्मयोगका आश्रय लेकर या ज्ञानमार्गके अनुसार अपनेको प्रकृतिसे ऊपर उठाकर प्रकृतिके अनुकूल कर्म करता रहता है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त होकर प्रकृतिके पार चला जाता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

‡ यहाँ शरीरको यन्त्रका रूपक देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जैसे रेलगाड़ी आदि किन्हीं यन्त्रोंपर बैठा हुआ मनुष्य स्वयं नहीं चलता, तो भी रेलगाड़ी आदि यन्त्रके चलनेसे उसका चलना हो जाता है—उसी प्रकार यद्यपि आत्मा निश्चल है, उसका किसी भी क्रियासे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तो भी अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसका शरीरसे सम्बन्ध होनेसे उस शरीरकी क्रिया उसकी क्रिया मानी जाती है तथा ईश्वरको सब भूतोंके हृदयमें स्थित बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि यन्त्रको चलानेवाला प्रेरक जैसे स्वयं भी उस यन्त्रमें रहता है, उसी प्रकार ईश्वर भी समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित है।

§ समस्त प्राणियोंको उनके पूर्वार्जित कर्म-संस्कारोंके अनुसार फल भुगतानेके लिये बार-बार नाना योनियोंमें उत्पन्न करना तथा भिन्न-भिन्न पदार्थोंसे, क्रियाओंसे और प्राणियोंसे उनका संयोग-वियोग कराना और उनके स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार उन्हें पुनः चेष्टा करनेमें लगाना—यही भगवान्‌का उन प्राणियोंको अपनी मायाद्वारा भ्रमण कराना है।

यहाँ यदि कोई यह कहे कि कर्म करनेमें और न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र? यदि परतन्त्र है तो किसके अधीन है—प्रकृतिके या स्वभावके अथवा ईश्वरके? क्योंकि प्राणीको उनसठवें और साठवें श्लोकोंमें प्रकृति-के और स्वभावके अधीन बतलाया है तथा इस श्लोकमें ईश्वरके अधीन बतलाया है, तो कहना होगा कि कर्म करने और

सम्बन्ध—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कर्मबन्धनसे छूटकर परम शान्तिलाभ करनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये; इसपर भगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा*। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा† ॥ ६२ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको अन्तर्यामी परमेश्वरकी ग्रहण करनेके लिये आज्ञा देकर अब भगवान् उक्त उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान तुझसे कह दिया‡। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको

न करनेमें मनुष्य परतन्त्र है, इसीलिये यह कहा गया है कि कोई भी प्राणी क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह (गीता ३ । ५)। मनुष्यका जो कर्म करनेमें अधिकार बतलाया गया है, उसका अभिप्राय भी उसको स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि परतन्त्र बतलाना ही है; क्योंकि वहाँ कर्मोंके त्यागमें अशक्यता सूचित की गयी है तथा मनुष्य प्रकृतिके अधीन बतलाना, स्वभावके अधीन बतलाना और ईश्वरके अधीन बतलाना—ये तीनों बातें एक ही हैं। स्वभाव और प्रकृति तो पर्यायवाची शब्द हैं और ईश्वर स्वयं निरपेक्षभावसे अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हुए ही जीवोंके प्रकृतिके अनुरूप अपनी मायाशक्तिके द्वारा उनको कर्मोंमें नियुक्त करते हैं, इसलिये ईश्वरके अधीन बतलाना प्रकृतिके अधीन बतलाना है। दूसरे पक्षमें ईश्वर ही प्रकृतिके स्वामी और प्रेरक हैं, इस कारण प्रकृतिके अधीन बतलाना भी ईश्वरके ही अधीन बतलाना है।

इसपर कोई यह कहे कि यदि मनुष्य सर्वथा ही परतन्त्र है तो फिर उसके उद्धार होनेका क्या उपाय है और लिये कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है; तो कहना होगा कि कर्तव्य-अकर्तव्यका करनेवाले शास्त्र मनुष्यको उसके स्वाभाविक कर्मोंसे हटानेके लिये या उससे स्वभावविरुद्ध कर्म करवानेके लिये नहीं हैं, उन कर्मोंको करनेमें जो राग-द्वेषके वशमें होकर वह अन्याय कर लेता है, उस अन्यायका त्याग कराकर उसे न्यायपूर्वक कर्तव्यकर्मोंमें लगानेके लिये है। इसलिये मनुष्य कर्म करनेमें स्वभावके परतन्त्र होते हुए भी उस स्वभावका सुधार करनेमें परतन्त्र नहीं है। अतएव यदि वह शास्त्र और महापुरुषोंके उपदेशसे सचेत होकर प्रकृतिके प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी शरण ग्रहण कर ले और राग-द्वेषादि विकारोंका त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने स्वाभाविक कर्मोंको निष्कामभावसे करता हुआ अपना जीवन बिताने लगे तो उसका उद्धार हो सकता है।

* भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्को ही परम प्राप्य, गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना एवं सब कुछ भगवान्का समझकर और भगवान्को सर्वव्यापी जानकर कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्के आज्ञानुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना; जो कुछ भी दुःख-सुखके भोग प्राप्त हों, उनको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सदा ही संतुष्ट रहना; भगवान्के किसी भी विधानमें कभी किंचिन्मात्र भी असंतुष्ट न होना; मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भगवान्के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना; अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर श्रवण, चिन्तन और कथन रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं।

† उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्की शरण ग्रहण करनेवाले भक्तपर परम दयालु, परम सुहृद्, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अपार दयाका स्रोत बहने लगता है—जो उसके समस्त दुःखों और बन्धनोंको सदाके लिये बहा ले जाता है। इस प्रकार भक्तका जो समस्त दुःखोंसे और समस्त बन्धनोंसे छूटकर सदाके लिये परमानन्दसे युक्त हो जाना और सच्चिदानन्दघन पूर्ण सनातन परमेश्वरको प्राप्त हो जाना है, यही परमेश्वरकी कृपासे परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त हो जाना है।

‡ भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ करके यहाँतक अर्जुनको अपने गुण, प्रभाव, और स्वरूपका रहस्य भलीभाँति समझानेके लिये जितनी बातें कही हैं—उस समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'ज्ञान' हैं; वह सारा-का-सारा उपदेश भगवान्का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाला है, इसलिये उसका नाम 'ज्ञान' रक्खा गया है। संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करा देनेवाला उपदेश सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य माना गया है; इसलिये इस उपदेशका महत्त्व समझानेके

भलीभाँति विचारकर जैसे चाहता है वैसे ही कर* ॥६३॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अर्जुनको सारे उपदेशपर विचार करके अपना कर्तव्य निर्धारित करनेके लिये कहे जानेपर भी जब अर्जुनने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे अपनेको अनधिकारी तथा कर्तव्य निश्चय करनेमें असमर्थ समझकर खिन्नचित्त हो गये, तब सबके हृदयकी बात जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् स्वयं ही अर्जुनपर कृपा करके कहने लगे—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन† । तू मेरा अतिशय प्रिय है,‡ इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो,§ मेरा भक्त बन,× मेरा पूजन करनेवाला हो+ और मुझको प्रणाम

लिये और यह बात समझानेके लिये कि अनधिकारीके सामने इन बातोंको प्रकट नहीं करना चाहिये, इस ज्ञानको अत्यन्त गोपनीय बतलाया गया है।

* गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे उपदेश आरम्भ करके भगवान्‌ने अर्जुनको सांख्ययोग और कर्मयोग, इन दोनों ही साधनोंके अनुसार स्वधर्मरूप युद्ध करना जगह-जगह (गीता २ । १८,३७; ३ । ३०; ८ । ७; ११ । ३४) कर्तव्य बतलाया तथा अपनी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा। इसपर भी कोई उत्तर न मिलनेसे पुनः अर्जुनको सावधान करनेके लिये परमेश्वरको सबका प्रेरक और सबके हृदयमें स्थित बतलाकर उसकी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा। इतनेपर भी जब अर्जुनने कुछ नहीं कहा, तब इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें उपदेशका उपसंहार करके एवं कहे हुए उपदेशका महत्त्व दिखलाकर इस वाक्यसे पुनः उसपर विचार करनेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए अन्तमें भगवान्‌ने यह कहा कि मैंने जो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि बहुत प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे तुम्हें जो साधन अच्छा मालूम पड़े, उसीका पालन करो अथवा और जो कुछ तुम ठीक समझो, वही करो।

† भगवान्‌ने यहाँतक अर्जुनको जितनी बातें कहीं, वे सभी बातें गुप्त रखनेयोग्य हैं; अतः उनको भगवान्‌ने जगह-जगह 'परम गुह्य' और 'उत्तम रहस्य' नाम दिया है। उस समस्त उपदेशमें भी जहाँ भगवान्‌ने खास अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा और ऐश्वर्यको प्रकट करके यानी मैं ही स्वयं सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, साक्षात् सगुण-निर्गुण परमेश्वर हूँ—इस प्रकार कहकर अर्जुनको अपना भजन करनेके लिये और अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है, वे वचन अधिक-से-अधिक गुप्त रखनेयोग्य हैं (गीता ९ । १-२)। वे पहले भी कहे जा चुके हैं (गीता ९। ३४; १२।६-७; १८ । ५६-५७)। अतः यहाँ भगवान्‌के कहनेका यह अभिप्राय है कि पहले कहे हुए उपदेशमें भी जो अत्यन्त गुप्त रखने योग्य सबसे अधिक महत्त्वकी बात है, वह मैं तुम्हें अगले दो श्लोकोंमें फिर कहूँगा।

‡ तिरसठवें श्लोकमें कही हुई बातको सुनकर भगवान्‌ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये स्वतन्त्र विचार करनेको कह दिया, उसका भार उन्होंने अपने ऊपर नहीं रक्खा; इस बातको सुनकर जब अर्जुनके मनमें उदासी छा गयी, वे सोचने लगे कि क्या मेरा भगवान्‌पर विश्वास नहीं है, क्या मैं इनका भक्त और प्रेमी नहीं हूँ, तब अर्जुनका शोकको दूर करनेके लिये उन्हें उत्साहित करते हुए भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, तुम्हारा और मेरा प्रेमका सम्बन्ध अटल है; अतः तुम किसी तरहका शोक मत करो।

§ भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर तथा अतिशय सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य आदि गुणोंके समुद्र समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निश्चलभावसे मनको भगवान्‌में लगा देना, क्षणमात्र भी भगवान्‌की विस्मृतिको न सह सकना 'भगवान्‌में मनवाला' होना है।

× भगवान्‌को ही एकमात्र अपना भर्ता, स्वामी, संरक्षक, परम गति और परम आश्रय समझकर सर्वथा उनके अधीन हो जाना, किंचिन्मात्र भी अपनी स्वतन्त्रता न रखना, सब प्रकारसे उनपर निर्भर रहना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना और उनकी आज्ञाका सदा पालन करना तथा उनमें अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेम करना 'भगवान्‌का भक्त बनना' है।

+ गीताके नवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकके वर्णनानुसार पत्र-पुष्पादिसे श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के विग्रहका पूजन करना; मनसे भगवान्‌का आवाहन करके उनकी मानसिक पूजा करना; उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और उनके विग्रहका सब प्रकारसे आदर-सम्मान करना तथा सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा, आदर-सत्कार करना आदि सब 'भगवान्‌की पूजा' करनेके अन्तर्गत हैं।

कर*। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा,† यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ;‡ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर§ तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा×। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा,+ तू शोक मत कर÷ ॥ ६६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भगवान् गीताके उपदेशका

---

* जिन परमेश्वरके सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार आदि अनेक रूप हैं; जो अर्जुनके सामने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश सुना रहे हैं; जिन्होंने रामरूपमें प्रकट होकर संसारमें धर्मकी मर्यादाका स्थापन किया और नृसिंहरूप धारण करके भक्त प्रह्लादका उद्धार किया—उन्हीं सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, अन्तर्यामी, परमाधार, समग्र पुरुषोत्तम भगवान्के किसी भी रूपको, चित्रको, चरणचिह्नोंको या चरणपादुकाओंको तथा उनके गुण, प्रभाव और तत्त्वका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंको साष्टाङ्ग प्रणाम करना या समस्त प्राणियोंमें उनको व्याप्त या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबको प्रणाम करना 'भगवान्‌को नमस्कार करना' है।

† जिसमें चारों साधन पूर्णरूपसे होते हैं, उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है; परंतु इनमेंसे एक-एक साधनसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं ही गीताके आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें केवल अनन्यचिन्तनसे अपनी प्राप्तिको सुलभ बतलाया है। गीताके सातवें अध्यायके तेईसवें और नवें पचीसवेंमें अपने भक्तको अपनी प्राप्ति बतलायी है और नवें अध्यायके छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवेंतक एवं इस अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें केवल पूजनसे अपनी प्राप्ति बतलायी है।

‡ अर्जुन भगवान्के प्रिय भक्त और सखा थे, अतएव उनपर प्रेम और दया करके उनका अपने ऊपर अतिशय दृढ़ विश्वास करानेके लिये और अर्जुनके निमित्तसे अन्य अधिकारी मनुष्योंका विश्वास दृढ़ करानेके लिये भगवान्‌ने कहा है कि मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ।

§ वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म कर्तव्य बतलाये गये हैं, गीताके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'कर्माणि' पदसे और इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें 'सर्व कर्माणि' पदसे जिनका वर्णन किया गया है, उन शास्त्रविहित समस्त कर्मोंको जो उन दोनों श्लोकोंकी व्याख्यामें बतलाये हुए प्रकारसे भगवान्‌में समर्पण कर देना है अर्थात् सब कुछ भगवान्‌का समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरसे तथा उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति, अभिमान और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना और केवल भगवान्के ही लिये भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार, जैसे वे करवावें, वैसे कठपुतलीकी भाँति उनको करते रहना—यही यहाँ समस्त धर्मोंका परित्याग करना है, उनका स्वरूपसे त्याग करना नहीं।

× गीताके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें, नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तथा इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परमाधार, परम प्रिय, परम हितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय तथा भर्ता, स्वामी, संरक्षक समझकर उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हरेक प्रकारसे उनकी आज्ञाओंका पालन करते समय परम श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेमसे नित्य-निरन्तर उनका चिन्तन करते रहना और उनके विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना एवं सब प्रकारसे केवलमात्र एक भगवान्‌पर ही भक्त प्रह्लादकी भाँति निर्भर रहना एकमात्र परमेश्वरकी शरणमें चला जाना है।

+ शुभाशुभ कर्मोंका फलरूप जो कर्मबन्धन है—जिससे बँधा हुआ मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे नाना योनियोंमें घूम रहा है, उस कर्मबन्धनसे मुक्त कर देना ही पापोंसे मुक्त कर देना है। इसलिये गीताके तीसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें 'कर्मभिः मुच्यन्ते' से, बारहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि' से और इस अध्यायके अट्ठावनवें श्लोकमें 'मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि' से जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ 'मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा' इस वाक्यसे कही गयी है।

÷ गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'अशोच्यान्' पदसे जिस उपदेशका उपक्रम किया था, उसका 'मा शुचः' पदसे उपसंहार करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि गीताके दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें तुम मेरी शरणागति स्वीकार कर चुके हो, अब पूर्णरूपसे मेरे शरणागत होकर तुम कुछ भी चिन्ता न करो और शोकका सर्वथा त्याग करके सदा-सर्वदा मुझ परमेश्वरपर निर्भर हो रहो। यह शोकका सर्वथा अभाव और भगवत्साक्षात्कार ही गीताका मुख्य तात्पर्य है।

इसके अब उस उपदेशके अध्यापन और अध्ययन आदिका माहात्म्य बतलानेके लिये पहले अनधिकारीके लक्षण बतलाकर उसे गीताका उपदेश सुनानेका निषेध करते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्ति-रहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये* ॥ ६७ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त† गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें‡ कहेगा,§ वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है× ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं+ ॥ ६९ ॥

---

* इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यह गीताशास्त्र बड़ा ही गुप्त रखनेयोग्य विषय है, तुम मेरे अतिशय प्रेमी भक्त और दैवी सम्पदासे युक्त हो, इसलिये इसका अधिकारी समझकर मैंने तुम्हारे हितके लिये तुम्हें यह उपदेश दिया है। अतः जो मनुष्य स्वधर्मपालनरूप तप करनेवाला न हो, ऐसे मनुष्यको मेरे गुण, प्रभाव और तत्त्वके वर्णनसे भरपूर यह गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये।

तथा जिसका मुझ परमेश्वरमें विश्वास, प्रेम और पूज्यभाव नहीं है, जो अपनेको ही सर्वे-सर्वा समझनेवाला नास्तिक है—ऐसे मनुष्यको भी यह अत्यन्त गोपनीय गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये।

इसी प्रकार यदि कोई अपने धर्मका पालनरूप तप भी करता हो; किंतु गीताशास्त्रमें श्रद्धा और प्रेम न होनेके कारण वह उसे सुनना न चाहता हो, तो उसे भी यह परम गोपनीय शास्त्र नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि ऐसा मनुष्य उसको ग्रहण नहीं कर सकता, इससे मेरे उपदेशका और मेरा अनादर होता है।

एवं संसारका उद्धार करनेके लिये सगुणरूपसे प्रकट मुझ परमेश्वरमें जिसकी दोषदृष्टि है, जो मेरे गुणोंमें दोषारोपण करके मेरी निन्दा करनेवाला है—ऐसे मनुष्यको तो किसी भी हालतमें यह उपदेश नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि वह मेरे गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यको न सह सकनेके कारण इस उपदेशको सुनकर मेरी पहलेसे भी अधिक अवज्ञा करेगा, अतः वह अधिक पापका भागी होगा।

† यह उपदेश मनुष्यको संसारबन्धनसे छुड़ाकर साक्षात् परमेश्वरकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे अत्यन्त ही श्रेष्ठ और गुप्त रखनेयोग्य है।

‡ इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो मुझको समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाले, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर समझकर मुझमें प्रेम करता है; जिसके चित्तमें मेरे गुण, प्रभाव, लीला और तत्त्वकी बातें सुननेकी उत्सुकता रहती है और सुनकर प्रसन्नता होती है—वह मेरा भक्त है। उसमें पूर्वश्लोकमें वर्णित चारों दोषोंका अभाव अपने-आप हो जाता है। इसलिये जो मेरा भक्त है, वही इसका अधिकारी है तथा सभी मनुष्य—चाहे किसी भी वर्ण और जातिके क्यों न हों—मेरे भक्त बन सकते हैं(गीता ९। ३२); अतः वर्ण और जाति आदिके कारण इसका कोई भी अनधिकारी नहीं है।

§ स्वयं भगवान्‌में या उनके वचनोंमें अतिशय श्रद्धायुक्त होकर एवं भगवान्‌के नाम, गुण, लीला, प्रभाव और स्वरूपकी स्मृतिसे उनके प्रेममें विह्वल होकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके ही लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त भगवद्भक्तोंमें इस गीताशास्त्रका वर्णन करना, इसके मूल श्लोकोंका अध्ययन कराना, उनकी व्याख्या करके अर्थ समझाना, शुद्ध पाठ करवाना, उनके भावोंको भलीभाँति प्रकट करना और समझाना, श्रोताओंकी शङ्काओंका समाधान करके गीताके उपदेशको उनके हृदयमें जमा देना और गीताके उपदेशानुसार चलनेकी उनमें दृढ़ भावना उत्पन्न कर देना आदि सभी क्रियाएँ भगवान्‌में परम प्रेम करके भगवान्‌के भक्तोंमें गीताका कथन करना है।

× इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि गीताशास्त्रका उपर्युक्त प्रकारसे प्रचार करना—यह मेरी प्राप्तिका ऐकान्तिक उपाय है; इसलिये मेरी प्राप्ति चाहनेवाले अधिकारी भक्तोंको इस गीताशास्त्रके कथन तथा प्रचारका कार्य अवश्य करना चाहिये।

+ यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा और जप, ध्यान आदि जितने भी मेरे प्रिय कार्य हैं, उन सबसे बढ़कर 'मेरे भावोंको मेरे भक्तोंमें विस्तार करना' मुझे अधिक प्रिय है। इस कारण जो मेरा प्रेमी भक्त मेरे भावोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें विस्तार करता है, वही सबसे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला है; उससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं। केवल इस समय ही उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय कार्य करनेवाला नहीं है, यही बात नहीं है; किंतु उससे बढ़कर मेरा प्यारा काम करनेवाला कोई हो सकेगा, यह भी सम्भव नहीं है। इसलिये मेरी प्राप्तिके जितने

सम्बन्ध—इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकोंमें गीताशास्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवद्भक्तोंमें विस्तार करनेका फल और माहात्म्य बतलाया; किंतु सभी मनुष्य इस कार्यको नहीं कर सकते, इसका अधिकारी तो कोई विरला ही होता है। इसलिये अब गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

जो पुरुष इस धर्ममय* हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा,† उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे‡ पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है॥ ७०॥

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाकर, अब जो उपर्युक्त प्रकारसे अध्ययन करनेमें असमर्थ हैं—ऐसे मनुष्यके लिये उसके श्रवणका फल बतलाते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणा

जो मनुष्य§ श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित हो इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा,× वह भी पापोंसे होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा

सम्बन्ध—इस प्रकार गीताशास्त्रके कथन, पठन और श्र माहात्म्य बतलाकर अब भगवान् स्वयं सब कुछ जानते हुए अर्जुनको सचेत करनेके लिये उससे उसकी स्थिति पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥ ७

हे पार्थ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचि से श्रवण किया?÷ और हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञानज मोह नष्ट हो गया?ऽ॥ ७२॥

भी साधन हैं, उन सबमें यह 'भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें मेरे भावोंका विस्तार करनारूप' साधन सर्वोत्तम है—ऐसा समझकर भक्तोंको यह कार्य करना चाहिये।

* यह साक्षात् परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ शास्त्र है; इस कारण इसमें जो कुछ उपदेश दिया गया है, सब-का-सब धर्मसे ओतप्रोत है।

† गीताका मर्म जाननेवाले भगवान्‌के भक्तोंसे इस गीताशास्त्रको पढ़ना, इसका नित्य पाठ करना, इसके पाठ करना, अर्थपर विचार करना और इसके अर्थको जाननेवाले भक्तोंसे इसके अर्थको समझनेकी चेष्टा करना आदि अभ्यास गीताशास्त्रको पढ़नेके अन्तर्गत है।

श्लोकोंका अर्थ बिना समझे इस गीताको पढ़ने और उसका नित्य पाठ करनेकी अपेक्षा उसके अर्थको भी साथ पढ़ना और अर्थज्ञानके सहित उसका नित्य पाठ करना अधिक उत्तम है; तथा उसके अर्थको समझकर पढ़ते या करते समय प्रेममें विह्वल होकर भावान्वित हो जाना उससे भी अधिक उत्तम है।

‡ इस गीताशास्त्रका अध्ययन करनेसे मनुष्यको मेरे सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार तत्त्वका भलीभाँति ज्ञान हो जाता है। अतः इस गीताशास्त्रका अध्ययन करना ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी पूजा करना है; क्योंकि सभी साधनोंका अन्तिम फल भगवान्‌के तत्त्वको भलीभाँति जान लेना है और वह फल इस ज्ञानयज्ञसे अनायास ही मिल जाता है।

§ जिसके अंदर इस गीताशास्त्रको श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेकी भी रुचि नहीं है, वह तो मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है; क्योंकि उसका मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ हो रहा है। इस कारण वह मनुष्यके रूपमें पशुके ही तुल्य है।

× भगवान्‌की सत्तामें और उनके गुण-प्रभावमें विश्वास करके तथा यह गीताशास्त्र साक्षात् भगवान्‌की ही वाणी है, इसमें जो कुछ भी कहा गया है सब-का-सब यथार्थ है—ऐसा निश्चयपूर्वक मानकर और उसके वक्तापर विश्वास करके प्रेम और रुचिके साथ गीताजीके मूल श्लोकोंके पाठका या उसके अर्थकी व्याख्याका श्रवण करना, यह श्रद्धासे युक्त होकर गीताशास्त्रका श्रवण करना है और उसका श्रवण करते समय भगवान्‌पर या भगवान्‌के वचनोंपर किसी प्रकारका दोषारोपण न करना—यह दोषदृष्टिसे रहित होकर उसका श्रवण करना है।

+ जो अड़सठवें श्लोकके वर्णनानुसार इस गीताशास्त्रका दूसरोंको अध्ययन कराता है तथा जो सत्तरवें श्लोकके कथनानुसार स्वयं अध्ययन करता है, उन लोगोंकी तो बात ही क्या है, पर जो इसका श्रद्धापूर्वक श्रवणमात्र भी कर पाता है, वह भी जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंके और नरकके हेतुभूत पापकर्मसे छूटकर इन्द्रलोकसे लेकर भगवान्‌के परमधामपर्यन्त अपने-अपने प्रेम और श्रद्धाके अनुरूप भिन्न-भिन्न लोकोंको प्राप्त हो जाता है।

÷ भगवान्‌के इस प्रश्नका अभिप्राय यह है कि मेरा यह उपदेश बड़ा ही दुर्लभ है, मैं हरेक मनुष्यके सामने मैं ही साक्षात् परमेश्वर हूँ, तू मेरी ही शरणमें आ जा' इत्यादि बातें नहीं कह सकता; इसलिये तुमने मेरे उपदेशको भलीभाँति ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न? क्योंकि यदि कहीं तुमने उसपर ध्यान न दिया होगा तो तुमने निःसंदेह बड़ी भूल की है।

ऽ भगवान्‌के इस प्रश्नका भाव यह है कि जिस मोहसे युक्त होकर तुम धर्मके विषयमें अपनेको मूढचेता बतला रहे (गीता २।७) तथा अपने स्वधर्मका पालन करनेमें पाप समझ रहे थे (गीता १। ३६ से ३९) और समस्त कर्तव्यकर्मोंका त्याग करके भिक्षाके अन्नसे जीवन बिताना श्रेष्ठ समझ रहे थे (गीता २। ५) एवं जिसके कारण तुम स्वजन-वधके भयसे व्याकुल होरहे (गीता १। ४५-४७) और अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाते थे (गीता २। ६-७)—तुम्हारा वह अज्ञानजनित मो

मोह-नाश

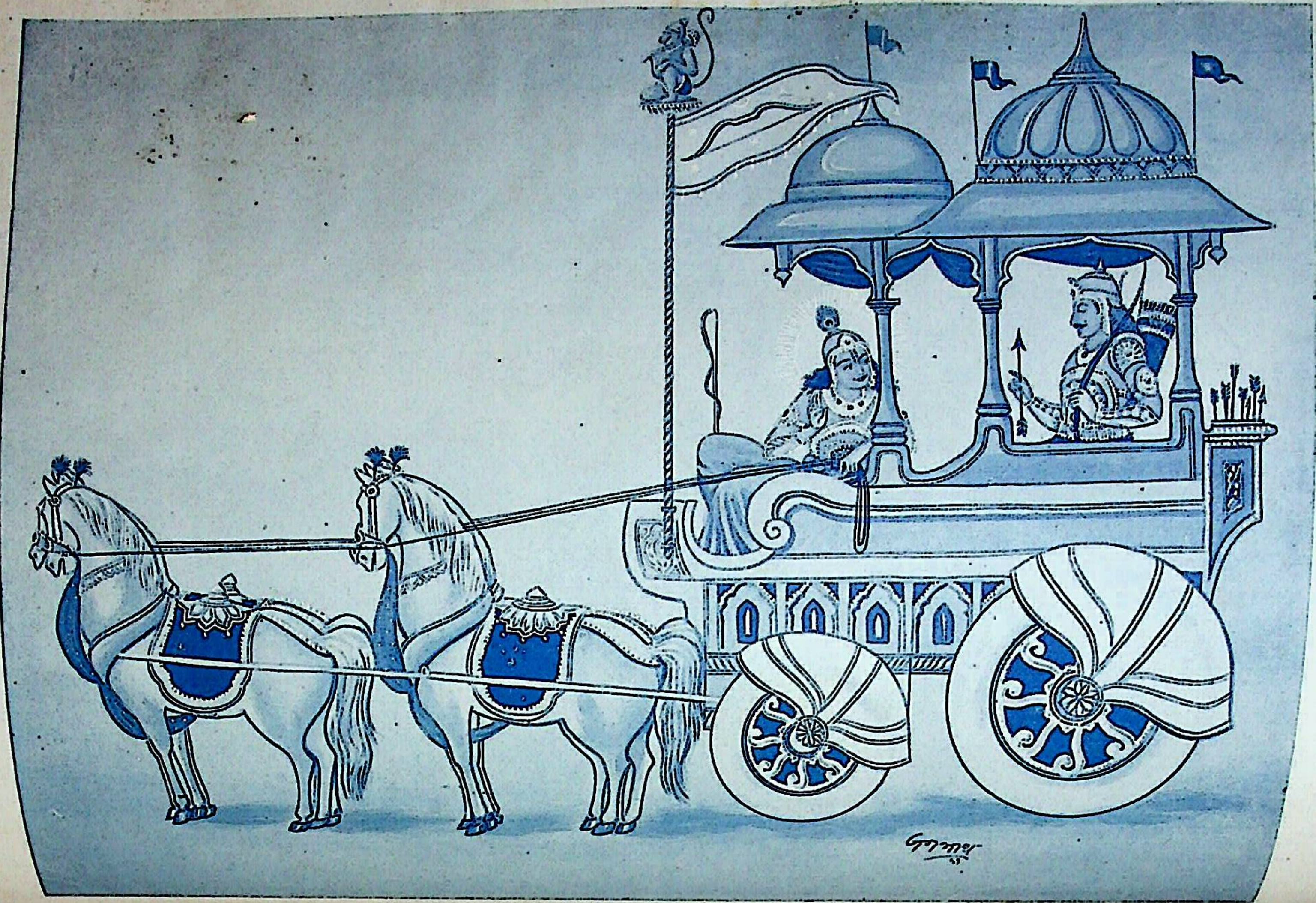

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशय-रहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा*॥

सम्बन्ध—इस प्रकार धृतराष्ट्रके प्रश्नानुसार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हुए संजय धृतराष्ट्रके सामने गीताका महत्त्व प्रकट करते हैं—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवाद-को सुना† ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥

श्रीव्यासजीकी कृपासे‡ दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको§ अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है ॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्य-युक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ× ॥ ७६ ॥

मोह नष्ट हो गया या नहीं ? यदि मेरे उपदेशको तुमने ध्यानपूर्वक सुना होगा तो अवश्य ही तुम्हारा मोह नष्ट हो जाना चाहिये और यदि तुम्हारा मोह नष्ट नहीं हुआ है तो यही मानना पड़ेगा कि तुमने उस उपदेशको एकाग्रचित्तसे नहीं सुना ।

यहाँ भगवान्‌के इन दोनों प्रश्नोंमें यह उपदेश भरा हुआ है कि मनुष्यको इस गीताशास्त्रका अध्ययन और श्रवण बड़ी सावधानीके साथ एकाग्रचित्तसे तत्पर होकर करना चाहिये और जबतक अज्ञानजनित मोहका सर्वथा नाश न हो जाय तबतक यह समझना चाहिये कि अभीतक मैं भगवान्‌के उपदेशको यथार्थ नहीं समझ सका हूँ, अतः पुनः उसपर श्रद्धा और विवेकपूर्वक विचार करना आवश्यक है ।

* अर्जुनके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपने यह दिव्य उपदेश सुनाकर मुझपर बड़ी भारी दया की है, आपके उपदेशको सुननेसे मेरा अज्ञानजनित मोह सर्वथा नष्ट हो गया है अर्थात् आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको यथार्थ न जाननेके कारण जिस मोहसे व्याप्त होकर मैं आपकी आज्ञाको माननेके लिये तैयार नहीं होता था (गीता २ । ९) और बन्धु-बान्धवोंके विनाशका भय करके शोकसे व्याकुल हो रहा था (गीता १ । २८ से ४७ तक)—वह सब मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है तथा मुझे आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपकी पूर्ण स्मृति प्राप्त हो गयी है और आपका समग्र रूप मेरे प्रत्यक्ष हो गया है—मुझे कुछ भी अज्ञात नहीं रहा है। अब आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके विषयमें तथा धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य आदिके विषयमें मुझे किंचिन्मात्र भी संशय नहीं रहा है । आपकी दयासे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे लिये अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा; अतएव आपके कथनानुसार लोकसंग्रहके लिये युद्धादि समस्त कर्म जैसे आप करवायेंगे, निमित्तमात्र बनकर लीलारूपसे मैं वैसे ही करूँगा ।

† संजयके कथनका यह भाव है कि साक्षात् नर-ऋषिके अवतार महात्मा अर्जुनके पूछनेपर सबके हृदयमें निवास करनेवाले सर्वव्यापी परमेश्वर श्रीकृष्णके द्वारा यह उपदेश दिया गया है, इस कारण यह बड़े ही महत्त्वका है तथा यह उपदेश बड़ा ही आश्चर्यजनक और असाधारण है; इससे मनुष्यको भगवान्‌के दिव्य अलौकिक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त स्वरूपका पूर्ण ज्ञान हो जाता है तथा मनुष्य इसे जैसे-जैसे सुनता और समझता है, वैसे-ही-वैसे हर्ष और आश्चर्यके कारण उसका शरीर पुलकित हो जाता है, उसके समस्त शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है ।

‡ संजयके कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान् व्यासजीने दया करके जो मुझे दिव्य दृष्टि अर्थात् दूर देशमें होने-वाली समस्त घटनाओंको देखने, सुनने और समझने आदिकी अद्भुत शक्ति प्रदान की है, उसीके कारण आज मुझे भगवान्-से यह दिव्य उपदेश सुननेके लिये मिला; नहीं तो मुझे ऐसा सुयोग कैसे मिलता !

§ भगवान्‌की प्राप्तिके उपायभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग आदि साधनोंका इसमें भलीभाँति वर्णन किया गया है तथा वह स्वयं भी अर्थात् श्रद्धापूर्वक इसका पाठ भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन होनेसे योगरूप ही है ।

× संजयके कथनका यह भाव है कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका दिव्य संवादरूप यह गीताशास्त्र अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन और वर्णन आदि करनेवाले मनुष्यको परम पवित्र करके उसका सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला तथा भगवान्‌के आश्चर्यमय गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, तत्त्व, रहस्य और स्वरूपको बतानेवाला है; अतः यह अत्यन्त ही पवित्र, दिव्य एवं अलौकिक है । इस उपदेशने मेरे हृदयको इतना आकर्षित कर लिया है कि अब मुझे दूसरी कोई बात ही अच्छी नहीं लगती; मेरे मनमें बार-बार उस उपदेशकी स्मृति हो रही है और उन भावोंके आवेशमें मैं असीम [illegible] अनुभव कर रहा हूँ, प्रेम और हर्षके कारण विह्वल हो रहा हूँ ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः[1]।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

हे राजन्! श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ* ॥ ७७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए गीताके उपदेशकी और भगवान्‌के अद्भुत रूपकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट करके, अब संजय धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंकी विजयकी नि सम्भावना प्रकट करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

हे राजन्! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है† ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ भीष्मपर्वणि तु द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८॥ भीष्मपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥४२॥

◆

'श्रीमद्भगवद्गीता' 'आनन्दचिद्घन' षडैश्वर्यपूर्ण चराचरवन्दित परमपुरुषोत्तम, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। यह अनन्त रहस्योंसे पूर्ण है। परम दयामय भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही किसी अंशमें इसका रहस्य समझमें आ सकता है। जो पुरुष परम श्रद्धा और प्रेममयी विशुद्ध भक्तिसे अपने हृदयको भरकर भगवद्गीताका मनन करते हैं, वे ही भगवत्-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके गीताके स्वरूपका किसी अंशमें अनुभव कर सकते हैं। अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको उचित है कि वे भक्तवर अर्जुनको आदर्श मानकर अपनेमें अर्जुनके-से दैवी गुणोंका अर्जन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका श्रवण-मनन और अध्ययन करें एवं भगवान्‌के आज्ञानुसार यथायोग्य तत्परताके साथ साधनमें लग जायँ। जो पुरुष इस प्रकार करते हैं, उनके अन्तःकरणमें नित्य नये-नये परमानन्ददायक अनुपम और दिव्य भावोंकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं तथा वे सर्वथा शुद्धान्तःकरण होकर भगवान्‌की अलौकिक कृपा-सुधाका रसास्वादन करते हुए शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं।

◆

---

[1] भगवान् श्रीकृष्णके गुण, प्रभाव, लीला, ऐश्वर्य, महिमा, नाम और स्वरूपका श्रवण, मनन, कीर्तन, दर्शन और स्पर्श आदिके द्वारा उनके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध हो जानेसे वे मनुष्यके समस्त पापोंको, अज्ञानको और दुःखोंको हरण कर लेते हैं तथा वे अपने भक्तोंके मनको चुरानेवाले हैं; इसलिये उन्हें 'हरि' कहते हैं।

* जिस अत्यन्त आश्चर्यमय दिव्य विश्वरूपका भगवान्‌ने अर्जुनको दर्शन कराया था और जिसके दर्शनका महत्त्व भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वयं बतलाया है, उसी विराट् स्वरूपको लक्ष्य करके संजय यह कह रहे हैं कि भगवान्‌का वह रूप मेरे चित्तसे उतरता ही नहीं, उसे मैं बार-बार स्मरण करता रहता हूँ और मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि भगवान्‌के अतिशय दुर्लभ उस दिव्य रूपका दर्शन मुझे कैसे हो गया! मेरा तो ऐसा कुछ भी पुण्य नहीं था, जिससे मुझे ऐसे रूपके दर्शन हो सकते। अहो! इसमें केवलमात्र भगवान्‌की अहैतुकी दया ही कारण है। साथ ही उस रूपके अत्यन्त अद्भुत दृश्योंको और घटनाओंको याद कर-करके भी मुझे बड़ा आश्चर्य होता है तथा उसे बार-बार याद करके मैं हर्ष और प्रेममें विह्वल भी हो रहा हूँ; मेरे आनन्दका पारावार नहीं है।

† यहाँ संजयके कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त योगशक्तियोंके स्वामी हैं; वे अपनी दैवी शक्तिसे क्षणभरमें समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार कर सकते हैं; वे साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्ण जिस धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक हैं, उसकी विजयमें क्या शङ्का है।

इसके सिवा अर्जुन भी नर ऋषिके अवतार, भगवान्‌के प्रिय सखा और गाण्डीव-धनुषके धारण करनेवाले महान् वीर पुरुष हैं; वे भी अपने भाई युधिष्ठिरकी विजयके लिये कटिबद्ध हैं। अतः आज उस युधिष्ठिरकी बराबरी दूसरा कौन कर सकता है; क्योंकि जहाँ सूर्य रहता है, प्रकाश उसके साथ ही रहता है—उसी प्रकार जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन रहते हैं, वहीं सम्पूर्ण शोभा, सारा ऐश्वर्य और अटल न्याय (धर्म)—ये सब उनके साथ-साथ रहते हैं और जिस पक्षमें धर्म रहता है, उसीकी विजय होती है। अतः पाण्डवोंकी विजयमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं है। यदि अब भी तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अपने पुत्रोंको समझाकर पाण्डवोंसे संधि कर लो।

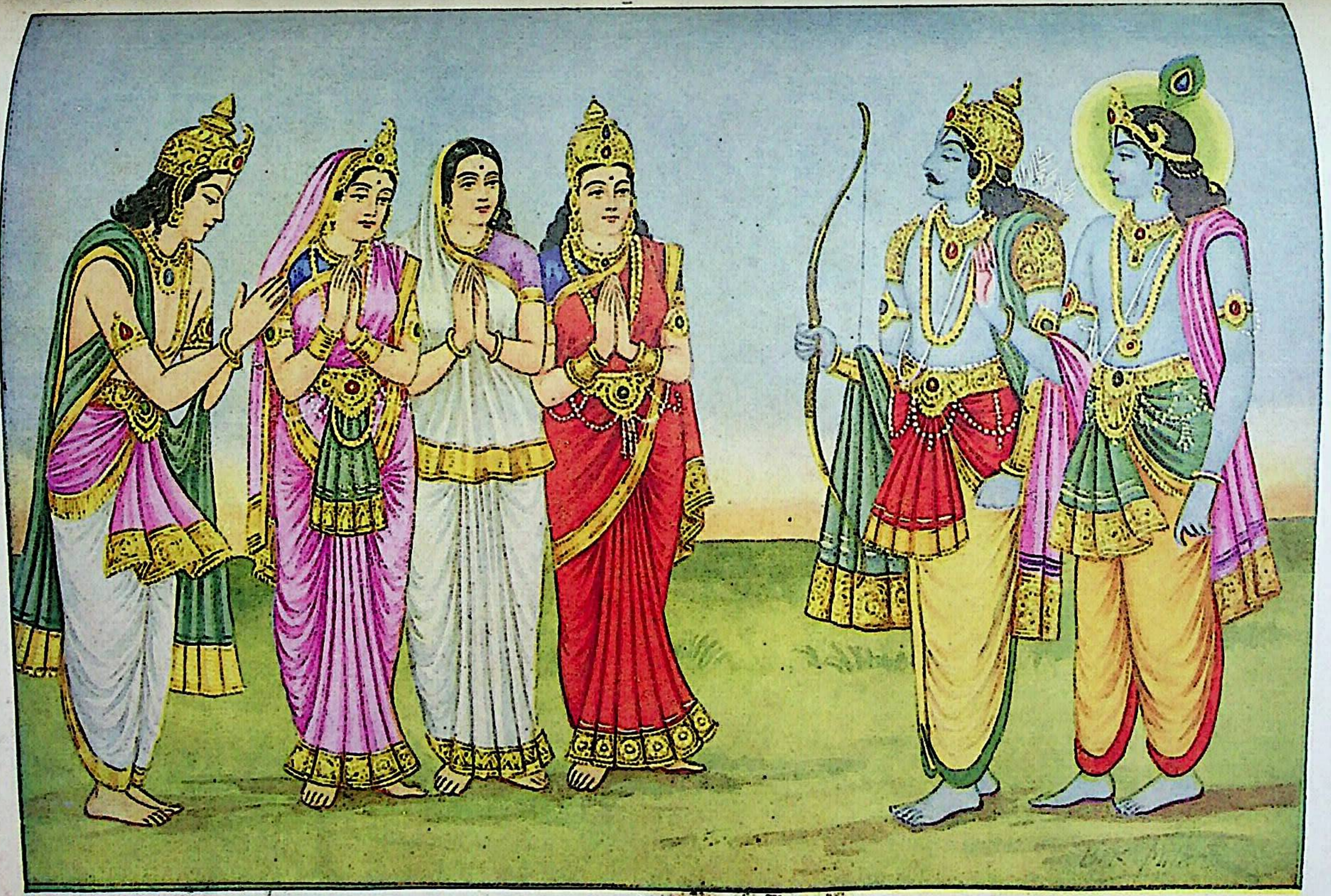

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ विजय, विभूति, नीति और श्री

महाभारत

संस्कृत
मूल

संस्कृत
मूल

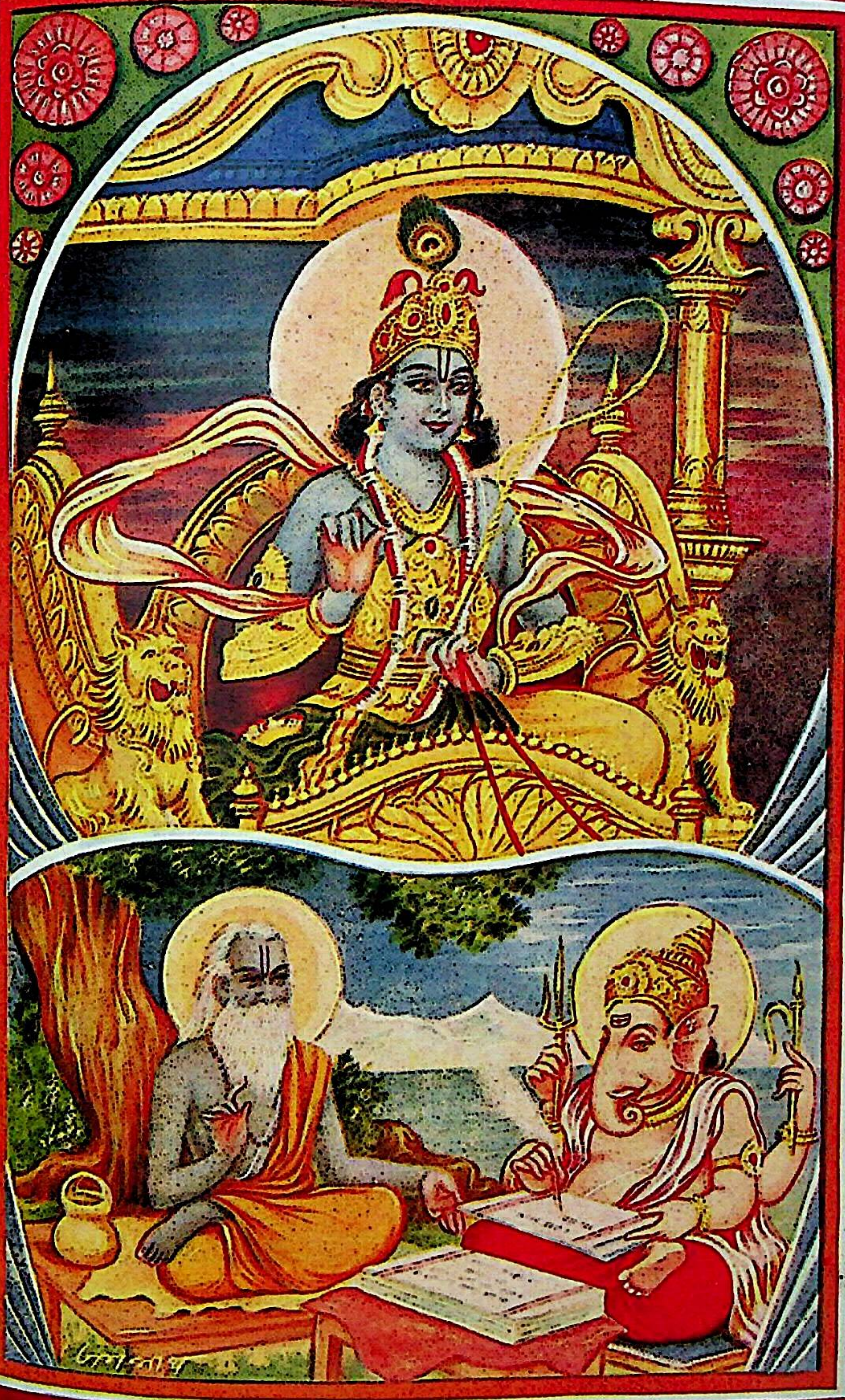

हिन्दी
अनुवाद

हिन्दी
अनुवाद

वर्ष २

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या ३

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

पाण्डे पट्टी

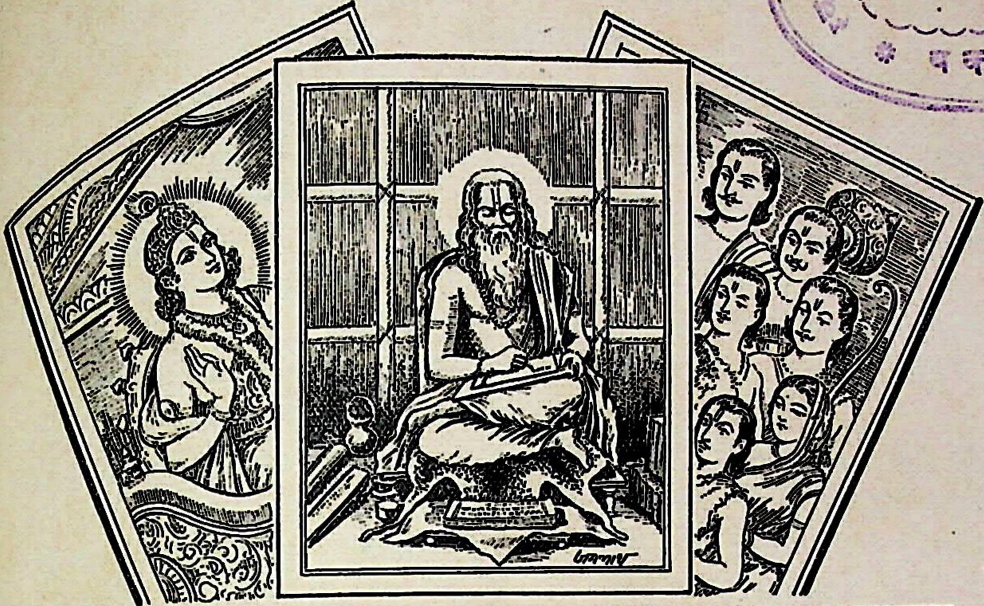

▼ महाभारत ▼

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

२ } गोरखपुर, पौष २०१३, जनवरी १९५७ { संख्या ३
पूर्ण संख्या १५

करुणामय मुकुन्द

मायातीतोऽप्यसङ्गो निगमशिखरगीर्लक्ष्य आनन्दकन्दः
प्रत्यग्धामाच्युतश्रीर्द्रुहिणशिवमुखैर्वन्दिताङ्घ्री रमेशः ।
कारुण्यादुद्दिधीर्षुः कलियुगजनतां पार्थयन्तृत्वमाप
स्थित्वा युद्धाङ्गणे यः स्वजनहृदि बभौ संश्रये तं मुकुन्दम् ॥

जो मायासे परे, असङ्ग, उपनिषदोंकी वाणीद्वारा उपलक्षित होनेवाले, आनन्दकन्द, अन्तःकरणमें प्रकाशित ज्योतिस्वरूप और लक्ष्मीके पति हैं, लक्ष्मी जिनसे कभी विलग नहीं होती हैं, ब्रह्मा और शिव आदि देवता जिनके युगल चरणारविन्दोंकी वन्दना करते हैं, जो करुणावश कलियुगकी जनताका उद्धार करनेके लिये पार्थके सारथि हुए तथा समराङ्गणमें स्थित होकर भी जो निरन्तर अपने स्वजन (भीष्म आदि भक्त जन) के हृदयमें विराजमान हुए, उन भगवान् मुकुन्दकी मैं शरण लेता हूँ ।

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरि

विषय-सूची

(भीष्मवधपर्व)

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या
४३	गीताका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरका भीष्म, द्रोण, कृप और शल्यसे अनुमति लेकर युद्धके लिये तैयार होना ··· ···	२८१३
४४	कौरव-पाण्डवोंके प्रथम दिनके युद्धका आरम्भ	२८२१
४५	उभय पक्षके सैनिकोंका द्वन्द्व-युद्ध ···	२८२३
४६	कौरव-पाण्डवसेनाका घमासान युद्ध ···	२८२८
४७	भीष्मके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध, शल्यके द्वारा उत्तरकुमारका वध और श्वेतका पराक्रम ··· ···	२८३१
४८	श्वेतका महाभयंकर पराक्रम और भीष्मके द्वारा उसका वध ··· ···	२८३६
४९	शङ्खका युद्ध, भीष्मका प्रचण्ड पराक्रम तथा प्रथम दिनके युद्धकी समाप्ति ···	२८४३
५०	युधिष्ठिरकी चिन्ता, भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आश्वासन, धृष्टद्युम्नका उत्साह तथा द्वितीय दिनके युद्धके लिये क्रौञ्चारुण व्यूहका निर्माण	२८४६
५१	कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना तथा दोनों दलोंमें शङ्खध्वनि और सिंहनाद ··· ···	२८५०
५२	भीष्म और अर्जुनका युद्ध ···	२८५२
५३	धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका युद्ध ···	२८५७
५४	भीमसेनका कलिंगों और निषादोंसे युद्ध, भीमसेनके द्वारा शक्रदेव, भानुमान् और केतुमान्का वध तथा उनके बहुत-से सैनिकोंका संहार ··· ···	२८५९
५५	अभिमन्यु और अर्जुनका पराक्रम तथा दूसरे दिनके युद्धकी समाप्ति ··· ···	२८६७
५६	तीसरे दिन—कौरव-पाण्डवोंकी व्यूह-रचना तथा युद्धका आरम्भ ··· ···	२८७०
५७	उभयपक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध ···	२८७१
५८	पाण्डव-वीरोंका पराक्रम, कौरव-सेनामें भगदड़ तथा दुर्योधन और भीष्मका संवाद ···	२८७४
५९	भीष्मका पराक्रम, श्रीकृष्णका भीष्मको मारनेके लिये उद्यत होना, अर्जुनकी प्रतिज्ञा और उनके द्वारा कौरवसेनाकी पराजय, तृतीय दिवसके युद्धकी समाप्ति ···	२८७७
६०	चौथे दिन—दोनों सेनाओंका व्यूहनिर्माण तथा भीष्म और अर्जुनका द्वैरथ-युद्ध ···	२८८८
६१	अभिमन्युका पराक्रम और धृष्टद्युम्नद्वारा शलके पुत्रका वध ··· ···	२८९१
६२	धृष्टद्युम्न और शल्य आदि दोनों पक्षके वीरोंका युद्ध तथा भीमसेनके द्वारा गजसेनाका संहार	२८९३
६३	युद्धस्थलमें प्रचण्ड पराक्रमकारी भीमसेनका भीष्मके साथ युद्ध तथा सात्यकि और भूरिश्रवाकी मुठभेड़ ··· ···	२८९७
६४	भीमसेन और घटोत्कचका पराक्रम, कौरवोंकी पराजय तथा चौथे दिनके युद्धकी समाप्ति ···	२९००
६५	धृतराष्ट्र-संजय-संवादके प्रसङ्गमें दुर्योधनके द्वारा पाण्डवोंकी विजयका कारण पूछनेपर भीष्मका ब्रह्माजीके द्वारा की हुई भगवत्-स्तुतिका कथन	२९०५
६६	नारायणावतार श्रीकृष्ण एवं नरावतार अर्जुनकी महिमाका प्रतिपादन ···	२९१०
६७	भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा ···	२९१३
६८	ब्रह्मभूतस्तोत्र तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महत्ता ··· ···	२९१५
६९	कौरवोंद्वारा मकरव्यूह तथा पाण्डवोंद्वारा श्येनव्यूहका निर्माण एवं पाँचवें दिनके युद्धका आरम्भ ··· ···	२९१६
७०	भीष्म और भीमसेनका घमासान युद्ध ···	२९१८
७१	भीष्म, अर्जुन आदि योद्धाओंका घमासान युद्ध	२९२०
७२	दोनों सेनाओंका परस्पर घोर युद्ध ···	२९२३
७३	विराट-भीष्म, अश्वत्थामा-अर्जुन, दुर्योधन-भीमसेन तथा अभिमन्यु और लक्ष्मणके द्वन्द्वयुद्ध ··· ···	२९२५
७४	सात्यकि और भूरिश्रवाका युद्ध, भूरिश्रवाद्वारा सात्यकिके दस पुत्रोंका वध, अर्जुनका पराक्रम तथा पाँचवें दिनके युद्धका उपसंहार ···	२९२८
७५	छठे दिनके युद्धका आरम्भ, पाण्डव तथा कौरवसेनाका क्रमशः मकरव्यूह एवं क्रौञ्चव्यूह बनाकर युद्धमें प्रवृत्त होना ···	२९३१
७६	धृतराष्ट्रकी चिन्ता ··· ···	२९३३
७७	भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका पराक्रम	२९३५
७८	उभय पक्षकी सेनाओंका संकुल युद्ध ···	२९४०
७९	भीमसेनके द्वारा दुर्योधनकी पराजय, अभिमन्यु और द्रौपदीपुत्रोंका धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ युद्ध तथा छठे दिनके युद्धकी समाप्ति ···	२९४३

अध्याय विषय पृष्ठ-संख्या

८०—भीष्मद्वारा दुर्योधनको आश्वासन तथा सातवें दिनके युद्धके लिये कौरवसेनाका प्रस्थान ··· २९४७
८१—सातवें दिनके युद्धमें कौरव-पाण्डव-सेनाओंका मण्डल और वज्रव्यूह बनाकर भीषण संघर्ष ··· २९४९
८२—श्रीकृष्ण और अर्जुनसे डरकर कौरव-सेनामें भगदड़, द्रोणाचार्य और विराटका युद्ध, विराट-पुत्र शङ्खका वध, शिखण्डी और अश्वत्थामाका युद्ध, सात्यकिके द्वारा अलम्बुषकी पराजय, धृष्टद्युम्नके द्वारा दुर्योधनकी हार तथा भीमसेन और कृतवर्माका युद्ध ··· ··· २९५२
८३—इरावान्‌के द्वारा विन्द और अनुविन्दकी पराजय, भगदत्तसे घटोत्कचका हारना तथा मद्रराजपर नकुल और सहदेवकी विजय ··· ··· २९५६
८४—युधिष्ठिरसे राजा श्रुतायुका पराजित होना, युद्धमें चेकितान और कृपाचार्यका मूर्छित होना, भूरिश्रवासे धृष्टकेतुका और अभिमन्युसे चित्रसेन आदिका पराजित होना एवं सुशर्मा आदिसे अर्जुनका युद्धारम्भ ··· ··· २९६०
८५—अर्जुनका पराक्रम, पाण्डवोंका भीष्मपर आक्रमण, युधिष्ठिरका शिखण्डीको उपालम्भ और भीमका पुरुषार्थ ··· ··· २९६४
८६—भीष्म और युधिष्ठिरका युद्ध, धृष्टद्युम्न और सात्यकिके साथ विन्द और अनुविन्दका संग्राम, द्रोण आदिका पराक्रम और सातवें दिनके युद्धकी समाप्ति ··· ··· २९६८
८७—आठवें दिन व्यूहबद्ध कौरव-पाण्डव-सेनाओंकी रणयात्रा और उनका परस्पर घमासान युद्ध ··· २९७२
८८—भीष्मका पराक्रम, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके आठ पुत्रोंका वध तथा दुर्योधन और भीष्मकी युद्धविषयक बातचीत ··· ··· २९७४

अध्याय विषय

८९—कौरव-पाण्डव-सेनाका घमासान युद्ध और भयानक जनसंहार ··· ··· [illegible]
९०—इरावान्‌के द्वारा शकुनिके भाइयोंका तथा राक्षस अलम्बुषके द्वारा इरावान्‌का वध ··· [illegible]
९१—घटोत्कच और दुर्योधनका भयानक युद्ध ··· [illegible]
९२—घटोत्कचका दुर्योधन एवं द्रोण आदि प्रमुख वीरोंके साथ भयंकर युद्ध ··· ··· [illegible]
९३—घटोत्कचकी रक्षाके लिये आये हुए भीम आदि शूरवीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध और उनका पलायन ··· ··· [illegible]
९४—दुर्योधन और भीमसेनका एवं अश्वत्थामा और राजा नीलका युद्ध तथा घटोत्कचकी मायासे मोहित होकर कौरवसेनाका पलायन ··· [illegible]
९५—दुर्योधनके अनुरोध और भीष्मजीकी आज्ञासे भगदत्तका घटोत्कच, भीमसेन और पाण्डव-सेनाके साथ घोर युद्ध ··· ··· [illegible]
९६—इरावान्‌के वधसे अर्जुनका दुःखपूर्ण उद्गार, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके नौ पुत्रोंका वध, अभिमन्यु और अम्बष्ठका युद्ध, युद्धकी भयानक स्थितिका वर्णन तथा आठवें दिनके युद्धका उपसंहार ··· ··· ··· ३००१
९७—दुर्योधनका अपने मन्त्रियोंसे सलाह करके भीष्मसे पाण्डवोंको मारने अथवा कर्णको युद्धके लिये आज्ञा देनेका अनुरोध करना ··· ··· ३००३
९८—भीष्मका दुर्योधनको अर्जुनका पराक्रम बताना और भयंकर युद्धके लिये प्रतिज्ञा करना तथा प्रातःकाल दुर्योधनके द्वारा भीष्मकी रक्षाकी व्यवस्था ··· ··· ··· ३००९

* * *

चित्र-सूची

१—महाभारत-लेखन (तिरंगा) ··· मुखपृष्ठ
२—भीष्मपितामहपर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा ··· (तिरंगा) ··· २८१३
३—श्रीकृष्ण एवं भाइयोंसहित युधिष्ठिरका भीष्मको प्रणाम करके उनसे युद्धके लिये आज्ञा माँगना ··· (एकरंगा) ··· २८१५
४—भीष्म और अर्जुनका युद्ध (तिरंगा) ··· २८९०
५—भीमसेन और भीष्मका युद्ध (एकरंगा) ··· २९२०
६—अभिमन्युका युद्ध-कौशल (,,) ··· २९२७
७—भीमसेनके बाणसे मूर्च्छित दुर्योधन (,,) ··· २९४४
८—अर्जुनका व्यूहबद्ध कौरव-सेनाकी ओर श्रीकृष्णका ध्यान आकृष्ट करना (एकरंगा) ··· २९५१
९—आकाशमें स्थित हुए घटोत्कचकी गर्जना और दुर्योधनके साथ उसका युद्ध (एकरंगा) ··· २९९१

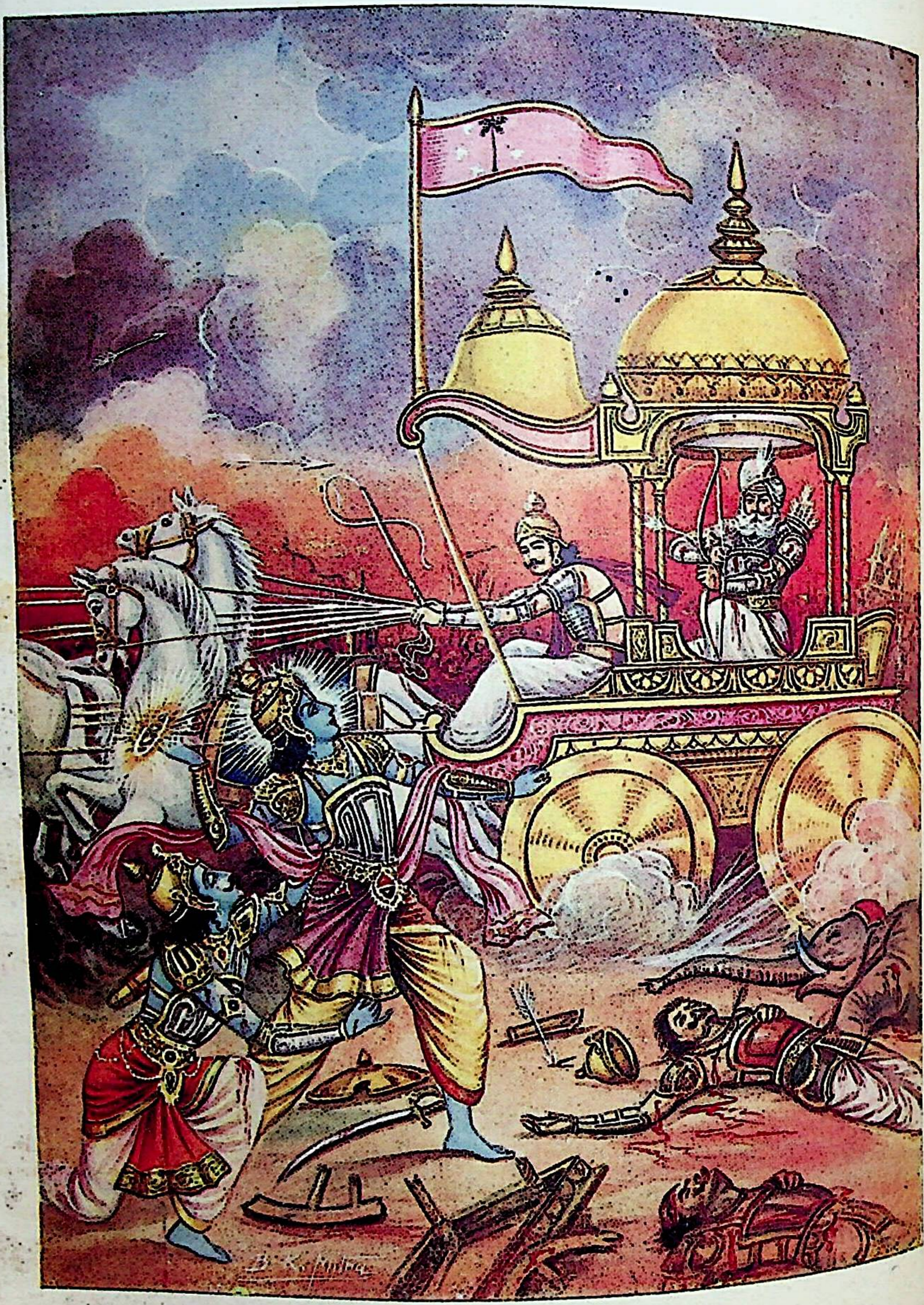

भीष्मपितामहपर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा

(भीष्मवधपर्व)

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

गीताका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरका भीष्म, द्रोण, कृप और शल्यसे अनुमति लेकर युद्धके लिये तैयार होना

वैशम्पायन उवाच

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अन्य बहुत-से शास्त्रोंका संग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है ? गीताका ही अच्छी तरहसे गान (श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है ॥ १ ॥

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥ २ ॥

गीता सर्वशास्त्रमयी है (गीतामें सब शास्त्रोंके सार-तत्त्वका समावेश है)। भगवान् श्रीहरि सर्वदेवमय हैं । गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनु (उनका धर्मशास्त्र) सर्ववेदमय हैं ॥ २ ॥

गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ३ ॥

गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द—इन 'ग' कारयुक्त चार नामोंको हृदयमें धारण कर लेनेपर मनुष्यका फिर इस संसारमें जन्म नहीं होता ॥ ३ ॥

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु संजयः ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते।

इस गीतामें छः सौ बीस श्लोक भगवान् श्रीकृष्णने कहे हैं, सत्तावन श्लोक अर्जुनके कहे हुए हैं, सड़सठ श्लोक संजयने कहे हैं और एक श्लोक धृतराष्ट्रका कहा हुआ है। यह गीताका मान बताया जाता है ॥ ४½ ॥

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥ ५ ॥

भारतरूपी अमृतराशिके सर्वस्व सारभूत गीताका मन्थन करके उसका सार निकालकर श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें (कानोंद्वारा मन-बुद्धिमें) डाल दिया है ॥ ५ ॥*

संजय उवाच

ततो धनंजयं दृष्ट्वा बाणगाण्डीवधारिणम्।
पुनरेव महानादं व्यसृजन्त महारथाः ॥ ६ ॥
पाण्डवाः सोमकाश्चैव ये चैषामनुयायिनः।
दध्मुश्च मुदिताः शङ्खान् वीराः सागरसम्भवान् ॥ ७ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अर्जुनको गाण्डीव धनुष और बाण धारण किये देख पाण्डव महारथियों, सोमकों तथा उनके अनुगामी सैनिकोंने पुनः बड़े जोरसे सिंहनाद किया। साथ ही उन सभी वीरोंने प्रसन्नतापूर्वक समुद्रसे प्रकट होनेवाले शङ्खोंको बजाया ॥ ६-७ ॥

ततो भेर्यश्च पेश्यश्च क्रकचा गोविषाणिकाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त ततः शब्दो महानभूत् ॥ ८ ॥

तदनन्तर भेरी, पेशी, क्रकच और नरसिंहे आदि बाजे सहसा बज उठे। इससे वहाँ महान् शब्द गूँजने लगा ॥ ८ ॥

तथा देवाः सगन्धर्वाः पितरश्च जनाधिप।
सिद्धचारणसंघाश्च समीयुस्ते दिदृक्षया ॥ ९ ॥
ऋषयश्च महाभागाः पुरस्कृत्य शतक्रतुम्।
समीयुस्तत्र सहिता द्रष्टुं तद् वैशसं महत् ॥ १० ॥

नरेश्वर ! उस समय देवता, गन्धर्व, पितर, सिद्ध, चारण तथा महाभाग महर्षिगण देवराज इन्द्रको आगे करके उस भीषण मार-काटको देखनेके लिये एक साथ वहाँ आये ॥ ९-१० ॥

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा युद्धाय समवस्थिते।
ते सेने सागरप्रख्ये मुहुः प्रचलिते नृप ॥ ११ ॥
विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च वरायुधम्।
अवरुह्य रथात् क्षिप्रं पद्भ्यामेव कृताञ्जलिः ॥ १२ ॥
पितामहमभिप्रेक्ष्य धर्मराजो युधिष्ठिरः।
वाग्यतः प्रययौ येन प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ॥ १३ ॥

राजन् ! तदनन्तर वीर राजा युधिष्ठिरने समुद्रके समान उन दोनों सेनाओंको युद्धके लिये उपस्थित और चञ्चल हुई देख कवच खोलकर अपने उत्तम आयुधोंको नीचे डाल दिया और रथसे शीघ्र उतरकर वे पैदल ही हाथ जोड़े पितामह भीष्मको लक्ष्य करके चल दिये। धर्मराज युधिष्ठिर मौन एवं पूर्वाभिमुख हो शत्रुसेनाकी ओर चले गये ॥ ११-१३ ॥

तं प्रयान्तमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अवतीर्य रथात् तूर्णं भ्रातृभिः सहितोऽन्वयात् ॥ १४ ॥
वासुदेवश्च भगवान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम्।
तथा मुख्याश्च राजानस्तच्चित्ता जग्मुरुत्सुकाः ॥ १५ ॥

कुन्तीपुत्र धनंजय उन्हें शत्रु-सेनाकी ओर जाते

---

* उपर्युक्त पाँच श्लोक कितनी ही प्रतियोंमें नहीं हैं और कितनी ही प्रतियोंमें हैं।

तुरंत रथसे उतर पड़े और भाइयोंसहित उनके पीछे-पीछे जाने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण भी उनके पीछे गये तथा उन्हींमें चित्त लगाये रहनेवाले प्रधान-प्रधान राजा भी उत्सुक होकर उनके साथ गये ॥ १४-१५ ॥

अर्जुन उवाच

किं ते व्यवसितं राजन् यदस्मानपहाय वै।
पद्भ्यामेव प्रयातोऽसि प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ॥ १६ ॥

अर्जुनने पूछा—राजन्! आपने क्या निश्चय किया है कि हमलोगोंको छोड़कर आप पूर्वाभिमुख हो पैदल ही शत्रुसेनाकी ओर चल दिये हैं? ॥ १६ ॥

भीमसेन उवाच

क्व गमिष्यसि राजेन्द्र निक्षिप्तकवचायुधः।
दंशितेष्वरिसैन्येषु भ्रातॄनुत्सृज्य पार्थिव ॥ १७ ॥

भीमसेनने भी पूछा—महाराज! पृथ्वीनाथ! कवच और आयुध नीचे डालकर भाइयोंको भी छोड़कर कवच आदिसे सुसज्जित हुई शत्रु-सेनामें कहाँ जायँगे? ॥ १७ ॥

नकुल उवाच

एवं गते त्वयि ज्येष्ठे मम भ्रातरि भारत।
भीर्मे दुनोति हृदयं ब्रूहि गन्ता भवान् क्व नु ॥ १८ ॥

नकुलने पूछा—भारत! आप मेरे बड़े भाई हैं। आपके इस प्रकार शत्रुसेनाकी ओर चल देनेपर भारी भय मेरे हृदयको पीड़ित कर रहा है। बताइये, आप कहाँ जायँगे? ॥ १८ ॥

सहदेव उवाच

अस्मिन् रणसमूहे वै वर्तमाने महाभये।
उत्सृज्य क्व नु गन्तासि शत्रूनभिमुखो नृप ॥ १९ ॥

सहदेवने पूछा—नरेश्वर! इस रणक्षेत्रमें जहाँ शत्रु-सेनाका समूह जुटा हुआ है और महान् भय उपस्थित है, आप हमें छोड़कर शत्रुओंकी ओर कहाँ जायँगे? ॥ १९ ॥

संजय उवाच

एवमाभाष्यमाणोऽपि भ्रातृभिः कुरुनन्दनः।
नोवाच वाग्यतः किंचिद् गच्छत्येव युधिष्ठिरः ॥२०॥

संजय कहते हैं—राजन्! भाइयोंके इस प्रकार कहनेपर भी कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले राजा युधिष्ठिर उनसे कुछ नहीं बोले। चुपचाप चलते ही गये ॥ २० ॥

तानुवाच महाप्राज्ञो वासुदेवो महामनाः।
अभिप्रायोऽस्य विज्ञातो मयेति प्रहसन्निव ॥ २१ ॥

तब परम बुद्धिमान् महामना भगवान् वासुदेवने उन चारों भाइयोंसे हँसते हुए-से कहा—'इनका अभिप्राय मुझे ज्ञात हो गया है ॥ २१ ॥

एष भीष्मं तथा द्रोणं गौतमं शल्यमेव च।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् योत्स्यते पार्थिवोऽरिभिः ॥२

'ये राजा युधिष्ठिर भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य औ शल्य—इन समस्त गुरुजनोंसे आज्ञा लेकर शत्रुओंके सा युद्ध करेंगे ॥ २२ ॥

श्रूयते हि पुराकल्पे गुरूननुमान्य यः।
युध्यते स भवेद् व्यक्तमपध्यातो महत्तरैः ॥ २३

'सुना जाता है कि प्राचीन कालमें जो गुरुजनों अनुमति लिये बिना ही युद्ध करता था, वह निश्चय ही उ माननीय पुरुषोंकी दृष्टिमें गिर जाता था ॥ २३ ॥

अनुमान्य यथाशास्त्रं यस्तु युध्येन्महत्तरैः।
ध्रुवस्तस्य जयो युद्धे भवेदिति मतिर्मम ॥ २४

'जो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार माननीय पुरुषोंसे आज्ञा लेकर युद्ध करता है, उसकी उस युद्धमें अवश्य विजय होती है, ऐसा मेरा विश्वास है' ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवति कृष्णेऽत्र धार्तराष्ट्रचमूं प्रति।
(नेत्रैरनिमिषैः सर्वैः प्रेक्षन्ते स्म युधिष्ठिरम् ॥)
हाहाकारो महानासीन्निःशब्दास्त्वपरेऽभवन् ॥ २५ ॥

जब भगवान् श्रीकृष्ण ये बातें कह रहे थे, उस सम दुर्योधनकी सेनाकी ओर आते हुए युधिष्ठिरको सब लोग अपलक नेत्रोंसे देख रहे थे। कहीं महान् हाहाकार हो रहा था और कहीं दूसरे लोग मुँहसे एक शब्द भी न बोलक चुप हो गये थे ॥ २५ ॥

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं दूराद् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः।
मिथः संकथयाञ्चक्रुरेषो हि कुलपांसनः ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरको दूरसे ही देखकर दुर्योधनके सैनिक आपसमें इस प्रकार बातचीत करने लगे—'यह युधिष्ठिर तो अप कुलका जीता-जागता कलङ्क ही है ॥ २६ ॥

व्यक्तं भीत इवाभ्येति राजासौ भीष्ममन्तिकम्।
युधिष्ठिरः ससोदर्यः शरणार्थं प्रयाचकः ॥ २७ ॥

'देखो, स्पष्ट ही दिखायी दे रहा है कि वह राजा युधिष्ठिर भयभीतकी भाँति भाइयोंसहित भीष्मजीके निक शरण माँगनेके लिये आ रहा है ॥ २७ ॥

धनंजये कथं नाथे पाण्डवे च वृकोदरे।
नकुले सहदेवे च भीतिरभ्येति पाण्डवम् ॥ २८ ॥

'पाण्डुनन्दन धनंजय, वृकोदर भीम तथा नकुल-सहदेव जैसे सहायकोंके रहते हुए युधिष्ठिरके मनमें भय कै हो गया! ॥ २८ ॥

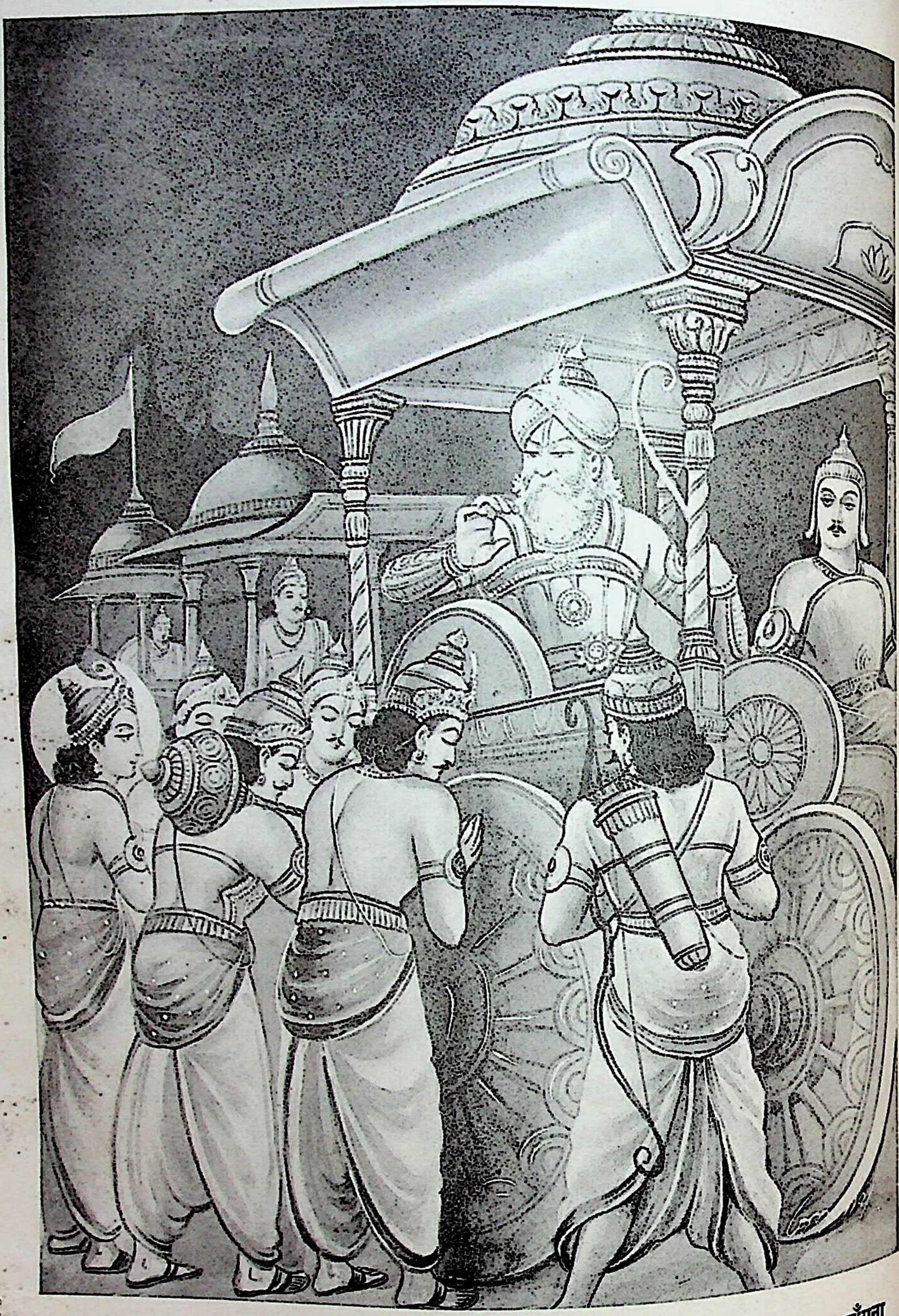

श्रीकृष्ण एवं भाइयोंसहित युधिष्ठिरका भीष्मको प्रणाम करके उनसे युद्धके लिये आज्ञा माँगना

न नूनं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथिते भुवि ।
यथास्य हृदयं भीतमल्पसत्त्वस्य संयुगे ॥ २९ ॥

'निश्चय ही यह भूमण्डलमें विख्यात क्षत्रियोंके कुलमें उत्पन्न नहीं हुआ है। इसका मानसिक बल अत्यन्त अल्प है; इसीलिये युद्धके अवसरपर इसका हृदय इतना भयभीत है' ॥ २९ ॥

ततस्ते सैनिकाः सर्वे प्रशंसन्ति स्म कौरवान् ।
हृष्टाः सुमनसो भूत्वा चैलानि दुधुवुश्च ह ॥ ३० ॥

तदनन्तर वे सब सैनिक कौरवोंकी प्रशंसा करने लगे और प्रसन्नचित्त हो हर्षमें भरकर अपने कपड़े हिलाने लगे ॥

व्यनिन्दंश्च तथा सर्वे योधास्तव विशाम्पते ।
युधिष्ठिरं ससोदर्यं सहितं केशवेन हि ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! आपके वे सब योद्धा भाइयों तथा श्रीकृष्ण-सहित युधिष्ठिरकी विशेषरूपसे निन्दा करते थे ॥ ३१ ॥

ततस्तत् कौरवं सैन्यं धिक्कृत्वा तु युधिष्ठिरम् ।
निःशब्दमभवत् तूर्णं पुनरेव विशाम्पते ॥ ३२ ॥

राजन् ! इस प्रकार युधिष्ठिरको धिक्कार देकर सारी कौरव-सेना पुनः शीघ्र ही चुप हो गयी ॥ ३२ ॥

किं नु वक्ष्यति राजासौ किं भीष्मः प्रतिवक्ष्यति ।
किं भीमः समरश्लाघी किं नु कृष्णार्जुनाविति ॥ ३३ ॥

सब लोग मन-ही-मन सोचने लगे कि वह राजा क्या कहेगा और भीष्मजी क्या उत्तर देंगे ? युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेन तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन भी क्या कहेंगे ? ॥ ३३ ॥

विवक्षितं किमस्येति संशयः सुमहानभूत् ।
उभयोः सेनयो राजन् युधिष्ठिरकृते तदा ॥ ३४ ॥

राजन् ! दोनों ही सेनाओंमें युधिष्ठिरके विषयमें महान् संशय उत्पन्न हो गया था। सब सोचते थे कि राजा युधिष्ठिर क्या कहना चाहते हैं ॥ ३४ ॥

सोऽवगाह्य चमूं शत्रोः शरशक्तिसमाकुलाम् ।
भीष्ममेवाभ्ययात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ३५ ॥

बाण और शक्तियोंसे भरी हुई शत्रुकी सेनामें घुसकर भाइयोंसे घिरे हुए युधिष्ठिर तुरंत ही भीष्मजीके पास जा पहुँचे ॥ ३५ ॥

तमुवाच ततः पादौ कराभ्यां पीड्य पाण्डवः ।
भीष्मं शान्तनवं राजा युद्धाय समुपस्थितम् ॥ ३६ ॥

वहाँ जाकर उन पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने दोनों हाथोंसे पितामहके चरणोंको दबाया और युद्धके लिये उपस्थित हुए उन शान्तनुनन्दन भीष्मसे इस प्रकार कहा ॥ ३६ ॥

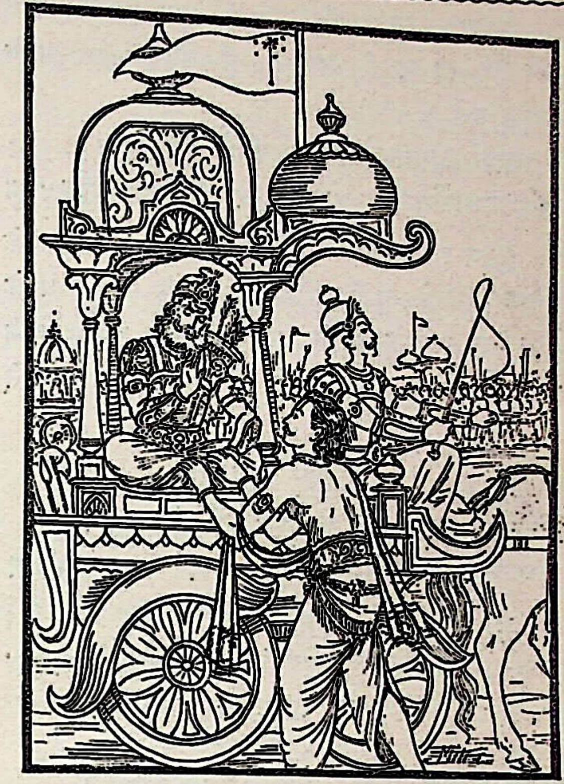

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रये त्वां दुर्धर्ष त्वया योत्स्यामहे सह ।
अनुजानीहि मां तात आशिषश्च प्रयोजय ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर बोले—दुर्धर्ष वीर पितामह ! मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ, मुझे आपके साथ युद्ध करना है। तात ! इसके लिये आप मुझे आज्ञा और आशीर्वाद प्रदान करें ॥

भीष्म उवाच

यद्येवं नाभिगच्छेथा युधि मां पृथिवीपते ।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय भारत ॥ ३८ ॥

भीष्मजी बोले—पृथ्वीपते ! भरतकुलनन्दन ! महाराज ! यदि इस युद्धके समय तुम इस प्रकार मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हें पराजित होनेके लिये शाप दे देता ॥

प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव ।
यत् तेऽभिलषितं चान्यत् तदवाप्नुहि संयुगे ॥ ३९ ॥

पाण्डुनन्दन ! पुत्र ! अब मैं प्रसन्न हूँ और तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम युद्ध करो और विजय पाओ। इसके सिवा और भी जो तुम्हारी अभिलाषा हो, वह इस युद्धभूमिमें प्राप्त करो ॥ ३९ ॥

व्रियतां च वरः पार्थ किमस्मत्तोऽभिकाङ्क्षसि ।
एवंगते महाराज न तवास्ति पराजयः ॥ ४० ॥

पार्थ! वर माँगो। तुम मुझसे क्या चाहते हो ? महाराज ! ऐसी स्थितिमें तुम्हारी पराजय नहीं होगी ॥ ४० ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ४१ ॥

महाराज ! पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ४१ ॥

अतस्त्वां क्लीबवद् वाक्यं ब्रवीमि कुरुनन्दन ।
भृतोऽस्म्यर्थेन कौरव्य युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ४२ ॥

कुरुनन्दन ! इसीलिये आज मैं तुम्हारे सामने नपुंसकके समान वचन बोलता हूँ। कौरव ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने धनके द्वारा मेरा भरण-पोषण किया है; इसलिये (तुम्हारे पक्षमें होकर) उनके साथ युद्ध करनेके अतिरिक्त तुम क्या चाहते हो, यह बताओ ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाबाहो हितैषी मम नित्यशः ।
युध्यस्व कौरवस्यार्थे ममैष सततं वरः ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो ! आप सदा मेरा हित चाहते हुए मुझे अच्छी सलाह दें और दुर्योधनके लिये युद्ध करें। मैं सदाके लिये यही वर चाहता हूँ ॥ ४३ ॥

भीष्म उवाच

राजन् किमत्र साह्यं ते करोमि कुरुनन्दन ।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ॥ ४४ ॥

भीष्म बोले—राजन् ! कुरुनन्दन ! मैं यहाँ तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? युद्ध तो मैं इच्छानुसार तुम्हारे शत्रुकी ओरसे ही करूँगा; अतः बताओ, तुम क्या कहना चाहते हो ?॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ।
एतन्मे मन्त्रय हितं यदि श्रेयः प्रपश्यसि ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! आप तो किसीसे पराजित होनेवाले हैं नहीं, फिर मैं आपको युद्धमें कैसे जीत सकूँगा ? यदि आप मेरा कल्याण देखते और सोचते हैं तो मेरे हितकी सलाह दीजिये ॥ ४५ ॥

भीष्म उवाच

नैनं पश्यामि कौन्तेय यो मां युध्यन्तमाहवे ।
विजयेत पुमान् कश्चित् साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ४६ ॥

भीष्मने कहा—कुन्तीनन्दन ! मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो संग्रामभूमिमें युद्ध करते समय मुझे पराजित कर सके। युद्धकालमें कोई पुरुष, साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, मुझे परास्त नहीं कर सकता ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि तस्मात् त्वां पितामह नमोऽस्तु ते ।
वधोपायं ब्रवीहि त्वमात्मनः समरे परैः ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! आपको नमस्कार है। इसलिये अब मैं आपसे पूछता हूँ, आप युद्धमें शत्रुओंद्वारा अपने मारे जानेका उपाय बताइये ॥ ४७ ॥

भीष्म उवाच

न स्म तं तात पश्यामि समरे यो जयेत माम् ।
न तावन्मृत्युकालोऽपि पुनरागमनं कुरु ॥ ४८ ॥

भीष्म बोले—बेटा ! जो समरभूमिमें मुझे जीत ले, ऐसे किसी वीरको मैं नहीं देखता हूँ। अभी मेरा मृत्युकाल भी नहीं आया है; अतः अपने इस प्रश्नका उत्तर लेनेके लिये फिर कभी आना ॥ ४८ ॥

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो वाक्यं भीष्मस्य कुरुनन्दन ।
शिरसा प्रतिजग्राह भूयस्तमभिवाद्य च ॥ ४९ ॥
प्रायात् पुनर्महाबाहुराचार्यस्य रथं प्रति ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां मध्येन भ्रातृभिः सह ॥ ५० ॥
स द्रोणमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ॥ ५१ ॥

संजय बोले—कुरुनन्दन ! तदनन्तर महाबाहु युधिष्ठिरने भीष्मकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और पुनः उन्हें प्रणाम करके वे द्रोणाचार्यके रथकी ओर गये। सारी सेना देख रही थी और वे उसके बीचसे होकर भाइयोंसहित द्रोणाचार्यके पास जा पहुँचे। वहाँ राजाने उन्हें प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और उन दुर्जय वीर-शिरोमणिसे अपने हितकी बात पूछी—॥ ४९–५१ ॥

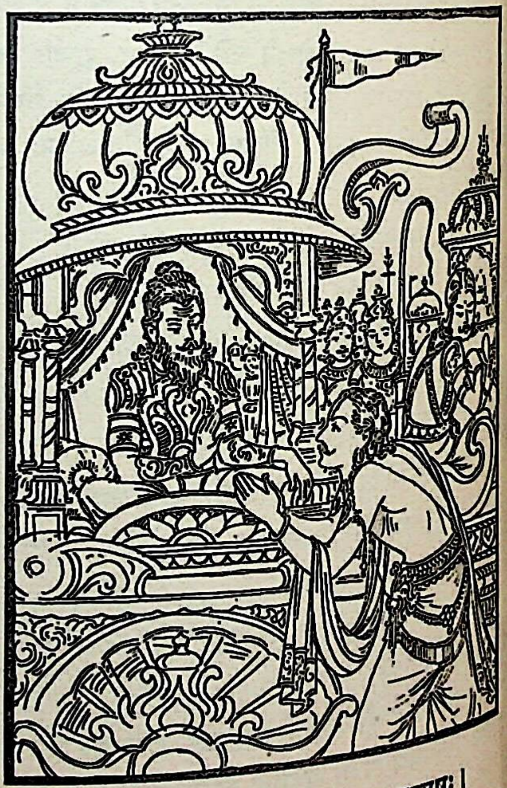

आमन्त्रये त्वां भगवन् योत्स्ये विगतकल्मषः ।
कथं जये रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वया द्विज ॥ ५२ ॥

'भगवन् ! मैं सलाह पूछता हूँ, किस प्रकार आपके

आप निरपराध एवं पापरहित होकर युद्ध करूँगा ? विप्रवर ! आपकी आज्ञासे मैं समस्त शत्रुओंको किस प्रकार जीतूँ ?' ॥

द्रोण उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय सर्वशः ॥ ५३ ॥

द्रोणाचार्य बोले—महाराज ! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा पराजय होनेके लिये शाप दे देता ॥ ५३ ॥

तद् युधिष्ठिर तुष्टोऽस्मि पूजितश्च त्वयानघ।
अनुजानामि युध्यस्व विजयं समवाप्नुहि ॥ ५४ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुमने मेरा बड़ा आदर किया। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, शत्रुओंसे लड़ो और विजय प्राप्त करो ॥ ५४ ॥

करवाणि च ते कामं ब्रूहि त्वमभिकाङ्क्षितम्।
एवंगते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ५५ ॥

महाराज ! मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करूँगा। तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ क्या है ? वर्तमान परिस्थितिमें मैं तुम्हारी ओरसे युद्ध तो कर नहीं सकता; उसे छोड़कर तुम बताओ, क्या चाहते हो ? ॥ ५५ ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ५६ ॥

पुरुष अर्थका दास है। अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज ! यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ५६ ॥

ब्रवीम्येतत् क्लीववत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि।
योत्स्येऽहं कौरवस्यार्थे तवाशास्यो जयो मया ॥ ५७ ॥

इसीलिये आज नपुंसककी तरह तुमसे पूछता हूँ कि तुम युद्धके सिवा और क्या चाहते हो ? मैं दुर्योधनके लिये युद्ध करूँगा; परंतु जीत तुम्हारी ही चाहूँगा ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

जयमाशास्व मे ब्रह्मन् मन्त्रयस्व च मद्धितम्।
युध्यस्व कौरवस्यार्थे वर एष वृतो मया ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! आप मेरी विजय चाहें और मेरे हितकी सलाह देते रहें; युद्ध दुर्योधनकी ओरसे ही करें। यही वर मैंने आपसे माँगा है ॥ ५८ ॥

द्रोण उवाच

ध्रुवस्ते विजयो राजन् यस्य मन्त्री हरिस्तव।
अहं त्वामभिजानामि रणे शत्रून् विमोक्ष्यसे ॥ ५९ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजन् ! तुम्हारी विजय तो निश्चित है; क्योंकि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे मन्त्री हैं। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्धमें शत्रुओंको उनके प्राणोंसे विमुक्त कर दोगे ॥ ५९ ॥

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।
युद्ध्यस्व गच्छ कौन्तेय पृच्छ मां किं ब्रवीमि ते ॥ ६० ॥

जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। कुन्तीकुमार ! जाओ, युद्ध करो। और भी पूछो, तुम्हें क्या बताऊँ ? ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच

पृच्छामि त्वां द्विजश्रेष्ठ शृणु यन्मेऽभिकाङ्क्षितम्।
कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर बोले—द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपसे पूछता हूँ। आप मेरे मनोवाञ्छित प्रश्नको सुनिये। आप किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं हैं; फिर आपको मैं युद्धमें कैसे जीत सकूँगा ? ॥ ६१ ॥

द्रोण उवाच

न तेऽस्ति विजयस्तावद् यावद् युद्ध्याम्यहं रणे।
ममाशु निधने राजन् यतस्व सह सोदरैः ॥ ६२ ॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! मैं जबतक समरभूमिमें युद्ध करूँगा, तबतक तुम्हारी विजय नहीं हो सकती। तुम अपने भाइयोंसहित ऐसा प्रयत्न करो, जिससे शीघ्र मेरी मृत्यु हो जाय ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त तस्मान्महाबाहो वधोपायं वदात्मनः।
आचार्य प्रणिपत्यैष पृच्छामि त्वां नमोऽस्तु ते ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु आचार्य ! इसलिये अब आप अपने वधका उपाय मुझे बताइये। आपको नमस्कार है। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करके यह प्रश्न कर रहा हूँ ॥ ६३ ॥

द्रोण उवाच

न शत्रुं तात पश्यामि यो मां हन्याद् रथे स्थितम्।
युध्यमानं सुसंरब्धं शरवर्षौघवर्षिणम् ॥ ६४ ॥

द्रोणाचार्य बोले—तात ! जब मैं रथपर बैठकर कुपित हो बाणोंकी वर्षा करते हुए युद्धमें संलग्न रहूँ, उस समय जो मुझे मार सके, ऐसे किसी शत्रुको नहीं देख रहा हूँ ॥ ६४ ॥

ऋते प्रायगतं राजन् न्यस्तशस्त्रमचेतनम्।
हन्यान्मां युधि योधानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६५ ॥

राजन् ! जब मैं हथियार डालकर अचेत-सा होकर आमरण अनशनके लिये बैठ जाऊँ, उस अवस्थाको छोड़कर और किसी समय कोई मुझे नहीं मार सकता। उसी अवस्थामें कोई श्रेष्ठ योद्धा युद्धमें मुझे मार सकता है; यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ६५ ॥

शस्त्रं चाहं रणे जह्यां श्रुत्वा तु महदप्रियम्।
श्रद्धेयवाक्यात् पुरुषादेतत् सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ६६ ॥

यदि मैं किसी विश्वसनीय पुरुषसे युद्धभूमिमें कोई अत्यन्त अप्रिय समाचार सुन लूँ तो हथियार नीचे डाल दूँगा। यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ६६ ॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाराज भारद्वाजस्य धीमतः।
अनुमान्य तमाचार्यं प्रायाच्छारद्वतं प्रति ॥ ६७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! परम बुद्धिमान् द्रोणाचार्यकी यह बात सुनकर उनका सम्मान करके राजा युधिष्ठिर कृपाचार्यके पास गये ॥ ६७ ॥

सोऽभिवाद्य कृपं राजा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
उवाच दुर्धर्षतमं वाक्यं वाक्यविदां वरः ॥ ६८ ॥

उन्हें नमस्कार करके उनकी परिक्रमा करनेके पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने दुर्द्धर्ष वीर कृपाचार्यसे कहा—॥ ६८ ॥

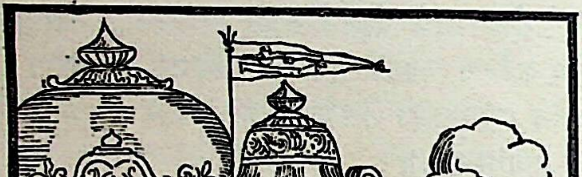

अनुमानये त्वां योत्स्येऽहं गुरो विगतकल्मषः।
जयेयं च रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वयानघ ॥ ६९ ॥

'निष्पाप गुरुदेव ! मैं पापरहित रहकर आपके साथ युद्ध कर सकूँ, इसके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपका आदेश पाकर मैं समस्त शत्रुओंको संग्राममें जीत सकता हूँ' ॥ ६९ ॥

कृप उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय सर्वशः ॥ ७० ॥

कृपाचार्य बोले—महाराज ! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा होनेके लिये तुम्हें शाप दे देता ॥ ७० ॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं महाराज ! यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा बँधा हुआ हूँ ॥ ७१ ॥

तेषामर्थे महाराज योद्धव्यमिति मे मतिः।
अतस्त्वां क्लीबवद् ब्रूयां युद्धादन्यत् किमिच्छसि।

महाराज ! मैं निश्चय कर चुका हूँ कि मुझे उन्हींके युद्ध करना है; अतः तुमसे नपुंसककी तरह पूछ रहा हूँ तुम युद्धसम्बन्धी सहयोगको छोड़कर मुझसे और चाहते हो ? ॥ ७२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि ते तस्मादाचार्य शृणु मे वचः।
इत्युक्त्वा व्यथितो राजा नोवाच गतचेतनः ॥

युधिष्ठिर बोले—आचार्य ! इसलिये अब मैं आपसे हूँ। आप मेरी बात सुनिये। इतना कहकर राजा युधिष्ठिर और अचेत-से होकर उनसे कुछ भी बोल न सके ॥

संजय उवाच

तं गौतमः प्रत्युवाच विज्ञायास्य विवक्षितम्।
अवध्योऽहं महीपाल युद्ध्यस्व जयमाप्नुहि ॥

संजय कहते हैं—पृथ्वीपते ! कृपाचार्य यह गये कि युधिष्ठिर क्या कहना चाहते हैं; अतः उन्होंने इस प्रकार कहा—'राजन् ! मैं अवध्य हूँ। जाओ, युद्ध और विजय प्राप्त करो ॥ ७४ ॥

प्रीतस्तेऽभिगमेनाहं जयं तव नराधिप।
आशासिष्ये सदोत्थाय सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥

'नरेश्वर ! तुम्हारे इस आगमनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता है; अतः सदा उठकर मैं तुम्हारी विजयके लिये शुभ करूँगा। यह तुमसे सच्ची बात कहता हूँ' ॥ ७५ ॥

एतच्छ्रुत्वा महाराज गौतमस्य विशाम्पते।
अनुमान्य कृपं राजा प्रययौ येन मद्रराट् ॥

महाराज ! प्रजानाथ ! कृपाचार्यकी यह बात राजा युधिष्ठिर उनकी अनुमति ले जहाँ मद्रराज शल्य ओर चले गये ॥ ७६ ॥

स शल्यमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ॥

दुर्जय वीर शल्यको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा के पश्चात् राजा युधिष्ठिरने उनसे अपने हितकी बात कही—

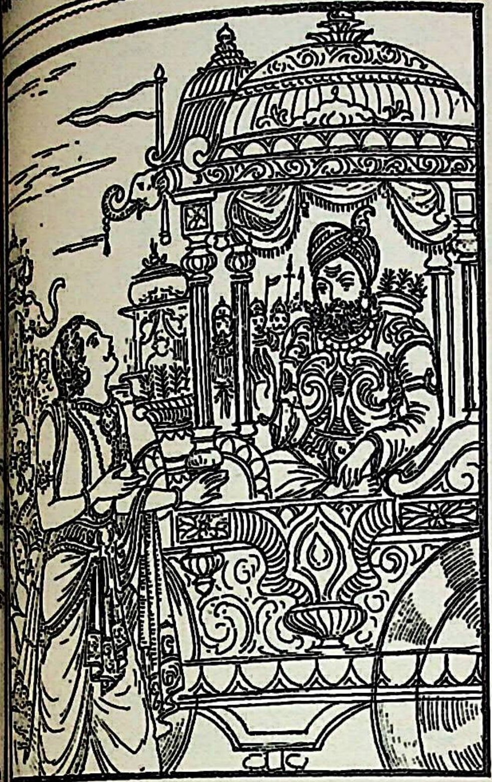

मानये त्वां दुर्धर्ष योत्स्ये विगतकल्मषः।
तु परान् राजन्ननुज्ञातस्त्वया रिपून् ॥ ७८ ॥

दुर्धर्ष वीर ! मैं पापरहित एवं निरपराध रहकर साथ युद्ध करूँगा; इसके लिये आपकी अनुमति हूँ। राजन् ! आपकी आज्ञा पाकर मैं समस्त शत्रुओं-युद्धमें परास्त कर सकता हूँ' ॥ ७८ ॥

शल्य उवाच

मां नाधिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः।
त्वां महाराज पराभावाय वै रणे ॥ ७९ ॥

शल्य बोले—महाराज ! यदि युद्धका निश्चय कर लेने-तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं युद्धमें तुम्हारी पराजयके तुम्हें शाप दे देता ॥ ७९ ॥

ऽसि पूजितश्चासि यत् काङ्क्षसि तदस्तु ते।
जानामि चैव त्वां युध्यस्व जयमाप्नुहि ॥ ८० ॥

अब मैं बहुत संतुष्ट हूँ। तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया। जो चाहते हो, वह पूर्ण हो। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम करो और विजय प्राप्त करो ॥ ८० ॥

चैव परं वीर केनार्थः किं ददामि ते।
महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ८१ ॥

वीर ! तुम कुछ और बताओ, किस प्रकार तुम्हारा मनोरथ होगा ? मैं तुम्हें क्या दूँ ? महाराज ! इस परिस्थितिमें युद्ध-सहयोगको छोड़कर तुम मुझसे और क्या चाहते हो ? ॥

पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ८२ ॥

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज ! यह सच्ची बात है। कौरवोंके द्वारा मैं अर्थसे बँधा हुआ हूँ ॥ ८२ ॥

करिष्यामि हि ते कामं भागिनेय यथेप्सितम्।
ब्रवीम्यतः क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ ८३ ॥

इसलिये मैं तुमसे नपुंसककी भाँति कह रहा हूँ। बताओ, तुम युद्धविषयक सहयोगके सिवा और क्या चाहते हो ? मेरे भानजे ! मैं तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करूँगा ॥

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाराज नित्यं मद्धितमुत्तमम्।
कामं युद्ध्य परस्यार्थे वरमेतं वृणोम्यहम् ॥ ८४ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि आप प्रतिदिन उत्तम हितकी सलाह मुझे देते रहें। अपने इच्छानुसार युद्ध दूसरेके लिये करें ॥ ८४ ॥

शल्य उवाच

किमत्र ब्रूहि साह्यं ते करोमि नृपसत्तम।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ ८५ ॥

शल्य बोले—नृपश्रेष्ठ ! बताओ, इस विषयमें मैं तुम्हारी क्या सहायता करूँ ? कौरवोंके द्वारा मैं अर्थसे बँधा हुआ हूँ; अतः अपने इच्छानुसार युद्ध तो मैं तुम्हारे विपक्षीकी ओरसे ही करूँगा ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

स एव मे वरः शल्य उद्योगे यस्त्वया कृतः।
सूतपुत्रस्य संग्रामे कार्यस्तेजोवधस्त्वया ॥ ८६ ॥
(त्वां हि योक्ष्यति सूतत्वे सूतपुत्रस्य मातुल।
दुर्योधनो रणे शूरमिति मे नैष्ठिकी मतिः ॥)

युधिष्ठिर बोले—मामाजी ! जब युद्धके लिये उद्योग चल रहा था, उन दिनों आपने मुझे जो वर दिया था, वही वर आज भी मेरे लिये आवश्यक है। सूतपुत्रका अर्जुनके साथ युद्ध हो तो उस समय आपको उसका उत्साह नष्ट करना चाहिये। मामाजी ! मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उस युद्धमें दुर्योधन आप-जैसे शूरवीरको सूतपुत्रके सारथिका कार्य करनेके लिये अवश्य नियुक्त करेगा ॥ ८६ ॥

शल्य उवाच

सम्पत्स्यत्येष ते कामः कुन्तीपुत्र यथेप्सितम्।
गच्छ युध्यस्व विश्रब्धः प्रतिजाने वचस्तव ॥ ८७ ॥

शल्य बोले—कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा यह अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। जाओ, निश्चिन्त होकर युद्ध करो। मैं तुम्हारे वचनका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ ॥

संजय उवाच

अनुमान्याथ कौन्तेयो मातुलं मद्रकेश्वरम्।
निर्जगाम महासैन्याद् भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ८८ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार अपने मामा मद्रराज शल्यकी अनुमति लेकर भाइयोंसे घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उस विशाल सेनासे बाहर निकल गये ॥ ८८ ॥

वासुदेवस्तु राधेयमाहवेऽभिजगाम वै ।
तत एनमुवाचेदं पाण्डवार्थे गदाग्रजः ॥ ८९ ॥

इसी समय भगवान् श्रीकृष्ण उस युद्धमें राधानन्दन कर्णके पास गये । वहाँ जाकर उन गदाग्रजने पाण्डवोंके हितके लिये उससे इस प्रकार कहा—॥ ८९ ॥

श्रुतं मे कर्ण भीष्मस्य द्वेषात् किल न योत्स्यसे ।
अस्मान् वरय राधेय यावद् भीष्मो न हन्यते ॥ ९० ॥

'कर्ण ! मैंने सुना है, तुम भीष्मसे द्वेष होनेके कारण युद्ध नहीं करोगे । राधानन्दन ! ऐसी दशामें जबतक भीष्म मारे नहीं जाते हैं, तबतक हमलोगोंका पक्ष ग्रहण कर लो ॥

हते तु भीष्मे राधेय पुनरेष्यसि संयुगम् ।
धार्तराष्ट्रस्य साहाय्यं यदि पश्यसि चेत् समम् ॥ ९१ ॥

'राधेय ! जब भीष्म मारे जायँ, उसके बाद तुम यदि ठीक समझो तो युद्धमें पुनः दुर्योधनकी सहायताके लिये चले आना' ॥ ९१ ॥

कर्ण उवाच

न विप्रियं करिष्यामि धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
त्यक्तप्राणं हि मां विद्धि दुर्योधनहितैषिणम् ॥ ९२ ॥

कर्ण बोला—केशव ! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं दुर्योधनका हितैषी हूँ । उसके लिये अपने प्राणोंको निछावर किये बैठा हूँ; अतः मैं उसका अप्रिय कदापि नहीं करूँगा ॥ ९२ ॥

संजय उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं कृष्णः संन्यवर्तत भारत ।
युधिष्ठिरपुरोगैश्च पाण्डवैः सह संगतः ॥ ९३ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! कर्णकी यह बात सुनकर श्रीकृष्ण लौट आये और युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंसे जा मिले ॥

अथ सैन्यस्य मध्ये तु प्राक्रोशत् पाण्डवाग्रजः ।
योऽस्मान् वृणोति तमहं वरये साह्यकारणात् ॥ ९४ ॥

तदनन्तर ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरने सेनाके बीचमें खड़े होकर पुकारा—'जो कोई वीर सहायताके लिये हमारे पक्षमें आना स्वीकार करे, उसे मैं भी स्वीकार करूँगा' ॥ ९४ ॥

अथ तान् समभिप्रेक्ष्य युयुत्सुरिदमब्रवीत् ।
प्रीतात्मा धर्मराजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ९५ ॥

उस समय आपके पुत्र युयुत्सुने पाण्डवोंकी ओर देखकर प्रसन्नचित्त हो धर्मराज कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ ९५ ॥

अहं योत्स्यामि भवतः संयुगे धृतराष्ट्रजान् ।
युष्मदर्थे महाराज यदि मां वृणुषेऽनघ ॥ ९६ ॥

'महाराज ! निष्पाप नरेश ! यदि आप मुझे करें तो मैं आपलोगोंके लिये युद्धमें धृतराष्ट्रके युद्ध करूँगा' ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एह्येहि सर्वे योत्स्यामस्तव भ्रातॄनपण्डितान् ।
युयुत्सो वासुदेवश्च वयं च ब्रूम सर्वशः ।

युधिष्ठिर बोले—युयुत्सो ! आओ, आओ । सब लोग मिलकर तुम्हारे इन मूर्ख भाइयोंसे युद्ध यह बात हम और भगवान् श्रीकृष्ण सभी कह रहे हैं ।

वृणोमि त्वां महाबाहो युद्ध्यस्व मम कारणात् ।
त्वयि पिण्डश्च तन्तुश्च धृतराष्ट्रस्य दृश्यते ॥

महाबाहो ! मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ । तुम मेरे युद्ध करो । राजा धृतराष्ट्रकी वंशपरम्परा तथा क्रिया तुमपर ही अवलम्बित दिखायी देती है ॥ ९८ ॥

भजस्वास्मान् राजपुत्र भजमानान् महाद्युते ।
न भविष्यति दुर्बुद्धिर्धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ॥

महातेजस्वी राजकुमार ! हम तुम्हें अपनाते हैं । भी हमें स्वीकार करो । अत्यन्त क्रोधी दुर्बुद्धि अब इस संसारमें जीवित नहीं रहेगा ॥ ९९ ॥

संजय उवाच

ततो युयुत्सुः कौरव्यान् परित्यज्य सुतांस्तव ।
(स सत्यमिति मन्वानो युधिष्ठिरवचस्तदा ।)
जगाम पाण्डुपुत्राणां सेनां विश्राव्य दुन्दुभिम् ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर युधिष्ठिरकी बातको सच मानकर आपके सभी पुत्रोंको कर डंका पीटता हुआ पाण्डवोंकी सेनामें चला

(अवसद् धार्तराष्ट्रस्य कुत्सयन् कर्म दुष्कृतम् ।
सेनामध्ये हि तैः सार्कं युद्धाय कृतनिश्चयः ॥)

वह दुर्योधनके पापकर्मकी निन्दा करता हुआ निश्चय करके पाण्डवोंके साथ उन्हींकी सेनामें रहने लगा ।

ततो युधिष्ठिरो राजा सम्प्रहृष्टः सहानुजः ।
जग्राह कवचं भूयो दीप्तिमत् कनकोज्ज्वलम् ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भाइयोंसहित अत्यन्त हो सोनेका बना हुआ चमकीला कवच धारण किया ॥

प्रत्यपद्यन्त ते सर्वे स्वरथान् पुरुषर्षभाः ।
ततो व्यूहं यथापूर्वं प्रत्यव्यूहन्त ते पुनः ॥

फिर वे सभी श्रेष्ठ पुरुष अपने-अपने रथपर आरूढ़ इसके बाद उन्होंने पुनः शत्रुओंके मुकाबिलेमें पहलेकी ही अपनी सेनाकी व्यूह-रचना की ॥ १०२ ॥

अवादयन् दुन्दुभींश्च शतशश्चैव पुष्करान् ।
सिंहनादांश्च विविधान् विनेदुः पुरुषर्षभाः ॥

उन श्रेष्ठ पुरुषोंने सैकड़ों दुन्दुभियाँ और नगारे बजाये तथा अनेक प्रकारसे सिंह-गर्जनाएँ कीं ॥ १०३ ॥

ततस्तान् पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रेक्ष्य पार्थिवाः।
धृष्टद्युम्नादयः सर्वे पुनर्जहृषिरे तदा ॥१०४॥

पुरुषसिंह पाण्डवोंको पुनः रथपर बैठे देख धृष्टद्युम्न आदि राजा बड़े प्रसन्न हुए ॥ १०४ ॥

गौरवं पाण्डुपुत्राणां मान्यान् मानयतां च तान्।
दृष्ट्वा महीक्षितस्तत्र पूजयाञ्चक्रिरे भृशम् ॥१०५॥

माननीय पुरुषोंका सम्मान करनेवाले पाण्डवोंके उस गौरवको देखकर सब भूपाल उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे ॥ १०५ ॥

सौहृदं च कृपां चैव प्राप्तकालं महात्मनाम्।
दयां च ज्ञातिषु परां कथयाञ्चक्रिरे नृपाः ॥१०६॥

सब राजा महात्मा पाण्डवोंके सौहार्द, कृपाभाव, समयोचित कर्तव्यके पालन तथा कुटुम्बियोंके प्रति परम दयाभावकी चर्चा करने लगे ॥ १०६ ॥

साधु साध्विति सर्वत्र निश्चेरुः स्तुतिसंहिताः।
वाचः पुण्याः कीर्तिमतां मनोहृदयहर्षणाः ॥१०७॥

यशस्वी पाण्डवोंके लिये सब ओरसे उनकी स्तुति-प्रशंसासे भरी हुई 'साधु-साधु' की बातें निकलती थीं। उन्हें ऐसी पवित्र वाणी सुननेको मिलती थी, जो मन और हृदयके हर्षको बढ़ानेवाली थी ॥ १०७ ॥

म्लेच्छाश्चार्याश्च ये तत्र ददृशुः शुश्रुवुस्तथा।
वृत्तं तत् पाण्डुपुत्राणां रुरुदुस्ते सगद्गदाः ॥१०८॥

वहाँ जिन-जिन म्लेच्छों और आर्योंने पाण्डवोंका वह बर्ताव देखा तथा सुना, वे सब गद्गदकण्ठ होकर रोने लगे ॥ १०८ ॥

ततो जघ्नुर्महाभेरीः शतशश्च सहस्रशः।
शङ्खांश्च गोक्षीरनिभान् दध्मुर्हृष्टा मनस्विनः ॥१०९॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए सभी मनस्वी पुरुषोंने सैकड़ों और हजारों बड़ी-बड़ी भेरियों तथा गोदुग्धके समान श्वेत शङ्खोंको बजाया ॥ १०९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मादिसम्मानने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म आदिका समादरविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके तीन श्लोक मिलाकर कुल ११२ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवोंके प्रथम दिनके युद्धका आरम्भ

धृतराष्ट्र उवाच

एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च।
के पूर्वं प्राहरंस्तत्र कुरवः पाण्डवा नु किम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! इस प्रकार जब मेरे पुत्रों और पाण्डवोंने अपनी-अपनी सेनाओंका व्यूह लगा लिया, तब वहाँ उनमेंसे पहले किन्होंने प्रहार किया, कौरवोंने या पाण्डवोंने? ॥ १ ॥

संजय उवाच

भ्रातृभिः सहितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन्! भाइयोंसहित आपका पुत्र दुर्योधन भीष्मको आगे करके सेनासहित आगे बढ़ा ॥ २ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे भीमसेनपुरोगमाः।
भीष्मेण युद्धमिच्छन्तः प्रययुर्हृष्टमानसाः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी भीमसेनको आगे करके भीष्मसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर प्रसन्न मनसे आगे बढ़े ॥

क्ष्वेडाः किलकिलाशब्दाः क्रकचा गोविषाणिकाः।
भेरीमृदङ्गमुरजा हयकुञ्जरनिःस्वनाः ॥ ४ ॥

उभयोः सेनयोर्ह्यासंस्ततस्तेऽस्मान् समाद्रवन्।
वयं तान् प्रतिनर्दन्तस्तदासीत् तुमुलं महत् ॥ ५ ॥

फिर तो दोनों सेनाओंमें सिंहनाद, किलकारियोंके शब्द, क्रकच, नरसिंहे, भेरी, मृदङ्ग और ढोल आदि वाद्योंकी ध्वनि तथा घोड़ों और हाथियोंके गर्जनेके शब्द गूँजने लगे। पाण्डव सैनिक हमलोगोंपर टूट पड़े और हमलोगोंने भी विकट गर्जना करते हुए उनपर धावा बोल दिया। इस प्रकार अत्यन्त घोर युद्ध होने लगा ॥ ४-५ ॥

महान्त्यनीकानि महासमुच्छ्रये
समागमे पाण्डवधार्तराष्ट्रयोः।
चकम्पिरे शङ्खमृदङ्गनिःस्वनैः
प्रकम्पितानीव वनानि वायुना ॥ ६ ॥

भीषण मारकाटसे युक्त उस महान् संग्राममें आपके पुत्रों तथा पाण्डवोंकी विशाल सेनाएँ प्रचण्ड वायुसे विकम्पित हुए वनोंकी भाँति शङ्ख और मृदङ्गके शब्दोंसे काँपने लगीं॥

नरेन्द्रनागाश्वरथाकुलाना-
मभ्यागतानामशिवे मुहूर्ते।
बभूव घोषस्तुमुलश्चमूनां
वातोद्धुतानामिव सागराणाम् ॥ ७ ॥

राजाओं, हाथियों, घोड़ों तथा रथोंसे भरी हुई उभय पक्षकी सेनाएँ उस अमङ्गलमय मुहूर्तमें जब एक दूसरेके सम्मुख और समीप आयीं, उस समय वायुसे उद्वेलित समुद्रोंकी भाँति उनका भयंकर कोलाहल सब ओर गूँजने लगा ॥ ७ ॥

तस्मिन् समुत्थिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे।
भीमसेनो महाबाहुः प्राणदद् गोवृषो यथा ॥ ८ ॥

उस रोमाञ्चकारी भयंकर शब्दके प्रकट होते ही महाबाहु भीमसेन साँड़की भाँति गर्जने लगे ॥ ८ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषं वारणानां च बृंहितम्।
सिंहनादं च सैन्यानां भीमसेनरवोऽभ्यभूत् ॥ ९ ॥

भीमसेनकी वह गर्जना शङ्ख और दुन्दुभियोंके गम्भीर घोष, गजराजोंके चिग्घाड़नेकी आवाज तथा सैनिकोंके सिंहनादको भी दबाकर सब ओर सुनायी देने लगी ॥ ९ ॥

हयानां ह्रेषमाणानामनीकेषु सहस्रशः।
सर्वानभ्यभवच्छब्दान् भीमस्य नदतः स्वनः ॥ १० ॥

उन सेनाओंमें हजारों घोड़े जोर-जोरसे हिनहिना रहे थे; परंतु गर्जना करते हुए भीमसेनका शब्द उन सब शब्दोंको दबाकर ऊपर उठ गया था ॥ १० ॥

तं श्रुत्वा निनदं तस्य सैन्यास्तव वितत्रसुः।
जीमूतस्येव नदतः शक्राशनिसमस्वनम् ॥ ११ ॥

वे मेघके समान गम्भीर स्वरमें गर्जन-तर्जन कर रहे थे। उनका शब्द इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयानक था। उस सिंहनादको सुनकर आपके समस्त सैनिक संत्रस्त हो उठे थे ॥ ११ ॥

वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः।
शब्देन तस्य वीरस्य सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ १२ ॥

जैसे सिंहकी आवाज सुनकर दूसरे वन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार वीर भीमसेनकी गर्जनासे भयभीत हो कौरवसेनाके समस्त वाहन मल-मूत्र करने लगे ॥ १२ ॥

दर्शयन् घोरमात्मानं महाभ्रमिव नादयन्।
विभीषयंस्तव सुतान् भीमसेनः समभ्ययात् ॥ १३ ॥

महान् मेघके समान अपने भयंकर रूपको प्रकट करते, गर्जते तथा आपके पुत्रोंको डराते हुए भीमसेन कौरव-सेनापर चढ़ आये ॥ १३ ॥

तमायान्तं महेष्वासं सोदर्याः पर्यवारयन्।
छादयन्तः शरव्रातैर्मेघा इव दिवाकरम् ॥ १४ ॥

महान् धनुर्धर भीमसेनको आते देख दुर्योधनके भाइयों (तथा अन्य वीरों) ने जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणसमूहोंसे उन्हें आच्छादित करते हुए सब ओरसे घेर लिया ॥ १४ ॥

दुर्योधनश्च पुत्रस्ते दुर्मुखो दुःशलः शलः।
दुःशासनश्चातिरथस्तथा दुर्मर्षणो नृप ॥ १५
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः।
पुरुमित्रो जयो भोजः सौमदत्तिश्च वीर्यवान् ॥ १६
महाचापानि धुन्वन्तो मेघा इव सविद्युतः।
आददानाश्च नाराचान् निर्मुक्ताशीविषोपमान् ॥ १७
(अग्रतः पाण्डुसेनाया ह्यतिष्ठन् पृथिवीक्षितः ॥)

नरेश्वर ! आपके पुत्र दुर्योधन, दुर्मुख, दुःशल, श अतिरथी दुःशासन, दुर्मर्षण, विविंशति, चित्रसेन, महा विकर्ण, पुरुमित्र, जय, भोज तथा पराक्रमी भूरिश्र-ये सभी वीर अपने बड़े-बड़े धनुषोंको कँपाते और छूटनेपर वि सर्पके समान प्रतीत होनेवाले बाणोंको हाथमें लेते हुए विद्यु सहित मेघोंके समान जान पड़ते थे। ये सभी भूपाल पाण्ड सेनाके सम्मुख (भीमसेनको घेरकर) खड़े हो गये ।१५-१

अथ ते द्रौपदीपुत्राः सौभद्रश्च महारथः।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ १८
धार्तराष्ट्रान् प्रतिययुरर्दयन्तः शितैः शरैः।
वज्रैरिव महावेगैः शिखराणि धराभृताम् ॥ १९

तदनन्तर द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महारथी अभिम नकुल, सहदेव तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न-ये सभी योद्धा वज्र समान महान् वेगशाली तीक्ष्ण बाणोंद्वारा पर्वतशिखरों भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंको पीड़ा देते हुए उनपर चढ़ आये १८-

तस्मिन् प्रथमसंग्रामे भीमज्यातलनिःस्वने।
तावकानां परेषां च नासीत् कश्चित् पराङ्मुखः ॥ २०

उस प्रथम संग्राममें जब भयानक धनुषोंकी टंकार त ताल ठोंकनेकी आवाज हो रही थी, आपके तथा पाण्डवों दलमें भी कोई युद्धसे विमुख नहीं हुआ ॥ २० ॥

लाघवं द्रोणशिष्याणामपश्यं भरतर्षभ।
निमित्तवेधिनां चैव शरानुत्सृजतां भृशम् ॥ २१

भरतश्रेष्ठ ! उस समय मैंने द्रोणाचार्यके उन शिष्यों फुर्ती देखी। वे बड़ी तीव्र गतिसे बाण छोड़ते और लक्ष्य बींध डालते थे ॥ २१ ॥

नोपशाम्यति निर्घोषो धनुषां कूजतां तथा।
विनिश्चेरुः शरा दीप्ता ज्योतींषीव नभस्तलात् ॥ २२

वहाँ टंकार करते हुए धनुषोंके शब्द कभी शान्त न होते थे। आकाशसे नक्षत्रोंके समान उन धनुषोंसे चमकी बाण प्रकट हो रहे थे ॥ २२ ॥

सर्वे त्वन्ये महीपालाः प्रेक्षका इव भारत।
ददृशुर्दर्शनीयं तं भीमं ज्ञातिसमागमम् ॥ २३

भरतनन्दन ! दूसरे सब राजालोग उस कुटुम्बीज भयंकर दर्शनीय संग्रामको दर्शककी भाँति देखने लगे ।२

ततस्ते जातसंरम्भाः परस्परकृतागसः।
अन्योन्यस्पर्धया राजन् व्यायच्छन्त महारथाः ॥२४॥

राजन्! बाल्यावस्थामें वे सभी एक दूसरेका अपराध कर चुके थे। सबका स्मरण हो आनेसे वे सभी महारथी रोषमें भर गये और एक दूसरेके प्रति स्पर्धा रखनेके कारण युद्धमें विजयी होनेके लिये विशेष परिश्रम करने लगे ॥२४॥

कुरुपाण्डवसेने ते हस्त्यश्वरथसंकुले।
शुशुभाते रणेऽतीव पटे चित्रार्पिते इव ॥ २५ ॥

हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई कौरव-पाण्डवोंकी वे सेनाएँ पटपर अङ्कित हुई चित्रमयी सेनाओंकी भाँति उस रणभूमिमें विशेष शोभा पा रही थीं ॥ २५ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रगृहीतशरासनाः।
सहसैन्याः समापेतुः पुत्रस्य तव शासनात् ॥ २६ ॥

तदनन्तर आपके पुत्र दुर्योधनकी आज्ञासे अन्य सब राजा भी हाथमें धनुष-बाण लिये सेनाओंसहित वहाँ आ पहुँचे ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरेण चादिष्टाः पार्थिवास्ते सहस्रशः।
विनदन्तः समापेतुः पुत्रस्य तव वाहिनीम् ॥ २७ ॥

इसी प्रकार युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर सहस्रों नरेश गर्जना करते हुए आपके पुत्रकी सेनापर टूट पड़े ॥ २७ ॥

उभयोः सेनयोस्तीव्रः सैन्यानां स समागमः।
अन्तर्धीयत चादित्यः सैन्येन रजसाऽऽवृतः ॥ २८ ॥

उन दोनों सेनाओंका वह संघर्ष अत्यन्त दुःसह था। सेनाकी धूलसे आच्छादित हो सूर्यदेव अदृश्य हो गये ॥२८॥

प्रयुद्धानां प्रभग्नानां पुनरावर्तिनामपि।
नात्र स्वेषां परेषां वा विशेषः समदृश्यत ॥ २९ ॥

कुछ लोग युद्ध करते, कुछ भागते और कुछ भागकर फिर लौट आते थे। इस बातमें अपने और शत्रुपक्षके सैनिकोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ २९ ॥

तस्मिंस्तु तुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये।
अतिसर्वाण्यनीकानि पिता तेऽभिव्यरोचत ॥ ३० ॥

जिस समय वह अत्यन्त भयानक तुमुल युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय आपके ताऊ भीष्मजी उन समस्त सेनाओंसे ऊपर उठकर अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि युद्धारम्भे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें युद्धका आरम्भविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ३०$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

* * *

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

उभय पक्षके सैनिकोंका द्वन्द्व-युद्ध

संजय उवाच

पूर्वाह्णे तस्य रौद्रस्य युद्धमह्नो विशाम्पते।
प्रावर्तत महाघोरं राज्ञां देहावकर्तनम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ! उस भयंकर दिनके प्रथम भागमें महाभयानक युद्ध होने लगा, जो राजाओंके शरीरोंका उच्छेद करनेवाला था ॥ १ ॥

कुरूणां सृञ्जयानां च जिगीषूणां परस्परम्।
सिंहानामिव संह्रादो दिवमुर्वीं च नादयन् ॥ २ ॥

कौरव और सृंजयवंशी वीर एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखकर सिंहोंके समान दहाड़ रहे थे। उनका वह सिंहनाद पृथ्वी और आकाशको प्रतिध्वनित कर रहा था ॥ २ ॥

आसीत् किलकिलाशब्दस्तलशङ्खरवैः सह।
जज्ञिरे सिंहनादाश्च शूराणां प्रतिगर्जताम् ॥ ३ ॥

ताल और शङ्खोंकी ध्वनिके साथ सैनिकोंका किलकिल शब्द गूँज उठा। एक दूसरेके प्रति गर्जना करनेवाले शूरवीरोंके सिंहनाद होने लगे ॥ ३ ॥

तलत्राभिहताश्चैव ज्याशब्दा भरतर्षभ।
पत्तीनां पादशब्दश्च वाजिनां च महास्वनः ॥ ४ ॥
तोत्राङ्कुशनिपातश्च आयुधानां च निःस्वनः।
घण्टाशब्दश्च नागानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ ५ ॥
तस्मिन् समुदिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे।
बभूव रथनिर्घोषः पर्जन्यनिनदोपमः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ! तलत्राणके आघातसे टकरायी हुई प्रत्यञ्चाओंके शब्द, पैदल सिपाहियोंके पैरोंकी धमक, उच्चस्वरसे होनेवाली घोड़ोंकी हिनहिनाहट, हाथियोंके चाबुक और अङ्कुशके आघातका शब्द, हथियारोंकी झनझनाहट तथा एक दूसरेपर धावा करनेवाले गजराजोंके घण्टानाद—ये सब शब्द मिलकर ऐसी भयंकर आवाज प्रकट करने लगे, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। उसीमें रथोंके पहियोंकी घरघराहट होने लगी; जो मेघोंकी विकट गर्जनाके समान जान पड़ती थी ॥४–६॥

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ॥ ७ ॥

वे समस्त कौरव सैनिक अपने मनको कठोर बना

प्राणोंकी बाजी लगाकर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवोंपर धावा करने लगे ॥ ७ ॥

अथ शान्तनवो राजन्नभ्यधावद् धनंजयम्।
प्रगृह्य कार्मुकं घोरं कालदण्डोपमं रणे ॥ ८ ॥

राजन्! तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्धभूमिमें कालदण्डके समान भीषण धनुष लेकर अर्जुनकी ओर दौड़े ॥

अर्जुनोऽपि धनुर्गृह्य गाण्डीवं लोकविश्रुतम्।
अभ्यधावत तेजस्वी गाङ्गेयं रणमूर्धनि ॥ ९ ॥

उधरसे महातेजस्वी अर्जुन भी अपना लोकविख्यात गाण्डीव धनुष लेकर युद्धके मुहानेपर गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर दौड़े ॥ ९ ॥

तावुभौ कुरुशार्दूलौ परस्परवधैषिणौ।
गाङ्गेयस्तु रणे पार्थं विद्ध्वा नाकम्पयद् बली ॥ १० ॥

वे दोनों कुरुकुलके सिंह थे और एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखते थे। बलवान् भीष्म युद्धमें अर्जुनको घायल करके भी उन्हें विचलित न कर सके ॥ १० ॥

तथैव पाण्डवो राजन् भीष्मं नाकम्पयद् युधि।
सात्यकिस्तु महेष्वासः कृतवर्माणमभ्ययात् ॥ ११ ॥

राजन्! उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भीष्मको युद्धमें हिला न सके। दूसरी ओर महाधनुर्धर सात्यकिने कृतवर्मापर धावा किया ॥ ११ ॥

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
सात्यकिः कृतवर्माणं कृतवर्मा च सात्यकिम् ॥ १२ ॥
आनर्च्छतुः शरैर्घोरैस्तक्षमाणौ परस्परम्।

उन दोनोंमें बड़ा भयंकर रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ। सात्यकिने कृतवर्माको और कृतवर्माने सात्यकिको भयंकर बाणोंसे घायल करते हुए एक दूसरेको बड़ी पीड़ा पहुँचायी ॥

तौ शरार्चितसर्वाङ्गौ शुशुभाते महाबलौ ॥ १३ ॥
वसन्ते पुष्पशबलौ पुष्पिताविव किंशुकौ।

वे दोनों महाबली वीर सर्वाङ्गमें बाणोंसे छिदे होनेके कारण वसन्त ऋतुमें खिले हुए दो पुष्पयुक्त पलाश वृक्षोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ १३½ ॥

अभिमन्युर्महेष्वासं बृहद्बलमयोधयत् ॥ १४ ॥
ततः कोसलराजासावभिमन्योर्विशाम्पते।
ध्वजं चिच्छेद समरे सारथिं च न्यपातयत् ॥ १५ ॥

अभिमन्युने महान् धनुर्धर बृहद्बलके साथ युद्ध किया। प्रजानाथ! कोसलनरेश बृहद्बलने उस युद्धमें अभिमन्युके ध्वजको काट दिया और सारथिको मार गिराया ॥ १४-१५ ॥

सौभद्रस्तु ततः क्रुद्धः पातिते रथसारथौ।
बृहद्बलं महाराज विव्याध नवभिः शरैः ॥ १६ ॥

महाराज! अपने रथके सारथिके मारे जानेपर सुभद्राकुमार अभिमन्यु कुपित हो उठे और उन्होंने बृहद्बलको नौ बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १६ ॥

अथापराभ्यां भल्लाभ्यां शिताभ्यामरिमर्दनः।
ध्वजमेकेन चिच्छेद पार्ष्णिमेकेन सारथिम् ॥ १७ ॥
अन्योन्यं च शरैः क्रुद्धौ ततक्षाते परस्परम्।

तत्पश्चात् शत्रुमर्दन अभिमन्युने अन्य दो तीखे बाणोंसे बृहद्बलके ध्वजको काट डाला फिर एक बाणसे उनके पृष्ठरक्षकको और दूसरेसे सारथिको मार डाला। फिर वे दोनों अत्यन्त कुपित हो तीखे सायकोंद्वारा एक दूसरेको बेधने लगे ॥

मानिनं समरे दृप्तं कृतवैरं महारथम् ॥ १८ ॥
भीमसेनस्तव सुतं दुर्योधनमयोधयत्।

युद्धमें अभिमान प्रकट करनेवाले, घमंडी और पहलेके वैरी आपके महारथी पुत्र दुर्योधनसे भीमसेन युद्ध करने लगे ॥

तावुभौ नरशार्दूलौ कुरुमुख्यौ महाबलौ ॥ १९ ॥
अन्योन्यं शरवर्षाभ्यां ववृषाते रणाजिरे।

वे दोनों नरश्रेष्ठ महाबली वीर कुरुकुलके प्रधान व्यक्ति थे। उन्होंने समराङ्गणमें एक दूसरेपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १९½ ॥

तौ वीक्ष्य तु महात्मानौ कृतिनौ चित्रयोधिनौ ॥ २० ॥
विस्मयः सर्वभूतानां समपद्यत भारत।

भारत! वे दोनों महामनस्वी अस्त्रविद्याके विद्वान् तथा विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले थे। उन्हें देखकर समस्त प्राणियोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २०½ ॥

दुःशासनस्तु नकुलं प्रत्युद्याय महाबलम् ॥ २१ ॥
अविध्यन्निशितैर्बाणैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः।

दुःशासनने आगे बढ़कर मर्मस्थानोंको विदीर्ण करनेवाले अपने बहुसंख्यक तीखे बाणोंद्वारा महाबली नकुलको घायल कर दिया ॥ २१½ ॥

तस्य माद्रीसुतः केतुं सशरं च शरासनम् ॥ २२ ॥
चिच्छेद निशितैर्बाणैः प्रहसन्निव भारत।
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ॥ २३ ॥

भारत! तब माद्रीकुमार नकुलने भी हँसते हुए-से तीखे बाण मारकर दुःशासनके धनुष-बाण और ध्वजको काट गिराया और पचीस बाण मारकर उसे घायल कर दिया ॥ २२-२३ ॥

पुत्रस्तु तव दुर्धर्षो नकुलस्य महाहवे।
तुरङ्गांश्चिच्छिदे बाणैर्ध्वजं चैवाभ्यपातयत् ॥ २४ ॥

इसके बाद आपके दुर्धर्ष पुत्रने उस महायुद्धमें नकुलके घोड़ोंको अपने सायकोंद्वारा काट डाला और ध्वजको भी नीचे गिरा दिया ॥ २४ ॥

दुर्मुखः सहदेवं च प्रत्युद्याय महाबलम्।
विव्याध शरवर्षेण यतमानं महाहवे ॥ २५ ॥

महाबली सहदेव उस महासमरमें अपनी विजयके लिये बड़ा प्रयत्न कर रहे थे। उन्हें आपके पुत्र दुर्मुखने धावा करके अपने बाणोंकी वर्षासे घायल कर दिया ॥ २५ ॥

सहदेवस्ततो वीरो दुर्मुखस्य महारणे।
शरेण भृशतीक्ष्णेन पातयामास सारथिम् ॥ २६ ॥

तब वीरवर सहदेवने उस महायुद्धमें अत्यन्त तीखे बाण-से दुर्मुखके सारथिको मार गिराया ॥ २६ ॥

तावन्योन्यं समासाद्य समरे युद्धदुर्मदौ।
त्रासयेतां शरैर्घोरैः कृतप्रतिकृतैषिणौ ॥ २७ ॥

वे दोनों युद्धदुर्मद वीर समराङ्गणमें एक दूसरेसे टक्कर लेकर पूर्वकृत अपराधोंका बदला लेनेकी इच्छा रखते हुए भयंकर बाणोंद्वारा एक दूसरेको भयभीत करने लगे ॥ २७ ॥

युधिष्ठिरः स्वयं राजा मद्रराजानमभ्ययात्।
तस्य मद्राधिपश्चापं द्विधा चिच्छेद मारिष ॥ २८ ॥

स्वयं राजा युधिष्ठिरने मद्रराज शल्यपर आक्रमण किया। राजन्! मद्रराजने युधिष्ठिरके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अन्यत् कार्मुकमादाय वेगवद् बलवत्तरम् ॥ २९ ॥
ततो मद्रेश्वरं राजा शरैः संनतपर्वभिः।
छादयामास संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३० ॥

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने उस कटे हुए धनुषको फेंक-कर दूसरा वेगयुक्त एवं प्रबलतर धनुष ले लिया और झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा मद्रराज शल्यको ढक दिया। फिर क्रोधमें भरकर कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥ २९-३० ॥

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणमभ्यद्रवत भारत।
तस्य द्रोणः सुसंक्रुद्धः परासुकरणं दृढम् ॥ ३१ ॥
त्रिधा चिच्छेद समरे पाञ्चाल्यस्य तु कार्मुकम्।

भरतनन्दन! एक ओरसे धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर आक्रमण किया। तब द्रोणने अत्यन्त क्रुद्ध होकर युद्धमें शत्रुओंके मारनेके साधनभूत धृष्टद्युम्नके सुदृढ़ धनुषके तीन टुकड़े कर डाले ॥ ३१½ ॥

शरं चैव महाघोरं कालदण्डमिवापरम् ॥ ३२ ॥
प्रेषयामास समरे सोऽस्य काये न्यमज्जत।

तदनन्तर उस रणक्षेत्रमें उन्होंने द्वितीय कालदण्डके समान अत्यन्त भयंकर बाण चलाया। वह बाण धृष्टद्युम्नके शरीरमें धँस गया ॥ ३२½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सायकांश्च चतुर्दश ॥ ३३ ॥
द्रोणं द्रुपदपुत्रस्तु प्रतिविव्याध संयुगे।
तावन्योन्यं सुसंक्रुद्धौ चक्रतुः सुभृशं रणम् ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर चौदह बाण चलाये और उस युद्धभूमिमें द्रोणाचार्यको घायल कर दिया। फिर तो वे दोनों एक दूसरेपर अत्यन्त कुपित हो भीषण संग्राम करने लगे ॥ ३३-३४ ॥

सौमदत्तिं रणे शङ्खो रभसं रभसो युधि।
प्रत्युद्ययौ महाराज तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३५ ॥

महाराज! वेगशाली शङ्खने उस युद्धमें वेगवान् वीर भूरिश्रवापर धावा किया और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो'॥

तस्य वै दक्षिणं वीरो निर्बिभेद रणे भुजम्।
सौमदत्तिस्तथा शङ्खं जत्रुदेशे समाहनत् ॥ ३६ ॥

वीर शङ्खने रणभूमिमें भूरिश्रवाकी दाहिनी भुजा विदीर्ण कर डाली; फिर भूरिश्रवाने भी शङ्खके गलेकी हँसलीपर बाण मारा ॥ ३६ ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं विशाम्पते।
दृप्तयोः समरे पूर्वं वृत्रवासवयोरिव ॥ ३७ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें इन्द्र और वृत्रासुरकी भाँति उन दोनों अभिमानी वीरोंमें बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥३७॥

बाह्लीकं तु रणे क्रुद्धं क्रुद्धरूपो विशाम्पते।
अभ्यद्रवदमेयात्मा धृष्टकेतुर्महारथः ॥ ३८ ॥

प्रजानाथ! रणक्षेत्रमें कुपित हुए बाह्लीकपर अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न महारथी धृष्टकेतुने क्रोधपूर्वक आक्रमण किया॥

बाह्लीकस्तु रणे राजन् धृष्टकेतुममर्षणः।
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् सिंहनादमथानदत् ॥ ३९ ॥

राजन्! अमर्षशील बाह्लीकने समराङ्गणमें बहुतसे बाणों-द्वारा धृष्टकेतुको पीड़ा दी और सिंहके समान गर्जना की ॥

चेदिराजस्तु संक्रुद्धो बाह्लीकं नवभिः शरैः।
विव्याध समरे तूर्णं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ४० ॥

तब चेदिराज धृष्टकेतुने अत्यन्त क्रुद्ध होकर जैसे मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराजपर हमला करता है, उसी प्रकार तुरंत ही नौ बाण मारकर उस युद्धभूमिमें बाह्लीकको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ४० ॥

तौ तत्र समरे क्रुद्धौ नर्दन्तौ च पुनः पुनः।
समीयतुः सुसंक्रुद्धावङ्गारकबुधाविव ॥ ४१ ॥

उस रणभूमिमें वे दोनों वीर परस्पर कुपित हो रोषमें भरे हुए मंगल और बुधकी भाँति बारंबार गर्जते हुए युद्ध कर रहे थे ॥ ४१ ॥

राक्षसं रौद्रकर्माणं क्रूरकर्मा घटोत्कचः।
अलम्बुषं प्रत्युदियाद् बलं शक्र इवाहवे ॥ ४२ ॥

जैसे इन्द्रने युद्धमें बल नामक दैत्यपर चढ़ाई की थी, उसी प्रकार क्रूरकर्मा घटोत्कचने भयंकर कर्म करनेवाले अलम्बुष नामक राक्षसपर आक्रमण किया ॥ ४२ ॥

घटोत्कचस्ततः क्रुद्धो राक्षसं तं महाबलम्।
नवत्या सायकैस्तीक्ष्णैर्दारयामास भारत ॥ ४३ ॥

भरतनन्दन ! क्रोधमें भरे हुए घटोत्कचने नब्बे तीखे बाणोंद्वारा उस महाबली राक्षस अलम्बुषको विदीर्ण कर दिया॥

अलम्बुषस्तु समरे भैमसेनिं महाबलम्।
बहुधा दारयामास शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४४ ॥

तब अलम्बुषने भी महाबली भीमसेनपुत्र घटोत्कचको झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा समराङ्गणमें बहुत प्रकारसे घायल कर दिया ॥ ४४ ॥

व्यभ्राजेतां ततस्तौ तु संयुगे शरविक्षतौ।
यथा देवासुरे युद्धे बलशक्रौ महाबलौ ॥ ४५ ॥

जैसे देवासुर-संग्राममें महाबली बलासुर और इन्द्र घायल हो गये थे, उसी प्रकार इस युद्धमें एक दूसरेके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो अलम्बुष और घटोत्कच अद्भुत शोभा धारण कर रहे थे ॥ ४५ ॥

शिखण्डी समरे राजन् द्रौणिमभ्युद्ययौ बली।
अश्वत्थामा ततः क्रुद्धः शिखण्डिनमुपस्थितम् ॥ ४६ ॥
नाराचेन सुतीक्ष्णेन भृशं विद्ध्वा ह्यकम्पयत्।
शिखण्ड्यपि ततो राजन् द्रोणपुत्रमताडयत् ॥ ४७ ॥
सायकेन सुपीतेन तीक्ष्णेन निशितेन च।
तौ जघ्नतुस्तदान्योन्यं शरैर्बहुविधैर्मृधे ॥ ४८ ॥

राजन् ! बलवान् शिखण्डीने रणक्षेत्रमें द्रोणपुत्र अश्वत्थामापर धावा किया। तब अश्वत्थामाने कुपित हो एक तीखे नाराचके द्वारा निकट आये हुए शिखण्डीको अत्यन्त घायल करके कम्पित कर दिया। महाराज ! तब शिखण्डीने भी पीले रंगके तेज धारवाले तीखे सायकसे द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको गहरी चोट पहुँचायी; तदनन्तर वे दोनों अनेक प्रकारके बाणोंद्वारा एक दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥ ४६–४८ ॥

भगदत्तं रणे शूरं विराटो वाहिनीपतिः।
अभ्ययात् त्वरितो राजंस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ४९ ॥

राजन् ! संग्रामशूर भगदत्तपर सेनापति विराटने बड़ी उतावलीके साथ आक्रमण किया। फिर तो उन दोनोंमें युद्ध होने लगा ॥ ४९ ॥

विराटो भगदत्तं तु शरवर्षेण भारत।
अभ्यवर्षत् सुसंक्रुद्धो मेघो वृष्ट्या इवाचलम् ॥ ५० ॥

भारत ! विराटने अत्यन्त कुपित होकर भगदत्तपर अपने बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ पर्वतपर जलकी बूँदें बरसा रहा हो ॥ ५० ॥

भगदत्तस्ततस्तूर्णं विराटं पृथिवीपतिम्।
छादयामास समरे मेघः सूर्यमिवोदितम् ॥ ५१ ॥

तब जैसे बादल उगे हुए सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार भगदत्तने समरभूमिमें बाणोंकी वर्षाद्वारा पृथ्वीपति विराटको आच्छादित कर दिया ॥ ५१ ॥

बृहत्क्षत्रं तु कैकेयं कृपः शारद्वतो ययौ।
तं कृपः शरवर्षेण छादयामास भारत ॥ ५
गौतमं कैकयः क्रुद्धः शरवृष्ट्याभ्यपूरयत्।

भरतनन्दन ! केकयराज बृहत्क्षत्रपर शरद्वान्के कृपाचार्यने आक्रमण किया और अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा ढक दिया। तब केकयराजने भी क्रुद्ध होकर अपने वर्षासे कृपाचार्यको आच्छादित कर दिया ॥ ५२½ ॥

तावन्योन्यं हयान् हत्वा धनुश्छित्त्वा च भारत ॥
विरथावसियुद्धाय समीयतुरमर्षणौ।
तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं सुदारुणम् ॥ ५

भारत ! वे दोनों वीर एक दूसरेके घोड़ोंको मार के टुकड़े करके रथहीन हो अमर्षमें भरकर खड्गद्वारा करनेके लिये आमने-सामने खड़े हुए। फिर तो उन अत्यन्त भयंकर एवं दारुण युद्ध होने लगा ॥ ५३-५४ ॥

द्रुपदस्तु ततो राजन् सैन्धवं वै जयद्रथम्।
अभ्युद्ययौ हृष्टरूपो हृष्टरूपं परंतपः ॥ ५५ ॥

राजन् ! दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रुपदने बड़े हर्षके साथ सिन्धुराज जयद्रथपर धावा किया। भी बहुत प्रसन्न था ॥ ५५ ॥

ततः सैन्धवको राजा द्रुपदं विशिखैस्त्रिभिः।
ताडयामास समरे स च तं प्रत्यविध्यत ॥ ५६ ॥

तत्पश्चात् सिन्धुराज जयद्रथने समराङ्गणमें तीन द्वारा द्रुपदको गहरी चोट पहुँचायी। द्रुपदने भी उसे बींध डाला ॥ ५६ ॥

तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं सुदारुणम्।
ईक्षणप्रीतिजननं शुक्राङ्गारकयोरिव ॥ ५७ ॥

उन दोनोंका वह घोर एवं अत्यन्त भयंकर युद्ध और मंगलके संघर्षकी भाँति नेत्रोंके लिये हर्ष करनेवाला था ॥ ५७ ॥

विकर्णस्तु सुतस्तुभ्यं सुतसोमं महाबलम्।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ५८ ॥

आपके पुत्र विकर्णने तेज चलनेवाले घोड़ोंद्वारा महा सुतसोमपर धावा किया। तत्पश्चात् उनमें भारी होने लगा ॥ ५८ ॥

विकर्णः सुतसोमं तु विद्ध्वा नाकम्पयच्छरैः।
सुतसोमो विकर्णं च तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ५९ ॥

विकर्ण अपने बाणोंसे सुतसोमको घायल करके भी कम्पित न कर सका। इसी प्रकार सुतसोम भी विक विचलित न कर सके। उन दोनोंका यह पराक्रम अद्भु सा प्रतीत हुआ ॥ ५९ ॥

सुशर्माणं नरव्याघ्रश्चेकितानो महारथः।
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धः पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ ६० ॥

नरश्रेष्ठ पराक्रमी महारथी चेकितानने पाण्डवोंके लिये अत्यन्त कुपित होकर सुशर्मापर धावा किया ॥ ६० ॥

सुशर्मा तु महाराज चेकितानं महारथम्।
महता शरवर्षेण वारयामास संयुगे ॥ ६१ ॥

महाराज! सुशर्माने भारी बाण-वर्षाके द्वारा महारथी चेकितानको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ६१ ॥

चेकितानोऽपि संरब्धः सुशर्माणं महाहवे।
प्राच्छादयत् तमिषुभिर्महामेघ इवाचलम् ॥ ६२ ॥

तब चेकितानने भी रोषमें भरकर उस महायुद्धमें अपने बाणोंकी वर्षासे सुशर्माको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे महामेघ जलकी वर्षासे पर्वतको आच्छादित कर देता है ॥

शकुनिः प्रतिविन्ध्यं तु पराक्रान्तं पराक्रमी।
अभ्यद्रवत राजेन्द्र मत्तः सिंह इव द्विपम् ॥ ६३ ॥

राजेन्द्र! पराक्रमी शकुनि पराक्रमसम्पन्न प्रतिविन्ध्यपर चढ़ आया, ठीक उसी तरह जैसे मतवाला सिंह किसी हाथीपर आक्रमण करता है ॥ ६३ ॥

यौधिष्ठिरस्तु संक्रुद्धः सौबलं निशितैः शरैः।
व्यदारयत संग्रामे मघवानिव दानवम् ॥ ६४ ॥

जिस प्रकार इन्द्र संग्रामभूमिमें किसी दानवको विदीर्ण करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिरके पुत्र प्रतिविन्ध्यने अत्यन्त कुपित होकर सुबलपुत्र शकुनिको अपने तीखे बाणोंसे चीर डाला ॥ ६४ ॥

शकुनिः प्रतिविन्ध्यं तु प्रतिविध्यन्तमाहवे।
व्यदारयन्महाप्राज्ञः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६५ ॥

युद्धमें अपनेको वेधनेवाले प्रतिविन्ध्यको भी परम बुद्धिमान् शकुनिने झुके हुए गाँठवाले बाणोंसे घायल कर दिया॥

सुदक्षिणं तु राजेन्द्र काम्बोजानां महारथम्।
श्रुतकर्मा पराक्रान्तमभ्यद्रवत संयुगे ॥ ६६ ॥

राजेन्द्र! काम्बोजदेशके राजा पराक्रमी महारथी सुदक्षिणपर रणभूमिमें श्रुतकर्माने आक्रमण किया ॥ ६६ ॥

सुदक्षिणस्तु समरे साहदेविं महारथम्।
विद्ध्वा नाकम्पयत वै मैनाकमिव पर्वतम् ॥ ६७ ॥

तब सुदक्षिणने समराङ्गणमें सहदेव-पुत्र महारथी श्रुतकर्माको क्षत-विक्षत कर दिया; तो भी वह उन्हें कम्पित न कर सका। वे मैनाक पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे ॥ ६७ ॥

श्रुतकर्मा ततः क्रुद्धः काम्बोजानां महारथम्।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् दारयन्निव सर्वशः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर श्रुतकर्माने कुपित होकर महारथी काम्बोजराजको सब ओरसे विदीर्ण-सा करते हुए अपने बहुसंख्यक बाणोंद्वारा भलीभाँति पीड़ित किया ॥ ६८ ॥

इरावानथ संक्रुद्धः श्रुतायुषमरिंदमम्।
प्रत्युद्ययौ रणे यत्तो यत्तरूपं परंतपः ॥ ६९ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले यत्नशील इरावान्ने युद्धमें कुपित होकर शत्रुदमन श्रुतायुषपर धावा किया। श्रुतायुष भी प्रयत्नपूर्वक उनका सामना कर रहा था ॥६९॥

आर्जुनिस्तस्य समरे हयान् हत्वा महारथः।
ननाद बलवन्नादं तत् सैन्यं प्रत्यपूरयत् ॥ ७० ॥

अर्जुनके उस महारथी पुत्र इरावान्ने रणक्षेत्रमें श्रुतायुषके घोड़ोंको मारकर बड़े जोरसे गर्जना की और उसकी सेनाको बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ७० ॥

श्रुतायुस्तु ततः क्रुद्धः फाल्गुनेः समरे हयान्।
निजघान गदाग्रेण ततो युद्धमवर्तत ॥ ७१ ॥

यह देख श्रुतायुषने भी रुष्ट होकर रणभूमिमें अर्जुनपुत्र इरावान्के घोड़ोंको अपनी गदाकी चोटसे मार डाला। तत्पश्चात् उन दोनोंमें खूब जमकर युद्ध होने लगा ॥ ७१ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ कुन्तिभोजं महारथम्।
ससेनं ससुतं वीरं संससज्जतुराहवे ॥ ७२ ॥

अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्दने सेना और पुत्रसहित वीर महारथी कुन्तिभोजके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ ७२ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तयोर्घोरं पराक्रमम्।
अयुध्येतां स्थिरौ भूत्वा महत्या सेनया सह ॥ ७३ ॥

वहाँ मैंने उन दोनोंका अद्भुत और भयंकर पराक्रम देखा। वे दोनों ही अपनी विशाल वाहिनीके साथ स्थिरतापूर्वक खड़े होकर एक दूसरेका सामना कर रहे थे ॥ ७३ ॥

अनुविन्दस्तु गदया कुन्तिभोजमताडयत्।
कुन्तिभोजश्च तं तूर्णं शरव्रातैरवाकिरत् ॥ ७४ ॥

अनुविन्दने कुन्तिभोजपर गदासे आघात किया। तब कुन्तिभोजने भी तुरंत ही अपने बाणसमूहोंद्वारा उसे आच्छादित कर दिया ॥ ७४ ॥

कुन्तिभोजसुतश्चापि विन्दं विव्याध सायकैः।
स च तं प्रतिविव्याध तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ७५ ॥

साथ ही कुन्तिभोजके पुत्रने विन्दको भी अपने सायकोंसे घायल कर दिया। विन्दने भी बदलेमें कुन्तिभोजपुत्रको क्षत-विक्षत कर दिया। वह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ७५ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च गान्धारान् पञ्च मारिष।
ससैन्यास्ते ससैन्यांश्च योधयामासुराहवे ॥ ७६ ॥

राजन्! पाँच भाई केकय-राजकुमारोंने सेनासहित आकर युद्धमें अपनी विशाल वाहिनीके साथ खड़े हुए गान्धारदेशीय पाँच वीरोंके साथ युद्ध आरम्भ किया ।७६।

वीरबाहुश्च ते पुत्रो वैराटिं रथसत्तमम्।
उत्तरं योधयामास विव्याध निशितैः शरैः ॥ ७७ ॥
उत्तरश्चापि तं वीरं विव्याध निशितैः शरैः।

आपके पुत्र वीरबाहुने विराटके पुत्र श्रेष्ठ रथी उत्तरके साथ युद्ध किया और उसे तीखे बाणोंद्वारा घायल कर दिया। उत्तरने भी वीरबाहुको अपने तीक्ष्ण सायकोंका लक्ष्य बनाकर बेध डाला ॥ ७७½ ॥

चेदिराट् समरे राजन्नुलूकं समभिद्रवत् ॥ ७८ ॥
तथैव शरवर्षेण उलूकं समविद्ध्यत।
उलूकश्चापि तं बाणैर्निशितैर्लोमवाहिभिः ॥ ७९ ॥

राजन्! चेदिराजने समराङ्गणमें उलूकपर धावा किया और उसे अपने बाणोंकी वर्षासे बींध डाला। वैसे ही उलूकने भी पंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा चेदिराजको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ७८-७९ ॥

तयोर्युद्धं समभवद् घोररूपं विशाम्पते।
दारयेतां सुसंक्रुद्धावन्योन्यमपराजितौ ॥ ८० ॥

प्रजानाथ! फिर उन दोनोंमें बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा। किसीसे पराजित न होनेवाले वे दोनों वीर अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेको विदीर्ण किये देते थे ॥ ८० ॥

एवं द्वन्द्वसहस्राणि रथवारणवाजिनाम्।
पदातीनां च समरे तव तेषां च संकुले ॥ ८१ ॥

इस प्रकार उस घमासान युद्धमें आपके और पाण्डव-पक्षके रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैन्यके सहस्रों योद्धाओंमें द्वन्द्व-युद्ध चल रहा था ॥ ८१ ॥

मुहूर्तमिव तद् युद्धमासीन्मधुरदर्शनम्।
तत उन्मत्तवद् राजन् न प्राज्ञायत किंचन ॥ ८२ ॥

महाराज! दो घड़ीतक तो वह युद्ध देखनेमें बड़ा
मनोरम प्रतीत हुआ; फिर उन्मत्तकी भाँति विक्षु
चलने लगा। उस समय किसीको कुछ सू
पड़ता था ॥ ८२ ॥

गजो गजेन समरे रथिनं च रथी ययौ।
अश्वोऽश्वं समभिप्रायात् पदातिश्च पदातिनम्॥ ८

उस समरभूमिमें हाथी हाथीके साथ भिड़ गया, र
रथीपर आक्रमण किया, घुड़सवार घुड़सवारपर चढ़
और पैदलने पैदलके साथ युद्ध किया ॥ ८३ ॥

ततो युद्धं सुदुर्धर्षं व्याकुलं समपद्यत।
शूराणां समरे तत्र समासाद्येतरेतरम्॥ ८

कुछ ही देरमें उस रणक्षेत्रके भीतर शूरवीर सैनिकों
एक दूसरेसे भिड़कर अत्यन्त दुर्धर्ष एवं घमासान यु
होने लगा ॥ ८४ ॥

तत्र देवर्षयः सिद्धाश्चारणाश्च समागताः।
प्रैक्षन्त तद् रणं घोरं देवासुरसमं भुवि॥ ८

वहाँ आये हुए देवर्षियों, सिद्धों तथा चारणोंने भूत
होनेवाले उस युद्धको देवासुर-संग्रामके समान भयंकर दे

ततो दन्तिसहस्राणि रथानां चापि मारिष।
अश्वौघाः पुरुषौघाश्च विपरीतं समाययुः॥ ८

आर्य! तदनन्तर हजारों हाथी, रथ, घुड़सवार और पै
सैनिक द्वन्द्व-युद्धके पूर्वोक्त क्रमका उल्लङ्घन करके स
सबके साथ युद्ध करने लगे ॥ ८६ ॥

तत्र तत्र प्रदृश्यन्ते रथवारणपत्तयः।
सादिनश्च नरव्याघ्र युध्यमाना मुहुर्मुहुः॥ ८

नरश्रेष्ठ! जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती, वहीं रथ, हा
घुड़सवार और पैदल सैनिक बारंबार युद्ध करते दिख
देते थे ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्व-युद्धविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवसेनाका घमासान युद्ध

संजय उवाच

राजन् शतसहस्राणि तत्र तत्र पदातिनाम्।
निर्मर्यादं प्रयुद्धानि तत् ते वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतवंशी नरेश! उस रणभूमिमें जहाँ-तहाँ लाखों सैनिकोंका मर्यादाशून्य युद्ध चल रहा था। वह सब आपको बता रहा हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

न पुत्रः पितरं जज्ञे पिता वा पुत्रमौरसम्।
न भ्राता भ्रातरं तत्र स्वस्रीयं न च मातुलः ॥ २ ॥

न पुत्र पिताको पहचानता था, न पिता अपने औरस पुत्रको। न भाई भाईको जानता था, न मामा अपने भानजेको

न मातुलं च स्वस्रीयो न सखायं सखा तथा।
आविष्टा इव युध्यन्ते पाण्डवाः कुरुभिः सह॥ ३

न भानजेने मामाको पहचाना, न मित्रने मित्रको। उ
समय पाण्डव-योद्धा कौरव-सैनिकोंके साथ इस प्रकार यु
करते थे, मानो उनमें किसी ग्रह आदिका आवे
हो गया हो ॥ ३ ॥

रथानीकं नरव्याघ्राः केचिदभ्यपतन् रथैः।
अभज्यन्त युगैरेव युगानि भरतर्षभ॥ ४

कुछ नरश्रेष्ठ वीर अपने रथोंद्वारा शत्रुपक्षकी रथसेना-पर टूट पड़े। भरतश्रेष्ठ! कितने ही रथोंके जूए विपक्षी रथोंके जूओंसे ही टकराकर टूट गये ॥ ४ ॥

ईषाश्च रथेषाभिः कूबरा रथकूबरैः ।
संगताः सहिताः केचित् परस्परजिघांसवः ॥ ५ ॥
न शेकुश्चलितुं केचित् संनिपत्य रथा रथैः ।

रथोंके ईषादण्ड और कूबर भी सामने आये हुए रथोंके ईषादण्ड और कूबरोंसे भिड़कर टूक-टूक हो गये। एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखनेवाले कितने ही रथ दूसरे रथोंसे आमने-सामने भिड़कर एक पग भी इधर-उधर न हट सके ॥ ५½ ॥

प्रभिन्नास्तु महाकायाः संनिपत्य गजा गजैः ॥ ६ ॥
बहुधादारयन् क्रुद्धा विषाणैरितरेतरम् ।

गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले विशालकाय गजराज कुपित हो दूसरे हाथियोंसे टक्कर लेते हुए अपने दाँतोंके आघातसे एक दूसरेको नाना प्रकारसे विदीर्ण करने लगे ६½

सतोरणपताकैश्च वारणा वरवारणैः ॥ ७ ॥
अभिसृत्य महाराज वेगवद्भिर्महागजैः ।
दन्तैरभिहतास्तत्र चुक्रुशुः परमातुराः ॥ ८ ॥

महाराज! कितने ही हाथी तोरण और पताकाओंसे युक्त वेगशाली महाकाय एवं श्रेष्ठ गजराजोंसे भिड़कर उनके दाँतोंके आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो आतुर भावसे चिग्घाड़ने लगे ॥ ७-८ ॥

विनीताश्च शिक्षाभिस्तोत्रांकुशसमाहताः ।
अप्रभिन्नाः प्रभिन्नानां सम्मुखाभिमुखा ययुः ॥ ९ ॥

जिन्हें अनेक प्रकारकी शिक्षाएँ मिली थीं तथा जिनका मद अभी प्रकट नहीं हुआ था, वे हाथी तोत्र और अङ्कुशों-की चोट खाकर सम्मुख खड़े हुए मदस्रावी गजराजोंके सामने जाकर युद्धके लिये डट गये ॥ ९ ॥

प्रभिन्नैरपि संसक्ताः केचित् तत्र महागजाः ।
क्रौञ्चवन्निनदं कृत्वा दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ॥ १० ॥

कुछ महान् गजराज मदस्रावी हाथियोंसे टक्कर लेकर क्रौञ्च पक्षीकी भाँति चीत्कार करते हुए सब दिशाओंमें भाग गये ॥ १० ॥

सम्यक्प्रणीता नागाश्च प्रभिन्नकरटामुखाः ।
ऋष्टितोमरनाराचैर्निर्विद्धा वरवारणाः ॥ ११ ॥
प्रणेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः ।
प्राद्रवन्त दिशः केचिन्नदन्तो भैरवान् रवान् ॥ १२ ॥

अच्छी तरह शिक्षा पाये हुए कितने ही हाथी तथा ऐसे गज, जिनके गण्डस्थलसे मद चू रहा था, ऋष्टि, तोमर और नाराचोंसे विद्ध होकर मर्म विदीर्ण हो जानेके कारण चिग्घाड़ते और प्राणशून्य हो धरतीपर गिर पड़ते थे। कितने ही भयानक चीत्कार करते हुए सब दिशाओंमें भाग जाते थे ॥ ११-१२ ॥

गजानां पादरक्षास्तु व्यूढोरस्काः प्रहारिणः ।
ऋष्टिभिश्च धनुर्भिश्च विमलैश्च परश्वधैः ॥ १३ ॥
गदाभिर्मुसलैश्चैव भिन्दिपालैः सतोमरैः ।
आयसैः परिघैश्चैव निस्त्रिंशैर्विमलैः शितैः ॥ १४ ॥
प्रगृहीतैः सुसंरब्धा द्रवमाणास्ततस्ततः ।
व्यदृश्यन्त महाराज परस्परजिघांसवः ॥ १५ ॥

महाराज! हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेवाले योद्धा, जिनके वक्षःस्थल विस्तृत एवं विशाल थे, अत्यन्त क्रोधमें भरकर इधर-उधर दौड़ रहे थे और हाथोंमें लिये हुए ऋष्टि, धनुष, चमकीले फरसे, गदा, मूसल, भिन्दिपाल, तोमर, लोहेकी परिघ तथा तेज धारवाले उज्ज्वल खड्ग आदि आयुधोंद्वारा एक दूसरेके वधके लिये उत्सुक दिखायी दे रहे थे १३-१५

राजमानाश्च निस्त्रिंशाः संसिक्ता नरशोणितैः ।
प्रत्यदृश्यन्त शूराणामन्योन्यमभिधावताम् ॥ १६ ॥

परस्पर धावा करनेवाले शूरवीरोंके चमकीले खड्ग मनुष्योंके रक्तसे रँगे हुए देखे जाते थे ॥ १६ ॥

अवक्षिप्तावधूतानामसीनां वीरबाहुभिः ।
संजज्ञे तुमुलः शब्दः पततां परमर्मसु ॥ १७ ॥

वीरोंकी भुजाओंसे घुमाकर चलाये हुए खड्ग जब दूसरोंके मर्मपर आघात करते थे, उस समय उनका भयंकर शब्द सुनायी पड़ता था ॥ १७ ॥

गदामुसलरुग्णानां भिन्नानां च वरासिभिः ।
दन्तिदन्तावभिन्नानां मृदितानां च दन्तिभिः ॥ १८ ॥
तत्र तत्र नरौघाणां क्रोशतामितरेतरम् ।
शुश्रुवुर्दारुणा वाचः प्रेतानामिव भारत ॥ १९ ॥

उस युद्धस्थलमें गदा और मूसलके आघातसे कितने ही मनुष्योंके अङ्ग-भङ्ग हो गये थे, कितने ही अच्छी श्रेणीके तलवारोंसे छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कितनोंके शरीर हाथियोंके दाँतोंसे दबकर विदीर्ण हो गये थे और कितनोंको हाथियोंने कुचल दिया था। इस प्रकार असंख्य मनुष्योंके समुदाय अधमरे-से होकर एक दूसरेको पुकार रहे थे। भारत! उनके वे भयंकर आर्तनाद प्रेतोंके कोलाहलके समान श्रवणगोचर हो रहे थे ॥ १८-१९ ॥

हयैरपि हयारोहाश्चामरापीडधारिभिः ।
हंसैरिव महावेगैरन्योन्यमभिविद्रुताः ॥ २० ॥

चँवर और कलंगीसे सुशोभित हंस-तुल्य सफेद एवं महान् वेगशाली घोड़ोंपर बैठे हुए कितने ही घुड़सवार एक दूसरेपर धावा कर रहे थे ॥ २० ॥

तैर्विमुक्ता महाप्रासा जाम्बूनदविभूषणाः ।
आशुगा विमलास्तीक्ष्णाः सम्पेतुर्भुजगोपमाः ॥ २१ ॥

उनके द्वारा चलाये हुए सुवर्णभूषित निर्मल और तेज धारवाले शीघ्रगामी महाप्रास (भाले) सर्पोंके समान गिर रहे थे ॥ २१ ॥

अश्वैरग्र्यजवैः केचिदाप्लुत्य महतो रथान् ।
शिरांस्याददिरे वीरा रथिनामश्वसादिनः ॥ २२ ॥

कितने ही वीर घुड़सवार शीघ्रगामी अश्वोंद्वारा धावा करके बड़े-बड़े रथोंपर कूद पड़ते और रथियोंके मस्तक काट लेते थे ॥ २२ ॥

बहूनपि हयारोहान् भल्लैः संनतपर्वभिः ।
रथी जघान सम्प्राप्य बाणगोचरमागतान् ॥ २३ ॥

इसी प्रकार एक-एक रथी झुकी हुई गाँठवाले भल्ल नामक बाणोंद्वारा निशानेपर आये हुए बहुत-से घुड़सवारोंका संहार कर डालता था ॥ २३ ॥

नवमेघप्रतीकाशाश्चाक्षिप्य तुरगान् गजाः ।
पादैरेव विमृद्नन्ति मत्ताः कनकभूषणाः ॥ २४ ॥

नूतन मेघोंके समान शोभा पानेवाले स्वर्णभूषित मतवाले हाथी बहुत-से घोड़ोंको सूँड़ोंसे झटककर पैरोंसे ही रौंद डालते थे ॥ २४ ॥

पाट्यमानेषु कुम्भेषु पार्श्वेष्वपि च वारणाः ।
प्रासैर्विनिहताः केचिद् विनेदुः परमातुराः ॥ २५ ॥

कितने ही हाथी प्रासोंकी चोट खाकर कुम्भस्थल और पार्श्वभागोंके विदीर्ण हो जानेपर अत्यन्त आतुर हो घोर चिग्घाड़ मचा रहे थे ॥ २५ ॥

साश्वारोहान् हयान् कांचिदुन्मथ्य वरवारणाः ।
सहसा चिक्षिपुस्तत्र संकुले भैरवे सति ॥ २६ ॥

बहुत-से बड़े-बड़े हाथी कितने ही घुड़सवारोंसहित घोड़ोंको पैरोंसे कुचलकर सहसा भयंकर युद्धमें फेंक देते थे ॥

साश्वारोहान् विषाणाग्रैरुत्क्षिप्य तुरगान् गजाः ।
रथौघानभिमृद्नन्तः सध्वजानभिचक्रमुः ॥ २७ ॥

कितने ही हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे घुड़सवारों-सहित घोड़ोंको उछालकर ध्वजों सहित रथसमूहोंको पैरोंतले रौंदते हुए रणभूमिमें विचर रहे थे ॥ २७ ॥

पुंस्त्वादतिमदत्वाच्च केचित् तत्र महागजाः ।
साश्वारोहान् हयाञ्जघ्नुः करैः सचरणैस्तथा ॥ २८ ॥

वहाँ कितने ही महान् गज अत्यन्त मदोन्मत्ततथा पुरुष होनेके कारण सूँड़ों और पैरोंसे घोड़ों और घुड़सवारोंका संहार कर डालते थे ॥ २८ ॥

अश्वारोहैश्च समरे हस्तिसादिभिरेव च ।
प्रतिमानेषु गात्रेषु पार्श्वेष्वभि च वारणान् ।
आशुगा विमलास्तीक्ष्णाः सम्पेतुर्भुजगोपमाः ॥ २९ ॥

युद्धमें घुड़सवारों और गजारोहियोंके चलाये हुए निर्मल, तीक्ष्ण तथा सर्पोंके समान भयंकर शीघ्रगामी बाण हाथियोंके अन्यान्य अङ्गों तथा पसलियोंपर चोट करते थे ॥

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
निपेतुर्विमलाः शक्त्यो वीरबाहुभिरर्पिताः ॥
महोल्काप्रतिमा घोरास्तत्र तत्र विशाम्पते ।

वीरोंकी भुजाओंसे चलायी हुई निर्मल शक्तियाँ और घोड़ोंकी काया तथा लोहमय कवचोंको भी विदीर्ण धरतीपर गिर जाती थीं । प्रजानाथ ! वहाँ गिरते समय वे शक्तियाँ बड़ी भारी उल्काओंके समान प्रतीत होती थीं ॥

द्वीपिचर्मावनद्धैश्च व्याघ्रचर्मच्छदैरपि ॥
विकोशैर्विमलैः खड्गैरभिजग्मुः परान् रणे ।

जो चमकीली तलवारें पहले चितकबरे अथवा व्याघ्र-चर्मकी बनी हुई म्यानोंमें बंद रहती थीं, म्यानोंसे निकालकर उनके द्वारा वीर पुरुष विपक्षियोंका वध कर रहे थे ॥ ३१½ ॥

अभिप्लुतमभिक्रुद्धमेकपार्श्वावदारितम् ॥
विदर्शयन्तः सम्पेतुः खड्गचर्मपरश्वधैः ।

कितने ही योद्धा ढाल, तलवार तथा फरसोंसे होकर शत्रुके सम्मुख जाने, क्रोधपूर्वक दाँतोंसे ओठ आक्रमण करने तथा बायीं पसलीपर चोट करने विदीर्ण करने आदिके पैंतरे दिखाते हुए शत्रुओंपर पड़ते थे ॥ ३२½ ॥

केचिदाक्षिप्य करिणः साश्वानपि रथान् करैः ॥
विकर्षन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः सर्वशब्दगाः ।

प्रत्येक शब्दकी ओर गमन करनेवाले कितने ही घोड़ोंसहित रथोंको अपनी सूँड़ोंसे खींचकर उन्हें सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ रहे थे ॥ ३३½ ॥

शङ्कुभिर्दारिताः केचित् सम्भिन्नाश्च परश्वधैः ॥
हस्तिभिर्मृदिताः केचित् क्षुण्णाश्चान्ये तुरंगमैः ।
रथनेमिनिकृत्ताश्च निकृत्ताश्च परश्वधैः ॥

कुछ मनुष्य बाणोंसे विदीर्ण होकर पड़े थे, कितने ही फरसोंसे छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कितनोंको हाथियोंने मसल डाला था, कितने ही घोड़ोंकी टापसे कुचल गये थे और कितनोंके शरीर रथके पहियोंसे कट गये थे और कितने कूबरोंसे काट डाले गये थे ॥ ३४-३५ ॥

व्याक्रोशन्त नरा राजंस्तत्र तत्र स्म बान्धवान् ।
पुत्रानन्ये पितॄनन्ये भ्रातॄंश्च सह बन्धुभिः ॥
मातुलान् भागिनेयांश्च परानपि च संयुगे ।

राजन् ! रणभूमिमें जहाँ-तहाँ गिरे हुए अगणित अपने कुटुम्बीजनोंको पुकार रहे थे । कुछ बेटोंको, पिताको, कुछ भाई-बन्धुओंको, कुछ मामा-भानजों

और कुछ लोग दूसरों-दूसरोंके नाम ले-लेकर विलाप कर थे ॥ ३६½ ॥

विकीर्णान्त्राः सुबहवो भग्नसक्थाश्च भारत ॥ ३७ ॥
बाहुभिश्चापरे छिन्नैः पार्श्वेषु च विदारिताः ।
क्रन्दन्तः समदृश्यन्त तृषिता जीवितेप्सवः ॥ ३८ ॥

भारत ! बहुतोंकी आँतें बाहर निकलकर बिखर गयी जाँघें टूट गयी थीं, कितनोंकी बाहें कट गयी थीं, बहुतोंकी पसलियाँ फट गयी थीं और कितने ही घायल स्थलमें प्यासे पीड़ित हो जीवनके लोभसे रोते दिखायी देते थे ॥ ३७-३८ ॥

तृषा परिगताः केचिदल्पसत्त्वा विशाम्पते ।
भूमौ निपतिताः संख्ये मृगयांचक्रिरे जलम् ॥ ३९ ॥

राजन् ! कुछ लोग धरतीपर अधमरे पड़े थे । उनमें जीवनकी शक्ति बहुत थोड़ी रह गयी थी और वे पिपासासे व्याकुल हो युद्धभूमिमें ही जलकी खोज कर रहे थे ॥ ३९ ॥

रुधिरौघपरिक्लिन्नाः क्लिश्यमानाश्च भारत ।
व्यनिन्दन् भृशमात्मानं तव पुत्रांश्च संगतान् ॥ ४० ॥

भरतनन्दन ! लहू-लुहान होकर कष्ट पाते हुए वे समस्त सैनिक अपनी और आपके पुत्रोंकी अत्यन्त निन्दा करते थे ॥ ४० ॥

अपरे क्षत्रियाः शूराः कृतवैराः परस्परम् ।
न शस्त्रं विमुञ्चन्ति नैव क्रन्दन्ति मारिष ॥ ४१ ॥

माननीय महाराज ! दूसरे शूरवीर क्षत्रिय आपसमें वैर बाँधे हुए उस घायल अवस्थामें भी न हथियार छोड़ते थे और न क्रन्दन ही करते थे ॥ ४१ ॥

तर्जयन्ति च संहृष्टास्तत्र तत्र परस्परम् ।
आदश्य दशनैश्चापि क्रोधात् स्वदनच्छदम् ॥ ४२ ॥
भ्रुकुटीकुटिलैर्वक्त्रैः प्रेक्षन्ति च परस्परम् ।

वे बार-बार उत्साहित होकर एक-दूसरेको डाँट बताते और रोषपूर्वक ओठोंको दाँतसे दबाकर भौंहें टेढ़ी करके परस्पर दृष्टिपात करते थे ॥ ४२½ ॥

अपरे क्लिश्यमानास्तु शरार्ता व्रणपीडिताः ॥ ४३ ॥
निष्कूजाः समपद्यन्त दृढसत्त्वा महाबलाः ।

धैर्यको दृढ़तापूर्वक धारण किये रहनेवाले दूसरे महाबली वीर बाणोंके आघातसे पीड़ित हो क्लेश सहन करते हुए भी मौन ही रहते थे—अपनी वेदना प्रकाशित नहीं करते थे ॥

अन्ये च विरथाः शूरा रथमन्यस्य संयुगे ॥ ४४ ॥
प्रार्थयाना निपतिताः संक्षुण्णा वरवारणैः ।
अशोभन्त महाराज सपुष्पा इव किंशुकाः ॥ ४५ ॥

महाराज ! कुछ वीर पुरुष अपना रथ भग्न हो जानेके कारण युद्धमें पृथ्वीपर गिरकर दूसरेका रथ माँग रहे थे, इतनेहीमें बड़े-बड़े हाथियोंके पैरोंसे वे कुचल गये । उस समय उनके रक्तरंजित शरीर फूले हुए पलाशके समान शोभा पा रहे थे ॥ ४४-४५ ॥

सम्बभूवुरनीकेषु बहवो भैरवस्वनाः ।
वर्तमाने महाभीमे तस्मिन् वीरवरक्षये ॥ ४६ ॥
निजघान पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं रणे ।
स्वस्रीयो मातुलं चापि स्वस्रीयं चापि मातुलः ॥ ४७ ॥
सखा सखायं च तथा सम्बन्धी बान्धवं तथा ।

उन सेनाओंमें अनेकानेक भयंकर शब्द सुनायी पड़ते थे । बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस महाभयानक संग्राममें पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको, भानजेने मामाको, मामाने भानजेको, मित्रने मित्रको तथा सगे-सम्बन्धीने अपने सगे बान्धवजनोंको मार डाला ॥ ४६-४७½ ॥

एवं युयुधिरे तत्र कुरवः पाण्डवैः सह ॥ ४८ ॥
वर्तमाने तथा तस्मिन् निर्मर्यादे भयानके ।
भीष्ममासाद्य पार्थानां वाहिनी समकम्पत ॥ ४९ ॥

इस प्रकार उस मर्यादाशून्य भयानक संग्राममें कौरवोंका पाण्डवोंके साथ घोर युद्ध हो रहा था । इतनेहीमें सेनापति भीष्मके पास पहुँचकर पाण्डवोंकी सारी सेना काँपने लगी ॥ ४८-४९ ॥

केतुना पञ्चतारेण तालेन भरतर्षभ ।
राजतेन महाबाहुरुच्छ्रितेन महारथे ।
बभौ भीष्मस्तदा राजंश्चन्द्रमा इव मेरुणा ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाबाहु भीष्म अपने विशाल रथपर बैठकर चाँदीके बने हुए पाँच तारोंसे युक्त तालाङ्कित ध्वजके द्वारा मेरुके शिखरपर स्थित हुए चन्द्रमाकेसमान शोभा पा रहे थे ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें दोनों सेनाओंका घमासान युद्धविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

* * *

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध, शल्यके द्वारा उत्तरकुमारका वध और श्वेतका पराक्रम

संजय उवाच

पूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे ।
माने तथा रौद्रे महावीरवरक्षये ॥ १ ॥
दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विविंशतिः ।
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण चोदिताः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस अत्यन्त भयंकर

दिनका पूर्वभाग जब प्रायः व्यतीत हो गया, तब बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस भयानक संग्राममें आपके पुत्रकी आज्ञासे दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य, शल्य और विविंशति वहाँ आकर भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ १-२ ॥

एतैरतिरथैर्गुप्तः पञ्चभिर्भरतर्षभः।
पाण्डवानामनीकानि विजगाहे महारथः ॥ ३ ॥

इन पाँच अतिरथी वीरोंसे सुरक्षित हो भरतभूषण महारथी भीष्मजीने पाण्डवोंकी सेनाओंमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

चेदिकाशिकरूषेषु पञ्चालेषु च भारत।
भीष्मस्य बहुधा तालश्चलत्केतुरदृश्यत ॥ ४ ॥

भारत ! चेदि, काशि, करूष तथा पाञ्चालोंमें विचरते हुए भीष्मका तालचिह्नित चञ्चल पताकाओंवाला रथ अनेक-सा दिखायी देने लगा ॥ ४ ॥

स शिरांसि रणेऽरीणां रथांश्च सयुगध्वजान्।
निचकर्त महावेगैर्भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ ५ ॥

वे युद्धमें झुकी हुई गाँठवाले अत्यन्त वेगशाली भल्लोंद्वारा शत्रुओंके मस्तक, रथ, जूआ तथा ध्वज काट-काटकर गिराने लगे ॥ ५ ॥

नृत्यतो रथमार्गेषु भीष्मस्य भरतर्षभ।
भृशमार्तस्वरं चक्रुर्नागा मर्मणि ताडिताः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे रथके मार्गोंपर नृत्य-सा कर रहे थे। उनके बाणोंसे मर्मस्थानोंमें चोट खाये हुए हाथी अत्यन्त आर्तनाद करने लगे ॥ ६ ॥

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः।
संयुक्तं रथमास्थाय प्रायाद् भीष्मरथं प्रति ॥ ७ ॥
जाम्बूनदविचित्रेण कर्णिकारेण केतुना।
अभ्यवर्तत भीष्मं च तांश्चैव रथसत्तमान् ॥ ८ ॥

यह देख अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो पिङ्गलवर्णके श्रेष्ठ घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर भीष्मके रथकी ओर दौड़े आये। उनका वह रथ कर्णिकारके चिह्नसे युक्त स्वर्णनिर्मित विचित्र ध्वजसे सुशोभित था। उन्होंने भीष्मपर तथा उनकी रक्षाके लिये आये हुए उन श्रेष्ठ रथियोंपर भी आक्रमण किया ॥ ७-८ ॥

स तालकेतोस्तीक्ष्णेन केतुमाहत्य पत्रिणा।
भीष्मेण युयुधे वीरस्तस्य चानुरथैः सह ॥ ९ ॥

वीर अभिमन्युने तीखे बाणसे उस तालचिह्नित ध्वजको छेद डाला और भीष्म तथा उनके अनुगामी रथियोंके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ ९ ॥

कृतवर्माणमेकेन शल्यं पञ्चभिराशुगैः।
विद्ध्वा नवभिरानर्च्छच्छिताग्रैः प्रपितामहम् ॥ १० ॥

उन्होंने एक बाणसे कृतवर्माको और पाँच शीघ्रगामी बाणोंसे शल्यको बेधकर तीखी धारवाले नौ बाणोंसे भीष्मको भी चोट पहुँचायी ॥ १० ॥

पूर्णायतविसृष्टेन सम्यक् प्रणिहितेन च।
ध्वजमेकेन विव्याध जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् धनुषको अच्छी तरह खींचकर पूरे मनोयोगसे चलाये हुए एक बाणके द्वारा उनके सुवर्णभूषित ध्वजको भी छेद डाला ॥ ११ ॥

दुर्मुखस्य तु भल्लेन सर्वावरणभेदिना।
जहार सारथेः कायाच्छिरः संनतपर्वणा ॥ १२ ॥

इसके बाद झुकी हुई गाँठवाले तथा सब प्रकारके आवरणोंका भेदन करनेवाले एक भल्लके द्वारा दुर्मुखके सारथिका मस्तक धड़से अलग कर दिया ॥ १२ ॥

धनुश्चिच्छेद भल्लेन कार्तस्वरविभूषितम्।
कृपस्य निशिताग्रेण तांश्च तीक्ष्णमुखैः शरैः ॥ १३ ॥
जघान परमक्रुद्धो नृत्यन्निव महारथः।

साथ ही कृपाचार्यके स्वर्णभूषित धनुषको भी तेज धारवाले भालेसे काट गिराया; फिर सब ओर घूमकर नृत्य करते हुए महारथी अभिमन्युने अत्यन्त कुपित हो तीखी नोकवाले बाणोंसे भीष्मकी रक्षा करनेवाले उन महारथियोंको भी घायल कर दिया ॥ १३$\frac{1}{2}$ ॥

तस्य लाघवमुद्वीक्ष्य तुतुषुर्दैवता अपि ॥ १४ ॥
लब्धलक्षतया कार्ष्णेः सर्वे भीष्ममुखा रथाः।
सत्त्ववन्तममन्यन्त साक्षादिव धनंजयम् ॥ १५ ॥

अभिमन्युके हाथोंकी यह फुर्ती देखकर देवताओंको भी बड़ी प्रसन्नता हुई। अर्जुनकुमारके इस लक्ष्य-वेधकी सफलतासे प्रभावित हो भीष्म आदि सभी रथियोंने उन्हें साक्षात् अर्जुनके समान शक्तिशाली समझा ॥ १४-१५ ॥

तस्य लाघवमार्गस्थमलातसदृशप्रभम्।
दिशः पर्यपतच्चापं गाण्डीवमिव घोषवत् ॥ १६ ॥

अभिमन्युका धनुष गाण्डीवके समान टंकारध्वनि प्रकट करनेवाला, हाथोंकी फुर्ती दिखानेका उपयुक्त स्थान और खींचे जानेपर अलातचक्रके समान मण्डलाकार प्रकाशित होनेवाला था। वह वहाँ सम्पूर्ण दिशाओंमें घूम रहा था ॥ १६ ॥

तमासाद्य महावेगैर्भीष्मो नवभिराशुगैः।
विव्याध समरे तूर्णमार्जुनिं परवीरहा ॥ १७ ॥

अर्जुनकुमार अभिमन्युको पाकर शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले भीष्मने समरभूमिमें नौ शीघ्रगामी महावेगशाली बाणोंद्वारा तुरंत ही उन्हें वेध दिया ॥ १७ ॥

ध्वजं चास्य त्रिभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमौजसः।
सारथिं च त्रिभिर्बाणैराजघान यतव्रतः ॥ १८ ॥

साथ ही उस महातेजस्वी वीरके ध्वजको भी तीन बाणों-
ड गिराया; इतना ही नहीं, नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका
न करनेवाले भीष्मने तीन बाणोंसे अभिमन्युके सारथिको
र डाला ॥ १८ ॥

वै कृतवर्मा च कृपः शल्यश्च मारिष ।
नाकम्पयत् कार्ष्णिं मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १९ ॥

आर्य ! इसी प्रकार कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा शल्य उस
पर्वतकी भाँति स्थिर हुए अर्जुनकुमारको बाणविद्ध करके
कम्पित न कर सके ॥ १९ ॥

तैः परिवृतः शूरो धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
शरवर्षाणि कार्ष्णिः पञ्चरथान् प्रति ॥ २० ॥

दुर्योधनके उन महारथियोंसे घिर जानेपर भी शूरवीर
कुमार उन पाँचों रथियोंपर बाणवर्षा करता रहा ॥

तेषां महास्त्राणि संवार्य शरवृष्टिभिः ।
बलवान् कार्ष्णिर्भीष्माय विसृजञ्शरान्॥ २१ ॥

इस प्रकार अपने बाणोंकी वर्षासे उन सबके महान्
निवारण करके बलवान् अर्जुनकुमार अभिमन्यु-
सायकोंका प्रहार करते हुए बड़े जोरका
किया ॥ २१ ॥

सुमहद् राजन् बाह्वोर्बलमदृश्यत ।
मानस्य समरे भीष्ममर्दयतः शरैः ॥ २२ ॥

राजन् ! उस समय समरभूमिमें प्रयत्नपूर्वक अपने
द्वारा भीष्मको पीड़ा देते हुए अभिमन्युकी भुजाओंका
बल प्रत्यक्ष देखा गया ॥ २२ ॥

तस्य तस्यैव भीष्मोऽपि प्राहिणोच्छरान्।
श्चिच्छेद समरे भीष्मचापच्युताञ्शरान्॥ २३ ॥

ब भीष्मने भी उस पराक्रमी वीरपर बाणोंका प्रहार
परंतु अभिमन्युने रणभूमिमें भीष्मके धनुषसे छूटे हुए
बाणोंको काट डाला ॥ २३ ॥

ध्वजममोघेषुर्भीष्मस्य नवभिः शरैः ।
च्छेद समरे वीरस्तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ॥ २४ ॥

अभिमन्युके बाण अमोघ थे । उस वीरने समराङ्गणमें
बाणोंद्वारा भीष्मके ध्वजको काट गिराया । यह देख सब
उच्च स्वरसे कोलाहल कर उठे ॥ २४ ॥

राजतो महास्कन्धस्तालो हेमविभूषितः ।
विशिखैश्छिन्नः पपात भुवि भारत ॥ २५ ॥

नन्दन ! वह रजतनिर्मित, स्वर्णभूषित अत्यन्त ऊँचा
चिह्नसे युक्त भीष्मका ध्वज सुभद्राकुमारके बाणोंसे छिन्न-
होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २५ ॥

तु सौभद्रविशिखैः पातितं भरतर्षभ ।
भीमो ननादोच्चैः सौभद्रमभिहर्षयन् ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अभिमन्युके बाणोंसे कटकर गिरे हुए उस ध्वजको देखकर भीमसेनने सुभद्राकुमारका हर्ष बढ़ाते हुए उच्चस्वरसे गर्जना की ॥ २६ ॥

अथ भीष्मो महास्त्राणि दिव्यानि सुबहूनि च ।
प्रादुश्चक्रे महारौद्रे रणे तस्मिन् महाबलः ॥ २७ ॥

तब महाबली भीष्मने उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें बहुत-से महान् दिव्यास्त्र प्रकट किये ॥ २७ ॥

ततः शरसहस्रेण सौभद्रं प्रपितामहः ।
अवाकिरदमेयात्मा तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २८ ॥

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न प्रपितामह भीष्मने सुभद्राकुमारपर हजारों बाणोंकी वर्षा की । वह एक अद्भुत-सी घटना प्रतीत हुई ॥ २८ ॥

ततो दश महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ।
रक्षार्थमभ्यधावन्त सौभद्रं त्वरिता रथैः ॥ २९ ॥
विराटः सह पुत्रेण धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
भीमश्च केकयाश्चैव सात्यकिश्च विशाम्पते ॥ ३० ॥

राजन् ! तब पुत्रसहित विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, पाँचों भाई केकय-राजकुमार तथा सात्यकि—ये पाण्डव-पक्षके महान् धनुर्धर दस महारथी अभिमन्युकी रक्षाके लिये रथोंद्वारा तुरंत वहाँ दौड़े आये ॥ २९-३० ॥

तेषां जवेनापततां भीष्मः शान्तनवो रणे ।
पाञ्चाल्यं त्रिभिरानर्च्छत् सात्यकिं नवभिः शरैः॥ ३१॥

शान्तनुनन्दन भीष्मने रणभूमिमें वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाले उन दसों महारथियोंमेंसे धृष्टद्युम्नको तीन और सात्यकिको नौ बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३१ ॥

पूर्णायतविसृष्टेन क्षुरेण निशितेन च ।
ध्वजमेकेन चिच्छेद भीमसेनस्य पत्रिणा ॥ ३२ ॥

फिर धनुषको पूरी तरहसे खींचकर छोड़े हुए एक पंख-युक्त तीखे बाणसे भीमसेनकी ध्वजा काट डाली॥ ३२ ॥

जाम्बूनदमयः श्रीमान् केसरी स नरोत्तम ।
पपात भीमसेनस्य भीष्मेण मथितो रथात् ॥ ३३ ॥

नरश्रेष्ठ ! भीमसेनका वह सुवर्णमय सुन्दर ध्वज सिंहके चिह्नसे युक्त था । वह भीष्मके द्वारा काट दिये जानेपर रथसे नीचे गिर पड़ा ॥ ३३ ॥

ततो भीमस्त्रिभिर्विद्ध्वा भीष्मं शान्तनवं रणे ।
कृपमेकेन विव्याध कृतवर्माणमष्टभिः ॥ ३४ ॥

तब भीमसेनने उस रणक्षेत्रमें शान्तनुनन्दन भीष्मको तीन बाणोंसे घायल करके कृपाचार्यको एक और कृतवर्माको आठ बाणोंसे बेध दिया ॥ ३४ ॥

प्रगृहीताग्रहस्तेन वैराटिरपि दन्तिना ।
अभ्यद्रवत राजानं मद्राधिपतिमुत्तरः ॥ ३५ ॥

इसी समय जिसने अपनी सूँड़को मोड़कर मुखमें रख लिया था, उस दन्तार हाथीपर आरूढ़ हो विराटकुमार उत्तरने मद्रदेशके स्वामी राजा शल्यपर धावा किया ॥ ३५ ॥

तस्य वारणराजस्य जवेनापततो रथे ।
शल्यो निवारयामास वेगमप्रतिमं शरैः ॥ ३६ ॥

वह गजराज बड़े वेगसे शल्यके रथकी ओर झपटा । उस समय शल्यने अपने बाणोंद्वारा उसके अप्रतिम वेगको रोक दिया ॥ ३६ ॥

तस्य क्रुद्धः स नागेन्द्रो बृहतः साधुवाहिनः ।
पदा युगमधिष्ठाय जघान चतुरो हयान् ॥ ३७ ॥

इससे वह गजेन्द्र शल्यपर अत्यन्त कुपित हो उठा और अपना एक पैर रथके जूएपर रखकर उसे अच्छी तरह वहन करनेवाले चारों विशाल घोड़ोंको मार डाला ॥ ३७ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् मद्राधिपतिरायसीम् ।
उत्तरान्तकरीं शक्तिं चिक्षेप भुजगोपमाम् ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर बैठे हुए मद्रराज शल्यने लोहेकी बनी हुई एक शक्ति चलायी, जो सर्पके समान भयंकर और राजकुमार उत्तरका अन्त करनेवाली थी ॥

तया भिन्नतनुत्राणः प्रविश्य विपुलं तमः ।
स पपात गजस्कन्धात् प्रमुक्ताङ्कुशतोमरः ॥ ३९ ॥

उस शक्तिने उनके कवचको काट दिया । उसकी चोटसे उनपर अत्यन्त मोह छा गया । उनके हाथसे अंकुश और तोमर छूटकर गिर गये और वे भी अचेत होकर हाथीकी पीठसे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३९ ॥

असिमादाय शल्योऽपि अवप्लुत्य रथोत्तमात् ।
तस्य वारणराजस्य चिच्छेदाथ महाकरम् ॥ ४० ॥

इसी समय शल्य हाथमें तलवार लेकर अपने श्रेष्ठ रथसे कूद पड़े और उसीके द्वारा उस गजराजकी विशाल सूँड़को उन्होंने काट गिराया ॥ ४० ॥

भिन्नमर्मा शरशतैश्छिन्नहस्तः स वारणः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा पपात च ममार च ॥ ४१ ॥

सैकड़ों बाणोंसे उसके मर्म विद्ध हो गये थे और उसकी सूँड़ भी काट डाली गयी । इससे भयंकर आर्तनाद करके वह गजराज भूमिपर गिरा और मर गया ॥ ४१ ॥

एतदीदृशकं कृत्वा मद्रराजो नराधिप ।
आरुरोह रथं तूर्णं भास्वरं कृतवर्मणः ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! यह पराक्रम करके मद्रराज शल्य तुरंत ही कृतवर्माके तेजस्वी रथपर चढ़ गये ॥ ४२ ॥

उत्तरं वै हतं दृष्ट्वा वैराटिर्भ्रातरं तदा ।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम् ॥ ४३ ॥
श्वेतः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव ।

अपने भाई उत्तरको मारा गया और शल्यको
साथ रथपर बैठा हुआ देख विराटपुत्र श्वेत क्रोधसे
मानो अग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी हो ॥ ४३½ ॥

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली ॥ ४
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं बली ।

उस बलवान् वीरने इन्द्रधनुषके समान अपने
शरासनको कानोंतक खींचकर मद्रराज शल्यको मार
इच्छासे उनपर धावा किया ॥ ४४½ ॥

महता रथवंशेन समन्तात् परिवारितः ॥ ४
मुञ्चन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति ।

वह विशाल रथ-सेनाके द्वारा सब ओरसे घिरकर
की वर्षा करता हुआ शल्यके रथपर चढ़ आया ॥ ४५½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम् ॥ ४६ ॥
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन् ।
मद्रराजमभीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम् ॥ ४७ ॥

मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले
को धावा करते देख आपके सात रथियोंने मौतके
फँसे हुए मद्रराज शल्यको बचानेकी इच्छा रखकर
चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४६-४७ ॥

बृहद्बलश्च कौसल्यो जयत्सेनश्च मागधः ।
तथा रुक्मरथो राजन् शल्यपुत्रः प्रतापवान् ॥ ४८ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
बृहत्क्षत्रस्य दायादः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ४९ ॥

राजन् ! उन रथियोंके नाम ये हैं—कोसलनरेश
मगधदेशीय जयत्सेन, शल्यके प्रतापी पुत्र रुक्मरथ,
राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण
बृहत्क्षत्रके पुत्र सिंधुराज जयद्रथ ॥ ४८-४९ ॥

नानावर्णविचित्राणि धनूंषि च महात्मनाम् ।
विस्फारितानि दृश्यन्ते तोयदेष्विव विद्युतः ॥ ५०

इन महामना वीरोंके फैलाये हुए अनेक रूपरंगके
धनुष बादलोंमें बिजलियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ।

ते तु बाणमयं वर्षं श्वेतमूर्धन्यपातयन् ।
निदाघान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम् ॥ ५१ ॥

उन सबने श्वेतके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा
कर दी, मानो ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें वायुके द्वारा उठाये
मेघ पर्वतपर जल बरसा रहे हों ॥ ५१ ॥

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः ।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ममर्द पृतनापतिः ॥ ५२ ॥

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति श्वेतने कुपित होकर
तेज किये हुए भल्ल नामक सात बाणोंद्वारा उन
रथियोंके धनुष काटकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ५२ ॥

न्नान्येव तानि स्म समदृश्यन्त भारत ।
काले तु निमेषार्धात् प्रत्यपद्यन् धनूंषि च ॥ ५३ ॥
चैव पृषत्कांश्च श्वेतस्योपर्यपातयन् ।
पुनरमेयात्मा भल्लैः सप्तभिराशुगैः ।
कर्त महाबाहुस्तेषां चापानि धन्विनाम् ॥ ५४ ॥

भारत ! वे सातों धनुष कट जानेपर ही दृष्टिमें आये । न्तर उन सबने आधे निमेषमें ही दूसरे धनुष ले लिये और श्वेतके ऊपर एक ही साथ सात बाण चलाये । तब ने आत्मबलसे युक्त महाबाहु श्वेतने पुनः शीघ्रगामी सात मारकर उन धनुर्धरोंके धनुष काट दिये ॥ ५३-५४ ॥

निकृत्तमहाचापास्त्वरमाणा महारथाः ।
क्तीः परामृश्य विनेदुर्भैरवान् रवान् ॥ ५५ ॥

अपने विशाल धनुषोंके कट जानेपर उन सातों महा-ने बड़ी उतावलीके साथ रथ-शक्तियाँ उठा लीं और कर गर्जना की ॥ ५५ ॥

नुर्भरतश्रेष्ठ सप्त श्वेतरथं प्रति ।
ज्वलिताः सप्त महेन्द्राशनिनिःस्वनाः ॥ ५६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सातों शक्तियाँ प्रज्वलित हो देवराज के वज्रकी भाँति भयंकर शब्द करती हुई श्वेतके रथकी र एक साथ चलीं ॥ ५६ ॥

ताः सप्तभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमास्त्रवित् ।
समादाय शरं सर्वकायविदारणम् ॥ ५७ ॥
णोद् भरतश्रेष्ठ श्वेतो रुक्मरथं प्रति ।

परंतु श्वेत उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता थे । उन्होंने सात भल्ल कर अपने निकट आनेसे पहले ही उन शक्तियोंके टुकड़े-कर दिये । भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् श्वेतने सबकी काया-विदीर्ण कर देनेवाले एक बाणको लेकर उसे रुक्म-की ओर चलाया ॥ ५७½ ॥

देहे निपतितो बाणो वज्रातिगो महान् ॥ ५८ ॥
रुक्मरथो राजन् सायकेन दृढाहतः ।
साद रथोपस्थे कश्मलं चाविशन्महत् ॥ ५९ ॥

वज्रसे भी अधिक प्रभावशाली वह महान् बाण रुक्म-के शरीरपर जा गिरा । राजन् ! उस बाणसे अत्यन्त होकर रुक्मरथ अपने रथके पिछले भागमें बैठ गया और अत्यन्त मूर्छित हो गया ॥ ५८-५९ ॥

विसंज्ञं विमनसं त्वरमाणस्तु सारथिः ।
ह न सम्भ्रान्तः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ६० ॥

उसे अचेत और अनमना देख सारथि तनिक भी घबराहटमें न पड़कर अत्यन्त उतावलीके साथ सबके देखते-देखते रणभूमिसे दूर हटा ले गया ॥ ६० ॥

ततोऽन्यान् षट् समादाय श्वेतो हेमविभूषितान् ।
तेषां षण्णां महाबाहुर्ध्वजशीर्षाण्यपातयत् ॥ ६१ ॥

तब महाबाहु श्वेतने दूसरे स्वर्णभूषित छः बाण लेकर उन छहों रथियोंके ध्वजके अग्रभाग काट गिराये ॥ ६१ ॥

हयांश्च तेषां निर्भिद्य सारथींश्च परंतप ।
शरैश्चैतान् समाकीर्य प्रायाच्छल्यरथं प्रति ॥ ६२ ॥

परंतप ! फिर उनके घोड़ों और सारथियोंको विदीर्ण करके उनके शरीरोंमें भी बहुत-से बाण जड़ दिये । इसके बाद श्वेतने शल्यके रथपर धावा किया ॥ ६२ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तव सैन्येषु भारत ।
दृष्ट्वा सेनापतिं तूर्णं यान्तं शल्यरथं प्रति ॥ ६३ ॥

भारत ! तब सेनापति श्वेतको शीघ्रतापूर्वक शल्यके रथकी ओर जाते देख आपकी सेनाओंमें हाहाकार मच गया ॥ ६३ ॥

ततो भीष्मं पुरस्कृत्य तव पुत्रो महाबलः ।
वृतस्तु सर्वसैन्येन प्रायाच्छ्वेतरथं प्रति ॥ ६४ ॥
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मद्रराजममोचयत् ।

तब आपके महाबली पुत्र दुर्योधनने भीष्मजीको आगे करके सम्पूर्ण सेनाके साथ श्वेतके रथपर चढ़ाई की और मृत्युके मुखमें पहुँचे हुए मद्रराज शल्यको छुड़ा लिया ।६४½।

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ६५ ॥
तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम् ।

तदनन्तर आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें अत्यन्त भयंकर रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा । रथसे रथ और हाथीसे हाथी गुँथ गये ॥ ६५½ ॥

सौभद्रे भीमसेने च सात्यकौ च महारथे ॥ ६६ ॥
कैकेये च विराटे च धृष्टद्युम्ने च पार्षते ।
एतेषु नरसिंहेषु चेदिमत्स्येषु चैव ह ।
ववर्ष शरवर्षाणि कुरुवृद्धः पितामहः ॥ ६७ ॥

पाण्डवपक्षकी ओरसे सुभद्राकुमार अभिमन्यु, भीमसेन, महारथी सात्यकि, केकयराजकुमार, राजा विराट तथा द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न—ये पुरुषसिंह और चेदि एवं मत्स्यदेशके क्षत्रिय युद्ध कर रहे थे । कुरुकुलके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मने इन सबपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥६६-६७॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि श्वेतयुद्धे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें श्वेतयुद्धविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

श्वेतका महाभयंकर पराक्रम और भीष्मके द्वारा उसका वध

धृतराष्ट्र उवाच

एवं श्वेते महेष्वासे प्राप्ते शल्यरथं प्रति।
कुरवः पाण्डवेयाश्च किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥
भीष्मः शान्तनवः किं वा तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार महान् धनुर्धर श्वेतके शल्यके रथके समीप पहुँचनेपर कौरवों तथा पाण्डवोंने क्या किया ?अथवा शान्तनुनन्दन भीष्मने कौन-सा पुरुषार्थ किया ? मेरे पूछनेके अनुसार ये सब बातें मुझसे कहो ॥ १½ ॥

संजय उवाच

राजञ्शतसहस्राणि ततः क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ २ ॥
श्वेतं सेनापतिं शूरं पुरस्कृत्य महारथाः।
राज्ञो बलं दर्शयन्तस्तव पुत्रस्य भारत ॥ ३ ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य त्रातुमैच्छन्महारथाः।
अभ्यवर्तन्त भीष्मस्य रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ ४ ॥
जिघांसन्तं युधां श्रेष्ठं तदाऽऽसीत् तुमुलं महत्।

संजय कहते हैं—राजन् ! पाण्डवपक्षके लाखों क्षत्रिय-शिरोमणि महारथी विराट-सेनापति शूरवीर श्वेतको आगे करके आपके पुत्र दुर्योधनको अपना बल दिखाते हुए शिखण्डीको सामने रखकर भीष्मके सुवर्णभूषित रथपर चढ़ आये। भारत ! वे महारथी श्वेतकी रक्षा करना चाहते थे। इसलिये उसे मारनेकी इच्छावाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्मपर उन्होंने धावा किया। उस समय बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥

तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि महावैशसमद्भुतम् ॥ ५ ॥
तावकानां परेषां च यथा युद्धमवर्तत।

आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें जो महान् संहारकारी युद्ध जिस प्रकार हुआ, उसका उसी रूपमें आपसे वर्णन करता हूँ ॥ ५½ ॥

तत्राकरोद् रथोपस्थाञ्शून्याञ्शान्तनवो बहून् ॥ ६ ॥
तत्राद्भुतं महच्चक्रे शरैराच्छेद् रथोत्तमान्।
समावृणोच्छरैरर्कमर्कतुल्यप्रतापवान् ॥ ७ ॥

उस युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मने बहुत-से रथोंकी बैठकोंको रथियोंसे शून्य कर दिया। वहाँ उन्होंने अत्यन्त अद्भुत कार्य किया। अपने बाणोंद्वारा बहुत-से श्रेष्ठ रथियोंको बहुत पीड़ा दी। वे सूर्यके समान तेजस्वी थे। उन्होंने अपने सायकोंद्वारा सूर्यदेवको भी आच्छादित कर दिया ॥ ६-७ ॥

नुदन् समन्तात् समरे रविरुद्यन् यथा तमः।
तेनाजौ प्रेषिता राजन् शराः शतसहस्रशः ॥ ८ ॥
क्षत्रियान्तकराः संख्ये महावेगा महाबलाः।
शिरांसि पातयामासुर्वीराणां शतशो रणे ॥ ९

जैसे सूर्य उदित होकर अन्धकारको नष्ट कर दे उसी प्रकार वे सब ओर समरभूमिमें शत्रुसेनाओंका संहा रहे थे। राजन् ! उनके द्वारा चलाये हुए महान् वेग बलसे सम्पन्न तथा क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले लाखों रणभूमिमें सैकड़ों श्रेष्ठ वीरोंके मस्तक काट गिराये ॥ ८-

गजान् कण्टकसन्नाहान् वज्रेणेव शिलोच्चयान्।
रथा रथेषु संसक्ता व्यदृश्यन्त विशाम्पते ॥ १०

उन बाणोंने वज्रके मारे हुए पर्वतोंकी भाँति कवचोंसे सुसज्जित हाथियोंको भी धराशायी कर दि प्रजानाथ ! उस समय रथ रथोंसे सटे हुए दिखायी देते थे

एके रथं पर्यवहंस्तुरगाः सतुरङ्गमम्।
युवानं निहतं वीरं लम्बमानं सकार्मुकम् ॥ ११

कितने ही घोड़े अपनेसहित रथको लिये हुए दूर जा रहे थे और उसपर मरा हुआ नवयुवक वीर रथी धनु साथ ही लटक रहा था ॥ ११ ॥

उदीर्णाश्च हया राजन् वहन्तस्तत्र तत्र ह।
बद्धखड्गनिषङ्गाश्च विध्वस्तशिरसो हताः ॥ १२
शतशः पतिता भूमौ वीरशय्यासु शेरते।

राजन् ! वे प्रचण्ड घोड़े उस रथको लिये-दिये घूम रहे थे। कमरमें तलवार और पीठपर तरकस बाँधे सैकड़ों आहत वीर मस्तक कट जानेके कारण पृथ्वीपर वीरोचित शय्याओंपर शयन कर रहे थे ॥ १२½ ॥

परस्परेण धावन्तः पतिताः पुनरुत्थिताः ॥ १३
उत्थाय च प्रधावन्तो द्वन्द्वयुद्धमवाप्नुवन्।
पीडिताः पुनरन्योन्यं लुठन्तो रणमूर्धनि ॥ १४

एक दूसरेपर धावा करनेवाले कितने ही सैनिक पड़ते और फिर उठकर खड़े हो जाते थे। खड़े होकर दौड़ते और परस्पर द्वन्द्वयुद्ध करने लगते थे। फिर आ प्रहारोंसे पीड़ित हो वे युद्धके मुहानेपर ही गिरकर जाते थे ॥ १३-१४ ॥

सचापाः सनिषङ्गाश्च जातरूपपरिष्कृताः।
विस्रब्धहतवीराश्च शतशः परिपीडिताः ॥ १५
तेन तेनाभ्यधावन्त विसृजन्तश्च भारत।

भारत ! सैकड़ों वीर धनुष और तरकस लिये सुव आभूषणोंसे विभूषित हो कितने ही विपक्षी वीरोंका वि भावसे विनाश करके स्वयं भी शत्रुओंके प्रहारसे पीड़ित हो रहे थे और स्वयं भी अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार

हुए विभिन्न मार्गोंसे इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहे थे ॥१५½॥

त्तो गजः पर्यवर्तद्धयांश्च हतसादिनः ॥ १६ ॥
तथा रथिनश्चापि विमृद्नन्तः समन्ततः ।

मतवाले हाथी उन घोड़ोंके पीछे पड़े थे, जिनके सवार गये थे। इसी प्रकार रथोंसहित रथी चारों ओर भूतल-पड़ी हुई लाशोंको रौंदते हुए विचरण करते थे ॥१६½॥

न्दनादपतत् कश्चिन्निहतोऽन्येन सायकैः ॥ १७ ॥
तसारथिरप्युच्चैः पपात काष्ठवद् रथः ।

कितने ही वीर दूसरोंके बाणोंसे मारे जाकर रथसे गिर पड़े थे। कहीं सारथिके मारे जानेपर रथ साधारण काष्ठकी ऊँचेसे नीचे गिर पड़ता था ॥ १७½ ॥

ध्यमानस्य संग्रामे व्यूढे रजसि चोत्थिते ॥ १८ ॥
नुःकूजितविज्ञानं तत्रासीत् प्रतियुध्यतः ।
स्पर्शेन योधानां व्यज्ञास्त परिपन्थिनम् ॥ १९ ॥

उस संग्राममें इतनी धूल उड़ी कि कुछ सूझ नहीं पड़ता । केवल धनुषकी टंकारसे ही यह जाना जाता था कि द्वन्द्वी युद्ध कर रहा है। कितने ही योद्धा दूसरे योद्धाओं-शरीरका स्पर्श करके ही यह समझ पाते थे कि यह शत्रु-का है ॥ १८-१९ ॥

ध्यमानं शरै राजन् सिञ्जिनीध्वजिनीरवात् ।
न्योन्यं वीरसंशब्दो नाश्रूयत भटैः कृतः ॥ २० ॥

राजन्! कुछ लोग धनुषकी टंकार और सेनाका कोलाहल कर ही यह समझ पाते थे कि कोई बाणोंद्वारा युद्ध कर है। योद्धा एक दूसरेके प्रति जो वीरोचित गर्जना करते वह भी उस समय अच्छी तरह सुनायी नहीं देती थी ॥

र्तमाने संग्रामे पटहे कर्णदारिणि ।
ध्यमानस्य संग्रामे कुर्वतः पौरुषं स्वकम् ॥ २१ ॥
श्रौषं नामगोत्राणि कीर्तनं च परस्परम् ।

कानोंका परदा फाड़नेवाले डंकेकी आवाजसे सारी रण-गूँज उठी थी। अतः वहाँ अपने पुरुषार्थको प्रकट करनेवाले किसी योद्धाकी बात मुझे नहीं सुनायी देती थी। योद्धा जो आपसमें नाम-गोत्र आदिका परिचय देते थे, उसे नहीं सुन पाता था ॥ २१½ ॥

ष्मचापच्युतैर्बाणैरार्तानां युध्यतां मृधे ॥ २२ ॥
र्वेषां वीराणां मनांसि समकम्पयन् ।

उस समय भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे समस्त योद्धा हो रहे थे। उन बाणोंने परस्पर सभी वीरोंके हृदय दिये थे ॥ २२½ ॥

त्याकुले युद्धे दारुणे लोमहर्षणे ॥ २३ ॥
पुत्रं च समरे नाभिजानाति कश्चन ।

वह युद्ध अत्यन्त भयंकर, रोमाञ्चकारी तथा सबको व्याकुल कर देनेवाला था। उसमें कोई पिता अपने पुत्रको भी पहचान नहीं पाता था ॥ २३½ ॥

चक्रे भग्ने युगे छिन्ने एकधुर्ये हये हतः ॥ २४ ॥
आक्षिप्तः स्यन्दनाद् वीरः ससारथिरजिह्मगैः ।

भीष्मके बाणोंसे पहिये टूट गये, जूआ कट गया और एकमात्र बचा हुआ रथका घोड़ा भी मारा गया। उस दशामें रथपर बैठा हुआ सारथिसहित वीर रथी भी उनके बाणोंसे आहत होकर स्वर्ग सिधारा ॥ २४½ ॥

एवं च समरे सर्वे वीराश्च विरथीकृताः ॥ २५ ॥
तेन तेन स्म दृश्यन्ते धावमानाः समन्ततः ।

इस प्रकार उस समराङ्गणमें रथहीन हुए सभी वीर भिन्न-भिन्न मार्गोंसे सब ओर दौड़ते दिखायी देते थे ॥२५½॥

गजो हतः शिरश्छिन्नं मर्म भिन्नं हयो हतः ॥ २६ ॥
अहतः कोऽपि नैवासीद् भीष्मे निघ्नति शात्रवान् ।

किसीका हाथी मारा गया, किसीका मस्तक कट गया, किसीके मर्मस्थान विदीर्ण हो गये और किसीका घोड़ा ही नष्ट हो गया। जब भीष्मजी शत्रुओंका संहार कर रहे थे, उस समय (उनके सम्मुख आया हुआ) कोई भी ऐसा विपक्षी नहीं बचा, जो घायल न हुआ हो ॥ २६½ ॥

श्वेतः कुरूणामकरोत् क्षयं तस्मिन् महाहवे ॥ २७ ॥
राजपुत्रान् रथोदारानवधीच्छतसंघशः ।

इसी प्रकार उस महायुद्धमें श्वेत भी कौरवोंका संहार कर रहे थे। उन्होंने सैकड़ों श्रेष्ठ रथी राजकुमारोंका संहार कर डाला ॥ २७½ ॥

चिच्छेद रथिनां बाणैः शिरांसि भरतर्षभ ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! श्वेतने अपने बाणोंद्वारा बहुत-से रथियोंके मस्तक काट डाले ॥ २८ ॥

साङ्गदा बाहवश्चैव धनूंषि च समन्ततः ।
रथेषां रथचक्राणि तूणीराणि युगानि च ॥ २९ ॥

उन्होंने सब ओर बाण मारकर कितने ही योद्धाओंके धनुष और बाजूबंदसहित भुजाएँ काट डालीं। रथके ईषादण्ड, रथ-चक्र, तूणीर और जूए भी छिन्न-भिन्न कर दिये ॥ २९ ॥

छत्राणि च महार्हाणि पताकाश्च विशाम्पते ।
हयौघाश्च रथौघाश्च नरौघाश्चैव भारत ॥ ३० ॥
वारणाः शतशश्चैव हताः श्वेतेन भारत ।

राजन्! बहुमूल्य छत्र और पताकाएँ भी उनके बाणोंसे खण्डित हो गयीं। भरतनन्दन! श्वेतने अश्वों, रथों और मनुष्योंके समुदायका तो वध किया ही; सैकड़ों हाथी भी मार गिराये ॥ ३०½ ॥

वयं श्वेतभयाद् भीता विहाय रथसत्तमम् ॥ ३१ ॥

अपयातास्तथा पश्चाद् विभुं पश्याम धृष्णवः ।
शरपातमतिक्रम्य कुरवः कुरुनन्दन ॥ ३२ ॥
भीष्मं शान्तनवं युद्धे स्थिताः पश्याम सर्वशः ।

कुरुनन्दन ! हमलोग भी श्वेतके भयसे महारथी भीष्मको अकेला छोड़कर भाग खड़े हुए । इसीलिये इस समय जीवित रहकर महाराजका दर्शन कर रहे हैं। हम सभी कौरव श्वेतका बाण जहाँतक पहुँच पाता था, उतनी दूरीको लाँघकर युद्धभूमिमें खड़े हो दर्शककी भाँति शान्तनुनन्दन भीष्मको देख रहे थे॥

अदीनो दीनसमये भीष्मोऽस्माकं महाहवे ॥ ३३ ॥
एकस्तस्थौ नरव्याघ्रो गिरिर्मेरुरिवाचलः ।

उस महान् संग्राममें हमलोगोंके लिये कातरताका समय आ गया था, तो भी अकेले नरश्रेष्ठ भीष्म ही दीनतासे रहित हो मेरुपर्वतकी भाँति वहाँ अविचलभावसे खड़े रहे ॥ ३३½॥

आददान इव प्राणान् सविता शिशिरात्यये । ३४ ॥
गभस्तिभिरिवादित्यस्तस्थौ शरमरीचिमान् ।

जैसे सर्दीके अन्तमें सूर्यदेव धरतीका जल सोखने लगते हैं, उसी प्रकार भीष्म समस्त सैनिकोंके प्राणों का अपहरण-सा कर रहे थे । किरणोंसे सुशोभित सूर्यदेवकी भाँति भीष्म बाणरूपी रश्मियोंसे शोभा पाते हुए वहाँ खड़े थे ॥ ३४½ ॥

स मुमोच महेष्वासः शरसंघाननेकशः ॥ ३५ ॥
निघ्नन्नमित्रान् समरे वज्रपाणिरिवासुरान् ।

जैसे वज्रपाणि इन्द्र असुरोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार महाधनुर्धर भीष्म उस रणक्षेत्रमें शत्रुओंका विनाश करते हुए बारंबार बाणसमूहोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ ३५½ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण प्रजहुस्तं महाबलम् ॥ ३६ ॥
स्वयूथादिव ते यूथान्मुक्तं भूमिषु दारुणम् ।

महाबली भीष्मजी अपने झुंडसे बिछुड़े हुए हाथीकी भाँति आपकी सेनासे विलग होकर उस रणभूमिमें अत्यन्त भयंकर हो रहे थे; उनकी मार खाकर सम्पूर्ण शत्रु उन्हें छोड़कर भाग गये ॥ ३६½ ॥

तमेवमुपलक्ष्यैको हृष्टः पुष्टः परंतप ॥ ३७ ॥
दुर्योधनप्रिये युक्तः पाण्डवान् परिशोचयन् ।
जीवितं दुस्त्यजं त्यक्त्वा भयं च सुमहाहवे ॥ ३८ ॥

परंतप ! श्वेतको पूर्वोक्तरूपसे कौरव-सेनाका संहार करते देख एकमात्र भीष्म ही उत्साहित और प्रफुल्ल हो पाण्डवोंको शोकमें डालते हुए जीवनका मोह और भय छोड़कर उस महासमरमें दुर्योधनके प्रिय कार्यमें जुट गये ॥ ३७-३८ ॥

पातयामास सैन्यानि पाण्डवानां विशाम्पते ।
प्रहरन्तमनीकानि पिता देवव्रतस्तव ॥ ३९ ॥
दृष्ट्वा सेनापतिं भीष्मस्त्वरितः श्वेतमभ्ययात् ।

राजन् ! भीष्मजीने पाण्डवोंके बहुत-से सैनिकोंको मार गिराया । आपके पिता देवव्रतने जब देखा कि श्वेत हमारी सेनापर प्रहार कर रहे हैं, तब वे तुरंत सामना करनेके लिये गये ॥ ३९½ ॥

स भीष्मं शरजालेन महता समवाकिरत् ॥ ४० ॥
श्वेतं चापि तथा भीष्मः शरौघैः समवाकिरत् ।

श्वेतने अपने असंख्य बाणोंका जाल-सा बिछाकर भीष्मको ढक दिया । तब भीष्मने भी श्वेतपर बाणसमूहोंकी वर्षा की ।

तौ वृषाविव नर्दन्तौ मत्ताविव महाद्विपौ ॥ ४१ ॥
व्याघ्राविव सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ।

वे दोनों वीर गर्जते हुए दो साँड़ों, मदसे उन्मत्त हुए दो गजराजों तथा क्रोधमें भरे हुए दो सिंहोंकी भाँति एक दूसरेपर चोट करने लगे ॥ ४१½ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य ततस्तौ पुरुषर्षभौ ॥ ४२ ॥
भीष्मः श्वेतश्च युयुधे परस्परवधैषिणौ ।

तदनन्तर वे दोनों पुरुषश्रेष्ठ भीष्म और श्वेत अस्त्रोंद्वारा विपक्षीके अस्त्रोंका निवारण करके एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे युद्ध करने लगे ॥ ४२½ ॥

एकाह्ना निर्दहेद् भीष्मः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ ४३ ॥
शरैः परमसंक्रुद्धो यदि श्वेतो न पालयेत् ।

यदि श्वेत पाण्डव-सेनाकी रक्षा न करते तो भीष्मजी अत्यन्त क्रुद्ध होकर एक ही दिनमें उसे भस्म कर डालते ॥ ४३½ ॥

पितामहं ततो दृष्ट्वा श्वेतेन विमुखीकृतम् ॥ ४४ ॥
प्रहर्षं पाण्डवा जग्मुः पुत्रस्ते विमनाऽभवत् ।

तदनन्तर पितामह भीष्मको श्वेतके द्वारा युद्धसे विमुख किया हुआ देख समस्त पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ; परंतु आपके पुत्र दुर्योधनका मन उदास हो गया ॥ ४४½ ॥

ततो दुर्योधनः क्रुद्धः पार्थिवैः परिवारितः ॥ ४५ ॥
ससैन्यः पाण्डवानीकमभ्यद्रवत संयुगे ।

तब दुर्योधनने कुपित हो समस्त राजाओं तथा सेनाके साथ उस युद्धभूमिमें पाण्डव-सेनापर आक्रमण किया ॥ ४५½ ॥

दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विशाम्पतिः ॥ ४६ ॥
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण नोदिताः ।

दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा राजा शल्य आपके पुत्रकी आज्ञासे आकर भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ४६½ ॥

दृष्ट्वा तु पार्थिवैः सर्वैर्दुर्योधनपुरोगमैः ॥ ४७ ॥
पाण्डवानामनीकानि वध्यमानानि संयुगे ।
श्वेतो गाङ्गेयमुत्सृज्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ॥ ४८ ॥
नाशयामास वेगेन वायुर्वृक्षानिवौजसा ।

दुर्योधन आदि सब राजाओंके द्वारा पाण्डवसेनाको मारी जाती देख श्वेतने गङ्गापुत्र भीष्मको छोड़कर आपके

पुत्रकी सेनाका उसी प्रकार वेगपूर्वक विनाश आरम्भ किया, जैसे आँधी अपनी शक्तिसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ॥

द्रावयित्वा चमूं राजन् वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४९ ॥
आपतत् सहसा भूयो यत्र भीष्मो व्यवस्थितः ।

राजन्! विराटपुत्र श्वेत उस समय क्रोधसे मूर्छित हो गये थे। वे आपकी सेनाको दूर भगाकर फिर सहसा वहीं आ पहुँचे, जहाँ भीष्म खड़े थे ॥ ४९½ ॥

तौ तत्रोपगतौ राजन् शरदीप्तौ महाबलौ ॥ ५० ॥
अयुध्येतां महात्मानौ यथोभौ वृत्रवासवौ ।
अन्योन्यं तु महाराज परस्परवधैषिणौ ॥ ५१ ॥

महाराज! वे दोनों महाबली महामना वीर बाणोंसे दीप्त हो एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे समीप आकर वृत्रासुर और इन्द्रके समान युद्ध करने लगे ॥ ५०-५१ ॥

आकृष्य कार्मुकं श्वेतो भीष्मं विव्याध सप्तभिः ।
पराक्रमं ततस्तस्य पराक्रम्य पराक्रमी ॥ ५२ ॥
तरसा वारयामास मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।

श्वेतने धनुष खींचकर सात बाणोंद्वारा भीष्मको बेध दिया। तब पराक्रमी भीष्मने श्वेतके उस पराक्रमको स्वयं पराक्रम करके वेगपूर्वक रोक दिया; मानो किसी मतवाले हाथीने दूसरे मतवाले हाथीको रोक दिया हो ॥ ५२½ ॥

श्वेतः शान्तनवं भूयः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ५३ ॥
विव्याध पञ्चविंशत्या तदद्भुतमिवाभवत् ।

तदनन्तर श्वेतने पुनः झुकी हुई गाँठवाले पचीस बाणोंसे शान्तनुनन्दन भीष्मको बींध डाला। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ५४ ॥
स विद्धस्तेन बलवान् नाकम्पत यथाचलः ।

तब शान्तनुनन्दन भीष्मने भी दस बाण मारकर बदला लिया। उनके द्वारा घायल किये जानेपर भी बलवान् श्वेत विचलित नहीं हुआ। वह पर्वतकी भाँति अविचलभावसे रहा ॥ ५४½ ॥

वैराटिः समरे क्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ॥ ५५ ॥
आजघान ततो भीष्मं श्वेतः क्षत्रियनन्दनः ।

तदनन्तर क्षत्रियकुलको आनन्दित करनेवाले विराटकुमार श्वेतने युद्धमें कुपित हो धनुषको जोर-जोरसे खींचकर भीष्मपर पुनः बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ ५५½ ॥

प्रहस्य ततः श्वेतः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ५६ ॥
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य नवभिर्दशधा शरैः ।

इसके बाद उन्होंने हँसकर अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए नौ बाण मारकर भीष्मके धनुषके दस टुकड़े कर दिये ॥ ५६½ ॥

संधाय विशिखं चैव शरं लोमप्रवाहिनम् ॥ ५७ ॥
उन्ममाथ ततस्तालं ध्वजशीर्षं महात्मनः ।

फिर शिखाशून्य पंखयुक्त बाणका संधान करके उसके द्वारा महात्मा भीष्मके तालचिह्नयुक्त ध्वजका ऊपरी भाग काट डाला ॥ ५७½ ॥

केतुं निपतितं दृष्ट्वा भीष्मस्य तनयास्तव ॥ ५८ ॥
हतं भीष्ममसन्यन्त श्वेतस्य वशमागतम् ।

भीष्मके ध्वजको नीचे गिरा देख आपके पुत्रोंने उन्हें श्वेतके वशमें पड़कर मरा हुआ ही माना ॥ ५८½ ॥

पाण्डवाश्चापि संहृष्टा दध्मुः शङ्खान् मुदा युताः ॥ ५९ ॥
भीष्मस्य पतितं केतुं दृष्ट्वा तालं महात्मनः ।

महात्मा भीष्मके तालध्वजको पृथ्वीपर पड़ा देख पाण्डव हर्षसे उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने लगे ॥ ५९½ ॥

ततो दुर्योधनः क्रोधात् स्वमनीकमनोदयत् ॥ ६० ॥
यत्ता भीष्मं परीप्सध्वं रक्षमाणाः समन्ततः ।
मा नः प्रपश्यमानानां श्वेतान्मृत्युमवाप्स्यति ॥ ६१ ॥
भीष्मः शान्तनवः शूरस्तथा सत्यं ब्रवीमि वः ।

तब दुर्योधनने क्रोधपूर्वक अपनी सेनाको आदेश दिया—'वीरो! सावधान होकर सब ओरसे भीष्मकी रक्षा करते हुए उन्हें घेरकर खड़े हो जाओ। कहीं ऐसा न हो कि ये हमारे देखते-देखते श्वेतके हाथों मारे जायँ। मैं तुमलोगोंको सत्य कहता हूँ कि शान्तनुनन्दन भीष्म महान् शूरवीर हैं'॥ ६०-६१½ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा त्वरमाणा महारथाः ॥ ६२ ॥
बलेन चतुरङ्गेण गाङ्गेयमन्वपालयन् ।

राजा दुर्योधनकी यह बात सुनकर सब महारथी बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये और चतुरङ्गिणी सेनाद्वारा गङ्गानन्दन भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ६२½ ॥

बाह्लीकः कृतवर्मा च शलः शल्यश्च भारत ॥ ६३ ॥
जलसंधो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ।
त्वरमाणास्त्वराकाले परिवार्य समन्ततः ॥ ६४ ॥
शस्त्रवृष्टिं सुतुमुलां श्वेतस्योपर्यपातयन् ।

भारत! बाह्लीक, कृतवर्मा, शल, शल्य, जलसंध, विकर्ण, चित्रसेन और विविंशति—इन सबने शीघ्रताके अवसरपर शीघ्रता करते हुए चारों ओरसे भीष्मजीको घेर लिया और श्वेतके ऊपर भयंकर शस्त्र-वर्षा करने लगे ॥ ६३-६४½ ॥

तान् क्रुद्धो निशितैर्बाणैस्त्वरमाणो महारथः ॥ ६५ ॥
अवारयदमेयात्मा दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

तब अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न महारथी श्वेतने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए बड़ी उतावलीके साथ क्रोधपूर्वक पैने बाणोंद्वारा उन सबको रोक दिया ॥ ६५½ ॥

स निवार्य तु तान् सर्वान् केसरी कुञ्जरानिव ॥ ६६ ॥
महता शरवर्षेण भीष्मस्य धनुराच्छिनत् ।

जैसे सिंह हाथियोंके समूहको आगे बढ़नेसे रोक देता है, उसी प्रकार उन सभी महारथियोंको रोककर भारी बाणवर्षाके द्वारा श्वेतने भीष्मका धनुष काट दिया ॥ ६६½ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय भीष्मः शान्तनवो युधि ॥ ६७ ॥
श्वेतं विव्याध राजेन्द्र कङ्कपत्रैः शितैः शरैः ।

राजेन्द्र ! तब शान्तनुनन्दन भीष्मने दूसरा धनुष लेकर युद्धस्थलमें कंकपत्रयुक्त पैने बाणोंद्वारा श्वेतको घायल कर दिया॥

ततः सेनापतिः क्रुद्धो भीष्मं बहुभिरायसैः ॥ ६८ ॥
विव्याध समरे राजन् सर्वलोकस्य पश्यतः ।

राजन् ! तब सेनापति श्वेतने कुपित हो उस समरभूमिमें बहुत-से लौहमय बाणोंद्वारा सब लोगोंके देखते-देखते भीष्मको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ६८½ ॥

ततः प्रव्यथितो राजा भीष्मं दृष्ट्वा निवारितम् ॥ ६९ ॥
प्रवीरं सर्वलोकस्य श्वेतेन युधि वै तदा ।
निष्टानकश्च सुमहांस्तव सैन्यस्य चाभवत् ॥ ७० ॥

श्वेतने सम्पूर्ण विश्वके विख्यात वीर भीष्मको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया, यह देखकर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ी व्यथा हुई। साथ ही आपकी सेनामें सब लोगोंपर महान् भय छा गया ॥ ६९-७० ॥

तं वीरं वारितं दृष्ट्वा श्वेतेन शरविक्षतम् ।
हतं श्वेतेन मन्यन्ते श्वेतस्य वशमागतम् ॥ ७१ ॥

श्वेतने वीरवर भीष्मको कुण्ठित कर दिया और उनका शरीर बाणोंसे क्षत विक्षत हो गया है, यह देखकर सब लोग यह मानने लगे कि भीष्मजी श्वेतके वशमें पड़ गये हैं और अब उन्हींके हाथसे मारे जायँगे ॥ ७१ ॥

ततः क्रोधवशं प्राप्तः पिता देवव्रतस्तव ।
ध्वजमुन्मथितं दृष्ट्वा तां च सेनां निवारिताम् ॥ ७२ ॥

तब आपके पिता देवव्रत भीष्म अपने ध्वजको टूटकर गिरा हुआ और सेनाको निवारित की हुई देखकर क्रोधके अधीन हो गये ॥ ७२ ॥

श्वेतं प्रति महाराज व्यसृजत् सायकान् बहून् ।
तानावार्य रणे श्वेतो भीष्मस्य रथिनां वरः ॥ ७३ ॥
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पुनरेव पितुस्तव ।

महाराज ! उन्होंने श्वेतपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की, परंतु रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतने रणक्षेत्रमें उन सब सायकोंका निवारण करके पुनः एक भल्लके द्वारा आपके पिता भीष्मका धनुष काट दिया ॥ ७३½ ॥

उत्सृज्य कार्मुकं राजन् गाङ्गेयः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ७४ ॥
अन्यत् कार्मुकमादाय विपुलं बलवत्तरम् ।
तत्र संधाय विपुलान् भल्लान् सप्त शिलाशितान् ।७५।
चतुर्भिश्च जघानाश्वाञ्छ्वेतस्य पृतनापतेः ।
ध्वजं द्वाभ्यां तु चिच्छेद सप्तमेन च सारथेः ॥ ७६ ॥
शिरश्चिच्छेद भल्लेन संक्रुद्धो लघुविक्रमः ।

राजन् ! यह देख गङ्गानन्दन भीष्मने क्रोधसे मूर्छित उस धनुषको फेंककर दूसरा अत्यन्त प्रबल एवं विशाल ले लिया और उसके ऊपर पत्थरपर रगड़कर तेज किये सात विशाल भल्लोंका संधान किया। उनमेंसे चार द्वारा उन्होंने सेनापति श्वेतके चार घोड़ोंको मार डाला, उनका ध्वज काट दिया और अपनी फुर्तीका परिचय हुए सातवें भल्लके द्वारा क्रोधपूर्वक उनके सारथिका उड़ा दिया ॥ ७४-७६½ ॥

हताश्वसूतात् स रथादवप्लुत्य महाबलः ॥ ७
अमर्षवशमापन्नो व्याकुलः समपद्यत ।

घोड़े और सारथिके मारे जानेपर महाबली रथसे कूद पड़े और अमर्षके वशीभूत होकर व्याकुल हो

विरथं रथिनां श्रेष्ठं श्वेतं दृष्ट्वा पितामहः ॥ ७
ताडयामास निशितैः शरसंघैः समन्ततः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतको रथहीन हुआ देख पितामह चारों ओरसे पैने बाणसमूहोंद्वारा उन्हें पीड़ा देनी प्रारम्भ की।

स ताड्यमानः समरे भीष्मचापच्युतैः शरैः ॥ ७
स्वरथे धनुरुत्सृज्य शक्तिं जग्राह काञ्चनीम् ।

उस समरभूमिमें भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बाणों पीड़ित होनेपर श्वेतने धनुषको रथपर ही छोड़कर सुवर्ण शक्ति हाथमें ले ली ॥ ७९½ ॥

ततः शक्तिं रणे श्वेतो जग्राहोग्रां महाभयाम् ॥ ८
कालदण्डोपमां घोरां मृत्योर्जिह्वामिव श्वसन् ।
अब्रवीच्च तदा श्वेतो भीष्मं शान्तनवं रणे ॥ ८

अत्यन्त उग्र, महाभयंकर, कालदण्डके समान घोर मृत्युकी जिह्वा-सी प्रतीत होनेवाली उस शक्तिको श्वेतने उठाया और लंबी साँस लेते हुए रणक्षेत्रमें भीष्मसे इस प्रकार कहा—॥ ८०-८१ ॥

तिष्ठेदानीं सुसंरब्धः पश्य मां पुरुषो भव ।
एवमुक्त्वा महेष्वासो भीष्मं युधि पराक्रमी ॥ ८
ततः शक्तिममेयात्मा चिक्षेप भुजगोपमाम् ।
पाण्डवार्थे पराक्रान्तस्त्वानर्थं चिकीर्षुकः ॥ ८

'भीष्म ! इस समय साहसपूर्वक खड़े रहो। मुझे और पुरुष बनो', ऐसा कहकर अमित आत्मबलसे धनुर्धर और पराक्रमी वीर श्वेतने भीष्मपर वह सर्पके भयंकर शक्ति चलायी। श्वेत पाण्डवोंका हित और पक्षका अहित करनेकी इच्छासे पराक्रम दिखा रहे थे ॥

हाहाकारो महानासीत् पुत्राणां ते विशाम्पते ।
दृष्ट्वा शक्तिं महाघोरां मृत्योर्दण्डसमप्रभाम् ॥ ८
श्वेतस्य करनिर्मुक्तां निर्मुक्तोरगसंनिभाम् ।

राजन् ! श्वेतके हाथसे छूटकर यमदण्डके समान प्रकाशित होनेवाली और केंचुल छोड़कर निकली हुई सर्पिणीकी भाँति अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाली उस शक्तिको देखकर आपके पुत्रोंके दलमें महान् हाहाकार मच गया ८४½

आपतत् सहसा राजन् महोल्केव नभस्तलात् ॥ ८५ ॥
ज्वलन्तीमन्तरिक्षे तां ज्वालाभिरिव संवृताम् ।
असम्भ्रान्तस्तदा राजन् पिता देवव्रतस्तव ॥ ८६ ॥
अष्टभिर्नवभिर्भीष्मः शक्तिं चिच्छेद पत्रिभिः ।

राजन् ! वह शक्ति आकाशसे बहुत बड़ी उल्काके समान सहसा गिरी । अन्तरिक्षमें ज्वालाओंसे घिरी हुई-सी उस प्रज्वलित शक्तिको देखकर आपके पिता देवव्रतको तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उन्होंने आठ-नौ बाण मारकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ८५-८६½ ॥

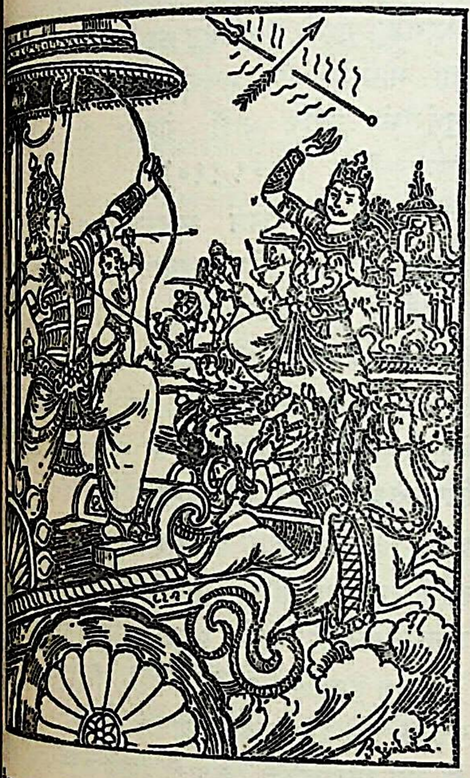

उत्तमहेमविकृतां निकृत्तां निशितैः शरैः ॥ ८७ ॥
उदक्रुशुस्ततः सर्वे तावका भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उत्तम सुवर्णकी बनी हुई उस शक्तिको पिताके पैने बाणोंसे नष्ट हुई देख आपके पुत्र हर्षके मारे जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे ॥ ८७½ ॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ८८ ॥
कालोपहतचेतास्तु कर्तव्यं नाभ्यजानत ।
क्रोधसम्मूर्च्छितो राजन् वैराटिः प्रहसन्निव ॥ ८९ ॥
गदां जग्राह संहृष्टो भीष्मस्य निधनं प्रति ।

अपनी शक्तिको इस प्रकार विफल हुई देख विराटपुत्र श्वेत क्रोधसे मूर्छित हो गये । कालने उनकी विवेकशक्तिको नष्ट कर दिया था; अतः उन्हें अपने कर्तव्यका भान न रहा । उन्होंने हर्षसे उत्साहित हो हँसते-हँसते भीष्मको मार डालनेके लिये हाथमें गदा उठा ली ॥ ८८-८९½ ॥

क्रोधेन रक्तनयनो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ९० ॥
भीष्मं समभिदुद्राव जलौघ इव पर्वतम् ।

उस समय उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं । वे हाथमें दण्ड लिये यमराजके समान जान पड़ते थे । जैसे महान् जलप्रवाह किसी पर्वतसे टकराता हो, उसी प्रकार वे गदा लिये भीष्मकी ओर दौड़े ॥ ९०½ ॥

तस्य वेगमसंवार्यं मत्वा भीष्मः प्रतापवान् ॥ ९१ ॥
प्रहारविप्रमोक्षार्थं सहसा धरणीं गतः ।

प्रतापी भीष्म उसके वेगको अनिवार्य समझकर उस प्रहारसे बचनेके लिये सहसा पृथ्वीपर कूद पड़े ॥ ९१½ ॥

श्वेतः क्रोधसमाविष्टो भ्रामयित्वा तु तां गदाम् ॥ ९२ ॥
रथे भीष्मस्य चिक्षेप यथा देवो धनेश्वरः ।

उधर श्वेतने क्रोधसे व्याप्त हो उस गदाको आकाशमें घुमाकर भीष्मके रथपर फेंक दिया, मानो कुबेरने गदाका प्रहार किया हो ॥ ९२½ ॥

तया भीष्मनिपातिन्या स रथो भस्मसात्कृतः ॥ ९३ ॥
सध्वजः सह सूतेन साश्वः सयुगबन्धुरः ।

भीष्मको मार डालनेके लिये चलायी हुई उस गदाके आघातसे ध्वज, सारथि, घोड़े, जूआ और धुरा आदिके साथ वह सारा रथ चूर-चूर हो गया ॥ ९३½ ॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं भीष्मं दृष्ट्वा रथोत्तमाः ॥ ९४ ॥
अभ्यधावन्त सहिताः शल्यप्रभृतयो रथाः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मको रथहीन हुआ देख शल्य आदि उत्तम महारथी एक साथ दौड़े ॥ ९४½ ॥

ततोऽन्यं रथमास्थाय धनुर्विस्फार्य दुर्मनाः ॥ ९५ ॥
शनकैरभ्ययाच्छ्वेतं गाङ्गेयः प्रहसन्निव ।

तब दूसरे रथपर बैठकर धनुषकी टङ्कार करते हुए गङ्गानन्दन भीष्म उदास मनसे हँसते हुए-से धीरे-धीरे श्वेतकी ओर चले ॥ ९५½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे भीष्मः शुश्राव विपुलां गिरम् ॥ ९६ ॥
आकाशादीरितां दिव्यामात्मनो हितसम्भवाम् ।
भीष्म भीष्म महाबाहो शीघ्रं यत्नं कुरुष्व वै ॥ ९७ ॥
एष ह्यस्य जये कालो निर्दिष्टो विश्वयोनिना ।

इसी बीचमें भीष्मने अपने हितसे सम्बन्ध रखनेवाली एक दिव्य एवं गम्भीर आकाशवाणी सुनी—'महाबाहु भीष्म ! शीघ्र प्रयत्न करो । इस श्वेतपर विजय पानेके लिये ब्रह्माजीने यही समय निश्चित किया है' ॥ ९६-९७½ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं देवदूतेन भाषितम् ॥ ९८ ॥
सम्प्रहृष्टमना भूत्वा वधे तस्य मनो दधे ।

देवदूतका कहा हुआ यह वचन सुनकर भीष्मजीका मन प्रसन्न हो गया और उन्होंने श्वेतके वधका विचार किया ॥

विरथं रथिनां श्रेष्ठं श्वेतं दृष्ट्वा पदातिनम् ॥ ९९ ॥
सहितास्त्वभ्यवर्तन्त परीप्सन्तो महारथाः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतको रथहीन और पैदल देख उसकी रक्षा करनेके लिये एक साथ बहुत-से महारथी दौड़े आये ९९½

सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥१००॥
कैकेयो धृष्टकेतुश्च अभिमन्युश्च वीर्यवान् ।

उनके नाम इस प्रकार हैं—सात्यकि, भीमसेन, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, केकयराजकुमार, धृष्टकेतु तथा पराक्रमी अभिमन्यु ॥ १००½ ॥

एतानापततः सर्वान् द्रोणशल्यकृपैः सह ॥१०१॥
अवारयदमेयात्मा वारिवेगानिवाचलः ।

इन सबको आते देख अमेय शक्तिसम्पन्न भीष्मजीने द्रोणाचार्य, शल्य तथा कृपाचार्यके साथ जाकर उनकी गति रोक दी, मानो किसी पर्वतने जलके प्रवाहको अवरुद्ध कर दिया हो ॥ १०१½ ॥

स निरुद्धेषु सर्वेषु पाण्डवेषु महात्मसु ॥१०२॥
श्वेतः खड्गमथाकृष्य भीष्मस्य धनुराच्छिनत् ।

समस्त महामना पाण्डवोंके अवरुद्ध हो जानेपर श्वेतने तलवार खींचकर भीष्मका धनुष काट दिया ॥ १०२½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं त्वरमाणः पितामहः ॥१०३॥
देवदूतवचः श्रुत्वा वधे तस्य मनो दधे ।

उस कटे हुए धनुषको फेंककर पितामह भीष्मने देवदूतके कथनपर ध्यान देकर तुरंत ही श्वेतके वधका निश्चय किया ॥ १०३½ ॥

ततः प्रचरमाणस्तु पिता देवव्रतस्तव ॥१०४॥
अन्यत् कार्मुकमादाय त्वरमाणो महारथः ।
क्षणेन सज्यमकरोच्छक्रचापसमप्रभम् ॥१०५॥

तदनन्तर ! आपके पिता महारथी देवव्रतने तुरंत ही दूसरा धनुष लेकर वहाँ विचरण करते हुए ही क्षणभरमें उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी । वह इन्द्रधनुषके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ १०४-१०५ ॥

पिता ते भरतश्रेष्ठ श्वेतं दृष्ट्वा महारथैः ।
वृतं तं मनुजव्याघ्रैर्भीमसेनपुरोगमैः ॥१०६॥
अभ्यवर्तत गाङ्गेयः श्वेतं सेनापतिं द्रुतम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पिता गङ्गानन्दन भीष्मने नरश्रेष्ठ भीमसेन आदि महारथियोंसे घिरे हुए सेनापति श्वेतको देखकर उनपर तुरंत धावा किया ॥ १०६½ ॥

आपतन्तं ततो भीष्मो भीमसेनं प्रतापवान् ॥१०७॥
आजघ्ने विशिखैः षष्ट्या सेनान्यं स महारथः ।

उस समय सेनानायक भीमसेनको सामने आते देख प्रतापी महारथी भीष्मने उन्हें साठ बाणोंसे कर दिया ॥ १०७½ ॥

अभिमन्युं च समरे पिता देवव्रतस्तव ॥१०
आजघ्ने भरतश्रेष्ठस्त्रिभिः संनतपर्वभिः ।

उस समरभूमिमें आपके पिता भरतश्रेष्ठ भीष्मने हुई गाँठवाले तीन बाणोंसे अभिमन्युको चोट पहुँचायी ॥१०

सात्यकिं च शतेनाजौ भरतानां पितामहः ॥१०
धृष्टद्युम्नं च विंशत्या कैकेयं चापि पञ्चभिः ।
तांश्च सर्वान् महेष्वासान् पिता देवव्रतस्तव ॥११
वारयित्वा शरैर्घोरैः श्वेतमेवाभिदुद्रुवे ।

भरतवंशियोंके उन पितामहने युद्धस्थलमें सौ सात्यकिको, बीस सायकोंद्वारा धृष्टद्युम्नको और पाँच केकयराजकुमारको क्षत-विक्षत कर दिया । इस प्रकार पिता भीष्मने अपने भयंकर बाणोंद्वारा उन सम्पूर्ण धनुर्धरोंको जहाँके तहाँ रोककर पुनः श्वेतपर आक्रमण किया ॥ १०९-११०½ ॥

ततः शरं मृत्युसमं भारसाधनमुत्तमम् ॥१११॥
विकृष्य बलवान् भीष्मः समाधत्त दुरासदम् ।
ब्रह्मास्त्रेण सुसंयुक्तं तं शरं लोमवाहिनम् ॥११

तदनन्तर महाबली भीष्मने धनुषको खींचकर ऊपर एक मृत्युके समान भयंकर, भारी-से-भारी वेधनेमें समर्थ, उत्तम और दुःसह पंखयुक्त बाण फिर उसे ब्रह्मास्त्रद्वारा अभिमन्त्रित करके छोड़ दिया १११-११

ददृशुर्देवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
स तस्य कवचं भित्त्वा हृदयं चामितौजसः ॥११
जगाम धरणीं बाणो महाशनिरिव ज्वलन् ।

उस समय देवताओं, गन्धर्वों, पिशाचों, नागों राक्षसोंने भी देखा, वह बाण महान् वज्रके समान प्रज्व हो उठा और अमित बलशाली श्वेतके कवच तथा हृदय भी छेदकर धरतीमें समा गया ॥ ११३½ ॥

अस्तं गच्छन् यथाऽऽदित्यः प्रभामादाय सत्वरः ॥११
एवं जीवितमादाय श्वेतदेहाज्जगाम ह ।

जैसे डूबता हुआ सूर्य अपनी प्रभा साथ लेकर ही अस्त हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण श्वेतके उसके प्राण लेकर चला गया ॥ ११४½ ॥

तं भीष्मेण नरव्याघ्रं तथा विनिहतं युधि ॥११५॥
प्रपतन्तमपश्याम गिरेः श्रृङ्गमिव च्युतम् ।

भीष्मके द्वारा मारे गये नरश्रेष्ठ श्वेतको युद्धस्थलमें हमने देखा । वह टूटकर गिरे हुए पर्वतके समान पड़ता था ॥ ११५½ ॥

अशोचन् पाण्डवास्तत्र क्षत्रियाश्च महारथाः ॥११६
प्रहृष्टाश्च सुतास्तुभ्यं कुरवश्चापि सर्वशः ।

महारथी पाण्डव तथा उस दलके दूसरे क्षत्रिय श्वेतके शोकमें डूब गये । इधर आपके पुत्र समस्त कौरव उल्लसित हो उठे ॥ ११६½ ॥

दुःशासनो राजञ्श्वेतं दृष्ट्वा निपातितम् ॥११७॥
निनदैर्घोरैर्नृत्यति स समन्ततः ।

राजन् ! श्वेतको मारा गया देख आपका पुत्र दुःशासन बाजेकी भयंकर ध्वनिके साथ चारों ओर नाचने लगा ॥ ११७½ ॥

स्मिन् हते महेष्वासे भीष्मेणाहवशोभिना ॥११८॥
म्पन्त महेष्वासाः शिखण्डिप्रमुखा रथाः ।

संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले भीष्मजीके द्वारा महाधनुर्धर के मारे जानेपर शिखण्डी आदि महाधनुर्धर रथी के मारे काँपने लगे ॥ ११८½ ॥

ततो धनंजयो राजन् वार्ष्णेयश्चापि सर्वशः ॥११९॥
अवहारं शनैश्चक्रुर्निहते वाहिनीपतौ ।
ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत ॥१२०॥

राजन् ! तब सेनापति श्वेतके मारे जानेके कारण अर्जुन और श्रीकृष्णने धीरे-धीरे अपनी सेनाको युद्धभूमिसे पीछे हटा लिया । भारत ! फिर आपकी और पाण्डवोंकी सेना भी उस समय युद्धसे विरक्त हो गयी ॥ ११९-१२० ॥

तावकानां परेषां च नर्दतां च मुहुर्मुहुः ।
पार्था विमनसो भूत्वा न्यवर्तन्त महारथाः ।
चिन्तयन्तो वधं घोरं द्वैरथेन परंतपाः ॥१२१॥

उस समय आपके और शत्रुपक्षके सैनिक भी बारंबार गर्जना कर रहे थे । उस द्वैरथ युद्धमें जो भयंकर संहार हुआ था, उसके लिये चिन्ता करते हुए शत्रुसंतापी पाण्डव महारथी उदास मनसे शिबिरमें लौट आये ॥ १२१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि श्वेतवधे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें श्वेतवधविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शङ्खका युद्ध, भीष्मका प्रचण्ड पराक्रम तथा प्रथम दिनके युद्धकी समाप्ति

धृतराष्ट्र उवाच

सेनापतौ तात संग्रामे निहते परैः ।
कुर्वन् महेष्वासाः पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—तात ! सेनापति श्वेतके शत्रुओंद्वारा मारे जानेपर महान् धनुर्धर पाञ्चालों और पाण्डवों- किया ? ॥ १ ॥

समाकर्ण्य श्वेतं युधि निपातितम् ।
यततां चापि परेषां प्रपलायिनाम् ॥ २ ॥
प्रीणाति मे वाक्यं जयं संजय शृण्वतः ।
चिन्तयतो लज्जां प्राप्नोति मे न हि ॥ ३ ॥
वीरोऽनुरक्तश्च वृद्धः कुरुपतिस्तदा ।

संजय ! सेनापति श्वेत युद्धमें मारे गये । उनकी रक्षाके प्रयत्न करनेपर भी शत्रुओंको पलायन करना पड़ा अपने पक्षकी विजय हुई—ये सब बातें सुनकर मेरे बड़ी प्रसन्नता हो रही है । शत्रुओंके प्रतीकारका सोचते हुए मुझे अपने पक्षके द्वारा की गयी अनीतिका करके भी लज्जा नहीं आती है । वे वृद्ध एवं वीर भीष्म हमपर सदा अनुराग रखते हैं (इस कारण श्वेतके साथ ऐसा व्यवहार किया होगा)॥२-३½॥

वैरं सदा तेन पितुः पुत्रेण धीमता ॥ ४ ॥
भयाच्चापि संश्रितः पाण्डवान् पुरा ।

बुद्धिमान् विराटपुत्र श्वेतने अपने पिताके साथ वैर बाँध रक्खा था, इस कारण पिताके द्वारा प्राप्त होनेवाले उद्वेग एवं भयसे श्वेतने पहले ही पाण्डवोंकी शरण ले ली थी ॥ ४½ ॥

सर्वं बलं परित्यज्य दुर्गं संश्रित्य तिष्ठति ॥ ५ ॥
पाण्डवानां प्रतापेन दुर्गं देशं निवेश्य च ।
सपत्नान् सततं बाधन्नार्यवृत्तिमनुष्ठितः ॥ ६ ॥

पहले तो वह समस्त सेनाका परित्याग करके (अकेला ही) दुर्गमें छिपा रहता था । फिर पाण्डवोंके प्रतापसे दुर्गम प्रदेशमें रहकर निरन्तर शत्रुओंको बाधा पहुँचाते हुए सदाचारका पालन करने लगा ॥ ५-६ ॥

आश्चर्यं वै सदा तेषां पुरा राज्ञां सुदुर्मतिः ।
ततो युधिष्ठिरे भक्तः कथं संजय सूदितः ॥ ७ ॥

क्योंकि पूर्वकालमें अपने साथ विरोध करनेवाले उन राजाओंके प्रति उसकी बुद्धिमें दुर्भाव था; पर संजय ! आश्चर्य तो यह है कि ऐसा शूरवीर श्वेत, जो युधिष्ठिरका बड़ा भक्त था, मारा कैसे गया ? ॥ ७ ॥

प्रक्षिप्तः सम्मतः क्षुद्रः पुत्रो मे पुरुषाधमः ।
न युद्धं रोचयेद् भीष्मो न चाचार्यः कथंचन ॥ ८ ॥
न कृपो न च गान्धारी नाहं संजय रोचये ।

मेरा पुत्र दुर्योधन क्षुद्र स्वभावका है । वह कर्ण आदिका प्रिय तथा चञ्चल बुद्धिवाला है । मेरी दृष्टिमें वह समस्त पुरुषोंमें अधम है (इसीलिये उसके मनमें युद्धके

लिये आग्रह है) । संजय ! मैं, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा गान्धारी–इनमेंसे कोई भी युद्ध नहीं चाहता था ॥ ८½ ॥

न वासुदेवो वार्ष्णेयो धर्मराजश्च पाण्डवः ॥ ९ ॥
न भीमो नार्जुनश्चैव न यमौ पुरुषर्षभौ ।

वृष्णिवंशी भगवान् वासुदेव, पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा पुरुषरत्न नकुल-सहदेव भी युद्ध नहीं पसंद करते थे ॥ ९½ ॥

वार्यमाणो मया नित्यं गान्धार्या विदुरेण च ॥ १० ॥
जामदग्न्येन रामेण व्यासेन च महात्मना ।
दुर्योधनो युध्यमानो नित्यमेव हि संजय ॥ ११ ॥
कर्णस्य मतमास्थाय सौबलस्य च पापकृत् ।
दुःशासनस्य च तथा पाण्डवान् नान्वचिन्तयत् ॥ १२ ॥

मैंने, गान्धारीने और विदुरने तो सदा ही उसे मना किया है, जमदग्निपुत्र परशुरामने तथा महात्मा व्यासजीने भी उसे युद्धसे रोकनेका प्रयत्न किया है; तथापि कर्ण, शकुनि तथा दुःशासनके मतमें आकर पापी दुर्योधन सदा युद्धका ही निश्चय रखता आया है । उसने पाण्डवोंको कभी कुछ नहीं समझा ॥ १०–१२ ॥

तस्याहं व्यसनं घोरं मन्ये प्राप्तं तु संजय ।
श्वेतस्य च विनाशेन भीष्मस्य विजयेन च ॥ १३ ॥
संक्रुद्धः कृष्णसहितः पार्थः किमकरोद् युधि ।

संजय ! मेरा तो विश्वास है कि दुर्योधनपर घोर संकट प्राप्त होनेवाला है । श्वेतके मारे जाने और भीष्मकी विजय होनेसे अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए श्रीकृष्णसहित अर्जुनने युद्धस्थलमें क्या किया ? ॥ १३½ ॥

अर्जुनाद्धि भयं भूयस्तन्मे तात न शाम्यति ॥ १४ ॥
स हि शूरश्च कौन्तेयः क्षिप्रकारी धनंजयः ।
मन्ये शरैः शरीराणि शत्रूणां प्रमथिष्यति ॥ १५ ॥

तात ! अर्जुनसे मुझे अधिक भय बना रहता है और वह भय कभी शान्त नहीं होता; क्योंकि कुन्तीनन्दन अर्जुन शूरवीर तथा शीघ्रतापूर्वक अस्त्र संचालन करनेवाला है । मैं समझता हूँ कि वह अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंके शरीरोंको मथ डालेगा ॥ १४-१५ ॥

ऐन्द्रिमिन्द्रानुजसमं महेन्द्रसदृशं बले ।
अमोघक्रोधसंकल्पं दृष्ट्वा वः किमभून्मनः ॥ १६ ॥

इन्द्रकुमार अर्जुन भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी और महेन्द्रके समान बलवान् है । उसका क्रोध और संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता । उसे देखकर तुमलोगोंके मनमें क्या विचार उठा था ? ॥ १६ ॥

तथैव वेदविच्छूरो ज्वलनार्कसमद्युतिः ।
इन्द्रास्त्रविदमेयात्मा प्रपतन् समितिंजयः ॥ १७ ॥
वज्रसंस्पर्शरूपाणामस्त्राणां च प्रयोजकः ।
स खड्गाक्षेपहस्तस्तु घोषं चक्रे महारथः ॥

अर्जुन वेदज्ञ, शौर्यसम्पन्न, अग्नि और सूर्य तेजस्वी, इन्द्रास्त्रका ज्ञाता, अमेय आत्मबलसे सम्पन्न पूर्वक आक्रमण करनेवाला और बड़े-बड़े संग्रामोंमें पानेवाला है । वह ऐसे-ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग करता है हल्का-सा स्पर्श भी वज्रके समान कठोर है । महारथी अपने हाथमें सदा तलवार खींचे ही रहता है और प्रहार करके विकट गर्जना करता है ॥ १७-१८ ॥

स संजय महाप्राज्ञो द्रुपदस्यात्मजो बली ।
धृष्टद्युम्नः किमकरोच्छ्वेते युधि निपातिते ॥

संजय ! द्रुपदके परम बुद्धिमान् पुत्र बलवान् श्वेतके युद्धमें मारे जानेपर क्या किया ? ॥ १९ ॥

पुरा चैवापराधेन वधेन च चमूपतेः ।
मन्ये मनः प्रजज्वाल पाण्डवानां महात्मनाम् ॥

पहले भी कौरवोंद्वारा पाण्डवोंका अपराध हुआ उससे तथा सेनापतिके वधसे महामना पाण्डवोंके आग-सी लग गयी होगी, यह मेरा विश्वास है ॥ २० ॥

तेषां क्रोधं चिन्तयंस्तु अहःसु च निशासु च ।
न शान्तिमधिगच्छामि दुर्योधनकृतेन हि ।
कथं चाभून्महायुद्धं सर्वमाचक्ष्व संजय ॥

दुर्योधनके कारण पाण्डवोंके मनमें जो क्रोध है, चिन्तन करके मुझे न तो दिनमें शान्ति मिलती है, न ही । संजय ! वह महायुद्ध किस प्रकार हुआ, मुझे बताओ ॥ २१ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा तवापनयनो महान् ।
न च दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ॥

संजयने कहा—राजन् ! स्थिर होकर सुनिये । युद्धके होनेमें सबसे बड़ा अन्याय आपका ही है । सारा दोष आपको दुर्योधनके ही माथे नहीं मढ़ना चाहिये

गतोदके सेतुबन्धो यादृक् तादृङ्मतिस्तव ।
संदीप्ते भवने यद्वत् कूपस्य खननं तथा ॥

जैसे पानीकी बाढ़ निकल जानेपर पुल बाँधनेका प्रयत्न जाय अथवा घरमें आग लग जानेपर उसे बुझानेके कुआँ खोदनेकी चेष्टा की जाय, उसी प्रकार यह समझ है ॥ २३ ॥

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे ।
तावकानां परेषां च पुनर्युद्धमवर्तत ॥

उस भयंकर दिनके पूर्वभागका अधिकांश व्यतीत जानेपर आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें पुनः आरम्भ हुआ ॥ २४ ॥

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्वेतं तु निहतं दृष्ट्वा विराटस्य चमूपतिम्।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम्॥ २५॥
शङ्खः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव।

विराटके सेनापति श्वेतको मारा गया और राजा शल्यको कृतवर्माके साथ रथपर बैठा हुआ देख शङ्ख क्रोधसे जल उठा, मानो अग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी हो ॥ २५½॥

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली ॥ २६ ॥
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं युधि।

उस बलवान् वीरने इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल धनुषको कानोंतक खींचकर मद्रराज शल्यको युद्धमें मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ॥ २६½ ॥

महता रथसंघेन समन्तात् परिरक्षितः ॥ २७ ॥
सृजन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति।

विशाल रथसेनाके द्वारा सब ओरसे घिरकर बाणोंकी वर्षा करते हुए उसने शल्यके रथपर आक्रमण किया ॥ २७½॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम् ॥ २८ ॥
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन्।
मद्रराजं परीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम् ॥ २९ ॥

मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले शङ्खको धावा करते देख आपके सात रथियोंने मौतके दाँतोंमें पड़े हुए मद्रराज शल्यको बचानेकी इच्छा रखकर उन्हें सब ओरसे घेर लिया ॥ २८-२९ ॥

बृहद्बलश्च कौसल्यो जयत्सेनश्च मागधः।
तथा रुक्मरथो राजन् पुत्रः शल्यस्य मानितः ॥ ३० ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः।
बृहत्क्षत्रस्य दायादः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ३१ ॥

राजन्! उन रथियोंके नाम ये हैं—कोसलनरेश बृहद्बल, मगधदेशीय जयत्सेन, शल्यके प्रतापी पुत्र रुक्मरथ, अवन्तिके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण तथा बृहत्क्षत्रके पुत्र सिन्धुराज जयद्रथ ॥ ३०-३१ ॥

नानाधातुविचित्राणि कार्मुकाणि महात्मनाम्।
विस्फारितान्यदृश्यन्त तोयदेष्विव विद्युतः ॥ ३२ ॥

उन महामना वीरोंके फैलाये हुए अनेक रूप-रंगके विचित्र धनुष बादलोंमें बिजलियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥

ते तु बाणमयं वर्षं शङ्खमूर्ध्नि न्यपातयन्।
घनान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम् ॥ ३३ ॥

उन सबने शङ्खके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें वायुद्वारा उठाये हुए मेघ पर्वतपर जल बरसा रहे हों ॥ ३३ ॥

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ननर्द पृतनापतिः ॥ ३४ ॥

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति शङ्खने कुपित होकर तेज किये हुए भल्ल नामक सात बाणोंद्वारा उन सातों रथियोंके धनुष काटकर गर्जना की ॥ ३४ ॥

ततो भीष्मो महाबाहुर्विनद्य जलदो यथा।
तालमात्रं धनुर्गृह्य शङ्खमभ्यद्रवद् रणे ॥ ३५ ॥

तदनन्तर महाबाहु भीष्मने मेघके समान गर्जना करके चार हाथ लंबा धनुष लेकर रणभूमिमें शङ्खपर धावा किया ॥

तमुद्यन्तमुदीक्ष्याथ महेष्वासं महाबलम्।
संत्रस्ता पाण्डवी सेना वातवेगहतेव नौः ॥ ३६ ॥

उस समय महाधनुर्धर महाबली भीष्मको युद्धके लिये उद्यत देख पाण्डवसेना वायुके वेगसे डगमग होनेवाली नौकाकी भाँति काँपने लगी ॥ ३६ ॥

ततोऽर्जुनः संत्वरितः शङ्खस्यासीत् पुरःसरः।
भीष्माद् रक्ष्योऽयमद्येति ततो युद्धमवर्तत ३७ ॥

यह देख अर्जुन तुरंत ही शङ्खके आगे आ गये। उनके आगे आनेका उद्देश्य यह था कि आज भीष्मके हाथसे शङ्खको बचाना चाहिये। फिर तो महान् युद्ध आरम्भ हुआ ॥

हाहाकारो महानासीद् योधानां युधि युध्यताम्।
तेजस्तेजसि सम्पृक्तमित्येवं विस्मयं ययुः ॥ ३८ ॥

उस समय रणक्षेत्रमें जूझनेवाले योद्धाओंका महान् हाहाकार सब ओर फैल गया। तेजके साथ तेज टक्कर ले रहा है, यह कहते हुए सब लोग बड़े विस्मयमें पड़ गये ॥ ३८ ॥

अथ शल्यो गदापाणिरवतीर्य महारथात्।
शङ्खस्य चतुरो वाहानहनद् भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय राजा शल्यने हाथमें गदा लिये अपने विशाल रथसे उतरकर शङ्खके चारों घोड़ोंको मार डाला ॥ ३९ ॥

स हताश्वाद् रथात् तूर्णं खड्गमादाय विद्रुतः।
बीभत्सोश्च रथं प्राप्य पुनः शान्तिमविन्दत ॥ ४० ॥

घोड़े मारे जानेपर शङ्ख तुरंत ही तलवार लेकर रथसे कूद पड़ा और अर्जुनके रथपर चढ़कर उसने पुनः शान्तिकी साँस ली ॥ ४० ॥

ततो भीष्मरथात् तूर्णमुत्पतन्ति पतत्त्रिणः।
यैरन्तरिक्षं भूमिश्च सर्वतः समवस्तृता ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् भीष्मके रथसे शीघ्रतापूर्वक पंखयुक्त बाण पक्षीके समान उड़ने लगे, जिन्होंने पृथ्वी और आकाश सबको आच्छादित कर लिया ॥ ४१ ॥

पञ्चालानथ मत्स्यांश्च केकयांश्च प्रभद्रकान्।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः पातयामास पत्रिभिः ॥ ४२ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म पाञ्चाल, मत्स्य, केकय तथा प्रभद्रक वीरोंको अपने बाणोंसे मार-मारकर गिराने लगे ॥ ४२ ॥

उत्सृज्य समरे राजन् पाण्डवं सव्यसाचिनम्।
अभ्यद्रवत पाञ्चाल्यं द्रुपदं सेनया वृतम् ॥ ४३ ॥
प्रियं सम्बन्धिनं राजञ्छरानवकिरन् बहून्।

राजन्! भीष्मने समरभूमिमें सव्यसाची अर्जुनको छोड़कर सेनासे घिरे हुए पाञ्चालराज द्रुपदपर धावा किया और अपने प्रिय सम्बन्धीपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की ॥ ४३½ ॥

अग्निनेव प्रदग्धानि वनानि शिशिरात्यये ॥ ४४ ॥
शरदग्धान्यदृश्यन्त सैन्यानि द्रुपदस्य ह।

जैसे ग्रीष्म ऋतुमें आग लगनेसे सारे वन दग्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार द्रुपदकी सारी सेनाएँ भीष्मके बाणोंसे दग्ध दिखायी देने लगीं ॥ ४४½ ॥

अत्यतिष्ठद् रणे भीष्मो विधूम इव पावकः ॥ ४५ ॥
मध्यंदिने यथाऽऽदित्यं तपन्तमिव तेजसा।
न शेकुः पाण्डवेयस्य योधा भीष्मं निरीक्षितुम् ॥ ४६ ॥

उस समय भीष्म रणभूमिमें धूमरहित अग्निके समान खड़े थे। जैसे दुपहरीमें अपने तेजसे तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन है, उसी प्रकार पाण्डव-सेनाके सैनिक भीष्मकी ओर दृष्टिपात करनेमें भी असमर्थ हो गये ॥ ४५-४६ ॥

वीक्षांचक्रुः समन्तात् ते पाण्डवा भयपीडिताः।
त्रातारं नाध्यगच्छन्त गावः शीतार्दिता इव ॥ ४७ ॥

पाण्डव योद्धा भयसे पीड़ित हो सब ओर देखने लगे; परंतु सर्दीसे पीड़ित हुई गौओंकी भाँति उन्हें अपना कोई रक्षक नहीं मिला ॥ ४७ ॥

सा तु यौधिष्ठिरी सेना गाङ्गेयशरपीडिता।
सिंहेनेव विनिर्भिन्ना शुक्ला गौरिव गोपते ॥ ४८ ॥

राजन्! गङ्गानन्दन भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हुई वह युधिष्ठिरकी (श्वेत-परिधानविभूषित) सेना सिंहके द्वारा सतायी हुई सफेद गायके समान प्रतीत होने लगी ॥ ४८ ॥

हते विप्रद्रुते सैन्ये निरुत्साहे विमर्दिते।
हाहाकारो महानासीत् पाण्डुसैन्येषु भारत ॥ ४९ ॥

भारत! पाण्डव-सेनाके सैनिक बहुत-से मारे गये, बहुतेरे भाग गये, कितने रौंद डाले गये और कितने ही उत्साहशून्य हो गये। इस प्रकार पाण्डवदलमें बड़ा हाहाकार मच गया था ॥ ४९ ॥

ततो भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः।
मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव ॥ ५० ॥

उस समय शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुषको खींचकर गोल बना देते और उसके द्वारा विषैले सर्पोंकी भाँति भयंकर प्रज्वलित अग्रभागवाले बाणोंकी निरन्तर वर्षा करते थे ॥ ५० ॥

शरैरेकायनीकुर्वन् दिशः सर्वा यतव्रतः।
जघान पाण्डवरथानादिश्यादिश्य भारत ॥ ५१ ॥

भारत! नियमपूर्वक व्रतोंका पालन करनेवाले भीष्म सम्पूर्ण दिशाओंमें बाणोंसे एक रास्ता बना देते और पाण्डव-रथियोंको चुन-चुनकर—उनके नाम ले-लेकर मारते थे ॥ ५१ ॥

ततः सैन्येषु भग्नेषु मथितेषु च सर्वशः।
प्राप्ते चास्तं दिनकरे न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५२ ॥

इस प्रकार सारी सेना मथित हो उठी, व्यूह भंग हो गया और सूर्य अस्ताचलको चले गये; उस समय अँधेरेमें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ५२ ॥

भीष्मं च समुदीर्यन्तं दृष्ट्वा पार्था महाहवे।
अवहारमकुर्वन्त सैन्यानां भरतर्षभ ॥ ५३ ॥

भरतश्रेष्ठ! इधर, उस महान् युद्धमें भीष्मका वेग अधिकाधिक प्रचण्ड होता जा रहा था, यह देख कुन्तीके पुत्रोंने अपनी सेनाओंको युद्धक्षेत्रसे पीछे हटा लिया ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि शङ्खयुद्धे प्रथमदिवसावहारे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें शङ्खका युद्ध तथा प्रथम दिनके युद्धका उपसंहारविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आश्वासन, धृष्टद्युम्नका उत्साह तथा द्वितीय दिनके युद्धके लिये क्रौञ्चारुणव्यूहका निर्माण

संजय उवाच

कृतेऽवहारे सैन्यानां प्रथमे भरतर्षभ।
भीष्मे च युद्धसंरब्धे हृष्टे दुर्योधने तथा ॥ १ ॥
धर्मराजस्ततस्तूर्णमभिगम्य जनार्दनम्।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सर्वैश्चैव जनेश्वरैः ॥ २ ॥
शुचा परमया युक्तश्चिन्तयानः पराजयम्।
वार्ष्णेयमब्रवीद् राजन् दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम् ॥ ३ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! प्रथम दिनके युद्धमें जब पाण्डव-सेना पीछे हटा दी गयी, भीष्मजीका युद्धविषयक उत्साह बढ़ता ही गया और दुर्योधन हर्षातिरेकसे उल्लसित

हो उठा, उस समय धर्मराज युधिष्ठिर अपने सभी भाइयों और सम्पूर्ण राजाओंके साथ तुरंत भगवान् श्रीकृष्णके पास ये और अत्यन्त शोकसे संतप्त हो भीष्मका पराक्रम देखकर अपनी पराजयके लिये चिन्ता करते हुए भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ १-३॥

कृष्ण पश्य महेष्वासं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
शरैर्दहन्तं सैन्यं मे ग्रीष्मे कक्षमिवानलम् ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण ! देखिये, महान् धनुर्धर और भयंकर पराक्रमी भीष्म अपने बाणोंद्वारा मेरी सेनाको उसी प्रकार दग्ध कर रहे हैं, जैसे ग्रीष्म ऋतुमें लगी हुई आग घास-फूँसको जलाकर भस्म कर डालती है ॥ ४ ॥

कथमेनं महात्मानं शक्ष्यामः प्रतिवीक्षितुम् ।
लेलिह्यमानं सैन्यं मे हविष्मन्तमिवानलम् ॥ ५ ॥

जैसे अग्निदेव प्रज्वलित होकर हविष्यकी आहुति ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार ये महामना भीष्म अपनी बाणरूपी जिह्वासे मेरी सेनाको चाटते जा रहे हैं। हमलोग कैसे इनकी ओर देख सकेंगे—किस प्रकार इनका सामना कर सकेंगे ? ॥

एतं हि पुरुषव्याघ्रं धनुष्मन्तं महाबलम् ।
दृष्ट्वा विप्रद्रुतं सैन्यं समरे मार्गणाहतम् ॥ ६ ॥

हाथमें धनुष लिये इन महाबली पुरुषसिंह भीष्मको देखकर और समरभूमिमें इनके बाणोंसे आहत होकर मेरी सारी सेना भागने लगती है ॥ ६ ॥

शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धो वज्रपाणिश्च संयुगे ।
वरुणः पाशभृद् वापि कुबेरो वा गदाधरः ॥ ७ ॥
न तु भीष्मो महातेजाः शक्यो जेतुं महाबलः ।

क्रोधमें भरे हुए यमराज, वज्रधारी इन्द्र, पाशधारी वरुण अथवा गदाधारी कुबेर भी कदाचित् युद्धमें जीते जा सकते हैं; परंतु महातेजस्वी, महाबली भीष्मको जीतना असम्भव है ॥ ७½ ॥

सोऽहमेवंगते मग्नो भीष्मागाधजलेऽप्लवे ॥ ८ ॥
आत्मनो बुद्धिदौर्बल्याद् भीष्ममासाद्य केशव ।

केशव ! ऐसी दशामें मैं तो अपनी बुद्धिकी दुर्बलताके कारण भीष्मसे टक्कर लेकर भीष्मरूपी अगाध जलराशिमें नौकाके बिना डूबा जा रहा हूँ ॥ ८½ ॥

वनं यास्यामि वार्ष्णेय श्रेयो मे तत्र जीवितुम् ॥ ९ ॥
न त्विमान् पृथिवीपालान् दातुं भीष्माय मृत्यवे ।

वार्ष्णेय ! अब मैं वनको चला जाऊँगा । वहीं जीवन बिताना मेरे लिये कल्याणकारी होगा । इन भूपालोंको व्यर्थ ही भीष्मरूपी मृत्युको सौंप देनेमें कोई भलाई नहीं है ॥९½॥

क्षपयिष्यति सेनां मे कृष्ण भीष्मो महास्त्रवित् ॥ १० ॥
यथानलं प्रज्वलितं पतङ्गाः समभिद्रुताः ।
विनाशायोपगच्छन्ति तथा मे सैनिको जनः ॥ ११ ॥

'श्रीकृष्ण ! भीष्म महान् दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हैं । वे मेरी सारी सेनाका संहार कर डालेंगे । जैसे पतिंगे मरनेके लिये ही जलती आगमें कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार मेरे समस्त सैनिक अपने विनाशके लिये ही भीष्मके समीप जाते हैं ॥

क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय राज्यहेतोः पराक्रमी ।
भ्रातरश्चैव मे वीराः कर्शिताः शरपीडिताः ॥ १२ ॥

'वार्ष्णेय ! राज्यके लिये पराक्रम करके मैं सब प्रकारसे क्षीण होता जा रहा हूँ । मेरे वीर भ्राता बाणोंसे पीड़ित होकर अत्यन्त कृश होते जा रहे हैं ॥ १२ ॥

मत्कृते भ्रातृहार्देन राज्याद् भ्रष्टास्तथा सुखात् ।
जीवितं बहु मन्येऽहं जीवितं ह्यद्य दुर्लभम् ॥ १३ ॥

'ये बन्धुजनोचित सौहार्दके कारण मेरे लिये राज्य और सुखसे वञ्चित हो दुःख भोग रहे हैं । इस समय मैं इनके और अपने जीवनको ही बहुत अच्छा समझता हूँ; क्योंकि अब जीवन भी दुर्लभ है ॥ १३ ॥

जीवितस्य च शेषेण तपस्तप्स्यामि दुश्चरम् ।
न घातयिष्यामि रणे मित्राणीमानि केशव ॥ १४ ॥

'केशव ! जीवन बच जानेपर मैं दुष्कर तपस्या करूँगा; परंतु रणक्षेत्रमें इन मित्रोंकी व्यर्थ हत्या नहीं कराऊँगा ॥

रथान् मे बहुसाहस्रान् दिव्यैरस्त्रैर्महाबलः ।
घातयत्यनिशं भीष्मः प्रवराणां प्रहारिणाम् ॥ १५ ॥

'महाबली भीष्म अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा मेरे पक्षके श्रेष्ठ एवं प्रहारकुशल कई सहस्र रथियोंका निरन्तर संहार कर रहे हैं ॥ १५ ॥

किं नु कृत्वा हितं मे स्याद् ब्रूहि माधव माचिरम्।
मध्यस्थमिव पश्यामि समरे सव्यसाचिनम् ॥ १६ ॥

'माधव ! शीघ्र बताइये, क्या करनेसे मेरा हित होगा ? सव्यसाची अर्जुनको तो मैं इस युद्धमें मध्यस्थ (उदासीन)—सा देख रहा हूँ ॥ १६ ॥

एको भीमः परं शक्त्या युध्यत्येव महाभुजः ।
केवलं बाहुवीर्येण क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ १७ ॥

'एकमात्र महाबाहु भीमसेन ही क्षत्रिय-धर्मका विचार करता हुआ केवल बाहुबलके भरोसे अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध कर रहा है ॥ १७ ॥

गदया वीरघातिन्या यथोत्साहं महामनाः ।
करोत्यसुकरं कर्म रथाश्वनरदन्तिषु ॥ १८ ॥

'महामना भीमसेन उत्साहपूर्वक अपनी वीरघातिनी गदाके द्वारा रथ, घोड़े, मनुष्य और हाथियोंपर अपना दुष्कर पराक्रम प्रकट कर रहा है ॥ १८ ॥

नालमेष क्षयं कर्तुं परसैन्यस्य मारिष।
आर्जवेनैव युद्धेन वीर वर्षशतैरपि ॥ १९ ॥

'माननीय वीर श्रीकृष्ण! यदि इस तरह सरलतापूर्वक ही युद्ध किया जाय तो यह भीमसेन अकेला सौ वर्षोंमें भी शत्रु-सेनाका विनाश नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

एकोऽस्त्रवित् सखा तेऽयं सोऽप्यस्मान् समुपेक्षते।
निर्दह्यमानान् भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ॥ २० ॥

'केवल आपका यह सखा अर्जुन ही दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता है, परंतु यह भी महामना भीष्म और द्रोणके द्वारा दग्ध होते हुए हमलोगोंकी उपेक्षा कर रहा है ॥ २० ॥

दिव्यान्यस्त्राणि भीष्मस्य द्रोणस्य च महात्मनः।
धक्ष्यन्ति क्षत्रियान् सर्वान् प्रयुक्तानि पुनः पुनः॥ २१ ॥

'महामना भीष्म और द्रोणके दिव्यास्त्र बार-बार प्रयुक्त होकर सम्पूर्ण क्षत्रियोंको भस्म कर डालेंगे ॥ २१ ॥

कृष्ण भीष्मः सुसंरब्धः सहितः सर्वपार्थिवैः।
क्षपयिष्यति नो नूनं यादृशोऽस्य पराक्रमः ॥ २२ ॥

'श्रीकृष्ण! भीष्म क्रोधमें भरकर अपने पक्षके समस्त राजाओंके साथ मिलकर निश्चय ही हमलोगोंका विनाश कर देंगे। जैसा उनका पराक्रम है, उससे यही सूचित होता है ॥ २२ ॥

स त्वं पश्य महाभाग योगेश्वर महारथम्।
भीष्मं यः शमयेत् संख्ये दावाग्निं जलदो यथा ॥ २३ ॥

'महाभाग योगेश्वर! आप ऐसे किसी महारथीको ढूँढ निकालिये, जो संग्रामभूमिमें भीष्मको उसी प्रकार शान्त कर दे, जैसे बादल दावानलको बुझा देता है ॥ २३ ॥

तव प्रसादाद् गोविन्द पाण्डवा निहतद्विषः।
स्वराज्यमनुसम्प्राप्ता मोदिष्यन्ते सबान्धवाः ॥ २४ ॥

'गोविन्द! आपकी कृपासे ही पाण्डव अपने शत्रुओंको मारकर स्वराज्य प्राप्त करके बन्धु-बान्धवोंसहित सुखी होंगे'॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थो ध्यायन्नास्ते महामनाः।
चिरमन्तर्मना भूत्वा शोकोपहतचेतनः।
शोकार्तं तमथो ज्ञात्वा दुःखोपहतचेतसम् ॥ २५ ॥
अब्रवीत् तत्र गोविन्दो हर्षयन् सर्वपाण्डवान्।

ऐसा कहकर महामना युधिष्ठिर शोकसे व्याकुलचित्त हो बहुत देरतक मनको अन्तर्मुख करके ध्यानमग्न बैठे रहे। युधिष्ठिरको शोकसे आतुर और दुःखसे व्यथितचित्त जानकर गोविन्दने समस्त पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—॥ २५½ ॥

मा शुचो भरतश्रेष्ठ न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
यस्य ते भ्रातरः शूराः सर्वलोकेषु धन्विनः।
अहं च प्रियकृद् राजन् सात्यकिश्च महायशाः ॥ २७ ॥
विराटद्रुपदौ चेमौ धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
तथैव सबलाश्चेमे राजानो राजसत्तम ॥ २८ ॥
त्वत्प्रसादं प्रतीक्षन्ते त्वद्भक्ताश्च विशाम्पते।

'भरतश्रेष्ठ! तुम शोक न करो। इस प्रकार शोक करना तुम्हें योग्य नहीं है। तुम्हारे शूर-वीर भाई सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात धनुर्धर हैं। राजन्! मैं भी तुम्हारा प्रिय करनेवाला हूँ। नृपश्रेष्ठ! महायशस्वी सात्यकि, विराट, द्रुपद, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा सेनासहित ये सम्पूर्ण नरेश आपके कृपाप्रसादकी प्रतीक्षा करते हैं। महाराज! ये सब-के-सब आपके भक्त हैं।

एष ते पार्षतो नित्यं हितकामः प्रिये रतः ॥ २९ ॥
सैनापत्यमनुप्राप्तो धृष्टद्युम्नो महाबलः।

'ये द्रुपदपुत्र महाबली धृष्टद्युम्न भी सदा आपका हित चाहते हैं और आपके प्रिय-साधनमें तत्पर होकर ही इन्होंने प्रधान सेनापतिका गुरुतर भार ग्रहण किया है ॥ २९½ ॥

शिखण्डी च महाबाहो भीष्मस्य निधनं किल ॥ ३० ॥
(करिष्यति न संदेहो नृपाणां युधि पश्यताम्।)

'महाबाहो! निश्चय ही इन समस्त राजाओंके देखते-देखते यह शिखण्डी भीष्मका वध कर डालेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है'॥ ३० ॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजा धृष्टद्युम्नं महारथम्।
अब्रवीत् समितौ तस्यां वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ३१ ॥

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते ही उस सभामें महारथी धृष्टद्युम्नसे कहा—॥ ३१ ॥

धृष्टद्युम्न निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि मारिष।
नातिक्रम्यं भवेत् तच्च वचनं मम भाषितम् ॥ ३२ ॥

'आदरणीय वीर धृष्टद्युम्न! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो। मेरे कहे हुए वचनोंका तुम्हें उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥

भवान् सेनापतिर्मह्यं वासुदेवेन सम्मितः।
कार्तिकेयो यथा नित्यं देवानामभवत् पुरा ॥ ३३ ॥
तथा त्वमपि पाण्डूनां सेनानीः पुरुषर्षभ।

'तुम मेरे सेनापति हो, भगवान् श्रीकृष्णके समान पराक्रमी हो। पुरुषरत्न! पूर्वकालमें भगवान् कार्तिकेय जिस प्रकार देवताओंके सेनापति हुए थे, उसी प्रकार तुम भी पाण्डवोंके सेनानायक होओ' ॥ ३३½ ॥

(तच्छ्रुत्वा जहृषुः पार्थाः पार्थिवाश्च महारथाः।
साधु साध्विति तद्वाक्यमूचुः सर्वे महीक्षितः॥
पुनरप्यब्रवीद् राजा धृष्टद्युम्नं महाबलम् ॥)

युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर समस्त पाण्डव और महारथी भूपालगण सब-के-सब 'साधु-साधु' कहकर

तव वचनोंकी सराहना करने लगे । तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने पुनः महाबली धृष्टद्युम्नसे कहा—॥

स त्वं पुरुषशार्दूल विक्रम्य जहि कौरवान् ॥ ३४ ॥
अहं च तेऽनुयास्यामि भीमः कृष्णश्च मारिष ।
माद्रीपुत्रौ च सहितौ द्रौपदेयाश्च दंशिताः ॥ ३५ ॥
ये चान्ये पृथिवीपालाः प्रधानाः पुरुषर्षभ ।

'पुरुषसिंह ! तुम पराक्रम करके कौरवोंका नाश करो। मारिष ! नरश्रेष्ठ ! मैं, भीमसेन, श्रीकृष्ण, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अन्य प्रधान-प्रधान भूपाल कवच धारण करके तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे' ॥ ३४-३५½ ॥

तत उद्धर्षयन् सर्वान् धृष्टद्युम्नोऽभ्यभाषत ॥ ३६ ॥
अहं द्रोणान्तकः पार्थ विहितः शम्भुना पुरा ।
भीष्मं कृपं द्रोणं तथा शल्यं जयद्रथम् ॥ ३७ ॥
सर्वानद्य रणे दृप्तान् प्रतियोत्स्यामि पार्थिव ।

तब धृष्टद्युम्नने सबका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—'पार्थ ! मुझे भगवान् शङ्करने पहलेसे ही द्रोणाचार्यका काल बनाकर उत्पन्न किया है। पृथ्वीपते ! आज समराङ्गणमें मैं भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य तथा जयद्रथ—इन समस्त अभिमानी योद्धाओंका सामना करूँगा' ॥ ३६-३७½ ॥

तथोत्क्रुष्टं महेष्वासैः पाण्डवैर्युद्धदुर्मदैः ॥ ३८ ॥
समुद्यते पार्थिवेन्द्रे पार्षते शत्रुसूदने ।
तमब्रवीत् ततः पार्थः पार्षतं पृतनापतिम् ॥ ३९ ॥

यह सुनकर युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले महान् धनुर्धर पाण्डवोंने उच्चस्वरमें सिंहनाद किया तथा शत्रुसूदन नृपश्रेष्ठ द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके इस प्रकार युद्धके लिये उद्यत होनेपर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने सेनापति द्रुपदकुमारसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ ३८-३९ ॥

व्यूहः क्रौञ्चारुणो नाम सर्वशत्रुनिबर्हणः ।
यं बृहस्पतिरिन्द्राय तदा देवासुरेऽब्रवीत् ॥ ४० ॥

'सेनापते ! क्रौञ्चारुण नामक व्यूह समस्त शत्रुओंका संहार करनेवाला है; जिसे बृहस्पतिने देवासुर-संग्रामके अवसर-पर इन्द्रको बताया था ॥ ४० ॥

तं यथावत् प्रतिव्यूह परानीकविनाशनम् ।
अदृष्टपूर्वं राजानः पश्यन्तु कुरुभिः सह ॥ ४१ ॥

शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले उस क्रौञ्चारुण व्यूहका तुम यथावत् रूपसे निर्माण करो। आज समस्त राजा कौरवोंके साथ उस अदृष्टपूर्व व्यूहको अपनी आँखोंसे देखें' ॥ ४१ ॥

तथोक्तः स नृदेवेन विष्णुर्वज्रभृता यथा ।
(बार्हस्पत्येन विधिना व्यूहमार्गविचक्षणः ।)
प्रभाते सर्वसैन्यानामग्रे चक्रे धनंजयम् ॥ ४२ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र भगवान् विष्णुसे कुछ कहते हों, उसी प्रकार नरदेव युधिष्ठिरके पूर्वोक्त बात कहनेपर व्यूहरचनामें कुशल धृष्टद्युम्नने बृहस्पतिकी बतायी हुई विधिसे प्रातःकाल (सूर्योदयसे पूर्व) ही समस्त सेनाओंका व्यूह निर्माण किया; उन्होंने सबसे आगे अर्जुनको खड़ा किया ॥ ४२ ॥

आदित्यपथगः केतुस्तस्याद्भुतमनोरमः ।
शासनात् पुरुहूतस्य निर्मितो विश्वकर्मणा ॥ ४३ ॥

उनका अद्भुत एवं मनोरम ध्वज सूर्यके पथमें (ऊँचे आकाशमें) फहरा रहा था । इन्द्रके आदेशसे साक्षात् विश्व-कर्माने उसका निर्माण किया था ॥ ४३ ॥

इन्द्रायुधसवर्णाभिः पताकाभिरलङ्कृतः ।
आकाशग इवाकाशे गन्धर्वनगरोपमः ॥ ४४ ॥

इन्द्रधनुषके रंगकी पताकाएँ उस ध्वजकी शोभा बढ़ाती थीं । वह ध्वज आकाशमें आकाशचारी पक्षीकी भाँति बिना आधारके ही चलता था । वह दूरसे गन्धर्वनगरके समान जान पड़ता था ॥ ४४ ॥

नृत्यमान इवाभाति रथचर्यासु मारिष ।
तेन रत्नवता पार्थः स च गाण्डीवधन्वना ॥ ४५ ॥
बभूव परमोपेतः सुमेरुरिव भानुना ।

आर्य ! रथके मार्गोंपर अर्जुनका वह ध्वज नृत्य करता-सा प्रतीत होता था। उस रत्नयुक्त ध्वजसे अर्जुनकी और गाण्डीव-धारी अर्जुनसे उस ध्वजकी बड़ी शोभा होती थी, ठीक उसी तरह जैसे मेरु पर्वतसे सूर्यकी और सूर्यसे मेरु पर्वतकी शोभा होती है ॥ ४५½ ॥

शिरोऽभूद् द्रुपदो राजन् महत्या सेनया वृतः ॥ ४६ ॥
कुन्तिभोजश्च चैद्यश्च चक्षुर्भ्यां तौ जनेश्वरौ ।
दाशार्णकाः प्रभद्राश्च दाशेरकगणैः सह ॥ ४७ ॥
अनूपकाः किराताश्च ग्रीवायां भरतर्षभ ।

राजन् ! अपनी विशाल सेनाके साथ राजा द्रुपद उस व्यूहके सिरके स्थानपर थे । कुन्तिभोज और धृष्टकेतु—ये दोनों नरेश नेत्रोंके स्थानपर प्रतिष्ठित हुए । भरतश्रेष्ठ ! दाशार्णक, दाशेरकसमूहोंके साथ प्रभद्रक, अनूपक और किरातगण गर्दनके स्थानमें खड़े किये गये ॥ ४६-४७½ ॥

पटच्चरैश्च पौण्ड्रैश्च राजन् पौरवकैस्तथा ॥ ४८ ॥
निषादैः सहितश्चापि पृष्ठमासीद् युधिष्ठिरः ।
पक्षौ तु भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ४९ ॥
द्रौपदेयाभिमन्युश्च सात्यकिश्च महारथः ।
पिशाचा दारदाश्चैव पुण्ड्राः कुण्डीविषैः सह ॥ ५० ॥
मारुता धेनुकाश्चैव तङ्गणाः परतङ्गणाः ।
बाह्लिकास्तित्तिराश्चैव चोलाः पाण्ड्याश्च भारत ॥ ५१ ॥
एते जनपदा राजन् दक्षिणं पक्षमाश्रिताः ।

पटच्चर, पौण्ड्र, पौरव तथा निषादोंके साथ स्वयं राजा युधिष्ठिर पृष्ठभागमें स्थित हुए। भीमसेन और धृष्टद्युम्न क्रौञ्चपक्षीके दोनों पंखोंके स्थानपर नियुक्त किये गये। राजन्! द्रौपदीके पुत्र, अभिमन्यु और महारथी सात्यकिके साथ पिशाच, दारद, पुण्ड्र, कुण्डीविष, मारुत, धेनुक, तङ्गण, परतङ्गण, बाह्लिक, तित्तिर, चोल तथा पाण्ड्य—इन जनपदोंके लोग दाहिने पक्षका आश्रय लेकर खड़े हुए॥ ४८—५१½ ॥

अग्निवेश्यास्तु हुण्डाश्च मालवा दानभारयः ॥ ५२ ॥
शबरा उद्भसाश्चैव वत्साश्च सह नाकुलैः ।
नकुलः सहदेवश्च वामं पक्षं समाश्रिताः ॥ ५३ ॥

अग्निवेश्य, हुण्ड, मालव, दानभारि, शबर, उद्भस, वत्स तथा नाकुल जनपदोंके साथ दोनों भाई नकुल और सहदेवने बायें पंखका आश्रय लिया॥ ५२-५३ ॥

रथानामयुतं पक्षौ शिरस्तु नियुतं तथा ।
पृष्ठमर्बुदमेवासीत् सहस्राणि च विंशतिः ॥ ५४ ॥
ग्रीवायां नियुतं चापि सहस्राणि च सप्ततिः ।

उस क्रौञ्चपक्षीके पंखभागमें दस हजार, शिरोभागमें एक[1] लाख, पृष्ठभागमें एक अर्बुद[2] बीस हजार तथा ग्रीवाभागमें एक लाख सत्तर हजार रथ मौजूद थे॥ ५४½ ॥

पक्षकोटिप्रपक्षेषु पक्षान्तेषु च वारणाः ॥ ५५ ॥
जग्मुः परिवृता राजंश्चलन्त इव पर्वताः ।

राजन्! पक्ष[3], कोटि[4], प्रपक्ष[5] तथा पक्षान्त-भागोंमें फिरते पर्वतोंके समान हाथियोंके झुंड चले। वे सेनाओंसे घिरे हुए थे॥ ५५½ ॥

जघनं पालयामास विराटः सह केकयैः ॥ ५६ ॥
काशिराजश्च शैब्यश्च रथानामयुतैस्त्रिभिः ।

राजा विराट केकय-राजकुमारोंके साथ उस व्यूहके (कटिके अग्रभाग) की रक्षा करते थे। काशिराज और भी तीस हजार रथियोंके साथ उसीकी रक्षामें तत्पर थे।

एवमेनं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ॥ ५७ ॥
सूर्योदयं त इच्छन्तः स्थिता युद्धाय दंशिताः ।

भारत! इस प्रकार पाण्डव क्रौञ्चारुण नामक महाव्यूह की रचना करके सूर्योदयकी प्रतीक्षा करते हुए युद्धके लिये कवच आदिसे सुसज्जित हो खड़े हो गये॥ ५७½ ॥

तेषामादित्यवर्णानि विमलानि महान्ति च ।
श्वेतच्छत्राण्यशोभन्त वारणेषु रथेषु च ॥ ५८ ॥

उनके हाथियों और रथोंके ऊपर सूर्यके समान प्रकाशमान निर्मल एवं महान् श्वेतच्छत्र शोभा पा रहे थे॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि क्रौञ्चव्यूहनिर्माणे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें क्रौञ्चव्यूहनिर्माणविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं)

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना तथा दोनों दलोंमें शङ्खध्वनि और सिंहनाद

संजय उवाच

क्रौञ्चं दृष्ट्वा ततो व्यूहमभेद्यं तनयस्तव ।
रक्ष्यमाणं महाघोरं पार्थेनामिततेजसा ॥ १ ॥
आचार्यमुपसंगम्य कृपं शल्यं च पार्थिव ।
सौमदत्तिं विकर्णं च सोऽश्वत्थामानमेव च ॥ २ ॥
दुःशासनादीन् भ्रातॄंश्च सर्वानेव च भारत ।
अन्यांश्च सुबहूञ्शूरान् युद्धाय समुपागतान् ॥ ३ ॥
प्राहेदं वचनं काले हर्षयंस्तनयस्तव ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! उस अत्यन्त भयंकर अभेद्य क्रौञ्चव्यूहको अमिततेजस्वी अर्जुनके द्वारा सुरक्षित देखकर आपका पुत्र दुर्योधन आचार्य द्रोण, कृप, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, अश्वत्थामा और दुःशासन आदि सब भाइयों तथा युद्धके लिये आये हुए अन्य बहुतेरे शूर-वीरोंके पास जाकर उन सबका हर्ष बढ़ाता हुआ यह समयोचित वचन बोला—

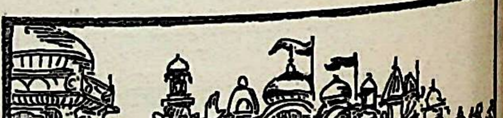

---

[1] यहाँ 'नियुत' का अर्थ एक लाख किया गया है। किसी-किसीके मतमें उसका अर्थ दस लाख भी होता है। [2] दस करोड़की संख्याको अर्बुद कहते हैं। [3] पंख। [4] अग्रभाग। [5] पंखके भीतरके छोटे-छोटे पंख।

वीरो! आप सब लोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारमें कुशल तथा युद्धकी कलामें निपुण हैं ॥ १–४ ॥

एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः ।
पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहताः ॥ ५ ॥

आप सभी महारथी हैं। आपमेंसे प्रत्येक योद्धा रण-में सेनासहित पाण्डवोंका वध करनेमें समर्थ हैं। फिर आप लोग मिलकर उन्हें परास्त कर दें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ५ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ ६ ॥
संस्थानाः शूरसेनाश्च वेत्रिकाः कुकुरास्तथा ।
आरोचकास्त्रिगर्ताश्च मद्रका यवनास्तथा ॥ ७ ॥
शत्रुंजयेन सहितास्तथा दुःशासनेन च ।
विकर्णेन च वीरेण तथा नन्दोपनन्दकैः ॥ ८ ॥
चित्रसेनेन सहिताः सहिताः पारिभद्रकैः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु सहसैन्यपुरस्कृताः ॥ ९ ॥

भीष्मपितामहके द्वारा सुरक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है, परंतु भीमसेनके द्वारा सुरक्षित इन पाण्डवोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है; अतः मेरी राय है कि संस्थान, शूरसेन, वेत्रिक, कुकुर, आरोचक, त्रिगर्त, मद्रक तथा यवन आदि देशोंके लोग शत्रुंजय, दुःशासन, वीर विकर्ण, नन्द, उपनन्द, चित्रसेन तथा पारिभद्रक वीरोंके साथ जाकर अपनी सेनाओंको आगे रखते हुए भीष्मकी ही रक्षा करें' ॥ ६–९ ॥

(*संजय उवाच*

दुर्योधनवचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः ।
तथेत्येवं नृपा ऊचुस्तदा द्रोणपुरोगमाः ॥)

संजय कहते हैं—महाराज! दुर्योधनकी यह बात सुनकर द्रोण आदि सभी महारथियों एवं राजाओंने उस समय 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली ॥

ततो भीष्मश्च द्रोणश्च तव पुत्राश्च मारिष ।
अवूहन्त महाव्यूहं पाण्डूनां प्रतिबाधनम् ॥ १० ॥

आर्य! तदनन्तर भीष्म, द्रोण तथा आपके पुत्रोंने मिलकर अपनी सेनाका महान् व्यूह बनाया, जो पाण्डव-सैनिकोंको रोकनेमें समर्थ था ॥ १० ॥

भीष्मः सैन्येन महता समन्तात् परिवारितः ।
ययौ प्रकर्षन् महतीं वाहिनीं सुरराडिव ॥ ११ ॥

तदनन्तर बहुत-बड़ी सेनाद्वारा सब ओरसे घिरे हुए भीष्म देवराज इन्द्रकी भाँति विशाल वाहिनी साथ लिये आगे चले ॥ ११ ॥

तमन्वयान्महेष्वासो भारद्वाजः प्रतापवान् ।
कुन्तलैश्च दशार्णैश्च मागधैश्च विशाम्पते ॥ १२ ॥
विदर्भैर्मेकलैश्चैव कर्णप्रावरणैरपि ।
सहिताः सर्वसैन्येन भीष्ममाहवशोभिनम् ॥ १३ ॥
गान्धाराः सिन्धुसौवीराः शिबयोऽथ वसातयः ।

उनके पीछे प्रतापी वीर महाधनुर्धर द्रोणाचार्यने युद्धके लिये प्रस्थान किया। महाराज! उस समय कुन्तल, दशार्ण, मागध, विदर्भ, मेकल तथा कर्णप्रावरण आदि देशोंके सैनिकोंके साथ गान्धार, सिन्धु, सौवीर, शिबि तथा वसाति देशोंके वीर क्षत्रिय युद्धमें शोभा पानेवाले भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ १२-१३½ ॥

शकुनिश्च स्वसैन्येन भारद्वाजमपालयत् ॥ १४ ॥
ततो दुर्योधनो राजा सहितः सर्वसोदरैः ।
अश्वातकैर्विकर्णैश्च तथा चाम्बष्ठकोसलैः ॥ १५ ॥
दरदैश्च शकैश्चैव तथा क्षुद्रकमालवैः ।
अभ्यरक्षत संहृष्टः सौबलेयस्य वाहिनीम् ॥ १६ ॥

शकुनिने अपनी सेना साथ लेकर द्रोणाचार्यकी रक्षामें योग दिया। तत्पश्चात् अपने भाइयोंसहित राजा दुर्योधन अत्यन्त हर्षमें भरकर अश्वातक, विकर्ण, अम्बष्ठ, कोसल, दरद, शक, क्षुद्रक तथा मालव आदि देशोंके योद्धाओंके साथ सुबलपुत्र शकुनिकी सेनाका संरक्षण करने लगा ॥ १४–१६ ॥

भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तश्च मारिषः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ वामं पार्श्वमपालयन् ॥ १७ ॥
सौमदत्तिः सुशर्मा च काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
श्रुतायुश्चाच्युतायुश्च दक्षिणं पक्षमास्थिताः ॥ १८ ॥

भूरिश्रवा, शल, शल्य, आदरणीय राजा भगदत्त तथा अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द उस सारी सेनाके वामभागकी रक्षा कर रहे थे। सोमदत्तपुत्र भूरि, त्रिगर्तराज सुशर्मा, काम्बोजराज सुदक्षिण, श्रुतायु तथा अच्युतायु—ये दक्षिणभागमें स्थित होकर उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
महत्या सेनया सार्धं सेनापृष्ठे व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥

अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा सात्वतवंशी कृतवर्मा अपनी विशाल सेनाके साथ कौरवसेनाके पृष्ठभागमें खड़े होकर उसका संरक्षण करते थे ॥ १९ ॥

पृष्ठगोपास्तु तस्यासन् नानादेश्या जनेश्वराः ।
केतुमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ॥ २० ॥

केतुमान्, वसुदान, काशिराजके पुत्र अभिभू तथा अन्य अनेक देशोंके नरेश सेना पृष्ठके पोषक थे ॥ २० ॥

ततस्ते तावकाः सर्वे हृष्टा युद्धाय भारत ।
दध्मुः शङ्खान् मुदा युक्ताः सिंहनादांस्तथोन्नदन् ॥ २१ ॥

भारत! तदनन्तर आपकी सेनाके समस्त सैनिक हर्षसे उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri. Funding IKS-MoE

तेषां श्रुत्वा तु हृष्टानां वृद्धः कुरुपितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ २२ ॥

उनका हर्षनाद सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह प्रतापी भीष्मने जोर-जोरसे सिंहनाद करके अपना शङ्ख बजाया ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवा विविधाः परे ।
आनकाश्चाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ २३ ॥

तदनन्तर शङ्ख, भेरी, नाना प्रकारके पणव और आनक आदि अन्य बाजे सहसा बज उठे और उन सबका सम्मिलित शब्द सब ओर गूँज उठा ॥ २३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
प्रदध्मतुः शङ्खवरौ हेमरत्नपरिष्कृतौ ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए विशाल रथपर बैठे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन अपने सुवर्णभूषित श्रेष्ठ शङ्खोंको बजाने लगे ॥ २४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ २५ ॥

हृषीकेशने पाञ्चजन्य, अर्जुनने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥२५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ २६ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया

काशिराजश्च शैब्यश्च शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्च महारथः ॥
पाञ्चाल्याश्च महेष्वासा द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् सिंहनादांश्च नेदिरे ॥

काशिराज, शैब्य, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, महारथी सात्यकि, पाञ्चालवीर, महाधनुर्धर द्रौपदीके पुत्र—ये सभी बड़े-बड़े शङ्खोंको बजाने और करने लगे ॥ २७-२८ ॥

स घोषः सुमहांस्तत्र वीरैस्तैः समुदीरितः ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयत् ॥

वहाँ उन वीरोंद्वारा प्रकट किया हुआ वह महान् घोष पृथ्वी और आकाशको निनादित करने लगा ॥

एवमेते महाराज प्रहृष्टाः कुरुपाण्डवाः ।
पुनर्युद्धाय संजग्मुस्तापयानाः परस्परम् ॥

महाराज ! इस प्रकार ये हर्षमें भरे हुए कौरव एक दूसरेको संताप देते हुए पुनः युद्धके लिये रणक्षेत्रमें पहुँचे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि कौरवव्यूहरचनायामेकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें कौरव-व्यूह-रचनाविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

* * *

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्म और अर्जुनका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च ।
कथं प्रहरतां श्रेष्ठाः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इस प्रकार मेरे और पाण्डवोंके सैनिकोंकी व्यूह-रचना हो जानेपर उन श्रेष्ठ योद्धाओंने किस प्रकार युद्ध प्रारम्भ किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

(तावकाः पाण्डवैः सार्धं यथायुध्यन्त तच्छृणु ।)
समं व्यूढेष्वनीकेषु संनद्धरुचिरध्वजम् ।
अपारमिव संदृश्य सागरप्रतिमं बलम् ॥ २ ॥
तेषां मध्ये स्थितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वान् युद्ध्यध्वमिति दंशिताः ॥३॥

संजयने कहा—राजन् ! आपके पुत्रोंने पाण्डवोंके साथ जिस प्रकार युद्ध किया, वह बताता हूँ, सुनिये । सब सेनाओंकी व्यूहरचना हो गयी, तब समस्त सेना होकर एक अपार महासागरके समान प्रतीत होने उसमें सब ओर रथ आदिमें आबद्ध सुन्दर ध्वजा दिखायी देती थी । उसे देखकर सैनिकोंके बीचमें खड़ा आपका पुत्र दुर्योधन आपके सभी योद्धाओंसे इस बोला—'कवचधारी वीरो ! युद्ध आरम्भ करो' ॥ २-३ ॥

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ॥ ४ ॥

तब उन सबने मनको कठोर बनाकर प्राणोंका छोड़कर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवोंपर आक्रमण

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम् ।
तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम् ॥ ५ ॥

फिर तो आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें रोमाञ्चकारी घमासान युद्ध होने लगा। उसमें उभय पक्षके रथ और हाथी एक दूसरेसे गुँथ गये थे ॥ ५ ॥

मुक्तास्तु रथिभिर्बाणा रुक्मपुङ्खाः सुतेजसः।
सन्निपेतुरकुण्ठाग्रा नागेषु च हयेषु च ॥ ६ ॥

रथियोंके छोड़े हुए सुवर्णमय पंखयुक्त तेजस्वी बाण कहीं भी कुण्ठित न होकर हाथियों और घोड़ोंपर पड़ने लगे ॥ ६ ॥

तथा प्रवृत्ते संग्रामे धनुरुद्यम्य दंशितः।
अभिपत्य महाबाहुर्भीष्मो भीमपराक्रमः ॥ ७ ॥
सौभद्रे भीमसेने च सात्यकौ च महारथे।
कैकेये च विराटे च धृष्टद्युम्ने च पार्षते ॥ ८ ॥
एतेषु नरवीरेषु चेदिमत्स्येषु चाभिभूः।
ववर्ष शरवर्षाणि वृद्धः कुरुपितामहः ॥ ९ ॥

इस प्रकार युद्ध आरम्भ हो जानेपर भयंकर पराक्रमी एवं कुरुकुलके प्रभावशाली वृद्ध पितामह महाबाहु भीष्म धनुष उठाये कवच बाँधे सहसा आगे बढ़े और अभिमन्यु, भीमसेन, महारथी सात्यकि, केकय, विराट एवं द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—इन सब नरवीरोंपर और चेदि तथा मत्स्यदेशीय योद्धाओंपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७—९ ॥

अभिद्यत ततो व्यूहस्तस्मिन् वीरसमागमे।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ॥ १० ॥

उन वीरोंके इस संघर्षमें सेनाओंका व्यूह भंग हो गया और सब सैनिकोंका आपसमें महान् सम्मिश्रण हो गया ॥ १० ॥

सादिनो ध्वजिनश्चैव हताः प्रवरवाजिनः।
विप्रद्रुतरथानीकाः समपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ११ ॥

घुड़सवार, ध्वजा धारण करनेवाले सैनिक तथा उत्तम घोड़े मारे गये। पाण्डवोंकी रथसेना पलायन करने लगी ॥ ११ ॥

ततोऽर्जुनस्तु नरव्याघ्रो दृष्ट्वा भीष्मं महारथम्।
वार्ष्णेयमब्रवीत् क्रुद्धो याहि यत्र पितामहः ॥ १२ ॥
एष भीष्मः सुसंक्रुद्धो वार्ष्णेय मम वाहिनीम्।
नाशयिष्यति सुव्यक्तं दुर्योधनहिते रतः ॥ १३ ॥

तब नरश्रेष्ठ अर्जुनने महारथी भीष्मको देखकर भगवान् श्रीकृष्णसे कुपित होकर कहा—'वार्ष्णेय! जहाँ पितामह हैं, वहाँ चलिये। अन्यथा ये भीष्म अत्यन्त क्रोधमें भरकर निश्चय ही मेरी सारी सेनाका विनाश कर डालेंगे; क्योंकि इस समय ये दुर्योधनके हितमें तत्पर हैं ॥ १२-१३॥

एष द्रोणः कृपः शल्यो विकर्णश्च जनार्दन।
धार्तराष्ट्राश्च सहिता दुर्योधनपुरोगमाः ॥ १४ ॥
पाञ्चालान् निहनिष्यन्ति रक्षिता दृढधन्वना।
सोऽहं भीष्मं वधिष्यामि सैन्यहेतोर्जनार्दन ॥ १५ ॥

जनार्दन! सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले भीष्मके द्वारा सुरक्षित हो ये द्रोण, कृप, शल्य, विकर्ण तथा दुर्योधन आदि समस्त धृतराष्ट्रपुत्र मिलकर पाञ्चाल योद्धाओंका संहार कर डालेंगे। अतः सेनाकी रक्षाके लिये मैं भीष्मका वध कर डालूँगा' ॥ १४-१५ ॥

तमब्रवीद् वासुदेवो यत्तो भव धनंजय।
एष त्वां प्रापयिष्यामि पितामहरथं प्रति ॥ १६ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'धनंजय! सावधान हो जाओ। अभी तुम्हें भीष्मके रथके समीप पहुँचाये देता हूँ' ॥ १६ ॥

एवमुक्त्वा ततः शौरी रथं तं लोकविश्रुतम्।
प्रापयामास भीष्मस्य रथं प्रति जनेश्वर ॥ १७ ॥

जनेश्वर! ऐसा कहकर श्रीकृष्णने उस विश्वविख्यात रथको भीष्मजीके रथके निकट पहुँचा दिया ॥ १७ ॥

चलद्बहुपताकेन बलाकावर्णवाजिना।
समुच्छ्रितमहाभीमनदद्वानरकेतुना ॥ १८ ॥
महता मेघनादेन रथेनामिततेजसा।
विनिघ्नन् कौरवानीकं शूरसेनांश्च पाण्डवः ॥ १९ ॥
प्रायाच्छरणदः शीघ्रं सुहृदां हर्षवर्धनः।

उस रथपर बहुत-सी पताकाएँ फहरा रही थीं। उसमें बकपंक्तिके समान श्वेतवर्णवाले चार घोड़े जुते हुए थे। उसके अत्यन्त ऊँचे ध्वजके ऊपर एक वानर भयंकर गर्जना करता था। उस रथके पहियोंकी घरघराहट मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर थी तथा वह रथ अनन्त तेज (कान्ति) से सम्पन्न था। उस विशाल रथपर आरूढ़ हो पाण्डुनन्दन अर्जुन, जो सबको शरण देनेवाले और सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाले थे, कौरवसेना एवं शूरसेनदेशीय योद्धाओंका वध करते हुए शीघ्रतापूर्वक भीष्मके पास गये ॥ १८-१९½ ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ॥ २० ॥
त्रासयन्तं रणे शूरान् मर्दयन्तं च सायकैः।
सैन्धवप्रमुखैर्गुप्तः प्राच्यसौवीरकेकयैः ॥ २१ ॥
सहसा प्रत्युदीयाय भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम्।

मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति उन्हें वेगसे आते और रणक्षेत्रमें सायकोंद्वारा शूरवीरोंका मर्दन करके उन्हें भयभीत करते देख जयद्रथ आदि राजाओं तथा पूर्वदेश, सौवीर राज्य और केकय प्रदेशके योद्धाओंसे सुरक्षित शान्तनुनन्दन भीष्म सहसा अर्जुनकी ओर बढ़े ॥ २०-२१½ ॥

को हि गाण्डीवधन्वानमन्यः कुरुपितामहात् ॥ २२ ॥
द्रोणवैकर्तनाभ्यां वा रथी संयातुमर्हति।

महाराज! कुरुकुलके पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य तथा

कर्णके सिवा दूसरा कौन ऐसा रथी है, जो गाण्डीवधारी अर्जुनका सामना कर सके ॥ २२½ ॥

ततो भीष्मो महाराज सर्वलोकमहारथः ॥ २३ ॥
अर्जुनं सप्तसप्तत्या नाराचानां समाचिनोत् ।
द्रोणश्च पञ्चविंशत्या कृपः पञ्चाशता शरैः ॥ २४ ॥
दुर्योधनश्चतुःषष्ट्या शल्यश्च नवभिः शरैः ।
सैन्धवो नवभिश्चैव शकुनिश्चापि पञ्चभिः ॥ २५ ॥
विकर्णो दशभिर्भल्लै राजन् विव्याध पाण्डवम् ।

नरेश्वर ! तदनन्तर सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात महारथी भीष्मने अर्जुनपर सतहत्तर बाण चलाये, द्रोणने पचीस, कृपाचार्यने पचास, दुर्योधनने चौसठ, शल्यने नौ, जयद्रथने नौ, शकुनिने पाँच तथा विकर्णने दस भल्ल नामक बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुनको बींध डाला ॥ २३–२५½ ॥

स तैर्विद्धो महेष्वासः समन्तान्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥
न विव्यथे महाबाहुर्भिद्यमान इवाचलः ।

इन समस्त तीखे बाणोंद्वारा चारों ओरसे विद्ध होनेपर भी महाधनुर्धर महाबाहु अर्जुन तनिक भी व्यथित नहीं हुए । ऐसा जान पड़ता था, मानो किसी पर्वतको बाणोंसे बींध दिया हो ॥ २६½ ॥

स भीष्मं पञ्चविंशत्या कृपं च नवभिः शरैः ॥ २७ ॥
द्रोणं षष्ट्या नरव्याघ्रो विकर्णं च त्रिभिः शरैः ।
शल्यं चैव त्रिभिर्बाणै राजानं चैव पञ्चभिः ॥ २८ ॥
प्रत्यविध्यदमेयात्मा किरीटी भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न, किरीटधारी पुरुषसिंह अर्जुनने भीष्मको पचीस, कृपाचार्यको नौ, द्रोणको साठ, विकर्णको तीन, शल्यको तीन तथा राजा दुर्योधनको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २७-२८½

तं सात्यकिर्विराटश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २९ ॥
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च परिवव्रुर्धनंजयम् ।

उस समय सात्यकि, विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्यु—इन सबने अर्जुनको उनकी रक्षाके लिये चारों ओरसे घेर लिया ॥ २९½ ॥

ततो द्रोणं महेष्वासं गाङ्गेयस्य प्रिये रतम् ॥ ३० ॥
अभ्यवर्तत पाञ्चाल्यः संयुक्तः सह सोमकैः ।

तदनन्तर गङ्गानन्दन भीष्मका प्रिय करनेमें लगे हुए महाधनुर्धर द्रोणाचार्यपर सोमकोंसहित धृष्टद्युम्नने आक्रमण किया ॥ ३०½ ॥

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो राजन् विव्याध पाण्डवम् ॥ ३१ ॥
अशीत्या निशितैर्बाणैस्ततोऽक्रोशन्त तावकाः ।

राजन् ! तब रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने पाण्डुनन्दन अर्जुनको अस्सी पैने बाण मारकर बींध डाला । यह देखकर सैनिक हर्षसे कोलाहल करने लगे ॥ ३१½ ॥

तेषां तु निनदं श्रुत्वा सहितानां प्रहृष्टवत् ॥ ३२ ॥
प्रविवेश ततो मध्यं नरसिंहः प्रतापवान् ।
तेषां महारथानां स मध्यं प्राप्य धनंजयः ॥ ३३ ॥
चिक्रीड धनुषा राजँल्लक्ष्यं कृत्वा महारथान् ।
ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममाह जनेश्वरः ॥ ३४ ॥
पीड्यमानं स्वकं सैन्यं दृष्ट्वा पार्थेन संयुगे ।

उन समस्त कौरवोंका हर्षनाद सुनकर प्रतापी पुरु अर्जुनने उनकी सेनाके भीतर प्रवेश किया । राजन् ! महारथियोंके भीतर पहुँचकर अर्जुन उन सबको अपने का निशाना बनाकर धनुषसे खेल करने लगे । तब प्र पालक राजा दुर्योधनने अर्जुनके द्वारा युद्धमें अपनी सेना पीड़ित हुई देख भीष्मसे कहा—॥ ३२–३४½ ॥

एष पाण्डुसुतस्तात कृष्णेन सहितो बली ॥ ३५ ॥
यततां सर्वसैन्यानां मूलं नः परिकृन्तति ।
त्वयि जीवति गाङ्गेय द्रोणे च रथिनां वरे ॥ ३६ ॥

'तात ! ये पाण्डुके बलवान् पुत्र अर्जुन श्रीकृष्णके स आकर समस्त सैन्योंके प्रयत्नशील होनेपर भी हमलोगों मूलोच्छेद कर रहे हैं । गङ्गानन्दन ! आपके तथा रथि श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके जीते-जी हमारे सैनिक मारे जा रहे हैं ३५-३६

त्वत्कृते चैव कर्णोऽपि न्यस्तशस्त्रो विशाम्पते ।
न युध्यति रणे पार्थं हितकामः सदा मम ॥ ३७ ॥
स तथा कुरु गाङ्गेय यथा हन्येत फाल्गुनः ।

'प्रजानाथ ! आपहीके कारण कर्णने भी हथियार डा दिया है और वह रणभूमिमें अर्जुनसे युद्ध नहीं कर रहा है । क मेरा सदा हित चाहनेवाला है । गङ्गानन्दन ! आप ऐ प्रयत्न कीजिये, जिससे अर्जुन मार डाले जायँ' ॥ ३७½ ॥

एवमुक्तस्ततो राजन् पिता देवव्रतस्तव ॥ ३८ ॥
धिक् क्षात्रं धर्ममित्युक्त्वा प्रायात् पार्थरथं प्रति ।

राजन् ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपके पितृकु भीष्म 'क्षत्रिय-धर्मको धिक्कार है' ऐसा कहकर अर्जुनके र की ओर चले ॥ ३८½ ॥

उभौ श्वेतहयौ राजन् संसक्तौ प्रेक्ष्य पार्थिवाः ॥ ३९ ॥
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च मारिष ।

महाराज ! उन दोनोंके रथोंमें श्वेत घोड़े जुते हुए थे । आर्य ! उन्हें एक दूसरेसे भिड़े हुए देख सब राजा जोर-जोर से सिंहनाद करने और शङ्ख फूँकने लगे ॥ ३९½ ॥

द्रौणिर्दुर्योधनश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ॥ ४० ॥
परिवार्य रणे भीष्मं स्थिता युद्धाय मारिष ।

आर्य ! उस समय अश्वत्थामा, दुर्योधन और आपके पुत्र विकर्ण—ये सभी समराङ्गणमें भीष्मको घेरकर युद्धके लिये खड़े थे ॥ ४०½ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य धनंजयम् ॥ ४१ ॥
अवस्थिता युद्धाय महते ततो युद्धमवर्तत ।

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी अर्जुनको सब ओरसे घेरकर महायुद्धके लिये वहाँ डटे हुए थे, अतः उनमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ४१½ ॥

गाङ्गेयस्तु रणे पार्थमानर्च्छन्नवभिः शरैः ॥ ४२ ॥
तमर्जुनः प्रत्यविध्यद् दशभिर्मर्मभेदिभिः ।

गङ्गानन्दन भीष्मने उस रणक्षेत्रमें नौ बाणोंसे अर्जुनको गहरी चोट पहुँचायी। तब अर्जुनने भी उन्हें दस मर्मभेदी बाणोंद्वारा बींध डाला ॥ ४२½ ॥

ततः शरसहस्रेण सुप्रयुक्तेन पाण्डवः ॥ ४३ ॥
अर्जुनः समरश्लाघी भीष्मस्यावारयद् दिशः ।

तदनन्तर युद्धकी श्लाघा रखनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने अच्छी तरह छोड़े हुए एक हजार बाणोंद्वारा भीष्मको सब ओरसे रोक दिया ॥ ४३½ ॥

शरजालं ततस्तत् तु शरजालेन मारिष ॥ ४४ ॥
वारयामास पार्थस्य भीष्मः शान्तनवस्तदा ।

माननीय महाराज ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनके इस बाणसमूहका अपने बाणसमूहसे निवारण कर दिया ॥ ४४½ ॥

उभौ परमसंहृष्टावुभौ युद्धाभिनन्दिनौ ॥ ४५ ॥
निर्विशेषमयुध्येतां कृतप्रतिकृतैषिणौ ।

वे दोनों वीर अत्यन्त हर्षमें भरकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे। दोनों ही दोनोंके किये हुए प्रहारका प्रतीकार करते हुए समानभावसे युद्ध करने लगे ॥ ४५½ ॥

भीष्मचापविमुक्तानि शरजालानि संघशः ॥ ४६ ॥
शीर्यमाणान्यदृश्यन्त भिन्नान्यर्जुनसायकैः ।

भीष्मके धनुषसे छूटे हुए सायकोंके समूह अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर बिखरे दिखायी देते थे ॥ ४६½ ॥

तथैवार्जुनमुक्तानि शरजालानि सर्वशः ॥ ४७ ॥
गाङ्गेयशरनुन्नानि प्रापतन्त महीतले ।

इसी प्रकार अर्जुनके छोड़े हुए बाणसमूह गङ्गानन्दनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर सब ओर पड़े हुए थे ॥ ४७½ ॥

अर्जुनः पञ्चविंशत्या भीष्ममार्च्छच्छितैः शरैः॥ ४८ ॥
भीष्मोऽपि समरे पार्थं विव्याध निशितैः शरैः।

अर्जुनने पचीस तीखे बाणोंसे मारकर भीष्मको पीड़ित कर दिया। फिर भीष्मने भी समरभूमिमें अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा अर्जुनको बींध दिया ॥ ४८½ ॥

अन्योन्यस्य हयान् विद्ध्वा ध्वजौ च सुमहाबलौ॥ ४९॥
रथेषां रथचक्रे च चिक्रीडतुररिंदमौ ।

वे दोनों शत्रुओंका दमन करनेवाले तथा अत्यन्त बलवान् थे। अतः एक दूसरेके घोड़ों, ध्वजाओं, रथके ईषादण्ड तथा पहियोंको बाणोंसे बींधकर खेल-सा करने लगे ४९½

ततः क्रुद्धो महाराज भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ५० ॥
वासुदेवं त्रिभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ।

महाराज ! तदनन्तर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ भीष्मने कुपित होकर तीन बाणोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५०½ ॥

भीष्मचापच्युतैस्तैस्तु निर्विद्धो मधुसूदनः ॥ ५१ ॥
विरराज रणे राजन् सपुष्प इव किंशुकः ।

राजन् ! भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंसे विद्ध होकर भगवान् मधुसूदन रणभूमिमें रक्तरंजित हो खिले हुए पलाशके वृक्षके समान शोभा पाने लगे ॥ ५१½ ॥

ततोऽर्जुनो भृशं क्रुद्धो निर्विद्धं प्रेक्ष्य माधवम् ॥ ५२ ॥
सारथिं कुरुवृद्धस्य निर्बिभेद शितैः शरैः ।

श्रीकृष्णको घायल हुआ देख अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने तीखे सायकोंद्वारा कुरुकुलवृद्ध भीष्मके सारथिको विदीर्ण कर डाला ॥ ५२½ ॥

यतमानौ तु तौ वीरावन्योन्यस्य वधं प्रति ॥ ५३ ॥
न शक्नुतां तदान्योन्यमभिसंधातुमाहवे ।

इस प्रकार वे दोनों वीर एक दूसरेके वधके लिये पूरा प्रयत्न कर रहे थे; तथापि वे युद्धभूमिमें परस्पर अभिसंधान (घातक प्रहार) करनेमें सफल न हो सके ॥ ५३½ ॥

तौ मण्डलानि चित्राणि गतप्रत्यागतानि च ॥ ५४ ॥
अदर्शयेतां बहुधा सूतसामर्थ्यलाघवात् ।

वे दोनों अपने सारथिकी शक्ति तथा शीघ्रकारिताके कारण नाना प्रकारके विचित्र मण्डल, आगे बढ़ने और पीछे हटने आदिके पैंतरे दिखाने लगे ॥ ५४½ ॥

अन्तरं च प्रहारेषु तर्कयन्तौ परस्परम् ॥ ५५ ॥
राजन्नन्तरमार्गस्थौ स्थितावास्तां मुहुर्मुहुः ।

राजन् ! दोनों ही एक दूसरेके प्रहारोंमें छिद्र ढूँढ़नेके लिये सतर्क थे। वे बारंबार छिद्रान्वेषणके मार्गमें स्थित हो छिद्र देखनेमें संलग्न रहते थे ॥ ५५½ ॥

उभौ सिंहरवोन्मिश्रं शङ्खशब्दं च चक्रतुः ॥ ५६ ॥
तथैव चापनिर्घोषं चक्रतुस्तौ महारथौ ।

वे दोनों महारथी सिंहनादसे मिला हुआ शङ्खनाद करते और धनुषकी टंकार फैलाते रहते थे ॥ ५६½ ॥

तयोः शङ्खनिनादेन रथनेमिस्वनेन च ॥ ५७ ॥
दारिता सहसा भूमिश्चकम्पे च ननाद च ।

उनकी शङ्खध्वनि तथा रथके पहियोंकी घरघराहटसे पृथ्वी सहसा विदीर्ण-सी होकर काँपने और आर्तनाद करने लगी ॥ ५७½ ॥

नोभयोरन्तरं कश्चिद् ददृशे भरतर्षभ ॥ ५८ ॥
बलिनौ युद्धदुर्धर्षावन्योन्यसदृशावुभौ ।

भरतश्रेष्ठ ! वे दोनों वीर बलवान्, युद्धमें दुर्जय तथा एक दूसरेके अनुरूप थे । अतः ढूँढ़नेपर भी कोई उनमेंसे किसीका अन्तर न देख सका ॥ ५८½ ॥

चिह्नमात्रेण भीष्मं तु प्रजज्ञुस्तत्र कौरवाः ॥ ५९ ॥
तथा पाण्डुसुताः पार्थं चिह्नमात्रेण जज्ञिरे ।

उस समय कौरवोंने भीष्मको तालध्वज आदि चिह्नमात्रसे ही पहचाना । इसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंने भी कपिध्वज आदि चिह्नमात्रसे ही पार्थकी पहचान की ॥ ५९½ ॥

तयोर्नृवरयोर्दृष्ट्वा तादृशं तं पराक्रमम् ॥ ६० ॥
विस्मयं सर्वभूतानि जग्मुर्भारत संयुगे ।

भारत ! उस संग्राममें उन दोनों श्रेष्ठ पुरुषोंके वैसे पराक्रमको देखकर सम्पूर्ण प्राणी बड़े विस्मयमें पड़ गये६०½

न तयोर्विवरं कश्चिद् रणे पश्यति भारत ॥ ६१ ॥
धर्मे स्थितस्य हि यथा न कश्चिद् वृजिनं क्वचित् ।

भरतनन्दन ! जैसे कोई धर्मनिष्ठ पुरुषमें कहीं कोई पाप नहीं देख पाता, उसी प्रकार कोई भी रणक्षेत्रमें उन दोनों योद्धाओंका छिद्र नहीं देख पाता था ॥ ६१½ ॥

उभौ च शरजालेन तावदृश्यौ बभूवतुः ॥ ६२ ॥
प्रकाशौ च पुनस्तूर्णं बभूवतुरुभौ रणे ।

दोनों ही संग्रामभूमिमें एक दूसरेके बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर अदृश्य हो जाते और उन्हें छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही प्रकाशमें आ जाते थे ॥ ६२½ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वाश्चारणाश्चर्षिभिः सह ॥ ६३ ॥
अन्योन्यं प्रत्यभाषन्त तयोर्दृष्ट्वा पराक्रमम् ।
न शक्यौ युधि संरब्धौ जेतुमेतौ कथञ्चन ॥ ६४ ॥
सदेवासुरगन्धर्वैर्लोकैरपि महारथौ ।

वहाँ आये हुए देवता, गन्धर्व, चारण और महर्षिगण उन दोनोंका पराक्रम देखकर आपसमें कहने लगे कि ये दोनों महारथी वीर रोषावेशमें भरे हुए हैं; अतः ये देवता, असुर और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण लोकोंके द्वारा भी किसी प्रकार जीते नहीं जा सकते ॥ ६३-६४½ ॥

आश्चर्यभूतं लोकेषु युद्धमेतन्महाद्भुतम् ॥ ६५ ॥
नैतादृशानि युद्धानि भविष्यन्ति कथञ्चन ।
न हि शक्यो रणे जेतुं भीष्मः पार्थेन धीमता ॥ ६६ ॥
सधनुः सरथः साश्वः प्रवपन् सायकान् रणे ।

यह अत्यन्त अद्भुत युद्ध सम्पूर्ण लोकोंके लिये आश्च जनक घटना है । भविष्यमें ऐसे युद्ध होनेकी किसी प्रक भी सम्भावना नहीं है । बुद्धिमान् पार्थ रणभूमिमें भीष्मको कदापि जीत नहीं सकते; क्योंकि वे समरभूमिमें रथ, घो और धनुषसहित उपस्थित हो बाणोंको बीजकी भाँति बो रहे हैं ॥ ६५-६६½ ॥

तथैव पाण्डवं युद्धे देवैरपि दुरासदम् ॥ ६७ ॥
न विजेतुं रणे भीष्म उत्सहेत धनुर्धरम् ।
आलोकादपि युद्धं हि सममेतद् भविष्यति ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार भीष्म भी युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्ज गाण्डीवधारी पाण्डुपुत्र अर्जुनको जीतनेमें समर्थ नहीं हो सके यदि ये दोनों लड़ते रहें तो जबतक यह संसार स्थित है, तबत इन दोनोंका यह युद्ध समानरूपसे ही चलता रहेगा ॥६७-६८

इति स्म वाचोऽश्रूयन्त प्रोच्चरन्त्यस्ततस्ततः ।
गाङ्गेयार्जुनयोः संख्ये स्तवयुक्ता विशाम्पते ॥ ६९ ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार रणभूमिमें भीष्म और अर्जुनके स्तुतिप्रशंसासे युक्त बहुत-सी बातें इधर-उधर लोगोंके मुँह निकलती और सुनायी देती थीं ॥ ६९ ॥

त्वदीयास्तु तदा योधाः पाण्डवेयाश्च भारत ।
अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तयोस्तत्र पराक्रमे ॥ ७० ॥

भारत ! उस समय वहाँ उन दोनों वीरोंके पराक्र करते समय युद्धस्थलमें आपके और पाण्डवपक्षके योद्धा एक दूसरेको मार रहे थे ॥ ७० ॥

शितधारैस्तथा खड्गैर्विमलैश्च परश्वधैः ।
शरैरन्यैश्च बहुभिः शस्त्रैर्नानाविधैरपि ॥ ७१ ॥
उभयोः सेनयोः शूरा न्यकृन्तन्त परस्परम् ।

तीखी धारवाले खड्गों, चमचमाते हुए फरसों, अन्य अनेक प्रकारके बाणों तथा भाँति-भाँतिके शस्त्रोंसे दोनों सेनाओंके शूरवीर एक दूसरेको मारते थे ॥ ७१½ ॥

वर्तमाने तथा घोरे तस्मिन् युद्धे सुदारुणे ।
द्रोणपाञ्चाल्ययो राजन् महानासीत् समागमः ॥ ७२ ॥

राजन् ! जहाँ एक ओर इस प्रकार भयानक तथा अत्यन्त दारुण युद्ध चल रहा था, वहीं दूसरी ओर द्रोणा चार्य और धृष्टद्युम्नमें भयंकर मुठभेड़ हो रही थी ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मार्जुनयुद्धे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और अर्जुनका युद्धविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७२½ श्लोक हैं)

CC-0. In Public Domain. Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

द्रोणो महेष्वासः पाञ्चाल्यश्चापि पार्षतः ।
समीयतुर्यत्तौ तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! महाधनुर्धर द्रोणाचार्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ये दोनों वीर किस प्रकार प्रयत्न-आपसमें युद्ध कर रहे थे, वह सब वृत्तान्त मुझसे कहो ॥

मेव परं मन्ये पौरुषादिति मे मतिः ।
शान्तनवो भीष्मो नातरद् युधि पाण्डवम् ॥ २ ॥

मैं तो पुरुषार्थसे अधिक प्रबल भाग्यको ही मानता और इसीपर विश्वास करता हूँ, जिसके अनुसार शान्तनु-भीष्म युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनसे पार न पा सके ॥२॥

हि समरे क्रुद्धो हन्याल्लोकांश्चराचरान् ।
कथं पाण्डवं युद्धे नातरत् संजयौजसा ॥ ३ ॥

संजय ! भीष्म रणक्षेत्रमें कुपित हो जायँ तो वे चराचर सहित सम्पूर्ण लोकोंको मार सकते हैं। फिर वे पराक्रमद्वारा युद्धमें पाण्डुकुमार अर्जुनसे क्यों न पा सके ? ॥ ३ ॥

संजय उवाच

राजन् स्थिरो भूत्वा युद्धमेतत् सुदारुणम् ।
शक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ॥ ४ ॥

संजयने कहा—राजन् ! पाण्डवोंको तो इन्द्रसहित देवता भी नहीं जीत सकते । अब आप इस अत्यन्त युद्धका वृत्तान्त स्थिर होकर सुनिये ॥ ४ ॥

स्तु निशितैर्बाणैर्धृष्टद्युम्नमविध्यत ।
चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥ ५ ॥

द्रोणाचार्यने अपने तीखे बाणोंसे धृष्टद्युम्नको घायल कर और उनके सारथिको भल्लके द्वारा मारकर रथकी नीचे गिरा दिया ॥ ५ ॥

चतुरो वाहांश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः ।
यामास संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नस्य मारिष ॥ ६ ॥

आर्य ! क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यने चार उत्तम सायकोंसे चारों घोड़ोंको भी बहुत पीड़ा दी ॥ ६ ॥

स्ततो द्रोणं नवत्या निशितैः शरैः ।
प्रहसन् वीरस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ७ ॥

धृष्टद्युम्नने हँसकर नब्बे पैने बाणोंसे द्रोणाचार्यको कर दिया और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥ ७ ॥

ततः पुनरमेयात्मा भारद्वाजः प्रतापवान् ।
शरैः प्रच्छादयामास धृष्टद्युम्नममर्षणम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न प्रतापी द्रोणाचार्यने पुनः अमर्षशील धृष्टद्युम्नको अपने बाणोंसे ढक दिया ॥८॥

आददे च शरं घोरं पार्षतान्तचिकीर्षया ।
शक्राशनिसमस्पर्शं कालदण्डमिवापरम् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् धृष्टद्युम्नका अन्त कर डालनेकी इच्छासे द्वितीय कालदण्डके समान एक भयंकर बाण हाथमें लिया, जिसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान कठोर था ॥ ९ ॥

हाहाकारो महानासीत् सर्वसैन्येषु भारत ।
तमिषुं संधितं दृष्ट्वा भारद्वाजेन संयुगे ॥ १० ॥

भरतनन्दन ! युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा उस बाणका संधान होता देख सम्पूर्ण पाण्डवसेनामें महान् हाहाकार मच गया ॥

तत्राद्भुतमपश्याम धृष्टद्युम्नस्य पौरुषम् ।
यदेकः समरे वीरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ११ ॥

उस समय मैंने वहाँ धृष्टद्युम्नका अद्भुत पराक्रम देखा । वह वीर समराङ्गणमें अकेला ही पर्वतके समान अविचल भावसे खड़ा रहा ॥ ११ ॥

तं च दीप्तं शरं घोरमायान्तं मृत्युमात्मनः ।
चिच्छेद शरवृष्टिं च भारद्वाजे मुमोच ह ॥ १२ ॥

अपने लिये मृत्यु बनकर आते हुए उस भयंकर तेजस्वी बाणको देखकर धृष्टद्युम्नने तत्काल ही उसे काट गिराया और द्रोणाचार्यपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १२ ॥

तत उच्चुक्रुशुः सर्वे पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।
धृष्टद्युम्नेन तत् कर्म कृतं दृष्ट्वा सुदुष्करम् ॥ १३ ॥

धृष्टद्युम्नके द्वारा किये हुए उस अत्यन्त दुष्कर कर्मको देखकर पाण्डवसहित समस्त पाञ्चाल वीर हर्षसे कोलाहल कर उठे ॥ १३ ॥

ततः शक्तिं महावेगां स्वर्णवैदूर्यभूषिताम् ।
द्रोणस्य निधनाकाङ्क्षी चिक्षेप स पराक्रमी ॥ १४ ॥

तदनन्तर द्रोणाचार्यकी मृत्यु चाहनेवाले पराक्रमी वीर धृष्टद्युम्नने उनके ऊपर सुवर्ण और वैदूर्यमणिसे भूषित अत्यन्त वेगशालिनी शक्ति चलायी ॥ १४ ॥

तामापतन्तीं सहसा शक्तिं कनकभूषिताम् ।
त्रिधा चिच्छेद समरे भारद्वाजो हसन्निव ॥ १५ ॥

उस सुवर्णभूषित शक्तिको सहसा आती देख द्रोणाचार्यने समरभूमिमें हँसते-हँसते उसके तीन टुकड़े कर दिये ॥ १५ ॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
ववर्ष शरवर्षाणि द्रोणं प्रति जनेश्वर ॥ १६ ॥

जनेश्वर ! अपनी शक्तिको नष्ट हुई देख प्रतापी धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर पुनः बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

शरवर्षं ततस्तत् तु संनिवार्य महायशाः ।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य मध्ये चिच्छेद कार्मुकम् ॥ १७ ॥

तब महायशस्वी द्रोणने उस बाण-वर्षाका निवारण करके द्रुपदपुत्रके धनुषको बीचसे ही काट डाला ॥ १७ ॥

स च्छिन्नधन्वा समरे गदां गुर्वीं महायशाः ।
द्रोणाय प्रेषयामास गिरिसारमयीं बली ॥ १८ ॥

धनुष कट जानेपर महायशस्वी बलवान् वीर धृष्टद्युम्नने समरभूमिमें द्रोणाचार्यपर लोहेकी बनी हुई एक भारी गदा चलायी ॥ १८ ॥

सा गदा वेगवन्मुक्ता प्रायाद् द्रोणजिघांसया ।
तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य विक्रमम् ॥ १९ ॥

द्रोणाचार्यके वधकी इच्छासे वेगपूर्वक छोड़ी हुई वह गदा बड़े जोरसे चली; परंतु वहाँ हमलोगोंने उस समय द्रोणाचार्यका अद्भुत पराक्रम देखा ॥ १९ ॥

लाघवाद् व्यंसयामास गदां हेमविभूषिताम् ।
व्यंसयित्वा गदां तां च प्रेषयामास पार्षतम् ॥ २० ॥
भल्लान् सुनिशितान् पीतान् रुक्मपुंखान् सुदारुणान् ।
ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ॥ २१ ॥

उन्होंने बड़ी फुर्तीसे उस स्वर्णभूषित गदाको व्यर्थ कर दिया । इस प्रकार उस गदाको निष्फल करके द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नपर सुवर्णमय पंखोंसे युक्त अत्यन्त तीक्ष्ण पानीदार और भयंकर 'भल्ल' नामक बाण चलाये । वे बाण धृष्टद्युम्नका कवच छेदकर रणक्षेत्रमें उनका रक्त पीने लगे ॥ २०-२१ ॥

अथान्यद् धनुरादाय धृष्टद्युम्नो महारथः ।
द्रोणं युधि पराक्रम्य शरैर्विव्याध पञ्चभिः ॥ २२ ॥

तब महारथी धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर युद्धमें पराक्रमपूर्वक पाँच बाण मारकर द्रोणाचार्यको क्षत-विक्षत कर दिया ॥

रुधिराक्तौ ततस्तौ तु शुशुभाते नरर्षभौ ।
वसन्तसमये राजन् पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ २३ ॥

राजन् ! उस समय वे दोनों नरश्रेष्ठ लहू-लुहान होकर वसंत ऋतुमें खिले हुए दो पलाश वृक्षोंकी भाँति अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

अमर्षितस्ततो राजन् पराक्रम्य चमूमुखे ।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य पुनश्चिच्छेद कार्मुकम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तब उस सेनाके अग्रभागमें खड़े हो अमर्षमें भरे हुए द्रोणाचार्यने पराक्रम प्रकट करते हुए पुनः धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया ॥ २४ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं शरैः संनतपर्वभिः ।
अभ्यवर्षदमेयात्मा वृष्ट्या मेघ इवाचलम् ॥ २

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न द्रोणाचार्यने जिसका कट गया था, उन धृष्टद्युम्नपर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी आरम्भ कर दी, मानो मेघ किसी पर्वतपर जलकी बूँदें बरसा रहा

सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ।
अथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिर्निशितैः शरैः ॥ २
पातयामास समरे सिंहनादं ननाद च ।
ततोऽपरेण भल्लेन हस्ताच्चापमथाच्छिनत् ॥ २७

साथ ही उन्होंने भल्ल मारकर धृष्टद्युम्नके सारथिको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया और चार तीखे बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको भी मार गिराया । फिर वे समराङ्गणमें जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे । इतना ही नहीं, उन्होंने दूसरा बाण मारकर उनके हाथमें स्थित दूसरे धनुषको भी काट डाला ॥ २६-२७ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
गदापाणिरवारोहत् ख्यापयन् पौरुषं महत् ॥ २८
तामस्य विशिखैस्तूर्णं पातयामास भारत ।
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २९

इस प्रकार धनुष कट जाने और घोड़े तथा सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए धृष्टद्युम्न हाथमें गदा लेकर उतरने लगे । भारत ! इतनेहीमें अपने महान् पौरुषका परिचय देते हुए द्रोणाचार्यने तुरंत ही बाण मारकर रथसे उतरते-उतरते ही उनकी गदाको भी गिरा दिया । वह एक अद्भुत घटना हुई ॥ २८-२९ ॥

ततः स विपुलं चर्म शतचन्द्रं च भानुमत् ।
खड्गं च विपुलं दिव्यं प्रगृह्य सुभुजो बली ॥ ३०
अभिदुद्राव वेगेन द्रोणस्य वधकाङ्क्षया ।
आमिषार्थी यथा सिंहो वने मत्तमिव द्विपम् ॥ ३१

तब सुन्दर बाँहोंवाले बलवान् वीर धृष्टद्युम्नने चन्द्राकार सौ फुल्लियोंसे सुशोभित तेजस्वी और विस्तृत ढाल तथा दिव्य एवं विशाल खड्ग हाथमें लेकर द्रोणका वध करनेकी इच्छासे उनके ऊपर वेगपूर्वक आक्रमण किया । ठीक उसी तरह, जैसे मांस चाहनेवाला सिंह वनमें किसी मतवाले हाथीपर धावा करता है ॥ ३०-३१ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य पौरुषम् ।
लाघवं चास्त्रयोगं च बलं बाह्वोश्च भारत ॥ ३२

भारत ! उस समय हमने वहाँ द्रोणाचार्यका अद्भुत लाघव, अस्त्र-प्रयोग, बाहुबल तथा पुरुषार्थ देखा ॥ ३२

यदेनं शरवर्षेण वारयामास पार्षतम् ।
न शशाक ततो गन्तुं बलवानपि संयुगे ॥ ३३

उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षासे द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको आगे बढ़नेसे रोक दिया। अतः वे बलवान् होनेपर युद्धमें द्रोणाचार्यके पासतक न पहुँच सके ॥ ३३ ॥

निवारितस्तु द्रोणेन धृष्टद्युम्नो महारथः।
न्यवारयच्छरौघांस्तांश्चर्मणा कृतहस्तवत् ॥ ३४ ॥

द्रोणाचार्यसे रोके गये महारथी धृष्टद्युम्न सिद्धहस्त वीर पुरुषकी भाँति अपनी ढालसे ही उनके बाण-समूहोंका निवारण करने लगे ॥ ३४ ॥

ततो भीमो महाबाहुः सहसाभ्यपतद् बली।
साहाय्यकारी समरे पार्षतस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

तब बलवान् वीर महाबाहु भीम सहसा समरमें महामना धृष्टद्युम्नकी सहायता करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ३५ ॥

द्रोणं निशितैर्बाणै राजन् विव्याध सप्तभिः।
पार्षतं च रथं तूर्णं स्वकमारोहयत् तदा ॥ ३६ ॥

राजन्! उन्होंने सात पैने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको कर दिया और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको तुरंत ही अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ३६ ॥

ततो दुर्योधनो राजन् भानुमन्तमचोदयत्।
सैन्येन महता युक्तं भारद्वाजस्य रक्षणे ॥ ३७ ॥

महाराज! तब दुर्योधनने विशाल सेनासे युक्त भानुमान्‌को द्रोणाचार्यकी रक्षाके कार्यमें नियुक्त किया ॥ ३७ ॥

ततः सा महती सेना कलिङ्गानां जनेश्वर।
भीममभ्युद्ययौ तूर्णं तव पुत्रस्य शासनात् ॥ ३८ ॥

जनेश्वर! उस समय आपके पुत्रकी आज्ञासे कलिंगदेशीय वीरोंकी वह विशाल सेना तुरंत ही भीमसेनके सम्मुख आ पहुँची ॥ ३८ ॥

पाञ्चाल्यमथ संत्यज्य द्रोणोऽपि रथिनां वरः।
विराटद्रुपदौ वृद्धौ वारयामास संयुगे ॥ ३९ ॥

तब रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी धृष्टद्युम्नको छोड़कर युद्धस्थलमें विराट और द्रुपद इन दोनों वृद्ध नरेशोंको आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥ ३९ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि समरे धर्मराजानमभ्ययात्।
ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ४० ॥
कलिङ्गानां च समरे भीमस्य च महात्मनः।
जगतः प्रक्षयकरं घोररूपं भयावहम् ॥ ४१ ॥

इधर धृष्टद्युम्न भी उस समराङ्गणमें धर्मराज युधिष्ठिरके पास चले गये। तत्पश्चात् समरभूमिमें कलिंगदेशीय योद्धाओं और महामनस्वी भीमसेनका अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। जो सम्पूर्ण जगत्‌का विनाश करनेवाला घोरस्वरूप एवं महान् भयदायक था ॥ ४०-४१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि धृष्टद्युम्नद्रोणयुद्धे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें धृष्टद्युम्न और द्रोणका युद्धविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनका कलिंगों और निषादोंसे युद्ध, भीमसेनके द्वारा शक्रदेव, भानुमान् और केतुमान्‌का वध तथा उनके बहुत-से सैनिकोंका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

एवं प्रतिसमादिष्टः कालिङ्गो वाहिनीपतिः।
कथमद्भुतकर्माणं भीमसेनं महाबलम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! दुर्योधनकी वैसी आज्ञा पाकर सेनापति कलिंगराजने अद्भुत पराक्रमी महाबली भीमसेनके साथ किस प्रकार युद्ध किया? ॥ १ ॥

चरन्तं गदया वीरं दण्डहस्तमिवान्तकम्।
योधयामास समरे कालिङ्गः सह सेनया ॥ २ ॥

वीरवर भीमसेन जब गदा हाथमें लेकर विचरते हैं, उस समय वे दण्डधारी यमराजके समान जान पड़ते हैं। उनके साथ समरभूमिमें सेनासहित कलिंगराजने किस प्रकार युद्ध किया? ॥

संजय उवाच

पुत्रेण तव राजेन्द्र स तथोक्तो महाबलः।
महत्या सेनया गुप्तः प्रायाद् भीमरथं प्रति ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजेन्द्र! आपके पुत्रका उपर्युक्त आदेश पाकर अपनी विशाल सेनासे सुरक्षित हो महाबली कलिंगराज भीमसेनके रथके पास गया ॥ ३ ॥

तामापतन्तीं महतीं कलिङ्गानां महाचमूम्।
रथाश्वनागकलिलां प्रगृहीतमहायुधाम् ॥ ४ ॥
भीमसेनः कलिङ्गानामार्च्छद् भारत वाहिनीम्।
केतुमन्तं च नैषादिमायान्तं सह चेदिभिः ॥ ५ ॥

भारत! रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंसे भरी हुई कलिंगोंकी उस विशाल वाहिनीको हाथोंमें बड़े-बड़े आयुध लिये आती देख चेदिदेशीय सैनिकोंके साथ भीमसेनने उसे बाणोंद्वारा पीड़ित करना आरम्भ किया। साथ ही युद्धके लिये आते हुए निषादराजपुत्र केतुमान्‌को भी चोट पहुँचायी ॥ ४-५ ॥

ततः श्रुतायुः संक्रुद्धो राज्ञा केतुमता सह।
आससाद रणे भीमं व्यूढानीकेषु चेदिषु ॥ ६ ॥

तब राजा केतुमान्‌के साथ क्रोधमें भरा हुआ श्रुतायु भी रणक्षेत्रमें भीमसेनके सामने आया। उस समय चेदिदेशीय सैनिकोंकी सेनाएँ व्यूहबद्ध होकर खड़ी थीं ॥ ६ ॥

रथैरनेकसाहस्रैः कलिङ्गानां नराधिप।
अयुतेन गजानां च निषादैः सह केतुमान् ॥ ७ ॥
भीमसेनं रणे राजन् समन्तात् पर्यवारयत्।

नरेश्वर! कलिंगोंके कई सहस्र रथ और दस हजार हाथियों एवं निषादोंके साथ केतुमान् उस रणस्थलमें भीमसेनको सब ओरसे रोकने लगा ॥ ७½ ॥

चेदिमत्स्यकरूषाश्च भीमसेनपदानुगाः ॥ ८ ॥
अभ्यधावन्त समरे निषादान् सह राजभिः।
ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ ९ ॥

तब भीमसेनके पदचिह्नोंपर चलनेवाले चेदि, मत्स्य तथा करूषदेशके क्षत्रियोंने समरभूमिमें निषादों एवं उनके राजाओंपर आक्रमण किया। फिर तो दोनों दलोंमें अत्यन्त घोर और भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ८-९ ॥

न प्राजानन्त योधाः स्वान् परस्परजिघांसया।
घोरमासीत् ततो युद्धं भीमस्य सहसा परैः ॥ १० ॥
यथेन्द्रस्य महाराज महत्या दैत्यसेनया।

महाराज! उस समय एक-दूसरोंको मार डालनेकी इच्छा रखकर सब योद्धा अपने और परायेकी पहचान नहीं कर पाते थे। शत्रुओंके साथ भीमसेनका वह युद्ध सहसा उसी प्रकार अत्यन्त भयंकर हो चला, जैसे विशाल दैत्य सेनाके साथ देवराज इन्द्रका युद्ध हुआ करता है ॥ १०½ ॥

तस्य सैन्यस्य संग्रामे युध्यमानस्य भारत ॥ ११ ॥
बभूव सुमहाञ्शब्दः सागरस्येव गर्जतः।

भरतनन्दन! संग्रामभूमिमें युद्ध करती हुई उस कलिंगसेनाका महान् कोलाहल समुद्रकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ ११½ ॥

अन्योन्यं स तदा योधा विकर्षन्तो विशाम्पते ॥ १२ ॥
महीं चक्रुश्चितां सर्वां शशलोहितसंनिभाम्।

राजन्! उस समय सब योद्धाओंने छिन्न-भिन्न होकर परस्पर एक दूसरेको खींचते हुए वहाँकी सारी भूमिको अपनी रक्तरंजित लाशोंसे पाट दिया। वह भूमि खरगोशके रक्तकी भाँति लाल दिखायी देने लगी ॥ १२½ ॥

योधांश्च स्वान् परान् वापि नाभ्यजानञ्जिघांसया १३
स्वानप्याददते स्वाश्च शूराः परमदुर्जयाः।

परम दुर्जय शूर सैनिक विपक्षीको मार डालनेकी अभिलाषा लेकर अपने और परायेको भी जान नहीं पाते थे। बहुधा अपने ही पक्षके सैनिक अपने ही योद्धाओंको मारने पकड़ लेते थे ॥ १३½ ॥

विमर्दः सुमहानासीदल्पानां बहुभिः सह ॥ १
कलिङ्गैः सह चेदीनां निषादैश्च विशाम्पते।

राजन्! इस प्रकार वहाँ बहुसंख्यक कलिङ्गों निषादोंके साथ अल्पसंख्यक चेदिदेशीय सैनिकोंका भयंकर युद्ध होने लगा ॥ १४½ ॥

कृत्वा पुरुषकारं तु यथाशक्ति महाबलाः ॥ १
भीमसेनं परित्यज्य संन्यवर्तन्त चेदयः।

महाबली चेदि सैनिक यथाशक्ति पुरुषार्थ प्रकट भीमसेनको छोड़कर भाग चले ॥ १५½ ॥

सर्वैः कलिङ्गैरासन्नः संनिवृत्तेषु चेदिषु ॥ १
स्वबाहुबलमास्थाय न न्यवर्तत पाण्डवः।
न चचाल रथोपस्थाद् भीमसेनो महाबलः ॥ १

चेदिदेशीय सैनिकोंके पलायन कर जानेपर कलिङ्ग भीमसेनके निकट जा पहुँचे; तो भी पाण्डुनन्दन भीमसेन अपने बाहुबलका भरोसा करके नहीं हटे और न रथकी बैठकसे तनिक भी विचलित हुए।

शितैरवाकिरद् बाणैः कलिङ्गानां वरूथिनीम्।
कालिङ्गस्तु महेष्वासः पुत्रश्चास्य महारथः ॥ १
शक्रदेव इति ख्यातो जघ्नतुः पाण्डवं शरैः।

वे कलिङ्गोंकी सेनापर अपने तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे। महाधनुर्धर कलिङ्गराज और उसका महारथी शक्रदेव दोनों मिलकर पाण्डुनन्दन भीमसेनपर बाणों प्रहार करने लगे ॥ १८½ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्विधुन्वन् रुचिरं धनुः ॥ १
योधयामास कालिङ्गं स्वबाहुबलमाश्रितः।

तब महाबाहु भीमने अपने बाहुबलका आश्रय ले सुन्दर धनुषकी टंकार फैलाते हुए कलिङ्गराजके आरम्भ किया ॥ १९½ ॥

शक्रदेवस्तु समरे विसृजन् सायकान् बहून् ॥ २०
अश्वाञ्जघान समरे भीमसेनस्य सायकैः।

शक्रदेवने समरभूमिमें बहुत-से सायकोंकी वर्षा हुए उन सायकोंद्वारा भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला ॥ २

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र भीमसेनमरिंदमम् ॥ २
शक्रदेवोऽभिदुद्राव शरैरवकिरञ्शितैः।

शत्रुदमन भीमसेनको वहाँ रथहीन हुआ देख तीखे बाणोंकी वर्षा करता हुआ उनकी ओर दौड़ा ॥ २

भीमस्योपरि राजेन्द्र शक्रदेवो महाबलः ॥ २२
ववर्ष शरवर्षाणि तपान्ते जलदो यथा।

राजेन्द्र! जैसे गर्मीके अन्तमें बादल पानीकी

बरसाता है, उसी प्रकार महाबली शक्रदेव भीमसेनके ऊपर बाणोंकी वृष्टि करने लगा ॥ २२½ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठन् भीमसेनो महाबलः ॥ २३ ॥
शक्रदेवाय चिक्षेप सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।

जिसके घोड़े मारे गये थे, उसी रथपर खड़े हुए महाबली भीमसेनने शक्रदेवको लक्ष्य करके सम्पूर्णतः लोहके सारतत्त्वकी बनी हुई अपनी गदा चलायी ॥ २३½ ॥

स तया निहतो राजन् कालिङ्गतनयो रथात् ॥ २४ ॥
सध्वजः सह सूतेन जगाम धरणीतलम् ।

राजन्! उस गदाकी चोट खाकर कलिङ्गराजकुमार प्राणशून्य हो अपने सारथि और ध्वजके साथ ही रथसे नीचे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २४½ ॥

हतमात्मसुतं दृष्ट्वा कलिङ्गानां जनाधिपः ॥ २५ ॥
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ।

अपने पुत्रको मारा गया देख कलिङ्गराजने कई हजार रथियोंके द्वारा भीमसेनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोक लिया ।२५½।

ततो भीमो महावेगां त्यक्त्वा गुर्वीं महागदाम् ॥ २६ ॥
निस्त्रिंशमाददे घोरं चिकीर्षुः कर्म दारुणम् ।
चर्म चाप्रतिमं राजन्नार्षभं पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥
नक्षत्रैरर्धचन्द्रैश्च शातकुम्भमयैश्चितम् ।

नरश्रेष्ठ ! तब भीमसेनने अत्यन्त वेगशालिनी एवं भारी और विशाल गदाको वहीं छोड़कर अत्यन्त भयंकर कर्म करनेकी इच्छासे तलवार खींच ली तथा ऋषभके चमड़ेकी बनी हुई अनुपम ढाल हाथमें ले ली । राजन् ! उस ढालमें सुवर्णमय नक्षत्र और अर्धचन्द्रके आकारकी फूलियाँ जड़ी हुई थीं ॥ २६-२७½ ॥

कालिङ्गस्तु ततः क्रुद्धो धनुर्ज्यामवमृज्य च ॥ २८ ॥
प्रगृह्य च शरं घोरमेकं सर्पविषोपमम् ।
प्राहिणोद् भीमसेनाय वधाकाङ्क्षी जनेश्वरः ॥ २९ ॥

इधर क्रोधमें भरे हुए कलिङ्गराजने धनुषकी प्रत्यञ्चाको खींचकर सर्पके समान विषैला एक भयंकर बाण हाथमें लिया और भीमसेनके वधकी इच्छासे उनपर चलाया ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रेरितं निशितं शरम् ।
भीमसेनो द्विधा राजंश्चिच्छेद विपुलासिना ॥ ३० ॥
उत्क्रोशंश्च संहृष्टस्त्रासयानो वरूथिनीम् ।

राजन् ! भीमसेनने अपने विशाल खड्गसे उसके वेगपूर्वक चलाये हुए तीखे बाणके दो टुकड़े कर दिये और कलिङ्गोंकी सेनाको भयभीत करते हुए हर्षमें भरकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ३०½ ॥

कालिङ्गोऽथ ततः क्रुद्धो भीमसेनाय संयुगे ॥ ३१ ॥
तोमरान् प्राहिणोच्छीघ्रं चतुर्दश शिलाशितान् ।

तब कलिङ्गराजने रणक्षेत्रमें अत्यन्त कुपित हो भीमसेनपर तुरंत ही चौदह तोमरोंका प्रहार किया, जिन्हें सानपर चढ़ाकर तेज किया गया था ॥ ३१½ ॥

तानप्राप्तान् महाबाहुः खगतानेव पाण्डवः ॥ ३२ ॥
चिच्छेद सहसा राजन्नसम्भ्रान्तो वरासिना ।

राजन् ! वे तोमर अभी भीमसेनतक पहुँच ही नहीं पाये थे कि उन महाबाहु पाण्डुकुमारने बिना किसी घबराहटके अपनी अच्छी तलवारसे सहसा उन्हें आकाशमें ही काट डाला ॥ ३२½ ॥

निकृत्य तु रणे भीमस्तोमरान् वै चतुर्दश ॥ ३३ ॥
भानुमन्तं ततो भीमः प्राद्रवत् पुरुषर्षभः ।

इस प्रकार पुरुषश्रेष्ठ भीमसेनने रणक्षेत्रमें उन चौदह तोमरोंको काटकर भानुमान्‌पर धावा किया ॥ ३३½ ॥

भानुमांस्तु ततो भीमं शरवर्षेण च्छादयन् ॥ ३४ ॥
ननाद बलवन्नादं नादयानो नभस्तलम् ।

यह देख भानुमान्‌ने अपने बाणोंकी वर्षासे भीमसेनको आच्छादित करके आकाशको प्रतिध्वनित करते हुए बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ३४½ ॥

न च तं ममृषे भीमः सिंहनादं महाहवे ॥ ३५ ॥
ततः शब्देन महता विननाद महास्वनः ।
तेन नादेन वित्रस्ता कलिङ्गानां वरूथिनी ॥ ३६ ॥

भीमसेन उस महासमरमें भानुमान्‌की वह गर्जना न सह सके । उन्होंने और भी अधिक जोरसे सिंहके समान दहाड़ना आरम्भ किया । उनकी उस गर्जनासे कलिङ्गोंकी वह विशाल वाहिनी संत्रस्त हो उठी ॥ ३५-३६ ॥

न भीमं समरे मेने मानुषं भरतर्षभ ।
ततो भीमो महाबाहुर्नर्दित्वा विपुलं स्वनम् ॥ ३७ ॥
सासिर्वेगवदाप्लुत्य दन्ताभ्यां वारणोत्तमम् ।
आरुरोह ततो मध्यं नागराजस्य मारिष ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस सेनाके सैनिकोंने भीनसेनको युद्धमें मनुष्य नहीं, कोई देवता समझा । आर्य ! तदनन्तर महाबाहु भीमसेन जोर-जोरसे गर्जना करके हाथमें तलवार लिये वेगपूर्वक उछलकर गजराजके दाँतोंके सहारे उसके मस्तकपर चढ़ गये॥

ततो मुमोच कालिङ्गः शक्तिं तामकरोद् द्विधा।
खड्गेन पृथुना मध्ये भानुमन्तमथाच्छिनत् ॥ ३९ ॥

इतनेहीमें कलिङ्गराजकुमारने उनके ऊपर शक्ति चलायी; किंतु भीमसेनने उसके दो टुकड़े कर दिये और

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri. Funding IKS-MoE

अपने विशाल खड्गसे भानुमान्के शरीरको बीचसे काट डाला॥

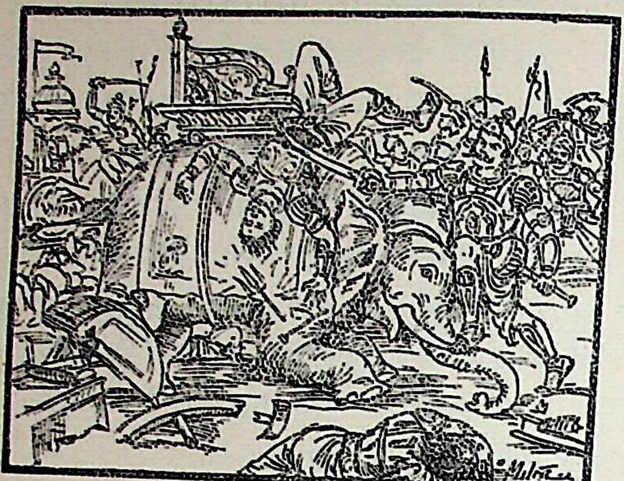

सोऽन्तरायुधिनं हत्वा राजपुत्रमरिंदमः।
गुरुं भारसहं स्कन्धे नागस्यासिमपातयत् ॥ ४० ॥

इस प्रकार गजारूढ़ होकर युद्ध करनेवाले कलिङ्गराजकुमारको मारकर शत्रुदमन भीमसेनने भार सहनेमें समर्थ अपनी भारी तलवारको उस हाथीके कंधेपर भी दे मारा ।४०।

छिन्नस्कन्धः स विनदन् पपात गजयूथपः।
आरुग्णः सिन्धुवेगेन सानुमानिव पर्वतः ॥ ४१ ॥

कंधा कट जानेसे वह गजयूथपति चिग्घाड़ता हुआ समुद्रके वेगसे भग्न होकर गिरनेवाले शिखरयुक्त पर्वतके समान धराशायी हो गया ॥ ४१ ॥

ततस्तस्मादवप्लुत्य गजाद् भारत भारतः।
खड्गपाणिरदीनात्मा तस्थौ भूमौ सुदंशितः ॥ ४२ ॥

भारत ! फिर कवचधारी, खड्गपाणि, उदारचित्त, भरतवंशी भीमसेन उस हाथीसे सहसा कूदकर धरतीपर खड़े हो गये ॥ ४२ ॥

स चचार बहून् मार्गानभितः पातयन् गजान्।
अग्निचक्रमिवाविद्धं सर्वतः प्रत्यदृश्यत ॥ ४३ ॥

फिर दोनों ओर घूम-घूमकर हाथियोंको गिराते हुए वे अनेक मार्गोंसे विचरण करने लगे। उस समय घूमते हुए अलातचक्रकी भाँति वे सब ओर दिखायी देते थे ॥ ४३ ॥

अश्ववृन्देषु नागेषु रथानीकेषु चाभिभूः।
पदातीनां च संघेषु विनिघ्नञ्शोणितोक्षितः ॥ ४४ ॥

शक्तिशाली भीमसेन घोड़ों, हाथियों, रथों और पैदलोंके समूहोंमें घुसकर सबका संहार करते हुए रक्तसे भीग गये ॥

श्येनवद् व्यचरद् भीमो रणेऽरिषु बलोत्कटः।
छिन्दंस्तेषां शरीराणि शिरांसि च महाबलः ॥ ४५ ॥

प्रचण्डबलवाले महान् शक्तिशाली भीमसेन शत्रुओंके समूहमें घुसकर उनके शरीर और मस्तक काटते हुए बाज पक्षीकी तरह रणभूमिमें विचरने लगे ॥ ४५ ॥

खड्गेन शितधारेण संयुगे गजयोधिनाम्।
पदातिरेकः संक्रुद्धः शत्रूणां भयवर्धनः ॥ ४६ ॥
सम्मोहयामास स तान् कालान्तकयमोपमः।

उस रण-क्षेत्रमें गजारूढ़ होकर युद्ध करनेवाले योद्धा मस्तकोंको अपनी तीखी धारवाली तलवारसे काटते हुए अकेले ही क्रोधमें भरकर पैदल विचरते और शत्रुओंके बढ़ाते थे। उन्होंने प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर धारण करके उन सबको भयसे मोहित कर दिया था॥४६½॥

मूढाश्च ते तमेवाजौ विनदन्तः समाद्रवन् ॥ ४७ ॥
सासिमुत्तमवेगेन विचरन्तं महारणे।

वे मूढ सैनिक गर्जना करते हुए उन्हींके पास दौड़े आते (और मारे जाते) थे। भीमसेन हाथमें तलवार उस महान् संग्राममें बड़े वेगसे विचरण करते थे ॥ ४७½॥

निकृत्य रथिनां चाजौ रथेषाश्च युगानि च ॥ ४८ ॥
जघान रथिनश्चापि बलवान् रिपुमर्दनः।

शत्रुओंका मर्दन करनेवाले बलवान् भीम युद्धमें रथारोहियोंके रथोंके ईषादण्ड और जूए काटकर उन रथियोंको भी संहार कर डालते थे ॥ ४८½ ॥

भीमसेनश्चरन् मार्गान् सुबहून् प्रत्यदृश्यत ॥ ४९ ॥
भ्रान्तमाविद्धमुद्भ्रान्तमाप्लुतं प्रसृतं प्लुतम्।
सम्पातं समुदीर्णं च दर्शयामास पाण्डवः ॥ ५० ॥

उस समय पाण्डुनन्दन भीमसेन अनेक मार्गोंपर विचरते हुए दिखायी देते थे। उन्होंने खड्गयुद्धके भ्रान्त, आविद्ध, उद्भ्रान्त, आप्लुत, प्रसृत, प्लुत, सम्पात तथा समुदीर्ण आदि बहुत-से पैंतरे दिखाये* ॥ ४९-५० ॥

केचिदग्रासिना छिन्नाः पाण्डवेन महात्मना।
विनेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः ॥ ५१ ॥

पाण्डुनन्दन महामना भीमसेनके श्रेष्ठ खड्गकी चोटसे कितने ही हाथियोंके अङ्ग छिन्न-भिन्न हो उनके मर्मस्थल विदीर्ण हो गये और वे चिग्घाड़ते हुए प्राणशून्य होकर धरती पर गिर पड़े ॥ ५१ ॥

---

* तलवारको मण्डलाकार घुमाना 'भ्रान्त' कहलाता है। यही अधिक परिश्रमसाध्य होनेपर 'आविद्ध' कहा गया है। 'भ्रान्त' की क्रिया यदि ऊपर उठते हुए की जाय तो उसे 'उद्भ्रान्त' कहते हैं। तलवार चलाते हुए ऊपर उछलना 'आप्लुत' है। सब दिशाओंमें फैलावका नाम 'प्रसृत' है। तलवार चलाते हुए एक ही दिशामें आगे बढ़ना 'प्लुत' है। वेगको 'सम्पात' कहते हैं। समस्त शत्रुओंको मारने या चोट पहुँचानेके उद्यमको 'समुदीर्ण' कहा गया है।

दन्ताग्रहस्ताश्च भिन्नकुम्भास्तथा परे ।
योधाः स्वान्यनीकानि जघ्नुर्भारत वारणाः ॥ ५२ ॥
तुरुर्व्यां च तथा विनदन्तो महारवान् ।

भरतनन्दन ! कुछ गजराजोंके दाँत और सूँडके अग्रभाग गये, कुम्भस्थल फट गये और सवार मारे गये । उस में उन्होंने इधर-उधर भागकर अपनी ही सेनाओंको डाला और अन्तमें जोर-जोरसे चिग्घाड़ते हुए वे पर गिरे और मर गये ॥ ५२½ ॥

ांश्च तोमरान् राजन् महामात्रशिरांसि च ॥ ५३ ॥
तोमान् विचित्रांश्च कक्ष्याश्च कनकोज्ज्वलाः ।
ण्यथ शक्तीश्च पताकाः कणपांस्तथा ॥ ५४ ॥
रानथ यन्त्राणि विचित्राणि धनूंषि च ।
पालानि शुभ्राणि तोत्राणि चाङ्कुशैः सह ॥ ५५ ॥
श्च विविधा राजन् हेमगर्भांस्त्सरूनपि ।
पतितांश्चैव पश्यामः सह सादिभिः ॥ ५६ ॥

राजन् ! हमलोगोंने वहाँ देखा, बहुत-से तोमर और के मस्तक कटकर गिरे हैं, हाथियोंकी पीठोंपर बिछी चित्र-विचित्र झूलें पड़ी हुई हैं । हाथियोंको कसनेके में आनेवाली स्वर्णभूषित चमकीली रस्सियाँ गिरी हुई और घोड़ोंके गलेके आभूषण, शक्ति, पताका, कणप विशेष), तरकस, विचित्र यन्त्र, धनुष, चमकीले ल, तोत्र, अङ्कुश, भाँति-भाँतिके घंटे तथा स्वर्ण- खड्गमुष्टि—ये सब वस्तुएँ हाथीसवारोंसहित गिरी और गिरती जा रही हैं ॥ ५३—५६ ॥

न्नावरकरैर्निहतैश्चापि वारणैः ।
द् भूमिः समास्तीर्णा पतितैर्भूधरैरिव ॥ ५७ ॥

कटे हुए हाथियोंके शरीरके ऊर्ध्वभाग पड़े थे, कहीं पड़े थे । कहीं कटी हुई सूँडें पड़ी थीं और कहीं हाथियोंकी लोथें पड़ी थीं । उनसे आच्छादित हुई भूमि ढहे हुए पर्वतोंसे ढकी-सी जान पड़ती थी ॥

महानागान् ममर्दान्यान् महाबलः ।
रोहवरांश्चैव पातयामास संयुगे ॥ ५८ ॥
मभवद् युद्धं तस्य तेषां च भारत ।

भारत ! इस प्रकार महाबली भीमसेनने कितने ही गजराजोंको नष्ट करके दूसरे प्राणियोंका भी विनाश किया । उन्होंने युद्धस्थलमें बहुत-से प्रमुख अश्वा- मार गिराया । इस प्रकार भीमसेन और कलिङ्ग वह युद्ध अत्यन्त घोर रूप धारण करता गया ॥ ५८½ ॥

योक्त्राणि कक्ष्याश्च कनकोज्ज्वलाः ॥ ५९ ॥
प्रासाश्च ऋष्टयश्च महाधनाः ।
चर्माणि चित्राण्यास्तरणानि च ॥ ६० ॥
विद्धानि व्यदृश्यन्त महाहवे ।

उस महासमरमें घोड़ोंकी लगाम, जोत, सुवर्णमण्डित चमकीली रस्सियाँ, पीठपर कसी जानेवाली गद्दियाँ (जीन), प्रास, बहुमूल्य ऋष्टियाँ, कवच, ढाल तथा भाँति-भाँतिके विचित्र आस्तरण इधर-उधर बिखरे दिखायी देने लगे ॥ ५९-६०½ ॥

प्रासैर्यन्त्रैर्विचित्रैश्च शस्त्रैश्च विमलैस्तथा ॥ ६१ ॥
स चक्रे वसुधां कीर्णां शबलैः कुसुमैरिव ।

भीमसेनने बहुत-से प्रासों, विचित्र यन्त्रों और चमकीले शस्त्रोंसे वहाँकी भूमिको पाट दिया, जिससे वह चितकबरे पुष्पोंसे आच्छादित-सी प्रतीत होने लगी ॥ ६१½ ॥

आप्लुत्य रथिनः कांश्चित् परामृश्य महाबलः ॥ ६२ ॥
पातयामास खड्गेन सध्वजानपि पाण्डवः ।

महाबली पाण्डुनन्दन भीम उछलकर कितने ही रथियोंके पास पहुँच जाते और उन्हें पकड़कर ध्वजोंसहित तलवारसे काट गिराते थे ॥ ६२½ ॥

मुहुरुत्पततो दिक्षु धावतश्च यशस्विनः ॥ ६३ ॥
मार्गांश्च चरतश्चित्रं व्यस्मयन्त रणे जनाः ।

वे बार-बार उछलते, सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते और युद्धके विचित्र पैंतरे दिखाते हुए रणभूमिमें विचरते थे । यशस्वी भीमसेनका यह पराक्रम देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य होता था ॥ ६३½ ॥

स जघान पदा कांश्चिद् व्याक्षिप्यान्यानपोथयत् ॥ ६४ ॥
खड्गेनान्यांश्च चिच्छेद नादेनान्यांश्च भीषयन् ।
ऊरुवेगेन चाप्यन्यान् पातयामास भूतले ॥ ६५ ॥

उन्होंने कितने ही योद्धाओंको पैरोंसे कुचलकर मार डाला, कितनोंको ऊपर उछालकर पटक दिया, कितनोंको तलवारसे काट दिया, दूसरे कितने ही योद्धाओंको अपनी भीषण गर्जनासे डरा दिया और कितनोंको अपने महान् वेगसे पृथ्वीपर दे मारा ॥ ६४-६५ ॥

अपरे चैनमालोक्य भयात् पञ्चत्वमागताः ।
एवं सा बहुला सेना कलिङ्गानां तरस्विनाम् ॥ ६६ ॥
परिवार्य रणे भीष्मं भीमसेनमुपाद्रवत् ।

दूसरे बहुत-से योद्धा इन्हें देखते ही भयके मारे निष्प्राण हो गये । इस प्रकार मारी जानेपर भी वेगशाली कलिंग वीरोंकी उस विशाल वाहिनीने रणक्षेत्रमें भीष्मकी रक्षाके लिये उन्हें चारों ओरसे घेरकर पुनः भीमसेनपर धावा किया ॥

ततः कालिङ्गसैन्यानां प्रमुखे भरतर्षभ ॥ ६७ ॥
श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य भीमसेनः समभ्ययात् ।

भरतश्रेष्ठ ! कलिंगसेनाके अग्रभागमें राजा श्रुतायुको देखकर भीमसेन उसका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य कालिङ्गो नवभिः शरैः ॥ ६८ ॥
भीमसेनममेयात्मा प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।

उन्हें आते देख अमेय आत्मबलसे सम्पन्न कलिंगराज श्रुतायुने भीमसेनकी छातीमें नौ बाण मारे ॥ ६८½ ॥

कालिङ्गबाणाभिहतस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥ ६९ ॥
भीमसेनः प्रजज्वाल क्रोधेनाग्निरिवेधितः।

कलिंगराजके बाणोंसे आहत हो भीमसेन अंकुशकी मार खाये हुए हाथीके समान क्रोधसे जल उठे, मानो घीकी आहुति पाकर आग प्रज्वलित हो उठी हो ॥ ६९½ ॥

अथाशोकः समादाय रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ ७० ॥
भीमं सम्पादयामास रथेन रथसारथिः।

इसी समय भीमसेनके सारथि अशोकने एक सुवर्णभूषित रथ लेकर उसे भीमके पास पहुँचा कर उन्हें भी रथसे सम्पन्न कर दिया ॥ ७०½ ॥

तमारुह्य रथं तूर्णं कौन्तेयः शत्रुसूदनः ॥ ७१ ॥
कालिङ्गमभिदुद्राव तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्।

शत्रुसूदन कुन्तीकुमार भीम तुरंत ही उस रथपर आरूढ़ हो कलिंगराजकी ओर दौड़े और बोले—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ७१½ ॥

ततः श्रुतायुर्बलवान् भीमाय निशिताञ्शरान्॥ ७२ ॥
प्रेषयामास संक्रुद्धो दर्शयन् पाणिलाघवम्।

तब बलवान् श्रुतायुने कुपित हो अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए बहुत-से पैने बाण भीमसेनपर चलाये ॥ ७२½ ॥

स कार्मुकवरोत्सृष्टैर्नवभिर्निशितैः शरैः ॥ ७३ ॥
समाहतो महाराज कालिङ्गेन महात्मना।
संचुक्रुशे भृशं भीमो दण्डाहत इवोरगः ॥ ७४ ॥

महाराज! महामना कलिंगराजके द्वारा श्रेष्ठ धनुषसे छोड़े हुए नौ तीखे बाणोंसे घायल हो भीमसेन डंडेकी चोट खाये हुए सर्पकी भाँति अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ७३-७४ ॥

क्रुद्धश्च चापमायम्य बलवद् बलिनां वरः।
कालिङ्गमवधीत् पार्थो भीमः सप्तभिरायसैः ॥ ७५ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र भीमने क्रुद्ध हो अपने सुदृढ़ धनुषको बलपूर्वक खींचकर लोहेके सात बाणोंद्वारा कलिंगराज श्रुतायुको घायल कर दिया ॥ ७५ ॥

क्षुराभ्यां चक्ररक्षौ च कालिङ्गस्य महाबलौ।
सत्यदेवं च सत्यं च प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ ७६ ॥

तत्पश्चात् दो क्षुर नामक बाणोंसे कलिंगराजके चक्ररक्षक महाबली सत्यदेव तथा सत्यको यमलोक पहुँचा दिया ॥ ७६ ॥

ततः पुनरमेयात्मा नाराचैर्निशितैस्त्रिभिः।
केतुमन्तं रणे भीमोऽगमयद् यमसादनम् ॥ ७७ ॥

इसके बाद अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमने तीन तीखे नाराचोंद्वारा रणक्षेत्रमें केतुमान्‌को मारकर उसे यमलोक भेज दिया ॥ ७७ ॥

ततः कलिङ्गाः संनद्धा भीमसेनममर्षणम्।
अनीकैर्बहुसाहस्रैः क्षत्रियाः समवारयन् ॥ ७८

तब कलिंगदेशीय समस्त क्षत्रियोंने कई हजार सैनि साथ आकर युद्धके लिये उद्यत हो अमर्षशील भीमसे आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ७८ ॥

ततः शक्तिगदाखड्गतोमरर्ष्टिपरश्वधैः।
कलिङ्गाश्च ततो राजन् भीमसेनमवाकिरन् ॥ ७९

राजन्! उस समय कलिंग-योद्धा भीमसेनपर श गदा, खड्ग, तोमर, ऋष्टि तथा फरसोंकी वर्षा करने ल

संनिवार्य स तां घोरां शरवृष्टिं समुत्थिताम्।
गदामादाय तरसा संनिपत्य महाबलः ॥ ८०
भीमः सप्त शतान् वीराननयद् यमसादनम्।
पुनश्चैव द्विसाहस्रान् कलिङ्गानरिमर्दनः ॥ ८१
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय तदद्भुतमिवाभवत्।

वहाँ होती हुई उस भयंकर बाण-वर्षाको रोककर महा भीमसेन हाथमें गदा ले बड़े वेगसे कलिंग-सेनामें कूद पड़े उस सेनामें घुसकर शत्रुमर्दन भीमने पहले सात सौ वीरों यमलोक पहुँचाया। फिर दो हजार कलिंगोंको मृत्युके लो भेज दिया। यह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ८०-८१½ ॥

एवं स तान्यनीकानि कलिङ्गानां पुनः पुनः ॥ ८२
बिभेद समरे तूर्णं प्रेक्ष्य भीष्मं महारथम्।

इस प्रकार भीमसेनने महारथी भीष्मकी ओर देख हुए कलिंगोंकी सेनाको बार-बार समर-भूमिमें शीघ्रतापूर्व विदीर्ण किया ॥ ८२½ ॥

हतारोहाश्च मातङ्गाः पाण्डवेन कृता रणे ॥ ८३
विप्रजग्मुरनीकेषु मेघा वातहता इव।
मृद्नन्तः स्वान्यनीकानि विनदन्तः शरातुराः ॥ ८४

उस रणभूमिमें पाण्डुनन्दन भीमके द्वारा सवारोंके दिये जानेपर बहुत-से मतवाले हाथी वायुके थपेड़े खाये हु बादलोंके समान कौरव सेनामें इधर-उधर भागने तथा अ ही सैनिकोंको कुचलते हुए बाणोंकी व्यथासे व्याकुल हो चीत्कार करने लगे ॥ ८३-८४ ॥

ततो भीमो महाबाहुः खड्गहस्तो महाभुजः।
सम्प्रहृष्टो महाघोषं शङ्खं प्राध्मापयद् बली ॥ ८

तदनन्तर महाबली महाबाहु भीमसेनने खड्ग ह लिये हुए अत्यन्त प्रसन्न हो बड़े जोरसे शङ्ख बजाया ॥८

सर्वकालिङ्गसैन्यानां मनांसि समकम्पयत्।
मोहश्चापि कलिङ्गानामाविवेश परंतप ॥ ८

परंतप! उस शङ्खनादके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण कलि हृदयमें कम्प मचा दिया और उन सबपर बड़ा भारी मोह छ

प्राकम्पन्त च सैन्यानि वाहनानि च सर्वशः।
भीमेन समरे राजन् गजेन्द्रेणेव सर्वशः॥ ८७॥
मार्गान् बहून् विचरता धावता च ततस्ततः।
मुहुरुत्पतता चैव सम्मोहः समपद्यत॥ ८८॥

राजन्! उस समराङ्गणमें गजराजके समान अनेक मार्गोंपर विचरते और इधर-उधर दौड़ते हुए भीमसेनके भयसे समस्त सैनिक और वाहन थर-थर काँपने लगे। उनके बार-बार उछलनेसे सबपर मोह छा गया॥ ८७-८८॥

भीमसेनभयत्रस्तं सैन्यं च समकम्पत।
क्षोभ्यमाणमसम्बाधं ग्राहेणेव महत् सरः॥ ८९॥

जैसे महान् तालाब किसी ग्राहके द्वारा मथित होनेपर क्षुब्ध हो उठता है, उसी प्रकार वह सारी सेना भीमसेनके द्वारा बेरोक-टोक मथित होनेपर भयसे संत्रस्त हो काँपने लगी॥

त्रासितेषु च सर्वेषु भीमेनाद्भुतकर्मणा।
पुनरावर्तमानेषु विद्रवत्सु च सङ्घशः॥ ९०॥
सर्वकालिङ्गयोधेषु पाण्डूनां ध्वजिनीपतिः।
अब्रवीत् स्वान्यनीकानि युध्यध्वमिति पार्षतः॥ ९१॥

अद्भुतकर्मा भीमसेनके द्वारा भयभीत कर दिये जानेपर कलिङ्ग देशके समस्त योद्धा जब दल बनाकर भागने और भाग-भागकर पुनः लौटने लगे, तब पाण्डव-सेनापति द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने अपने समस्त सैनिकोंसे कहा—'वीरो! (उत्साहके साथ) युद्ध करो'॥ ९०-९१॥

सेनापतिवचः श्रुत्वा शिखण्डिप्रमुखा गणाः।
भीममेवाभ्यवर्तन्त रथानीकैः प्रहारिभिः॥ ९२॥

सेनापतिकी बात सुनकर शिखण्डी आदि महारथी प्रहारकुशल रथियोंकी सेनाओंके साथ भीमसेनका ही अनुसरण करने लगे॥ ९२॥

धर्मराजश्च तान् सर्वानुपजग्राह पाण्डवः।
महता मेघवर्णेन नागानीकेन पृष्ठतः॥ ९३॥

तत्पश्चात् पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर मेघोंकी घटाके समान हाथियोंकी विशाल सेना साथ लिये पीछेसे आकर उन सबकी सहायता करने लगे॥ ९३॥

एवं संनोद्य सर्वाणि स्वान्यनीकानि पार्षतः।
भीमसेनस्य जग्राह पार्ष्णिं सत्पुरुषैर्वृतः॥ ९४॥

इस प्रकार द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने अपनी सारी सेनाओंको युद्धके लिये प्रेरित करके श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य हाथमें लिया॥ ९४॥

न हि पञ्चालराजस्य लोके कश्चन विद्यते।
भीमसात्यकयोरन्यः प्राणेभ्यः प्रियकृत्तमः॥ ९५॥

जगत्में पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नके लिये भीम और सात्यकिको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं था, जो प्राणोंसे बढ़कर हो॥ ९५॥

सोऽपश्यच्च कलिङ्गेषु चरन्तमरिसूदनः।
भीमसेनं महाबाहुं पार्षतः परवीरहा॥ ९६॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वैरिविनाशक द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने महाबाहु भीमसेनको कलिंगोंकी सेनामें विचरते देखा॥

ननर्द बहुधा राजन् हृष्टश्चासीत् परंतपः।
शङ्खं दध्मौ च समरे सिंहनादं ननाद च॥ ९७॥

राजन्! उन्हें देखते ही परंतप धृष्टद्युम्नके हृदयमें हर्षकी सीमा न रही। वे बारंबार गर्जना करने लगे। उन्होंने समराङ्गणमें शङ्ख बजाया और सिंहनाद किया॥ ९७॥

स च पारावताश्वस्य रथे हेमपरिष्कृते।
कोविदारध्वजं दृष्ट्वा भीमसेनः समाश्वसत्॥ ९८॥

कबूतरके समान रंगवाले घोड़े जिनके रथमें जोते जाते हैं, उन धृष्टद्युम्नके सुवर्णभूषित रथमें कचनार वृक्षके चिह्नसे युक्त ध्वजा फहराती देख भीमसेनको बड़ा आश्वासन मिला॥

धृष्टद्युम्नस्तु तं दृष्ट्वा कलिङ्गैः समभिद्रुतम्।
भीमसेनममेयात्मा त्राणायाजौ समभ्ययात्॥ ९९॥

कलिंगोंने भीमसेनपर धावा किया है, यह देखकर अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न धृष्टद्युम्न भीमसेनकी रक्षाके लिये युद्धस्थलमें उनके पास जा पहुँचे॥ ९९॥

तौ दूरात् सात्यकिं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नवृकोदरौ।
कलिङ्गान् समरे वीरौ योधयेतां मनस्विनौ॥ १००॥

उस समरभूमिमें मनस्वी वीर धृष्टद्युम्न और भीमसेनने सात्यकिको भी दूरसे आते देखा; अतः वे अधिक उत्साहसे सम्पन्न हो कलिंगोंसे युद्ध करने लगे॥ १००॥

स तत्र गत्वा शैनेयो जवेन जयतां वरः।
पार्थपार्षतयोः पार्ष्णिं जग्राह पुरुषर्षभः॥ १०१॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ पुरुषप्रवर सात्यकिने बड़े वेगसे वहाँ पहुँचकर भीमसेन और धृष्टद्युम्नके पृष्ठपोषणका कार्य सँभाला॥

स कृत्वा दारुणं कर्म प्रगृहीतशरासनः।
आस्थितो रौद्रमात्मानं कलिङ्गानन्ववैक्षत॥ १०२॥

उन्होंने धनुष हाथमें लेकर भयंकर पराक्रम प्रकट करनेके पश्चात् अपने रौद्र रूपका आश्रय ले कलिंगसेनाकी ओर दृष्टिपात किया॥ १०२॥

कलिङ्गप्रभवां चैव मांसशोणितकर्दमाम्।
रुधिरस्यन्दिनीं तत्र भीमः प्रावर्तयन्नदीम्॥ १०३॥

भीमसेनने वहाँ एक भयंकर नदी प्रकट कर दी, जो कलिंग-सेनारूपी उद्गमस्थानसे निकली थी। उसमें मांस और शोणितकी ही कीच थी। वह नदी रक्तकी ही धारा बहा रही थी॥ १०३॥

अन्तरेण कलिङ्गानां पाण्डवानां च वाहिनीम्।
तां संततार दुस्तारां भीमसेनो महाबलः॥ १०४॥

कलिंग और पाण्डव-सेनाके बीचमें बहनेवाली उस रक्तकी दुस्तर नदीको महाबली भीमसेन अपने पराक्रमसे पार कर गये ॥ १०४ ॥

भीमसेनं तथा दृष्ट्वा प्राक्रोशंस्तावका नृप।
कालोऽयं भीमरूपेण कलिङ्गैः सह युध्यते ॥१०५॥

राजन् ! भीमसेनको उस रूपमें देखकर आपके सैनिक पुकार-पुकारकर कहने लगे, यह साक्षात् काल ही भीमसेनके रूपमें प्रकट होकर कलिंगोंके साथ युद्ध कर रहा है ॥१०५॥

ततः शान्तनवो भीष्मः श्रुत्वा तं निनदं रणे।
अभ्ययात् त्वरितो भीमं व्यूढानीकः समन्ततः ॥१०६॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म रणभूमिमें उस कोलाहलको सुनकर अपनी सेनाको सब ओरसे व्यूहबद्ध करके तुरंत ही भीमसेनके पास आये ॥ १०६ ॥

तं सात्यकिर्भीमसेनो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
अभ्यद्रवन्त भीष्मस्य रथं हेमपरिष्कृतम् ॥१०७॥

भीष्मके उस सुवर्णभूषित रथपर सात्यकि, भीमसेन तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने एक साथ ही धावा किया ॥१०७॥

परिवार्य तु ते सर्वे गाङ्गेयं तरसा रणे।
त्रिभिस्त्रिभिः शरैर्घोरैर्भीष्ममानर्च्छुरोजसा ॥१०८॥

उन सब लोगोंने रणक्षेत्रमें गङ्गानन्दन भीष्मको वेगपूर्वक घेरकर तीन-तीन भयंकर बाणोंद्वारा उन्हें यथाशक्ति पीड़ा पहुँचायी ॥ १०८ ॥

प्रत्यविध्यत तान् सर्वान् पिता देवव्रतस्तव।
यतमानान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ॥१०९॥

उस समय आपके पितृतुल्य भीष्मने वहाँ युद्धके लिये प्रयत्न करनेवाले उन सभी महाधनुर्धर योद्धाओंको सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया ॥ १०९ ॥

ततः शरसहस्रेण संनिवार्य महारथान्।
हयान् काञ्चनसंनाहान् भीमस्य न्यहनच्छरैः ॥११०॥

तदनन्तर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके उन तीनों महारथियोंको रोककर सोनेके साज-बाज धारण करनेवाले भीमसेनके घोड़ोंको भीष्मने अपने बाणोंसे मार डाला ॥ ११० ॥

हताश्वे स रथे तिष्ठन् भीमसेनः प्रतापवान्।
शक्तिं चिक्षेप तरसा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ॥१११॥

अश्वोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़े हुए प्रतापी भीमसेनने भीष्मजीके रथपर बड़े वेगसे शक्ति चलायी ॥१११॥

अप्राप्तामथ तां शक्तिं पिता देवव्रतस्तव।
त्रिधा चिच्छेद समरे सा पृथिव्यामशीर्यत ॥११२॥

वह शक्ति अभी पासतक पहुँची ही न थी कि आपके पितृतुल्य भीष्मने समरभूमिमें उसके तीन टुकड़े कर डाले और वह भूतलपर बिखर गयी ॥ ११२ ॥

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य बलवान् गदाम्।
भीमसेनस्ततस्तूर्णं पुप्लुवे मनुजर्षभ ॥११

नरश्रेष्ठ ! तब बलवान् भीमसेन पूर्णतः लोहेके (फौलाद) की बनी हुई भारी गदा हाथमें लेकर तुरंत रथसे कूद पड़े ॥ ११३ ॥

सात्यकोऽपि ततस्तूर्णं भीमस्य प्रियकाम्यया।
गाङ्गेयसारथिं तूर्णं पातयामास सायकैः ॥११

इधर सात्यकिने भी भीमसेनका प्रिय करनेकी इच्छा भीष्मके सारथिको तुरंत ही अपने सायकोंद्वारा मार गिरा

भीष्मस्तु निहते तस्मिन् सारथौ रथिनां वरः।
वातायमानैस्तैरश्वैरपनीतो रणाजिरात् ॥११

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म सारथिके मारे जानेपर हवाके भागनेवाले घोड़ोंके द्वारा रणभूमिसे बाहर कर दिये गये॥

भीमसेनस्ततो राजन्नपयाते महाव्रते।
प्रजज्वाल यथा वह्निर्दहन् कक्षमिवैधितः ॥११

राजन् ! महान् व्रतधारी भीष्मके रणभूमिसे हट जाने भीमसेन घास-फूसके ढेरमें लगी हुई आगके समान अपने तेज प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ११६ ॥

स हत्वा सर्वकालिङ्गान् सेनामध्ये व्यतिष्ठत।
नैनमभ्युत्सहन् केचित् तावका भरतर्षभ ॥११

भरतश्रेष्ठ ! भीमसेन सम्पूर्ण कलिंगोंका संहार करके सेनाके मध्यभागमें ही खड़े थे, परंतु आपके सैनिकोंमेंसे कोई भी उनके पास जानेका साहस न कर सके ॥ ११७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तमारोप्य स्वरथे रथिनां वरः।
पश्यतां सर्वसैन्यानामपोवाह यशस्विनम् ॥११

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्न यशस्वी भीमसेनको अपने रथपर चढ़ाकर सब सैनिकोंके देखते-देखते अपने दल ले गये ॥ ११८ ॥

सम्पूज्यमानः पाञ्चाल्यैर्मत्स्यैश्च भरतर्षभ।
धृष्टद्युम्नं परिष्वज्य समेयादथ सात्यकिम् ॥११

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ पाञ्चालों तथा मत्स्यदेशीय नरेशों पूजित हो भीमसेन धृष्टद्युम्न और सात्यकिको भुजाओंमें भरकर दोनोंसे प्रसन्नतापूर्वक मिले ॥ ११९ ॥

अथाब्रवीद् भीमसेनं सात्यकिः सत्यविक्रमः।
प्रहर्षयन् यदुव्याघ्रो धृष्टद्युम्नस्य पश्यतः ॥१२०॥

उस समय सत्यपराक्रमी यदुकुलसिंह सात्यकिने धृष्टद्युम्नके सामने ही भीमसेनका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे इस प्रकार कहा—॥

दिष्ट्या कलिङ्गराजश्च राजपुत्रश्च केतुमान्।
शक्रदेवश्च कालिङ्गः कलिङ्गाश्च मृधे हताः ॥१२१॥

'वीरवर ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि कलिंगराज भानुमान्, राजकुमार केतुमान्, कलिंगवीर शक्रदेव तथा अन्य

हुसंख्यक कलिंग-सैनिक आपके द्वारा युद्धमें मारे गये ॥

बाहुबलवीर्येण नागाश्वरथसंकुलः ।
पुरुषभूयिष्ठो धीरयोधनिषेवितः ॥१२२॥
व्यूहः कलिङ्गानामेकेन मृदितस्त्वया ।

'आपने अकेले अपनी ही भुजाओंके बल और पराक्रमसे ङ्गोंके उस महान् व्यूहको रौंदकर मिट्टीमें मिला दिया, जिसमें बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ भरे हुए थे । उसके अधिकांश सैनिक संसारके महान् पुरुषोंमें गिने जाने योग्य थे । अगणित धीर-वीर योद्धा उस महान् व्यूहका सेवन करते थे'॥

वमुक्त्वा शिनेर्नप्ता दीर्घबाहुररिंदम ॥१२३॥
रथाद् रथमभिद्रुत्य पर्यष्वजत पाण्डवम् ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश ! ऐसा कहकर बड़ी भुजाओंवाले सात्यकि अपने रथसे कूदकर भीमसेनके रथपर जा चढ़े और उनको हृदयसे लगा लिया ॥ १२३½ ॥

ततः स्वरथमास्थाय पुनरेव महारथः ।
तावकानवधीत् क्रुद्धो भीमस्य बलमादधत् ॥१२४॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए महारथी सात्यकिने पुनः अपने रथपर बैठकर भीमसेनका बल बढ़ाते हुए आपके सैनिकोंका संहार आरम्भ किया ॥ १२४ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वितीययुद्धदिवसे कलिङ्गराजवधे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वितीय दिनके युद्धमें कलिंगराजका वधविषयक
चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

* * *

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अभिमन्यु और अर्जुनका पराक्रम तथा दूसरे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

र्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत ।
गाश्वपत्तीनां सादिनां च महाक्षये ॥ १ ॥
पुत्रेण शल्येन कृपेण च महात्मना ।
सज्जत पाञ्चाल्यस्त्रिभिरेतैर्महारथैः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! उस दूसरे दिन जब का अधिक भाग व्यतीत हो गया और बहुसंख्यक रथ, घोड़े, पैदल और सवारोंका महान् संहार होने लगा, मय पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्न अकेला ही द्रोणपुत्र त्थामा, शल्य तथा महामनस्वी कृपाचार्य इन तीनों महायोंके साथ युद्ध करने लगा ॥ १-२ ॥

लोकविदितानश्वान् निजघान महाबलः ।
पाञ्चालदायादः शितैर्दशभिराशुगैः ॥ ३ ॥

बली पाञ्चाल-राजकुमारने दस शीघ्रगामी पैने बाण अश्वत्थामाके विश्वविख्यात घोड़ोंको मार डाला ॥

शल्यरथं तूर्णमास्थाय हतवाहनः ।
पाञ्चालदायादमभ्यवर्षदथेषुभिः ॥ ४ ॥

ोंके मारे जानेपर अश्वत्थामा तुरंत ही शल्यके चढ़ गया और वहींसे धृष्टद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा की ॥४॥

द्युम्नं तु संयुक्तं द्रौणिना वीक्ष्य भारत ।
द्रोऽभ्यपतत् तूर्णं विकिरन् निशिताञ्शरान् ॥५॥

नन्दन ! धृष्टद्युम्नको अश्वत्थामाके साथ भिड़ा हुआ देख सुभद्रानन्दन अभिमन्यु भी पैने बाण बिखेरता हुआ तुरंत वहाँ आ पहुँचा ॥ ५ ॥

स शल्यं पञ्चविंशत्या कृपं च नवभिः शरैः ।
अश्वत्थामानमष्टाभिर्विव्याध पुरुषर्षभः ॥ ६ ॥

उस पुरुषरत्न अभिमन्युने शल्यको पचीस, कृपाचार्यको नौ और अश्वत्थामाको आठ बाणोंसे बींध डाला ॥ ६ ॥

आर्जुनिं तु ततस्तूर्णं द्रौणिर्विव्याध पत्रिणा ।
शल्योऽथ दशभिश्चैव कृपश्च निशितैस्त्रिभिः ॥ ७ ॥

तब अश्वत्थामाने शीघ्र ही एक बाणसे अभिमन्युको घायल कर दिया । तत्पश्चात् शल्यने दस और कृपाचार्यने तीन पैने बाण उसे मारे ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तव पौत्रस्तु सौभद्रं समवस्थितम् ।
अभ्यवर्तत संहृष्टस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ८ ॥

तदनन्तर आपके पौत्र लक्ष्मणने सुभद्राकुमार अभिमन्युको सामने खड़ा देख हर्ष और उत्साहमें भरकर उसपर आक्रमण किया । फिर तो दोनोंमें युद्ध आरम्भ हो गया ॥

दौर्योधनिः सुसंक्रुद्धः सौभद्रं परवीरहा ।
विव्याध समरे राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ९ ॥

राजन् ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुर्योधनके पुत्र लक्ष्मणने अत्यन्त कुपित हो समरभूमिमें (अनेक बाणोंसे) अभिमन्युको बींध डाला । वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धो भ्रातरं भरतर्षभ ।
शरैः पञ्चाशता राजन् क्षिप्रहस्तोऽभ्यविध्यत ॥ १० ॥

महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! यह देख शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाला वीर अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो उठा और अपने भाई लक्ष्मणको उसने पचास बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १० ॥

लक्ष्मणोऽपि पुनस्तस्य धनुश्चिच्छेद पत्रिणा ।
मुष्टिदेशे महाराज ततस्ते चुक्रुशुर्जनाः ॥ ११ ॥

राजन् ! तब लक्ष्मणने भी पुनः एक बाण मारकर उसके धनुषको, जहाँ मुट्ठी रक्खी जाती है, वहींसे काट दिया । यह देख आपके सैनिक हर्षसे कोलाहल कर उठे ॥ ११ ॥

तद् विहाय धनुश्छिन्नं सौभद्रः परवीरहा ।
अन्यदादत्तवांश्चित्रं कार्मुकं वेगवत्तरम् ॥ १२ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा विचित्र धनुष हाथमें लिया, जो अत्यन्त वेगशाली था ॥ १२ ॥

तौ तत्र समरे युक्तौ कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
अन्योन्यं विशिखैस्तीक्ष्णैर्जघ्नतुः पुरुषर्षभौ ॥ १३ ॥

वे दोनों पुरुषरत्न वहाँ एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण अथवा प्रतीकार करनेकी इच्छा रखकर युद्धमें संलग्न थे और पैने बाणोंद्वारा एक-दूसरेको घायल कर रहे थे ॥

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा पुत्रं महारथम् ।
पीडितं तव पौत्रेण प्रायात् तत्र प्रजेश्वरः ॥ १४ ॥

तब प्रजाजनोंका स्वामी राजा दुर्योधन अपने महारथी पुत्रको आपके पौत्र अभिमन्युसे पीड़ित देख वहाँ स्वयं जा पहुँचा ॥ १४ ॥

संनिवृत्ते तव सुते सर्व एव जनाधिपाः ।
आर्जुनिं रथवंशेन समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १५ ॥

आपके पुत्र दुर्योधनके उधर लौटनेपर कौरव-पक्षके सभी नरेशोंने विशाल रथसेनाके द्वारा अर्जुनकुमार अभिमन्युको सब ओरसे घेर लिया ॥ १५ ॥

स तैः परिवृतः शूरैः शूरो युधि सुदुर्जयैः ।
न स्म प्रव्यथते राजन् कृष्णतुल्यपराक्रमः ॥ १६ ॥

राजन् ! अभिमन्युका पराक्रम भगवान् श्रीकृष्णके समान था । वह युद्धमें अत्यन्त दुर्जय उन शूरवीरोंसे घिर जानेपर भी व्यथित या चिन्तित नहीं हुआ ॥ १६ ॥

सौभद्रमथ संसक्तं दृष्ट्वा तत्र धनंजयः ।
अभिदुद्राव वेगेन त्रातुकामः स्वमात्मजम् ॥ १७ ॥

इसी समय अर्जुन सुभद्राकुमारको वहाँ युद्धमें संलग्न देख अपने पुत्रकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़े आये ॥१७॥

ततः सरथनागाश्वा भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
अभ्यवर्तन्त राजानः सहिताः सव्यसाचिनम् ॥ १८ ॥

यह देख भीष्म और द्रोण आदि सभी कौरव-नरेश रथ, हाथी और घोड़ोंकी सेनासहित एक साथ
पर चढ़ आये ॥ १८ ॥

उद्धूतं सहसा भौमं नागाश्वरथपत्तिभिः ।
दिवाकररथं प्राप्य रजस्तीव्रमदृश्यत ॥

उस समय हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकों
उड़ायी हुई धरतीकी तीव्र धूल सहसा सूर्यके रथतक पहुँ
सब ओर व्याप्त दिखायी देने लगी ॥ १९ ॥

तानि नागसहस्राणि भूमिपालशतानि च ।
तस्य बाणपथं प्राप्य नाभ्यवर्तन्त सर्वशः ॥
प्रणेदुः सर्वभूतानि बभूवुस्तिमिरा दिशः ।

इधर सहस्रों हाथी और सैकड़ों भूमिपाल अर्जुनके
के पथमें आकर किसी प्रकार आगे न बढ़ सके ।
प्राणी आर्तनाद करने लगे और सम्पूर्ण दिशाओंमें
छा गया ॥ २०½ ॥

कुरूणां चानयस्तीव्रः समदृश्यत दारुणः ॥
नाप्यन्तरिक्षं न दिशो न भूमिर्न च भास्करः ।
प्रजज्ञे भरतश्रेष्ठ शस्त्रसङ्घैः किरीटिनः ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय कौरवोंको अपने दुःख
भयंकर अन्यायका परिणाम प्रत्यक्ष दिखायी दे
किरीटधारी अर्जुनके शस्त्रसमूहोंसे सब कुछ आच्छा
जानेके कारण आकाश, दिशा, पृथ्वी और सूर्य कि
भान नहीं होता था ॥ २१-२२ ॥

सादिता रथनागाश्च हताश्वा रथिनो रणे ।
विप्रद्रुतरथाः केचिद् दृश्यन्ते रथयूथपाः ॥

उस रणभूमिमें कितने ही रथ टूट गये, बहुतेरे
नष्ट हो गये, कितने ही रथियोंके घोड़े मार डाले ग
कितने ही रथ-यूथपतियोंके रथ भागते दिखायी दिये

विरथा रथिनश्चान्ये धावमानाः समन्ततः ।
तत्र तत्रैव दृश्यन्ते सायुधाः साङ्गदैर्भुजैः ॥

अन्यान्य बहुत-से रथी रथहीन होकर अङ्गद
भुजाओंमें आयुध धारण किये जहाँ-तहाँ चारों ओर
देखे जाते थे ॥ २४ ॥

हयारोहा हयांस्त्यक्त्वा गजारोहाश्च दन्तिनः ।
अर्जुनस्य भयाद् राजन् समन्ताद् विप्रदुद्रुवुः ॥

महाराज ! अर्जुनके भयसे घुड़सवार घोड़ोंको
हाथीसवार हाथियोंको छोड़कर सब ओर भाग चले ।

रथेभ्यश्च गजेभ्यश्च हयेभ्यश्च नराधिपाः ।
पतिताः पात्यमानाश्च दृश्यन्तेऽर्जुनसायकैः ॥

वहाँ बहुत-से नरेश अर्जुनके सायकोंसे कट
हाथियों और घोड़ोंसे गिरे और गिराये जाते हुए
हो रहे थे ॥ २६ ॥

सगदानुद्यतान् बाहून् सखड्गांश्च विशाम्पते।
सप्रासांश्च सतूणीरान् सशरान् सशरासनान् ॥२७॥
साङ्कुशान् सपताकांश्च तत्र तत्रार्जुनो नृणाम्।
विचकर्त शरैरुग्रै रौद्रं वपुरधारयत् ॥ २८ ॥

प्रजानाथ ! अर्जुनने उस रणक्षेत्रमें अत्यन्त भयंकर रूप धारण किया था। उन्होंने अपने उग्र बाणोंद्वारा योद्धाओंकी ऊपर उठी हुई भुजाओंको, जिनमें गदा, खड्ग, प्रास, तूणीर, धनुष-बाण, अङ्कुश और ध्वजा-पताका आदि शोभा पा रहे थे, काट गिराया ॥ २७-२८ ॥

परिघाणां प्रदीप्तानां मुद्गराणां च मारिष।
प्रासानां भिन्दिपालानां निस्त्रिंशानां च संयुगे ॥ २९ ॥
परश्वधानां तीक्ष्णानां तोमराणां च भारत।
वर्मणां चापविद्धानां काञ्चनानां च भूमिप ॥ ३० ॥
ध्वजानां चर्मणां चैव व्यजनानां च सर्वशः।
छत्राणां हेमदण्डानां तोमराणां च भारत ॥ ३१ ॥
प्रतोदानां च योक्त्राणां कशानां चैव मारिष।
राशयः स्मात्र दृश्यन्ते विनिकीर्णा रणक्षितौ ॥ ३२ ॥

आर्य ! भरतनन्दन ! भूपाल ! उस रणभूमिमें गिरे हुए उद्दीप्त परिघ, मुद्गर, प्रास, भिन्दिपाल, खड्ग, फरसे, तीखे तोमर, सुवर्णमय कवच, ध्वज, ढाल, सोनेके डंडोंसे विभूषित छत्र, व्यजन, चाबुक, जोते, कोड़े और अंकुश ढेर-के-ढेर बिखरे दिखायी देते थे ॥ २९—३२ ॥

नासीत् तत्र पुमान् कश्चित् तव सैन्यस्य भारत।
योऽर्जुनं समरे शूरं प्रत्युद्यायात् कथंचन ॥ ३३ ॥

भारत ! उस समय आपकी सेनामें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था, जो समरमें शूरवीर अर्जुनका सामना करनेके लिये किसी प्रकार आगे बढ़ सके ॥ ३३ ॥

यो यो हि समरे पार्थं प्रत्युद्याति विशाम्पते।
स स संख्ये विशिखैस्तीक्ष्णैः परलोकाय नीयते ॥ ३४ ॥

प्रजानाथ ! उस युद्धभूमिमें जो-जो वीर अर्जुनकी ओर बढ़ता था, वही-वही उनके पैने बाणोंद्वारा परलोक पहुँचा दिया जाता था ॥ ३४ ॥

ततो विद्रवमाणेषु तव योधेषु सर्वशः।
अर्जुनो वासुदेवश्च दध्मतुर्वारिजोत्तमौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर आपके सब योद्धा सब ओर भागने लगे। यह देख अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रेष्ठ शङ्ख बजाये॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पिता देवव्रतस्तव।
अब्रवीत् समरे शूरं भारद्वाजं स्मयन्निव ॥ ३६ ॥

कौरव-सेनाको इस प्रकार भागती देख समरभूमिमें खड़े हुए आपके ताऊ भीष्मने वीरवर आचार्य द्रोणसे मुसकराते हुए-से कहा—॥ ३६ ॥

एष पाण्डुसुतो वीरः कृष्णेन सहितो बली।
तथा करोति सैन्यानि यथा कुर्याद् धनंजयः ॥ ३७ ॥

'यह श्रीकृष्णसहित बलवान् वीर पाण्डुकुमार अर्जुन कौरव-सेनाकी वही दशा कर रहा है, जैसी उसे करनी चाहिये॥

न ह्येष समरे शक्यो विजेतुं हि कथंचन।
यथास्य दृश्यते रूपं कालान्तकयमोपमम् ॥ ३८ ॥

'यह किसी प्रकार भी समरभूमिमें जीता नहीं जा सकता; क्योंकि इसका रूप इस समय प्रलयकालके यमराज-सा दिखायी दे रहा है ॥ ३८ ॥

न निवर्तयितुं चापि शक्येयं महती चमूः।
अन्योन्यप्रेक्षया पश्य द्रवतीयं वरूथिनी ॥ ३९ ॥

'यह विशाल सेना इस समय पीछे नहीं लौटायी जा सकती। देखिये, सारे सैनिक एक-दूसरेकी देखा-देखी भागे जा रहे हैं ॥ ३९ ॥

एष चास्तं गिरिश्रेष्ठं भानुमान् प्रतिपद्यते।
चक्षूंषि सर्वलोकस्य संहरन्निव सर्वथा ॥ ४० ॥

'इधर ये भगवान् सूर्य सम्पूर्ण जगत्के नेत्रोंकी ज्योति सर्वथा समेटते हुए-से गिरिश्रेष्ठ अस्ताचलको जा पहुँचे हैं ॥

तत्रावहारं सम्प्राप्तं मन्येऽहं पुरुषर्षभ।
श्रान्ता भीताश्च नो योधा न योत्स्यन्ति कथंचन ॥४१॥

'अतः नरश्रेष्ठ ! मैं इस समय समस्त सैनिकोंको युद्धसे हटा लेना ही उचित समझता हूँ। हमारे सभी योद्धा थके-माँदे और डरे हुए हैं; अतः इस समय किसी तरह युद्ध नहीं कर सकेंगे' ॥ ४१ ॥

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो द्रोणमाचार्यसत्तमम्।
अवहारमथो चक्रे तावकानां महारथः ॥ ४२ ॥

आचार्यप्रवर द्रोणसे ऐसा कहकर महारथी भीष्मने आपके समस्त सैनिकोंको युद्धभूमिसे लौटा लिया ॥ ४२ ॥

(ततः सरथनागाश्वा जयं प्राप्य ससोमकाः।
पञ्चालाः पाण्डवाश्चैव प्रणेदुश्च पुनः पुनः ॥
प्रययुः शिबिरायैव धनंजयपुरस्कृताः।
वादित्रघोषैः संहृष्टाः प्रनृत्यन्तो महारथाः ॥)

तदनन्तर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित सोमक, पाञ्चाल तथा पाण्डव वीर विजय पाकर बारंबार सिंहनाद करने लगे। वे सभी महारथी विजयसूचक वाद्योंकी ध्वनिके साथ अत्यन्त हर्षमें भरकर नाचने लगे और अर्जुनको आगे करके शिबिरकी ओर चल दिये ॥

ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत ।
अस्तं गच्छति सूर्येऽभूत् संध्याकाले च वर्तति ॥ ४३ ॥

भारत ! इस प्रकार सूर्यके अस्ताचलको चले पर संध्याके समय आपकी और पाण्डवोंकी से लौट आयीं ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वितीययुद्धदिवसावहारे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वितीय युद्धदिवसमें सेनाको लौटानेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४५ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तीसरे दिन—कौरव-पाण्डवोंकी व्यूह-रचना तथा युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

प्रभातायां च शर्वर्यां भीष्मः शान्तनवस्तदा ।
अनीकान्यनुसंयाने व्यादिदेशाथ भारत ॥ १ ॥

संजयने कहा—भारत ! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी सेनाओंको युद्धभूमिमें चलनेका आदेश दिया ॥ १ ॥

गारुडं च महाव्यूहं चक्रे शान्तनवस्तदा ।
पुत्राणां ते जयाकाङ्क्षी भीष्मः कुरुपितामहः ॥ २ ॥

उस समय कुरुकुलके पितामह शान्तनुकुमार भीष्मने आपके पुत्रोंको विजय दिलानेकी इच्छासे महान् गरुड़व्यूहकी रचना की ॥ २ ॥

गरुडस्य स्वयं तुण्डे पिता देवव्रतस्तव ।
चक्षुषी च भरद्वाजः कृतवर्मा च सात्वतः ॥ ३ ॥

स्वयं आपके ताऊ भीष्म उस व्यूहके अग्रभागमें चोंचके स्थानपर खड़े हुए । आचार्य द्रोण और यदुवंशी कृतवर्मा दोनों नेत्रोंके स्थानपर स्थित हुए ॥ ३ ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव शीर्षमास्तां यशस्विनौ ।
त्रैगर्तैरथ कैकेयैर्वाटधानैश्च संयुगे ॥ ४ ॥

यशस्वी वीर अश्वत्थामा और कृपाचार्य शिरोभागमें खड़े हुए । इनके साथ त्रिगर्त, केकय और वाटधान भी युद्धभूमिमें उपस्थित थे ॥ ४ ॥

भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तश्च मारिष ।
मद्रकाः सिन्धुसौवीरास्तथा पाञ्चनदाश्च ये ॥ ५ ॥
जयद्रथेन सहिता ग्रीवायां संनिवेशिताः ।

आर्य ! भूरिश्रवा, शल, शल्य और भगदत्त—ये जयद्रथके साथ ग्रीवाभागमें खड़े किये गये । इन्हींके साथ मद्र, सिंधु, सौवीर तथा पञ्चनद देशके योद्धा भी थे ॥ ५½ ॥

पृष्ठे दुर्योधनो राजा सोदर्यैः सानुगैर्वृतः ॥ ६ ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजाश्च शकैः सह ।
पुच्छमासन् महाराज शूरसेनाश्च सर्वशः ॥ ७ ॥

अपने सहोदर भाइयों और अनुचरोंके साथ रा दुर्योधन पृष्ठभागमें स्थित हुआ । महाराज ! अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा कम्बोज, शक शूरसेनदेशके योद्धा उस महाव्यूहके पुच्छ भा खड़े हुए ॥ ६-७ ॥

मागधाश्च कलिङ्गाश्च दासेरकगणैः सह ।
दक्षिणं पक्षमासाद्य स्थिता व्यूहस्य दंशिताः ॥ ८ ॥

मगध और कलिङ्गदेशके योद्धा दासेरकगणोंके सा कवच धारण करके व्यूहके दायें पंखके स्थानमें स्थित हुए ॥

कारूषाश्च विकुञ्जाश्च मुण्डाः कुण्डीवृषास्तथा ।
बृहद्बलेन सहिता वामं पार्श्वमवस्थिताः ॥ ९ ॥

कारूष, विकुञ्ज, मुण्ड और कुण्डीवृष आदि दे राजा बृहद्बलके साथ बायें पंखके स्थानमें खड़े हुए ॥ ९ ॥

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं सव्यसाची परंतपः ।
धृष्टद्युम्नेन सहितः प्रत्यव्यूहत संयुगे ॥ १० ॥
अर्धचन्द्रेण व्यूहेन व्यूहं तमतिदारुणम् ।
दक्षिणं शृङ्गमास्थाय भीमसेनो व्यरोचत ॥ ११ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने कौर सेनाकी वह व्यूहरचना देखकर युद्धभूमिमें उसका साम करनेके लिये धृष्टद्युम्नको साथ लेकर अपनी सेनाका अत्य भयंकर अर्धचन्द्राकार व्यूह बनाया । उसके दक्षिण शिख पर भीमसेन सुशोभित हुए ॥ १०-११ ॥

नानाशस्त्रौघसम्पन्नैर्नानादेश्यैर्नृपैर्वृतः ।
तदन्वेव विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ १२ ॥

उनके साथ नाना प्रकारके शस्त्रसमुदायोंसे सम्प विभिन्न देशोंके नरेश भी थे । भीमसेनके पीछे ही रा विराट और महारथी द्रुपद खड़े हुए ॥ १२ ॥

तदनन्तरमेवासीन्नीलो नीलायुधैः सह ।
नीलादनन्तरश्चैव धृष्टकेतुर्महाबलः ॥ १३ ॥

उनके बाद नील आयुधधारी सैनिकोंके साथ राजा और नीलके बाद महाबली धृष्टकेतु खड़े हुए ॥१३॥

चेदिकाशिकरूषैश्च पौरवैरपि संवृतः।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ॥ १४ ॥
मध्ये सैन्यस्य महतः स्थिता युद्धाय भारत।
तथैव धर्मराजोऽपि गजानीकेन संवृतः ॥ १५ ॥

भारत! धृष्टकेतुके साथ चेदि, काशी, करूष और पौरव आदि देशोंके सैनिक भी थे। धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा पाञ्चाल और प्रभद्रकगण उस विशाल सेनाके मध्यभागमें युद्धके लिये खड़े हुए। हाथियोंकी सेनासे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिर भी वहीं थे ॥ १४-१५ ॥

ततस्तु सात्यकी राजन् द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः।
अभिमन्युस्ततः शूर इरावांश्च ततः परम् ॥ १६ ॥

राजन्! तदनन्तर सात्यकि और द्रौपदीके पाँचों पुत्र खड़े हुए। इनके बाद शूरवीर अभिमन्यु और अभिमन्युके बाद इरावान् थे ॥ १६ ॥

भैमसेनिस्ततो राजन् केकयाश्च महारथाः।
ततोऽभूद् द्विपदां श्रेष्ठो वामं पार्श्वमुपाश्रितः ॥ १७ ॥
सर्वस्य जगतो गोप्ता गोप्ता यस्य जनार्दनः।

नरेश्वर! इरावान्के बाद भीमसेन-पुत्र घटोत्कच तथा महारथी केकय खड़े हुए। तत्पश्चात् मनुष्योंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस व्यूहके बायें पार्श्व या शिखरके स्थानमें खड़े हुए, जिनके रक्षक सम्पूर्ण जगत्का पालन करनेवाले साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं ॥ १७½ ॥

एवमेतं महाव्यूहं प्रत्यव्यूहन्त पाण्डवाः ॥ १८ ॥
वधार्थं तव पुत्राणां तत्पक्षं ये च सङ्गताः।

इस प्रकार पाण्डवोंने आपके पुत्रों तथा उनके पक्षमें आये हुए अन्यान्य भूपालोंके वधके लिये इस महाव्यूहकी रचना की ॥ १८½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ॥ १९ ॥
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम्।

तदनन्तर एक दूसरेपर प्रहार करते हुए आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंका घोर युद्ध आरम्भ हो गया, जिसमें रथसे रथ और हाथीसे हाथी भिड़ गये थे ॥ १९½ ॥

हयौघाश्च रथौघाश्च तत्र तत्र विशाम्पते ॥ २० ॥
सम्पतन्तो व्यदृश्यन्त निघ्नन्तस्ते परस्परम्।

प्रजानाथ! जहाँ-तहाँ सब ओर घोड़ों और रथोंके समुदाय एक दूसरेपर टूटते और प्रहार करते दिखायी दे रहे थे ॥ २०½ ॥

धावतां च रथौघानां निघ्नतां च पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
बभूव तुमुलः शब्दो विमिश्रो दुन्दुभिस्वनैः।
दिवस्पृङ् नरवीराणां निघ्नतामितरेतरम्।
सम्प्रहारे सुतुमुले तव तेषां च भारत ॥ २२ ॥

भारत! दौड़ते तथा पृथक्-पृथक् प्रहार करते हुए रथसमूहोंका शब्द दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे मिलकर और भी भयंकर हो गया। आपके और पाण्डवोंके घमासान युद्धमें परस्पर आघात-प्रत्याघात करनेवाले नरवीरोंका भयानक शब्द आकाशमें व्याप्त हो रहा था ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे परस्परव्यूहरचनायां षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तीसरे दिनके युद्धमें परस्पर व्यूहरचनाविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध

संजय उवाच

ततो व्यूढेष्वनीकेषु तावकेषु परेषु च।
धनंजयो रथानीकमवधीत् तव भारत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भारत! आपकी और पाण्डवोंकी सेनाओंकी व्यूहरचना सम्पन्न हो जानेपर अर्जुनने आपके रथियोंकी सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ १ ॥

सोऽतिरथो युद्धे दारयन् रथयूथपान्।
ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ॥ २ ॥
धार्तराष्ट्रा रणे यत्नात् पाण्डवान् प्रत्ययोधयन्।

वे अतिरथी वीर थे। उन्होंने अपने बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें रथयूथपतियोंको विदीर्ण करके यमलोक भेज दिया। युगान्तमें कालके समान उस युद्धमें कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा आपके सैनिकोंका भयंकर विनाश हो रहा था, तो भी वे यत्नपूर्वक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते रहे ॥ २½ ॥

प्रार्थयाना यशो दीप्तं मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ३ ॥
एकाग्रमनसो भूत्वा पाण्डवानां वरूथिनीम्।
बभञ्जुर्बहुशो राजंस्ते चासज्जन्त संयुगे ॥ ४ ॥

वे उज्ज्वल यश प्राप्त करना चाहते थे। अतः यह

निश्चय करके कि अब मृत्यु ही हमें युद्धसे निवृत्त कर सकती है, एकाग्रचित्त होकर युद्धमें डटे रहे। राजन्! उन्होंने युद्धमें ऐसी तत्परता दिखायी कि बार-बार पाण्डव-सेनाको तितर-बितर कर दिया ॥ ३-४ ॥

द्रवद्भिरथ भग्नैश्च परिवर्तद्भिरेव च।
पाण्डवैः कौरवेयैश्च न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५ ॥

तदनन्तर क्षत-विक्षत होकर भागते और पुनः लौटकर सामना करते हुए पाण्डवों तथा कौरवोंके सैनिकोंको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ ५ ॥

उदतिष्ठद् रजो भौमं छादयानं दिवाकरम्।
न दिशः प्रदिशो वापि तत्र हन्युः कथं नराः ॥ ६ ॥

भूतलसे इतनी धूल उड़ी कि सूर्यदेव आच्छादित हो गये। दिशा और प्रदिशाका कुछ भी पता नहीं चलता था। वैसी दशामें वहाँ युद्ध करनेवाले लोग कैसे किसीपर प्रहार करें ॥ ६ ॥

अनुमानेन संज्ञाभिर्नामगोत्रैश्च संयुगे।
वर्तते च तथा युद्धं तत्र तत्र विशाम्पते ॥ ७ ॥

प्रजानाथ! उस रणक्षेत्रमें अनुमानसे, संकेतोंसे तथा नाम और गोत्रोंके उच्चारणसे अपने या पराये पक्षका निश्चय करके जहाँ-तहाँ युद्ध हो रहा था ॥ ७ ॥

न व्यूहो भिद्यते तत्र कौरवाणां कथंचन।
रक्षितः सत्यसंधेन भारद्वाजेन संयुगे ॥ ८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण कौरवसेनाका व्यूह किसी प्रकार भंग न हो सका ॥ ८ ॥

तथैव पाण्डवानां च रक्षितः सव्यसाचिना।
नाभिद्यत महाव्यूहो भीमेन च सुरक्षितः ॥ ९ ॥

इसी तरह सव्यसाची अर्जुन और भीमसे सुरक्षित पाण्डवोंके महाव्यूहका भी भेदन न हो सका ॥ ९ ॥

सेनाग्रादपि निष्पत्य प्रायुध्यंस्तत्र मानवाः।
उभयोः सेनयो राजन् व्यतिषक्तरथद्विपाः ॥ १० ॥

वहाँ सेनाके अग्रभागसे भी निकलकर (व्यूह छोड़कर) वीर सैनिक युद्ध करते थे। राजन्! दोनों सेनाओंके रथ और हाथी परस्पर भिड़ गये ॥ १० ॥

हयारोहैर्हयारोहाः पात्यन्ते स्म महाहवे।
ऋष्टिभिर्विमलाभिश्च प्रासैरपि च संयुगे ॥ ११ ॥

उस महासमरमें घुड़सवार घुड़सवारोंको चमकीली ऋष्टियों और प्रासोंद्वारा मार गिराते थे ॥ ११ ॥

रथी रथिनमासाद्य शरैः कनकभूषणैः।
पातयामास समरे तस्मिन्नतिभयङ्करे ॥ १२ ॥

वह संग्राम अत्यन्त भयानक हो रहा था। उसमें रथियोंके सामने जाकर उन्हें स्वर्णभूषित बाणोंसे गिराते थे ॥ १२ ॥

गजारोहा गजारोहान् नाराचशरतोमरैः।
संसक्तान् पातयामासुस्तव तेषां च सर्वशः ॥ १३ ॥

आपके और पाण्डव-पक्षके हाथीसवार अपनेसे भिड़े हुए विपक्षी हाथीसवारोंको सब ओरसे नाराच, बाण और तोमरोंकी मारसे धराशायी कर देते थे ॥ १३ ॥

कश्चिदुत्पत्य समरे वरवारणमास्थितः।
केशपक्षे परामृश्य जहार समरे शिरः ॥ १४ ॥

कोई योद्धा रणक्षेत्रमें उछलकर बड़े-बड़े हाथियों चढ़ जाता और विपक्षी योद्धाके केशोंको पकड़कर उस सिर काट लेता था ॥ १४ ॥

अन्ये द्विरददन्ताग्रनिर्भिन्नहृदया रणे।
वेमुश्च रुधिरं वीरा निःश्वसन्तः समन्ततः ॥ १५ ॥

बहुत-से वीर युद्धस्थलमें हाथियोंके दाँतोंके अग्रभागसे अपना हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण सब ओर लंबी सां खींचते हुए मुखसे रक्त वमन कर रहे थे ॥ १५ ॥

कश्चित् करिविषाणस्थो वीरो रणविशारदः।
प्रावेपच्छक्तिनिर्भिन्नो गजशिक्षास्त्रवेदिना ॥ १६ ॥

कोई रणविशारद वीर हाथीके दाँतोंपर खड़ा होकर यु कर रहा था। इतनेहीमें गजशिक्षा और अस्त्रविद्याके ज्ञाता कि विपक्षी योद्धाने उसके ऊपर शक्ति चला दी। उस शक्तिके आघातसे वक्षःस्थल विदीर्ण हो जानेके कारण वह मरणोन्मुख वीर वहीं काँपने लगा ॥ १६ ॥

पत्तिसङ्घा रणे पत्तीन् भिन्दिपालपरश्वधैः।
न्यपातयन्त संहृष्टाः परस्परकृतागसः ॥ १७ ॥

हर्ष और उल्लासमें भरकर एक दूसरेका अपराध करनेवाले पैदलसमूह विपक्षके पैदल सैनिकोंको भिन्दिपाल और फरसोंसे मार-मारकर रणभूमिमें गिरा रहे थे ॥ १७ ॥

रथी च समरे राजन्नासाद्य गजयूथपम्।
सगजं पातयामास गजी च रथिनां वरम् ॥ १८ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें कोई रथी किसी गजयूथपतिसे भिड़ जाता और सवार तथा हाथी दोनोंको मार गिराता था। उसी प्रकार गजारोही भी रथियोंमें श्रेष्ठ वीरका व कर देता था ॥ १८ ॥

रथिनं च हयारोहः प्रासेन भरतर्षभ।
पातयामास समरे रथी च हयसादिनम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस संग्राममें घुड़सवार रथीको तथा रथी घुड़सवारको प्रासद्वारा मारकर धराशायी कर देता था ॥

पदाती रथिनं संख्ये रथी चापि पदातिनम् ।
न्यपातयच्छितैः शस्त्रैः सेनयोरुभयोरपि ॥ २० ॥

दोनों ही सेनाओंमें पैदल वीर रथीको और रथी योद्धा पैदल सैनिकको अपने तीखे अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा रणभूमिमें मार गिराता था ॥ २० ॥

गजारोहा हयारोहान् पातयाञ्चक्रिरे तदा ।
अश्वारोहा गजस्थांश्च तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २१ ॥

हाथीसवार घुड़सवारोंको और घुड़सवार हाथीसवारोंको युद्धस्थलमें गिरा देते थे । ये घटनाएँ आश्चर्यजनक-सी प्रतीत होती थीं ॥ २१ ॥

गजारोहवरैश्चापि तत्र तत्र पदातयः ।
पातिताः समदृश्यन्त तैश्चापि गजयोधिनः ॥ २२ ॥

उस रणक्षेत्रमें जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ गजारोहियोंद्वारा गिराये हुए पैदल और पैदलोंद्वारा गिराये हुए हाथीसवार दृष्टिगोचर होते थे ॥ २२ ॥

पत्तिसङ्घा हयारोहैः सादिसङ्घाश्च पत्तिभिः ।
पात्यमाना व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २३ ॥

घुड़सवारोंद्वारा पैदलोंके समूह और पैदलोंद्वारा घुड़सवारोंके समूह सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें गिराये जाते हुए दिखायी देते थे ॥ २३ ॥

ध्वजैस्तत्रापविद्धैश्च कार्मुकैस्तोमरैस्तथा ।
प्रासैस्तथा गदाभिश्च परिघैः कम्पनैस्तथा ॥ २४ ॥
शक्तिभिः कवचैश्चित्रैः कणपैरङ्कुशैरपि ।
निस्त्रिंशैर्विमलैश्चापि स्वर्णपुङ्खैः शरैस्तथा ॥ २५ ॥
परिस्तोमैः कुथाभिश्च कम्बलैश्च महाधनैः ।
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ स्रग्दामैरिव चित्रिता ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ! वहाँ इधर-उधर गिरे हुए ध्वज, धनुष, तोमर, प्रास, गदा, परिघ, कम्पन, शक्ति, विचित्र कवच, कणप, अंकुश, चमचमाते हुए खड्ग, सुवर्णमय पाँखवाले बाण, झूलें, गद्दी और बहुमूल्य कम्बलोंद्वारा आच्छादित हुई वहाँकी भूमि भाँति-भाँतिके पुष्पहारोंसे चित्रित हुई-सी जान पड़ती थी ॥ २४—२६ ॥

नराश्वकायैः पतितैर्दन्तिभिश्च महाहवे ।
अगम्यरूपा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ॥ २७ ॥

उस महासमरमें मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी लाशें पड़ी हुई थीं । मांस और रक्तकी कीचड़ जम गयी थी । वहाँकी भूमिमें जाना असम्भव हो गया था ॥ २७ ॥

प्रशशाम रजो भौमं व्युक्षितं रणशोणितैः ।
दिशश्च विमलाः सर्वाः सम्बभूवुर्जनेश्वर ॥ २८ ॥

जनेश्वर! रणभूमिमें बहे हुए रक्तसे सिंचकर धरतीकी धूल बैठ गयी और सारी दिशाएँ साफ हो गयीं ॥ २८ ॥

उत्थितान्यगणेयानि कबन्धानि समन्ततः ।
चिह्नभूतानि जगतो विनाशार्थाय भारत ॥ २९ ॥

भारत! उस समय जगत्‌के विनाशको सूचित करनेवाले असंख्य कबन्ध चारों ओर उठने लगे ॥ २९ ॥

तस्मिन् युद्धे महारौद्रे वर्तमाने सुदारुणे ।
प्रत्यदृश्यन्त रथिनो धावमानाः समन्ततः ॥ ३० ॥

उस अत्यन्त दारुण और महाभयंकर युद्धमें रथी योद्धा चारों ओर दौड़ते दिखायी देते थे ॥ ३० ॥

ततो भीष्मश्च द्रोणश्च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
पुरुमित्रो जयो भोजः शल्यश्चापि ससौबलः ॥ ३१ ॥
एते समरदुर्धर्षाः सिंहतुल्यपराक्रमाः ।
पाण्डवानामनीकानि बभञ्जुः स्म पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर भीष्म, द्रोण, सिन्धुराज जयद्रथ, पुरुमित्र, जय, भोज, शल्य और शकुनि—ये सिंहतुल्य पराक्रमी रणदुर्जय वीर पाण्डवोंकी सेनाको बार-बार भंग करने लगे ३१-३२

तथैव भीमसेनोऽपि राक्षसश्च घटोत्कचः ।
सात्यकिश्चेकितानश्च द्रौपदेयाश्च भारत ॥ ३३ ॥
तावकांस्तव पुत्रांश्च सहितान् सर्वराजभिः ।
द्रावयामासुराजौ ते त्रिदशा दानवानिव ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन! इसी प्रकार भीमसेन, राक्षस घटोत्कच, सात्यकि, चेकितान तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सब मिलकर जैसे देवता दानवोंको खदेड़ते हैं, उसी प्रकार समस्त राजाओंसहित आपके पुत्रों और सैनिकोंको रणभूमिमें भगाने लगे ॥ ३३-३४ ॥

तथा ते समरेऽन्योन्यं निघ्नन्तः क्षत्रियर्षभाः ।
रक्तोक्षिता घोररूपा विरेजुर्दानवा इव ॥ ३५ ॥

संग्रामभूमिमें एक दूसरेको मारते हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय वीर रक्तरंजित हो भयानक रूपधारी दानवोंके समान सुशोभित होने लगे ॥ ३५ ॥

विनिर्जित्य रिपून् वीराः सेनयोरुभयोरपि ।
व्यदृश्यन्त महामात्रा ग्रहा इव नभस्तले ॥ ३६ ॥

दोनों सेनाओंके वीर शत्रुओंको जीतकर आकाशमें फैले हुए विशाल ग्रहोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३६ ॥

ततो रथसहस्रेण पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अभ्ययात् पाण्डवं युद्धे राक्षसं च घटोत्कचम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन सहस्रों रथियोंके साथ पाण्डववंशी राक्षस घटोत्कचके साथ युद्ध करनेके लिये वहाँ आया ॥ ३७ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे महत्या सेनया सह।
द्रोणभीष्मौ रणे यत्तौ प्रत्युद्ययुररिंदमौ ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार विशाल सेनाके साथ समस्त पाण्डव भी युद्धके लिये तैयार खड़े हुए शत्रुदमन द्रोणाचार्य और भीष्मसे भिड़नेके लिये आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

किरीटी च ययौ क्रुद्धः समन्तात् पार्थिवोत्तमान्।
आर्जुनिः सात्यकिश्चैव ययतुः सौबलं बलम् ॥ ३९ ॥

क्रोधमें भरे हुए किरीटधारी अर्जुन सब ओर खड़े हु श्रेष्ठ राजाओंका सामना करनेके लिये चले। अभिमन्यु औ सात्यकिने शकुनिकी सेनापर आक्रमण किया ॥ ३९ ॥

ततः प्रववृते भूयः संग्रामो लोमहर्षणः।
तावकानां परेषां च समरे विजयैषिणाम् ॥ ४०॥

इस प्रकार युद्धमें विजय चाहनेवाले आपके औ पाण्डवोंके सैनिकोंमें पुनः रोमाञ्चकारी संग्राम छिड़ गया ॥४०॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे संकुलयुद्धे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें युद्धसम्बन्धी तीसरे दिनका घमासान युद्धविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पाण्डव-वीरोंका पराक्रम, कौरव-सेनामें भगदड़ तथा दुर्योधन और भीष्मका संवाद

संजय उवाच

ततस्ते पार्थिवाः क्रुद्धाः फाल्गुनं वीक्ष्य संयुगे।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजयने कहा—राजन्! तदनन्तर वे समस्त भूपाल समरभूमिमें अर्जुनको देखते ही कुपित हो उठे और उन्होंने अनेक सहस्र रथियोंके साथ उन्हें सब ओरसे घेर लिया ॥ १ ॥

अथैनं रथवृन्देन कोष्ठकीकृत्य भारत।
शरैः सुबहुसाहस्रैः समन्तादभ्यवारयन् ॥ २ ॥

भरतनन्दन! उन राजाओंने रथसमूहद्वारा अर्जुनको सब ओरसे वेष्टित करके उनके ऊपर अनेक सहस्र बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ २ ॥

शक्तीश्च विमलास्तीक्ष्णा गदाश्च परिघैः सह।
प्रासान् परश्वधांश्चैव मुद्गरान् मुसलानपि ॥ ३ ॥
चिक्षिपुः समरे क्रुद्धाः फाल्गुनस्य रथं प्रति।

वे क्रोधमें भरकर युद्धमें अर्जुनके रथपर चमचमाती हुई शक्ति, दुःसह गदा, परिघ, प्रास, फरसे, मुद्गर और मुसल आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३½ ॥

शस्त्राणामथ तां वृष्टिं शलभानामिवायतिम् ॥ ४ ॥
रुरोध सर्वतः पार्थः शरैः कनकभूषणैः।

शलभोंकी श्रेणीके समान अस्त्र-शस्त्रोंकी उस वर्षाको अर्जुनने स्वर्णभूषित बाणोंद्वारा सब ओरसे रोक दिया ॥४½॥

तत्र तल्लाघवं दृष्ट्वा बीभत्सोरतिमानुषम् ॥ ५ ॥
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः।
साधु साध्विति राजेन्द्र फाल्गुनं प्रत्यपूजयन् ॥ ६ ॥

राजेन्द्र! अर्जुनकी वह अलौकिक फुर्ती देख देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग तथा राक्षस साधु-साधु (वा वाह) कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ५-६ ॥

सात्यकिश्चाभिमन्युश्च महत्या सेनया वृतौ।
गान्धारान् समरे शूरावगमतुः सहसौबलान् ॥ ७॥

उधर विशाल सेनासे घिरे हुए सात्यकि और अभिमन्युने समर-भूमिमें सुबलके पुत्रोंसहित गान्धारदेशीय शूरवीरोंपर आक्रमण किया ॥ ७ ॥

तत्र सौबलकाः क्रुद्धा वार्ष्णेयस्य रथोत्तमम्।
तिलशश्चिच्छिदुः क्रोधाच्छस्त्रैर्नानाविधैर्युधि॥ ८॥

वहाँ जाते ही क्रोधमें भरे हुए सुबलपुत्रोंने युद्ध-स्थलमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा सात्यकिके श्रेष्ठ रथको रोषपूर्वक तिल-तिल करके काट डाला ॥ ८ ॥

सात्यकिस्तु रथं त्यक्त्वा वर्तमाने भयावहे।
अभिमन्यो रथं तूर्णमारुरोह परंतपः ॥ ९॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले सात्यकि उस समय छिड़े हुए भयंकर संग्राममें अपने टूटे हुए रथको त्यागकर तुरंत ही अभिमन्युके रथपर जा बैठे ॥ ९ ॥

तावेकरथसंयुक्तौ सौबलेयस्य वाहिनीम्।
व्यधमेतां शितैस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः ॥ १०॥

फिर एक ही रथपर बैठे हुए वे दोनों वीर झुकी हुई गाँठवाले पैने बाणोंसे तुरंत ही सुबलपुत्र शकुनिकी सेनाका संहार करने लगे ॥ १० ॥

द्रोणभीष्मौ रणे यत्तौ धर्मराजस्य वाहिनीम्।
नाशयेतां शरैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ॥ ११॥

इसी प्रकार एक ओरसे आकर युद्धके लिये सदा उद्यत

रखनेवाले द्रोणाचार्य और भीष्मने कङ्कपक्षीके पंखोंसे युक्त तीखे बाणोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरकी सेनाका विनाश आरम्भ कर दिया ॥ ११ ॥

ततो धर्मसुतो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां द्रोणानीकमुपाद्रवन् ॥ १२ ॥

तब धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेवने समस्त सेनाओंके देखते-देखते द्रोणाचार्यकी सेनापर धावा किया ॥ १२ ॥

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
यथा देवासुरं युद्धं पूर्वमासीत् सुदारुणम् ॥ १३ ॥

जैसे पूर्वकालमें अत्यन्त भयंकर देवासुर-संग्राम हुआ था, उसी प्रकार वहाँ अत्यन्त भयानक रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ १३ ॥

कुर्वाणौ सुमहत् कर्म भीमसेनघटोत्कचौ ।
दुर्योधनस्य महतीं द्रावयामास वाहिनीम् ।)
दुर्योधनस्ततोऽभ्येत्य तावुभावप्यवारयत् ॥ १४ ॥

दूसरी ओर भीमसेन और घटोत्कचने महान् पराक्रमका परिचय देते हुए दुर्योधनकी विशाल वाहिनीको खदेड़ना आरम्भ किया । उस समय दुर्योधनने सामने आकर उन दोनोंको रोक दिया ॥ १४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम हैडिम्बस्य पराक्रमम् ।
अतीत्य पितरं युद्धे यदयुध्यत भारत ॥ १५ ॥

भारत ! वहाँ हमने हिडिम्बापुत्र घटोत्कचका अद्भुत पराक्रम देखा । वह रणक्षेत्रमें पितासे भी बढ़कर पुरुषार्थ प्रकट करते हुए युद्ध कर रहा था ॥ १५ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो दुर्योधनममर्षणम् ।
हृद्यविध्यत् पृषत्केन प्रहसन्निव पाण्डवः ॥ १६ ॥

क्रोधमें भरे हुए पाण्डुनन्दन भीमसेनने हँसते हुए-से एक बाण मारकर अमर्षशील दुर्योधनकी छाती छेद डाली ।१६।

ततो दुर्योधनो राजा प्रहारवरपीडितः ।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं च जगाम ह ॥ १७ ॥

तब उस बाणके गहरे आघातसे पीड़ित हो राजा दुर्योधन रथकी बैठकमें बैठ गया और उसे मूर्च्छा आ गयी ॥ १७ ॥

तं विसंज्ञं विदित्वा तु त्वरमाणोऽस्य सारथिः ।
अपोवाह रणाद् राजंस्ततः सैन्यमभज्यत ॥ १८ ॥

राजन् ! उसे संज्ञाशून्य जानकर उसका सारथि बड़ी उतावलीके साथ उसे रणभूमिसे बाहर ले गया । फिर तो उसकी सेनामें भगदड़ मच गयी ॥ १८ ॥

ततस्तां कौरवीं सेनां द्रवमाणां समन्ततः ।
निघ्नन् भीमः शरैस्तीक्ष्णैरनुवव्राज पृष्ठतः ॥ १९ ॥

तब चारों ओर भागती हुई उस कौरव-सेनापर तीखे बाणोंका प्रहार करते हुए भीमसेन उसे पीछे-से खदेड़ने लगे ॥ १९ ॥

पार्षतश्च रथश्रेष्ठो धर्मपुत्रश्च पाण्डवः ।
द्रोणस्य पश्यतः सैन्यं गाङ्गेयस्य च पश्यतः ॥ २० ॥
जघ्नतुर्विशिखैस्तीक्ष्णैः परानीकविनाशनैः ।

दूसरी ओरसे रथियोंमें श्रेष्ठ द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा धर्मपुत्र युधिष्ठिर शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले तीखे बाणोंद्वारा द्रोणाचार्य और भीष्मके देखते-देखते कौरव-सेनाको पीडित करते हुए उसका पीछा करने लगे ॥ २०½ ॥

द्रवमाणं तु तत् सैन्यं तव पुत्रस्य संयुगे ॥ २१ ॥
नाशक्नुतां वारयितुं भीष्मद्रोणौ महारथौ ।

महाराज ! उस युद्धस्थलमें आपके पुत्रकी भागती हुई सेनाको महारथी द्रोण और भीष्म भी रोक न सके ॥२१½॥

वार्यमाणं च भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ॥ २२ ॥
विद्रवत्येव तत् सैन्यं पश्यतोर्द्रोणभीष्मयोः ।

महामना भीष्म और द्रोणके रोकनेपर भी उनके सामने ही वह सेना भागती ही चली जा रही थी ॥ २२½ ॥

ततो रथसहस्रेषु विद्रवत्सु ततस्ततः ॥ २३ ॥
तावास्थितावेकरथं सौभद्रशिनिपुङ्गवौ ।
सौबलीं समरे सेनां शातयेतां समन्ततः ॥ २४ ॥

उधर सहस्रों रथी जब इधर-उधर भाग रहे थे, उसी समय एक रथपर बैठे हुए अभिमन्यु और सात्यकि सुबलपुत्रकी सेनाका संग्रामभूमिमें सब ओरसे संहार करने लगे ॥

शुशुभाते तदा तौ तु शैनेयकुरुपुङ्गवौ ।
अमावास्यां गतौ यद्वत् सोमसूर्यौ नभस्तले ॥ २५ ॥

उस अवसरपर (एक रथमें बैठे हुए) सात्यकि और अभिमन्यु उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, जैसे अमावास्या तिथिको आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा एक ही स्थानमें सुशोभित होते हैं ॥ २५ ॥

अर्जुनस्तु ततः क्रुद्धस्तव सैन्यं विशाम्पते ।
ववर्ष शरवर्षेण धाराभिरिव तोयदः ॥ २६ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अर्जुन आपकी सेनापर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे बादल पानीकी धारा बरसाता है ॥ २६ ॥

वध्यमानं ततस्तत्र शरैः पार्थस्य संयुगे ।
दुद्राव कौरवं सैन्यं विषादभयकम्पितम् ॥ २७ ॥

तब पार्थके बाणोंसे संग्राम-भूमिमें पीड़ित हुई कौरव-सेना विषाद और भयसे काँपती हुई इधर-उधर भाग चली ।२७।

द्रवतस्तान् समालक्ष्य भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
न्यवारयेतां संरब्धौ दुर्योधनहितैषिणौ ॥ २८ ॥

उन योद्धाओंको भागते देख दुर्योधनका हित चाहनेवाले महारथी भीष्म और द्रोण क्रोधपूर्वक उन्हें रोकने लगे ॥२८॥

ततो दुर्योधनो राजा समाश्वस्य विशाम्पते ।
न्यवर्तयत तत् सैन्यं द्रवमाणं समन्ततः ॥ २९ ॥

प्रजानाथ ! इसी बीचमें राजा दुर्योधनकी मूर्छा दूर हो गयी और उसने आश्वस्त होकर चारों ओर भागती हुई सेनाको पुनः लौटाया ॥ २९ ॥

यत्र यत्र सुतस्तुभ्यं यं यं पश्यति भारत ।
तत्र तत्र न्यवर्तन्त क्षत्रियाणां महारथाः ॥ ३० ॥

भारत ! आपका पुत्र दुर्योधन जहाँ-जहाँ जिस-जिसकी ओर दृष्टिपात करता, वहीं-वहींसे ऐसे योद्धा भी लौट आते थे जो क्षत्रियोंमें महारथी थे ॥ ३० ॥

तान् निवृत्तान् समीक्ष्यैव ततोऽन्येऽपीतरे जनाः ।
अन्योन्यस्पर्धया राजल्लँज्जया चावतस्थिरे ॥ ३१ ॥

राजन् ! उन सबको लौटते देख दूसरे लोग भी एक दूसरेकी स्पर्धा तथा लज्जाके कारण ठहर गये ॥ ३१ ॥

पुनरावर्ततां तेषां वेग आसीद् विशाम्पते ।
पूर्यतः सागरस्येव चन्द्रस्योदयनं प्रति ॥ ३२ ॥

महाराज ! पुनः लौटते हुए उन योद्धाओंका महान् वेग चन्द्रोदयके समय बढ़ते हुए महासागरके समान जान पड़ता था॥

संनिवृत्तांस्ततस्तांस्तु दृष्ट्वा राजा सुयोधनः ।
अब्रवीत् त्वरितो गत्वा भीष्मं शान्तनवं वचः ॥ ३३ ॥

तब उन सबको लौटा हुआ देख राजा दुर्योधन तुरंत ही शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जाकर बोला— ॥ ३३ ॥

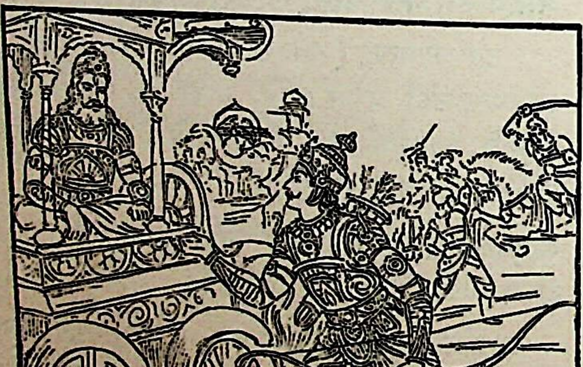

पितामह निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि भारत ।
नानुरूपमहं मन्ये त्वयि जीवति कौरव ॥ ३४ ॥
द्रोणे चास्त्रविदां श्रेष्ठे सपुत्रे ससुहृज्जने ।
कृपे चैव महेष्वासे द्रवते यद् वरूथिनी ॥ ३५ ॥

'पितामह भरतनन्दन ! मैं आपसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनिये । कुरुनन्दन ! आपके, अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके और महाधनुर्धर कृपाचार्यके पुत्रों और जीते-जी जो मेरी सेना भाग रही है, इसे मैं योग्य नहीं मानता हूँ ॥ ३४-३५ ॥

न पाण्डवान् प्रतिबलांस्तव मन्ये कथंचन ।
तथा द्रोणस्य संग्रामे द्रौणेश्चैव कृपस्य च ॥

'मैं किसी तरह यह नहीं मान सकता कि पाण्ड आपके, द्रोणाचार्यके, कृपाचार्यके और अश्वत्थामाके बलवान् हैं ॥ ३६ ॥

अनुग्राह्याः पाण्डुसुतास्तव नूनं पितामह ।
यथेमां क्षमसे वीर वध्यमानां वरूथिनीम् ॥

'वीर पितामह ! निश्चय ही पाण्डव आपके तभी तो मेरी सेनाका वध हो रहा है और आप इसकी दुर्दशाको सहते चले जा रहे हैं ॥ ३७ ॥

सोऽस्मि वाच्यस्त्वया राजन् पूर्वमेव समागमे ।
न योत्स्ये पाण्डवान् संख्ये नापि पार्षतसात्यकी ॥

'महाराज ! यदि पाण्डवोंपर दया ही करनी आप युद्ध आरम्भ होनेके पहले ही मुझे यह बता देते संग्रामभूमिमें पाण्डुपुत्रोंसे, धृष्टद्युम्नसे और सात्यकिसे युद्ध नहीं करूँगा ॥ ३८ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तुभ्यमाचार्यस्य कृपस्य च ।
कर्णेन सहितः कृत्यं चिन्तयानस्तदैव हि ॥

'उस अवस्थामें आपका, आचार्यका तथा कृपका सुनकर मैं कर्णके साथ उसी समय अपने कर्तव्यका कर लेता ॥ ३९ ॥

यदि नाहं परित्याज्यो युवाभ्यामिह संयुगे ।
विक्रमेणानुरूपेण युध्येतां पुरुषर्षभौ ॥

'यदि युद्धमें आप दोनोंको मेरा परित्याग करना नहीं जान पड़ता हो तो द्रोणाचार्य और आप दोनों पुरुष अपने योग्य पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध कीजिये

एतच्छ्रुत्वा वचो भीष्मः प्रहसन् वै मुहुर्मुहुः ।
अब्रवीत् तनयं तुभ्यं क्रोधादुद्वृत्य चक्षुषी ॥

यह सुनकर भीष्म बारंबार हँसकर क्रोधसे आँखें हुए आपके पुत्रसे बोले— ॥ ४१ ॥

बहुशोऽसि मया राजंस्तथ्यमुक्तो हितं वचः ।
अजेयाः पाण्डवा युद्धे देवैरपि सवासवैः ॥

'राजन् ! मैंने तुमसे अनेक बार यह सत्य और बात बतायी है कि युद्धमें पाण्डवोंको इन्द्र आदि देवता जीत नहीं सकते ॥ ४२ ॥

यत् तु शक्यं मया कर्तुं वृद्धेनाद्य नृपोत्तम ।
करिष्यामि यथाशक्ति प्रेक्षेदानीं सबान्धवः ॥

नृपश्रेष्ठ ! तो भी मुझ वृद्धके द्वारा जो कुछ किया जा सकता है, उसे आज यथाशक्ति करूँगा। तुम इस समय अपने भाइयोंसहित देखो ॥ ४३ ॥

अद्य पाण्डुसुतानेकः ससैन्यान् सह बन्धुभिः।
सोऽहं निवारयिष्यामि सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ४४ ॥

'आज मैं अकेला ही सबके देखते-देखते सेना और बन्धुओंसहित समस्त पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा' ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण पुत्रास्तव जनेश्वर।
दध्मुः शङ्खान् मुदा युक्ता भेरीः संजघ्निरे भृशम् ॥ ४५ ॥

जनेश्वर ! भीष्मके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र आनन्दमग्न होकर जोर-जोरसे शङ्ख बजाने और डंका पीटने लगे ॥

पाण्डवा हि ततो राजञ्श्रुत्वा तं निनदं महत्।
दध्मुः शङ्खांश्च भेरीश्च मुरजांश्चाप्यनादयन् ॥ ४६ ॥

राजन् ! उनका वह महान् शङ्खनाद सुनकर पाण्डव वीर शङ्ख बजाने तथा नगारे और ढोल पीटने लगे ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे भीष्मदुर्योधनसंवादे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तृतीय युद्धदिवसमें भीष्म और दुर्योधनका संवादविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ४६$\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भीष्मका पराक्रम, श्रीकृष्णका भीष्मको मारनेके लिये उद्यत होना, अर्जुनकी प्रतिज्ञा और उनके द्वारा कौरवसेनाकी पराजय, तृतीय दिवसके युद्धकी समाप्ति

धृतराष्ट्र उवाच

ज्ञाते ततस्तस्मिन् युद्धे भीष्मेण दारुणे।
धितो मम पुत्रेण दुःखितेन विशेषतः ॥ १ ॥
ष्मः किमकरोत् तत्र पाण्डवेयेषु संयुगे।
तामहे वा पञ्चालास्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! उस भयंकर युद्धमें जब ने मेरे विशेष दुखी हुए पुत्रके क्रोध दिलानेपर प्रतिज्ञा की, तब उन्होंने उस युद्धस्थलमें पाण्डवोंके प्रति क्या न ! तथा पाञ्चाल योद्धाओंने पितामह भीष्मके प्रति किया ? ॥ १-२ ॥

संजय उवाच

र्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत।
श्चिमां दिशमास्थाय स्थिते चापि दिवाकरे ॥ ३ ॥
ं प्राप्तेषु हृष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
धर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव ॥ ४ ॥
भ्ययाज्जवनैरश्वैः पाण्डवानामनीकिनीम्।
त्या सेनया गुप्तस्तव पुत्रैश्च सर्वशः ॥ ५ ॥

संजयने कहा—भारत ! उस दिन जब पूर्वाह्णकालका क भाग व्यतीत हो गया, सूर्यदेव पश्चिम दिशामें जाकर त हुए और विजयको प्राप्त हुए महामना पाण्डव खुशी ने लगे, उस समय सब धर्मोंके विशेषज्ञ आपके ताऊ जीने वेगशाली अश्वोंद्वारा पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण या। उनके साथ विशाल सेना चली और आपके पुत्र ओरसे उनकी रक्षा करने लगे ॥ ३-५ ॥

प्रावर्तत ततो युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
अस्माकं पाण्डवैः सार्धमनयात् तव भारत ॥ ६ ॥

भारत ! तदनन्तर आपके अन्यायसे हमलोगोंका पाण्डवोंके साथ रोमाञ्चकारी भयंकर संग्राम होने लगा ॥६॥

धनुषां कूजतां तत्र तलानां चाभिहन्यताम्।
महान् समभवच्छब्दो गिरीणामिव दीर्यताम् ॥ ७ ॥

उस समय वहाँ धनुषोंकी टङ्कार तथा हथेलियोंके आघातसे पर्वतोंके विदीर्ण होनेके समान बड़े जोरसे शब्द होता था॥

तिष्ठ स्थितोऽस्मि विद्ध्येनं निवर्तस्व स्थिरो भव।
स्थिरोऽस्मि प्रहरस्वेति शब्दोऽश्रूयत सर्वशः ॥ ८ ॥

उस समय 'खड़े रहो, खड़ा हूँ, इसे बींध डालो, लौटो, स्थिर भावसे रहो, हाँ-हाँ स्थिरभावसे ही हूँ, तुम प्रहार करो' ऐसे शब्द सब ओर सुनायी पड़ते थे ॥ ८ ॥

काञ्चनेषु तनुत्रेषु किरीटेषु ध्वजेषु च।
शिलानामिव शैलेषु पतितानामभूद् ध्वनिः ॥ ९ ॥

जब सोनेके कवचों, किरीटों और ध्वजोंपर योद्धाओंके अस्त्र-शस्त्र टकराते, तब उनसे पर्वतोंपर गिरकर टकरानेवाली शिलाओंके समान भयानक शब्द होता था ॥ ९ ॥

पतितान्युत्तमाङ्गानि बाहवश्च विभूषिताः।
व्यचेष्टन्त महीं प्राप्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥

सैनिकोंके सैकड़ों-हजारों मस्तक तथा स्वर्णभूषित भुजाएँ कट-कटकर पृथ्वीपर गिरने और तड़पने लगीं ॥ १० ॥

हृतोत्तमाङ्गाः केचित् तु तथैवोद्यतकार्मुकाः।
प्रगृहीतायुधाश्चापि तस्थुः पुरुषसत्तमाः ॥ ११ ॥

कितने ही पुरुषशिरोमणि वीरोंके मस्तक तो कट गये, परंतु उनके धड़ पूर्ववत् धनुष-बाण एवं अन्य आयुध लिये खड़े ही रह गये ॥ ११ ॥

प्रावर्तत महावेगा नदी रुधिरवाहिनी।
मातङ्गाङ्गशिला रौद्रा मांसशोणितकर्दमा ॥ १२ ॥
वराश्वनरनागानां शरीरप्रभवा तदा।
परलोकार्णवमुखी गृध्रगोमायुमोदिनी ॥ १३ ॥

रणक्षेत्रमें बड़े वेगसे रक्तकी नदी बह चली, जो देखनेमें बड़ी भयानक थी। हाथियोंके शरीर उसके भीतर शिलाखण्डों-के समान जान पड़ते थे। खून और मांस कीचड़के समान प्रतीत होते थे। बड़े-बड़े हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंसे ही वह नदी निकली थी और परलोकरूपी समुद्रकी ओर प्रवाहित हो रही थी। वह रक्त-मांसकी नदी गीधों और गीदड़ोंको आनन्द प्रदान करनेवाली थी ॥ १२-१३ ॥

न दृष्टं न श्रुतं वापि युद्धमेतादृशं नृप।
यथा तव सुतानां च पाण्डवानां च भारत ॥ १४ ॥

भारत! नरेश्वर! पाण्डवों और आपके पुत्रोंका उस दिन जैसा भयानक युद्ध हुआ, वैसा न कभी देखा गया है और न सुना ही गया है ॥ १४ ॥

नासीद् रथपथस्तत्र योधैर्युधि निपातितैः।
गजैश्च पतितैर्नीलैर्गिरिशृङ्गैरिवावृतः ॥ १५ ॥

वहाँ युद्धस्थलमें गिराये हुए योद्धाओं तथा पर्वतके श्याम शिखरोंके समान पड़े हुए हाथियोंसे अवरुद्ध हो जानेके कारण रथोंके आने-जानेके लिये रास्ता नहीं रह गया था ॥ १५ ॥

विकीर्णैः कवचैश्चित्रैः शिरस्त्राणैश्च मारिष।
शुशुभे तद् रणस्थानं शरदीव नभस्तलम् ॥ १६ ॥

माननीय महाराज! इधर-उधर बिखरे हुए विचित्र कवचों तथा शिरस्त्राणों (लोहेके टोपों) से वह रणभूमि शरद्‌ऋतुमें तारिकाओंसे विभूषित आकाशकी भाँति शोभा पाने लगी ॥ १६ ॥

विनिर्भिन्नाः शरैः केचिदन्त्रापीडप्रकर्षिणः।
अभीताः समरे शत्रूनभ्यधावन्त दर्पिताः ॥ १७ ॥

कुछ वीर बाणोंसे विदीर्ण होकर आँतोंमें उठनेवाली पीड़ासे अत्यन्त कष्ट पानेपर भी समरभूमिमें निर्भय तथा दर्प-युक्त भावसे शत्रुओंकी ओर दौड़ रहे थे ॥ १७ ॥

तात भ्रातः सखे बन्धो वयस्य मम मातुल।
मा मां परित्यजेत्यन्ये चुक्रुशुः पतिता रणे ॥ १८ ॥

कितने ही योद्धा रणभूमिमें गिरकर इस प्रकार आर्त-भावसे स्वजनोंको पुकार रहे थे—'तात! भ्रातः! सखे! बन्धो! मेरे मित्र! मेरे मामा! मुझे छोड़कर न जाओ' ॥

अथाभ्येहि त्वमागच्छ किं भीतोऽसि क यास्यसि।
स्थितोऽहं समरे मा भैरिति चान्ये विचुक्रुशुः ॥ १९ ॥

दूसरे सैनिक यों चिल्ला रहे थे—'अरे आओ, मैं ... हुआ हूँ। तुम भय न करो' ॥ १९ ॥

तत्र भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः।
मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव ॥ २० ॥

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुषको मण्डला करके विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं प्रज्वलित बाणोंकी निरन्तर वर्षा कर रहे थे ॥ २० ॥

शरैरेकायनीकुर्वन् दिशः सर्वा यतव्रतः।
जघान पाण्डवरथानादिश्य भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले भीष्म सम्पूर्ण दिशाओंको बाणोंसे व्याप्त करते हुए पाण्डव-पक्षीय रथियोंको अपना नाम सुना-सुनाकर मारने लगे ॥ २१ ॥

स नृत्यन् वै रथोपस्थे दर्शयन् पाणिलाघवम्।
अलातचक्रवद् राजंस्तत्र तत्र स्म दृश्यते ॥ २२ ॥

राजन्! उस समय भीष्म अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए रथकी बैठकपर नृत्य-सा कर रहे थे। घूमते हुए अलात-चक्रकी भाँति वे यत्र-तत्र सर्वत्र दिखायी देने लगे ॥ २२ ॥

तमेकं समरे शूरं पाण्डवाः सृंजयैः सह।
अनेकशतसाहस्रं समपश्यन्त लाघवात् ॥ २३ ॥

युद्धमें शूरवीर भीष्म यद्यपि अकेले थे, तथापि सृंजयों-सहित पाण्डवोंको वे अपनी फुर्तीके कारण कई लाख व्यक्तियों-के समान दिखायी दिये ॥ २३ ॥

मायाकृतात्मानमिव भीष्मं तत्र स्म मेनिरे।
पूर्वस्यां दिशि तं दृष्ट्वा प्रतीच्यां ददृशुर्जनाः ॥ २४ ॥

लोगोंको ऐसा मालूम हो रहा था कि रणक्षेत्रमें भीष्मजीने मायासे अपनेको अनेक रूपोंमें प्रकट कर लिया है। जिन लोगोंने उन्हें पूर्वदिशामें देखा था, उन्हीं लोगोंको आँख फिरते ही वे पश्चिममें दिखायी दिये ॥ २४ ॥

उदीच्यां चैवमालोक्य दक्षिणस्यां पुनः प्रभो।
एवं स समरे शूरो गाङ्गेयः प्रत्यदृश्यत ॥ २५ ॥

प्रभो! बहुतोंने उन्हें उत्तर दिशामें देखकर तत्काल ही दक्षिण दिशामें भी देखा। इस प्रकार समरभूमिमें वे शूरवीर गङ्गानन्दन भीष्म सब ओर दिखायी दे रहे थे ॥ २५ ॥

न चैवं पाण्डवेयानां कश्चिच्छक्नोति वीक्षितुम्।
विशिखानेव पश्यन्ति भीष्मचापच्युतान् बहून् ॥ २६ ॥

पाण्डवोंमेंसे कोई भी उन्हें देख नहीं पाता था। सब लोग भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंको ही देखते थे ॥ २६ ॥

कुर्वाणं समरे कर्म सूदयानं च वाहिनीम्।
व्याक्रोशन्त रणे तत्र नरा बहुविधा बहु ॥ २७ ॥
अमानुषेण रूपेण चरन्तं पितरं तव।

उस समय रणक्षेत्रमें अद्भुत कर्म करते हुए आपके ताऊ भीष्म अमानुषरूपसे विचरते तथा पाण्डवसेनाका संहार करते थे। वहाँ अनेक प्रकारके मनुष्य उनके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी बातें कर रहे थे ॥ २७½ ॥

शलभा इव राजानः पतन्ति विधिचोदिताः ॥ २८ ॥
भीष्माग्निमभिसंक्रुद्धं विनाशाय सहस्रशः ।

वहाँ विधातासे प्रेरित होकर पतंगोंके समान सहस्रों राजा क्रोधमें भरे हुए भीष्मरूपी प्रचण्ड अग्निमें अपने विनाशके लिये स्वयं ही आ गिरते थे ॥ २८½ ॥

न हि मोघः शरः कश्चिदासीद् भीष्मस्य संयुगे ॥ २९ ॥
नरनागाश्वकायेषु बहुत्वाल्लघुयोधिनः ।

युद्धमें मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके शरीरोंपर चलाया हुआ भीष्मका कोई भी बाण व्यर्थ नहीं होता था। एक तो उनके पास बाण बहुत थे और दूसरे वे बड़ी फुर्तीसे चलाते थे ॥ २९½ ॥

(प्रच्छादयञ्शरान् भीष्मो निशितान् कङ्कपत्रिणः ।)
भिनत्त्येकेन वाणेन सुमुखेन पतत्त्रिणा ॥ ३० ॥
गजकण्टकसंनद्धं वज्रेणेव शिलोच्चयम् ।

भीष्म कंकपत्रसे युक्त बहुसंख्यक तीखे बाणोंको युद्धमें बिखेर रहे थे। वे एक ही पंखयुक्त सीधे बाणसे लोहेके झूलसे युक्त हाथीको भी विदीर्ण कर डालते थे। जैसे इन्द्र महान् पर्वतको अपने वज्रसे विदीर्ण कर देते हैं ॥ ३०½ ॥

द्वौ त्रीनपि गजारोहान् पिण्डितान् वर्मितानपि ॥ ३१ ॥
नाराचेन सुमुक्तेन निजघान पिता तव ।

आपके ताऊ भीष्म अच्छी तरहसे छोड़े हुए एक ही नाराचके द्वारा एक जगह बैठे हुए दो-तीन हाथीसवारोंको कवच धारण किये होनेपर भी छेद डालते थे ॥

यो यो भीष्मं नरव्याघ्रमभ्येति युधि कश्चन ॥ ३२ ॥
मुहूर्तदृष्टः स मया पतितो भुवि दृश्यते ।

जो कोई भी योद्धा नरश्रेष्ठ भीष्मके सम्मुख आ जाता, वह मुझे एक ही मुहूर्तमें खड़ा दिखायी देकर उसी क्षण धरतीपर लोटता दिखायी देता था ॥ ३२½ ॥

एवं सा धर्मराजस्य वध्यमाना महाचमूः ॥ ३३ ॥
भीष्मेणातुलवीर्येण व्यशीर्यत सहस्रधा ।

इस प्रकार अतुल पराक्रमी भीष्मके द्वारा मारी जाती हुई धर्मराज युधिष्ठिरकी वह विशाल वाहिनी सहस्रों भागोंमें बिखर गयी ॥ ३३½ ॥

प्राकम्पत महासेना शरवर्षेण तापिता ॥ ३४ ॥
पश्यतो वासुदेवस्य पार्थस्याथ शिखण्डिनः ।

उनकी बाण-वर्षासे संतप्त हो पाण्डवोंकी वह महती सेना श्रीकृष्ण, अर्जुन और शिखण्डीके देखते-देखते काँपने लगी॥

वर्तमानाऽपि ते वीरा द्रवमाणान् महारथान् ॥ ३५ ॥
नाशक्नुवन् वारयितुं भीष्मबाणप्रपीडितान् ।

वे सब वीर वहाँ मौजूद होते हुए भी भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर भागते हुए अपने महारथियोंको रोकनेमें समर्थ न हो सके ॥ ३५½ ॥

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः ॥ ३६ ॥
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः ।

महाराज ! महेन्द्रके समान पराक्रमी भीष्मकी मार खाकर वह विशाल सेना इस प्रकार तितर-बितर हुई कि उसके दो-दो सैनिक भी एक साथ नहीं भाग सकते थे ॥ ३६½ ॥

आविद्धनरनागाश्वं पतितध्वजकूबरम् ॥ ३७ ॥
अनीकं पाण्डुपुत्राणां हाहाभूतमचेतनम् ।

मनुष्य, हाथी और घोड़े सभी बाणोंसे छिद गये थे। रथके ध्वज और कूबर टूटकर गिर चुके थे। इस प्रकार पाण्डवोंकी सेना अचेत-सी होकर हाहाकार कर रही थी ॥

जघानात्र पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ॥ ३८ ॥
प्रियं सखायं चाक्रन्दे सखा दैवबलात्कृतः ।

इस युद्धमें दैवके वशीभूत होकर पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको और मित्रने प्रिय मित्रको मार डाला ॥ ३८½ ॥

विमुच्य कवचान्यन्ये पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ॥ ३९ ॥
विमुक्तकेशा धावन्तः प्रत्यदृश्यन्त भारत ।

भारत ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके बहुत-से सैनिक कवच खोलकर बाल बिखेरे इधर-उधर दौड़ते दिखायी देते थे ॥

तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तरथयूथपम् ॥ ४० ॥
ददृशे पाण्डुपुत्रस्य सैन्यमार्तस्वरं तदा ।
प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः ॥ ४१ ॥
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम् ।

उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी वह सेना व्याकुल होकर भटकती हुई गौओंके समूहकी भाँति आर्तस्वरसे हाहाकार करती हुई देखी गयी। कितने ही रथयूथपति भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर घूम रहे थे। अपनी सेनामें इस प्रकार भगदड़ मची हुई देख यदुकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अपने उत्तम रथको खड़ा करके कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कहा—।४०-४१½।

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यस्तेऽभिकाङ्क्षितः॥ ४२ ॥
प्रहरस्व नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे ।

'पुरुषसिंह ! जिसकी तुम दीर्घकालसे अभिलाषा करते थे, वही यह अवसर प्राप्त हुआ है। यदि तुम मोहसे किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हो गये हो तो पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करो ॥

यत् त्वया कथितं वीर पुरा राज्ञां समागमे ॥ ४३ ॥
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान्।
सानुबन्धान् हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संयुगे॥ ४४॥

इति तत् कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिंदम।
बीभत्सो पश्य सैन्यं स्वं भज्यमानं ततस्ततः ॥ ४५ ॥

'वीर ! पहले राजाओंकी मण्डलीमें तुमने जो यह कहा था कि 'जो मेरे साथ संग्रामभूमिमें उतरकर युद्ध करेंगे, दुर्योधनके उन भीष्म, द्रोण आदि समस्त सैनिकोंको मैं सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा।' शत्रुसूदन कुन्तीनन्दन ! अपनी उस बातको सत्य कर दिखाओ। अर्जुन ! देखो, तुम्हारी सेना इधर-उधर भाग रही है ॥ ४३–४५ ॥

द्रवतश्च महीपालान् पश्य यौधिष्ठिरे बले।
दृष्ट्वा हि भीष्मं समरे व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ४६ ॥
भयार्ताः प्रपलायन्ते सिंहात् क्षुद्रमृगा इव।

'समरभूमिमें मुँह बाये हुए कालके समान भीष्मको देखकर युधिष्ठिरकी सेनामें भागते हुए इन राजाओंकी ओर दृष्टिपात करो। ये सिंहसे डरे हुए क्षुद्र मृगोंकी भाँति भयसे आतुर होकर पलायन कर रहे हैं' ॥ ४६½ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच वासुदेवं धनंजयः ॥ ४७ ॥
नोदयाश्वान् यतो भीष्मो विगाह्यैतद् बलार्णवम्।
पातयिष्यामि दुर्धर्षं वृद्धं कुरुपितामहम् ॥ ४८ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'भगवन् ! इन घोड़ोंको हाँककर वहीं ले चलिये, जहाँ भीष्म मौजूद हैं। इस सेनारूपी समुद्रमें प्रवेश कीजिये। आज मैं कुरुकुलके वृद्ध पितामह दुर्धर्ष वीर भीष्मको रथसे नीचे गिरा दूँगा' ॥ ४७-४८ ॥

संजय उवाच

ततोऽश्वान् रजतप्रख्यान् नोदयामास माधवः।
यतो भीष्मरथो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव॥ ४९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके चाँदीके समान सफेद घोड़ोंको उसी दिशाकी ओर हाँका, जिस ओर भीष्मजीका रथ विद्यमान था। सूर्यकी भाँति उस रथकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था ॥

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत्।
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ॥ ५० ॥

उस समय महाबाहु अर्जुनको समरभूमिमें भीष्मसे लोहा लेनेके लिये उद्यत देख युधिष्ठिरकी वह विशाल सेना पुनः लौट आयी ॥ ५० ॥

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठ सिंहवद् विनदन् मुहुः।
धनंजयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ५१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! तदनन्तर भीष्म सिंहके समान बारंबार गर्जना करते हुए अर्जुनके रथपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५१ ॥

क्षणेन स रथस्तस्य सहयः सहसारथिः।
शरवर्षेण महता संछन्नो न प्रकाशते ॥ ५२ ॥

उस महान् बाणवर्षासे एक ही क्षणमें घोड़े और सार सहित आच्छादित होकर अर्जुनका रथ किसीकी दृष्टिमें आता था ॥ ५२ ॥

वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तो धैर्यमास्थाय सत्त्ववान्।
चोदयामास तानश्वान् विचितान् भीष्मसायकैः॥ ५३ ॥

परंतु शक्तिशाली भगवान् श्रीकृष्ण तनिक भी घबराहटमें न पड़कर धैर्यका सहारा ले उन घोड़ोंको हाँकते रहे। वहाँ भीष्मके बाण उन अश्वोंके सभी अङ्गोंमें धँसे हुए थे ॥ ५३ ॥

ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिःस्वनम्।
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्त्वा त्रिभिः शरैः॥ ५४ ॥

तब अर्जुनने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले दिव्य धनुषको हाथमें लेकर तीन बाणोंसे भीष्मके धनुषको काट गिराया ॥ ५४ ॥

स छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः।
निमिषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ॥ ५५ ॥

धनुष कट जानेपर आपके ताऊ कुरुनन्दन भीष्मने पलक मारते-मारते पुनः दूसरे विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी।

विचकर्ष ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम्।
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ॥ ५६ ॥

फिर मेघके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उस धनुषको दोनों हाथोंसे खींचा। इतनेहीमें कुपित हुए अर्जुनने उनके उस धनुषको भी काट डाला ॥ ५६ ॥

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भोः पाण्डुनन्दन ॥ ५७ ॥
त्वय्येवैतद् युक्तरूपं महत् कर्म धनंजय।
प्रीतोऽस्मि सुभृशं पुत्र कुरु युद्धं मया सह ॥ ५८ ॥

अर्जुनकी इस फुर्तीको देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ी प्रशंसा की और कहा—'महाबाहु कुन्तीकुमार ! तुम्हें साधुवाद। पाण्डुनन्दन ! धन्यवाद। बेटा ! तुम्हारी इस फुर्तीसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। धनंजय ! यह महान् कर्म तुम्हारे ही योग्य है। तुम मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ५७-५८ ॥

इति पार्थं प्रशस्याथ प्रगृह्यान्यन्महद् धनुः।
मुमोच समरे वीरः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ५९ ॥

इस प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुनकी प्रशंसा करके फिर दूसरा विशाल धनुष हाथमें लेकर वीर भीष्मने युद्धस्थलमें उनके रथकी ओर बाण बरसाना आरम्भ किया ॥ ५९ ॥

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम्।
मोघान् कुर्वञ्शरांस्तस्य मण्डलान्याचरल्लघु ॥ ६० ॥

भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंको हाँकनेकी कलामें अपने उत्तम बलका परिचय दिया। वे भीष्मके बाणोंको व्यर्थ करते हुए बड़ी फुर्तीके साथ रथको मण्डलाकार चलाने लगे ॥ ६० ॥

तथा भीष्मस्तु सुदृढं वासुदेवधनंजयौ ।
विव्याध निशितैर्बाणैः सर्वगात्रेषु भारत ॥ ६१ ॥

भारत ! तथापि भीष्मने श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें अपने पैने बाणोंसे गहरे आघात किये ॥ ६१ ॥

शुशुभाते नरव्याघ्रौ तौ भीष्मशरविक्षतौ ।
गोवृषाविव संरब्धौ विषाणैर्लिखिताङ्कितौ ॥ ६२ ॥

भीष्मके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो वे नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन क्रोधमें भरे हुए उन दो साँड़ोंके समान सुशोभित हुए, जिनके सम्पूर्ण शरीरमें सींगोंके आघातसे बहुत-से घाव हो गये हों ॥ ६२ ॥

पुनश्चापि सुसंरब्धः शरैः शतसहस्रशः ।
कृष्णयोर्युधि संरब्धो भीष्मोऽथावारयद् दिशः॥ ६३ ॥

तत्पश्चात् रोषावेशमें भरे हुए भीष्मने सैकड़ों-हजारों बाणोंकी वर्षा करके युद्धभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित एवं अवरुद्ध कर दिया ॥ ६३ ॥

वार्ष्णेयं च शरैस्तीक्ष्णैः कम्पयामास रोषितः ।
मुहुरभ्यर्दयन् भीष्मः प्रहस्य स्वनवत् तदा ॥ ६४ ॥

इतना ही नहीं, रोषमें भरे हुए भीष्मने जोर-जोरसे हँसकर अपने तीखे बाणोंसे बारंबार पीड़ित करते हुए वृष्णि-कुलभूषण श्रीकृष्णको कम्पित-सा कर दिया ॥ ६४ ॥

ततस्तु कृष्णः समरे दृष्ट्वा भीष्मपराक्रमम् ।
सम्प्रेक्ष्य च महाबाहुः पार्थस्य मृदुयुद्धताम् ६५ ॥
भीष्मं च शरवर्षाणि सृजन्तमनिशं युधि ।
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्यमासाद्य सेनयोः ॥ ६६ ॥
वरान् वरान् विनिघ्नन्तं पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् ।
युगान्तमिव कुर्वाणं भीष्मं यौधिष्ठिरे बले ॥ ६७ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने उस समराङ्गणमें भीष्मका पराक्रम देखकर यह विचार किया कि अर्जुन तो कोमलतापूर्वक युद्ध कर रहा है और भीष्म युद्धस्थलमें निरन्तर बाणोंकी वर्षा कर रहे हैं। ये दोनों सेनाओंके बीचमें आकर तपते हुए सूर्यकी भाँति सुशोभित होते और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके अच्छे-अच्छे सैनिकोंको चुन-चुनकर मार रहे हैं। युधिष्ठिरकी सेनामें भीष्मने प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर दिया है॥

अमृष्यमाणो भगवान् केशवः परवीरहा ।
अचिन्तयदमेयात्मा नास्ति यौधिष्ठिरं बलम् ॥ ६८ ॥
एकाह्ना हि रणे भीष्मो नाशयेद् देवदानवान् ।
किमु पाण्डुसुतान् युद्धे सबलान् सपदानुगान्॥ ६९ ॥

यह सब देख और सोचकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके। उन्होंने मन-ही-मन विचार किया कि युधिष्ठिरकी सेनाका अस्तित्व मिटना चाहता है। भीष्म रणभूमिमें एक ही दिनमें सम्पूर्ण देवताओं और दानवोंका नाश कर सकते हैं। फिर सेना और सेवकोंसहित पाण्डवोंको युद्धमें परास्त करना इनके लिये कौन बड़ी बात है ! ॥ ६८-६९ ॥

द्रवते च महासैन्यं पाण्डवस्य महात्मनः ।
एते च कौरवास्तूर्णं प्रभग्नान् वीक्ष्य सोमकान् ॥ ७० ॥
प्राद्रवन्ति रणे हृष्टा हर्षयन्तः पितामहम् ।
सोऽहं भीष्मं निहन्म्यद्य पाण्डवार्थाय दंशितः ॥ ७१ ॥

महात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी यह विशाल सेना भागी जा रही है और ये कौरवलोग रणक्षेत्रमें सोमकोंको शीघ्रतापूर्वक भागते देख पितामहका हर्ष बढ़ाते हुए उन्हें खदेड़ रहे हैं; अतः आज पाण्डवोंके लिये कवच धारण किया हुआ मैं स्वयं ही भीष्मको मारे डालता हूँ ॥ ७०-७१ ॥

भारमेतं विनेष्यामि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अर्जुनो हि शरैस्तीक्ष्णैर्वध्यमानोऽपि संयुगे ॥ ७२ ॥
कर्तव्यं नाभिजानाति रणे भीष्मस्य गौरवात् ।

महामना पाण्डवोंके इस भारी भारको मैं ही दूर करूँगा। अर्जुन इस युद्धमें तीखे बाणोंकी मार खाकर भी भीष्मके प्रति गौरवबुद्धि रखनेके कारण अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहा है ॥ ७२½ ॥

तथा चिन्तयतस्तस्य भूय एव पितामहः ।
प्रेषयामास संक्रुद्धः शरान् पार्थरथं प्रति ॥ ७३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार चिन्तन करते समय अत्यन्त कुपित हुए पितामह भीष्मने अर्जुनके रथपर पुनः बहुत-से बाण चलाये ॥ ७३ ॥

तेषां बहुत्वात् तु भृशं शराणां
दिशश्च सर्वाः पिहिता बभूवुः ।
न चान्तरिक्षं न दिशो न भूमि-
र्न भास्करोऽदृश्यत रश्मिमाली ।
ववुश्च वातास्तुमुलाः सधूमा
दिशश्च सर्वाः क्षुभिता बभूवुः ॥ ७४ ॥

उन बाणोंकी अत्यधिकताके कारण उनसे सम्पूर्ण दिशाएँ आच्छादित हो गयीं। न आकाश दिखायी देता था, न दिशाएँ; न तो भूमि दिखायी देती थी और न मरीचिमाली भगवान् भास्करका ही दर्शन होता था। उस समय धूमयुक्त भयंकर हवा चलने लगी। सम्पूर्ण दिशाएँ क्षुब्ध हो उठीं॥

द्रोणो विकर्णोऽथ जयद्रथश्च
भूरिश्रवाः कृतवर्मा कृपश्च ।
श्रुतायुरम्बष्ठपतिश्च राजा
विन्दानुविन्दौ च सुदक्षिणश्च ॥ ७५ ॥
प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे
वसातयः क्षुद्रकमालवाश्च ।
किरीटिनं त्वरमाणाऽभिसस्रु-
र्निदेशगाः शान्तनवस्य राज्ञः ॥ ७६ ॥

तब द्रोण, विकर्ण, जयद्रथ, भूरिश्रवा, कृतवर्मा, कृपाचार्य, श्रुतायु, राजा अम्बष्ठपति, विन्द, अनुविन्द, सुदक्षिण, पूर्वीय नरेशगण, सौवीरदेशीय क्षत्रियगण, वसाति, क्षुद्रक और मालवगण,—ये सभी शान्तनुनन्दन भीष्मकी आज्ञाके अनुसार चलते हुए तुरंत ही किरीटधारी अर्जुनका सामना करनेके लिये निकट चले आये ॥ ७५-७६ ॥

तं वाजिपादातरथौघजालै-
रनेकसाहस्रशतैर्ददर्श ।
किरीटिनं सम्परिवार्यमाणं
शिनेर्नप्ता वारणयूथपैश्च ॥ ७७ ॥

सात्यकिने दूरसे देखा, किरीटधारी अर्जुन घोड़े, पैदल तथा रथियोंसहित कई लाख सैनिकोंसे घिर गये हैं, गजराज-यूथपतियोंने भी उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा है ॥ ७७ ॥

ततस्तु दृष्ट्वार्जुनवासुदेवौ
पदातिनागाश्वरथैः समन्तात् ।
अभिद्रुतौ शस्त्रभृतां वरिष्ठौ
शिनिप्रवीरोऽभिससार तूर्णम् ॥ ७८ ॥

तत्पश्चात् पैदल, हाथी, घोड़े और रथोंद्वारा चारों ओरसे आक्रान्त हुए शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुनको देखकर शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकि तुरंत वहाँ आ पहुँचे ॥ ७८ ॥

स तान्यनीकानि महाधनुष्मा-
ञ्छिनिप्रवीरः सहसाभिपत्य ।
चकार साहाय्यमथार्जुनस्य
विष्णुर्यथा वृत्रनिषूदनस्य ॥ ७९ ॥

महाधनुर्धर शिनिवीर सात्यकिने सहसा उन सेनाओंके समीप पहुँचकर अर्जुनकी उसी प्रकार सहायता की, जैसे भगवान् विष्णु वृत्रविनाशक इन्द्रकी सहायता करते हैं ॥ ७९ ॥

विशीर्णनागाश्वरथध्वजौघं
भीष्मेण वित्रासितसर्वयोधम् ।
युधिष्ठिरानीकमभिद्रवन्तं
प्रोवाच संदृश्य शिनिप्रवीरः ॥ ८० ॥

युधिष्ठिरकी सेनाके हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजाओंके समूह तितर-बितर हो गये थे। भीष्मने उनके सम्पूर्ण योद्धाओंको भयभीत कर दिया था। इस प्रकार युधिष्ठिरके सैनिकोंको भागते देख शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिने उनसे कहा—॥

क्व क्षत्रिया यास्यथ नैष धर्मः
सतां पुरस्तात् कथितः पुराणैः ।
मा स्वां प्रतिज्ञां त्यजत प्रवीराः
स्वं वीरधर्मं परिपालयध्वम् ॥ ८१ ॥

'क्षत्रियो! कहाँ जा रहे हो? प्राचीन महापुरुषोंद्वारा यह श्रेष्ठ क्षत्रियोंका धर्म नहीं बताया गया है। वीरो! अपनी प्रतिज्ञा न छोड़ो, अपने वीर-धर्मका पालन करो' ॥ ८१ ॥

तान् वासवानन्तरजो निशाम्य
नरेन्द्रमुख्यान् द्रवतः समन्तात् ।
पार्थस्य दृष्ट्वा मृदुयुद्धतां च
भीष्मं च संख्ये समुदीर्यमाणम् ॥ ८
अमृष्यमाणः स ततो महात्मा
यशस्विनं सर्वदशार्हभर्ता ।
उवाच शैनेयमभिप्रशंसन्
दृष्ट्वा कुरूनापततः समग्रान् ॥ ८

इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने उन श्रेष्ठ राज सब ओर भागते देखा और इस बातपर भी लक्ष्य कि अर्जुन तो कोमलताके साथ युद्ध कर रहा है और भीष्म संग्राममें अधिकाधिक प्रचण्ड होते जा रहे हैं। यह सब दे कर सम्पूर्ण यदुकुलका भरण-पोषण करनेवाले म भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके। उन्होंने कौरवोंको सब ओरसे आक्रमण करते देख यशस्वी सात्यकिकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ ८२-८३ ॥

ये यान्ति ते यान्तु शिनिप्रवीर
येऽपि स्थिताः सात्वत तेऽपि यान्तु ।
भीष्मं रथात् पश्य निपात्यमानं
द्रोणं च संख्ये सगणं मयाद्य ॥ ८

'शिनिवंशके प्रमुख वीर! सात्वतरत्न! जो भाग र वे भाग जायँ। जो खड़े हैं, वे भी चले जायँ। (मैं लोगोंका भरोसा नहीं करता।) तुम देखो, मैं अभी भूमिमें सहायकगणोंके साथ भीष्म और द्रोणाचार्यको मार गिराता हूँ ॥ ८४ ॥

न मे रथी सात्वत कौरवाणां
क्रुद्धस्य मुच्येत रणेऽद्य कश्चित् ।
तस्मादहं गृह्य रथाङ्गमुग्रं
प्राणं हरिष्यामि महाव्रतस्य ॥ ८

'सात्वत वीर! आज कौरवसेनाका कोई भी रथी भरे हुए मुझ कृष्णके हाथसे जीवित नहीं छूट सकता। अपना भयंकर चक्र लेकर महान् व्रतधारी भीष्मके हर लूँगा ॥ ८५ ॥

निहत्य भीष्मं सगणं तथाऽऽजौ
द्रोणं च शैनेय रथप्रवीरौ ।
प्रीतिं करिष्यामि धनंजयस्य
राज्ञश्च भीमस्य तथाश्विनोश्च ॥ ८

'सात्यके! सहायकगणोंसहित भीष्म और द्रोण— दोनों वीर महारथियोंको युद्धमें मारकर मैं अर्जुन, युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवको प्रसन्न करूँगा

निहत्य सर्वान् धृतराष्ट्रपुत्रां-
स्तत्पक्षिणो ये च नरेन्द्रमुख्याः ।
राज्येन राजानमजातशत्रुं
सम्पादयिष्याम्यहमद्य हृष्टः ॥ ८

धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा उसके पक्षमें आये हुए सभी नरेशोंको मारकर मैं प्रसन्नतापूर्वक आज अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरको राज्यसे सम्पन्न कर दूँगा' ॥ ८७ ॥

संजय उवाच

(इतीदमुक्त्वा स महानुभावः
ससार चक्रं निशितं पुराणम् ।
सुदर्शनं चिन्तितमात्रमेव
तस्याग्रहस्तं स्वयमारुरोह ॥)

संजय कहते हैं—ऐसा कहकर महानुभाव श्रीकृष्णने पुरातन एवं तीक्ष्ण आयुध सुदर्शनचक्रका स्मरण या। उनके चिन्तन करने मात्रसे ही वह स्वयं उनके हाथके भागमें प्रस्तुत हो गया ॥

ततः सुनाभं वसुदेवपुत्रः
सूर्यप्रभं वज्रसमप्रभावम् ।
क्षुरान्तमुद्यम्य भुजेन चक्रं
रथादवप्लुत्य विसृज्य वाहान् ॥ ८८ ॥
संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा
वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम् ।
मदान्धमाजौ समुदीर्णदर्पं
सिंहो जिघांसन्निव वारणेन्द्रम् ॥ ८९ ॥

उस चक्रकी नाभि बड़ी सुन्दर थी। उसका प्रकाश के समान और प्रभाव वज्रके तुल्य था। उसके किनारे छूरेके तीक्ष्ण थे। वसुदेवनन्दन महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी छोड़कर हाथमें उस चक्रको घुमाते हुए रथसे कूद और जिस प्रकार सिंह बढ़े हुए घमंडवाले मदान्ध एवं गजराजको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर झपटे, प्रकार वे भी अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कँपाते हुए में भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े ॥ ८८-८९ ॥

सोऽभिद्रवन् भीष्ममनीकमध्ये
क्रुद्धो महेन्द्रावरजः प्रमाथी ।
व्यालम्बिपीतान्तपटश्चकाशे
घनो यथा खे तडितावनद्धः ॥ ९० ॥

देवराज इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण समस्त शत्रुओंको करनेकी शक्ति रखते थे। वे उस सेनाके मध्यभागमें होकर जिस समय भीष्मकी ओर झपटे, उस समय श्याम विग्रहपर लटककर हवाके वेगसे फहराता हुआ का छोर उन्हें ऐसी शोभा दे रहा था, मानो में बिजलीसे आवेष्टित हुआ श्याम मेघ सुशोभित हो हो ॥ ९० ॥

सुदर्शनं चास्य रराज शौरे-
स्तच्चक्रपद्मं सुभुजोरुनालम् ।
यथादिपद्मं तरुणार्कवर्णं
रराज नारायणनाभिजातम् ॥ ९१ ॥

श्रीकृष्णकी सुन्दर भुजारूपी विशाल नालसे सुशोभित वह सुदर्शनचक्र कमलके समान शोभा पा रहा था, मानो भगवान् नारायणके नाभिसे प्रकट हुआ प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिवाला आदिकमल प्रकाशित हो रहा हो ॥९१॥

तत् कृष्णकोपोदयसूर्यबुद्धं
क्षुरान्ततीक्ष्णाग्रसुजातपत्रम् ।
तस्यैव देहोरुसरःप्ररूढं
रराज नारायणबाहुनालम् ॥ ९२ ॥

श्रीकृष्णके क्रोधरूपी सूर्योदयसे वह कमल विकसित हुआ था। उसके किनारे छूरेके समान तीक्ष्ण थे। वे ही मानो उसके सुन्दर दल थे। भगवान्‌के श्रीविग्रहरूपी महान् सरोवरमें ही वह बढ़ा हुआ था और नारायणस्वरूप श्रीकृष्णकी बाहुरूपी नाल उसकी शोभा बढ़ा रही थी ॥ ९२ ॥

तमात्तचक्रं प्रणदन्तमुच्चैः
क्रुद्धं महेन्द्रावरजं समीक्ष्य ।
सर्वाणि भूतानि भृशं विनेदुः
क्षयं कुरूणामिव चिन्तयित्वा ॥ ९३ ॥

महेन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण कुपित हो हाथमें चक्र उठाये बड़े जोरसे गरज रहे थे। उन्हें इस रूपमें देखकर कौरवोंके संहारका विचार करके सभी प्राणी हाहाकार करने लगे ॥ ९३ ॥

स वासुदेवः प्रगृहीतचक्रः
संवर्तयिष्यन्निव सर्वलोकम् ।
अभ्युत्पतल्लँोकगुरुर्बभासे
भूतानि धक्ष्यन्निव धूमकेतुः ॥ ९४ ॥

वे जगद्गुरु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हाथमें चक्र ले मानो सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करनेके लिये उद्यत थे और समस्त प्राणियोंको जलाकर भस्म कर डालनेके लिये उठी हुई प्रलयाग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ९४ ॥

तमाद्रवन्तं प्रगृहीतचक्रं
दृष्ट्वा देवं शान्तनवस्तदानीम् ।
असम्भ्रमं तद् विचकर्ष दोर्भ्यां
महाधनुर्गाण्डिवतुल्यघोषम् ॥ ९५ ॥

भगवान्‌को चक्र लिये अपनी ओर वेगपूर्वक आते देख शान्तनुनन्दन भीष्म उस समय तनिक भी भय अथवा घबराहटका अनुभव न करते हुए दोनों हाथोंसे गाण्डीव धनुषके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने महान् धनुषको खींचने लगे ॥ ९५ ॥

उवाच भीष्मस्तमनन्तपौरुषं
गोविन्दमाजावविमूढचेताः ।

एह्येहि देवेश जगन्निवास
नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे ॥ ९६ ॥
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये ॥ ९७ ॥

उस समय युद्ध स्थलमें भीष्मके चित्तमें तनिक भी मोह नहीं था। वे अनन्त पुरुषार्थशाली भगवान् श्रीकृष्णका आह्वान करते हुए बोले—'आइये, आइये, देवेश्वर ! जगन्निवास ! आपको नमस्कार है। हाथमें चक्र लिये आये हुए माधव ! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये ॥ ९६-९७ ॥

त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण
श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके।
सम्भावितोऽस्म्यन्धकवृष्णिनाथ
लोकैस्त्रिभिर्वीर तवाभियानात्॥ ९८ ॥

'श्रीकृष्ण ! आज आपके हाथसे यदि मैं मारा जाऊँगा तो इहलोक और परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा। अन्धक और वृष्णिकुलकी रक्षा करनेवाले वीर ! आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरा गौरव बढ़ गया' ॥ ९८ ॥

रथादवप्लुत्य ततस्त्वरावान्
पार्थोऽप्यनुद्रुत्य यदुप्रवीरम्।
जग्राह पीनोत्तमलम्बबाहुं
बाह्वोर्हरिं व्यायतपीनबाहुः ॥ ९९ ॥

मोटी, लंबी और उत्तम भुजाओंवाले यदुकुलके श्रेष्ठ वीर भगवान् श्रीकृष्णको आगे बढ़ते देख अर्जुन भी बड़ी उतावलीके साथ रथसे कूदकर उनके पीछे दौड़े और निकट जाकर भगवान्‌की दोनों बाहें पकड़ लीं। अर्जुनकी भुजाएँ भी मोटी और विशाल थीं ॥ ९९ ॥

निगृह्यमाणश्च तदाऽऽदिदेवो
भृशं सरोषः किल चात्मयोगी।
आदाय वेगेन जगाम विष्णु-
र्जिष्णुं महावात इवैकवृक्षम् ॥१००॥

आदिदेव आत्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण बहुत रोषमें भरे हुए थे। वे अर्जुनके पकड़नेपर भी रुक न सके। जैसे आँधी किसी वृक्षको खींचे लिये चली जाय, उसी प्रकार वे भगवान् विष्णु अर्जुनको लिये हुए ही बड़े वेगसे आगे बढ़ने लगे ॥

पार्थस्तु विष्टभ्य बलेन पादौ
भीष्मान्तिकं तूर्णमभिद्रवन्तम्।
बलान्निजग्राह हरिं किरीटी
पदेऽथ राजन् दशमे कथञ्चित् ॥१०१॥

राजन् ! तब किरीटधारी अर्जुनने भीष्मके निकट बड़े वेगसे जाते हुए श्रीहरिके चरणोंको बलपूर्वक पकड़ लिया और किसी प्रकार दसवें कदमपर पहुँचते-पहुँचते उन्हें रोका॥

अवस्थितं च प्रणिपत्य कृष्णं
प्रीतोऽर्जुनः काञ्चनचित्रमाली।
उवाच कोपं प्रतिसंहरेति
गतिर्भवान् केशव पाण्डवानाम्॥१०

जब श्रीकृष्ण खड़े हो गये, तब सुवर्णका विचित्र
पहने हुए अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न हो उनके चरणोंमें
करके कहा—'केशव ! आप अपना क्रोध रोकिये।
आप ही पाण्डवोंके परम आश्रय हैं ॥ १०२ ॥

न हास्यते कर्म यथाप्रतिज्ञं
पुत्रैः शपे केशव सोदरैश्च।
अन्तं करिष्यामि यथा कुरूणां
त्वयाहमिन्द्रानुज सम्प्रयुक्तः ॥ १०

'केशव ! अब मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार
पालन करूँगा, उसका त्याग कभी नहीं करूँगा।
मैं अपने पुत्रों और भाइयोंकी शपथ खाकर कहता
उपेन्द्र ! आपकी आज्ञा मिलनेपर मैं समस्त कौरवोंका
कर डालूँगा' ॥ १०३ ॥

ततः प्रतिज्ञां समयं च तस्य
जनार्दनः प्रीतमना निशम्य।
स्थितः प्रिये कौरवसत्तमस्य
रथं सचक्रः पुनराररोह ॥१०

अर्जुनकी यह प्रतिज्ञा और कर्तव्य-पालनका यह
सुनकर भगवान् श्रीकृष्णका मन प्रसन्न हो गया। वे
श्रेष्ठ अर्जुनका प्रिय करनेके लिये उद्यत हो पुनः चक्र
रथपर जा बैठे ॥ १०४ ॥

स तानभीषून् पुनराददानः
प्रगृह्य शङ्खं द्विषतां निहन्ता।
निनादयामास ततो दिशश्च
स पाञ्चजन्यस्य रवेण शौरिः ॥१०

शत्रुओंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने
घोड़ोंकी बागडोर सँभाली और पाञ्चजन्य शङ्ख लेकर
ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित कर दिया ॥ १०

व्याविद्धनिष्काङ्गदकुण्डलं तं
रजोविकीर्णाञ्चितपद्मनेत्रम्।
विशुद्धदंष्ट्रं प्रगृहीतशङ्खं
विचुक्रुशुः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीराः ॥१०

उस समय उनके कण्ठका हार, भुजाओंके बाजूबन्द
कानोंके कुण्डल हिलने लगे थे। उनके कमलके समान
नेत्रोंपर सेनासे उठी हुई धूल बिखरी थी। उनकी
शुद्ध एवं स्वच्छ थी और उन्होंने अपने हाथमें शङ्ख
रक्खा था। उस अवस्थामें श्रीकृष्णको देखकर
प्रमुख वीर कोलाहल कर उठे ॥ १०६ ॥

मृदङ्गभेरीपणवप्रणादा
नेमिस्वना दुन्दुभिनिःस्वनाश्च ।
ससिंहनादाश्च बभूवुरुग्राः
सर्वेष्वनीकेषु ततः कुरूणाम् ॥१०७॥

तत्पश्चात् कौरवोंके सम्पूर्ण सैन्यदलोंमें मृदंग, भेरी, तथा दुन्दुभिकी ध्वनि होने लगी । रथके पहियोंकी घराहट सुनायी देने लगी । वे सभी शब्द वीरोंके सिंह- मिलकर अत्यन्त उग्र प्रतीत हो रहे थे ॥ १०७ ॥

गाण्डीवघोषः स्तनयित्नुकल्पो
जगाम पार्थस्य नभो दिशश्च ।
जग्मुश्च बाणा विमलाः प्रसन्नाः
सर्वा दिशः पाण्डवचापमुक्ताः ॥१०८॥

अर्जुनके गाण्डीव धनुषका गम्भीर घोष मेघकी गर्जनाके आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल गया तथा उनके छूटे हुए निर्मल एवं स्वच्छ बाण सम्पूर्ण दिशाओंमें लगे ॥ १०८ ॥

तं कौरवाणामधिपो जवेन
भीष्मेण भूरिश्रवसा च सार्धम् ।
अभ्युद्ययावुद्यतबाणपाणिः
कक्षं दिधक्षन्निव धूमकेतुः ॥१०९॥

उस समय कौरवराज दुर्योधन हाथमें धनुष-बाण लिये से अर्जुनके सामने आया, मानो घास-फूँसको जलानेके ज्वलित आग बढ़ती चली आ रही हो । भीष्म और वाने भी दुर्योधनका साथ दिया ॥ १०९ ॥

अथार्जुनाय प्रजिघाय भल्लान्
भूरिश्रवाः सप्त सुवर्णपुङ्खान् ।
दुर्योधनस्तोमरमुग्रवेगं
शल्यो गदां शान्तनवश्च शक्तिम् ॥११०॥

दनन्तर भूरिश्रवाने सोनेके पंखसे युक्त सात भल्ल अर्जुनपर ये। दुर्योधनने भयंकर वेगशाली तोमरका प्रहार किया । ने गदा और शान्तनुनन्दन भीष्मने शक्ति चलायी ॥

स सप्तभिः सप्त शरप्रवेकान्
संवार्य भूरिश्रवसा विसृष्टान् ।
शितेन दुर्योधनबाहुमुक्तं
क्षुरेण तत् तोमरमुन्ममाथ ॥१११॥

र्जुनने सात बाणोंसे भूरिश्रवाके छोड़े हुए सातों भल्लों- टकर तीखे छूरेसे दुर्योधनकी भुजाओंसे मुक्त हुए रको मी नष्ट कर दिया ॥ १११ ॥

ततः शुभ्रामापततीं स शक्तिं
विद्युत्प्रभां शान्तनवेन मुक्ताम् ।
गदां च मद्राधिपबाहुमुक्तां
द्वाभ्यां शराभ्यां निचकर्त वीरः ॥११२॥

तत्पश्चात् वीर अर्जुनने शान्तनुनन्दन भीष्मकी छोड़ी हुई बिजलीके समान चमकीली और शोभामयी शक्तिको तथा मद्रराज शल्यकी भुजाओंसे मुक्त हुई गदाको भी दो बाणोंसे काट डाला ॥

ततो भुजाभ्यां बलवद् विकृष्य
चित्रं धनुर्गाण्डिवमप्रमेयम् ।
माहेन्द्रमस्त्रं विधिवत् सुघोरं
प्रादुश्चकाराद्भुतमन्तरिक्षे ॥११३॥

तदनन्तर अप्रमेय शक्तिशाली विचित्र गाण्डीव धनुषको दोनों भुजाओंसे बलपूर्वक खींचकर अर्जुनने विधिपूर्वक अत्यन्त भयंकर माहेन्द्र अस्त्रको प्रकट किया । वह अद्भुत अस्त्र अन्तरिक्षमें चमक उठा ॥ ११३ ॥

तेनोत्तमास्त्रेण ततो महात्मा
सर्वाण्यनीकानि महाधनुष्मान् ।
शरौघजालैर्विमलाग्निवर्णै-
र्निवारयामास किरीटमाली ॥११४॥

फिर किरीटधारी महामना महाधनुर्धर अर्जुनने उस उत्तम अस्त्रद्वारा निर्मल एवं अग्निके समान प्रज्वलित बाणोंका जाल-सा बिछाकर कौरवोंके समस्त सैनिकोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ११४ ॥

शिलीमुखाः पार्थधनुःप्रमुक्ता
रथान् ध्वजाग्राणि धनूंषि बाहून् ।
निकृत्य देहान् विविशुः परेषां
नरेन्द्रनागेन्द्रतुरङ्गमाणाम् ॥११५॥

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए बाण शत्रुओंके रथ, ध्वजाग्र, धनुष और बाहु काटकर नरेशों, गजराजों तथा घोड़ोंके शरीरोंमें घुसने लगे ॥ ११५ ॥

ततो दिशः सोऽनुदिशश्च पार्थः
शरैः सुधारैः समरे वितत्य ।
गाण्डीवशब्देन मनांसि तेषां
किरीटमाली व्यथयाञ्चकार ॥११६॥

तदनन्तर तीखी धारवाले बाणोंसे युद्धस्थलमें सम्पूर्ण दिशाओं और कोणोंको आच्छादित करके किरीटधारी अर्जुनने गाण्डीव धनुषकी टंकारसे कौरवोंके मनमें भारी व्यथा उत्पन्न कर दी ॥

तस्मिंस्तथा घोरतमे प्रवृत्ते
शङ्खस्वना दुन्दुभिनिःस्वनाश्च ।
अन्तर्हिता गाण्डिवनिःस्वनेन
बभूवुरुग्राश्वरथप्रणादाः ॥११७॥

इस प्रकारके उस अत्यन्त भयंकर युद्धमें शङ्ख-ध्वनि, दुन्दुभि-ध्वनि तथा घोड़ों और रथके पहियोंके भयंकर शब्द गाण्डीव धनुषकी टंकारके सामने दब गये ॥ ११७॥

गाण्डीवशब्दं तमथो विदित्वा
विराटराजप्रमुखाः प्रवीराः ।
पाञ्चालराजो द्रुपदश्च वीर-
स्तं देशमाजग्मुरदीनसत्त्वाः ॥११८॥

तब उस गाण्डीवके शब्दको पहचानकर राजा विराट आदि प्रमुख वीर और वीरवर पाञ्चालराज द्रुपद—ये सभी उदारचित्त नरेश उस स्थानपर आ गये ॥ ११८ ॥

सर्वाणि सैन्यानि तु तावकानि
यतो यतो गाण्डिवजः प्रणादः ।
ततस्ततः संनतिमेव जग्मु-
र्न तं प्रतीपोऽभिससार कश्चित् ॥११९॥

जहाँ-जहाँ गाण्डीव धनुषकी टंकार होती, वहाँ-वहाँ आपके सारे सैनिक मस्तक टेक देते थे । कोई भी उनके प्रतिकूल आक्रमण नहीं करता था ॥ ११९ ॥

तस्मिन् सुघोरे नृपसम्प्रहारे
हताः प्रवीराः सरथाश्वसूताः ।
गजाश्च नाराचनिपाततप्ता
महापताकाः शुभरुक्मकक्ष्याः ॥१२०॥
परीतसत्त्वाः सहसा निपेतुः
किरीटिना भिन्नतनुत्रकायाः ।
दृढं हताः पत्रिभिरुग्रवेगैः
पार्थेन भल्लैर्विमलैः शिताग्रैः ॥१२१॥

राजाओंके उस भयानक संग्राममें रथ, घोड़े और सारथिसहित बड़े-बड़े वीर मारे गये । सुन्दर सुनहरे रस्सोंसे कसे हुए, बड़ी-बड़ी पताकाओंवाले हाथी नाराचोंकी मारसे पीड़ित हो शक्ति और चेतना खोकर सहसा धराशायी हो गये । कुन्तीकुमार अर्जुनके भयंकर वेगवाले तीखे एवं पंखयुक्त निर्मल भल्लोंसे गहरी चोट पड़नेपर कवच और शरीर दोनोंके विदीर्ण हो जानेसे कौरव सैनिक सहसा प्राणशून्य होकर गिर जाते थे ॥ १२०-१२१ ॥

निकृत्तयन्त्रा निहतेन्द्रकीला
ध्वजा महान्तो ध्वजिनीमुखेषु ।
पदातिसङ्घाश्च रथाश्च संख्ये
हयाश्च नागाश्च धनंजयेन ॥१२२॥
बाणाहतास्तूर्णमपेतसत्त्वा
विष्टभ्य गात्राणि निपेतुरुर्व्याम् ।
ऐन्द्रेण तेनास्त्रवरेण राजन्
महाहवे भिन्नतनुत्रदेहाः ॥१२३॥

युद्धके मुहानेपर जिनके यन्त्र कट गये और इन्द्रकील नष्ट हो गये थे, ऐसे बड़े-बड़े ध्वज छिन्न-भिन्न होकर गिरने लगे । उस संग्राममें अर्जुनके बाणोंसे घायल पैदलोंके समूह, रथी, घोड़े और हाथी शीघ्र ही सत्त्वशून्य होकर अपने अ पकड़े हुए पृथ्वीपर गिरने लगे । राजन् ! उस ऐन्द्रास्त्रसे समरभूमिमें सभी सैनिकोंके शरीर और छिन्न-भिन्न हो गये ॥ १२२-१२३ ॥

ततः शरौघैर्निशितैः किरीटिना
नृदेहशस्त्रक्षतलोहितोदा ।
नदी सुघोरा नरमेदफेना
प्रवर्तिता तत्र रणाजिरे वै ॥१२

उस समय समराङ्गणमें किरीटधारी अर्जुनने अपने बाणसमूहोंद्वारा योद्धाओंके शरीरमें लगे हुए आ निकलनेवाले रक्तकी एक भयंकर नदी बहा दी; मनुष्योंके मेदे फेनके समान जान पड़ते थे ॥ १२४ ॥

वेगेन सातीव पृथुप्रवाहा
परेतनागाश्वशरीररोधा ।
नरेन्द्रमज्जोच्छ्रितमांसपङ्का
प्रभूतरक्षोगणभूतसेविता ॥१२

वह नदी बड़े वेगसे बह रही थी । उसका प्रवाह था । मरे हुए हाथी, घोड़ोंके शरीर तटोंके समान प्रतीत थे । राजाओंके मज्जा और मांस कीचड़के समान बहुत-से राक्षस और भूतगण उसका सेवन करते थे ॥१

शिरःकपालाकुलकेशशाद्वला
शरीरसङ्घातसहस्रवाहिनी ।
विशीर्णनानाकवचोर्मिसंकुला
नराश्वनागास्थिनिकृत्तशर्करा ॥१२

मुर्दोंकी खोपड़ियोंके केश सेवारका भ्रम उत्पन्न थे । सहस्रों शरीर उसमें जल-जन्तुओंके समान बह रहे छिन्न-भिन्न होकर बिखरे हुए कवच लहरोंके समान सर्वत्र व्याप्त थे । मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी हड्डियाँ छोटे-छोटे कंकड़-पत्थरोंका काम दे रही थीं ॥ १२

श्वकङ्कशालावृकगृध्रकाकैः
क्रव्यादसङ्घैश्च तरक्षुभिश्च ।
उपेतकूलां ददृशुर्मनुष्याः
क्रूरां महावैतरणीप्रकाशाम् ॥१२

उसके दोनों किनारोंपर कुत्ते, कौवे, भेड़िये, गीध, तरक्षु* तथा अन्यान्य मांसभक्षी जन्तु निवास करते थे । भयानक नदीको लोगोंने महावैतरणीके समान देखा ॥ १२

प्रवर्तितामर्जुनबाणसङ्घै-
र्मेदोवसासृक्प्रवहां सुभीमाम् ।
हतप्रवीरां च तथैव दृष्ट्वा
सेनां कुरूणामथ फाल्गुनेन ॥१२

---

* सेई जन्तु, जिसके बदनमें काँटे होते हैं ।

ते चेदिपाञ्चालकरूषमत्स्याः
पार्थाश्च सर्वे सहिताः प्रणेदुः ।
जयप्रगल्भाः पुरुषप्रवीराः
संत्रासयन्तः कुरुवीरयोधान् ॥१२९॥

अर्जुनके बाणसमूहोंसे उस नदीका प्राकट्य हुआ था । चर्बी, मज्जा तथा रक्त बहानेके कारण बड़ी भयंकर जान ती थी। इस प्रकार कौरवसेनाके प्रधान-प्रधान वीर र्जुनके द्वारा मारे गये। यह देखकर चेदि, पाञ्चाल, करूष र मत्स्यदेशके क्षत्रिय तथा कुन्तीके पुत्र—ये सभी नर- र विजय पानेसे निर्भय हो कौरवयोद्धाओंको भयभीत करते र एक साथ सिंहनाद करने लगे ॥ १२८-१२९ ॥

हतप्रवीराणि बलानि दृष्ट्वा
किरीटिना शत्रुभयावहेन ।
वित्रास्य सेनां ध्वजिनीपतीनां
सिंहो मृगाणामिव यूथसङ्घान् ॥१३०॥
विनेदतुस्तावतिहर्षयुक्तौ
गाण्डीवधन्वा च जनार्दनश्च ।

शत्रुओंको भय देनेवाले किरीटधारी अर्जुनके द्वारा सेनाके प्रमुख वीरोंको मारे गये देख पाण्डवपक्षके से बड़ी प्रसन्नता हुई थी। गाण्डीवधारी अर्जुन तथा न् श्रीकृष्ण मृगोंके यूथोंको भयभीत करनेवाले सिंहके न कौरवसेनापतियोंकी सारी सेनाको संत्रस्त करके त्त हर्षमें भरकर गर्जना करने लगे ॥ १३०½ ॥

ततो रविं संवृतरश्मिजालं
दृष्ट्वा भृशं शस्त्रपरिक्षताङ्गाः ॥१३१॥
तदैन्द्रमस्त्रं विततं च घोर-
मसह्यमुद्वीक्ष्य युगान्तकल्पम् ।
अथापयानं कुरवः सभीष्माः
सद्रोणदुर्योधनबाह्लिकाश्च ॥१३२॥
चक्रुर्निशां संधिगतां समीक्ष्य
विभावसोर्लोहितरागयुक्ताम् ।

तदनन्तर शस्त्रोंके आघातसे अत्यन्त क्षत-विक्षत अङ्गोंवाले ष्म, द्रोण, दुर्योधन, बाह्लिक तथा अन्य कौरवयोद्धाओंने र्यने अपनी किरणोंको समेटते देख और उस भयंकर स्त्रको प्रलयंकर अग्निके समान सर्वत्र व्याप्त एवं प्त हुआ जानकर सूर्यकी लालीसे युक्त संध्या एवं त्रिके आरम्भकालका अवलोकन कर सेनाको युद्धभूमिसे स लिया ॥ १३१-१३२½ ॥

अवाप्य कीर्तिं च यशश्च लोके
विजित्य शत्रूंश्च धनंजयोऽपि ॥१३३॥
ययौ नरेन्द्रैः सह सोदरैश्च
समाप्तकर्मा शिबिरं निशायाम् ।

धनंजय भी शत्रुओंको जीतकर एवं लोकमें सुयश और सुकीर्ति पाकर भाइयों तथा राजाओंके साथ सारा कार्य समाप्त करके निशाके आरम्भमें अपने शिबिरको लौट गये ॥१३३½॥

ततः प्रजज्ञे तुमुलः कुरूणां
निशामुखे घोरतमः प्रणादः ॥१३४॥
रणे रथानामयुतं निहत्य
हता गजाः सप्तशतार्जुनेन ।
प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे
निपातिताः क्षुद्रकमालवाश्च ॥१३५॥
महत् कृतं कर्म धनंजयेन
कर्तुं यथा नार्हति कश्चिदन्यः ।

उस समय रात्रिके आरम्भमें कौरवोंके दलमें बड़ा भयंकर कोलाहल होने लगा। वे आपसमें कहने लगे—'आज अर्जुनने रणक्षेत्रमें दस हजार रथियोंका विनाश करके सात सौ हाथी मार डाले हैं। प्राच्य, सौवीर, क्षुद्रक और मालव सभी क्षत्रियगणोंको मार गिराया है। धनंजयने जो महान् पराक्रम किया है, उसे दूसरा कोई वीर नहीं कर सकता ॥१३४-१३५½ ॥

श्रुतायुरम्बष्ठपतिश्च राजा
तथैव दुर्मर्षणचित्रसेनौ ॥१३६॥
द्रोणः कृपः सैन्धवबाह्लिकौ च
भूरिश्रवाः शल्यशलौ च राजन् ।
अन्ये च योधाः शतशः समेताः
क्रुद्धेन पार्थेन रणस्य मध्ये ॥१३७॥
स्वबाहुवीर्येण जिताः सभीष्माः
किरीटिना लोकमहारथेन ।

'श्रुतायु, राजा अम्बष्ठपति, दुर्मर्षण, चित्रसेन, द्रोण, कृप, जयद्रथ, बाह्लिक, भूरिश्रवा, शल्य और शल—ये तथा और भी सैकड़ों योद्धा क्रोधमें भरे हुए लोकमहारथी, किरीटधारी कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा रणभूमिमें अपनी ही भुजाओंके पराक्रमसे भीष्मसहित परास्त किये गये हैं' ॥ १३६–१३७½ ॥

इति ब्रुवन्तः शिबिराणि जग्मुः
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः ॥१३८॥
उल्कासहस्रैश्च सुसम्प्रदीप्तै-
र्विभ्राजमानैश्च तथा प्रदीपैः ।
किरीटिवित्रासितसर्वयोधा
चक्रे निवेशं ध्वजिनी कुरूणाम् ॥१३९ ॥

भारत ! उपर्युक्त बातें कहते हुए आपके समस्त सैनिक

सहस्रों जलती हुई मशालें तथा प्रकाशमान दीपोंके उजालेमें अपने-अपने शिबिरमें गये । कौरवसेनाके सम्पूर्ण सैनिकोंपर अर्जुनका त्रास छा रहा था । इसी अवस्थामें उस सेनाने रातमें विश्राम किया ॥ १३८-१३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीयदिवसावहारे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तीसरे दिन सेनाके विश्रामके लिये लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १४०½ श्लोक हैं)

षष्टितमोऽध्यायः

चौथे दिन—दोनों सेनाओंका व्यूहनिर्माण तथा भीष्म और अर्जुनका द्वैरथ-युद्ध

संजय उवाच

व्युष्टां निशां भारत भारताना-
मनीकिनीनां प्रमुखे महात्मा ।
ययौ सपत्नान् प्रति जातकोपो
वृतः समग्रेण बलेन भीष्मः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब भरतवंशियोंकी सेनाके अग्रभागमें स्थित हुए महामना भीष्म समग्रसेनासे घिरकर शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये चले । उस समय उनके मनमें शत्रुओंके प्रति बड़ा क्रोध था ॥ १ ॥

तं द्रोणदुर्योधनबाह्लिकाश्च
तथैव दुर्मर्षणचित्रसेनौ ।
जयद्रथश्चातिबलो बलौघै-
र्नृपास्तथान्ये प्रययुः समन्तात् ॥ २ ॥

उनके साथ चारों ओरसे द्रोण, दुर्योधन, बाह्लिक, दुर्मर्षण, चित्रसेन, अत्यन्त बलवान् जयद्रथ तथा अन्य नरेश विशाल वाहिनीको साथ लिये प्रस्थित हुए ॥ २ ॥

स तैर्महद्भिश्च महारथैश्च
तेजस्विभिर्वीर्यवद्भिश्च राजन् ।
रराज राजा स तु राजमुख्यै-
र्वृतः स देवैरिव वज्रपाणिः ॥ ३ ॥

राजन् ! इन महान्, तेजस्वी, पराक्रमी और महारथी नरपतियोंसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन देवताओंसहित वज्रपाणि इन्द्रके समान शोभा पा रहा था ॥ ३ ॥

तस्मिन्ननीकप्रमुखे विषक्ता
दोधूयमानाश्च महापताकाः ।
सुरक्तपीतासितपाण्डुराभा
महागजस्कन्धगता विरेजुः ॥ ४ ॥

इस सेनाके प्रमुख भागमें बड़े-बड़े गजराजोंके कंधोंपर लगी हुई लाल, पीली, काली और सफेद रंगकी फहराती हुई विशाल पताकाएँ शोभा पा रही थीं ॥ ४ ॥

सा वाहिनी शान्तनवेन गुप्ता
महारथैर्वारणवाजिभिश्च ।
बभौ सविद्युत्स्तनयित्नुकल्पा
जलागमे द्यौरिव जातमेघा ॥ ५ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्मसे रक्षित वह विशाल वाहिनी बड़े-बड़े रथों, हाथियों और घोड़ोंसे ऐसी शोभा पा रही थी, मानो वर्षाकालमें मेघोंकी घटासे आच्छादित आकाश बिजली सहित बादलोंसे सुशोभित हो ॥ ५ ॥

ततो रणायाभिमुखी प्रयाता
प्रत्यर्जुनं शान्तनवाभिगुप्ता ।
सेना महोग्रा सहसा कुरूणां
वेगो यथा भीम इवापगायाः ॥ ६ ॥

तदनन्तर नदीके भयानक वेगकी भाँति कौरवोंकी वह अत्यन्त भयंकर सेना शान्तनुनन्दन भीष्मसे सुरक्षित हो रणके लिये अर्जुनकी ओर सहसा चली ॥ ६ ॥

तं व्यालनानाविधगूढसारं
गजाश्वपादातरथौघपक्षम् ।
व्यूहं महामेघसमं महात्मा
ददर्श दूरात् कपिराजकेतुः ॥ ७ ॥

महामना कपिध्वज अर्जुनने दूरसे देखा कि कौरवसेना व्याल नामक व्यूहमें आबद्ध होनेके कारण अनेक प्रकारकी दिखायी दे रही है । उसकी शक्ति छिपी हुई है । उसमें हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथियोंके समूह भरे हुए हैं । सेनाका वह व्यूह महान् मेघोंकी घटाके समान जान पड़ता है ॥ ७ ॥

विनिर्ययौ केतुमता रथेन
नरर्षभः श्वेतहयेन वीरः ।
वरूथिना सैन्यमुखे महात्मा
वधे धृतः सर्वसपत्नयूनाम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ महामना वीर अर्जुन समस्त शत्रुपक्षीय युवकोंके वधका संकल्प लेकर श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए ध्वज एवं आवरणसे युक्त रथपर आरूढ़ हो शत्रुसेनाके सामने चले ॥ ८ ॥

सूपस्करं सोत्तरबन्धुरेषं
यत्तं यदूनामृषभेण संख्ये ।
कपिध्वजं प्रेक्ष्य विषेदुराजौ
सहैव पुत्रैस्तव कौरवेयाः ॥ ९ ॥

जिसमें सब सामग्री सुन्दरतासे सजाकर रक्खी गयी थी, अच्छी तरह बँधी होनेके कारण जिसकी ईषा अत्यन्त मनोहर दिखायी देती है तथा यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण जिसका संचालन करते हैं, उस वानरके चिह्नवाली ध्वजासे युक्त रथको युद्धभूमिमें उपस्थित देख आपके पुत्रोंसहित समस्त कौरव-सैनिक विषादमग्न हो गये ॥ ९ ॥

प्रकर्षता गुप्तमुदायुधेन
किरीटिना लोकमहारथेन ।
तं व्यूहराजं ददृशुस्त्वदीया-
श्चतुश्चतुर्व्यालसहस्रकर्णम् ॥ १० ॥

लोकविख्यात महारथी किरीटधारी अर्जुन अस्त्र-शस्त्र लेकर जिसे सुरक्षितरूपसे अपने साथ ले आ रहे थे और जिसमें चार-चार हजार मतवाले हाथी प्रत्येक दिशामें खड़े किये गये थे, उस व्यूहराजको आपके सैनिकोंने देखा ॥ १० ॥

यथा हि पूर्वेऽहनि धर्मराज्ञा
व्यूहः कृतः कौरवसत्तमेन ।
तथा न भूतो भुवि मानुषेषु
न दृष्टपूर्वो न च संश्रुतश्च ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने पहले दिन जैसा व्यूह बनाया था, वैसा ही वह भी था । वैसा व्यूह इस भूतलपर मनुष्यों-में सेनाओंमें न तो पहले कभी देखा गया था और न कभी सुना ही गया था ॥ ११ ॥

ततो यथादेशमुपेत्य तस्थुः
पाञ्चालमुख्याः सह चेदिमुख्यैः ।
ततः समादेशसमाहतानि
भेरीसहस्राणि विनेदुराजौ ॥ १२ ॥

तदनन्तर सेनापतिकी आज्ञाके अनुसार यथोचित स्थान-पर पहुँचकर पाञ्चाल और चेदिदेशके प्रमुख वीर खड़े हुए। फिर उस युद्धस्थलमें प्रधानके आदेशानुसार सहस्रों रणभेरियाँ एक साथ बज उठीं ॥ १२ ॥

शङ्खस्वनास्तूर्यरथस्वनाश्च
सर्वेष्वनीकेषु ससिंहनादाः ।
ततः सबाणानि महास्वनानि
विस्फार्यमाणानि धनूंषि वीरैः ॥ १३ ॥

सभी सेनाओंमें शङ्खनाद, तूर्यनाद (वाद्योंकी ध्वनि) तथा वीरोंके सिंहनादसहित रथोंकी घरघराहटके शब्द होने लगे। फिर वीरोंके द्वारा खींचे जानेवाले बाणसहित धनुषके टंकार-शब्द गूँज उठे ॥ १३ ॥

क्षणेन भेरीपणवप्रणादा-
नन्तर्दधुः शङ्खमहास्वनाश्च ।
तच्छङ्खशब्दावृतमन्तरिक्ष-
मुद्धूतभीमाद्भुतरेणुजालम् ॥ १४ ॥

क्षणभरमें भेरी और पणव आदिके शब्दोंको महान् शङ्खनादोंने दबा लिया तथा उस शङ्खध्वनिसे व्याप्त हुए आकाशमें (पृथ्वीसे) उठी हुई धूलोंका भयंकर एवं अद्भुत जाल-सा फैल गया ॥ १४ ॥

महानुभावाश्च ततः प्रकाश-
मालोक्य वीराः सहसाभिपेतुः ।
रथी रथेनाभिहतः ससूतः
पपात साश्वः सरथः सकेतुः ॥ १५ ॥

तदनन्तर महान् प्रभावशाली वीर सूर्यदेवका प्रकाश देखकर सहसा शत्रुमण्डलीपर टूट पड़े । रथी रथीसे भिड़कर सारथि, घोड़े, रथ और ध्वजसहित मरकर गिरने लगा।१५।

गजो गजेनाभिहतः पपात
पदातिना चाभिहतः पदातिः ।
आवर्तमानान्यभिवर्तमानै-
र्घोरीकृतान्यद्भुतदर्शनानि ।
प्रासैश्च खड्गैश्च समाहतानि
सदश्ववृन्दानि सदश्ववृन्दैः ॥ १६ ॥
सुवर्णतारागणभूषितानि
सूर्यप्रभाभानि शरावराणि ।
विदार्यमाणानि परश्वधैश्च
प्रासैश्च खड्गैश्च निपेतुरुर्व्याम् ॥ १७ ॥

हाथी हाथीके आघातसे और पैदल पैदलकी चोटसे धराशायी होने लगे । श्रेष्ठ घोड़ोंके समूहपर उत्तम अश्वोंके समुदाय आक्रमण-प्रत्याक्रमण करते थे । ये सवारोंद्वारा किये हुए खड्ग और प्रासोंके आघातसे घायल होकर भयंकर और अद्भुत दिखायी देते थे । स्वर्णमय तारागणोंके चिह्नोंसे विभूषित सूर्यके समान चमकीले कवच फरसों, तलवारों और प्रासोंकी चोटसे विदीर्ण होकर धरतीपर गिर रहे थे॥ १६-१७॥

गजैर्विषाणैर्वरहस्तरुग्णाः
केचित् ससूता रथिनः प्रपेतुः ।
गजर्षभाश्चापि रथर्षभेण
निपातिता बाणहताः पृथिव्याम् ॥ १८ ॥

दन्तार हाथियोंके दाँतों और सूँड़ोंके आघातसे रथ चूर-चूर हो जानेके कारण कितने ही रथी सारथिसहित धरतीपर गिर पड़ते थे । कितने ही श्रेष्ठ रथियोंने बड़े-बड़े हाथियोंको अपने बाणोंसे मारकर धराशायी कर दिया ॥ १८ ॥

गजौघवेगोद्धतसादितानां
श्रुत्वा विषेदुः सहसा मनुष्याः ।

आर्तस्वनं सादिपदातियूनां
विषाणगात्रावरताडितानाम् ॥ १९ ॥

हाथियोंके वेगसे कुचलकर कितने ही घुड़सवार और पैदल युवक मारे गये। वे उनके दाँतों और नीचेके अङ्गसे कुचलकर हताहत हो रहे थे। सहसा उनकी आर्त चीत्कार सुनकर सभी मनुष्योंको बड़ा खेद होता था ॥ १९ ॥

सम्भ्रान्तनागाश्वरथे मुहूर्ते
महाक्षये सादिपदातियूनाम्।
महारथैः सम्परिवार्यमाणो
ददर्श भीष्मः कपिराजकेतुम् ॥ २० ॥

उस मुहूर्तमें जब कि घुड़सवारों और पैदल युवकोंका विकट संहार हो रहा था तथा हाथी, घोड़े और रथ सभी अत्यन्त घबराहटमें पड़े हुए थे, महारथियोंसे घिरे हुए भीष्मने वानरचिह्नसे युक्त ध्वजवाले अर्जुनको देखा ॥ २० ॥

तं पञ्चतालोच्छ्रिततालकेतुः
सदश्ववेगाद्भुतवीर्ययानः ।
महास्त्रबाणाशनिदीप्तिमन्तं
किरीटिनं शान्तनवोऽभ्यधावत् ॥ २१ ॥

भीष्मका ध्वज पाँच तालवृक्षोंसे चिह्नित और ऊँचा था। उनके रथमें अच्छे घोड़े जुते हुए थे, जिनके वेगसे वह रथ अद्भुत शक्तिशाली जान पड़ता था। उसपर आरूढ़ होकर शान्तनुनन्दन भीष्मने किरीटधारी अर्जुनपर धावा किया, जो बाण और अशनि आदि महान् दिव्यास्त्रोंकी दीप्तिसे उद्दीप्त हो रहे थे ॥ २१ ॥

तथैव शक्रप्रतिमप्रभाव-
मिन्द्रात्मजं द्रोणमुखा विसस्रुः।
कृपश्च शल्यश्च विविंशतिश्च
दुर्योधनः सौमदत्तिश्च राजन् ॥ २२ ॥

राजन्! इसी प्रकार इन्द्रतुल्य प्रभावशाली इन्द्रकुमार अर्जुनपर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य, विविंशति, दुर्योधन तथा भूरिश्रवाने भी आक्रमण किया ॥ २२ ॥

ततो रथानां प्रमुखादुपेत्य
सर्वास्त्रवित् काञ्चनचित्रवर्मा।
जवेन शूरोऽभिससार सर्वा-
स्तानर्जुनस्यात्मसुतोऽभिमन्युः ॥ २३ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, सोनेके विचित्र कवच धारण करनेवाले शूरवीर अर्जुनपुत्र अभिमन्युने एक श्रेष्ठ रथके द्वारा वेगपूर्वक वहाँ पहुँचकर उन समस्त कौरव महारथियोंपर धावा किया ॥ २३ ॥

तेषां महास्त्राणि महारथाना-
मसह्यकर्मा विनिहत्य कार्ष्णिः।
बभौ महामन्त्रहुतार्चिमाली
सदोगतः सन् भगवानिवाग्निः ॥ २४

अर्जुनकुमारका पराक्रम दूसरोंके लिये असह्य था। वे उन कौरव महारथियोंके बड़े-बड़े अस्त्रोंको नष्ट करके य मण्डपमें महान् मन्त्रोंद्वारा हविष्यकी आहुति पाकर प्रज्वलि हुई ज्वालामालाओंसे अलंकृत भगवान् अग्निदेवके सम शोभा पाने लगा ॥ २४ ॥

ततः स तूर्णं रुधिरोदफेनां
कृत्वा नदीमाशु रणे रिपूणाम्।
जगाम सौभद्रमतीत्य भीष्मो
महारथं पार्थमदीनसत्त्वः ॥ २५

तदनन्तर उदार शक्तिशाली भीष्मने रणभूमिमें तुरंत ही शत्रुओंके रक्तरूपी जल एवं फेनसे भरी नदी बहाकर सुभद्राकुमार अभिमन्युको टालकर महारथी अर्जुनपर आक्रमण किया। २५

ततः प्रहस्याद्भुतविक्रमेण
गाण्डीवमुक्तेन शिलाशितेन।
विपाठजालेन महास्त्रजालं
विनाशयामास किरीटमाली ॥ २६

तब किरीटधारी अर्जुनने हँसकर अद्भुत पराक्रम दिखाते हुए गाण्डीव धनुषसे छोड़े और शिलापर रगड़कर तेज किये हुए विपाठ नामक बाणोंके समूहसे शत्रुओंके बड़े-बड़े अस्त्रोंके जालको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ २६ ॥

तमुत्तमं सर्वधनुर्धराणा-
मसक्तकर्मा कपिराजकेतुः।
भीष्मं महात्माभिववर्ष तूर्णं
शरौघजालैर्विमलैश्च भल्लैः ॥ २७

तत्पश्चात् अप्रतिहत पराक्रमवाले महामना कपिध्वज अर्जुनने सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भीष्मपर तुरंत ही निर्मल भल्लों तथा बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २७ ॥

तथैव भीष्माहतमन्तरिक्षे
महास्त्रजालं कपिराजकेतोः।
विशीर्यमाणं ददृशुस्त्वदीया
दिवाकरेणेव तमोऽभिभूतम् ॥ २८

इसी प्रकार आपके सैनिकोंने देखा कि आकाशमें कपिध्वज अर्जुनके बिछाये हुए महान् अस्त्रजालको भीष्मजीने अपने अस्त्रोंके आघातसे उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया है, जैसे भगवान् सूर्य अन्धकारराशिको न कर देते हैं ॥ २८ ॥

एवंविधं कार्मुकभीमनाद-
मदीनवत् सत्पुरुषोत्तमाभ्याम्।

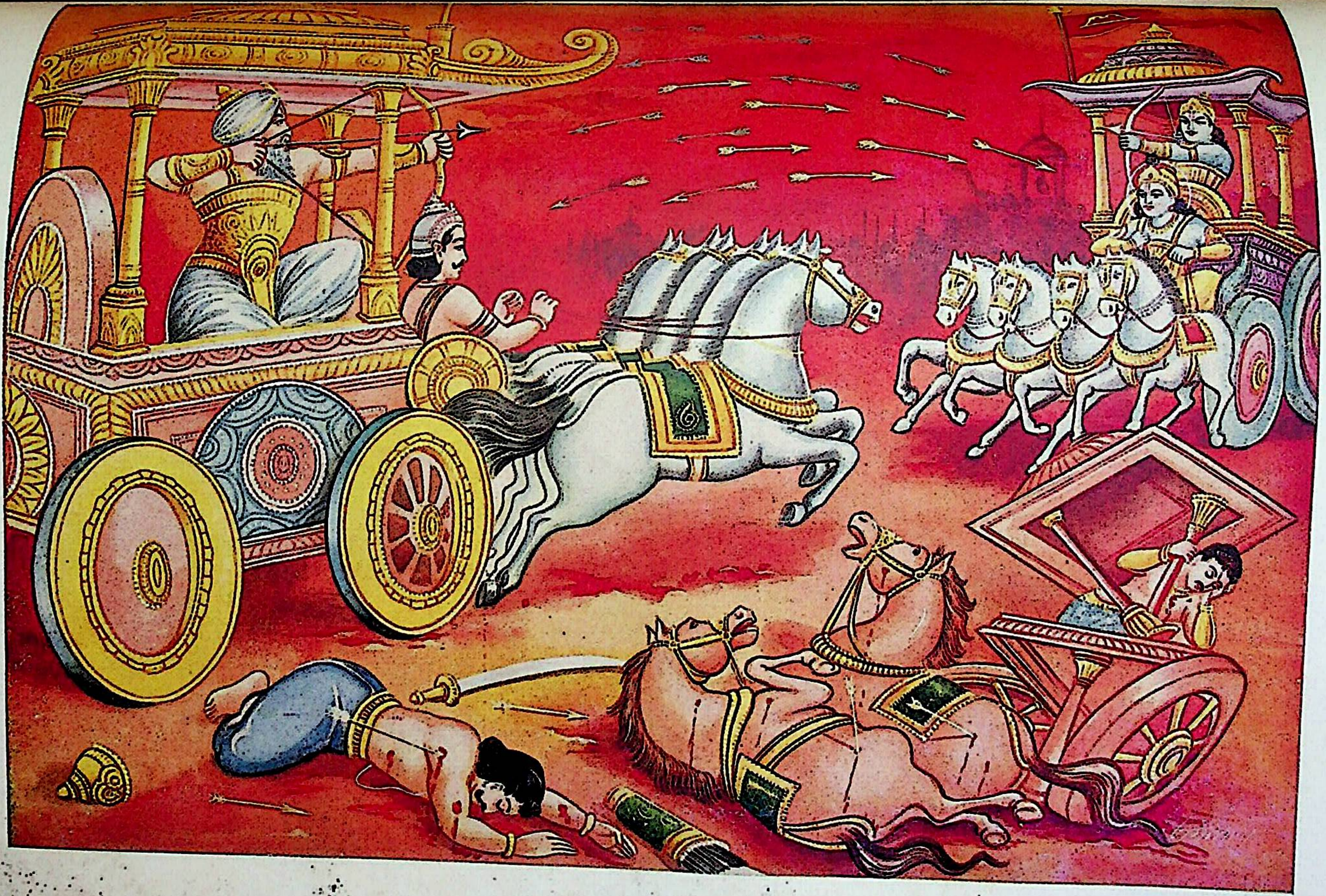

भीष्म और अर्जुनका युद्ध

ददर्श लोकः कुरुसृंजयाश्च
तद् द्वैरथं भीष्मधनंजयाभ्याम् ॥ २९ ॥

इस तरह सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ भीष्म और अर्जुनमें धनुषोंकी भयंकर टंकारसे युक्त, दैन्यरहित द्वैरथ-युद्ध होने लगा, जिसे कौरव और सृञ्जय वीरों तथा दूसरे लोगोंने भी देखा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मार्जुनद्वैरथे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और अर्जुनके द्वैरथ-युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

अभिमन्युका पराक्रम और धृष्टद्युम्नद्वारा शलके पुत्रका वध

संजय उवाच

र्भूरिश्रवाः शल्यश्चित्रसेनश्च मारिष ।
सांयमनेश्चैव सौभद्रं पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—माननीय राजन् ! द्रोणपुत्र त्थामा, भूरिश्रवा, शल्य, चित्रसेन तथा शलके पुत्रने द्राकुमार अभिमन्युको आगे बढ़नेसे रोका ॥ १ ॥

कमतितेजोभिस्तमेकं ददृशुर्जनाः ।
भिर्मनुजव्याघ्रैर्गजैः सिंहशिशुं यथा ॥ २ ॥

से सिंहका बच्चा पाँच हाथियोंसे भिड़ा हुआ हो, प्रकार सुभद्राकुमार अभिमन्यु उन अत्यन्त तेजस्वी पुरुषसिंहोंसे अकेला ही युद्ध कर रहा था। यह बात सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखी ॥ २ ॥

लक्ष्यतया कश्चिन्न शौर्ये न पराक्रमे ।
सदृशः कार्ष्णेर्नास्त्रे नापि च लाघवे ॥ ३ ॥

क्ष्य वेधने, शौर्य प्रकट करने, पराक्रम दिखाने, त्र प्रदर्शित करने तथा हाथोंकी फुर्तीमें कोई भी न्युकी समानता न कर सका ॥ ३ ॥

तमात्मजं युद्धे विक्रमन्तमरिंदमम् ।
पार्थः सुसंयत्तं सिंहनादमथानदत् ॥ ४ ॥

अपने शत्रुसूदन पुत्र अभिमन्युको युद्धमें इस प्रकार पूर्वक पराक्रम प्रकट करते देख कुन्तीपुत्र अर्जुनने सिंहके गर्जना की ॥ ४ ॥

यानं तु तत् सैन्यं पौत्रं तव विशाम्पते ।
त्वदीया राजेन्द्र समन्तात् पर्यवारयन् ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! राजेन्द्र ! आपके पौत्र अभिमन्युको कौरव-को पीड़ा देते देख आपके ही सैनिकोंने सब ओरसे लिया ॥ ५ ॥

सैन्यं धार्तराष्ट्राणां दीनशत्रुरदीनवत् ।
त्युद्ययौ स सौभद्रस्तेजसा च बलेन च ॥ ६ ॥

शत्रुओंको दीन बना देनेवाले सुभद्राकुमारने दैन्यरहित होकर अपने तेज और बलसे कौरवसेनापर धावा किया ॥ ६ ॥

तस्य लाघवमार्गस्थमादित्यसदृशप्रभम् ।
व्यदृश्यत महच्चापं समरे युध्यतः परैः ॥ ७ ॥

समरभूमिमें शत्रुओंके साथ युद्ध करते हुए अभिमन्युका विशाल धनुष अस्त्रलाघवके पथपर स्थित हो सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था ॥ ७ ॥

स द्रौणिमिषुणैकेन विद्ध्वा शल्यं च पञ्चभिः ।
ध्वजं सांयमनेश्चैव सोऽष्टाभिश्चिच्छिदे ततः ॥ ८ ॥

उसने अश्वत्थामाको एक और शल्यको पाँच बाणोंसे घायल करके शलके ध्वजको आठ बाणोंसे काट डाला ।८।

रुक्मदण्डां महाशक्तिं प्रेषितां सौमदत्तिना ।
शितेनोरगसंकाशां पत्रिणापजहार ताम् ॥ ९ ॥

फिर भूरिश्रवाकी चलायी हुई स्वर्णदण्डविभूषित सर्प-सदृश महाशक्तिको तीखे बाणसे छिन्न-भिन्न कर डाला ॥९॥

शल्यस्य च महावेगानस्यतः समरे शरान् ।
(धनुश्चिच्छेद भल्लेन तीव्रवेगेन फाल्गुनिः ।)
निवार्यार्जुनदायादो जघान चतुरो हयान् ॥ १० ॥

शल्य समरभूमिमें बड़े वेगशाली बाणोंका प्रहार कर रहे थे; किंतु अर्जुनपुत्र अभिमन्युने तीव्र वेगवाले भल्लसे उनके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उनकी प्रगतिको रोककर पार्थकुमारने चारों घोड़ोंको मार गिराया ॥ १० ॥

भूरिश्रवाश्च शल्यश्च द्रौणिः सांयमनिः शलः ।
नाभ्यवर्तन्त संरब्धाः कार्ष्णेर्बाहुबलोदयम् ॥ ११ ॥

भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा तथा सांयमनि (सोमदत्त-पुत्र) शल—ये सब लोग अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए थे, तथापि अभिमन्युके बाहुबलकी वृद्धिको रोक न सके ॥ ११ ॥

ततस्त्रिगर्ता राजेन्द्र मद्राश्च सह केकयैः ।
पञ्चविंशतिसाहस्रास्तव पुत्रेण चोदिताः ॥ १२ ॥
धनुर्वेदविदो मुख्या अजेयाः शत्रुभिर्युधि ।
सहपुत्रं जिघांसन्तं परिवव्रुः किरीटिनम् ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! तब आपके पुत्र दुर्योधनसे प्रेरित होकर त्रिगर्तों तथा केकयोंसहित मद्रदेशके पचीस हजार योद्धाओंने शत्रुवधकी इच्छा रखनेवाले पुत्रसहित किरीटधारी अर्जुनको घेर लिया । वे सब-के-सब धनुर्वेदके प्रधान ज्ञाता और युद्ध-स्थलमें शत्रुओंके लिये अजेय थे ॥ १२-१३ ॥

तौ तु तत्र पितापुत्रौ परिक्षिप्तौ महारथौ ।
ददर्श राजन् पाञ्चाल्यः सेनापतिररिंदम ॥ १४ ॥
स वारणरथौघानां सहस्रैर्बहुभिर्वृतः ।
वाजिभिः पत्तिभिश्चैव वृतः शतसहस्रशः ॥ १५ ॥
धनुर्विस्फार्य संक्रुद्धो नोदयित्वा च वाहिनीम् ।
ययौ तं मद्रकानीकं केकयांश्च परंतप ॥ १६ ॥

शत्रुदमन नरेश ! पिता-पुत्र महारथी अर्जुन और अभिमन्युको शत्रुओंद्वारा घिरे हुए देख पाञ्चाल-राजकुमार सेनापति धृष्टद्युम्न कई हजार हाथियों और रथों तथा सैकड़ों-हजारों घुड़सवारों एवं पैदलोंसे घिरकर अपनी विशाल वाहिनीको आगे बढ़ाते तथा क्रोधपूर्वक धनुषकी टंकार करते हुए मद्रों और केकयोंकी सेनापर चढ़ आये ॥ १४–१६ ॥

तेन कीर्तिमता गुप्तमनीकं दृढधन्वना ।
संरब्धरथनागाश्वं योत्स्यमानमशोभत ॥ १७ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले यशस्वी धृष्टद्युम्नसे सुरक्षित हुई वह सेना युद्धके लिये उद्यत हो बड़ी शोभा पाने लगी, उसके रथी, हाथीसवार और घुड़सवार सभी रोषावेशमें भरे हुए थे ॥ १७ ॥

सोऽर्जुनप्रमुखे यान्तं पाञ्चालकुलवर्धनः ।
त्रिभिः शारद्वतं बाणैर्जत्रुदेशे समार्पयत् ॥ १८ ॥

पाञ्चालवंशकी वृद्धि करनेवाले धृष्टद्युम्नने अर्जुनके सामने जाते हुए कृपाचार्यको उनके गलेकी हँसलीपर तीन बाण मारे ॥ १८ ॥

ततः स मद्रकान् हत्वा दशैव दशभिः शरैः ।
पृष्ठरक्षं जघानाशु भल्लेन कृतवर्मणः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् दस बाणोंसे मद्रदेशीय दस योद्धाओंको मारकर तुरंत ही एक भल्लके द्वारा कृतवर्माके पृष्ठरक्षकको मार डाला ॥ १९ ॥

दमनं चापि दायादं पौरवस्य महात्मनः ।
जघान विमलाग्रेण नाराचेन परंतपः ॥ २० ॥

इसके बाद शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डवसेनापतिने निर्मल धारवाले नाराचसे महामना पौरवके पुत्र दमनको भी मार डाला ॥ २० ॥

ततः सांयमनेः पुत्रः पाञ्चाल्यं युद्धदुर्मदम् ।
अविध्यत् त्रिंशता बाणैर्दशभिश्चास्य सारथिम् ॥ २१ ॥

तब शलके पुत्रने तीस बाणोंसे रणदुर्मद धृष्टद्युम्नको और दस बाणोंद्वारा उनके सारथिको घायल कर दिया ॥ २१ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
भल्लेन भृशतीक्ष्णेन निचकर्तास्य कार्मुकम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार अत्यन्त घायल होकर अपने मुँहके होंठके कोनोंको चाटते हुए महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने अत्यन्त तीखे भल्लसे शलके पुत्रका धनुष काट दिया ॥ २२ ॥

अथैनं पञ्चविंशत्या क्षिप्रमेव समार्पयत् ।
अश्वांश्चास्यावधीद् राजन्नुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ॥ २३ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन्होंने शीघ्र ही पचीस बाणोंसे शलपुत्रको घायल कर दिया तथा उसके घोड़ों एवं दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी मृत्युके मुखमें डाल दिया ॥ २३ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् ददर्श भरतर्षभ ।
पुत्रः सांयमनेः पुत्रं पाञ्चाल्यस्य महात्मनः ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिसके घोड़े मार दिये गये थे, उसी रथपर खड़े हुए शलके पुत्रने महामना धृष्टद्युम्नके पुत्रको देखा ॥ २४ ॥

स प्रगृह्य महाघोरं निस्त्रिंशवरमायसम् ।
पदातिस्तूर्णमागच्छद् रथस्थं पुरुषर्षभः ॥ २५ ॥

तब पुरुषश्रेष्ठ शलपुत्र तुरंत ही एक अत्यन्त भयंकर लोहेकी बनी हुई बड़ी तलवार हाथमें ले पैदल ही रथपर बैठे हुए पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नकी ओर चला ॥ २५ ॥

तं महौघमिवायान्तं खात् पतन्तमिवोरगम् ।
भ्रान्तावरणनिस्त्रिंशं कालोत्सृष्टमिवान्तकम् ॥ २६ ॥
दीप्यमानमिवादित्यं मत्तवारणविक्रमम् ।
अपश्यन् पाण्डवास्तत्र धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २७ ॥

उस युद्धमें पाण्डवों तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने मतवाले गजराजके समान पराक्रमी और सूर्यके समान दीप्तिमान् शल-पुत्रको आते देखा । वह महान् वेगशाली जलप्रवाह, आकाशसे गिरते हुए सर्प तथा कालकी भेजी हुई मृत्युके समान जान पड़ता था । उसके हाथमें नंगी तलवार थी ॥

तस्य पाञ्चालदायादः प्रतीपमभिधावतः ।
शितनिस्त्रिंशहस्तस्य शरावरणधारिणः ॥ २८ ॥
बाणवेगमतीतस्य तथाभ्याशमुपेयुषः ।
त्वरन् सेनापतिः क्रुद्धो बिभेद गदया शिरः ॥ २९ ॥

वह विरोधभाव लेकर धावा कर रहा था । उसके हाथमें तीखी तलवार थी । उसने अपने अङ्गोंमें कवच धारण कर रक्खा था । वह बाणके वेगको लाँघकर अत्यन्त निकट आ पहुँचा था । उस दशामें पाञ्चालराजकुमार सेनापति धृष्टद्युम्नने तुरंत क्रोधपूर्वक गदासे आघात करके उसके मस्तकको विदीर्ण कर दिया ॥ २८-२९ ॥

स्य राजन् सनिस्त्रिंशं सुप्रभं च शरावरम्।
स्य पततो हस्ताद् वेगेन न्यपतद् भुवि ॥ ३० ॥

राजन्! उसके मारे जानेपर शरीरसे चमकीला कवच और हाथसे तलवार उसके गिरनेके साथ ही वेगपूर्वक पृथ्वीपर गिरी ॥ ३० ॥

ं निहत्य गदाग्रेण स लेभे परमां मुदम्।
ुत्रः पाञ्चालराजस्य महात्मा भीमविक्रमः ॥ ३१ ॥

पाञ्चालराजका भयानक पराक्रमी पुत्र महामना धृष्टद्युम्न दाके अग्रभागसे शलपुत्रको मारकर अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥

स्मिन् हते महेष्वासे राजपुत्रे महारथे।
ाकारो महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ॥ ३२ ॥

आर्य! उस महाधनुर्धर महारथी राजकुमारके मारे ेपर आपकी सेनामें महान् हाहाकार मच गया ॥ ३२ ॥

ः सांयमनिः क्रुद्धो दृष्ट्वा निहतमात्मजम्।
ुद्राव वेगेन पाञ्चाल्यं युद्धदुर्मदम् ॥ ३३ ॥

अने पुत्रको मारा गया देख संयमनकुमार शलने कुपित होकर रणदुर्मद पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नपर बड़े वेगसे धावा किया ॥ ३३ ॥

तौ तत्र समरे शूरौ समेतौ युद्धदुर्मदौ।
ददृशुः सर्वराजानः कुरवः पाण्डवास्तथा ॥ ३४ ॥

युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वे दोनों शूरवीर उस समरभूमिमें एक दूसरेसे भिड़ गये। कौरव और पाण्डव दोनों पक्षोंके समस्त भूपाल उनका युद्ध देखने लगे ॥ ३४ ॥

ततः सांयमनिः क्रुद्धः पार्षतं परवीरहा।
आजघान त्रिभिर्बाणैस्तोत्त्रैरिव महाद्विपम् ॥ ३५ ॥

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले शलने जैसे महावत किसी महान् गजराजको अङ्कुशोंसे मारे, उसी प्रकार द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नको क्रोधपूर्वक तीन बाणोंसे घायल किया ॥ ३५ ॥

तथैव पार्षतं शूरं शल्यः समितिशोभनः।
आजघानोरसि क्रुद्धस्ततो युद्धमवर्तत ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार संग्राममें शोभा पानेवाले शल्यने भी क्रुद्ध होकर शूरवीर धृष्टद्युम्नकी छातीपर प्रहार किया। फिर तो वहाँ भयंकर युद्ध छिड़ गया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थयुद्धदिवसे सांयमनिपुत्रवधे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिनके युद्धमें शल-पुत्रके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न और शल्य आदि दोनों पक्षके वीरोंका युद्ध तथा भीमसेनके द्वारा गजसेनाका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

ेव परं मन्ये पौरुषादपि संजय।
सैन्यं मम पुत्रस्य पाण्डुसैन्येन बाध्यते ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मैं पुरुषार्थकी अपेक्षा भी ही प्रधान मानता हूँ, जिससे मेरे पुत्र दुर्योधनकी सेना की सेनासे पीड़ित हो रही है ॥ १ ॥

ं हि मामकांस्तात हतानेव हि शंससि।
ांश्च प्रहृष्टांश्च नित्यं शंससि पाण्डवान् ॥ २ ॥

! तुम प्रतिदिन मेरे ही सैनिकोंके मारे जानेकी ते हो और पाण्डवोंको सदा व्यग्रतासे रहित तथा से परिपूर्ण बताते हो ॥ २ ॥

पुरुषकारेण मामकानद्य संजय।
न् पात्यमानांश्च हतानेव च शंससि ॥ ३ ॥

! आजकल मेरे पुत्र और सैनिक पुरुषार्थसे रहे हैं और शत्रुओंने उन्हें धराशायी किया एवं है। प्रतिदिन वे शत्रुओंके हाथसे मारे ही जा रहे सम्बन्धमें तुम सदा ऐसे ही समाचार देते हो ॥

युध्यमानान् यथाशक्ति घटमानाञ्जयं प्रति।
पाण्डवा हि जयन्त्येव जीयन्ते चैव मामकाः ॥ ४ ॥

मेरे बेटे विजयके लिये यथाशक्ति चेष्टा करते और लड़ते हैं, तो भी पाण्डव ही विजयी होते और मेरे पुत्रोंकी ही पराजय होती है ॥ ४ ॥

सोऽहं तीव्राणि दुःखानि दुर्योधनकृतानि च।
श्रोष्यामि सततं तात दुःसहानि बहूनि च ॥ ५ ॥

तात! ऐसा जान पड़ता है कि मुझे दुर्योधनके कारण सदा अत्यन्त दुःसह एवं तीव्र दुःखकी ही बहुत-सी बातें सुननी पड़ेंगी ॥ ५ ॥

तमुपायं न पश्यामि जीयेरन् येन पाण्डवाः।
मामका विजयं युद्धे प्राप्नुयुर्येन संजय ॥ ६ ॥

संजय! मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता, जिससे पाण्डव हार जायँ और मेरे पुत्रोंको युद्धमें विजय प्राप्त हो ॥ ६ ॥

संजय उवाच

क्षयं मनुष्यदेहानां गजवाजिरथक्षयम्।
शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा तवैवापनयो महान् ॥ ७ ॥

संजयने कहा—राजन् ! उस युद्धमें मानवशरीरोंका भारी संहार हुआ है । हाथी, घोड़े और रथोंका भी विनाश देखा गया है । वह सब आप स्थिर होकर सुनिये । यह आपके ही महान् अन्यायका फल है ॥ ७ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु शल्येन पीडितो नवभिः शरैः ।
पीडयामास संक्रुद्धो मद्राधिपतिमायसैः ॥ ८ ॥

शल्यके बाणोंसे पीड़ित होकर धृष्टद्युम्न अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने लोहेके बने हुए नौ बाणोंसे मद्रराज शल्यको गहरी पीड़ा पहुँचायी ॥ ८ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम पार्षतस्य पराक्रमम् ।
न्यवारयत यस्तूर्णं शल्यं समितिशोभनम् ॥ ९ ॥

वहाँ हमलोगोंने धृष्टद्युम्नका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले राजा शल्यको तुरंत ही आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ९ ॥

नान्तरं दृश्यते तत्र तयोश्च रथिनोस्तदा ।
मुहूर्तमिव तद् युद्धं तयोः सममिवाभवत् ॥ १० ॥

उस समय उन दोनों महारथियोंमें पराक्रमकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था । दो घड़ीतक दोनोंमें समान-सा युद्ध होता रहा ॥ १० ॥

ततः शल्यो महाराज धृष्टद्युम्नस्य संयुगे ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पीतेन निशितेन च ॥ ११ ॥

महाराज ! तदनन्तर राजा शल्यने युद्धस्थलमें शाणपर तीक्ष्ण किये हुए पीले रंगके भल्ल नामक बाणसे धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया ॥ ११ ॥

अथैनं शरवर्षेण च्छादयामास संयुगे ।
गिरिं जलागमे यद्वज्जलदा जलवृष्टिभिः ॥ १२ ॥

इसके बाद जैसे बादल बरसातमें पर्वतपर जलकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने धृष्टद्युम्नपर रणभूमिमें बाणोंकी वर्षा करके उन्हें सब ओरसे ढक दिया ॥ १२ ॥

अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो धृष्टद्युम्ने च पीडिते ।
अभिदुद्राव वेगेन मद्रराजरथं प्रति ॥ १३ ॥

तदनन्तर धृष्टद्युम्नके पीड़ित होनेपर क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने मद्रराज शल्यके रथपर बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥

ततो मद्राधिपरथं कार्ष्णिः प्राप्यातिकोपनः ।
आर्तायनिममेयात्मा विव्याध निशितैः शरैः ॥ १४ ॥

मद्रराजके रथके निकट पहुँचकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न अर्जुनकुमारने अपने पैने बाणोंद्वारा ऋतायनपुत्र राजा शल्यको घायल कर दिया ॥

ततस्तु तावका राजन् परीप्सन्तोऽर्जुनिं रणे ।
मद्रराजरथं तूर्णं परिवार्यावतस्थिरे ॥ १५ ॥

राजन् ! तब आपके पुत्र रणभूमिमें अभिमन्युको बनानेकी इच्छासे तुरंत वहाँ आये और मद्रराज रथको चारों ओरसे घेरकर युद्धके लिये खड़े हो गये ॥

दुर्योधनो विकर्णश्च दुःशासनविविंशती ।
दुर्मर्षणो दुःसहश्च चित्रसेनोऽथ दुर्मुखः ॥ १
सत्यव्रतश्च भद्रं ते पुरुमित्रश्च भारत ।
एते मद्राधिपरथं पालयन्तः स्थिता रणे ॥ १

भारत ! आपका भला हो । दुर्योधन, विकर्ण, दुःशा विविंशति, दुर्मर्षण, दुःसह, चित्रसेन, दुर्मुख, सत्यव्रत पुरुमित्र—ये आपके पुत्र मद्रराजके रथकी रक्षा करते युद्धभूमिमें डटे हुए थे ॥ १६-१७ ॥

तान् भीमसेनः संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १
धार्तराष्ट्रान् दश रथान् दशैव प्रत्यवारयन् ।
नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो विशाम्पते ॥ १

आपके इन दस महारथी पुत्रोंको क्रोधमें भरे हु भीमसेन, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र सहदेव, पाँचों भाई द्रौपदीकुमार और अभिमन्यु—इन ही महारथियोंने रोका । प्रजानाथ ! ये सब लोग प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार कर रहे थे ॥ १८-१९ ॥

अभ्यवर्तन्त संहृष्टाः परस्परवधैषिणः ।
ते वै समेयुः संग्रामे राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ २

राजन् ! ये सब एक दूसरेके वधकी इच्छा रखकर और उत्साहके साथ क्षत्रियोंका सामना करते थे । आ कुमन्त्रणाके फलस्वरूप ही इन सब योद्धाओंकी आ भिड़न्त हुई थी ॥ २० ॥

तस्मिन् दशरथे क्रुद्धे वर्तमाने महाभये ।
तावकानां परेषां वा प्रेक्षका रथिनोऽभवन् ॥ २

जिस समय ये दसों महारथी क्रोधमें भरकर भयंकर युद्धमें लगे हुए थे, उस समय आपकी और की सेनाके दूसरे रथी दर्शक होकर देखते थे ॥ २१ ॥

शस्त्राण्यनेकरूपाणि विसृजन्तो महारथाः ।
अन्योन्यमभिनर्दन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ २

किंतु आपके और पाण्डवोंके वे महारथी वीर दूसरेपर अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए और युद्ध करते थे ॥ २२ ॥

ते तदा जातसंरम्भाः सर्वेऽन्योन्यं जिघांसवः ।
अन्योन्यमभिमर्दन्तः स्पर्धमानाः परस्परम् ॥ २

उस समय उन सबमें क्रोध भरा हुआ था । सभी दूसरेके वधकी इच्छा रखते थे । सबमें परस्पर लाग-डाँ और सभी सबको कुचलनेकी चेष्टा करते थे ॥ २३ ॥

न्योन्यस्पर्धया राजञ्ज्ञातयः सङ्गता मिथः ।
स्त्राणि विमुञ्चन्तः समापेतुरमर्षिणः ॥ २४ ॥

महाराज ! वे सब आपसमें कुटुम्बी—भाई-बन्धु थे, परस्पर स्पर्धा रखनेके कारण लड़ रहे थे। एक दूसरेके प्रति र्ष भरकर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रहार करते हुए आक्रमण-आक्रमण करते थे ॥ २४ ॥

र्योधनस्तु संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नं महारणे ।
व्याध निशितैर्बाणैश्चतुर्भिः समरे द्रुतम् ॥ २५ ॥

दुर्योधनने कुपित होकर उस महासंग्राममें अपने चार ने बाणोंद्वारा तुरंत ही धृष्टद्युम्नको बींध दिया ॥ २५ ॥

र्षणश्च विंशत्या चित्रसेनश्च पञ्चभिः ।
मुखो नवभिर्बाणैर्दुःसहश्चापि सप्तभिः ॥ २६ ॥
विंशतिः पञ्चभिश्च त्रिभिर्दुःशासनस्तथा ।
न् प्रत्यविध्यद् राजेन्द्र पार्षतः शत्रुतापनः ॥ २७ ॥
कैकं पञ्चविंशत्या दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

दुर्मर्षणने बीस, चित्रसेनने पाँच, दुर्मुखने नौ, दुःसहने विविंशतिने पाँच तथा दुःशासनने तीन बाणोंसे उन सबको डाला। राजेन्द्र! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए दुर्योधन आदिमेंसे प्रत्येकको पचीस बाणोंसे घायल किया ॥ २६-२७½ ॥

व्रतं च समरे पुरुमित्रं च भारत ॥ २८ ॥
मन्युरविध्यत् तु दशभिर्दशभिः शरैः ।

भारत! अभिमन्युने समरभूमिमें सत्यव्रत और पुरुमित्र-दस-दस बाणोंसे पीड़ित किया ॥ २८½ ॥

पुत्रौ तु समरे मातुलं मातृनन्दनौ ॥ २९ ॥
येतां शरैस्तीक्ष्णैस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

माताको आनन्दित करनेवाले माद्रीकुमार नकुल और देवने अपने मामा शल्यको पैने बाणोंसे घायल कर दिया। अद्भुत-सी बात हुई ॥ २९½ ॥

शल्यो महाराज स्वस्त्रीयौ रथिनां वरौ ॥ ३० ॥
बहुभिरानर्च्छत् कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
मानौ ततस्तौ तु माद्रीपुत्रौ न चेलतुः ॥ ३१ ॥

महाराज! तदनन्तर शल्यने किये हुए प्रहारका बदला नेकी इच्छा रखनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ अपने दोनों भानजोंको बाणोंसे पीड़ित किया। उनके बाणोंसे आच्छादित भी नकुल-सहदेव विचलित नहीं हुए ॥ ३०-३१ ॥

दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
षुः कलहस्यान्तं गदां जग्राह पाण्डवः ॥ ३२ ॥

नन्तर महाबली पाण्डुपुत्र भीमसेनने दुर्योधनको कलहका अन्त कर डालनेकी इच्छासे गदा उठा ली॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
भीमसेनं महाबाहुं पुत्रास्ते प्राद्रवन् भयात् ॥ ३३ ॥

गदा उठाये हुए महाबाहु भीमसेनको एक शिखरसे युक्त कैलास पर्वतके समान उपस्थित देख आपके सभी पुत्र भयके मारे भाग गये ॥ ३३ ॥

दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो मागधं समचोदयत् ।
अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ३४ ॥

तब दुर्योधनने कुपित होकर मगधदेशीय दस हजार हाथियोंकी वेगशाली सेनाको युद्धके लिये प्रेरित किया ॥ ३४ ॥

गजानीकेन सहितस्तेन राजा सुयोधनः ।
मागधं पुरतः कृत्वा भीमसेनं समभ्ययात् ॥ ३५ ॥

उस गजसेनाके साथ मागधको आगे करके दुर्योधनने भीमसेनपर आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

आपतन्तं च तं दृष्ट्वा गजानीकं वृकोदरः ।
गदापाणिरवारोहद् रथात् सिंह इवोन्नदन् ॥ ३६ ॥

उस गजसेनाको आते देख भीमसेन हाथमें गदा लेकर सिंहके समान गर्जना करते हुए रथसे उतर पड़े ॥ ३६ ॥

अद्रिसारमयीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अभ्यधावद् गजानीकं व्यादितास्य इवान्तकः ॥ ३७ ॥

लोहेकी उस विशाल एवं भारी गदाको लेकर वे मुँह बाये हुए कालके समान उस गजसेनाकी ओर दौड़े ॥ ३७ ॥

स गजान् गदया निघ्नन् व्यचरत् समरे बली ।
भीमसेनो महाबाहुः सवज्र इव वासवः ॥ ३८ ॥

बलवान् महाबाहु भीमसेन वज्रधारी इन्द्रके समान गदासे हाथियोंका संहार करते हुए समराङ्गणमें विचरने लगे ॥ ३८ ॥

तस्य नादेन महता मनोहृदयकम्पिना ।
व्यत्यचेष्टन्त संहत्य गजा भीमस्य गर्जतः ॥ ३९ ॥

मन और हृदयको कँपा देनेवाली गर्जते हुए भीमसेनकी उस भीषण गर्जनासे सब हाथी एकत्र हो भयके मारे निश्चेष्ट एवं अचेत-से हो गये ॥ ३९ ॥

ततस्तु द्रौपदीपुत्राः सौभद्रश्च महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ४० ॥
पृष्ठं भीमस्य रक्षन्तः शरवर्षेण वारणान् ।
अभ्यवर्षन्त धावन्तो मेघा इव गिरीन् यथा ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महारथी अभिमन्यु, नकुल-सहदेव तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये सब लोग भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा करते हुए हाथियोंपर उसी प्रकार दौड़-दौड़कर बाणवर्षा करने लगे, जैसे बादल पर्वतोंपर पानीकी बूँदें बरसाते हैं ॥ ४०-४१ ॥

क्षुरैः क्षुरप्रैर्भल्लैश्च पीतैश्चाञ्जलिकैः शितैः ।
व्यहरन्नुत्तमाङ्गानि पाण्डवा गजयोधिनाम् ॥ ४२ ॥

पाण्डव रथी क्षुर, क्षुरप्र, पीले रंगके भल्ल तथा तीखे आञ्जलिक नामक बाणोंद्वारा हाथीसवार योद्धाओंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगे ॥ ४२ ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च बाहुभिश्च विभूषितैः ।
अश्मवृष्टिरिवाभाति पाणिभिश्च सहाङ्कुशैः ॥ ४३ ॥

उनके शिरों, बाजूबन्दविभूषित भुजाओं और अङ्कुशों-सहित हाथोंके गिरनेसे ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशसे ओले और पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो ॥ ४३ ॥

हतोत्तमाङ्गाः स्कन्धेषु गजानां गजयोधिनः ।
अदृश्यन्ताचलाग्रेषु द्रुमा भग्नशिखा इव ॥ ४४ ॥

मस्तक कट जानेपर भी हाथियोंकी पीठपर टिके हुए गजारोही योद्धाओंके धड़ पर्वतके शिखरोंपर स्थित हुए शिखाहीन वृक्षोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ४४ ॥

धृष्टद्युम्नहतानन्यानपश्याम महागजान् ।
पततः पात्यमानांश्च पार्षतेन महात्मना ॥ ४५ ॥

हमलोगोंने धृष्टद्युम्नके द्वारा मारे गये बहुत-से हाथियोंको देखा, महामना द्रुपदकुमारकी मार खाकर बहुत-से हाथी गिरे और गिराये जा रहे थे ॥ ४५ ॥

मागधोऽथ महीपालो गजमैरावणोपमम् ।
प्रेषयामास समरे सौभद्रस्य रथं प्रति ॥ ४६ ॥

इसी समय मगधदेशीय भूपालने युद्धस्थलमें अभिमन्युके रथकी ओर ऐरावतके समान एक विशाल हाथीको प्रेरित किया॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मागधस्य महागजम् ।
जघानैकेषुणा वीरः सौभद्रः परवीरहा ॥ ४७ ॥

मगधनरेशके उस विशाल गजको आते देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वीर सुभद्राकुमारने उसे एक ही बाणसे मार डाला॥

तस्यावर्जितनागस्य कार्ष्णिः परपुरंजयः ।
राज्ञो रजतपुङ्खेन भल्लेनापाहरच्छिरः ॥ ४८ ॥

फिर शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले अर्जुनपुत्र अभिमन्युने मरनेपर भी हाथीको न छोड़नेवाले मगधराजका मस्तक रजतमय पंखवाले भल्लके द्वारा काट गिराया ॥ ४८ ॥

विगाह्य तद् गजानीकं भीमसेनोऽपि पाण्डवः ।
व्यचरत् समरे मृद्नन् गजानिन्द्रो गिरीनिव ॥ ४९ ॥

उधर पाण्डुनन्दन भीमसेन भी गजसेनामें घुसकर पर्वतोंको विदीर्ण करनेवाले देवेन्द्रके समान हाथियोंको रौंदते हुए समराङ्गणमें विचरने लगे ॥ ४९ ॥

एकप्रहारनिहतान् भीमसेनेन दन्तिनः ।
अपश्याम रणे तस्मिन् गिरीन् वज्रहतानिव ॥ ५० ॥

महाराज ! उस युद्धस्थलमें हमने वज्रके मारे हुए पर्वतोंकी भाँति भीमसेनके एक ही प्रहारसे दन्तार हाथियोंको मरते देखा था ॥ ५० ॥

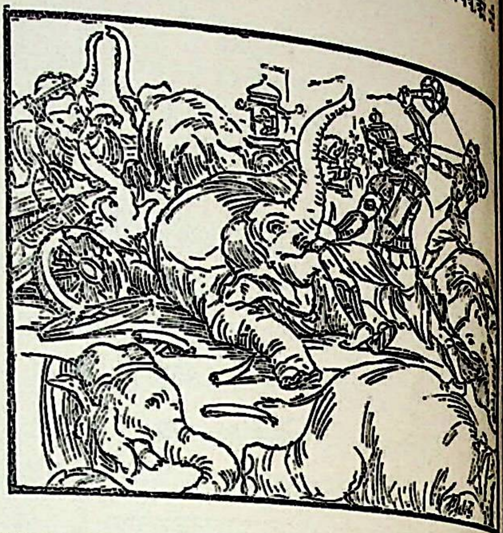

भग्नदन्तान् भग्नकरान् भग्नसक्थांश्च वारणान् ।
भग्नपृष्ठत्रिकानन्यान् निहतान् पर्वतोपमान् ॥ ५१ ॥
नदतः सीदतश्चान्यान् विमुखान् समरे गतान् ।
विद्रुतान् भयसंविग्नांस्तथा विशकृतोऽपरान् ॥ ५२ ॥

किन्हींके दाँत टूट गये, किन्हींकी सूँड कट गयी, किन्हींकी जाँघें टूट गयीं, किन्हींकी पीठ टूट गयी और कितने ही पर्वतोंके समान विशालकाय गजराज मारे गये, कुछ चिग्घाड़ रहे थे, कुछ कष्टसे कराह रहे थे, कुछ युद्धभूमिसे विमुख होकर भागने लगे थे और कुछ भयसे व्याकुल होकर मल-मूत्र कर रहे थे। इन सबको मैंने अपनी आँखों देखा था ॥ ५१-५२ ॥

भीमसेनस्य मार्गेषु पतितान् पर्वतोपमान् ।
अपश्यं निहतान् नागान् राजन् निष्ठीवतोऽपरान् ॥ ५३ ॥

भीमसेनके मार्गोंमें उनके द्वारा मारे गये पर्वतोपम हाथी पड़े दिखायी दिये । राजन् ! अन्य बहुत-से हाथियोंको मैंने मुँहसे फेन फेंकते देखा था ॥ ५३ ॥

वमन्तो रुधिरं चान्ये भिन्नकुम्भा महागजाः ।
विह्वलन्तो गता भूमिं शैला इव धरातले ॥ ५४ ॥

कितने ही विशालकाय हाथी खून उगल रहे थे और उनके कुम्भस्थल फट गये थे । बहुत-से व्याकुल होकर इस भूतलपर पर्वतोंके समान पड़े थे ॥ ५४ ॥

मेदोरुधिरदिग्धाङ्गो वसामज्जासमुक्षितः ।
व्यचरत् समरे भीमो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ५५ ॥

भीमसेनका सारा शरीर मेदा तथा रक्तसे लिप्त हो रहा था । वे वसा और मज्जासे नहा गये थे और हाथमें गदा लिये दण्डपाणि यमराजके समान उस युद्धभूमिमें विचर रहे थे ॥ ५५ ॥

गजानां रुधिरक्लिन्नां गदां बिभ्रद् वृकोदरः ।
घोरः प्रतिभयश्चासीत् पिनाकीव पिनाकधृक् ॥ ५६ ॥

हाथियोंके खूनसे भीगी हुई गदा धारण किये भीमसेन पिनाकधारी भगवान् रुद्रके समान घोर एवं भयंकर दिखायी देते थे ॥ ५६ ॥

प्रमथ्यमानाः क्रुद्धेन भीमसेनेन दन्तिनः ।
सहसा प्राद्रवन् क्लिष्टा मृद्नन्तस्तव वाहिनीम् ॥ ५७ ॥

क्रोधमें भरे हुए भीमसेन हाथियोंको मथे डालते थे; अतः वे उनके द्वारा अत्यन्त क्लेश पाकर आपकी सेनाको कुचलते हुए सहसा युद्धस्थलसे भाग चले ॥ ५७ ॥

तं हि वीरं महेष्वासं सौभद्रप्रमुखा रथाः ।
पर्यरक्षन्त युध्यन्तं वज्रायुधमिवामराः ॥ ५८ ॥

जैसे देवता वज्रधारी इन्द्रकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सुभद्राकुमार आदि पाण्डव योद्धा युद्धमें तत्पर हुए महाधनुर्धर वीर भीमसेनकी सब ओरसे रक्षा करते थे ॥५८॥

शोणिताक्तां गदां बिभ्रदुक्षितां गजशोणितैः ।
कृतान्त इव रौद्रात्मा भीमसेनो व्यदृश्यत ॥ ५९ ॥

खूनमें सनी तथा हाथियोंके रक्तसे भीगी हुई गदा लिये रौद्ररूपधारी भीमसेन यमराजके समान दिखायी देते थे॥

व्यायच्छमानं गदया दिक्षु सर्वासु भारत ।
अपश्याम रणे भीमं नृत्यन्तमिव शंकरम् ॥ ६० ॥

भारत ! भीमसेन गदा लेकर सम्पूर्ण दिशाओंमें व्यायाम कर रहे थे । समरभूमिमें भीमको हमलोगोंने ताण्डव-नृत्य करते हुए भगवान् शङ्करके समान देखा था ॥ ६० ॥

यमदण्डोपमां गुर्वीमिन्द्राशनिसमस्वनाम् ।
अपश्याम महाराज रौद्रां विशसनीं गदाम् ॥ ६१ ॥

महाराज ! भीमसेनकी भारी और भयंकर गदा सबका संहार करनेवाली है । हमें तो वह यमदण्डके समान दिखायी देती थी । प्रहार करनेपर उससे इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आवाज होती थी ॥ ६१ ॥

विमिश्रां केशमज्जाभिः प्रदिग्धां रुधिरेण च ।
पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ॥ ६२ ॥

रक्तसे भीगी तथा केश और मज्जासे मिली हुई उस गदाको हमने प्रलयकालमें क्रोधसे भरकर समस्त पशुओं (जीवों) का संहार करनेवाले रुद्रदेवके पिनाकके समान समझा था ॥ ६२ ॥

यथा पशूनां संघातं यष्ट्या पालः प्रकालयेत् ।
तथा भीमो गजानीकं गदया समकालयत् ॥ ६३ ॥

जैसे चरवाहा पशुओंके झुंडको डंडेसे हाँकता है, उसी प्रकार भीमसेन हाथियोंके समूहको अपनी गदासे हाँक रहे थे॥

गदया वध्यमानास्ते मार्गणैश्च समन्ततः ।
स्वान्यनीकानि मृद्नन्तः प्राद्रवन् कुञ्जरास्तव ॥ ६४ ॥

महाराज ! चारों ओरसे गदा और बाणोंकी मार पड़नेपर आपकी सेनाके वे समस्त हाथी अपने ही सैनिकोंको कुचलते हुए भाग रहे थे ॥ ६४ ॥

महावात इवाभ्राणि विधमित्वा स वारणान् ।
अतिष्ठत् तुमुले भीमः श्मशान इव शूलभृत् ॥ ६५ ॥

जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न करके उड़ा देती है, उसी प्रकार भीमसेन उस भयंकर युद्धमें हाथियोंकी सेनाको नष्ट करके श्मशानभूमिमें त्रिशूलधारी भगवान् शंकरके समान खड़े थे ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थदिवसे भीमयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिन भीमसेनका युद्धविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६२॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

युद्धस्थलमें प्रचण्ड पराक्रमकारी भीमसेनका भीष्मके साथ युद्ध तथा सात्यकि और भूरिश्रवाकी मुठभेड़

संजय उवाच

ततस्तस्मिन् गजानीके पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
भीमसेनं घ्नतेत्येवं सर्वसैन्यान्यचोदयत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! हाथियोंकी उस सेनाके नष्ट होनेपर आपके पुत्र दुर्योधनने समस्त सैनिकोंको आज्ञा दी कि सब मिलकर भीमसेनको मार डालो ॥ १ ॥

ततः सर्वाण्यनीकानि तव पुत्रस्य शासनात् ।
अभ्यद्रवन् भीमसेनं नदन्तं भैरवान् रवान् ॥ २ ॥

तदनन्तर आपके पुत्रकी आज्ञासे समस्त सेनाएँ भैरव गर्जना करती हुई भीमसेनपर टूट पड़ीं ॥ २ ॥

तं बलौघमपर्यन्तं देवैरपि सुदुःसहम् ।
आपतन्तं सुदुष्पारं समुद्रमिव पर्वणि ॥ ३ ॥

सेनाका वह अनन्त वेग देवताओंके लिये भी दुःसह था । पूर्णिमाको बढ़े हुए समुद्रके समान अपार जान पड़ता था॥

रथनागाश्वकलिलं शङ्खदुन्दुभिनादितम् ।
अनन्तरथपादातं रजसा सर्वतो वृतम् ॥ ४ ॥

वह सैन्य-समुद्र रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरा हुआ था । शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे कोलाहलपूर्ण हो रहा था ।

उसमें रथ और पैदलोंकी संख्या नहीं बतायी जा सकती थी तथा उस सेनामें सब ओर धूल व्याप्त हो रही थी ॥ ४ ॥

तं भीमसेनः समरे महोदधिमिवापरम् ।
सेनासागरमक्षोभ्यं वेलेव समवारयत् ॥ ५ ॥

दूसरे महासागरके समान उस अक्षोभ्य सैन्य-समुद्रको युद्धमें भीमसेनने तटप्रदेशकी भाँति रोक दिया ॥ ५ ॥

तदाश्चर्यमपश्याम पाण्डवस्य महात्मनः ।
भीमसेनस्य समरे राजन् कर्मातिमानुषम् ॥ ६ ॥

राजन् ! उस समय संग्राम-भूमिमें हमलोगोंने महामना पाण्डुनन्दन भीमसेनका अत्यन्त आश्चर्यमय अतिमानुष कर्म देखा था ॥ ६ ॥

उदीर्णान् पार्थिवान् सर्वान् साश्वान् सरथकुञ्जरान् ।
असम्भ्रमं भीमसेनो गदया समवारयत् ॥ ७ ॥

घोड़े, हाथी तथा रथसहित जितने भी भूपाल वहाँ आगे बढ़ रहे थे, उन सबको केवल गदाकी सहायतासे भीमसेनने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ॥ ७ ॥

स संवार्य बलौघांस्तान् गदया रथिनां वरः ।
अतिष्ठत् तुमुले भीमो गिरिर्मेरुरिवाचलः ॥ ८ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन उस सारे सैन्यसमूहको गदाद्वारा रोककर उस भयंकर युद्धमें मेरु पर्वतके समान अविचल-भावसे खड़े रहे ॥ ८ ॥

तस्मिन् सुतुमुले घोरे काले परमदारुणे ।
भ्रातरश्चैव पुत्राश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ९ ॥
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च शिखण्डी चापराजितः ।
न प्राजहन् भीमसेनं भये जाते महाबलम् ॥ १० ॥

उस महान् भयंकर तथा अत्यन्त दारुण भयके समय महाबली भीमसेनको उनके भाई, पुत्र, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु और अपराजित वीर शिखण्डी—ये कोई भी छोड़कर नहीं गये ॥ ९-१० ॥

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अधावत् तावकान् योधान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् पूर्णतः फौलादकी बनी हुई विशाल एवं भारी गदा हाथमें लेकर भीमसेन दण्डपाणि यमराजकी भाँति आपके सैनिकोंपर टूट पड़े ॥ ११ ॥

पोथयन् रथवृन्दानि वाजिवृन्दानि चाभिभूः ।
कर्षयन् रथवृन्दानि बाहुवेगेन पाण्डवः ॥ १२ ॥
विनिघ्नन् व्यचरत् संख्ये युगान्ते कालवद् विभुः ।

फिर वे प्रभावशाली बलवान् पाण्डुनन्दन रथियों और घोड़ोंके समूहको नष्ट करके अपनी भुजाओंके वेगसे रथोंके समुदायको खींचते और नष्ट करते हुए प्रलयकालके यमराजकी भाँति संग्रामभूमिमें विचरने लगे ॥ १२½ ॥

ऊरुवेगेन संकर्षन् रथजालानि पाण्डवः ॥ १३
बलानि सम्ममर्दाशु नड्वलानीव कुञ्जरः ।

पाण्डुनन्दन भीम अपने महान् वेगसे रथसमूहोंको खींचकर नष्ट कर देते और शीघ्र ही सारी सेनाको उसी प्रकार रौंद डालते थे, जैसे हाथी नरकुलके पौधोंको ॥ १३½ ॥

मृद्नन् रथेभ्यो रथिनो गजेभ्यो गजयोधिनः ॥ १४
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातिनः ।
गदया व्यधमत् सर्वान् वातो वृक्षानिवौजसा ॥ १५
भीमसेनो महाबाहुस्तव पुत्रस्य वै बले ।

महाबाहु भीमसेन रथोंसे रथियोंको, हाथियोंसे हाथीसवारों को, घोड़ोंकी पीठोंसे घुड़सवारोंको और पृथ्वीपर पैदलोंको मसलते हुए गदासे आपके पुत्रकी सेनाके सब लोगोंको उसी प्रकार नष्ट कर देते थे, जैसे हवा अपने वेगसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ॥ १४-१५½ ॥

सापि मज्जावसामांसैः प्रदिग्धा रुधिरेण च ॥ १६
अदृश्यत महारौद्रा गदा नागाश्वपातनी ।

हाथियों और घोड़ोंको मार गिरानेवाली उनकी वह गदा भी मज्जा, वसा, मांस तथा रक्तमें सनकर बड़ी भयानक दिखायी देती थी ॥ १६½ ॥

तत्र तत्र हतैश्चापि मनुष्यगजवाजिभिः ॥ १७
रणाङ्गणं समभवन्मृत्योरावाससंनिभम् ।

जहाँ-तहाँ मरकर गिरे हुए मनुष्य, हाथी और घोड़ोंसे वह सारी रणभूमि मृत्युके निवासस्थान-सी प्रतीत होती थी।

पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ॥ १८
यमदण्डोपमामुग्रामिन्द्राशनिसमस्वनाम् ।
ददृशुर्भीमसेनस्य रौद्रीं विशसनीं गदाम् ॥ १९

भीमसेनकी उस संहारकारिणी भयंकर गदाको लोगोंने प्रलयकालमें पशुओं (जीवों) का संहार करनेवाले रुद्रके पिनाक और यमदण्डके समान भयंकर देखा। उसकी आवाज इन्द्रके वज्रके समान थी ॥ १८-१९ ॥

आविद्ध्यतो गदां तस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
बभौ रूपं महाघोरं कालस्येव युगक्षये ॥ २०

अपनी गदाको घुमाते हुए महामना कुन्तीकुमार भीमसेनका रूप युगान्त-कालके यमराजके समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था ॥ २० ॥

तं तथा महतीं सेनां द्रावयन्तं पुनः पुनः ।
दृष्ट्वा मृत्युमिवायान्तं सर्वे विमनसोऽभवन् ॥ २१

उस विशाल सेनाको बारंबार भगानेवाले भीमसेनको मौतके समान सामने आते देख समस्त योद्धाओंका

उद्वत हो जाता था ॥ २१ ॥

यतो यतः प्रेक्षते स्म गदामुद्यम्य पाण्डवः ।
तेन तेन स्म दीर्यन्ते सर्वसैन्यानि भारत ॥ २२ ॥

भारत ! भीमसेन गदा उठाकर जिस-जिस ओर देखते थे, उधर-उधरसे सारी सेनाओंमें दरार पड़ जाती थी। (वहाँके सैनिक भागकर स्थान खाली कर देते थे) ॥ २२ ॥

प्रदारयन्तं सैन्यानि बलेनामितविक्रमम् ।
ग्रसमानमनीकानि व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ २३ ॥
तं तथा भीमकर्माणं प्रगृहीतमहागदम् ।
दृष्ट्वा वृकोदरं भीष्मः सहसैव समभ्ययात् ॥ २४ ॥

अपने बलसे सेनाको विदीर्ग करनेवाले भीमसेन सम्पूर्ण सैनिकोंको अपना ग्रास बनानेके लिये मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ते थे। उस समय बड़ी भारी गदा उठाये हुए भयंकर पराक्रमी भीमसेनको देखकर भीष्मजी सहसा वहाँ पहुँचे ॥२३-२४॥

महता रथघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
छादयञ्शरवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ २५ ॥

वे सूर्यके समान तेजस्वी तथा पहियोंके गम्भीर घोषसे युक्त विशाल रथपर आरूढ़ हो बरसते हुए मेघके समान बाणोंकी वर्षासे सबको आच्छादित करते हुए वहाँ आये थे ॥

तमायान्तं तथा दृष्ट्वा व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
भीष्मं भीमो महाबाहुः प्रत्युदीयादमर्षितः ॥ २६ ॥

मुँह फैलाये हुए यमराजके समान भीष्मजीको आते देख महाबाहु भीमसेन अमर्षमें भरकर उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ २६ ॥

तस्मिन् क्षणे सात्यकिः सत्यसंधः
शिनिप्रवीरोऽभ्यपतत् पितामहम्।
निघ्नन्नमित्रान् धनुषा दृढेन
संकम्पयंस्तव पुत्रस्य सैन्यम् ॥२७॥

उस समय शिनिवंशके प्रमुख वीर सत्यप्रतिज्ञ सात्यकि अपने सुदृढ़ धनुषसे शत्रुओंका संहार करते और आपके पुत्रकी सेनाको कँपाते हुए पितामह भीष्मपर चढ़ आये।२७।

तं यान्तमश्वै रजतप्रकाशैः
शरान् वपन्तं निशितान् सुपुङ्खान्।
नाशक्नुवन् धारयितुं तदानीं
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः ॥२८॥

भारत ! चाँदीके समान श्वेत घोड़ोंद्वारा जाते और सुन्दर पंखयुक्त तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए सात्यकिको उस समय आपके समस्त सैनिकगण रोक न सके ॥ २८ ॥

अविध्यदेनं दशभिः पृषत्कै-
रलम्बुषो राक्षसोऽसौ तदानीम्।
शरैश्चतुर्भिः प्रतिविद्ध्य तं च
नप्ता शिनेरभ्यपतद् रथेन ॥२९॥

केवल अलम्बुष नामक राक्षसने उस समय उन्हें दस बाणोंसे घायल किया। तब शिनिके पौत्रने भी उस राक्षसको चार बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया और रथके द्वारा भीष्मपर धावा किया ॥ २९ ॥

अन्वागतं वृष्णिवरं निशम्य
तं शत्रुमध्ये परिवर्तमानम् ।
प्रद्रावयन्तं कुरुपुङ्गवांश्च
पुनः पुनश्च प्रणदन्तमाजौ ॥३०॥
योधास्त्वदीयाः शरवर्षैरवर्षन्
मेघा यथा भूधरमम्बुवेगैः ।
तथापि तं धारयितुं न शेकु-
र्मध्यन्दिने सूर्यमिवातपन्तम् ॥३१॥

वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुष सात्यकि आकर शत्रुओंके बीचमें विचर रहे हैं और युद्धस्थलमें कौरवसेनाके मुख्य-मुख्य वीरोंको भगाते हुए बारंबार गर्जना कर रहे हैं; यह सुनकर आपके योद्धा उनपर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराते हैं, इतनेपर भी वे दोपहरके तपते हुए सूर्यकी भाँति उन्हें रोक न सके।३०-३१।

न तत्र कश्चिन्नविषण्ण आसी-
दृते राजन् सोमदत्तस्य पुत्रात्।
स वै समादाय धनुर्महात्मा
भूरिश्रवा भारत सौमदत्तिः ॥३२॥
दृष्ट्वा रथान् स्वान् व्यपनीयमानान्
प्रत्युद्ययौ सात्यकिं योद्धुमिच्छन् ॥३३॥

राजन् ! उस समय वहाँ सोमदत्त-पुत्र भूरिश्रवाको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा योद्धा नहीं था, जो विषादग्रस्त न हुआ हो। भारत ! सोमदत्तकुमार महामना भूरिश्रवाने अपने रथियोंको विवश होकर भागते देख धनुष ले युद्ध करनेकी इच्छासे सात्यकिपर चढ़ाई की ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सात्यकिभूरिश्रवःसमागमे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सात्यकिभूरिश्रवा-समागमविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेन और घटोत्कचका पराक्रम, कौरवोंकी पराजय तथा चौथे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

ततो भूरिश्रवा राजन् सात्यकिं नवभिः शरैः।
प्राविध्यद् भृशसंक्रुद्धस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तब भूरिश्रवाने अत्यन्त क्रुद्ध होकर सात्यकिको नौ बाणोंसे उसी प्रकार बींध डाला, जैसे महान् गजराजको अङ्कुशोंद्वारा पीड़ित किया जाता है ॥

कौरवं सात्यकिश्चैव शरैः संनतपर्वभिः।
अवारयदमेयात्मा सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ २ ॥

तब अमेय आत्मबलसम्पन्न सात्यकिने भी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे सब लोगोंके देखते-देखते कुरुवंशी भूरिश्रवाको रोक दिया ॥ २ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः।
सौमदत्तिं रणे यत्तः समन्तात् पर्यवारयत् ॥ ३ ॥

यह देख भाइयोंसहित राजा दुर्योधनने युद्धके लिये उद्यत होकर भूरिश्रवाको चारों ओरसे घेरकर उसकी रक्षामें तत्पर हो गये ॥ ३ ॥

तं चैव पाण्डवाः सर्वे सात्यकिं रभसं रणे।
परिवार्य स्थिताः संख्ये समन्तात् सुमहौजसः ॥ ४ ॥

उधर महान् तेजस्वी समस्त पाण्डव भी युद्धमें वेगपूर्वक आगे बढ़नेवाले सात्यकिको सब ओरसे घेरकर समरभूमिमें डट गये ॥ ४ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो गदामुद्यम्य भारत।
दुर्योधनमुखान् सर्वान् पुत्रांस्ते पर्यवारयत् ॥ ५ ॥

भारत ! क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने गदा उठाकर आपके दुर्योधन आदि सब पुत्रोंको अकेले ही रोक दिया ॥

रथैरनेकसाहस्रैः क्रोधामर्षसमन्वितः।
नन्दकस्तव पुत्रस्तु भीमसेनं महाबलम् ॥ ६ ॥
विव्याध विशिखैः षड्भिः कङ्कपत्रैः शिलाशितैः।

तब क्रोध और अमर्षमें भरे हुए आपके पुत्र नन्दकने कई हजार रथियोंके साथ आकर शिलापर तेज किये हुए कंकपत्रयुक्त छः बाणोंसे महाबली भीमसेनको बींध डाला ।६½।

दुर्योधनश्च समरे भीमसेनं महारथम् ॥ ७ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो मार्गणैर्नवभिः शितैः।

कुपित हुए दुर्योधनने भी महारथी भीमसेनको उस युद्धमें उनकी छातीको लक्ष्य करके नौ तीखे बाण मारे ।७½।

ततो भीमो महाबाहुः स्वरथं सुमहाबलः ॥ ८ ॥
आरुरोह रथश्रेष्ठं विशोकं चेदमब्रवीत्।

तब महाबली महाबाहु भीमसेन अपने श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो गये और सारथि विशोकसे इस प्रकार बोले—॥८

एते महारथाः शूरा धार्तराष्ट्राः समागताः ॥ ९ ॥
मामेव भृशसंक्रुद्धा हन्तुमभ्युद्यता युधि।

'ये महारथी शूरवीर धृतराष्ट्रपुत्र अत्यन्त कुपित हो युद्धमें मुझे ही मारनेके लिये उद्यत हो यहाँ आये हैं ॥ ९½ ॥

मनोरथद्रुमोऽस्माकं चिन्तितो बहुवार्षिकः ॥ १० ॥
सफलः सूत चाद्येह योऽहं पश्यामि सोदरान्।

'सूत ! मेरे मनमें बहुत वर्षोंसे जिसका चिन्तन हो रहा था, वह मनोरथरूपी वृक्ष आज सफल होना चाहता है; क्योंकि इस समय यहाँ मैं दुर्योधनके भाइयोंको एकत्र देख रहा हूँ ॥ १०½ ॥

यत्राशोक समुत्क्षिप्ता रेणवो रथनेमिभिः ॥ ११ ॥
प्रयास्यन्त्यन्तरिक्षं हि शरवृन्दैर्दिगन्तरे।
तत्र तिष्ठति संनद्धः स्वयं राजा सुयोधनः ॥ १२ ॥

'विशोक ! जहाँ रथके पहियोंसे ऊपर उड़ी हुई धूलि बाणसमूहोंके साथ अन्तरिक्ष और दिगन्तमें फैल रही है, वहीं स्वयं राजा दुर्योधन कवच आदिसे सुसज्जित होकर युद्धके लिये खड़ा है ॥ ११-१२ ॥

भ्रातरश्चास्य संनद्धाः कुलपुत्रा मदोत्कटाः।
एतानद्य हनिष्यामि पश्यतस्ते न संशयः ॥ १३ ॥
तस्मान्ममाश्वान् संग्रामे यत्तः संयच्छ सारथे।

'उसके कुलीन और मदोन्मत्त भाई भी वहीं कवच बाँधकर खड़े हैं। आज तुम्हारे देखते-देखते मैं इन सबका विनाश करूँगा, इसमें संशय नहीं है। अतः सारथे! तुम सावधान होकर संग्राममें मेरे घोड़ोंको काबूमें रक्खो' ॥ १३½ ॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थस्तव पुत्रं विशाम्पते ॥ १४ ॥
विव्याध दशभिस्तीक्ष्णैः शरैः कनकभूषणैः।
नन्दकं च त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यत स्तनान्तरे ॥ १५ ॥

राजन् ! ऐसा कहकर कुन्तीकुमार भीमने स्वर्णभूषित दस तीखे बाणोंद्वारा आपके पुत्र दुर्योधनको बींध डाला और नन्दककी छातीमें भी तीन बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी।

तं तु दुर्योधनः षष्ट्या विद्ध्वा भीमं महाबलम्।
त्रिभिरन्यैः सुनिशितैर्विशोकं प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥

यह देख दुर्योधनने साठ बाणोंसे महाबली भीमसेनको घायल करके अन्य तीन पैने बाणोंसे सारथि विशोकको भी घायल कर दिया ॥ १६ ॥

भीमस्य च रणे राजन् धनुश्चिच्छेद भासुरम् ।
दुर्योधनो भृशं तीक्ष्णैस्त्रिभिर्भल्लैर्हसन्निव ॥ १७ ॥

राजन् ! इसके बाद दुर्योधनने युद्धस्थलमें तीन अत्यन्त तीखे भल्लोंद्वारा हँसते हुए-से भीमके तेजस्वी धनुषको भी काट दिया ॥ १७ ॥

समरे प्रेक्ष्य यन्तारं विशोकं तु वृकोदरः ।
पीडितं विशिखैस्तीक्ष्णैस्तव पुत्रेण धन्विना ॥ १८ ॥
अमृष्यमाणः संरब्धो धनुर्दिव्यं परामृशत् ।
पुत्रस्य ते महाराज वधार्थं भरतर्षभ ॥ १९ ॥
समादत्त सुसंक्रुद्धः क्षुरप्रं लोमवाहिनम् ।
तेन चिच्छेद नृपतेर्भीमः कार्मुकमुत्तमम् ॥ २० ॥

आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा समराङ्गणमें अपने सारथि विशोक-को तीखे बाणोंके आघातसे पीड़ित होता देख भीमसेन सह न सके। उन्होंने कुपित होकर अपना दिव्य धनुष हाथमें लिया। महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! फिर आपके पुत्रके वधके लिये अत्यन्त कुपित होकर उन्होंने पंखयुक्त क्षुरप्रका संधान किया और उसके द्वारा राजा दुर्योधनके उत्तम धनुषको काट डाला॥

सोऽपविद्ध्य धनुश्छिन्नं पुत्रस्ते क्रोधमूर्च्छितः ।
अन्यत् कार्मुकमादत्त सत्वरं वेगवत्तरम् ॥ २१ ॥

राजन् ! धनुष कटनेपर आपका पुत्र क्रोधसे मूर्छित हो गया। उसने उस कटे हुए धनुषको फेंककर तुरंत ही उससे अधिक वेगशाली दूसरा धनुष ले लिया ॥ २१ ॥

संधत्त विशिखं घोरं कालमृत्युसमप्रभम् ।
तेनाजघान संक्रुद्धो भीमसेनं स्तनान्तरे ॥ २२ ॥

फिर उसके ऊपर काल और मृत्युके समान तेजस्वी भयंकर बाण रक्खा और कुपित हो उसके द्वारा भीमसेनकी छातीमें गहरा आघात किया ॥ २२ ॥

स गाढविद्धो व्यथितः स्यन्दनोपस्थ आविशत् ।
स निषण्णो रथोपस्थे मूर्च्छामभिजगाम ह ॥ २३ ॥

उस बाणसे अत्यन्त घायल हो भीमसेन व्यथाके मारे रथकी बैठकमें बैठ गये। वहाँ बैठते ही उन्हें मूर्छा आ गयी॥

तं दृष्ट्वा व्यथितं भीममभिमन्युपुरोगमाः ।
नामृष्यन्त महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ॥ २४ ॥

भीमसेनको प्रहारसे पीड़ित हुआ देख अभिमन्यु आदि महाधनुर्धर पाण्डव महारथी यह सहन न कर सके ॥ २४ ॥

ततस्तु तुमुलां वृष्टिं शस्त्राणां तिग्मतेजसाम् ।
पातयामासुरव्यग्राः पुत्रस्य तव मूर्धनि ॥ २५ ॥

फिर तो उन सब लोगोंने आपके पुत्रके मस्तकपर निर्भय होकर तेजस्वी शस्त्रोंकी भयंकर वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥२५॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां भीमसेनो महाबलः ।
दुर्योधनं त्रिभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् होशमें आनेपर महाबली भीमसेनने दुर्योधनको पहले तीन बाणोंसे बींधकर फिर पाँच बाणोंसे घायल किया ॥

शल्यं च पञ्चविंशत्या शरैर्विव्याध पाण्डवः ।
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासः स विद्धो व्यपयाद् रणात् ॥ २७ ॥

फिर महाधनुर्धर पाण्डुपुत्र भीमने सुवर्णमय पंखसे युक्त पचीस बाणोंद्वारा राजा शल्यको बींध दिया। उन बाणोंसे घायल होकर वे रणभूमिसे भाग गये ॥ २७ ॥

प्रत्युद्ययुस्ततो भीमं तव पुत्राश्चतुर्दश ।
सेनापतिः सुषेणश्च जलसंधः सुलोचनः ॥ २८ ॥
उग्रो भीमरथो भीमो वीरबाहुरलोलुपः ।
दुर्मुखो दुष्प्रधर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः ॥ २९ ॥
विसृजन्तो बहून् बाणान् क्रोधसंरक्तलोचनाः ।
भीमसेनमभिद्रुत्य विव्यधुः सहिता भृशम् ॥ ३० ॥

राजन् ! तब आपके चौदह पुत्रोंने भीमसेनपर धावा किया । उनके नाम ये हैं—सेनापति, सुषेण, जलसंध, सुलोचन, उग्र, भीमरथ, भीम, वीरबाहु, अलोलुप, दुर्मुख, दुष्प्रधर्ष, विवित्सु, विकट और सम—ये सब क्रोधसे लाल आँखें करके बहुत-से बाणोंकी वर्षा करते हुए भीमसेनपर टूट पड़े और एक साथ होकर उन्हें अत्यन्त घायल करने लगे ॥

पुत्रांस्तु तव सम्प्रेक्ष्य भीमसेनो महाबलः ।
सृक्किणी विलिहन् वीरः पशुमध्ये यथा वृकः ॥ ३१ ॥
अभिपत्य महाबाहुर्गरुत्मानिव वेगितः ।
सेनापतेः क्षुरप्रेण शिरश्चिच्छेद पाण्डवः ॥ ३२ ॥

महाबली महाबाहु वीर भीमसेन आपके पुत्रोंको देखकर पशुओंके बीचमें खड़े हुए भेड़ियेके समान अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए गरुड़के समान बड़े वेगसे उनके सामने गये। वहाँ पहुँचकर पाण्डुकुमारने क्षुरप्र नामक बाणसे सेनापतिका सिर काट लिया ॥ ३१-३२ ॥

सम्प्रहस्य च हृष्टात्मा त्रिभिर्बाणैर्महाभुजः ।
जलसंधं विनिर्भिद्य सोऽनयद् यमसादनम् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् प्रसन्नचित्त हो उन महाबाहुने हँसते-हँसते जलसंधको तीन बाणोंसे विदीर्ण करके यमलोक पहुँचा दिया ॥

सुषेणं च ततो हत्वा प्रेषयामास मृत्यवे ।
उग्रस्य सशिरस्त्राणं शिरश्चन्द्रोपमं भुवि ॥ ३४ ॥
पातयामास भल्लेन कुण्डलाभ्यां विभूषितम् ।

तदनन्तर सुषेणको मारकर मौतके घर भेज दिया और उग्रके कुण्डलमण्डित चन्द्रोपम मस्तकको एक भल्लके द्वारा शिरस्त्राणसहित काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ३४½ ॥

वीरबाहुं च सप्तत्या साश्वकेतुं ससारथिम् ॥ ३५ ॥
निनाय समरे वीरः परलोकाय पाण्डवः ।

इसके बाद पाण्डुनन्दन वीरवर भीमसेनने समरभूमिमें

घोड़े, ध्वज और सारथिसहित वीरबाहुको सत्तर बाणोंसे मारकर परलोक पहुँचा दिया ॥ ३५½ ॥

भीमभीमरथौ चोभौ भीमसेनो हसन्निव ॥ ३६ ॥
पुत्रौ ते दुर्मदौ राजन्ननयद् यमसादनम् ।

राजन् ! तत्पश्चात् भीमसेनने हँसते हुए-से आपके दो पुत्र भीम और भीमरथको भी, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे, यमलोक भेज दिया ॥ ३६½ ॥

ततः सुलोचनं भीमः क्षुरप्रेण महामृधे ॥ ३७ ॥
मिषतां सर्वसैन्यानामनयद् यमसादनम् ।

इसके बाद उस महासमरमें भीमसेनने सम्पूर्ण सेनाओंके देखते-देखते क्षुरप्रसे मारकर सुलोचनको भी यमलोकका अतिथि बना दिया ॥ ३७½ ॥

पुत्रास्तु तव तं दृष्ट्वा भीमसेनपराक्रमम् ॥ ३८ ॥
शेषा येऽन्येऽभवंस्तत्र ते भीमस्य भयार्दिताः ।
विप्रद्रुता दिशो राजन् वध्यमाना महात्मना ॥ ३९ ॥

राजन् ! आपके जो अन्य शेष पुत्र वहाँ मौजूद थे, वे भीमसेनका पराक्रम देखकर उनके भयसे पीड़ित हो उन महामना पाण्डुकुमारके बाणकी मार खाते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ३८-३९ ॥

ततोऽब्रवीच्छान्तनवः सर्वानेव महारथान् ।
एष भीमो रणे क्रुद्धो धार्तराष्ट्रान् महारथान् ॥ ४० ॥
यथा प्राग्र्यान् यथा ज्येष्ठान् यथा शूरांश्च संगतान् ।
निपातयत्युग्रधन्वा तं प्रगृह्णीत माचिरम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने सभी महारथियोंसे कहा—'ये भयंकर धनुर्धर भीमसेन युद्धमें क्रुद्ध होकर सामने आये हुए श्रेष्ठ, ज्येष्ठ एवं शूर महारथी धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार गिराते हैं। अतः तुम सब लोग मिलकर इन्हें शीघ्र काबूमें करो'॥

एवमुक्तास्ततः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः ।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धा भीमसेनं महाबलम् ॥ ४२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर दुर्योधनके सभी सैनिक कुपित हो महाबली भीमसेनकी ओर दौड़े ॥ ४२ ॥

भगदत्तः प्रभिन्नेन कुञ्जरेण विशाम्पते ।
अभ्ययात् सहसा तत्र यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ ४३ ॥

प्रजानाथ ! राजा भगदत्त मदवर्षी गजराजपर आरूढ़ हो सहसा उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ भीमसेन खड़े थे ॥

आपतन्नेव च रणे भीमसेनं शिलीमुखैः ।
अदृश्यं समरे चक्रे जीमूत इव भास्करम् ॥ ४४ ॥

युद्धमें आते ही उन्होंने अपने बाणोंसे भीमसेनको अदृश्य कर दिया, मानो सूर्य बादलोंसे ढक गये हों ॥ ४४ ॥

अभिमन्युमुखास्तत्र तु नामृष्यन्त महारथाः ।
भीमस्याच्छादनं संख्ये स्वबाहुबलमाश्रिताः ॥ ४५ ॥
त एनं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयन् ।
गजं च शरवृष्ट्या तु बिभिदुस्ते समन्ततः ॥ ४६ ॥

उस समय अभिमन्यु आदि महारथी भीमका इस प्रकार बाणोंसे आच्छादित हो जाना सहन न कर सके। वे अपने बाहुबलका आश्रय ले युद्धमें भगदत्तपर सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्हें रोकने लगे। उन्होंने अपने बाणोंकी वृष्टिसे भगदत्तके हाथीको भी सब ओरसे छेद डाला ॥

स शस्त्रवृष्ट्याभिहतः समस्तैस्तैर्महारथैः ।
प्राग्ज्योतिषगजो राजन् नानालिङ्गैः सुतेजनैः ॥ ४७ ॥
संजातरुधिरोत्पीडः प्रेक्षणीयोऽभवद् रणे ।
गभस्तिभिरिवार्कस्य संस्यूतो जलदो महान् ॥ ४८ ॥

राजन् ! जो नाना प्रकारके चिह्न धारण करनेवाले और अत्यन्त तेजस्वी थे, उन समस्त महारथियोंद्वारा की हुई अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे बहुत ही घायल होकर प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्तका वह हाथी मस्तकपर रक्तसे रंजित हो रणक्षेत्रमें देखने ही योग्य हो रहा था, मानो सूर्यकी अरुण किरणोंसे व्याप्त रँगा हुआ महामेघ हो ॥ ४७-४८ ॥

संचोदितो मदस्रावी भगदत्तेन वारणः ।
अभ्यधावत तान् सर्वान् कालोत्सृष्ट इवान्तकः ॥ ४९ ॥
द्विगुणं जवमास्थाय कम्पयंश्चरणैर्महीम् ।

भगदत्तसे प्रेरित होकर कालके भेजे हुए यमराजकी भाँति वह मदस्रावी गजराज दूने वेगका आश्रय ले अपने पैरोंकी धमकसे इस पृथ्वीको कँपाता हुआ उन सबकी ओर दौड़ा ॥

तस्य तत् सुमहद् रूपं दृष्ट्वा सर्वे महारथाः ॥ ५० ॥
असह्यं मन्यमानाश्च नातिप्रमनसोऽभवन् ।

उसके उस विशाल रूपको देखकर सब महारथी उसे लिये असह्य मानते हुए हतोत्साह हो गये ॥ ५०½ ॥

ततस्तु नृपतिः क्रुद्धो भीमसेनं स्तनान्तरे ॥ ५१ ॥
आजघान महाराज शरेणानतपर्वणा ।

महाराज ! तत्पश्चात् राजा भगदत्तने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे भीमसेनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तेन राज्ञा महारथः ॥ ५२ ॥
मूर्च्छयाभिपरीतात्मा ध्वजयष्टिं समाश्रयत् ।

राजा भगदत्तसे इस प्रकार अत्यन्त घायल किये गये महाधनुर्धर महारथी भीमसेनने मूर्छासे व्याप्त हो ध्वजका डंडा थाम लिया ॥ ५२½ ॥

तांस्तु भीतान् समालक्ष्य भीमसेनं च मूर्च्छितम् ॥ ५३ ॥
ननाद बलवन्नादं भगदत्तः प्रतापवान् ।

उन सब महारथियोंको भयभीत और भीमसेनको मूर्छित हुआ देख प्रतापी भगदत्तने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ५३½ ॥

ततो घटोत्कचो राजन् प्रेक्ष्य भीमं तथागतम् ॥ ५४ ॥

संक्रुद्धो राक्षसो घोरस्तत्रैवान्तरधीयत।

राजन्! तदनन्तर भीमको वैसी अवस्थामें देखकर भयंकर राक्षस घटोत्कच अत्यन्त कुपित हो वहीं अदृश्य हो गया॥५४½॥

स कृत्वा दारुणां मायां भीरूणां भयवर्धिनीम्॥५५॥
अदृश्यत निमेषार्धाद् घोररूपं समास्थितः।
ऐरावणं समारूढः स वै मायाकृतं स्वयम्॥५६॥
(कैलासगिरिसंकाशं वज्रपाणिरिवाभ्ययात्।)

फिर उसने कायरोंका भय बढ़ानेवाली अत्यन्त दारुण माया प्रकट की। वह आधे निमेषमें ही भयंकर रूप धारण करके दृष्टिगोचर हुआ। घटोत्कच अपनी ही मायाद्वारा निर्मित कैलासपर्वतके समान श्वेत वर्णवाले ऐरावत हाथीपर चढ़कर वज्रधारी इन्द्रके समान वहाँ आया था॥५५-५६॥

तस्य चान्येऽपि दिङ्नागा बभूवुरनुयायिनः।
अञ्जनो वामनश्चैव महापद्मश्च सुप्रभः॥५७॥
त्रय एते महानागा राक्षसैः समधिष्ठिताः।

उसके पीछे अंजन, वामन और उत्तम कान्तिसे युक्त महापद्म—ये तीन दिग्गज और थे, जिनपर उसके साथी राक्षस सवार थे॥५७½॥

महाकायास्त्रिधा राजन् प्रस्रवन्तो मदं बहु॥५८॥
तेजोवीर्यबलोपेता महाबलपराक्रमाः।

राजन्! वे सभी विशालकाय दिग्गज तीन स्थानोंसे बहुत मद बहा रहे थे और तेज, वीर्य एवं बलसे सम्पन्न तथा महाबली और महापराक्रमी थे॥५८½॥

घटोत्कचस्तु स्वं नागं चोदयामास तं तदा॥५९॥
सगजं भगदत्तं तु हन्तुकामः परंतपः।

शत्रुओंको संताप देनेवाले घटोत्कचने अपने हाथीको गजारूढ़ राजा भगदत्तकी ओर बढ़ाया। वह उन्हें हाथीसहित मार डालना चाहता था॥५९½॥

ते चान्ये चोदिता नागा राक्षसैस्तैर्महाबलैः॥६०॥
परिपेतुः सुसंरब्धाश्चतुर्दंष्ट्राश्चतुर्दिशम्।

महाबली राक्षसोंद्वारा प्रेरित अन्यान्य दिग्गज भी जिनके चार-चार दाँत थे, अत्यन्त कुपित हो चारों दिशाओंमें टूट पड़े॥

भगदत्तस्य तं नागं विषाणैरभ्यपीडयन्॥६१॥
स पीड्यमानस्तैर्नागैर्वेदनार्तः शराहतः।
अनदत् सुमहानादमिन्द्राशनिसमस्वनम्॥६२॥

वे सब-के-सब भगदत्तके हाथीको अपने दाँतोंसे पीड़ा देने लगे। वह बाणोंसे बहुत घायल हो चुका था; अतः इन हाथियोंद्वारा पीड़ित होनेपर वेदनासे व्याकुल हो बड़े जोर-जोरसे चीत्कार करने लगा। उसकी आवाज इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी॥६१-६२॥

तस्य तं नदतो नादं सुघोरं भीमनिःस्वनम्।
श्रुत्वा भीष्मोऽब्रवीद् द्रोणं राजानं च सुयोधनम्॥६३॥

भयंकर आवाजके साथ अत्यन्त घोर शब्द करनेवाले हाथीके उस चीत्कारको सुनकर भीष्मने द्रोणाचार्य तथा राजा दुर्योधनसे कहा—॥६३॥

एष युध्यति संग्रामे हैडिम्बेन दुरात्मना।
भगदत्तो महेष्वासः कृच्छ्रे च परिवर्तते॥६४॥

'ये महाधनुर्धर राजा भगदत्त युद्धमें दुरात्मा घटोत्कचके साथ जूझ रहे हैं और संकटमें पड़ गये हैं॥६४॥

राक्षसश्च महाकायः स च राजातिकोपनः।
एतौ समेतौ समरे कालमृत्युसमावुभौ॥६५॥

'वह राक्षस विशालकाय है और वे राजा भी अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए हैं। वे दोनों समरमें काल और मृत्युके समान हैं॥६५॥

श्रूयते चैव हृष्टानां पाण्डवानां महास्वनः।
हस्तिनश्चैव सुमहान् भीतस्य रुदितध्वनिः॥६६॥

'देखो, हर्षमें भरे हुए पाण्डवोंका महान् सिंहनाद सुनायी पड़ता है और भगदत्तके डरे हुए हाथीके रोनेकी ध्वनि भी बड़े जोर-जोरसे कानोंमें आ रही है॥६६॥

तत्र गच्छाम भद्रं वो राजानं परिरक्षितुम्।
अरक्ष्यमाणः समरे क्षिप्रं प्राणान् विमोक्ष्यति॥६७॥

'तुम सब लोगोंका कल्याण हो। हम राजा भगदत्तकी रक्षा करनेके लिये वहाँ चलें; अन्यथा अरक्षित होनेपर वे समर-भूमिमें शीघ्र ही प्राण त्याग देंगे॥६७॥

ते त्वरध्वं महावीर्याः किं चिरेण प्रयामहे।
महान् हि वर्तते रौद्रः संग्रामो लोमहर्षणः॥६८॥

'महापराक्रमी वीरो! जल्दी करो। विलम्बसे क्या लाभ? हमें जल्दी चलना चाहिये; क्योंकि वह संग्राम अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी है॥६८॥

भक्तश्च कुलपुत्रश्च शूरश्च पृतनापतिः।
युक्तं तस्य परित्राणं कर्तुमस्माभिरच्युत॥६९॥

'राजा भगदत्त कुलीन, शूरवीर, हमारे भक्त और सेनापति हैं। अतः अच्युत! हमें उनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये'॥

भीष्मस्य तद् वचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः।
द्रोणभीष्मौ पुरस्कृत्य भगदत्तपरीप्सया॥७०॥
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र सोऽभवत्।

भीष्मका यह वचन सुनकर सभी महारथी द्रोणाचार्य और भीष्मको आगे करके भगदत्तकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे उस स्थानपर गये, जहाँ भगदत्त थे॥७०½॥

तान् प्रयातान् समालोक्य युधिष्ठिरपुरोगमाः॥७१॥
पञ्चालाः पाण्डवैः सार्धं पृष्ठतोऽनुययुः परान्।

उन्हें जाते देख युधिष्ठिर आदि पाण्डवों तथा पाञ्चालोंने भी शत्रुओंका पीछा किया॥७१½॥

तान्यनीकान्यथालोक्य राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ ७२ ॥
ननाद सुमहानादं विस्फोटमशनेरिव ।

उन सेनाओंको आते देख प्रतापी राक्षसराज घटोत्कचने बड़े जोरसे सिंहनाद किया, मानो वज्र फट पड़ा हो ॥७२½॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा दृष्ट्वा नागांश्च युध्यतः ॥ ७३ ॥
भीष्मः शान्तनवो भूयो भारद्वाजमभाषत ।

घटोत्कचकी वह गर्जना सुनकर तथा जूझते हुए हाथियों-को देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने पुनः द्रोणाचार्यसे कहा—॥

न रोचते मे संग्रामो हैडिम्बेन दुरात्मना ॥ ७४ ॥
बलवीर्यसमाविष्टः ससहायश्च साम्प्रतम् ।

'मुझे इस समय दुरात्मा घटोत्कचके साथ युद्ध करना अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वह बल और पराक्रमसे सम्पन्न है और इस समय उसे प्रबल सहायक भी मिल गये हैं ॥

नैष शक्यो युधा जेतुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ ७५ ॥
लब्धलक्ष्यः प्रहारी च वयं च श्रान्तवाहनाः ।
पाञ्चालैः पाण्डवेयैश्च दिवसं क्षतविक्षताः ॥ ७६ ॥

'ऐसी दशामें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी उसे युद्धमें पराजित नहीं कर सकते । यह प्रहार करनेमें कुशल तथा लक्ष्य भेदनेमें सफल है । इधर हमलोगोंके वाहन थक गये हैं । पाण्डवों और पाञ्चालोंके द्वारा दिनभर क्षत-विक्षत होते रहे हैं ॥ ७५-७६ ॥

तत्र मे रोचते युद्धं पाण्डवैर्जितकाशिभिः ।
घुष्यतामवहारोऽद्य श्वो योत्स्यामः परैः सह ॥ ७७ ॥

'इसलिये विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डवोंके साथ इस समय युद्ध करना मुझे पसंद नहीं आता । आज युद्धका विराम घोषित कर दिया जाय । कल सबेरे हमलोग शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे' ॥ ७७ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा तथा चक्रुः स्म कौरवाः ।
उपायेनापयानं ते घटोत्कचभयार्दिताः ॥ ७८ ॥

पितामह भीष्मकी यह बात सुनकर कौरवोंने उपायपूर्वक युद्धसे हट जाना स्वीकार कर लिया; क्योंकि उस समय वे घटोत्कचके भयसे पीड़ित थे ॥ ७८ ॥

कौरवेषु निवृत्तेषु पाण्डवा जितकाशिनः ।
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च भारत ॥ ७९ ॥

भारत ! कौरवोंके निवृत्त हो जानेपर विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डव बारंबार सिंहनाद करने और शङ्ख बजाने लगे ॥ ७९ ॥

एवं तदभवद् युद्धं दिवसं भरतर्षभ ।
पाण्डवानां कुरूणां च पुरस्कृत्य घटोत्कचम् ॥ ८० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार उस दिन दिनभर घटोत्कचको आगे करके कौरवों और पाण्डवोंका युद्ध चलता रहा॥८

कौरवास्तु ततो राजन् प्रययुः शिविरं स्वकम् ।
व्रीडमाना निशाकाले पाण्डवेयैः पराजिताः ॥ ८१ ।

राजन् ! तदनन्तर निशाके प्रारम्भकालमें पाण्डवोंसे पराजित होकर कौरव लज्जित हो अपने शिविरको गये ।८

शरविक्षतगात्रास्तु पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
युद्धे सुमनसो भूत्वा जग्मुः स्वशिविरं प्रति ॥ ८२ ।

महारथी पाण्डवोंके शरीर भी युद्धमें बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे, तथापि वे प्रसन्नचित्त होकर अपने शिविरको ही

पुरस्कृत्य महाराज भीमसेनघटोत्कचौ ।
पूजयन्तस्तदान्योन्यं मुदा परमया युताः ॥ ८३ ।
नदन्तो विविधान् नादांस्तूर्यस्वनविमिश्रितान् ।
सिंहनादांश्च कुर्वन्तो विमिश्राञ्शङ्खनिःस्वनैः ॥ ८४ ।

महाराज ! भीमसेन और घटोत्कचको आगे करके परस्पर एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए पाण्डवसैनिक बड़ी प्रसन्नताके साथ नाना प्रकारके सिंहनाद करते हुए गये । उनकी उस गर्जनाके साथ विविध वाद्योंकी ध्वनि तथा शङ्खोंके शब्द मिले हुए थे ॥ ८३-८४ ॥

विनदन्तो महात्मानः कम्पयन्तश्च मेदिनीम् ।
घट्टयन्तश्च मर्माणि तव पुत्रस्य मारिष ॥ ८५ ।
प्रयाताः शिबिरायैव निशाकाले परंतप ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रेष्ठ नरेश ! महात्मा पाण्डव गर्जते, पृथ्वीको कँपाते और आपके पुत्रके मर्मस्थानोंपर चोट पहुँचाते हुए निशाकालमें शिबिरको ही लौट गये ॥ ८५½ ॥

दुर्योधनस्तु नृपतिर्दीनो भ्रातृवधेन च ॥ ८६ ।
मुहूर्तं चिन्तयामास बाष्पशोकसमाकुलः ।

अपने भाइयोंके मारे जानेसे राजा दुर्योधन अत्यन्त दीन हो रहा था । वह नेत्रोंसे आँसू बहाता हुआ शोकसे व्याकुल हो दो घड़ीतक भारी चिन्तामें पड़ा रहा ॥ ८६½ ॥

ततः कृत्वा विधिं सर्वं शिविरस्य यथाविधि ।
प्रदध्यौ शोकसंतप्तो भ्रातृव्यसनकर्शितः ॥ ८७ ।

वह शिविरकी यथायोग्य सारी आवश्यक व्यवस्था करके भाइयोंके मारे जानेसे दुखी एवं शोकसंतप्त हो चिन्तामें डूब गया ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थदिवसावहारे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिनका युद्धविराम विषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८७½ श्लोक हैं)

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र-संजय-संवादके प्रसङ्गमें दुर्योधनके द्वारा पाण्डवोंकी विजयका कारण पूछनेपर भीष्मका ब्रह्माजीके द्वारा की हुई भगवत्-स्तुतिका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

मे सुमहज्जातं विस्मयश्चैव संजय ।
पाण्डुकुमाराणां कर्म देवैः सुदुष्करम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! पाण्डवोंका देवताओंके लिये दुष्कर पराक्रम सुनकर मुझे बड़ा भारी भय और विस्मय रहा है ॥ १ ॥

णां च पराभावं श्रुत्वा संजय सर्वशः ।
मे महती सूत भविष्यति कथं त्विति ॥ २ ॥

सूत संजय ! अपने पुत्रोंकी सब प्रकारसे पराजयका हाल मेरी चिन्ता बढ़ती ही जा रही है । सोचता हूँ कैसे विजय होगी ॥ २ ॥

विदुरवाक्यानि धक्ष्यन्ति हृदयं मम ।
हि दृश्यते सर्वं दैवयोगेन संजय ॥ ३ ॥

संजय ! निश्चय ही विदुरके वाक्य मेरे हृदयको जलाकर कर डालेंगे, क्योंकि उन्होंने जैसा कहा था, दैवयोगसे वैसा ही होता दिखायी देता है ॥ ३ ॥

भीष्ममुखान् सर्वाञ्शस्त्रज्ञान् योधसत्तमान् ।
वानामनीकेषु योधयन्ति प्रहारिणः ॥ ४ ॥

पाण्डवोंकी सेनाओंमें ऐसे-ऐसे प्रहारकुशल योद्धा हैं, शस्त्रविद्याके ज्ञाता एवं योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म आदि महारथियोंके साथ भी युद्ध कर लेते हैं ॥ ४ ॥

था महात्मानः पाण्डुपुत्रा महाबलाः ।
दत्तवरास्तात किं वा ज्ञानं विदन्ति ते ॥ ५ ॥

तात ! महाबली महात्मा पाण्डव किस कारणसे अवध्य किसने उन्हें वर दिया है अथवा कौन-सा ज्ञान वे हैं ? ॥ ५ ॥

क्षयं न गच्छन्ति दिवि तारागणा इव ।
पुनर्न मृष्यामि हतं सैन्यं तु पाण्डवैः ॥ ६ ॥

जिससे आकाशके तारोंके समान वे नष्ट नहीं हो रहे हैं । पाण्डवोंके द्वारा बारंबार अपनी सेनाके मारे जानेकी बात सहन नहीं कर पाता हूँ ॥ ६ ॥

दण्डः पतति दैवात् परमदारुणः ।
ध्याः पाण्डुसुता यथा वध्याश्च मे सुताः ॥ ७ ॥
सर्वमाचक्ष्व याथातथ्येन संजय ।

मेरे ही ऊपर अत्यन्त भयंकर दण्ड पड़ रहा संजय ! क्यों पाण्डव अवध्य हैं और क्यों मेरे पुत्र मारे रहे हैं ! यह सब यथार्थरूपसे मुझे बताओ ॥ ७½ ॥

न हि पारं प्रपश्यामि दुःखस्यास्य कथंचन ॥ ८ ॥
समुद्रस्येव महतो भुजाभ्यां प्रतरन् नरः ।

जैसे अपनी भुजाओंसे तैरनेवाला मनुष्य महासागरका पार नहीं पा सकता, उसी प्रकार मैं इस दुःखका अन्त किसी प्रकार नहीं देखता हूँ ॥ ८½ ॥

पुत्राणां व्यसनं मन्ये ध्रुवं प्राप्तं सुदारुणम् ॥ ९ ॥
घातयिष्यति मे सर्वान् पुत्रान् भीमो न संशयः ।

निश्चय ही मेरे पुत्रोंपर अत्यन्त भयंकर संकट प्राप्त हो गया है । मेरा विश्वास है कि भीमसेन मेरे सभी पुत्रोंको मार डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ९½ ॥

न हि पश्यामि तं वीरं यो मे रक्षेत् सुतान् रणे ॥ १० ॥
ध्रुवं विनाशः सम्प्राप्तः पुत्राणां मम संजय ।

मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो रणक्षेत्रमें मेरे पुत्रोंकी रक्षा कर सके । संजय ! अवश्य ही मेरे पुत्रोंके विनाशकी घड़ी आ पहुँची है ॥ १०½ ॥

तस्मान्मे कारणं सूत शक्तिं चैव विशेषतः ॥ ११ ॥
पृच्छतो वै यथातत्त्वं सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

अतः सूत ! मैं तुमसे शक्ति[1] और कारण[2]के विषयमें जो विशेष प्रश्न कर रहा हूँ, वह सब यथार्थरूपसे बताओ ११½

दुर्योधनश्च यच्चक्रे दृष्ट्वा स्वान् विमुखान् रणे ॥ १२ ॥
भीष्मद्रोणौ कृपश्चैव सौबलश्च जयद्रथः ।
द्रौणिर्वापि महेष्वासो विकर्णो वा महाबलः ॥ १३ ॥
निश्चयो वापि कस्तेषां तदा ह्यासीन्महात्मनाम् ।
विमुखेषु महाप्राज्ञ मम पुत्रेषु संजय ॥ १४ ॥

युद्धमें अपने सैनिकोंको विमुख हुआ देख दुर्योधनने क्या किया ? भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शकुनि, जयद्रथ, महाधनुर्धर अश्वत्थामा और महाबली विकर्णने भी क्या किया ? महाप्राज्ञ संजय ! मेरे पुत्रोंके विमुख होनेपर उन महामना महारथियोंने उस समय क्या निश्चय किया ? ॥ १२—१४ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन्नवहितः श्रुत्वा चैवावधारय ।
नैव मन्त्रकृतं किंचिन्नैव मायां तथाविधाम् ॥ १५ ॥

संजयने कहा—महाराज ! सावधान होकर सुनिये और सुनकर स्वयं ही पाण्डवोंकी शक्ति और अपनी पराजयके

---

[1] १. शक्तिसे तात्पर्य यहाँ पाण्डवोंकी शक्तिसे है ।

[2] २. मेरे पुत्रोंकी बार-बार पराजयका क्या कारण है, यही कारणविषयक प्रश्न है ।

कारणके विषयमें निश्चय कीजिये। पाण्डवोंमें न कोई मन्त्र-का प्रभाव है और न कोई वैसी माया ही वे करते हैं ॥ १५ ॥

न वै विभीषिकां कांचिद् राजन् कुर्वन्ति पाण्डवाः।
युध्यन्ति ते यथान्यायं शक्तिमन्तश्च संयुगे ॥ १६ ॥

राजन् ! पाण्डवलोग युद्धमें किसी विभीषिकाका प्रदर्शन नहीं करते। अर्थात् किसी भी प्रकारसे भयभीत नहीं होते। वे न्यायपूर्वक युद्ध करते हैं। शक्तिशाली तो वे हैं ही ॥ १६ ॥

धर्मेण सर्वकार्याणि जीवितादीनि भारत।
आरभन्ते सदा पार्थाः प्रार्थयाना महद् यशः ॥ १७ ॥

भारत ! कुन्तीके पुत्र जीवन-निर्वाह आदिके सभी कार्य सदा धर्मपूर्वक ही आरम्भ करते हैं। कारण कि वे जगत्में अपना महान् यश फैलाना चाहते हैं ॥ १७ ॥

न ते युद्धान्निवर्तन्ते धर्मोपेता महाबलाः।
श्रिया परमया युक्ता यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १८ ॥

वे युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं। धर्मबलसे सम्पन्न होनेके कारण ही वे महाबली और उत्तम समृद्धिसे युक्त हैं। जहाँ धर्म होता है, उसी पक्षकी विजय होती है ॥ १८ ॥

तेनावध्या रणे पार्था जययुक्ताश्च पार्थिव।
तव पुत्रा दुरात्मानः पापेष्वभिरताः सदा ॥ १९ ॥
निष्ठुरा हीनकर्माणस्तेन हीयन्ति संयुगे।

महाराज ! धर्मके ही कारण कुन्तीके पुत्र युद्धमें अवध्य और विजयी हो रहे हैं। इधर आपके दुरात्मा पुत्र सदा पापोंमें ही तत्पर रहते हैं। निर्दय होनेके साथ ही निकृष्ट कर्ममें लगे रहते हैं। इसीलिये युद्धस्थलमें उन्हें हानि उठानी पड़ती है ॥ १९½ ॥

सुबहूनि नृशंसानि पुत्रैस्तव जनेश्वर ॥ २० ॥
निकृतानीह पाण्डूनां नीचैरिव यथा नरैः।
सर्वं च तदनादृत्य पुत्राणां तव किल्बिषम् ॥ २१ ॥
सापह्नवाः सदैवासन् पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज।
न चैतान् बहु मन्यन्ते पुत्रास्तव विशाम्पते ॥ २२ ॥

जनेश्वर ! आपके पुत्रोंने नीच मनुष्योंकी भाँति पाण्डवोंके प्रति बहुत-से क्रूरतापूर्ण बर्ताव तथा छल-कपट किये हैं, परंतु आपके पुत्रोंका वह सारा अपराध भुलाकर पाण्डव सदा उन दोषोंपर पर्दा ही डालते आये हैं। पाण्डुके बड़े भाई महाराज ! इसपर भी आपके पुत्र इन पाण्डवोंको अधिक आदर नहीं देते हैं ॥ २०—२२ ॥

तस्य पापस्य सततं क्रियमाणस्य कर्मणः।
साम्प्रतं सुमहद् घोरं फलं प्राप्तं जनेश्वर ॥ २३ ॥

जनेश्वर ! निरन्तर किये जानेवाले उसी पाप-कर्मका इस समय यह अत्यन्त भयंकर फल प्राप्त हुआ है ॥ २३ ॥

स त्वं भुङ्क्ष्व महाराज सपुत्रः ससुहृज्जनः।
नावबुध्यसि यद् राजन् वार्यमाणः सुहृज्जनैः ॥ २४ ॥

महाराज ! आप सुहृदोंके मना करनेपर भी वे नहीं देते हैं, इससे अब स्वयं ही पुत्रों और सुहृदों अपनी अनीतिका फल भोगिये ॥ २४ ॥

विदुरेणाथ भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना।
तथा मया चाप्यसकृद् वार्यमाणो न बुध्यसे॥

विदुर, भीष्म तथा महात्मा द्रोणने और मैंने भी बार आपको मना किया है; किंतु आप कभी समझ पाते थे ॥ २५ ॥

वाक्यं हितं च पथ्यं च मर्त्यः पथ्यमिवौषधम्।
पुत्राणां मतमाज्ञाय जितान् मन्यसि पाण्डवान्॥

जैसे मरणासन्न मनुष्य हितकारी औषधको भी फेंक हैं, उसी प्रकार आपने हमलोगोंके कहे हुए लाभकारी हितकर वचनोंको भी ठुकरा दिया। एवं अब अपने पुत्रों बातमें आकर यह मान रहे हैं कि हमने पाण्डवोंको जीत

शृणु भूयो यथातत्त्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
कारणं भरतश्रेष्ठ पाण्डवानां जयं प्रति ॥
तत् तेऽहं कथयिष्यामि यथाश्रुतमरिंदम।

भरतश्रेष्ठ ! आप पाण्डवोंकी विजय और अपनी पराजय का जो कारण पूछते हैं, उसके विषयमें यथार्थ बातें सुनिये शत्रुदमन ! मैंने जैसा सुन रक्खा है, वह बताऊँगा ॥ २७½ ॥

दुर्योधनेन सम्पृष्ट एतमर्थं पितामहः ॥
दृष्ट्वा भ्रातॄन् रणे सर्वान् निर्जितांस्तु महारथान्।
शोकसम्मूढहृदयो निशाकाले स कौरवः ॥
पितामहं महाप्राज्ञं विनयेनोपगम्य ह।
यदब्रवीत् सुतस्तेऽसौ तन्मे शृणु जनेश्वर ॥

दुर्योधनने यही बात पितामह भीष्मसे पूछी थी। महाराज युद्धमें अपने समस्त महारथी भाइयोंको पराजित हुआ आपके पुत्र कुरुराज दुर्योधनका हृदय शोकसे मोहित गया। उसने रातमें महाज्ञानी पितामह भीष्मके पास पूर्वक जाकर जो कुछ पूछा था, वह बताता हूँ, सुनिये ॥ २८—३० ॥

दुर्योधन उवाच

द्रोणश्च त्वं च शल्यश्च कृपो द्रौणिस्तथैव च।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ॥
भूरिश्रवा विकर्णश्च भगदत्तश्च वीर्यवान्।
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ॥

दुर्योधनने पूछा—पितामह ! आप, द्रोणाचार्य, शल्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, राज सुदक्षिण, भूरिश्रवा, विकर्ण तथा पराक्रमी सब महारथी कहे जाते हैं। सभी कुलीन और लिये अपना शरीर निछावर करनेको तैयार हैं ॥ ३१-३२

पामपि लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ।
पाण्डवानां समस्ताश्च नातिष्ठन्त पराक्रमे ॥ ३३ ॥

रा तो ऐसा विश्वास है कि आप सब लोग मिल जायँ नों लोकोंपर भी विजय पानेमें समर्थ हो सकते हैं, तु पाण्डवोंके पराक्रमके सामने आप सब लोग टिक नहीं ते हैं। इसका क्या कारण है ? ॥ ३३ ॥

मे संशयो जातस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।
समाश्रित्य कौन्तेया जयन्त्यस्मान् क्षणे क्षणे ॥ ३४ ॥

इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह है; अतः मेरे प्रश्न-अनुसार आप उसका उत्तर दीजिये । किसका आश्रय र वे कुन्तीके पुत्र क्षण-क्षणमें हमलोगोंपर विजय हे हैं ॥ ३४ ॥

भीष्म उवाच

राजन् वचो मह्यं यथा वक्ष्यामि कौरव ।
मयोक्तोऽसि न च मे तत् त्वया कृतम् ॥ ३५ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन ! नरेश्वर ! मेरी बात । इस विषयमें जो यथार्थ बात है, उसे बताता हूँ । नेक बार पहले भी तुमसे ये बातें कही हैं, परंतु तुमने ना नहीं है ॥ ३५ ॥

नां पाण्डवैः सार्धं शमो भरतसत्तम ।
क्षेममहं मन्ये पृथिव्यास्तव वा विभो ॥ ३६ ॥

रतश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो । प्रभो ! मैं तुम्हारा और भूमण्डलका कल्याण समझता हूँ ॥

इमां पृथिवीं राजन् भ्रातृभिः सहितः सुखी ।
संतापयन् सर्वान् नन्दयंश्चापि बान्धवान् ॥ ३७ ॥

जन् ! तुम अपने सभी शत्रुओंको संताप और बन्धु-ओंको आनन्द प्रदान करते हुए भाइयोंके साथ मिलकर हो और इस पृथ्वीका राज्य भोगो ॥ ३७ ॥

मे क्रोशतस्तात श्रुतवानसि वै पुरा ।
समनुप्राप्तं यत् पाण्डूनवमन्यसे ॥ ३८ ॥

त ! इस तरहकी बातें मैंने पहले पुकार-पुकारकर हैं, परंतु तुमने उन सबको अनसुनी कर दिया है । पाण्डवोंका अपमान करते आये हो, आज उसीका प्राप्त हुआ है ॥ ३८ ॥

हेतुरवध्यत्वे तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
महाबाहो मम कीर्तयतः प्रभो ॥ ३९ ॥

बाहो ! प्रभो ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले के अवध्य होनेमें जो हेतु है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥

लोकेषु तद् भूतं भविता नो भविष्यति ।
पाण्डवान् सर्वान् पालिताञ्छार्ङ्गधन्वना ॥ ४० ॥
सुरमर्त्येषु यो विद्यात् तत्त्वतो हरिम् ।)

लोकमें ऐसा कोई प्राणी न हुआ है, न है और न होगा, जो शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित इन सब पाण्डवोंपर विजय पा सके तथा देवता, असुर और मनुष्योंमें ऐसा भी कोई नहीं है, जो उन भगवान् श्रीहरिको यथार्थरूपसे जान सके ॥ ४० ॥

यत् तु मे कथितं तात मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
पुराणगीतं धर्मज्ञ तच्छृणुष्व यथातथम् ॥ ४१ ॥

तात धर्मज्ञ ! पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंने मुझसे जो पुराणप्रतिपादित यथार्थ बातें कही हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ४१ ॥

पुरा किल सुराः सर्वे ऋषयश्च समागताः ।
पितामहमुपासेदुः पर्वते गन्धमादने ॥ ४२ ॥

पहलेकी बात है, समस्त देवता और महर्षि गन्धमादन पर्वतपर आकर पितामह ब्रह्माजीके पास बैठे ॥ ४२ ॥

तेषां मध्ये समासीनः प्रजापतिरपश्यत ।
विमानं प्रज्वलद् भासा स्थितं प्रवरमम्बरे ॥ ४३ ॥

उस समय उनके बीचमें बैठे हुए प्रजापति ब्रह्माने आकाशमें खड़ा हुआ एक श्रेष्ठ विमान देखा, जो अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहा था ॥ ४३ ॥

ध्यानेनावेद्य तद् ब्रह्मा कृत्वा च नियतोऽञ्जलिम् ।
नमश्चकार हृष्टात्मा पुरुषं परमेश्वरम् ॥ ४४ ॥

अपने मनको संयममें रखनेवाले ब्रह्माजीने ध्यानसे यथार्थ बात जानकर हाथ जोड़ लिये और प्रसन्नचित्त होकर उन परम पुरुष परमेश्वरको नमस्कार किया ॥ ४४ ॥

ऋषयस्त्वथ देवाश्च दृष्ट्वा ब्रह्माणमुत्थितम् ।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पश्यन्तो महदद्भुतम् ॥ ४५ ॥

ऋषि तथा देवता ब्रह्माजीको खड़े (और हाथ जोड़े) हुए देख स्वयं भी उस परम अद्भुत तेजका दर्शन करते हुए हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ४५ ॥

यथावच्च तमभ्यर्च्य ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।
जगाद जगतः स्रष्टा परं परमधर्मवित् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, परम धर्मज्ञ, जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने उन तेजोमय परम पुरुषका यथावत् पूजन करके उनकी स्तुति की ॥ ४६ ॥

विश्वावसुर्विश्वमूर्तिर्विश्वेशो
विष्वक्सेनो विश्वकर्मा वशी च ।
विश्वेश्वरो वासुदेवोऽसि तस्माद्
योगात्मानं दैवतं त्वामुपैमि ॥ ४७ ॥

प्रभो ! आप सम्पूर्ण विश्वको आच्छादित करनेवाले, विश्वस्वरूप और विश्वके स्वामी हैं । विश्वमें सब ओर आपकी सेना है । यह विश्व आपका कार्य है । आप सबको अपने

वशमें रखनेवाले हैं। इसीलिये आपको विश्वेश्वर और वासुदेव कहते हैं। आप योगस्वरूप देवता हैं, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ४७ ॥

जय विश्व महादेव जय लोकहिते रत।
जय योगीश्वर विभो जय योगपरावर ॥ ४८ ॥

विश्वरूप महादेव! आपकी जय हो, लोकहितमें लगे रहनेवाले परमेश्वर! आपकी जय हो। सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले योगीश्वर! आपकी जय हो। योगके आदि और अन्त! आपकी जय हो ॥ ४८ ॥

पद्मगर्भ विशालाक्ष जय लोकेश्वरेश्वर।
भूतभव्यभवन्नाथ जय सौम्यात्मजात्मज ॥ ४९ ॥
असंख्येयगुणाधार जय सर्वपरायण।
नारायण सुदुष्पार जय शार्ङ्गधनुर्धर ॥ ५० ॥

आपकी नाभिसे आदि कमलकी उत्पत्ति हुई है, आपके नेत्र विशाल हैं, आप लोकेश्वरोंके भी ईश्वर हैं; आपकी जय हो। भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी! आपकी जय हो। आपका स्वरूप सौम्य है, मैं स्वयम्भू ब्रह्मा आपका पुत्र हूँ। आप असंख्य गुणोंके आधार और सबको शरण देनेवाले हैं, आपकी जय हो। शार्ङ्ग-धनुष धारण करनेवाले नारायण! आपकी महिमाका पार पाना बहुत ही कठिन है, आपकी जय हो ॥ ४९-५० ॥

जय सर्वगुणोपेत विश्वमूर्ते निरामय।
विश्वेश्वर महाबाहो जय लोकार्थतत्पर ॥ ५१ ॥

आप समस्त कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न, विश्वमूर्ति और निरामय हैं; आपकी जय हो। जगत्का अभीष्ट साधन करनेवाले महाबाहु विश्वेश्वर! आपकी जय हो ॥ ५१ ॥

महोरग वराहाद्य हरिकेश विभो जय।
हरिवास दिशामीश विश्ववासामिताव्यय ॥ ५२ ॥

आप महान् शेषनाग और महावाराह-रूप धारण करनेवाले हैं, सबके आदि कारण हैं। हरिकेश! प्रभो! आपकी जय हो, आप पीताम्बरधारी, दिशाओंके स्वामी, विश्वके आधार, अप्रमेय और अविनाशी हैं ॥ ५२ ॥

व्यक्ताव्यक्तामितस्थान नियतेन्द्रिय सत्क्रिय।
असंख्येयात्मभावज्ञ जय गम्भीर कामद ॥ ५३ ॥

व्यक्त और अव्यक्त—सब आपहीका स्वरूप है, आपके रहनेका स्थान असीम-अनन्त है, आप इन्द्रियोंके नियन्ता हैं। आपके सभी कर्म शुभ-ही-शुभ हैं। आपकी कोई इयत्ता नहीं है, आप आत्मस्वरूपके ज्ञाता, स्वभावतः गम्भीर और भक्तोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले हैं; आपकी जय हो ॥

अनन्तविदित ब्रह्मन् नित्य भूतविभावन।
कृतकार्य कृतप्रज्ञ धर्मज्ञ विजयावह ॥ ५४ ॥

ब्रह्मन्! आप अनन्तबोधस्वरूप हैं, नित्य हैं और सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं। आपको कुछ करना बाकी नहीं है, आपकी बुद्धि पवित्र है, आप धर्मको जाननेवाले और विजयप्रदाता हैं ॥ ५४ ॥

गुह्यात्मन् सर्वयोगात्मन् स्फुटं सम्भूतसम्भव।
भूताद्य लोकतत्त्वेश जय भूतविभावन ॥ ५५ ॥

पूर्णयोगस्वरूप परमात्मन्! आपका स्वरूप गूढ़ होते हुआ भी स्पष्ट है। अबतक जो हो चुका है और जो हो रहा है, सब आपका ही रूप है। आप सम्पूर्ण भूतोंके आदि कारण और लोकतत्त्वके स्वामी हैं। भूतभावन! आपकी जय हो ॥ ५५ ॥

आत्मयोने महाभाग कल्पसंक्षेप तत्पर।
उद्भावनमनोभाव जय ब्रह्म जनप्रिय ॥ ५६ ॥

आप स्वयम्भू हैं, आपका सौभाग्य महान् है। आप कल्पका संहार करनेवाले एवं विशुद्ध परब्रह्म हैं। ध्यान करनेसे अन्तःकरणमें आपका आविर्भाव होता है, आप जीवमात्रके प्रियतम परब्रह्म हैं, आपकी जय हो ॥ ५६ ॥

निसर्गसर्गनिरत कामेश परमेश्वर।
अमृतोद्भव सद्भाव मुक्तात्मन् विजयप्रद ॥ ५७ ॥

आप स्वभावतः संसारकी सृष्टिमें प्रवृत्त रहते हैं, आप सम्पूर्ण कामनाओंके स्वामी परमेश्वर हैं। अमृतकी उत्पत्तिके स्थान, सत्यस्वरूप, मुक्तात्मा और विजय देनेवाले आप ही हैं।

प्रजापतिपते देव पद्मनाभ महाबल।
आत्मभूत महाभूत सत्त्वात्मन् जय सर्वदा ॥ ५८ ॥

देव! आप ही प्रजापतियोंके भी पति, पद्मनाभ और महाबली हैं। आत्मा और महाभूत भी आप ही हैं। सत्त्वस्वरूप परमेश्वर! सदा आपकी जय हो ॥ ५८ ॥

पादौ तव धरा देवी दिशो बाहू दिवं शिरः।
मूर्तिस्तेऽहं सुराः कायश्चन्द्रादित्यौ च चक्षुषी ॥ ५९ ॥

पृथ्वीदेवी आपके चरण हैं, दिशाएँ बाहु हैं और द्युलोक मस्तक है। मैं ब्रह्मा आपका शरीर, देवता अङ्ग-प्रत्यङ्ग और चन्द्रमा तथा सूर्य नेत्र हैं ॥ ५९ ॥

बलं तपश्च सत्यं च कर्म धर्मात्मकं तव।
तेजोऽग्निः पवनः श्वास आपस्ते स्वेदसम्भवाः ॥ ६० ॥

तप और सत्य आपका बल है तथा धर्म और कर्म आपका स्वरूप है। अग्नि आपका तेज, वायु साँस और जल पसीना है ॥ ६० ॥

अश्विनौ श्रवणौ नित्यं देवी जिह्वा सरस्वती।
वेदाः संस्कारनिष्ठा हि त्वयीदं जगदाश्रितम् ॥ ६१ ॥

अश्विनीकुमार आपके कान और सरस्वती देवी आपकी जिह्वा हैं। वेद आपकी संस्कारनिष्ठा हैं। यह जगत् सदा आपहीके आधारपर टिका हुआ है ॥ ६१ ॥

न संख्यानं परीमाणं न तेजो न पराक्रमम् ।
न बलं योगयोगीश जानीमस्ते न सम्भवम् ॥ ६२ ॥

योग-योगीश्वर ! हम न तो आपकी संख्या जानते हैं, न परिमाण । आपके तेज, पराक्रम और बलका भी हमें पता नहीं है । हम यह भी नहीं जानते कि आपका आविर्भाव कैसे होता है ॥ ६२ ॥

भक्तिनिरता देव नियमैस्त्वां समाश्रिताः ।
अर्चयामः सदा विष्णो परमेशं महेश्वरम् ॥ ६३ ॥
ऋषयो देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
पिशाचा मानुषाश्चैव मृगपक्षिसरीसृपाः ॥ ६४ ॥
एवमादि मया सृष्टं पृथिव्यां त्वत्प्रसादजम् ।

देव ! हम तो आपकी उपासनामें लगे रहते हैं । आपके नियमोंका पालन करते हुए आपके ही शरण हैं । विष्णो ! हम सदा आप परमेश्वर एवं महेश्वरका पूजन ही करते हैं । आपकी ही कृपासे हमने पृथ्वीपर ऋषि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, पिशाच, मनुष्य, मृग, पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े आदिकी सृष्टि की है ॥ ६३-६४½ ॥

पद्मनाभ विशालाक्ष कृष्ण दुःखप्रणाशन ॥ ६५ ॥
त्वं गतिः सर्वभूतानां त्वं नेता त्वं जगद्गुरुः ।
त्वत्प्रसादेन देवेश सुखिनो विबुधाः सदा ॥ ६६ ॥

पद्मनाभ ! विशाललोचन ! दुःखहारी श्रीकृष्ण ! आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंके आश्रय और नेता हैं, आप ही संसारके गुरु हैं । देवेश्वर ! आपकी कृपादृष्टि होनेसे ही सब देवता सदा सुखी होते हैं ॥ ६५-६६ ॥

पृथ्वी निर्भया देव त्वत्प्रसादात् सदाभवत् ।
तस्माद् भव विशालाक्ष यदुवंशविवर्धनः ॥ ६७ ॥

देव ! आपके ही प्रसादसे पृथ्वी सदा निर्भय रही है, इसलिये विशाललोचन ! आप पुनः पृथ्वीपर यदुवंशमें अवतार लेकर उसकी कीर्ति बढ़ाइये ॥ ६७ ॥

धर्मसंस्थापनार्थाय दैत्यानां च वधाय च ।
जगतो धारणार्थाय विज्ञाप्यं कुरु मे विभो ॥ ६८ ॥

प्रभो ! धर्मकी स्थापना, दैत्योंके वध और जगत्की रक्षाके लिये हमारी प्रार्थना अवश्य स्वीकार कीजिये ॥ ६८ ॥

यत् तत् परमकं गुह्यं त्वत्प्रसादादिदं विभो ।
वासुदेव तदेतत् ते मयोद्गीतं यथातथम् ॥ ६९ ॥

वासुदेव ! आप ही पूर्णतम परमेश्वर हैं । आपका जो परम गुह्य यथार्थस्वरूप है, उसीका यहाँ इस रूपमें आपकी कृपासे ही गान किया गया है ॥ ६९ ॥

सृष्ट्वा संकर्षणं देवं स्वयमात्मानमात्मना ।
कृष्ण त्वमात्मनास्राक्षीः प्रद्युम्नं चात्मसम्भवम् ॥ ७० ॥

श्रीकृष्ण ! आपने आत्माद्वारा स्वयं अपने आपको ही संकर्षणदेवके रूपमें प्रकट करके अपने ही द्वारा आत्मज-स्वरूप प्रद्युम्नकी सृष्टि की है ॥ ७० ॥

प्रद्युम्नादनिरुद्धं त्वं यं विदुर्विष्णुमव्ययम् ।
अनिरुद्धोऽसृजन्मां वै ब्रह्माणं लोकधारिणम् ॥ ७१ ॥

प्रद्युम्नसे आपने ही उन अनिरुद्धको प्रकट किया है जिन्हें ज्ञानीजन अविनाशी विष्णुरूपसे जानते हैं । उन विष्णुरूप अनिरुद्धने ही मुझ लोकधाता ब्रह्माकी सृष्टि की है ॥

वासुदेवमयः सोऽहं त्वयैवास्मि विनिर्मितः ।
(तस्माद् याचामि लोकेश चतुरात्मानमात्मना ।)
विभज्य भागशोऽऽत्मानं व्रज मानुषतां विभो ॥ ७२ ॥

प्रभो ! इस प्रकार आपने ही मेरी सृष्टि की है । आपसे अभिन्न होनेके कारण मैं भी वासुदेवमय हूँ । लोकेश्वर ! इसलिये याचना करता हूँ कि आप अपने आपको स्वयं ही (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) इन चार रूपोंमें विभक्त करके मानव-शरीर ग्रहण कीजिये ॥

तत्रासुरवधं कृत्वा सर्वलोकसुखाय वै ।
धर्मं प्राप्य यशः प्राप्य योगं प्राप्स्यसि तत्त्वतः ॥ ७३ ॥

वहाँ सब लोगोंके सुखके लिये असुरोंका वध करके धर्म और यशका विस्तार कीजिये । अन्तमें अवतारका उद्देश्य पूर्ण करके आप पुनः अपने पारमार्थिक स्वरूपसे संयुक्त हो जायँगे ॥ ७३ ॥

त्वां हि ब्रह्मर्षयो लोके देवाश्चामितविक्रम ।
तैस्तैर्हि नामभिर्युक्ता गायन्ति परमात्मकम् ॥ ७४ ॥

अमित पराक्रमी परमेश्वर ! संसारमें महर्षि और देवगण एकाग्रचित्त हो उन-उन लीलानुसारी नामोंद्वारा आपके परमात्मस्वरूपका गान करते रहते हैं ॥ ७४ ॥

स्थिताश्च सर्वे त्वयि भूतसंघाः
कृत्वाऽऽश्रयं त्वां वरदं सुबाहो ।
अनादिमध्यान्तमपारयोगं
लोकस्य सेतुं प्रवदन्ति विप्राः ॥ ७५ ॥

सुबाहो ! आप वरदायक प्रभुका ही आश्रय लेकर समस्त प्राणिसमुदाय आपमें ही स्थित हैं । ब्राह्मणलोग आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, किसी सीमाके सम्बन्धसे शून्य (असीम) तथा लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये सेतुस्वरूप बताते हैं ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ७६ श्लोक हैं)

षट्षष्टितमोऽध्यायः

नारायणावतार श्रीकृष्ण एवं नरावतार अर्जुनकी महिमाका प्रतिपादन

भीष्म उवाच

ततः स भगवान् देवो लोकानामीश्वरेश्वरः।
ब्रह्माणं प्रत्युवाचेदं स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन ! तब लोकेश्वरोंके भी ईश्वर दिव्यरूपधारी श्रीभगवान्‌ने स्नेहमधुर गम्भीर वाणीमें ब्रह्माजीसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

विदितं तात योगान्मे सर्वमेतत् तवेप्सितम्।
तथा तद् भवितेत्युक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ २ ॥

'तात ! तुम्हारे मनमें जैसी इच्छा है, वह सब मुझे योगबलसे ज्ञात हो गयी है। उसके अनुसार ही सब कार्य होगा'—ऐसा कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २ ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वा विस्मयं परमं गताः।
कौतूहलपराः सर्वे पितामहमथाब्रुवन् ॥ ३ ॥

तब देवता, ऋषि और गन्धर्व सभी बड़े विस्मयमें पड़े। उन सबने अत्यन्त उत्सुक होकर पितामह ब्रह्माजीसे कहा— ॥ ३ ॥

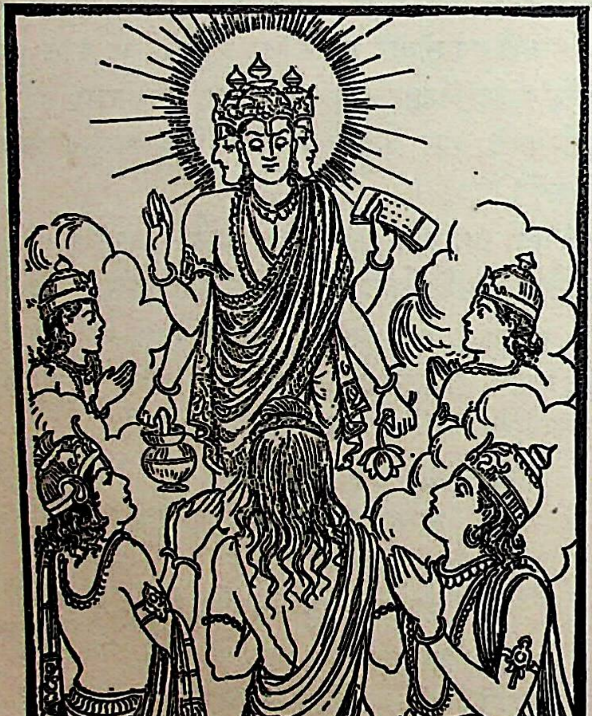

को न्वयं यो भगवता प्रणम्य विनयाद् विभो।
वाग्भिः स्तुतो वरिष्ठाभिः श्रोतुमिच्छाम तं वयम् ॥ ४ ॥

'प्रभो ! आपने विनयपूर्वक प्रणाम करके श्रेष्ठ वचनोंद्वारा जिनकी स्तुति की है, ये कौन थे ? हम उनके विषयमें सुनना चाहते हैं' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु भगवान् प्रत्युवाच पितामहः।
देवब्रह्मर्षिगन्धर्वान् सर्वान् मधुरया गिरा ॥ ५ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् ब्रह्माने उन देवताओं, ब्रह्मर्षियों और गन्धर्वोंसे मधुर वाणीमें कहा—

यत् तत् परं भविष्यं च भवितव्यं च यत्परम्।
भूतात्मा च प्रभुश्चैव ब्रह्म यच्च परं पदम् ॥ ६ ॥
तेनास्मि कृतसंवादः प्रसन्नेन सुरर्षभाः।
जगतोऽनुग्रहार्थाय याचितो मे जगत्पतिः ॥ ७ ॥
मानुषं लोकमातिष्ठ वासुदेव इति श्रुतः।
असुराणां वधार्थाय सम्भवस्व महीतले ॥ ८ ॥

'श्रेष्ठ देवताओ ! जो परम तत्त्व हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों जिनके उत्कृष्ट स्वरूप हैं तथा जो इन सबसे विलक्षण हैं, जिन्हें सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा और सर्वशक्तिमान् प्रभु कहा गया है, जो परम ब्रह्म और परम पदके नामसे विख्यात हैं, उन्हीं परमात्माने मुझे दर्शन देकर मुझसे प्रसन्न हो बातचीत की है। मैंने उन जगदीश्वरसे सम्पूर्ण जगत्पर कृपा करनेके लिये यों प्रार्थना की है कि प्रभो ! आप वासुदेव नामसे विख्यात होकर कुछ कालतक मनुष्यलोकमें रहें और असुरोंके वधके लिये इस भूतलपर अवतीर्ण हों ॥ ६-८ ॥

संग्रामे निहता ये ते दैत्यदानवराक्षसाः।
त इमे नृषु सम्भूता घोररूपा महाबलाः ॥ ९ ॥

'जो-जो दैत्य, दानव तथा राक्षस संग्रामभूमिमें मारे गये थे, वे मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए हैं और अत्यन्त बलवान् होकर जगत्‌के लिये भयंकर बन बैठे हैं ॥ ९ ॥

तेषां वधार्थं भगवान् नरेण सहितो वशी।
मानुषीं योनिमास्थाय चरिष्यति महीतले ॥ १० ॥

'उन सबका वध करनेके लिये सबको वशमें करनेवाले भगवान् नारायण नरके साथ मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण होकर भूतलपर विचरेंगे ॥ १० ॥

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ।
सहितौ मानुषे लोके सम्भूतावमितद्युती ॥ ११ ॥

'ऋषियोंमें श्रेष्ठ जो पुरातन महर्षि अमित तेजस्वी नर और नारायण हैं, वे एक साथ मानवलोकमें अवतीर्ण होंगे ॥ ११ ॥

अजेयौ समरे यत्तौ सहितैरमरैरपि।
मूढास्त्वेतौ न जानन्ति नरनारायणावृषी ॥ १२ ॥

'युद्धभूमिमें यदि वे विजयके लिये यत्नशील हों तो देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते। मूढ़ मनुष्य नर-नारायण ऋषिको नहीं जान सकेंगे ॥ १२ ॥

तस्याहमग्रजः पुत्रः सर्वस्य जगतः प्रभुः।
वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः॥ १३॥

'सम्पूर्ण जगत्का स्वामी मैं ब्रह्मा उन भगवान्का ज्येष्ठ पुत्र हूँ। तुम सब लोगोंको उन सर्वलोकमहेश्वर भगवान् वासुदेवकी आराधना करनी चाहिये॥ १३॥

तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः।
नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः॥ १४॥

'सुरश्रेष्ठगण! शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले उन महापराक्रमी भगवान् वासुदेवका 'ये मनुष्य हैं' ऐसा समझकर अनादर नहीं करना चाहिये॥ १४॥

एतत् परमकं गुह्यमेतत् परमकं पदम्।
एतत् परमकं ब्रह्म एतत् परमकं यशः॥ १५॥
एतदक्षरमव्यक्तमेतद् वै शाश्वतं महः।

'ये भगवान् ही परम गुह्य हैं। ये ही परम पद हैं। ये ही परम ब्रह्म हैं। ये ही परम यश हैं और ये ही अक्षर, अव्यक्त एवं सनातन तेज हैं॥ १५½॥

एतत् पुरुषसंज्ञं वै गीयते ज्ञायते न च॥ १६॥
एतत् परमकं तेज एतत् परमकं सुखम्।
एतत् परमकं सत्यं कीर्तितं विश्वकर्मणा॥ १७॥

'ये ही पुरुष नामसे कहे जाते हैं, किंतु इनका वास्तविक रूप जाना नहीं जा सकता। ये ही विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीके द्वारा परम सुख, परम तेज और परम सत्य कहे गये हैं॥ १६-१७॥

तस्मात् सेन्द्रैः सुरैः सर्वैर्लोकैश्चामितविक्रमः।
नावज्ञेयो वासुदेवो मानुषोऽयमिति प्रभुः॥ १८॥

'इसलिये 'ये मनुष्य हैं,' ऐसा समझकर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा संसारके मनुष्योंको अमित पराक्रमी भगवान् वासुदेवकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये॥ १८॥

यश्च मानुषमात्रोऽयमिति ब्रूयात् स मन्दधीः।
हृषीकेशमवज्ञानात् तमाहुः पुरुषाधमम्॥ १९॥

'जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी इन भगवान् वासुदेवको केवल मनुष्य कहता है, वह मूर्ख है। भगवान्की अवहेलना करनेके कारण उसे नराधम कहा गया है॥ १९॥

योगिनं तं महात्मानं प्रविष्टं मानुषीं तनुम्।
अवमन्येद् वासुदेवं तमाहुस्तामसं जनाः॥ २०॥

'भगवान् वासुदेव साक्षात् परमात्मा हैं और योगशक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उन्होंने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है। जो उनकी अवहेलना करता है, उसे ज्ञानी पुरुष तमोगुणी बताते हैं॥ २०॥

देवं चराचरात्मानं श्रीवत्साङ्कं सुवर्चसम्।
पद्मनाभं न जानाति तमाहुस्तामसं बुधाः॥ २१॥

'जो चराचरस्वरूप श्रीवत्स-चिह्नभूषित उत्तम कान्तिसे सम्पन्न भगवान् पद्मनाभको नहीं जानता, उसे विद्वान् पुरुष तमोगुणी कहते हैं॥ २१॥

किरीटकौस्तुभधरं मित्राणामभयंकरम्।
अवजानन् महात्मानं घोरे तमसि मज्जति॥ २२॥

'जो किरीट और कौस्तुभमणि धारण करनेवाले तथा मित्रों (भक्तजनों) को अभय देनेवाले हैं, उन परमात्माकी अवहेलना करनेवाला मनुष्य घोर नरकमें डूबता है॥ २२॥

एवं विदित्वा तत्त्वार्थं लोकानामीश्वरेश्वरः।
वासुदेवो नमस्कार्यः सर्वलोकैः सुरोत्तमाः॥ २३॥

'सुरश्रेष्ठगण! इस प्रकार तात्त्विक वस्तुको समझकर सब लोगोंको लोकेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करना चाहिये'॥ २३॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् देवान् सर्षिगणान् पुरा।
विसृज्य सर्वभूतात्मा जगाम भवनं स्वकम्॥ २४॥

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन! देवताओं तथा ऋषियोंसे ऐसा कहकर पूर्वकालमें सर्वभूतात्मा भगवान् ब्रह्माने उन सबको विदा कर दिया। फिर वे अपने लोकको चले गये॥ २४॥

ततो देवाः सगन्धर्वा मुनयोऽप्सरसोऽपि च।
कथां तां ब्रह्मणा गीतां श्रुत्वा प्रीता दिवं ययुः॥ २५॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजीकी कही हुई उस परमार्थ-चर्चाको सुनकर देवता, गन्धर्व, मुनि और अप्सराएँ—ये सभी प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गलोकमें चले गये॥ २५॥

एतच्छ्रुतं मया तात ऋषीणां भावितात्मनाम्।
वासुदेवं कथयतां समवाये पुरातनम्॥ २६॥

तात! एक समय शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक समाज जुटा हुआ था, जिसमें वे पुरातन भगवान् वासुदेवकी माहात्म्य-कथा कह रहे थे। उन्हींके मुँहसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं॥ २६॥

रामस्य जामदग्न्यस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः।
व्यासनारदयोश्चापि सकाशाद् भरतर्षभ॥ २७॥

भरतश्रेष्ठ! इसके सिवा जमदग्निनन्दन परशुराम, बुद्धिमान् मार्कण्डेय, व्यास तथा नारदसे भी मैंने यह बात सुनी है॥ २७॥

एतमर्थं च विज्ञाय श्रुत्वा च प्रभुमव्ययम्।
वासुदेवं महात्मानं लोकानामीश्वरेश्वरम्॥ २८॥
(जानामि भरतश्रेष्ठ कृष्णं नारायणं प्रभुम्।)

भरतकुलभूषण! इस विषयको सुन और समझकर मैं वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको अविनाशी प्रभु परमात्मा लोकेश्वरेश्वर और सर्वशक्तिमान् नारायण जानता हूँ॥ २८॥

यस्य चैवात्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पिता।

कथं न वासुदेवोऽयमर्च्यश्चेज्यश्च मानवैः ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण जगत्के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्योंके लिये आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं ?॥

वारितोऽसि मया तात मुनिभिर्वेदपारगैः ।
मा गच्छ संयुगं तेन वासुदेवेन धन्विना ॥ ३० ॥
मा पाण्डवैः सार्धमिति तत् त्वं मोहान्न बुध्यसे ।
मन्ये त्वां राक्षसं क्रूरं तथा चासि तमोवृतः ॥ ३१ ॥

तात ! वेदोंके पारंगत विद्वान् महर्षियोंने तथा मैंने तुमको मना किया था कि तुम धनुर्धर भगवान् वासुदेवके साथ विरोध न करो; पाण्डवोंके साथ लोहा न लो; परंतु मोहवश तुमने इन बातोंका कोई मूल्य नहीं समझा । मैं समझता हूँ, तुम कोई क्रूर राक्षस हो; क्योंकि राक्षसोंके ही समान तुम्हारी बुद्धि सदा तमोगुणसे आच्छन्न रहती है ॥ ३०-३१ ॥

यस्माद् द्विषसि गोविन्दं पाण्डवं तं धनंजयम् ।
नरनारायणौ देवौ कोऽन्यो द्विष्याद्धि मानवः ॥ ३२ ॥

तुम भगवान् गोविन्द तथा पाण्डुनन्दन धनंजयसे द्वेष करते हो । वे दोनों ही नर और नारायण देव हैं । तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य उनसे द्वेष कर सकता है ?॥

तस्माद् ब्रवीमि ते राजन्नेष वै शाश्वतोऽव्ययः ।
सर्वलोकमयो नित्यः शास्ता धात्रीधरो ध्रुवः ॥ ३३ ॥

राजन् ! इसलिये तुम्हें यह बता रहा हूँ कि ये भगवान् श्रीकृष्ण सनातन, अविनाशी, सर्वलोकस्वरूप, नित्य शासक, धरणीधर एवं अविचल हैं ॥ ३३ ॥

यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः ।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः ॥ ३४ ॥

ये चराचरगुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकोंको धारण करते हैं । ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं । सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं ॥ ३४ ॥

राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः ।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३५ ॥

राजन् ! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप और तम एवं रागसे रहित हैं । जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है ॥ ३५ ॥

तस्य माहात्म्ययोगेन योगेनात्ममयेन च ।
धृताः पाण्डुसुता राजञ्जयश्चैषां भविष्यति ॥ ३६ ॥

उनके माहात्म्य-योगसे तथा आत्मस्वरूपयोगसे सु- पाण्डव सुरक्षित हैं । राजन् ! इसीलिये इनकी विजय होगी ।

श्रेयोयुक्तां सदा बुद्धिं पाण्डवानां दधाति यः ।
बलं चैव रणे नित्यं भयेभ्यश्चैव रक्षति ॥ ३७ ॥

वे पाण्डवोंको सदा कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करते हैं, युद्धमें बल देते हैं और भयसे नित्य उनकी रक्षा करते हैं ।

स एष शाश्वतो देवः सर्वगुह्यमयः शिवः ।
वासुदेव इति ज्ञेयो यन्मां पृच्छसि भारत ॥ ३८ ॥

भारत ! जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे हो, वे सनातन देवता सर्वगुह्यमय कल्याणस्वरूप परमात्मा ही 'वासुदेव' नामसे जानने योग्य हैं ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः ।
सेव्यतेऽभ्यर्च्यते चैव नित्ययुक्तैः स्वकर्मभिः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुभ लक्षणसम्पन्न शूद्र— ये सभी नित्य तत्पर होकर अपने कर्मोंद्वारा इन्हींकी सेवा-पूजा करते हैं ॥ ३९ ॥

द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन वै ॥ ४० ॥
(कृष्णेति नाम्ना विख्यात इमं लोकं स रक्षति ।)

द्वापरयुगके अन्त और कलियुगके आदिमें संकर्षणने श्रीकृष्णोपासनाकी विधिका आश्रय ले इन्हींकी महिमाका गान किया है । ये ही श्रीकृष्णनामसे विख्यात होकर इस लोककी रक्षा करते हैं ॥ ४० ॥

स एष सर्वं सुरमर्त्यलोकं
समुद्रकक्ष्यान्तरितां पुरीं च ।
युगे युगे मानुषं चैव वासं
पुनः पुनः सृजते वासुदेवः ॥ ४१ ॥

ये भगवान् वासुदेव ही युग-युगमें देवलोक, मर्त्यलोक तथा समुद्रसे घिरी हुई द्वारिका नगरीका निर्माण करते हैं और ये ही बारंबार मनुष्यलोकमें अवतार ग्रहण करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा

दुर्योधन उवाच

वासुदेवो महद् भूतं सर्वलोकेषु कथ्यते ।
स्यागमं प्रतिष्ठां च ज्ञातुमिच्छे पितामह ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—पितामह ! वासुदेव श्रीकृष्णको सम्पूर्ण लोकोंमें महान् बताया जाता है; अतः मैं उनकी उत्पत्ति और स्थितिके विषयमें जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

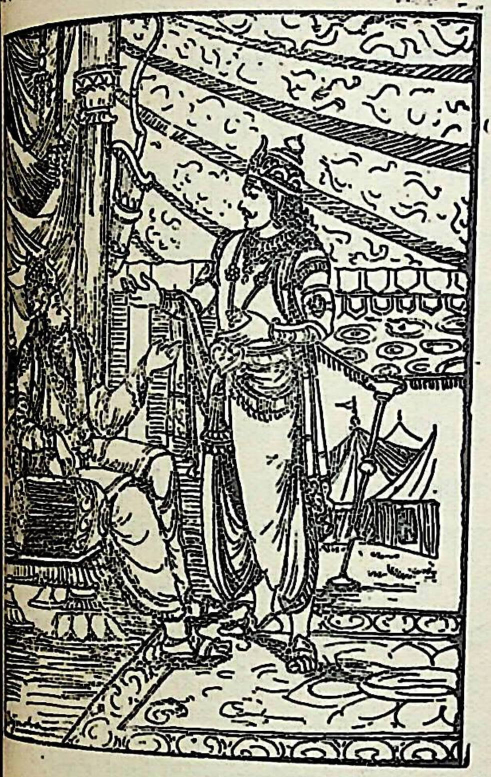

भीष्म उवाच

देवो महद् भूतं सर्वदैवतदैवतम् ।
परं पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते भरतर्षभ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण लोकोंमें महान् हैं। वे सम्पूर्ण देवताओंके भी देवता हैं। भगवान् श्रीकृष्णसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ २ ॥

मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयत्यद्भुतं महत् ।
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ॥ ३ ॥
वायुश्च तेजश्च त्रयमेतदकल्पयत् ।

मार्कण्डेयजी भगवान् गोविन्दके विषयमें अत्यन्त अद्भुत कहते हैं। वे भगवान् ही सर्वभूतमय हैं और वे ही आत्मस्वरूप महात्मा पुरुषोत्तम हैं। सृष्टिके आरम्भमें परमात्माने जल, वायु और तेज—इन तीन भूतों तथा प्राणियोंकी सृष्टि की थी ॥ ३½ ॥

सृष्ट्वा पृथिवीं देवीं सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ॥ ४ ॥
अप्सु वै शयनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः ।
सर्वतेजोमयो देवो योगात् सुष्वाप तत्र ह ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वर इन भगवान् श्रीहरिने पृथ्वीदेवीकी सृष्टि करके जलमें शयन किया। वे महात्मा पुरुषोत्तम सर्वतेजोमय देवता योगशक्तिसे उस जलमें सोये ॥ ४-५ ॥

मुखतः सोऽग्निमसृजत् प्राणाद् वायुमथापि च ।
सरस्वतीं च वेदांश्च मनसः ससृजेऽच्युतः ॥ ६ ॥

उन अच्युतने अपने मुखसे अग्निकी, प्राणसे वायुकी तथा मनसे सरस्वतीदेवी और वेदोंकी रचना की ॥ ६ ॥

एष लोकान् ससर्जादौ देवांश्च ऋषिभिः सह ।
निधनं चैव मृत्युं च प्रजानां प्रभवाप्ययौ ॥ ७ ॥

इन्होंने ही सर्गके आरम्भमें सम्पूर्ण लोकों तथा ऋषियोंसहित देवताओंकी रचना की थी। ये ही प्रलयके अधिष्ठान और मृत्युस्वरूप हैं। प्रजाकी उत्पत्ति और विनाश इन्हींसे होते हैं ॥ ७ ॥

एष धर्मश्च धर्मज्ञो वरदः सर्वकामदः ।
एष कर्ता च कार्यं च पूर्वदेवः स्वयम्प्रभुः ॥ ८ ॥

ये धर्मज्ञ, वरदाता, सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले तथा धर्मस्वरूप हैं। ये ही कर्ता, कार्य, आदिदेव तथा स्वयं सर्वसमर्थ हैं ॥ ८ ॥

भूतं भव्यं भविष्यच्च पूर्वमेतदकल्पयत् ।
उभे संध्ये दिशः खं च नियमांश्च जनार्दनः ॥ ९ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी सृष्टि भी पूर्वकालमें इन्हींके द्वारा हुई है। इन जनार्दनने ही दोनों संध्याओं, दसों दिशाओं, आकाश तथा नियमोंकी रचना की है ॥ ९ ॥

ऋषींश्चैव हि गोविन्दस्तपश्चैवाभ्यकल्पयत् ।
स्रष्टारं जगतश्चापि महात्मा प्रभुरव्ययः ॥ १० ॥

महात्मा अविनाशी प्रभु गोविन्दने ही ऋषियों तथा तपस्याकी रचना की है। जगत्स्रष्टा प्रजापतिको भी उन्होंने ही उत्पन्न किया है ॥ १० ॥

अग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत् ।
तस्मान्नारायणो जज्ञे देवदेवः सनातनः ॥ ११ ॥

उन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्णने पहले सम्पूर्ण भूतोंके अग्रज संकर्षणको प्रकट किया, उनसे सनातन देवाधिदेव नारायणका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ११ ॥

नाभौ पद्मं बभूवास्य सर्वलोकस्य सम्भवात् ।
तस्मात् पितामहो जातस्तस्माज्जातास्त्विमाः प्रजाः ।१२।

नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ । सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके स्थानभूत उस कमलसे पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीसे ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं ॥

शेषं चाकल्पयद् देवमनन्तं विश्वरूपिणम् ।
यो धारयति भूतानि धरां चेमां सपर्वताम् ॥ १३ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंको तथा पर्वतोंसहित इस पृथ्वीको धारण करते हैं, जिन्हें विश्वरूपी अनन्तदेव तथा शेष कहा गया है, उन्हें भी उन परमात्माने ही उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

ध्यानयोगेन विप्राश्च तं विदन्ति महौजसम् ।
कर्णस्रोतोद्भवं चापि मधुं नाम महासुरम् ॥ १४ ॥
तमुग्रमुग्रकर्माणमुग्रां बुद्धिं समास्थितम् ।
ब्रह्मणोऽपचितिं कुर्वञ् जघान पुरुषोत्तमः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणलोग ध्यानयोगके द्वारा इन्हीं परम तेजस्वी वासुदेवका ज्ञान प्राप्त करते हैं । जलशायी नारायणके कानकी मैलसे महान् असुर मधुका प्राकट्य हुआ था । वह मधु बड़े ही उग्र स्वभावका तथा क्रूरकर्मा था । उसने ~~ब्रह्माजीका समादर करते हुए~~ अत्यन्त भयंकर बुद्धिका आश्रय लिया था। इसलिये ब्रह्माजीका समादर करते हुए भगवान् पुरुषोत्तमने मधुको मार डाला था ॥ १४-१५ ॥

तस्य तात वधादेव देवदानवमानवाः ।
मधुसूदनमित्याहुर्ऋषयश्च जनार्दनम् ॥ १६ ॥

तात ! मधुका वध करनेके कारण ही देवता, दानव, मनुष्य तथा ऋषिगण श्रीजनार्दनको मधुसूदन कहते हैं॥१६॥

वराहश्चैव सिंहश्च त्रिविक्रमगतिः प्रभुः ।
एष माता पिता चैव सर्वेषां प्राणिनां हरिः ॥ १७ ॥

वे ही भगवान् समय-समयपर वाराह, नृसिंह और वामनके रूपमें प्रकट हुए हैं । ये श्रीहरि ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं ॥ १७ ॥

परं हि पुण्डरीकाक्षान्न भूतं न भविष्यति ।
मुखतः सोऽसृजद् विप्रान् बाहुभ्यां क्षत्रियांस्तथा।१८।
वैश्यांश्चाप्यूरुतो राजञ्शूद्रान् वै पादतस्तथा।

इन कमलनयन भगवान्से बढ़कर दूसरा कोई तत्त्व न हुआ है, न होगा । राजन् ! इन्होंने अपने मुखसे ब्राह्मणों, दोनों भुजाओंसे क्षत्रियों, जंघासे वैश्यों और चरणोंसे शूद्रों उत्पन्न किया है ॥ १८½ ॥

तपसा नियतो देवं विधानं सर्वदेहिनाम् ॥ १
ब्रह्मभूतममावास्यां पौर्णमास्यां तथैव च।
योगभूतं परिचरन् केशवं महदाप्नुयात् ॥ २०

जो मनुष्य तपस्यामें तत्पर हो संयम-नियमका प करते हुए अमावास्या और पूर्णिमाको समस्त देहधारि आश्रय, ब्रह्म एवं योगस्वरूप भगवान् केशवकी आरा करता है, वह परम पदको प्राप्त कर लेता है ॥१९-२०॥

केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप ॥ २१॥

नरेश्वर ! सम्पूर्ण लोकोंके पितामह भगवान् श्रीकृ परम तेज हैं । मुनिजन इन्हें हृषीकेश कहते हैं ॥ २१॥

एवमेनं विजानीहि आचार्यं पितरं गुरुम्।
कृष्णो यस्य प्रसीदेत लोकास्तेनाक्षया जिताः॥ २२॥

इस प्रकार इन भगवान् गोविन्दको तुम आचार्य, पि और गुरु समझो । भगवान् श्रीकृष्ण जिनके ऊपर प्र हो जायँ, वह अक्षय लोकोंपर विजय पा जाता है ॥ २२॥

यश्चैवैनं भयस्थाने केशवं शरणं व्रजेत्।
सदा नरः पठंश्चेदं स्वस्तिमान् स सुखी भवेत्॥ २३॥

जो मनुष्य भयके समय इन भगवान् श्रीकृष्णकी शर लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह सु एवं कल्याणका भागी होता है ॥ २३ ॥

ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः॥ २४॥

जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते । जनार्दन महान् भयमें निमग्न मनु उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं ॥ २४ ॥

स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत।
सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम्।
प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम् ॥ २५॥

भरतवंशी नरेश ! इस बातको अच्छी तरह समझकर राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण हृदयसे योगोंके स्वामी, सर्वसमर्थ जगदीश्वर एवं महात्मा भगवान् केशवकी शरण ली है।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७॥

---

१. केशव नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—क=ब्रह्मा, अ=विष्णु, ईश=शिव जिनके वपु हैं ।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

ब्रह्मभूतस्तोत्र तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महत्ता

भीष्म उवाच

शृणु चेदं महाराज ब्रह्मभूतं स्तवं मम ।
र्षिभिश्च देवैश्च यः पुरा कथितो भुवि ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज दुर्योधन ! पूर्वकालमें व भूतलपर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंने इनका जो ब्रह्मभूत त्र कहा है, उसे तुम मुझसे सुनो—॥ १ ॥

ध्यानामपि देवानां देवदेवेश्वरः प्रभुः ।
कभावनभावज्ञ इति त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

'प्रभो ! आप साध्यगण और देवताओंके भी स्वामी देवदेवेश्वर हैं। आप सम्पूर्ण जगत्‌के हृदयके भावोंको नेवाले हैं। आपके विषयमें नारदजीने ऐसा ही कहा है ॥

भव्यं भविष्यं च मार्कण्डेयोऽभ्युवाच ह ।
त्वां चैव यज्ञानां तपश्च तपसामपि ॥ ३ ॥

'मार्कण्डेयजीने आपको भूत, भविष्य और वर्तमान बताया है। वे आपको यज्ञोंका यज्ञ और तपस्याओंका रभूत तप बताया करते हैं ॥ ३ ॥

नामपि देवं च त्वामाह भगवान् भृगुः ।
णं चैव परमं विष्णो रूपं तवेति च ॥ ४ ॥

'भगवान् भृगुने आपको देवताओंका भी देवता कहा विष्णो ! आपका रूप अत्यन्त पुरातन और उत्कृष्ट है ॥

देवो वसूनां त्वं शक्रं स्थापयिता तथा ।
देवोऽसि देवानामिति द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

'प्रभो ! आप वसुओंके वासुदेव तथा इन्द्रको स्वर्गके र स्थापित करनेवाले हैं। देव ! आप देवताओंके भी ता हैं। महर्षि द्वैपायन आपके विषयमें ऐसा ही कहते हैं॥

प्रजानिसर्गे च दक्षमाहुः प्रजापतिम् ।
रं सर्वलोकानामङ्गिरास्त्वां तथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

'प्रथम प्रजासृष्टिके समय आपको ही दक्ष प्रजापति गया है। आप ही सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा हैं—इस प्रकार रा मुनि आपके विषयमें कहते हैं ॥ ६ ॥

व्यक्तं ते शरीरोत्थं व्यक्तं ते मनसि स्थितम् ।
त्वत्सम्भवाश्चैव देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥

'अव्यक्त (प्रधान) आपके शरीरसे उत्पन्न हुआ है, महत्तत्त्व आदि कार्यवर्ग आपके मनमें स्थित है तथा देवता भी आपसे ही उत्पन्न हुए हैं; ऐसा असित देवलका कथन है ॥ ७ ॥

सा ते दिवं व्याप्तं बाहुभ्यां पृथिवी तथा ।
रं ते त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ८ ॥

एवं त्वामभिजानन्ति तपसा भाविता नराः ।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणां चासि सत्तमः ॥ ९ ॥

'आपके मस्तकसे द्युलोक और भुजाओंसे भूलोक व्याप्त है। तीनों लोक आपके उदरमें स्थित हैं। आप ही सनातन पुरुष हैं। तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा पुरुष आपको ऐसा ही जानते हैं। आत्मसाक्षात्कारसे तृप्त हुए ज्ञानी महर्षियोंकी दृष्टिमें भी आप सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ८-९ ॥

राजर्षीणामुदाराणामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।
सर्वधर्मप्रधानानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥ १० ॥

'मधुसूदन ! जो सम्पूर्ण धर्मोंमें प्रधान और संग्रामसे कभी पीछे हटनेवाले नहीं हैं, उन उदार राजर्षियोंके परम आश्रय भी आप ही हैं ॥ १० ॥

इति नित्यं योगविद्भिर्भगवान् पुरुषोत्तमः ।
सनत्कुमारप्रमुखैः स्तूयतेऽभ्यर्च्यते हरिः ॥ ११ ॥

'इस प्रकार सनत्कुमार आदि योगवेत्ता पापापहारी आप भगवान् पुरुषोत्तमकी सदा ही स्तुति और पूजा करते हैं' ॥

एष ते विस्तरस्तात संक्षेपश्च प्रकीर्तितः ।
केशवस्य यथातत्त्वं सुप्रीतो भज केशवम् ॥ १२ ॥

तात दुर्योधन ! इस तरह विस्तार और संक्षेपसे मैंने तुम्हें भगवान् केशवकी यथार्थ महिमा बतायी है। अब तुम अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका भजन करो ॥ १२ ॥

संजय उवाच

पुण्यं श्रुत्वैतदाख्यानं महाराज सुतस्तव ।
केशवं बहु मेने स पाण्डवांश्च महारथान् ॥ १३ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! भीष्मजीके मुखसे यह पवित्र आख्यान सुनकर तुम्हारे पुत्रने भगवान् श्रीकृष्ण तथा महारथी पाण्डवोंको बहुत महत्त्वशाली समझा ॥ १३ ॥

तमब्रवीन्महाराज भीष्मः शान्तनवः पुनः ।
माहात्म्यं ते श्रुतं राजन् केशवस्य महात्मनः ॥ १४ ॥
नरस्य च यथातत्त्वं यन्मां त्वं पृच्छसे नृप ।

राजन् ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मजीने पुनः दुर्योधनसे कहा—'नरेश्वर ! तुमने महात्मा केशव तथा नरस्वरूप अर्जुनका यथार्थ माहात्म्य, जिसके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे थे, मुझसे अच्छी तरह सुन लिया ॥ १४½ ॥

यदर्थं नृषु सम्भूतौ नरनारायणावृषी ॥ १५ ॥
अवध्यौ च यथा वीरौ संयुगेष्वपराजितौ ।
यथा च पाण्डवा राजन्नवध्या युधि कस्यचित् ॥ १६ ॥

'ऋषि नर और नारायण जिस उद्देश्यसे मनुष्योंमें

अवतीर्ण हुए हैं, वे दोनों अपराजित वीर जिस प्रकार युद्धमें अवध्य हैं तथा समस्त पाण्डव भी जिस प्रकार समरभूमिमें किसीके लिये भी वध्य नहीं हैं, वह सब विषय तुमने अच्छी तरह सुन लिया ॥ १५-१६ ॥

प्रीतिमान् हि दृढं कृष्णः पाण्डवेषु यशस्विषु।
तस्माद् ब्रवीमि राजेन्द्र शमो भवतु पाण्डवैः ॥ १७ ॥

'राजेन्द्र ! भगवान् श्रीकृष्ण यशस्वी पाण्डवोंपर बहुत प्रसन्न हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ कि पाण्डवोंके साथ तुम्हारी संधि हो जाय ॥ १७ ॥

पृथिवीं भुङ्क्ष्व सहितो भ्रातृभिर्बलिभिर्वशी।
नरनारायणौ देवाववज्ञाय नशिष्यसि ॥ १८ ॥

'वे तुम्हारे बलवान् भाई हैं। तुम अपने मनको वशमें रखते हुए उनके साथ मिलकर पृथ्वीका राज्य भोगो। भगवान् नर-नारायण (अर्जुन और श्रीकृष्ण) की अवहेलना करके तुम नष्ट हो जाओगे ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तव पिता तूष्णीमासीद् विशाम्पते।
व्यसर्जयच्च राजानं शयनं च विवेश ह ॥ १९ ॥

प्रजानाथ ! ऐसा कहकर आपके ताऊ भीष्मजी चुप हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने राजा दुर्योधनको विदा किया और स्वयं शयन करने चले गये ॥ १९ ॥

राजा च शिबिरं प्रायात् प्रणिपत्य महात्मने।
शिश्ये च शयने शुभ्रे रात्रिं तां भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधन भी महात्मा भीष्मको प्रणाम करके अपने शिविरमें चला आया और अपनी शुभ्र शय्या पर सो गया ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा मकरव्यूह तथा पाण्डवोंद्वारा श्येनव्यूहका निर्माण एवं पाँचवें दिनके युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

व्युषितायां तु शर्वर्यामुदिते च दिवाकरे।
उभे सेने महाराज युद्धायैव समीयतुः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! वह रात बीतनेपर जब सूर्योदय हुआ, तब दोनों ओरकी सेनाएँ आमने-सामने आकर युद्धके लिये डट गयीं ॥ १ ॥

अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः परस्परजिगीषवः।
ते सर्वे सहिता युद्धे समालोक्य परस्परम् ॥ २ ॥
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च राजन् दुर्मन्त्रिते तव।
व्यूहौ च व्यूह्य संरब्धाः सम्प्रहृष्टाः प्रहारिणः ॥ ३ ॥

सबने एक दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अत्यन्त क्रोधमें भरकर विपक्षी सेनापर आक्रमण किया। राजन् ! आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप आपके पुत्र और पाण्डव एक दूसरेको देखकर कुपित हो सब-के-सब अपने सहायकोंके साथ आकर सेनाकी व्यूह-रचना करके हर्ष और उत्साहमें भरकर परस्पर प्रहार करनेको उद्यत हो गये ॥ २-३ ॥

अरक्षन्मकरव्यूहं भीष्मो राजन् समन्ततः।
तथैव पाण्डवा राजन्नरक्षन् व्यूहमात्मनः ॥ ४ ॥

राजन् ! भीष्म सेनाका मकरव्यूह बनाकर सब ओरसे उसकी रक्षा करने लगे। इसी प्रकार पाण्डवोंने भी अपने व्यूहकी रक्षा की ॥ ४ ॥

(अजातशत्रुः शत्रूणां मनांसि समकम्पयत्।
श्येनवद् व्यूह्य तं व्यूहं धौम्यस्य वचनात् स्वयम् ॥
स हि तस्य सुविज्ञात अग्निचित्येषु भारत।
मकरस्तु महाव्यूहस्तव पुत्रस्य धीमतः ॥
स्वयं सर्वेण सैन्येन द्रोणेनानुमतस्तदा।
यथाव्यूहं शान्तनवः सोऽन्ववर्तत तत् पुनः ॥)
स निर्ययौ महाराज पिता देवव्रतस्तव।
महता रथवंशेन संवृतो रथिनां वरः ॥ ५ ॥

स्वयं अजातशत्रु युधिष्ठिरने धौम्य मुनिकी आज्ञा श्येनव्यूहकी रचना करके शत्रुओंके हृदयमें कँपकँपी पैदा कर दी। भारत ! अग्निचयनसम्बन्धी कर्मोंमें रहते हुए उन्हें श्येनव्यूहका विशेष परिचय था। आपके बुद्धिमान् पुत्रकी सेनाका मकरनामक महाव्यूह निर्मित हुआ था। द्रोणाचार्यकी अनुमति लेकर उसने स्वयं सारी सेनाके द्वारा उस व्यूहकी रचना की थी। फिर शान्तनुनन्दन भीष्मने व्यूहकी विधिके अनुसार निर्मित हुए उस महाव्यूहका स्वयं भी अनुसरण किया था। महाराज ! रथियोंमें श्रेष्ठ आपके ताऊ भीष्म विशाल रथसेनासे घिरे हुए युद्धके लिये निकले ॥ ५ ॥

इतरेतरमन्वीयुर्यथाभागमवस्थिताः।
रथिनः पत्तयश्चैव दन्तिनः सादिनस्तथा ॥ ६ ॥

फिर यथाभाग खड़े हुए रथी, पैदल, हाथीसवार और

प्रकार सब एक दूसरेका अनुसरण करते हुए चल दिये ॥

तान् दृष्ट्वाभ्युद्यतान् संख्ये पाण्डवा हि यशस्विनः ।
श्येनेन व्यूहराजेन तेनाजय्येन संयुगे ॥ ७ ॥
अशोभत मुखे तस्य भीमसेनो महाबलः ।
नेत्रे शिखण्डी दुर्धर्षो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ८ ॥

शत्रुओंको युद्धके लिये उद्यत हुए देख यशस्वी पाण्डव युद्धमें अजेय व्यूहराज श्येनके रूपमें संगठित हो शोभा पाने लगे। उस व्यूहके मुखभागमें महाबली भीमसेन शोभा पा रहे थे। नेत्रोंके स्थानमें दुर्धर्ष वीर शिखण्डी तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न खड़े थे ॥ ७-८ ॥

शीर्षे तस्याभवद् वीरः सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
विधुन्वन् गाण्डिवं पार्थो ग्रीवायामभवत् तदा ॥ ९ ॥

शिरोभागमें सत्यपराक्रमी वीर सात्यकि और ग्रीवाभागमें गाण्डीव-धनुषकी टंकार करते हुए कुन्तीकुमार अर्जुन खड़े हुए ॥ ९ ॥

अक्षौहिण्या समं तत्र वामपक्षोऽभवत् तदा ।
महात्मा द्रुपदः श्रीमान् सह पुत्रेण संयुगे ॥ १० ॥

पुत्रसहित श्रीमान् महात्मा द्रुपद एक अक्षौहिणी सेनाके साथ युद्धमें बायें पंखके स्थानमें खड़े थे ॥ १० ॥

दक्षिणश्चाभवत् पक्षः कैकेयोऽक्षौहिणीपतिः ।
पृष्ठतो द्रौपदेयाश्च सौभद्रश्चापि वीर्यवान् ॥ ११ ॥

एक अक्षौहिणी सेनाके अधिपति केकय दाहिने पंखमें खड़े हुए। द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी सुभद्राकुमार अभिमन्यु—ये पृष्ठभागमें खड़े हुए ॥ ११ ॥

पृष्ठे समभवच्छ्रीमान् स्वयं राजा युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभ्यां सहितो वीरो यमाभ्यां चारुविक्रमः ॥ १२ ॥

उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न स्वयं श्रीमान् वीर राजा युधिष्ठिर अपने दो भाई नकुल और सहदेवके साथ पृष्ठभागमें ही स्थित हुए ॥ १२ ॥

प्रविश्य तु रणे भीमो मकरं मुखतस्तदा ।
भीष्ममासाद्य संग्रामे छादयामास सायकैः ॥ १३ ॥

तदनन्तर भीमसेनने रणक्षेत्रमें प्रवेश करके मकरव्यूहके मुखभागमें खड़े हुए भीष्मको अपने सायकोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

ततो भीष्मो महास्त्राणि पातयामास भारत ।
मोहयन् पाण्डुपुत्राणां व्यूढं सैन्यं महाहवे ॥ १४ ॥

भरत! तब उस महासमरमें पाण्डवोंकी उस व्यूहबद्ध सेनाको मोहित करते हुए भीष्म उसपर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे ॥ १४ ॥

मुह्यति तदा सैन्ये त्वरमाणो धनंजयः ।
भीष्मं शरसहस्रेण विव्याध रणमूर्धनि ॥ १५ ॥

उस समय अपनी सेनाको मोहित होती देख अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ युद्धके मुहानेपर एक हजार बाणोंकी वर्षा करके भीष्मको घायल कर दिया ॥ १५ ॥

प्रतिसंवार्य चास्त्राणि भीष्ममुक्तानि संयुगे ।
स्वेनानीकेन हृष्टेन युद्धाय समुपस्थितः ॥ १६ ॥

संग्राममें भीष्मके छोड़े हुए सम्पूर्ण अस्त्रोंका निवारण करके हर्षमें भरी हुई अपनी सेनाके साथ वे युद्धके लिये उपस्थित हुए ॥ १६ ॥

ततो दुर्योधनो राजा भारद्वाजमभाषत ।
पूर्वं दृष्ट्वा वधं घोरं बलस्य बलिनां वरः ॥ १७ ॥
भ्रातॄणां च वधं युद्धे स्मरमाणो महारथः ।
आचार्य सततं हि त्वं हितकामो ममानघ ॥ १८ ॥

तब बलवानोंमें श्रेष्ठ महारथी राजा दुर्योधनने पहले जो अपनी सेनाका घोर संहार हुआ था, उसको दृष्टिमें रखते हुए और युद्धमें भाइयोंके वधका स्मरण करते हुए भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यसे कहा—'निष्पाप आचार्य! आप सदा ही मेरा हित चाहनेवाले हैं ॥ १७-१८ ॥

वयं हि त्वां समाश्रित्य भीष्मं चैव पितामहम् ।
देवानपि रणे जेतुं प्रार्थयामो न संशयः ॥ १९ ॥
किमु पाण्डुसुतान् युद्धे हीनवीर्यपराक्रमान् ।
स तथा कुरु भद्रं ते यथा वध्यन्ति पाण्डवाः ॥ २० ॥

'हमलोग आप तथा पितामह भीष्मकी शरण लेकर देवताओंको भी समरभूमिमें जीतनेकी अभिलाषा रखते हैं, इसमें संशय नहीं है। फिर जो बल और पराक्रममें हीन हैं, उन पाण्डवोंको जीतना कौन बड़ी बात है। आपका कल्याण हो। आप ऐसा प्रयत्न करें जिससे पाण्डव मारे जायँ' ॥ १९-२० ॥

एवमुक्तस्ततो द्रोणस्तव पुत्रेण मारिष ।
(उवाच तत्र राजानं संक्रुद्ध इव निःश्वसन् ।

आर्य! आपके पुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर द्रोणाचार्य कुछ कुपित-से हो उठे और लंबी साँस खींचते हुए राजा दुर्योधनसे बोले ॥

द्रोण उवाच

बालिशस्त्वं न जानीषे पाण्डवानां पराक्रमम् ।
न शक्या हि यथा जेतुं पाण्डवा हि महाबलाः ॥
यथाबलं यथावीर्यं कर्म कुर्यामहं हि ते ।

द्रोणाचार्यने कहा—तुम नादान हो। पाण्डवोंका पराक्रम कैसा है, यह नहीं जानते। महाबली पाण्डवोंको युद्धमें जीतना असम्भव है, तथापि मैं अपने बल और पराक्रमके अनुसार तुम्हारा कार्य कर सकता हूँ ॥

संजय उवाच

इत्युक्त्वा ते सुतं राजन्नभ्यपद्यत वाहिनीम् ।)
अभिनत् पाण्डवानीकं प्रेक्षमाणस्य सात्यकेः ॥ २१ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! आपके पुत्रसे ऐसा कहकर द्रोणाचार्य पाण्डवोंकी सेनाका सामना करनेके लिये गये। वे सात्यकिके देखते-देखते पाण्डवसेनाको विदीर्ण करने लगे ॥

सात्यकिस्तु ततो द्रोणं वारयामास भारत ।
तयोः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ २२ ॥

भारत! उस समय सात्यकिने आगे बढ़कर द्रोणाचार्यको रोका। फिर तो उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया ॥ २२ ॥

शैनेयं तु रणे क्रुद्धो भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अविध्यन्निशितैर्बाणैर्जत्रुदेशे हसन्निव ॥ २३ ॥

प्रतापी द्रोणाचार्यने युद्धमें कुपित होकर सात्यकिके गलेकी हँसलीमें हँसते हुए-से पैने बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ २३ ॥

भीमसेनस्ततः क्रुद्धो भारद्वाजमविध्यत ।
संरक्षन् सात्यकिं राजन् द्रोणाच्छस्त्रभृतां वरात् ॥ २४ ॥

राजन्! तब भीमसेनने कुपित होकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे सात्यकिकी रक्षा करते हुए आचार्यको अपने बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

ततो द्रोणश्च भीष्मश्च तथा शल्यश्च मारिष ।
भीमसेनं रणे क्रुद्धाश्छादयांचक्रिरे शरैः ॥ २५ ॥

आर्य! तदनन्तर द्रोणाचार्य, भीष्म तथा शल्य तीनोंने कुपित होकर भीमसेनको युद्धस्थलमें अपने बाणोंसे ढक दिया ॥

तत्राभिमन्युः संक्रुद्धो द्रौपदेयाश्च मारिष ।
विव्यधुर्निशितैर्बाणैः सर्वांस्तानुद्यतायुधान् ॥ २६ ॥

महाराज! तब वहाँ क्रोधमें भरे हुए अभिमन्यु और द्रौपदीके पुत्रोंने आयुध लेकर खड़े हुए उन सब कौरव महारथियोंको तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २६ ॥

द्रोणभीष्मौ तु संक्रुद्धावापतन्तौ महाबलौ ।
प्रत्युद्ययौ शिखण्डी तु महेष्वासो महाहवे ॥ २७ ॥

उस समय कुपित होकर आक्रमण करते हुए महाबली द्रोणाचार्य और भीष्मका उस महासमरमें सामना करनेके लिये महाधनुर्धर शिखण्डी आगे बढ़ा ॥ २७ ॥

प्रगृह्य बलवद् वीरो धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
अभ्यवर्षच्छरैस्तूर्णं छादयानो दिवाकरम् ॥ २८ ॥

उस वीरने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले धनुषको बलपूर्वक खींचकर बड़ी शीघ्रताके साथ इतने की वर्षा की कि सूर्य भी आच्छादित हो गये ॥ २८ ॥

शिखण्डिनं समासाद्य भरतानां पितामहः ।
अवर्जयत संग्रामं स्त्रीत्वं तस्यानुसंस्मरन् ॥ २

भरतकुलके पितामह भीष्मने शिखण्डीके सामने पहुँच उसके स्त्रीत्वका बारंबार स्मरण करते हुए युद्ध बंद कर दि

ततो द्रोणो महाराज अभ्यद्रवत तं रणे ।
रक्षमाणस्तदा भीष्मं तव पुत्रेण चोदितः ॥ ३

महाराज! यह देखकर द्रोणाचार्य युद्धमें आपके पु कहनेसे भीष्मकी रक्षाके लिये शिखण्डीकी ओर दौ

शिखण्डी तु समासाद्य द्रोणं शस्त्रभृतां वरम् ।
अवर्जयत संत्रस्तो युगान्ताग्निमिवोल्बणम् ॥ ३

शिखण्डी प्रलयकालकी प्रचण्ड अग्निके समान धारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणका सामना पड़नेपर भयभीत हो छोड़कर चल दिया ॥ ३१ ॥

ततो बलेन महता पुत्रस्तव विशाम्पते ।
जुगोप भीष्ममासाद्य प्रार्थयानो महद् यशः ॥ ३

प्रजानाथ! तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन महान् पानेकी इच्छा रखता हुआ अपनी विशाल सेनाके साथ के पास पहुँचकर उनकी रक्षा करने लगा ॥ ३२ ॥

तथैव पाण्डवा राजन् पुरस्कृत्य धनंजयम् ।
भीष्ममेवाभ्यवर्तन्त जये कृत्वा दृढां मतिम् ॥ ३

राजन्! इसी प्रकार पाण्डव भी विजय-प्राप्तिके दृढ़ निश्चय करके अर्जुनको आगे कर भीष्मपर ही टूट पड़े।

तद् युद्धमभवद् घोरं देवानां दानवैरिव ।
जयमाकाङ्क्षतां संख्ये यशश्च सुमहाद्भुतम् ॥ ३

उस युद्धमें विजय तथा अत्यन्त अद्भुत अभिलाषा रखनेवाले पाण्डवोंका कौरवोंके साथ उसी भयंकर युद्ध हुआ, जैसे देवताओंका दानवोंके साथ हुआ

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसयुद्धारम्भे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिवसके युद्धका आरम्भविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

सप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म और भीमसेनका घमासान युद्ध

संजय उवाच

अकरोत् तुमुलं युद्धं भीष्मः शान्तनवस्तदा ।
भीमसेनभयादिच्छन् पुत्रांस्तारयितुं तव ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! आपके पुत्रोंको सेनके भयसे छुड़ानेकी इच्छा रखकर उस दिन शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ा भयंकर युद्ध किया ॥ १ ॥

पूर्वाह्णे तन्महारौद्रं राज्ञां युद्धमवर्तत ।
रूणां पाण्डवानां च मुख्यशूरविनाशनम् ॥ २ ॥

पूर्वाह्णकालमें कौरव-पाण्डव नरेशोंका वह महाभयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, जो बड़े-बड़े शूरवीरोंका विनाश करने- ला था ॥ २ ॥

भिन्नाकुलसंग्रामे वर्तमाने महाभये ।
भवत् तुमुलः शब्दः संस्पृशन् गगनं महत् ॥ ३ ॥

उस अत्यन्त भयानक घमासान युद्धमें बड़ा भयंकर ाहल होने लगा, जिससे अनन्त आकाश गूँज उठा ॥ ३ ॥

द्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
रीशङ्खनिनादैश्च तुमुलं समपद्यत ॥ ४ ॥

चिग्घाड़ते हुए बड़े-बड़े गजराजों, हिनहिनाते हुए घोड़ों भेरी और शङ्खकी ध्वनियोंसे भयंकर कोलाहल छा गया ॥

युत्सवस्ते विक्रान्ता विजयाय महाबलाः ।
न्योन्यमभिगर्जन्तो गोष्ठेष्विव महर्षभाः ॥ ५ ॥

जैसे बड़े-बड़े साँड़ गोशालाओंमें गरजते हुए एक दूसरेसे जाते हैं, उसी प्रकार पराक्रमी और महाबली सैनिक के लिये युद्धकी इच्छा रखकर गरजते हुए एक दूसरेके ने आये ॥ ५ ॥

रसां पात्यमानानां समरे निशितैः शरैः ।
मवृष्टिरिवाकाशे बभूव भरतर्षभ ॥ ६ ॥

रतश्रेष्ठ ! उस समरभूमिमें तीखे बाणोंसे गिराये जाने- मस्तकोंकी वर्षा होने लगी, मानो आकाशसे पत्थरोंकी हो रही है ॥ ६ ॥

ण्डलोष्णीषधारीणि जातरूपोज्ज्वलानि च ।
तानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि भरतर्षभ ॥ ७ ॥

रतवंशी नरेश ! कुण्डल और पगड़ी धारण करनेवाले वर्णमय मुकुट आदिसे उद्भासित होनेवाले अगणित क कटकर धरतीपर पड़े दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

शिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः ।
हस्ताभरणैश्चान्यैरभवच्छादिता मही ॥ ८ ॥

री पृथ्वी बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुई लाशों, धनुष तथा रणोंसहित कटी हुई दोनों भुजाओंसे पट गयी थी ॥

चोपहितैर्गात्रैर्हस्तैश्च समलंकृतैः ।
श्च चन्द्रसंकाशै रक्तान्तनयनैः शुभैः ॥ ९ ॥
वाजिमनुष्याणां सर्वगात्रैश्च भूपते ।
वत् सर्वा समास्तीर्णा मुहूर्तेन वसुंधरा ॥ १० ॥

पाल ! दो ही घड़ीमें वहाँकी सारी वसुधा कवचसे ढके शरीरों, आभूषणोंसे विभूषित हाथों, चन्द्रमाके समान मुखों, जिनके अन्तभागमें कुछ-कुछ लाली थी, सुन्दर नेत्रों तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके सम्पूर्ण से बिछ गयी थी ॥ ९-१० ॥

रजोमेघैश्च तुमुलैः शस्त्रविद्युत्प्रकाशिभिः ।
आयुधानां च निर्घोषः स्तनयित्नुसमोऽभवत् ॥ ११ ॥

धूलके भयंकर बादल छा रहे थे । उनमें अस्त्र-शस्त्र-रूपी विद्युत्के प्रकाश देखे जाते थे । धनुष आदि आयुधोंका जो गम्भीर घोष होता था, वह मेघ-गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ ११ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलः कटुकः शोणितोदकः ।
प्रावर्तत कुरूणां च पाण्डवानां च भारत ॥ १२ ॥

भारत ! कौरवों और पाण्डवोंका वह भयानक युद्ध बड़ा ही कटु और रक्तको पानीकी तरह बहानेवाला था ।१२।

तस्मिन् महाभये घोरे तुमुले लोमहर्षणे ।
ववृषुः शरवर्षाणि क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ॥ १३ ॥

उस महान् भयदायक, घोर, रोमाञ्चकारी एवं तुमुल संग्राममें रणदुर्मद क्षत्रिय बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १३ ॥

आक्रोशन् कुञ्जरास्तत्र शरवर्षप्रतापिताः ।
तावकानां परेषां च संयुगे भरतर्षभ ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बाणोंकी वर्षासे पीड़ित हुए आपके और पाण्डवोंके हाथी उस युद्धमें चिग्घाड़ मचा रहे थे ॥ १४ ॥

संरब्धानां च वीराणां धीराणाममितौजसाम् ।
धनुर्ज्यातलशब्देन न प्राज्ञायत किंचन ॥ १५ ॥

क्रोधावेशमें भरे हुए अमित तेजस्वी धीर-वीरोंके धनुषों-की टंकारसे वहाँ कुछ भी सुनायी नहीं पड़ता था ॥ १५ ॥

उत्थितेषु कबन्धेषु सर्वतः शोणितोदके ।
समरे पर्यधावन्त नृपा रिपुवधोद्यताः ॥ १६ ॥

चारों ओर केवल कबन्ध (बिना सिरके शरीर) खड़े थे । रक्तका प्रवाह पानीके समान बह रहा था । शत्रुओंका वध करनेके लिये उद्यत हुए नरेशगण समरभूमिमें चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥ १६ ॥

शरशक्तिगदाभिस्ते खड्गैश्चामिततेजसः ।
निजघ्नुः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ॥ १७ ॥

परिघके समान मोटी भुजाओंवाले अमित तेजस्वी शूर-वीर योद्धा बाण, शक्ति और गदाओंद्वारा रणक्षेत्रमें एक दूसरेको मार रहे थे ॥ १७ ॥

बभ्रमुः कुञ्जराश्चात्र शरैर्विद्धा निरङ्कुशाः ।
अश्वाश्च पर्यधावन्त हतारोहा दिशो दश ॥ १८ ॥

जिनके सवार मारे गये थे, वे अङ्कुशरहित गजराज बाणविद्ध होकर वहाँ इधर-उधर चक्कर काट रहे थे । सवारोंके मारे जानेसे घोड़े भी शराघातसे पीड़ित हो चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥ १८ ॥

उत्पत्य निपतन्त्यन्ये शरघातप्रपीडिताः ।
तावकानां परेषां च योधा भरतसत्तम ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके और शत्रुपक्षके कितने ही योद्धा बाणोंके गहरे आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो उछलकर गिर पड़ते थे ॥ १९ ॥

वाहानामुत्तमाङ्गानां कार्मुकाणां च भारत ।
गदानां परिघाणां च हस्तानां चोरुभिः सह ॥ २० ॥
पादानां भूषणानां च केयूराणां च संघशः ।
राशयस्तत्र दृश्यन्ते भीष्मभीमसमागमे ॥ २१ ॥

भारत ! भीष्म और भीमके उस संग्राममें मरे हुए वाहनों, कटे हुए मस्तकों, धनुषों, गदाओं, परिघों, हाथों, जाँघों, पैरों, आभूषणों तथा बाजूबन्द आदिके ढेर-के-ढेर दिखायी दे रहे थे ॥ २०-२१ ॥

अश्वानां कुञ्जराणां च रथानां चानिवर्तिनाम् ।
संघाताः स्म प्रदृश्यन्ते तत्र तत्र विशाम्पते ॥ २२ ॥

प्रजानाथ ! उस युद्धस्थलमें जहाँ-तहाँ घोड़ों, हाथियों तथा युद्धसे पीछे न हटनेवाले रथोंके समूह दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ २२ ॥

गदाभिरसिभिः प्रासैर्बाणैश्च नतपर्वभिः ।
जघ्नुः परस्परं तत्र क्षत्रियाः काल आगते ॥ २३ ॥

क्षत्रियगण गदा, खड्ग, प्रास तथा झुकी हुई गाँठ वाले बाणोंद्वारा एक दूसरेको मार रहे थे; क्योंकि उन सबका काल आ गया था ॥ २३ ॥

अपरे बाहुभिर्वीरा नियुद्धकुशला युधि ।
बहुधा समसज्जन्त आयसैः परिघैरिव ॥ २४ ॥

कितने ही मल्लयुद्धमें कुशल वीर उस युद्धस्थलमें लोहेके परिघोंके समान मोटी भुजाओंसे परस्पर भिड़कर प्रकारके दाँव-पेंच दिखाते हुए लड़ रहे थे ॥ २४ ॥

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव तलैश्चैव विशाम्पते ।
अन्योन्यं जघ्निरे वीरास्तावकाः पाण्डवैः सह ॥ २

प्रजानाथ ! आपके वीर सैनिक पाण्डवोंके साथ करते समय मुक्कों, घुटनों और तमाचोंसे एक दूसरेपर करते थे ॥ २५ ॥

पतितैः पात्यमानैश्च विचेष्टद्भिश्च भूतले ।
घोरमायोधनं जज्ञे तत्र तत्र जनेश्वर ॥ २

जनेश्वर ! कुछ लोग पृथ्वीपर गिरे हुए थे, कुछ जा रहे थे और कितने ही गिरकर छटपटा रहे थे। प्रकार यत्र-तत्र भयंकर युद्ध चल रहा था ॥ २६ ॥

विरथा रथिनश्चात्र निस्त्रिंशवरधारिणः ।
अन्योन्यमभिधावन्तः परस्परवधैषिणः ॥ २

कितने ही रथी रथहीन होकर हाथमें सुदृढ़ तलवार लिये दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे परस्पर टूटे पड़ते थे ॥

ततो दुर्योधनो राजा कलिङ्गैर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्कृत्य रणे भीष्मं पाण्डवानभ्यवर्तत ॥ २

उस समय बहुसंख्यक कलिंगोंसे घिरे हुए राजा दुर्यो ने युद्धमें भीष्मको आगे करके पाण्डवोंपर आक्रमण किया।

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य वृकोदरम् ।
भीष्ममभ्यद्रवन् क्रुद्धास्ततो युद्धमवर्तत ॥ २

इसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए समस्त पाण्डवोंने भी सेनको घेरकर भीष्मपर धावा किया। फिर दोनों भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुल-युद्धविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म, अर्जुन आदि योद्धाओंका घमासान युद्ध

संजय उवाच

दृष्ट्वा भीष्मेण संसक्तान् भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
समभ्यधावद् गाङ्गेयमुद्यतास्त्रो धनंजयः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओंको भीष्मके साथ उलझा हुआ देख अस्त्र उठाये हुए अर्जुनने भी गङ्गानन्दन भीष्मपर धावा किया ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं धनुषो गाण्डिवस्य च ।
ध्वजं च दृष्ट्वा पार्थस्य सर्वान् नो भयमाविशत् ॥ २ ॥

पाञ्चजन्य शङ्ख और गाण्डीव धनुषका शब्द सुनकर तथा अर्जुनके ध्वजको देखकर हमारे सब सैनिकोंके मनमें भय समा गया ॥ २ ॥

सिंहलाङ्गूलमाकाशे ज्वलन्तमिव पर्वतम् ।
असज्जमानं वृक्षेषु धूमकेतुमिवोत्थितम् ॥ ३ ॥
बहुवर्णं विचित्रं च दिव्यं वानरलक्षणम् ।
अपश्याम महाराज ध्वजं गाण्डीवधन्वनः ॥ ४ ॥

महाराज ! अर्जुनका ध्वज सिंहपुच्छके समान पूँछसे युक्त था। वह प्रज्वलित पर्वत-सा दिखायी देता वृक्षोंमें कहीं भी अटकता नहीं था। आकाशमें उदित धूमकेतु-सा दृष्टिगोचर होता था। वह अनेक रंगोंसे विचित्र, दिव्य एवं वानरचिह्नसे युक्त था। हमने गाण्डीवधारी अर्जुनके उस ध्वजको उस समय देखा

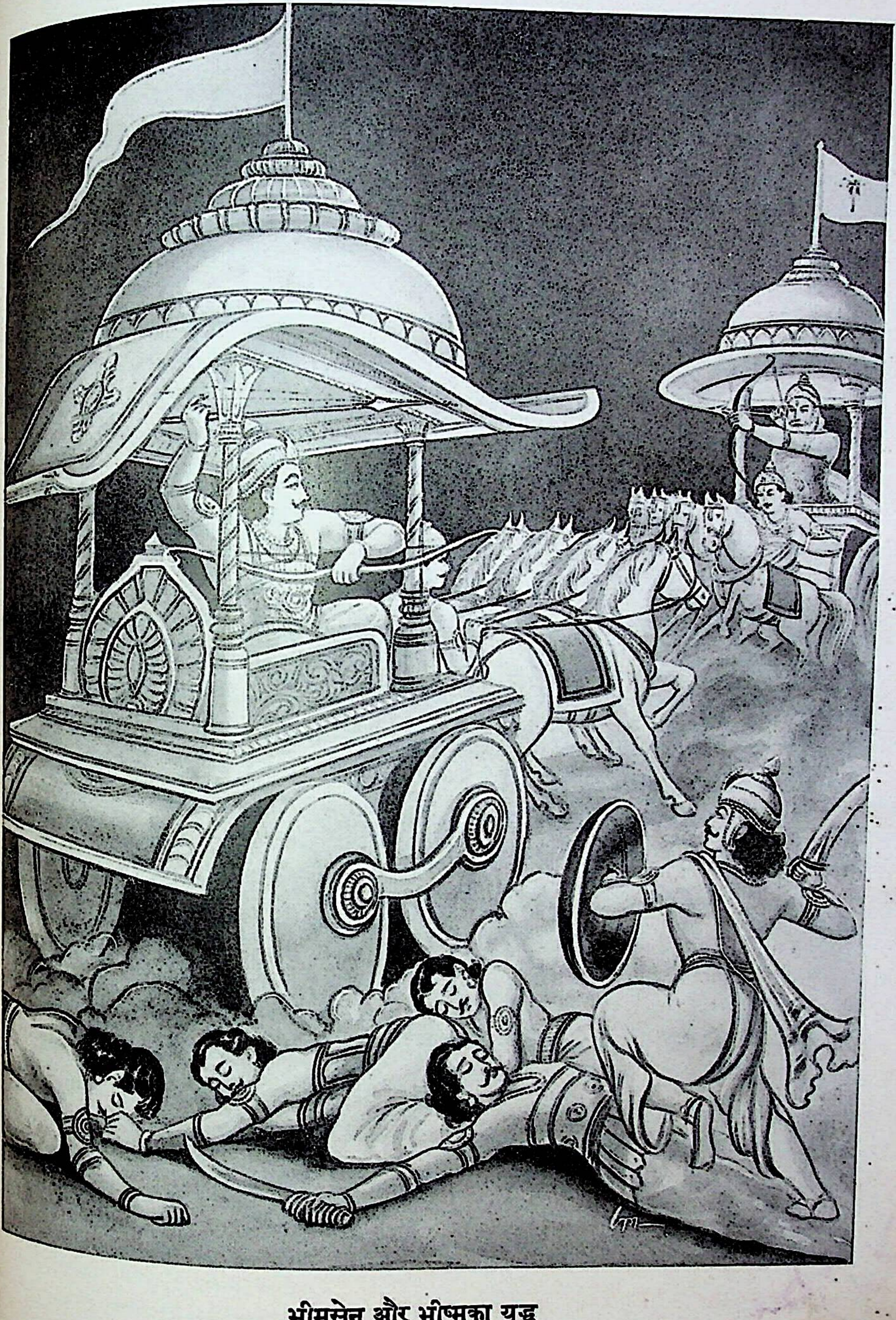

भीमसेन और भीष्मका युद्ध

विद्युतं मेघमध्यस्थां भ्राजमानामिवाम्बरे ।
ददृशुर्गाण्डिवं योधा रुक्मपृष्ठं महामृधे ॥ ५ ॥

उस महान् समरमें हमारे पक्षके योद्धाओंने सुवर्णमय पीठसे युक्त गाण्डीव धनुषको आकाशके भीतर मेघोंकी घटामें चमकती हुई बिजलीके समान देखा ॥ ५ ॥

अशुश्रुम भृशं चास्य शक्रस्येवाभिगर्जतः ।
सुघोरं तलयोः शब्दं निघ्नतस्तव वाहिनीम् ॥ ६ ॥

अर्जुन आपकी सेनाका संहार करते हुए इन्द्रके समान गर्जना कर रहे थे। इस समय हमलोगोंने उनके हस्ततलोंका बड़ा भयंकर शब्द सुना ॥ ६ ॥

प्रचण्डवातो यथा मेघः सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ।
दिशः सम्प्लावयन् सर्वाः शरवर्षैः समन्ततः ॥ ७ ॥
अभ्यधावद् गाङ्गेयं भैरवास्त्रो धनंजयः ।

भयंकर अस्त्रवाले अर्जुनने प्रचण्ड आँधी, बिजली तथा गर्जनासे युक्त मेघके समान सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी बाण-वर्षासे आप्लावित करते हुए गङ्गानन्दन भीष्मपर सब ओर-से धावा किया ॥ ७½ ॥

दिशं प्राचीं प्रतीचीं च न जानीमोऽस्त्रमोहिताः॥ ८ ॥
कांदिग्भूताः श्रान्तपत्रा हताश्वा हतचेतसः ।
अन्योन्यमभिसंश्लिष्य योधास्ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥
भीष्ममेवाभ्यलीयन्त सह सर्वैस्तवात्मजैः ।
तेषामार्तायनमभूद् भीष्मः शान्तनवो रणे ॥ १० ॥

उस समय हमलोग उनके अस्त्रोंसे इतने मोहित हो गये कि हमें पूर्व और पश्चिमका भी पता नहीं चलता था। भरतश्रेष्ठ! आपके सभी योद्धा घबराकर यह सोचने लगे कि हम किस दिशामें जायँ। उनके सारे वाहन थक गये थे। घोड़े मार डाले गये थे। उन सबका हार्दिक उत्साह नष्ट हो गया था। वे सब-के-सब एक दूसरेसे सटकर आपके पुत्रोंके साथ भीष्मजीकी ही शरणमें छिपने लगे। उस युद्ध-स्थलमें उन्हें केवल शान्तनुनन्दन भीष्म ही आर्त सैनिकोंको शरण देनेवाले प्रतीत हुए ॥ ८—१० ॥

समुत्पतन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातयः ॥ ११ ॥

वे सभी लोग ऐसे भयभीत हो गये कि रथी रथोंसे और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठोंसे गिरने लगे तथा पैदल सैनिक भी पृथ्वीपर लोट-पोट हो गये ॥ ११ ॥

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
सर्वसैन्यानि भीतानि व्यवालीयन्त भारत ॥ १२ ॥

भारत! बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीवका गम्भीर घोष सुनकर हमारे समस्त सैनिक भयभीत हो लुकने-छिपने लगे ॥ १२ ॥

अथ काम्बोजजैरश्वैर्महद्भिः शीघ्रगामिभिः ।
गोपानां बहुसाहस्रैर्बलैर्गोपायनैर्वृतः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् काम्बोजराज सुदक्षिण काम्बोजदेशीय विशाल एवं शीघ्रगामी घोड़ोंपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले। उनके साथ गोपायन नामवाले कई हजार गोपसैनिक थे ॥ १३ ॥

मद्रसौवीरगान्धारैस्त्रैगर्तैश्च विशाम्पते ।
सर्वकालिङ्गमुख्यैश्च कलिङ्गाधिपतिर्वृतः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ! समस्त कलिंगदेशीय प्रमुख वीरोंसे घिरे हुए कलिंगराज भी युद्धके लिये आगे बढ़े। उनके साथ मद्र, सौवीर, गान्धार और त्रिगर्तदेशीय योद्धा भी मौजूद थे ॥

नानानरगणौघैश्च दुःशासनपुरःसरः ।
जयद्रथश्च नृपतिः सहितः सर्वराजभिः ॥ १५ ॥

इनके सिवा राजा जयद्रथ सम्पूर्ण राजाओंको साथ ले दुःशासनको आगे करके चला। उसके साथ भी अनेक जन-पदोंके लोगोंकी पैदल सेना मौजूद थी ॥ १५ ॥

हयारोहवराश्चैव तव पुत्रेण चोदिताः ।
चतुर्दश सहस्राणि सौबलं पर्यवारयन् ॥ १६ ॥

इसके सिवा आपके पुत्रकी आज्ञासे चौदह हजार अच्छे घुड़सवार सुबलपुत्र शकुनिको घेरकर खड़े हुए ॥ १६ ॥

ततस्ते सहिताः सर्वे विभक्तरथवाहनाः ।
अर्जुनं समरे जघ्नुस्तावका भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ! फिर पृथक्-पृथक् रथ और वाहन लिये आपके पक्षके ये सब महारथी वीर समराङ्गणमें अर्जुनपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे ॥ १७ ॥

(चेदिकाशिपदातैश्च रथैः पाञ्चालसृंजयैः ।
सहिताः पाण्डवाः सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥
तावकान् समरे जघ्नुर्धर्मपुत्रेण चोदिताः ।)

इधर, चेदि और काशिदेशके पैदलसैनिकोंके तथा पाञ्चाल और सृंजयदेशके रथियोंसहित धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डववीर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञासे समरभूमिमें आपके सैनिकोंका संहार करने लगे ॥

रथिभिर्वारणैरश्वैः पादातैश्च समीरितम् ।
घोरमायोधनं चक्रे महाभ्रसदृशं रजः ॥ १८ ॥

रथियों, हाथियों, घोड़ों और पैदलोंके पैरोंसे उड़ी हुई धूलराशिने मेघोंकी भारी घटाके समान आकाशमें व्याप्त होकर उस युद्धको भयंकर बना दिया ॥ १८ ॥

तोमरप्रासनाराचगजाश्वरथयोधिनाम् ।
बलेन महता भीष्मः समसज्जत् किरीटिना ॥ १९ ॥

भीष्म तोमर, नाराच और प्रास आदि धारण करने-वाले हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथारोही योद्धाओंकी विशाल वाहिनीके साथ किरीटधारी अर्जुनसे भिड़ गये ॥ १९ ॥

आवन्त्यः काशिराजेन भीमसेनेन सैन्धवः ।
अजातशत्रुर्मद्राणामृषभेण यशस्विना ॥ २० ॥
सहपुत्रः सहामात्यः शल्येन समसज्जत ।

फिर, अवन्तीनरेश काशिराजके साथ, सिन्धुराज जयद्रथ भीमसेनके साथ तथा पुत्रों और मन्त्रियोंसहित अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर यशस्वी मद्रराज शल्यके साथ युद्ध करने लगे २०½

विकर्णः सहदेवेन चित्रसेनः शिखण्डिना ॥ २१ ॥
मत्स्या दुर्योधनं जग्मुः शकुनिं च विशाम्पते ।
द्रुपदश्चेकितानश्च सात्यकिश्च महारथः ॥ २२ ॥
द्रोणेन समसज्जन्त सपुत्रेण महात्मना ।

प्रजानाथ ! विकर्ण सहदेवके साथ और चित्रसेन शिखण्डीके साथ भिड़ गये । मत्स्यदेशीय योद्धाओंने दुर्योधन और शकुनिका सामना किया । द्रुपद, चेकितान और महारथी सात्यकि—ये अश्वत्थामासहित महामना द्रोणसे भिड़ गये ॥ २१-२२½ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च धृष्टद्युम्नमभिद्रुतौ ॥ २३ ॥
एवं प्रव्रजिताश्वानि भ्रान्तनागरथानि च ।
सैन्यानि समसज्जन्त प्रयुद्धानि समन्ततः ॥ २४ ॥

कृपाचार्य और कृतवर्मा—इन दोनोंने धृष्टद्युम्नपर धावा किया । इस प्रकार अपने-अपने घोड़ोंको आगे बढ़ाकर तथा हाथी एवं रथोंको घुमाकर समस्त सैनिक सब ओर युद्ध करने लगे ॥ २३-२४ ॥

निरभ्रे विद्युतस्तीव्रा दिशश्च रजसाऽऽवृताः ।
प्रादुरासन् महोल्काश्च सनिर्घाता विशाम्पते ॥ २५ ॥

प्रजानाथ ! बिना बादलके ही दुःसह बिजलियाँ चमकने लगीं, सम्पूर्ण दिशाएँ धूलसे भर गयीं और भयंकर वज्र-पातकी-सी आवाजके साथ बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरने लगीं ॥

प्रादुर्भूतो महावातः पांसुवर्षं पपात च ।
नभस्यन्तर्दधे सूर्यः सैन्येन रजसाऽऽवृतः ॥ २६ ॥

बड़े जोरकी आँधी उठ गयी । धूलकी वर्षा होने लगी । सेनाके द्वारा उड़ायी हुई धूलसे आकाशमें सूर्यदेव छिप गये ॥ २६ ॥

प्रमोहः सर्वसत्त्वानामतीव समपद्यत ।
रजसा चाभिभूतानामस्त्रजालैश्च तुद्यताम् ॥ २७ ॥

उस समय समस्त प्राणियोंपर बड़ा भारी मोह छा गया; क्योंकि वे धूलसे तो दबे ही थे, अस्त्रोंके समुदायसे भी पीड़ित हो रहे थे ॥ २७ ॥

वीरबाहुविसृष्टानां सर्वावरणभेदिनाम् ।
संघातः शरजालानां तुमुलः समपद्यत ॥ २८ ॥

वीरोंकी भुजाओंसे छूटकर सब प्रकारके आवरणों (कवच आदि) का भेदन करनेवाले बाणसमूहोंके भयानक आघात सब ओर हो रहे थे ॥ २८ ॥

प्रकाशं चक्रुराकाशमुद्यतानि भुजोत्तमैः ।
नक्षत्रविमलाभानि शस्त्राणि भरतर्षभ ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उत्तम भुजाओंद्वारा ऊपर उठाये हु नक्षत्रोंके समान निर्मल एवं चमकीले अस्त्र आकाशमें प्रक फैला रहे थे ॥ २९ ॥

आर्षभाणि विचित्राणि रुक्मजालावृतानि च ।
सम्पेतुर्दिक्षु सर्वासु चर्माणि भरतर्षभ ॥ ३० ॥

भरतभूषण ! सोनेकी जालीसे ढकी और ऋषभचर्मकी बनी हुई विचित्र ढालें सम्पूर्ण दिशाओंमें गिर रही थीं ॥ ३० ॥

सूर्यवर्णैश्च निस्त्रिंशैः पात्यमानानि सर्वशः ।
दिक्षु सर्वास्वदृश्यन्त शरीराणि शिरांसि च ॥ ३१ ॥

सूर्यके समान चमकीले खड्गोंसे सब ओर काटकर गिराये जानेवाले शरीर और मस्तक सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३१ ॥

भग्नचक्राक्षनीडाश्च निपातितमहाध्वजाः ।
हताश्वाः पृथिवीं जग्मुस्तत्र तत्र महारथाः ॥ ३२ ॥

कितने ही महारथियोंके रथोंके पहिये, धुरे और भीतर-की बैठकें टूट-फूटकर नष्ट हो गयीं, बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ खण्डित होकर गिर गयीं, घोड़े मार दिये गये और वे महा-रथी स्वयं भी मारे जाकर धरतीपर जहाँ-तहाँ गिर पड़े ॥ ३२ ॥

परिपेतुर्हयाश्चात्र केचिच्छस्त्रकृतव्रणाः ।
रथान् विपरिकर्षन्तो हतेषु रथयोधिषु ॥ ३३ ॥

उस युद्धस्थलमें कितने ही घोड़े अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे घायल होकर अपने रथियोंके मारे जानेके बाद भी रथ खींचते हुए भागते और गिर पड़ते थे ॥ ३३ ॥

शराहता भिन्नदेहा बद्धयोक्त्रा हयोत्तमाः ।
युगानि पर्यकर्षन्त तत्र तत्र स्म भारत ॥ ३४ ॥

भारत ! कितने ही उत्तम घोड़ोंके शरीर बाणोंसे आहत होकर क्षत-विक्षत हो गये थे, तो भी रथके साथ रस्सीमें बँधे हुए थे, इसलिये रथके जूओंको इधर-उधर खींचते रहते थे ॥ ३४ ॥

अदृश्यन्त ससूताश्च साश्वाः सरथयोधिनः ।
एकेन बलिना राजन् वारणेन विमर्दिताः ॥ ३५ ॥

राजन् ! कितने ही रथारोही युद्धस्थलमें एक ही महाबली गजराजके द्वारा घोड़ों और सारथियोंसहित कुचले हुए दिखायी पड़ते थे ॥ ३५ ॥

गन्धहस्तिमदस्रावमाघ्राय बहवो रणे ।
संनिपाते बलौघानां वीतमाददिरे गजाः ॥ ३६ ॥

समस्त सेनाओंमें भीषण मार-काट मची हुई थी और बहुत-से हाथी गन्धयुक्त गजराजके मदकी गन्ध सूँघकर उद्वे

के भ्रमसे निर्बल हाथीको भी मार गिरानेके लिये पकड़ लेते थे ॥ ३६ ॥

सतोमरैर्महामात्रैर्निपतद्भिर्गतासुभिः ।
बभूवायोधनं छन्नं नाराचाभिहतैर्गजैः ॥ ३७ ॥

तोमरोंसहित प्राणशून्य होकर गिरे हुए महावतों और नाराचोंकी मारसे मरकर गिरनेवाले हाथियोंसे वह रणभूमि आच्छादित हो गयी थी ॥ ३७ ॥

संनिपाते बलौघानां प्रेषितैर्वरवारणैः ।
निपेतुर्युधि सम्भग्नाः सयोधाः सध्वजा गजाः॥ ३८ ॥

सैन्यसमूहोंके उस भीषण संघर्षमें आगे बढ़ाये हुए बड़े-बड़े हाथियोंसे टकराकर युद्धमें कितने ही छोटे-छोटे हाथी अङ्ग-भङ्ग हो जानेके कारण सवारों और ध्वजोंसहित गिर जाते थे ॥ ३८ ॥

नगराजोपमैर्हस्तैर्नागैराक्षिप्य संयुगे ।
व्यदृश्यन्त महाराज सम्भग्ना रथकूबराः ॥ ३९ ॥

महाराज ! उस युद्धमें कितने ही हाथियोंके द्वारा विशाल नगराजके समान सूँड़ोंसे खींचकर फेंके हुए रथोंके ध्वज और कूबर चूर-चूर होकर गिरते देखे जाते थे ॥ ३९ ॥

विशीर्णरथसंघाश्च केशेष्वाक्षिप्य दन्तिभिः ।
द्रुमशाखा इवाविध्य निष्पिष्टा रथिनो रणे ॥ ४० ॥

कितने ही दन्तार हाथी रथसमूहोंको तोड़-फोड़कर उनमें बैठे हुए रथियोंको उनके केश पकड़कर खींच लेते और वृक्षकी शाखाकी भाँति उन्हें घुमाकर धरतीपर दे मारते थे । इस प्रकार उस युद्धमें उन रथियोंकी धज्जियाँ उड़ जाती थीं ॥ ४० ॥

रथेषु च रथान् युद्धे संसक्तान् वरवारणाः ।
विकर्षन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः सर्वशब्दगाः॥ ४१ ॥

कितने ही बड़े-बड़े गजराज रथसमूहोंमें घुसकर युद्धमें उलझे हुए रथोंको पकड़ लेते और सब प्रकारके शब्दोंका अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें उन रथोंको खींचे फिरते थे ॥

तेषां तथा कर्षतां तु गजानां रूपमाबभौ ।
सरःसु नलिनीजालं विषक्तमिव कर्षताम् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार रथोंसे रथियोंको खींचनेवाले उन हाथियोंका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो वे तालाबमें वहाँ उगे हुए कमलोंका समूह खींच रहे हों ॥ ४२ ॥

एवं संछादितं तत्र बभूवायोधनं महत् ।
सादिभिश्च पदातैश्च सध्वजैश्च महारथैः ॥ ४३ ॥

इस तरह सवारों, पैदलों और ध्वजोंसहित महारथियोंके शरीरोंसे वह विशाल युद्धस्थल पट गया था ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं)

* * *

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

दोनों सेनाओंका परस्पर घोर युद्ध

संजय उवाच

शिखण्डी सह मत्स्येन विराटेन विशाम्पते ।
भीष्ममाशु महेष्वासमाससाद सुदुर्जयम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! मत्स्यनरेश विराटके साथ मिलकर शिखण्डीने अत्यन्त दुर्जय महाधनुर्धर भीष्मपर शीघ्रतापूर्वक चढ़ाई की ॥ १ ॥

द्रोणं कृपं विकर्णं च महेष्वासं महाबलम् ।
राज्ञश्चान्यान् रणे शूरान् बहूनार्च्छद् धनंजयः॥ २ ॥

उस समय अर्जुनने उस रणभूमिमें महाधनुर्धर एवं महाबली द्रोण, कृपाचार्य, विकर्ण तथा अन्यान्य बहुत-से शूरवीर नरेशोंको अपने बाणोंद्वारा पीड़ा पहुँचायी ॥ २ ॥

सैन्धवं च महेष्वासं सामात्यं सह बन्धुभिः ।
प्राच्यांश्च दाक्षिणात्यांश्च भूमिपान् भूमिपर्षभ॥ ३ ॥

पुत्रं च ते महेष्वासं दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःसहं चैव समरे भीमसेनोऽभ्यवर्तत ॥ ४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मन्त्री और बन्धुओंसहित महाधनुर्धर सिंधुराज जयद्रथपर, पूर्व और दक्षिणके भूमिपालोंपर तथा आपके अमर्षशील पुत्र महाधनुर्धर दुर्योधन एवं दुःसहपर भीमसेनने आक्रमण किया ॥ ३-४ ॥

सहदेवस्तु शकुनिमुलूकं च महारथम् ।
पितापुत्रौ महेष्वासावभ्यवर्तत दुर्जयौ ॥ ५ ॥

सहदेवने शकुनि और महारथी उलूक—इन दोनों दुर्जय महाधनुर्धर पिता-पुत्रोंपर धावा किया ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरो महाराज गजानीकं महारथः ।
समवर्तत संग्रामे पुत्रेण निकृतस्तव ॥ ६ ॥

महाराज ! आपके पुत्रद्वारा ठगे गये महारथी राजा

युधिष्ठिरने संग्राममें गजसेनापर आक्रमण किया ॥ ६ ॥

माद्रीपुत्रस्तु नकुलः शूरसंक्रन्दनो युधि।
त्रिगर्तानां बलैः सार्धं समसज्जत पाण्डवः ॥ ७ ॥

माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल युद्धमें बड़े-बड़े शूरवीरोंको रुलानेवाले थे। उन्होंने त्रिगर्तोंकी सेनाके साथ युद्ध ठाना ॥ ७ ॥

अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः समरे शाल्वकेकयान्।
सात्यकिश्चेकितानश्च सौभद्रश्च महारथः ॥ ८ ॥

सात्यकि, चेकितान और महारथी अभिमन्युने समरभूमिमें कुपित होकर शाल्वों तथा केकयोंपर धावा किया ॥ ८ ॥

धृष्टकेतुश्च समरे राक्षसश्च घटोत्कचः।
(नाकुलिश्च शतानीकः समरे रथपुङ्गवः।)
पुत्राणां ते रथानीकं प्रत्युद्याताः सुदुर्जयाः ॥ ९ ॥

धृष्टकेतु, राक्षस घटोत्कच और नकुलपुत्र श्रेष्ठ रथी शतानीक—इन अत्यन्त दुर्जय वीरोंने समराङ्गणमें आपकी रथसेनापर आक्रमण किया ॥ ९ ॥

सेनापतिरमेयात्मा धृष्टद्युम्नो महाबलः।
द्रोणेन समरे राजन् समियायोग्रकर्मणा ॥ १० ॥

राजन्! अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डव-सेनापति महाबली धृष्टद्युम्नने संग्रामभूमिमें भयंकर कर्म करनेवाले द्रोणाचार्यसे लोहा लिया ॥ १० ॥

एवमेते महेष्वासास्तावकाः पाण्डवैः सह।
समेत्य समरे शूराः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ॥ ११ ॥

इस प्रकार ये आपके महाधनुर्धर शूरवीर योद्धा पाण्डवोंके साथ समरभूमिमें युद्ध करने लगे ॥ ११ ॥

मध्यंदिनगते सूर्ये नभस्याकुलतां गते।
कुरवः पाण्डवेयाश्च निजघ्नुरितरेतरम् ॥ १२ ॥

सूर्यदेव दिनके मध्यभागमें आ गये। आकाश तपने लगा। परंतु उस समय भी कौरव तथा पाण्डव एक-दूसरेको मार रहे थे ॥ १२ ॥

ध्वजिनो हेमचित्राङ्गा विचरन्तो रणाजिरे।
सपताका रथा रेजुर्वैयाघ्रपरिवारणाः ॥ १३ ॥
समेतानां च समरे जिगीषूणां परस्परम्।
बभूव तुमुलः शब्दः सिंहानामिव नर्दताम् ॥ १४ ॥

जिनपर ध्वजा और पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनका एक-एक अवयव सुवर्णभूषित हो विचित्र शोभा धारण करता था तथा जिनपर व्याघ्रके चर्मका आवरण पड़ा हुआ था, ऐसे अनेक रथ उस समराङ्गणमें विचरते हुए शोभा पा रहे थे। समरमें एक-दूसरेसे भिड़कर परस्पर विजय पानेकी इच्छावाले शूरवीर सिंहके समान गर्जना कर रहे थे और उनका वह तुमुल नाद सब ओर गूँज रहा था ॥ १३-१४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम सम्प्रहारं सुदारुणम्।
यदकुर्वन् रणे शूराः सृंजयाः कुरुभिः सह ॥ १५ ॥
नैव खं न दिशो राजन् न सूर्यं शत्रुतापन।
विदिशो वापि पश्यामः शरैर्मुक्तैः समन्ततः ॥ १६ ॥

राजन्! हमने वहाँ अत्यन्त भयंकर और अद्भुत संग्राम देखा, जिसे रणवीर सृंजयोंने कौरवोंके साथ किया था। शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! वहाँ चारों ओर इतने बाण छोड़े गये थे कि उनसे आच्छादित हो जानेके कारण हम आकाश, सूर्य, दिशा तथा विदिशाओंको भी नहीं देख पाते थे।

शक्तीनां विमलाग्राणां तोमराणां तथास्यताम्।
निस्त्रिंशानां च पीतानां नीलोत्पलनिभाः प्रभाः ॥ १७ ॥

चमकती हुई धारवाली शक्तियाँ, चलाये जाते हुए तोमरों और पानीदार तलवारोंकी प्रभा नील कमलके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ १७ ॥

कवचानां विचित्राणां भूषणानां प्रभास्तथा।
खं दिशः प्रदिशश्चैव भासयामासुरोजसा ॥ १८ ॥

वे तथा विचित्र कवचों और आभूषणोंके प्रभापुञ्ज आकाश, दिशा एवं कोणोंको अपने तेजसे प्रकाशित कर रहे थे ॥ १८ ॥

वपुर्भिश्च नरेन्द्राणां चन्द्रसूर्यसमप्रभैः।
विरराज तदा राजंस्तत्र तत्र रणाङ्गणम् ॥ १९ ॥

राजन्! चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले राजाओंके शरीरोंसे वह समराङ्गण यत्र-तत्र सर्वत्र शोभा पा रहा था ॥ १९ ॥

रथसङ्घा नरव्याघ्राः समायान्तश्च संयुगे।
विरेजुः समरे राजन् ग्रहा इव नभस्तले ॥ २० ॥

राजन्! रथोंके समूह और नरश्रेष्ठ नरेशगण युद्धमें आते हुए उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, जैसे आकाशमें ग्रह-नक्षत्र सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो भीमसेनं महाबलम्।
अवारयत संक्रुद्धः सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ २१ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने कुपित होकर सब सेनाओंके देखते देखते महाबली भीमसेनको रोक दिया ॥ २१ ॥

ततो भीष्मविनिर्मुक्ता रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः।
अभ्यघ्नन् समरे भीमं तैलधौताः सुतेजनाः ॥ २२ ॥

उस समय पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए, सुवर्णमय पंखसे युक्त और तेलके धोये तीखे बाण भीष्मके हाथोंसे छूटकर समरभूमिमें भीमसेनको चोट पहुँचाने लगे ॥ २२ ॥

तस्य शक्तिं महावेगां भीमसेनो महाबलः।
क्रुद्धाशीविषसंकाशां प्रेषयामास भारत ॥ २३ ॥

भारत! तब महाबली भीमसेनने क्रोधमें भरे हुए

विषधर सर्पके समान भयंकर महावेगशालिनी शक्ति भीष्मपर छोड़ी ॥ २३ ॥

तामापतन्तीं सहसा रुक्मदण्डां दुरासदाम् ।
चिच्छेद समरे भीष्मः शरैः संनतपर्वभिः ॥ २४ ॥

उसमें सोनेका डंडा लगा हुआ था। उसको सह लेना बहुत ही कठिन था। उसे सहसा आते देख भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा युद्धभूमिमें काट गिराया ॥ २४ ॥

ततोऽपरेण भल्लेन पीतेन निशितेन च ।
कार्मुकं भीमसेनस्य द्विधा चिच्छेद भारत ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर एक तीखे और पानीदार भल्लसे उन्होंने भीमसेनके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ॥ २५ ॥

अपास्य तु धनुश्छिन्नं भीमसेनो महाबलः ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् भीष्मं शान्तनवं युधि ।)

महाबली भीमसेनने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा धनुष ले बहुत-से बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें शान्तनुनन्दन भीष्मको अत्यन्त पीड़ा दी ॥

सात्यकिस्तु ततस्तूर्णं भीष्ममासाद्य संयुगे ।
आकर्णप्रहितैस्तीक्ष्णैर्निशितैस्तिग्मतेजनैः ॥ २६ ॥
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् पितरं ते जनेश्वर ।

जनेश्वर ! तत्पश्चात् उस युद्धमें सात्यकिने शीघ्र ही आपके पिता भीष्मके पास पहुँचकर धनुषको कानोंतक खींचकर चलाये हुए बहुत-से तीखे एवं तेज सायकोंद्वारा उन्हें बहुत पीड़ा दी ॥

ततः संधाय वै तीक्ष्णं शरं परमदारुणम् ॥ २७ ॥
वार्ष्णेयस्य रथाद् भीष्मः पातयामास सारथिम् ।

तब भीष्मने अत्यन्त भयंकर तीक्ष्ण बाणका संधान करके सात्यकिके रथसे उनके सारथिको मार गिराया ॥ २७½ ॥

तस्याश्वाः प्रद्रुता राजन् निहते रथसारथौ ॥ २८ ॥

राजन् ! रथ-सारथिके मारे जानेपर सात्यकिके घोड़े वहाँसे भाग चले ॥ २८ ॥

तेन तेनैव धावन्ति मनोमारुतरंहसः ।
ततः सर्वस्य सैन्यस्य निस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥ २९ ॥

मन और वायुके समान वेगवाले वे घोड़े जिधर राह मिली, उधर ही दौड़ने लगे। इससे सारी सेनामें कोलाहल मच गया ॥ २९ ॥

हाहाकारश्च संजज्ञे पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अभ्यद्रवत गृह्णीत हयान् यच्छत धावत ॥ ३० ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दो युयुधानरथं प्रति ।

महात्मा पाण्डवोंके दलमें हाहाकार होने लगा। अरे ! दौड़ो, पकड़ो, घोड़ोंको रोको, भागो। सात्यकिके रथकी ओर इस तरहका शब्द गूँजने लगा ॥ ३०½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ३१ ॥
न्यहनत् पाण्डवीं सेनामासुरीमिव वृत्रहा ।

इसी बीचमें शान्तनुनन्दन भीष्मने पाण्डव-सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे देवराज इन्द्र आसुरी-सेनाका संहार करते हैं ॥ ३१½ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण पञ्चालाः सोमकैः सह ॥ ३२ ॥
स्थिरां युद्धे मतिं कृत्वा भीष्ममेवाभिदुद्रुवुः ।

भीष्मके द्वारा पीड़ित हुए पाञ्चाल और सोमक युद्धका दृढ़ निश्चय लेकर भीष्मकी ही ओर दौड़े ॥ ३२½ ॥

धृष्टद्युम्नमुखाश्चापि पार्थाः शान्तनवं रणे ॥ ३३ ॥
अभ्यधावञ्जिगीषन्तस्तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।

धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डव योद्धा आपके पुत्रकी सेनाको जीतनेकी इच्छासे युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मपर ही चढ़ आये ॥ ३३½ ॥

तथैव कौरवा राजन् भीष्मद्रोणपुरोगमाः ॥ ३४ ॥
अभ्यधावन्त वेगेन ततो युद्धमवर्तत ॥ ३५ ॥

राजन् ! इसी प्रकार भीष्म, द्रोण आदि कौरव योद्धा भी बड़े वेगसे पाण्डव-सेनापर टूट पड़े; फिर तो दोनों दलोंमें भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसयुद्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

विराट-भीष्म, अश्वत्थामा-अर्जुन, दुर्योधन-भीमसेन तथा अभिमन्यु और लक्ष्मणके द्वन्द्वयुद्ध

संजय उवाच

विराटोऽथ त्रिभिर्बाणैर्भीष्ममार्च्छन्महारथम् ।
आजघान तुरगांश्चास्य त्रिभिर्बाणैर्महारथः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! महारथी राजा विराटने तीन बाण मारकर महारथी भीष्मको पीड़ित किया और तीन ही बाणोंसे उनके घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ १ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवः शरैः।
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासः कृतहस्तो महाबलः॥ २॥

तब महाधनुर्धर महाबली तथा शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने सोनेके पंखवाले दस बाण मारकर विराटको भी घायल कर दिया॥ २॥

द्रौणिर्गाण्डीवधन्वानं भीमधन्वा महारथः।
अविध्यदिषुभिः षड्भिर्दृढहस्तः स्तनान्तरे॥ ३॥

भयंकर धनुष धारण करनेवाले महारथी अश्वत्थामाने अपने हाथकी दृढ़ताका परिचय देते हुए गाण्डीवधारी अर्जुनकी छातीमें छः बाणोंसे प्रहार किया॥ ३॥

कार्मुकं तस्य चिच्छेद फाल्गुनः परवीरहा।
अविध्यच्च भृशं तीक्ष्णैः पत्रिभिः शत्रुकर्शनः॥ ४॥

तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले शत्रुसूदन अर्जुनने अश्वत्थामाका धनुष काट दिया और उसे तीन तीखे बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल कर दिया॥ ४॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय वेगवान् क्रोधमूर्च्छितः।
अमृष्यमाणः पार्थेन कार्मुकच्छेदमाहवे॥ ५॥
अविध्यत् फाल्गुनं राजन् नवत्या निशितैः शरैः।
वासुदेवं च सप्तत्या विव्याध परमेषुभिः॥ ६॥

राजन्! युद्धमें अर्जुनके द्वारा अपने धनुषका काटा जाना अश्वत्थामाको सहन नहीं हुआ। उस वेगशाली वीरने क्रोधसे मूर्च्छित होकर तुरंत ही दूसरा धनुष ले नब्बे पैने बाणोंद्वारा अर्जुनको और सत्तर श्रेष्ठ सायकोंद्वारा श्रीकृष्णको घायल कर दिया॥ ५-६॥

ततः क्रोधाभिताम्राक्षः कृष्णेन सह फाल्गुनः।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य चिन्तयित्वा पुनःपुनः॥ ७॥
धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः।
गाण्डीवधन्वा संक्रुद्धः शितान् संनतपर्वणः॥ ८॥
जीवितान्तकरान् घोरान् समादत्त शिलीमुखान्।
तैस्तूर्णं समरेऽविध्यद् द्रौणिं बलवतां वरः॥ ९॥

तब श्रीकृष्णसहित अर्जुनने क्रोधसे लाल आँखें करके बारंबार गरम-गरम लंबी साँस खींचकर सोच-विचार करनेके पश्चात् धनुषको बायें हाथसे दबाया। फिर उन शत्रुसूदन गाण्डीवधारी पार्थने कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले कुछ भयंकर बाण हाथमें लिये, जो जीवनका अन्त कर देनेवाले थे। बलवानोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने उन बाणोंद्वारा तुरंत ही समराङ्गणमें अश्वत्थामाको घायल किया॥ ७-९॥

तस्य ते कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे।
न विव्यथे च निर्भिन्नो द्रौणिर्गाण्डीवधन्वना॥ १०॥

वे बाण उसका कवच फाड़कर उस युद्धस्थलसे उसके शरीरका रक्त पीने लगे, किंतु गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा विदीर्ण किये जानेपर भी अश्वत्थामा व्यथित नहीं हुआ॥ १०॥

तथैव च शरान् द्रौणिः प्रविमुञ्चन्नविह्वलः।
तस्थौ स समरे राजंस्त्रातुमिच्छन् महाव्रतम्॥ ११॥

राजन्! द्रोणकुमार तनिक भी विह्वल हुए बिना पूर्ववत् समरभूमिमें बाणोंकी वर्षा करता रहा और अपने महान् व्रतकी रक्षाकी इच्छासे समराङ्गणमें डटा रहा॥ ११॥

तस्य तत् सुमहत् कर्म शशंसुः कुरुसत्तमाः।
यत् कृष्णाभ्यां समेताभ्यामभ्यापतत संयुगे॥ १२॥

अश्वत्थामा युद्धभूमिमें जो श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंका सामना करता रहा, उसके इस महान् कर्मकी श्रेष्ठ कौरवोंने बड़ी प्रशंसा की॥ १२॥

(तथार्जुनोऽपि संहृष्ट अश्वत्थामानमाहवे।
शशंस सर्वभूतानां शृण्वतामपि भारत॥)

भारत! अर्जुनने भी अत्यन्त हर्षमें भरकर रणभूमिमें सम्पूर्ण भूतोंके सुनते हुए अश्वत्थामाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

स हि नित्यमनीकेषु युध्यतेऽभयमास्थितः।
अस्त्रग्रामं ससंहारं द्रोणात् प्राप्य सुदुर्लभम्॥ १३॥

वह द्रोणाचार्यसे उपसंहारसहित सुदुर्लभ अस्त्र-समुदायकी शिक्षा पाकर निर्भय हो सदा ही पाण्डव-सैनिकोंके साथ युद्ध करता था॥ १३॥

ममैष आचार्यसुतो द्रोणस्यापि प्रियः सुतः।
ब्राह्मणश्च विशेषेण माननीयो ममेति च॥ १४॥
समास्थाय मतिं वीरो बीभत्सुः शत्रुतापनः।
कृपां चक्रे रथश्रेष्ठो भारद्वाजसुतं प्रति॥ १५॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनने यह सोचकर कि अश्वत्थामा मेरे आचार्यका पुत्र है, द्रोणका लाड़ला बेटा है तथा ब्राह्मण होनेके कारण भी विशेषरूपसे मेरे लिये माननीय है; आचार्यपुत्रपर कृपा की॥ १४-१५॥

द्रौणिं त्यक्त्वा ततो युद्धे कौन्तेयः श्वेतवाहनः।
युयुधे तावकान् निघ्नंस्त्वरमाणः पराक्रमी॥ १६॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीकुमार पराक्रमी अर्जुनने अश्वत्थामाको वहीं युद्धस्थलमें छोड़कर बड़ी उतावलीके साथ आपके दूसरे सैनिकोंका संहार करते हुए उनके साथ युद्ध आरम्भ किया॥ १६॥

दुर्योधनस्तु दशभिर्गार्ध्रपत्रैः शिलाशितैः।
भीमसेनं महेष्वासं रुक्मपुङ्खैः समार्पयत्॥ १७॥

दुर्योधनने शान चढ़ाकर तेज किये हुए गृध्र पंखयुक्त अथवा सुवर्णमय पंखवाले दस बाण मारकर महाधनुर्धर भीमसेनको बड़ी चोट पहुँचायी॥ १७॥

भीमसेनः सुसंक्रुद्धः परासुकरणं दृढम्।
चित्रं कार्मुकमादत्त शरांश्च निशितान् दश॥ १८॥

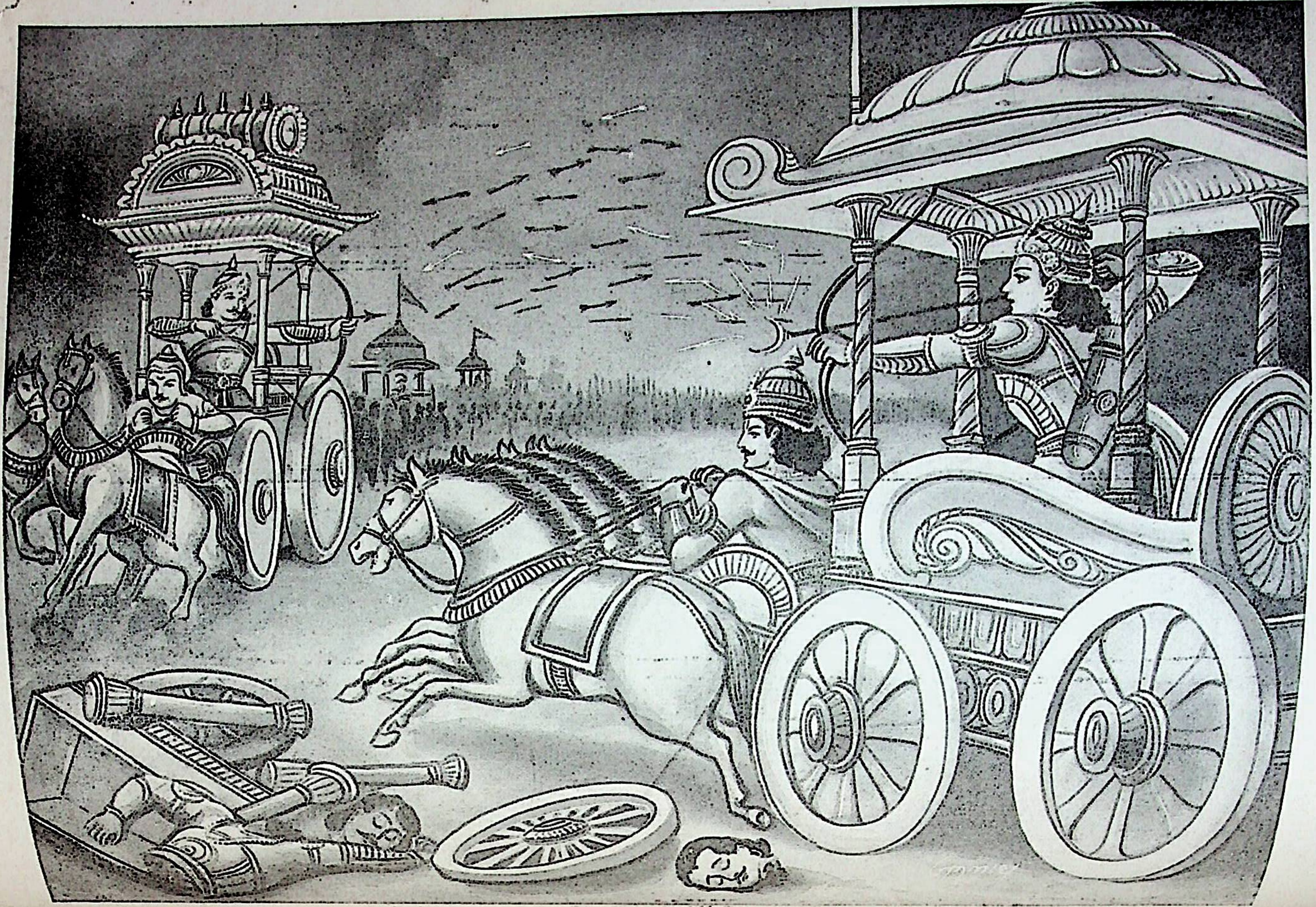

अभिमन्युका युद्ध-कौशल

आकर्णप्रहितैस्तीक्ष्णैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
अविध्यत् तूर्णमव्यग्रः कुरुराजं महोरसि ॥ १९ ॥

इससे भीमसेन अत्यन्त क्रोधसे जल उठे । उन्होंने एक विचित्र धनुष हाथमें लिया, जो अत्यन्त सुदृढ़ और शत्रुओंके प्राण लेनेमें समर्थ था । उसके ऊपर उन्होंने दस तीखे बाण रक्खे; फिर धनुषको कानतक खींचकर वे बाण छोड़ दिये । उन सीधे जानेवाले वेगवान् एवं तीक्ष्ण बाणोंद्वारा भीमने बिना किसी व्यग्रताके तुरंत ही कुरुराज दुर्योधनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ १८-१९ ॥

तस्य काञ्चनसूत्रस्थः शरैः संछादितो मणिः ।
रराजोरसि खे सूर्यो ग्रहैरिव समावृतः ॥ २० ॥

दुर्योधनकी छातीपर एक मणि शोभा पाती थी, जो सुवर्णमय सूत्रमें पिरोयी हुई थी । वह भीमसेनके बाणोंसे आच्छादित होकर वैसे ही शोभा पाने लगी, जैसे आकाशमें ग्रहोंसे घिरे हुए सूर्य सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

पुत्रस्तु तव तेजस्वी भीमसेनेन ताडितः ।
नामृष्यत यथा नागस्तलशब्दं मदोत्कटः ॥ २१ ॥

भीमसेनके बाणोंसे पीड़ित होकर आपका तेजस्वी पुत्र उनके द्वारा किये गये आघातको उसी प्रकार नहीं सह सका, जैसे मतवाला हाथी तालीकी आवाज नहीं सहन करता है ॥

ततः शरैर्महाराज रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ।
भीमं विव्याध संक्रुद्धस्त्रासयानो वरूथिनीम् ॥ २२ ॥

महाराज ! तदनन्तर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए स्वर्णपंखयुक्त बाणोंद्वारा क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनने भीमसेनको बींध डाला और पाण्डवसेनाको भयभीत करने लगा ॥

तौ युध्यमानौ समरे भृशमन्योन्यविक्षतौ ।
पुत्रौ ते देवसंकाशौ व्यरोचेतां महाबलौ ॥ २३ ॥

उस समराङ्गणमें परस्पर युद्ध करके अत्यन्त क्षत-विक्षत हुए आपके दोनों महाबली पुत्र दुर्योधन और भीमसेन देवताओंके समान शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

चित्रसेनं नरव्याघ्रं सौभद्रः परवीरहा ।
अविध्यद् दशभिर्बाणैः पुरुमित्रं च सप्तभिः ॥ २४ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने नरश्रेष्ठ चित्रसेनको दस और पुरुमित्रको सात बाणोंसे बींध डाला ॥ २४ ॥

सत्यव्रतं च सप्तत्या विद्ध्वा शक्रसमो युधि ।
नृत्यन्निव रणे वीर आर्तिं नः समजीजनत् ॥ २५ ॥

युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी वीर अभिमन्युने सत्यव्रतको सत्तर बाणोंसे घायल करके रणाङ्गणमें नृत्य-सा करते हुए हम सब लोगोंको अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥ २५ ॥

तं प्रत्यविध्यद् दशभिश्चित्रसेनः शिलीमुखैः ।
सत्यव्रतश्च नवभिः पुरुमित्रश्च सप्तभिः ॥ २६ ॥

तब चित्रसेनने दस, सत्यव्रतने नौ और पुरुमित्रने सात बाणोंसे मारकर अभिमन्युको घायल कर दिया ॥ २६ ॥

स विद्धो विक्षरन् रक्तं शत्रुसंवारणं महत् ।
चिच्छेद चित्रसेनस्य चित्रं कार्मुकमार्जुनिः ॥ २७ ॥

उन दोनोंके द्वारा घायल होकर अपने शरीरसे रक्त बहाते हुए अभिमन्युने चित्रसेनके शत्रुनिवारक महान् एवं विचित्र धनुषको काट डाला ॥ २७ ॥

भित्त्वा चास्य तनुत्राणं शरेणोरस्यताडयत् ।
ततस्ते तावका वीरा राजपुत्रा महारथाः ॥ २८ ॥
समेत्य युधि संरब्धा विव्यधुर्निशितैः शरैः ।
तांश्च सर्वाञ्शरैस्तीक्ष्णैर्जघान परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

साथ ही चित्रसेनके कवचको विदीर्ण करके उसकी छातीमें भी एक बाण मारा । तदनन्तर आपके वीर एवं महारथी राजकुमार युद्धमें एकत्र हो क्रोधमें भरकर अभिमन्युको तीखे बाणोंसे बेधने लगे; परंतु उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता अभिमन्युने अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको घायल कर दिया ॥ २८-२९ ॥

तस्य दृष्ट्वा तु तत् कर्म परिवव्रुः सुतास्तव ।
दहन्तं समरे सैन्यं वने कक्षं यथोल्बणम् ॥ ३० ॥

जैसे वनमें लगी हुई प्रचण्ड आग तृणसमूहको अनायास ही जलाकर भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अभिमन्यु उस समराङ्गणमें कौरवसेनाको दग्ध कर रहा था । उसके इस महान् कर्मको देखकर आपके पुत्रोंने उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ३० ॥

अपेतशिशिरे काले समिद्धमिव पावकम् ।
अत्यरोचत सौभद्रस्तव सैन्यानि नाशयन् ॥ ३१ ॥

महाराज ! आपकी सेनाका संहार करता हुआ सुभद्राकुमार अभिमन्यु ग्रीष्म-ऋतुमें प्रज्वलित हुई प्रचण्ड अग्निसे भी बढ़कर शोभा पा रहा था ॥ ३१ ॥

तत् तस्य चरितं दृष्ट्वा पौत्रस्तव विशाम्पते ।
लक्ष्मणोऽभ्यपतत् तूर्णं सात्वतीपुत्रमाहवे ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ ! उसका यह पराक्रम देखकर आपका पौत्र लक्ष्मण तुरंत ही युद्धमें सुभद्राकुमारका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ॥ ३२ ॥

अभिमन्युस्तु संक्रुद्धो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
विव्याध निशितैः षड्भिः सारथिं च त्रिभिः शरैः ॥ ३३ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने उत्तम लक्षणोंसे युक्त

लक्ष्मणको छः और उसके सारथिको तीन तीखे बाणोंसे बींध डाला ॥ ३३ ॥

तथैव लक्ष्मणो राजन् सौभद्रं निशितैः शरैः ।
अविध्यत महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३४ ॥

राजन्! इसी प्रकार लक्ष्मणने भी सुभद्राकुमारको अपने तीखे बाणोंसे घायल कर दिया। महाराज! वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३४ ॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सारथिं च महाबलः ।
अभ्यद्रवत सौभद्रो लक्ष्मणं निशितैः शरैः ॥ ३५ ॥

यह देख महाबली सुभद्राकुमारने लक्ष्मणके चारों घोड़ों और सारथिको मारकर तीखे बाणोंद्वारा उसपर भी आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठँल्लक्ष्मणः परवीरहा ।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धः सौभद्रस्य रथं प्रति ॥ ३६ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले लक्ष्मणने उस अश्वहीन रथपर खड़े-खड़े ही क्रोधमें भरकर अभिमन्युके रथकी ओर एक शक्ति चलायी ॥ ३६ ॥

तामापतन्तीं सहसा घोररूपां दुरासदाम् ।
अभिमन्युः शरैस्तीक्ष्णैश्चिच्छेद भुजगोपमाम् ॥ ३७ ॥

उस भयंकर एवं दुर्जय सर्पिणीके समान शक्तिको सहसा अपनी ओर आते देख अभिमन्युने तीखे बाणोंद्वारा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ३७ ॥

ततः स्वरथमारोप्य लक्ष्मणं गौतमस्तदा ।
अपोवाह रथेनाजौ सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३८ ॥

तब कृपाचार्य सब सैनिकोंके देखते-देखते लक्ष्मणको अपने रथपर बिठाकर युद्धभूमिमें वहाँसे अन्यत्र हटा ले गये

ततः समाकुले तस्मिन् वर्तमाने महाभये ।
अभ्यद्रवञ्जिघांसन्तः परस्परवधैषिणः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उस महाभयंकर संघर्षमें सब योद्धा वि को मारनेकी इच्छा रखकर एक-दूसरेका वध करनेके लि परस्पर टूट पड़े ॥ ३९ ॥

तावकाश्च महेष्वासाः पाण्डवाश्च महारथाः ।
जुह्वन्तः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ४० ॥

आपके और पाण्डवपक्षके महाधनुर्धर महारथी समराङ्गणमें प्राणोंकी आहुति देते हुए एक दूसरेको रहे थे ॥ ४० ॥

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः ।
बाहुभिः समयुध्यन्त सृंजयाः कुरुभिः सह ॥ ४१ ॥

कवच और रथसे रहित हो धनुष कट जानेपर अ बाल खोले हुए कितने ही सृंजय वीर कौरवोंके साथ केव भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध कर रहे थे ॥ ४१ ॥

ततो भीष्मो महाबाहुः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सेनां जघान संक्रुद्धो दिव्यैरस्त्रैर्महाबलः ॥ ४२ ॥

तब महाबली महाबाहु भीष्म अत्यन्त कुपित हो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा महामना पाण्डवोंकी सेनाका संहार करने लगे

हतैरश्वैर्गजैस्तत्र नरैरश्वैश्च पातितैः ।
रथिभिः सादिभिश्चैव समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ४३ ॥

उस समय वहाँ मारे और गिराये गये हाथी, घोड़े मनुष्य, रथी और सवारोंद्वारा सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४४ श्लोक हैं)

* * *

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

सात्यकि और भूरिश्रवाका युद्ध, भूरिश्रवाद्वारा सात्यकिके दस पुत्रोंका वध, अर्जुनका पराक्रम तथा पाँचवें दिनके युद्धका उपसंहार

संजय उवाच

अथ राजन् महाबाहुः सात्यकिर्युद्धदुर्मदः ।
विकृष्य चापं समरे भारसाहमनुत्तमम् ॥ १ ॥
प्रामुञ्चत् पुङ्खसंयुक्ताञ्शरानाशीविषोपमान् ।

संजय कहते हैं—राजन्! महाबाहु सात्यकि युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे। उन्होंने युद्धमें भार सहन करनेमें समर्थ और परम उत्तम धनुषको बलपूर्वक खींचकर विषधर सर्पके समान भयानक पंखयुक्त बाण छोड़े ॥ १½ ॥

प्रगाढं लघु चित्रं च दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ २ ॥
(यत् तत् सख्युस्तु पूर्वेण अर्जुनादुपशिक्षितम् ।)

बाणोंको छोड़ते समय सात्यकिने अपने उस प्रगाढ़, शीघ्रकारी और विचित्र हस्त-लाघवका परिचय दिया, जिसे उन्होंने पूर्वकालमें अपने सखा अर्जुनसे सीखा था ॥ २ ॥

तस्य विक्षिपतश्चापं शरानन्यांश्च मुञ्चतः।
आददानस्य भूयश्च संदधानस्य चापरान् ॥ ३ ॥
क्षिपतश्च परांस्तस्य रणे शत्रून् विनिघ्नतः।
दृशे रूपमत्यर्थं मेघस्येव प्रवर्षतः ॥ ४ ॥

जब वे धनुषको खींचते, दूसरे-दूसरे बाण छोड़ते, फिर नये-नये बाण हाथमें लेते, धनुषपर रखते, उन्हें शत्रुओंपर चलाते और उनका संहार करते थे, उस समय वर्षा करनेवाले मेघके समान उनका स्वरूप अत्यन्त अद्भुत दिखायी देता था ॥ ३-४ ॥

मुदीर्यन्तमालोक्य राजा दुर्योधनस्ततः।
थानामयुतं तस्य प्रेषयामास भारत ॥ ५ ॥

भारत ! उस समय उन्हें युद्धमें बढ़ते देख राजा र्योधनने उनका सामना करनेके लिये दस हजार रथियोंकी ना भेजी ॥५॥

स्तु सर्वान् महेष्वासान् सात्यकिः सत्यविक्रमः।
घान परमेष्वासो दिव्येनास्त्रेण वीर्यवान् ॥ ६ ॥

परंतु श्रेष्ठ धनुर्धर सत्यपराक्रमी शक्तिशाली सात्यकिने न समस्त धनुर्धर योद्धाओंको अपने दिव्यास्त्रके द्वारा र डाला ॥ ६ ॥

कृत्वा दारुणं कर्म प्रगृहीतशरासनः।
ससाद ततो वीरो भूरिश्रवसमाहवे ॥ ७ ॥

वह भयंकर कर्म करके फिर धनुष लिये वीर सात्यकिने स्थलमें भूरिश्रवापर आक्रमण किया ॥ ७ ॥

हि संदृश्य सेनां ते युयुधानेन पातिताम्।
भ्यधावत संक्रुद्धः कुरूणां कीर्तिवर्धनः ॥ ८ ॥

सात्यकिने आपकी सेनाको मार गिराया है, यह देखकर कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाला भूरिश्रवा अत्यन्त कुपित हो नकी ओर दौड़ा ॥ ८ ॥

युधसवर्णं तु विस्फार्य सुमहद् धनुः।
सृजन् वज्रसंकाशाञ्छरानाशीविषोपमान् ॥ ९ ॥
हस्रशो महाराज दर्शयन् पाणिलाघवम्।

उसका विशाल धनुष इन्द्र-धनुषके समान बहुरंगा था। हाराज ! उसे खींचकर भूरिश्रवाने अपने हस्त-लाघवका रिचय देते हुए वज्रके समान दुःसह और विषैले सर्पोंके मान भयंकर सहस्रों बाण छोड़े ॥ ९½ ॥

रांस्तान् मृत्युसंस्पर्शान् सात्यकेश्च पदानुगाः ॥ १० ॥
विषेहुस्तदा राजन् दुद्रुवुस्ते समन्ततः।
हाय सात्यकिं राजन् समरे युद्धदुर्मदम् ॥ ११ ॥

उन बाणोंका स्पर्श मृत्युके तुल्य था। राजन् ! उस समय त्यकिके साथ आये हुए सैनिक उन सायकोंका वेग न ह सके। नरेश्वर ! युद्धभूमिमें वे रण-दुर्मद सात्यकिको वहीं छोड़कर सब ओर भाग निकले॥ १०-११ ॥

तं दृष्ट्वा युयुधानस्य सुता दश महाबलाः।
महारथाः समाख्याताश्चित्रवर्मायुधध्वजाः ॥ १२ ॥
समासाद्य महेष्वासं भूरिश्रवसमाहवे।
ऊचुः सर्वे सुसंरब्धा यूपकेतुं महारणे ॥ १३ ॥

सात्यकिके दस महाबलवान् पुत्र थे। उनके कवच, आयुध और ध्वज सभी विचित्र थे। वे सब-के-सब महारथी कहे जाते थे। वे युद्धस्थलमें यूपचिह्नित ध्वजवाले महारथी भूरिश्रवाको देखकर उसके पास आये और अत्यन्त क्रोधपूर्वक उससे इस प्रकार बोले—॥ १२-१३ ॥

भो भोः कौरवदायाद सहास्माभिर्महाबल।
एहि युध्यस्व संग्रामे समस्तैः पृथगेव वा ॥ १४ ॥

'महाबली कौरवपुत्र ! आओ, इस संग्रामभूमिमें हम सब लोगोंके साथ अथवा पृथक्-पृथक् एक एकके साथ युद्ध करो॥

अस्मान् वा त्वं पराजित्य यशः प्राप्नुहि संयुगे।
वयं वा त्वां पराजित्य प्रीतिं धास्यामहे पितुः ॥ १५ ॥

'या तो तुम युद्धमें हमें पराजित करके यश प्राप्त करो अथवा हम तुम्हें परास्त करके पिताकी प्रसन्नता बढ़ायेंगे'॥

एवमुक्तस्तदा शूरैस्तानुवाच महाबलः।
वीर्यश्लाघी नरश्रेष्ठस्तान् दृष्ट्वा समवस्थितान् ॥ १६ ॥

तब उन शूरवीरोंके ऐसा कहनेपर अपने पराक्रमकी श्लाघा करनेवाला महाबली नरश्रेष्ठ भूरिश्रवा उन्हें युद्धके लिये उपस्थित देख उनसे इस प्रकार बोला—॥ १६ ॥

साध्विदं कथ्यते वीरा यद्येवं मतिरद्य वः।
युध्यध्वं सहिता यत्ता निहनिष्यामि वो रणे ॥ १७ ॥

'वीरो ! यदि तुम्हारा ऐसा विचार है तो तुमलोगोंने यह बड़ी अच्छी बात कही है। तुम सब लोग एक साथ सावधान होकर यत्नपूर्वक युद्ध करो। मैं इस रणभूमिमें तुम सब लोगोंको मार गिराऊँगा' ॥ १७ ॥

एवमुक्ता महेष्वासास्ते वीराः क्षिप्रकारिणः।
महता शरवर्षेण अभ्यधावन्नरिंदमम् ॥ १८ ॥

भूरिश्रवाके ऐसा कहनेपर शीघ्रता करनेवाले उन महाधनुर्धर वीरोंने बड़ी भारी बाण-वर्षा करते हुए शत्रुदमन भूरिश्रवापर आक्रमण किया ॥ १८ ॥

सोऽपराह्णे महाराज संग्रामस्तुमुलोऽभवत्।
एकस्य च बहूनां च समेतानां रणाजिरे ॥ १९ ॥

महाराज ! अपराह्णकालमें उस समराङ्गणमें एकत्र हुए बहुत-से वीरोंके साथ एक वीरका भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ॥

तमेकं रथिनां श्रेष्ठं शरैस्ते समवाकिरन्।
प्रावृषीव यथा मेरुं सिषिचुर्जलदा नृप ॥ २० ॥

नरेश्वर ! जैसे मेघ वर्षाकालमें मेरुपर्वतपर जलकी बूँदें

बरसाते हैं, उसी प्रकार उन सबने मिलकर रथियोंमें श्रेष्ठ एकमात्र भूरिश्रवापर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ २० ॥

तैस्तु मुक्ताञ्शरान् घोरान् यमदण्डाशनिप्रभान्।
असम्प्राप्तानसम्भ्रान्तश्चिच्छेदाशु महारथः ॥ २१ ॥

उनके छोड़े हुए यमदण्ड और वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले भयंकर बाणोंको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही महारथी भूरिश्रवाने बिना किसी घबराहटके शीघ्रतापूर्वक काट गिराया ॥

तत्राद्भुतमपश्याम सौमदत्तेः पराक्रमम् ।
यदेको बहुभिर्युद्धे समसज्जदभीतवत् ॥ २२ ॥

वहाँ हम सबने सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाका अद्भुत पराक्रम देखा। वह अकेला होनेपर भी बहुत-से वीरोंके साथ निर्भीक-सा युद्ध करता रहा ॥ २२ ॥

विसृज्य शरवृष्टिं तां दश राजन् महारथाः ।
परिवार्य महाबाहुं निहन्तुमुपचक्रमुः ॥ २३ ॥

राजन् ! उन दस महारथियोंने वह बाणोंकी वर्षा करके महाबाहु भूरिश्रवाको चारों ओरसे घेरकर उसे मार डालनेकी तैयारी की ॥ २३ ॥

सौमदत्तिस्ततः क्रुद्धस्तेषां चापानि भारत ।
चिच्छेद समरे राजन् युध्यमानो महारथैः ॥ २४ ॥

भरत-वंशीनरेश ! उस समय क्रोधमें भरे हुए भूरिश्रवाने उन महारथियोंके साथ युद्ध करते हुए ही समरभूमिमें उनके धनुष काट डाले ॥ २४ ॥

अथैषां छिन्नधनुषां शरैः संनतपर्वभिः ।
चिच्छेद समरे राजञ्शिरांसि भरतर्षभ ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इनके धनुष कट जानेपर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे भूरिश्रवाने उनके मस्तक भी समरभूमिमें काट गिराये ॥ २५ ॥

ते हता न्यपतन् राजन् वज्रभग्ना इव द्रुमाः ।
तान् दृष्ट्वा निहतान् वीरो रणे पुत्रान् महाबलान् ॥ २६ ॥
वार्ष्णेयो विनदन् राजन् भूरिश्रवसमभ्ययात् ।

राजन् ! वे दसों वीर वज्रके मारे हुए वृक्षोंकी भाँति रणभूमिमें मरकर गिर पड़े । उन महाबली पुत्रोंको संग्राममें मारा गया देख वीरवर सात्यकिने गर्जना करते हुए वहाँ भूरिश्रवापर आक्रमण किया ॥ २६½ ॥

रथं रथेन समरे पीडयित्वा महाबलौ ॥ २७ ॥
तावन्योन्यं हि समरे निहत्य रथवाजिनः ।
विरथावभिवल्गन्तौ समेयातां महारथौ ॥ २८ ॥

वे दोनों महाबली समराङ्गणमें अपने रथके द्वारा दूसरेके रथको पीड़ा देने लगे । उन्होंने आपसमें एक दूसरेके रथ और घोड़ोंको नष्ट कर दिया । इस प्रकार रथहीन हुए वे दोनों महारथी उछलते-कूदते हुए एक-दूसरेका सामना करने

प्रगृहीतमहाखड्गौ तौ चर्मवरधारिणौ।
शुशुभाते नरव्याघ्रौ युद्धाय समवस्थितौ ॥ २

वे दोनों पुरुषसिंह हाथमें बड़ी-बड़ी तलवारें और सु ढालें लिये युद्धके लिये उद्यत होकर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥

(खड्गप्रहारैः सुभृशं जघ्नतुश्च परस्परम्।
पीडितौ खड्गघाताभ्यां स्रवद्रक्तौ क्षितौ भृशम्॥
शुशुभाते महावीर्यावुभौ समरदुर्जयौ।
असृगुक्षितसर्वाङ्गौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥)

वे तलवारोंकी मारसे एक दूसरेको अत्यन्त घायल क लगे । खड्गके आघातसे पीड़ित हो दोनों ही पृथ्वीपर रक्त ब लगे । उनके सारे अङ्ग रक्तरंजित हो रहे थे। अतः वे रण-दु महापराक्रमी वीर खिले हुए दो पलाश-वृक्षोंकी भाँति अ सुशोभित होने लगे ॥

ततः सात्यकिमभ्येत्य निस्त्रिंशवरधारिणम्।
भीमसेनस्त्वरन् राजन् रथमारोपयत् तदा ॥ ३०

राजन् ! तदनन्तर उत्तम खड्ग धारण करनेवाले सात्य के पास पहुँचकर भीमसेनने उस समय तुरंत उन्हें रथपर बिठा लिया ॥ ३० ॥

तवापि तनयो राजन् भूरिश्रवसमाहवे।
आरोपयद् रथं तूर्णं पश्यतां सर्वधन्विनाम् ॥ ३१

महाराज ! इसी प्रकार आपके पुत्र दुर्योधनने भी यु स्थलमें समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते भूरिश्रवाको तुरंत अ रथपर चढ़ा लिया ॥ ३१ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने रणे भीष्मं महारथम्।
अयोधयन्त संरब्धाः पाण्डवा भरतर्षभ ॥ ३२

भरतश्रेष्ठ ! उस समय क्रोधमें भरे हुए पाण्डव उस युद्ध महारथी भीष्मके साथ युद्ध करने लगे ॥ ३२ ॥

लोहितायति चादित्ये त्वरमाणो धनंजयः।
पञ्चविंशतिसाहस्रान् निजघान महारथान् ॥ ३३

जब सूर्य अस्ताचलके पास पहुँचकर लाल होने ल उस समय अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ बाण-वर्षा कर पचीस हजार महारथियोंको मार डाला ॥ ३३ ॥

ते हि दुर्योधनादिष्टास्तदा पार्थनिबर्हणे।
सम्प्राप्यैव गता नाशं शलभा इव पावकम् ॥ ३४

वे सब-के-सब दुर्योधनकी आज्ञासे अर्जुनका संहार करने लिये आये थे । परंतु वे उस समय आगमें गिरे हु पतंगोंकी भाँति उनके पास आते ही नष्ट हो गये ॥ ३४ ॥

ततो मत्स्याः केकयाश्च धनुर्वेदविशारदाः।
परिवव्रुस्तदा पार्थं सहपुत्रं महारथम् ॥ ३

तदनन्तर धनुर्विद्यामें प्रवीण मत्स्य और केकयदेशके वीर भिमन्यु आदि पुत्रोंसे युक्त महारथी अर्जुनको घेरकर रोंसे युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ३५ ॥

स्मिन्नेव काले तु सूर्येऽस्तमुपगच्छति ।
र्वेषां चैव सैन्यानां प्रमोहः समजायत ॥ ३६ ॥

इसी समय सूर्य अस्ताचलको चले गये। तब आपके समस्त निकोंपर मोह छा गया ॥ ३६ ॥

वहारं ततश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव ।
ध्याकाले महाराज सैन्यानां श्रान्तवाहनः ॥ ३७ ॥

महाराज! तब आपके ताऊ देवव्रतने संध्याके समय अपनी सेनाको पीछे हटा लिया। उनके वाहन बहुत थक गये थे ॥ ३७ ॥

पाण्डवानां कुरूणां च परस्परसमागमे ।
ते सेने भृशसंविग्ने ययतुः स्वं निवेशनम् ॥ ३८ ॥

पाण्डवों और कौरवोंके पारस्परिक संघर्षमें दोनों ही सेनाएँ अत्यन्त उद्विग्न हो उठी थीं। अतः वे अपनी-अपनी छावनीको चली गयीं ॥ ३८ ॥

ततः स्वशिविरं गत्वा न्यविशंस्तत्र भारत ।
पाण्डवाः सृंजयैः सार्धं कुरवश्च यथाविधि ॥ ३९ ॥

भारत! तदनन्तर सृंजयोंसहित पाण्डव, और कौरव अपने शिविरमें जाकर वहाँ विधिपूर्वक विश्राम करने लगे ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसावहारे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

स प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिवसके युद्धकी समाप्तिविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

* * *

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

छठे दिनके युद्धका आरम्भ, पाण्डव तथा कौरवसेनाका क्रमशः मकरव्यूह एवं क्रौञ्चव्यूह बनाकर युद्धमें प्रवृत्त होना

संजय उवाच

श्रम्य ततो राजन् सहिताः कुरुपाण्डवाः ।
तीतायां तु शर्वर्यां पुनर्युद्धाय निर्ययुः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! रातको विश्राम करनेके न्तर जब वह रात बीत गयी, तब कौरव और पाण्डव युद्धके लिये साथ-साथ निकले ॥ १ ॥

शब्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
ज्जतां रथमुख्यानां कल्प्यतां चैव दन्तिनाम् ॥ २ ॥
ह्यतां पदातीनां हयानां चैव भारत ।
दुन्दुभिनादश्च तुमुलः सर्वतोऽभवत् ॥ ३ ॥

भारत! उस समय वहाँ आपके और पाण्डव पक्षके निकोंमें बड़ा कोलाहल मचा। कुछ लोग श्रेष्ठ रथोंको रहे थे, कुछ लोग हाथियोंको सुसज्जित करते हीं पैदल सैनिक और घोड़े कवच बाँधकर स्त्र धारण कर तैयार किये जा रहे थे। शङ्खों दुन्दुभियोंकी ध्वनि बड़े जोर-जोरसे हो रही थी। इन सम्मिलित शब्द सब ओर गूँज उठा था ॥ २–३ ॥

युधिष्ठिरो राजा धृष्टद्युम्नमभाषत ।
व्यूह महाबाहो मकरं शत्रुनाशनम् ॥ ४ ॥

नन्तर राजा युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्नसे कहा—'महाबाहो! नाशक मकरव्यूहकी रचना करो' ॥ ४ ॥

मुक्तस्तु पार्थेन धृष्टद्युम्नो महारथः ।
दिदेश महाराज रथिनो रथिनां वरः ॥ ५ ॥

महाराज! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ महारथी धृष्टद्युम्नने अपने समस्त रथियोंको मकरव्यूह बनानेके लिये आज्ञा दे दी ॥ ५ ॥

शिरोऽभूद् द्रुपदस्तस्य पाण्डवश्च धनंजयः ।
चक्षुषी सहदेवश्च नकुलश्च महारथः ॥ ६ ॥

उसके मस्तकके स्थानपर राजा द्रुपद तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन खड़े हुए। महारथी नकुल और सहदेव नेत्रोंके स्थानमें स्थित हुए ॥ ६ ॥

तुण्डमासीन्महाराज भीमसेनो महाबलः ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ ७ ॥
सात्यकिर्धर्मराजश्च व्यूहग्रीवां समास्थिताः ।

महाराज! महाबली भीमसेन उसके मुखकी जगह खड़े हुए। सुभद्राकुमार अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँच पुत्र, राक्षस घटोत्कच, सात्यकि और धर्मराज युधिष्ठिर—ये उस मकरव्यूहके ग्रीवाभागमें स्थित हुए ॥ ७½ ॥

पृष्ठमासीन्महाराज विराटो वाहिनीपतिः ॥ ८ ॥
धृष्टद्युम्नेन सहितो महत्या सेनयावृतः ।

नरेश्वर! सेनापति विराट विशाल सेनासे घिरकर धृष्टद्युम्नके साथ उस व्यूहके पृष्ठ भागमें खड़े हुए ॥ ८½ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च वामपार्श्वं समाश्रिताः ॥ ९ ॥
धृष्टकेतुर्नरव्याघ्रश्चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थितौ व्यूहस्य रक्षणे ॥ १० ॥

पाँच भाई केकयराजकुमार उनके वामपार्श्वमें खड़े थे। नरश्रेष्ठ धृष्टकेतु और पराक्रमी चेकितान—ये व्यूहके दाहिने भागमें स्थित होकर उसकी रक्षा करते थे ॥ ९-१० ॥

पादयोस्तु महाराज स्थितः श्रीमान् महारथः।
कुन्तिभोजः शतानीको महत्या सेनया वृतः ॥ ११ ॥

महाराज ! उसके दोनों पैरोंकी जगह महारथी श्रीमान् कुन्तिभोज और विशाल सेनासहित शतानीक खड़े थे ॥ ११ ॥

शिखण्डी तु महेष्वासः सोमकैः संवृतो बली।
इरावांश्च ततः पुच्छे मकरस्य व्यवस्थितौ ॥ १२ ॥

सोमकोंसे घिरा हुआ महाधनुर्धर शिखण्डी और बलवान् इरावान्—ये दोनों उस मकरव्यूहके पुच्छभागमें खड़े थे ॥

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः।
सूर्योदये महाराज पुनर्युद्धाय दंशिताः ॥ १३ ॥

महाराज ! भरतनन्दन ! इस प्रकार उस महान् मकरव्यूहकी रचना करके पाण्डव कवच बाँधकर सूर्योदयके समय पुनः युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ १३ ॥

कौरवानभ्ययुस्तूर्णं हस्त्यश्वरथपत्तिभिः।
समुच्छ्रितैर्ध्वजैश्छत्रैः शस्त्रैश्च विमलैः शितैः ॥ १४ ॥

ऊँची-ऊँची ध्वजाओं, छत्रों तथा चमकीले और तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंकी चतुरङ्गिणी सेनाके साथ पाण्डवोंने कौरवोंपर शीघ्रतापूर्वक आक्रमण किया ॥ १४ ॥

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं पिता देवव्रतस्तव।
क्रौञ्चेन महता राजन् प्रत्यव्यूहत वाहिनीम् ॥ १५ ॥

राजन् ! तब आपके ताऊ देवव्रतने पाण्डवोंका वह व्यूह देखकर उसके मुकाबिलेमें अपनी सेनाको महान् क्रौञ्च-व्यूहके रूपमें संगठित किया ॥ १५ ॥

तस्य तुण्डे महेष्वासो भारद्वाजो व्यरोचत।
अश्वत्थामा कृपश्चैव चक्षुरासीन्नरेश्वर ॥ १६ ॥

उसकी चोंचके स्थानमें महाधनुर्धर द्रोणाचार्य सुशोभित हुए। नरेश्वर ! अश्वत्थामा और कृपाचार्य नेत्रोंके स्थानमें खड़े हुए ॥ १६ ॥

कृतवर्मा तु सहितः काम्बोजवरबाह्लिकैः।
शिरस्यासीन्नरश्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १७ ॥

काम्बोज और बाह्लिकदेशके उत्तम सैनिकोंके साथ समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ नरप्रवर कृतवर्मा व्यूहके शिरोभागमें स्थित हुए॥

ग्रीवायां शूरसेनश्च तव पुत्रश्च मारिष।
दुर्योधनो महाराज राजभिर्बहुभिर्वृतः ॥ १८ ॥

आर्य ! महाराज ! राजा शूरसेन तथा आपका पुत्र दुर्योधन—ये दोनों बहुत-से राजाओंके साथ क्रौञ्च ग्रीवाभागमें स्थित हुए ॥ १८ ॥

प्राग्ज्योतिषस्तु सहितो मद्रसौवीरकेकयैः।
उरस्यभून्नरश्रेष्ठ महत्या सेनया वृतः ॥ १

नरश्रेष्ठ ! मद्र, सौवीर और केकय योद्धाओंके विशाल सेनासे घिरे हुए प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त व्यूहके वक्षःस्थलमें स्थित हुए ॥ १९ ॥

स्वसेनया च सहितः सुशर्मा प्रस्थलाधिपः।
वामपक्षं समाश्रित्य दंशितः समवस्थितः ॥ २

प्रस्थलाधिपति (त्रिगर्तराज) सुशर्मा कवच धारण अपनी सेनाके साथ व्यूहके वाम-पक्षका आश्रय लेकर खड़े

तुषारा यवनाश्चैव शकाश्च सह चूचुपैः।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थिता व्यूहस्य भारत ॥ २

भारत ! तुषार, यवन, शक और चूचुपदेशके व्यूहके दाहिने पक्षका आश्रय लेकर स्थित हुए ॥ २१ ॥

श्रुतायुश्च शतायुश्च सौमदत्तिश्च मारिष।
व्यूहस्य जघने तस्थू रक्षमाणाः परस्परम् ॥ २

मारिष ! श्रुतायु, शतायु तथा सोमदत्तकुमार भूरिश्र- ये परस्पर एक दूसरेकी रक्षा करते हुए व्यूहके जघनप्रदे स्थित हुए ॥ २२ ॥

ततो युद्धाय संजग्मुः पाण्डवाः कौरवैः सह।
सूर्योदये महाराज ततो युद्धमभून्महत् ॥ २

महाराज ! तत्पश्चात् सूर्योदय-कालमें पाण्डवोंने कौर साथ युद्धके लिये उनकी सेनापर आक्रमण किया; फिर बड़ा भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ २३ ॥

प्रतीयू रथिनो नागा नागांश्च रथिनो ययुः।
हयारोहान् रथारोहा रथिनश्चापि सादिनः ॥ २४

रथियोंकी ओर हाथी और हाथियोंकी ओर रथी घुड़सवारोंपर रथारोही तथा रथारोहियोंपर घुड़सवार चढ़

सादिनश्च हयान् राजन् रथिनश्च महारणे।
हस्त्यारोहान् हयारोहा रथिनः सादिनस्तथा ॥ २५

राजन् ! उस महायुद्धमें घुड़सवार योद्धा घुड़सवारों रथियोंपर भी चढ़ दौड़े। इसी प्रकार अश्वारोही हाथीसवारों तथा रथियोंपर भी टूट पड़े ॥ २५ ॥

रथिनः पत्तिभिः सार्धं सादिनश्चापि पत्तिभिः।
अन्योन्यं समरे राजन् प्रत्यधावन्नमर्षिताः ॥ २६

रथी और घुड़सवार दोनों ही पैदल सेनाओंपर आक्र करने लगे। राजन् ! इस प्रकार अमर्षमें भरे हुए वे सैनिक एक दूसरेपर धावा करने लगे ॥ २६ ॥

CC-0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भीमसेनार्जुनयमैर्गुप्ता चान्यैर्महारथैः ।
शुशुभे पाण्डवी सेना नक्षत्रैरिव शर्वरी ॥ २७ ॥

भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा अन्य महारथियोंसे सुरक्षित हुई पाण्डव-सेना नक्षत्रोंसे रात्रिकी भाँति सुशोभित हो रही थी ॥ २७ ॥

तथा भीष्मकृपद्रोणशल्यदुर्योधनादिभिः ।
तथापि च बभौ सेना ग्रहैर्द्यौरिव संवृता ॥ २८ ॥

इसी प्रकार भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य और दुर्योधन आदिसे घिरी हुई आपकी सेना ग्रहोंसे आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ॥ २८ ॥

भीमसेनस्तु कौन्तेयो द्रोणं दृष्ट्वा पराक्रमी ।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैर्भारद्वाजस्य वाहिनीम् ॥ २९ ॥

पराक्रमी कुन्तीकुमार भीमसेनने द्रोणाचार्यको देखकर वेगशाली अश्वोंद्वारा द्रोणकी सेनापर धावा किया ॥ २९ ॥

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धो भीमं नवभिरायसैः ।
विव्याध समरश्लाघी मर्माण्युद्दिश्य वीर्यवान् ॥ ३० ॥

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले पराक्रमी द्रोणाचार्यने रणभूमिमें कुपित हो भीमके मर्मस्थानोंको लोहेके नौ बाणोंसे घायल कर दिया।

दृढाहतस्ततो भीमो भारद्वाजस्य संयुगे ।
सारथिं प्रेषयामास यमस्य सदनं प्रति ॥ ३१ ॥

तब युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा अत्यन्त आहत होकर भीमसेनने उनके सारथिको यमलोक भेज दिया ॥ ३१ ॥

स संगृह्य स्वयं वाहान् भारद्वाजः प्रतापवान् ।
व्यधमत् पाण्डवीं सेनां तूलराशिमिवानलः ॥ ३२ ॥

तब प्रतापी द्रोणाचार्य स्वयं ही घोड़ोंकी बागडोर सँभालते हुए पाण्डव-सेनाका उसी प्रकार संहार करने लगे, जैसे आग रुईके ढेरको भस्म कर डालती है ॥ ३२ ॥

ते वध्यमाना द्रोणेन भीष्मेण च नरोत्तमाः ।
सृञ्जयाः केकयैः सार्धं पलायनपराऽभवन् ॥ ३३ ॥

वे नरश्रेष्ठ सृंजय और केकय द्रोणाचार्य तथा भीष्मकी मार खाकर रणभूमिसे भागने लगे ॥ ३३ ॥

तथैव तावकं सैन्यं भीमार्जुनपरिक्षतम् ।
मुह्यते तत्र तत्रैव समदेव वराङ्गना ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार भीम और अर्जुनके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुई आपकी सेना मतवाली स्त्रीकी भाँति जहाँ-तहाँ मूर्छित होने लगी ॥

अभिद्येतां ततो व्यूहौ तस्मिन् वीरवरक्षये ।
आसीद् व्यतिकरो घोरस्तव तेषां च भारत ॥ ३५ ॥

भारत ! बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाले उस युद्धमें दोनों सेनाओंके व्यूह टूट गये और आपके तथा पाण्डवोंके सैनिकोंका भयंकर सम्मिश्रण हो गया ॥ ३५ ॥

तदद्भुतमपश्याम तावकानां परैः सह ।
एकायनगताः सर्वे यदयुध्यन्त भारत ॥ ३६ ॥

भरतनन्दन ! हमने आपके पुत्रोंका शत्रुओंके साथ अद्भुत पराक्रम देखा था । वे सब-के-सब एक पंक्तिमें खड़े होकर युद्ध कर रहे थे ॥ ३६ ॥

प्रतिसंवार्य चास्त्राणि तेऽन्योन्यस्य विशाम्पते ।
युयुधुः पाण्डवाश्चैव कौरवाश्च महाबलाः ॥ ३७ ॥

प्रजानाथ ! महाबली कौरव तथा पाण्डव एक दूसरेके अस्त्र-शस्त्रोंका निवारण करते हुए जूझ रहे थे ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि षष्ठदिवसयुद्धारम्भे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें छठे दिनके युद्धका आरम्भविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी चिन्ता

धृतराष्ट्र उवाच

एवं बहुगुणं सैन्यमेवं बहुविधं पुरा ।
व्यूढमेवं यथाशास्त्रममोघं चैव संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! इस प्रकार हमारी सेना अनेक गुणोंसे सम्पन्न है । अनेक अङ्गोंसे युक्त और अनेक प्रकारसे संगठित है तथा शास्त्रीय विधिसे उसकी व्यूहरचना की गयी है । अतः वह अमोघ (विजय पानेमें विफल न होनेवाली) है ॥ १ ॥

हृष्टमस्माकमत्यन्तमभिकामं च नः सदा ।
प्रह्वमव्यसनोपेतं पुरस्ताद् दृष्टविक्रमम् ॥ २ ॥

हमारी यह सेना हमलोगोंपर सदा प्रसन्न और अनुरक्त रहनेवाली है । हमारे प्रति सर्वदा विनीतभाव रखती आयी है । यह किसी भी व्यसनमें नहीं फँसी है । पूर्वकालमें इसका पराक्रम देखा जा चुका है ॥ २ ॥

नातिवृद्धमबालं च न कृशं न च पीवरम् ।
लघुवृत्तायतप्रायं सारगात्रमनामयम् ॥ ३ ॥

इसमें न कोई अत्यन्त बूढ़ा है, न बालक है, न अत्यन्त दुबला है और न अत्यन्त मोटा ही है। इसमें शीघ्र कार्य करनेवाले, प्रायः ऊँचे कदके लोग हैं। इस सेनाका प्रत्येक सैनिक सारवान् योद्धा और नीरोग है ॥ ३ ॥

आत्तसंनाहशस्त्रं च बहुशस्त्रपरिग्रहम्।
असियुद्धे नियुद्धे च गदायुद्धे च कोविदम् ॥ ४ ॥

यहाँ सबने कवच एवं अस्त्र-शस्त्र धारण कर रक्खा है। अनेक प्रकारके बहुसंख्यक शस्त्रोंका संग्रह किया गया है। यहाँका एक-एक योद्धा खड्गयुद्ध, मल्लयुद्ध और गदायुद्धमें कुशल है ॥ ४ ॥

प्रासर्ष्टितोमरेष्वाजौ परिघेष्वायसेषु च।
भिन्दिपालेषु शक्तीषु मुसलेषु च सर्वशः ॥ ५ ॥
कम्पनेषु च चापेषु कणपेषु च सर्वशः।
क्षेपणीयेषु चित्रेषु मुष्टियुद्धेषु च क्षमम् ॥ ६ ॥

ये सैनिक प्रास, ऋष्टि, तोमर, लोहमय परिघ, भिन्दिपाल, शक्ति, मुसल, कम्पन, चाप तथा कणप आदि दूसरोंपर चलाने योग्य विचित्र अस्त्रोंका युद्धमें प्रयोग करनेकी कलामें कुशल तथा मुष्टियुद्धमें भी सब प्रकारसे समर्थ हैं ५-६

अपरोक्षं च विद्यासु व्यायामे च कृतश्रमम्।
शस्त्रग्रहणविद्यासु सर्वासु परिनिष्ठितम् ॥ ७ ॥

हमारी इस सेनाको धनुर्वेदका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है। इसके सैनिकोंने व्यायाम (अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यास) में भी अधिक परिश्रम किया है। ये शस्त्रग्रहणसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी विद्याओंमें पारंगत हैं ॥ ७ ॥

आरोहे पर्यवस्कन्दे सरणे सान्तरप्लुते।
सम्यक् प्रहरणे याने व्यपयाने च कोविदम् ॥ ८ ॥

ये हाथी, घोड़े आदि सवारियोंपर चढ़ने, उतरने, आगे बढ़ने, बीचमें ही कूद पड़ने, अच्छी तरह प्रहार करने, चढ़ाई करने और पीछे हटनेमें भी प्रवीण हैं ॥ ८ ॥

नागाश्वरथयानेषु बहुशः सुपरीक्षितम्।
परीक्ष्य च यथान्यायं वेतनेनोपपादितम् ॥ ९ ॥

हाथी, घोड़े, रथ आदिकी सवारियोंद्वारा रणयात्रा करनेमें इस सेनाकी अनेक प्रकार परीक्षा की जा चुकी है। परीक्षा करके प्रत्येक सैनिकको उसकी योग्यताके अनुकूल यथोचित वेतन दे दिया गया है ॥ ९ ॥

न गोष्ठ्या नोपकारेण न च बन्धुनिमित्ततः।
न सौहृदबलैर्वापि नाकुलीनपरिग्रहैः ॥ १० ॥

इनमेंसे किसीको मित्रोंकी गोष्ठीसे लाकर, सामान्य उपकार करके, भाई-बन्धु होनेके कारण, सौहार्दवश अथवा बलप्रयोग करके सेनामें सम्मिलित नहीं किया गया है। जो कुलीन नहीं हैं, ऐसे लोगोंका भी इस सेनामें संग्रह नहीं हुआ है ॥ १० ॥

समृद्धजनमार्यं च तुष्टसम्बन्धिबान्धवम्।
कृतोपकारभूयिष्ठं यशस्वि च मनस्वि च ॥ ११ ॥

हमारी सेनामें जो लोग हैं, वे सब समृद्धिशाली और श्रेष्ठ हैं। उनके सगे-सम्बन्धी, भाई-बन्धु भी संतुष्ट हैं। इन सबपर हमारी ओरसे विशेष उपकार किया गया है। वे सभी यशस्वी और मनस्वी हैं ॥ ११ ॥

स्वजनैस्तु नरैर्मुख्यैर्बहुशो दृष्टकर्मभिः।
लोकपालोपमैस्तात पालितं लोकविश्रुतम् ॥ १२ ॥

तात ! जिनके कार्य और व्यवहारको कई बार देखा गया है, ऐसे मुख्य-मुख्य स्वजनोंद्वारा, जो लोकपालके समान पराक्रमी हैं, इस सेनाका पालन-पोषण होता है। यह सम्पूर्ण जगत्में विख्यात है ॥ १२ ॥

बहुभिः क्षत्रियैर्गुप्तं पृथिव्यां लोकसम्मतैः।
अस्मानभिगतैः कामात् सबलैः सपदानुगैः ॥ १३ ॥

जो अपनी वीरताके लिये भूमण्डलमें विख्यात तथा लोकमें सम्मानित हैं, ऐसे बहुत-से क्षत्रिय अपनी इच्छासे अपनी सेना और सेवकोंके साथ हमारे पास आये हैं, उनके द्वारा यह कौरवसेना सुरक्षित है ॥ १३ ॥

महोदधिमिवापूर्णमापगाभिः समन्ततः।
अपक्षैः पक्षिसंकाशै रथैर्नागैश्च संवृतम् ॥ १४ ॥

हमारी यह सेना महासागरके समान सब ओरसे परिपूर्ण है। इसमें बिना पंखके ही पक्षियोंके समान तीव्र गतिसे चलनेवाले रथ और हाथी इस प्रकार आकर मिलते हैं, जैसे समुद्रमें सब ओरसे नदियाँ आकर गिरती हैं ॥ १४ ॥

नानायोधजलं भीमं वाहनोर्मितरङ्गिणम्।
क्षेपण्यसिगदाशक्तिशरप्राससमाकुलम् ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके योद्धा ही इस सैन्यसागरके जल हैं। वाहन ही उसमें उठती हुई छोटी-बड़ी तरंगें हैं। इसमें क्षेपणी, खड्ग, गदा, शक्ति, बाण और प्रास आदि अस्त्र-शस्त्र जल-जन्तुओंके समान भरे पड़े हैं ॥ १५ ॥

ध्वजभूषणसम्बाधं रत्नपट्टसुसंचितम्।
परिधावद्भिरश्वैश्च वायुवेगविकम्पितम् ॥ १६ ॥
अपारमिव गर्जन्तं सागरप्रतिमं महत्।

ध्वज और आभूषणोंसे भरी हुई यह सेना रत्नजटित पताकाओंसे व्याप्त है। दौड़ते हुए घोड़ोंसे जो इस सेनाका चञ्चल होना है, वही वायुवेगसे इस समुद्रका कम्पन है। सागरसदृश यह विशाल सेना देखनेमें अपार है और निरन्तर गर्जन करती रहती है ॥ १६½ ॥

द्रोणभीष्माभिसंगुप्तं गुप्तं च कृतवर्मणा ॥ १७ ॥
कृपदुःशासनाभ्यां च जयद्रथमुखैस्तथा ।
भगदत्तविकर्णाभ्यां द्रौणिसौबलबाह्लिकैः ॥ १८ ॥
गुप्तं प्रवीरैर्लोकैश्च सारवद्भिर्महात्मभिः ।
यदहन्यत संग्रामे दैवमत्र पुरातनम् ॥ १९ ॥

द्रोणाचार्य, भीष्म, कृतवर्मा, कृपाचार्य, दुःशासन, द्रथ, भगदत्त, विकर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि तथा बाह्लिक दि प्रमुख वीरों तथा अन्य शक्तिशाली महामनस्वी लोगों-रा मेरी सेना सदा सुरक्षित रहती है। ऐसी सेना भी यदि द्धमें मारी गयी तो इसमें हमलोगोंका पुरातन प्रारब्ध कारण है ॥ १७–१९ ॥

दृशं समुद्योगं दृष्टवन्तो हि मानुषाः ।
षयो वा महाभागाः पुराणा भुवि संजय ॥ २० ॥

संजय ! इस भूतलपर इतनी बड़ी सेनाका जमाव मनुष्योंने नहीं देखा होगा अथवा प्राचीन महाभाग ऋषियोंने नहीं देखा होगा ॥ २० ॥

शोऽपि बलौघस्तु संयुक्तः शस्त्रसम्पदा ।
न्यते यत्र संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ॥ २१ ॥

इतना बड़ा सैन्यसमुदाय शस्त्रसम्पत्तिसे संयुक्त होनेपर दि संग्राममें विनष्ट हो रहा है, तो इसमें भाग्यके सिवा क्या कारण हो सकता है ? ॥ २१ ॥

परीतमिदं सर्वं प्रतिभाति हि संजय ।
दृशं बलं घोरं पाण्डवान्नातरद् रणे ॥ २२ ॥

संजय ! यह सब कुछ मुझे विपरीत जान पड़ता है कि ऐसा भयंकर सैन्यसमूह भी वहाँ युद्धमें पाण्डवोंसे पार नहीं पा सका ॥ २२ ॥

पाण्डवार्थाय नियतं देवास्तत्र समागताः ।
युध्यन्ते मामकं सैन्यं यथावध्यत संजय ॥ २३ ॥

संजय ! निश्चय ही पाण्डवोंके लिये देवता आकर मेरी सेनाके साथ युद्ध करते हैं, तभी तो वह प्रतिदिन मारी जा रही है ॥ २३ ॥

उक्तो हि विदुरेणाहं हितं पथ्यं च नित्यशः ।
न च जग्राह तन्मन्दः पुत्रो दुर्योधनो मम ॥ २४ ॥
तस्य मन्ये मतिः पूर्वं सर्वज्ञस्य महात्मनः ।
आसीद् यथागतं तात येन दृष्टमिदं पुरा ॥ २५ ॥

विदुरने नित्य ही हित और लाभकी बातें बतायीं; परंतु मेरे मूर्ख पुत्र दुर्योधनने नहीं माना। तात ! मैं समझता हूँ, महात्मा विदुर सर्वज्ञ हैं। इसीलिये पहले ही उनकी बुद्धिमें ये सब बातें आ गयी थीं। आज जो कुछ प्राप्त हुआ है, यह पहले ही उनकी दृष्टिमें आ गया था ॥ २४-२५ ॥

अथवा भाव्यमेवं हि संजयैतेन सर्वथा ।
पुरा धात्रा यथा सृष्टं तत् तथा नैतदन्यथा ॥ २६ ॥

संजय ! अथवा यह सब प्रकारसे ऐसा ही होनेवाला था। विधाताने जो पहलेसे रच रक्खा है, वह उसी रूपमें होता है, उसे कोई बदल नहीं सकता ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्तायां षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें धृतराष्ट्रकी चिन्ताविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका पराक्रम

संजय उवाच

त्मदोषात् त्वया राजन् प्राप्तं व्यसनमीदृशम् ।
हि दुर्योधनस्तानि पश्यते भरतर्षभ ॥ १ ॥
त्वं दृष्टवान् राजन् धर्मसंकरकारिते ।
दोषात् पुरा वृत्तं द्यूतमेव विशाम्पते ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपने अपने ही दोषसे संकट प्राप्त किया है। भरतश्रेष्ठ ! जिन धर्म और अधर्मके श्रणसे उत्पन्न दोषोंको आप देखते थे, उन्हें दुर्योधन देख सका था। प्रजानाथ ! आपके अपराधसे ही पहले क्रीडाकी घटना घटी थी ॥ १-२ ॥

दोषेण युद्धं च प्रवृत्तं सह पाण्डवैः ।
वाद्य फलं भुङ्क्ष्व कृत्वा किल्बिषमात्मना ॥ ३ ॥

तथा आपके ही दोषसे आज पाण्डवोंके साथ युद्ध आरम्भ हुआ। आपने स्वयं ही जो पाप किया है, उसका फल आज आप ही भोग रहे हैं ॥ ३ ॥

आत्मनैव कृतं कर्म आत्मनैवोपभुज्यते ।
इह च प्रेत्य वा राजंस्त्वया प्राप्तं यथातथम् ॥ ४ ॥

राजन् ! इहलोक अथवा परलोकमें अपने किये हुए कर्मका फल अपने आपको ही भोगना पड़ता है; अतः आपको जैसेका तैसा प्राप्त हुआ है ॥ ४ ॥

तस्माद् राजन् स्थिरो भूत्वा प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
शृणु युद्धं यथावृत्तं शंसतो मे नराधिप ॥ ५ ॥

राजन् ! नरेश्वर ! इस महान् संकटको पाकर भी स्थिरतापूर्वक युद्धका यथावत् वृत्तान्त जैसा मैं बता रहा हूँ सुनिये ॥

भीमसेनः सुनिशितैर्बाणैर्भित्त्वा महाचमूम् ।
आससाद ततो वीरः सर्वान् दुर्योधनानुजान् ॥ ६ ॥

वीर भीमसेनने तीखे बाणोंसे आपकी विशाल सेनाको विदीर्ण करके दुर्योधनके सभी भाइयोंपर आक्रमण किया ।६।

दुःशासनं दुर्विषहं दुःसहं दुर्मदं जयम् ।
जयत्सेनं विकर्णं च चित्रसेनं सुदर्शनम् ॥ ७ ॥
चारुचित्रं सुवर्माणं दुष्कर्णं कर्णमेव च ।
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् समीपस्थान् महारथान् ॥ ८ ॥
धार्तराष्ट्रान् सुसंक्रुद्धान् दृष्ट्वा भीमो महारथः ।
भीष्मेण समरे गुप्तां प्रविवेश महाचमूम् ॥ ९ ॥

दुःशासन, दुर्विषह, दुःसह, दुर्मद, जय, जयत्सेन, विकर्ण, चित्रसेन, सुदर्शन, चारुचित्र, सुवर्मा, दुष्कर्ण तथा कर्ण—ये तथा और भी बहुत-से आपके जो महारथी पुत्र समीप खड़े थे, उन्हें कुपित देखकर महारथी भीमसेनने समरभूमिमें भीष्मके द्वारा सुरक्षित विशाल कौरवसेनामें प्रवेश किया ।७-९।

अथालोक्य प्रविष्टं तमूचुस्ते सर्व एव तु ।
जीवग्राहं निगृह्णीमो वयमेनं नराधिपाः ॥ १० ॥

भीमसेनको सेनाके भीतर प्रविष्ट हुआ देख उन सब नरेशोंने आपसमें कहा कि हमलोग इन्हें जीवित ही पकड़कर बंदी बना लें ॥ १० ॥

स तैः परिवृतः पार्थो भ्रातृभिः कृतनिश्चयैः ।
प्रजासंहरणे सूर्यः क्रूरैरिव महाग्रहैः ॥ ११ ॥

ऐसा निश्चय करके उन सब भाइयोंने कुन्तीकुमार भीमसेनको घेर लिया, मानो प्रजाके संहारकालमें सूर्यदेवको बड़े-बड़े क्रूर ग्रहोंने घेर रक्खा हो ॥ ११ ॥

सम्प्राप्य मध्यं सैन्यस्य न भीः पाण्डवमाविशत् ।
यथा देवासुरे युद्धे महेन्द्रं प्राप्य दानवान् ॥ १२ ॥

कौरवसेनाके भीतर पहुँच जानेपर भी पाण्डुनन्दन भीमसेनको तनिक भी भय नहीं हुआ, जैसे देवासुरसंग्राममें दानवोंकी सेनामें घुसनेपर देवराज इन्द्रको भयका स्पर्श नहीं होता है ॥ १२ ॥

ततः शतसहस्राणि रथिनां सर्वशः प्रभो ।
उद्यतानि शरैस्तीव्रैस्तमेकं परिवव्रिरे ॥ १३ ॥

प्रभो ! तदनन्तर एकमात्र भीमसेनको उनपर तीव्र बाणोंकी वर्षा करते हुए सैकड़ों-हजारों रथियोंने युद्धके लिये उद्यत होकर सब ओरसे घेर लिया ॥ १३ ॥

स तेषां प्रवरान् योधान् हस्त्यश्वरथसादिनः ।
जघान समरे शूरो धार्तराष्ट्राननचिन्तयन् ॥ १४ ॥

शूरवीर भीमसेन आपके पुत्रोंकी तनिक भी परवा न करते हुए हाथी, घोड़े एवं रथपर बैठकर युद्ध करनेवाले कौरवोंके मुख्य-मुख्य योद्धाओंको समरभूमिमें मारने लगे ॥ १४ ॥

तेषां व्यवसितं ज्ञात्वा भीमसेनो जिघृक्षताम् ।
समस्तानां वधे राजन् मतिं चक्रे महामनाः ॥ १५ ॥

राजन् ! उन्हें कैद करनेकी इच्छावाले क्षत्रियोंके निश्चयको जानकर महामना भीमसेनने उन सबके वध विचार कर लिया ॥ १५ ॥

ततो रथं समुत्सृज्य गदामादाय पाण्डवः ।
जघान धार्तराष्ट्राणां तं बलौघं महार्णवम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर पाण्डुनन्दन भीमसेन हाथमें गदा रथको त्यागकर उस विशाल सेनामें घुसकर उस सागरतुल्य सैन्यसमुदायका विनाश करने लगे ॥ १६ ॥

(गदया भीमसेनेन ताडिता वारणोत्तमाः ।
भिन्नकुम्भा महाकाया भिन्नपृष्ठास्तथैव च ॥
भिन्नगात्राः सहारोहाः शेरते पर्वता इव ।

भीमसेनकी गदाके आघातसे बड़े-बड़े विशालकाय गजराजोंके कुम्भस्थल फट गये, पृष्ठभाग विदीर्ण हो गये तथा उनका एक-एक अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गया और उस अवस्थामें वे सवारोंसहित धराशायी हो गये, मानो पर्वत ढह गये हों ॥

रथाश्च भग्नास्तिलशः सयोधाः शतशो रणे ॥
अश्वाश्च सादिनश्चैव पदातैः सह भारत ।

भारत ! उन्होंने उस रणक्षेत्रमें सैकड़ों रथोंको उनके सवारोंसहित तिल-तिल करके तोड़ डाला । घोड़ों, घुड़सवारों तथा पैदलोंकी भी धज्जियाँ उड़ा दीं ॥

तत्राद्भुतमपश्याम भीमसेनस्य विक्रमम् ॥
यदेकः समरे राजन् बहुभिः समयोधयत् ।
अन्तकाले प्रजाः सर्वा दण्डपाणिरिवान्तकः ॥)

राजन् ! उस युद्धमें हमलोगोंने भीमसेनका अद्भुत पराक्रम देखा, जैसे प्रलयकालमें यमराज हाथमें दण्ड लिये समस्त प्रजाका संहार करते हैं, उसी प्रकार वे अकेले आपके बहुसंख्यक योद्धाओंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥

भीमसेने प्रविष्टे तु धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रोणमुत्सृज्य तरसा प्रययौ यत्र सौबलः ॥ १७ ॥

भीमसेनके कौरवसेनामें प्रवेश करनेपर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न भी द्रोणाचार्यको छोड़कर बड़े वेगसे उस स्थानपर गये, जहाँ शकुनि युद्ध कर रहा था ॥ १७ ॥

निवार्य महतीं सेनां तावकानां नरर्षभः ।
आससाद रथं शून्यं भीमसेनस्य संयुगे ॥ १८ ॥

वहाँ आपकी विशाल सेनाको आगे बढ़नेसे रोककर नरश्रेष्ठ धृष्टद्युम्न युद्धस्थलमें भीमसेनके सूने रथके पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

दृष्ट्वा विशोकं समरे भीमसेनस्य सारथिम्।
धृष्टद्युम्नो महाराज दुर्मना गतचेतनः ॥ १९ ॥

महाराज! भीमसेनके सारथि विशोकको समरभूमिमें अकेला खड़ा देख धृष्टद्युम्न मन-ही-मन बहुत दुखी और अचेत हो गये ॥ १९ ॥

अपृच्छद् वाष्पसंरुद्धो निःश्वसन् वाचमीरयन्।
मम प्राणैः प्रियतमः क्व भीम इति दुःखितः ॥ २० ॥

वे लंबी साँस खींचते और आँसू बहाते हुए गद्गदकण्ठसे पूछने लगे—'विशोक! मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे भीमसेन कहाँ हैं?' इतना कहते-कहते वे बहुत दुखी हो गये ॥ २० ॥

विशोकस्तमुवाचेदं धृष्टद्युम्नं कृताञ्जलिः।
संस्थाप्य मामिह बली पाण्डवेयः पराक्रमी ॥ २१ ॥
प्रविष्टो धार्तराष्ट्राणामेतद् बलमहार्णवम्।

तब विशोकने हाथ जोड़कर धृष्टद्युम्नसे कहा—'प्रभो! पराक्रमी और बलवान् पाण्डुनन्दन मुझे यहीं खड़ा करके कौरवोंके इस सैन्यसागरमें घुस गये हैं ॥ २१½ ॥

मामुक्त्वा पुरुषव्याघ्रः प्रीतियुक्तमिदं वचः ॥ २२ ॥
प्रतिपालय मां सूत नियम्याश्वान् मुहूर्तकम्।
यावदेतान् निहन्म्यद्य य इमे मद्वधोद्यताः ॥ २३ ॥

'जाते समय पुरुषसिंह भीमसेनने मुझसे प्रेमपूर्वक यह बात कही कि सूत! तुम दो घड़ीतक इन घोड़ोंको रोककर यहीं मेरी प्रतीक्षा करो। जबतक कि ये जो लोग मेरा वध करनेके लिये उद्यत हैं, इन्हें अभी मार न डालूँ ॥ २२-२३ ॥

ततो दृष्ट्वा प्रधावन्तं गदाहस्तं महाबलम्।
सर्वेषामेव सैन्यानां संहर्षः समजायत ॥ २४ ॥

तदनन्तर गदा हाथमें लिये महाबली भीमसेनको धावा करते देख समस्त सैनिकोंके रोंगटे खड़े हो गये ॥ २४ ॥

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके।
भित्त्वा राजन् महाव्यूहं प्रविवेश वृकोदरः ॥ २५ ॥

'राजन्! उस भयंकर एवं तुमुल युद्धमें भीमसेनने इस महाव्यूहका भेदन करके इसके भीतर प्रवेश किया था' ॥

विशोकस्य वचः श्रुत्वा धृष्टद्युम्नोऽथ पार्षतः।
प्रत्युवाच ततः सूतं रणमध्ये महाबलः ॥ २६ ॥

विशोककी यह बात सुनकर महाबली द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने उस समराङ्गणमें उनके सारथिसे इस प्रकार कहा— ॥ २६ ॥

न हि मे जीवितेनापि विद्यतेऽद्य प्रयोजनम्।
भीमसेनं रणे हित्वा स्नेहमुत्सृज्य पाण्डवैः ॥ २७ ॥

सारथे! युद्धस्थलमें भीमसेनको छोड़कर और पाण्डवोंका स्नेह तोड़कर अब मेरे जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २७ ॥

यदि यामि विना भीमं किं मां क्षत्रं वदिष्यति।
एकायनगते भीमे मयि चावस्थिते युधि ॥ २८ ॥

'भीम एकमात्र युद्धके पथपर गये हैं और मैं भी युद्धस्थलमें उपस्थित हूँ। ऐसी दशामें यदि भीमसेनके बिना ही लौट जाऊँ तो क्षत्रियसमाज मुझे क्या कहेगा? ॥ २८ ॥

अस्वस्ति तस्य कुर्वन्ति देवाः शक्रपुरोगमाः।
यः सहायान् परित्यज्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहम् ॥ २९ ॥

'जो अपने सहायकोंको छोड़कर स्वयं कुशलपूर्वक घरको लौट आता है, उसका इन्द्र आदि देवता अनिष्ट करते हैं ॥

मम भीमः सखा चैव सम्बन्धी च महाबलः।
भक्तोऽस्मान् भक्तिमांश्चाहं तमप्यरिनिषूदनम् ॥ ३० ॥

'महाबली भीम मेरे सखा और सम्बन्धी हैं। वे हम लोगोंके भक्त हैं और मैं भी उन शत्रुसूदन भीमका भक्त हूँ ॥ ३० ॥

सोऽहं तत्र गमिष्यामि यत्र यातो वृकोदरः।
निघ्नन्तं मां रिपून् पश्य दानवानिव वासवम् ॥ ३१ ॥

'अतः मैं भी वहीं जाऊँगा जहाँ भीमसेन गये हैं। देखो जैसे इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार मैं भी शत्रुसेनाका विनाश कर रहा हूँ' ॥ ३१ ॥

एवमुक्त्वा ततो वीरो ययौ मध्येन भारत।
भीमसेनस्य मार्गेषु गदाप्रमथितैर्गजैः ॥ ३२ ॥

भारत! ऐसा कहकर वीरवर धृष्टद्युम्न भीमसेनके बनाये हुए मार्गोंसे कौरवसेनाके भीतर गये। उन मार्गोंपर गदाके मारे हुए हाथी पड़े थे ॥ ३२ ॥

स ददर्श तदा भीमं दहन्तं रिपुवाहिनीम्।
वातो वृक्षानिव बलात् प्रभञ्जन्तं रणे रिपून् ॥ ३३ ॥

उस समय कुछ दूर जाकर धृष्टद्युम्नने शत्रुसेनाको दग्ध करते हुए भीमसेनको देखा। जैसे आँधी वृक्षोंको बलपूर्वक तोड़ देती या उखाड़ डालती है, उसी प्रकार भीमसेन भी रणभूमिमें शत्रुओंका संहार कर रहे थे ॥ ३३ ॥

ते वध्यमानाः समरे रथिनः सादिनस्तथा।
पादाता दन्तिनश्चैव चक्रुरार्तस्वरं महत् ॥ ३४ ॥

समराङ्गणमें भीमसेनके मारे हुए रथी, घुड़सवार, पैदल और सवारोंसहित हाथी बड़े जोरसे आर्तनाद कर रहे थे ॥ ३४ ॥

हाहाकारश्च संजज्ञे तव सैन्यस्य मारिष।
वध्यतो भीमसेनेन कृतिना चित्रयोधिना ॥ ३५ ॥

आर्य! विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले विद्वान् भीमसेनके द्वारा मारी जाती हुई आपकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥ ३५ ॥

ततः कृतास्त्रास्ते सर्वे परिवार्य वृकोदरम्।
अभीताः समवर्तन्त शस्त्रवृष्ट्या परंतप ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! तदनन्तर अस्त्रोंके ज्ञाता समस्त कौरव-सैनिक भीमसेनको सब ओरसे घेरकर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए बिना किसी भयके उनपर चढ़ आये ॥ ३६ ॥

अभिद्रुतं शस्त्रभृतां वरिष्ठं
समन्ततः पाण्डवं लोकवीरः ।
सैन्येन घोरेण सुसंहितेन
दृष्ट्वा बली पार्षतो भीमसेनम् ॥ ३७ ॥
अथोपगच्छच्छरविक्षताङ्गं
पदातिनं क्रोधविषं वमन्तम् ।
आश्वासयन् पार्षतो भीमसेनं
गदाहस्तं कालमिवान्तकाले ॥ ३८ ॥

विश्वके विख्यात वीर बलवान् द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने देखा—शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेनपर सब ओरसे धावा हो रहा है। अत्यन्त संगठित हुई भयंकर सेनाने उनपर आक्रमण किया है। यह देखकर धृष्टद्युम्न भीमसेनको आश्वासन देते हुए उनके पास गये। उनका प्रत्येक अङ्ग बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहा था। वे पैदल ही क्रोधरूपी विष उगल रहे थे और गदा हाथमें लिये प्रलयकालके यमराजके समान जान पड़ते थे ॥ ३७-३८ ॥

विशल्यमेनं च चकार तूर्ण-
मारोपयच्चात्मरथे महात्मा ।
भृशं परिष्वज्य च भीमसेन-
माश्वासयामास स शत्रुमध्ये ॥ ३९ ॥

महामना धृष्टद्युम्नने तुरंत ही उन्हें अपने रथपर बिठा लिया और उनके शरीरमें धँसे हुए बाणोंको निकाल दिया। शत्रुओंके बीचमें ही भीमसेनको हृदयसे लगाकर उन्हें पूर्णतः सान्त्वना दी ॥ ३९ ॥

भ्रातॄनथोपेत्य तवापि पुत्र-
स्तस्मिन् विमर्दे महति प्रवृत्ते ।
अयं दुरात्मा द्रुपदस्य पुत्रः
समागतो भीमसेनेन सार्धम् ॥ ४० ॥
तं याम सर्वे महता बलेन
मा वो रिपुः प्रार्थयतामनीकम् ।

वह महान् संघर्ष आरम्भ होनेपर आपका पुत्र दुर्योधन भाइयोंके पास आकर बोला—'यह दुरात्मा द्रुपदपुत्र आकर भीमसेनसे मिल गया है। हम सबलोग बहुत बड़ी सेनाके साथ इसपर आक्रमण करें, जिससे हमारा और तुम्हारा यह शत्रु हमलोगोंकी इस सेनाको हानि पहुँचानेका विचार न कर सके' ॥ ४०½ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं तममृष्यमाणा
ज्येष्ठाज्ञया नोदिता धार्तराष्ट्राः ॥ ४१ ॥
वधाय निष्पेतुरुदायुधास्ते
युगक्षये केतवो यद्वदुग्राः ।
प्रगृह्य चास्त्राणि धनूंषि वीरा
ज्यां नेमिघोषैः प्रविकम्पयन्तः ॥ ४२ ॥

दुर्योधनका यह कथन सुनकर आपके सभी वीर पु जो धृष्टद्युम्नका आगमन नहीं सह सके थे, बड़े आज्ञासे प्रेरित हो प्रलयकालके भयंकर केतुओंकी हाथमें आयुध लिये धृष्टद्युम्नके वधके लिये उनपर टू पड़े। उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष-बाण ले रक्खे थे और वे रथके पहियोंकी घरघराहटके साथ-साथ धनुषकी प्रत्यञ्चा भी कँपाते हुए उसकी टंकार फैला रहे थे ॥ ४१-४

शरैरवर्षन् द्रुपदस्य पुत्रं
यथाम्बुदा भूधरं वारिजालैः ।
निहत्य तांश्चापि शरैः सुतीक्ष्णै-
र्न विव्यथे समरे चित्रयोधी ॥ ४३ ॥

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी बूँदें बरसाते हैं, उसी प्रकार वे द्रुपदपुत्रपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे। परंतु विचित्र युद्ध करनेवाले धृष्टद्युम्न उस समराङ्गणमें अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको अत्यन्त घायल करके स्वयं तनिक भी व्यथित नहीं हुए ॥ ४३ ॥

समभ्युदीर्णांश्च तवात्मजांस्तथा
निशम्य वीरानभितः स्थितान् रणे।
जिघांसुरुग्रं द्रुपदात्मजो युवा
प्रमोहनास्त्रं युयुजे महारथः ॥ ४४ ॥

युद्धमें सामने खड़े हुए आपके वीर पुत्रोंको आगे बढ़ते और प्रचण्ड होते देख नवयुवक महारथी द्रुपदकुमारने उनके वधके लिये भयंकर प्रमोहनास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४४ ॥

क्रुद्धो भृशं तव पुत्रेषु राजन्
दैत्येषु यद्वत् समरे महेन्द्रः ।
ततो व्यमुह्यन्त रणे नृवीराः
प्रमोहनास्त्राहतबुद्धिसत्त्वाः ॥ ४५ ॥

राजन् ! जैसे युद्धमें देवराज इन्द्र दैत्योंपर कुपित होते हैं, उसी प्रकार आपके पुत्रोंपर धृष्टद्युम्नका क्रोध बहुत बढ़ा हुआ था। उसके मोहनास्त्रके प्रयोगसे अपनी चेतना और धैर्य खोकर आपके नरवीर पुत्र रणभूमिमें मोहित हो गये।

प्रदुद्रुवुः कुरवश्चैव सर्वे
सवाजिनागाः सरथाः समन्तात् ।
परीतकालानिव नष्टसंज्ञान्
मोहोपेतांस्तव पुत्रान् निशम्य ॥ ४६ ॥

आपके पुत्रोंको मोहसे युक्त एवं मरे हुएके समान अचे हुआ देख समस्त कौरव-सैनिक हाथी, घोड़े तथा रथसहि

ओर भाग चले ॥ ४६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
द्रुपदं त्रिभिरासाद्य शरैर्विव्याध दारुणैः ॥ ४७ ॥

इसी समय दूसरी ओर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यने द्रुपदके पास जाकर उनको तीन भयंकर बाणोंद्वारा बींध डाला॥

सोऽतिविद्धस्ततो राजन् रणे द्रोणेन पार्थिवः ।
अपायाद् द्रुपदो राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ४८ ॥

राजन् ! तब रणभूमिमें द्रोणके द्वारा अत्यन्त घायल हो राजा द्रुपद पहलेके वैरका स्मरण करते हुए वहाँसे दूर गये ॥ ४८ ॥

त्वा तु द्रुपदं द्रोणः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।
स्य शङ्खस्वनं श्रुत्वा वित्रेसुः सर्वसोमकाः ॥ ४९ ॥

द्रुपदको जीतकर प्रतापी द्रोणाचार्यने अपना शङ्ख या । उस शङ्खनादको सुनकर समस्त सोमक क्षत्रिय स्त भयभीत हो गये ॥ ४९ ॥

शुश्राव तेजस्वी द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
मोहनास्त्रेण रणे मोहितानात्मजांस्तव ॥ ५० ॥

तदनन्तर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी द्रोणाचार्यने सुना आपके पुत्र रणभूमिमें प्रमोहनास्त्रसे मोहित होकर हैं ॥ ५० ॥

द्रोणो महाराज त्वरितोऽभ्याययौ रणात् ।
ापश्यन्महेष्वासो भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥
द्युम्नं च भीमं च विचरन्तौ महारणे ।
ाविष्टांश्च ते पुत्रानपश्यत् स महारथः ॥ ५२ ॥

महाराज ! यह सुनते ही महाधनुर्धर प्रतापी भरद्वाज-न द्रोणाचार्य तुरंत उस युद्धस्थलसे चलकर वहाँ आ चे । आकर उन महारथीने देखा कि धृष्टद्युम्न और भीम-उस महायुद्धमें विचर रहे हैं और आपके पुत्र मोहाविष्ट पड़े हुए हैं ॥ ५१-५२ ॥

प्रज्ञास्त्रमादाय मोहनास्त्रं व्यनाशयत् ।
प्रत्यागतप्राणास्तव पुत्रा महारथाः ॥ ५३ ॥

तब उन्होंने प्रज्ञास्त्र लेकर उसके द्वारा मोहनास्त्रका नाश दिया । इससे आपके महारथी पुत्रोंमें पुनः चेतनाशक्ति आयी ॥ ५३ ॥

युद्धाय समरे प्रययुर्भीमपार्षतौ ।
युधिष्ठिरः प्राह समाहूय स्वसैनिकान् ॥ ५४ ॥
न्तु पदवीं शक्त्या भीमपार्षतयोर्युधि ।
प्रमुखा वीरा रथा द्वादश दंशिताः ॥ ५५ ॥
मधिगच्छन्तु न हि शुद्ध्यति मे मनः ।

समरभूमिमें पुनः युद्धके लिये भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नकी ओर चले । तब राजा युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंको बुलाकर कहा—'तुमलोग पूरी शक्ति लगाकर युद्धस्थलमें भीमसेन और धृष्टद्युम्नके पथका अनुसरण करो । अभिमन्यु आदि बारह वीर महारथी कवच आदिसे सुसज्जित हो भीमसेन और धृष्टद्युम्नका समाचार प्राप्त करें । मेरा मन उनके विषयमें निश्चिन्त नहीं हो रहा है' ॥ ५४-५५½ ॥

त एवं समनुज्ञाताः शूरा विक्रान्तयोधिनः ॥ ५६ ॥
बाढमित्येवमुक्त्वा तु सर्वे पुरुषमानिनः ।
मध्यन्दिनगते सूर्ये प्रययुः सर्व एव हि ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिरकी ऐसी आज्ञा पाकर पराक्रमपूर्वक युद्ध करनेवाले वे पुरुषमानी समस्त शूरवीर 'बहुत अच्छा' कहकर दोपहर होते-होते वहाँसे चल दिये ॥ ५६-५७ ॥

केकया द्रौपदेयाश्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य महत्या सेनया वृताः ॥ ५८ ॥
ते कृत्वा समरव्यूहं सूचीमुखमरिंदमाः ।
बिभिदुर्धार्तराष्ट्राणां तद् रथानीकमाहवे ॥ ५९ ॥

अभिमन्युको आगे करके विशाल सेनासे घिरे हुए पाँच केकयराजकुमार, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी धृष्टकेतु—ये शत्रुओंका दमन करनेवाले शूरवीर सूचीमुख नामक समरव्यूह बनाकर आपके पुत्रोंकी उस सेनाको रणक्षेत्रमें विदीर्ण करने लगे ॥ ५८-५९ ॥

तान् प्रयातान् महेष्वासानभिमन्युपुरोगमान् ।
भीमसेनभयाविष्टा धृष्टद्युम्नविमोहिता ॥ ६० ॥
न संवारयितुं शक्ता तव सेना जनाधिप ।
मदमूर्च्छान्वितात्मा वै प्रमदेवाध्वनि स्थिता ॥ ६१ ॥

जनेश्वर ! आपकी सेना भीमसेनके भयसे व्याकुल और धृष्टद्युम्नके बाणोंसे मोहित हो रही थी । अतः आक्रमण करनेवाले अभिमन्यु आदि महाधनुर्धर वीरोंको वह रोकनेमें समर्थ न हो सकी । मद और मूर्छाके वशीभूत हुई मतवाली स्त्रीकी भाँति वह मार्गमें चुपचाप खड़ी रही ॥ ६०-६१ ॥

तेऽभिजाता महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
परीप्सन्तोऽभ्यधावन्त धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ॥ ६२ ॥

सुवर्णनिर्मित ध्वजाओंसे सुशोभित होनेवाले वे महाधनुर्धर कुलीन योद्धा धृष्टद्युम्न और भीमसेनकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़े ॥ ६२ ॥

तौ च दृष्ट्वा महेष्वासावभिमन्युपुरोगमान् ।
बभूवतुर्मुदा युक्तौ निघ्नन्तौ तव वाहिनीम् ॥ ६३ ॥

वे दोनों महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न और भीमसेन भी अभिमन्यु आदि वीरोंको सहायताके लिये आते देख हर्ष और उत्साहमें भर गये और आपकी सेनाका विनाश करने लगे ॥ ६३ ॥

(द्रोणमिष्वस्त्रकुशलं सर्वविद्यासु पारगम् ।)
दृष्ट्वा तु सहसाऽऽयान्तं पाञ्चाल्यो गुरुमात्मनः ।
नाशंसत वधं वीरः पुत्राणां तव भारत ॥ ६४ ॥

भारत ! पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने धनुर्वेदमें कुशल और समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वान् अपने गुरु द्रोणाचार्यको सहसा वहाँ आये देख आपके पुत्रोंके वधकी इच्छा छोड़ दी ॥६४॥

ततो रथं समारोप्य कैकेयस्य वृकोदरम् ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो द्रोणमिष्वस्त्रपारगम् ॥ ६५ ॥

फिर भीमसेनको केकयके रथपर बिठाकर क्रोधमें भरे हुए धृष्टद्युम्नने अस्त्रविद्याके पारगामी विद्वान् द्रोणाचार्यपर धावा किया ॥ ६५ ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं भारद्वाजः प्रतापवान् ।
क्रुद्धश्चिच्छेद बाणेन धनुः शत्रुनिबर्हणः ॥ ६६ ॥

तब शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रतापी द्रोणाचार्यने कुपित होकर अपनी ओर आनेवाले धृष्टद्युम्नके धनुषको एक बाणसे तुरंत काट दिया ॥ ६६ ॥

अन्यांश्च शतशो बाणान् प्रेषयामास पार्षते ।
दुर्योधनहितार्थाय भर्तृपिण्डमनुस्मरन् ॥ ६७ ॥

उसके बाद दुर्योधनके हितके लिये स्वामीके अन्नका विचार करते हुए धृष्टद्युम्नपर और भी सैकड़ों बाण चलाये ॥

अथान्यद् धनुरादाय पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणं विव्याध विंशत्या रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः॥ ६८॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए सोनेकी पाँखवाले बीस बाणोंसे द्रोणाचार्यको घायल कर दिया ॥ ६८ ॥

तस्य द्रोणः पुनश्चापं चिच्छेदामित्रकर्शनः ।
हयांश्च चतुरस्तूर्णं चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ६९ ॥
वैवस्वतक्षयं घोरं प्रेषयामास भारत ।
सारथिं चास्य भल्लेन प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ७० ॥

तब शत्रुसूदन द्रोणने पुनः धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया और चार उत्तम सायकोंद्वारा उनके चारों घोड़ोंको तुरंत भयानक यमलोकको भेज दिया । भारत ! फिर एक भल्लके द्वारा उनके सारथिको भी मृत्युके हवाले कर दिया ॥६९-७

हताश्वात् स रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ।
आरुरोह महाबाहुरभिमन्योर्महारथम् ॥ ७१॥

घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर महारथी महाबाहु धृष्टद्युम्न तुरंत उस रथसे कूद पड़े और अभिमन्युके विशाल रथपर आरूढ़ हो गये ॥ ७१ ॥

ततः सरथनागाश्वा समकम्पत वाहिनी ।
पश्यतो भीमसेनस्य पार्षतस्य च पश्यतः ॥ ७२॥

तदनन्तर भीमसेन और धृष्टद्युम्नके देखते-देखते रथ, हाथी और घुड़सवारोंसहित सारी पाण्डव-सेना काँपने लगी।

तत्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा द्रोणेनामिततेजसा ।
नाशक्नुवन् वारयितुं समस्तास्ते महारथाः ॥ ७३॥

अमित तेजस्वी आचार्य द्रोणके द्वारा अपनी सेनाका व्यूह भंग हुआ देख वे सम्पूर्ण महारथी प्रयत्न करनेपर भी उसे रोकनेमें सफल न हो सके ॥ ७३ ॥

वध्यमानं तु तत् सैन्यं द्रोणेन निशितैः शरैः ।
व्यभ्रमत् तत्र तत्रैव क्षोभ्यमाण इवार्णवः ॥ ७४॥

द्रोणाचार्यके पैने बाणोंसे पीड़ित हुई वह सेना विक्षुब्ध महासागरके समान वहीं चक्कर काटने लगी ॥ ७४॥

तथा दृष्ट्वा च तत्सैन्यं जहृषे तावकं बलम् ।
दृष्ट्वाऽऽचार्यं सुसंक्रुद्धं पतन्तं रिपुवाहिनीम् ।
चुक्रुशुः सर्वतो योधाः साधु साध्विति भारत॥ ७५॥

द्रोणाचार्यको अत्यन्त कुपित होकर शत्रुसेनापर टूटते और पाण्डव-सेनाको भागते देख आपके सैनिकोंको बड़ा हर्ष हुआ । भारत ! आपके सभी योद्धा सब ओरसे द्रोणाचार्यको साधुवाद देने लगे ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे द्रोणपराक्रमे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धमें द्रोणपराक्रमविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ७९½ श्लोक हैं)

* * *

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका संकुल युद्ध

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा मोहात् प्रत्यागतस्तदा ।
शरवर्षैः पुनर्भीमं प्रत्यवारयदच्युतम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर (मोहजनित) मोहसे जगनेपर राजा दुर्योधनने युद्धभूमिसे पीछे न हटनेवाले भीमसेनको पुनः बाणोंकी वर्षासे रोक दिया ।

एकीभूतास्ततश्चैव तव पुत्रा महारथाः ।
समेत्य समरे भीमं योधयामासुरुद्यताः ॥ २ ॥

फिर आपके सभी महारथी पुत्र समरभूमिमें एकत्र होकर ढ़ प्रयत्नपूर्वक भीमसेनके साथ युद्ध करने लगे ॥ २ ॥

भीमसेनोऽपि समरे सम्प्राप्य स्वरथं पुनः ।
समारुह्य महाबाहुर्ययौ येन तवात्मजः ॥ ३ ॥

महाबाहु भीमसेन भी समरभूमिमें पुनः अपने रथपर वार हो उधर ही चल दिये, जिस मार्गसे आपका पुत्र र्योधन गया था ॥ ३ ॥

गृह्य च महावेगं परासुकरणं दृढम् ।
ज्जं शरासनं संख्ये शरैर्विव्याध ते सुतम् ॥ ४ ॥

उन्होंने युद्धस्थलमें मृत्युकी प्राप्ति करानेवाले महान् शाली सुदृढ़ धनुषको लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और के बाणोंद्वारा आपके पुत्रको घायल कर दिया ॥ ४ ॥

तो दुर्योधनो राजा भीमसेनं महाबलम् ।
राचेन सुतीक्ष्णेन भृशं मर्मण्यताडयत् ॥ ५ ॥

तब राजा दुर्योधनने महाबली भीमसेनके मर्मस्थलोंमें न्त तीखे नाराचसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५ ॥

ऽतिविद्धो महेष्वासस्तव पुत्रेण धन्विना ।
धसंरक्तनयनो वेगेनाक्षिप्य कार्मुकम् ॥ ६ ॥
र्योधनं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।
तत्र शुशुभे राजा शिखरैर्गिरिराडिव ॥ ७ ॥

आपके धनुर्धर पुत्रके द्वारा चलाये हुए बाणसे अत्यन्त ल हो महाधनुर्धर भीमसेनने क्रोधसे लाल आँखें करके पूर्वक धनुषको खींचा और तीन बाणोंसे दुर्योधनकी दोनों ओं तथा छातीमें चोट पहुँचायी । उन बाणोंद्वारा राजा न तीन शिखरोंसे युक्त गिरिराजकी भाँति शोभा लगा ॥ ६-७ ॥

ष्ट्वा समरे क्रुद्धौ विनिघ्नन्तौ परस्परम् ।
र्योधनानुजाः सर्वे शूराः संत्यक्तजीविताः ॥ ८ ॥
स्मृत्य मन्त्रितं पूर्वं निग्रहे भीमकर्मणः ।
श्चयं परमं कृत्वा निग्रहीतुं प्रचक्रमुः ॥ ९ ॥

क्रोधमें भरे हुए इन दोनों वीरोंको समरभूमिमें एक-सरेपर प्रहार करते देख दुर्योधनके सभी शूरवीर छोटे भाई नका मोह छोड़कर भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनको पकड़नेके विषयमें की हुई पहली सलाहको याद कर-के दृढ़ निश्चयपर पहुँचकर उन्हें पकड़नेका उद्योग ने लगे ॥ ८-९ ॥

पतत एवाजौ भीमसेनो महाबलः ।
द्ययौ महाराज गजः प्रतिगजानिव ॥ १० ॥

महाराज ! उन्हें युद्धमें आक्रमण करते देख जैसे हाथी अपने विपक्षी हाथियोंकी ओर दौड़ता है, उसी प्रकार महाबली भीमसेन उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़े ॥ १० ॥

भृशं क्रुद्धश्च तेजस्वी नाराचेन समार्पयत् ।
चित्रसेनं महाराज तव पुत्रं महायशाः ॥ ११ ॥

नरेश्वर ! महायशस्वी और तेजस्वी भीमसेन अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए थे । उन्होंने आपके पुत्र चित्रसेनपर एक नाराचके द्वारा प्रहार किया ॥ ११ ॥

तथेतरांस्तव सुतांस्ताडयामास भारत ।
शरैर्बहुविधैः संख्ये रुक्मपुङ्खैः सुतेजनैः ॥ १२ ॥

भारत ! इसी प्रकार रणभूमिमें सोनेकी पाँखवाले अत्यन्त तीखे और बहुसंख्यक बाणोंद्वारा उन्होंने आपके अन्य पुत्रोंको भी पीड़ित किया ॥ १२ ॥

ततः संस्थाप्य समरे तान्यनीकानि सर्वशः ।
अभिमन्युप्रभृतयस्ते द्वादश महारथाः ॥ १३ ॥
प्रेषिता धर्मराजेन भीमसेनपदानुगाः ।
प्रतिजग्मुर्महाराज तव पुत्रान् महाबलान् ॥ १४ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् अपनी सेनाओंको सब प्रकारसे समरभूमिमें स्थापित करके भीमसेनके पदचिह्नोंपर चलनेवाले उन अभिमन्यु आदि बारह महारथियोंने, जिन्हें धर्मराज युधिष्ठिरने भेजा था, आपके महाबली पुत्रोंपर धावा किया ॥

दृष्ट्वा रथस्थांस्ताञ्शूरान् सूर्याग्निसमतेजसः ।
सर्वानेव महेष्वासान् भ्राजमानाञ्श्रिया वृतान् ॥ १५ ॥
महाहवे दीप्यमानान् सुवर्णमुकुटोज्ज्वलान् ।
तत्यजुः समरे भीमं तव पुत्रा महाबलाः ॥ १६ ॥

वे सब-के-सब रथपर बैठे हुए शूरवीर, सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, महाधनुर्धर, उत्तम शोभासे प्रकाशमान, सुवर्णमय मुकुटसे जगमग प्रतीत होनेवाले और अत्यन्त कान्तिमान् थे । उस महासमरमें उन्हें आते देखकर आपके महाबली पुत्र भीमसेनको छोड़कर वहाँसे दूर हट गये ॥

तान् नामृष्यत कौन्तेयो जीवमाना गता इति ।
अन्वीय च पुनः सर्वांस्तव पुत्रानपीडयत् ॥ १७ ॥

परंतु वे जीवित लौट गये; यह बात भीमसेनसे नहीं सही गयी । उन्होंने पुनः आपके उन सब पुत्रोंका पीछा करके उन्हें अपने बाणोंसे पीड़ित कर दिया ॥ १७ ॥

अथाभिमन्युं समरे भीमसेनेन संगतम् ।
पार्षतेन च सम्प्रेक्ष्य तव सैन्ये महारथाः ॥ १८ ॥
दुर्योधनप्रभृतयः प्रगृहीतशरासनाः ।
भृशमश्वैः प्रजवितैः प्रययुर्यत्र ते रथाः ॥ १९ ॥

इधर, उस समरभूमिमें अभिमन्युको भीमसेन तथा

धृष्टद्युम्नसे मिला हुआ देख आपकी सेनाके दुर्योधन आदि महारथी हाथोंमें धनुष लिये अत्यन्त वेगशाली अश्वोंद्वारा वहाँ जा पहुँचे, जहाँ वे बारह पाण्डव-पक्षीय महारथी विद्यमान थे ॥ १८-१९ ॥

अपराह्णे महाराज प्रावर्तत महारणः ।
तावकानां च बलिनां परेषां चैव भारत ॥ २० ॥

महाराज ! भरतनन्दन ! तब अपराह्णकालमें आपके और पाण्डव-पक्षके अत्यन्त बलवान् योद्धाओंमें बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २० ॥

अभिमन्युर्विकर्णस्य हयान् हत्वा महाहवे ।
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ॥ २१ ॥

अभिमन्युने उस महायुद्धमें विकर्णके घोड़ोंको मारकर स्वयं विकर्णको भी पचीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २१ ॥

हताश्वं रथमुत्सृज्य विकर्णस्तु महारथः ।
आरुरोह रथं राजंश्चित्रसेनस्य भारत ॥ २२ ॥

भरतवंशी नरेश ! घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी विकर्ण अपना रथ छोड़कर चित्रसेनके रथपर जा बैठा ॥ २२ ॥

स्थितावेकरथे तौ तु भ्रातरौ कुलवर्धनौ ।
आर्जुनिः शरजालेन च्छादयामास भारत ॥ २३ ॥

भरतनन्दन ! अभिमन्युने एक रथपर बैठे हुए उन दोनों वंशवर्धक भ्राताओंको अपने बाणोंके जालसे आच्छादित कर दिया ॥ २३ ॥

चित्रसेनो विकर्णश्च कार्ष्णिं पञ्चभिरायसैः ।
विव्याध तेन चाकम्पत् कार्ष्णिर्मेरुरिव स्थितः ॥ २४ ॥

चित्रसेन और विकर्णने भी लोहेके पाँच बाणोंसे अभिमन्युको बींध डाला । उस आघातसे अर्जुनकुमार अभिमन्यु विचलित नहीं हुआ । मेरु पर्वतकी भाँति अडिग खड़ा रहा ॥ २४ ॥

दुःशासनस्तु समरे केकयान् पञ्च मारिष ।
योधयामास राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५ ॥

आर्य ! राजेन्द्र ! दुःशासनने अकेले ही समरभूमिमें पाँच केकयराजकुमारोंके साथ युद्ध किया । वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ २५ ॥

द्रौपदेया रणे क्रुद्धा दुर्योधनमवारयन् ।
शरैराशीविषाकारैः पुत्रं तव विशाम्पते ॥ २६ ॥

प्रजानाथ ! युद्धमें कुपित हुए द्रौपदीके पाँच पुत्रोंने विषधर सर्पके समान आकारवाले भयंकर बाणोंद्वारा आपके पुत्र दुर्योधनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २६ ॥

पुत्रोऽपि तव दुर्धर्षो द्रौपद्यास्तनयान् रणे ।
सायकैर्निशितै राजन्नाजघान पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥

राजन् ! तब आपके दुर्धर्ष पुत्रने भी तीखे सायकोंसे रणभूमिमें द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंपर पृथक्-पृथक् प्रहार कि

तैश्चापि विद्धः शुशुभे रुधिरेण समुक्षितः ।
गिरिः प्रस्रवणैर्यद्वद् गैरिकादिविमिश्रितैः ॥ २८

फिर उनके द्वारा भी अत्यन्त घायल किये आपका पुत्र रक्तसे नहा उठा और गेरु आदि धातुओं मिश्रित झरनोंके जलसे युक्त पर्वतकी भाँति शोभा पाने

भीष्मोऽपि समरे राजन् पाण्डवानामनीकिनीम् ।
कालयामास बलवान् पालः पशुगणानिव ॥ २

राजन् ! तदनन्तर बलवान् भीष्म भी संग्राममें पाण्डवसेनाको उसी प्रकार खदेड़ने लगे, जैसे ग्वाला पशुओंको हाँकता है ॥ २९ ॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषः प्रादुरासीद् विशाम्पते ।
दक्षिणेन वरूथिन्याः पार्थस्यारीन् विनिघ्नतः ॥ ३०

प्रजानाथ ! तदनन्तर शत्रुओंका संहार करते हुए अर्जुन के गाण्डीव धनुषका घोष सेनाके दक्षिण भागसे प्रकट हुआ

उत्तस्थुः समरे तत्र कबन्धानि समन्ततः ।
कुरूणां चैव सैन्येषु पाण्डवानां च भारत ॥ ३

भारत ! वहाँ समरमें कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओं चारों ओर कबन्ध उठने लगे ॥ ३१ ॥

शोणितोदं शरावर्तं गजद्वीपं हयोर्मिणम् ।
रथनौभिर्नरव्याघ्राः प्रतेरुः सैन्यसागरम् ॥ ३

वह सेना एक समुद्रके समान थी । रक्त ही वहाँ जल समान था । बाणोंकी भँवर उठती थी । हाथी द्वीपके समान जान पड़ते थे और घोड़े तरंगकी शोभा धारण करते थे रथरूपी नौकाओंके द्वारा नरश्रेष्ठ वीर उस सैन्यसागरको पार करते थे ॥ ३२ ॥

छिन्नहस्ता विकवचा विदेहाश्च नरोत्तमाः ।
दृश्यन्ते पतितास्तत्र शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३

वहाँ सैकड़ों और हजारों नरश्रेष्ठ धरतीपर पड़े दिखायी देते थे । उनमेंसे कितनोंके हाथ कट गये थे, कितने ही कवचहीन हो रहे थे और बहुतोंके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे ॥ ३३ ॥

निहतैर्मत्तमातङ्गैः शोणितौघपरिप्लुतैः ।
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ पर्वतैराचिता यथा ॥ ३४

भरतश्रेष्ठ ! मरकर गिरे हुए मतवाले हाथी खूनसे लथपथ हो रहे थे । उनसे ढकी हुई वहाँकी भूमि पर्वतोंसे व्याप्त-सी जान पड़ती थी ॥ ३४ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव तेषां च भारत ।
न तत्रासीत् पुमान् कश्चिद् यो युद्धं नाभिकाङ्क्षति ॥ ३५

भारत ! हमने वहाँ आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंका द्भुत उत्साह देखा । वहाँ ऐसा कोई पुरुष नहीं था, जो युद्ध न चाहता हो ॥ ३५ ॥

वं युयुधिरे वीराः प्रार्थयाना महद् यशः ।
तावकाः पाण्डवैः सार्धमाकाङ्क्षन्तो जयं युधि ॥ ३६ ॥

इस प्रकार महान् यशकी अभिलाषा रखते और युद्धमें विजय चाहते हुए आपके वीर सैनिक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते थे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुल युद्धविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा दुर्योधनकी पराजय, अभिमन्यु और द्रौपदीपुत्रोंका धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ युद्ध तथा छठे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

ो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे ।
ामरभसो भीमं हन्तुकामोऽभ्यधावत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर जब सूर्यदेव- संध्याकी लाली छाने लगी, उस समय संग्रामके लिये ह रखनेवाले राजा दुर्योधनने भीमसेनको मार डालनेकी से उनपर धावा किया ॥ १ ॥

यान्तमभिप्रेक्ष्य नृवीरं दृढवैरिणम् ।
सेनः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

अपने पक्के बैरी नरवीर दुर्योधनको आते देख भीम- का क्रोध बहुत बढ़ गया और वे उससे यह वचन बोले—॥

ं स कालः सम्प्राप्तो वर्षपूगाभिवाञ्छितः ।
त्वां निहनिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम् ॥ ३ ॥

दुर्योधन ! मैं बहुत वर्षोंसे जिसकी अभिलाषा और क्षा कर रहा था, वही यह अवसर आज प्राप्त हुआ है । युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो आज तुझे य मार डालूँगा ॥ ३ ॥

कुन्त्याः परिक्लेशं वनवासं च कृत्स्नशः ।
याश्च परिक्लेशं प्रणेष्यामि हते त्वयि ॥ ४ ॥

माता कुन्तीको जो क्लेश उठाना पड़ा है, हमने का जो कष्ट भोगा है और सभामें द्रौपदीको जो दुःख सहन करना पड़ा है, उन सबका बदला मैं तेरे मारे जानेपर चुका लूँगा ॥ ४ ॥

पुरा मत्सरी भूत्वा पाण्डवानवमन्यसे ।
पापस्य गान्धारे पश्य व्यसनमागतम् ॥ ५ ॥

गान्धारीपुत्र ! पूर्वकालमें डाह रखकर तू जो हम ोंका तिरस्कार करता आया है, उसी पापके फल- यह संकट तेरे ऊपर आया है । तू आँख खोलकर ॥ ५ ॥

कर्णस्य मतमास्थाय सौबलस्य च यत् पुरा ।
अचिन्त्य पाण्डवान् कामाद् यथेष्टं कृतवानसि ॥ ६ ॥
याचमानं च यन्मोहाद् दाशार्हमवमन्यसे ।
उलूकस्य समादेशं यद् ददासि च हृष्टवत् ॥ ७ ॥
तेन त्वां निहनिष्यामि सानुबन्धं सबान्धवम्।
समीकरिष्ये तत् पापं यत् पुरा कृतवानसि ॥ ८ ॥

'पहले कर्ण और शकुनिके बहकावेमें आकर पाण्डवोंको कुछ भी न गिनते हुए जो तूने इच्छानुसार मनमाना बर्ताव किया है, भगवान् श्रीकृष्ण संधिके लिये प्रार्थना करने आये थे, परंतु तूने मोहवश जो उनका भी तिरस्कार किया और बड़े हर्षमें भरकर उलूकके द्वारा जो तूने यह संदेश दिया था कि तुम मुझे और मेरे भाइयोंको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो, उसके अनुसार तुझे भाइयों तथा सगे-सम्बन्धियों-सहित अवश्य मार डालूँगा । पहले तूने जो-जो पाप किये हैं, उन सबका बदला चुकाकर बराबर कर दूँगा' ॥ ६—८ ॥

एवमुक्त्वा धनुर्घोरं विकृष्योद्भ्राम्य चासकृत् ।
समाधत्त शरान् घोरान् महाशनिसमप्रभान् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर भीमसेनने अपने भयंकर धनुषको बारंबार घुमाकर उसे बलपूर्वक खींचा और वज्रके समान तेजस्वी भयंकर बाणोंको उसके ऊपर रक्खा ॥ ९ ॥

षड्विंशतिमथ क्रुद्धो मुमोचाशु सुयोधने ।
ज्वलिताग्निशिखाकारान् वज्रकल्पानजिह्मगान् ॥ १० ॥

वे सीधे जानेवाले बाण वज्र तथा प्रज्वलित आगकी लपटोंके समान जान पड़ते थे । उनकी संख्या छब्बीस थी । कुपित हुए भीमसेनने उन सबको शीघ्रतापूर्वक दुर्योधनपर छोड़ दिया ॥ १० ॥

ततोऽस्य कार्मुकं द्वाभ्यां सूतं द्वाभ्यां च विव्यधे।
चतुर्भिरश्वाञ्जवनाननयद् यमसादनम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् भीमसेनने दो बाणोंसे दुर्योधनका धनुष काट दिया, दोसे उसके सारथिको पीड़ित किया और चार

बाणोंसे उसके वेगशाली घोड़ोंको यमलोक भेज दिया ॥ ११ ॥

द्वाभ्यां च सुविकृष्टाभ्यां शराभ्यामरिमर्दनः ।
छत्रं चिच्छेद समरे राज्ञस्तस्य नरोत्तम ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ ! फिर शत्रुमर्दन भीमने धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए दो बाणोंद्वारा समरभूमिमें राजा दुर्योधनके छत्रको काट दिया ॥ १२ ॥

षड्भिश्च तस्य चिच्छेद ज्वलन्तं ध्वजमुत्तमम् ।
छित्त्वा तं च ननादोच्चैस्तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ १३ ॥

इसके बाद अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले उसके उत्तम ध्वजको छः बाणोंसे खण्डित कर दिया। आपके पुत्रके देखते-देखते उस ध्वजको काटकर भीमसेन उच्च स्वरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १३ ॥

रथाच्च स ध्वजः श्रीमान् नानारत्नविभूषितात् ।
पपात सहसा भूमौ विद्युज्जलधरादिव ॥ १४ ॥

दुर्योधनके नाना रत्नविभूषित रथसे वह शोभाशाली ध्वज सहसा कटकर पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो मेघोंकी घटासे भूमिपर बिजली गिरी हो ॥ १४ ॥

ज्वलन्तं सूर्यसंकाशं नागं मणिमयं शुभम् ।
ध्वजं कुरुपतेश्छिन्नं ददृशुः सर्वपार्थिवाः ॥ १५ ॥

कुरुराज दुर्योधनके उस सूर्यके समान प्रज्वलित नागचिह्नित मणिमय सुन्दर ध्वजको कटकर गिरते समय समस्त राजाओंने देखा ॥ १५ ॥

अथैनं दशभिर्बाणैस्तोत्त्रैरिव महाद्विपम् ।
आजघान रणे वीरं स्मयन्निव महारथः ॥ १६ ॥

इसके बाद महारथी भीमने मुसकराते हुए-से रणभूमिमें वीरवर दुर्योधनको दस बाणोंसे उसी तरह घायल किया, जैसे महावत अङ्कुशोंसे महान् गजराजको पीड़ा देता है ॥ १६ ॥

ततः स राजा सिन्धूनां रथश्रेष्ठो महारथः ।
दुर्योधनस्य जग्राह पार्ष्णिं सत्पुरुषैर्वृतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ सिन्धुराज महारथी जयद्रथने कुछ सत्पुरुषोंके साथ आकर दुर्योधनके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य सँभाला ॥ १७ ॥

कृपश्च रथिनां श्रेष्ठः कौरव्यममितौजसम् ।
आरोपयद् रथं राजन् दुर्योधनममर्षणम् ॥ १८ ॥

राजन् ! इसी प्रकार रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने अमर्षमें भरे हुए अमित तेजस्वी कुरुवंशी दुर्योधनको अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ १८ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो भीमसेनेन संयुगे ।
निषसाद रथोपस्थे राजन् दुर्योधनस्तदा ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! भीमसेनने उस युद्धमें दुर्योधनको बहुत कर दिया था। अतः उस समय वह व्यथासे व्याकुल रथके पिछले भागमें जा बैठा ॥ १९ ॥

परिवार्य ततो भीमं जेतुकामो जयद्रथः ।
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् जयद्रथने भीमसेनको जीतनेकी इच्छा कई हजार रथोंके द्वारा उन्हें घेर लिया और उनकी दिशाओंको अवरुद्ध कर दिया ॥ २० ॥

धृष्टकेतुस्ततो राजन्नभिमन्युश्च वीर्यवान् ।
केकया द्रौपदेयाश्च तव पुत्रानयोधयन् ॥ २१ ॥

महाराज ! इसी समय धृष्टकेतु, पराक्रमी अभिमन्यु पाँच केकयराजकुमार तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र आपके साथ युद्ध करने लगे ॥ २१ ॥

चित्रसेनः सुचित्रश्च चित्राङ्गश्चित्रदर्शनः ।
चारुचित्रः सुचारुश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ २२ ॥
अष्टावेते महेष्वासाः सुकुमारा यशस्विनः ।
अभिमन्युरथं राजन् समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २३ ॥

उस युद्धमें चित्रसेन, सुचित्र, चित्राङ्ग, चारुचित्र, सुचारु, नन्द और उपनन्द—इन आठ सुकुमार एवं महाधनुर्धर वीरोंने अभिमन्युके रथको ओरसे घेर लिया ॥ २२-२३ ॥

आजघान ततस्तूर्णमभिमन्युर्महामनाः ।
एकैकं पञ्चभिर्बाणैः शितैः संनतपर्वभिः ॥ २४ ॥

उस समय महामना अभिमन्युने तुरंत ही गाँठवाले पाँच-पाँच तीखे बाणोंद्वारा प्रत्येकको बींध डाला।

वज्रमृत्युप्रतीकाशैर्विचित्रायुधनिःसृतैः ।
अमृष्यमाणास्ते सर्वे सौभद्रं रथसत्तमम् ॥ २५ ॥
ववृषुर्मार्गणैस्तीक्ष्णैर्गिरिं मेरुमिवाम्बुदाः ।

वे सभी बाण विचित्र धनुषद्वारा छोड़े गये थे और के-सब वज्र एवं मृत्युके तुल्य भयंकर थे। उन आघातको आपके पुत्र सहन न कर सके। उन सबने कर रथियोंमें श्रेष्ठ सुभद्राकुमार अभिमन्युपर तीखे वर्षा आरम्भ की, मानो बादल मेरुगिरिपर कर रहे हों ॥ २५½ ॥

स पीड्यमानः समरे कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ॥ २६ ॥
अभिमन्युर्महाराज तावकान् समकम्पयत् ।
यथा देवासुरे युद्धे वज्रपाणिर्महासुरान् ॥ २७ ॥

महाराज ! अभिमन्यु अस्त्रविद्याका ज्ञाता और उन्मत्त होकर लड़नेवाला है। उसने समरभूमिमें पीड़ित होनेपर भी आपके सैनिकोंमें कँपकँपी उत्पन्न

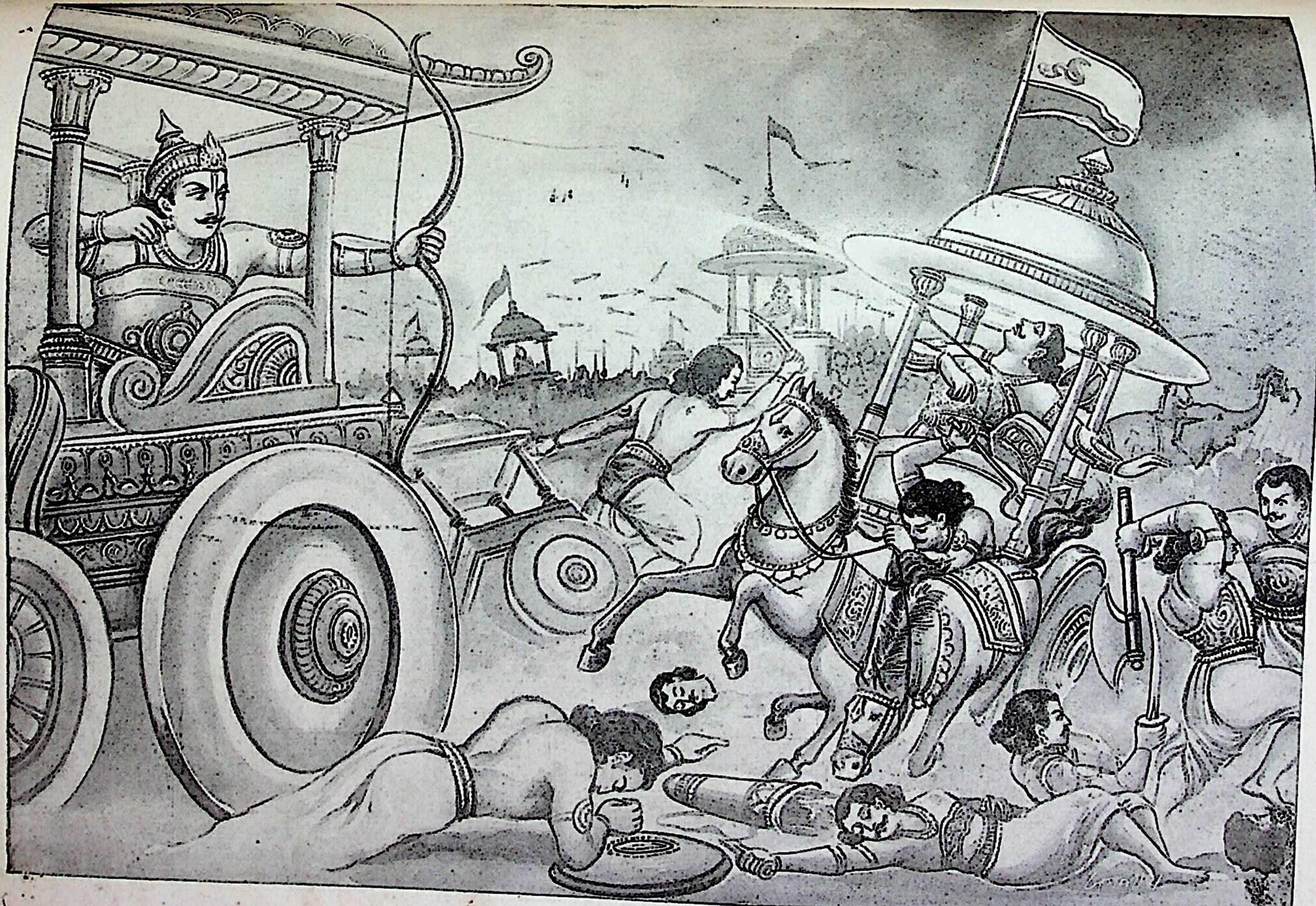

भीमसेनके बाणसे मूर्च्छित दुर्योधन

थी। ठीक उसी तरह, जैसे देवासुर-संग्राममें वज्रधारी इन्द्रने बड़े-बड़े असुरोंको भयसे पीड़ित कर दिया था २६-२७

विकर्णस्य ततो भल्लान् प्रेषयामास भारत।
चतुर्दश रथश्रेष्ठो घोरानाशीविषोपमान्॥ २८॥
स तैर्विकर्णस्य रथात् पातयामास वीर्यवान्।
ध्वजं सूतं हयांश्चैव नृत्यमान इवाहवे॥ २९॥

भारत! तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ पराक्रमी अभिमन्युने विकर्णके ऊपर सर्पके समान आकारवाले चौदह भयंकर भल्ल चलाये और उनके द्वारा विकर्णके रथसे ध्वज, सारथि और घोड़ोंको मार गिराया। उस समय वह युद्धमें नृत्य-सा कर रहा था॥ २८-२९॥

पुनश्चान्याञ्शरान् पीतानकुण्ठाग्राञ्शिलाशितान्।
षयामास संक्रुद्धो विकर्णाय महाबलः॥ ३०॥

तत्पश्चात् उस महाबली वीरने अत्यन्त कुपित हो शान-र चढ़ाकर तेज किये हुए अप्रतिहत धारवाले दूसरे पानी-र बाण विकर्णपर चलाये॥ ३०॥

विकर्णं समासाद्य कङ्कबर्हिणवाससः।
त्वा देहं गता भूमिं ज्वलन्त इव पन्नगाः॥ ३१॥

उन बाणोंके पुच्छभागमें मोरके पंख लगे हुए थे। वे र्णके शरीरको विदीर्ण करके भीतर घुस गये और वहाँसे निकलकर प्रज्वलित सर्पोंकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े॥

शरा हेमपुङ्खाग्रा व्यदृश्यन्त महीतले।
कर्णरुधिरक्लिन्ना वमन्त इव शोणितम्॥ ३२॥

उन बाणोंके पुच्छ और अग्रभाग सुनहरे थे। वे विकर्णके रुधिरमें भीगे हुए बाण पृथ्वीपर रक्त वमन करते हुए-से ष्टिगोचर हो रहे थे॥ ३२॥

विकर्णं वीक्ष्य निर्भिन्नं तस्यैवान्ये सहोदराः।
अभ्यद्रवन्त समरे सौभद्रप्रमुखान् रथान्॥ ३३॥

विकर्णको क्षत-विक्षत हुआ देख उसके दूसरे भाइयोंने समरभूमिमें अभिमन्यु आदि रथियोंपर धावा किया॥ ३३॥

अभियात्वा तथैवान्यान् रथांस्तान् सूर्यवर्चसः।
अविध्यन् समरेऽन्योन्यं संरम्भाद् युद्धदुर्मदाः॥ ३४॥

वे सब-के-सब युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे। उन्होंने दूसरे-दूसरे रथियोंपर भी, जो अभिमन्युकी ही भाँति सूर्यके समान तेजस्वी थे, आक्रमण किया। फिर वे सब लोग अत्यन्त क्रोधमें भरकर एक दूसरेको अपने बाणोंद्वारा घायल करने लगे॥ ३४॥

दुर्मुखः श्रुतकर्माणं विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः।
ध्वजमेकेन चिच्छेद सारथिं चास्य सप्तभिः॥ ३५॥

दुर्मुखने श्रुतकर्माको सात शीघ्रगामी बाणोंद्वारा बींधकर एकसे उसका ध्वज काट डाला और सात बाणोंसे उसके सारथिको घायल कर दिया॥ ३५॥

अश्वाञ्जाम्बूनदैर्जालैः प्रच्छन्नान् वातरंहसः।
जघान षड्भिरासाद्य सारथिं चाभ्यपातयत्॥ ३६॥

उसके घोड़े वायुके समान वेगशाली तथा सोनेकी जालीसे आच्छादित थे। दुर्मुखने उन घोड़ोंको छः बाणोंसे मार डाला और सारथिको भी रथसे नीचे गिरा दिया॥ ३६॥

स हताश्वे रथे तिष्ठञ्छ्रुतकर्मा महारथः।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धो महोल्कां ज्वलितामिव॥ ३७॥

महारथी श्रुतकर्मा घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़ा रहा और अत्यन्त क्रोधमें भरकर उसने दुर्मुखपर प्रज्वलित उल्काके समान एक शक्ति चलायी॥ ३७॥

सा दुर्मुखस्य विमलं वर्म भित्त्वा यशस्विनः।
विदार्य प्राविशद् भूमिं दीप्यमाना स्वतेजसा॥ ३८॥

वह शक्ति अपने तेजसे उद्दीप्त हो रही थी। उसने यशस्वी दुर्मुखके चमकीले कवचको फाड़ डाला। फिर वह धरतीको चीरती हुई उसमें समा गयी॥ ३८॥

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र सुतसोमो महारथः।
पश्यतां सर्वसैन्यानां रथमारोपयत् स्वकम्॥ ३९॥

महारथी सुतसोमने अपने भाई श्रुतकर्माको युद्धमें रथहीन हुआ देख समस्त सैनिकोंके देखते-देखते उसे अपने रथपर चढ़ा लिया॥ ३९॥

श्रुतकीर्तिस्तथा वीरो जयत्सेनं सुतं तव।
अभ्ययात् समरे राजन् हन्तुकामो यशस्विनम्॥ ४०॥

राजन्! इसी प्रकार वीरवर श्रुतकीर्तिने युद्धभूमिमें आपके यशस्वी पुत्र जयत्सेनको मार डालनेकी इच्छासे उसपर आक्रमण किया॥ ४०॥

तस्य विक्षिपतश्चापं श्रुतकीर्तेर्महास्वनम्।
चिच्छेद समरे तूर्णं जयत्सेनः सुतस्तव॥ ४१॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन प्रहसन्निव भारत।

भारत! श्रुतकीर्ति जब बड़े जोर-जोरसे खींचकर अपने विशाल धनुषकी गम्भीर टंकार फैला रहा था, उसी समय रणभूमिमें आपके पुत्र जयत्सेनने हँसते हुए-से एक तीखे क्षुरप्रद्वारा तुरंत उसका धनुष काट दिया॥ ४१½॥

तं दृष्ट्वा छिन्नधन्वानं शतानीकः सहोदरम्॥ ४२॥
अभ्यपद्यत तेजस्वी सिंहवन्निनदन् मुहुः।

अपने भाईका धनुष कटा हुआ देख तेजस्वी शतानी बारंबार सिंहके समान गर्जना करता हुआ वहाँ आ पहुँचा ४

शतानीकस्तु समरे दृढं विस्फार्य कार्मुकम्॥ ४३

विव्याध दशभिस्तूर्णं जयत्सेनं शिलीमुखैः ।
ननाद सुमहानादं प्रभिन्न इव वारणः ॥ ४४ ॥

शतानीकने संग्रामभूमिमें अपने धनुषको जोरसे खींचकर शीघ्रतापूर्वक दस बाण मारकर जयत्सेनको घायल कर दिया। फिर उसने मदवर्षी गजराजके समान बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ४३-४४ ॥

अथान्येन सुतीक्ष्णेन सर्वावरणभेदिना ।
शतानीको जयत्सेनं विव्याध हृदये भृशम् ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् समस्त आवरणोंका भेदन करनेमें समर्थ दूसरे तीक्ष्ण बाणद्वारा शतानीकने जयत्सेनके वक्षःस्थलमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ४५ ॥

तथा तस्मिन् वर्तमाने दुष्कर्णो भ्रातुरन्तिके ।
चिच्छेद समरे चापं नाकुलेः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४६ ॥

उसके इस प्रकार करनेपर अपने भाईके पास खड़ा हुआ दुष्कर्ण क्रोधसे व्याकुल हो उठा। उसने समरभूमिमें नकुलपुत्र शतानीकका धनुष काट दिया ॥ ४६ ॥

अथान्यद् धनुरादाय भारसाहमनुत्तमम् ।
समादत्त शरान् घोराञ्शतानीको महाबलः॥ ४७ ॥

तब महाबली शतानीकने भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा अत्यन्त उत्तम धनुष लेकर उसपर भयंकर बाणोंका अनुसंधान किया ॥ ४७ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति चामन्त्र्य दुष्कर्णं भ्रातुरग्रतः ।
मुमोचास्मै शितान् बाणाञ्ज्वलितान् पन्नगानिव॥४८॥

फिर भाईके सामने ही दुष्कर्णसे 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहकर उसके ऊपर प्रज्वलित सर्पोंके समान तीखे बाणोंका प्रहार किया ॥ ४८ ॥

ततोऽस्य धनुरेकेन द्वाभ्यां सूतं च मारिष ।
चिच्छेद समरे तूर्णं तं च विव्याध सप्तभिः ॥ ४९ ॥

आर्य ! तदनन्तर एक बाणसे उसके धनुषको काट दिया, दोसे उसके सारथिको क्षत-विक्षत कर दिया और सात बाणोंसे उस युद्धस्थलमें स्वयं दुष्कर्णको भी तुरंत घायल कर दिया ॥ ४९ ॥

अश्वान् मनोजवांस्तस्य कर्बुरान् वातरंहसः ।
जघान निशितैस्तूर्णं सर्वान् द्वादशभिः शरैः ॥ ५० ॥

दुष्कर्णके घोड़े मन और वायुके समान वेगशाली थे। उनका रंग चितकबरा था। शतानीकने बारह तीखे बाणोंसे उन सब घोड़ोंको भी तुरंत मार डाला ॥ ५० ॥

अथापरेण भल्लेन सुयुक्तेनाशुपातिना ।
दुष्कर्णं सुदृढं क्रुद्धो विव्याध हृदये भृशम् ॥ ५१ ॥
स पपात ततो भूमौ वज्राहत इव द्रुमः ।

तत्पश्चात् लक्ष्यको शीघ्र मार गिरानेवाले एक दूसरे भल्ल नामक बाणका उत्तम रीतिसे प्रयोग करके क्रोधमें भरे हुए शतानीकने दुष्कर्णके हृदयमें अत्यन्त गहरा आघात किया। इससे दुष्कर्ण वज्राहत वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५१½ ॥

दुष्कर्णं व्यथितं दृष्ट्वा पञ्च राजन् महारथाः ॥ ५२ ॥
जिघांसन्तः शतानीकं सर्वतः पर्यवारयन् ।

राजन् ! दुष्कर्णको आघातसे पीड़ित देख पाँच महारथियोंने शतानीकको मार डालनेकी इच्छासे उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ५२½ ॥

छाद्यमानं शरव्रातैः शतानीकं यशस्विनम् ॥ ५३ ॥
अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः केकयाः पञ्च सोदराः ।

उनके बाणसमूहोंसे यशस्वी शतानीकको आच्छादित होते देख क्रोधमें भरे हुए पाँच भाई केकयराजकुमारोंने उन पाँचों महारथियोंपर धावा किया ॥ ५३½ ॥

तानभ्यापततः प्रेक्ष्य तव पुत्रा महारथाः ॥ ५४ ॥
प्रत्युद्ययुर्महाराज गजानिव महागजाः ।

महाराज ! उन्हें आते देख आपके महारथी पुत्र उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े, जैसे हाथी दूसरे हाथियोंसे भिड़नेके लिये आगे बढ़ते हैं ॥ ५४½ ॥

दुर्मुखो दुर्जयश्चैव तथा दुर्मर्षणो युवा ॥ ५५ ॥
शत्रुंजयः शत्रुसहः सर्वे क्रुद्धा यशस्विनः ।
प्रत्युद्याता महाराज केकयान् भ्रातरः समम् ॥ ५६ ॥

नरेश्वर ! दुर्मुख, दुर्जय, युवा वीर दुर्मर्षण, शत्रुंजय तथा शत्रुसह—ये सब-के-सब यशस्वी वीर क्रोधमें भरकर पाँचों भाई केकयोंका सामना करनेके लिये एक साथ आगे बढ़े।

रथैर्नगरसंकाशैर्हयैर्युक्तैर्मनोजवैः ।
नानावर्णविचित्राभिः पताकाभिरलंकृतैः ॥ ५७ ॥
वरचापधरा वीरा विचित्रकवचध्वजाः ।
विविशुस्ते परं सैन्यं सिंहा इव वनाद् वनम् ॥ ५८ ॥

उनके रथ नगरोंके समान प्रतीत होते थे। उनमें मनके समान वेगशाली घोड़े जुते हुए थे। नाना प्रकारके रूप-रंगवाली और विचित्र पताकाएँ उन्हें अलंकृत कर रही थीं। ऐसे रथोंपर आरूढ़ सुन्दर धनुष धारण किये विचित्र कवच और ध्वजोंसे सुशोभित उन वीरोंने शत्रुकी सेनामें उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे सिंह एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश करते हैं ॥ ५७-५८ ॥

तेषां सुतुमुलं युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ।
अवर्तत महारौद्रं निघ्नतामितरेतरम् ॥ ५९ ॥

फिर तो एक दूसरेपर प्रहार करते हुए उन सभी महा-

रथियोंमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा । रथोंसे रथ और हाथियोंसे हाथी भिड़ गये ॥ ५९ ॥

अन्योन्यागस्कृतां राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम् ।
मुहूर्तास्तमिते सूर्ये चक्रुर्युद्धं सुदारुणम् ॥ ६० ॥

राजन् ! एक दूसरेपर प्रहार करनेवाले उन महारथियोंका वह युद्ध यमलोककी वृद्धि करनेवाला था । सूर्यास्तके दो घड़ी बादतक उन सब लोगोंने बड़ा भयंकर युद्ध किया ॥

रथिनः सादिनश्चाथ व्यकीर्यन्त सहस्रशः ।
ततः शान्तनवः क्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६१ ॥
नाशयामास सेनां तां भीष्मस्तेषां महात्मनाम्।
पञ्चालानां च सैन्यानि शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ ६२ ॥

उसमें सहस्रों रथी और घुड़सवार प्राणशून्य होकर बिखर गये । तब शान्तनुनन्दन भीष्मने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उन महामना वीरोंकी सेनाका विनाश कर डाला; पाञ्चालोंकी सेनाकी कितनी ही टुकड़ियोंको अपने बाणोंद्वारा यमलोक पहुँचा दिया ॥ ६१-६२ ॥

एवं भित्त्वा महेष्वासः पाण्डवानामनीकिनीम्।
कृत्वावहारं सैन्यानां ययौ स्वशिबिरं नृप ॥ ६३ ॥

नरेश्वर ! महाधनुर्धर भीष्म इस प्रकार पाण्डवसेनाका संहार करके अपनी समस्त सेनाओंको युद्धसे लौटाकर अपने शिबिरको चले गये ॥ ६३ ॥

(नाशयामासतुर्वीरौ धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ।
कौरवाणामनीकानि शरैः संनतपर्वभिः ॥)

इसी प्रकार धृष्टद्युम्न और भीमसेन—इन दोनों वीरोंने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनाओंका विनाश कर डाला ॥

धर्मराजोऽपि सम्प्रेक्ष्य धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ।
मूर्ध्नि चैतावुपाघ्राय प्रहृष्टः शिबिरं ययौ ॥ ६४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्न और भीमसेन दोनोंसे मिलकर उनका मस्तक सूँघा और बड़े हर्षके साथ अपने शिबिरको प्रस्थान किया ॥ ६४ ॥

(अर्जुनो वासुदेवश्च कौरवाणामनीकिनीम् ।
हत्वा विद्राव्य च शरैः शिबिरायैव जग्मतुः ॥)

अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण भी कौरवसेनाको बाणोंद्वारा मारकर तथा रणभूमिसे भगाकर शिबिरको ही चल दिये ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि षष्ठदिवसावहारे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें छठे दिनके युद्धमें सेनाके शिबिरके लिये लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा दुर्योधनको आश्वासन तथा सातवें दिनके युद्धके लिये कौरवसेनाका प्रस्थान

संजय उवाच

अथ शूरा महाराज परस्परकृतागसः ।
जग्मुः स्वशिबिराण्येव रुधिरेण समुक्षिताः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपसमें एक दूसरेको चोट पहुँचानेवाले वे सभी शूरवीर खूनसे लथपथ हो अपने शिबिरोंको ही चले गये ॥ १ ॥

विश्रम्य च यथान्यायं पूजयित्वा परस्परम् ।
संनद्धाः समदृश्यन्त भूयो युद्धचिकीर्षया ॥ २ ॥

यथायोग्य विश्राम करके एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए वे लोग पुनः युद्ध करनेकी इच्छासे तैयार दिखायी देने लगे ॥ २ ॥

ततस्तव सुतो राजंश्चिन्तयाभिपरिप्लुतः ।
विस्रवच्छोणिताक्ताङ्गः पप्रच्छेदं पितामहम् ॥ ३ ॥

राजन् ! तदनन्तर आपके पुत्र दुर्योधनने, जिसका शरीर बहते हुए रक्तसे भीगा हुआ था, चिन्तामग्न होकर पितामह भीष्मके पास जाकर इस प्रकार पूछा—॥ ३ ॥

सैन्यानि रौद्राणि भयानकानि
व्यूढानि सम्यग् बहुलध्वजानि ।
विदार्य हत्वा च निपीड्य शूरा-
स्ते पाण्डवानां त्वरिता महारथाः॥ ४ ॥

'दादाजी ! हमारी सेनाएँ अत्यन्त भयंकर तथा रौद्ररूप धारण करनेवाली हैं । उनकी व्यूहरचना भी अच्छे ढंगसे की जाती है । इन सेनाओंमें ध्वजोंकी संख्या बहुत अधिक है । तथापि शूरवीर पाण्डव महारथी उनमें प्रवेश करके तुरंत हमारे सैनिकोंको विदीर्ण करते, मारते और पीड़ा देकर चले जाते हैं ॥ ४ ॥

सम्मोह्य सर्वान् युधि कीर्तिमन्तो
व्यूहं च तं मकरं वज्रकल्पम् ।

प्रविश्य भीमेन रणे हतोऽस्मि
घोरैः शरैर्मृत्युदण्डप्रकाशैः ॥ ५ ॥

'वे युद्धमें सबको मोहित करके अपनी कीर्तिका विस्तार करते हैं। देखिये न, भीमसेनने वज्रके समान दुर्भेद्य मकर-व्यूहमें प्रवेश करके मृत्युदण्डके समान भयंकर बाणोंद्वारा मुझे युद्धस्थलमें क्षत-विक्षत कर दिया है ॥ ५ ॥

क्रुद्धं तमुद्वीक्ष्य भयेन राजन्
सम्मूर्च्छितो न लभे शान्तिमद्य।
इच्छे प्रसादात् तव सत्यसंध
प्राप्तुं जयं पाण्डवेयांश्च हन्तुम् ॥ ६ ॥

'राजन्! भीमसेनको कुपित देखकर मैं भयसे व्याकुल हो उठता हूँ। आज मुझे शान्ति नहीं मिल रही है। सत्य-प्रतिज्ञ पितामह! मैं आपकी कृपासे पाण्डवोंको मारना और उनपर विजय पाना चाहता हूँ' ॥ ६ ॥

तेनैवमुक्तः प्रहसन् महात्मा
दुर्योधनं मन्युगतं विदित्वा।
तं प्रत्युवाचाविमना मनस्वी
गङ्गासुतः शस्त्रभृतां वरिष्ठः ॥ ७ ॥

दुर्योधनके ऐसा कहनेपर और उसे क्रोधमें भरा हुआ जानकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ मनस्वी महात्मा गङ्गानन्दन भीष्म-ने जोर-जोरसे हँसते हुए प्रसन्न मनसे उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ७ ॥

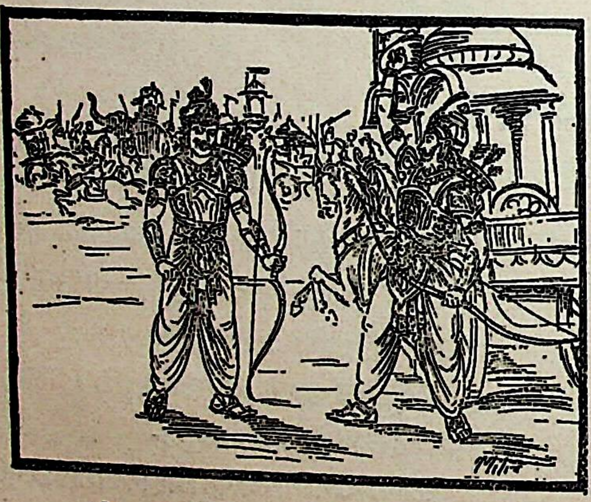

परेण यत्नेन विगाह्य सेनां
सर्वात्मनाहं तव राजपुत्र।
इच्छामि दातुं विजयं सुखं च
न चात्मानं छादयेऽहं त्वदर्थे ॥ ८ ॥

'राजकुमार! मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर महान् प्रयत्नके साथ पाण्डवोंकी सेनामें प्रवेश करके तुम्हें विजय और सुख देना चाहता हूँ। तुम्हारे लिये अपने आपको छिपाकर नहीं रखता हूँ ॥ ८ ॥

एते तु रौद्रा बहवो महारथा
यशस्विनः शूरतमाः कृतास्त्राः।
ये पाण्डवानां समरे सहाया
जितक्लमा रोषविषं वमन्ति ॥ ९ ॥

'जो समरभूमिमें पाण्डवोंके सहायक हुए हैं, बहुत-से ये महारथी वीर अत्यन्त भयंकर, परम शौर्यसम्पन्न, शस्त्रविद्याके विद्वान् तथा यशस्वी हैं। इन्होंने जीत लिया है और ये हमलोगोंपर रोषरूपी विष रहे हैं ॥ ९ ॥

ते नैव शक्याः सहसा विजेतुं
वीर्योद्धताः कृतवैरास्त्वया च।
अहं सेनां प्रतियोत्स्यामि राजन्
सर्वात्मना जीवितं त्यज्य वीर ॥ १० ॥

'ये बल-पराक्रममें प्रचण्ड और तुम्हारे साथ वैर हुए हैं। इन्हें सहसा पराजित नहीं किया जा सकता है। राजन्! वीरवर! मैं सम्पूर्ण शरीरसे अपने प्राणोंकी परवा छोड़कर पाण्डवोंकी सेनाके साथ युद्ध करूँगा ॥ १० ॥

रणे तवार्थाय महानुभाव
न जीवितं रक्ष्यतमं ममाद्य।
सर्वांस्तवार्थाय सदेवदैत्यान्
घोरान् दहेयं किमु शत्रुसेनाम् ॥ ११ ॥

'महानुभाव! तुम्हारे कार्यकी सिद्धिके लिये अब युद्धमें मुझे अपने जीवनकी रक्षा भी अत्यन्त आवश्यक नहीं जान पड़ती है। मैं तुम्हारे मनोरथकी सिद्धिके लिये देवताओंसहित समस्त भयंकर दैत्योंको भी दग्ध कर सकता हूँ; फिर शत्रुओंकी सेनाकी तो बात ही क्या है? ॥ ११ ॥

तान् पाण्डवान् योधयिष्यामि राजन्
प्रियं च ते सर्वमहं करिष्ये।
श्रुत्वैव चैतद् वचनं तदानीं
दुर्योधनः प्रीतमना बभूव ॥ १२ ॥

'राजन्! मैं उन पाण्डवोंसे भी युद्ध करूँगा और तुम्हारा सम्पूर्ण प्रिय कार्य सिद्ध करूँगा।' उस समय भीष्मजीकी यह बात सुनते ही दुर्योधनका मन प्रसन्न हो गया ॥ १२ ॥

सर्वाणि सैन्यानि ततः प्रहृष्टो
निर्गच्छतेत्याह नृपांश्च सर्वान्।
तदाज्ञया तानि विनिर्ययुर्द्रुतं ॥ १३ ॥
गजाश्वपादातरथायुतानि

तदनन्तर दुर्योधनने हर्षमें भरकर सम्पूर्ण राजाओं तथा सारी सेनाओंसे कहा—'युद्धके लिये निकलो।' राजा दुर्योधनकी आज्ञा पाकर सहस्रों हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथोंसे भरी हुई वे सारी सेनाएँ तुरंत रणके लिये प्रस्थित हुईं ॥ १३ ॥

प्रहर्षयुक्तानि तु तानि राजन्
महान्ति नानाविधशस्त्रवन्ति ।
स्थितानि नागाश्वपदातिमन्ति
विरेजुराजौ तव राजन् बलानि ॥ १४ ॥

महाराज ! आपकी वे विशाल सेनाएँ नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो अत्यन्त हर्ष एवं उत्साहमें भरी हुई ीं। राजन् ! घोड़े, हाथी और पैदलोंसे युक्त हो रणभूमिमें ड़ी हुई उन सेनाओंकी बड़ी शोभा होती थी ॥ १४ ॥

शस्त्रास्त्रविद्भिर्नरवीरयोधै-
रधिष्ठिताः सैन्यगणास्त्वदीयाः ।
रथौघपादातगजाश्वसंघैः
प्रयाद्भिराजौ विधिवत् प्रणुन्नैः ॥ १५ ॥
समुद्धतं वै तरुणार्कवर्णं
रजो बभौच्छादयन् सूर्यरश्मीन् ।
रेजुः पताका रथदन्तिसंस्था
वातेरिता भ्राम्यमाणाः समन्तात् ॥ १६ ॥

आपकी सेनाओंके सेनापति अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता एवं ीर योद्धा थे। उनसे विधिपूर्वक अनुशासित हो रथसमूह, हाथी और घोड़ोंके समुदाय जब युद्धभूमिमें जाने तब उनके पैरोंसे उठी हुई धूल सूर्यकी किरणोंको च्छादित करके प्रातःकालिक सूर्यकी प्रभाके समान कान्ति- प्रतीत होने लगी। रथों और हाथियोंपर खड़ी की हुई ाएँ चारों ओर वायुकी प्रेरणासे फहराती हुई बड़ी पा रही थीं ॥ १५-१६ ॥

नानारङ्गाः समरे तत्र राजन्
मेघैर्युता विद्युतः खे यथैव ।
वृन्दैः स्थिताश्चापि सुसम्प्रयुक्ता-
श्चकाशिरे दन्तिगणाः समन्तात् ॥ १७ ॥

राजन् ! जैसे आकाशमें बादलोंके साथ बिजलियाँ चमक रही हों, उसी प्रकार उस समराङ्गणमें चारों ओर अनेक रंगोंके दन्तार हाथी झुंडके झुंड खड़े हुए शोभा पा रहे थे। उनका संचालन सुन्दर ढंगसे हो रहा था ॥ १७ ॥

धनूंषि विस्फारयतां नृपाणां
बभूव शब्दस्तुमुलोऽतिघोरः ।
विमथ्यतो देवमहासुरौघै-
र्यथार्णवस्यादियुगे तदानीम् ॥ १८ ॥

जैसे आदियुगमें देवताओं और दैत्योंके समूहद्वारा समुद्रके मथे जाते समय अत्यन्त घोर शब्द होता था, उसी प्रकार उस समय युद्धस्थलमें अपने धनुषोंकी टंकार करनेवाले राजाओंका अत्यन्त भयानक तुमुल शब्द प्रकट हो रहा था ॥

तदुग्रनागं बहुरूपवर्णं
तवात्मजानां समुदीर्णमेवम् ।
बभूव सैन्यं रिपुसैन्यहन्तृ
युगान्तमेघौघनिभं तदानीम् ॥ १९ ॥

महाराज ! आपके पुत्रोंकी वह सेना भयंकर गजराजोंसे भरी थी। वह अनेक रूप-रंगोंकी दिखायी देती थी। उसका वेग बढ़ता ही जा रहा था। वह उस समय प्रलयकालके मेघसमुदायकी भाँति शत्रुसेनाका संहार करनेमें समर्थ प्रतीत होती थी ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधनसंवादविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

सातवें दिनके युद्धमें कौरव-पाण्डव-सेनाओंका मण्डल और वज्रव्यूह बनाकर भीषण संघर्ष

संजय उवाच

त्मजं तव पुनर्गाङ्गेयो ध्यानमास्थितम् ।
वीद् भरतश्रेष्ठः सम्प्रहर्षकरं वचः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर आपके ो चिन्तामें निमग्न देख भरतश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मने से पुनः हर्ष बढ़ानेवाली बात कही—॥ १ ॥

द्रोणश्च शल्यश्च कृतवर्मा च सात्वतः ।
त्थामा विकर्णश्च भगदत्तोऽथ सौबलः ॥ २ ॥
नुविन्दावावन्त्यौ बाह्लीकः सह बाह्लिकैः ।
र्तपो बलवान् मागधश्च सुदुर्जयः ॥ ३ ॥
बृहद्बलश्च कौसल्यश्चित्रसेनो विविंशतिः ।
रथाश्च बहुसाहस्राः शोभनाश्च महाध्वजाः ॥ ४ ॥
देशजाश्च हया राजन् स्वारूढा हयसादिभिः ।
गजेन्द्राश्च मदोद्वृत्ताः प्रभिन्नकरटामुखाः ॥ ५ ॥
पादाताश्च तथा शूरा नानाप्रहरणध्वजाः ।
नानादेशसमुत्पन्नास्त्वदर्थे योद्धुमुद्यताः ॥ ६ ॥

'राजन् ! मैं, द्रोणाचार्य, शल्य, यदुवंशी कृतवर्मा, अश्वत्थामा, विकर्ण, भगदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, अवन्ति- देशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लिकदेशीय वीरोंके साथ राजा बाह्लीक, बलवान् त्रिगर्तराज, अत्यन्त दुर्जय मगध-

राज, कोसलनरेश बृहद्बल, चित्रसेन, विविंशति तथा विशाल ध्वजाओंवाले परम सुन्दर कई हजार रथ, घुड़सवारोंसे युक्त देशीय घोड़े, गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराज और भाँति-भाँतिके आयुध एवं ध्वज धारण करनेवाले विभिन्न देशोंके शूरवीर पैदल सैनिक तुम्हारे लिये युद्ध करनेको उद्यत हैं ॥ २–६ ॥

एते चान्ये च बहवस्त्वदर्थे त्यक्तजीविताः ।
देवानपि रणे जेतुं समर्था इति मे मतिः ॥ ७ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से ऐसे सैनिक हैं, जिन्होंने तुम्हारे लिये अपना जीवन निछावर कर दिया है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि ये सब मिलकर युद्धस्थलमें देवताओंको भी जीतनेमें समर्थ हैं ॥ ७ ॥

अवश्यं हि मया राजंस्तव वाच्यं हितं सदा ।
अशक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ॥ ८ ॥

'राजन् ! मुझे सदा तुम्हारे हितकी बात अवश्य कहनी चाहिये; इसीलिये कहता हूँ—पाण्डवोंको इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी जीत नहीं सकते ॥ ८ ॥

वासुदेवसहायाश्च महेन्द्रसमविक्रमाः ।
सर्वथाहं तु राजेन्द्र करिष्ये वचनं तव ॥ ९ ॥

'राजेन्द्र ! एक तो वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी हैं, दूसरे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं, (अतः उन्हें जीतना असम्भव है तथापि) मैं सर्वथा तुम्हारे वचनका पालन करूँगा ॥ ९ ॥

पाण्डवांश्च रणे जेष्ये मां वा जेष्यन्ति पाण्डवाः।
एवमुक्त्वा ददावस्मै विशल्यकरणीं शुभाम् ॥ १० ॥
ओषधीं वीर्यसम्पन्नां विशल्यश्चाभवत् तदा ।

'पाण्डवोंको मैं युद्धमें जीतूँगा अथवा पाण्डव ही मुझे परास्त कर देंगे।' ऐसा कहकर भीष्मजीने दुर्योधनको विशल्यकरणी नामक शुभ एवं शक्तिशालिनी ओषधि प्रदान की। उस समय उसके प्रभावसे दुर्योधनके शरीरमें धँसे हुए बाण आसानीसे निकल गये और वह आघातजनित घाव तथा उसकी पीड़ासे मुक्त हो गया ॥ १०½ ॥

ततः प्रभाते विमले स्वेन सैन्येन वीर्यवान् ॥ ११ ॥
अव्यूहत स्वयं व्यूहं भीष्मो व्यूहविशारदः ।
मण्डलं मनुजश्रेष्ठो नानाशस्त्रसमाकुलम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर निर्मल प्रभातकी बेलामें व्यूहविशारद नरश्रेष्ठ बलवान् भीष्मने अपनी सेनाके द्वारा स्वयं ही मण्डल नामक व्यूहका निर्माण किया, जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न था ॥ ११-१२ ॥

सम्पूर्णं योधमुख्यैश्च तथा दन्तिपदातिभिः।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् परिवारितम् ॥ १३ ॥

वह व्यूह हाथी और पैदल आदि मुख्य-मुख्य योद्धाओंसे भरा हुआ था। कई सहस्र रथोंने उसे सब ओरसे घेर रखा था ॥

अश्ववृन्दैर्महद्भिश्च ऋष्टितोमरधारिभिः।
नागे नागे रथाः सप्त सप्त चाश्वा रथे रथे ॥ १४ ॥
अन्वश्वं दश धानुष्का धानुष्के दश चर्मिणः।

वह व्यूह ऋष्टि और तोमर धारण करनेवाले अश्वारोहियोंके महान् समुदायोंसे भरा था। एक-एक हाथीके पीछे सात-सात रथ, एक-एक रथके साथ सात-सात घुड़सवार, प्रत्येक घुड़सवारके पीछे दस-दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धरके साथ दस-दस ढाल-तलवार लिये रहनेवाले योद्धा खड़े थे ॥ १४½ ॥

एवं व्यूढं महाराज तव सैन्यं महारथैः ॥ १५ ॥
स्थितं रणाय महते भीष्मेण युधि पालितम्।

महाराज ! इस प्रकार महारथियोंके द्वारा व्यूहबद्ध होकर आपकी सेना महायुद्धके लिये खड़ी थी और भीष्म युद्धस्थलमें उसकी रक्षा करते थे ॥ १५½ ॥

दशाश्वानां सहस्राणि दन्तिनां च तथैव च ॥ १६ ॥
रथानामयुतं चापि पुत्राश्च तव दंशिताः।
चित्रसेनादयः शूरा अभ्यरक्षन् पितामहम् ॥ १७ ॥

उसमें दस हजार घोड़े, उतने ही हाथी और दस हजार रथ तथा आपके चित्रसेन आदि शूरवीर पुत्र कवच धारण करके पितामह भीष्मकी रक्षा कर रहे थे ॥ १६-१७ ॥

रक्ष्यमाणः स तैः शूरैर्गोप्यमानाश्च तेन ते।
संनद्धाः समदृश्यन्त राजानश्च महाबलाः ॥ १८ ॥

उन वीरोंसे भीष्म सुरक्षित थे और भीष्मसे उन शूरवीरोंकी रक्षा हो रही थी। वहाँ बहुत-से महाबली नरेश कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार दिखायी देते थे ॥

दुर्योधनस्तु समरे दंशितो रथमास्थितः।
व्यराजत श्रिया जुष्टो यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ १९ ॥

शोभासम्पन्न राजा दुर्योधन भी युद्धस्थलमें कवच बाँधकर रथपर आरूढ़ हो ऐसा सुशोभित हो रहा था, जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गमें अपनी दिव्य प्रभासे प्रकाशित हो रहे हों ॥

ततः शब्दो महानासीत् पुत्राणां तव भारत।
रथघोषश्च विपुलो वादित्राणां च निस्वनः ॥ २० ॥

भारत ! तदनन्तर आपके पुत्रोंका महान् सिंहनाद सुनायी देने लगा, साथ ही रथों और वाद्योंका गम्भीर घोष गूँज उठा ॥ २० ॥

भीष्मेण धार्तराष्ट्राणां व्यूढः प्रत्यङ्मुखो युधि।
मण्डलः स महाव्यूहो दुर्भेद्योऽमित्रघातनः ॥ २१ ॥

त ॥

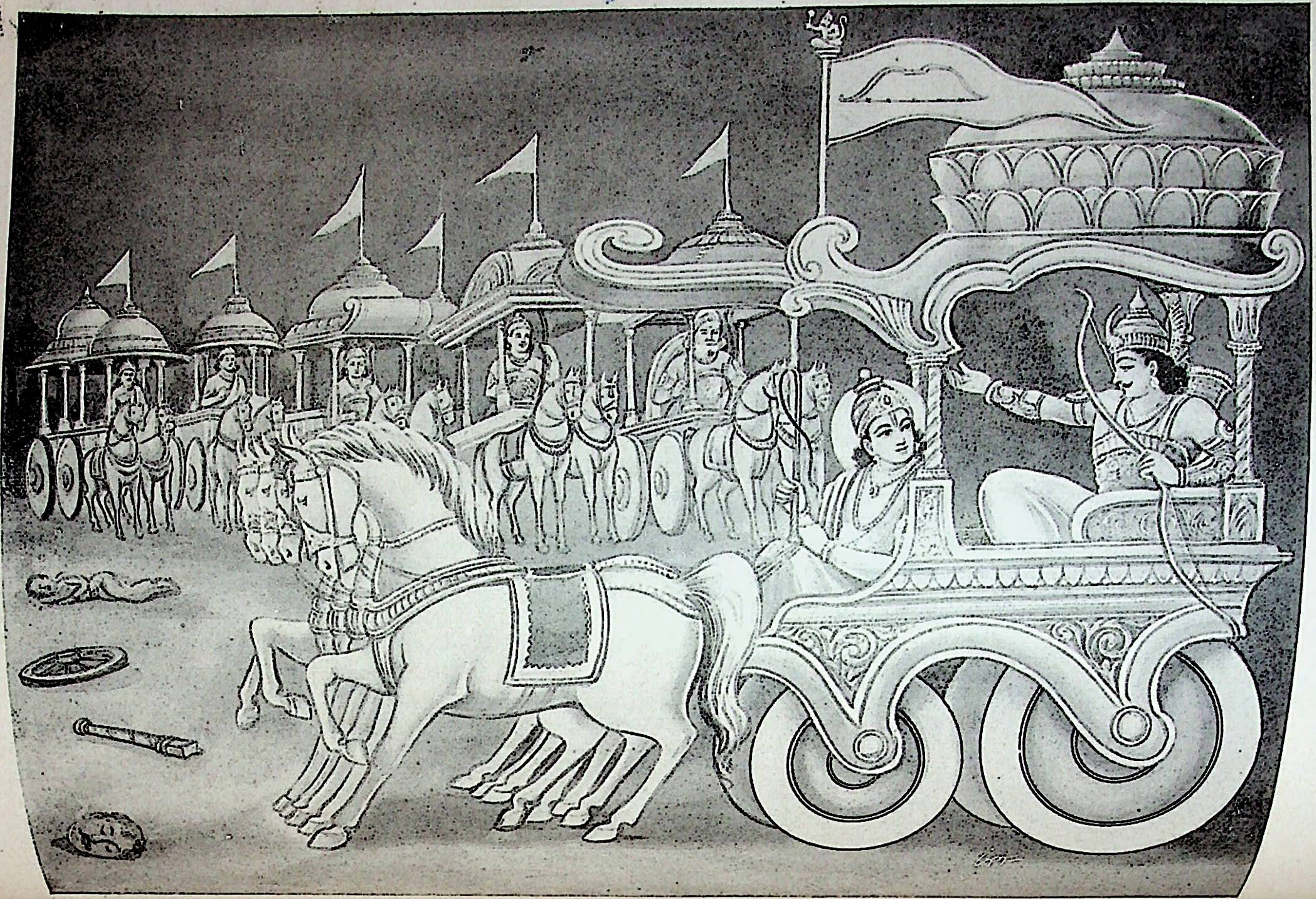

अर्जुनका व्यूहबद्ध कौरव-सेनाकी ओर श्रीकृष्णका ध्यान आकृष्ट करना

भीष्मने युद्धस्थलमें कौरव सैनिकोंका पश्चिमाभिमुख व्यूह बनाया था। वह मण्डल नामक महाव्यूह दुर्भेद्य होनेके साथ ही शत्रुओंका संहार करनेवाला था ॥ २१ ॥

सर्वतः शुशुभे राजन् रणेऽरीणां दुरासदः।
मण्डलं तु समालोक्य व्यूहं परमदुर्जयम् ॥ २२ ॥
स्वयं युधिष्ठिरो राजा वज्रं व्यूहमथाकरोत्।

राजन्! उस रणभूमिमें सब ओर उस व्यूहकी बड़ी शोभा हो रही थी। वह शत्रुओंके लिये सर्वथा दुर्गम था। कौरवोंके परम दुर्जय मण्डलव्यूहको देखकर राजा युधिष्ठिरने स्वयं अपनी सेनाके लिये वज्रव्यूहका निर्माण किया ॥२२½॥

था व्यूढेष्वनीकेषु यथास्थानमवस्थिताः ॥ २३ ॥
रथिनः सादिनः सर्वे सिंहनादमथानदन्।

इस प्रकार सेनाओंकी व्यूह-रचना हो जानेपर यथा-स्थान खड़े हुए रथी और घुड़सवार आदि सब सैनिक सिंहनाद करने लगे ॥ २३½ ॥

भित्सवस्ततो व्यूहं निर्ययुर्युद्धकाङ्क्षिणः ॥ २४ ॥
तेतरतः शूराः सहसैन्याः प्रहारिणः।

तत्पश्चात् प्रहार करनेमें कुशल सभी शूरवीर एक-दूसरेका व्यूह तोड़ने और परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे सेनासहित आगे बढ़े ॥ २४½ ॥

द्वाजो ययौ मत्स्यं द्रौणिश्चापि शिखण्डिनम् ॥२५॥
पदं दुर्योधनो राजा पार्षतं समुपाद्रवत्।

द्रोणाचार्यने विराटपर और अश्वत्थामाने शिखण्डीपर धावा किया। स्वयं राजा दुर्योधनने द्रुपदपर चढ़ाई की ॥

कुलः सहदेवश्च मद्रराजानमीयतुः ॥ २६ ॥
न्दानुविन्दावावन्त्याविरावन्तमभिद्रुतौ।

नकुल और सहदेवने अपने मामा मद्रराज शल्यपर धावा किया। अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने इरावान्पर आक्रमण किया ॥ २६½ ॥

र्वे नृपास्तु समरे धनंजयमयोधयन् ॥ २७ ॥
भीमसेनो रणे यान्तं हार्दिक्यं समवारयत्।

समस्त नरेशोंने संग्रामभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध किया। भीमसेनने युद्धमें विचरते हुए कृतवर्माको आगे बढ़नेसे रोका ॥

चित्रसेनं विकर्णं च तथा दुर्मर्षणं विभुः ॥ २८ ॥
आर्जुनिः समरे राजंस्तव पुत्रानयोधयत्।

राजन्! शक्तिशाली अर्जुनकुमार अभिमन्युने संग्राम-भूमिमें आपके तीन पुत्र चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षणके साथ युद्ध आरम्भ किया ॥ २८½ ॥

प्राग्ज्योतिषो महेष्वासो हैडिम्बं राक्षसोत्तमम् ॥ २९ ॥
अभिदुद्राव वेगेन मत्तो मत्तमिव द्विपम्।

महाधनुर्धर भगदत्तने राक्षसप्रवर घटोत्कचपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, मानो एक मतवाला हाथी दूसरे मतवाले हाथीपर टूट पड़ा हो ॥ २९½ ॥

अलम्बुषस्तदा राजन् सात्यकिं युद्धदुर्मदम् ॥ ३० ॥
ससैन्यं समरे क्रुद्धो राक्षसः समुपाद्रवत्।

राजन्! उस समय राक्षस अलम्बुषने युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले सेनासहित सात्यकिपर क्रोधपूर्वक धावा किया ॥३०½॥

भूरिश्रवा रणे यत्तो धृष्टकेतुमयोधयत् ॥ ३१ ॥
श्रुतायुषं च राजानं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।

भूरिश्रवाने रणभूमिमें प्रयत्नपूर्वक धृष्टकेतुके साथ युद्ध छेड़ दिया। धर्मपुत्र युधिष्ठिरने राजा श्रुतायुपर धावा किया॥

चेकितानश्च समरे कृपमेवान्वयोधयत् ॥ ३२ ॥
शेषाः प्रतियंयुर्यत्ता भीष्ममेव महारथम्।

चेकितानने समरमें कृपाचार्यके ही साथ युद्ध छेड़ दिया। शेष योद्धा प्रयत्नपूर्वक महारथी भीष्मका ही सामना करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततो राजसमूहास्ते परिवव्रुर्धनंजयम् ॥ ३३ ॥
शक्तितोमरनाराचगदापरिघपाणयः।

तदनन्तर उन राजसमूहोंने कुन्तीपुत्र धनंजयको सब ओरसे घेर लिया। उन सबके हाथोंमें शक्ति, तोमर, नाराच, गदा और परिघ आदि आयुध शोभा पा रहे थे ॥ ३३½ ॥

अर्जुनोऽथ भृशं क्रुद्धो वार्ष्णेयमिदमब्रवीत् ॥ ३४ ॥
पश्य माधव सैन्यानि धार्तराष्ट्रस्य संयुगे।
व्यूढानि व्यूहविदुषा गाङ्गेयेन महात्मना ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने अत्यन्त क्रुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्ण-से इस प्रकार कहा—'माधव! युद्धस्थलमें दुर्योधनकी इन सेनाओंको देखिये, व्यूहके विद्वान् महात्मा गङ्गानन्दनने इनका व्यूह रचा है ॥ ३४-३५ ॥

युद्धाभिकामाञ्शूरांश्च पश्य माधव दंशितान्।
त्रिगर्तराजं सहितं भ्रातृभिः पश्य केशव ॥ ३६ ॥

'माधव! युद्धकी इच्छासे कवच बाँधकर आये हुए इन शूरवीरोंपर दृष्टिपात कीजिये। केशव! यह देखिये, यह भाइयोंसहित त्रिगर्तराज खड़ा है ॥ ३६ ॥

अद्यैतान् नाशयिष्यामि पश्यतस्ते जनार्दन।
य इमे मां यदुश्रेष्ठ योद्धुकामा रणाजिरे ॥ ३७ ॥

'जनार्दन! यदुश्रेष्ठ! ये जो रणक्षेत्रमें मुझसे युद्ध करना चाहते हैं, मैं इन सबको आज आपके देखते-दे नष्ट कर दूँगा' ॥ ३७ ॥

एतदुक्त्वा तु कौन्तेयो धनुर्ज्यामवमृज्य च
ववर्ष शरवर्षाणि नराधिपगणान् प्रति ॥

ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने धनुषकी प्रत्यञ्चापर हाथ फेरा और विपक्षी नरेशोंपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३८ ॥

तेऽपि तं परमेष्वासाः शरवर्षैरपूरयन् ।
तडागं वारिधाराभिर्यथा प्रावृषि तोयदाः ॥ ३९ ॥

जैसे बादल वर्षा ऋतुमें जलकी धाराओंसे तालाबको भरते हैं, उसी प्रकार वे महाधनुर्धर नरेश भी बाणोंकी वृष्टिसे अर्जुनको भरपूर करने लगे ॥ ३९ ॥

हाहाकारो महानासीत् तव सैन्ये विशाम्पते ।
छाद्यमानौ रणे कृष्णौ शरैर्दृष्ट्वा महारणे ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! उस महायुद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको बाणोंसे आच्छादित देख आपकी सेनामें बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा ॥ ४० ॥

देवा देवर्षयश्चैव गन्धर्वाश्च सहोरगैः ।
विस्मयं परमं जग्मुर्दृष्ट्वा कृष्णौ तथागतौ ॥ ४१ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुनको उस अवस्थामें देखकर देवताओं, देवर्षियों, गन्धर्वों और नागोंको महान् आश्चर्य हुआ॥४१॥

ततः क्रुद्धोऽर्जुनो राजन्नैन्द्रमस्त्रमुदैरयत् ।
तत्राद्भुतमपश्याम विजयस्य पराक्रमम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! तब अर्जुनने कुपित होकर इन्द्रास्त्रका प्रयोग किया । उस समय हमलोगोंने अर्जुनका अद्भुत पराक्रम देखा ॥

शस्त्रवृष्टिं परैर्मुक्तां शरौघैर्यदवारयत् ।
न च तत्राप्यनिर्भिन्नः कश्चिदासीद् विशाम्पते ॥ ४३ ॥

उन्होंने अपने बाणसमूहद्वारा शत्रुओंकी बाण-वर्षाको रोक दिया । महाराज ! उस समय वहाँ भी योद्धा ऐसा नहीं रह गया था, जो उनके बाणोंसे विक्षत न हो गया हो ॥ ४३ ॥

तेषां राजसहस्राणां हयानां दन्तिनां तथा ।
द्वाभ्यां त्रिभिः शरैश्चान्यान् पार्थो विव्याध मारिष ॥

आर्य ! कुन्तीकुमार अर्जुनने उन सहस्रों राजाओं तथा हाथियोंमेंसे किन्हींको दो-दो और किन्हींको तीन बाणोंसे घायल कर दिया ॥ ४४ ॥

ते हन्यमानाः पार्थेन भीष्मं शान्तनवं ययुः ।
अगाधे मज्जमानानां भीष्मः पोतोऽभवत् तदा ॥ ४५ ॥

अर्जुनकी मार खाकर वे सब-के-सब शान्तनुनन्दन भीष्मकी शरणमें गये । उस समय अगाध विपत्ति-समुद्रमें डूबते हुए सैनिकोंके लिये भीष्म जहाज बन गये ॥४५॥

आपतद्भिस्तु तैस्तत्र प्रभग्नं तावकं बलम् ।
संचुक्षुभे महाराज वातैरिव महार्णवः ॥ ४६ ॥

महाराज ! पाण्डवोंके आक्रमण करनेपर आपकी सेनाका व्यूह भङ्ग हो गया । वह सेना प्रचण्ड वायुके वेगसे समुद्रकी भाँति विक्षुब्ध हो उठी ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनका युद्धविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८१॥

* * *

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनसे डरकर कौरवसेनामें भगदड़, द्रोणाचार्य और विराटका युद्ध, विराट-पुत्र शङ्खका वध, शिखण्डी और अश्वत्थामाका युद्ध, सात्यकिके द्वारा अलम्बुषकी पराजय, धृष्टद्युम्नके द्वारा दुर्योधनकी हार तथा भीमसेन और कृतवर्माका युद्ध

संजय उवाच

तथा प्रवृत्ते संग्रामे निवृत्ते च सुशर्मणि ।
भग्नेषु चापि वीरेषु पाण्डवेन महात्मना ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार संग्राम आरम्भ होनेपर महामना पाण्डुनन्दन अर्जुनसे पराजित हो सुशर्मा युद्धभूमिसे दूर हो गया और अन्यान्य वीर भी भाग खड़े हुए॥

क्षुभ्यमाणे बले तूर्णं सागरप्रतिमे तव ।
प्रत्युद्याते च गाङ्गेये त्वरितं विजयं प्रति ॥ २ ॥

आपकी समुद्र-जैसी विशाल वाहिनीमें तुरंत ही हलचल मच गयी । उस समय गङ्गानन्दन भीष्मने शीघ्रतापूर्वक अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ २ ॥

दृष्ट्वा दुर्योधनो राजा रणे पार्थस्य विक्रमम् ।
त्वरमाणः समभ्येत्य सर्वांस्तानब्रवीन्नृपान् ॥ ३ ॥

राजा दुर्योधनने रणभूमिमें अर्जुनका पराक्रम देखकर बड़ी उतावलीके साथ निकट जा उन समस्त नरेशोंसे कहा।

तेषां तु प्रमुखे शूरं सुशर्माणं महाबलम् ।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य भृशं संहर्षयन्निव ॥ ४ ॥

उन नरेशोंके सम्मुख सारी सेनाके बीचमें शूरवीर महाबली सुशर्माको अत्यन्त हर्ष प्रदान करता हुआ-सा दुर्योधन यों बोला—॥ ४ ॥

एष भीष्मः शान्तनवो योद्धुकामो धनंजयम् ।
सर्वात्मना कुरुश्रेष्ठस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ ५ ॥

'वीरो ! ये शान्तनुनन्दन कुरुश्रेष्ठ भीष्म अपना जीवन निछावर करके सम्पूर्ण हृदयसे अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

तं प्रयान्तं रणे वीरं सर्वसैन्येन भारतम् ।
संयत्ताः समरे सर्वे पालयध्वं पितामहम् ॥ ६ ॥

'सारी सेनाके साथ युद्धके लिये यात्रा करते हुए मेरे वीर पितामह भरतनन्दन भीष्मकी आप सब लोग प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें' ॥ ६ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा तु तान्यनीकानि सर्वशः ।
नरेन्द्राणां महाराज समाजग्मुः पितामहम् ॥ ७ ॥

महाराज ! 'बहुत अच्छा' कहकर राजाओंकी वे सम्पूर्ण सेनाएँ पितामह भीष्मके पास गयीं ॥ ७ ॥

ततः प्रयातः सहसा भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम् ।
रणे भारतमायान्तमाससाद महाबलः ॥ ८ ॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धभूमिमें सहसा अर्जुनके चले गये । भरतवंशी भीष्मको आते देख महाबली अर्जुन उनके पास जा पहुँचे ॥ ८ ॥

महाश्वेताश्वयुक्तेन भीमवानरकेतुना ।
महता मेघनादेन रथेनातिविराजता ॥ ९ ॥

वे जिस रथपर आरूढ़ होकर आये थे, वह अत्यन्त शोभायमान था । उसमें श्वेत वर्णके विशाल घोड़े जुते हुए थे। उसपर भयंकर वानरसे उपलक्षित ध्वजा फहरा रही थी और उसके पहियोंसे मेघके समान गम्भीर शब्द हो रहा था॥

समरे सर्वसैन्यानामुपयान्तं धनंजयम् ।
अभवत् तुमुलो नादो भयाद् दृष्ट्वा किरीटिनम्॥ १० ॥

किरीटधारी अर्जुनको युद्धमें समीप आते देख भयके मारे समस्त सैनिकोंके मुँहसे भयानक हाहाकार प्रकट होने लगा ॥ १० ॥

अभीषुहस्तं कृष्णं च दृष्ट्वाऽऽदित्यमिवापरम् ।
मध्यंदिनगतं संख्ये न शेकुः प्रतिवीक्षितुम् ॥ ११ ॥

हाथमें बागडोर लिये मध्याह्नकालके दूसरे सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको युद्धभूमिमें उपस्थित देख कोई भी योद्धा जी भर आँख देख भी न सके ॥ ११ ॥

तथा शान्तनवं भीष्मं श्वेताश्वं श्वेतकार्मुकम् ।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं श्वेतं ग्रहमिवोदितम् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार श्वेत घोड़े तथा श्वेत धनुषवाले शान्तनुनन्दन भीष्मको श्वेत ग्रहके समान उदित देख पाण्डवसैनिक उनसे आँख न मिला सके ॥ १२ ॥

स सर्वतः परिवृतस्त्रिगर्तैः सुमहात्मभिः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च तथान्यैश्च महारथैः ॥ १३ ॥

महामना त्रिगर्तोंने अपने भाइयों, पुत्रों तथा अन्य महारथियोंके साथ उपस्थित होकर भीष्मको सब ओरसे घेर रक्खा था ॥ १३ ॥

भारद्वाजस्तु समरे मत्स्यं विव्याध पत्रिणा ।
ध्वजं चास्य शरेणाजौ धनुश्चैकेन चिच्छिदे ॥ १४ ॥

दूसरी ओर द्रोणाचार्यने मत्स्यराज विराटको युद्धमें एक बाणसे बींध डाला तथा एक बाणसे उनका ध्वज और एकसे धनुष काट डाला ॥ १४ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं विराटो वाहिनीपतिः ।
अन्यदादत्त वेगेन धनुर्भारसहं दृढम् ॥ १५ ॥

सेनापति विराटने वह कटा हुआ धनुष फेंककर वेगपूर्वक दूसरे सुदृढ़ धनुषको हाथमें लिया, जो भार सहन करनेमें समर्थ था ॥ १५ ॥

शरांश्चाशीविषाकाराञ्ज्वलितान् पन्नगानिव ।
द्रोणं त्रिभिश्च विव्याध चतुर्भिश्चास्य वाजिनः॥ १६ ॥

उन्होंने उसके द्वारा प्रज्वलित सर्पोंकी भाँति विषैले नागोंकी-सी आकृतिवाले बाण छोड़कर तीनसे द्रोणाचार्यको और चार बाणोंसे उनके घोड़ोंको बींध डाला ॥ १६ ॥

ध्वजमेकेन विव्याध सारथिं चास्य पञ्चभिः ।
धनुरेकेषुणाविध्यत् तत्राक्रुध्यद् द्विजर्षभः ॥ १७ ॥

फिर एक बाणसे ध्वजको, पाँच बाणोंसे सारथिको और एकसे धनुषको बींध डाला । इससे द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ॥ १७ ॥

तस्य द्रोणोऽवधीदश्वाञ्शरैः संनतपर्वभिः ।
अष्टाभिर्भरतश्रेष्ठ सूतमेकेन पत्रिणा ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! फिर द्रोणने झुकी हुई गाँठवाले आठ बाणोंद्वारा विराटके घोड़ोंको और एक बाणसे सारथिको मार डाला ॥

स हताश्वादवप्लुत्य स्यन्दनाद्धतसारथिः ।
आरुरोह रथं तूर्णं पुत्रस्य रथिनां वरः ॥ १९ ॥

सारथि और घोड़ोंके मारे जानेपर रथियोंमें श्रेष्ठ विराट अपने रथसे तुरंत कूद पड़े और पुत्रके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ १९ ॥

ततस्तु तौ पितापुत्रौ भारद्वाजं रथे स्थितौ ।
महता शरवर्षेण वारयामासतुर्बलात् ॥ २० ॥

अब उन दोनों पिता-पुत्रोंने एक ही रथपर बैठकर महान् बाणवर्षाके द्वारा द्रोणाचार्यको बलपूर्वक आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २० ॥

भारद्वाजस्ततः क्रुद्धः शरमाशीविषोपमम् ।
चिक्षेप समरे तूर्णं शङ्खं प्रति जनेश्वर ॥ २१ ॥

जनेश्वर ! तब द्रोणाचार्यने कुपित होकर युद्धभूमिमें विषधर सर्पके समान एक भयंकर बाण शङ्खपर शीघ्रतापूर्वक चलाया ॥

स तस्य हृदयं भित्त्वा पीत्वा शोणितमाहवे ।
जगाम धरणीं बाणो लोहितार्द्रवरच्छदः ॥ २२ ॥

वह बाण शङ्खकी छाती छेदकर रणभूमिमें उसका रक्त पीकर धरतीमें समा गया । उसके श्रेष्ठ पंख लोहूमें भीगकर लाल हो रहे थे ॥ २२ ॥

स पपात रणे तूर्णं भारद्वाजशराहतः ।
धनुस्त्यक्त्वा शरांश्चैव पितुरेव समीपतः ॥ २३ ॥

द्रोणाचार्यके बाणोंसे घायल होकर शङ्ख पिताके पास ही धनुष-बाण छोड़कर तुरंत ही रणभूमिमें गिर पड़ा ॥ २३ ॥

हतं तमात्मजं दृष्ट्वा विराटः प्राद्रवद् भयात् ।
उत्सृज्य समरे द्रोणं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ २४ ॥

अपने पुत्रको मारा गया देख मुँह बाये हुए कालके समान भयंकर द्रोणाचार्यको समरभूमिमें छोड़कर विराट भयके मारे भाग गये ॥ २४ ॥

भारद्वाजस्ततस्तूर्णं पाण्डवानां महाचमूम् ।
दारयामास समरे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २५ ॥

तब द्रोणाचार्यने संग्रामभूमिमें तुरंत ही पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीको विदीर्ण करना आरम्भ किया । सैकड़ों-हजारों योद्धा धराशायी हो गये ॥ २५ ॥

शिखण्डी तु महाराज द्रौणिमासाद्य संयुगे ।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये नाराचैस्त्रिभिराशुगैः ॥ २६ ॥

महाराज ! दूसरी ओर शिखण्डीने युद्धभूमिमें अश्वत्थामाके पास पहुँचकर तीन शीघ्रगामी नाराचोंद्वारा उसके भौंहोंके मध्यभागमें आघात किया ॥ २६ ॥

स बभौ रथशार्दूलो ललाटे संस्थितैस्त्रिभिः ।
शिखरैः काञ्चनमयैर्मेरुस्त्रिभिरिवोच्छ्रितैः ॥ २७ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा ललाटमें लगे हुए उन तीनों बाणोंके द्वारा तीन ऊँचे सुवर्णमय शिखरोंसे युक्त मेरु पर्वतके समान शोभा पाने लगा ॥ २७ ॥

अश्वत्थामा ततः क्रुद्धो निमेषार्धाच्छिखण्डिनः ।
ध्वजं सूतमथो राजंस्तुरगानायुधानि च ॥ २८ ॥
शरैर्बहुभिराच्छिद्य पातयामास संयुगे ।

राजन् ! तदनन्तर क्रोधमें भरे अश्वत्थामाने आधे निमेषमें बहुत-से बाणोंद्वारा शिखण्डीके ध्वज, सारथि, घोड़ों और आयुधोंको रणभूमिमें काट गिराया ॥ २८½ ॥

स हताश्वादवप्लुत्य रथाद् वै रथिनां वरः ॥ २९ ॥
खड्गमादाय सुशितं विमलं च शरावरम् ।
श्येनवद् व्यचरत् क्रुद्धः शिखण्डी शत्रुतापनः ॥ ३० ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ शत्रुसंतापी शिखण्डी घोड़ोंके मारे उस रथसे कूद पड़ा और बहुत तीखी एवं चमकीली और ढाल हाथमें लेकर कुपित हुए श्येन पक्षीकी भाँति ओर विचरने लगा ॥ २९-३० ॥

सखड्गस्य महाराज चरतस्तस्य संयुगे ।
नान्तरं ददृशे द्रौणिस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३१ ॥

महाराज ! तलवार लेकर युद्धमें विचरते हुए का थोड़ा-सा भी छिद्र अश्वत्थामाको नहीं दिखायी यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३१ ॥

ततः शरसहस्राणि बहूनि भरतर्षभ ।
प्रेषयामास समरे द्रौणिः परमकोपनः ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब परम क्रोधी अश्वत्थामाने शिखण्डीपर कई हजार बाणोंकी वर्षा की ॥ ३२ ॥

तामापतन्तीं समरे शरवृष्टिं सुदारुणाम् ।
असिना तीक्ष्णधारेण चिच्छेद बलिनां वरः ॥ ३३ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ शिखण्डीने समरभूमिमें होनेवाली अत्यन्त भयंकर बाण-वर्षाको तीखी धारवाली काट डाला ॥ ३३ ॥

ततोऽस्य विमलं द्रौणिः शतचन्द्रं मनोरमम् ।
चर्माच्छिनदसिं चास्य खण्डयामास संयुगे ॥ ३४ ॥

तब अश्वत्थामाने सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे शिखण्डीकी परम सुन्दर ढाल और चमकीली युद्धस्थलमें टूक-टूक कर दिया ॥ ३४ ॥

शितैस्तु बहुशो राजंस्तं च विव्याध पत्रिभिः ।
शिखण्डी तु ततः खड्गं खण्डितं तेन सायकैः ॥ ३५ ॥
आविध्य व्यसृजत् तूर्णं ज्वलन्तमिव पन्नगम् ।
तमापतन्तं सहसा कालानलसमप्रभम् ॥ ३६ ॥
चिच्छेद समरे द्रौणिर्दर्शयन् पाणिलाघवम् ।
शिखण्डिनं च विव्याध शरैर्बहुभिरायसैः ॥ ३७ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् पंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा को भी बहुत घायल कर दिया । अश्वत्थामाद्वारा मारसे खण्डित किये हुए उस खड्गको शिखण्डीने तुरंत ही उसके ऊपर चला दिया । वह खड्ग सा प्रकाशित हो उठा । अपने ऊपर आते हुए अग्निके समान तेजस्वी उस खड्गको अश्वत्थामाने अपना हस्त-लाघव दिखाते हुए सहसा काट डाला ।

बहुत-से लोहमय बाणोंद्वारा उसने शिखण्डीको भी घायल कर दिया ॥ ३५—३७ ॥

शिखण्डी तु भृशं राजंस्ताड्यमानः शितैः शरैः।
आरुरोह रथं तूर्णं माधवस्य महात्मनः ॥ ३८ ॥

राजन् ! अश्वत्थामाके तीखे बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर शिखण्डी तुरंत ही महामना सात्यकिके रथपर चढ़ गया ॥

सात्यकिश्चापि संक्रुद्धो राक्षसं क्रूरमाहवे ।
अलम्बुषं शरैस्तीक्ष्णैर्विव्याध बलिनां वरः ॥ ३९ ॥

इधर बलवानोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने भी अत्यन्त कुपित होकर अपने तीखे बाणोंद्वारा संग्रामभूमिमें क्रूर राक्षस अलम्बुषको बींध डाला ॥ ३९ ॥

राक्षसेन्द्रस्ततस्तस्य धनुश्चिच्छेद भारत ।
अर्धचन्द्रेण समरे तं च विव्याध सायकैः ॥ ४० ॥

भारत ! तब राक्षसराज अलम्बुषने रणक्षेत्रमें अर्धचन्द्राकार बाणके द्वारा सात्यकिके धनुषको काट दिया और अनेक सायकोंका प्रहार करके उन्हें भी घायल कर दिया ॥ ४० ॥

मायां च राक्षसीं कृत्वा शरवर्षैरवाकिरत् ।
तत्राद्भुतमपश्याम शैनेयस्य पराक्रमम् ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् उसने राक्षसी माया फैलाकर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की । उस समय हमने सात्यकिका अद्भुत पराक्रम देखा ॥ ४१ ॥

असम्भ्रमस्तु समरे वध्यमानः शितैः शरैः ।
ऐन्द्रमस्त्रं च वार्ष्णेयो योजयामास भारत ॥ ४२ ॥
धनंजयाद् यदनुप्राप्तं माधवेन यशस्विना ।

भारत ! वे समरभूमिमें तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी घबराये नहीं । उन यशस्वी यदुकुलरत्न सात्यकिने अर्जुनसे जिसकी शिक्षा प्राप्त की थी, उस ऐन्द्रास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४२½ ॥

तदस्त्रं भस्मसात् कृत्वा मायां तां राक्षसीं तदा ॥ ४३ ॥
अलम्बुषं शरैरन्यैरभ्याकिरत सर्वतः ।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ ४४ ॥

उस समय उस दिव्यास्त्रने उस राक्षसी मायाको तत्काल भस्म करके अलम्बुषके ऊपर सब ओरसे दूसरे-दूसरे बाणोंकी उसी प्रकार वर्षा आरम्भ की, जैसे वर्षाऋतुमें मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराता है ॥ ४३-४४ ॥

तत् तथा पीडितं तेन माधवेन यशस्विना ।
प्रदुद्राव भयाद् रक्षस्त्यक्त्वा सात्यकिमाहवे॥४५॥

परम यशस्वी मधुवंशी सात्यकिके द्वारा इस प्रकार पीड़ित होकर वह राक्षस भयसे युद्धस्थलमें उन्हें छोड़कर भाग गया॥

तमजेयं राक्षसेन्द्रं संख्ये मघवता अपि ।
शैनेयः प्राणदज्जित्वा योधानां तव पश्यताम् ॥ ४६ ॥

जिसे इन्द्र भी युद्धमें हरा नहीं सकते थे, उसी राक्षसराज अलम्बुषको आपके योद्धाओंके देखते-देखते परास्त करके सात्यकि सिंहनाद करने लगे ॥ ४६ ॥

न्यहनत् तावकांश्चापि सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
निशितैर्बहुभिर्बाणैस्तेऽद्रवन्त भयार्दिताः ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी सात्यकिने अपने बहुसंख्यक तीखे बाणोंद्वारा आपके अन्य योद्धाओंको भी मारना आरम्भ किया । उस समय उनके भयसे पीड़ित हो वे सब योद्धा भागने लगे ॥ ४७ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदस्यात्मजो बली ।
धृष्टद्युम्नो महाराज पुत्रं तव जनेश्वरम् ॥ ४८ ॥
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ।

महाराज ! इसी समय द्रुपदके बलवान् पुत्र धृष्टद्युम्नने आपके पुत्र राजा दुर्योधनको रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ४८½ ॥

स च्छाद्यमानो विशिखैर्धृष्टद्युम्नेन भारत ॥ ४९ ॥
विव्यथे न च राजेन्द्र तव पुत्रो जनेश्वर ।
धृष्टद्युम्नं च समरे तूर्णं विव्याध पत्रिभिः ॥ ५० ॥
षष्ट्या च त्रिंशता चैव तदद्भुतमिवाभवत् ।

भरतनन्दन ! राजेन्द्र ! जनेश्वर ! धृष्टद्युम्नके बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी आपके पुत्र दुर्योधनके मनमें व्यथा नहीं हुई । उसने युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नको तुरंत ही नब्बे बाणोंसे घायल कर दिया । यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥ ४९-५०½ ॥

तस्य सेनापतिः क्रुद्धो धनुश्चिच्छेद मारिष ॥ ५१ ॥
हयांश्च चतुरः शीघ्रं निजघान महाबलः ।
शरैश्चैनं सुनिशितैः क्षिप्रं विव्याध सप्तभिः ॥ ५२ ॥

आर्य ! तब महाबली पाण्डव-सेनापतिने भी कुपित होकर दुर्योधनके धनुषको काट दिया और शीघ्रतापूर्वक उसके चारों घोड़ोंको भी मार डाला । तत्पश्चात् अत्यन्त तीखे सात बाणोंद्वारा तुरंत ही दुर्योधनको घायल कर दिया ॥ ५१-५२ ॥

स हताश्वान्महाबाहुरवप्लुत्य रथाद् बली ।
पदातिरसिमुद्यम्य प्राद्रवत् पार्षतं प्रति ॥ ५३ ॥

घोड़े मारे जानेपर बलवान् महाबाहु दुर्योधन अपने रथसे कूद पड़ा और तलवार उठाकर धृष्टद्युम्नकी ओर पैदल ही दौड़ा ॥ ५३ ॥

शकुनिस्तं समभ्येत्य राजगृद्धी महाबलः ।
राजानं सर्वलोकस्य रथमारोपयत् स्वकम् ॥ ५४ ॥

उस समय महाबली शकुनिने, जो राजाको बहुत चाहता था, निकट आकर सम्पूर्ण जगत्‌के अधिपति दुर्योधनको अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ ५४ ॥

ततो नृपं पराजित्य पार्षतः परवीरहा।
न्यहनत् तावकं सैन्यं वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ५५ ॥

तब शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले धृष्टद्युम्नने राजा दुर्योधनको पराजित करके आपकी सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंका विनाश करते हैं ॥५५॥

कृतवर्मा रणे भीमं शरैराच्छन्महारथः।
प्रच्छादयामास च तं महामेघो रविं यथा ॥ ५६ ॥

महारथी कृतवर्माने रणमें भीमसेनको अपने बाणोंसे बहुत पीड़ित किया और महामेघ जैसे सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उसने भीमसेनको आच्छादित कर दिया ॥५६॥

ततः प्रहस्य समरे भीमसेनः परंतपः।
प्रेषयामास संक्रुद्धः सायकान् कृतवर्मणे ॥ ५७ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेनने युद्धमें हँसकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक कृतवर्मापर अनेकों सायकोंका प्रहार किया ॥ ५७ ॥

तैरर्द्यमानोऽतिरथः सात्वतः सत्यकोविदः।
नाकम्पत महाराज भीमं चार्च्छच्छितैः शरैः ॥ ५८ ॥

महाराज ! उन सायकोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी अतिरथी एवं सत्यकोविद सात्वतवंशी कृतवर्मा विचलित नहीं हुआ। उसने भीमसेनको पुनः तीखे
पीड़ित किया ॥ ५८ ॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा भीमसेनो महारथः।
सारथिं पातयामास सध्वजं सुपरिष्कृतम् ॥ ५९॥

फिर महारथी भीमसेनने उनके चारों घोड़ोंको
ध्वजसहित सुसज्जित सारथिको भी काट गिराया ॥ ५९ ॥

शरैर्बहुविधैश्चैनमाचिनोत् परवीरहा।
शकलीकृतसर्वाङ्गो हताश्वः प्रत्यदृश्यत ॥ ६०॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले भीमसेनने
प्रकारके बाणोंसे कृतवर्माके सारे शरीरको क्षत-विक्ष
दिया। उसके घोड़े मारे जा चुके थे। उस समय भीमसे
बाणोंसे उसका सारा शरीर छिन्न-भिन्न-सा दिखायी देता

हताश्वश्च ततस्तूर्णं वृषकस्य रथं ययौ।
श्यालस्य ते महाराज तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ ६१॥

महाराज ! तब घोड़ोंके मारे जानेपर कृतवर्मा आपके पु
देखते-देखते तुरंत ही आपके शाले वृषकके रथपर
हो गया ॥ ६१ ॥

भीमसेनोऽपि संक्रुद्धस्तव सैन्यमुपाद्रवत्।
निजघान च संक्रुद्धो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ६२॥

इधर भीमसेन भी अत्यन्त कुपित होकर आपकी से
पर टूट पड़े और दण्डपाणि यमराजकी भाँति उसका सं
करने लगे ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वैरथे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वैरथयुद्धविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

◆

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के द्वारा विन्द और अनुविन्दकी पराजय, भगदत्तसे घटोत्कचका हारना तथा मद्रराजपर नकुल और सहदेवकी विजय

धृतराष्ट्र उवाच

बहूनि हि विचित्राणि द्वैरथानि स संजय।
पाण्डूनां मामकैः सार्धमश्रौषं तव जल्पतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मैंने तुम्हारे मुखसे अबतक पाण्डवोंके मेरे पुत्रोंके साथ जो बहुत-से विचित्र द्वैरथ युद्ध हुए हैं, उनका वर्णन सुना ॥ १ ॥

न चैव मामकं किंचिद्धृष्टं शंससि संजय।
नित्यं पाण्डुसुतान् हृष्टानभग्नान् सम्प्रशंससि ॥ २ ॥

परंतु सूत ! तुमने अभीतक मेरे पक्षमें घटित हुई कोई हर्षकी बात नहीं कही है; उल्टे पाण्डवोंको प्रतिदिन हर्षसे पूर्ण और अभग्न (अपराजित) बताते हो ॥ २ ॥

जीयमानान् विमनसो मामकान् विगतौजसः।
वदसे संयुगे सूत दिष्टमेतन्न संशयः ॥

मेरे पुत्रोंको तेज और बलसे हीन, खिन्नचित्त
युद्धमें पराजित बताते हो। संजय ! यह सब प्रारब्ध
खेल है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

संजय उवाच

यथाशक्ति यथोत्साहं युद्धे चेष्टन्ति तावकाः।
दर्शयानाः परं शक्त्या पौरुषं पुरुषर्षभ ॥

संजय बोले—पुरुषश्रेष्ठ ! आपके पुत्र भी

शक्तिसे पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बल और उत्साहके नुसार युद्धमें सफलता प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं ॥४॥

ङ्गायाः सुरनद्या वै स्वादु भूत्वा यथोदकम् ।
महोदधेर्गुणाभ्यासाल्लवणत्वं निगच्छति ॥ ५ ॥
था तद् पौरुषं राजंस्तावकानां परंतप ।
प्य पाण्डुसुतान् वीरान् व्यर्थं भवति संयुगे ॥ ६ ॥

परंतप! नरेश! जैसे देवनदी गङ्गाजीका जल स्वादिष्ट होकर ी महासागरके संयोगसे उसीके गुणका सम्मिश्रण हो जानेके रण खारा हो जाता है, उसी प्रकार आपके पुत्रोंका षार्थ युद्धमें वीर पाण्डवोंतक पहुँचकर व्यर्थ हो ता है ॥५-६ ॥

मानान् यथाशक्ति कुर्वाणान् कर्म दुष्करम् ।
दोषेण कुरुश्रेष्ठ कौरवान् गन्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ! कौरव यथाशक्ति प्रयत्न करते और दुष्कर क्रम दिखाते हैं। अतः उनके ऊपर आपको दोषारोपण करना चाहिये ॥ ७ ॥

पराधात् सुमहान् सपुत्रस्य विशाम्पते ।
थिव्याः प्रक्षयो घोरो यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ ८ ॥

प्रजानाथ! पुत्रसहित आपके अपराधसे ही यह भूमण्डल-घोर एवं महान् संहार हो रहा है, जो यमलोककी वृद्धि नेवाला है ॥ ८॥

दोषात् समुत्पन्नं शोचितुं नार्हसे नृप ।
हि रक्षन्ति राजानः सर्वथात्रापि जीवितम् ॥ ९ ॥

नरेश्वर! अपने ही अपराधसे जो संकट प्राप्त हुआ है, के लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये। (आपके के कारण) राजालोग भी इस भूतलमें सर्वथा अपने नकी रक्षा नहीं कर पाते हैं ॥ ९ ॥

सुकृतिनां लोकानिच्छन्तो वसुधाधिपाः ।
विगाह्य युध्यन्ते नित्यं स्वर्गपरायणाः ॥ १० ॥

सुधाके नरेश युद्धमें पुण्यात्माओंके लोकोंकी इच्छा हुए शत्रुकी सेनामें घुसकर युद्ध करते हैं और सदा को ही परम लक्ष्य मानते हैं ॥ १० ॥

ह्णे तु महाराज प्रावर्तत जनक्षयः ।
कमना भूत्वा शृणु देवासुरोपमम् ॥ ११ ॥

हाराज! उस दिन पूर्वाह्णकालमें बड़ा भारी जनसंहार था। आप एकचित्त होकर देवासुर-संग्रामके समान यंकर युद्धका वृत्तान्त सुनिये ॥ ११ ॥

न्त्यौ तु महेष्वासौ महासेनौ महाबलौ ।
न्तमभिप्रेक्ष्य समेयातां रणोत्कटौ ॥ १२ ॥

न्तीके महाबली महाधनुर्धर और विशाल सेनासे युक्त राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, अर्जुनपुत्र इरावान्को सामने देखकर उसीसे भिड़ गये ॥ १२ ॥

तेषां प्रववृते युद्धं सुमहल्लोमहर्षणम् ।
इरावांस्तु सुसंक्रुद्धो भ्रातरौ देवरूपिणौ ॥ १३ ॥
विव्याध निशितैस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः ।
तावेनं प्रत्यविध्येतां समरे चित्रयोधिनौ ॥ १४ ॥

उन तीनों वीरोंका युद्ध अत्यन्त रोमाञ्चकारी हुआ। इरावान्ने कुपित होकर देवताओंके समान रूपवान् दोनों भाई विन्द और अनुविन्दको झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंसे तुरंत घायल कर दिया। वे भी समराङ्गणमें विचित्र युद्ध करनेवाले थे। अतः उन्होंने भी इरावान्को बींध डाला ॥ १३–१४ ॥

युध्यतां हि तथा राजन् विशेषो न व्यदृश्यत ।
यततां शत्रुनाशाय कृतप्रतिकृतैषिणाम् ॥ १५ ॥

नरेश्वर! दोनों ही पक्षवाले अपने शत्रुका नाश करनेके लिये प्रयत्नशील थे। दोनों ही एक दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करनेकी इच्छा रखते थे। अतः युद्ध करते समय उनमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ १५ ॥

इरावांस्तु ततो राजन्ननुविन्दस्य सायकैः ।
चतुर्भिश्चतुरो वाहाननयद् यमसादनम् ॥ १६ ॥

राजन्! उस समय इरावान्ने अपने चार बाणोंद्वारा अनुविन्दके चारों घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ १६ ॥

भल्लाभ्यां च सुतीक्ष्णाभ्यां धनुः केतुं च मारिष ।
चिच्छेद समरे राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १७ ॥

आर्य! राजन्! तदनन्तर दो तीखे भल्लोंद्वारा उन्होंने युद्धस्थलमें उसके धनुष और ध्वज काट डाले। यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ १७ ॥

त्यक्त्वानुविन्दोऽथ रथं विन्दस्य रथमास्थितः ।
धनुर्गृहीत्वा परमं भारसाधनमुत्तमम् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् अनुविन्द अपना रथ त्यागकर विन्दके रथपर जा बैठा और भार वहन करनेमें समर्थ दूसरा परम उत्तम धनुष लेकर युद्धके लिये डट गया ॥ १८ ॥

तावेकस्थौ रणे वीरावावन्त्यौ रथिनां वरौ ।
शरान् मुमुचतुस्तूर्णमिरावति महात्मनि ॥ १९ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों आवन्त्य वीर रणभूमिमें एक ही रथपर बैठकर बड़ी शीघ्रताके साथ महामना इरावान्पर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १९ ॥

ताभ्यां मुक्ता महावेगाः शराः काञ्चनभूषणाः ।
दिवाकरपथं प्राप्य च्छादयामासुरम्बरम् ॥ २० ॥

उन दोनोंके छोड़े हुए महान् वेगशाली सुवर्णभूषित बाणोंने सूर्यके पथपर पहुँचकर आकाशको आच्छादित कर दिया ॥ २० ॥

इरावांस्तु रणे क्रुद्धो भ्रातरौ तौ महारथौ ।
ववर्ष शरवर्षेण सारथिं चाप्यपातयत् ॥ २१ ॥

तब इरावान्‌ने भी रणक्षेत्रमें क्रुद्ध होकर उन दोनों महारथी बन्धुओंपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी और उनके सारथिको मार गिराया ॥ २१ ॥

तस्मिंस्तु पतिते भूमौ गतसत्त्वे तु सारथौ ।
रथः प्रदुद्राव दिशः समुद्भ्रान्तहयस्ततः ॥ २२ ॥

सारथिके प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर जानेके पश्चात् उस रथके घोड़े घबराकर भागने लगे और इस प्रकार वह रथ सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ने लगा ॥ २२ ॥

तौ स जित्वा महाराज नागराजसुतासुतः ।
पौरुषं ख्यापयंस्तूर्णं व्यधमत् तव वाहिनीम् ॥ २३ ॥

महाराज ! इरावान् नागराज-कन्या उलूपीका पुत्र था। उसने विन्द और अनुविन्दको जीतकर अपने पुरुषार्थका परिचय देते हुए तुरंत ही आपकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ॥ २३ ॥

सा वध्यमाना समरे धार्तराष्ट्री महाचमूः ।
वेगान् बहुविधांश्चक्रे विषं पीत्वेव मानवः ॥ २४ ॥

युद्धक्षेत्रमें इरावान्‌से पीड़ित होकर आपकी विशाल सेना विषपान किये हुए मनुष्यकी भाँति नाना प्रकारसे उद्वेग प्रकट करने लगी ॥ २४ ॥

हैडिम्बो राक्षसेन्द्रस्तु भगदत्तं समाद्रवत् ।
रथेनादित्यवर्णेन सध्वजेन महाबलः ॥ २५ ॥

दूसरी ओर राक्षसराज महाबली घटोत्कचने सूर्यके समान तेजस्वी एवं ध्वजयुक्त रथके द्वारा भगदत्तपर आक्रमण किया॥

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा नागराजं समास्थितः ।
यथा वज्रधरः पूर्वं संग्रामे तारकामये ॥ २६ ॥

जैसे पूर्वकालमें तारकामय-संग्रामके अवसरपर वज्रधारी इन्द्र ऐरावत नामक हाथीपर आरूढ़ होकर युद्धके लिये गये थे, उसी प्रकार इस महायुद्धमें प्राग्ज्योतिषपुरके स्वामी राजा भगदत्त एक गजराजपर चढ़कर आये थे ॥ २६ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च समागताः ।
विशेषं न स्म विविदुर्हैडिम्बभगदत्तयोः ॥ २७ ॥

वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये हुए देवताओं, गन्धर्वों तथा ऋषियोंकी भी समझमें यह नहीं आया कि घटोत्कच और भगदत्तमें पराक्रमकी दृष्टिसे क्या अन्तर है ॥ २७ ॥

यथा सुरपतिः शक्रस्त्रासयामास दानवान् ।
तथैव समरे राजा द्रावयामास पाण्डवान् ॥ २८॥

जैसे देवराज इन्द्रने दानवोंको भयभीत किया था, प्रकार भगदत्तने पाण्डव-सैनिकोंको भयभीत करके आरम्भ किया ॥ २८ ॥

तेन विद्राव्यमाणास्ते पाण्डवाः सर्वतो दिशम् ।
त्रातारं नाभ्यगच्छन्तः स्वेष्वनीकेषु भारत ॥ २९॥

भारत ! भगदत्तके द्वारा खदेड़े हुए पाण्डव-सैनिक सम्पूर्ण दिशाओंमें भागते हुए अपनी सेनाओंमें भी कोई रक्षक नहीं पाते थे ॥ २९ ॥

भैमसेनिं रथस्थं तु तत्रापश्याम भारत ।
शेषा विमनसो भूत्वा प्राद्रवन्त महारथाः ॥ ३०॥

भरतनन्दन ! उस समय वहाँ हमलोगोंने केवल घटोत्कचको ही रथपर स्थिरभावसे बैठा देखा। शेष खिन्नचित्त होकर वहींसे भाग रहे थे ॥ ३० ॥

निवृत्तेषु तु पाण्डूनां पुनः सैन्येषु भारत ।
आसीन्निष्ठानको घोरस्तव सैन्यस्य संयुगे ॥ ३१॥

भारत ! जब पाण्डवोंकी सेनाएँ पुनः युद्धभूमिमें आयीं, तब उस युद्धक्षेत्रमें आपकी सेनाके भीतर घोर हाहाकार होने लगा ॥ ३१ ॥

घटोत्कचस्ततो राजन् भगदत्तं महारणे ।
शरैः प्रच्छादयामास मेरुं गिरिमिवाम्बुदः ॥ ३२॥

राजन् ! उस समय उस महायुद्धमें घटोत्कचने बाणोंद्वारा भगदत्तको उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे बादल मेरुपर्वतको ढक लेता है ॥ ३२ ॥

निहत्य ताञ्शरान् राजा राक्षसस्य धनुश्च्युतान् ।
भैमसेनिं रणे तूर्णं सर्वमर्मस्वताडयत् ॥ ३३॥

राक्षस घटोत्कचके धनुषसे छूटे हुए उन सभी बाणोंको करके राजा भगदत्तने रणक्षेत्रमें तुरंत ही घटोत्कचके मर्मस्थानोंपर प्रहार किया ॥ ३३ ॥

स ताड्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः ।
न विव्यथे राक्षसेन्द्रो भिद्यमान इवाचलः ॥ ३४॥

झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा आहत होकर भी विदीर्ण किये जानेवाले पर्वतकी भाँति राक्षसराज घटोत्कच व्यथित एवं विचलित नहीं हुआ ॥ ३४ ॥

तस्य प्राग्ज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरांश्च चतुर्दश ।
प्रेषयामास समरे तांश्चिच्छेद स राक्षसः ॥ ३५॥

प्राग्ज्योतिषपुरके नरेशने कुपित हो उस पर चौदह तोमर चलाये, परंतु उसने समरभूमिमें उन काट दिया ॥ ३५ ॥

स तांश्छित्वा महाबाहुस्तोमरान् निशितैः शरैः।
भगदत्तं च विव्याध सप्तत्या कङ्कपत्रिभिः ॥ ३६ ॥

उन तोमरोंको तीखे बाणोंसे काटकर महाबाहु घटोत्कचने कंकपत्रयुक्त सत्तर बाणोंद्वारा भगदत्तको भी घायल कर दिया ॥

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा प्रहसन्निव भारत।
तस्याश्वांश्चतुरः संख्ये पातयामास सायकैः ॥ ३७ ॥

भारत ! तब राजा प्राग्ज्योतिष (भगदत्त) ने हँसते हुए-से उस युद्धमें अपने सायकोंद्वारा घटोत्कचके चारों घोड़ोंको मार गिराया ॥ ३७ ॥

स हताश्वे रथे तिष्ठन् राक्षसेन्द्रः प्रतापवान्।
शक्तिं चिक्षेप वेगेन प्राग्ज्योतिषगजं प्रति ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़े हुए प्रतापी राक्षसराज घटोत्कचने भगदत्तके हाथीपर बड़े वेगसे शक्तिका प्रहार किया ॥ ३८ ॥

तामापतन्तीं सहसा हेमदण्डां सुवेगिनीम्।
त्रिधा चिच्छेद नृपतिः सा व्यकीर्यत मेदिनीम् ॥ ३९ ॥

उस शक्तिमें सोनेका डंडा लगा हुआ था। वह अत्यन्त वेगशालिनी थी। उसे सहसा आती देख राजा भगदत्तने उसके तीन टुकड़े कर डाले। फिर वह पृथ्वीपर बिखर गयी ॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा हैडिम्बः प्राद्रवद् भयात्।
सुरेन्द्रस्य रणात् पूर्वं नमुचिर्दैत्यसत्तमः ॥ ४० ॥

अपनी शक्तिको कटी हुई देखकर हिडिम्बाकुमार घटोत्कच भगदत्तके भयसे उसी प्रकार भाग गया, जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्रके साथ युद्ध करते समय दैत्यराज नमुचि रणभूमिसे भागा था ॥ ४० ॥

तं विजित्य रणे शूरं विक्रान्तं ख्यातपौरुषम्।
अजेयं समरे वीरं यमेन वरुणेन च ॥ ४१ ॥
पाण्डवीं समरे सेनां सम्ममर्द स कुञ्जरः।
यथा वनगजो राजन् मृद्नंश्चरति पद्मिनीम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! घटोत्कच अपने पौरुषके लिये विख्यात, पराक्रमी, शूरवीर था। वरुण और यमराज भी उस वीरको रणभूमिमें परास्त नहीं कर सकते थे। उसीको वहाँ रणक्षेत्रमें जीतकर भगदत्तका वह हाथी समराङ्गणमें पाण्डवसेनाका उसी प्रकार मर्दन करने लगा, जैसे वनैला हाथी सरोवरमें कमलिनीको रौंदता हुआ विचरता है ॥ ४१-४२ ॥

मद्रेश्वरस्तु समरे यमाभ्यां समसज्जत।
स्वस्रीयौ छादयांचक्रे शरौघैः पाण्डुनन्दनौ ॥ ४३ ॥

दूसरी ओर मद्रराज शल्य युद्धमें अपने भानजे नकुल और सहदेवसे उलझे हुए थे। उन्होंने पाण्डुकुलको आनन्दित करनेवाले भानजोंको अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित कर दिया ॥

सहदेवस्तु समरे मातुलं दृश्य संगतम्।
अवारयच्छरौघेण मेघो यद्वद् दिवाकरम् ॥ ४४ ॥

सहदेवने समरभूमिमें अपने मामाको युद्धमें आसक्त देखकर जैसे बादल सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उन्हें अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥

छाद्यमानः शरौघेण हृष्टरूपतरोऽभवत्।
तयोश्चाप्यभवत् प्रीतिरतुला मातृकारणात् ॥ ४५ ॥

उनके बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर भी शल्य अत्यन्त प्रसन्न ही हुए। माताके नाते नकुल और सहदेवके मनमें भी उनके प्रति अनुपम प्रेमका भाव था ॥ ४५ ॥

ततः प्रहस्य समरे नकुलस्य महारथः।
(ध्वजं चिच्छेद बाणेन धनुश्चैकेन मारिष।
अथैनं छिन्नधन्वानं छादयन्निव भारत ॥
निजघान रणे तं तु सूतं चास्य न्यपातयत् ॥)
अश्वांश्च चतुरो राजंश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः ॥ ४६ ॥
प्रेषयामास समरे यमस्य सदनं प्रति।
हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ॥ ४७ ॥
आरुरोह ततो यानं भ्रातुरेव यशस्विनः।

आर्य ! तब महारथी शल्यने समरभूमिमें हँसकर एक बाणसे नकुलके ध्वजको और दूसरेसे उनके धनुषको भी काट दिया। भारत ! धनुष कट जानेपर उन्हें बाणोंसे आच्छादित-से करते हुए युद्धस्थलमें उनके सारथिको भी मार गिराया। राजन् ! फिर उन्होंने उस युद्धमें चार उत्तम सायकोंद्वारा नकुलके चारों घोड़ोंको यमराजके घर भेज दिया। घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी नकुल उस रथसे तुरंत ही कूदकर अपने यशस्वी भाई सहदेवके ही रथपर जा बैठे ॥ ४६-४७½ ॥

एकस्थौ तु रणे शूरौ दृढे विक्षिप्य कार्मुके ॥ ४८ ॥
मद्रराजरथं तूर्ण छादयामासतुः क्षणात्।

तदनन्तर एक ही रथपर बैठे हुए उन दोनों शूरवीरोंने क्षणभरमें अपने सुदृढ़ धनुषको खींचकर रणभूमिमें मद्रराजके रथको तुरंत ही आच्छादित कर दिया ॥ ४८½ ॥

स छाद्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४९ ॥
स्वस्रीयाभ्यां नरव्याघ्रो नाकम्पत यथाचलः।
प्रहसन्निव तां चापि शस्त्रवृष्टिं जघान ह ॥ ५० ॥

अपने भानजोंके चलाये हुए झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी नरश्रेष्ठ शल्य पर्वतकी भाँति अडिगभावसे खड़े रहे; कम्पित या विचलित नहीं हुए। उन्होंने हँसते हुए-से उस शस्त्रवर्षाको भी नष्ट कर दिया ४९-५० ॥

सहदेवस्ततः क्रुद्धः शरमुद्गृह्य वीर्यवान्।
मद्रराजमभिप्रेक्ष्य प्रेषयामास भारत ॥ ५१ ॥

भारत ! तब पराक्रमी सहदेवने कुपित होकर एक बाण हाथमें लिया और उसे मद्रराजको लक्ष्य करके चला दिया

स शरः प्रेषितस्तेन गरुडानिलवेगवान् ।
मद्रराजं विनिर्भिद्य निपपात महीतले ॥ ५२ ॥

उनके द्वारा चलाया हुआ वह बाण गरुड और वायुके समान वेगशाली था । वह मद्रराजको विदीर्ण करके पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ५२ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थे महारथः ।
निषसाद महाराज कश्मलं च जगाम ह ॥ ५३ ॥

महाराज ! उसके गहरे आघातसे पीड़ित एवं व्यथित होकर महारथी शल्य रथके पिछले भागमें जा बैठे और मूर्च्छित हो गये ॥ ५३ ॥

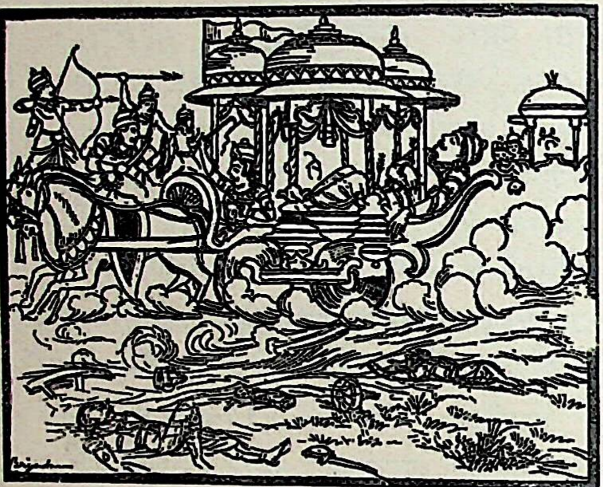

तं विसंज्ञं निपतितं सूतः सम्प्रेक्ष्य संयुगे ।
अपोवाह रथेनाजौ यमाभ्यामभिपीडितम् ॥ ५४ ॥

युद्धस्थलमें नकुल और सहदेवद्वारा पीड़ित होकर अचेत हो रथपर गिरा हुआ देख सारथि रथद्वारा रणभूमिसे बाहर हटा ले गया ॥ ५४ ॥

दृष्ट्वा मद्रेश्वररथं धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखम् ।
सर्वे विमनसो भूत्वा नेदमस्तीत्यचिन्तयन् ॥ ५५ ॥

मद्रराजके रथको युद्धसे विमुख हुआ देख आपके पुत्र मन-ही-मन दुखी हो सोचने लगे—शायद अब मद्रराजका जीवन शेष नहीं है ॥ ५५ ॥

निर्जित्य मातुलं संख्ये माद्रीपुत्रौ महारथौ ।
दध्मतुर्मुदितौ शङ्खौ सिंहनादं च नेदतुः ॥ ५६ ॥

महारथी माद्रीपुत्र युद्धमें अपने मामाको परास्त करके प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥ ५६ ॥

अभिदुद्रुवतुर्हृष्टौ तव सैन्यं विशाम्पते ।
यथा दैत्यचमूं राजन्निन्द्रोपेन्द्राविवामरौ ॥ ५७ ॥

प्रजानाथ ! जैसे इन्द्रदेव और उपेन्द्रदेव दैत्योंकी सेनाको मार भगाते हैं, उसी प्रकार नकुल-सहदेव हर्षमें भरकर आपकी सेनाको खदेड़ने लगे ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

* * *

चतुरशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरसे राजा श्रुतायुका पराजित होना, युद्धमें चेकितान और कृपाचार्यका मूर्छित होना, भूरिश्रवासे धृष्टकेतुका और अभिमन्युसे चित्रसेन आदिका पराजित होना एवं सुशर्मा आदिसे अर्जुनका युद्धारम्भ

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ।
श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य प्रेषयामास वाजिनः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! जब सूर्यदेव दिनके मध्यभागमें आ गये, तब राजा युधिष्ठिरने श्रुतायुको देखकर उसकी ओर अपने घोड़ोंको बढ़ाया ॥ १ ॥

अभ्यधावत् ततो राजा श्रुतायुषमरिंदमम् ।
विनिघ्नन् सायकैस्तीक्ष्णैर्नवभिर्नतपर्वभिः ॥ २ ॥

उस समय झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे सायकोंद्वारा शत्रुदमन श्रुतायुको घायल करते हुए राजा युधिष्ठिरने उसपर धावा किया ॥ २ ॥

स संवार्य रणे राजा प्रेषितान् धर्मसूनुना ।
शरान् सप्त महेष्वासः कौन्तेयाय समार्पयत् ॥ ३ ॥

तब महाधनुर्धर राजा श्रुतायुने युद्धमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरके चलाये हुए बाणोंका निवारण करके उन कुन्तीकुमारको सात बाण मारे ॥ ३ ॥

ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ।
असूनिव विचिन्वन्तो देहे तस्य महात्मनः ॥ ४ ॥

संग्राममें वे बाण महात्मा युधिष्ठिरके शरीरमें उनके प्राणोंको ढूँढ़ते हुए-से कवच छेदकर घुस गये और उनका रक्त पीने लगे ॥ ४ ॥

पाण्डवस्तु भृशं क्रुद्धो विद्धस्तेन महात्मना ।
रणे वराहकर्णेन राजानं हृद्यविध्यत ॥ ५ ॥

महामना श्रुतायुके बाणोंसे घायल होनेपर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने रणक्षेत्रमें वराहकर्ण नामक एक बाण चलाकर राजा श्रुतायुकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ ५ ॥

अथापरेण भल्लेन केतुं तस्य महात्मनः ।
रथश्रेष्ठो रथात् तूर्णं भूमौ पार्थो न्यपातयत् ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने भल्ल नामक दूसरे बाणसे महामना श्रुतायुके ध्वजको काटकर तुरंत ही रथसे पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ६ ॥

केतुं विपतितं दृष्ट्वा श्रुतायुः स तु पार्थिवः ।
पाण्डवं विशिखैस्तीक्ष्णै राजन् विव्याध सप्तभिः ॥ ७ ॥

राजन् ! ध्वजको गिरा हुआ देख राजा श्रुतायुने अपने सात तीखे बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको घायल कर दिया ॥ ७ ॥

ततः क्रोधात् प्रजज्वाल धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यथा युगान्ते भूतानि दिधक्षुरिव पावकः ॥ ८ ॥

यह देख धर्मपुत्र युधिष्ठिर प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूतोंको जला डालनेकी इच्छावाले अग्निदेवके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे ॥ ८ ॥

क्रुद्धं तु पाण्डवं दृष्ट्वा देवगन्धर्वराक्षसाः ।
विव्यथुर्महाराज व्याकुलं चाप्यभूज्जगत् ॥ ९ ॥

महाराज ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको कुपित देख देवता, गन्धर्व और राक्षस व्यथित हो उठे तथा सारा जगत् भी उससे व्याकुल हो गया ॥ ९ ॥

सर्वेषां चैव भूतानामिदमासीन्मनोगतम् ।
त्रीँल्लोकानद्य संक्रुद्धो नृपोऽयं धक्ष्यतीति वै ॥ १० ॥

उस समय समस्त प्राणियोंके मनमें यह विचार उठा कि आज निश्चय ही ये राजा युधिष्ठिर कुपित होकर तीनों लोकोंको भस्म कर डालेंगे ॥ १० ॥

ऋषयश्चैव देवाश्च चक्रुः स्वस्त्ययनं महत् ।
लोकानां नृप शान्त्यर्थं क्रोधिते पाण्डवे तदा ॥ ११ ॥

नरेश्वर ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके कुपित होनेपर उस समय सम्पूर्ण लोकोंकी शान्तिके लिये देवता तथा ऋषिलोग श्रेष्ठ स्वस्तिवाचन करने लगे ॥ ११ ॥

स च क्रोधसमाविष्टः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
दधारात्मवपुर्घोरं युगान्तादित्यसंनिभम् ॥ १२ ॥

उन्होंने क्रोधसे व्याप्त हो मुखके दोनों कोनोंको चाटते हुए अपने शरीरको प्रलयकालके सूर्यके समान अत्यन्त भयंकर बना लिया ॥ १२ ॥

ततः सैन्यानि सर्वाणि तावकानि विशाम्पते ।
निराशान्यभवंस्तत्र जीवितं प्रति भारत ॥ १३ ॥

प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! उस समय आपकी सारी सेनाएँ वहाँ अपने जीवनसे निराश हो गयीं ॥ १३ ॥

स तु धैर्येण तं कोपं संनिवार्य महायशाः ।
श्रुतायुषः प्रचिच्छेद मुष्टिदेशे महाधनुः ॥ १४ ॥

परंतु महायशस्वी युधिष्ठिरने धैर्यपूर्वक अपने क्रोधको दबा दिया और श्रुतायुके विशाल धनुषको, जहाँ उसे मुट्ठीसे पकड़ा जाता है, उसी जगहसे काट दिया ॥ १४ ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं नाराचेन स्तनान्तरे ।
निर्बिभेद रणे राजा सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ १५ ॥
सत्वरं च रणे राजंस्तस्य वाहान् महात्मनः ।
निजघान शरैः क्षिप्रं सूतं च सुमहाबलः ॥ १६ ॥

राजन् ! धनुष कट जानेपर महाबली राजा युधिष्ठिरने श्रुतायुकी छातीमें नाराचसे प्रहार किया । फिर उन्होंने समस्त सेनाओंके देखते-देखते रणक्षेत्रमें महामना श्रुतायुके घोड़ोंको तुरंत मार डाला और उसके सारथिको भी शीघ्र ही मौतके मुखमें डाल दिया ॥ १५-१६ ॥

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा दृष्ट्वा राज्ञोऽस्य पौरुषम् ।
विप्रदुद्राव वेगेन श्रुतायुः समरे तदा ॥ १७ ॥

रथके घोड़े मारे गये, यह देखकर तथा युद्धमें राजा युधिष्ठिरके पुरुषार्थका भी अवलोकन करके श्रुतायु उस समय बड़े वेगसे रथ छोड़कर भाग गया ॥ १७ ॥

तस्मिञ्जिते महेष्वासे धर्मपुत्रेण संयुगे ।
दुर्योधनबलं राजन् सर्वमासीत् पराङ्मुखम् ॥ १८ ॥

राजन् ! संग्राममें धर्मपुत्र युधिष्ठिरद्वारा महाधनुर्धर श्रुतायुके पराजित होनेपर दुर्योधनकी सारी सेना पीठ दिखाकर भागने लगी ॥ १८ ॥

एतत् कृत्वा महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
व्यात्ताननो यथा कालस्तव सैन्यं जघान ह ॥ १९ ॥

महाराज ! ऐसा पराक्रम करके धर्मपुत्र युधिष्ठिर मुँह फैलाये कालके समान आपकी सेनाका संहार करने लगे ॥

चेकितानस्तु वार्ष्णेयो गौतमं रथिनां वरम् ।
प्रेक्षतां सर्वसैन्यानां छादयामास सायकैः ॥ २० ॥

उधर वृष्णिवंशी चेकितानने रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यको सब सेनाओंके देखते-देखते अपने सायकोंसे आच्छादित कर दिया ॥ २० ॥

संनिवार्य शरांस्तांस्तु कृपः शारद्वतो युधि ।
चेकितानं रणे यत्तं राजन् विव्याध पत्रिभिः ॥ २१ ॥

राजन् ! शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने युद्धमें उन सब

बाणोंको काटकर सावधानीके साथ युद्ध करनेवाले चेकितानको पंखवाले बाणोंसे बींध डाला ॥ २१ ॥

अथापरेण भल्लेन धनुश्चिच्छेद मारिष।
सारथिं चास्य समरे क्षिप्रहस्तो न्यपातयत् ॥ २२ ॥

आर्य ! फिर दूसरे भल्लसे उसका धनुष काट दिया और अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए समरमें उसके सारथिको भी मार गिराया ॥ २२ ॥

अश्वांश्चास्यावधीद् राजन्नुभौ तौ पार्ष्णिसारथी।
सोऽवप्लुत्य रथात् तूर्णं गदां जग्राह सात्वतः॥ २३॥

राजन् ! तदनन्तर चेकितानके चारों घोड़ों और दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी कृपाचार्यने मार डाला। तब सात्वतवंशी चेकितानने रथसे कूदकर तुरंत ही गदा हाथमें ले ली ।२३।

स तया वीरघातिन्या गदया गदिनां वरः।
गौतमस्य हयान् हत्वा सारथिं च न्यपातयत् ॥ २४ ॥

गदाधारियोंमें श्रेष्ठ चेकितानने उस वीरघातिनी गदासे कृपाचार्यके घोड़ोंको मारकर उनके सारथिको भी धराशायी कर दिया ॥ २४ ॥

भूमिष्ठो गौतमस्तस्य शरांश्चिक्षेप षोडश।
शरास्ते सात्वतं भित्त्वा प्राविशन् धरणीतलम्॥ २५ ॥

तब कृपाचार्यने भूमिपर ही खड़े होकर चेकितानको सोलह बाण मारे। वे बाण चेकितानको छेदकर धरतीमें समा गये ॥ २५ ॥

चेकितानस्ततः क्रुद्धः पुनश्चिक्षेप तां गदाम्।
गौतमस्य वधाकाङ्क्षी वृत्रस्येव पुरंदरः ॥ २६ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए चेकितानने कृपाचार्यके वधकी इच्छासे उनपर पुनः वैसे ही गदाका प्रहार किया, जैसे इन्द्र वृत्रासुरपर प्रहार करते हैं ॥ २६ ॥

तामापतन्तीं विमलामश्मगर्भां महागदाम्।
शरैरनेकसाहस्रैर्वारयामास गौतमः ॥ २७ ॥

उस निर्मल एवं लोहेकी बनी हुई विशाल गदाको अपने ऊपर आती देख कृपाचार्यने अनेक सहस्र बाणोंद्वारा दूर गिरा दिया ॥ २७ ॥

चेकितानस्ततः खड्गं क्रोधादुद्धृत्य भारत।
लाघवं परमास्थाय गौतमं समुपाद्रवत् ॥ २८ ॥

भारत ! तब चेकितानने क्रोधपूर्वक तलवार खींच ली और बड़ी फुर्तीके साथ कृपाचार्यपर धावा किया ॥ २८ ॥

गौतमोऽपि धनुस्त्यक्त्वा प्रगृह्यासिं सुसंयतः।
वेगेन महता राजंश्चेकितानमुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

राजन् ! यह देख कृपाचार्यने भी धनुष फेंककर तलवार हाथमें ले ली और पूरी सावधानीके साथ वे बड़े चेकितानकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

तावुभौ बलसम्पन्नौ निस्त्रिंशवरधारिणौ।
निस्त्रिंशाभ्यां सुतीक्ष्णाभ्यामन्योन्यं संततक्षतुः॥

वे दोनों ही बलवान् थे। दोनोंने ही उत्तम धारण कर रखे थे। अतः अपनी उन अत्यन्त तलवारोंसे वे एक दूसरेको काटने लगे ॥ ३० ॥

निस्त्रिंशवेगाभिहतौ ततस्तौ पुरुषर्षभौ।
धरणीं समनुप्राप्तौ सर्वभूतनिषेविताम् ॥ ३

तलवारकी गहरी चोटसे घायल होकर वे दोनों श्रेष्ठ सम्पूर्ण भूतोंकी निवासभूत पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३

मूर्च्छयाभिपरीताङ्गौ व्यायामेन तु मोहितौ।
ततोऽभ्यधावद् वेगेन करकर्षः सुहृत्तया ॥ ३
चेकितानं तथाभूतं दृष्ट्वा समरदुर्मदः।
रथमारोपयच्चैनं सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥ ३

उनके सारे अङ्गोंमें मूर्छा व्याप्त हो रही थी। दोनों अधिक परिश्रमके कारण अचेत हो गये थे। उस समय उन्मत्त होकर लड़नेवाला करकर्ष चेकितानको वैसी में पड़ा देख सौहार्दके नाते बड़े वेगसे दौड़ा और सेनाके देखते-देखते उसने उन्हें अपने रथपर चढ़ा लिया

तथैव शकुनिः शूरः श्यालस्तव विशाम्पते।
आरोपयद् रथं तूर्णं गौतमं रथिनां वरम् ॥ ३

प्रजानाथ ! इसी प्रकार आपके साले शूरवीर रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यको शीघ्र ही अपने रथपर बैठा लि

सौमदत्तिं तथा क्रुद्धो धृष्टकेतुर्महाबलः।
नवत्या सायकैः क्षिप्रं राजन् विव्याध वक्षसि॥ ३

राजन् ! दूसरी ओर महाबली धृष्टकेतुने क्रोधमें नब्बे बाणोंसे शीघ्रतापूर्वक भूरिश्रवाकी छातीमें चोट पहुँचा

सौमदत्तिरुरःस्थैस्तैर्भृशं बाणैरशोभत।
मध्यंदिने महाराज रश्मिभिस्तपनो यथा ॥ ३६ ॥

महाराज ! छातीमें धँसे हुए उन बाणोंसे भूरिश्र उसी प्रकार शोभा पाने लगा, जैसे दोपहरके समय अपनी किरणोंद्वारा अधिक प्रकाशित होता है ॥ ३६ ॥

भूरिश्रवास्तु समरे धृष्टकेतुं महारथम्।
हतसूतहयं चक्रे विरथं सायकोत्तमैः ॥ ३७ ॥

तब भूरिश्रवाने समरभूमिमें उत्तम सायकोंद्वारा महार धृष्टकेतुके घोड़ों और सारथिको मारकर उन्हें रथ कर दिया ॥ ३७ ॥

विरथं तं समालोक्य हताश्वं हतसारथिम्।
महता शरवर्षेण च्छादयामास संयुगे ॥ ३८

भूरिश्रवाने धृष्टकेतुको घोड़े और सारथिके मारे जानेसे रथहीन हुआ देख युद्धस्थलमें बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करके ढक दिया ॥ ३८ ॥

स तु तं रथमुत्सृज्य धृष्टकेतुर्महामनाः ।
आरुरोह ततो यानं शतानीकस्य मारिष ॥ ३९ ॥

आर्य ! तत्पश्चात् महामना धृष्टकेतु उस रथको छोड़कर शतानीककी सवारीपर जा बैठे ॥ ३९ ॥

चित्रसेनो विकर्णश्च राजन् दुर्मर्षणस्तथा ।
रथिनो हेमसंनाहाः सौभद्रमभिदुद्रुवुः ॥ ४० ॥

राजन् ! इसी समय चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण—ये तीन रथियोंने सोनेके कवच बाँधकर सुभद्राकुमार अभिमन्युपर धावा किया ॥ ४० ॥

अभिमन्योस्ततस्तैस्तु घोरं युद्धमवर्तत ।
शरीरस्य यथा राजन् वातपित्तकफैस्त्रिभिः ॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! तब उनके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, ठीक उसी तरह, जैसे शरीरका वात, पित्त और कफ—इन तीनों धातुओंके साथ युद्ध होता रहता है ॥

विरथांस्तव पुत्रांस्तु कृत्वा राजन् महाहवे ।
न जघान नरव्याघ्रः स्मरन् भीमवचस्तदा ॥ ४२ ॥

राजन् ! उस महासमरमें आपके पुत्रोंको रथहीन करके नरसिंह अभिमन्युने उस समय भीमसेनकी प्रतिज्ञाका स्मरण करके उनका वध नहीं किया ॥ ४२ ॥

ततो राज्ञां बहुशतैर्गजाश्वरथयायिभिः ।
संवृतं समरे भीष्मं देवैरपि दुरासदम् ॥ ४३ ॥
प्रयान्तं शीघ्रमुद्वीक्ष्य परित्रातुं सुतांस्तव ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य बालमेकं महारथम् ॥ ४४ ॥
वासुदेवमुवाचेदं कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।

तदनन्तर हाथी, घोड़े और रथपर यात्रा करनेवाले सैकड़ों राजाओंसे घिरे हुए भीष्म, जो युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय थे, आपके पुत्रोंको बचानेके लिये एकमात्र बालक महारथी अभिमन्युको लक्ष्य करके तीव्र वेगसे आगे बढ़े। उनको उस ओर जाते देख श्वेतवाहन कुन्तीपुत्र अर्जुनने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥

चोदयाश्वान् हृषीकेश यत्रैते बहुला रथाः ॥ ४५ ॥
एते हि बहवः शूराः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।
यथा हन्युर्न नः सेनां तथा माधव चोदय ॥ ४६ ॥

'हृषीकेश ! जहाँ ये बहुत-से रथ जा रहे हैं, उधर ही अपने घोड़ोंको हाँकिये । माधव ! ये अस्त्र-विद्याके विद्वान् तथा रण-दुर्मद बहुसंख्यक शूरवीर जिस प्रकार हमारी सेनाका विनाश न कर सकें, उसी तरह इस रथको वहाँ ले चलिये' ॥ ४५-४६ ॥

एवमुक्तः स वार्ष्णेयः कौन्तेयेनामितौजसा ।
रथं श्वेतहयैर्युक्तं प्रेषयामास संयुगे ॥ ४७ ॥

अमित तेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर वृष्णिकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने युद्धमें श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए रथको आगे बढ़ाया ॥ ४७ ॥

निष्टानको महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ।
यदर्जुनो रणे क्रुद्धः संयातस्तावकान् प्रति ॥ ४८ ॥

आर्य ! रणभूमिमें क्रुद्ध हुए अर्जुन आपके सैनिकोंकी ओर जाने लगे, उस समय आपकी सेनामें बड़े जोरसे हाहाकार होने लगा ॥ ४८ ॥

समासाद्य तु कौन्तेयो राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः ।
सुशर्माणमथो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

राजन् ! कुन्तीकुमार अर्जुनने भीष्मकी रक्षा करनेवाले उन राजाओंके पास जाकर सुशर्मासे इस प्रकार कहा—॥

जानामि त्वां युधां श्रेष्ठमत्यन्तं पूर्ववैरिणम् ।
अनयस्याद्य सम्प्राप्तं फलं पश्य सुदारुणम् ॥ ५० ॥
अद्य ते दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ।

'वीर ! मैं जानता हूँ, तुम पाण्डवोंके पूर्ववैरी और योद्धाओंमें अत्यन्त उत्तम हो । तुमलोगोंने जो अन्याय किया है, उसका यह अत्यन्त भयंकर फल आज प्राप्त हुआ है, इसे देखो । आज मैं तुम्हें तुम्हारे पहलेके मरे हुए पितामहोंका दर्शन कराऊँगा' ॥ ५०½ ॥

एवं संजल्पतस्तस्य बीभत्सोः शत्रुघातिनः ॥ ५१ ॥
श्रुत्वापि परुषं वाक्यं सुशर्मा रथयूथपः ।
न चैनमब्रवीत् किंचिच्छुभं वा यदि वाशुभम् ॥ ५२ ॥

ऐसा कहते हुए शत्रुघाती अर्जुनके परुष वचनको सुनकर भी रथयूथपति सुशर्मा उनसे भला या बुरा कुछ भी न बोला ॥ ५१-५२ ॥

अभिगम्यार्जुनं वीरं राजभिर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्तात् पृष्ठतश्चैव पार्श्वतश्चैव सर्वतः ॥ ५३ ॥
परिवार्यार्जुनं संख्ये तव पुत्रैर्महारथः ।
शरैः संछादयामास मेघैरिव दिवाकरम् ॥ ५४ ॥

अनेक राजाओंसे घिरे हुए उस महारथीने आपके पुत्रोंको साथ ले युद्धमें वीर अर्जुनके सामने जाकर उन्हें आगे, पीछे और पार्श्व भाग—सब ओरसे घेर लिया और जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणोंसे अर्जुनको आच्छादित कर दिया ॥ ५३-५४ ॥

ततः प्रवृत्तः सुमहान् संग्रामः शोणितोदकः ।
तावकानां च समरे पाण्डवानां च भारत ॥ ५५ ॥

भारत! तत्पश्चात् रणक्षेत्रमें आपके पुत्रों और पाण्डवोंमें खूनको पानीकी तरह बहानेवाला महान् संग्राम छिड़ गया ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे सुशर्मार्जुनसमागमे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धमें सुशर्मा और अर्जुनकी भिड़न्तसे सम्बन्ध रखनेवाला चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

* * *

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनका पराक्रम, पाण्डवोंका भीष्मपर आक्रमण, युधिष्ठिरका शिखण्डीको उपालम्भ और भीमका पुरुषार्थ

संजय उवाच

स ताड्यमानस्तु शरैर्धनंजयः
पदा हतो नाग इव श्वसन् बली ।
बाणेन बाणेन महारथानां
चिच्छेद चापानि रणे प्रसह्य ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार शत्रुओंके बाणोंसे आहत होकर बलवान् अर्जुन पैरसे कुचले हुए सर्पकी भाँति क्रोधसे लंबी साँस खींचने लगे। उन्होंने बलपूर्वक पृथक्-पृथक् बाण मारकर युद्धमें सभी महारथियोंके धनुष काट डाले ॥ १ ॥

संछिद्य चापानि च तानि राज्ञां
तेषां रणे वीर्यवतां क्षणेन ।
विव्याध बाणैर्युगपन्महात्मा
निःशेषतां तेष्वथ मन्यमानः ॥ २ ॥

रणक्षेत्रमें उन पराक्रमी नरेशोंके धनुषोंको क्षणभरमें काटकर महामना अर्जुनने उनका पूर्णतः संहार कर देनेकी इच्छासे एक ही साथ सबको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २ ॥

निपेतुराजौ रुधिरप्रदिग्धा-
स्ते ताडिताः शक्रसुतेन राजन् ।
विभिन्नगात्राः पतितोत्तमाङ्गा
गतासवश्छिन्नतनुत्रकायाः ॥ ३ ॥

राजन्! इन्द्रपुत्र अर्जुनके द्वारा ताड़ित होकर वे सभी नरेश खूनसे लथपथ हो युद्धभूमिमें गिर पड़े। उनके अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे, मस्तक कटकर दूर जा गिरे थे, कवच और शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे और इस अवस्थामें पहुँचकर उन्हें अपने प्राण खो देने पड़े थे ॥ ३ ॥

महीं गताः पार्थबलाभिभूता
विचित्ररूपा युगपद् विनेशुः ।
दृष्ट्वा हतांस्तान् युधि राजपुत्रां-
स्त्रिगर्तराजः प्रययौ रथेन ॥ ४ ॥

पार्थके बलसे अभिभूत होकर वे विचित्ररूपधारी राजकुमार एक साथ ही पृथ्वीपर गिरकर नष्ट हो गये। उन राजपुत्रोंको युद्धमें मारा गया देख त्रिगर्तराज सुशर्माने रथके द्वारा अर्जुनपर आक्रमण किया ॥ ४ ॥

तेषां रथानामथ पृष्ठगोपा
द्वात्रिंशदन्येऽभ्यपतन्त पार्थम् ।
तथैव ते तं परिवार्य पार्थं
विकृष्य चापानि महारवाणि ॥ ५ ॥
अवीवृषन् बाणमहौघवृष्ट्या
यथा गिरिं तोयधरा जलौघैः ।
सम्पीड्यमानस्तु शरौघवृष्ट्या
धनंजयस्तान् युधि जातरोषः ॥ ६ ॥

उन राजपुत्रोंके रथोंके जो दूसरे-दूसरे बत्तीस पृष्ठरक्षक थे, वे भी (सुशर्माके साथ ही) अर्जुनपर टूट पड़े। इस प्रकार उन सबने अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर महान् टंकार-ध्वनि करनेवाले अपने धनुष खींचे और जैसे मेघ पर्वतपर जलराशिकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार अर्जुनपर बाणसमूहोंकी वृष्टि करने लगे। उनके बाणसमूहोंकी वर्षासे पीड़ित होकर युद्धस्थलमें अर्जुनके हृदयमें बड़ा भारी रोष हुआ ॥ ५-६ ॥

षष्ट्या शरैः संयति तैलधौतै-
र्जघान तानप्यथ पृष्ठगोपान् ।
रथांश्च तांस्तानवजित्य संख्ये
धनंजयः प्रीतमना यशस्वी ॥ ७ ॥
अथात्वरद् भीष्मवधाय जिष्णु-
र्बलानि राजन् समरे निहत्य ।

उन्होंने रणक्षेत्रमें तेलके धोये हुए साठ बाण मारकर उन पृष्ठरक्षकोंका भी संहार कर दिया। इस प्रकार युद्ध-भूमिमें उन सभी रथियोंको जीतकर और कौरव-सेनाओंका समरमें संहार करके प्रसन्नचित्त हुए यशस्वी विजयी अर्जुनने भीष्मके वधके लिये शीघ्रता की ॥ ७½ ॥

त्रिगर्तराजो निहतान् समीक्ष्य
महात्मना तानथ बन्धुवर्गान् ॥ ८ ॥

रणे पुरस्कृत्य नराधिपांस्तान्
जगाम पार्थं त्वरितो वधाय ।

महामना अर्जुनके द्वारा अपने बन्धुसमूहोंको मारा गया देख त्रिगर्तराज सुप्रसिद्ध नरपतियोंको युद्धके लिये आगे करके तुरंत ही अर्जुनका वध करनेके लिये उनके सामने आया॥

अभिद्रुतं चास्त्रभृतां वरिष्ठं
धनंजयं वीक्ष्य शिखण्डिमुख्याः॥ ९ ॥
अभ्युद्ययुस्ते शितशस्त्रहस्ता
रिरक्षिषन्तो रथमर्जुनस्य ।

अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनपर आक्रमण होता देख शिखण्डी आदि महारथी उनके रथकी रक्षा करनेके लिये ले अस्त्र-शस्त्र हाथमें लिये आगे बढ़े ॥ ९½ ॥

पार्थोऽपि तानापततः समीक्ष्य
त्रिगर्तराज्ञा सहितान् नृवीरान् ॥ १० ॥
विध्वंसयित्वा समरे धनुष्मान्
गाण्डीवमुक्तैर्निशितैः पृषत्कैः ।
भीष्मं यियासुर्युधि संददर्श
दुर्योधनं सैन्धवादींश्च राज्ञः ॥ ११ ॥

इधर धनुर्धर अर्जुन भी त्रिगर्तराजके साथ उन वीरोंको आते देख संग्राममूमिमें गाण्डीव धनुषसे छोड़े तीखे बाणोंद्वारा उन्हें नष्ट करके भीष्मजीके पास जाना चाहते थे, इतनेहीमें उन्होंने युद्धस्थलमें राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ आदिको देखा ॥ १०-११ ॥

संवारयिष्णूनभिवारयित्वा
मुहूर्तमायोध्य बलेन वीरः ।
उत्सृज्य राजानमनन्तवीर्यो
जयद्रथादींश्च नृपान् महौजाः ॥ १२ ॥
ययौ ततो भीमबलो मनस्वी
गाङ्गेयमाजौ शरचापपाणिः ।

दुर्योधन और जयद्रथ आदि योद्धा अर्जुनको रोकनेके काममें लगे थे; अतः उस समय अनन्त पराक्रमी एवं तेजस्वी वीर अर्जुनने दो घड़ीतक बलपूर्वक युद्ध करके उन सबको रोक दिया। तत्पश्चात् राजा दुर्योधन और जयद्रथ आदि नरेशोंको वहीं छोड़कर भयंकर बलसे सम्पन्न तें मनस्वी अर्जुन हाथमें धनुष-बाण ले युद्धस्थलमें गङ्गानन्दन भीष्मकी ओर चल दिये ॥ १२½ ॥

(भीष्मोऽपि दृष्ट्वा समरे कृतास्त्रान्
स पाण्डवानां रथिनो ह्युदारान् ।
विहाय संग्राममुखे धनंजयं
जवेन पार्थं पुनराजगाम ॥)

भीष्म भी अस्त्र-विद्याके विद्वान् एवं उदार पाण्डव-रथियोंको युद्धस्थलमें अपने सामने देखते हुए भी उन सबको वहीं छोड़कर बड़े वेगसे पुनः अर्जुनके पास आये ॥

युधिष्ठिरश्च प्रबलो महात्मा
समाययौ त्वरितो जातकोपः ॥ १३ ॥
मद्राधिपं समभित्यज्य संख्ये
स्वभागमाप्तं तमनन्तकीर्तिः ।
सार्धं स माद्रीसुतभीमसेनै-
र्भीष्मं ययौ शान्तनवं रणाय ॥ १४ ॥

उस समय उत्कृष्ट बलशाली अनन्तकीर्ति महात्मा युधिष्ठिर भी युद्धमें अपने भागके रूपमें प्राप्त हुए मद्रराज शल्यको छोड़कर नकुल, सहदेव और भीमसेनके साथ क्रोधपूर्वक तुरंत वहाँसे चल दिये और युद्धके लिये शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जा पहुँचे ॥ १३-१४ ॥

तैः सम्प्रयुक्तैः स महारथाग्र्यै-
र्गङ्गासुतः समरे चित्रयोधी ।
न विव्यथे शान्तनवो महात्मा
समागतैः पाण्डुसुतैः समस्तैः ॥ १५ ॥

महारथियोंमें श्रेष्ठ समस्त पाण्डव संगठित होकर वहाँ आ पहुँचे थे तो भी उनसे समराङ्गणमें विचित्र युद्ध करनेवाले गङ्गापुत्र शान्तनुनन्दन महात्मा भीष्मको व्यथा नहीं हुई ॥

अथैत्य राजा युधि सत्यसंधो
जयद्रथोऽत्युग्रबलो मनस्वी ।
चिच्छेद चापानि महारथानां
प्रसह्य तेषां धनुषा वरेण ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् सत्यप्रतिज्ञ अत्यन्त भयंकर शक्तिशाली और मनस्वी राजा जयद्रथने रणमें सामने आकर अपने उत्तम धनुषद्वारा बलपूर्वक उन महारथियोंके धनुष काट डाले ॥१६॥

युधिष्ठिरं भीमसेनं यमौ च
पार्थं कृष्णं युधि संजातकोपः ।
दुर्योधनः क्रोधविषो महात्मा
जघान बाणैरनलप्रकाशैः ॥ १७ ॥

क्रोधरूपी विष उगलनेवाले महामनस्वी दुर्योधनने युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव, अर्जुन तथा श्रीकृष्णपर युद्धमें कुपित हो अग्निके समान तेजस्वी बाणोंका प्रहार किया ॥

कृपेण शल्येन शलेन चैव
तथा विभो चित्रसेनेन चाजौ ।
विद्धाः शरैस्तेऽतिविवृद्धकोपै-
र्देवा यथा दैत्यगणैः समेतैः ॥ १८ ॥

प्रभो ! जैसे क्रोधमें भरे हुए दैत्यगण एकत्र हो देवताओंपर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार कृपाचार्य, शल्य, शल तथा-

चित्रसेनने युद्धस्थलमें अत्यन्त क्रोधमें भरकर समस्त पाण्डवोंको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ॥ १८ ॥

छिन्नायुधं शान्तनवेन राजा
शिखण्डिनं प्रेक्ष्य च जातकोपः ।
अजातशत्रुः समरे महात्मा
शिखण्डिनं क्रुद्ध उवाच वाक्यम् ॥ १९ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्मने जब शिखण्डीका धनुष काट दिया,* तब समराङ्गणमें अजातशत्रु महात्मा युधिष्ठिर शिखण्डीकी ओर देखकर कुपित हो उठे और उससे क्रोधपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

उक्त्वा तथा त्वं पितुरग्रतो मा-
महं हनिष्यामि महाव्रतं तम् ।
भीष्मं शरौघैर्विमलार्कवर्णैः
सत्यं वदामीति कृता प्रतिज्ञा ॥ २० ॥
त्वया च नैनां सफलां करोषि
देवव्रतं यन्न निहंसि युद्धे ।
मिथ्याप्रतिज्ञो भव मात्र वीर
रक्ष स्वधर्मं स्वकुलं यशश्च ॥ २१ ॥

'वीर ! तुमने अपने पिताके सामने प्रतिज्ञापूर्वक मुझसे यह कहा था कि 'मैं महान् व्रतधारी भीष्मको निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी बाणसमूहोंद्वारा अवश्य मार डालूँगा, यह बात मैं सत्य कहता हूँ ।' ऐसी प्रतिज्ञा तुमने की थी; परंतु तुम इस प्रतिज्ञाको सफल नहीं करते हो । कारण कि युद्धमें देवव्रत भीष्मका वध नहीं कर रहे हो । झूठी प्रतिज्ञा करनेवाला न बनो । अपने धर्म, कुल और यशकी रक्षा करो ॥

प्रेक्षस्व भीष्मं युधि भीमवेगं
सर्वांस्तपन्तं मम सैन्यसंघान् ।
शरौघजालैरतितिग्मवेगैः
कालं यथा कालकृतं क्षणेन ॥ २२ ॥

'देखो ! जैसे यमराज समयानुसार उपस्थित होकर क्षणभरमें देहधारीका विनाश कर देते हैं, उसी प्रकार ये युद्धमें भयंकर वेगशाली भीष्म अत्यन्त प्रचण्ड वेगवाले बाणसमूहोंके द्वारा मेरी समस्त सेनाओंको कितना संताप दे रहे हैं ॥ २२ ॥

निकृत्तचापः समरेऽनपेक्षः
पराजितः शान्तनवेन चाजौ ।
विहाय बन्धूनथ सोदरांश्च
क्व यास्यसे नानुरूपं तवेदम् ॥ २३ ॥

'युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मने तुम्हारा धनुष काटकर तुम्हें पराजित कर दिया; फिर भी तुम उनकी ओरसे निरपेक्ष हो रहे हो । अपने सगे भाइयोंको छोड़कर कहाँ जाओगे? यह कायदा तुम्हारे अनुरूप नहीं है ॥ २३ ॥

दृष्ट्वा हि भीष्मं तमनन्तवीर्यं
भग्नं च सैन्यं द्रवमाणमेवम् ।
भीतोऽसि नूनं द्रुपदस्य पुत्र
तथा हि ते मुखवर्णोऽप्रहृष्टः ॥ २४ ॥

'द्रुपदकुमार ! अनन्त पराक्रमी भीष्मको तथा उनके डरसे इस प्रकार हतोत्साह होकर भागती हुई मेरी इस सेनाको देखकर निश्चय ही तुम डर गये हो; क्योंकि तुम्हारे मुखकी कान्ति कुछ ऐसी ही अप्रसन्न दिखायी देती है ॥ २४ ॥

अज्ञायमाने च धनंजयेऽपि
महाहवे सम्प्रसक्ते नृवीरे ।
कथं हि भीष्मात् प्रथितः पृथिव्यां
भयं त्वमद्य प्रकरोषि वीर ॥ २५ ॥

'वीर ! नरवीर अर्जुन कहीं महायुद्धमें फँसे हुए हैं । उनका इस समय पता नहीं है । ऐसे समयमें तुम इस भूमण्डलके विख्यात वीर होकर भीष्मसे भय कैसे कर रहे हो ?' ॥ २५ ॥

स धर्मराजस्य वचो निशम्य
रूक्षाक्षरं विप्रलापानुबद्धम् ।
प्रत्यादेशं मन्यमानो महात्मा
प्रतत्वरे भीष्मवधाय राजन् ॥ २६ ॥

राजन् ! धर्मराजके इस वचनमें प्रत्येक अक्षर रूखेपनसे भरा हुआ था । उसके द्वारा उन्होंने कितनी ही बातें विपरीत बातें कही थीं, तथापि उस वचनको सुनकर महात्मा शिखण्डीने इसे अपने लिये आदेश माना और तुरंत ही भीष्मका वध करनेके लिये सचेष्ट हो गया ॥ २६ ॥

तमापतन्तं महता जवेन
शिखण्डिनं भीष्ममभिद्रवन्तम् ।
निवारयामास हि शल्य एन-
मस्त्रेण घोरेण सुदुर्जयेन ॥ २७ ॥

शिखण्डीको बड़े वेगसे आते और भीष्मपर धावा करते देख शल्यने अत्यन्त दुर्जय एवं भयंकर अस्त्रसे उसे रोक दिया ॥

स चापि दृष्ट्वा समुदीर्यमाण-
मस्त्रं युगान्ताग्निसमप्रकाशम् ।
न सम्मुमोह द्रुपदस्य पुत्रो
राजन् महेन्द्रप्रतिमप्रभावः ॥ २८ ॥

राजन् ! प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी उस अस्त्रको प्रकट हुआ देखकर देवराज इन्द्रके समान प्रभाव

---

* भीष्मपितामहने शिखण्डीको अपने ऊपर प्रहार करनेके लिये आया देखकर ही उसके धनुषको काट दिया था, उसके शरीरपर कोई प्रहार नहीं किया । अतः कोई दोष नहीं है ।

शाली द्रुपदकुमार शिखण्डी घबराया नहीं ॥ २८ ॥

तस्थौ च तत्रैव महाधनुष्मा-
ञ्शरैस्तदस्त्रं प्रतिबाधमानः ।
अथाददे वारुणमन्यदस्त्रं
शिखण्ड्यथोग्रं प्रतिघातमस्य ॥ २९ ॥

वह महाधनुर्धर वीर अपने बाणोंद्वारा शल्यके अस्त्रका निवारण करता हुआ वहीं डटा रहा । फिर शिखण्डीने शल्यके अस्त्रका प्रतिघात करनेवाले अन्य भयंकर वारुणास्त्रको हाथमें लिया ॥ २९ ॥

तदस्त्रमस्त्रेण विदार्यमाणं
खस्थाः सुरा ददृशुः पार्थिवाश्च ।
भीष्मस्तु राजन् समरे महात्मा
धनुश्च चित्रं ध्वजमेव चापि ॥ ३० ॥
छित्त्वानदत् पाण्डुसुतस्य वीरो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ।

आकाशमें खड़े हुए देवताओं तथा रणक्षेत्रमें आये हुए राजाओंने देखा, शिखण्डीके दिव्यास्त्रसे शल्यका अस्त्र विदीर्ण हो रहा है। राजन् ! महात्मा एवं वीर भीष्म युद्धस्थलमें अजमीढ़कुलनन्दन पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके विचित्र धनुष और ध्वजको काटकर गर्जना करने लगे ॥ ३०½ ॥

ततः समुत्सृज्य धनुः सबाणं
युधिष्ठिरं वीक्ष्य भयाभिभूतम् ॥ ३१ ॥
गदां प्रगृह्याभिपपात संख्ये
जयद्रथं भीमसेनः पदातिः ।

तब धनुष-बाण फेंककर भयसे दबे हुए युधिष्ठिरको देखकर भीमसेन गदा लेकर युद्धमें पैदल ही राजा जयद्रथपर टूट पड़े ॥ ३१½ ॥

तमापतन्तं सहसा जवेन
जयद्रथः सगदं भीमसेनम् ॥ ३२ ॥
विव्याध घोरैर्यमदण्डकल्पैः
शितैः शरैः पञ्चशतैः समन्तात् ।

इस प्रकार सहसा हाथमें गदा लिये भीमसेनको वेगपूर्वक आते देख जयद्रथने यमदण्डके समान भयंकर पाँच सौ तीखे बाणोंद्वारा सब ओरसे उन्हें घायल कर दिया ॥ ३२½ ॥

अचिन्तयित्वा स शरांस्तरस्वी
वृकोदरः क्रोधपरीतचेताः ॥ ३३ ॥
जघान वाहान् समरे समन्तात्
पारावतान् सिन्धुराजस्य संख्ये ।

वेगशाली भीमसेन उसके बाणोंकी कोई परवा न करते हुए मन-ही-मन क्रोधसे जल उठे । तत्पश्चात् उन्होंने समरभूमिमें सिन्धुराजके कबूतरके समान रंगवाले घोड़ोंको मार डाला ॥ ३३½ ॥

ततोऽभिवीक्ष्याप्रतिमप्रभाव-
स्तवात्मजस्त्वरमाणो रथेन ॥ ३४ ॥
अभ्याययौ भीमसेनं निहन्तुं
समुद्यतास्त्रः सुरराजकल्पः ।

यह देखकर आपका अनुपम प्रभावशाली पुत्र देवराजसदृश दुर्योधन भीमसेनको मारनेके लिये हथियार उठाये बड़ी उतावलीके साथ रथके द्वारा वहाँ आ पहुँचा ॥ ३४½ ॥

भीमोऽप्यथैनं सहसा विनद्य
प्रत्युद्ययौ गदया तर्जयानः ॥ ३५ ॥

तब भीमसेन भी सहसा सिंहनाद करके गदाद्वारा गर्जन-तर्जन करते हुए जयद्रथकी ओर बढ़े ॥ ३५ ॥

(जयद्रथो भग्नवाहो रथं तं
.त्यक्त्वा ययौ यत्र राजा कुरूणाम् ।
स सौबलः सानुगः सानुजश्च
दृष्ट्वा भीमं मूढचेता भयार्तः ॥

घोड़ोंके मारे जानेपर जयद्रथ उस रथको छोड़कर जहाँ शकुनि, सेवकवृन्द तथा छोटे भाइयोंसहित कुरुराज दुर्योधन था, वहीं चला गया । भीमसेनको देखकर जयद्रथका मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था । वह भयसे पीड़ित हो रहा था ॥

भीमोऽप्यथैनं सहसा विनद्य
प्रत्युद्ययौ गदया हन्तुकामः ।
स सौबलं तव पुत्रं निरीक्ष्य
दुर्योधनं सानुजं रोषयुक्तः ॥)

भीमसेन भी शकुनि और भाइयोंसहित आपके पुत्र दुर्योधनको देखकर रोषमें भर गये और सहसा गर्जना करके गदाद्वारा जयद्रथको मार डालनेकी इच्छासे आगे बढ़े ॥

समुद्यतां तां यमदण्डकल्पां
दृष्ट्वा गदां ते कुरवः समन्तात् ।
विहाय सर्वे तव पुत्रमुग्रं
पातं गदायाः परिहर्तुकामाः ॥ ३६ ॥
अपक्रान्तास्तुमुले सम्प्रमर्दे
सुदारुणे भारत मोहनीये ।
अमूढचेतास्त्वथ चित्रसेनो
महागदामापतन्तीं निरीक्ष्य ॥ ३७ ॥

यमदण्डके समान भयंकर उस गदाको उठी हुई देख समस्त कौरव आपके पुत्रको वहीं छोड़कर गदाके उग्र आघातसे बचनेके लिये चारों ओर भाग गये। भारत ! मोहमें डालनेवाले उस अत्यन्त दारुण एवं भयंकर जनसंहारमें उस महागदाको आती देख केवल चित्रसेनका चित्त किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हुआ था ॥ ३६-३७ ॥

रथं समुत्सृज्य पदातिराजौ
प्रगृह्य खड्गं विपुलं च चर्म ।

अवप्लुतः सिंह इवाचलाग्रा-
ज्जगामान्यं भूमिप भूमिदेशम् ॥ ३८ ॥

राजन् ! वह अपने रथको छोड़कर हाथमें बहुत बड़ी ढाल और तलवार ले पर्वतके शिखरसे सिंहकी भाँति कूद पड़ा और पैदल ही विचरता हुआ युद्धस्थलके दूसरे प्रदेशमें चला गया ॥ ३८ ॥

गदापि सा प्राप्य रथं सुचित्रं
साश्वं ससूतं विनिहत्य संख्ये ।
जगाम भूमिं ज्वलिता महोल्का
भ्रष्टाम्बराद् गामिव सम्पतन्ती ॥ ३९ ॥

वह गदा भी चित्रसेनके विचित्र रथपर पहुँचकर उसे घोड़े और सारथिसहित चूर-चूर करके आकाशसे छूटकर पृथ्वीपर गिरनेवाली जलती हुई विशाल उल्काके समान रणभूमिमें जा गिरी ॥ ३९ ॥

आश्चर्यभूतं सुमहत् त्वदीया
दृष्ट्वैव तद् भारत सम्प्रहृष्टाः ।
सर्वे विनेदुः सहिताः समन्तात्
पुपूजिरे तव पुत्रस्य शौर्यम् ॥ ४० ॥

भारत ! इस समय आपके समस्त सैनिक चित्रसेनका वह महान् आश्चर्यमय कार्य देखकर बड़े प्रसन्न हुए। वे सभी सब ओरसे एक साथ आपके पुत्रके शौर्यकी प्रशंसा और गर्जना करने लगे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके तीन श्लोक मिलाकर कुल ४३ श्लोक हैं)

षडशीतितमोऽध्यायः

भीष्म और युधिष्ठिरका युद्ध, धृष्टद्युम्न और सात्यकिके साथ विन्द और अनुविन्दका संग्राम, द्रोण आदिका पराक्रम और सातवें दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

विरथं तं समासाद्य चित्रसेनं यशस्विनम् ।
रथमारोपयामास विकर्णस्तनयस्तव ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! रथहीन हुए अपने यशस्वी भाई चित्रसेनके पास जाकर आपके पुत्र विकर्णने उसे अपने रथपर चढ़ा लिया ॥ १ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने तुमुले संकुले भृशम् ।
भीष्मः शान्तनवस्तूर्णं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ २ ॥

जब इस प्रकार भयंकर और घमासान युद्ध होने लगा, उसी समय शान्तनुनन्दन भीष्मने तुरंत ही राजा युधिष्ठिरपर धावा किया ॥ २ ॥

ततः सरथनागाश्वाः समकम्पन्त सृंजयाः ।
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मेनिरे च युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥

यह देख संजयवीर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित काँप उठे । उन्होंने युधिष्ठिरको मौतके मुखमें पड़ा हुआ ही समझा ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो यमाभ्यां सहितः प्रभुः ।
महेष्वासं नरव्याघ्रं भीष्मं शान्तनवं ययौ ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर भी नकुल और सहदेवके साथ महाधनुर्धर पुरुषसिंह शान्तनुनन्दन भीष्मका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ ४ ॥

ततः शरसहस्राणि प्रमुञ्चन् पाण्डवो युधि ।
भीष्मं संछादयामास यथा मेघो दिवाकरम् ॥ ५ ॥

जैसे मेघ सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें हजारों बाणोंकी वर्षा करते हुए पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने भीष्मको आच्छादित कर दिया ॥ ५ ॥

तेन सम्यक् प्रणीतानि शरजालानि मारिष ।
प्रतिजग्राह गाङ्गेयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥

आर्य ! उनके द्वारा अच्छी तरह चलाये हुए सैकड़ों और हजारों बाणोंके समूहको गङ्गानन्दन भीष्मने ग्रहण कर लिया (अपने बाणोंद्वारा विफल कर दिया) ॥ ६ ॥

तथैव शरजालानि भीष्मेणास्तानि मारिष ।
आकाशे समदृश्यन्त खगमानां व्रजा इव ॥ ७ ॥

आर्य ! इसी प्रकार भीष्मके चलाये हुए बाणसमूह आकाशमें पक्षियोंके झुंडके समान दिखायी देने लगे ॥ ७ ॥

निमेषार्धेन कौन्तेयं भीष्मः शान्तनवो युधि ।
अदृश्यं समरे चक्रे शरजालेन भागशः ॥ ८ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्मने युद्धस्थलमें आधे निमेषमें

पृथक्-पृथक् बाणोंका जाल-सा बिछाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको अदृश्य कर दिया ॥ ८ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा कौरव्यस्य महात्मनः ।
नाराचं प्रेषयामास क्रुद्ध आशीविषोपमम् ॥ ९ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए राजा युधिष्ठिरने कुरुवंशी महात्मा भीष्मपर विषधर सर्पके समान नाराचका प्रहार किया ॥ ९ ॥

असम्प्राप्तं ततस्तं तु क्षुरप्रेण महारथः ।
चिच्छेद समरे राजन् भीष्मस्तस्य धनुश्च्युतम् ॥ १० ॥

राजन् ! परंतु महारथी भीष्मने युधिष्ठिरके धनुषसे छूटे हुए उस नाराचको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही समरभूमिमें एक क्षुरप्रद्वारा काट गिराया ॥ १० ॥

तं तु छित्त्वा रणे भीष्मो नाराचं कालसम्मितम् ।
निजघ्ने कौरवेन्द्रस्य हयान् काञ्चनभूषणान् ॥ ११ ॥

इस प्रकार रणभूमिमें कालके समान भयंकर उस नाराचको काटकर भीष्मने कौरवराज युधिष्ठिरके सुवर्णभूषणोंसे युक्त घोड़ोंको मार डाला ॥ ११ ॥

(हताश्वे तु रथे तिष्ठञ्शक्तिं चिक्षेप धर्मराट् ।
आपतन्तीं सहसा कालपाशोपमां शिताम् ॥
चिच्छेद समरे भीष्मः शरैः संनतपर्वभिः ॥)

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथमें खड़े हुए धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मपर शक्ति चलायी। कालपाशके समान तीखी और भयंकर उस शक्तिको सहसा अपनी ओर आती देख भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसे रणभूमिमें काट गिराया ॥

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुरोह रथं तूर्णं नकुलस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर जिसके घोड़े मारे गये थे, उस रथको त्यागकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर तुरंत ही महामना नकुलके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ १२ ॥

यमावपि हि संक्रुद्धः समासाद्य रणे तदा ।
शरैः संछादयामास भीष्मः परपुरंजयः ॥ १३ ॥

उस समय रणक्षेत्रमें नकुल और सहदेवको पाकर शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भीष्मने अत्यन्त कुपित हो उन्हें बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

तौ तु दृष्ट्वा महाराज भीष्मबाणप्रपीडितौ ।
जगाम परमां चिन्तां भीष्मस्य वधकाङ्क्षया ॥ १४ ॥

महाराज ! नकुल और सहदेवको भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित देख युधिष्ठिर अपने मनमें भीष्मके वधकी इच्छा लेकर गहन विचार करने लगे ॥ १४ ॥

ततो युधिष्ठिरो वश्यान् राज्ञस्तान् समचोदयत् ।
भीष्मं शान्तनवं सर्वे निहतेति सुहृद्गणान् ॥ १५ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने अपने वशवर्ती नरेशों तथा सुहृद्गणोंको यह आदेश दिया कि सब लोग मिलकर शान्तनुनन्दन भीष्मको मार डालो ॥ १५ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ।
महता रथवंशेन परिवव्रुः पितामहम् ॥ १६ ॥

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर समस्त राजाओंने विशाल रथसमूहके द्वारा पितामह भीष्मको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १६ ॥

स समन्तात् परिवृतः पिता देवव्रतस्तव ।
चिक्रीड धनुषा राजन् पातयानो महारथान् ॥ १७ ॥

राजन् ! सब ओरसे घिरे हुए आपके ताऊ देवव्रत सब महारथियोंको धराशायी करते हुए अपने धनुषके द्वारा क्रीडा करने लगे ॥ १७ ॥

तं चरन्तं रणे पार्था ददृशुः कौरवं युधि ।
मृगमध्यं प्रविश्येव यथा सिंहशिशुं वने ॥ १८ ॥

जैसे सिंहका बच्चा वनके भीतर मृगोंके झुंडमें घुसकर खेल कर रहा हो, उसी प्रकार कुन्तीकुमारोंने युद्धमें विचरते हुए कुरुवंशी भीष्मको वहाँ देखा ॥ १८ ॥

तर्जयानं रणे वीरांस्त्रासयानं च सायकैः ।
दृष्ट्वा त्रेसुर्महाराज सिंहं मृगगणा इव ॥ १९ ॥

महाराज ! वे रणभूमिमें वीरोंको डाँटते और बाणोंके द्वारा उन्हें त्रास देते थे। जैसे मृगोंके समूह सिंहको देखकर डर जाते हैं, उसी प्रकार सब राजा भीष्मको देखकर भयभीत हो गये ॥ १९ ॥

रणे भारतसिंहस्य ददृशुः क्षत्रिया गतिम् ।
अग्नेर्वायुसहायस्य यथा कक्षं दिधक्षतः ॥ २० ॥

जैसे वायुकी सहायतासे घास-फूसको जलानेकी इच्छावाली अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार भरतवंशके सिंह भीष्मके स्वरूपको रणक्षेत्रमें क्षत्रियोंने अत्यन्त तेजस्वी देखा ॥ २० ॥

शिरांसि रथिनां भीष्मः पातयामास संयुगे ।
तालेभ्यः परिपक्वानि फलानि कुशलो नरः ॥ २१ ॥

भीष्म उस युद्धस्थलमें रथियोंके मस्तक काट-काटकर उसी प्रकार गिराने लगे, जैसे कोई कुशल मनुष्य ताड़के वृक्षोंसे पके हुए फलोंको गिरा रहा हो ॥ २१ ॥

पतद्भिश्च महाराज शिरोभिर्धरणीतले ।
बभूव तुमुलः शब्दः पततामश्मनामिव ॥ २२ ॥

महाराज ! भूतलपर पटापट गिरते हुए मस्तकोंका आकाशसे पृथ्वीपर पड़नेवाले पत्थरोंके समान भयंकर शब्द हो रहा था ॥ २२ ॥

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ॥ २३ ॥

उस भयानक तुमुल युद्धके होते समय सभी सेनाओंका आपसमें भारी संघर्ष हो गया ॥ २३ ॥

भिन्नेषु तेषु व्यूहेषु क्षत्रिया इतरेतरम्।
एकमेकं समाहूय युद्धायैवावतस्थिरे ॥ २४ ॥

उन सबका व्यूह भङ्ग हो जानेपर भी सम्पूर्ण क्षत्रिय परस्पर एक-एकको ललकारते हुए युद्धके लिये डटे ही रहे ॥ २४ ॥

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम्।
अभिदुद्राव वेगेन तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

शिखण्डी भरतवंशके पितामह भीष्मके पास पहुँचकर उनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा और बोला—"खड़ा रह, खड़ा रह" ॥ २५ ॥

अनादृत्य ततो भीष्मस्तं शिखण्डिनमाहवे।
प्रययौ सृंजयान् क्रुद्धः स्त्रीत्वं चिन्त्य शिखण्डिनः ॥ २६ ॥

किंतु भीष्मने शिखण्डीके स्त्रीत्वका चिन्तन करके युद्धमें उसकी अवहेलना कर दी और सृंजयवंशी क्षत्रियोंपर क्रोधपूर्वक आक्रमण किया ॥ २६ ॥

सृंजयास्तु ततो दृष्ट्वा हृष्टं भीष्मं महारणे।
सिंहनादांश्च विविधांश्चक्रुः शङ्खविमिश्रितान् ॥ २७ ॥

तब सृंजयगण उस महायुद्धमें हर्ष और उत्साहसे भरे हुए भीष्मको देखकर शङ्खध्वनिके साथ नाना प्रकारसे सिंहनाद करने लगे ॥ २७ ॥

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम्।
पश्चिमां दिशमासाद्य स्थिते सवितरि प्रभो ॥ २८ ॥

प्रभो! जब सूर्य पश्चिम दिशामें ढलने लगे, उस समय युद्धका रूप और भी भयंकर हो गया। रथसे रथ और हाथीसे हाथी भिड़ गये ॥ २८ ॥

धृष्टद्युम्नोऽथ पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः।
पीडयन्तौ भृशं सैन्यं शक्तितोमरवृष्टिभिः ॥ २९ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न तथा महारथी सात्यकि ये दोनों शक्ति और तोमरोंकी वर्षासे कौरवसेनाको अत्यन्त पीड़ा देने लगे ॥ २९ ॥

शस्त्रैश्च बहुभी राजञ्जघ्नतुस्तावकान् रणे।
ते हन्यमानाः समरे तावका भरतर्षभ ॥ ३० ॥
आर्या युद्धे मतिं कृत्वा न त्यजन्ति स्म संयुगम्।
यथोत्साहं तु समरे निजघ्नुस्तावका रणे ॥ ३१ ॥

राजन्! उन दोनोंने युद्धमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा आपके सैनिकोंका संहार करना आरम्भ किया। भरतश्रेष्ठ! उनके द्वारा समरमें मारे जाते हुए आपके सैनिक युद्धविषयक श्रेष्ठ बुद्धिका सहारा लेकर ही संग्राम छोड़कर नहीं रहे थे। आपके योद्धा भी रणक्षेत्रमें पूर्ण उत्साहके शत्रुओंका संहार करते थे ॥ ३०-३१ ॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् तावकानां महात्मनाम्।
वध्यतां समरे राजन् पार्षतेन महात्मना ॥ ३२ ॥

राजन्! महामना धृष्टद्युम्न समराङ्गणमें जब आपके योद्धाओंका वध कर रहे थे, उस समय उन महा वीरोंका आर्तक्रन्दन बड़े जोरसे सुनायी देता था ॥ ३२ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तावकानां महारथौ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पार्षतं प्रत्युपस्थितौ ॥ ३३ ॥

आपके सैनिकोंका वह घोर आर्तनाद सुनकर अवन्ती राजकुमार विन्द और अनुविन्द धृष्टद्युम्नका सामना करने लिये उपस्थित हुए ॥ ३३ ॥

तौ तस्य तुरगान् हत्वा त्वरमाणौ महारथौ।
छादयामासतुरुभौ शरवर्षेण पार्षतम् ॥ ३४ ॥

उन दोनों महारथियोंने बड़ी उतावलीके साथ धृष्टद्युम्न के घोड़ोंको मारकर उन्हें भी अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया

अवप्लुत्याथ पाञ्चाल्यो रथात् तूर्णं महाबलः।
आरुरोह रथं तूर्णं सात्यकेस्तु महात्मनः ॥ ३५ ॥

तब महाबली धृष्टद्युम्न तुरंत ही अपने रथसे कूदकर महामना सात्यकिके रथपर शीघ्रतापूर्वक चढ़ गये ॥ ३५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा महत्या सेनया वृतः।
आवन्त्यौ समरे क्रुद्धावभ्ययात् स परंतपौ ॥ ३६ ॥

तदनन्तर विशाल सेनासे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरने शत्रुओंको तपानेवाले और क्रोधमें भरे हुए विन्द-अनुविन्दपर आक्रमण किया ॥ ३६ ॥

तथैव तव पुत्रोऽपि सर्वोद्योगेन मारिष।
विन्दानुविन्दौ समरे परिवार्यावतस्थिवान् ॥ ३७ ॥

आर्य! इसी प्रकार आपका पुत्र दुर्योधन भी सम्पूर्ण उद्योगसे समरभूमिमें विन्द और अनुविन्दकी रक्षाके लिये उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ा हो गया ॥ ३७ ॥

अर्जुनश्चापि संक्रुद्धः क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः।
अयोधयत संग्रामे वज्रपाणिरिवासुरान् ॥ ३८ ॥

क्षत्रियशिरोमणि अर्जुन भी अत्यन्त कुपित हो क्षत्रियोंके साथ संग्रामभूमिमें उसी प्रकार युद्ध करने जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंके साथ करते हैं ॥ ३८ ॥

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धः पुत्रस्य प्रियकृत् तव।
व्यधमत् सर्वपञ्चालांस्तूलराशिमिवानलः ॥ ३९ ॥

आपके पुत्रका प्रिय करनेवाले द्रोणाचार्य भी युद्धमें

होकर समस्त पाञ्चालोंका विनाश करने लगे, मानो आग रूईके ढेरको जला रही हो ॥ ३९ ॥

दुर्योधनपुरोगास्तु पुत्रास्तव विशाम्पते ।
परिवार्य रणे भीष्मं युयुधुः पाण्डवैः सह ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! आपके दुर्योधन आदि पुत्र रणक्षेत्रमें भीष्मको घेरकर पाण्डवोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४० ॥

ततो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वांस्त्वरध्वमिति भारत ॥ ४१ ॥

भारत ! तदनन्तर जब सूर्यदेवपर संध्याकी लाली छाने लगी, तब राजा दुर्योधनने आपके सभी योद्धाओंसे कहा—जल्दी करो ॥ ४१ ॥

युध्यतां तु तथा तेषां कुर्वतां कर्म दुष्करम् ।
अस्तं गिरिमथारूढे अप्रकाशति भास्करे ॥ ४२ ॥
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितौघतरङ्गिणी ।
गोमायुगणसंकीर्णा क्षणेन क्षणदामुखे ॥ ४३ ॥

फिर तो वे सब योद्धा वेगसे युद्ध करते हुए दुष्कर पराक्रम करने लगे । उसी समय सूर्य अस्ताचलको चले गये और उनका प्रकाश लुप्त हो गया । इस प्रकार संध्या होते-होते समरमें रक्तके प्रवाहसे परिपूर्ण भयानक नदी बह चली और उसके तटपर गीदड़ोंकी भीड़ जमा हो गयी ॥ ४२-४३ ॥

शिवाभिरशिवाभिश्च रुवद्भिर्भैरवं रवम् ।
घोरमायोधनं जज्ञे भूतसंघैः समाकुलम् ॥ ४४ ॥

भैरव रव फैलानेवाली अमङ्गलमयी सियारिनों तथा भूतगणोंसे व्याप्त होकर वह युद्धका मैदान अत्यन्त भयानक हो गया ॥ ४४ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च तथान्ये पिशिताशिनः ।
समन्ततो व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४५ ॥

चारों ओर राक्षस, पिशाच तथा अन्य मांसाहारी जन्तु सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें दिखायी देने लगे ॥ ४५ ॥

अर्जुनोऽथ सुशर्मादीन् राज्ञस्तान् सपदानुगान् ।
निर्जित्य पृतनामध्ये ययौ स्वशिबिरं प्रति ॥ ४६ ॥

तदनन्तर अर्जुन राजा दुर्योधनके पीछे चलनेवाले सुशर्मा आदिको सेनामें पराजित करके अपने शिबिरको चले गये ।४६।

युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो भ्रातृभ्यां सहितस्तथा ।
ययौ स्वशिबिरं राजा निशायां सेनया वृतः ॥ ४७ ॥

तथा सेनासे घिरे हुए कुरुकुलनन्दन राजा युधिष्ठिर भी दोनों भाई नकुल-सहदेवके साथ रातमें अपने शिबिरमें पधारे ॥

भीमसेनोऽपि राजेन्द्र दुर्योधनमुखान् रथान् ।
अवजित्य ततः संख्ये ययौ स्वशिबिरं प्रति ॥ ४८ ॥

राजेन्द्र ! तब भीमसेन भी दुर्योधन आदि रथियोंको युद्धमें जीतकर शिबिरको लौट गये ॥ ४८ ॥

दुर्योधनोऽपि नृपतिः परिवार्य महारणे ।
भीष्मं शान्तनवं तूर्णं प्रयातः शिबिरं प्रति ॥ ४९ ॥

राजा दुर्योधन भी महायुद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको घेरकर तुरंत ही अपने शिबिरको लौट गया ॥ ४९ ॥

द्रोणो द्रौणिः कृपः शल्यः कृतवर्मा च सात्वतः ।
परिवार्य चमूं सर्वां प्रययुः शिबिरं प्रति ॥ ५० ॥

द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, शल्य तथा यदुवंशी कृतवर्मा—ये सारी सेनाको घेरकर अपने शिबिरकी ओर चल दिये ॥ ५० ॥

तथैव सात्यकी राजन् धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
परिवार्य रणे योधान् ययतुः शिबिरं प्रति ॥ ५१ ॥

राजन् ! इसी प्रकार सात्यकि और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न भी युद्धमें अपने योद्धाओंको घेरकर शिबिरकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ५१ ॥

एवमेते महाराज तावकाः पाण्डवैः सह ।
पर्यवर्तन्त सहिता निशाकाले परंतप ॥ ५२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! इस प्रकार रातके समय आपके योद्धा पाण्डवोंके साथ अपने-अपने शिबिरमें लौट आये ॥ ५२ ॥

ततः स्वशिबिरं गत्वा पाण्डवाः कुरवस्तथा ।
न्यवसन्त महाराज पूजयन्तः परस्परम् ॥ ५३ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् पाण्डव तथा कौरव अपने शिबिरमें जाकर आपसमें एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए विश्राम करने लगे ॥ ५३ ॥

रक्षां कृत्वा ततः शूरा न्यस्य गुल्मान् यथाविधि ।
अपनीय च शल्यानि स्नात्वा च विविधैर्जलैः ॥ ५४ ॥
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे संस्तूयन्तश्च वन्दिभिः ।
गीतवादित्रशब्देन व्यक्रीडन्त यशस्विनः ॥ ५५ ॥

तदनन्तर उभय पक्षके शूरवीरोंने सब ओर सैनिक गुल्मोंको* नियुक्त करके विधिपूर्वक अपने-अपने शिबिरोंकी रक्षाकी व्यवस्था की । फिर अपने शरीरसे बाणोंको निकालकर भाँति-भाँतिके जलसे स्नान करके स्वस्तिवाचन करानेके अनन्तर बन्दीजनोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए वे सभी यशस्वी वीर गीत और वाद्योंके शब्दोंसे क्रीडा-विनोद करने लगे ॥ ५४-५५ ॥

मुहूर्तादिव तत् सर्वमभवत् स्वर्गसंनिभम् ।
न हि युद्धकथां कांचित् तत्राकुर्वन् महारथाः ॥ ५६ ॥

---

* गुल्मका अर्थ है—प्रधान पुरुषोंसे युक्त रक्षकदल, जिसमें ९ हाथी, ९ रथ, २७ घुड़सवार और ४५ पैदल सैनिक होते

दो घड़ीतक वहाँका सब कुछ स्वर्गसदृश जान पड़ा। उस समय वहाँ महारथियोंने युद्धकी कोई बातचीत नहीं की॥

ते प्रसुप्ते बले तत्र परिश्रान्तजने नृप।
हस्त्यश्वबहुले रात्रौ प्रेक्षणीये बभूवतुः ॥ ५७ ॥

नरेश्वर! जिनमें हाथी और घोड़ोंकी अधिकता थी, उन दोनों पक्षकी सेनाओंमें सब लोग परिश्रमसे चूर-चूर हो रहे थे। रातके समय जब दोनों सेनाएँ सो गयीं, उस समय वे देखने योग्य हो गयीं ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमदिवसयुद्धावहारे षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धका विरामविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

आठवें दिन व्यूहबद्ध कौरव-पाण्डव-सेनाओंकी रणयात्रा और उनका परस्पर घमासान युद्ध

संजय उवाच

परिणाम्य निशां तां तु सुखं प्राप्ता जनेश्वराः।
कुरवः पाण्डवाश्चैव पुनर्युद्धाय निर्ययुः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! नरेश्वर कौरव और पाण्डव निद्रासुखका अनुभव करके वह रात बिताकर पुनः युद्धके लिये निकले ॥ १ ॥

ततः शब्दो महानासीत् सैन्ययोरुभयोर्नृप।
निर्गच्छमानयोः संख्ये सागरप्रतिमो महान् ॥ २ ॥

महाराज! वे दोनों सेनाएँ जब युद्धके लिये शिबिरसे बाहर निकलने लगीं, उस समय संग्रामभूमिमें महासागरकी गर्जनाके समान महान् घोष होने लगा ॥ २ ॥

ततो दुर्योधनो राजा चित्रसेनो विविंशतिः।
भीष्मश्च रथिनां श्रेष्ठो भारद्वाजश्च वै नृप ॥ ३ ॥
एकीभूताः सुसंयत्ताः कौरवाणां महाचमूम्।
व्यूहाय विदधू राजन् पाण्डवान् प्रति दंशिताः ॥ ४ ॥

नरेश्वर! तत्पश्चात् राजा दुर्योधन, चित्रसेन, विविंशति, रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म तथा द्रोणाचार्य—ये सब संगठित एवं सावधान होकर पाण्डवोंसे युद्ध करनेके लिये कवच बाँधकर कौरवोंके विशाल सैन्यकी व्यूह-रचना करने लगे ॥ ३-४ ॥

भीष्मः कृत्वा महाव्यूहं पिता तव विशाम्पते।
सागरप्रतिमं घोरं वाहनोर्मितरङ्गिणम् ॥ ५ ॥

प्रजानाथ! आपके ताऊ भीष्मने समुद्रके समान विशाल एवं भयंकर महाव्यूहका निर्माण किया, जिसमें हाथी, घोड़े आदि वाहन उत्ताल तरंगोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ५ ॥

अग्रतः सर्वसैन्यानां भीष्मः शान्तनवो ययौ।
मालवैर्दाक्षिणात्यैश्च आवन्त्यैश्च समन्वितः ॥ ६ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म सम्पूर्ण सेनाओंके आगे-आगे चले। उनके साथ मालवा, दक्षिण प्रान्त तथा अवन्तीदेशके योद्धा थे॥

ततोऽनन्तरमेवासीद् भारद्वाजः प्रतापवान्।
पुलिन्दैः पारदैश्चैव तथा क्षुद्रकमालवैः ॥ ७॥

उनके पीछे पुलिन्द, पारद, क्षुद्रक तथा मालववीरोंके साथ प्रतापी द्रोणाचार्य थे ॥ ७ ॥

द्रोणादनन्तरं यत्तो भगदत्तः प्रतापवान्।
मगधैश्च कलिङ्गैश्च पिशाचैश्च विशाम्पते ॥ ८॥

प्रजेश्वर! द्रोणके पीछे मागध, कलिंग और पि सैनिकोंके साथ प्रतापी राजा भगदत्त जा रहे थे, वे सावधान थे ॥ ८ ॥

प्राग्ज्योतिषादनु नृपः कौसल्योऽथ बृहद्बलः।
मेकलैः कुरुविन्दैश्च त्रैपुरैश्च समन्वितः ॥ ९॥

प्राग्ज्योतिषपुरनरेशके पीछे कोसलदेशके राजा बृ थे, जो मेकल, कुरुविन्द तथा त्रिपुराके सैनिकोंके साथ थे।

बृहद्बलात् ततः शूरस्त्रिगर्तः प्रस्थलाधिपः।
काम्बोजैर्बहुभिः सार्धं यवनैश्च सहस्रशः ॥ १०॥

बृहद्बलके बाद शूरवीर त्रिगर्त थे, जो प्रस्थ अधिपति थे। उनके साथ बहुत-से काम्बोज और यवन योद्धा थे ॥ १० ॥

द्रौणिस्तु रभसः शूरस्त्रैगर्तादनु भारत।
प्रययौ सिंहनादेन नादयानो धरातलम् ॥ ११॥

भारत! त्रिगर्तके पीछे वेगशाली वीर अश्वत्थामा रहे थे, जो अपने सिंहनादसे समस्त धरातलको निनादित कर रहे थे ॥ ११ ॥

तथा सर्वेण सैन्येन राजा दुर्योधनस्तदा।
द्रौणेरनन्तरं प्रायात् सोदर्यैः परिवारितः ॥ १२॥

अश्वत्थामाके पीछे सम्पूर्ण सेना तथा भाइयोंसे हुआ राजा दुर्योधन चल रहा था ॥ १२ ॥

दुर्योधनादनु ततः कृपः शारद्वतो ययौ।
एवमेष महाव्यूहः प्रययौ सागरोपमः ॥ १

दुर्योधनके पीछे शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य चल रहे थे। इस प्रकार यह सागरके समान महाव्यूह युद्धके लिये प्रस्थान कर रहा था ॥ १३ ॥

केतुस्तत्र पताकाश्च श्वेतच्छत्राणि वा विभो ।
अङ्गदान्यत्र चित्राणि महार्हाणि धनूंषि च ॥ १४ ॥

प्रभो ! उस सेनामें बहुत-सी पताकाएँ और श्वेतच्छत्र शोभा पा रहे थे। विचित्र रंगके बहुमूल्य बाजूबन्द और धनुष सुशोभित होते थे ॥ १४ ॥

तं तु दृष्ट्वा महाव्यूहं तावकानां महारथः ।
युधिष्ठिरोऽब्रवीत् तूर्णं पार्षतं पृतनापतिम् ॥ १५ ॥

राजन् ! आपके सैनिकोंका वह महाव्यूह देखकर महारथी युधिष्ठिरने तुरंत ही सेनापति धृष्टद्युम्नसे कहा— ॥ १५ ॥

पश्य व्यूहं महेष्वास निर्मितं सागरोपमम् ।
प्रतिव्यूहं त्वमपि हि कुरु पार्षत सत्वरम् ॥ १६ ॥

‘महाधनुर्धर द्रुपदकुमार ! देखो, शत्रुसेनाका व्यूह सागरके समान बनाया गया है। तुम भी उसके मुकाबिलेमें शीघ्र ही अपनी सेनाका व्यूह बना लो’ ॥ १६ ॥

ततः स पार्षतः क्रूरो व्यूहं चक्रे सुदारुणम् ।
शृङ्गाटकं महाराज परव्यूहविनाशनम् ॥ १७ ॥

महाराज ! तदनन्तर क्रूर स्वभाववाले धृष्टद्युम्नने अत्यन्त दारुण शृङ्गाटक (सिंघाड़े) के आकारवाला व्यूह बनाया, जो शत्रुके व्यूहका विनाश करनेवाला था ॥ १७ ॥

शृङ्गाभ्यां भीमसेनश्च सात्यकिश्च महारथः ।
रथैरनेकसाहस्रैस्तथा हयपदातिभिः ॥ १८ ॥

उसके दोनों शृङ्गोंके स्थानमें भीमसेन और महारथी सात्यकि कई हजार रथियों, घुड़सवारों और पैदलोंके साथ मौजूद थे ॥ १८ ॥

ताभ्यां बभौ नरश्रेष्ठः श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ।
मध्ये युधिष्ठिरो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १९ ॥

भीमसेन और सात्यकिके बीचमें यानी उस व्यूहके अग्रभागमें नरश्रेष्ठ श्वेतवाहन अर्जुन खड़े हुए, जिनके सारथि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण थे। मध्यदेशमें राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव थे ॥

ययोत्तरे महेष्वासाः सहसैन्या नराधिपाः ।
व्यूहं तं पूरयामासुर्व्यूहशास्त्रविशारदाः ॥ २० ॥

इनके बाद सेनासहित अनेक महाधनुर्धर नरेश खड़े थे, जो व्यूहशास्त्रके पूर्ण विद्वान् थे। उन्होंने उस व्यूहको प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गसे परिपूर्ण किया था ॥ २० ॥

अभिमन्युस्ततः पश्चाद् विराटश्च महारथः ।
द्रौपदेयाश्च संहृष्टा राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ २१ ॥

उस व्यूहके पिछले भागमें अभिमन्यु, महारथी विराट, हर्षमें भरे हुए द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा राक्षस घटोत्कच विद्यमान थे ॥ २१ ॥

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ।
अतिष्ठन् समरे शूरा योद्धुकामा जयैषिणः ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार अपनी सेनाके इस महाव्यूहका निर्माण करके युद्धकी कामना और विजयकी अभिलाषा रखनेवाले शूरवीर पाण्डव समरभूमिमें खड़े थे ॥ २२ ॥

भेरीशब्दैश्च विमलैर्विमिश्रैः शङ्खनिःस्वनैः ।
क्ष्वेडितास्फोटितोत्क्रुष्टैर्नादिताः सर्वतो दिशः ॥ २३ ॥

उस समय रणभेरियाँ बज रही थीं। उनके निर्मल शब्दोंसे मिली हुई शङ्ख-ध्वनियों तथा गर्जनसे, ताल ठोंकने और उच्चस्वरसे पुकारने आदिके शब्दोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठी थीं ॥ २३ ॥

ततः शूराः समासाद्य समरे ते परस्परम् ।
नेत्रैरनिमिषै राजन्नवैक्षन्त परस्परम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तदनन्तर समस्त शूरवीर समरभूमिमें पहुँचकर परस्पर एक-दूसरेको एकटक नेत्रोंसे देखने लगे ॥ २४ ॥

नामभिस्ते मनुष्येन्द्र पूर्वं योधाः परस्परम् ।
युद्धाय समवर्तन्त समाहूयेतरेतरम् ॥ २५ ॥

नरेन्द्र ! पहले उन योद्धाओंने एक-दूसरेके नाम ले-लेकर पुकार-पुकारकर युद्धके लिये परस्पर आक्रमण किया ॥

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ।
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् आपके और पाण्डवोंके सैनिक एक-दूसरेपर अस्त्रोंद्वारा आघात-प्रत्याघात करने लगे। उस समय उनमें अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध होने लगा ॥ २६ ॥

नाराचा निशिताः संख्ये सम्पतन्ति स्म भारत ।
व्यात्ताननाः भयकरा उरगा इव संघशः ॥ २७ ॥

भारत ! उस समय युद्धमें तीखे नाराच नामक बाण इस प्रकार पड़ते थे, मानो मुख फैलाये हुए भयंकर नाग झुंड-के-झुंड गिर रहे हों ॥ २७ ॥

निष्पेतुर्विमलाः शक्त्यस्तैलधौताः सुतेजनाः ।
अम्बुदेभ्यो यथा राजन् भ्राजमानाः शतह्रदाः ॥ २८ ॥

राजन् ! तेलकी धोयी चमचमाती हुई तीखी शक्तियाँ बादलोंसे गिरनेवाली कान्तिमती बिजलियोंके समान सब ओर गिर रही थीं ॥ २८ ॥

गदाश्च विमलैः पट्टैः पिनद्धाः स्वर्णभूषिताः ।
पतन्त्यस्तत्र दृश्यन्ते गिरिशृङ्गोपमाः शुभाः ॥ २९

सुवर्णभूषित निर्मल लोहपत्रसे जड़ी हुई सुन्दर

पर्वत-शिखरोंके समान वहाँ गिरती दिखायी देती थीं ॥२९॥

निस्त्रिंशाश्च व्यदृश्यन्त विमलाम्बरसंनिभाः।
आर्षभाणि विचित्राणि शतचन्द्राणि भारत ॥ ३० ॥
अशोभन्त रणे राजन् पात्यमानानि सर्वशः।

भारत! स्वच्छ आकाशके सदृश खड्ग और सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे विभूषित ऋषभचर्मकी विचित्र ढालें दृष्टिगोचर हो रही थीं। राजन्! रणभूमिमें गिरायी जाती हुई वे सब-की-सब तलवारें और ढालें बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ ३०½ ॥

तेऽन्योन्यं समरे सेने युध्यमाने नराधिप ॥ ३१ ॥
अशोभेतां यथा देवदैत्यसेने समुद्यते।

नरेश्वर! दोनों पक्षोंकी सेनाएँ समरभूमिमें एक-दूसरीसे जूझ रही थीं। उस समय परस्पर युद्धके लिये उद्यत हुई देवसेना और दैत्यसेनाके समान उनकी शोभा हो रही थी ॥

अभ्यद्रवन्त समरे तेऽन्योन्यं वै समन्ततः ॥ ३२ ॥

वे कौरव-पाण्डव सैनिक सब ओर समराङ्गणमें एक-दूसरेपर धावा करने लगे ॥ ३२ ॥

रथास्तु रथिभिस्तूर्णं प्रेषिताः परमाहवे।
युगैर्युगानि संश्लिष्य युयुधुः पार्थिवर्षभाः ॥ ३३ ॥

रथी अपने रथोंको तुरंत ही उस महायुद्धमें दौड़ाकर ले आये। श्रेष्ठ नरेश रथके जुओंसे जुए भिड़ाकर युद्ध करने लगे ॥

दन्तिनां युध्यमानानां संघर्षात् पावकोऽभवत्।
दन्तेषु भरतश्रेष्ठ सधूमः सर्वतोदिशम् ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ! सम्पूर्ण दिशाओंमें परस्पर जूझते हुए दन्तार हाथियोंके दाँतोंके आपसमें टकरानेसे उनमें धूमसहित अग्नि प्रकट हो जाती थी ॥ ३४ ॥

प्रासैरभिहताः केचिद् गजयोधाः समन्ततः।
पतमानाः स्म दृश्यन्ते गिरिश्रृङ्गान्नगा इव ॥ ३५ ॥

कितने ही हाथीसवार प्रासोंसे घायल होकर पर्वत-शिखरसे गिरनेवाले वृक्षोंके समान सब ओर हाथियोंकी पीठोंसे गिरते दिखायी देते थे ॥ ३५ ॥

पादाताश्चाप्यदृश्यन्त निघ्नन्तोऽथ परस्परम्।
चित्ररूपधराः शूरा नखरप्रासयोधिनः ॥ ३६ ॥

बघनखों एवं प्रासोंद्वारा युद्ध करनेवाले शूरवीर पैदल सैनिक एक दूसरेपर प्रहार करते हुए विचित्र रूपधारी दिखायी देते थे ॥ ३६ ॥

अन्योन्यं ते समासाद्य कुरुपाण्डवसैनिकाः।
अस्त्रैर्नानाविधैर्घोरै रणे निन्युर्यमक्षयम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कौरव तथा पाण्डव सैनिक रणक्षेत्रमें एक-दूसरेसे भिड़कर नाना प्रकारके भयंकर अस्त्रोंद्वारा विपक्षियोंको यमलोक पहुँचाने लगे ॥ ३७ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मो रथघोषेण नादयन्।
अभ्यागमद् रणे पार्थान् धनुःशब्देन मोहयन् ॥ ३८ ॥

इतनेहीमें शान्तनुनन्दन भीष्म अपने रथकी घरघराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते और धनुषकी टङ्कारसे लोगोंको मूर्च्छित करते हुए समरभूमिमें पाण्डवसैनिकोंपर चढ़ आये ॥

पाण्डवानां रथाश्चापि नदन्तो भैरवं स्वनम्।
अभ्यद्रवन्त संयत्ता धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥ ३९ ॥

उस समय धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव महारथी भी भयंकर नाद करते हुए युद्धके लिये संनद्ध होकर उनका सामना करनेको दौड़े ॥ ३९ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत।
नराश्वरथनागानां व्यतिषक्तं परस्परम् ॥ ४० ॥

भरतनन्दन! फिर तो आपके और पाण्डवोंके योद्धाओंमें परस्पर घमासान युद्ध छिड़ गया। पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथी एक-दूसरेसे गुँथ गये ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धारम्भे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

* * *

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

भीष्मका पराक्रम, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके आठ पुत्रोंका वध तथा दुर्योधन और भीष्मकी युद्धविषयक बातचीत

संजय उवाच

भीष्मं तु समरे क्रुद्धं प्रतपन्तं समन्ततः।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं तपन्तमिव भास्करम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जैसे तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार जब भीष्म उस युद्धमें कुपित हो सब ओर अपना प्रताप प्रकट करने लगे, उस समय पाण्डवसैनिक उनकी ओर देख न सके ॥ १ ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि धर्मपुत्रस्य शासनात्।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं मर्दयन्तं शितैः शरैः ॥ २ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञासे समस्त सेनाएँ गङ्गानन्दन भीष्मपर टूट पड़ीं, जो अपने तीखे बाणोंद्वारा पाण्डवसेनाका मर्दन कर रहे थे ॥ २ ॥

स तु भीष्मो रणश्लाघी सोमकान् सहसृंजयान् ।
पञ्चालांश्च महेष्वासान् पातयामास सायकैः ॥ ३ ॥

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले भीष्म अपने बाणोंके द्वारा सोमक, सृंजय और पाञ्चाल महाधनुर्धरोंको रणभूमिमें गिराने लगे ॥ ३ ॥

ते वध्यमाना भीष्मेण पञ्चालाः सोमकैः सह ।
भीष्ममेवाभ्ययुस्तूर्णं त्यक्त्वा मृत्युकृतं भयम् ॥ ४ ॥

भीष्मके द्वारा घायल किये जाते हुए वे सोमक (सृंजय) और पाञ्चाल भी मृत्युका भय छोड़कर तुरंत भीष्मपर ही टूट पड़े ॥ ४ ॥

स तेषां रथिनां वीरो भीष्मः शान्तनवो युधि ।
चिच्छेद सहसा राजन् बाहूनथ शिरांसि च ॥ ५ ॥

राजन्! वीर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्धके मैदानमें सहसा उन रथियोंकी भुजाओं और मस्तकोंको काट-काटकर गिराने लगे ॥ ५ ॥

विरथान् रथिनश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव ।
पतितान्युत्तमाङ्गानि हयेभ्यो हयसादिनाम् ॥ ६ ॥

आपके ताऊ देवव्रतने बहुत-से रथियोंको रथहीन कर दिया। घोड़ोंसे घुड़सवारोंके मस्तक कट-कटकर गिरने लगे ॥

निर्मनुष्यांश्च मातङ्गाञ्शयानान् पर्वतोपमान् ।
अपश्याम महाराज भीष्मास्त्रेण प्रमोहितान् ॥ ७ ॥

महाराज ! हमने देखा, भीष्मके अस्त्रसे मूर्च्छित हो बहुत-से पर्वताकार गजराज रणभूमिमें पड़े हैं और उनके पास कोई मनुष्य नहीं है ॥ ७ ॥

न तत्रासीत् पुमान् कश्चित् पाण्डवानां विशाम्पते ।
अन्यत्र रथिनां श्रेष्ठाद् भीमसेनान्महाबलात् ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! उस समय वहाँ रथियोंमें श्रेष्ठ महाबली भीमसेनके सिवा पाण्डवपक्षका कोई भी वीर भीष्मके सामने नहीं ठहर सका ॥ ८ ॥

स हि भीष्मं समासाद्य ताडयामास संयुगे ।
ततो निष्टानको घोरो भीष्मभीमसमागमे ॥ ९ ॥
बभूव सर्वसैन्यानां घोररूपो भयानकः ।
तथैव पाण्डवा हृष्टाः सिंहनादमथानदन् ॥ १० ॥

वे ही युद्धमें भीष्मका सामना करते हुए उनपर अपने बाणोंका प्रहार कर रहे थे। भीष्म और भीमसेनमें युद्ध होते समय सम्पूर्ण सेनाओंमें भयंकर कोलाहल मच गया और पाण्डव हर्षमें भरकर जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ९-१० ॥

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः ।
भीष्मं जुगोप समरे वर्तमाने जनक्षये ॥ ११ ॥

जिस समय युद्धमें वह जनसंहार हो रहा था, उसी समय राजा दुर्योधन अपने भाइयोंसे घिरा हुआ वहाँ आ पहुँचा और भीष्मकी रक्षा करने लगा ॥ ११ ॥

भीमस्तु सारथिं हत्वा भीष्मस्य रथिनां वरः ।
प्रद्रुताश्वे रथे तस्मिन् द्रवमाणे समन्ततः ॥ १२ ॥

इसी समय रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने भीष्मके सारथिको मार डाला। फिर तो उनके घोड़े उस रथको लेकर रणभूमिमें चारों ओर दौड़ लगाने लगे ॥ १२ ॥

(चचार युधि राजेन्द्र भीमो भीमपराक्रमः ।
सुनाभस्तव पुत्रो वै भीमसेनमुपाद्रवत् ॥
जघान निशितैर्बाणैर्भीमं विव्याध सप्तभिः ।
भीमसेनः सुसंक्रुद्धः शरेण नतपर्वणा ॥)
सुनाभस्य शरेणाशु शिरश्चिच्छेद भारत ।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन स हतो न्यपतद् भुवि ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! भयंकर पराक्रमी भीमसेन युद्धमें सब ओर विचरने लगे। उस समय आपके पुत्र सुनाभने भीमसेनपर धावा किया और उन्हें सात तीखे बाणोंसे बींध डाला। भारत ! तब भीमसेनने भी अत्यन्त कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले क्षुरप्रनामक बाणसे शीघ्र ही सुनाभका सिर काट दिया। उस तीखे क्षुरप्रसे मारा जाकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

हते तस्मिन् महाराज तव पुत्रे महारथे ।
नामृष्यन्त रणे शूराः सोदराः सप्त संयुगे ॥ १४ ॥

महाराज ! आपके उस महारथी पुत्रके मारे जानेपर उसके सात रणवीर भाई, जो वहीं मौजूद थे, भीमसेनका यह अपराध सहन न कर सके ॥ १४ ॥

आदित्यकेतुर्बह्वाशी कुण्डधारो महोदरः ।
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षः सुदुर्जयः ॥ १५ ॥
पाण्डवं चित्रसंनाहा विचित्रकवचध्वजाः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे योद्धुकामारिमर्दनाः ॥ १६ ॥

आदित्यकेतु, बह्वाशी, कुण्डधार, महोदर, अपराजित, पण्डितक और अत्यन्त दुर्जय वीर विशालाक्ष—ये सातों शत्रुमर्दन भाई विचित्र वेशभूषासे सुसज्जित हो विचित्र कवच और ध्वज धारण किये संग्रामभूमिमें युद्धकी इच्छासे पाण्डुपुत्र भीमसेनपर टूट पड़े ॥ १५-१६ ॥

महोदरस्तु समरे भीमं विव्याध पत्रिभिः ।
नवभिर्वज्रसंकाशैर्नमुचिं वृत्रहा यथा ॥ १७ ॥

जैसे वृत्रविनाशक इन्द्रने नमुचि नामक दैत्यपर प्रहार किया था, उसी प्रकार महोदरने समरभूमिमें अपने वज्र-सरीखे नौ बाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया ॥ १७

आदित्यकेतुः सप्तत्या बह्वाशी चापि पञ्चभिः ।
नवत्या कुण्डधारश्च विशालाक्षश्च पञ्चभिः

अपराजितो महाराज पराजिष्णुर्महारथम् ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् भीमसेनं महाबलम् ॥ १९ ॥

महाराज ! आदित्यकेतुने सत्तर, बह्वाशीने पाँच, कुण्डधारने नब्बे, विशालाक्षने पाँच और अपराजितने महारथी महाबली भीमसेनको पराजित करनेके लिये उन्हें बहुत-से बाणोंद्वारा पीडित किया ॥ १८-१९ ॥

रणे पण्डितकश्चैनं त्रिभिर्बाणैः समार्पयत् ।
स तन्न ममृषे भीमः शत्रुभिर्वधमाहवे ॥ २० ॥

पण्डितकने उस युद्धमें तीन बाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया । तब भीम उस रणक्षेत्रमें शत्रुओंद्वारा किये हुए प्रहारको सहन न कर सके ॥ २० ॥

धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ।
शिरश्चिच्छेद समरे शरेणानतपर्वणा ॥ २१ ॥
अपराजितस्य सुनसं तव पुत्रस्य संयुगे ।

उन शत्रुसूदन वीरने बायें हाथसे धनुषको अच्छी तरह दबाकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे समर-भूमिमें आपके पुत्र अपराजितका सुन्दर नासिकासे युक्त मस्तक काट डाला ॥

पराजितस्य भीमेन निपपात शिरो महीम् ॥ २२ ॥
अथापरेण भल्लेन कुण्डधारं महारथम् ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ २३ ॥

भीमसेनसे पराजित हुए अपराजितका मस्तक धरतीपर जा गिरा । तत्पश्चात् भीमसेनने एक दूसरे भल्लके द्वारा सब लोगोंके देखते-देखते महारथी कुण्डधारको यमराजके लोकमें भेज दिया ॥ २२-२३ ॥

ततः पुनरमेयात्मा प्रसंधाय शिलीमुखम् ।
प्रेषयामास समरे पण्डितं प्रति भारत ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमने समरमें पुनः एक बाणका संधान करके उसे पण्डितककी ओर चलाया ॥

स शरः पण्डितं हत्वा विवेश धरणीतलम् ।
यथा नरं निहत्याशु भुजगः कालचोदितः ॥ २५ ॥

जैसे कालप्रेरित सर्प किसी मनुष्यको शीघ्र ही डँसकर लापता हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण पण्डितककी हत्या करके धरतीमें समा गया ॥ २५ ॥

विशालाक्षशिरश्छित्त्वा पातयामास भूतले ।
त्रिभिः शरैरदीनात्मा स्मरन् क्लेशं पुरातनम् ॥ २६ ॥

उसके बाद उदार हृदयवाले भीमने अपने पूर्व क्लेशोंका स्मरण करके तीन बाणोंद्वारा विशालाक्षके मस्तकको काटकर धरतीपर गिरा दिया ॥ २६ ॥

महोदरं महेष्वासं नाराचेन स्तनान्तरे ।
[illegible] समरे राजन् स हतो न्यपतद् भुवि ॥ २७ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन्होंने महाधनुर्धर महोदरकी छातीमें एक नाराचसे प्रहार किया । उससे मारा जाकर वह युद्धमें धरतीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

आदित्यकेतोः केतुं च छित्त्वा बाणेन संयुगे ।
भल्लेन भृशतीक्ष्णेन शिरश्चिच्छेद भारत ॥ २८ ॥

भारत ! तदनन्तर भीमने रणक्षेत्रमें एक बाणसे आदित्यकेतुकी ध्वजा काटकर अत्यन्त तीखे भल्लके द्वारा उसका मस्तक भी काट दिया ॥ २८ ॥

बह्वाशिनं ततो भीमः शरेणानतपर्वणा ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो यमस्य सदनं प्रति ॥ २९ ॥

इसके बाद क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे मारकर बह्वाशीको यमलोक भेज दिया ॥ २९ ॥

प्रदुद्रुवुस्ततस्तेऽन्ये पुत्रास्तव विशाम्पते ।
मन्यमाना हि तत् सत्यं सभायां तस्य भाषितम् ॥ ३० ॥

प्रजानाथ ! तब आपके दूसरे पुत्र भीमसेनके द्वारा सभामें की हुई उस प्रतिज्ञाको सत्य मानकर वहाँसे भाग खड़े हुए ॥

ततो दुर्योधनो राजा भ्रातृव्यसनकर्शितः ।
अब्रवीत् तावकान् योधान् भीमोऽयं युधि वध्यताम् ॥ ३१ ॥

भाइयोंके मरनेसे राजा दुर्योधनको बड़ा कष्ट हुआ । अतः उसने आपके समस्त सैनिकोंको आज्ञा दी कि इस भीमसेनको युद्धमें मार डालो ॥ ३१ ॥

एवमेते महेष्वासाः पुत्रास्तव विशाम्पते ।
भ्रातॄन् संदृश्य निहतान् प्रास्मरंस्ते हि तद् वचः ॥ ३२ ॥
यदुक्तवान् महाप्राज्ञः क्षत्ता हितमनामयम् ।
तदिदं समनुप्राप्तं वचनं दिव्यदर्शिनः ॥ ३३ ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार ये आपके महाधनुर्धर पुत्र अपने भाइयोंको मारा गया देख उन बातोंकी याद करने लगे, जिन्हें महाज्ञानी विदुरने कहा था । वे सोचने लगे-दिव्यदर्शी विदुरने हमारे कुशल एवं हितके लिये जो बात कही थी, वह आज सिरपर आ गयी ॥ ३२-३३ ॥

लोभमोहसमाविष्टः पुत्रप्रीत्या जनाधिप ।
न बुध्यसे पुरा यत् तत् तथ्यमुक्तं वचो महत् ॥ ३४ ॥

जनेश्वर ! आपने अपने पुत्रोंके प्रति प्रेमके कारण लोभ और मोहके वशीभूत हो, विदुरने पहले जो सत्य एवं हितकर महत्त्वपूर्ण बात बतायी थी, उसपर ध्यान नहीं दिया ॥ ३४ ॥

तथैव च वधार्थाय पुत्राणां पाण्डवो बली ।
नूनं जातो महाबाहुर्यथा हन्ति स कौरवान् ॥ ३५ ॥

उनके कथनानुसार ही बलवान् पाण्डुपुत्र महाबाहु भीम आपके पुत्रोंके वधका कारण बनते जा रहे हैं और उसी प्रकार वे कौरवोंका सर्वनाश कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममासाद्य संयुगे ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो विललाप सुदुःखितः ॥ ३६ ॥

उस समय राजा दुर्योधन युद्धभूमिमें भीष्मके पास कर महान् दुःखसे व्याप्त एवं अत्यन्त शोकमग्न होकर लाप करने लगा—॥ ३६ ॥

हता भ्रातरः शूरा भीमसेनेन मे युधि ।
मानास्तथान्येऽपि हन्यन्ते सर्वसैनिकाः ॥ ३७ ॥

पितामह ! भीमसेनने युद्धमें मेरे शूरवीर वन्धुओंको डाला और दूसरे भी समस्त सैनिक विजयके लिये पूर्ण करते हुए भी असफल हो उनके हाथसे मारे जा रहे हैं। ३७।

श्च मध्यस्थतया नित्यमस्मानुपेक्षते ।
हं कुपथमारूढः पश्य दैवमिदं मम ॥ ३८ ॥

'आप मध्यस्थ बने रहनेके कारण सदा हमलोगोंकी करते हैं। मैं वड़े बुरे मार्गपर चढ़ आया। मेरे इस को देखिये' ॥ ३८ ॥

त्वा वचः क्रूरं पिता देवव्रतस्तव ।
नमिदं वाक्यमब्रवीत् साश्रुलोचनः ॥ ३९ ॥

क्रूरतापूर्ण वचन सुनकर आपके ताऊ भीष्म अपने आँसू बहाते हुए वहाँ दुर्योधनसे इस प्रकार बोले—॥ ३९॥

तन्मया पूर्वं द्रोणेन विदुरेण च ।
र्या च यशस्विन्या तत् त्वं तात न बुद्धवान् ॥४०॥

ात ! मैंने, द्रोणाचार्यने, विदुरने तथा यशस्विनी गान्धारी देवीने भी पहले ही यह सब बात कह दी थी, परंतु तुमने इसपर ध्यान नहीं दिया ॥ ४० ॥

समयश्च मया पूर्वं कृतो वै शत्रुकर्शन ।
नाहं युधि नियोक्तव्यो नाप्याचार्यः कथंचन ॥ ४१ ॥

'शत्रुसूदन ! मैंने पहले ही यह निश्चय प्रकट कर दिया था कि तुम्हें मुझे या द्रोणाचार्यको युद्धमें किसी प्रकार भी नहीं लगाना चाहिये (क्योंकि हमलोगोंका कौरवों तथा पाण्डवोंके प्रति समान स्नेह है) ॥ ४१ ॥

यं यं हि धार्तराष्ट्राणां भीमो द्रक्ष्यति संयुगे ।
हनिष्यति रणे नित्यं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४२ ॥

'मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ कि भीमसेन धृतराष्ट्रके पुत्रोंमेंसे जिस-जिसको युद्धमें (अपने सामने आया हुआ) देख लेंगे, उसे प्रतिदिनके संग्राममें अवश्य मार डालेंगे ।४२।

स त्वं राजन् स्थिरो भूत्वा रणे कृत्वा दृढां मतिम् ।
योधयस्व रणे पार्थान् स्वर्गं कृत्वा परायणम् ॥ ४३ ॥

'अतः राजन् ! तुम स्थिर होकर युद्धके विषयमें अपना दृढ़ निश्चय बना लो और स्वर्गको ही अन्तिम आश्रय मानकर रणभूमिमें पाण्डवोंके साथ युद्ध करो ॥ ४३ ॥

न शक्याः पाण्डवा जेतुं सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
तस्माद् युद्धे स्थिरां कृत्वा मतिं युद्ध्यस्व भारत ॥४४॥

'भारत ! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी पाण्डवोंको जीत नहीं सकते । अतः युद्धके लिये पहले अपनी बुद्धिको स्थिर कर लो । उसके बाद युद्ध करो' ॥४४॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सुनाभादिधृतराष्ट्रपुत्रवधे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सुनाभ आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंका वधविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

एकोननवतितमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव-सेनाका घमासान युद्ध और भयानक जनसंहार

धृतराष्ट्र उवाच

निहतान् पुत्रान् बहूनेकेन संजय ।
द्रोणः कृपश्चैव किमकुर्वत संयुगे ॥ १ ॥

राष्ट्र बोले—संजय ! एकमात्र भीमसेनके द्वारा बहुत-से पुत्रोंको मारा गया देख भीष्म, द्रोण और क्या किया ? ॥ १ ॥

नि मे पुत्राः क्षयं गच्छन्ति संजय ।
सर्वथा सूत दैवेनोपहता भृशम् ॥ २ ॥

पुत्र प्रतिदिन नष्ट होते जा रहे हैं। सूत ! मेरा तो है कि हमलोग सर्वथा अत्यन्त दुर्भाग्यके रे हैं ॥ २ ॥

यत्र मे तनयाः सर्वे जीयन्ते न जयन्त्युत ।
यत्र भीष्मस्य द्रोणस्य कृपस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥
सौमदत्तेश्च वीरस्य भगदत्तस्य चोभयोः ।
अश्वत्थाम्नस्तथा तात शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ ४ ॥
अन्येषां चैव शूराणां मध्यगास्तनया मम ।
यदहन्यन्त संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ॥ ५ ॥

दुर्भाग्यके अधीन होनेके कारण ही मेरे पुत्र हारते जा रहे हैं; विजयी नहीं हो रहे हैं। जहाँ भीष्म, द्रोण, महामना कृपाचार्य, वीरवर भूरिश्रवा, भगदत्त, अश्वत्थामा तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अन्य शूरवीरोंके बीचमें रहकर भी मेरे पुत्र प्रतिदिन संग्राममें मारे जाते हैं, वहाँ दुर्भाग

सिवा और क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३–५ ॥

न हि दुर्योधनो मन्दः पुरा प्रोक्तमबुध्यत ।
वार्यमाणो मया तात भीष्मेण विदुरेण च ॥ ६ ॥
गान्धार्या चैव दुर्मेधाः सततं हितकाम्यया ।
नाबुध्यत पुरा मोहात् तस्य प्राप्तमिदं फलम् ॥ ७ ॥
यद् भीमसेनः समरे पुत्रान् मम विचेतसः ।
अहन्यहनि संक्रुद्धो नयते यमसादनम् ॥ ८ ॥

मूर्ख दुर्योधनने पहले मेरी कही हुई बातोंपर ध्यान नहीं दिया । तात ! मैंने, भीष्मने, विदुरने तथा गान्धारीने भी सदा हितकी इच्छासे दुर्बुद्धि दुर्योधनको बार-बार मना किया; परंतु मोहवश पूर्वकालमें हमारी ये बातें उसके समझमें नहीं आयीं । उसीका यह फल अब प्राप्त हुआ है, जिससे भीमसेन समराङ्गणमें कुपित होकर मेरे मूर्ख पुत्रोंको प्रतिदिन यमलोक भेज रहा है ॥ ६–८ ॥

संजय उवाच

इदं तत् समनुप्राप्तं क्षत्तुर्वचनमुत्तमम् ।
न बुद्धवानसि विभो प्रोच्यमानं हितं तदा ॥ ९ ॥

संजयने कहा—प्रभो ! उस समय आपने जो विदुरजीके कहे हुए उत्तम एवं हितकारक वचनको नहीं सुना (सुनकर भी उसपर ध्यान नहीं दिया); उसीका यह फल प्राप्त हुआ है ॥

निवारय सुतान् द्यूतात् पाण्डवान् मा द्रुहेति च ।
सुहृदां हितकामानां ब्रुवतां तत् तदेव च ॥ १० ॥
न शुश्रूषसि तद् वाक्यं मर्त्यः पथ्यमिवौषधम् ।
तदेव त्वामनुप्राप्तं वचनं साधुभाषितम् ॥ ११ ॥

उन्होंने कहा था कि 'आप अपने पुत्रोंको जूआ खेलनेसे रोकिये । पाण्डवोंसे द्रोह न कीजिये ।' आपका हित चाहनेवाले अन्यान्य सुहृदोंने भी आपसे वे ही बातें कही थीं; परंतु जैसे मरणासन्न पुरुषको हितकारक ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आप उन हितकर वचनोंको सुनना भी नहीं चाहते थे। अतः श्रेष्ठ विदुरने जैसा बताया था, वैसा ही परिणाम आपके सामने आया है ॥ १०-११ ॥

विदुरद्रोणभीष्माणां तथान्येषां हितैषिणाम् ।
अकृत्वा वचनं पथ्यं क्षयं गच्छन्ति कौरवाः ॥ १२ ॥

विदुर, द्रोण, भीष्म तथा अन्य हितैषियोंके हितकर वचनोंको न माननेके कारण इन कौरवोंका विनाश हो रहा है ॥

तदेतत् समनुप्राप्तं पूर्वमेव विशाम्पते ।
तस्मात् त्वं शृणु तत्त्वेन यथा युद्धमवर्तत ॥ १३ ॥

प्रजापालक नरेश ! यह सब तो पहलेसे ही प्राप्त है । अब आप जिस प्रकार युद्ध हुआ, उसका यथावत् समाचार सुनिये ॥ १३ ॥

मध्याह्ने सुमहारौद्रः संग्रामः समपद्यत ।
लोकक्षयकरो राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १४ ॥

राजन् ! उस दिन दोपहर होते-होते बड़ा भयंकर होने लगा, जो सम्पूर्ण जगत्के योद्धाओंका विनाश था । वह सब मैं कह रहा हूँ, सुनिये ॥ १४ ॥

ततः सर्वाणि सैन्यानि धर्मपुत्रस्य शासनात् ।
संरब्धान्यभ्यवर्तन्त भीष्ममेव जिघांसया ॥ १

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरके आदेशसे क्रोधमें भरी उनकी सारी सेनाएँ भीष्मपर ही टूट पड़ीं । वे भीष्म मार डालना चाहती थीं ॥ १५ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ॥ १

महाराज ! धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा महारथी सात्यकि इन सबने अपनी सेनाओंके साथ भीष्मपर ही आक्रमण किय

विराटो द्रुपदश्चैव सहिताः सर्वसोमकैः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे भीष्ममेव महारथम् ॥ १७

राजा विराट और सम्पूर्ण सोमकोंसहित द्रुपदने सं में महारथी भीष्मपर ही चढ़ाई की ॥ १७ ॥

केकया धृष्टकेतुश्च कुन्तिभोजश्च दंशितः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ॥ १८

नरेश्वर ! केकय, धृष्टकेतु और कवचधारी कुन्तिभे इन सबने अपनी सेनाओंके साथ भीष्मपर ही धावा किया ॥

अर्जुनो द्रौपदेयाश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दुर्योधनसमादिष्टान् राज्ञः सर्वान् समभ्ययुः ॥ १

अर्जुन, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी चेकितान दुर्योधनके भेजे हुए समस्त राजाओंपर चढ़ आये ॥ १

अभिमन्युस्तथा शूरो हैडिम्बश्च महारथः ।
भीमसेनश्च संक्रुद्धस्तेऽभ्यधावन्त कौरवान् ॥ २

शूरवीर अभिमन्यु, महारथी घटोत्कच तथा क्रोधमें हुए भीमसेन—इन सबने कौरवोंपर धावा किया ॥ २०

त्रिधाभूतैरवध्यन्त पाण्डवैः कौरवा युधि ।
तथैव कौरवै राजन्नवध्यन्त परे रणे ॥

राजन् ! पाण्डवोंने तीन दलोंमें विभक्त होकर कौ वध आरम्भ किया । इसी प्रकार कौरव भी र शत्रुओंका नाश करने लगे ॥ २१ ॥

द्रोणस्तु रथिनः श्रेष्ठान् सोमकान् सृंजयैः सह ।
अभ्यधावत संक्रुद्धः प्रेषयिष्यन् यमक्षयम् ॥

द्रोणाचार्यने श्रेष्ठ रथी सोमकों और सृञ्जयोंको भेजनेके लिये क्रोधपूर्वक उनके ऊपर धावा बोल दिय

तत्राक्रन्दो महानासीत् सृंजयानां महात्मनाम् ।
वध्यतां समरे राजन् भारद्वाजेन धन्विना ॥

राजन् ! धनुर्धर द्रोणाचार्यके द्वारा समरभूमिमें मारे जाते हुए महामना सृञ्जयोंका महान् आर्तनाद सुनायी देने लगा ॥ २३ ॥

द्रोणेन निहतास्तत्र क्षत्रिया बहवो रणे।
विवेष्टन्तो ह्यदृश्यन्त व्याधिक्लिष्टा नरा इव ॥ २४ ॥

द्रोणाचार्यके मारे हुए बहुत-से क्षत्रिय रणभूमिमें व्याधि-स्त मनुष्योंकी भाँति छटपटाते हुए दिखायी देते थे ॥२४॥

जतां क्रन्दतां चैव स्तनतां चैव भारत।
निशं शुश्रुवे शब्दः क्षुत्क्लिष्टानां नृणामिव ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! भूखसे पीडित मनुष्योंकी भाँति कूजते, न्दन करते और गरजते हुए योद्धाओंका शब्द निरन्तर ायी देता था ॥ २५ ॥

व कौरवेयाणां भीमसेनो महाबलः।
ार कदनं घोरं क्रुद्धः काल इवापरः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार महाबली भीमसेन क्रोधमें भरे हुए दूसरे के समान कौरव सैनिकोंका घोर संहार करने लगे ॥२६॥

तां तत्र सैन्यानामन्योन्येन महारणे।
र्तत नदी घोरा रुधिरौघप्रवाहिनी ॥ २७ ॥

उस महायुद्धमें परस्पर मारकाट करनेवाले सैनिकोंकी धिरको प्रवाहित करनेवाली एक भयंकर नदी बह चली ॥

संग्रामो महाराज घोररूपोऽभवन्महान्।
णां पाण्डवानां च यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ २८ ॥

महाराज ! कौरवों और पाण्डवोंका वह घोर महासंग्राम लोककी वृद्धि करनेवाला था ॥ २८ ॥

भीमो रणे क्रुद्धो रभसश्च विशेषतः।
नीकं समासाद्य प्रेषयामास मृत्यवे ॥ २९ ॥

युद्धमें विशेष वेगशाली भीमसेनने कुपित हो हाथियों-नामें प्रवेशकर उन्हें कालके गालमें भेजना आरम्भ किया ॥

भारत भीमेन नाराचाभिहता गजाः।
दुश्च सेदुश्च दिशश्च परिबभ्रमुः ॥ ३० ॥

भारत ! वहाँ भीमके नाराचोंसे पीडित हुए हाथी· गिरते, ते, बैठ जाते अथवा सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर लगाते थे ॥ ३० ॥

स्ता महानागाश्छिन्नगात्राश्च मारिष।
वद् व्यनदन् भीताः पृथिवीमधिशेरते ॥ ३१ ॥

आर्य ! सूँड़ तथा दूसरे-दूसरे अङ्गोंके कट जानेसे हाथी हो क्रौञ्च पक्षीकी भाँति चीत्कार करते और धरा-हो जाते थे ॥ ३१ ॥

सहदेवश्च हयानीकमभिद्रुतौ।
ः काञ्चनापीडा रुक्मभाण्डपरिच्छदाः ॥ ३२ ॥
वध्यमाना व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः।

नकुल और सहदेवने घुड़सवारोंकी सेनापर आक्रमण किया। राजन् ! उन घोड़ोंने सोनेकी कलँगी तथा सोनेके ही अन्यान्य आभूषण धारण किये थे। वे सब सैकड़ों और सहस्रोंकी संख्यामें मरकर गिरते दिखायी देते थे ॥ ३२½ ॥

पतद्भिस्तुरगै राजन् समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ३३ ॥
निर्जिह्वैश्च श्वसद्भिश्च कूजद्भिश्च गतासुभिः।
हयैर्बभौ नरश्रेष्ठ नानारूपधरैर्धरा ॥ ३४ ॥

राजन् ! वहाँ गिरते हुए घोड़ोंकी लाशोंसे सारी पृथ्वी पट गयी। किन्हींकी जीभ निकल आयी थी, कोई लंबी साँस खींच रहे थे, कोई धीरे-धीरे अव्यक्त शब्द करते और कितनों-के प्राण निकल गये थे। नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार विभिन्न रूपधारी घोड़ोंसे आच्छादित होनेके कारण इस पृथ्वीकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ ३३-३४ ॥

अर्जुनेन हतैः संख्ये तथा भारत राजभिः।
प्रबभौ वसुधा घोरा तत्र तत्र विशाम्पते ॥ ३५ ॥

भारत ! प्रजानाथ ! जहाँ-तहाँ अर्जुनके द्वारा युद्धमें मारे गये राजाओंसे भरी हुई वह रणभूमि बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥

रथैर्भग्नैर्ध्वजैश्छिन्नैर्निकृत्तैश्च महायुधैः।
चामरैर्व्यजनैश्चैव छत्रैश्च सुमहाप्रभैः ॥ ३६ ॥
हारैर्निष्कैः सकेयूरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः।
उष्णीषैरपविद्धैश्च पताकाभिश्च सर्वशः ॥ ३७ ॥
अनुकर्षैः शुभै राजन् योक्त्रैश्चैव सरश्मिभिः।
संकीर्णा वसुधा भाति वसन्ते कुसुमैरिव ॥ ३८ ॥

राजन् ! टूटे हुए रथ, कटे हुए ध्वज, छिन्न-भिन्न हुए बड़े-बड़े आयुध, चवँर, व्यजन, अत्यन्त प्रकाशमान छत्र, सोनेके हार, केयूर, कुण्डलमण्डित मस्तक, गिरे हुए शिरोभूषण (पगड़ी आदि), पताका, सुन्दर अनुकर्ष,* जोत और बागडोर आदिसे आच्छादित हुई वह संग्रामभूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानो वसन्त ऋतुमें उसपर भाँति-भाँतिके फूल गिरे हुए हों ॥ ३६—३८ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः पाण्डूनामपि भारत।
क्रुद्धे शान्तनवे भीष्मे द्रोणे च रथसत्तमे ॥ ३९ ॥
अश्वत्थाम्नि कृपे चैव तथैव कृतवर्मणि।
तथेतरेषु क्रुद्धेषु तावकानामपि क्षयः ॥ ४० ॥

भारत ! शान्तनुनन्दन भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा—इनके कुपित होनेसे पाण्डव सैनिकोंका भी इस प्रकार यह संहार हुआ था। साथ ही पाण्डवोंके कुपित होनेसे आपके योद्धाओंका भी ऐसा ही विकट विनाश हुआ था ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

---

* रथके नीचे रहनेवाली लकड़ीको अनुकर्ष कहते हैं, जिसके सहारे पहिये रहते हैं।

नवतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के द्वारा शकुनिके भाइयोंका तथा राक्षस अलम्बुषके द्वारा इरावान्‌का वध

संजय उवाच

वर्तमाने तथा रौद्रे राजन् वीरवरक्षये।
शकुनिः सौबलः श्रीमान् पाण्डवान् समुपाद्रवत्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! जिस समय बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाला वह भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय सुबलपुत्र श्रीमान् शकुनिने पाण्डवोंपर आक्रमण किया॥

तथैव सात्वतो राजन् हार्दिक्यः परवीरहा।
अभ्यद्रवत संग्रामे पाण्डवानां वरूथिनीम्॥ २॥

नरेश्वर! इसी प्रकार शत्रुवीरोंका विनाश करनेवाले सात्वतवंशी कृतवर्माने उस संग्राममें पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया॥२॥

ततः काम्बोजमुख्यानां नदीजानां च वाजिनाम्।
आरट्टानां महीजानां सिन्धुजानां च सर्वशः॥ ३॥
वनायुजानां शुभ्राणां तथा पर्वतवासिनाम्।
वाजिनां बहुभिः संख्ये समन्तात् परिवारयन्॥ ४॥
ये चापरे तित्तिरिजा जवना वातरंहसः।
सुवर्णालंकृतैरेतैर्वर्मवद्भिः सुकल्पितैः॥ ५॥
हयैर्वातजवैर्मुख्यैः पाण्डवस्य सुतो बली।
अभ्यवर्तत तत् सैन्यं हृष्टरूपः परंतपः॥ ६॥

तत्पश्चात् काम्बोज देशके अच्छे घोड़े, दरियाई घोड़े, मही, सिन्धु, वनायु, आरट्ट तथा पर्वतीय प्रान्तोंमें होनेवाले सुन्दर घोड़े—इन सबकी बहुत बड़ी सेनाके द्वारा सब ओरसे घिरा हुआ शत्रुओंको संताप देनेवाला पाण्डुनन्दन अर्जुनका बलवान् पुत्र इरावान् हर्षमें भरकर रणभूमिमें कौरवोंकी उस सेनापर चढ़ आया। उसके साथ तित्तिर प्रदेशके शीघ्रगामी घोड़े भी मौजूद थे, जो वायुके समान वेगशाली थे। वे सबके सब सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थे। उनके शरीरोंमें कवच बँधे हुए थे और उन्हें सुन्दर साज-बाजसे सजाया गया था। वे सभी घोड़े अच्छी जातिके तथा वायुके तुल्य शीघ्रगामी थे॥

अर्जुनस्य सुतः श्रीमानिरावान् नाम वीर्यवान्।
सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता॥ ७॥

अर्जुनका पराक्रमी पुत्र श्रीमान् इरावान् नागराज कौरव्यकी पुत्रीके गर्भसे बुद्धिमान् अर्जुनद्वारा उत्पन्न किया गया था।७।

ऐरावतेन सा दत्ता अनपत्या महात्मना।
पतौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना॥ ८॥
भार्यार्थं तां च जग्राह पार्थः कामवशानुगाम्।
ामेष समुत्पन्नः परपक्षेऽर्जुनात्मजः॥ ९॥

नागराजकी वह पुत्री संतानहीन थी। उसके मनो पतिको* गरुड़ने मार डाला था, जिससे वह अत्यन्तदीन दयनीय हो रही थी। ऐरावतवंशी कौरव्यनागने उसे को अर्पित किया और अर्जुनने कामके अधीन हुई उस कन्याको भार्यारूपमें ग्रहण किया था। इस प्रकार यह पुत्र उत्पन्न हुआ था। वह सदा मातृकुलमें ही रहा॥८

स नागलोके संवृद्धो मात्रा च परिरक्षितः।
पितृव्येण परित्यक्तः पार्थद्वेषाद् दुरात्मना॥ १०

वह नागलोकमें ही माताद्वारा पाल-पोसकर बड़ा कि गया और सब प्रकारसे वहीं उसकी रक्षा की गयी थी। बालकके किसी दुरात्मा वयोवृद्ध सम्बन्धीने अर्जुनके प्रति होनेके कारण इनके उस पुत्रको त्याग दिया था॥ १०

रूपवान् बलसम्पन्नो गुणवान् सत्यविक्रमः।
इन्द्रलोकं जगामाशु श्रुत्वा तत्रार्जुनं गतम्॥ ११

इरावान् भी रूपवान्, बलवान्, गुणवान् और पराक्रमी था, बड़े होनेपर जब उसने सुना कि मेरे पिता इस समय इन्द्रलोकमें गये हुए हैं, तब वह शीघ्र ही जा पहुँचा॥ ११॥

सोऽभिगम्य महाबाहुः पितरं सत्यविक्रमः।
अभ्यवादयदव्यग्रो विनयेन कृताञ्जलिः॥
न्यवेदयत चात्मानमर्जुनस्य महात्मनः।
इरावानस्मि भद्रं ते पुत्रश्चाहं तव प्रभो॥
मातुः समागमो यश्च तत् सर्वं प्रत्यवेदयत्।
तच्च सर्वं यथावृत्तमनुसस्मार पाण्डवः॥

उस सत्यपराक्रमी महाबाहु वीरने अपने पिताके पहुँचकर शान्तभावसे उन्हें प्रणाम किया और विनय हाथ जोड़ महामना अर्जुनके समक्ष अपना परिचय देते

---

* यहाँ मूलमें 'पतौ' पाठ है। व्याकरणके अनुसार 'पति' का सप्तमीके एक वचनमें 'पत्यौ' रूप होता है। अतः जहाँ पदका प्रयोग है, वहाँ मुख्य 'पति' का वाचक पति शब्द 'पतिरिवाचरतीति पतिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'पति' शब्दका यहाँ प्रयोग है, जिसका अर्थ है—पतिसदृश। यह कि जिसके लिये कन्याका वाग्दान किया गया है, नीत पति ही विवाहके पहलेतक 'पतितुल्य' है। विवाहके 'पति' होता है। इस नागकन्याके मनोनीत पतिको डाला था, इसीलिये 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इस अनुसार उसका अर्जुनके साथ सम्बन्ध हुआ और उसे पत्नीरूपसे ग्रहण किया।

बोला—'प्रभो ! आपका कल्याण हो । मैं आपका ही पुत्र इरावान् हूँ ।' उसकी माताके साथ अर्जुनका जो समागम हुआ था, वह सब उसने निवेदन किया । पाण्डुनन्दन अर्जुनको वह सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे स्मरण हो आया ॥ १२–१४ ॥

परिष्वज्य सुतं चापि आत्मनः सदृशं गुणैः ।
प्रीतिमाननयत् पार्थो देवराजनिवेशने ॥ १५ ॥

गुणोंमें अपने ही समान उस पुत्रको हृदयसे लगाकर अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे देवराजके भवनमें ले गये ॥

सोऽर्जुनेन समाज्ञप्तो देवलोके तदा नृप ।
प्रीतिपूर्वं महाबाहुः स्वकार्यं प्रति भारत ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! भरतनन्दन ! उन दिनों देवलोकमें अर्जुनने मपूर्वक अपने महाबाहु पुत्रको अपना सब कार्य बताते हुए कहा— ॥ १६ ॥

युद्धकाले त्वयास्माकं साह्यं देयमिति प्रभो ।
ाढमित्येवमुक्त्वा तु युद्धकाल इहागतः ॥ १७ ॥

'शक्तिशाली पुत्र ! युद्धके अवसरपर तुम हमलोगोंको ायता देना ।' तब बहुत अच्छा कहकर इरावान् चला और अब युद्धके अवसरपर यहाँ आया है ॥ १७ ॥

मवर्णजवैरश्वैर्बहुभिः संवृतो नृप ।
हयाः काञ्चनापीडा नानावर्णा मनोजवाः ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! इरावान्के साथ इच्छानुसार रूप-रंग और वाले बहुत-से घोड़े मौजूद थे । वे सब-के-सब सोनेके भूषण धारण करनेवाले तथा मनके समान वेगशाली उनके रंग अनेक प्रकारके थे ॥ १८ ॥

तुः सहसा राजन् हंसा इव महोदधौ ।
दीयान् समासाद्य हयसंघान् मनोजवान् ॥ १९ ॥
क्रोडानभिघ्नन्तो घोणाभिश्च परस्परम् ।
तुः सहसा राजन् सुवेगाभिहता भुवि ॥ २० ॥

राजन् ! वे घोड़े महासागरमें उड़नेवाले हंसोंके समान उछले और आपके मनके समान वेगशाली अश्वोंके में पहुँचकर छातीसे उनकी छातीमें तथा नासिकासे दूसरेकी नासिकापर चोट करने लगे । वे सहसा वेग- टकराकर पृथ्वीपर गिरते थे ॥ १९-२० ॥

द्भिस्तथा तैश्च हयसंघैः परस्परम् ।
दारुणः शब्दः सुपर्णपतने यथा ॥ २१ ॥

अश्वोंके समुदाय परस्पर टकराकर जब गिरते थे, उस गरुड़के वेगपूर्वक उतरनेके समान भयंकर शब्द देता था ॥ २१ ॥

तावका राजन् समेत्यान्योन्यमाहवे ।
वधं घोरं चक्रुस्ते हयसादिनः ॥ २२ ॥

राजन् ! इसी प्रकार आपके और पाण्डवोंके घुड़सवार युद्धमें एक दूसरेसे भिड़कर आपसमें भयंकर मार-काट करते थे ॥ २२ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संकुले तुमुले भृशम् ।
उभयोरपि संशान्ता हयसङ्घाः समन्ततः ॥ २३ ॥

इस प्रकार अत्यन्त भयानक घमासान युद्ध छिड़ जानेपर दोनों पक्षोंके अश्वसमूह चारों ओर नष्ट हो गये ॥ २३ ॥

प्रक्षीणसायकाः शूरा निहताश्वाः श्रमातुराः ।
विलयं समनुप्राप्तास्तक्षमाणाः परस्परम् ॥ २४ ॥

शूरवीर योद्धाओंके पास बाण समाप्त हो गये । उनके घोड़े मारे गये । वे परिश्रमसे पीड़ित हो परस्पर घात-प्रतिघात करते हुए विनष्ट हो गये ॥ २४ ॥

ततः क्षीणे हयानीके किंचिच्छेषे च भारत ।
सौबलस्यानुजाः शूरा निर्गता रणमूर्धनि ॥ २५ ॥

भारत ! इस प्रकार जब घुड़सवारोंकी सेना नष्ट हो गयी और उसका अल्पभाग ही अवशिष्ट रह गया; उस अवस्थामें शकुनिके शूरवीर भाई युद्धके मुहानेपर निकले ॥

वायुवेगसमस्पर्शाञ्जवे वायुसमांश्च ते ।
आरुह्य बलसम्पन्नान् वयःस्थांस्तुरगोत्तमान् ॥ २६ ॥
गजो गवाक्षो वृषभश्चर्मवानार्जवः शुकः ।
षडेते बलसम्पन्ना निर्ययुर्महतो बलात् ॥ २७ ॥

जिनका स्पर्श वायुवेगके समान दुःसह था, जो वेगमें वायुकी समानता करते थे, ऐसे बलसम्पन्न नयी अवस्थावाले उत्तम घोड़ोंपर सवार हो गज, गवाक्ष, वृषभ, चर्मवान्, आर्जव और शुक—ये छः बलवान् वीर अपनी विशाल सेनासे बाहर निकले ॥ २६-२७ ॥

वार्यमाणाः शकुनिना तैश्च योधैर्महाबलैः ।
संनद्धा युद्धकुशला रौद्ररूपा महाबलाः ॥ २८ ॥

यद्यपि शकुनिने उन्हें मना किया, अन्यान्य महाबली योद्धाओंने भी उन्हें रोका, तथापि वे युद्धकुशल, महाबली रौद्ररूपधारी क्षत्रिय कवच आदिसे सुसज्जित हो युद्धके लिये निकल पड़े ॥ २८ ॥

तदनीकं महाबाहो भित्त्वा परमदुर्जयम् ।
बलेन महता युक्ताः स्वर्गाय विजयैषिणः ॥ २९ ॥
विविशुस्ते तदा हृष्टा गान्धारा युद्धदुर्मदाः ।

महाबाहो ! उस समय उन युद्धदुर्मद गान्धारदेशीय वीरोंने विजय अथवा स्वर्गकी अभिलाषा लेकर विशाल सेनाके साथ पाण्डव-वाहिनीके परम दुर्जयव्यूहका भेदन करके हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण हो उसके भीतर प्रवेश किया ॥ २९½ ॥

तान् प्रविष्टांस्तदा दृष्ट्वा इरावानपि वीर्यवान् ॥ ३

अब्रवीत् समरे योधान् विचित्रान् दारुणायुधान्।
यथैते धार्तराष्ट्रस्य योधाः सानुगवाहनाः ॥ ३१ ॥
हन्यन्ते समरे सर्वे तथा नीतिर्विधीयताम्।

तब उन्हें सेनाके भीतर प्रविष्ट हुआ देख पराक्रमी इरावान्‌ने भी समरभूमिमें भयंकर अस्त्र-शस्त्रवाले अपने विचित्र योद्धाओंसे कहा—'वीरो ! तुम सब लोग संग्राममें ऐसी नीति बना लो, जिससे दुर्योधनके ये समस्त योद्धा अपने सेवकों और सवारियोंसहित मार डाले जायँ' ॥ ३०-३१½ ॥

बाढमित्येवमुक्त्वा ते सर्वे योधा इरावतः ॥ ३२ ॥
जघ्नुस्तेषां बलानीकं दुर्जयं समरे परैः।

तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर इरावान्‌के समस्त सैनिकोंने उन छहों वीरोंके सैन्यसमूहको, जो समराङ्गणमें दूसरोंके लिये दुर्जय था, मार डाला ॥ ३२½ ॥

तदनीकमनीकेन समरे वीक्ष्य पातितम् ॥ ३३ ॥
अमृष्यमाणास्ते सर्वे सुबलस्यात्मजा रणे।
इरावन्तमभिद्रुत्य सर्वतः पर्यवारयन् ॥ ३४ ॥

अपनी सेनाको समरभूमिमें शत्रुकी सेनाद्वारा मार गिरायी गयी देख सुबलके सभी पुत्र इसे सह न सके। उन्होंने इरावान्‌पर धावा करके उसे सब ओरसे घेर लिया॥ ३३-३४ ॥

ताडयन्तः शितैः प्रासैश्चोदयन्तः परस्परम्।
ते शूराः पर्यधावन्त कुर्वन्तो महदाकुलम् ॥ ३५ ॥

वे छहों शूर तीखे प्रासोंसे मारते और एक दूसरेको बढ़ावा देते हुए इरावान्‌पर टूट पड़े तथा उसे अत्यन्त व्याकुल करने लगे ॥ ३५ ॥

इरावानथ निर्भिन्नः प्रासैस्तीक्ष्णैर्महात्मभिः।
स्रवता रुधिरेणाक्तस्तोत्रैर्विद्ध इव द्विपः ॥ ३६ ॥

उन महामनस्वी वीरोंके तीखे प्रासोंसे क्षत-विक्षत होकर इरावान् बहते हुए रक्तसे नहा उठा। अङ्कुशोंसे घायल हुए हाथीके समान व्याकुल हो गया ॥ ३६ ॥

पुरतोऽपि च पृष्ठे च पार्श्वयोश्च भृशाहतः।
एको बहुभिरत्यर्थं धैर्याद् राजन् न विव्यथे ॥ ३७ ॥

राजन् ! वह अकेला था और उसपर प्रहार करनेवालों-की संख्या बहुत थी। वह आगे-पीछे और अगल-बगल-में अत्यन्त घायल हो गया था; तो भी धैर्यके कारण व्यथित नहीं हुआ ॥ ३७ ॥

इरावानपि संकुद्धः सर्वांस्तान् निशितैः शरैः।
मोहयामास समरे विद्ध्वा परपुरंजयः ॥ ३८ ॥

अब इरावान्‌को भी बड़ा क्रोध हुआ। शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले उस वीरने समरमें तीखे बाणोंद्वारा बींधकर उन सबको मूर्छित कर दिया ॥ ३८ ॥

प्रासानुत्कृष्य तरसा स्वशरीरादरिंदमः।
तैरेव ताडयामास सुबलस्यात्मजान् रणे ॥ ३९ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले इरावान्‌ने अपने शरीरसे वेगपूर्वक प्रासोंको निकालकर उन्हींके द्वारा रणभूमिमें सुबल-पुत्रोंपर प्रहार किया ॥ ३९ ॥

विकृष्य च शितं खड्गं गृहीत्वा च शरावरम्।
पदातिर्द्रुतमागच्छज्जिघांसुः सौबलान् युधि ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् तीखी तलवार और ढाल निकालकर इरावान्‌ने युद्धमें सुबलपुत्रोंको मार डालनेकी इच्छासे तुरंत उनके ऊपर पैदल ही धावा किया ॥ ४० ॥

ततः प्रत्यागतप्राणाः सर्वे ते सुबलात्मजाः।
भूयः क्रोधसमाविष्टा इरावन्तमभिद्रुताः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर सुबलपुत्रोंमें प्राणशक्ति पुनः लौट आयी। अतः वे सबके सब सचेत होनेपर पुनः क्रोधमें भर गये और इरावान्‌पर दौड़े ॥ ४१ ॥

इरावानपि खड्गेन दर्शयन् पाणिलाघवम्।
अभ्यवर्तत तान् सर्वान् सौबलान् बलदर्पितः ॥ ४२ ॥

इरावान् भी बलके अभिमानमें उन्मत्त हो अपने हाथों-की फुर्ती दिखाता हुआ खड्गके द्वारा उन समस्त सुबलपुत्रोंका सामना करने लगा ॥ ४२ ॥

लाघवेनाथ चरतः सर्वे ते सुबलात्मजाः।
अन्तरं नाभ्यगच्छन्त चरन्तः शीघ्रगैर्हयैः ॥ ४३ ॥

वह अकेला बड़ी फुर्तीसे पैतरे बदल रहा था और सभी सुबलपुत्र शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा विचर रहे थे, तो भी वे अपनेमें उसकी अपेक्षा कोई विशेषता न ला सके ॥ ४३ ॥

भूमिष्ठमथ तं संख्ये सम्प्रदृश्य ततः पुनः।
परिवार्य भृशं सर्वे ग्रहीतुमुपचक्रमुः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर इरावान्‌को भूमिपर स्थित देख वे सब सुबलपुत्र युद्धमें उसे पुनः भलीभाँति घेरकर बन्दी बनानेकी तैयारी करने लगे ॥ ४४ ॥

अथाभ्याशगतानां स खड्गेनामित्रकर्शनः।
असिहस्तापहस्ताभ्यां तेषां गात्राण्यकृन्तत ॥ ४५ ॥

तब शत्रुसूदन इरावान्‌ने निकट आनेपर कभी दायें और कभी बायें हाथसे तलवार घुमाकर उसके द्वारा शत्रुओंके अङ्गोंको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ४५ ॥

आयुधानि च सर्वेषां बाहूनपि विभूषितान्।
अपतन्त निकृत्ताङ्गा मृता भूमौ गतासवः ॥ ४६ ॥

उन सबके आयुधों और भूषणभूषित भुजाओंको उसने काट डाला। इस प्रकार अङ्ग-अङ्ग कट जानेसे प्राणशून्य हो मरकर धरतीपर गिर पड़े ॥ ४६ ॥

वृषभस्तु महाराज बहुधा विपरिक्षतः ।
अमुच्यत महारौद्रात् तस्माद् वीरावकर्तनात् ॥ ४७ ॥

महाराज ! वृषभ बहुत घायल हो गया था तो भी वीरों-का उच्छेद करनेवाले उस महाभयंकर संग्रामसे उसने अपने आपको किसी प्रकार मुक्त कर लिया ॥ ४७ ॥

तान् सर्वान् पतितान् दृष्ट्वा भीतो दुर्योधनस्ततः ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ ४८ ॥
आर्ष्यशृङ्गिं महेष्वासं मायाविनमरिंदमम् ।
वैरिणं भीमसेनस्य पूर्वं बकवधेन वै ॥ ४९ ॥

उन सबको मार गिराया गया देख दुर्योधन भयभीत हो उठा और वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर भयंकर दीखने-वाले राक्षस ऋष्यशृङ्गपुत्र (अलम्बुष) के पास दौड़ा गया। वह राक्षस शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ, मायावी और महान् धनुर्धर था। पूर्वकालमें किये गये बकासुरवधके कारण वह भीमसेनका वैरी बन बैठा था ॥ ४८-४९ ॥

स्य वीर यथा ह्येष फाल्गुनस्य सुतो बली ।
यावी विप्रियं कर्तुमकार्षीन्मे बलक्षयम् ॥ ५० ॥

उसके पास जाकर दुर्योधनने कहा—'वीर ! देखो, र्जुनका यह बलवान् पुत्र बड़ा मायावी है। इसने मेरा प्रिय करनेके लिये मेरी सेनाका संहार कर डाला है ॥५०॥

ं च कामगमस्तात मायास्त्रे च विशारदः ।
वैरश्च पार्थेन तस्मादेनं रणे जहि ॥ ५१ ॥

तात ! तुम इच्छानुसार चलनेवाले तथा मायामय अस्त्रों-प्रयोगमें कुशल हो। कुन्तीकुमार भीमने तुम्हारे साथ वैर किया है। अतः तुम युद्धमें इस इरावान्‌को अवश्य डालो' ॥ ५१ ॥

मित्येवमुक्त्वा तु राक्षसो घोरदर्शनः ।
यौ सिंहनादेन यत्रार्जुनसुतो युवा ॥ ५२ ॥

'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर वह भयानक दिखायी देने-राक्षस सिंहनाद करके जहाँ नवयुवक अर्जुनकुमार वान् था, उस स्थानपर गया ॥ ५२ ॥

ढैर्युद्धकुशलैर्विमलप्रासयोधिभिः ।
ः प्रहारिभिर्युक्तैः स्वैरनीकैः समावृतः ॥ ५३ ॥
र्येर्महाराज द्विसाहस्रैर्हयोत्तमैः ।
स्तुकामः समरे इरावन्तं महाबलम् ॥ ५४ ॥

उसके साथ निर्मल प्रास नामक अस्त्रसे युद्ध करनेवाले कुशल तथा प्रहार करनेमें समर्थ वीरोंसे युक्त बहुत-सी एँ थीं। उसके सभी सैनिक सवारियोंपर बैठे हुए थे। उन घिरा हुआ वह समरभूमिमें महाबली इरावान्‌को मार नेकी इच्छासे युद्धस्थलमें गया। महाराज ! मरनेसे बचे दो हजार उत्तम घोड़े उसके साथ थे ॥ ५३-५४ ॥

इरावानपि संक्रुद्धस्त्वरमाणः पराक्रमी ।
हन्तुकामममित्रघ्नो राक्षसं प्रत्यवारयत् ॥ ५५ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाला पराक्रमी इरावान् भी क्रोध-में भरा हुआ था। उसने उसे मारनेकी इच्छा रखनेवाले उस राक्षसका बड़ी उतावलीके साथ निवारण किया ॥ ५५ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसः सुमहाबलः ।
त्वरमाणस्ततो मायां प्रयोक्तुमुपचक्रमे ॥ ५६ ॥

इरावान्‌को आते देख उस महाबली राक्षसने शीघ्रता-पूर्वक मायाका प्रयोग आरम्भ किया ॥ ५६ ॥

तेन मायामयाः सृष्टा हयास्तावन्त एव हि ।
स्वारूढा राक्षसैर्घोरैः शूलपट्टिशधारिभिः ॥ ५७ ॥

उसने मायामय दो हजार घोड़े उत्पन्न किये, जिनपर शूल और पट्टिश धारण करनेवाले भयंकर राक्षस सवार थे ॥

ते संरब्धाः समागम्य द्विसाहस्राः प्रहारिणः ।
अचिराद् गमयामासुः प्रेतलोकं परस्परम् ॥ ५८ ॥

वे दो हजार प्रहारकुशल योद्धा क्रोधमें भरे हुए आकर इरावान्‌के सैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे। इस प्रकार दोनों ओरके योद्धाओंने परस्पर प्रहार करके शीघ्र ही एक दूसरेको यमलोक पहुँचा दिया ॥ ५८ ॥

तस्मिंस्तु निहते सैन्ये तावुभौ युद्धदुर्मदौ ।
संग्रामे समतिष्ठेतां यथा वै वृत्रवासवौ ॥ ५९ ॥

इस प्रकार जब दोनों ओरकी सेनाएँ मार डाली गयीं, तब युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वे दोनों वीर इरावान् तथा अलम्बुष राक्षस ही युद्धभूमिमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान डटे रहे ॥ ५९ ॥

आद्रवन्तमभिप्रेक्ष्य राक्षसं युद्धदुर्मदम् ।
इरावानथ संरब्धः प्रत्यधावन्महाबलः ॥ ६० ॥

रणदुर्मद राक्षस अलम्बुषको अपने ऊपर धावा करते देख महाबली इरावान् भी क्रोधमें भरकर उसके ऊपर टूट पड़ा ॥

समभ्याशगतस्याजौ तस्य खड्गेन दुर्मतेः ।
चिच्छेद कार्मुकं दीप्तं शरावापं च सत्वरम् ॥ ६१ ॥

एक बार जब वह दुर्बुद्धि राक्षस बहुत निकट आ गया, तब इरावान्‌ने अपने खड्गसे उसके देदीप्यमान धनुष और भाथेको शीघ्र ही काट डाला ॥ ६१ ॥

स निकृत्तं धनुर्दृष्ट्वा खं जवेन समाविशत् ।
इरावन्तमभिक्रुद्धं मोहयन्निव मायया ॥ ६२ ॥

धनुषको कटा हुआ देख वह राक्षस क्रोधमें भरे हुए इरावान्‌को अपनी मायासे मोहित-सा करता हुआ बड़े वेगसे आकाशमें उड़ गया ॥ ६२ ॥

ततोऽन्तरिक्षमुत्पत्य इरावानपि राक्षसम् ।
विमोहयित्वा मायाभिस्तस्य गात्राणि सायकैः ।

चिच्छेद सर्वमर्मज्ञः कामरूपो दुरासदः ।
तथा स राक्षसश्रेष्ठः शरैः कृत्तः पुनः पुनः ॥ ६४ ॥
सम्बभूव महाराज समवाप च यौवनम् ।
माया हि सहजा तेषां वयो रूपं च कामजम् ॥ ६५ ॥

तब इरावान् भी आकाशमें उछलकर उस राक्षसको अपनी मायाओंसे मोहित करके उसके अङ्गोंको सायकोंद्वारा छिन्न-भिन्न करने लगा । वह कामरूपधारी श्रेष्ठ राक्षस सम्पूर्ण मर्मस्थानोंको जाननेवाला और दुर्जय था । वह बाणोंसे कटनेपर भी पुनः ठीक हो जाता था । महाराज ! वह नयी जवानी प्राप्त कर लेता था; क्योंकि राक्षसोंमें माया-का बल स्वाभाविक होता है और वे इच्छानुसार रूप तथा अवस्था धारण कर लेते हैं ॥ ६३—६५ ॥

एवं तद् राक्षसस्याङ्गं छिन्नं छिन्नं बभूव ह ।
इरावानपि संक्रुद्धो राक्षसं तं महाबलम् ॥ ६६ ॥
परश्वधेन तीक्ष्णेन चिच्छेद च पुनः पुनः ।

इस प्रकार उस राक्षसका जो-जो अङ्ग कटता, वह पुनः नये सिरेसे उत्पन्न हो जाता था । इरावान् भी अत्यन्त कुपित होकर उस महाबली राक्षसको बारंबार तीखे फरसेसे काटने लगा ॥ ६६½ ॥

स तेन बलिना वीरश्छिद्यमान इरावता ॥ ६७ ॥
राक्षसोऽप्यनदद् घोरं स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।

बलवान् इरावान्के फरसेसे छिन्न-भिन्न हुआ वह वीर राक्षस घोर आर्तनाद करने लगा । उसका वह शब्द बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ॥ ६७½ ॥

परश्वधक्षतं रक्षः सुस्राव बहु शोणितम् ॥ ६८ ॥
ततश्चुक्रोध बलवांश्चक्रे वेगं च संयुगे ।
आर्ष्यश्रृङ्गिस्तथा दृष्ट्वा समरे शत्रुमूर्जितम् ॥ ६९ ॥
कृत्वा घोरं महद् रूपं ग्रहीतुमुपचक्रमे ।
अर्जुनस्य सुतं वीरमिरावन्तं यशस्विनम् ॥ ७० ॥

फरसेसे बारंबार छिदनेके कारण राक्षसके शरीरसे बहुत-सा रक्त बह गया । इससे राक्षस ऋष्यश्रृंगके बलवान् पुत्र अलम्बुषने समरभूमिमें अत्यन्त क्रोध और वेग प्रकट किया । उसने युद्धस्थलमें अपने शत्रुको प्रबल हुआ देख अत्यन्त भयंकर एवं विशाल रूप धारण करके अर्जुनके वीर एवं यशस्वी पुत्र इरावान्को कैद करनेका प्रयत्न आरम्भ किया॥

संग्रामशिरसो मध्ये सर्वेषां तत्र पश्यताम् ।
तां दृष्ट्वा तादृशीं मायां राक्षसस्य दुरात्मनः ॥ ७१ ॥
इरावानपि संक्रुद्धो मायां स्रष्टुं प्रचक्रमे ।

युद्धके मुहानेपर समस्त योद्धाओंके देखते-देखते वह न्को पकड़ना चाहता था । उस दुरात्मा राक्षसकी वैसी माया देखकर क्रोधमें भरे हुए इरावान्ने भी माया प्रयोग आरम्भ किया ॥ ७१½ ॥

तस्य क्रोधाभिभूतस्य समरेष्वनिवर्तिनः ॥ ७२ ।
योऽन्वयो मातृकस्तस्य स एनमभिपेदिवान् ।

संग्राममें पीठ न दिखानेवाला इरावान् जब क्रोधमें भरकर युद्ध कर रहा था, उसी समय उसके मातृकुलके नागोंका समुदाय उसकी सहायताके लिये वहाँ आ पहुँचा ।

स नागैर्बहुभी राजन्निरावान् संवृतो रणे ॥ ७३ ॥
दधार सुमहद् रूपमनन्त इव भोगवान् ।

राजन् ! रणभूमिमें बहुतेरे नागोंसे घिरे हुए इरावान्ने विशाल शरीरवाले शेषनागकी भाँति बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया ॥ ७३½ ॥

ततो बहुविधैर्नागैश्छादयामास राक्षसम् ॥ ७४ ॥
छाद्यमानस्तु नागैः स ध्यात्वा राक्षसपुङ्गवः ।
सौपर्णं रूपमास्थाय भक्षयामास पन्नगान् ॥ ७५ ॥

तदनन्तर उसने बहुत-से नागोंद्वारा राक्षसको आच्छादित कर दिया । नागोंद्वारा आच्छादित होनेपर उस राक्षसराजने कुछ सोच-विचारकर गरुड़का रूप धारण कर लिया और समस्त नागोंको भक्षण करना आरम्भ किया ॥ ७४-७५ ॥

मायया भक्षिते तस्मिन्नन्वये तस्य मातृके ।
विमोहितमिरावन्तं न्यहनद् राक्षसोऽसिना ॥ ७६ ॥

जब उस राक्षसने इरावान्के मातृकुलके सब नागोंको भक्षण कर लिया, तब मोहित हुए इरावान्को तलवारसे मार डाला ॥ ७६ ॥

सकुण्डलं समुकुटं पद्मेन्दुसदृशप्रभम् ।
इरावतः शिरो रक्षः पातयामास भूतले ॥ ७७ ॥

इरावान्के कमल और चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा कुण्डल एवं मुकुटसे मण्डित मस्तकको काटकर राक्षसने धरतीपर गिरा दिया ॥ ७७ ॥

तस्मिंस्तु विहते वीरे राक्षसेनार्जुनात्मजे ।
विशोकाः समपद्यन्त धार्तराष्ट्राः सराजकाः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार राक्षसद्वारा अर्जुनके वीर पुत्र इरावान्के मारे जानेपर राजा दुर्योधनसहित आपके सभी पुत्र शोकरहित हो गये ॥ ७८ ॥

तस्मिन् महति संग्रामे तादृशे भैरवे पुनः ।
महान् व्यतिकरो घोरः सेनयोः समपद्यत ॥ ७९ ॥

फिर तो उस भयंकर एवं महान् संग्राममें दोनों सेनाओंका अत्यन्त भयंकर सम्मिश्रण हो गया ॥ ७९ ॥

गजा हयाः पदाताश्च विमिश्रा दन्तिभिर्हताः ।
रथाश्वा दन्तिनश्चैव पत्तिभिस्तत्र सूदिताः ॥ ८० ॥

तथा पत्तिरथौघाश्च हयाश्च बहवो रणे।
रथिभिर्निहता राजंस्तव तेषां च संकुले ॥ ८१ ॥

राजन् ! आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंके उस संकुल युद्धमें दोनों पक्षोंके मिले हुए हाथी, घोड़े और पैदल दन्तार हाथियोंद्वारा मारे गये। रथ, घोड़े और हाथियोंको पैदल योद्धाओंने मार गिराया तथा बहुत-से पैदल, रथियोंके समूह और घुड़सवार रथी योद्धाओंके द्वारा मार डाले गये ॥

अजानन्नर्जुनश्चापि निहतं पुत्रमौरसम्।
जघान समरे शूरान् राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः ॥ ८२ ॥

अर्जुनको अपने औरस पुत्र इरावान्‌के मारे जानेका ता नहीं लगा था। वे समराङ्गणमें भीष्मकी रक्षा करनेवाले रवीर नरेशोंका संहार कर रहे थे ॥ ८२ ॥

थैव तावका राजन् सृंजयाश्च सहस्रशः।
ह्वतः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ॥ ८३ ॥

राजन् ! इसी प्रकार आपके पुत्र और सैनिक तथा सृंजय वीर समराग्निमें प्राणोंकी आहुति देते हुए दूसरेको मार रहे थे ॥ ८३ ॥

क्केशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः।
हुभिः समयुध्यन्त समवेताः परस्परम् ॥ ८४ ॥

कवच, रथ और धनुषके नष्ट हो जानेपर बाल बिखेरे बहुतेरे योद्धा परस्पर भिड़कर भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध ने लगे ॥ ८४ ॥

मर्मातिगैर्भीष्मो निजघान महारथान्।
यन् समरे सेनां पाण्डवानां परंतपः ॥ ८५ ॥

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले भीष्म समराङ्गणमें मर्मभेदी बाणोंद्वारा पाण्डव-सेनाको कम्पित करते उसके बड़े-बड़े रथियोंको मार रहे थे ॥ ८५ ॥

यौधिष्ठिरे सैन्ये बहवो मानवा हताः।
नः सादिनश्चैव रथिनोऽथ हयास्तथा ॥ ८६ ॥

उन्होंने युधिष्ठिरकी सेनाके बहुत-से पैदलों, सवारोंसहित थियों, रथारोहियों और घुड़सवारोंको मार डाला ॥८६॥

तत्र भारत भीष्मस्य रणे दृष्ट्वा पराक्रमम्।
अत्यद्भुतमपश्याम शक्रस्येव पराक्रमम् ॥ ८७ ॥

भारत ! हमने उस युद्धमें भीष्मका इन्द्रके समान अत्यन्त अद्भुत पराक्रम देखा था ॥ ८७ ॥

तथैव भीमसेनस्य पार्षतस्य च भारत।
रौद्रमासीद् रणे युद्धं सात्यकस्य च धन्विनः ॥ ८८ ॥

भरतनन्दन ! इसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा धनुर्धर सात्यकिका भयानक युद्ध चल रहा था ॥

दृष्ट्वा द्रोणस्य विक्रान्तं पाण्डवान् भयमाविशत्।
एक एव रणे शक्तो निहन्तुं सर्वसैनिकान् ॥ ८९ ॥
किं पुनः पृथिवीशूरैर्योधव्रातैः समावृतः।
इत्यब्रुवन् महाराज रणे द्रोणेन पीडिताः ॥ ९० ॥

द्रोणाचार्यका पराक्रम देखकर तो पाण्डवोंके मनमें भय समा गया। महाराज ! वे युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यसे पीड़ित होकर कहने लगे कि 'रणभूमिमें अकेले द्रोणाचार्य ही समस्त सैनिकोंको मार डालनेकी शक्ति रखते हैं। फिर जब ये भूमण्डलके सुविख्यात शूरवीर योद्धाओंके समुदायोंसे घिरे हुए हैं, तब तो इनकी विजयके लिये कहना ही क्या है ?' ॥

वर्तमाने तथा रौद्रे संग्रामे भरतर्षभ।
उभयोः सेनयोः शूरा नामृष्यन्त परस्परम् ॥ ९१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस भयंकर संग्राममें दोनों सेनाओंके शूरवीर एक दूसरेका उत्कर्ष नहीं सह सके ॥ ९१ ॥

आविष्टा इव युध्यन्ते रक्षोभूता महाबलाः।
तावकाः पाण्डवेयाश्च संरब्धास्तात धन्विनः ॥ ९२ ॥

तात ! आपके और पाण्डव पक्षके महाबली धनुर्धर वीर भूतोंसे आविष्ट-से होकर राक्षसोंके समान बनकर क्रोधपूर्वक एक दूसरेसे जूझ रहे थे ॥ ९२ ॥

न स्म पश्यामहे कंचित् प्राणान् यः परिरक्षति।
संग्रामे दैत्यसंकाशे तस्मिन् वीरवरक्षये ॥ ९३ ॥

बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस दैत्योंके तुल्य संग्राममें हमने किसीको ऐसा नहीं देखा, जो अपने प्राणोंकी रक्षा कर रहा हो ॥ ९३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि इरावद्वधे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें इरावान्‌का वधविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कच और दुर्योधनका भयानक युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

वन्तं तु निहतं दृष्ट्वा पार्था महारथाः।
मे किमकुर्वन्त तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! इरावान्‌को संग्राममें मारा गया देख महारथी कुन्तीपुत्रोंने क्या किया ? य मुझसे कहो।' १ ॥

संजय उवाच

इरावन्तं तु निहतं संग्रामे वीक्ष्य राक्षसः।
व्यनदत् सुमहानादं भैमसेनिर्घटोत्कचः ॥ २ ॥

संजय बोले—राजन्! इरावान्‌को युद्धभूमिमें मारा गया देख भीमसेनका पुत्र राक्षस घटोत्कच बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगा ॥ २ ॥

नदतस्तस्य शब्देन पृथिवी सागराम्बरा।
सपर्वतवना राजंश्चचाल सुभृशं तदा ॥ ३ ॥
अन्तरिक्षं दिशश्चैव सर्वाश्च प्रदिशस्तथा।

नरेश्वर! उस राक्षसकी गर्जनासे समुद्र, आकाश, पर्वत और वनोंसहित यह सारी पृथ्वी जोर-जोरसे हिलने लगी। अन्तरिक्ष, दिशाएँ तथा समस्त कोणोंके प्रदेश भी काँपने लगे ॥ ३½ ॥

तं श्रुत्वा सुमहानादं तव सैन्यस्य भारत ॥ ४ ॥
ऊरुस्तम्भः समभवद् वेपथुः स्वेद एव च।

भारत! घटोत्कचका महान् सिंहनाद सुनकर आपके सैनिकोंकी जाँघें अकड़ गयीं, शरीर काँपने लगा और सम्पूर्ण अङ्गोंसे पसीना निकलने लगा ॥ ४½ ॥

सर्वे एव महाराज तावका दीनचेतसः ॥ ५ ॥
सर्वतः समचेष्टन्त सिंहभीता गजा इव।

महाराज! आपके सभी सैनिक सब ओरसे दीनचित्त हो सिंहसे डरे हुए हाथियोंकी भाँति भयपूर्ण चेष्टाएँ करने लगे ॥ ५½ ॥

नर्दित्वा सुमहानादं निर्घातमिव राक्षसः ॥ ६ ॥
ज्वलितं शूलमुद्यम्य रूपं कृत्वा विभीषणम्।
नानारूपप्रहरणैर्वृतो राक्षसपुङ्गवैः ॥ ७ ॥
आजघान सुसंक्रुद्धः कालान्तकयमोपमः।

वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयंकर गर्जना करके काल, अन्तक और यमके समान क्रोधमें भरे हुए उस राक्षसने भीषणरूप बना प्रज्वलित त्रिशूल हाथमें ले भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न बड़े-बड़े राक्षसोंके साथ आकर आपकी सेनाका संहार आरम्भ किया ॥ ६–७½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम् ॥ ८ ॥
स्वबलं च भयात् तस्य प्रायशो विमुखीकृतम्।

अत्यन्त क्रोधमें भरे भयंकर दिखायी देनेवाले उस राक्षसको आक्रमण करते देख उसके भयसे अपनी सेना प्रायः युद्धसे विमुख होकर भाग चली ॥ ८½ ॥

ततो दुर्योधनो राजा घटोत्कचमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥
प्रगृह्य विपुलं चापं सिंहवद् विनदन् मुहुः।

तब राजा दुर्योधनने विशाल धनुष लेकर बारंबार सिंहके समान गर्जना करते हुए वहाँ घटोत्कचपर धावा किया ॥

पृष्ठतोऽनुययौ चैनं स्रवद्भिः पर्वतोपमैः ॥ १०
कुञ्जरैर्दशसाहस्रैर्वङ्गानामधिपः स्वयम्।

उसके पीछे मदकी धारा बहानेवाले पर्वताकार द हजार गजराजोंकी सेना लिये स्वयं वङ्गदेशका राजा भी

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य गजानीकेन संवृतम् ॥ ११
पुत्रं तव महाराज चुकोप स निशाचरः।

महाराज! हाथियोंकी सेनासे घिरे हुए आपके पु दुर्योधनको आते हुए देख वह निशाचर कुपित हो उठा।

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ १२
राक्षसानां च राजेन्द्र दुर्योधनबलस्य च।

राजेन्द्र! फिर तो दुर्योधनकी सेना तथा राक्षसों भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ १२½ ॥

गजानीकं च सम्प्रेक्ष्य मेघवृन्दमिवोदितम् ॥ १३
अभ्यधावन्त संक्रुद्धा राक्षसाः शस्त्रपाणयः।

घिरी हुई मेघोंकी घटाके समान हाथियोंकी सेना देखकर क्रोधमें भरे हुए राक्षस हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये उन ओर दौड़े ॥ १३½ ॥

नदन्तो विविधान् नादान् मेघा इव सविद्युतः ॥ १४
शरशक्त्यृष्टिनाराचैर्निघ्नन्तो गजयोधिनः।
भिन्दिपालैस्तथा शूलैर्मुद्गरैः सपरश्वधैः ॥ १५
पर्वताग्रैश्च वृक्षैश्च निजघ्नुस्ते महागजान्।

वे भाँति-भाँतिकी गर्जना करते हुए बिजलीस मेघोंके समान शोभा पाते थे। बाण, शक्ति, ऋष्टि, नारा भिन्दिपाल, शूल, मुद्गर, फरसों, पर्वत-शिखर तथा वृक्षों प्रहार करके वे गजारोहियों तथा विशाल गजोंका करने लगे ॥ १४-१५½ ॥

भिन्नकुम्भान् विरुधिरान् भिन्नगात्रांश्च वारणान् ॥ १
अपश्याम महाराज वध्यमानान् निशाचरैः।

महाराज! निशाचरोंद्वारा मारे जानेवाले गजराजों हमने देखा था। उनके कुम्भस्थल फट गये थे, शरीर र हीन हो गये और उनके भिन्न-भिन्न अङ्ग छिन्न-भिन्न गये थे ॥ १६½ ॥

तेषु प्रक्षीयमाणेषु भग्नेषु गजयोधिषु ॥ १
दुर्योधनो महाराज राक्षसान् समुपाद्रवत्।
अमर्षवशमापन्नस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥ १

महाराज! इस प्रकार गजारोहियोंके भग्न एवं न जानेपर दुर्योधनने अमर्षके वशीभूत हो अपने जीव मोह छोड़कर उन राक्षसोंपर धावा किया ॥ १७-१८ ॥

मुमोच निशितान् बाणान् राक्षसेषु परंतप।
जघान च महेष्वासः प्रधानांस्तत्र राक्षसान् ॥ १

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! महाधनुर्धर दुर्योधनने राक्षसोंपर तीखे बाणोंका प्रहार किया और उनमेंसे प्रधान-प्रधान राक्षसोंको मार डाला ॥ १९ ॥

संक्रुद्धो भरतश्रेष्ठ पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
वेगवन्तं महारौद्रं विद्युज्जिह्वं प्रमाथिनम् ॥ २० ॥
शरैश्चतुर्भिश्चतुरो निजघान महाबलः ।

भरतश्रेष्ठ ! क्रोधमें भरे हुए आपके महाबली पुत्र दुर्योधनने वेगवान्, महारौद्र, विद्युज्जिह्व और प्रमाथी—इन चार राक्षसोंको चार बाणोंसे मार डाला ॥ २०½ ॥

तः पुनरमेयात्मा शरवर्षं दुरासदम् ॥ २१ ॥
मोच भरतश्रेष्ठो निशाचरबलं प्रति ।

तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भरतश्रेष्ठ दुर्योधनने व निशाचर-सेनाके ऊपर दुर्धर्ष बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥

त् तु दृष्ट्वा महत् कर्म पुत्रस्य तव मारिष ॥ २२ ॥
धेनाभिप्रजज्वाल भैमसेनिर्महाबलः ।

आर्य ! आपके पुत्रका वह महान् कर्म देखकर भीमसेन- महाबली पुत्र घटोत्कच क्रोधसे जल उठा ॥ २२½ ॥

विस्फार्य महच्चापमिन्द्राशनिसमप्रभम् ॥ २३ ॥
भिदुद्राव वेगेन दुर्योधनमरिंदमम् ।

उसने इन्द्रके वज्रके समान कान्तिमान् विशाल धनुषको कर शत्रुदमन दुर्योधनपर बड़े वेगसे धावा किया ॥

पतन्तमुद्वीक्ष्य कालसृष्टमिवान्तकम् ॥ २४ ॥
विव्यथे महाराज पुत्रो दुर्योधनस्तव ।

महाराज ! कालप्रेरित मृत्युके समान उस घटोत्कचको देख आपका पुत्र दुर्योधन तनिक भी व्यथित नहीं हुआ ॥

नमब्रवीत् क्रुद्धः क्रूरः संरक्तलोचनः ॥ २५ ॥
नृण्यं गमिष्यामि पितॄणां मातुरेव च ।
ये त्वया सुनृशंसेन दीर्घकालं प्रवासिताः ॥ २६ ॥
यच्च ते पाण्डवा राजंश्छलद्यूते पराजिताः ।
यच्चैव द्रौपदी कृष्णा एकवस्त्रा रजस्वला ॥ २७ ॥
सभामानीय दुर्बुद्धे बहुधा क्लेशिता त्वया ।
तव च प्रियकामेन आश्रमस्था दुरात्मना ॥ २८ ॥
सैन्धवेन परामृष्टा परिभूय पितॄन् मम ।
एतेषामपमानानामन्येषां च कुलाधम ॥ २९ ॥
अन्तमद्य गमिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम् ।

तदनन्तर क्रूर घटोत्कच क्रोधसे लाल आँखें करके दुर्योधनसे बोला—'ओ दुष्ट ! आज मैं अपने उन पितरों और माताके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा, जिन्हें तूने दीर्घकालतक वनमें रहनेके लिये विवश कर दिया था । तू बड़ा क्रूर है । दुर्बुद्धि नरेश ! तूने जो पाण्डवोंको द्यूतमें छलपूर्वक हराया था और जो एक ही वस्त्र धारण करनेवाली द्रुपदकुमारी कृष्णाको रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर ले जाकर नाना प्रकारके क्लेश दिये थे तथा तेरा ही प्रिय करनेकी इच्छावाले दुरात्मा सिन्धुराजने मेरे पितरोंकी अवहेलना करके आश्रममें रहनेवाली द्रौपदीका अपहरण किया था, कुलाधम ! यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो इन अपमानोंका और अन्य सब अत्याचारोंका भी आज मैं बदला चुका लूँगा' ॥

एवमुक्त्वा तु हैडिम्बो महद् विस्फार्य कार्मुकम् ॥ ३० ॥
संदश्य दशनैरोष्ठं सृक्किणी परिसंलिहन् ।
शरवर्षेण महता दुर्योधनमवाकिरत् ।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर हिडिम्बाकुमारने दाँतोंसे ओठ चबाते और जीभसे मुँहके कोनोंको चाटते हुए अपने विशाल धनुषको खींचकर दुर्योधनपर बाणोंकी बड़ी भारी वृष्टि की । ठीक उसी तरह, जैसे वर्षा ऋतुमें मेघ पर्वतके शिखरपर जलकी धाराएँ गिराता है ॥ ३०-३१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि हैडिम्बयुद्धे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घटोत्कच-युद्धविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कचका दुर्योधन एवं द्रोण आदि प्रमुख वीरोंके साथ भयंकर युद्ध

संजय उवाच

द् बाणवर्षं तु दुःसहं दानवैरपि ।
र युधि राजेन्द्रो यथा वर्षं महाद्विपः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दानवोंके लिये भी दुःसह बाणवर्षाको राजाधिराज दुर्योधनने युद्धमें उसी प्रकार न किया, जैसे महान् गजराज जलकी वर्षाको अपने ऊपर करता है ॥ १ ॥

ततः क्रोधसमाविष्टो निःश्वसन्निव पन्नगः ।
संशयं परमं प्राप्तः पुत्रस्ते भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए सर्पके समान लंबी साँस खींचता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन जीवन-रक्षाको लेकर भारी संशयमें पड़ गया ॥ २ ॥

मुमोच निशितांस्तीक्ष्णान् नाराचान् पञ्चविंशतिम्

तेऽपतन् सहसा राजंस्तस्मिन्राक्षसपुङ्गवे ॥ ३ ॥
आशीविषा इव क्रुद्धाः पर्वते गन्धमादने ।

उसने अत्यन्त तीखे पचीस नाराच छोड़े । महाराज ! वे सब सहसा उस राक्षसराज घटोत्कचपर जाकर गिरे, मानो गन्धमादन पर्वतपर क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्प कहींसे आ पड़े हों ॥ ३½ ॥

स तैर्विद्धः स्रवन् रक्तं प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ४ ॥
दध्रे मतिं विनाशाय राज्ञः स पिशिताशनः ।

उन बाणोंसे घायल होकर वह राक्षस कुम्भस्थलसे मद-की धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति अपने शरीरसे रक्तकी धारा प्रवाहित करने लगा । उसने राजा दुर्योधनका विनाश करनेके लिये दृढ़ निश्चय कर लिया ॥ ४½ ॥

जग्राह च महाशक्तिं गिरीणामपि दारिणीम् ॥ ५ ॥
सम्प्रदीप्तां महोल्काभामशनिं ज्वलितामिव ।

तत्पश्चात् उसने पर्वतोंको भी विदीर्ण कर डालनेवाली प्रज्वलित उल्का एवं वज्रके समान प्रकाशित होनेवाली एक महाशक्ति हाथमें ली ॥ ५½ ॥

समुद्यच्छन् महाबाहुर्जिघांसुस्तनयं तव ॥ ६ ॥
तामुद्यतामभिप्रेक्ष्य वङ्गानामधिपस्त्वरन् ।
कुञ्जरं गिरिसंकाशं राक्षसं प्रत्यचोदयत् ॥ ७ ॥

महाबाहु घटोत्कच आपके पुत्रको मार डालनेकी इच्छासे वह शक्ति ऊपरको उठा रहा था । उसे उठी हुई देख वंगदेशके राजाने बड़ी उतावलीके साथ अपने पर्वताकार गजराजको उस राक्षसकी ओर बढ़ाया ॥ ६-७ ॥

स नागप्रवरेणाजौ बलिना शीघ्रगामिना ।
यतो दुर्योधनरथस्तं मार्गं प्रत्यवर्तत ॥ ८ ॥

वे वंगनरेश उस शीघ्रगामी महाबली गजराजपर आरूढ़ हो युद्धके मैदानमें उसी मार्गपर चले, जहाँ दुर्योधनका रथ खड़ा था ॥ ८ ॥

रथं च वारयामास कुञ्जरेण सुतस्य ते ।
मार्गमावारितं दृष्ट्वा राज्ञा वङ्गेन धीमता ॥ ९ ॥
घटोत्कचो महाराज क्रोधसंरक्तलोचनः ।

उन्होंने अपने हाथीके द्वारा आपके पुत्रका मार्ग रोक दिया । महाराज ! बुद्धिमान् वंगनरेशके द्वारा दुर्योधनके रथका मार्ग रुका हुआ देख घटोत्कचके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये ॥ ९½ ॥

उद्यतां तां महाशक्तिं तस्मिंश्चिक्षेप वारणे ॥ १० ॥
स तयाभिहतो राजंस्तेन बाहुप्रमुक्तया ।
संजातरुधिरोत्पीडः पपात च ममार च ॥ ११ ॥

उसने उस उठायी हुई महाशक्तिको उस हाथीपर चला दिया । राजन् ! घटोत्कचकी भुजाओंसे छूटी हुई उस शक्तिके आघातसे हाथीका कुम्भस्थल फट गया और रक्तका स्रोत बहने लगा । फिर वह तत्काल ही भूमिपर गिर और मर गया ॥ १०-११ ॥

पतत्यथ गजे चापि वङ्गानामीश्वरो बली ।
जवेन समभिद्रुत्य जगाम धरणीतलम् ॥ १२ ॥

हाथीके गिरते समय बलवान् वंगनरेश उसकी पीठसे वेगपूर्वक कूदकर धरतीपर आ गये ॥ १२ ॥

दुर्योधनोऽपि सम्प्रेक्ष्य पतितं वरवारणम् ।
प्रभग्नं च बलं दृष्ट्वा जगाम परमां व्यथाम् ॥ १३ ॥

उस श्रेष्ठ गजराजको गिरा हुआ देख सारी कौरवसेना भाग खड़ी हुई । यह सब देखकर दुर्योधनके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ १३ ॥

(अशक्तः प्रतियोद्धुं वै दृष्ट्वा तस्य पराक्रमम् ।)
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य आत्मनश्चाभिमानिताम् ।
प्राप्तेऽपक्रमणे राजा तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥

वह घटोत्कचके पराक्रमपर दृष्टिपात करके उसका सामना करनेमें असमर्थ हो गया । क्षत्रियधर्म तथा अपने अभिमान-को सामने रखकर पलायनका अवसर प्राप्त होनेपर भी राजा दुर्योधन पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ॥ १४ ॥

संधाय च शितं बाणं कालाग्निसमतेजसम् ।
मुमोच परमक्रुद्धस्तस्मिन् घोरे निशाचरे ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् उसने प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी एवं तीखे बाणको धनुषपर रखकर उसे अत्यन्त क्रोधपूर्वक उस घोर निशाचरपर छोड़ दिया ॥ १५ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बाणमिन्द्राशनिप्रभम् ।
लाघवान्मोचयामास महात्मा वै घटोत्कचः ॥ १६ ॥

इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले उस बाणको अपनी ओर आता देख महामना राक्षस घटोत्कचने फुर्तीके कारण अपने आपको उससे बचा लिया ॥ १६ ॥

भूयश्च विननादोग्रं क्रोधसंरक्तलोचनः ।
त्रासयामास सैन्यानि युगान्ते जलदो यथा ॥ १७ ॥

इसके बाद क्रोधसे आँखें लाल करके वह पुनः भयंकर गर्जना करने लगा । जैसे प्रलयकालमें संवर्तक मेघकी गर्जना होती है, वैसी ही गर्जना करके उसने सारी कौरवसेनाको दहला दिया ॥ १७ ॥

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तस्य भीमस्य रक्षसः ।
आचार्यमुपसङ्गम्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ १८ ॥

यथैष निनदो घोरः श्रूयते राक्षसेरितः ।
हैडिम्बो युध्यते नूनं राज्ञा दुर्योधनेन ह ॥ १९ ॥

उस भयानक राक्षसकी वह घोर गर्जना सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने द्रोणाचार्यके पास जाकर इस प्रकार कहा—'आचार्य ! यह राक्षसके मुखसे निकली हुई जैसी घोर गर्जना सुनायी दे रही है, उससे अनुमान होता है कि अवश्य ही हिडिम्बाका पुत्र घटोत्कच राजा दुर्योधनके साथ जूझ रहा है ॥

नैष शक्यो हि संग्रामे जेतुं भूतेन केनचित् ।
तत्र गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ॥ २० ॥

'इसे कोई भी प्राणी संग्राममें जीत नहीं सकता, अतः आपका कल्याण हो, वहाँ जाइये और राजा दुर्योधनकी क्षा कीजिये ॥ २० ॥

भिद्रुतो महाभागो राक्षसेन महात्मना ।
तद्धि वः परं कृत्यं सर्वेषां नः परंतपाः ॥ २१ ॥

'जान पड़ता है महाभाग दुर्योधन उस महाकाय राक्षसके आक्रमणका शिकार हो रहा है । शत्रुओंको संताप देने- ले वीरो ! आपके तथा हम सब लोगोंके लिये यही र्वोत्तम कृत्य है' ॥ २१ ॥

तामहवचः श्रुत्वा त्वरमाणा महारथाः ।
मं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र कौरवः ॥ २२ ॥

भीष्मकी यह बात सुनकर सब महारथी उत्तम वेगका श्रय ले बड़ी उतावलीके साथ उस स्थानपर गये, जहाँ राज दुर्योधन मौजूद था ॥ २२ ॥

श्च सोमदत्तश्च बाह्लीकोऽथ जयद्रथः ।
ो भूरिश्रवाः शल्य आवन्त्यः सबृहद्बलः ॥ २३ ॥
त्थामा विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ।
श्चानेकसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः ॥ २४ ॥
द्रुतं परीप्सन्तः पुत्रं दुर्योधनं तव ।
नीकमनाधृष्यं पालितं तु महारथैः ॥ २५ ॥

द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, जयद्रथ, कृपाचार्य, श्रवा, शल्य, अवन्तीका राजकुमार, बृहद्बल, अश्वत्थामा, र्ण, चित्रसेन, विविंशति तथा उनके अनुयायी अनेक रथी—ये सब लोग राक्षसके द्वारा आक्रान्त हुए आपके दुर्योधनकी रक्षा करनेके लिये गये । उन महारथियोंसे त होकर वह सेना अजेय हो गयी ॥ २३—२५ ॥

तायिनमायान्तं प्रेक्ष्य राक्षससत्तमः ।
म्पत महाबाहुर्मैनाक इव पर्वतः ॥ २६ ॥

युद्धमें आततायी दुर्योधनको आते देख राक्षसशिरोमणि हु घटोत्कच मैनाक पर्वतकी भाँति अविचलभावसे रहा ॥ २६ ॥

प्रगृह्य विपुलं चापं ज्ञातिभिः परिवारितः ।
शूलमुद्गरहस्तैश्च नानाप्रहरणैरपि ॥ २७ ॥

उसके जाति-बन्धु हाथोंमें शूल, मुद्गर आदि नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर उसे सब ओरसे घेरे हुए थे और उसने एक विशाल धनुष ले रक्खा था ॥ २७ ॥

ततः समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
राक्षसानां च मुख्यस्य दुर्योधनबलस्य च ॥ २८ ॥

तदनन्तर राक्षसशिरोमणि घटोत्कच तथा दुर्योधनकी सेनामें रोमाञ्चकारी एवं भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २८ ॥

धनुषां कूजतां शब्दः सर्वतस्तुमुलो रणे ।
अश्रूयत महाराज वंशानां दह्यतामिव ॥ २९ ॥

महाराज ! रणभूमिमें सब ओर बाँसोंके दग्ध होनेके समान धनुषोंकी टंकारका भयंकर शब्द सुनायी देने लगा ॥

अस्त्राणां पात्यमानानां कवचेषु शरीरिणाम् ।
शब्दः समभवद् राजन् गिरीणामिव भिद्यताम् ॥ ३० ॥

राजन् ! देहधारियोंके कवचोंपर पड़नेवाले अस्त्रोंका ऐसा शब्द होता था, मानो पर्वत विदीर्ण हो रहे हों ॥ ३० ॥

वीरबाहुविसृष्टानां तोमराणां विशाम्पते ।
रूपमासीद् वियत्स्थानां सर्पाणामिव सर्पताम् ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! वीरोंकी भुजाओंसे छोड़े गये तोमर जब आकाशमें आते, उस समय उनका स्वरूप तीव्र गतिसे उड़नेवाले सर्पोंके समान जान पड़ता था ॥ ३१ ॥

ततः परमसंक्रुद्धो विस्फार्य सुमहद् धनुः ।
राक्षसेन्द्रो महाबाहुर्विनदन् भैरवं रवम् ॥ ३२ ॥
आचार्यस्यार्धचन्द्रेण क्रुद्धश्चिच्छेद कार्मुकम् ।
सोमदत्तस्य भल्लेन ध्वजं चोन्मथ्य चानदत् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर महाबाहु राक्षसराज घटोत्कचने अत्यन्त क्रुद्ध हो भैरव गर्जना करते हुए अपने विशाल धनुषको खींचकर अर्धचन्द्राकार बाणसे द्रोणाचार्यके धनुषको काट डाला । फिर एक भल्लके द्वारा सोमदत्तके ध्वजको खण्डित करके सिंहनाद किया ॥ ३२-३३ ॥

बाह्लीकं च त्रिभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
कृपमेकेन विव्याध चित्रसेनं त्रिभिः शरैः ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् तीन बाणोंसे बाह्लीककी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी । एक बाणसे कृपाचार्यको और तीनसे चित्रसेनको भी बींध डाला ॥ ३४ ॥

पूर्णायतविसृष्टेन सम्यक् प्रणिहितेन च ।
जत्रुदेशे समासाद्य विकर्णं समताडयत् ॥

इसके बाद उसने धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर उसपर उत्तम रीतिसे बाणोंका संधान करके विकर्णके गलेकी हँसलीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३५ ॥

न्यषीदत् स्वरथोपस्थे शोणितेन परिप्लुतः ।
ततः पुनरमेयात्मा नाराचान् दश पञ्च च ॥ ३६ ॥
भूरिश्रवसि संक्रुद्धः प्राहिणोद् भरतर्षभ ।

इससे विकर्ण अपने रथके पिछले भागमें व्याकुल होकर बैठ गया, उसका सारा शरीर रक्तसे नहा उठा था । भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न घटोत्कचने क्रुद्ध होकर भूरिश्रवापर पंद्रह नाराच चलाये ॥ ३६½ ॥

ते वर्म भित्त्वा तस्याशु विविशुर्धरणीतलम् ॥ ३७ ॥
विविंशतेश्च द्रौणेश्च यन्तारौ समताडयत् ।
तौ पेततू रथोपस्थे रश्मीनुत्सृज्य वाजिनाम् ॥ ३८ ॥

वे नाराच उसके कवचको छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही धरतीमें समा गये । साथ ही घटोत्कचने विविंशति और अश्वत्थामाके सारथियोंपर गहरा आघात किया । वे दोनों घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर रथकी बैठकमें गिर पड़े ३७-३८

सिंधुराज्ञोऽर्धचन्द्रेण वाराहं स्वर्णभूषितम् ।
उन्ममाथ महाराज द्वितीयेनाच्छिनद् धनुः ॥ ३९ ॥

महाराज ! उसने एक अर्धचन्द्राकार बाणसे सिन्धुराज जयद्रथकी वाराहचिह्नसे युक्त सुवर्णभूषित ध्वजा काट डाली और दूसरे बाणसे उसके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ।३९।

चतुर्भिरथ नाराचैरावन्त्यस्य महात्मनः ।
जघान चतुरो वाहान् क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ ४०

इसके बाद क्रोधसे लाल आँखें करके घटोत्कचने च नाराचोंद्वारा महामना अवन्तीनरेशके चारों घोड़ोंको मार डा

पूर्णायतविसृष्टेन पीतेन निशितेन च ।
निर्बिभेद महाराज राजपुत्रं बृहद्बलम् ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर छोड़े गये पानीदार तीखे बाणसे उसने राजकुमार बृहद्बलको विदीर्ण कर दिया ॥ ४१ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
भृशं क्रोधेन चाविष्टो रथस्थो राक्षसाधिपः ॥ ४२ ॥

उस बाणसे वह गहराईतक बिंध गया और व्यथित होकर रथके पिछले भागमें जा बैठा । इधर राक्षसराज घटोत्कच अत्यन्त क्रोधसे आविष्ट हो रथपर बैठा रहा ॥

चिक्षेप निशितांस्तीक्ष्णाञ्छरानाशीविषोपमान् ।
बिभिदुस्ते महाराज शल्यं युद्धविशारदम् ॥ ४३ ॥

महाराज ! रथपर बैठे-ही-बैठे उसने विषधर सर्पोंके समान अत्यन्त तीखे बाण चलाये । उन बाणोंने युद्धविशारद राजा शल्यको पूर्णरूपसे घायल कर दिया ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि हैडिम्बयुद्धे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घटोत्कचका युद्धविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

त्रिनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कचकी रक्षाके लिये आये हुए भीम आदि शूरवीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध और उनका पलाय

संजय उवाच

विमुखीकृत्य सर्वांस्तु तावकान् युधि राक्षसः ।
जिघांसुर्भरतश्रेष्ठ दुर्योधनमुपाद्रवत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! वह राक्षस युद्धस्थलमें आपके समस्त सैनिकोंको संग्रामसे विमुख करके दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छा रखकर उसकी ओर दौड़ा ॥ १ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राजानं प्रति वेगितम् ।
अभ्यधावञ्जिघांसन्तस्तावका युद्धदुर्मदाः ॥ २ ॥

उसे राजा दुर्योधनकी ओर बड़े वेगसे आते देख आपके रणदुर्मद पुत्र और सैनिक मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर दौड़े ॥ २ ॥

मात्राणि चापानि विकर्षन्तो महारथाः ।
तमेकमभ्यधावन्त नदन्तः सिंहसंघवत् ॥ ३

उन सभी महारथियोंने चार-चार हाथके धनुष खींचकर और सिंहोंके समुदायकी भाँति गर्जना करते हुए उस ए मात्र योद्धा घटोत्कचपर धावा किया ॥ ३ ॥

अथैनं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवाकिरन् ।
पर्वतं वारिधाराभिः शरदीव बलाहकाः ॥ ४

जैसे शरद्ऋतुमें बादल पर्वतके शिखरपर धाराएँ गिराते हैं, उसी प्रकार उन सब कौरव वीरोंने ओरसे घटोत्कचपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ४

स गाढविद्धो व्यथितस्तोत्रार्दित इव द्विपः ।
उत्पपात तदाऽऽकाशं समन्ताद् वैनतेयवत् ॥

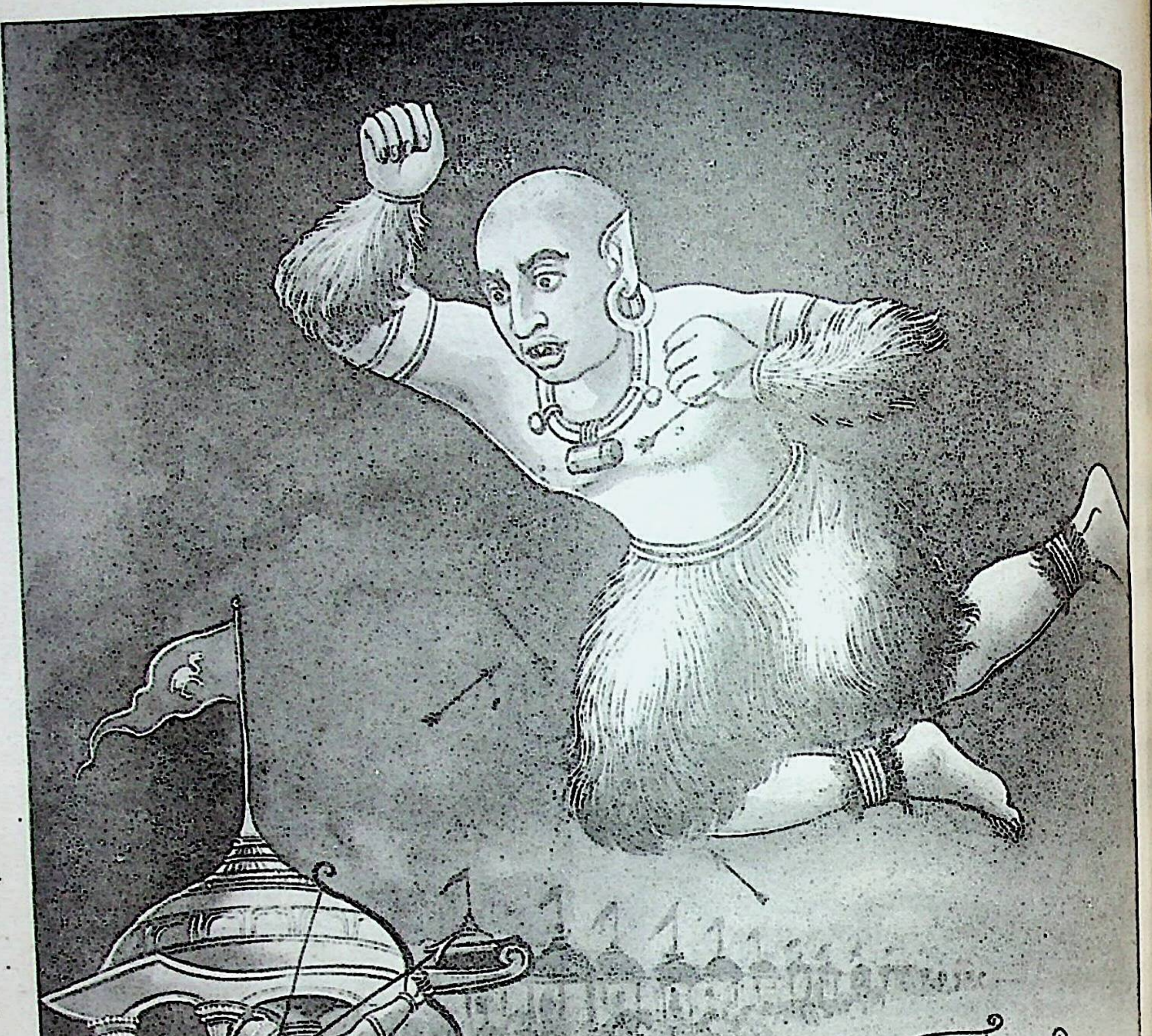

आकाशमें स्थित हुए घटोत्कचकी गर्जना और दुर्योधनके साथ उसका युद्ध

उस समय उन बाणोंके गहरे आघातसे वह अङ्कुशकी मार लाये हुए हाथीकी भाँति व्यथित हो उठा और तुरंत ही गरुड़के समान आकाशमें सब ओर उड़ने लगा ॥ ५ ॥

व्यनदत् सुमहानादं जीमूत इव शारदः ।
दिशः खं विदिशश्चैव नादयन् भैरवस्वनः ॥ ६ ॥

आकाशमें स्थित होकर शरद्‌ऋतुके बादलकी भाँति वह अपने भयंकर स्वरसे अन्तरिक्ष, दिशाओं तथा विदिशाओंको गुँजाता हुआ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ६ ॥

राक्षसस्य तु तं शब्दं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
उवाच भरतश्रेष्ठ भीमसेनमरिंदमम् ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राक्षस घटोत्कचकी उस गर्जनाको सुनकर राजा युधिष्ठिरने शत्रुदमन भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥ ७ ॥

युध्यते राक्षसो नूनं धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
यथास्य श्रूयते शब्दो नदतो भैरवं स्वनम् ॥ ८ ॥

'राक्षस घटोत्कच कौरव महारथियोंसे निश्चय ही युद्ध कर रहा है। भैरवनाद करते हुए उस राक्षसका जैसा शब्द सुनायी देता है, उससे यही जान पड़ता है ॥ ८ ॥

तिभारं च पश्यामि तस्मिन् राक्षसपुङ्गवे ।
तामहश्च संक्रुद्धः पञ्चालान् हन्तुमुद्यतः ॥ ९ ॥

'मैं उस राक्षसशिरोमणिपर बहुत बड़ा भार देख रहा हूँ। उधर पितामह भीष्म भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर ञ्चालोंको मार डालनेके लिये उद्यत हैं ॥ ९ ॥

गं च रक्षणार्थाय युध्यते फाल्गुनः परैः ।
तज्ज्ञात्वा महाबाहो कार्यद्वयमुपस्थितम् ॥ १० ॥
च्छ रक्षस्व हैडिम्बं संशयं परमं गतम् ।

'उनकी रक्षाके लिये अर्जुन शत्रुओंसे युद्ध करते हैं। बाहो ! अपने ऊपर दो कार्य उपस्थित हैं, ऐसा जानकर जाओ और अत्यन्त संशयमें पड़े हुए हिडिम्बाकुमारकी करो' ॥ १०½ ॥

तुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणो वृकोदरः ॥ ११ ॥
यौ सिंहनादेन त्रासयन् सर्वपार्थिवान् ।

भाईकी यह आज्ञा मानकर भीमसेन सिंहनादसे सम्पूर्ण ओंको भयभीत करते हुए बड़ी उतावलीके साथ वहाँसे दिये ॥ ११½ ॥

न महता राजन् पर्वकाले यथोदधिः ॥ १२ ॥
न्वगात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः ।
णिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ॥ १३ ॥
भिमन्युमुखाश्चैव द्रौपदेया महारथाः ।
देवश्च विक्रान्तः क्षत्रधर्मा तथैव च ॥ १४ ॥
नूपाधिपतिश्चैव नीलः स्वबलमास्थितः ।
ता रथवंशेन हैडिम्बं पर्यवारयन् ॥ १५ ॥

राजन् ! जैसे पूर्णिमाको समुद्र बड़े वेगसे बढ़ता है, उसी प्रकार भीमसेन अत्यन्त वेगसे आगे बढ़े। उनके पीछे सत्यधृति, रणदुर्मद सौचित्ति, श्रेणिमान्, वसुदान, काशिराजके पुत्र अभिभू, अभिमन्यु आदि योद्धा, द्रौपदीके पाँचों महारथी पुत्र, पराक्रमी क्षत्रदेव, क्षत्रधर्मा, अनूपदेशके राजा नील, जिन्हें अपने बलका पूरा भरोसा था—इन सब वीरोंने विशाल रथसेनाके साथ हिडिम्बाकुमार घटोत्कचको सब ओरसे घेर लिया ॥ १२–१५ ॥

कुञ्जरैश्च सदा मत्तैः षट्सहस्रैः प्रहारिभिः ।
अभ्यरक्षन्त सहिता राक्षसेन्द्रं घटोत्कचम् ॥ १६ ॥

सदा उन्मत्त रहनेवाले, प्रहारकुशल छः हजार गजराजोंके साथ आकर उपर्युक्त वीरोंने एक साथ ही राक्षसराज घटोत्कचकी रक्षा की ॥ १६ ॥

सिंहनादेन महता नेमिघोषेण चैव ह ।
खुरशब्दनिपातैश्च कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥ १७ ॥

वे महान् सिंहनाद, रथके पहियोंकी घरघराहट और घोड़ोंकी टाप पड़नेसे होनेवाले महान् शब्दके द्वारा वसुधाको कम्पित कर रहे थे ॥ १७ ॥

तेषामापततां श्रुत्वा शब्दं तं तावकं बलम् ।
भीमसेनभयोद्विग्नं विवर्णवदनं तथा ॥ १८ ॥

उन सबके आनेसे जो कोलाहल हुआ, उसे सुनकर भीमसेनके भयसे उद्विग्न हुए आपके सैनिकोंका मुख उदास हो गया ॥ १८ ॥

परिवृत्तं महाराज परित्यज्य घटोत्कचम् ।
ततः प्रववृते युद्धं तत्र तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥
तावकानां परेषां च संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ।

महाराज ! उस समय रक्षकोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए घटोत्कचको छोड़कर संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले आपके तथा शत्रुपक्षके उन महामनस्वी योद्धाओंमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ १९½ ॥

नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ॥ २० ॥
अन्योन्यमभिधावन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।

नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़ते और एक दूसरेकी ओर दौड़ते हुए उभय पक्षके महारथी भीषण युद्ध करने लगे ॥ २०½ ॥

व्यतिषक्तं महारौद्रं युद्धं भीरुभयावहम् ॥ २१ ॥
हया गजैः समाजग्मुः पादाता रथिभिः सह ।

धीरे-धीरे अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो भीरु मनुष्योंको डरानेवाला था। घुड़सवार हाथीसवारोंके पैदल रथियोंके साथ भिड़ गये ॥ २१½ ॥

अन्योन्यं समरे राजन् प्रार्थयानाः समभ्ययुः ॥ २२ ॥
सहसा चाभवत् तीव्रं संनिपातान्महद् रजः ।
गजाश्वरथपत्तीनां पदनेमिसमुद्धतम् ॥ २३ ॥

राजन् ! वे समराङ्गणमें एक दूसरेको ललकारते हुए जूझ रहे थे । उस समय उस भीषण संघर्षसे सहसा बड़े जोरकी धूल उठी, जो हाथी, घोड़े और पैदलोंके पैरों तथा रथके पहियोंके धक्केसे उठायी गयी थी ॥ २२-२३ ॥

धूम्रारुणं रजस्तीव्रं रणभूमिं समावृणोत् ।
नैव स्वे न परे राजन् समजानन् परस्परम् ॥ २४ ॥

महाराज ! काले और लाल रंगकी उस दुःसह धूलने समस्त रणभूमिको ढक लिया । उस समय अपने और शत्रुपक्षके योद्धा एक दूसरेको पहचान नहीं पाते थे ॥ २४ ॥

पिता पुत्रं न जानीते पुत्रो वा पितरं तथा ।
निर्मर्यादे तथाभूते वैशसे लोमहर्षणे ॥ २५ ॥

उस मर्यादाशून्य रोमाञ्चकारी जनसंहारमें पिता पुत्रको और पुत्र पिताको नहीं पहचान पाता था ॥ २५ ॥

शस्त्राणां भरतश्रेष्ठ मनुष्याणां च गर्जताम् ।
सुमहानभवच्छब्दः प्रेतानामिव भारत ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! शस्त्रोंके आघात और मनुष्योंकी गर्जनाका महान् शब्द भूत-प्रेतोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥

गजवाजिमनुष्याणां शोणितान्त्रतरङ्गिणी ।
प्रावर्तत नदी तत्र केशशैवलशाद्वला ॥ २७ ॥

हाथी, घोड़े और मनुष्योंके रक्त और आँतोंकी एक भयंकर नदी बह चली, जिसमें केश सेवार और घासके समान जान पड़ते थे ॥ २७ ॥

नराणां चैव कायेभ्यः शिरसां पततां रणे ।
शुश्रुवे सुमहाञ्छब्दः पततामश्मनामिव ॥ २८ ॥

मनुष्योंके शरीरोंसे रणभूमिमें कटकर गिरते हुए मस्तकोंका महान् शब्द पत्थरोंकी वर्षाके समान जान पड़ता था ॥ २८ ॥

विशिरस्कैर्मनुष्यैश्च च्छिन्नगात्रैश्च वारणैः ।
अश्वैः सम्भिन्नदेहैश्च संकीर्णाभूद् वसुन्धरा ॥ २९ ॥

बिना सिरके मनुष्यों, कटे हुए अङ्गोंवाले हाथियों तथा छिन्न-भिन्न शरीरवाले घोड़ोंसे वहाँकी सारी भूमि पट गयी थी ॥

नानाविधानि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ।
अन्योन्यमभिधावन्तः सम्प्रहारार्थमुद्यताः ॥ ३० ॥

नाना प्रकारके शस्त्रोंको चलाते और एक दूसरेकी ओर दौड़ते हुए महारथी सर्वथा युद्धके लिये उद्यत थे ॥ ३० ॥

[illegible] हयान् समासाद्य प्रेषिता हयसादिभिः ।
[illegible]न्य रणेऽन्योन्यं निपेतुर्गतजीविताः ॥ ३१ ॥

घुड़सवारोंद्वारा प्रेरित हुए घोड़े घोड़ोंसे भिड़कर आपसमें टक्कर लेकर प्राणशून्य हो रणक्षेत्रमें गिर पड़ते थे ॥ ३१ ॥

नरा नरान् समासाद्य क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ।
उरांस्युरोभिरन्योन्यं समाश्लिष्य निजघ्निरे ॥ ३२ ॥

मनुष्य मनुष्योंपर आक्रमण करके अत्यन्त क्रोधसे लाल आँखें किये छातीसे छाती भिड़ाकर एक दूसरेको मारने लगे ॥

प्रेषिताश्च महामात्रैर्वारणाः परवारणैः ।
अभ्यघ्नन्त विषाणाग्रैर्वारणानेव संयुगे ॥ ३३ ॥

महावतोंके द्वारा आगे बढ़ाये हुए हाथी विपक्षी हाथियोंसे टक्कर लेकर युद्धस्थलमें अपने दाँतोंके अग्रभागसे हाथियोंपर ही चोट करते थे ॥ ३३ ॥

ते जातरुधिरोत्पीडाः पताकाभिरलंकृताः ।
संसक्ताः प्रत्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः ॥ ३४ ॥

उस समय उनके मस्तकसे रक्तकी धारा बहने लगी थी । परस्पर भिड़े हुए वे हाथी पताकाओंसे अलंकृत होनेके कारण विद्युत्सहित मेघोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३४ ॥

केचिद् भिन्ना विषाणाग्रैर्भिन्नकुम्भाश्च तोमरैः ।
विनदन्तोऽभ्यधावन्त गर्जमाना घना इव ॥ ३५ ॥

कितने ही हाथी दाँतोंके अग्रभागसे विदीर्ण हो रहे थे । कितनोंके कुम्भस्थल तोमरोंकी मारसे फट गये थे और वे गर्जते हुए बादलोंके समान चीत्कार करते हुए इधर-उधर भाग रहे थे ॥ ३५ ॥

केचिद्धस्तैर्द्विधा च्छिन्नैश्छिन्नगात्रास्तथापरे ।
निपेतुस्तुमुले तस्मिंश्छिन्नपक्षा इवाद्रयः ॥ ३६ ॥

किन्हींकी सूँड़ोंके दो टुकड़े हो गये थे, किन्हींके अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये थे, ऐसे हाथी पंख कटे पर्वतोंके समान उस भयानक युद्धमें धड़ाधड़ गिर रहे थे ॥ ३६ ॥

पार्श्वैस्तु दारितैरन्ये वारणैर्वरवारणाः ।
मुमुचुः शोणितं भूरि धातूनिव महीधराः ॥ ३७ ॥

बहुत-से श्रेष्ठ हाथी हाथियोंके आघातसे ही अपना पार्श्वभाग विदीर्ण हो जानेके कारण उसी प्रकार प्रचुरमात्रामें अपना रक्त बहा रहे थे, जैसे पर्वत गेरु आदि धातुओंसे मिले झरने बहाते हों ॥ ३७ ॥

नाराचनिहतास्त्वन्ये तथा विद्धाश्च तोमरैः ।
विनदन्तोऽभ्यधावन्त विशृंगा इव पर्वताः ॥ ३८ ॥

कुछ हाथी नाराचोंसे घायल किये गये थे, किन्हींके शरीरोंमें तोमर धँसे हुए थे और वे सबके सब घोर चीत्कार करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे । उस समय वे शिखरहीन पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥ ३८ ॥

केचित् क्रोधसमाविष्टा मदान्धा निरवग्रहाः ।
रथान् हयान् पदातींश्च ममृदुः शतशो रणे ॥ ३९ ॥

कितने ही मदान्ध गजराज क्रोधमें भरे होनेके कारण काबूमें नहीं आते थे। उन्होंने रणभूमिमें सैकड़ों रथों, घोड़ों और पैदल सिपाहियोंको पैरों तले रौंद डाला ॥ ३९ ॥

तथा हया हयारोहैस्ताडिताः प्रासतोमरैः।
तेन तेनाभ्यवर्तन्त कुर्वन्तो व्याकुला दिशः ॥ ४० ॥

इसी प्रकार घुड़सवारोंद्वारा प्रास और तोमरोंकी मारसे घायल किये हुए घोड़े सम्पूर्ण दिशाओंको व्याकुल करते हुए इधर-उधर भाग रहे थे ॥ ४० ॥

रथिनो रथिभिः सार्धं कुलपुत्रास्तनुत्यजः।
परां शक्तिं समास्थाय चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ॥ ४१ ॥

कितने ही कुलीन रथी अपने शरीरोंको निछावर करके भारी-से-भारी शक्ति लगाकर विपक्षी रथियोंके साथ निर्भयकी भाँति महान् पराक्रम प्रकट कर रहे थे ॥ ४१ ॥

स्वयंवर इवामर्दे प्रजह्रुरितरेतरम्।
प्रार्थयाना यशो राजन् स्वर्गं वा युद्धशालिनः ॥ ४२ ॥

राजन्! युद्धमें शोभा पानेवाले वीर स्वर्ग अथवा यश पानेकी इच्छा रखकर स्वयंवरकी भाँति उस युद्धमें एक दूसरेपर प्रहार कर रहे थे ॥ ४२ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संग्रामे लोमहर्षणे।
धार्तराष्ट्रं महत् सैन्यं प्रायशो विमुखीकृतम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार चलनेवाले उस रोमाञ्चकारी संग्राममें दुर्योधनकी विशाल सेना प्रायः युद्धसे विमुख होकर भाग गयी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधन और भीमसेनका एवं अश्वत्थामा और राजा नीलका युद्ध तथा घटोत्कचकी मायासे मोहित होकर कौरवसेनाका पलायन

संजय उवाच

सैन्यं निहतं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम्।
भ्यधावत संक्रुद्धो भीमसेनमरिंदमम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! अपनी अधिकांश सेनाको गयी देख क्रोधमें भरे हुए स्वयं राजा दुर्योधनने शत्रु-भीमसेनपर धावा किया ॥ १ ॥

गृह्य सुमहच्चापमिन्द्राशनिसमस्वनम्।
ता शरवर्षेण पाण्डवं समवाकिरत् ॥ २ ॥

उसने इन्द्रके वज्रकी भाँति भयानक टंकार करनेवाले धनुषको हाथमें लेकर पाण्डुनन्दन भीमसेनपर बाणों-भारी वर्षा आरम्भ की ॥ २ ॥

चन्द्रं च संधाय सुतीक्ष्णं लोमवाहिनम्।
मसेनस्य चिच्छेद चापं क्रोधसमन्वितः ॥ ३ ॥

इतना ही नहीं, उसने कुपित होकर पंखयुक्त अत्यन्त अर्धचन्द्राकार बाणका प्रयोग करके भीमसेनके धनुषको दिया ॥ ३ ॥

न्तरं च सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो महारथः।
दधे शितं बाणं गिरीणामपि दारणम् ॥ ४ ॥

फिर उसीको उपयुक्त अवसर समझकर महारथी दुर्योधन-उतावलीके साथ एक तीखे बाणका संधान किया, जो तोंको भी विदीर्ण करनेवाला था ॥ ४ ॥

तेनोरसि महाराज भीमसेनमताडयत्।
स गाढविद्धो व्यथितः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ५ ॥
समाललम्बे तेजस्वी ध्वजं हेमपरिष्कृतम्।

महाराज! उस बाणके द्वारा दुर्योधनने भीमसेनकी छातीपर गहरी चोट पहुँचायी। उससे अत्यन्त घायल होकर तेजस्वी भीमसेन व्यथित हो उठे और मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए उन्होंने अपने सुवर्णभूषित ध्वजका सहारा ले लिया ॥ ५½ ॥

तथा विमनसं दृष्ट्वा भीमसेनं घटोत्कचः ॥ ६ ॥
क्रोधेनाभिप्रजज्वाल दिधक्षन्निव पावकः।

भीमसेनको इस प्रकार व्यथितचित्त देखकर घटोत्कच जलानेकी इच्छावाले अग्निदेवकी भाँति क्रोधसे प्रज्वलित हो उठा ॥ ६½ ॥

अभिमन्युमुखाश्चापि पाण्डवानां महारथाः ॥ ७ ॥
समभ्यधावन् क्रोशन्तो राजानं जातसम्भ्रमाः।

साथ ही अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी भी बड़े वेगसे राजा दुर्योधनको ललकारते हुए उसकी ओर दौड़े। ७½।

सम्प्रेक्ष्यैतान् सम्पततः संक्रुद्धाञ्जातसम्भ्रमान् ॥ ८ ॥
भारद्वाजोऽब्रवीद् वाक्यं तावकानां महारथान्।
क्षिप्रं गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ॥ ९
संशयं परमं प्राप्तं मज्जन्तं व्यसनार्णवे।

क्रोधमें भरे हुए इन समस्त योद्धाओंको वेगपू

करते देख द्रोणाचार्यने आपके महारथियोंसे कहा—'वीरो ! तुम्हारा कल्याण हो। शीघ्र जाओ और संकटके समुद्रमें डूबकर महान् प्राणसंशयमें पड़े हुए राजा दुर्योधनकी रक्षा करो ॥ ८–९½ ॥

एते क्रुद्धा महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ॥ १० ॥
भीमसेनं पुरस्कृत्य दुर्योधनमुपाद्रवन् ।
नानाविधानि शस्त्राणि विसृजन्तो जये धृताः ॥ ११ ॥
नदन्तो भैरवान् नादांस्त्रासयन्तश्च भूमिपान् ।

'ये महाधनुर्धर पाण्डव महारथी कुपित हो भीमसेनको आगे करके दुर्योधनपर धावा कर रहे हैं और विजयका दृढ़ संकल्प ले नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए भैरव गर्जना करते तथा भूमिपालोंको त्रास पहुँचाते हैं' ।१०-११½।

तदाचार्यवचः श्रुत्वा सौमदत्तिपुरोगमाः ॥ १२ ॥
तावकाः समवतन्त पाण्डवानामनीकिनीम् ।

आचार्यका यह वचन सुनकर भूरिश्रवा आदि आपके प्रमुख योद्धाओंने पाण्डवसेनापर आक्रमण किया ॥१२½॥

कृपो भूरिश्रवाः शल्यो द्रोणपुत्रो विविंशतिः ॥ १३ ॥
चित्रसेनो विकर्णश्च सैन्धवोऽथ बृहद्बलः ।
आवन्त्यौ च महेष्वासौ कौरवं पर्यवारयन् ॥ १४ ॥

कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा, विविंशति, चित्रसेन, विकर्ण, सिंधुराज जयद्रथ, बृहद्बल तथा अवन्तीके राजकुमार महाधनुर्धर विन्द और अनुविन्द—इन सबने दुर्योधनको उसकी रक्षाके लिये सब ओरसे घेर लिया।१३-१४।

ते विंशतिपदं गत्वा सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च परस्परजिघांसवः ॥ १५ ॥

वे बीस कदम आगे बढ़कर प्रहार करने लगे, फिर तो पाण्डव तथा कौरव योद्धा एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे युद्ध करने लगे ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्महद् विस्फार्य कार्मुकम् ।
भारद्वाजस्ततो भीमं षड्विंशत्या समार्पयत् ॥ १६ ॥

कौरव महारथियोंसे पूर्वोक्त बात कहनेके पश्चात् महाबाहु भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यने अपने विशाल धनुषको खींचकर भीमसेनको छब्बीस बाण मारे ॥ १६ ॥

भूयश्चैनं महाबाहुः शरैः शीघ्रमवाकिरत् ।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ॥ १७ ॥

साथ ही उन महाबाहुने उनके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो वर्षाऋतुमें मेघ पर्वत-शिखरपर जलकी धारा गिरा रहा हो ॥ १७ ॥

त्यविध्यद् दशभिर्भीमसेनः शिलीमुखैः ।
णो महेष्वासः सव्ये पार्श्वे महाबलः ॥ १८ ॥

तब महाबली महाधनुर्धर भीमसेनने भी बड़ी उतावलीके साथ द्रोणाचार्यकी बायीं पसलीमें दस बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया ॥ १८ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो वयोवृद्धश्च भारत ।
प्रणष्टसंज्ञः सहसा रथोपस्थ उपाविशत् ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! उन बाणोंसे उन्हें गहरा आघात लगा। वे वयोवृद्ध तो थे ही, सहसा व्यथित एवं अचेत होकर रथके पिछले भागमें बैठ गये ॥ १९ ॥

गुरुं प्रव्यथितं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम् ।
द्रौणायनिश्च संक्रुद्धौ भीमसेनमभिद्रुतौ ॥ २० ॥

आचार्य द्रोणको व्यथासे पीड़ित देख स्वयं राजा दुर्योधन और अश्वत्थामा दोनों अत्यन्त कुपित हो भीमसेनपर टूट पड़े ।२०।

तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य कालान्तकयमोपमौ ।
भीमसेनो महाबाहुर्गदामादाय सत्वरम् ॥ २१ ॥
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं तस्थौ गिरिरिवाचलः ।

प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर उन दोनों महारथियोंको आक्रमण करते देख महाबाहु भीमसेनने तुरंत ही गदा हाथमें ले ली और वे रथसे कूदकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ २१½ ॥

समुद्यम्य गदां गुर्वीं यमदण्डोपमां रणे ॥ २२ ॥
तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
कौरवो द्रोणपुत्रश्च सहितावभ्यधावताम् ॥ २३ ॥

उन्होंने हाथमें जो भारी गदा उठायी थी, वह रणभूमिमें यमदण्डके समान भयानक जान पड़ती थी। शृङ्गयुक्त कैलास पर्वतके समान ऊपर गदा उठाये हुए भीमसेनको देखकर दुर्योधन और अश्वत्थामाने एक साथ उनपर धावा किया ॥ २२-२३ ॥

तावापतन्तौ सहितौ त्वरितौ बलिनां वरौ ।
अभ्यधावत वेगेन त्वरमाणो वृकोदरः ॥ २४ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ उन दोनों वीरोंको एक साथ शीघ्रतापूर्वक आते देख भीमसेन भी उतावले होकर बड़े वेगसे उनकी ओर बढ़े ॥ २४ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम् ।
समभ्यधावंस्त्वरिताः कौरवाणां महारथाः ॥ २५ ॥

क्रोधमें भरकर भयंकर दिखायी देनेवाले भीमसेनको देखकर कौरव महारथी बड़ी उतावलीके साथ उनकी ओर दौड़े ॥ २५ ॥

भारद्वाजमुखाः सर्वे भीमसेनजिघांसया ।
नानाविधानि शस्त्राणि भीमस्योरस्यपातयन् ॥ २६ ॥

द्रोणाचार्य आदि सभी योद्धा भीमसेनके वधकी इ

उनकी छातीपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे ॥ २६ ॥

सहिताः पाण्डवं सर्वे पीडयन्तः समन्ततः ।
तं दृष्ट्वा संशयं प्राप्तं पीड्यमानं महारथम् ॥ २७ ॥
अभिमन्युप्रभृतयः पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यधावन् परीप्सन्तः प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ॥

वे सब एक साथ होकर चारों ओरसे पाण्डुकुमार भीमसेनको पीड़ा देने लगे । महारथी भीमसेनको पीड़ित और उनके प्राणोंको संकटमें पड़ा देख अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी अपने दुस्त्यज प्राणोंका मोह छोड़कर उनकी रक्षाके लिये दौड़े आये ॥ २७–२८ ॥

अनूपाधिपतिः शूरो भीमस्य दयितः सखा ।
नीलो नीलाम्बुदप्रख्यः संक्रुद्धो द्रौणिमभ्ययात् ॥ २९ ॥

अनूप देशका शूरवीर राजा नील भीमसेनका प्रिय सखा था । उसकी अङ्गकान्ति श्याम मेघके समान सुन्दर थी । उसने अत्यन्त कुपित होकर अश्वत्थामापर आक्रमण किया । २९ ।

र्धते हि महेष्वासो नित्यं द्रोणसुतेन सः ।
विस्फार्य महच्चापं द्रौणिं विव्याध पत्त्रिणा ॥ ३० ॥
था शक्रो महाराज पुरा विव्याध दानवम् ।
प्रचित्तिं दुराधर्षं देवतानां भयंकरम् ॥ ३१ ॥
न लोकत्रयं क्रोधात् त्रासितं स्वेन तेजसा ।

वह महाधनुर्धर वीर प्रतिदिन द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके साथ र्धा रखता था । महाराज ! उसने अपने विशाल धनुषको चकर एक पंखयुक्त बाणसे अश्वत्थामाको उसी प्रकार ल कर दिया, जैसे इन्द्रने पूर्वकालमें देवताओंके लिये कर विप्रचित्ति नामक दुर्धर्ष दानवको घायल किया था, दानवने अपने क्रोध एवं तेजसे तीनों लोकोंको भयभीत रखा था ॥ ३०-३१½ ॥

था नीलेन निर्भिन्नः सुमुक्तेन पतत्त्रिणा ॥ ३२ ॥
जातरुधिरोत्पीडो द्रौणिः क्रोधसमन्वितः ।

नीलके छोड़े हुए उस पंखयुक्त बाणसे विदीर्ण होकर त्थामाके शरीरसे रक्तका प्रवाह बह चला । इससे त्थामाको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ३२½ ॥

विस्फार्य धनुश्चित्रमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ३३ ॥
नीलविनाशाय मतिं मतिमतां वरः ।

तदनन्तर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामाने इन्द्रके वज्रकी भयंकर टंकार करनेवाले अपने विचित्र धनुषको खींचकर को मार डालनेका विचार किया ॥ ३३½ ॥

ततः संधाय विमलान् भल्लान् कर्मारमार्जितान् ॥
जघान चतुरो वाहान् सारथिं ध्वजमेव च ।
सप्तमेन च भल्लेन नीलं विव्याध वक्षसि ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् उसने लोहारके माँजे हुए सात चमकीले भल्लोंको धनुषपर रखकर चलाया । उनमेंसे चारके द्वारा उसने नीलके चारों घोड़ोंको और पाँचवेंसे सारथिको मार डाला । छठेसे ध्वजको काट गिराया और सातवें भल्लसे नीलकी छातीमें प्रहार किया ॥ ३४–३५ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
मोहितं वीक्ष्य राजानं नीलमभ्रचयोपमम् ॥ ३६ ॥
घटोत्कचोऽभिसंक्रुद्धो ज्ञातिभिः परिवारितः ।
अभिदुद्राव वेगेन द्रौणिमाहवशोभिनम् ॥ ३७ ॥
तथेतरे चाभ्यधावन् राक्षसा युद्धदुर्मदाः ।

उस बाणसे अधिक घायल हो जानेके कारण वे व्यथित हो रथके पिछले भागमें बैठ गये । नील मेघसमूहके समान श्याम वर्णवाले राजा नीलको अचेत हुआ देख अपने भाई-बन्धुओंसे घिरा हुआ घटोत्कच अत्यन्त कुपित हो युद्धमें शोभा पानेवाले अश्वत्थामाकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा । उसके साथ ही दूसरे-दूसरे रणदुर्मद राक्षसोंने भी उसपर धावा किया ॥ ३६–३७½ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ ३८ ॥
अभ्यधावत तेजस्वी भारद्वाजात्मजस्त्वरन् ।

देखनेमें अत्यन्त भयंकर राक्षस घटोत्कचको धावा करते देख तेजस्वी अश्वत्थामाने बड़ी उतावलीके साथ उसपर आक्रमण किया ॥ ३८½ ॥

निजघान च संक्रुद्धो राक्षसान् भीमदर्शनान् ॥ ३९ ॥
येऽभवन्नग्रतः क्रुद्धा राक्षसस्य पुरःसराः ।

उसने कुपित हो उन भयंकर राक्षसोंको मारना आरम्भ किया, जो घटोत्कचके आगे खड़े होकर क्रोधपूर्वक युद्ध कर रहे थे ॥ ३९½ ॥

विमुखांश्चैव तान् दृष्ट्वा द्रौणिचापच्युतैः शरैः ॥ ४० ॥
अक्रुद्ध्यत महाकायो भैमसेनिर्घटोत्कचः ।

अश्वत्थामाके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा घायल हो उन राक्षसोंको भागते देख विशालकाय भीमसेनकुमार घटोत्कच कुपित हो उठा ॥ ४०½ ॥

प्रादुश्चक्रे ततो मायां घोररूपां सुदारुणाम् ॥ ४१ ॥
मोहयन् समरे द्रौणिं मायावी राक्षसाधिपः ।

तत्पश्चात् उस मायावी राक्षसराजने समराङ्गणमें अश्वत्थामाको मोहित करते हुए अत्यन्त दारुण घोर प्रकट की ॥ ४१½ ॥

ततस्ते तावकाः सर्वे मायया विमुखीकृताः ॥ ४२ ॥
अन्योन्यं समपश्यन्त निकृत्ता मेदिनीतले ।
विचेष्टमानाः कृपणाः शोणितेन परिप्लुताः ॥ ४३ ॥
द्रोणं दुर्योधनं शल्यमश्वत्थामानमेव च ।
प्रायशश्च महेष्वासा ये प्रधानाः स्म कौरवाः ॥ ४४ ॥
विध्वस्ता रथिनः सर्वे राजानश्च निपातिताः ।
हयाश्चैव हयारोहाः संनिकृत्ताः सहस्रशः ॥ ४५ ॥

तब उस मायासे डरकर आपके सभी सैनिक युद्धसे विमुख हो गये। उन्होंने एक दूसरेको तथा द्रोण, दुर्योधन, शल्य और अश्वत्थामाको भी इस प्रकार देखा—सबके सब छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर गिरकर छटपटा रहे हैं और खूनसे लथपथ होकर दयनीय दशाको पहुँच गये हैं। कौरवोंमें जो महान् धनुर्धर एवं प्रधान वीर हैं, प्रायः वे सभी रथी विध्वंसको प्राप्त हो गये हैं। सब राजा मार गिराये गये हैं तथा हजारों घोड़े और घुड़सवार टुकड़े-टुकड़े होकर पड़े हैं ॥४२-४५॥

तद् दृष्ट्वा तावकं सैन्यं विद्रुतं शिबिरं प्रति ।
मम प्राक्रोशतो राजंस्तथा देवव्रतस्य च ॥ ४६ ॥
युध्यध्वं मा पलायध्वं मायैषा राक्षसी रणे ।
घटोत्कचप्रमुक्तेति नातिष्ठन्त विमोहिताः ॥ ४७ ॥

यह सब देखकर आपकी सेना शिविरकी ओर भाग चली। राजन्! उस समय मैं और देवव्रत भीष्म भी पुकार-पुकारकर कह रहे थे—'वीरो! युद्ध करो। भागो मत। रणभूमिमें तुम जो कुछ देख रहे हो, वह घटोत्कचद्वारा छोड़ी हुई राक्षसी माया है।' परंतु वे अचेत होनेके कारण ठहर न सके ॥ ४६-४७ ॥

नैव ते श्रद्दधुर्भीता वदतोरावयोर्वचः।
तांश्च प्रद्रवतो दृष्ट्वा जयं प्राप्ताश्च पाण्डवाः ॥ ४८॥
घटोत्कचेन सहिताः सिंहनादान् प्रचक्रिरे।

वे इतने डर गये थे कि हम दोनोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करते थे। उन्हें भागते देख विजयी पाण्डव घटोत्कचके साथ सिंहनाद करने लगे ॥ ४८½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः समन्तान्नेदिरे भृशम् ॥ ४९ ॥
एवं तव बलं सर्वं हैडिम्बेन दुरात्मना।
सूर्यास्तमनवेलायां प्रभग्नं विद्रुतं दिशः ॥ ५० ॥

चारों ओर शङ्ख और दुन्दुभि आदि बाजे जोर-जोरसे बजने लगे। इस प्रकार सूर्यास्तके समय दुरात्मा घटोत्कचने खदेड़ी गयी आपकी सारी सेना सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग चली।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमयुद्धदिवसे घटोत्कचयुद्धे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धमें घटोत्कचका युद्धविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनके अनुरोध और भीष्मजीकी आज्ञासे भगदत्तका घटोत्कच, भीमसेन और पाण्डवसेनाके साथ घोर युद्ध

संजय उवाच

तस्मिन् महति संक्रन्दे राजा दुर्योधनस्तदा ।
(पराजयं राक्षसेन नामृष्यत परंतपः ।)
गाङ्गेयमुपसंगम्य विनयेनाभिवाद्य च ॥ १ ॥
तस्य सर्वं यथावृत्तमाख्यातुमुपचक्रमे ।
घटोत्कचस्य विजयमात्मनश्च पराजयम् ॥ २ ॥
कथयामास दुर्धर्षो विनिःश्वस्य पुनः पुनः ।

संजय कहते हैं—महाराज! शत्रुओंको संताप देनेवाला राजा दुर्योधन उस महान् युद्धमें एक राक्षसके द्वारा प्राप्त हुई अपनी पराजयको नहीं सह सका। उसने गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास जाकर उन्हें विनीतभावसे प्रणाम करनेके पश्चात् सारा वृत्तान्त यथावत् रूपसे कह सुनाया। उस दुर्धर्ष [illegible]ने बारंबार लम्बी साँस खींचकर घटोत्कचकी विजय और [illegible] पराजयकी कथा कही ॥ १-२½ ॥

अब्रवीच्च तदा राजन् भीष्मं कुरुपितामहम् ॥ ३ ॥
भवन्तं समुपाश्रित्य वासुदेवं यथा परैः ।
पाण्डवैर्विग्रहो घोरः समारब्धो मया प्रभो ॥ ४ ॥

राजन्! फिर उसने कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मसे कहा—'प्रभो! जैसे मेरे शत्रु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका आश्रय लेकर युद्ध करते हैं, उसी प्रकार मैंने केवल आपका सहारा लेकर पाण्डवोंके साथ भयंकर युद्ध छेड़ा है ॥ ३-४ ॥

एकादश समाख्याता अक्षौहिण्यश्च या मम।
निदेशे तव तिष्ठन्ति मया सार्धं परंतप ॥ ५ ॥

'परंतप! मेरे साथ ही मेरी ये प्रसिद्ध ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आपकी आज्ञाके अधीन हैं ॥ ५ ॥

सोऽहं भरतशार्दूल भीमसेनपुरोगमैः ।
घटोत्कचं समाश्रित्य पाण्डवैर्युधि निर्जितः ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! ऐसा शक्तिशाली होनेपर भी मुझे भीमसेन आदि पाण्डवोंने घटोत्कचका सहारा लेकर युद्धमें परास्त कर दिया है ॥ ६ ॥

तन्मे दहति गात्राणि शुष्कवृक्षमिवानलः ।
यदिच्छामि महाभाग त्वत्प्रसादात् परंतप ॥ ७ ॥
राक्षसापसदं हन्तुं स्वयमेव पितामह ।
त्वां समाश्रित्य दुर्धर्षं तन्मे कर्तुं त्वमर्हसि ॥ ८ ॥

'महाभाग ! जैसे आग सूखे पेड़को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार यह अपमान मेरे अङ्ग-अङ्गको दग्ध कर रहा है। शत्रुओंको संताप देनेवाले पितामह ! मैं आपकी कृपासे स्वयं ही उस नीच एवं दुर्धर्ष राक्षसको मारना चाहता हूँ। आपका सहारा लेकर उसपर विजयी होना चाहता हूँ । अतः आप मेरे इस मनोरथको पूर्ण करें' ॥ ७-८ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञो भरतसत्तम ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधनका यह वचन सुनकर शान्तनुन्दन भीष्मने उससे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

णु राजन् मम वचो यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
था त्वया महाराज वर्तितव्यं परंतप ॥ १० ॥

'राजन् ! कुरुनन्दन ! मैं तुमसे जो कहता हूँ, उसे न देकर सुनो । शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! हें जिस प्रकार बर्ताव करना चाहिये, वह सुनो ॥ १० ॥

त्मा रक्ष्यो रणे तात सर्वावस्थास्वरिंदम ।
र्मराजेन संग्रामस्त्वया कार्यः सदानघ ॥ ११ ॥

'तात ! शत्रुदमन ! तुम युद्धमें सदा अपनी रक्षा करो । घ ! तुम्हें सदा धर्मराज युधिष्ठिरसे ही संग्राम करना चाहिये ॥

र्जुनेन यमाभ्यां वा भीमसेनेन वा पुनः ।
धर्मं पुरस्कृत्य राजा राजानमार्छति ॥ १२ ॥

'अर्जुन, नकुल, सहदेव अथवा भीमसेनके साथ भी तुम कर सकते हो । राजधर्मको सामने रखकर यह बात गयी है । राजा राजासे ही युद्ध करता है ॥ १२ ॥

तु कार्यस्त्वया राजन् हैडिम्बेन दुरात्मना ॥)
द्रोणः कृपो द्रौणिः कृतवर्मा च सात्वतः ।
श्च सौमदत्तिश्च विकर्णश्च महारथः ॥ १३ ॥
च भ्रातरः श्रेष्ठा दुःशासनपुरोगमाः ।
र्थे प्रतियोत्स्यामो राक्षसं तं महाबलम् ॥ १४ ॥

राजन् ! तुम्हें दुरात्मा घटोत्कचके साथ कदापि युद्ध नहीं चाहिये । मैं, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, सात्वत कृतवर्मा, शल्य, भूरिश्रवा, महारथी विकर्ण तथा न आदि तुम्हारे अच्छे भ्राता—ये सब लोग तुम्हारे उस महाबली राक्षससे युद्ध करेंगे ॥ १३-१४ ॥

रौद्रे तस्मिन् राक्षसेन्द्रे यदि तेऽनुशयो महान् ।
अयं वा गच्छतु रणे तस्य युद्धाय दुर्मतेः ॥ १५ ॥
भगदत्तो महीपालः पुरन्दरसमो युधि ।

'यदि उस भयंकर राक्षसराज घटोत्कचपर तुम्हारा अधिक रोष है तो उस दुष्टके साथ युद्ध करनेके लिये राजा भगदत्त जायँ; क्योंकि युद्धमें ये इन्द्रके समान पराक्रमी हैं' ॥ १५½ ॥

एतावदुक्त्वा राजानं भगदत्तमथाब्रवीत् ॥ १६ ॥
समक्षं पार्थिवेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।

इतना कहकर बोलनेमें कुशल भीष्मने राजाधिराज दुर्योधनके सामने ही राजा भगदत्तसे यह बात कही—॥ १६½ ॥

गच्छ शीघ्रं महाराज हैडिम्बं युद्धदुर्मदम् ॥ १७ ॥
वारयस्व रणे यत्तो मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

'महाराज ! तुम रणदुर्मद घटोत्कचका सामना करनेके लिये शीघ्र जाओ और समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते प्रयत्नपूर्वक उसे रणक्षेत्रमें आगे बढ़नेसे रोको ॥ १७½ ॥

राक्षसं क्रूरकर्माणं यथेन्द्रस्तारकं पुरा ॥ १८ ॥
तव दिव्यानि चास्त्राणि विक्रमश्च परंतप ।
समागमश्च बहुभिः पुराभूदमरैः सह ॥ १९ ॥

'पूर्वकालमें इन्द्रने जैसे तारकासुरकी प्रगति रोक दी थी, उसी प्रकार तुम भी उस क्रूरकर्मा राक्षसको रोक दो । परंतप ! तुम्हारे पास दिव्य अस्त्र हैं । तुममें पराक्रम भी महान् है और पूर्वकालमें बहुत-से देवताओंके साथ तुम्हारा युद्ध भी हो चुका है ॥ १८-१९ ॥

त्वं तस्य नृपशार्दूल प्रतियोद्धा महाहवे ।
स्वबलेनोच्छ्रितो राजञ्जहि राक्षसपुङ्गवम् ॥ २० ॥

'नृपश्रेष्ठ ! इस महायुद्धमें घटोत्कचका सामना करनेवाले योद्धा केवल तुम्हीं हो । राजन् ! तुम अपने ही बलसे उत्कर्षको प्राप्त होकर राक्षस-शिरोमणि घटोत्कचको मार डालो' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं भीष्मस्य पृतनापतेः ।
प्रययौ सिंहनादेन परानभिमुखो द्रुतम् ॥ २१ ॥

सेनापति भीष्मका यह वचन सुनकर राजा भगदत्त सिंहनाद करते हुए तुरंत ही शत्रुओंका सामना करनेके लिये चल दिये ॥ २१ ॥

तमाद्रवन्तं सम्प्रेक्ष्य गर्जन्तमिव तोयदम् ।
अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः पाण्डवानां महारथाः ॥ २२ ॥
भीमसेनोऽभिमन्युश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ।
द्रौपदेयाः सत्यधृतिः क्षत्रदेवश्च भारत ॥ २३ ॥
चेदिपो वसुदानश्च दशार्णाधिपतिस्तथा ।

भारत ! गर्जते हुए मेघके समान राजा भगदत्तको धाव करते देख भीमसेन, अभिमन्यु, राक्षस घटोत्कच, द्रौप पाँचों पुत्र, सत्यधृति, क्षत्रदेव, चेदिराज धृष्टकेतु

और दशार्णराज—ये सभी पाण्डवपक्षीय महारथी क्रोधमें भरकर उनका सामना करनेके लिये आये ॥ २२-२३½ ॥

सुप्रतीकेन तांश्चापि भगदत्तोऽप्युपाद्रवत् ॥ २४ ॥
ततः समभवद् युद्धं घोररूपं भयानकम् ।
पाण्डूनां भगदत्तेन यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ २५ ॥

भगदत्तने भी सुप्रतीक नामक हाथीपर आरूढ़ होकर उनपर धावा किया । फिर तो पाण्डवोंका भगदत्तके साथ घोर एवं भयानक युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ॥ २४-२५ ॥

प्रयुक्ता रथिभिर्बाणा भीमवेगाः सुतेजनाः ।
ते निपेतुर्महाराज नागेषु च रथेषु च ॥ २६ ॥

महाराज ! रथियोंद्वारा प्रयुक्त हुए भयंकर वेगशाली तेज बाण हाथियों और रथोंपर गिरने लगे ॥ २६ ॥

प्रभिन्नाश्च महानागा विनीता हस्तिसादिभिः।
परस्परं समासाद्य संनिपेतुरभीतवत् ॥ २७ ॥

जिनके मस्तकसे मदकी धारा बहती थी, ऐसे बड़े-बड़े गजराज गजारोहियोंद्वारा प्रेरित हो एक दूसरेके पास पहुँचकर निर्भीक हो परस्पर भिड़ जाते थे ॥ २७ ॥

मदान्धा रोषसंरब्धा विषाणाग्रैर्महाहवे ।
बिभिदुर्दन्तमुसलैः समासाद्य परस्परम् ॥ २८ ॥

उस महायुद्धमें रोषपूर्ण मदान्ध हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे अथवा दाँतरूपी मूसलोंसे परस्पर भिड़कर एक दूसरेको विदीर्ण करने लगे ॥ २८ ॥

हयाश्च चामरापीडाः प्रासपाणिभिरास्थिताः ।
चोदिताः सादिभिः क्षिप्रं निपेतुरितरेतरम् ॥ २९॥

चामरभूषित अश्व प्रासधारी सवारोंसे संचालित हो तुरंत ही एक दूसरेपर टूट पड़ते थे ॥ २९ ॥

पादाताश्च पदात्योघैस्ताडिताः शक्तितोमरैः ।
न्यपतन्त तदा भूमौ शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३० ॥

उस समय पैदल सिपाही पैदलोंद्वारा ही शक्ति और तोमरोंसे घायल हो सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें धराशायी हो रहे थे ॥

रथिनश्च रथै राजन् कर्णिनालीकसायकैः ।
निहत्य समरे वीरान् सिंहनादान् विनेदिरे ॥ ३१ ॥

राजन्! रथी लोग रथोंपर आरूढ़ हो कर्णी, नालीक और सायकोंद्वारा समरमें वीरोंका वध करके सिंहनाद कर रहे थे॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संग्रामे लोमहर्षणे ।
भगदत्तो महेष्वासो भीमसेनमथाद्रवत् ॥ ३२ ॥

जब इस प्रकार रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम [illegible] रहा था, उसी समय महाधनुर्धर भगदत्तने भीमसेनपर [illegible] किया ॥ ३२ ॥

कुञ्जरेण प्रभिन्नेन सप्तधा स्रवता मदम् ।
पर्वतेन यथा तोयं स्रवमाणेन सर्वशः ॥ ३३ ॥

वे जिस हाथीपर आरूढ़ थे, उसके कुम्भस्थलसे [illegible] सात धाराएँ गिर रही थीं । वह सब ओरसे [illegible] बहानेवाले पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ३३ ॥

किरञ्छरसहस्राणि सुप्रतीकशिरोगतः ।
ऐरावतस्थो मघवान् वारिधारा इवानघ ॥ ३४ ॥

निष्पाप नरेश ! भगदत्त सुप्रतीककी पीठपर बैठकर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करने लगे, मानो देवराज इन्द्र ऐरावत-पर आरूढ़ हो जलकी धारा गिरा रहे हों ॥ ३४ ॥

स भीमं शरधाराभिस्ताडयामास पार्थिवः ।
पर्वतं वारिधाराभिस्तपान्ते जलदो यथा ॥ ३५ ॥

जैसे वर्षा ऋतुमें बादल पर्वतके शिखरपर जलकी धारा गिराता है, उसी प्रकार राजा भगदत्त भीमसेनपर बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्हें पीड़ित करने लगे ॥ ३५ ॥

भीमसेनस्तु संक्रुद्धः पादरक्षान् परःशतान्।
निजघान महेष्वासः संरब्धः शरवृष्टिभिः ॥ ३६ ॥

तब महाधनुर्धर भीससेनने अत्यन्त कुपित हो [illegible] बाणोंकी बौछारसे हाथीके पैरोंकी रक्षा करनेवाले सैकड़ों योद्धाओंको मार गिराया ॥ ३६ ॥

तान् दृष्ट्वा निहतान् क्रुद्धो भगदत्तः प्रतापवान् ।
चोदयामास नागेन्द्रं भीमसेनरथं प्रति ॥ ३७ ॥

उन सबको मारा गया देख प्रतापी भगदत्तने कुपित [illegible] उस गजराजको भीमसेनके रथकी ओर बढ़ाया ॥ ३७ ॥

स नागः प्रेषितस्तेन बाणो ज्याचोदितो यथा।
अभ्यधावत वेगेन भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३८ ॥

उनके द्वारा प्रेरित होकर वह गजराज धनुषकी [illegible] छोड़े हुए बाणकी भाँति शत्रुदमन भीमसेनकी ओर [illegible] वेगसे दौड़ा ॥ ३८ ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यवर्तन्त वेगेन भीमसेनपुरोगमाः ॥ ३९ ॥

उस हाथीको आते देख भीमसेन आदि [illegible] महारथी शीघ्रतापूर्वक उसके चारों ओर खड़े हो गये ॥ ३९ ॥

केकयाश्चाभिमन्युश्च द्रौपदेयाश्च सर्वशः ।
दशार्णाधिपतिः शूरः क्षत्रदेवश्च मारिष ॥ ४० ॥
चेदिपश्चित्रकेतुश्च संरब्धाः सर्व एव ते ।
उत्तमास्त्राणि दिव्यानि दर्शयन्तो महाबलाः ॥ ४१ ॥
तमेकं कुञ्जरं क्रुद्धाः समन्तात् पर्यवारयन् ।

आर्य ! केकयराजकुमार, अभिमन्यु, द्रौपदीके [illegible] पुत्र, शूरवीर दशार्णराज, क्षत्रदेव, चेदिराज धृष्टकेतु

चित्रकेतु—ये सभी महाबली वीर रोषावेषमें भरकर अपने उत्तम दिव्यास्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए उस एकमात्र हाथीको क्रोधपूर्वक चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ४०-४१½ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्व्यरोचत महाद्विपः ॥ ४२ ॥
संजातरुधिरोत्पीडो धातुचित्र इवाद्रिराट् ।

अनेक बाणोंसे घायल हुआ वह महान् गज रक्तरंजित होकर गेरु आदि धातुओंसे विचित्र दिखायी देनेवाले गिरिराजके समान सुशोभित हुआ ॥ ४२½ ॥

दशार्णाधिपतिश्चापि गजं भूमिधरोपमम् ॥ ४३ ॥
समास्थितोऽभिदुद्राव भगदत्तस्य वारणम् ।

तदनन्तर दशार्णदेशके राजा भी एक पर्वताकार हाथीपर आरूढ़ हो भगदत्तके हाथीकी ओर बढ़े ॥ ४३½ ॥

तमापतन्तं समरे गजं गजपतिः स च ॥ ४४ ॥
धार सुप्रतीकोऽपि वेलेव मकरालयम् ।

समरभूमिमें अपनी ओर आते हुए उस हाथीको गजज सुप्रतीकने उसी प्रकार रोक दिया, जैसे तटकी भूमि मुद्रको आगे बढ़नेसे रोके रहती है ॥ ४४½ ॥

रितं प्रेक्ष्य नागेन्द्रं दशार्णस्य महात्मनः ॥ ४५ ॥
धु साध्विति सैन्यानि पाण्डवेयान्यपूजयन् ।

महामना दशार्णनरेशके गजराजको रोका गया देख मस्त पाण्डव सैनिक भी साधु-साधु कहकर सुप्रतीककी शंसा करने लगे ॥ ४५½ ॥

तः प्राग्ज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरान् वै चतुर्दश ॥ ४६ ॥
हिणोत् तस्य नागस्य प्रमुखे नृपसत्तम ।

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर प्राग्ज्योतिषनरेशने कुपित होकर र्णनरेशके हाथीको सामनेसे चौदह तोमर मारे ॥ ४६½ ॥

मुख्यं तनुत्राणं शातकुम्भपरिष्कृतम् ॥ ४७ ॥
दार्य प्राविशन् क्षिप्रं वल्मीकमिव पन्नगाः ।

जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार वे तोमर पर पड़े हुए सुवर्णभूषित श्रेष्ठ कवचको छिन्न-भिन्न करके ही उसके शरीरमें घुस गये ॥ ४७½ ॥

गाढविद्धो व्यथितो नागो भरतसत्तम ॥ ४८ ॥
वृत्तमदः क्षिप्रमभ्यवर्तत वेगितः ।

भरतश्रेष्ठ ! उन तोमरोंसे अत्यन्त घायल हो वह हाथी व हो उठा । उसका सारा मद उतर गया और वह वेगसे पीछेकी ओर लौट पड़ा ॥ ४८½ ॥

दुद्राव वेगेन प्रणदन् भैरवं रवम् ॥ ४९ ॥
मर्दयानः स्वबलं वायुर्वृक्षानिवौजसा ।

जैसे वायु अपनी शक्तिसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है, उसी प्रकार वह हाथी भयानक स्वरमें चिग्घाड़ता और अपनी ही सेनाको रौंदता हुआ बड़े वेगसे भाग चला ४९½

तस्मिन् पराजिते नागे पाण्डवानां महारथाः ॥ ५० ॥
सिंहनादं विनद्योच्चैर्युद्धायैवावतस्थिरे ।

उस हाथीके पराजित हो जानेपर भी पाण्डव महारथी उच्च स्वरसे सिंहनाद करके युद्धके लिये ही खड़े रहे ॥५०½॥

ततो भीमं पुरस्कृत्य भगदत्तमुपाद्रवन् ॥ ५१ ॥
किरन्तो विविधान् बाणाञ्छस्त्राणि विविधानि च ।

तत्पश्चात् पाण्डवसैनिक भीमसेनको आगे करके नाना प्रकारके बाणों तथा अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए भगदत्तपर टूट पड़े ॥ ५१½ ॥

तेषामापततां राजन् संक्रुद्धानाममर्षिणाम् ॥ ५२ ॥
श्रुत्वा स निनदं घोरममर्षाद् गतसाध्वसः ।
भगदत्तो महेष्वासः स्वनागं प्रत्यचोदयत् ॥ ५३ ॥

राजन् ! क्रोधमें भरकर आक्रमण करनेवाले, अमर्षशील उन पाण्डवोंका वह घोर सिंहनाद सुनकर महाधनुर्धर भगदत्तने अमर्षवश बिना किसी भयके अपने हाथीको उनकी ओर बढ़ाया ॥ ५२-५३ ॥

अङ्कुशाङ्गुष्ठनुदितः स गजप्रवरो युधि ।
तस्मिन् क्षणे समभवत् सांवर्तक इवानलः ॥ ५४ ॥

उस समय उनके अङ्कुशों और पैरके अँगूठोंसे प्रेरित हो वह गजराज युद्धस्थलमें संवर्तक[1] अग्निकी भाँति भयंकर हो उठा ॥ ५४ ॥

रथसंघांस्तथा नागान् हयांश्च हयसादिभिः ।
पादातांश्च सुसंक्रुद्धः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५५ ॥
अमृद्नात् समरे नागः सम्प्रधावंस्ततस्ततः ।

उस हाथीने अत्यन्त कुपित होकर रथके समूहों, हाथियों, घुड़सवारोंसहित घोड़ों तथा सैकड़ों-हजारों पैदल सिपाहियोंको भी समराङ्गणमें इधर-उधर दौड़ते हुए रौंद डाला ॥ ५५½ ॥

तेन संलोड्यमानं तु पाण्डवानां बलं महत् ॥ ५६ ॥
संचुकोच महाराज चर्मैवाग्नौ समाहितम् ।

महाराज ! उस हाथीके द्वारा आलोडित होकर पाण्डवोंकी वह विशाल सेना आगपर रक्खे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो गयी ॥ ५६½ ॥

भग्नं तु स्वबलं दृष्ट्वा भगदत्तेन धीमता ॥ ५७ ॥
घटोत्कचोऽथ संक्रुद्धो भगदत्तमुपाद्रवत् ।

बुद्धिमान् भगदत्तके द्वारा अपनी सेनामें भगद

---

[1] १. प्रलयकालकी अग्निका नाम संवर्तक है ।

हुई देख घटोत्कचने अत्यन्त कुपित होकर भगदत्तपर धावा किया ॥ ५७½ ॥

विकटः परुषो राजन् दीप्तास्यो दीप्तलोचनः ॥ ५८ ॥
रूपं विभीषणं कृत्वा रोषेण प्रज्वलन्निव ।

राजन् ! उस समय वह अत्यन्त भयानक रूप बनाकर रोषसे प्रज्वलित-सा हो उठा । उसकी आकृति विकट एवं निष्ठुर दिखायी देती थी तथा मुख और नेत्र उज्ज्वल एवं प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५८½ ॥

जग्राह विमलं शूलं गिरीणामपि दारणम् ॥ ५९ ॥
नागं जिघांसुः सहसा चिक्षेप च महाबलः ।

उस महाबली निशाचरने हाथीको मार डालनेकी इच्छासे एक निर्मल त्रिशूल हाथमें लिया, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाला था । फिर सहसा उसे चला दिया ।५९½।

स विस्फुलिङ्गमालाभिः समन्तात् परिवेष्टितः ॥ ६० ॥
तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा प्राग्ज्योतिषो नृपः ।
चिक्षेप रुचिरं तीक्ष्णमर्धचन्द्रं सुदारुणम् ॥ ६१ ॥

वह त्रिशूल चारों ओरसे आगकी चिनगारियोंके समूहसे घिरा हुआ था । उसे सहसा अपने ऊपर आते देख प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश भगदत्तने अत्यन्त भयंकर तीक्ष्ण और सुन्दर एक अर्धचन्द्राकार बाण चलाया ॥ ६०-६१ ॥

चिच्छेद तन्महच्छूलं तेन बाणेन वेगवान् ।
उत्पपात द्विधा छिन्नं शूलं हेमपरिष्कृतम् ॥ ६२ ॥
महाशनिर्यथा भ्रष्टा शक्रमुक्ता नभोगता ।

उन वेगवान् नरेशने उक्त बाणके द्वारा उस महान् त्रिशूलको काट डाला । वह सुवर्णभूषित त्रिशूल दो टुकड़ोंमें कटकर ऊपरकी ओर उछला । उस समय वह इन्द्रके हाथसे छूटकर आकाशसे गिरते हुए महान् वज्रके समान सुशोभित हुआ ॥ ६२½ ॥

शूलं निपतितं दृष्ट्वा द्विधा कृत्तं च पार्थिवः ॥ ६३ ॥
रुक्मदण्डां महाशक्तिं जग्राहाग्निशिखोपमाम् ।
चिक्षेप तां राक्षसस्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ६४ ॥

त्रिशूलको दो टुकड़ोंमें कटकर गिरा हुआ देख राजा भगदत्तने आगकी लपटोंसे वेष्टित तथा सुवर्णमय दण्डसे विभूषित एक महाशक्ति हाथमें ली और उसे राक्षसपर चला दिया । फिर वे बोले—खड़ा रह, खड़ा रह ॥ ६३-६४ ॥

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य वियत्स्थामशनीमिव ।
उत्पत्य राक्षसस्तूर्णं जग्राह च ननाद च ॥ ६५ ॥

आकाशमें प्रकाशित होनेवाली अशनि (वज्र) के [illegible] गन उस महाशक्तिको गिरती हुई देख राक्षस घटोत्कचने [illegible] र तुरंत ही उसे पकड़ लिया और सिंहके समान [illegible] ६५ ॥

बभञ्ज चैनां त्वरितो जानुन्यारोप्य भारत ।
पश्यतः पार्थिवेन्द्रस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ६६ ॥

भारत ! फिर उसने तुरंत ही राजा भगदत्तके देखते देखते उस शक्तिको घुटनेपर रखकर तोड़ डाला । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ६६ ॥

तदवेक्ष्य कृतं कर्म राक्षसेन बलीयसा ।
दिवि देवाः सगन्धर्वा मुनयश्चापि विस्मिताः ॥ ६७ ॥

महाबली राक्षसके द्वारा किये गये इस महान् कर्मको देखकर आकाशमें खड़े हुए देवता, गन्धर्व और मुनि बड़े विस्मित हुए ॥ ६७ ॥

पाण्डवाश्च महाराज भीमसेनपुरोगमाः ।
साधु साध्विति नादेन पृथिवीमन्वनादयन् ॥ ६८ ॥

महाराज ! उस समय भीमसेन आदि पाण्डवोंने वाह-वाह कहते हुए अपने सिंहनादसे पृथ्वीको गुँजा दिया ॥ ६८ ॥

तं तु श्रुत्वा महानादं प्रहृष्टानां महात्मनाम् ।
नामृष्यत महेष्वासो भगदत्तः प्रतापवान् ॥ ६९ ॥

हर्षमें भरे हुए उन महामना वीरोंका महान् सिंहनाद सुनकर महाधनुर्धर एवं प्रतापी राजा भगदत्त न सह सके ॥ ६९ ॥

स विस्फार्य महच्चापमिन्द्राशनिसमप्रभम् ।
तर्जयामास वेगेन पाण्डवानां महारथान् ॥ ७० ॥

उन्होंने इन्द्रके वज्रकी भाँति प्रकाशित होनेवाले अपने विशाल धनुषको खींचकर पाण्डव महारथियोंको वेगपूर्वक डाँट बतायी ॥ ७० ॥

विसृजन् विमलांस्तीक्ष्णान् नाराचाञ्ज्वलनप्रभान् ।
भीममेकेन विव्याध राक्षसं नवभिः शरैः ॥ ७१ ॥

तत्पश्चात् अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले निर्मल और तीखे नाराचोंका प्रहार करते हुए एकके द्वारा भीमसेनको घायल किया और नौ बाणोंसे राक्षस घटोत्कचको बींध डाला ॥ ७१ ॥

अभिमन्युं त्रिभिश्चैव केकयान् पञ्चभिस्तथा ।
पूर्णायतविसृष्टेन शरेणानतपर्वणा ॥ ७२ ॥
बिभेद दक्षिणं बाहुं क्षत्रदेवस्य चाहवे ।
पपात सहसा तस्य सशरं धनुरुत्तमम् ॥ ७३ ॥

फिर तीन बाणोंसे अभिमन्युको और पाँचसे केकय राजकुमारोंको घायल किया । तत्पश्चात् धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए झुकी हुई गाँठवाले बाणके द्वारा उन्होंने युद्धमें क्षत्रदेवकी दाहिनी बाँह काट डाली । उसके साथ ही सहसा उनका बाणसहित उत्तम धनुष पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ७२-७३ ॥

द्रौपदेयांस्ततः पञ्च पञ्चभिः समताडयत् ।
भीमसेनस्य च क्रोधान्निजघान तुरङ्गमान् ॥ ७४ ॥

इसके बाद भगदत्तने द्रौपदीके पाँच पुत्रोंको पाँच बाणों-से घायल कर दिया और क्रोधपूर्वक भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला ॥ ७४ ॥

ध्वजं केसरिणं चास्य चिच्छेद विशिखैस्त्रिभिः ।
निर्बिभेद त्रिभिश्चान्यैः सारथिं चास्य पत्रिभिः॥ ७५ ॥

फिर तीन बाणोंसे उनके सिंहचिह्नित ध्वजको काट दिया और अन्य तीन पंखयुक्त बाण मारकर उनके सारथिको भी विदीर्ण कर डाला ॥ ७५ ॥

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
विशोको भरतश्रेष्ठ भगदत्तेन संयुगे ॥ ७६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भगदत्तके द्वारा युद्धमें अधिक घायल होकर भीमसेनका सारथि विशोक व्यथित हो उठा और रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठ गया ॥ ७६ ॥

ततो भीमो महाबाहुर्विरथो रथिनां वरः ।
गदां प्रगृह्य वेगेन प्रचस्कन्द रथोत्तमात् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार रथहीन होनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु भीमसेन हाथमें गदा लेकर उस उत्तम रथसे वेगपूर्वक कूद पड़े ॥

मुद्यतगदं दृष्ट्वा सशृङ्गमिव पर्वतम् ।
कानां भयं घोरं समपद्यत भारत ॥ ७८ ॥

भारत ! शृङ्गयुक्त पर्वतके समान उन्हें गदा उठाये देख आपके सैनिकोंके मनमें घोर भय समा गया ॥७८॥

स्मिन्नेव काले तु पाण्डवः कृष्णसारथिः ।
जगाम महाराज निघ्नञ्शत्रून् समन्ततः ॥ ७९ ॥
तौ पुरुषव्याघ्रौ पितापुत्रौ महाबलौ ।
ज्योतिषेण संयुक्तौ भीमसेनघटोत्कचौ ॥ ८० ॥

महाराज ! इसी समय श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे नन्दन अर्जुन सब ओरसे शत्रुओंका संहार करते हुए आ पहुँचे, जहाँ वे दोनों पुरुषसिंह महाबली -पुत्र भीमसेन और घटोत्कच भगदत्तके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ ७९-८० ॥

दृष्ट्वा च पाण्डवो भ्रातॄन् युध्यमानान् महारथान्।
त्वरितो भरतश्रेष्ठ तत्रायुध्यत् किरञ्छरान् ॥ ८१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डुनन्दन अर्जुन अपने महारथी भाइयोंको युद्ध करते देख स्वयं भी बाणोंकी वर्षा करते हुए तुरंत ही युद्धमें प्रवृत्त हो गये ॥ ८१ ॥

ततो दुर्योधनो राजा त्वरमाणो महारथः ।
सेनामचोदयत् क्षिप्रं रथनागाश्वसंकुलाम् ॥ ८२ ॥

तब महारथी राजा दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई अपनी सेनाको शीघ्र ही युद्धके लिये प्रेरित किया ॥ ८२ ॥

तामापतन्तीं सहसा कौरवाणां महाचमूम् ।
अभिदुद्राव वेगेन पाण्डवः श्वेतवाहनः ॥ ८३ ॥

कौरवोंकी उस विशाल वाहिनीको आती देख श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन सहसा बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ॥ ८३ ॥

भगदत्तश्च समरे तेन नागेन भारत ।
विमृद्नन् पाण्डवबलं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥ ८४ ॥

भारत ! भगदत्तने भी समरभूमिमें उस हाथीके द्वारा पाण्डवसेनाको कुचलते हुए युधिष्ठिरपर धावा किया ॥८४॥

तदाऽऽसीत् सुमहद् युद्धं भगदत्तस्य मारिष ।
पञ्चालैः पाण्डवेयैश्च केकयैश्चोद्यतायुधैः ॥ ८५ ॥

आर्य ! उस समय हथियार उठाये हुए पाञ्चालों, पाण्डवों तथा केकयोंके साथ भगदत्तका बड़ा भारी युद्ध हुआ॥

भीमसेनोऽपि समरे तावुभौ केशवार्जुनौ ।
अश्रावयद् यथावृत्तमिरावद्वधमुत्तमम् ॥ ८६ ॥

भीमसेनने भी समरभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों-को इरावान्के वधका यथावत् वृत्तान्त अच्छी तरह सुना दिया ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भगदत्तयुद्धे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भगदत्तका युद्धविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल ८७ श्लोक हैं)

* * *

षण्णवतितमोऽध्यायः

रावान्के वधसे अर्जुनका दुःखपूर्ण उद्गार, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके नौ पुत्रोंका वध, अभिमन्यु और अम्बष्ठका युद्ध, युद्धकी भयानक स्थितिका वर्णन तथा आठवें दिनके युद्धका उपसंहार

संजय उवाच

ं विनिहतं श्रुत्वा इरावन्तं धनंजयः ।
महताऽऽविष्टो निःश्वसन् पन्नगो यथा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अपने पुत्र इरावान्के वधका वृत्तान्त सुनकर अर्जुनको बड़ा दुःख हुआ। वे सर्प-के समान लंबी साँस खींचने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीत् समरे राजन् वासुदेवमिदं वचः ।
इदं नूनं महाप्राज्ञो विदुरो दृष्टवान् पुरा

नरेश्वर ! तब उन्होंने समरभूमिमें भगवान् वासुदेवसे इस प्रकार कहा—'भगवन् ! निश्चय ही महाज्ञानी विदुरने पहले ही यह सब देख लिया था ॥ २ ॥

कुरूणां पाण्डवानां च क्षयं घोरं महामतिः ।
स ततो निवारितवान् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ३ ॥

'कौरवों और पाण्डवोंका यह भयंकर विनाश परम बुद्धिमान् विदुरकी दृष्टिमें पहले ही आ गया था । इसलिये उन्होंने राजा धृतराष्ट्रको मना किया था ॥ ३ ॥

अन्ये च बहवो वीराः संग्रामे मधुसूदन ।
निहताः कौरवैः संख्ये तथास्माभिश्च कौरवाः ॥ ४ ॥

'मधुसूदन ! और भी बहुत-से वीरोंको संग्राममें कौरवोंने मारा और हमने कौरव सैनिकोंका संहार किया ॥ ४ ॥

अर्थहेतोर्नरश्रेष्ठ क्रियते कर्म कुत्सितम् ।
धिगर्थान् यत्कृते ह्येवं क्रियते ज्ञातिसंक्षयः ॥ ५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! धनके लिये यह कुत्सित कर्म किया जा रहा है । धिक्कार है उस धनको, जिसके लिये इस प्रकार जाति-भाइयोंका विनाश किया जाता है ॥ ५ ॥

अधनस्य मृतं श्रेयो न च ज्ञातिवधाद् धनम् ।
किं नु प्राप्स्यामहे कृष्ण हत्वा ज्ञातीन् समागतान् ॥ ६ ॥

'मनुष्यका निर्धन रहकर मर जाना अच्छा है, परंतु जाति-भाइयोंके वधसे धन प्राप्त करना कदापि अच्छा नहीं है । कृष्ण ! हम यहाँ आये हुए इन जाति-भाइयोंको मारकर क्या प्राप्त कर लेंगे ॥ ६ ॥

दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च ।
क्षत्रिया निधनं यान्ति कर्णदुर्मन्त्रितेन च ॥ ७ ॥

'दुर्योधनके अपराधसे और सुबलपुत्र शकुनि तथा कर्णकी कुमन्त्रणासे ये क्षत्रिय मारे जा रहे हैं ॥ ७ ॥

इदानीं च विजानामि सुकृतं मधुसूदन ।
कृतं राज्ञा महाबाहो याचता च सुयोधनम् ॥ ८ ॥

महाबाहु मधुसूदन ! राजा युधिष्ठिरने दुर्योधनसे पहले जो याचना की थी, वही उत्तम कार्य था; यह बात अब मेरी समझमें आ रही है ॥ ८ ॥

राज्यार्धं पञ्च वा ग्रामान् नाकार्षीत् स च दुर्मतिः ।
दृष्ट्वा हि क्षत्रियाञ्शूराञ्शयानान् धरणीतले ॥ ९ ॥
निन्दामि भृशमात्मानं धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ।

'युधिष्ठिरने आधा राज्य अथवा पाँच गाँव माँगे थे, परंतु दुर्बुद्धि दुर्योधनने उनकी माँग पूरी नहीं की । आज क्षत्रिय वीरोंको रणभूमिमें सोते देख मैं सबसे अधिक अपनी निन्दा करता हूँ । क्षत्रियोंकी इस जीविकाको धिक्कार है ।९½।

[illegible]मिति मामेते ज्ञास्यन्ते क्षत्रिया रणे ॥ १० ॥
[illegible] न रुचितं ज्ञातिभिर्मधुसूदन ।

'मधुसूदन ! रणक्षेत्रमें मेरे मुखसे ऐसी बात सुनकर वे क्षत्रिय मुझे असमर्थ समझेंगे, परंतु इन जाति-भाइयोंके साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ १०½ ॥

संचोदय हयाञ्शीघ्रं धार्तराष्ट्रचमूं प्रति ॥ ११ ॥
प्रतरिष्ये महापारं भुजाभ्यां समरोदधिम् ।

(तथापि मैं आपके आदेशानुसार युद्ध करूँगा; अतः) 'आप शीघ्र ही अपने घोड़ोंको दुर्योधनकी सेनाकी ओर हाँकिये, जिससे इन दोनों भुजाओंद्वारा अपार सैन्यसागरसे पार करूँ ॥ ११½ ॥

नायं यापयितुं कालो विद्यते माधव कचित् ॥ १२ ॥
एवमुक्तस्तु पार्थेन केशवः परवीरहा ।
चोदयामास तानश्वान् पाण्डुरान् वातरंहसः ॥ १३ ॥

'माधव ! यह समयको व्यर्थ बितानेका अवसर नहीं है।' अर्जुनके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका विनाश करनेवाले केशवने वायुके समान वेगशाली उन श्वेत घोड़ोंको आगे बढ़ाया ॥ १२-१३ ॥

अथ शब्दो महानासीत् तव सैन्यस्य भारत ।
मारुतोद्धतवेगस्य सागरस्येव पर्वणि ॥ १४ ॥

भारत ! तदनन्तर जैसे पूर्णिमाको वायुकी प्रेरणासे समुद्रका वेग बढ़ जानेसे उसकी भीषण गर्जना सुनायी पड़ती है, उसी प्रकार आपकी सेनाका महान् कोलाहल प्रकट हुआ ॥ १४ ॥

अपराह्णे महाराज संग्रामः समपद्यत ।
पर्जन्यसमनिर्घोषो भीष्मस्य सह पाण्डवैः ॥ १५ ॥

महाराज ! अपराह्णकालमें पाण्डवोंके साथ भीष्मका भीषण संग्राम आरम्भ हुआ, जिसमें मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर घोष हो रहा था ॥ १५ ॥

ततो राजंस्तव सुता भीमसेनमुपाद्रवन् ।
परिवार्य रणे द्रोणं वसवो वासवं यथा ॥ १६ ॥

राजन् ! तब आपके पुत्र, जैसे वसुगण इन्द्रके सब ओर खड़े होते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यको चारों ओरसे घेरकर रणभूमिमें भीमसेनपर टूट पड़े ॥ १६ ॥

ततः शान्तनवो भीष्मः कृपश्च रथिनां वरः ।
भगदत्तः सुशर्मा च धनंजयमुपाद्रवन् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् शान्तनुनन्दन भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य, भगदत्त और सुशर्माने अर्जुनपर धावा किया ॥ १७ ॥

हार्दिक्यो बाह्लिकश्चैव सात्यकिं समभिद्रुतौ ।
अम्बष्ठकस्तु नृपतिरभिमन्युमवस्थितः ॥ १८ ॥

कृतवर्मा और बाह्लीक सात्यकिपर टूट पड़े । अम्बष्ठने अभिमन्युका सामना किया ॥ १८ ॥

शेषास्त्वन्ये महाराज शेषानेव महारथान् ।
ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ॥ १९ ॥

महाराज ! शेष अन्य महारथियोंने शत्रुपक्षके

महारथियोंपर आक्रमण किया। फिर तो उनमें घोर एवं भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ ॥ १९ ॥

भीमसेनस्तु सम्प्रेक्ष्य पुत्रांस्तव जनेश्वर।
प्रजज्वाल रणे क्रुद्धो हविषा हव्यवाडिव ॥ २० ॥

जनेश्वर! जैसे घीकी आहुति देनेसे अग्निदेव प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें आपके पुत्रोंको देखकर भीमसेन क्रोधसे जल उठे ॥ २० ॥

पुत्रास्तु तव कौन्तेयं छादयाञ्चक्रिरे शरैः।
वृषीव महाराज जलदा इव पर्वतम् ॥ २१ ॥

परंतु महाराज! आपके पुत्रोंने कुन्तीनन्दन भीमको अपने णोंसे उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे वर्षाऋतुमें दल पर्वतको जलकी धाराओंसे ढक लेते हैं ॥ २१ ॥

च्छाद्यमानो बहुधा पुत्रैस्तव विशाम्पते।
क्किणी संलिहन् वीरः शार्दूल इव दर्पितः ॥ २२ ॥
ढोरस्कं ततो भीमः पातयामास भारत।
प्रेण सुतीक्ष्णेन सोऽभवद् गतजीवितः ॥ २३ ॥

प्रजानाथ! भरतनन्दन! आपके पुत्रोंद्वारा बारंबार णोंकी वर्षासे आच्छादित किये जानेपर क्रोधपूर्वक अपने मुँह-नोंको चाटते हुए सिंहके समान शौर्यका अभिमान रखने-वीर भीमसेनने एक अत्यन्त तीखे क्षुरप्रके द्वारा आपके व्यूढोरस्कको मार गिराया। उसकी जीवन-लीला समाप्त यी ॥ २२-२३ ॥

रेण तु भल्लेन पीतेन निशितेन तु।
तयत् कुण्डलिनं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् जैसे सिंह छोटे-से मृगको दबोच लेता है, उसी भीमने दूसरे पानीदार एवं तीखे भल्लसे आपके पुत्र लीको धराशायी कर दिया ॥ २४ ॥

सुनिशितान् पीतान् समादत्त शिलीमुखान्।
त्वरया युक्तः पुत्रांस्ते प्राप्य मारिष ॥ २५ ॥

आर्य! इसके बाद भीमने बड़ी उतावलीके साथ बहुत-से और पानीदार बाण हाथमें लिये और आपके पुत्रों-क्ष्य करके छोड़ दिये ॥ २५ ॥

ना भीमसेनेन शरास्ते दृढधन्वना।
यन्त पुत्रांस्ते रथेभ्यः सुमहारथान् ॥ २६ ॥

सुदृढ़ धनुर्धर भीमसेनके द्वारा चलाये हुए उन बाणोंने के बहुत-से महारथी पुत्रोंको मारकर रथोंसे नीचे दिया ॥ २६ ॥

धृष्टिं कुण्डभेदिं वैराटं दीर्घलोचनम्।
बाहुं सुबाहुं च तथैव कनकध्वजम् ॥ २७ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अनाधृष्टि, कुण्डभेदि, वैराट, दीर्घलोचन, दीर्घबाहु, सुबाहु तथा कनकध्वज ॥ २७ ॥

प्रपतन्त स्म वीरास्ते विरेजुर्भरतर्षभ।
वसन्ते पुष्पशबलाश्चूताः प्रपतिता इव ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! वे सभी वीर वहाँ गिरकर वसन्त ऋतुमें धराशायी हुए पुष्पयुक्त आम्रवृक्षोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ २८ ॥

ततः प्रदुद्रुवुः शेषास्तव पुत्रा महाहवे।
तं कालमिव मन्यन्तो भीमसेनं महाबलम् ॥ २९ ॥

तब उस महायुद्धमें आपके शेष पुत्र महाबली भीमसेनको कालके समान समझकर वहाँसे भाग चले ॥ २९ ॥

द्रोणस्तु समरे वीरं निर्दहन्तं सुतांस्तव।
यथाद्रिं वारिधाराभिः समन्ताद् व्यकिरच्छरैः ॥ ३० ॥

तदनन्तर युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंको दग्ध करते हुए वीर भीमसेनपर द्रोणाचार्यने सब ओरसे उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा आरम्भ की, जैसे बादल पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराते हैं ॥ ३० ॥

तत्राद्भुतमपश्याम कुन्तीपुत्रस्य पौरुषम्।
द्रोणेन वार्यमाणोऽपि निजघ्ने यत् सुतांस्तव ॥ ३१ ॥

महाराज! उस समय हमने कुन्तीपुत्र भीमका अद्भुत पराक्रम देखा। यद्यपि द्रोणाचार्य बाणोंकी वर्षा करके उन्हें रोक रहे थे, तो भी उन्होंने आपके पुत्रोंको मार डाला ॥ ३१ ॥

यथा गोवृषभो वर्षं संधारयति खात् पतत्।
भीमस्तथा द्रोणमुक्तं शरवर्षमदीधरत् ॥ ३२ ॥

जैसे साँड़ आकाशसे गिरती हुई जल-वर्षाको अपने शरीरपर शान्त भावसे धारण और सहन करता है, उसी प्रकार भीमसेन द्रोणाचार्यकी छोड़ी हुई बाण-वर्षाको धारण कर रहे थे ॥ ३२ ॥

अद्भुतं च महाराज तत्र चक्रे वृकोदरः।
यत् पुत्रांस्तेऽवधीत् संख्ये द्रोणं चैव न्यवारयत् ॥ ३३ ॥

महाराज! भीमसेनने उस युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंका वध तो किया ही, द्रोणाचार्यको भी आगे बढ़नेसे रोक रक्खा था। यह उन्होंने अद्भुत पराक्रम किया ॥ ३३ ॥

पुत्रेषु तव वीरेषु चिक्रीडार्जुनपूर्वजः।
मृगेष्विव महाराज चरन् व्याघ्रो महाबलः ॥ ३४ ॥

राजन्! जैसे महाबली व्याघ्र मृगोंके झुंडमें विचरता हो, उसी प्रकार भीमसेन आपके वीर पुत्रोंके समुदायमें खेल रहे थे ॥ ३४ ॥

यथा हि पशुमध्यस्थो द्रावयेत पशून् वृकः।
वृकोदरस्तव सुतांस्तथा व्यद्रावयद् रणे ॥ ३

जैसे भेड़िया पशुओंके बीचमें रहकर भी उ

कर डालता है, उसी प्रकार भीमसेन रणभूमिमें आपके पुत्रोंको भगा रहे थे ॥ ३५ ॥

गाङ्गेयो भगदत्तश्च गौतमश्च महारथाः ।
पाण्डवं रभसं युद्धे वारयामासुरर्जुनम् ॥ ३६ ॥

दूसरी ओर गङ्गानन्दन भीष्म, भगदत्त और कृपाचार्य—ये तीनों महारथी युद्धमें वेगसे आगे बढ़नेवाले पाण्डुकुमार अर्जुनका निवारण कर रहे थे ॥ ३६ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां सोऽतिरथो रणे ।
प्रवीरांस्तव सैन्येषु प्रेषयामास मृत्यवे ॥ ३७ ॥

परंतु अतिरथी वीर अर्जुनने रणभूमिमें उनके अस्त्रोंका अस्त्रोंद्वारा निवारण करके आपकी सेनाके प्रमुख वीरोंको यमराजके पास भेज दिया ॥ ३७ ॥

अभिमन्युस्तु राजानमम्बष्ठं लोकविश्रुतम् ।
विरथं रथिनां श्रेष्ठं वारयामास सायकैः ॥ ३८ ॥

अभिमन्युने रथियोंमें श्रेष्ठ लोकविख्यात राजा अम्बष्ठको सायकोंद्वारा रथहीन करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ३८ ॥

विरथो वध्यमानस्तु सौभद्रेण यशस्विना ।
अवप्लुत्य रथात् तूर्णमम्बष्ठो वसुधाधिपः ॥ ३९ ॥
असिं चिक्षेप समरे सौभद्रस्य महात्मनः ।
आरुरोह रथं चैव हार्दिक्यस्य महाबलः ॥ ४० ॥

यशस्वी सुभद्राकुमार अभिमन्युसे पीड़ित एवं रथहीन होकर राजा अम्बष्ठ अपने रथसे कूद पड़े और महामना सुभद्राकुमारपर उन्होंने रणक्षेत्रमें तलवार चलायी । फिर वे महाबली नरेश कृतवर्माके रथपर जा बैठे ॥ ३९-४० ॥

आपतन्तं तु निस्त्रिंशं युद्धमार्गविशारदः ।
लाघवाद् व्यंसयामास सौभद्रः परवीरहा ॥ ४१ ॥

युद्धके पैतरोंको जाननेमें कुशल तथा शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने अपनी ओर आती हुई अम्बष्ठकी तलवारको अपनी फुर्तीके कारण निष्फल कर दिया ॥ ४१ ॥

व्यंसितं वीक्ष्य निस्त्रिंशं सौभद्रेण रणे तदा ।
साधु साध्विति सैन्यानां प्रणादोऽभूद् विशाम्पते ॥ ४२ ॥

प्रजानाथ ! उस समय रणक्षेत्रमें अम्बष्ठकी चलायी हुई तलवारको सुभद्राकुमारद्वारा निष्फल की गयी देख समस्त सैनिकोंके मुखसे निकली हुई 'साधु-साधु' (वाह-वाह) की ध्वनि गूँज उठी ॥ ४२ ॥

धृष्टद्युम्नमुखास्त्वन्ये तव सैन्यमयोधयन् ।
तथैव तावकाः सर्वे पाण्डुसैन्यमयोधयन् ॥ ४३ ॥

धृष्टद्युम्न आदि अन्य महारथी आपकी सेनाके साथ तथा आपके प्रमुख सैनिक पाण्डव-सेनाके साथ युद्ध करने लगे ॥

[illegible]न्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
[illegible]नां च राजेन्द्र सैनिकानां सुदारुणः ।)
निघ्नतां दृढमन्योन्यं कुर्वतां कर्म दुष्करम् ॥ ४४ ॥

भारत ! राजेन्द्र ! एक दूसरेपर सुदृढ़ प्रहार कै दुष्कर पराक्रम करनेवाले आपके और पाण्डवोंके सैनि अत्यन्त भयंकर महान् संग्राम होने लगा ॥ ४४ ॥

अन्योन्यं हि रणे शूराः केशेष्वाक्षिप्य मानिनः ।
नखदन्तैरयुध्यन्त मुष्टिभिर्जानुभिस्तथा ॥ ४५ ॥

कितने ही मानी शूरवीर उस रणक्षेत्रमें एक दूसरे केश पकड़कर नखों, दाँतों, मुक्कों और घुटनोंसे प्रहार करते हुए लड़ रहे थे ॥ ४५ ॥

तलैश्चैवाथ निस्त्रिंशैर्बाहुभिश्च सुसंस्थितैः ।
विवरं प्राप्य चान्योन्यमनयन् यमसादनम् ॥ ४६ ॥

अवसर पाकर वे थप्पड़ों, तलवारों तथा सुदृढ़ भुजाओं द्वारा भी एक दूसरेको यमलोक पहुँचा देते थे ॥ ४६ ॥

न्यहनच्च पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
व्याकुलीकृतसर्वाङ्गा युयुधुस्तत्र मानवाः ॥ ४७ ॥

उस युद्धमें पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको मार डाला । सबके सभी अङ्ग व्याकुल हो गये थे, तो भी वहाँ लोग युद्ध कर रहे थे ॥ ४७ ॥

रणे चारूणि चापानि हेमपृष्ठानि मारिष ।
हतानामपविद्धानि कलापाश्च महाधनाः ॥ ४८ ॥

आर्य ! उस रणक्षेत्रमें मारे गये नरेशोंके सुवर्णमय पृष्ठ विभूषित सुन्दर धनुष तथा बहुमूल्य तरकस जहाँ त पड़े हुए थे ॥ ४८ ॥

जातरूपमयैः पुङ्खै राजतैर्निशिताः शराः ।
तैलधौता व्यराजन्त निर्मुक्तभुजगोपमाः ॥ ४९ ॥

सोने अथवा चाँदीके पंखोंसे युक्त तथा तेलके धोये हु तीखे बाण केचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान सुशोभि होते थे ॥ ४९ ॥

हस्तिदन्तत्सरून् खड्गाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
चर्माणि चापविद्धानि रुक्मचित्राणि धन्विनाम् ॥ ५० ॥

हमने देखा कि रणभूमिमें धनुर्धर वीरोंकी तलवारें ढालें फेंकी पड़ी हैं । तलवारोंमें हाथीके दाँतकी मूँठ थीं और उनमें यथास्थान सुवर्ण जड़ा हुआ था । प्रकार ढालोंमें सुवर्णमय विचित्र तारक चिह्न दि देते थे ॥ ५० ॥

सुवर्णविकृतप्रासान् पट्टिशान् हेमभूषितान् ।
जातरूपमयाश्चर्ष्टीः शक्तीश्च कनकोज्ज्वलाः ॥ ५१

सुवर्णभूषित प्रास, स्वर्णजटित पट्टिश, सोनेकी हुई ऋष्टियाँ तथा स्वर्णभूषित चमकीली शक्तियाँ पड़ी हुई थीं ॥ ५१ ॥

सुसंनाहाश्च पतिता मुसलानि गुरूणि च ।
परिघान् पट्टिशांश्चैव भिन्दिपालांश्च मारिष ॥ ५२ ॥

आर्य ! वहाँ सुन्दर कवच पड़े थे । भारी मुसल, परिघ, पट्टिश और भिन्दिपाल भी इधर-उधर बिखरे दिखायी देते थे ॥

पतितान् विविधांश्चापांश्चित्रान् हेमपरिष्कृतान् ।
कुथा बहुविधाकाराश्चामरान् व्यजनानि च ॥ ५३ ॥

नाना प्रकारके विचित्र एवं स्वर्णभूषित धनुष गिरे हुए थे । हाथीकी पीठपर बिछाये जानेवाले भाँति-भाँतिके कम्बल तथा चँवर और व्यजन भी यत्र-तत्र गिरे दिखायी देते थे ॥

नानाविधानि शस्त्राणि प्रगृह्य पतिता नराः ।
जीवन्त इव दृश्यन्ते गतसत्त्वा महारथाः ॥ ५४ ॥

भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंको हाथोंमें लेकर पृथ्वीपर पड़े हुए प्राणहीन महारथी सैनिक जीवित-से दिखायी देते थे ॥

गदाविमथितैर्गात्रैर्मुसलैर्भिन्नमस्तकाः ।
गजवाजिरथक्षुण्णाः शेरते स्म नराः क्षितौ ॥ ५५ ॥

किन्हींके शरीर गदाकी चोटसे चूर-चूर हो गये थे, किन्हींके मस्तक मुसलोंकी मारसे फट गये थे तथा कितने ही मनुष्य घोड़े, हाथी एवं रथोंसे कुचल गये थे । ये सभी वहाँ पृथ्वीपर प्राणहीन होकर सो गये थे ॥ ५५ ॥

तथैवाश्वनृनागानां शरीरैर्विबभौ तदा ।
संछन्ना वसुधा राजन् पर्वतैरिव सर्वशः ॥ ५६ ॥

राजन् ! इसी प्रकार घोड़े, हाथी और मनुष्योंके मृत शरीरोंसे सारी वसुधा आच्छादित हो उस समय पर्वतोंसे ढकी हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ५६ ॥

समरे पतितैश्चैव शक्त्यृष्टिशरतोमरैः ।
निस्त्रिंशैः पट्टिशैः प्रासैरयस्कुन्तैः परश्वधैः ॥ ५७ ॥
परिघैर्भिन्दिपालैश्च शतघ्नीभिश्च मारिष ।
शरीरैः शस्त्रनिर्भिन्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ॥ ५८ ॥

आर्य ! समरभूमिमें गिरे हुए बाण, तोमर, शक्ति, ऋष्टि, खड्ग, पट्टिश, प्रास, लोहेके भाले, फरसे, परिघ, भिन्दिपाल तथा शतघ्नी (तोप)—इन अस्त्र-शस्त्रों तथा इनके द्वारा विदीर्ण हुए मृत शरीरोंसे सारी पृथ्वी पट गयी थी ॥ ५७-५८ ॥

अशब्दैरल्पशब्दैश्च शोणितौघपरिप्लुतैः ।
गतासुभिरमित्रघ्न विबभौ निचिता मही ॥ ५९ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज ! वहाँ पृथ्वीपर कुछ ऐसे लोग गिरे थे, जिनके मुखसे शब्द नहीं निकल पाता था । कुछ ऐसे थे, जो बहुत थोड़ा बोल पाते थे । प्रायः सभी लोग खूनसे लथपथ हो रहे थे और बहुत-से ऐसे शरीर पड़े थे, जो सर्वथा प्राणहीन हो चुके थे । इन सबके द्वारा वहाँकी भूमि मानो चुन दी गयी थी ॥ ५९ ॥

सतलत्रैः सकेयूरैर्बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ।
हस्तिहस्तोपमैश्छिन्नैरूरुभिश्च तरस्विनाम् ॥ ६० ॥
बद्धचूडामणिवरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
पातितैर्ऋषभाक्षाणां बभौ भारत मेदिनी ॥ ६१ ॥

भारत ! रणभूमिमें गिरे हुए बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले वेगशाली वीरोंकी दस्तानों और केयूरोंसे युक्त चन्दनचर्चित भुजाओंसे, हाथीकी सूँडके समान प्रतीत होनेवाली छिन्न-भिन्न हुई जाँघोंसे तथा उत्तम चूडामणि (मुकुट) से आबद्ध कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे वहाँकी भूमि अद्भुत शोभा पा रही थी ॥ ६०-६१ ॥

कवचैः शोणितादिग्धैर्विप्रकीर्णैश्च काञ्चनैः ।
रराज सुभृशं भूमिः शान्तार्चिभिरिवानलैः ॥ ६२ ॥

रक्तमें सनकर इधर-उधर बिखरे हुए सुवर्णमय कवचोंसे वह युद्धभूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी, मानो वहाँ जिसकी लपटें शान्त हो गयी हैं, ऐसी आग जगह-जगह पड़ी हो ॥

विप्रविद्धैः कलापैश्च पतितैश्च शरासनैः ।
विप्रकीर्णैः शरैश्चैव रुक्मपुङ्खैः समन्ततः ॥ ६३ ॥

चारों ओर तरकस फेंके पड़े थे, धनुष गिरे थे और सोनेके पंखवाले बाण बिखरे हुए थे ॥ ६३ ॥

रथैश्च सर्वतो भग्नैः किङ्किणीजालभूषितैः ।
वाजिभिश्च हतैर्बाणैः स्रस्तजिह्वैः सशोणितैः ॥ ६४ ॥

सब ओर क्षुद्रघण्टिकाओंके जालसे विभूषित टूटे-फूटे रथ पड़े थे । बाणोंसे मारे गये घोड़े खूनसे लथपथ हो जीभ निकाले ढेर हो रहे थे ॥ ६४ ॥

अनुकर्षैः पताकाभिरुपासङ्गैर्ध्वजैरपि ।
प्रवीराणां महाशङ्खैर्विप्रकीर्णैश्च पाण्डुरैः ॥ ६५ ॥

अनुकर्ष, पताका, उपासङ्ग, ध्वज तथा बड़े-बड़े वीरोंके श्वेत महाशङ्ख बिखरे पड़े थे ॥ ६५ ॥

स्रस्तहस्तैश्च मातङ्गैः शयानैर्विबभौ मही ।
नानारूपैरलंकारैः प्रमदेवाभ्यलंकृता ॥ ६६ ॥

जिनकी सूँड़ें कट गयी थीं, ऐसे मतवाले हाथी धराशायी हो रहे थे । उन सबके द्वारा वह रणभूमि भाँति-भाँतिके अलंकारोंसे अलंकृत युवतीके समान सुशोभित हो रही थी ॥

दन्तिभिश्चापरैस्तत्र सप्रासैर्गाढवेदनैः ।
करैः शब्दं विमुञ्चद्भिः शीकरं च मुहुर्मुहुः ॥ ६७ ॥

कुछ दन्तार हाथी प्रास धँस जानेके कारण गहरी व्यथासे युक्त सूँड़ोंद्वारा बारंबार शब्द करते और पानीके कण फेंकते थे ॥

विबभौ तद् रणस्थानं स्यन्दमानैरिवाचलैः ।
नानारागैः कम्बलैश्च परिस्तोमैश्च दन्तिनाम् ॥ ६
वैदूर्यमणिदण्डैश्च पतितैरङ्कुशैः शुभैः ।

उनके कारण वह युद्धस्थल जलके सो

पर्वतोंसे युक्त-सा प्रतीत होता था। वहाँ नाना प्रकारके रंगवाले कम्बल, हाथियोंके झूल तथा वैदूर्यमणिके दण्डवाले सुन्दर अङ्कुश गिरे हुए थे॥ ६८½ ॥

घण्टाभिश्च गजेन्द्राणां पतिताभिः समन्ततः॥ ६९॥
विपाटितविचित्राभिः कुथाभिरङ्कुशैस्तथा।
ग्रैवेयैश्चित्ररूपैश्च रुक्मकक्ष्याभिरेव च॥ ७०॥

चारों ओर गजराजोंके घंटे पड़े हुए थे। हाथियोंकी पीठपर बिछाये जानेवाले फटे हुए विचित्र कम्बल और अङ्कुश सब ओर गिरे हुए थे। गलेके विचित्र आभूषण और सुनहरे रस्से भी जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े थे॥ ६९-७०॥

यन्त्रैश्च बहुधाच्छिन्नैस्तोमरैश्चापि काञ्चनैः।
अश्वानां रेणुकपिलै रुक्मच्छन्नैरुरश्छदैः॥ ७१॥
सादिनां भुजगैश्छिन्नैः पतितैः साङ्गदैस्तथा।
प्रासैश्च विमलैस्तीक्ष्णैर्विमलाभिस्तथर्ष्टिभिः॥ ७२॥

अनेक टुकड़ोंमें कटे हुए यन्त्र, सुवर्णमय तोमर, धूलसे कपिल वर्णके दिखायी देनेवाले अश्वोंकी छातीको ढकनेवाले सुनहरे कवच, बाजूबंदसहित घुड़सवारोंके हाथोंमें धारण किये हुए तीखे और चमकीले प्रास तथा चमचमाती हुई ऋष्टियाँ छिन्न-भिन्न होकर यत्र-तत्र पड़ी थीं॥ ७१-७२॥

उष्णीषैश्च तथा चित्रैर्विप्रविद्धैस्ततस्ततः।
विचित्रैर्बाणवर्षैश्च जातरूपपरिष्कृतैः॥ ७३॥
अश्वास्तरपरिस्तोमै राङ्कवैर्मृदितैस्तथा।
नरेन्द्रचूडामणिभिर्विचित्रैश्च महाधनैः॥ ७४॥

जहाँ-तहाँ गिरे हुए विचित्र उष्णीष (पगड़ी आदि), पानीकी तरह बरसाये गये सुवर्णभूषित नाना प्रकारके बाण, घोड़ोंकी जीन, झूल और उनकी पीठपर बिछाने योग्य रंकु-नामक मृगोंके कोमल चर्ममय आसन, जो पैरोंसे कुचलकर धूलमें सन गये थे तथा नरेशोंके मुकुटमें आबद्ध बहुमूल्य एवं विचित्र मणिरत्न सब ओर बिखरे पड़े थे॥ ७३-७४॥

छत्रैस्तथापविद्धैश्च चामरैर्व्यजनैरपि।
पद्मेन्दुद्युतिभिश्चैव वदनैश्चारुकुण्डलैः॥ ७५॥
क्लृप्तश्मश्रुभिरत्यर्थं वीराणां समलंकृतैः।
अपविद्धैर्महाराज सुवर्णोज्ज्वलकुण्डलैः॥ ७६॥
ग्रहनक्षत्रशबला द्यौरिवासीद् वसुन्धरा।

इधर-उधर गिरे हुए राजाओंके छत्र, चँवर, व्यजन, वीर योद्धाओंके मनोहर कुण्डलोंसे विभूषित, कमल एवं चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा मूँछोंसे युक्त और अत्यन्त अलंकृत कटे हुए मस्तक, जिनमें सोनेके सुन्दर कुण्डल जगमगा रहे थे, फेंके हुए-से पड़े थे। महाराज! इन सब वस्तुओंसे आच्छादित हुई वहाँकी भूमि ग्रहों और नक्षत्रोंसे भरे हुए आकाशके समान विचित्र शोभा धारण कर रही थी॥ ७५-७६½॥

एवमेते महासेने मृदिते तत्र भारत॥ ७७॥
परस्परं समासाद्य तव तेषां च संयुगे।

भारत! इस प्रकार आपकी और पाण्डवोंकी वे दोनों विशाल सेनाएँ एक दूसरीसे भिड़कर युद्धस्थलमें रौंदी जा रही थीं॥ ७७½॥

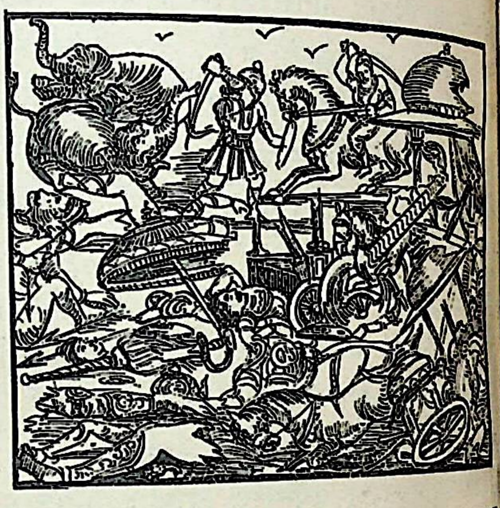

तेषु श्रान्तेषु भग्नेषु मृदितेषु च भारत॥ ७८॥
रात्रिः समभवत् तत्र नापश्याम ततोऽनुगान्।
ततोऽवहारं सैन्यानां प्रचक्रुः कुरुपाण्डवाः॥ ७९॥

भरतनन्दन! उस समय जब अधिकांश सैनिक परिश्रमसे चूर-चूर हो रहे थे, कितने ही भाग गये थे और बहुतेरे योद्धा रौंद डाले गये थे, रात हो गयी थी एवं हमें अपने सेवक नहीं दिखायी दे रहे थे, तब कौरवों और पाण्डवोंने अपनी-अपनी सेनाको युद्धभूमिसे लौटनेका आदेश दे दिया॥ ७८-७९॥

रजनीमुखे सुरौद्रे तु वर्तमाने महाभये।
अवहारं ततः कृत्वा सहिताः कुरुपाण्डवाः॥ ८०॥
न्यविशन्त यथाकालं गत्वा स्वशिबिरं तदा।

फिर उस महाभयानक तथा अत्यन्त रौद्र रूपवाले प्रदोषकालमें कौरव तथा पाण्डव एक साथ अपनी सेनाओंको लौटाकर यथासमय शिविरमें जा पहुँचे और विश्राम करने लगे॥ ८०॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धावहारे षण्णवतितमोऽध्यायः॥ ९६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धमें सेनाके शिविरमें लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला छानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८०½ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका अपने मन्त्रियोंसे सलाह करके भीष्मससे पाण्डवोंको मारने अथवा कर्णको युद्धके लिये आज्ञा देनेका अनुरोध करना

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
दुःशासनश्च पुत्रस्ते सूतपुत्रश्च दुर्जयः ॥ १ ॥
समागम्य महाराज मन्त्रं चक्रुर्विवक्षितम् ।
कथं पाण्डुसुताः संख्ये जेतव्याः सगणा इति ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, आपका पुत्र दुःशासन, दुर्जयवीर सूतपुत्र कर्ण—ये सभी मिलकर अभीष्ट कार्यके विषयमें गुप्त परामर्श करने लगे। उनकी मन्त्रणाका मुख्य विषय यह था कि पाण्डवोंको दल-बलसहित युद्धमें कैसे जीता जा सकता है ? ॥ १-२ ॥

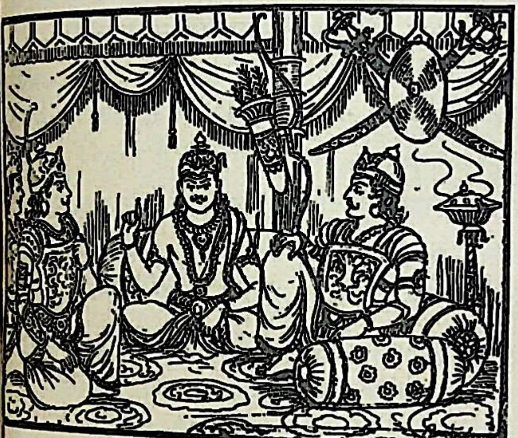

तो दुर्योधनो राजा सर्वांस्तानाह मन्त्रिणः ।
तपुत्रं समाभाष्य सौबलं च महाबलम् ॥ ३ ॥

उस समय राजा दुर्योधनने सूतपुत्र कर्ण तथा महाबली कुनिको सम्बोधित करके उन सब मन्त्रियोंसे कहा—॥ ३ ॥

णो भीष्मः कृपः शल्यः सौमदत्तिश्च संयुगे ।
पार्थान् प्रतिबाधन्ते न जाने तच्च कारणम् ॥ ४ ॥

'मित्रो ! द्रोणाचार्य, भीष्म, कृपाचार्य, शल्य तथा श्रवा—ये लोग युद्धमें कुन्तीके पुत्रोंको कभी कोई बाधा हीं पहुँचाते हैं। इसका क्या कारण है, यह मैं नहीं जानता ॥

ध्यमानास्ते चापि क्षपयन्ति बलं मम ।
ोऽसि क्षीणबलः कर्ण क्षीणशस्त्रश्च संयुगे ॥ ५ ॥

'वे पाण्डव स्वयं अवध्य रहकर मेरी सेनाका संहार कर रहे हैं। कर्ण ! इस प्रकार मेरी सेना तथा अस्त्र-शस्त्रोंका द्धमें क्षय होता चला जा रहा है ॥ ५ ॥

(त्वयि युद्धविमुखे चापि जितश्चास्मि हि पाण्डवैः।
णस्य प्रमुखे वीरा हतास्ते भ्रातरो मम ॥
भीमसेनेन राधेय मम चैवानुपश्यतः ।)

'राधानन्दन ! तुम युद्धसे मुँह मोड़कर बैठ रहे हो, इसलिये पाण्डवोंने मुझे परास्त कर दिया। द्रोणाचार्यके सामने ही मेरे देखते-देखते भीमसेनने मेरे वीर भाइयोंको मार डाला ॥

निकृतः पाण्डवैः शूरैरवध्यैर्दैवतैरपि ।
सोऽहं संशयमापन्नः प्रहरिष्ये कथं रणे ॥ ६ ॥

'पाण्डव शूरवीर और देवताओंके लिये भी अवध्य हैं। उनके द्वारा पराजित होकर मैं जीवनके संशयमें पड़ गया हूँ। ऐसी दशामें रणक्षेत्रमें मैं कैसे युद्ध करूँगा ?' ॥ ६ ॥

(एवमुक्तस्तु राधेयो दुर्योधनमरिंदमम् ।)
तमब्रवीन्महाराजं सूतपुत्रो नराधिपम् ।

यह सुनकर सूतपुत्र कर्णने शत्रुदमन नरनाथ महाराज दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ॥ ६½ ॥

कर्ण उवाच

मा शोच भरतश्रेष्ठ करिष्येऽहं प्रियं तव ॥ ७ ॥
भीष्मः शान्तनवस्तूर्णमपयातु महारणात् ।

कर्ण बोला—भरतश्रेष्ठ ! शोक न करो। मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा, परंतु शान्तनुनन्दन भीष्म शीघ्र ही महायुद्धसे हट जायँ ॥ ७½ ॥

निवृत्ते युधि गाङ्गेये न्यस्तशस्त्रे च भारत ॥ ८ ॥
अहं पार्थान् हनिष्यामि सहितान् सर्वसोमकैः ।
पश्यतो युधि भीष्मस्य शपे सत्येन ते नृप ॥ ९ ॥

भरतवंशी नरेश ! जब युद्धमें गङ्गानन्दन भीष्म हथियार डाल देंगे और उससे सर्वथा निवृत्त हो जायँगे, उस समय मैं युद्धमें भीष्मके देखते-देखते सोमकोंसहित समस्त कुन्तीपुत्रोंको एक साथ मार डालूँगा, यह मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥

पाण्डवेषु दयां नित्यं स हि भीष्मः करोति वै ।
अशक्तश्च रणे भीष्मो जेतुमेतान् महारथान् ॥ १० ॥

भीष्म सदा ही पाण्डवोंपर दया करते हैं; अतः युद्धमें वे इन महारथियोंको जीतनेमें सर्वथा असमर्थ हैं ।१०।

अभिमानी रणे भीष्मो नित्यं चापि रणप्रियः ।
स कथं पाण्डवान् युद्धे जेष्यते तात संगतान्॥ ११ ॥

तात ! भीष्म युद्धमें अभिमान रखनेवाले तथा सदा युद्धको प्रिय माननेवाले हैं; तथापि पाण्डवोंपर दया रखनेके कारण वे उन सबको संग्राममें कैसे जीत सकेंगे ? ॥ ११ ॥

स त्वं शीघ्रमितो गत्वा भीष्मस्य शिबिरं प्रति ।
अनुमान्य गुरुं वृद्धं शस्त्रं न्यासय भारत ॥ १२ ॥

भारत ! अतः तुम शीघ्र ही यहाँसे भीष्मजीके शि जाकर अपने उन पूजनीय वृद्ध पितामहको राजी उनसे हथियार रखवा दो ॥ १२ ॥

न्यस्तशस्त्रे ततो भीष्मे निहतान् पश्य पाण्डवान्।
मयैकेन रणे राजन् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥ १३ ॥

राजन्! भीष्मके हथियार डाल देनेपर पाण्डवोंको केवल मेरे द्वारा युद्धमें सुहृदों और बान्धवोंसहित मारा गया समझो ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन पुत्रो दुर्योधनस्तव।
अब्रवीद् भ्रातरं तत्र दुःशासनमिदं वचः ॥ १४ ॥
अनुयात्रं यथा सर्वं सज्जीभवति सर्वशः।
दुःशासन तथा क्षिप्रं सर्वमेवोपपादय ॥ १५ ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र दुर्योधनने वहीं अपने भाई दुःशासनसे इस प्रकार कहा—'दुःशासन! तुम शीघ्र सब प्रकारसे ऐसी व्यवस्था करो, जिससे यात्रासम्बन्धी सब आवश्यक तैयारी सम्पन्न हो जाय' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन् कर्णमाह जनेश्वरः।
अनुमान्य रणे भीष्ममेषोऽहं द्विपदां वरम् ॥ १६ ॥
आगमिष्ये ततः क्षिप्रं त्वत्सकाशमरिंदम।
अपक्रान्ते ततो भीष्मे प्रहरिष्यसि संयुगे ॥ १७ ॥

राजन्! दुःशासनसे ऐसा कहकर जनेश्वर दुर्योधनने कर्णसे कहा, 'शत्रुदमन! मैं मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीष्मको युद्धसे हटनेके लिये राजी करके अभी तुम्हारे पास लौट आता हूँ। फिर भीष्मके हट जानेपर तुम युद्धके मैदानमें शत्रुओंपर प्रहार करना' ॥ १६-१७ ॥

निष्पपात ततस्तूर्णं पुत्रस्तव विशाम्पते।
सहितो भ्रातृभिस्तैस्तु देवैरिव शतक्रतुः ॥ १८ ॥

प्रजानाथ! तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन तुरंत ही अपने भाइयोंके साथ शिबिरसे बाहर निकला, मानो देवताओं-के साथ इन्द्र अपने भवनसे बाहर आये हों ॥ १८ ॥

ततस्तं नृपशार्दूलं शार्दूलसमविक्रमम्।
आरोहयद्धयं तूर्णं भ्राता दुःशासनस्तदा ॥ १९ ॥

उस समय भाई दुःशासनने अपने ज्येष्ठ भ्राता सिंहके समान पराक्रमी नृपश्रेष्ठ दुर्योधनको घोड़ेपर चढ़ाया ॥ १९ ॥

अङ्गदी बद्धमुकुटो हस्ताभरणवान् नृप।
धार्तराष्ट्रो महाराज विबभौ स पथि व्रजन् ॥ २० ॥

नरेश्वर! महाराज! माथेपर मुकुट, भुजाओंमें अङ्गद तथा हाथोंमें वलय आदि आभूषण धारण किये मार्गपर जाता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन बड़ी शोभा पा रहा था ॥

भण्डीपुष्पनिकाशेन तपनीयनिभेन च।
अनुलिप्तः परार्ध्येन चन्दनेन सुगन्धिना ॥ २१ ॥

उसने शिरीषपुष्प एवं सुवर्णके समान पीतवर्णका बहुमूल्य सुगन्धित चन्दन लगा रक्खा था ॥ २१ ॥

[illegible]रजोऽम्बरसंवीतः सिंहखेलगतिर्नृप।
[illegible]भे विमलार्चिष्मान् नभसीव दिवाकरः ॥ २२ ॥

[illegible]ज! उसके सारे अङ्ग निर्मल वस्त्रसे ढके हुए थे। वह [illegible] मस्तानी चालसे चलता था और अपनी निर्मल प्रभाके कारण आकाशमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यके समान शोभा पा रहा था ॥ २२ ॥

तं प्रयान्तं नरव्याघ्रं भीष्मस्य शिबिरं प्रति।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः सर्वलोकस्य धन्विनः ॥ २३ ॥
भ्रातरश्च महेष्वासास्त्रिदशा इव वासवम्।

भीष्मके शिबिरकी ओर जाते हुए पुरुषश्रेष्ठ दुर्योधनके पीछे सारे जगत्के महाधनुर्धर कौरवपक्षीय नरेश तथा विशाल धनुष धारण करनेवाले उसके भाई उसी प्रकार जा रहे थे, जैसे इन्द्रके पीछे देवता चलते हैं ॥ २३½ ॥

हयानन्ये समारुह्य गजानन्ये च भारत ॥ २४ ॥
रथानन्ये नरश्रेष्ठं परिवव्रुः समन्ततः।

भारत! कुछ लोग घोड़ोंपर और कुछ लोग हाथियोंपर चढ़े थे। दूसरे लोग रथोंपर आरूढ़ हो सब ओरसे नरश्रेष्ठ दुर्योधनको घेरे हुए थे ॥ २४½ ॥

आत्तशस्त्राश्च सुहृदो रक्षणार्थं महीपतेः ॥ २५ ॥
प्रादुर्बभूवुः सहिताः शक्रस्येवामरा दिवि।

राजा दुर्योधनकी रक्षाके लिये समस्त सुहृद् अस्त्र-शस्त्र लेकर उसी प्रकार उसके साथ हो गये थे, जैसे स्वर्गमें देवता इन्द्रकी रक्षाके लिये उनके साथ रहते हैं ॥ २५½ ॥

स पूज्यमानः कुरुभिः कौरवाणां महाबलः ॥ २६ ॥
प्रययौ सदनं राजा गाङ्गेयस्य यशस्विनः।
अन्वीयमानः सततं सोदरैः परिवारितः ॥ २७ ॥

इस प्रकार कौरवोंसे पूजित हो महाबली कौरवराज दुर्योधन यशस्वी भीष्मके शिबिरमें गया। उसके भाई उसे घेरकर निरन्तर उसीके साथ-साथ रहे ॥ २६-२७ ॥

दक्षिणं दक्षिणः काले सम्भृत्य स्वभुजं तदा।
हस्तिहस्तोपमं शैक्षं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ॥ २८ ॥
प्रगृह्णन्नञ्जलीन् नृणामुद्यतान् सर्वतो दिशः।
शुश्राव मधुरा वाचो नानादेशनिवासिनाम् ॥ २९ ॥

उदार स्वभाववाले राजा दुर्योधनने उस समय सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ, हाथीकी सूँड़के समान विशाल तथा अस्त्र-प्रहारकी शिक्षामें निपुणताको प्राप्त हुई अपनी दाहिनी भुजाको ऊपर उठाकर सम्पूर्ण दिशाओंमें उठी हुई विभिन्न देशके निवासी मनुष्योंकी प्रणामाञ्जलियोंको स्वीकार करते हुए उनकी मधुर बातें सुनीं ॥ २८-२९ ॥

संस्तूयमानः सूतैश्च मागधैश्च महायशाः।
पूजयानश्च तान् सर्वान् सर्वलोकेश्वरेश्वरः ॥ ३० ॥
(एवं स प्रययौ राजा सर्वसैन्यसमावृतः।)

सम्पूर्ण जगत्का अधीश्वर महायशस्वी राजा दुर्योधन सम्पूर्ण सेनाओंसे घिरकर सूतों और मागधोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता और सब लोगोंका समादर करता हुआ (भीष्मके शिबिरकी ओर) आगे बढ़ता गया ॥ ३० ॥

प्रदीपैः काञ्चनैस्तत्र गन्धतैलावसेचितैः।
परिवव्रुर्महाराजं प्रज्वलद्भिः समन्ततः ॥ ३१ ॥

सुगन्धित तेलसे भरे हुए सोनेके जलते दीपक लिये हुत-से सेवक महाराज दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर ल रहे थे ॥ ३१ ॥

स तैः परिवृतो राजा प्रदीपैः काञ्चनैर्ज्वलन् ।
शुभे चन्द्रमा युक्तो दीप्तैरिव महाग्रहैः ॥ ३२ ॥

उन सुवर्णमय प्रदीपोंसे घिरकर प्रकाशित होनेवाला दुर्योधन दीप्तिमान् महाग्रहोंसे संयुक्त चन्द्रमाके समान पा रहा था ॥ ३२ ॥

नोष्णीषिणस्तत्र वेत्रझर्झरपाणयः ।
सारयन्तः शनकैस्तं जनं सर्वतो दिशम् ॥ ३३ ॥

सुनहरी पगड़ी धारण करके हाथोंमें बेंत और झर्झर लिये सिपाही धीरे-धीरे सब ओरसे लोगोंकी भीड़को हटाते चल रहे थे ॥ ३३ ॥

प्य तु ततो राजा भीष्मस्य सदनं शुभम् ।
र्य हयाच्चापि भीष्मं प्राप्य जनेश्वरः ॥ ३४ ॥
वाद्य ततो भीष्मं निषण्णः परमासने ।
वे सर्वतोभद्रे स्पर्ध्यास्तरणसंवृते ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् राजा दुर्योधन भीष्मके सुन्दर निवासस्थानके पहुँचकर घोड़ेसे उतर पड़ा और भीष्मजीके पास उन्हें प्रणाम करके बहुमूल्य बिछौनोंसे युक्त सर्वतो-मक सर्वोत्तम स्वर्णमय सिंहासनपर बैठ गया ॥ ३४-३५ ॥

प्राञ्जलिर्भीष्मं बाष्पकण्ठोऽश्रुलोचनः ।
यं हि समाश्रित्य संयुगे शत्रुसूदन ॥ ३६ ॥
म रणे जेतुं सेन्द्रानपि सुरासुरान् ।
पाण्डुसुतान् वीरान् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥ ३७ ॥
र्हसि गाङ्गेय कृपां कर्तुं मयि प्रभो ।
पाण्डुसुतान् वीरान् महेन्द्र इव दानवान् ॥ ३८ ॥

इसके बाद नेत्रोंमें आँसू भरकर हाथ जोड़े हुए गद्गद वह भीष्मसे इस प्रकार बोला—'शत्रुसूदन ! हम लोग आपका आश्रय लेकर युद्धके मैदानमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंको भी जीतनेका उत्साह रखते हैं; फिर मित्रों और बान्धवोंसहित वीर पाण्डवोंको जीतना कौन बड़ी बात है । अतः प्रभो ! गङ्गानन्दन ! आपको मुझपर कृपा करनी चाहिये । जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप वीर पाण्डवोंको मार डालिये ॥ ३६–३८ ॥

अहं सर्वान् महाराज निहनिष्यामि सोमकान् ।
पञ्चालान् केकयैः सार्धं करूषांश्चेति भारत ॥ ३९ ॥
त्वद्वचः सत्यमेवास्तु जहि पार्थान् समागतान् ।
सोमकांश्च महेष्वासान् सत्यवाग् भव भारत ॥ ४० ॥

'महाराज ! भरतनन्दन ! मैं केकयोंसहित सम्पूर्ण सोमकों, पाञ्चालों और करूषोंको मार डालूँगा—आपकी यह बात सत्य हो । भारत ! आप युद्धमें सामने आये हुए कुन्तीपुत्रों और महाधनुर्धर सोमकोंका वध कीजिये और ऐसा करके अपने वचनको सत्य कीजिये ॥ ३९-४० ॥

दयया यदि वा राजन् द्वेष्यभावान्मम प्रभो ।
मन्दभाग्यतया वापि मम रक्षसि पाण्डवान् ॥ ४१ ॥
अनुजानीहि समरे कर्णमाहवशोभिनम् ।
स जेष्यति रणे पार्थान् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥ ४२ ॥

'शक्तिशाली राजन् ! यदि पाण्डवोंके प्रति दयाभाव अथवा मेरे दुर्भाग्यवश मेरे प्रति द्वेषभाव रखनेके कारण आप पाण्डवोंकी रक्षा करते हैं तो समरभूमिमें शोभा पानेवाले कर्णको युद्धके लिये आज्ञा दे दीजिये । वह सुहृदों और बान्धवोंसहित कुन्तीपुत्रोंको अवश्य जीत लेगा' ॥ ४१-४२ ॥

स एवमुक्त्वा नृपतिः पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
नोवाच वचनं किञ्चिद् भीष्मं सत्यपराक्रमम् ॥ ४३ ॥

सत्यपराक्रमी भीष्मसे ऐसा कहकर आपका पुत्र राजा दुर्योधन और कुछ नहीं बोला ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मं प्रति दुर्योधनवाक्ये सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

कार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मके प्रति दुर्योधनका वचनविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

◆

अष्टनवतितमोऽध्यायः

भीष्मका दुर्योधनको अर्जुनका पराक्रम बताना और भयंकर युद्धके लिये प्रतिज्ञा करना तथा प्रातःकाल दुर्योधनके द्वारा भीष्मकी रक्षाकी व्यवस्था

संजय उवाच

शल्यैस्तव पुत्रेण सोऽतिविद्धो महामनाः ।
न महताऽऽविष्टो नोवाचाप्रियमण्वपि ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपके पुत्रद्वारा णोंसे अत्यन्त विद्ध होकर महामना भीष्मको महान् हुआ; तथापि उन्होंने उससे कोई किञ्चिन्मात्र भी य वचन नहीं कहा ॥ १ ॥

स ध्यात्वा सुचिरं कालं दुःखरोषसमन्वितः ।
श्वसमानो यथा नागः प्रणुन्नो वाक्शलाकया ॥ २ ॥

वे दुःख और रोषसे युक्त होकर दीर्घकालतक कुछ सोचते हुए लंबी साँस खींचते रहे । वाणीरूपी अङ्कु पीड़ित होकर वे हाथीके समान व्यथाका अनुभव करने

उद्वृत्य चक्षुषी कोपान्निर्दहन्निव भारत
सदेवासुरगन्धर्वं लोकं लोकविदां

भारत ! फिर क्रोधसे दोनों आँखें चढ़ाकर लोकवेत्ताओं-में श्रेष्ठ भीष्म इस प्रकार देखने लगे, मानो देवताओं, असुरों और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध कर डालेंगे ॥

अब्रवीत् तव पुत्रं स सामपूर्वमिदं वचः ।
किं त्वं दुर्योधनैवं मां वाक्शल्यैरपकृन्तसि ॥ ४ ॥
घटमानं यथाशक्ति कुर्वाणं च तव प्रियम् ।
जुह्वानं समरे प्राणांस्तव वै प्रियकाम्यया ॥ ५ ॥

फिर आपके पुत्रको सान्त्वना देते हुए वे उससे इस प्रकार बोले—'बेटा दुर्योधन ! तुम इस प्रकार वाग्बाणोंसे मुझे क्यों छेद रहे हो ? मैं तो यथाशक्ति शत्रुओंपर विजय पानेकी चेष्टा करता हूँ और तुम्हारे प्रिय साधनमें लगा हुआ हूँ । इतना ही नहीं, तुम्हारा प्रिय करनेकी इच्छासे मैं समराग्निमें अपने प्राणोंको होम देनेके लिये भी तैयार हूँ ४-५

यदा तु पाण्डवः शूरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।
पराजित्य रणे शक्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ६ ॥

'परंतु तुम्हें याद होगा, जब शूरवीर पाण्डुनन्दन अर्जुनने युद्धमें देवराज इन्द्रको परास्त करके खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया था, वही उनकी अजेयताका पूरा प्रमाण है ॥ ६॥

यदा च त्वां महाबाहो गन्धर्वैर्हृतमोजसा ।
अमोचयत् पाण्डुसुतः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! जब गन्धर्वलोग तुम्हें बलपूर्वक पकड़ ले गये थे, उस समय भी पाण्डुपुत्र अर्जुनने ही तुम्हें छुड़ाया था । उनके अनन्त पराक्रमको समझनेके लिये यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥ ७ ॥

द्रवमाणेषु शूरेषु सोदरेषु तव प्रभो ।
सूतपुत्रे च राधेये पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ८ ॥

'प्रभो ! उस अवसरपर तुम्हारे ये शूरवीर भाई और राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण तो मैदान छोड़कर भाग गये थे । यह अर्जुनकी अद्भुत शक्तिका पर्याप्त उदाहरण है ॥ ८ ॥

यच्च नः सहितान् सर्वान् विराटनगरे तदा ।
एक एव समुद्यातः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ९ ॥

'उन दिनों विराटनगरमें हम सब लोग एक साथ युद्धके लिये डटे हुए थे, परंतु अर्जुनने अकेले ही हमलोगोंपर आक्रमण किया । यह उनकी अपरिमित शक्तिका पर्याप्त उदाहरण है ॥ ९ ॥

द्रोणं च युधि संरब्धं मां च निर्जित्य संयुगे ।
वासांसि स समादत्त पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १० ॥

'अर्जुनने क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यको तथा मुझे भी [illegible]द्धमें परास्त करके सबके वस्त्र छीन लिये थे । यह उनकी [illegible]ताका पर्याप्त प्रमाण है ॥ १० ॥

[illegible] महेष्वासं शारद्वतमथापि च ।
[illegible]न् पूर्वं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ११ ॥

'पूर्वकालमें उसी गोग्रहके अवसरपर पाण्डुकुमार धनुर्धर अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यको भी परास्त था । यह दृष्टान्त उन्हें समझनेके लिये पर्याप्त है ॥ ११ ॥

विजित्य च यदा कर्णं सदा पुरुषमानिनम् ।
उत्तरायै ददौ वस्त्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥

'उन दिनों सदा अपने पुरुषार्थका अभिमान कर्णको भी जीतकर अर्जुनने उसके वस्त्र छीनकर अर्पित किये थे । यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ॥ १२ ॥

निवातकवचान् युद्धे वासवेनापि दुर्जयान् ।
जितवान् समरे पार्थः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १३ ॥

'जिन्हें परास्त करना इन्द्रके लिये भी कठिन था, निवातकवचोंको अर्जुनने युद्धमें परास्त कर दिया था । अलौकिक शक्तिको समझनेके लिये यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा

को हि शक्तो रणे जेतुं पाण्डवं रभसं तदा ।
यस्य गोप्ता जगद्गोप्ता शङ्खचक्रगदाधरः ॥ १४ ॥
वासुदेवोऽनन्तशक्तिः सृष्टिसंहारकारकः ।
सर्वेश्वरो देवदेवः परमात्मा सनातनः ॥ १५ ॥

'विश्वरक्षक, शङ्ख, चक्र और गदा धारण करने अनन्तशक्ति, सृष्टि और संहारके एकमात्र कर्ता देव सनातन परमात्मा सर्वेश्वर भगवान् वासुदेव जिनकी करनेवाले हैं, उन वेगशाली वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनको युद्ध मैदानमें कौन जीत सकता है ॥ १४-१५ ॥

उक्तोऽसि बहुशो राजन् नारदाद्यैर्महर्षिभिः ।
त्वं तु मोहान्न जानीषे वाच्यावाच्यं सुयोधन ॥ १६ ॥

'राजन् ! सुयोधन ! यह बात नारद आदि महर्षि तुमसे कई बार कही है, परंतु तुम मोहवश कहने और कहने योग्य बातको समझते ही नहीं हो ॥ १६ ॥

मुमूर्षुर्हि नरः सर्वान् वृक्षान् पश्यति काञ्चनान् ।
तथा त्वमपि गान्धारे विपरीतानि पश्यसि ॥ १७ ॥

'गान्धारीनन्दन ! जैसे मरणासन्न मनुष्य सभी वृक्षों सुनहरे रंगका देखता है, उसी प्रकार तुम भी सब विपरीत ही देख रहे हो ॥ १७ ॥

स्वयं वैरं महत् कृत्वा पाण्डवैः सह सृंजयैः ।
युद्ध्यस्व तानद्य रणे पश्यामः पुरुषो भव ॥ १८ ॥
(अशक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ।)

'तुमने स्वयं ही पाण्डवों तथा सृञ्जयोंके साथ ठाना है । अतः अब तुम्हीं युद्ध करो । हम सब लोग हैं । तुम स्वयं पुरुषत्वका परिचय दो । पाण्डवोंको सहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते ॥ १८ ॥

अहं तु सोमकान् सर्वान् पञ्चालांश्च समागतान् ।
निहनिष्ये नरव्याघ्र वर्जयित्वा शिखण्डिनम् ॥ १९ ॥

किंतु पुरुषसिंह! मैं केवल शिखण्डीको छोड़कर युद्धमें आये र समस्त सोमकों और पाञ्चालोंको भी मार डालूँगा ॥१९॥

र्वाहं निहतः संख्ये गमिष्ये यमसादनम् ।
न् वा निहत्य समरे प्रीतिं दास्याम्यहं तव ॥ २० ॥

या तो उन्हींके हाथों युद्धमें मारा जाकर मैं यमलोकका ा लूँगा अथवा उन्हींको समराङ्गणमें मारकर मैं तुम्हें हर्ष करूँगा ॥ २० ॥

हि स्त्री समुत्पन्ना शिखण्डी राजवेश्मनि ।
नात् पुमाञ्जातः सैषा वै स्त्री शिखण्डिनी॥ २१ ॥

शिखण्डी पहले राजभवनमें स्त्रीके रूपमें उत्पन्न हुआ फिर वरदानसे पुरुष हो गया, अतः मेरी दृष्टिमें तो यह शिखण्डिनी ही है ॥ २१ ॥

ं न हनिष्यामि प्राणत्यागेऽपि भारत ।
प्राङ्निर्मिता धात्रा सैषा वै स्त्री शिखण्डिनी ॥२२॥

भारत! मेरे प्राणोंपर संकट आ जाय तो भी मैं उसे मारूँगा। जिसे विधाताने पहले स्त्री बनाया था, वह ण्डिनी आज भी मेरी दृष्टिमें स्त्री ही है ॥ २२ ॥

स्वपिहि गान्धारे श्वोऽपि कर्ता महारणम् ।
ः कथयिष्यन्ति यावत् स्थास्यति मेदिनी ॥२३॥

गान्धारीनन्दन! अब तुम सुखसे जाकर सो रहो। कल भीषण युद्ध करूँगा, जिसकी चर्चा लोग तबतक रेंगे, जबतक कि यह पृथ्वी बनी रहेगी' ॥ २३ ॥

कस्तव सुतो निर्जगाम जनेश्वर ।
य गुरुं मूर्ध्ना प्रययौ स्वं निवेशनम् ॥ २४ ॥

श्वर! भीष्मके ऐसा कहनेपर आपका पुत्र दुर्योधन न गुरुजनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करनेके अपने शिविरको चला गया ॥ २४ ॥

तु ततो राजा विसृज्य च महाजनम् ।
ततस्तूर्णं क्षयं शत्रुक्षयङ्करः ॥ २५ ॥

हाँ आकर शत्रुओंका विनाश करनेवाले राजा दुर्योधन-ने उस महान् समुदायको तुरंत बिदा कर दिया और शिविरके भीतर प्रवेश किया ॥ २५ ॥

ः स निशां तां च गमयामास पार्थिवः ।
तायां च शर्वर्यां प्रातरुत्थाय तान् नृपः ॥ २६ ॥
समाज्ञापयत सेनां योजयतेति ह ।
भीष्मो रणे क्रुद्धो निहनिष्यति सोमकान् ॥ २७ ॥

भूपाल! वहाँ जाकर राजाने सुखसे रात बितायी और सबेरा पर उसने प्रातःकाल उठकर राजाओंको यह आज्ञा दी— सिंहो! तुम सब लोग सेनाको युद्धके लिये तैयार करो, पितामह भीष्म रणभूमिमें कुपित होकर सोमकोंका करेंगे' ॥ २६-२७ ॥

दुर्योधनस्य तच्छ्रुत्वा रात्रौ विलपितं बहु ।
मन्यमानः स तं राजन् प्रत्यादेशमिवात्मनः ॥ २८ ॥

राजन्! रातमें दुर्योधनके अनेक प्रकारके विलापको सुनकर भीष्मने यह समझ लिया कि अब दुर्योधन मुझे युद्धसे हटाना चाहता है ॥ २८ ॥

निर्वेदं परमं गत्वा विनिन्द्य परवश्यताम् ।
दीर्घं दध्यौ शान्तनवो योद्धुकामोऽर्जुनं रणे ॥ २९ ॥

इससे उनके मनमें बड़ा खेद हुआ। भीष्मने पराधीनताकी भूरि-भूरि निन्दा करके रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध करनेका संकल्प लेकर दीर्घकालतक विचार किया ॥२९॥

इङ्गितेन तु तज्ज्ञात्वा गाङ्गेयेन विचिन्तितम् ।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमचोदयत् ॥ ३० ॥

महाराज! गङ्गानन्दन भीष्मने क्या सोचा है? इस बातको संकेतसे समझकर दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—॥

दुःशासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिणः ।
द्वाविंशतिमनीकानि सर्वाण्येवाभिचोदय ॥ ३१ ॥

'दुःशासन! तुम शीघ्र ही भीष्मकी रक्षा करनेवाले रथोंको जोतकर तैयार कराओ। अपने पास कुल बाईस सेनाएँ हैं। उन सबको भीष्मकी रक्षामें ही नियुक्त कर दो॥

इदं हि समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ।
पाण्डवानां ससैन्यानां वधो राज्यस्य चागमः ॥ ३२ ॥

'आज वह अवसर प्राप्त हुआ है, जिसके लिये हम बहुत वर्षोंसे विचार करते आ रहे हैं। आज सेनासहित समस्त पाण्डवोंका वध तथा राज्यका लाभ होगा ॥ ३२ ॥

तत्र कार्यतमं मन्ये भीष्मस्यैवाभिरक्षणम् ।
स नो गुप्तः सहायः स्याद्धन्यात् पार्थांश्च संयुगे॥ ३३ ॥

'इस विषयमें मैं भीष्मकी रक्षाको ही अपना प्रधान कर्तव्य समझता हूँ। वे सुरक्षित रहनेपर हमारे सहायक होंगे और संग्राम-भूमिमें कुन्तीकुमारोंका वध कर सकेंगे ॥ ३३ ॥

अब्रवीद्धि विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
स्त्रीपूर्वको ह्यसौ राजंस्तस्माद् वर्ज्यो मया रणे ॥ ३४ ॥

'विशुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा भीष्मने मुझसे कहा है कि 'राजन्! मैं शिखण्डीको नहीं मार सकता; क्योंकि वह पहले स्त्रीरूपमें उत्पन्न हुआ था और इसीलिये युद्धमें मुझे उसका परित्याग कर देना है ॥ ३४ ॥

लोकस्तद् वेद यदहं पितुः प्रियचिकीर्षया ।
राज्यं स्फीतं महाबाहो स्त्रियश्च त्यक्तवान् पुरा ॥ ३५

'महाबाहो! सारा संसार यह जानता है कि मैंने पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे समृद्धिशा स्त्रियोंका परित्याग कर दिया था ॥ ३५ ॥

नैवं चाहं स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कथंचन ।
हन्यां युधि नरश्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं कभी किसी स्त्रीको अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुषको भी किसी प्रकार युद्धमें मार नहीं सकता; यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ॥ ३६ ॥

अयं स्त्रीपूर्वको राजञ्छिखण्डी यदि ते श्रुतः ।
उद्योगे कथितं यत्तत् तथा जाता शिखण्डिनी ॥ ३७ ॥
कन्या भूत्वा पुमाञ्जातः स च मां योधयिष्यति ।
तस्याहं प्रमुखे बाणान् न मुञ्चेयं कथंचन ॥ ३८ ॥

'राजन् ! तुमने भी सुना होगा, यह शिखण्डी पहले स्त्रीरूपमें पैदा हुआ था। यह बात मैंने तुमसे युद्धकी तैयारीके समय बता दी थी। इस प्रकार कन्यारूपमें उत्पन्न हुई शिखण्डिनी पहले स्त्री होकर अब पुरुष हो गयी है। वह पुरुष बना हुआ शिखण्डी यदि मुझसे युद्ध करेगा तो मैं उसके ऊपर किसी प्रकार भी बाण नहीं चलाऊँगा ॥ ३७-३८ ॥

युद्धे हि क्षत्रियांस्तात पाण्डवानां जयैषिणः ।
सर्वानन्यान् हनिष्यामि सम्प्राप्तान् रणमूर्धनि ॥ ३९ ॥

'तात ! पाण्डव-पक्षके दूसरे जो जो विजयाभिलाषी क्षत्रिय युद्धके मुहानेपर मेरे सामने आयेंगे, उन सबका मैं वध करूँगा' ॥

एवं मां भरतश्रेष्ठ गाङ्गेयः प्राह शास्त्रवित् ।
तत्र सर्वात्मना मन्ये गाङ्गेयस्यैव पालनम् ॥ ४० ॥

'भरतश्रेष्ठ दुःशासन ! शास्त्रोंके ज्ञाता गङ्गानन्दन भीष्मने इस प्रकार मुझसे कहा है। अतः युद्धभूमिमें सब प्रकारसे भीष्मकी रक्षाको ही मैं अपना मुख्य कर्तव्य मानता हूँ ॥ ४० ॥

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाहवे ।
मा वृकेणेव गाङ्गेयं घातयेम शिखण्डिना ॥ ४१ ॥

'यदि महायुद्धमें सिंहकी रक्षा नहीं की जाय तो उसे एक भेड़िया मार सकता है, परंतु हम भेड़ियेके सदृश शिखण्डीके हाथसे सिंहके समान भीष्मका वध नहीं होने देंगे ॥ ४१ ॥

मातुलः शकुनिः शल्यः कृपो द्रोणो विविंशतिः ।
यत्ता रक्षन्तु गाङ्गेयं तस्मिन् गुप्ते ध्रुवो जयः ॥ ४२ ॥

'(अतः उनकी रक्षाके लिये सारी आवश्यक व्यवस्था करो।) मामा शकुनि, शल्य, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और विविंशति—ये सब लोग सावधान होकर गङ्गानन्दन भीष्मकी रक्षा करें। उनके सुरक्षित रहनेपर हमारी विजय निश्चित है' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु ते सर्वे दुर्योधनवचस्तदा ।
सर्वतो रथवंशेन गाङ्गेयं पर्यवारयन् ॥ ४३ ॥

उस समय दुर्योधनकी यह बात सुनकर उन सब वीरोंने रथकी विशाल सेनाद्वारा गङ्गानन्दन भीष्मको सब ओरसे घेर लिया ॥ ४३ ॥

पुत्राश्च तव गाङ्गेयं परिवार्य ययुर्मुदा
कम्पयन्तो भुवं द्यां च क्षोभयन्तश्च पाण्डवान्

आपके सब पुत्र भी भीष्मको चारों ओरसे प्रसन्नतापूर्वक चले। वे उस समय भूलोक और भी कँपाते हुए पाण्डवोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न

ते रथैः सुसम्प्रयुक्तैर्दन्तिभिश्च महारथाः ।
परिवार्य रणे भीष्मं दंशिताः समवस्थिताः ।

वे समस्त कौरव महारथी सुशिक्षित रथों और भीष्मको घेरकर कवच आदिसे सुसज्जित हो खड़े हो गये ॥ ४५ ॥

यथा देवासुरे युद्धे त्रिदशा वज्रधारिणम् ।
सर्वे ते स्म व्यतिष्ठन्त रक्षन्तस्तं महारथम् ॥

जिस प्रकार देवासुर-संग्रामके समय देवताओंने इन्द्रकी रक्षा की थी, उसी प्रकार वे सब कौरव भीष्मकी रक्षा करने लगे ॥ ४६ ॥

ततो दुर्योधनो राजा पुनर्भ्रातरमब्रवीत् ।
सव्यं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम् ।
गोप्तारावर्जुनस्यैतावर्जुनोऽपि शिखण्डिनः ।
रक्ष्यमाणः स पार्थेन तथास्माभिर्विवर्जितः ।
यथा भीष्मं न नो हन्याद् दुःशासन तथा कुरु

तब राजा दुर्योधनने अपने भाईसे पुनः इस प्रकार 'दुःशासन ! अर्जुनके रथके बायें पहियेकी रक्षा युधा और दाहिने पहियेकी रक्षा उत्तमौजा करते हैं। अर्जुनके ये दो रक्षक हैं और अर्जुन भी शिखण्डीकी रक्षा हैं। अर्जुनसे सुरक्षित और हमलोगोंसे उपेक्षित होकर हमारे भीष्मको जिस प्रकार मार न सके, ऐसी व्यवस्था

भ्रातुस्तद् वचनं श्रुत्वा पुत्रो दुःशासनस्तव ॥
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ।

बड़े भाईकी यह बात सुनकर आपका पुत्र भीष्मको आगे करके सेनाके साथ युद्धके मैदानमें

भीष्मं तु रथवंशेन दृष्ट्वा समभिसंवृतम् ॥
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठो धृष्टद्युम्नमुवाच ह ।

भीष्मको रथोंके समूहसे घिरा हुआ देख श्रेष्ठ अर्जुनने धृष्टद्युम्नसे कहा— ॥ ५०½ ॥

शिखण्डिनं नरव्याघ्रं भीष्मस्य प्रमुखे नृप ।
स्थापयस्वाद्य पाञ्चाल्य तस्य गोप्ताहमित्युत ।

'नरेश्वर ! पाञ्चालराजकुमार ! आज तुम पुरुषसिंह को भीष्मके सामने उपस्थित करो। मैं उसकी रक्षा करूँगा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

(इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधनसंवादविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५१½ श्लोक हैं)

श्रीहरिः

ग्राहक बनिये !

ग्राहक बना

कल्याणका जनवरी १९५७ का विशेषाङ्क 'तीर्था

पृष्ठ-संख्या ७३६, रंगीन चित्र ३४, दुरंगा १, लाइन १, मान-चित्र ८, सा ५३२, मू० ७॥), वार्षिक चन्दा विशेषाङ्कसहित ७॥), डाक-खर्च हमारा।

इस तीर्थाङ्कमें १८०० से ऊपर तीर्थोंका विवरण दिया गया है। उनमेंसे प्राय प्राचीन पुराणप्रसिद्ध तीर्थोंका शास्त्रोक्त माहात्म्य भी दिया गया है। साथ ही २१ गणपति-क्षेत्रों, १०८ दिव्य शिव-क्षेत्रों, २७४ पवित्र शैव-स्थलों, १२ ज्योतिर्लिङ्गों, १० विष्णु-स्थानों, १०८ वैष्णव दिव्य-देशों, १०८ दिव्य शक्ति-स्थानों, ५१ शक्तिपीठों एवं १२ देवी-विग्रहोंका वर्णन भी आया है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी मुख्य धार्मिक सम्प्र तीर्थस्थलोंका भी विवरण संगृहीत किया गया है। कुछ उपयोगी लेख भी दिये गये हैं ही पञ्चदेवोंकी पूजन-विधि, विष्णु-शिव आदिके ध्यान, तीर्थयात्राकी विधि, तीर्थयात्रियों पालनीय नियम, तीर्थोंमें श्राद्ध करनेकी विधि तथा प्रधान-प्रधान तीर्थों एवं प्रसिद्ध वि स्तुतियाँ भी दी गयी हैं। अङ्ककी उपयोगिता एवं रोचकता बढ़ानेके लिये इसमें ८ मा ३४ रंगीन एवं पाँच सौसे ऊपर सादे स्थल-चित्रोंका समावेश किया गया है। इस प्रका दृष्टियोंसे यह अङ्क अत्यन्त संग्रहणीय एवं कामकी वस्तु बन गया है। रोचकतामें तथा संख्या एवं सामग्रीकी विविधताकी दृष्टिसे तो यह अङ्क 'कल्याण'के अबतकके सभी वि बाजी मार ले गया है।

इस 'तीर्थाङ्क' में जिन तीर्थों एवं भगवद्विग्रहोंका वणन तथा चित्राङ्कन किया उनकी स्मृति भी अन्तःकरणको पवित्र करनेवाली, पापोंका नाश करनेवाली तथा भग एवं संत-महिमासे हृदयको भर देनेवाली है। साथ ही इसमें आये हुए वर्णनोंके पढ़नेसे भारतभूमिके विभिन्न भागोंका महत्त्व प्रकट होता है, वहाँकी विशेषताओंका ज्ञान हो राष्ट्रियता एवं पारस्परिक एकताके भाव जाग्रत् होते हैं तथा क्षुद्र, संकीर्ण विचारोंसे उठकर व्यापक दृष्टिकोण बनानेमें सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त इस अङ्कमें लेखोंद्वारा तीर्थयात्रा, तीर्थदर्शन एवं तीर्थोंमें अवगाहनका महत्त्व व्यक्त किया गया है उन विभिन्न स्थलोंकी यात्राका मार्गनिर्देश तथा आवश्यक परिचय भी दिया गया है, तीर्थयात्रियोंके लिये यह विशेष उपयोगी बन गया है। इस दृष्टिसे इसका जितना प्रचार होगा, उतना ही देशका कल्याण होगा। अतएव प्रत्येक कल्याणप्रेमी महोदय विशेष करके 'कल्याण' के दो-दो नये ग्राहक बना देनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—**कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोर**